॥ श्रीः॥

श्रीमद्गदाधरभट्टाचार्यप्रणीतः

# व्युत्पत्तिवादः

सुनन्दाख्यहिन्दीटीकाविभूषितः

प्रथमो भागः

सम्पादक एवं व्याख्याकार

डॉ॰ सच्चिदानन्द मिश्र

भारतीय विद्या प्रकाशन

वाराणसी (भारत) दिल्ली

॥ श्रीः ॥

श्रीमद्गदाधरभट्टाचार्यप्रणीतः

# व्युत्पत्तिवादः

## सुनन्दाख्यहिन्दीटीकाविभूषितः

**प्रथमो भागः**

प्रिय मित्र डॉ० ललित कुमार त्रिपाठी को सादर
सच्चिदानन्द मिश्र
30-3-2002


सम्पादक एवं व्याख्याकार

**डॉ॰ सच्चिदानन्द मिश्र**

आचार्य (नव्यन्याय, शाङ्करवेदान्त)

प्राध्यापक, संस्कृतविभाग

गन्ना किसान डिग्री कालेज,

पुवायाँ, शाहजहाँपुर (उ॰प्र॰)



प्रकाशकः

**भारतीय विद्या प्रकाशन**

वाराणसी (भारत) दिल्ली

प्रकाशक :

**©भारतीय विद्या प्रकाशन**

(1) पो० बा० नं० 1108 कचौड़ी गली, वाराणसी- 221001 ✆ (0542)392376

(2) 1,यू० बी० जवाहरनगर, बंग्लोरोड, दिल्ली- 110007 ✆ (011)3971570

अन्य-प्राप्ति-स्थान :

**भारतीय बुक कारपोरेशन**

1, यू.बी. जवाहर नगर, बंग्लोरोड, दिल्ली-110007

प्रथम संस्करण –2001

मूल्य रु. 500=00 (दो भाग में)

*Printed at* : R.K. Offset Process, Naveen Shahdara, Delhi-110032

# आत्मनिवेदन

कृपया परया यस्य ग्रन्थोऽयं पूर्णतां गतः।
कृतिः समर्पिता तस्मै श्रीवशिष्ठत्रिपाठिने ॥

महामहोपाध्याय गदाधर भट्टाचार्य प्रणीत 'व्युत्पत्तिवाद' की सुनन्दानामक हिन्दी व्याख्या न्यायविद्यानुरागियों के समक्ष प्रस्तुत करते हुए हर्ष का अनुभव कर रहा हूँ। चूँकि यह मेरे दस वर्ष पूर्व के सङ्कल्प का फल है, इसलिए इसको पूर्ण करने का एक असीम आनन्द है।

इस ग्रन्थ की महत्ता विद्वज्जनों को अविदित नहीं है। अनेक विश्वविद्यालयों के स्नातकोत्तर पाठ्यक्रमों में निर्धारित यह ग्रन्थ विद्वानों के लिए भी व्याख्याओं की अपेक्षा करता है। इस पुस्तक की हिन्दी व्याख्या करने की विचार मेरे मन में उस समय आया, जबकि मैं नव्य न्याय से आचार्य कर रहा था। उसी समय मैं इस कार्य को आरम्भ करना चाहता था, किन्तु भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी के व्यवस्थापक श्री राकेश जैन ने हमसे न्यायभाष्य की हिन्दी व्याख्या का कार्य करने का अनुरोध किया। उस कार्य को सम्पादित करने में दो वर्ष के करीब लग गये और दुर्दैववशात् अनेक विघ्नबाधाओं से उसके प्रकाशन में भी काफी समय लग गया। इस बीच मैं अपने शोधप्रबन्ध को पूरा करने में व्यस्त हो गया। इस प्रकार बहुत समय तक यह कार्य मनोगत ही रहा और अब जाकर ईश्वर की असीम अनुकम्पा, गुरुजनों की कृपा तथा आशीर्वाद से मूर्तरूप धारण कर पा रहा है।

इस ग्रन्थ की व्याख्या का कार्य सम्पादित करते हुए और प्रूफ़ संशोधन करते समय भी अनेक मानसिक उलझनों में उलझा रहा हूँ। इस कारण अनेक स्थलों पर इस व्याख्या में भी वह प्रतिबिम्बित हुआ हो ऐसा हो सकता है। यद्यपि इस विषय में मैंने अपनी तरफ से पूरी सावधानी बरती है, तथपि मानवीय त्रुटियाँ सम्भावित हैं। इसके लिए क्षमा प्रार्थित है।

इस व्याख्या में मैंने अनेक स्थलों पर प्राचीन व्याख्याओं का मार्ग छोड़ कर नया मार्ग पकड़ा है। इस कारण यदि कहीं पर धारणा के स्तर पर भूल हुई है तो मैं विद्वानों के सुझावों और निर्देशों का आभारी होऊँगा।

इस ग्रन्थ की हिन्दी व्याख्या का गुरुतर कार्य पूर्ण करने में पूर्ववर्ती व्याख्याओं विशेष कर पं॰ श्री सुदर्शनाचार्य की आदर्शव्याख्या, पं॰ श्री धर्मदत्त झा की 'गूढार्थतत्त्वालोक' व्याख्या, पं॰ श्री जयदेव मिश्र की 'जया' व्याख्या से महत्त्वपूर्ण सहायता प्राप्त हुई है। इसके बावज़ूद भी इस ग्रन्थ के अनेक रहस्य अनदेखे रह जाते और अनेक ग्रन्थियाँ अनसुलझी रह जातीं, यदि पूज्यवाद गुरुवर **प्रो॰ वशिष्ठ त्रिपाठी जी** के द्वारा ज्ञाना-

ञ्जनशलाका से चक्षु उन्मीलित न किये जाते । यह ग्रन्थ गुरुवर त्रिपाठी जी को आदरपूर्वक श्रद्धासुमन की तरह समर्पित कर रहा हूँ और चिरकृतज्ञता ज्ञापित करते हुए इसका श्रेय आपको ही देता हूँ ।

गुरुवर **डॉ॰ नर्वदेश्वर तिवारी जी** प्राचार्य, श्री साधुबेला संस्कृत महाविद्यालय, वाराणसी ने इस कार्य हेतु मुझे प्रारम्भ से प्रेरित किया तथा इसके प्रयोजक रहे हैं । एतदर्थ कृतज्ञता व्यक्त कर रहा हूँ ।

समादरणीय गुरुवर्य **डॉ॰ किशोरनाथ झा जी**, रीडर, गङ्गनाथ झा केन्द्रिय संस्कृत विद्यापीठ, इलाहाबाद मेरे लिए प्रेरणास्रोत रहे । अनेक स्थलों पर उनके निर्देशों और सुझावों से मैं लाभान्वित हुआ हूँ तथा आपकी अमूल्य सम्मति मेरी पाथेय बनी है। आदरणीय **डॉ॰ वशिष्ठनारायण झा जी**, सञ्चालक, संस्कृत प्रगत अध्ययन केन्द्र, पुणे विद्यापीठ, पुणे ने हमारी व्याख्या के अंशों का अवलोकन कर अपनी अमूल्य सम्मति प्रेषित की । आप दोनों का मैं कृतज्ञ हूँ ।

आदरणीय गुरुकल्प **डॉ॰ राधावल्लभ त्रिपाठी जी** आचार्य एवं अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, डॉ॰ हरिसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर ने व्याख्या के इस दीर्घकालीन कार्य को यथाशीघ्र पूर्ण करने हेतु मुझे बार-बार प्रेरित एवं उत्साहित किया । मैं आपका आभार व्यक्त करता हूँ ।

**भारतीय विद्या प्रकाशन**, वाराणसी, दिल्ली के व्यवस्थापक **श्री राकेश जैन** ने इस व्याख्या को यथाशीघ्र प्रकाशित करने का जो प्रयास किया है । उसके लिए वे बधाई के पात्र हैं ।

महाविद्यालयीय व्यस्तताओं, मानसिक उलझनों में उलझकर शायद इस कार्य को पूरा करने में अक्षम ही हो जाता, यदि मेरी धर्मपत्नी सुनन्दा ने मुझे पारिवारिक जिम्मेदारियों से निश्चिन्त न किया होता । इनके त्याग व सहयोग से ही इस कार्य को मैं पूरा कर सका हूँ। इसके लिए धन्यवाद देता हूँ ।

*सच्चिदानन्द मिश्र*

**शाहजहाँपुर**
**गुरुपूर्णिमा, 2058**

## प्रसिद्धपाण्डित्यानां विद्वद्वर्याणां डॉ॰ किशोरनाथझामहाशयानां सम्मतयः

डॉ॰ सच्चिदानन्द मिश्र कृत व्युत्पत्तिवाद की सुनन्दा नाम की हिन्दी व्याख्या का आरम्भिक अंश देखकर अत्यधिक प्रसन्नता हुई । व्युत्पत्तिवाद में कारक प्रकरण की व्युत्पत्ति नव्यन्याय की शैली में नैयायिक की मान्यता के अनुसार प्रदर्शित है। अतएव वैयाकरण तथा नैयायिकों का शास्त्रीय मतभेदों का आलोचन यहाँ स्वाभाविक है और दोनों के लिए ग्रन्थ की उपादेयता भी सिद्ध है। संस्कृत में इस ग्रन्थ की अनेक व्याख्याओं के उपलब्ध रहने पर भी हिन्दी में सम्पूर्ण ग्रन्थ की ऐसी प्रामाणिक व्याख्या मेरी दृष्टि में नहीं आयी है। अतएव मेरी दृढ धारणा है कि हिन्दीभाषी क्षेत्र में इसका उचित आदर होगा ।

सुयोग्य. गुरु के व्युत्पन्न शिष्य डॉ॰ मिश्र ने अध्यापन की शैली में सरलभाषा का उपयोग कर ग्रन्थगत गूढ़ विषयों को समझाने का प्रयास किया है और मेरी दृष्टि में इसमें इनको सफलता भी मिली है। इस व्याख्या को देखकर अध्यापक वर्ग तथा शिष्यवृन्द समान रूप से लाभान्वित होंगे —ऐसा मेरा विश्वास है। भगवान् विश्वनाथ से मेरी यही प्रार्थना है कि डॉ॰ सच्चिदानन्द मिश्र न्यायविद्या के प्रचार-प्रसार के लिए दीर्घकाल तक अपने स्वाध्याय, प्रवचन तथा ग्रन्थों के व्याख्यान में लगे रहें और धर्म तथा अर्थ के साथ कीर्ति का अर्जन करते रहें ।

सतताशीर्वादक<br>
*किशोरनाथ झा*<br>
गंगानाथ झा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ<br>
चन्द्रशेखर आज़ाद पार्क<br>
इलाहाबाद -211002

Erudite scholor Dr. V. N. Jha's Valuable opinion

CASS/3/789 April 07, 2001

Dear Dr. Mishra,

Thank you for your letter of 23-03.2001. You have done a very good job by translating the Vyutapattivada into Hindi with necessary explanations. I have gone through the few pages sent to me. I find the exposition dependable. Please carry on .

With all best wishes .

Your sincerely
*(V.N. Jha)*
Director,
Centre of Advanced Study in Sanskrit
University of Pune.

# भूमिका

भारतीय दर्शन परम्परा में दर्शनों के परस्पर वैचारिक संघर्ष की सुदीर्घ भास्कर परम्परा रही है। न्यायदर्शन और बौद्धदर्शन का तो आपसी संघर्ष प्रायशः एक-डेढ़ हजार वर्षों तक चला है। इस क्रम में दोनों ही सम्प्रदायों में अनेक आदरणीय ग्रन्थ रत्नों की रचनाएँ हुई दोनों ही सम्प्रदायों के सिद्धान्तों का परिमार्जन और परिष्कार हुआ । यद्यपि अन्य दार्शनिक सम्प्रदायों के साथ भी न्यायदर्शनसम्प्रदाय का और बौद्धन्यायसम्प्रदाय का संघर्ष चला जिसमें कि आचार्य शङ्कर से बौद्धों को करारी हार मिली, तथापि नैयायिकों और बौद्धों का संघर्ष महनीय और स्तुत्य रहा क्योंकि इस संघर्ष में दोनों ही पक्षों ने एक जैसे शस्त्रों से प्रहार और अपना बचाव किया । वैदिक प्रामाण्य स्वीकारने का हामी होते हुए भी नैयायिकों ने बौद्धों के साथ संघर्ष में अनुमानों और तर्कों के द्वारा ही अपने मत का परिवृंहण व बौद्धों का खण्डन किया व बौद्धों के द्वारा भी इसका अनुपालन किया गया । कहा जा सकता है कि न्यायसम्प्रदाय समस्त आस्तिकदर्शनों में सबसे ज्यादा रूढिमुक्त और स्वतन्त्र चिन्तन पर विश्वास करने वाला रहा है। उसने वेदों का भी प्रामाण्य स्वीकारा तो ईश्वरप्रणीतत्वेन ही स्वीकारा न कि अपौरुषेय होने के कारण और ईश्वर को स्वीकारा तो अनुमान से सिद्ध होने पर ही स्वीकारा। न्यायसम्प्रदाय का सबसे बड़ा सहायक अनुमान रहा है। इसलिए न्यायदर्शन को आन्वीक्षिकी भी कहा जाता है।

**नव्यन्याय का पादुर्भाव** –नव्यन्याय के प्रवर्तक गङ्गेशोपाध्याय के बाद तो न्यायदर्शन में प्रमाणों का विवेचन प्रमुख हो गया । प्रमेयांश नेपथ्य में रह गया । प्रमाणों में भी अनुमान का विवेचन प्रधान रहा । न्यायशास्त्र के कुछ जिज्ञासु इसे नव्यन्याय की मार्गच्युति बतलाते हैं और कहते हैं कि नव्यन्याय मोक्षरूपी परमपुरुषार्थ से भटक कर आनुमानिक व्याप्ति, पक्षधर्मता आदि के निर्वचनों में उलझकर रह गया है, किन्तु जब मैं इस पर सोचता हूँ तो मुझे लगता है कि शायद यह कहना सही नहीं है। प्राचीनन्याय भी प्रमाणप्रधान ही रहा है। जब महर्षि गोतम षोडश पदार्थों के तत्त्वज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति बतला रहे होते हैं तो प्रमाण का परिगणन प्रमेय से पूर्व ही करते हैं । यह प्रमाण को ही अतिरिक्त महत्त्व देना है। उसी सूत्र की व्याख्या करने के प्रसङ्ग में वात्स्यायन संशयादि के पृथक् निर्वचन का प्रयोजन जानने के लिए प्रश्न उठाते हैं और प्रश्न उठाने के बाद समाधान करते हैं कि 'संशयादि भी यथा सम्भव प्रमाण और प्रमेय में अन्तर्भूत हो जाते हैं अतिरिक्त नहीं हैं, यह तो सत्य ही है, किन्तु यह चारों विद्याएँ (आन्वीक्षिकी, वेदत्रयी, दण्डनीति, वार्ता पृथक् प्रस्थान हैं। इनमें चौथी आन्वीक्षिकी है न्यायविद्या है। उसके पृथक् प्रस्थान संशयादि पदार्थ हैं उनके पृथक निर्वचन के बग़ैर यह आन्वीक्षिकी भी उपनिषदों की तरह अध्यात्मविद्या मात्र हो जाती (और इस कारण वेदत्रयी में ही अन्तर्भूत हो जाती ) इसलिए संशयादि पदार्थों से पृथक् प्रस्थान बताये जा रहे हैं ।

**'तत्र संशयादीनां पृथग्वचनमनर्थकम् –संशयादयो यथासम्भवं प्रमाणेषु प्रमेयेषु चान्तर्भवन्तो न व्यतिरिच्यन्ते इति, सत्यमेतत् –इमास्तु चतस्रो विद्याः पृथक् प्रस्थानाः प्राणभृतामनुग्रहायोपदिश्यन्ते यासां चतुर्थीयमान्वीक्षिकी न्यायविद्या तस्याः पृथक्प्रस्थाना संशयादयः पदार्थाः तेषां पृथग्वचनमन्तरेणाध्यात्मविद्या मात्रमियं स्याद् यथोपनिषदः तस्मात् संशयादिभिः पदार्थैः पृथक् प्रस्थाप्यन्ते ।**

न्यायभाष्य 1/1/1

इसलिए सिद्धान्तरूप में मेरा कहना है कि नव्यन्याय अपने मार्ग से न तो भटका है, न तो उसने रास्ता बदला है। बात सिर्फ़ इतनी है कि उसी मार्ग पर चलते-चलते वह इतना आगे आ गया है और मार्ग को इतना परिष्कृत कर दिया है कि लगता है कि यह मार्ग कोई दूसरा है। वस्तुतः तो न्यायदर्शन की आन्वीक्षिकी संज्ञा नव्यन्याय के परिप्रेक्ष्य में ही पूर्णतः चरितार्थ होती है। इस संज्ञा में ही अन्वीक्षा की अनुमान प्रमाण की प्रमुखता द्योतित होती है।

**नव्यन्याय की भाषा और शैली –** प्राचीनन्याय और नव्यन्याय में मूलभूत अन्तर उनकी भाषा और शैली को लेकर ही है। प्रचीनन्याय की भाषा सरल है, उसमें पारिभाषिक शब्दों का उपयोग स्वल्प है। किन्तु नव्यन्याय की भाषा पारिभाषिक शब्दों से भरी है। परन्तु मज़ेदार बात यह है कि प्राचीनन्याय की भाषा सरल होने पर भी इतनी सांकेतिक हुआ करती है कि उसके प्रतिपाद्य विषय का सरलता से हृदयङ्गम नहीं होता है अनेक बार अर्थ भेद की सम्भावना बनी रहती है । अनेक स्थलों पर अनुमानों में कौन पक्ष, कौन साध्य और क्या हेतु है? यह स्पष्ट नहीं होता । इसके विपरीत नव्यन्याय की भाषा पारिभाषिक होने पर भी इतनी सुस्पष्ट होती है कि पारिभाषिक शब्दों का ज्ञान रखने वाले जिज्ञासु को प्रतिपाद्य विषय करामलकवत् सुस्पष्ट और हृदयंगम हो जाता है। अनुमानप्रयोगों में पक्ष, साध्य और हेत्वादि के विषय में कहीं पर कोई सन्देह नहीं होता है। यही कारण रहा है कि नव्यन्याय की शैली को वैयाकरणों, साहित्यकों, मीमांसकों, वेदान्तियों आदि ने भी अपनाया और नव्यन्याय की भाषा में ग्रन्थों का प्रणयन किया । वस्तुतः नव्यन्याय में बाधा सिर्फ़ पारिभाषिक शब्दों के ज्ञान की है। यदि वे आपके साथी बन जाते हैं तो आप निर्भय हो जायेंगे। इसीलिए विद्वज्जन न्याय को सिंहमुख गौ की संज्ञा देते है। दूर से देखने पर तो सिंह की तरह भयावना लगेगा किन्तु पास पहुँचने पर गाय की तरह सीधा ।

**नव्यन्याय के प्रर्वतक गङ्गेशोपाध्याय–**गङ्गेशोपाध्याय नव्यन्याय के प्रवर्तक आचार्य माने जाते हैं । यद्यपि इस विषय में विद्वानों में मतभेद है कि उन्होंने जो शैली विकसित की वह इदम्प्रथमतया इन्हीं के द्वारा उपस्थापित की गयी है क्योंकि इसके पूर्व के मणिकण्ठ प्रणीत 'न्यायरत्न' शशधर मिश्र प्रणीत 'न्यायसिद्धान्तदीप' तरणि मिश्र प्रणीत 'रत्नकोष' आदि ग्रन्थों में नव्यन्याय का स्वरूप उपलब्ध हुआ करता है। इसी कारण न्याय शास्त्र के अधिकारी विद्वान उदयनाचार्य तक प्राचीनन्याय की सीमा मानते हैं और उसके बाद के काल को नव्यन्याय की कालसीमा में लाते हैं ।

उदयनाचार्य के समय तर न्यायदर्शन के सामने जो चुनौतियाँ थीं वे प्रमुखतः बौद्धों

के द्वारा ही उठायी गयीं । तथा इसी क्रम में खण्डनमण्डन की सुदीर्घ शृङ्खला में न्याय और बौद्धदर्शन के सिद्धान्तों का परिष्कार और परिमार्जन हुआ । उदयनाचार्य के बाद बौद्ध चुनौतियाँ सुप्तप्राय हो गयीं । यद्यपि रत्नकीर्तिकृत 'उदयननिराकरणम् ' नामक ग्रन्थ उदयनाचार्य के बाद ही लिखा गया और उदयन द्वारा 'आत्मतत्त्वविवेक' में क्षणभङ्गवाद के खण्डन में जो युक्तियाँ दी गयी है, उनका इस ग्रन्थ में निराकरण भी किया गया, तथापि ऐसा प्रतीत होता है कि यह ग्रन्थ प्रायशः नैयायिकों को दृष्टिगोचर नहीं हुआ तथा स्वल्प ही प्रचार प्रसार को प्राप्त हुआ अन्यथा उसके बाद भी इतने लम्बी और गौरवित न्यायपरम्परा के होते हुए भी क्यों किसी नैयायिक ने इस ग्रन्थ का खण्डन नहीं किया ? यह आश्चर्य का ही विषय हो सकता है। इस कारण यही मानना उचित जान पड़ता है कि उदयनाचार्य के बाद बौद्धन्यायपरम्परा भारतभूमि पर ह्रासोन्मुख हो चली थी। इसके कारण चाहे जो रहे हों । किन्तु बौद्धन्यायपरम्परा के ह्रासोन्मुख होने से न्यायदर्शन के सामने जो चुनौतियाँ थीं वे कम नहीं हुई बल्कि बढ़ ही गईं ।

उदयनाचार्य के बाद ही महावैतण्डिक श्रीहर्ष का आविर्भाव होता है, जिन्होंने अपने वितण्डाग्रन्थ 'खण्डनखण्डखाद्यम् ' में न्यायवैशेषिक सम्प्रदायानुसारी सिद्धान्तों, लक्षणों को ही पूर्वपक्ष के रूप में रखा है और उनपर निर्मम प्रहार किया है। वही काल है जिसमें कि प्रभाकर द्वारा प्रवर्तित गुरुमत परिपोष को प्राप्त कर रहा था । वस्तुतः कहना चाहिए कि उदयन तक जो खण्डनमण्डन की परम्परा थी, उसमें तत्त्वमीमांसा मूल में थी जिसको आधार बनाकर पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष प्रवृत्त होता था । उदयन के बाद संघर्ष का परिक्षेत्र बदल गया, युद्ध अब ज्ञानमीमांसा के क्षेत्र में उतर आया था । यद्यपि उसके पूर्व भी जयराशि भट्ट ने 'तत्त्वोपप्लवसिंह' के द्वारा और नागार्जुन ने 'विग्रहव्यावर्तनी' और 'वैदल्यसूत्र' के द्वारा इस संघर्ष को ज्ञानमीमांसा के क्षेत्र में ले जाने का सफल प्रयास किया था । किन्तु इस काल में श्रीहर्ष ने मूल रूप से न्यायवैशेषिकसम्प्रदाय द्वारा किये गये निर्वचनों पर हमला किया था और प्रमाणादि के सत्त्व को अपनी युक्तियों से खण्डित किया। जिनका खण्डन श्रीहर्ष ने किया, वे प्रमाण, प्रमेयादि न्यायाभिमत पदार्थ ही थे ।

ज्ञानमीमांसा के क्षेत्र में भी न्यायवैशेषिकसम्प्रदाय की अनेक धारणाओं के सामने प्रश्न उठ खड़ा हुआ था । नैयायिकों के परतः प्रामाण्य सिद्धान्त के विरोध में स्वतः प्रामाण्य का सिद्धान्त पल्लवित, पुष्पित हो रहा था । स्वतः प्रामाण्यवादियों में प्रभाकर, भट्ट और मुरारि मिश्र शामिल किये जाते हैं, यद्यपि यथार्थतः उनमें से केवल प्रभाकर ही स्वतः प्रामाण्यवादी है,कुमारिल भट्ट और मिश्र परतःप्रामाण्यवादी ही ठहरते हैं । इनकी पारिभाषिक स्वतःप्रामाण्यवादिता ही है। इसी कारण गङ्गेशोपाध्याय ने प्रभाकर का ही मुख्य प्रतिपक्षितया उल्लेख चिन्तामणि में किया है।

**'अन्वीक्षानयमाकलय्य गुरुभिर्ज्ञात्वा गुरूणां मतं**
**चिन्तादिव्यविलोचनेन च तयोः सारं विलोक्याखिलम् ।**
**तन्त्रे दोषगणेन दुर्गमतरे सिद्धान्तदीक्षागुरु**
**गङ्गेशस्तनुते मितेन वचसा श्रीतत्त्वचिन्तामणिम् ॥'**

तत्त्वचिन्तामणि प्रारम्भ

उदयनाचार्य के बाद न्यायवैशेषिक सम्प्रदाय के सामने जो चुनौतियाँ उपस्थित हुईं, वे मीमांसकों, अद्वैतियों के द्वारा ही प्रमुखतः उठायी गयीं । उन्हीं का सामना करने के लिए गङ्गेशोपाध्याय ने 'तत्त्वचिन्तामणि' का प्रणयन किया । यह अकारण नहीं है कि 'तत्त्वचिन्तामणि' में प्राधान्येन प्रमाणमात्र का ही विवेचन उपलब्ध होता है। न्यायवैशेषिक सम्प्रदाय के मूल में है प्रमाण । प्रमाणमीमांसा पर आक्षेप नैयायिकों के मूल पर आक्षेप है। इसीलिए 'तत्त्वचिन्तामणि' की प्रमाण विवेचना के विषय में गङ्गेश स्पष्टतः कहते हैं कि—'**प्रमाणाधीना सर्वेषां व्यवस्थितिरिति प्रमाणतत्त्वमत्र विविच्यते**' (तत्त्वचिन्तामणि प्रामाण्यवाद) इस प्रकार जैसे बौद्धों के द्वारा उठायी गयी चुनौतियों का सामना करने के लिए समय-समय पर उद्योतकर, वाचस्पति मिश्र, उदयनाचार्य आदि विद्वानों के द्वारा 'न्यायवार्तिक' 'तात्पर्यटीका' 'आत्मतत्त्वविवेक' आदि ग्रन्थों का प्रणयन किया गया, उसी प्रकार गङ्गेशोपाध्याय द्वारा भी प्रमुखतया खण्डनकार श्रीहर्ष और प्राभाकरों द्वारा उठायी गयी आपत्तियों का निवारण करने के लिए ही 'तत्त्वचिन्तामणि' का प्रणयन किया गया ।

यद्यपि गङ्गेश के देशकाल के बारे में कोई सुस्पष्ट उल्लेख नहीं प्राप्त होता है तथापि अन्तः और बाह्यसाक्ष्यों के आधार पर गङ्गेश की पूर्व सीमा 1275A.D. निर्धारित की जाती है और अन्तिमसीमा 1350A.D. निर्धारित की जाती है। मैथिलपञ्जी के अनुशीलन से डॉ॰ उमेश मिश्र गङ्गेश का जन्मस्थान मिथिला में 'छदन' नामक कोई ग्राम बताते हैं, यद्यपि उक्त ग्राम आज लुप्त हो गया है।

गङ्गेश की चिन्तामणि में लक्षण परिष्कार के विषय में जैसी रीति का अवलम्बन किया गया है, वह स्पृहणीय और आकर्षक है। सुस्पष्ट और संक्षिप्त निर्वचन की रीति का आश्रयण इतना प्रभावशाली रहा कि चाहे नैयायिकों के परमविरोधी बौद्ध और वेदान्ती रहे हों, मीमांसक, साङ्ख्य, वैयाकरण रहे हों या आलङ्कारिक; सभी ने नव्यन्याय की इस सारणि का अवलम्बन लिया और अपने सिद्धान्तों का परिष्कार इसी रीति से किया । यह गङ्गेश के 'सिद्धान्तदीक्षागुरुत्व' का ही प्रतिष्ठापक है। अगर कहा जाये कि गङ्गेश द्वारा 'तत्त्वचिन्तामणि' का प्रणयन कुछ वैसा ही है जैसे तोतली बोली बोलने वाले बच्चे को सुसंस्कृत, सुपरिमार्जित भाषा बोलनी सिखा दी जाये' तो यह अतिशयोक्ति नहीं होगी ।

**नव्यन्याय की विद्वत् परम्परा** –'तत्त्वचिन्चतामणि' नामक ग्रन्थ अपने प्रणयन के बाद से बहुत समय तक विद्वानों के लिए कसौटी बना रहा । इसकी अनेक टीकाएँ विद्वानों के द्वारा लिखी गयीं । बङ्गाल और मिथिला में इसकी प्रधानता रही । जिनमें यज्ञपत्युपाध्याय प्रणीत 'प्रभा' वाचस्पति मिश्र (द्वितीय) की 'प्रकाश' व्याख्या, शङ्कर मिश्र प्रणीत 'मयूख' नामक व्याख्या, प्रगल्भ मिश्र प्रणीता 'प्रगल्भी' पक्षधर मिश्रनाम से प्रसिद्ध जयदेव मिश्र प्रणीत 'आलोक' व्याख्या, गोपीनाथ ठक्कर प्रणीत 'मणिसार' व्याख्या, नरहरि उपाध्याय प्रणीत 'दूषणोद्धार' व्याख्या, वासुदेव मिश्र प्रणीत 'न्यायसिद्धान्तसार' व्याख्या, रुचिदत्त मिश्र प्रणीत 'प्रकाश' व्याख्या, वासुदेव सार्वभौम प्रणीता 'सारावली' व्याख्या. रघुनाथशिरोमणिप्रणीता 'दीधिति' व्याख्या, जानकीनाथ भट्टाचार्य चूडामणि की 'मणिमरीचिनिबन्ध' नामक व्याख्या, मथुरानाथ तर्कवागीश की 'रहस्य' नामक व्याख्याएँ प्रमुख रही हैं। इसके अतिरिक्त भी अनेक विद्वानों ने 'तत्त्वचिन्तामणि' पर व्याख्याओं का प्रणयन किया जिनमें अनेक आज लुप्त हो चुकी हैं ऐसा विद्वानों का मानना हैं । ऐसी

व्याख्याओं में उल्लेखनीय हैं वर्द्धमानोपाध्याय कृत 'प्रकाश' व्याख्या, त्वन्तोपाध्याय कृत व्याख्या, गङ्गादित्योपाध्यायकृता व्याख्या, घटेशोपाध्यायकृता व्याख्या, वटेश्वरोपाध्याय कृत 'दर्पण' नामक व्याख्या । दाक्षिणात्य विद्वानों में जिन विद्वानों ने तत्त्वचिन्तामणि का व्याख्यान किया उनमें 'दर्पण' नामक व्याख्या के लेखक रामचूडामणि मखिन् , 'तर्कचूडामणि' व्याख्याकर्ता धर्मराजाध्वरीन्द्र, 'न्यायशिखामणि' के लेखक रामकृष्णाध्वरि प्रभृति प्रमुख रहे। इनमें धर्मराजाध्वरीन्द्र कृत 'तर्कचूडामणि' और रामकृष्णाध्वरि कृत 'न्यायशिखामणि' तत्त्वचिन्तामणि की व्याख्याएँ नहीं हैं अपितु रुचिदत्त मिश्र प्रणीत प्रकाश व्याख्या की व्याख्याएँ हैं ।

'तत्त्वचिन्तामणि' की उपर्युक्त टीकाओं में जिन टीकाओं को विद्वत्समाज में गौरवित आदर प्राप्त हुआ, उनमें रघुनाथ शिरोमणिप्रणीता 'दीधिति' व्याख्या, पक्षधरमिश्र प्रणीत 'आलोक' व्याख्या और मथुरानाथतर्कवागीश प्रणीत 'रहस्य' नामिका व्याख्या प्रमुख रही।

पक्षधरमिश्र प्रणीत 'आलोक' व्याख्या के ऊपर अनेक विद्वानों ने व्याख्याएँ लिखीं और वे आदरणीय रहीं, किन्तु रघुनाथ शिरोमणि प्रणीत 'दीधिति' व्याख्या ही परवर्ती नैयायिकों के लिए अपनी संक्षिप्तता, अपनी गम्भीरता और अपनी मौलिकता के कारण कसौटी बनी । रघुनाथ शिरोमणि की यह उक्ति विद्वानों में अत्यन्त प्रसिद्ध है—

**'विदुषां निवहैरिहैकमत्या यददुष्टं निरटङ्कि यच्च दुष्टम् ।**
**मयि जल्पति कल्पनाधिनाथे रघुनाथे मनुतां तदन्यथैव ॥'**

यह उक्ति झूठी भी नहीं है। दीधितिकार रघुनाथ शिरोमणि ने न्यायवैशेषिक सम्प्रदाय की अनेक मान्यताओं पर सफलतापूर्वक और युक्तिसङ्गत रीति से सवाल उठाया और बहुत सारी मान्यताओं को अपने कर्कश तर्कों से धराशायी कर दिया । 'दीधिति' व्याख्या के समादर का रहस्य रघुनाथ शिरोमणि की मौलिकता में ही निहित है। यद्यपि इसी कारण रघुनाथ को अपने समकालीन नैयायिकों का भी विरोध झेलना पड़ा और आज भी रघुनाथ के अनेक सिद्धान्त न्यायवैशेषिकसम्प्रदाय की मूल धारा में प्रतिष्ठित नहीं किये जा सके हैं । तथापि इससे रघुनाथ शिरोमणि के सम्मान में कोई भी कमी नहीं आयी है।

'दीधिति' की व्याख्याओं में रघुनाथ विद्यालङ्कार की 'दीधिति प्रतिबिम्ब' व्याख्या, रघुदेव की 'निरुक्तिप्रकाश' व्याख्या, रुद्रन्यायवाचस्पति की 'दीधितिपरीक्षा' रामचन्द्र सिद्धान्तवागीश की 'दीधितिविवेचन' व्याख्या, जयराम न्यायपञ्चानन की 'दीधितिगूढार्थ विद्योतन' व्याख्या, भवानन्द की 'भवानन्दी' कृष्णदास सार्वभौम की 'दीधितिप्रसारिणी' गुणानन्द की 'दीधितिविवेक' व्याख्या, जगदीशभट्टाचार्य की 'जागदीशी' गदाधर भट्टाचार्य की 'गादाधरी' व्याख्या उल्लेखनीय हैं । किन्तु रघुनाथशिरोमणि प्रणीता 'दीधिति' व्याख्या की व्याख्याओं में जगदीशभट्टाचार्य प्रणीत 'जागदीशी' और गदाधर भट्टाचार्य प्रणीत 'गादाधरी' को जैसा सम्मान प्राप्त हुआ है, वैसा सम्मान अन्य व्याख्याओं को नहीं प्राप्त हो सका । जगदीश और गदाधर के बाद के काल में न्यायवैशेषिक सम्प्रदाय के विद्वानों ने मूलरूप से 'जागदीशी' 'गदाधरी' और 'माथुरी' को आधार बनाकर ही व्याख्या ग्रन्थों क्रोड़पत्रों आदि का प्रणयन किया है और आज भी नव्यन्याय की विद्वत् परम्परा न्यायवैशेषिकसम्प्रदाय की श्रीवृद्धि में तत्पर है।

**नव्यन्यायपरम्परा में जगदीश और गदाधर का स्थान**–रघुनाथ शिरोमणि के बाद की नव्यन्यायपरम्परा में जगदीश और गदाधर सूर्य और चन्द्र के समान प्रकाशित होते रहे हैं। दोनों ने दीधिति की व्याख्या लिखी और इसके सिवा अनेक मौलिक ग्रन्थों का भी प्रणयन किया । दोनों का काल भी प्रायशः एक ही रहा है। समकालीन होने के कारण जगदीश और गदाधर में मतवैभिन्य भी रहा है, ऐसा विद्वानों का मानना है। परस्पर एक दूसरे के सिद्धान्तों का दोनों ने कहीं-कहीं खण्डन भी किया है। चूँकि गदाधर जिस समय युवा थे, जगदीश उस समय वयोवृद्ध थे । अतः गदाधर ने ही प्रायशः जगदीश की मान्यताओं का अनेक जगहों पर खण्डन किया है। किन्तु जगदीश और गदाधर का यदि कहीं पर सैद्धान्तिक विरोध है भी तो वह मर्यादा की सीमा का उल्लङ्घन नहीं करता है। गदाधर ने जिन मतों का खण्डन किया है, उनमें से कुछ एक को जगदीश के साथ जोड़ दिया गया है यद्यपि वे जगदीश के मत नहीं हैं । इस प्रसङ्ग में उदाहरण स्वरूप प्रकारतावाद संसर्गतावाद के विवाद को देखा जा सकता है। जिसके बारे में आनेवाले पृष्ठों में हम चर्चा करेंगे । जो भी हो नव्यन्याय की परम्परा में जगदीश और गदाधर दोनों का ही महत्वपूर्ण और स्तुत्य योगदान रहा है।

**जगदीश और गदाधर की भाषाशैली** –जगदीश और गदाधर की भाषा और शैली में बहुत अन्तर है। यद्यपि दोनों ही विद्वत्ता में परस्पर एक जैसे हैं । जगदीश की शैली संक्षिप्त वर्णन की है । थोड़े शब्दों में विषयों का स्पष्ट विवेचन करते हैं, जिससे शङ्का और सन्देह का अवकाश नहीं बचता है। इसके विपरीत गदाधर की शैली विस्तृत विवेचन की है। कहीं -कहीं तो विचार सारणि इतनी सूक्ष्म हो जाती है, विचार करते-करते गदाधर इतने आगे निकल जाते हैं कि असावधान अध्येता को यह विस्मृत हो जाता है कि मूल विवेचन क्या चल रहा था? इसी कारण विद्वज्जनों में यह प्रवाद है कि जगदीश भट्टाचार्य के ग्रन्थ व्युत्पादक हैं और गदाधर भट्टाचार्य के ग्रन्थ मोहक हैं । किन्तु यदि गदाधर के ग्रन्थों का ध्यानपूर्वक अवलोकन किया जाये जो यही पता चलता है कि गदाधर के ग्रन्थ विद्वज्जनों के लिए ही हैं । असंदिग्ध रूप से जगदीश के ग्रन्थों का छात्रोपकारकत्व है। इसीलिए जगदीश का व्याप्ति ग्रन्थों में माहात्म्य है और हेत्वाभासग्रन्थों में गदाधर का माहात्म्य है।

यद्यपि गदाधर के मौलिक ग्रन्थों के बारे में अगर हम विचार करें तो हम देखते हैं कि गदाधर की टीकाग्रन्थों में दिखायी देने वाली जटिलता इन मौलिक ग्रन्थों में तिरोहित हो चुकी है। ऐसा लगता है कि सम्पूर्ण ग्रन्थ एक पूर्वापरक्रम में बुद्धिस्थ करके व्यवस्थित रूप से लिखा गया है। वैसे विचार सारणि की सूक्ष्मता यहाँ पर भी उसी प्रकार दृष्टिगत होती है।

**जगदीश और गदाधर का मतभेद**–यह मैं विगत पृष्ठों में व्यवस्थापित और प्रतिपादित कर चुका हूँ कि जगदीश और गदाधर प्रायशः समकालीन ही थे तथा दोनों ही नव्यन्याय के श्रेष्ठ विद्वान माने जाते हैं। दोनों में अनेक विषयों में प्रबल मतभेद है। व्युत्पत्तिवाद में भी यह विरोध और मतभेद अनेक स्थलों में दृष्टिगत होता है। मूलतः जिन विषयों में दोनों में मैलिक मतभेद मुझे दृष्टिगत हुआ है, वे ये हैं —

(1) एकज्ञानीय एकव्यक्तिवृत्ति विषयताओं में गदाधर अवच्छेद्य अवच्छेदकभाव मानते हैं और जगदीश अभेद मानते हैं । उदाहरण के तौर हम **घटवद्भूतलम्** इस ज्ञान

को लें । इस ज्ञान में भूतल विशेष्य है, भूतल में घट प्रकार है और घट में घटत्व । भूतल में भूतलत्व विशेष्यतावच्छेकविधया भासता है। इसे इस चित्र के माध्यम से समझा जा सकता है—

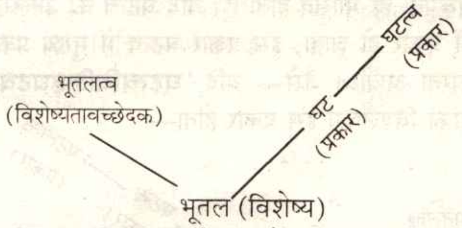


इस ज्ञान की भूतल में मुख्यविशेष्यता है क्योंकि भूतल किसी में भी विशेषण नहीं बनता है, विशेष्य ही बनता है। घटत्व में मुख्य प्रकारता है क्योंकि घटत्व किसी के प्रति भी विशेष्य नहीं बनता है, विशेषण ही बन रहा है। भूतलत्व में प्रकारता ही है किन्तु वह प्रकारतया नहीं भास रहा है बल्कि विशेष्यतावच्छेदकतया भास रहा है। इनके सिवा बचता है यहाँ पर घट, वह घट भूतल में विशेषण है और घटत्व के प्रति विशेष्य है। उपर्युक्त चित्र को यदि हम खण्डशः देखें तो यह बात स्पष्ट हो जाती है—

(क)

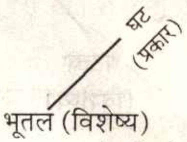


(ख)

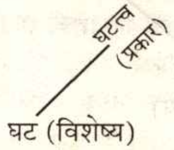


अब हम देखते हैं कि घट में इस एक ज्ञान की दो विषयताएँ हैं एक तो प्रकारताख्या विषयता और दूसरी विशेष्यताख्या विषयता । क्योंकि घट भूतल के प्रति विशेषण (प्रकार) बन रहा है और घटत्व के प्रति विशेष्य बन रहा है। तो घट में रहनेवाली इन एक ज्ञानीय दोनों विषयताओं में (प्रकारता और विशेष्यता में) अभेद है ऐसा जगदीश का मत है। दोनों एक ही हैं।

गदाधर दोनों का अभेद नहीं मानते हैं बल्कि परस्पर अवच्छेद्य अवच्छेदक भाव मानते हैं अर्थात् भूतलनिष्ठविशेष्यता से निरूपित घटनिष्ठप्रकारता से अवच्छेद्य घटत्वनिष्ठ प्रकारतानिरूपितघटनिष्ठविशेष्यता है और इसके विपरीत भी है अर्थात् घटत्वनिष्ठप्रकारता से निरूपित घटनिष्ठविशेष्यता से अवच्छेद्य भूतलनिष्ठविशेष्यतानिरूपितघटनिष्ठप्रकारता है। दोनों तरह से कहा जा सकता है।

यह तो एक सामन्य ज्ञान का विश्लेषण हुआ, इसी प्रकार से अन्य ज्ञानों के बारे में भी समझना चाहिए । उनका भी विश्लेषण इसी रीति से कर सकते हैं । यहाँ पर इतना ध्यान रखना चाहिए कि एक ज्ञान की एक ही मुख्य विशेष्यता हुआ करती है । मुख्य विशेष्यता से आशय उस विशेष्य में रहनेवाली विशेष्यता से है जो किसी के प्रति विशेषण नहीं होता है जैसे कि उपर्युक्त ज्ञानीय भूतलनिष्ठ विशेष्यता । भूतल किसी में भी विशेषण नहीं होता है। मुख्य प्रकारता से आशय उस विशेषण में रहनेवाली प्रकारता से है जो कि किसी के प्रति विशेष्य नहीं बनता है। जैसे कि उपर्युक्त ज्ञानीय घटत्वनिष्ठप्रकारता मुख्य

प्रकारता है क्योंकि घटत्व किसी के भी प्रति विशेष्य नहीं बनता है।

यहाँ पर घटत्व में घटत्वत्व का प्रकारतया भान तो नहीं ही होता है क्योंकि नियम है कि '**अनुल्लिख्यमाना जातिः स्वरूपतो भासते**' जिस जाति का उल्लेख न किया गया हो वह जाति स्वरूपतः ही भासित होती है। यदि घटत्व का उल्लेख कर दिया जाता तो घटत्वत्व घटत्व में प्रकार हो जाता, इस प्रकार घटत्व में मुख्य प्रकारता नहीं आती, घटत्वत्व में मुख्यप्रकारता आती । जैसे— यदि '**घटत्वविशिष्टघटवद्भूतलम्** ' यह ज्ञानाकार होता तो इसका विश्लेषण इस प्रकार होता—

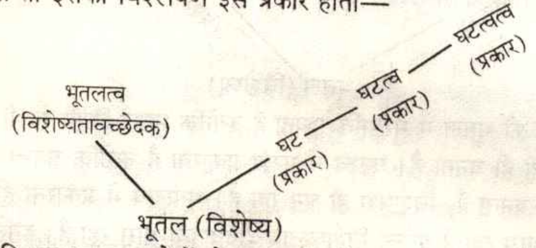


इसे यदि हम खण्डशः देखें तो इसका विश्लेषण इस प्रकार से किया जायेगा —

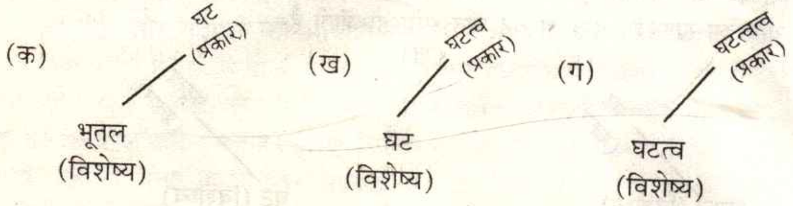


इस प्रकार इस ज्ञान की भी मुख्य विशेष्यता तो भूतल में ही रही किन्तु मुख्य प्रकारता घटत्वत्व में । मुख्यविशेष्यता भूतलत्व से अवच्छिन्न है और मुख्य प्रकारता निरवच्छिन्न है।

यहाँ पर प्रसङ्गवशात् यह समझ लेना चाहिए—उपर्युक्त विवेचन विशिष्ट बुद्धि के विषय में है। निर्विकल्पक ज्ञान में तो परस्पर विशेष्यविशेषणभावापन्न रीति से बोध ही नहीं होता है। इसी कारण निर्विकल्पकज्ञान की प्रकारता, विशेष्यता, संसर्गता से अतिरिक्त तुरीया विषयता स्वीकारी जाती है। विशिष्टवैशिष्ट्यबुद्धि चार प्रकार की होती है ऐसा विद्वानों का मानना है। (द्रष्टव्य–वादवारिधि विशिष्टवैशिष्ट्यवादवीचि) वे चार प्रकार हैं (1) विशेष्य में विशेषण और उसमें भी विशेषणान्तर इस रीति से (2) एक ही जगह पर दोनों हैं इस रीति से (3) विशिष्ट में वैशिष्ट्य है इस रीति से (4) विशिष्ट का वैशिष्ट्य है इस रीति से होने वाली विशिष्टबुद्धि ।

उपर्युक्त चारों विशिष्टवैशिष्ट्य बुद्धियों में प्रथम दो– विशेष्ये विशेषणं तत्रापि विशेषणान्तरम्, विशेष्य में विशेषण है और उसमें विशेषणान्तर इस रीति से होने वाली विशिष्टवैशिष्ट्य बुद्धि तथा एकत्र द्वयम् , एक ही जगह पर दोनों हैं इस रीति से होनेवाली विशिष्टवैशिष्ट्यबुद्धि के प्रति विशेषणज्ञानमात्र कारण हुआ करता है। उदाहरण के तौर पर प्रथमप्रकार की विशिष्टवैशिष्ट्यबुद्धि '**घटवद्भूतलम्** ' इस प्रत्यक्ष को देखें । निर्विकल्पक

प्रत्यक्षोत्तर काल में होने वाला यह प्रत्यक्ष 'विशेष्ये विशेषणं तत्र च विशेषणान्तरम् ' इस रीति से होता है। निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के द्वारा घटत्व, घट, भूतल, भूतलत्व का ज्ञान होने के उपरान्त '**घटवद् भूतलम्** ' ऐसी विशिष्टवैशिष्ट्यबुद्धि होती है। यहाँ पर यह ध्यान रखना चाहिए कि अगर इस ज्ञान का विश्लेषण किया जाये तो ऊपर जो विश्लेषण किया गया है उससे थोड़ी भिन्न स्थिति सामने आयेगी । देखें —

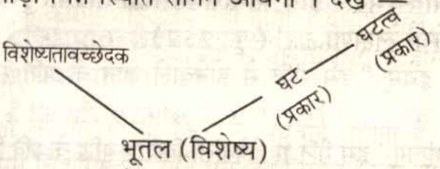


यहाँ पर भूतलत्व विशेष्यतावच्छेदकतया नहीं भासता है स्वरूपतः ही भासता है। पूर्व में विश्लेषित '**घटवद् भूतलम्** ' ज्ञान विशिष्ट में वैशिष्ट्य इस रीति से होनेवाली विशिष्टवैशिष्ट्यबुद्धि रूप था । क्योंकि उसमें भूतलत्वविशिष्ट में घट का वैशिष्ट्य विषय हो रहा था ।

'एकत्र द्वयम् ' इस रीति से होने वाले ज्ञान के प्रति भी विशेषणज्ञानमात्र कारण होता है। जैसे — '**घटपटवद्भूतलम्** ' इस ज्ञान को इस रीति से होनेवाला ज्ञान कह सकते हैं । घट, पट, घटत्व, पटत्व, भूतल, भूतलत्व के निर्विकल्पक प्रत्यक्षोपरान्त होनेवाला यह ज्ञान इस रीति से होता है। इसका विश्लेषण इस रीति से किया जा सकता है—

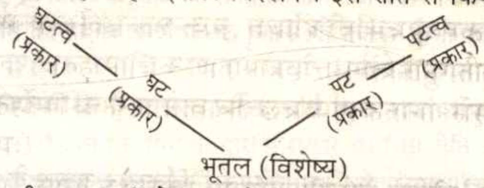


यहाँ पर भी भूतलत्व विशेष्यतावच्छेदकतया नहीं भासता है। क्योंकि यदि कोई धर्म विशेष्यतावच्छेकतया भासेगा तो प्रथम और द्वितीय दोनों ही ज्ञान तृतीय प्रकार में प्रविष्ट हो जायेंगे 'विशिष्ट में वैशिष्ट्य' इस रीति से होने वाले ज्ञान हो जायेंगे ।

'एकत्र द्वयम् ' इस रीति से होनेवाले ज्ञान के बारे में गदाधर कई बार व्युत्पत्तिवाद में चर्चा करते हैं । सिद्धान्ततः इस रीति से होनेवाले ज्ञान को समूहालम्बनात्मक ही होना चाहिए । समूहालम्बन से इसका भेद यही है कि समूहालम्बन में भूतल में घटनिष्ठप्रकारता से निरूपिता विशेष्यता और पटनिष्ठप्रकारता से निरूपिता विशेष्यता दोनों के ही रहने के बावज़ूद दोनों स्वतन्त्र रूप से भासती हैं । 'एकत्र द्वयम् ' रीति से होने वाले बोध में भूतल में रहनेवाली दोनों विशेष्यताओं में या तो अभेद होगा या तो अवच्छेद्य अवच्छेदकभाव । यह विकल्प जगदीश और गदाधर के मतभेद के अनुसार है। यहाँ पर मीमांसकों का सिद्धान्त है विधेयभेद से वाक्यभेद हो जाता है, विधेयद्वयज्ञान समूहालम्बनात्मक ही होता है। विधेयता भी प्रकारताविशेष ही है। इसका मतलब यह भी हुआ कि मुख्यप्रकारता के भेद से वाक्यभेद हो जायेगा । और ऐसी स्थिति में 'एकत्र द्वयम् ' इस रीति से होनेवाला ज्ञान समूहालम्बनात्मक ही होगा, समूहालम्बनानात्मक नहीं होगा । समूहालम्बनात्मक ज्ञान तो इन चारों ही विशिष्टबुद्धियों से अलग होता है। वस्तुतः वह एक ज्ञान न होकर एक से

अधिक ज्ञानों का समुदाय होता है।

गदाधर ने इस मीमांसक सिद्धान्त के प्रति अपना झुकाव आख्यातार्थविवेचनावसर पर प्रकट किया है जब वे कहते हैं कि—'**एकत्र द्वयमिति रीत्या तदुभयबोधस्य समूहालम्बनविलक्षणस्य स्वीकारात् । यदि च विधेयद्वयज्ञानं समूहालम्बनात्मकमेव अत एव "विधेयभेदे वाक्यभेद" इति मीमांसकसिद्धान्तोऽपीत्युच्यते ? तदास्तु धातोरेव स्वकर्मकक्रियायां लक्षणा......**' ( पृ. 752)

इस प्रकार 'एकत्र द्वयम् ' इस रीति से होनेवाले ज्ञान के प्रति सन्देह का बीज विद्यमान है।

तृतीय 'विशिष्टं वैशिष्ट्यम् ' इस रीति से होनेवाली विशिष्ट बुद्धि के प्रति विशेष्यतावच्छेक प्रकारक विशेष्यज्ञान और विशेषणज्ञान कारण होता है। जैसे –'**घटवद्भूतलम्** ' यह विशिष्ट में वैशिष्ट्य इस रीति से होनेवाली विशिष्टबुद्धि घट, घटत्व, भूतल, भूतलत्व विषयक निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के बाद नहीं हो सकती है। बल्कि उसके लिए घट, घटत्व विषयक ज्ञान और भूतलत्वप्रकारक भूतलविशेष्यक ज्ञान आवश्यक होगा । अर्थात् घट, घटत्व आदि का ज्ञान भी हो और भूतल का सविकल्पक प्रत्यक्ष हो तो विशिष्ट में वैशिष्ट्य इस रीति से होने वाली ऐसी विशिष्टबुद्धि हो सकती है।

चतुर्थ 'विशिष्टस्य वैशिष्ट्यम् ' इस रीति से होनेवाली विशिष्टबुद्धि के प्रति विशेषणतावच्छेक प्रकारक विशेषणज्ञान कारण होता है। उपर्युक्त '**घटवद्भूतलम्** ' ऐसा ज्ञान इस रीति से होनेवाला हो सकता है। किन्तु उसके लिए आवश्यक होगा कि घटत्व प्रकारक घटविषयक ज्ञान पहले रहे ।

सारतः प्रथम, तृतीय और चतुर्थ रीति से होने वाले ज्ञानों की विशेषता इस रीति से समझनी चाहिए —

(क) घट, घटत्व, भूतल, भूतलत्व विषयक निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के बाद '**घटवद् भूतलम्** ' ज्ञान 'विशेष्ये विशेषणं तत्रापि विशेषणान्तरम्' इस रीति से होगा । इसमें भूतलत्व विशेष्यतावच्छेदकतया नहीं भासेगा तथा घटत्वविशिष्टघट भूतल में विशेषण नहीं होगा । घट भूतल में और घटत्व घट में विशेषण होगा ।

(ख) घट, घटत्व के निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के और भूतलत्वप्रकारक भूतलविशेष्यक सविकल्पक प्रत्यक्ष के बाद '**घटवद् भूतलम्** ' यह ज्ञान 'विशिष्टे वैशिष्ट्यम् ' इस रीति से होगा । इसमें भूतलत्व विशेष्यतावच्छेदकतया भासेगा ।

(ग) घटत्वप्रकारक घटविषयक सविकल्पक प्रत्यक्ष और भूतलज्ञान के बाद होनेवाला '**घटवद् भूतलम्** ' यह ज्ञान 'विशिष्टस्य वैशिष्ट्यम् ' इस रीति से होगा, इसमें घटत्वविशिष्ट घट भूतल में प्रकार बनेगा ।

विशिष्टवैशिष्ट्यबुद्धि की परिभाषा दी जाती है कि विशेषण और विशेषणतावच्छेक दोनों के सम्बन्ध का अवगाहित्व ही विशिष्टवैशिष्ट्यबुद्धित्व है। तृतीय और चतुर्थ रीति से होनेवाली बुद्धि ही विशेषण और विशेषणतावच्छेदक दोनों के सम्बन्धों का अवगाहन करती है। जैसे उक्त ज्ञानों में घट का सम्बन्ध संयोग भूतल में भासता है वैसे ही घटत्व का भूतल में स्वविशिष्टसंयोग सम्बन्ध भी भासता है। प्रथम रीति से होनेवाली बुद्धि में विशेष्य में केवल विशेषण का ही सम्बन्ध भासता है विशेषणतावच्छेदक का नहीं । इस प्रकार

यथार्थतः तो तृतीय व चतुर्थ रीति से होनेवाली बुद्धि ही विशिष्टवैशिष्ट्य बुद्धि है।

(2) गदाधर और जगदीश का मौलिक मतभेद पर्याप्ति सम्बन्ध के विषय में है । गदाधर का इस विषय में कथन है कि उभयत्वादि उभय में पर्याप्त होते हैं एक में नहीं उभयत्वादिपर्याप्ति का उभयादिवृत्ति धर्म से ही अवच्छेद हुआ करता है। 'व्युत्पत्तिवाद' में ही गदाधर कहते हैं कि—**'द्वित्वादिपर्याप्तेरुभयादिवृत्तिधर्मेणैवाच्छेदात्, तदनवच्छेदकैकमात्रवृत्तिधर्मावच्छेदेन तद्वद्भेदस्य तेन सम्बन्धेन द्वित्वादिमद्भेदस्य च तद्वति वृत्तौ बाधकाभावात्** ' (पृ. 212) इसके विपरीत सम्मति जगदीश की है। जगदीश का पक्ष है कि यदि एकमात्रवृत्ति धर्मावच्छेदेन उभयत्वादि एक-एक में नहीं हैं तो इसका मतलब तो यह निकला कि दोनों में ही पर्याप्ति सम्बन्ध से उभयत्वादि नहीं है अवच्छेदकत्वादि नहीं हैं । एक में जो नहीं रह रहा है वह दोनों में कैसे रहेगा ? सिद्धान्तलक्षण जागदीशी में (सक्रोडटीका सहित पृ॰19 पर) जगदीश लिखते हैं कि—**'प्रत्येकमुभयत्र पर्याप्तिसम्बन्धेनासतोऽवच्छेदकत्वस्योभयत्र पर्याप्तिसम्बन्धेन सत्त्वायोगात्** '

(3) शाब्दबोध के प्रसङ्ग में विद्वज्जन गदाधर और जगदीश के मतभेद की बहुत चर्चा करते हैं । व्युत्पत्तिवाद के गूढार्थतत्त्वालोकव्याख्याकार पं॰ धर्मदत्त झा जी ने जगदीश को विभक्त्यर्थसंसर्गतावादी और गदाधर भट्टाचार्य को विभक्त्यर्थप्रकारतावादी बतलाया है। इस प्रकार दोनों में मतभेद है ऐसा व्यवस्थापित किया है। इस विषय का विस्तृत विवेचन भूमिका में ही संसर्गतावाद-प्रकारतावाद के विषय में विवेचन करते हुए करूँगा । वैसे हमारे पास इसके पक्ष में प्रबल युक्तियाँ हैं कि इस विषय में गदाधर व जगदीश का वस्तुतः कोई भी सैद्धान्तिक विरोध नहीं हैं, दोनों ही विभक्त्यर्थ का प्रकारतया भान ही स्वीकारते हैं ।

व्याख्याओं में अनेकत्र दोनों के द्वारा परिष्कार की भिन्न रीति का आधार लिया गया है, किन्तु इसे मतभेद कहना श्रेयस्कर और उचित नहीं होगा । क्योंकि एक कल्प कल्पान्तर का दूषक नहीं होता । जिस रीति से गदाधर ने व्याख्या की उस रीति से जगदीश का व्याख्या न करना गदाधर कृत व्याख्या में किसी दोष के कारण है, अथवा इसके विपरीत मानना तब तक तो उचित नहीं है जब तक कि कोई दोष न दिखाई पड़ जाये । यदि अन्य कोई मतभेद हो तो विद्वज्जन ही प्रमाणभूत हैं ।

**गदाधर का काल और स्थान** –'बङ्गे नव्यन्यायचर्चा' के अनुसार गदाधर भट्टाचार्य का जन्म 1011 बङ्गाब्द पौषमास में हुआ और अवसान बङ्गाब्द 1115 फाल्गुनमास में हुआ । तदनुसार दिसम्बर, 1604 ईस्वी में जन्म और फरवरी 1709 में मृत्यु का काल है । यद्यपि इस विषय में सन्देह की गुञ्जाइश बनी हुई है क्योंकि संस्कृत साहित्य परिषत् कलकत्ता द्वारा प्रकाशित 'नवमुक्तिवाद' की कालीपदतर्काचार्यकृतभूमिका में चौंसठवें पृष्ठ पर इनका जीवनकाल 1006 बङ्गाब्द से 1110 बङ्गाब्दपर्यन्त बतलाया गया है। राजेन्द्र घोष कृत अद्वैतसिद्धिभूमिका के प्रथम भाग के पृष्ठ चौरानबे पर पौष, 1011 बङ्गाब्द से फाल्गुन1115 बङ्गाब्द पर्यन्त इनका जीवनकाल सूचित किया गया है। 'बङ्गे नव्यन्यायचर्चा' के लेखक ने इसे ही प्रामाणिक माना है। जो भी हो दोनों ही समय निर्देशों में गदाधर की आयु 104 वर्ष ही निश्चित होती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि गदाधर ने

शतायु होने की वैदिक कामना को जीवन में पूर्ण होते हुए देखा ।

गदाधर का जो जन्मस्थान उपवर्णित किया गया है वह आज के भूगोल के अनुसार बाङ्ग्लादेश में पड़ता है। बगुडा जिले के अन्तर्गत लक्ष्मीपाशाग्रामनिवासी श्री शिवाचार्यगोस्वामी के ये पुत्र थे । श्री शिवाचार्य गोस्वामी महातान्त्रिक वाममार्गी काली के उपासक थे । गदाधर भट्टाचार्य ने भी अपने पिता के द्वारा तान्त्रिक विद्या प्राप्त की और तान्त्रिक विद्या में पारङ्गत हुए । 'व्युत्पत्तिवाद' में भी अनेक स्थलों पर गदाधर का तान्त्रिकत्व और तन्त्रविद्या में पारङ्गतत्व परिलक्षित होता है। 'स्वाहा' शब्दार्थनिर्वचन के अवसर पर गदाधर कहते हैं कि— **'अत एव तान्त्रिकपूजायामर्घ्याचमनीयादिदानेऽग्निप्रक्षेपोपहितत्वपित्रुद्देश्य-कत्वविरहेऽपि स्वाहास्वधाप्रयोगस्य नासमवेतार्थता'** (पृ. 653)

गदाधर के समय नवद्वीप न्यायविद्या के अध्ययन की दृष्टि से सर्वोत्तम स्थान था । गदाधर भी अपने ग्राम लक्ष्मीपाशा का परित्याग कर न्यायशास्त्र का अध्ययन करने के लिए नवद्वीप चले गये । नवद्वीप में इनके गुरु श्री हरिराम तर्कवागीश थे । गुरु के स्वर्गवासी होने के उपरान्त गदाधर वहीं पर अध्यापन करने लगे । अपने लम्बे जीवन का गदाधर भट्टाचार्य ने भरपूर उपयोग किया और अनेकानेक टीकाग्रन्थों और मौलिक ग्रन्थों का प्रणयन किया । गदाधर और जगदीश को आधार बनाकर विद्वत्समाज में अनेक किंवदन्तियाँ प्रचलित हैं, जिनकी प्रामणिकता के बारे में चाहे जितना सन्देह हो किन्तु उन किंवदन्तियों का जो मूल कथ्य है जगदीश व गदाधर का वैदुष्य, उसके बारे में कोई भी सन्देह नहीं किया जा सकता है। गदाधर की जो सन्तति परम्परा थी वह भी गदाधर के बाद छठीं पीढ़ी तक न्यायविद्या में निष्णात रही ऐसा विद्वज्जन मानते हैं । यहाँ पर हम इस प्रसङ्ग में नहीं पड़ना चाहते हैं ।

**गदाधर का कृतित्व एवं वैदुष्य**–गदाधर के नाम से अनेक ग्रन्थों का उल्लेख प्राप्त होता है[1] । जो कि इस प्रकार हैं —

( 1 ) **मूलतत्त्वचिन्तामणि टीका** ( शब्दखण्ड का खण्डितांश ही उपलब्ध)
( 2 ) **मूलानुमानखण्ड टीका**
( 3 ) **शब्दमण्यालोक टीका** ( अपूर्ववादपर्यन्त ही प्राप्त)
( 4 ) **प्रत्यक्षालोकटीका** (खण्डितांश ही उपलब्ध)
( 5 ) **अनुमानालोकटीका** (नवद्वीप में अंशमात्र उपलब्ध)
( 6 ) **तत्त्वचिन्तामणिदीधितिप्रकाशिका** (गादाधरी नाम से विख्यात सम्पूर्ण ग्रन्थ और प्रकाशित)
( 7 ) **नञ्वादः**
( 8 ) **बौद्धाधिकारदीधितिटीका** (कतिपय अंश ही उपलब्ध और प्रकाशिथ)
( 9 ) **कुसुमाञ्जलिटीका** ( डॉ॰ कीलहर्न के द्वारा 83 पृष्ठ प्राप्त सम्पूर्ण अभी तक अप्राप्त)
( 10 ) **प्रामाण्यमिश्रटीका** (बङ्गीयसाहित्यपरिषद् द्वारा एक खण्ड प्रकाशित)
( 11 ) **व्युत्पत्तिवाद**

---
1. यह विवरण गूढार्थतत्त्वालोक सहित व्युत्पत्तिवाद की श्री कीर्त्यानन्द झाकृत भूमिका से किञ्चित् संशोधनोपरान्त साभार लिया गया है।

(12) शक्तिवाद
(13) मुक्तिवाद
(14) विषयतावाद
(15) एक पाणिवाद
(16) विशिष्टवैशिष्ट्यबोधवाद
(17) संशयवाद
(18) निर्विकल्पकस्मरणवाद
(19) स्वर्गवाद
(20) विष्णु प्रीतिवाद
(21) कारणतावाद
(22) अपेक्षाबुद्धिकारणतावाद

(ये सभी वाद 'वादवारिधि' में एक साथ सङ्कलित और प्रकाशित हैं।)

(23) रत्नकोषवादरहस्यम्
(24) आख्यावाद
(25) कारकवाद
(26) विधिवाद
(27) ऋग्वेदोक्तदशकर्मपद्धति
(28) चण्डी टीका
(29) मुक्तावली टीका
(30) स्मृतिसंस्कारवाद

ये ग्रन्थ भी गदाधरभट्टाचार्य प्रणीत हैं ऐसा सुना जाता है।

गदाधर भट्टाचार्य की उपर्युक्त कृतियों के वैविध्य, गाम्भीर्य और मौलिकता को देखते हुए गदाधर का वैदुष्य स्वतः ही दर्पण की तरह स्पष्टतः प्रतिभासित हो जाता है। गदाधर की उपर्युक्त कृतियों के नामों के बारे में ही देखने से ही पता चलता है कि गदाधर ने न केवल न्याय और वैशेषिकदर्शन पर ही ग्रन्थों का प्रणयन किया है बल्कि अन्य विषयों पर भी गम्भीर ग्रन्थों का प्रणयन किया है। गदाधर के ग्रन्थों का सूक्ष्मावलोकन करने से गदाधर का न केवल न्यायशास्त्राभिज्ञत्व स्पष्ट होता है बल्कि तन्त्र, ज्यौतिष, कर्मकाण्ड, मीमांसा, पुराणादिवैदुष्य भी ज्ञात होता है। मूलतः न्यायविद्या से सम्बद्ध ग्रन्थों में भी प्रसङ्गानुसार तत्तत् विषयों का जैसा गहन विवेचन है, वह इसी की ओर सङ्केत करता है।

प्रस्तुत पुस्तक 'व्युत्पत्तिवाद' में गदाधर ने अर्थविज्ञान पर जैसा विवेचन किया है, वह गदाधर का पाणिनीयव्याकरणाभिज्ञत्व तो व्यवस्थापित करता ही है साथ ही पाणिनीयेतरव्याकरणज्ञत्व भी सुस्पष्ट करता है। 'कातन्त्रपरिशिष्ट' कार को वे उद्धृत करते हैं **स्तोकः पाकः** प्रयोग की साधुता के विवेचन के प्रसङ्ग में —

**'कथं स्तोकः पाकः? कृदन्तविशेषणत्वात्'**

शर्ववर्मप्रभृतिवैयाकरणों की भी चर्चा करते हैं अधि उपसर्गक शीङ् धातु के आधार की कर्मता के प्रसङ्ग में। पाणिनि ने अधि उपसर्गक शीङ् धातु के आधार की कर्मता का सम्पादन करने के लिए **'अधिशीङ्स्थासां कर्म'** **पा॰सू॰ 1/4/46** सूत्र का प्रणयन

किया है, किन्तु शर्ववर्म प्रभृति ने एतदर्थ सूत्र का प्रणयन नहीं किया है। तो शर्ववर्मा के मत में कैसे शयनाधार की कर्मता होगी? शर्ववर्मा की यह न्यूनता है या नहीं ? इत्यादि विवेचन द्वितीयाकारक में गदाधर करते हैं । मीमांसा आदि में गदाधर का वैदुष्य तो कुछ भी कहने की अपेक्षा नहीं करता है। अपने ग्रन्थों में भाट्टों प्राभाकारों आदि के साम्प्रदायिक सिद्धान्तों के खण्डन में गदाधर की प्रवीणता ही मीमांसादि शास्त्रों में गदाधर के पाण्डित्य को प्रखरता से सामने लाती है। श्राद्ध आदि में ब्राह्मणादि की सम्प्रदानता का विचार जिस रीति से गदाधर करते हैं, उससे कर्मकाण्ड आदि में भी उनकी निपुणता पाठक को ज्ञात हुए विना नहीं रहती है। तद्धित प्रत्ययों का विवेचन करते हुए गदाधर **'पौषी रात्रिः' 'पौषो मासः'** इत्यादि प्रयोगों में पौषादि पदों की सिद्धि व उनके अर्थ की विवेचना जब करते हैं तो ज्यौतिष शास्त्र पर गदाधर का अधिकार उससे स्पष्ट हो जाता है। उस लम्बे विवेचन में जिस रीति से गदाधर परिष्कार करते हैं, उससे यह ज्ञात है कि गदाधर के लिए अधिकमास, क्षयमास आदि संज्ञाओं का क्या कारण है ? यह छुपा नहीं था । पौष आदि सँज्ञाएँ मासों की कब हुआ करती हैं और उन्हें कब अधिक मास घोषित किया जाता है यह सब उक्त विवेचन में स्पष्टतया प्रतिभासित होता रहता है। एतद्विषयक ज्योतिःशास्त्रीय नियमों के परिप्रेक्ष्य में गदाधर पौष आदि पदों के प्रवृत्तनिमित्त के बारे में सिद्धान्त प्रस्तुत करते हैं ।

**गदाधर की मौलिकता** –किसी भी ग्रन्थकार का समादर उस ग्रन्थकार की मौलिकता के कारण ही होता है। प्रचीन सिद्धान्तों और युक्तियों का पिष्टपेषण मात्र करने से कोई भी ग्रन्थकार विद्वत्समाज में ज्यादा दिनों तक आदर और सम्मान नहीं प्राप्त कर पाता । इस नज़रिये से जब हम गदाधर को देखते हैं तो पाते हैं कि व्याख्या ग्रन्थों के विवेचन के प्रसङ्ग में भी और स्वतन्त्र ग्रन्थों में भी गदाधर की मौलिकता कहीं तिरोहित नहीं होती है। दीधितिकार रघुनाथ, चिन्तामणिकार गङ्गेश के मतों का समुचित विवेचन करते हुए यदि कहीं उन मतों में कोई त्रुटि गदाधर को नज़र आती है तो **'दोषाः वाच्या गुरोरपि'** के अनुसार उसको वे बतलाते हैं, अपना मत भी रखते हैं और उसको रखने का कारण बताते हैं । घञन्त समुदाय पाक आदि पदों के पाकाद्यर्थक होने पर, जैंसा कि गदाधर ने स्वीकारा है, आपत्ति आती है कि फिर तो दीधितिकार से विरोध होगा क्योंकि दीधितिकार ने संयोग, विभाग आदि घञन्त समुदाय का संयोगत्वविशिष्टवाचकत्व, विभागत्वविशिष्टवाचकत्व नहीं होता है ऐसा व्युत्पादित करके संयोग, विभाग आदि पदों के नैमित्तिकसंज्ञात्व का निराकरण किया है। तो इस प्रश्न पर गदाधर का कथन उनकी मौलिकता को ही युक्तिनिर्भरता को ही प्रकट करता है। गदाधर कहते हैं कि क्या क्षति है? किसी भी ग्रन्थकार का विपरीत लेखन युक्ति के बल से वस्तुसिद्धि में बाधक नहीं होता है। **'का क्षतिः–नहि कस्यचिद् ग्रन्थकृतो विपरीतलेखनं युक्तिबलाद्वस्तुसिद्धौ बाधकम्** ' (पृ. 92)

जहाँ पर गङ्गेश और रघुनाथ का विरोध है, वहाँ पर गदाधर दोनों के मतों का आधार क्या है ? प्रथमतः यह स्पष्ट करते हैं और तदन्तर अपना पक्ष भी बताते हैं, कारण पुरस्सर यह बताते हैं कि वे किस पाले में खड़े हैं? और क्यों खड़े हैं ? अनेक स्थलों पर गदाधर दीधितिकार के मत को दोषयुक्त बतलाते हुए अपना नवीन सिद्धान्त सामने लाते

हैं। उदाहरण के तौर पर दीधितिकार रघुनाथ '**ग्रामं गच्छति**' इत्यादि स्थलों में परसमवेतत्व को द्वितीया का अर्थ मानते है और गदाधर उसे आकाङ्क्षाभास्य मानते हैं। (द्रष्टव्य द्वितीया कारकप्रथमखण्ड में "स्वं गच्छति' प्रयोगवारणयुक्ति)

'**जानाति**' इत्यादि ज्ञानाद्यर्थक धातुओं के योग में, ज्ञानेच्छाकृत्यर्थक धातुओं के योग में आख्यात की निरर्थकता सार्थकता के बारे में गङ्गेशोपाध्याय और रघुनाथ शिरोमणि का मतभेद है। गङ्गेश उक्तस्थलों में आख्यात को निरर्थक मानते हैं और रघुनाथ आख्यात को आश्रयत्वार्थक मानते हैं।

इसमें गदाधर खुद को रघुनाथ के साथ खड़ा करते हैं और इसका कारण बतलाते हैं कि आखिर गङ्गेशमत में लाघव होने पर भी आख्यात की आश्रयत्वार्थकता का स्वीकार क्यों करना चाहिए ?

अनेक सिद्धान्त न्यायवैशेषिक सम्प्रदाय में मुखगत ही सुने जाते हैं, बहुतबार उनकी प्रमाणिकता भी संदिग्ध प्रतीत होती है। गदाधर ने उनके मूल में छुपी युक्तियों को भी ढूँढने का प्रयास किया है। उदाहरण के तौर पर यह प्रवाद है न्यायवैशेषिकसम्प्रदाय में कि वृत्त्यनियामकसम्बन्ध अभावीयप्रतियोगितावच्छेदक नहीं होता है। लेकिन इस प्रवाद के मूल में युक्ति क्या है ? यह नहीं बताया जाता। सामान्यतया गौरव और लाघव ही इसके मूल में बतलाये जाते हैं। किन्तु गदाधर ने वृत्त्यनियामकसम्बन्ध की अभावीयप्रतियोगितानवच्छेकता की परीक्षा ईमानदारी से की और इसके पक्ष विपक्ष में तर्कों को ढूँढा। जिसमें गदाधर का अपना मन्तव्य है कि वृत्त्यनियामक सम्बन्ध अभावीयप्रतियोगितावच्छेदक नहीं होता है। यद्यपि अनेक विद्वज्जन हमारे इस कथन से सहमत नहीं होंगे, तथापि मेरे ऐसा मानने के पर्याप्त कारण हैं।

**गदाधर की कृति व्युत्पत्तिवाद**–'व्युत्पत्तिवाद' गदाधर की श्रेष्ठतम कृति है यदि ऐसा कहा जाये तो मैं नहीं समझता हूँ कि इसमें कोई अतिशयोक्ति है। व्याख्याग्रन्थों के प्रणयन के अलावा गदाधर ने जिन स्वतन्त्र ग्रन्थों का प्रणयन किया है उनमें 'व्युत्पत्तिवाद' और 'शक्तिवाद' अत्यन्त महत्त्व के ग्रन्थ हैं। 'शक्तिवाद' का प्रणयन गदाधर ने शब्दशक्तिविवेचन करने के लिए किया है। तत्तच्छशब्दों की शक्ति किनमें है इसका ही विवेचन इस ग्रन्थ में है। 'व्युत्पत्तिवाद' में गदाधर शब्दों के अर्थों का विवेचन नहीं करते हैं अपितु प्रत्ययों के अर्थों का, भाषिक व्युत्पत्तियों का, नियमों का विवेचन करते हैं। और धातुओं के अर्थो का विवेचन करते हैं। भाषा से अर्थावबोध कैसे हुआ करता है? और भाषा से कैसा अर्थावबोध होता है? शाब्दबोध विवेचन में यह बात अत्यन्त महत्त्व की है। इस विषय में आधुनिक भाषावैज्ञानिकों ने भी पर्याप्त चिन्तन किया है और कर रहे हैं। भारतीय परम्परा में यह प्रश्न बहुत समय से चिन्तित किया जा रहा है और उसे समाहित करने का प्रयास नैयायिकों, मीमांसकों और वैयाकरणों ने किया है। इन तीनों की अपनी अलग-अलग दृष्टियाँ है, अलग-अलग पूर्वधारणाएँ हैं। शायद इसीलिए तीनों अलग-अलग निष्कर्ष पर पहुँचते हैं। नैयायिक सामान्यतः प्रथमान्तार्थमुख्यविशेष्यक शाब्दबोध स्वीकारते हैं। यद्यपि अनेक जगहों पर निपातार्थमुख्यविशेष्यक भी शाब्दबोध स्वीकार लेते हैं। कहीं पर कृति मुख्यविशेष्यक भी, कहीं पर व्यापारमुख्यविशेष्यक भी और कहीं पर सुबर्थमुख्यविशेष्यक भी शाब्दबोध स्वीकारते हैं। मीमांसकों का इस विषय में आग्रह है कि शाब्दबोध

भावनामुख्यविशेष्यक ही होता है और वैयाकरणों का आग्रह है कि शाब्दबोध व्यापार मुख्यविशेष्यक ही होता है। इन तीनों में से किसी एक को विशेषरूप से जानने के लिए बाक़ी को भी सामान्यतया जानना ज़रूरी है ।

गदाधर प्रणीत 'व्युत्पत्तिवाद' न्याय दृष्टि से शाब्दबोध का विवेचन करता है। चूँकि शब्द से जायमानबोध ही शाब्दबोध कहलाता है। इसलिए शब्दों का अर्थ अवगत करना और उनका अन्वय करना आवश्यक है। यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि एक शब्द से उत्पन्न बोध शाब्दबोध नहीं कहलाता है, उसे अर्थोपस्थिति मात्र कहते हैं । शब्दसमूह से अर्थों का अन्वय होकर जो बोध होता है उसे ही शाब्दबोध कहते हैं । वस्तुतः इसके लिए पदसमूह शब्द का प्रयोग किया जाता है। शाब्दबोध में पदों से उपस्थित अर्थ का बोध हुआ करता है। न्याय दृष्टि से पद का लक्षण शक्ति है। जिसमें शक्ति होगी उसे पद कहेंगे । वैयाकरणों के मत में पद शब्द सुबन्त और तिङन्त में पारिभाषिक है। तो पदसमूह में धातु, प्रातिपदिक, प्रत्यय आदि अनेक आते हैं । उनके द्वारा जो अर्थ उपस्थित होंगे वे शाब्दबोध विषय होंगे, उपर्युक्त तीनों ही सम्प्रदायों में इसमें वैमत्य है कि किससे किसकी उपस्थिति होगी । इसी कारण शाब्दबोध में भी अन्तर दृष्टिगत होता है।

गदाधर अपने इस ग्रन्थ में न्यायमत का अपनी परिष्कृत और प्रौढ़ युक्तियों के द्वारा प्रतिपादन करते हैं और अन्य मतों का खण्डन करते हैं । इसी कारण न्यायसिद्धान्त जिज्ञासुओं के लिए यह अत्यन्त उपादेय ग्रन्थ है। जैसा कि मैं पूर्व में ही कह चुका हूँ कि गदाधर की अपनी एक नई प्रखर दृष्टि है। वे पूर्व प्रचलित मान्यताओं को यथावत् स्वीकार लेने के पक्षपाती नहीं हैं । पहले उनकी समीक्षा करते हैं, अनन्तर निष्कर्ष देते हैं । यह ग्रन्थ अपनी शैली, प्रौढता आदि के कारण ही विद्वत्समाज में आदरास्पद बना हुआ है। इसकी टीकाओं के अवलोकन से भी इसी की पुष्टि होती है।

**व्युत्पत्तिवाद की टीकाएँ** – गदाधर भट्टाचार्य ने व्युत्पत्तिवाद' का प्रणयन 1625 ईस्वी में किया था । इस ग्रन्थ की प्रौढ़ता, गम्भीरता और महत्त्व देखते हुए अनेक विद्वानों ने इस पर व्याख्याओं का प्रणयन किया है। इन व्याख्याकारों में धर्मदत्त झा 'बच्चा झा' प्रमुख है जिन का गूढार्थतत्त्वालोक वस्तुतः गूढार्थतत्त्वों का ही आलोक है, अन्वर्था संज्ञा है। जो टीकाएँ विरचित हुई हैं और प्रकाशित हैं, वे ये हैं —

| | |
|---|---|
| (1) कृष्णम्भट्टीया | पं॰ श्री कृष्णम्भट्टविरचिता |
| (2) आदर्श | पं॰ श्री सुदर्शनाचार्य विरचित |
| (3) गूढार्थतत्त्वालोक | पं॰ श्री धर्मदत्त झा विरचित |
| (4) प्रकाश | पं॰ श्री लक्ष्मीनाथ झा विरचित |
| (5) जया | पं॰ श्री जयदेव मिश्र विरचिता |
| (6) नौका | पं॰ श्री खुद्दी झा विरचित |
| (7) दीपिका | पं॰ श्री शिवदत्त मिश्र विरचिता |
| (8) शास्त्रार्थकला | पं॰ श्री वेणीमाधव शुक्ल विरचिता |

इन टीकाओं में कृष्णम्भट्टीया व्याख्या सबसे प्राचीन है। इनमें से सम्पूर्ण ग्रन्थपर उपलब्ध होनेवाली टीकाएँ आदर्श, गूढार्थतत्त्वालोक और प्रकाश हैं । सचमुच में तो

सम्पूर्ण ग्रन्थ पर उपलब्ध व्याख्या 'आदर्श' व 'गूढार्थतत्त्वालोक' ही है क्योंकि लक्ष्मीनाथ झा की प्रकाश व्याख्या भी प्रथमा द्वितीयाकारक के बाद केवल टिप्पणी की तरह ही उपलब्ध होती है। जयाव्याख्या तो लेखक के बीच में ही शिवसायुज्यप्राप्त हो जाने से प्रथमाकारक तक ही व्याख्या के रूप में मिलती है, आगे कहीं-कहीं टिप्पणी के रूप में ही प्राप्त होती है और द्वितीया कारक के बाद वह भी नहीं । कृष्णम्भट्टीया भी प्रथमाकारक तक ही उपलब्ध होती है। 'शास्त्रार्थकला' व 'दीपिका' की स्थिति भी कुछ ऐसी ही है। 'नौका' व्याख्या अभेदसंसर्गकशाब्दबोधप्रक्रिया पर्यन्त ही उपलब्ध होती है। इन व्याख्याकारों में पं. श्रीधर्मदत्त झा की विद्वत्ता से पण्डितसमाज परिचित ही है, ये सर्वतन्त्रस्वतन्त्र कहे जाते हैं । गूढ़, गम्भीर और सूक्ष्म विवेचन इनकी विशेषता है और यह व्याख्या विद्वानों के लिए भी निकषग्रावा है।'व्युत्पत्तिवाद' की यही एक ऐसी व्याख्या है जिसके लिए पुनः व्याख्या की नितराम् अपेक्षा होती है । जयदेव मिश्र जी की जया व्याख्या भी पण्डितों में कुछ इसी प्रकार आदरास्पदा है।

पं. धर्मदत्त झा की 'गूढार्थतत्त्वालोक' व्याख्या को बोधगम्य बनाने के लिए उनके ही शिष्य पं॰ श्री शशिनाथ झा ने 'अर्थदीपिका' नामक गूढार्थतत्त्वालोक की व्याख्या का प्रणयन किया है। यद्यपि पं. लक्ष्मीनाथ मिश्र व शिवदत्त मिश्र का भी प्रयास गूढार्थतत्त्वालोक के अर्थ के प्रकाशन का ही है किन्तु इनकी व्याख्याओं को व्युत्पत्तिवाद की व्याख्या मानना ही मुझे समुचित प्रतीत होता है।

इसके अतिरिक्त अंग्रेजी आदि भाषाओं में भी इस ग्रन्थ की व्याख्याएँ हुई हैं और करने का प्रयास विद्वद्वृन्द द्वारा किया जा रहा है।

**व्युत्पत्तिवाद को हृदयङ्गम करने के लिए प्रथमतः ज्ञातव्य सिद्धान्त –** 'व्युत्पत्तिवाद' में मूलतः शाब्दबोध प्रक्रिया के क्रम में आनेवाली व्युत्पत्तियों का ही निरूपण किया गया है। व्युत्पत्ति शब्द का विग्रह किया जाता है— उत्कृष्टा पतिः उत्पत्तिः, उत्पूर्वक पद्धातु से क्तिन् प्रत्यय करके उत्पत्ति शब्द निष्पन्न होता है। चूँकि सभी गत्यर्थक धातुएँ ज्ञानार्थक हुआ करती हैं, इस कारण उत्पत्तिशब्द का अर्थ हुआ उत्कृष्ट ज्ञान या उत्कृष्ट प्रतिपत्ति । उसमें भी वि उपसर्ग लगा देते हैं —विशिष्टा उत्पत्तिः व्युत्पत्तिः, इस प्रकार व्युत्पत्तिशब्द का अर्थ होता है विशिष्ट प्रतिपत्ति। किन्तु यह प्रतिपत्ति का ज्ञान का वैशिष्ट्य क्या है? इस विषय में आचार्य पं. श्री रामप्रसाद त्रिपाठी जी समाधान देते हैं कि व्युत्पत्तियों का वैशिष्ट्य कार्यकारणभावमूलकत्व और प्रतिबध्यप्रतिबन्धकभावमूलकत्व ही है[1]। इस प्रकार यह तो निश्चित तौर पर कहा जा सकता है कि यदि व्युत्पत्तियाँ कार्यकारणभावमूलक और प्रतिबध्यप्रतिबन्धकभावमूलक हैं, तो उन व्युत्पत्तियों को समझने के लिए कार्यकारणभाव और प्रतिबध्यप्रतिबन्धकभाव को जानना आवश्यक होगा ।

'व्युत्पत्तिवाद' शब्द की सिद्धि के विषय में विद्वज्जनों में विवाद है। एक पक्ष है कि 'व्युत्पत्तीनां वादः व्युत्पत्तिवादः' ऐसा षष्ठी समास होता है। 'वद व्यक्तायां वाचि' धातु से घञ् प्रत्यय करके वाद शब्द सिद्ध होता है और उसके साथ व्युत्पत्तिशब्द का षष्ठी समास होता है, इस प्रकार व्युत्पत्तिवाद शब्द सिद्ध होता है । दूसरा पक्ष है कि 'व्युत्पत्तीर्वदतीति

1. सागर विश्वविद्यालय द्वारा आयोजित 'न्यायसत्र' में दिया गया उनका भाषण, प्रकाशित — 'न्यायसत्रम् ' सं. डॉ॰ राधावल्लभ त्रिपाठी 1984

व्युत्पत्तिवादः’ ऐसा उपपदसमास होता है। उपपद समास में वद धातु से ‘कर्मण्यण् ’ सूत्र से अण् प्रत्यय करके व्युत्पत्ति शब्द के साथ उसका समास होकर व्युत्पत्तिवाद’ शब्द की सिद्धि होती है। यहाँ पर दोनों ही पक्षों का उपपादन किया जा सकता है।

किन्तु उपर्युक्त व्युत्पत्ति क्या है? तो सम्प्रदायभेद से व्युत्पत्तिपदार्थ भी भिन्न-भिन्न है। व्याकरण सम्प्रदाय में प्रकृति और प्रत्यय के भेद का ज्ञान ही व्युत्पत्ति है। इस प्रकार प्रकृति प्रत्ययभेदग्रहविशिष्ट को व्युत्पन्न कहते हैं । न्यायवैशेषिकसम्प्रदाय में व्युत्पत्ति नियमविशेष है।

नियमविशेषरूप व्युत्पत्तियाँ जिन कार्यकारणभावों और प्रतिबध्यप्रतिबन्धकभावों पर आधारित हैं, वे कार्यकारणभाव और प्रतिबध्यप्रतिबन्धकभाव शाब्दबोध प्रक्रिया से सम्बन्धित हैं । इसकारण सामान्यतया शाब्दबोधप्रक्रिया को जान लेना आवश्यक है। इसी प्रकार शाब्दबोध प्रक्रिया में नैयायिकों का जो वैयाकरणों और मीमांसकों के साथ मतभेद है। साररूप में उसे जान लेना भी ज़रूरी है।

## शाब्दबोधप्रक्रिया

न्याय दर्शन में चार प्रमाण स्वीकृत हैं —प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द । शब्द से जायमान बोध ही शाब्दबोध कहलाता है। वस्तुतः तो ‘शब्द से इस अर्थ को समझ रहा हूँ’ इस प्रतीति से सिद्ध अनुभवत्वसाक्षाद्व्याप्यशाब्दत्व जाति का आश्रय प्रत्यक्ष, अनुमिति और उपमिति से विलक्षण अनुभव ही शाब्दबोध कहलाता है ।

**शाब्दबोध का प्रत्यक्ष व अनुमिति से वैलक्षण्य** — वैशेषिक सम्प्रदाय जो कि न्यायदर्शन का समानतन्त्र माना जाता है, इस शाब्दबोध को प्रत्यक्ष, अनुमिति से विलक्षण नहीं मानता है। प्रशस्तपाद ‘पदार्थधर्मसंग्रह’ नामक ग्रन्थ में, जो कि ‘प्रशस्तपादभाष्य’ नाम से प्रसिद्ध है, कहते हैं कि —**‘शब्दादीनामप्यनुमानेऽन्तर्भावः समानविधित्वात्** ’ (पृ. 512, प्रशस्तपादभाष्य न्यायकन्दलीसहित प्रकाशक–सं॰सं॰ वि॰वि॰वाराणसी) इस प्रकार वैशेषिक शब्द को प्रत्यक्ष और अनुमान से अतिरिक्त प्रमाण नहीं मानते उनका कहना है कि अनुमान प्रमाण की प्रवृत्ति जैसे होती है उसी प्रकार शब्द की भी प्रवृत्ति होती है। इसलिए शब्द को अनुमान से अतिरिक्त प्रमाण और शाब्दबोध को अनुमिति से अतिरिक्त प्रमिति मानने की आवश्यकता नहीं है।

नैयायिक यहाँ पर अपना पक्ष रखते हैं कि शब्द और अनुमिति की प्रवृत्ति एक रीति से नहीं होती है। शब्दप्रमाण की प्रवृत्ति प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण की प्रवृत्ति से विलक्षण रीति से होती है। प्रत्यक्ष में इन्द्रियार्थसन्निकर्ष की आवश्यकता होती है, अनुमिति में व्याप्तिज्ञान, पक्षधर्मताज्ञान आदि की और शाब्दबोध में पदज्ञान, वृत्तिज्ञान, योग्यताज्ञान आदि की अपेक्षा होती है। इस कारण शाब्दबोध को प्रत्यक्षानुमिति से भिन्न ही मानना चाहिए ।

वैशेषिक योग्यता, आकाङ्क्षा आदि को लिङ्ग के रूप में व्यवस्थापित करने का प्रयास करते हैं । अनुमिति में लिङ्गज्ञान कारण होता है; योग्यता, आकाङ्क्षा आदि का यदि लिङ्गत्व प्रतिपादित किया जा सके तो योग्यताज्ञान, आकाङ्क्षाज्ञान का शाब्दबोधात्मक अनुमिति के प्रति लिङ्गज्ञानविधया कारणत्व व्यवस्थापित करना सम्भव है। इस पर नैयायिकों

का पक्ष है कि योग्यता अर्थगता होती है और आकाङ्क्षा शब्दगता होती है, इस कारण न तो वे एक-एक कर लिङ्ग बन सकते हैं और न तो मिलकर ही लिङ्ग बन सकते हैं[1]। वस्तुतः तो वाक्यार्थबोध का अनुमितित्व यदि सिद्ध हो तभी उसमें साकाङ्क्षपदत्वादिलिङ्गकत्व कल्पित किया जा सकता है, किन्तु वाक्यार्थबोध के अनुमिति होने में कोई भी प्रमाण नहीं होने के कारण वाक्यार्थबोध में साकाङ्क्षपदत्वादिलिङ्गकत्व ही नहीं कल्पित किया जा सकता है। ज्ञान के प्रत्यक्षत्वादि का साधक तो ज्ञान के बाद होने वाला अनुव्यवसाय ही होता है। घटप्रत्यक्षोपरान्त '**घटं साक्षात्करोमि**' ऐसा अनुव्यवसाय होता है। धूमहेतु से वह्नि का अनुमान होने पर अनुव्यवसाय होता है कि '**धूमेन वह्निमनुमिनोमि**' । इस कारण घटप्रत्यक्ष का प्रत्यक्षत्व सिद्ध होता है व वह्न्यनुमिति का अनुमितित्व सिद्ध होता है। किन्तु '**गौरस्ति**' इत्यादि वाक्यश्रवणोपरान्त '**अस्तितावान् गौः**' ऐसा शाब्दबोध होने पर '**अस्तित्वेन गामनुमिनोमि**' ऐसा अनुव्यवसाय नहीं होता है कि उससे वैशेषिक शाब्दबोध का अनुमितित्व स्वीकार कर सकें । इसके विपरीत वहाँ पर '**अस्तित्वेन गौः श्रुतो न त्वनुमितः**' 'अस्तित्वेन गौ को सुना न कि अनुमित किया गया' ऐसा ही अनुव्यवसाय होता है [2]। इस कारण शाब्दबोध का अनुमिति में अन्तर्भाव नहीं किया जा सकता है। यदि अनुमिति स्थल में अलग तरीके का अनुव्यवसाय होने पर और शाब्दबोध स्थल में अलग तरीके का अनुव्यवसाय होने पर भी शाब्दबोध का अनुमितित्व स्वीकार करें, शाब्दबोध का अनुमिति में ही अन्तर्भाव करें तो प्रश्न उठता है कि जैसे शाब्दबोध में व्याप्तिज्ञानजन्यत्व की कल्पना करके शाब्दबोध का अनुमिति में अन्तर्भाव किया जा सकता है, उसी प्रकार अनुमिति में ही पदज्ञानजन्यत्व की कल्पना करके शाब्दबोध में अनुमिति का ही अन्तर्भाव क्यों न कर लिया जाये [3]? यदि वहाँ पर अनुव्यवसाय के आधार पर अनुमिति का शाब्दबोध में अन्तर्भाव करना सम्भव नहीं है, क्योंकि अनुमिति स्थल में '**अनुमिनोमि**' ऐसा अनुव्यवसाय होता है, '**शाब्दयामि**' ऐसा अनुव्यवसाय नहीं होता है। इस कारण अनुमिति को शाब्दबोध से विलक्षण माना जाये तो '**शाब्दयामि**' इस विलक्षण अनुव्यवसाय के आधार पर शाब्दबोध को भी अनुमिति से विलक्षण मानना चाहिए ।

इसके अलावा भी नैयायिक शाब्दबोध को प्रत्यक्ष और अनुमिति से भिन्न प्रमिति सिद्ध करने के लिए युक्तियाँ देते हैं । जैसे वैशेषिकों के द्वारा शाब्दबोध को अनुमिति के अन्तर्गत सिद्ध करने का प्रयास किया जाता है, उसी प्रकार शाब्दबोध को अलौकिक प्रत्यक्ष में अन्तर्भूत करने का भी प्रयास किया जाता है । नैयायिकों के द्वारा प्रत्यक्ष का इन्द्रियों के भेद से घ्राणज, रासन, चाक्षुष, स्पार्शन, श्रौत्र और मानस इस प्रकार छः भेद स्वीकारा गया है। यह षड्विध प्रत्यक्ष सन्निकर्ष के लौकिक और अलौकिक होने के कारण द्विविध स्वीकारा गया है। लौकिक सन्निकर्ष संयोग, संयुक्तसमवाय, संयुक्तसमवेतसमवाय,

---

1. योग्यतार्थगताकाङ्क्षा शब्दनिष्ठानुभाविका ।
प्रत्येकं वा मिलित्वा वा नैते लिङ्गमसिद्धितः ।। शब्दशक्तिप्रकाशिका का॰-4

2. वस्तुतो वाक्यार्थबोधस्यानुमितित्वे सत्येव साकाङ्क्षपदत्वादिलिङ्गकत्वं कल्प्यं तदेव त्वसिद्धं प्रमाणाभावात् , अस्तित्वेन गामनुमिनोमीत्यादेरनुव्यवसायस्य तत्रासत्त्वात् , प्रत्युत गौरस्तीतिवाक्यादस्तित्वेन गौः श्रुतो नत्वनुमित इत्यनुभवाच्च।
तदेव पृ॰ 17

3. न चेदेवमनुमितिमात्रस्य पदजन्यत्वं प्रकल्प्यान्वयबोधत्वं किमिति न रोचयेः ?
तदेव पृ. -18

समवाय, समवेतसमवाय और विशेषणता के भेद से षड्विध हुआ करता है। अलौकिक सन्निकर्ष ज्ञानलक्षण, सामान्यलक्षण और योगज के भेद से तीन प्रकार का होता है। अलौकिक सन्निकर्ष से होनेवाला प्रत्यक्ष ही अलौकिक प्रत्यक्ष कहलाता है। लौकिक सन्निकर्षों का विवेचन यहाँ पर अनावश्यक है, तर्कसंग्रह आदि ग्रन्थों में देख लेना चाहिए।

अलौकिक सन्निकर्ष ज्ञानलक्षण सन्निकर्ष से चक्षुरिन्द्रिय से ही '**सुरभि चन्दनम्** ' ऐसा चाक्षुष प्रत्यक्ष हुआ क़रता है। सामान्यलक्षण सन्निकर्ष से चक्षुरिन्द्रिय से एक ही घट का प्रत्यक्ष होने के काल में ही घटत्वेन सभी घटों का ज्ञान हो जाता है और योगज सन्निकर्ष से योगियों को समस्त भूत, भविष्य, वर्तमानकालिक वस्तुओं का प्रत्यक्ष हो जाता है। यद्विषयक ज्ञान होता है तद्विषयक ज्ञानलक्षण सन्निकर्ष से तद्विषयक प्रत्यक्ष हो जाता है। जैसे कि—चक्षु का चन्दन के साथ सन्निकर्ष हुआ, चन्दन में विद्यमान सौरभ के चाक्षुषप्रत्यक्षायोग्य होने के कारण उसका लौकिक सन्निकर्ष के द्वारा प्रत्यक्ष नहीं हो सकता है, किन्तु अलौकिक ज्ञानलक्षण सन्निकर्ष से चक्षु के द्वारा सौरभ का भी प्रत्यक्ष हो जाता है और '**सुरभि चन्दनम्** ' ऐसा ज्ञान चाक्षुषप्रत्यक्षात्मक होता है। इस प्रत्यक्ष में चन्दन का प्रत्यक्ष लौकिक सन्निकर्ष से जन्य है और सौरभ का अलौकिक सन्निकर्ष से । इसी प्रकार शाब्दबोध को अलौकिकसन्निकर्षजन्य प्रत्यक्ष ही मान लिया जाये, ऐसा प्रश्न उठाया जाता है। यहाँ पर भी शाब्दबोध के प्रत्येक स्थल में पदजन्य पदार्थोपस्थिति तो रहती ही है और वही पदजन्यपदार्थोपस्थिति रूप ज्ञान ही शाब्दबोधात्मक प्रत्यक्ष में अलौकिक सन्निकर्ष हो जायेगा। इस प्रकार शाब्दबोध को अलौकिक ज्ञानलक्षण सन्निकर्ष से जन्य मानस प्रत्यक्ष ही मान लेना चाहिए । यद्यपि इस पक्ष में यह प्रश्न हो सकता है कि यदि आप शाब्दबोध को प्रत्यक्ष मानेंगे तो जैसे प्रत्यक्षोपरान्त '**साक्षात्करोमि**' ऐसी प्रतीति होती है, उसी प्रकार शब्दबोधोपरान्त भी ऐसा ही अनुव्यवसाय होना चाहिए । किन्तु ऐसा तो होता नहीं । इसका उत्तर यह देना आसान है कि लौकिकसंनिकर्ष यदंश में होता है, तदंश में ही ऐसा अनुव्यवसाय होता है।

'**सुरभि चन्दनम्** ' इस चाक्षुष प्रत्यक्ष के काल में भी '**चन्दनं साक्षात्करोमि**' ही अनुव्यवसाय होता है '**सौरभं साक्षात्करोमि**' ऐसा अनुव्यवसाय नहीं होता, इस प्रकार शाब्दबोध को प्रत्यक्ष में ही अन्तर्भूत करने का प्रश्न उठाया जाता है।

प्रत्यक्ष और अनुमिति से शाब्दबोध को स्वतन्त्र स्वीकारने के लिए जगदीश एक और युक्ति देते हैं और कहते हैं कि—

'**साकाङ्क्षशब्दैर्यो बोधस्तदर्थान्वयगोचरः ।**
**सोऽयं नियन्त्रितार्थत्वान्न प्रत्यक्षं न चानुमा ॥**' शब्दशक्तिप्रकाशिका का॰3

'साकाङ्क्ष शब्दों से जो तदर्थान्वयविषयकबोध होता है, वह बोध नियन्त्रितार्थ होने के कारण न तो प्रत्यक्ष है और न तो अनुमान है'

प्रत्यक्ष और अनुमिति से शाब्दबोध की यह विलक्षणता है कि प्रत्यक्ष में भी प्रकारान्तर से उपस्थित अर्थ का उपनयमर्यादा से अलौकिकसन्निकर्षविधया भान होता है और अनुमिति में भी प्रकारान्तर से उपस्थित अर्थ का भान होता है। किन्तु शाब्दबोध में पद से उपस्थाप्य अर्थ का ही भान होता है। प्रकारान्तर से उपस्थित अर्थ का भान नहीं होता है।

इस कारण शाब्दबोध को न तो अलौकिक सन्निकर्ष जन्य प्रत्यक्ष ही मान सकते हैं और न तो अनुमिति ही मान सकते हैं ।

इस प्रसङ्ग में आचार्य बदरीनाथ शुक्ल कहते हैं कि 'ज्ञानलक्षण सन्निकर्ष से जो अर्थ उपस्थित होता है वह विशेषणीभूत होता है विशेष्य स्वरूप नहीं । शाब्दबोध के स्थल में **'नीलं पुष्पम्'** कहने पर पुष्प और नीलिमा दोनों से लौकिक सन्निकर्ष नहीं है, दोनों का बोध ज्ञानलक्षण सन्निकर्ष से हो सकता है पर यहाँ विशेष्य क्या होगा ? ज्ञान लक्षण सन्निकर्ष से सूचित पदार्थ विशेषणीभूत होता है। इसलिए विशेष्य का ज्ञान शब्दप्रमाण से हुआ' (न्यायसत्र में दिया गया 'ज्ञानलक्षण तथा ज्ञानलक्षणसन्निकर्ष, शीर्षक व्याख्यान द्र॰ न्यायसत्रम् सं॰ डॉ॰ राधावल्लभ त्रिपाठी पृ. 71)

शाब्दबोध को प्रत्यक्षात्मक मानने पर एक और समस्या की सम्भावना उठती है। जिसका जिक्र पं॰ श्री लक्ष्मीनाथ झा व्युत्पत्तिवादप्रकाश के परिशिष्ट में करते हैं । कहना है कि भिन्नविषयक प्रत्यक्ष के प्रति शाब्दसामग्री की प्रतिबन्धकता होती है, यदि शाब्दबोध को आप प्रत्यक्ष मान लेंगे तो **'नीलो घटः'** ऐसे शाब्दबोध की सामग्री और **'पीतः पटः'** इस शाब्दबोध की सामग्री के रहने पर जो समूहालम्बनात्मक शाब्दबोध होता है, वह नहीं हो सकेगा क्योंकि नीलघटविषयकशाब्दबोध की सामग्री भिन्नविषयक प्रत्यक्ष के प्रति प्रतिबन्धक होगी, पीतपटविषयक शाब्दबोध भी प्रत्यक्ष ही तो है क्योंकि आप शाब्दबोध को प्रत्यक्षातिरिक्त नहीं मानते है । इसी प्रकार पीतपटविषयक शाब्दबोध की सामग्री भी नीलघटविषयक शाब्दबोधात्मक प्रत्यक्ष के प्रति प्रतिबन्धक होगी । अतः समूहालम्बनात्मक शाब्दबोध कहीं पर भी नहीं हो सकेगा । यदि इस आपत्ति का वारण करने के लिए शाब्दबोधसामग्री को शाब्दबोधान्यभिन्नविषयक प्रत्यक्ष के प्रति प्रतिबन्धक मानें तो प्रतिबध्य प्रतिबन्धक भाव में गौरव होगा ।

वस्तुतः तो शाब्दबोध को प्रत्यक्ष और अनुमिति से अतिरिक्त मानने में एक तो अनुव्यवसाय प्रमाण है और दूसरा प्रमाण है प्रत्यक्ष और अनुमान से शाब्दबोध का नियन्त्रितार्थत्व रूप वैलक्षण्य । यद्यपि जगदीश भी शाब्दबोध को प्रत्यक्षानुमिति द्वय से अतिरिक्त सिद्ध करने में लाघव गौरव भी दिखलाते हैं ।

इस प्रकार शाब्दबोध प्रत्यक्ष व अनुमिति से विलक्षण है, ऐसी स्थिति में न तो शाब्दबोध इन्द्रियार्थसन्निकर्ष से जन्य हो सकता है और न ही व्याप्तिज्ञान पक्षधर्मता आदि से जन्य हो सकता है। शाब्दबोध की सामग्री इससे विलक्षण ही है।

**शाब्दबोध में मुख्य विशेष्य**–मीमांसक शाब्दबोध को भावनामुख्यविशेष्यक स्वीकारते हैं । वैयाकरण व्यापारमुख्यविशेष्यक शाब्दबोध स्वीकारते हैं । नैयायिक सामान्यतः प्रथमान्तार्थ मुख्यविशेष्यशाब्दबोध स्वीकारते हैं, किन्तु परिस्थितिवश सामान्यतः प्रथमान्त पद का समभिव्याहार न होने पर अनेकत्र इसका उल्लंघन भी करते हैं, कहीं निपातार्थ मुख्यविशेष्यक भी शाब्दबोध स्वीकारते हैं कहीं व्यापार मुख्य विशेष्यक भी और कहीं पर कृति मुख्यविशेष्यक भी । वस्तुतः नवीन नैयायिकों के मत में खण्डवाक्यार्थबोध के बाद महावाक्यार्थबोध होने से इनमें से नियमतः किसी एक पक्ष को मानना असम्भव है।

**शाब्दबोध सामग्री** – विश्वनाथ पञ्चानन 'कारिकावली' में शाब्दबोध निरूपण का प्रस्ताव करते हुए कहते हैं कि —

**पदज्ञानं तु करणं द्वारं तत्र पदार्थधीः।**
**शाब्दबोधः फलं तत्र शक्तिधीः सहकारिणी ॥'** कारिकावली का॰81

शाब्दबोध में पदज्ञान करण होता है और पदार्थज्ञानव्यापार होता है। शाब्दबोध फल है और उसमें शक्तिज्ञान सहकारीकारण होता है। न्यायवैशेषिक सम्प्रदाय में करणशब्द व्यापारवत् असाधारण कारण का बोधक हुआ करता है। पदज्ञान को करण बतलाने का अभिप्राय यह हुआ कि शाब्दबोध में पदज्ञान व्यापारवत् असाधारण कारण होता है।

व्यक्ति प्रथमतः उच्चरित पद को सुनता है, उच्चरित पद का श्रवण होने पर भी उस पद से शाब्दबोध नहीं होता है, यदि व्यक्ति को उस पद की शक्ति का ग्रहण नहीं है। यदि व्यक्ति को यह ज्ञात नहीं है कि उस पद की शक्ति किसमें है तो उसे शाब्दबोध नहीं होता है। इस कारण शक्तिज्ञान को शाब्दबोध में सहकारी कारण मानते हैं । इसी कारण हम जिस भाषा को नहीं जानते हैं, उस भाषा के पदों का ज्ञान हो जाने पर भी तत्पदजन्य शाब्दबोध हमें नहीं होता है।

पदों का समूह वाक्य कहलाता है। लेकिन कैसे पदों का समूह वाक्य कहलायेगा? इसके बारे में समाधान दिया जाता है कि आकाङ्क्षा, योग्यता और आसक्ति से युक्त पदोच्चय ही वाक्य है—**'वाक्यं स्याद् योग्यताकाङ्क्षासत्तियुक्तः पदोच्चयः'** इस प्रकार योग्यताज्ञान, आकाङ्क्षाज्ञान और आसत्तिज्ञान की शाब्दबोध के प्रति कारणता होती है। इसके अलावा तात्पर्यज्ञान भी शाब्दबोध में कारण होता है। इस रीति से शाब्दबोधसामग्री के अन्तर्गत पदज्ञान, पदार्थोपस्थिति, शक्तिज्ञान, योग्यताज्ञान, आकाङ्क्षाज्ञान, आसत्तिज्ञान और तात्पर्यज्ञान से सात ज्ञान आते हैं । क्रमशः इनका स्वरूप भी जान लेना आवश्यक है।

### पदज्ञान, पदार्थोपस्थिति और शक्तिज्ञान

भाषा के मूल में है पद और पदार्थ का सम्बन्ध । यह पद और पदार्थ का सम्बन्ध कैसा है? यह प्रश्न है । इस प्रश्न का उत्तर व्याकरणवेत्ता, आलंकारिक और मीमांसक अलग-अलग देते हैं । वैयाकरण शब्द और अर्थ का तादात्म्य सम्बन्ध मानते हैं । इस विषय में अनेक आपत्तियाँ उठती हैं कि यदि शब्द और अर्थ का तादात्म्य है तो मोदकशब्द का उच्चारण करने पर मुख को मोदक से भर जाना चाहिए, लेकिन ऐसा होता तो नहीं । इसका समाधान देते हैं कि बौद्धार्थ और स्फोट रूप शब्द में अभेद है, तादात्म्य है। **'बौद्ध एवार्थः शक्यः पदमपि स्फोटात्मकं प्रसिद्धम् तयोस्तादात्म्यम्'** (परमलघुमञ्जूषा पृ. 24) इस वैयाकरण मत में शब्द उच्चरित नहीं होता है बल्कि अभिव्यक्त होता है। आलङ्कारिक भी शब्द और अर्थ का तादात्म्य ही मानते हैं । मीमांसक शब्द और अर्थ का वाच्यवाचकभाव सम्बन्ध मानते हैं। यह वाच्यवाचक भाव मीमांसकों के मत में अतिरिक्त पदार्थ है।

नैयायिकों के मत में शब्द और अर्थ के बीच में सङ्केतात्मक सम्बन्ध है। यही पक्ष आधुनिक भाषा वैज्ञानिकों की दृष्टि से भी समीचीन और युक्तिसङ्गत प्रतीत होता है। यद्यपि

नैयायिक सङ्केतमात्र को शब्द और अर्थ के बीच का सम्बन्ध नहीं मानते हैं बल्कि ईश्वर सङ्केत को शब्द और अर्थ के बीच का सम्बन्ध मानते हैं । नवीन नैयायिक तो सङ्केत मात्र को शब्द और अर्थ के बीच का सम्बन्ध मानते हैं । साङ्केतिक सम्बन्ध का आशय वस्तुतः यह है कि शब्द की सत्ता भी स्वतन्त्र और अर्थ से निरपेक्ष है, इसी प्रकार अर्थ की सत्ता भी स्वतन्त्र और शब्द से निरपेक्ष है। सङ्केत का अभिप्राय इच्छा से है। यदि दो लोगों ने यह आपसी सङ्केत निश्चित कर लिया कि वे घटशब्द से पट को समझेंगे तो आपसी वार्तालाप में निश्चिन्त भाव से पट के लिए घट शब्द का प्रयोग वे कर सकते हैं और उनको अबाध रूप से घट शब्द ज्ञान से पट रूप अर्थ का ज्ञान होगा । जिस प्रकार एक साङ्केतिक सम्बन्ध को, सङ्केत को आधार बनाकर भाषा का अविष्कार हुआ है, उसी प्रकार एक साङ्केतिक सम्बन्ध को सङ्केत को ही आधार बनाकर लिपि का अविष्कार हुआ है। इस प्रकार लिपिबद्धभाषा में दो-दो सङ्केत काम करते हैं । पहला लिखे हुए साङ्केतिक अक्षरों के द्वारा शब्द को समझना और दूसरा शब्द के द्वारा अर्थ को समझना । ये दो कार्य जब तक न होंगे तब तक शाब्दबोध न हो सकेगा । यहाँ पर बहुधा शब्द का वक्ता के द्वारा उच्चारण होने पर और श्रोता के द्वारा उस शब्द का श्रवण होने पर शब्दज्ञान से शक्तिज्ञानरूप सहकारी कारण के साहाय्य से पदार्थोपस्थिति होकर शाब्दबोध होता है। बहुधा लिपिबद्धसाङ्केतिक शब्द को देखकर शब्दज्ञान होकर शक्तिज्ञानरूप सहकारी कारण के साहाय्य से पदार्थोपस्थिति होकर शाब्दबोध होता है। मूकबधिर जिसे कि शब्द का ज्ञान ही सम्भव नहीं है उसे तो लिपिबद्ध सङ्केतों में ही पदार्थोपस्थापक, पदार्थबोधक शक्ति का ग्रहण होकर ही बोध होता है। शायद नैयायिकों की दृष्टि से ही लिपिबद्ध सङ्केतों के द्वारा ही सीधे-सीधे होनेवाले मूकबधिरकर्तृक बोध को शाब्दबोध कह पाना सम्भव है। यद्यपि एक समस्या तो यहाँ पर यथाश्रुत न्याय सम्प्रदाय के अनुसार भी आती ही है। न्याय सम्प्रदाय में शब्द का ध्वन्यात्मक और वर्णात्मक भेद से द्वैविध्य स्वीकारा गया है। तथा समस्त शब्द आकाशवृत्ति होता है। श्रोत्रोत्पन्न शब्द का ग्रहण होता है। इस प्रकार शब्द से जायमान बोध ही शाब्दबोध कहा जा सकता है। जब हम किसी शब्द को सुनते हैं तो उस शब्द से अर्थबोध होता है। जब हम किसी शब्द को सुनते नहीं किन्तु लिपिबद्ध देखते हैं तो उस लिपिबद्ध अक्षरों से हमें शब्द का ज्ञान हो जाता है, लिपि से सङ्केतित पद का ज्ञान हमें हो जाता है और उससे शाब्दबोध उपपन्न होता है। किन्तु जिस व्यक्ति को पद परिचय ही प्राप्त नहीं है ऐसे मूकबधिर को लिपि से सङ्केतित पद का ज्ञान असम्भव है। उसे तो लिपि से सीधे-सीधे साङ्केतिक अर्थ का ही बोध होता है। इस अर्थबोध में पदज्ञानजन्यत्व न होने के कारण यथा श्रुत शाब्दबोध का लक्षण तो इसमें भी नहीं ही घटित हो सकता है। मूकबधिर को लिपिबद्ध अक्षरों से होने वाले अर्थविषयक बोध को शाब्दबोध से विजातीय मानना तो कथञ्चित् भी युक्तिसङ्गत नहीं है। इस कारण उसे भी शाब्दबोधसजातीय ही मानना चाहिए और उसके लिए शाब्दबोध के प्रति पदज्ञान को जैसे कारण माना जाता है, उसी रीति से लिपिबद्धाक्षरज्ञान को भी कारण मानना चाहिए । वैसे लिपिबद्ध अक्षरादिज्ञान की शाब्दबोध के प्रति पदज्ञान लिपिबद्धाक्षरादिज्ञानान्यतरत्वेन ही कारणता माननी चाहिए, जैसे कि वह्नि के प्रति तृणारणिमण्यन्यतमत्वेन इन तीनों की कारणता मानी जाती है। ऐसा मेरा मानना है।

पदज्ञान को शाब्दबोध के प्रति कारण माना गया है। पदज्ञान से जन्य पदार्थोपस्थिति होती है और पदार्थोपस्थिति से पदार्थविषयक शाब्दबोध होता है। पदज्ञान शाब्दबोध में साक्षात् कारण नहीं होता है बल्कि पदार्थोपस्थिति द्वारा ही होता है। पद से पदार्थ की उपस्थिति करने में ही शक्तिज्ञान का भी उपयोग होता है। चूँकि पदार्थोपस्थिति पदज्ञान से जन्य है और पदज्ञान जन्य शाब्दबोध की जनक होती है। इस कारण शाब्दबोध में पदार्थोपस्थिति व्यापार बनती है। शब्द के द्वारा शक्ति और लक्षणा में से किसी एक के द्वारा उपस्थित अर्थ की ही शाब्दबोधविषयता होती है। यही शाब्दबोध की नियन्त्रितार्थता है।

नैयायिक शक्ति और लक्षणा इन दोनों को ही वृत्ति मानते हैं । आलंकारिकों और वैयाकरणों ने व्यञ्जना नामक शब्दशक्ति का भी स्वीकार किया है। नैयायिकों के द्वारा स्वीकृत शक्ति ही आलंकारिक और वैयाकरणों के यहाँ अभिधा इस अभिधान को प्राप्त करती है । व्यञ्जना को भी शब्दशक्ति स्वीकारने में आलंकारिकों और वैयाकरणों की अपनी अलग युक्तियाँ हैं । नैयायिकों ने व्यञ्जना को शब्दशक्ति मानने में कुछ मौलिक आपत्तियों को उठाया है और सिद्धान्तित किया है कि व्यञ्जना शब्दशक्ति नहीं है। यहाँ पर मूलभूत प्रश्न है कि नैयायिकों का कि यह व्यञ्जना शब्दशक्ति ज्ञात होकर शाब्दबोध के प्रति कारण होती है अथवा स्वरूपतः विद्यमान मात्र होने से कारण होती है ? ज्ञाता व्यञ्जना शब्दशक्ति शाब्दबोध के प्रति कारण है यह मानने में समस्या है कि एक ही वाक्य के द्वारा प्रसङ्ग, प्रकरणादिवश अनेक वस्तुओं में व्यञ्जना शब्दशक्ति को गृहीत होनी चाहिए जो कि दुष्कर है। स्वरूपतः विद्यमान व्यञ्जनाशब्दशक्ति को शाब्दबोध के प्रति कारण मानना तो अप्रामाणिक है[1]। इस प्रसङ्ग में नैयायिकों की जो अन्य युक्तियाँ हैं, उस पर स्वतन्त्र रूप से विचार करना आवश्यक है। यहाँ पर उक्त विवेचन को मैं छोड़ रहा हूँ । इस प्रकार नैयायिकों के अनुसार शब्द की दो ही वृत्तियाँ होती है सङ्केत और लक्षणा ।

### योग्यताज्ञान

पदज्ञान, पदार्थोपस्थिति और वृत्तिज्ञान के अलावा जिन ज्ञानों की शाब्दबोधकारणता स्वीकारी जाती है, उसमें योग्यता का अर्थ बताया जाता है कि एक पदार्थ में अपर पदार्थ का सम्बन्ध ही योग्यता है। एक पदार्थ में अपरपदार्थवत्ता का ज्ञान ही योग्यताज्ञान है। इसी कारण '**वह्निना सिञ्चति** ' वाक्य प्रयोग करने पर शाब्दबोध नहीं होता है क्योंकि यहाँ पर सेचनपदार्थ में वह्निकरणकत्ववत्ता का ज्ञान नहीं है।

योग्यताज्ञान को शाब्दबोध के प्रति कारण मानने में एक समस्या उठती है। एक पदार्थ में अपरपदार्थवत्ता ही शाब्दबोध के द्वारा बोधित होती है, इस कारण एकपदार्थ में अपरपदार्थवत्ता रूप योग्यताज्ञान शाब्दबोध के पूर्व नियम से कैसे सम्भव हो सकता है? यदि नियम से शाब्दबोध के पूर्व ऐसे योग्यताज्ञान को स्वीकृत करें तो मुश्किल है कि वाक्यार्थबोध के अपूर्वता की हानि होगी? इस पर समाधान दिया जाता है कि शाब्दबोध निश्चयरूप ही होता है। योग्यताज्ञान तो कहीं पर निश्चयरूप होता है और कहीं पर संशयात्मक भी होता है। इस कारण शाब्दबोध के पूर्व नियमतः योग्यताज्ञान होने में कोई समस्या नहीं है।

1. अतिरिक्तस्य व्यञ्जनाख्यपदार्थान्तरस्य स्वरूपसत्तया अन्वयबुद्धौ तद्धेतुत्वस्य च प्रमाणविरहेणासत्त्वाच्चेति सङ्क्षेपः । पृ. 153-154 शब्दशक्ति प्रकाशिका

नवीन नैयायिक तो योग्यताज्ञान को शाब्दबोध के प्रति कारण नहीं मानते हैं । उनका कहना है कि शाब्दबोध के पूर्व में योग्यताज्ञान की आवश्यकता नहीं होती है बल्कि अयोग्यतानिश्चय का अभाव अपेक्षित होता है क्योंकि अयोग्यतानिश्चय शाब्दबोध के प्रति प्रतिबन्धक हुआ करता है। '**वह्निना सिञ्चति**' से शाब्दबोध नहीं होता है क्योंकि सेचन में वह्निकरणकत्वाभाव का निश्चय है। इस पक्ष में एक मुश्किल है कि योग्यताज्ञान को शाब्दबोध के प्रति कारण मानने की अपेक्षा अयोग्यतानिश्चयाभाव को शाब्दबोध के प्रति कारण मानना गुरुभूत है। क्योंकि अयोग्यतानिश्चयाभाव अभावद्वय से घटित है, योग्यता प्रतियोगकाभावनिश्चय का अभाव ही अयोग्यतानिश्चयाभाव है। इसकी अपेक्षा योग्यताज्ञान के अभावद्वय से घटित नहीं होने के कारण उसे शाब्दबोध के प्रति कारण मान लेना लघुभूत है।

इसका उत्तर नवीन नैयायिक देते हैं कि अयोग्यता निश्चय केवल शाब्दबोध के प्रति प्रतिबन्धक नहीं होता है बल्कि लौकिकसन्निकर्षाजन्यदोषविशेषाजन्यतद्वत्ताबुद्धि मात्र के प्रति ही तदभावनिश्चयात्मक अयोग्यतानिश्चय प्रतिबन्धक होता है। इस कारण अयोग्यतानिश्चयाभाव को शाब्दबोधातिरिक्त लौकिकसन्निकर्षाजन्यदोषविशेषाजन्य तद्वत्ताबुद्धि के प्रति कारण उन्हें भी मानना पड़ेगा जो लोग शाब्दबोध के प्रति योग्यताज्ञान को मानते हैं । इस कारण शाब्दबोध में भी अयोग्यतानिश्चयाभाव को ही कारण मान लेना लघुभूत है। इस प्रकार नवीन नैयायिक शाब्दबोध के प्रति योग्यताज्ञान की कारणता का निराकरण कर देते हैं ।

अयोग्यतानिश्चय =तदभाववत्ताबुद्धि का लौकिकसन्निकर्षाजन्यदोषविशेषाजन्य तद्वत्ताबुद्धि के प्रति प्रतिबन्धकत्व है। इस प्रतिबध्यप्रतिबन्धकभाव को इस रीति से समझना चाहिए — '**घटाभाववद्भूतलम्** ' ऐसा घटाभाववत्ता निश्चय यदि है तो '**घटवद् भूतलम्** ' ऐसा तद्वताग्रह नहीं होता, घटवत्ताबुद्धि नहीं होती है। इस कारण तदभाववत्ता निश्चय को तद्वत्तानिश्चय के प्रति प्रतिबन्धक मानना चाहिए । किन्तु इसमें एक विपरीत दर्शन अनुभवगम्य होता है। देखा जाता है कि यदि '**भूतलं घटाभाववत्** ' ऐसा निश्चय हो भी तब भी घट के साथ चक्षुरिन्द्रिय का लौकिक सन्निकर्ष होने पर '**भूतलं घटवत्** ' ऐसा लौकिक सन्निकर्ष जन्य प्रत्यक्षात्मक घटवत्तानिश्चय होता है। इस कारण सामान्यतः तदभाववत्तानिश्चय तद्वत्तानिश्चय का प्रतिबन्धक नहीं हो सकता है। इसी कारण लौकिकसन्निकर्षाजन्य तद्वत्तानिश्चय के प्रति तदभाववत्तानिश्चय का प्रतिबन्धकत्व स्वीकार किया जाता है। चूँकि उपर्युक्त '**भूतलं घटवत्** ' ऐसा घटवत्तानिश्चय लौकिकसन्निकर्ष से जन्य है, इसलिए घटाभाववत्तानिश्चय उसके प्रति प्रतिबन्धक नहीं होता है। इसके अतिरिक्त एक और विपरीत दर्शन अनुभवगम्य होता है। किसी व्यक्ति को यदि पीलिया हुआ है तो उसे श्वेतशङ्ख भी पीला दिखायी पड़ता है। किन्तु न्यायसम्प्रदाय के अनुसार पीलेपन के साथ चक्षुरिन्द्रिय का लौकिक सन्निकर्ष नहीं हो सकता है। क्योंकि पीलापन श्वेतशङ्ख में नहीं है। इस कारण नैयायिकों का कहना है कि चक्षुरिन्द्रिय का पीलेपन के साथ ज्ञानलक्षण अलौकिक सन्निकर्ष हो जाता है और इस वजह से '**पीतः शङ्खः**' ऐसा चाक्षुषप्रत्यक्ष सम्भव होता है। ऐसा चाक्षुषप्रत्यक्ष उस समय भी होता है जब ज्ञाता को '**शङ्खः पीतत्वाभाववान्** ' ऐसा पीतत्वाभाववत्ता निश्चय हो । किन्तु अभी जैसा प्रतिबध्यप्रतिबन्धकभाव निरूपित किया गया उसके अनुसार '**शङ्खः**

**पीतत्वाभाववान्**' ऐसा पीत्वाभाववत्ता निश्चय होने पर उपर्युक्त '**शङ्खः पीतः**' ऐसा पीतत्ववत्तानिश्चय नहीं होना चाहिए क्योंकि '**शङ्खः पीतः**' ऐसा पीतत्ववत्तानिश्चय लौकिकसन्निकर्ष से अजन्य है। इसलिए लौकिकसन्निकर्षाजन्यदोषविशेषाजन्यतद्वतानिश्चय के प्रति तदभाववत्तानिश्चय को प्रतिबन्धक माना जाता है। '**शङ्खः पीतः**' यह पीतत्ववत्तानिश्चय चूँकि दोषविशेष से (पीलिया से) जन्य है, अतः उसके प्रति पीतत्वाभाववत्तानिश्चय प्रतिबन्धक नहीं होता है। यद्यपि जितनी भी अप्रमा होती है, वह दोष से ही जन्य होती है क्योंकि न्याय सम्प्रदाय का सिद्धान्त है कि '**दोषोऽप्रममायाः जनकः प्रमायास्तु गुणो भवेत्** ' (कारिकावली का॰ 131) किन्तु सामान्य दोष चाकचिक्य आदि से जन्य रजतत्ववत्ताबुद्धि के प्रति तो रजतत्वाभाववत्तानिश्चय प्रतिबन्धक ही होता है। दोषविशेष से जन्य तद्वत्ताबुद्धि के प्रति ही तदभाववत्तानिश्चय की प्रतिबन्धकता नहीं होती है । इस प्रकार दोषविशेषाजन्य लौकिकसन्निकर्षाजन्य तद्वत्तानिश्चय के प्रति तदभाववत्तानिश्चय का अभाव कारण माना ही जायेगा । तद्वत्ताविषयक शाब्दबोध भी दोषविशेषाजन्य लौकिकसन्निकर्षाजन्य तद्वत्तानिश्चय ही है। अतः उसके प्रति भी तदभाववत्तानिश्चय का अभाव अयोग्यतानिश्चयाभाव कारण बनेगा । उसी से शाब्दबोध का वारण '**वह्निना सिञ्चति**' इत्यादि स्थलों में किया जा सकता है। अतः योग्यताज्ञान को शाब्दबोध के प्रति कारण मानना व्यर्थ है।

**आकाङ्क्षाज्ञान**

जिस पद के विना जिस पद की अनुभावकता नहीं होती है उस पद के साथ उस पद की आकाङ्क्षा नहीं होती है। इस कारण क्रियापद और कारकपद की आकाङ्क्षा होती है। वस्तुतः तो घटकर्मता आदि के प्रति घटपदोत्तर द्वितीयारूप आकाङ्क्षाज्ञान कारण है, इस कारण '**घटः कर्मत्वमानयनं कृतिः**' ऐसा प्रयोग करने पर घटकर्मतानिरूपकानयनानुकूलकृति का बोध नहीं होता है।

**आसत्तिज्ञान**

अन्वयप्रतियोगि अनुयोगि पदों का अव्यवधान ही आसत्ति है तथा उस आसत्ति का ज्ञान शाब्दबोध में कारण हुआ करता है। इसमें एक मुश्किल है कि श्लोक आदि में अन्वयप्रतियोगि अनुयोगि पदों का अव्यवधान नहीं हुआ करता है, परन्तु शाब्दबोध तो उन स्थलों में भी अनुभवगम्य है। इस कारण अन्वय प्रतियोगिपदों के अव्यधान को आसत्ति न मान कर जिस पदार्थ के साथ जिस पदार्थ का अन्वय अपेक्षित है, उन पदार्थों की अव्यवधानेन उपस्थिति ही शाब्दबोध में कारण बनती है । उसे ही आसत्ति कहा जाता है। इस प्रकार आसत्ति पदार्थोपस्थिति में ही अन्तर्भूत हो जाता है। इसकी शाब्दबोध हेतुता अलग से ज़रूरी नहीं है।

**तात्पर्यज्ञान**

वक्ता की इच्छा को तात्पर्य कहा जाता है। इस प्रकार वक्ता की इच्छा का ज्ञान शाब्दबोध में कारण बनता है। शुकादि से उच्चरितवाक्य से शाब्दबोध हुआ करता है, किन्तु शुकरूपवक्ता की कोई इच्छा नहीं हो सकती है। अतः तात्पर्यज्ञान को वहाँ पर कैसे कारण माना जाये? इस कारण कुछेक विद्वान् तात्पर्यज्ञान को शाब्दबोध के प्रति सर्वत्र कारण नहीं मानते हैं। केवल नानार्थक स्थलों में ही तात्पर्यज्ञान को कारण मानना चाहिए ऐसा उनका

पक्ष है। किन्तु मान्य परम्परा के अनुसार शुकादि से उच्चरित वाक्य में शुकशिक्षक के तात्पर्य का ज्ञान ही कारण होता है। जगदीश ने 'शब्दशक्तिप्रकाशिका' में एक अन्य रीति भी दिखायी है जिसके अनुसार शाब्दबोध में तात्पर्यज्ञान कारण नहीं होता है, बल्कि निस्तात्पर्यकत्वनिश्चयप्रतिबन्धक होता है और निस्तात्पर्यकत्वनिश्चयाभाव प्रतिबन्धकाभावविधया शाब्दबोध के प्रति कारण बनता है । (द्रष्टव्य 'शब्दशक्तिप्रकाशिका' शब्दप्रामाण्यव्यवस्थापन)

इस प्रकार शाब्दबोध में या तो तात्पर्यज्ञान या तो निस्तात्पर्यकत्वनिश्चयाभाव को कारण मानना आवश्यक है। इसमें गदाधर की सहमति तात्पर्यज्ञान को शाब्दबोध के प्रति कारण मानने में है । 'व्युत्पत्तिवाद' में ही अनेक स्थलों पर वे तात्पर्यज्ञान हेतुक संसर्गोपस्थिति की आवश्यकता (पदजन्य नहीं) बतलाते हैं ।

इस रीति से जो शाब्दसामग्री बनती है उसके अन्तर्गत है (1) पदज्ञान (2) शक्तिज्ञान (3) शक्तिलक्षणान्यतराधीन पदजन्य अव्यवधानेन पदार्थोपस्थिति (4) आकाङ्क्षाज्ञान (5) तात्पर्यज्ञान या निस्तात्पर्यकत्वनिश्चयाभाव (6) अयोग्यतानिश्चयाभाव । पदज्ञान और शक्तिज्ञान का अव्यवधानेन पदार्थोपस्थिति में ही उपयोग है। इस कारण शाब्दबोध के अव्यवहित पूर्वक्षण में अव्यवधानेन पदार्थोपस्थिति की ही आवश्यकता है पदज्ञान और शक्तिज्ञान की नहीं । इसके अतिरिक्त आकाङ्क्षाज्ञान, तात्पर्यज्ञान ( या निस्तात्पर्यकत्वनिश्चयाभाव) और अयोग्यतानिश्चयाभाव की अपेक्षा शाब्दबोध के पूर्वक्षण में होगी ।

यहाँ पर यह ध्येय है शाब्दबोध के बारे में दो मत है प्रथमत के अनुसार समस्तपदार्थों की उपस्थिति एकसाथ होकर 'विशेष्ये विशेषणम् ' इस रीति से ही सर्वत्र शाब्दबोध होता है 'विशिष्ट का वैशिष्ट्य' इस रीति से नहीं होता क्योंकि उसके लिए कारणीभूत विशेषणतावच्छेकप्रकारक ज्ञान पूर्व में नहीं है। यह प्राचीन मत है[1]। नवीनों का कहना है कि जो भी आकाङ्क्षा योग्य सन्निधान को प्राप्त करता है उससे-उससे अन्वित स्वार्थ पद से ही अवगत होता है। इस प्रकार इस मत में खण्डवाक्यार्थबोध पूर्वक ही शाब्दबोध होता है। इस प्रकार महावाक्यार्थबोध सर्वत्र ही विशिष्ट का वैशिष्ट्य इस रीति से ही होता है। खण्डवाक्यार्थबोध विशेष्य में विशेषण इस रीति से होता है। खण्डवाक्यार्थ बोध विशेष्य में विशेषण इस रीति से होता है। इसलिए इसमत में पदजन्यपदार्थस्मृतित्वेन शाब्दबोधहेतुता नहीं है। बल्कि पदजन्य शाब्दबोधसाधारण पदार्थोपस्थितित्वेन हेतुता है।[2] गदाधर व जगदीश इसी मत के अनुगामी हैं ।

**अनुभवसामग्रियों का परस्पर अनुभवों के प्रति प्रतिबध्यप्रतिबन्धकभाव** – अनुभव का जो चातुर्विध्य बतलाया गया है प्रत्यक्ष, अनुमिति, उपमिति और शाब्दबोध। इसमें उपमित्यात्मक अनुभव का फल शक्तिज्ञान मात्र है। उसका इससे बड़े क्षेत्र में कोई भी

---

1. वृद्धा युवानः शिशवः कपोता खले यथामी युगपत्पतन्ति ।
   तथैव सर्वे युगपत्पदार्थाःपरस्परेणान्वयिनो भवन्ति ।।
   न्या॰ सि॰ मुक्तावली पृ. 414
2. यद्यदाकाङ्क्षितं योग्यं सन्निधानं प्रपद्यते ।
   तेन तेनान्वितः स्वार्थः पदैरेवावगम्यते ।। न्या॰ सि॰ पृ॰ 414-416
   एवञ्चैतन्मते खण्डवाक्यार्थबोधपूर्वक एव महावाक्यार्थबोधः । दिनकरी पृ॰415

उपयोग नहीं है। नैयायिक चूँकि प्रमाणसम्प्लववादी हैं, एक ही विषय की उपलब्धि नैयायिकों के मत में प्रत्यक्ष से भी हो सकती है, अनुमिति से भी हो सकती है और शाब्दबोध से भी हो सकती है। इस प्रकार बहुत बार ऐसी स्थिति हो सकती है कि एक ही काल में किसी वस्तु के प्रत्यक्ष की भी सामग्री हो, अनुमिति की भी सामग्री हो और शाब्दबोध की भी । किन्तु यदि तीनों की सामग्री एक काल में उपस्थित न हो सकती हो तो दो की सामग्री तो एक काल में उपस्थित हो ही सकती है। इसी प्रकार भिन्न विषयक प्रत्यक्ष, अनुमिति व शाब्दबोध की सामग्री एक ही काल में उपस्थित हो सकती है । ऐसी स्थिति में प्रश्न उठता है कि कैसा ज्ञान उपर्युक्त परिस्थितियों में उत्पन्न होगा ? नैयायिकों ने इस विषय में परिस्थितिवशात् भिन्न-भिन्न सामग्रियों के प्राबल्य का निर्धारण किया है। प्रस्तुत ग्रन्थ में अनेकत्र सिद्धान्तनिर्धारण में एतद्विषयक गौरवलाघव को विनिगमक के रूप में प्रस्तुत किया गया है।

**समानविषयक सामग्रियों के काल में**

नैयायिकों का इस विषय में बड़ा ही सुस्पष्ट निर्धारण है कि किस सामग्री का प्राबल्य होगा । यदि समानविषयक प्रत्यक्षसामग्री, अनुमितिसामग्री और शाब्दबोधसामग्री हो तो प्रत्यक्ष-सामग्री का ही प्राबल्य होगा और अनुमिति या शाब्दबोध न होकर प्रत्यक्ष ही होगा । इस विषय में नैयायिकों का निर्धारण अनुभवाधारित है। इस प्रकार से देख सकते हैं —

(क) जहाँ पर **'अयं पुरुषो न वा'** ऐसा संशय हुआ और ऐसे संशय के उपरान्त **'पुरुषत्वव्याप्यकरादिमान् अयम्** ' 'यह पुरुषत्वव्याप्यकरादिमान् है' ऐसा विशेष दर्शन हुआ । यह विशेषदर्शन **'अयं पुरुषः'** इस पुरुषत्व सविकल्पक प्रत्यक्ष के प्रति कारण हुआ करता है। किन्तु यह विशेषदर्शन परामर्शात्मक भी है। पुरुषत्वव्याप्यकरादिमत्त्व का अवगाहन इदम् पदार्थ में किया जा रहा है। पुरुषत्व का साधक हेतु है करादिमत्त्व । इस प्रकार साध्यव्याप्यहेतुमत्त्व का अवगाहन इसके द्वारा किया जा रहा है। इस प्रकार पुरुषत्वानुमिति के प्रति कारणीभूत परामर्श भी मौजूद है। इस रीति से हम देखते हैं कि एक ही क्षण में यहाँ पर पुरुषत्वविषयक प्रत्यक्ष की सामग्री विशेषदर्शन भी मौज़ूद है। विशेषदर्शन मौजूद होने का निहितार्थ यह भी है कि पुरुष व पुरुषत्व के साथ चक्षुरिन्द्रिय का लौकिक सन्निकर्ष विद्यमान है। इसी प्रकार पुरुषत्वविधेयक अनुमिति की सामग्री भी यहाँ मौज़ूद है। इस रीति से समानविषयक अनुमिति की सामग्री और प्रत्यक्ष की सामग्री विद्यमान है। इसमें प्रश्न उठता है कि ऐसी स्थिति में प्रत्यक्ष होगा या अनुमिति होगी ? इस विषय में न्यायदर्शन सिद्धान्तित करता है कि ऐसी स्थिति में प्रत्यक्ष ही होगा[1]।

यहाँ पर यह ध्येय है कि नैयायिक इस स्थल में प्रत्यक्ष का स्वीकार क्यों करते हैं? क्योंकि उपर्युक्त परिस्थिति में यही अनुव्यवसाय होता है कि **'पुरुषं साक्षात्करोमि'** । **'पुरुषत्वमनुमिनोमि'** ऐसा अनुव्यवसाय नहीं होता है। इस प्रकार नैयायिक एक नियम पर निष्कर्ष के रूप में पहुँचते हैं—समानविषयक अनुमिति के प्रति प्रत्यक्षसामग्री प्रतिबन्धक होती है।

प्रत्यक्ष की सामग्री है इन्द्रियार्थसन्निकर्ष और अनुमिति की सामग्री है परामर्श ।

---

1. यत्रायं पुरुषो नवेति संशयानन्तरं पुरुषत्वव्याप्यकरादिमानयमिति ज्ञानं तत्रासत्यामनुमित्सायां पुरुषस्य प्रत्यक्षं भवति न त्वनुमितिः । .... पृ. 316 न्यायसिद्धान्तमुक्तावली दिनकरी सहित

यद्यपि इसके अतिरिक्त सामग्रियों की भी आवश्यकता दोनों में होती है। किन्तु जैसा क्रम उपवर्णित किया गया है प्रत्यक्ष कारणों का, प्रत्यक्ष के प्रति आत्मा व मन का संयोग सन्निकर्ष, मन और इन्द्रिय का संयोग, इन्द्रिय और अर्थ का संयोग इनमें इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष चरम कारण माना जाता है। इन्द्रियार्थसन्निकर्ष को प्रत्यक्ष के प्रति व्यापार माना जाता है। इस विषय में 'तर्कभाषा' के लेखक केशवमिश्र का विवेचन बड़ा ही सुस्पष्ट और व्यवस्थित है। उनका कहना है कि कहीं पर प्रत्यक्ष में इन्द्रिय करण बनती है, कभी इन्द्रियार्थसन्निकर्ष करण बनता है और कभी ज्ञान करण बनता है। जब निर्विकल्पक प्रत्यक्ष होता है तब इन्द्रिय करण होती है, इन्द्रियायर्थसन्निकर्ष व्यापार होता है। जब सविकल्पक प्रत्यक्ष होता है तो इन्द्रियार्थसन्निकर्ष करण होता है और निर्विकल्पक ज्ञान व्यापार होता है। उक्त सविकल्पक के बाद हान, उपादान और उपेक्षाबुद्धियाँ हुआ करती हैं, यह भी प्रत्यक्ष ही है, इसके प्रति सविकल्पकज्ञान व्यापार होता है और निर्विकल्पक ज्ञान करण होता है।[1]

उपर्युक्त प्रतिबध्य प्रतिबन्धकभाव को उदाहरणान्तर से भी समझा जा सकता है। एक ही क्षण में जब चक्षु का अग्नि के साथ लौकिक सन्निकर्ष होता है और उसी क्षण में **'वह्निव्याप्यधूमवान् पर्वतः'** ऐसा परामर्शात्मक प्रत्यक्ष है। उस स्थल में अग्नि का प्रत्यक्ष ही होगा अगले क्षण में, अग्नि की अनुमिति नहीं होगी । क्योंकि प्रत्यक्षसामग्री भी अग्नि के प्रत्यक्ष की ही है और अग्नि के ही अनुमिति की भी सामग्री है। अनुमिति सामग्री पर प्रत्यक्षसामग्री हावी हो जायेगी व प्रत्यक्ष ही होगा अनुमिति नहीं होगी ।

(ख) यदि कहीं पर एक ही काल में शाब्दबोध सामग्री भी उपस्थित हो और प्रत्यक्षसामग्री भी उपस्थित हो। दोनों सामग्रियाँ एक ही विषय की अवभासक हों। ऐसी स्थिति में प्रश्न होता है कि क्या उत्पन्न होगा शाब्दबोध या प्रत्यक्ष ? इस परिस्थिति के बारे में देखा जाये—शाब्दबोध की सामग्री उपवर्णित की जा चुकी है। पदार्थोपस्थिति हो जाने पर क्रमशः शाब्दबोधसामग्री पूरी हो जाती है। इस परिस्थिति का स्थल वही है जब किसी क्षण में वह्निविषयक शाब्दबोध के प्रति कारणीभूत पदार्थोपस्थिति आदि विद्यमान हैं, उसी क्षण में वह्नि के साथ इन्द्रिय का सन्निकर्ष भी हो रहा है। तो ऐसी स्थिति में न्यायदर्शन कहता है कि प्रत्यक्ष ही होगा शाब्दबोध नहीं होगा, शाब्दबोध का प्रत्यक्षसामग्री के द्वारा प्रतिबन्ध हो जायेगा । इसमें नियम बताया जाता है कि —समानविषयक शाब्दबोध के प्रति समानविषयक प्रत्यक्षसामग्री प्रतिबन्धक है।

वस्तुतः तो उपर्युक्त दोनों नियमों को मिलाकर –'समानविषयक प्रत्यक्षातिरिक्त ज्ञान के प्रति समानविषयक प्रत्यक्षसामग्री प्रतिबन्धक होती है' ऐसा एक ही नियम समझना चाहिए। प्रत्यक्ष के साथ उपमिति का तो शायद समानविषयकत्व ही सम्भव नहीं हो सकेगा। क्योंकि उपमिति का फल है शक्तिज्ञान, और शक्तिज्ञान प्रत्यक्ष से सम्भव नहीं होगा। इस प्रकार उपमिति के प्रति प्रत्यक्षसामग्री के प्रतिबन्धकत्व की तो प्रसिद्धि ही नहीं हो सकती । इस कारण समानविषयक प्रत्यक्षातिरिक्त ज्ञान के प्रति समानविषयक प्रत्यक्ष सामग्री की

1. यदा निर्विकल्पकरूपा प्रमा फलम् । ....तस्य ज्ञानस्येन्द्रियं करणं....इन्द्रियार्थसन्निकर्षोवान्तर व्यापारः ।......यदा निर्विकल्पकानन्तरं सविकल्पकं.....तदेन्द्रियार्थसन्निकर्षः करणम् , निर्विकल्पकज्ञान मवान्तरव्यापारः। ....यदा उक्तसविकल्पकानन्तरं हानोपादानोपेक्षाबुद्धयो जायन्ते तदा निर्विकल्पकं ज्ञानं करणम् । सविकल्पकज्ञानमवान्तरव्यापारः । पृ. 12 तर्कभाषा चिदानन्दी सहिता

प्रतिबन्धकता का स्वीकार करने पर भी समानविषयक प्रत्यक्षसामग्री की प्रतिबन्धकता समानविषयक अनुमिति और समानविषयक शाब्दबोध के प्रति ही होगी ।

(ग) यदि किसी स्थल पर समानविषयक अनुमिति की सामग्री और शाब्दबोध की सामग्री है तो ऐसी स्थिति में क्या होगा ? इस परिस्थिति में बतलाया यह जाता है कि—समानविषयक अनुमिति के प्रति समानविषयक शाब्दबोध की सामग्री प्रतिबन्धक होती है। अर्थात् ऐसी स्थिति में शाब्दबोध ही होगा अनुमिति नहीं होगी । शाब्दबोधसामग्री के द्वारा अनुमिति का प्रतिबन्ध कर दिया जायेगा ।

शास्त्रार्थकलाव्याख्याकार पं॰ वेणी माधवशास्त्री जी 'समानविषयक शाब्दबोध के प्रति अनुमितिसामग्री की प्रतिबन्धकता है और विनिगमना न होने के कारण समानविषयक शाब्दबोध के प्रति अनुमिति सामग्री की प्रतिबन्धकता की तरह समानविषयक अनुमिति के प्रति शाब्दबोध सामग्री की भी प्रतिबन्धकता स्वीकारनी चाहिए'[1] ऐसा कहते हैं । परन्तु मुझे पं॰ श्री वेणी माधव शास्त्री का मत युक्तिविरुद्ध और जगदीश व गदाधर से असम्मत लगता है। यदि समानविषयक अनुमिति के प्रति शाब्दबोधसामग्री की प्रतिबन्धकता स्वीकारी जाये और समानविषयक शाब्दबोध के प्रति अनुमितिसामग्री की प्रतिबन्धकता स्वीकारी जाये तो मुश्किल यह है कि जहाँ पर एक ही विषय की अनुमिति की सामग्री भी है और उसी विषय के शाब्दबोध की सामग्री भी है। वहाँ पर अनुमिति सामग्री के द्वारा शाब्दबोध का और शाब्दबोधसामग्री के द्वारा अनुमिति का प्रतिबन्ध हो जाने के कारण न तो शाब्दबोध ही सम्भव होगा और न तो अनुमिति ही सम्भव होगी । इस कारण यह तो निश्चित है कि या तो शाब्दबोध के प्रति अनुमितिसामग्री की प्रतिबन्धकता स्वीकारी जाये, या तो अनुमिति के प्रति शाब्दबोधसामग्री की प्रतिबन्धकता स्वीकारी जाये । दोनों प्रतिबन्धकताओं का स्वीकार युक्तिविरुद्ध होने से असम्भवदुक्तिक है। जगदीश और गदाधर भी उनमें से समान विषयक अनुमिति के प्रति शाब्दबोधसामग्री की ही प्रतिबन्धकता स्वीकारने के पक्ष में दिखते हैं । 'व्युत्पत्तिवाद' में गदाधर भी इसी पक्ष में अपना संकेत छोड़ते हैं। वेणीमाधव शास्त्रीजी जो विनिगमनावैकल्य का प्रश्न उठाते हैं वह नितान्त असावधान है। यह प्रतिबध्यप्रतिबन्धकभाव व्यवस्थित चिन्तन और युक्ति द्वारा व्यवस्थापित किया गया है, विनिगमना के बग़ैर नहीं ।

## विभिन्नविषयक अनुभवसामग्रियों के काल में

यह तो हुई समानविषयक एकाधिक अनुभवसामग्रियों के काल में प्रतिबध्य प्रतिबन्धकभाव के निर्धारण की बात । विभिन्नविषयक एकाधिक अनुभवसामग्रियों के काल में अलग रीति से प्रतिबध्यप्रतिबन्धकभाव का निर्धारण किया जाता है ।

(क) जहाँ एकही काल में विभिन्नविषयक प्रत्यक्ष की सामग्री और अनुमिति की सामग्री मौज़ूद होगी, वहाँ पर प्रत्यक्ष होगा या अनुमिति होगी? इस प्रश्न का उत्तर समानविषयक अनुभवसामग्रियों के स्थल में दिये गये उत्तर से एकदम विपरीत है। यहाँ पर न्यायसम्प्रदाय सिद्धान्तित करता है कि—भिन्न विषयक प्रत्यक्ष के प्रति अनुमिति सामग्री प्रतिबन्धक हुआ करती है। जैसे— जिस क्षण में व्यक्ति को **'वह्निव्याप्यधूमवान् पर्वतः'**

---

1 विनिगमनावैकल्येन समानविषयकानुमितित्वावच्छिन्नं प्रति शाब्दसामग्री प्रतिबन्धिकेति चतुर्थो नियमः। व्युत्पत्तिवाद शास्त्रार्थकला पृ. 4

ऐसा परामर्श हुआ, उसी क्षण में पर्वत के साथ उस व्यक्ति का चक्षुः संयोग भी हुआ । ऐसी स्थिति में अग्रिम क्षण में सम्भव पर्वत के प्रत्यक्ष की भी सामग्री इन्द्रियार्थसन्निकर्ष रूप मौज़ूद है और पर्वत में वह्नि की अनुमिति की भी सामग्री विद्यमान है। तो ऐसी स्थिति में न्याय कहता है कि अग्रिम क्षण में '**पर्वतो वह्निमान्**' ऐसी वह्नि की अनुमिति ही होगी, '**अयं पर्वतः**' ऐसा प्रत्यक्ष नहीं होगा । चूँकि अनुमिति वह्निविषयक है और प्रत्यक्ष पर्वत विषयक, इसलिए दोनों का विभिन्न विषयकत्व है। अतः भिन्न विषयक अनुमिति सामग्री प्रत्यक्ष का प्रतिबन्ध कर देती है तथा ऐसी स्थिति में अनुमिति ही होती है।

(ख) जहाँ पर एक ही काल में भिन्नविषयक प्रत्यक्षसामग्री और भिन्नविषयक शाब्दबोध की सामग्री मौज़ूद होगी, वहाँ पर प्रत्यक्ष होगा या शाब्दबोध होगा? इस प्रश्न का उत्तर भी न्यायसम्प्रदाय देता है कि—भिन्नविषयक प्रत्यक्ष के प्रति शाब्दसामग्री प्रतिबन्धक होती है। उदाहरणस्वरूप यदि पर्वत विषयक प्रन्यक्ष की सामग्री है और उसी काल में घटविषयक शाब्दबोध की सामग्री भी है, तो वहाँ पर शाब्दबोधसामग्री प्रत्यक्षसामग्री पर हावी हो जायेगी और वहाँ पर शाब्दबोध ही होगा प्रत्यक्ष नहीं होगा ।

(ग) जहाँ पर एक ही काल में भिन्न विषयक शाब्दबोध की सामग्री भी है और उसी काल में भिन्न विषयक अनुमिति की सामग्री भी है । वहाँ पर शाब्दबोध होगा या अनुमिति होगी ? ऐसा प्रश्न है। इसका उत्तर दिया जाता है कि—भिन्नविषयक शाब्दबोध के प्रति अनुमितिसामग्री प्रतिबन्धक होती है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि उपर्युक्त परिस्थिति में अनुमिति ही होगी शाब्दबोध नहीं होगा । उदाहरण के रूप में समझा जा सकता है कि जिस क्षण में '**पर्वतो वह्निव्याप्यधूमवान्** ' ऐसा परामर्श है जो कि '**पर्वतो वह्निमान्** ' अनुमिति की सामग्री है। यदि उसी क्षण में '**घटवद् भूतलम्** ' ऐसे शाब्दबोध की सामग्री पदार्थोपस्थिति आदि हो, तो ऐसी स्थिति में अनुमिति ही होती है। शाब्दबोध नहीं होता है।

यहाँ पर भी किसी विनिगमनाविरह की आशङ्का करते हुए भिन्नविषयकशाब्दबोधसामग्री की अनुमिति के प्रति प्रतिबन्धकता की कल्पना नहीं करनी चाहिए ।

### उपर्युक्त प्रतिबध्यप्रतिबन्धकभावों को स्वीकार करने में युक्ति

जो उपर्युक्त प्रतिबध्यप्रतिबन्धकभाव स्वीकारे गये हैं वे न्यायशास्त्रीय सिद्धान्तभङ्ग के भय से स्वीकारे गये हैं । यद्यपि इस विषय में दर्शन के अन्यसम्प्रदायों की भी सहमति किन्हीं अंशों में है। यह श्लोक बहुत बार उद्धृत किया जाता है—

**'प्रत्यक्षे चानुमाने च यथा लोके बलाबलम् ।**
**शीघ्रमन्थरगामित्वात्तथैव श्रुतिलिङ्गयोः ॥'**

प्रत्यक्ष और अनुमान में जो लोक में बलाबलत्वव्यवहार है वह शीघ्रगामित्व और मन्थरगामित्व के आधार पर है । इसी प्रकार श्रुति और लिङ्ग में भी बलाबलत्वव्यवहार है। इस रीति से यदि देखें तो न्यायशास्त्रीय इन प्रतिबध्यप्रतिबन्धकभावों को दर्शनान्तरों की भी सहमति प्राप्त है।

एक ही काल में नैयायिक दो ज्ञानों की उत्पत्ति नहीं स्वीकार सकते हैं क्योंकि आत्मविशेषगुणों के क्रमभावित्व का सिद्धान्त है। ज्ञातव्य है कि नैयायिक ज्ञानायौगपद्य हेतु

से ही मन की सत्ता और मन का अणुत्व स्वीकार करते हैं । तो न्यायवैशेषिक सम्प्रदाय का सर्वामुमत सिद्धान्त है कि आत्मा के विशेष गुण क्रमशः ही उत्पन्न होते हैं । नवीन नैयायिकों में कुछ ज्ञान और इच्छा के यौगपद्य को स्वीकारते हैं किन्तु एक ही क्षण में एक से अधिक ज्ञानों की उत्पत्ति नहीं होती है यह सर्वानुमत सिद्धान्त है। इस पर नैयायिक प्रश्न नहीं उठाते हैं । किन्तु यदि एक ही क्षण में घट, पट, मठ आदि अनेक विषयों के साथ चक्षुरिन्द्रिय का सन्निकर्ष हो जाये तो क्या होगा ? इनमें से किसका प्रत्यक्ष होगा और किसका प्रत्यक्ष नहीं होगा ? इस विषय में सिद्धान्तित किया जाता है कि ऐसी स्थिति में घट, मठ, पट आदि अनेक विषयों को विषय करने वाला एक ही प्रत्यक्षात्मक ज्ञान समूहालम्बनात्मक या एकत्र द्वयम् इस रीति से हुआ करता है। अनेक ज्ञानों की उत्पत्ति उस समय भी नहीं होती है।

यदि एक ही क्षण में चक्षुरिन्द्रिय का घट के साथ, घ्राणेन्द्रिय का गन्ध के साथ, श्रोत्रन्द्रिय का शब्द के साथ सन्निकर्ष हो जाये, तो ऐसी स्थिति में क्या होगा ? इनमें से किसका प्रत्यक्ष होगा और किसका नहीं ? इस स्थिति में जैसे एक ही इन्द्रिय से अनेक विषयों का सन्निकर्ष होने पर अनेक विषयों को विषय करनेवाला समूहालम्बनात्मक प्रत्यक्ष स्वीकारा जाता है, वैसे ही घट, गन्ध, शब्द आदि को विषय करनेवाला समूहालम्बनात्मक एक प्रत्यक्ष भी नहीं स्वीकारा जा सकता है क्योंकि ऐसी स्थिति में प्रश्न उठेगा कि वह प्रत्यक्ष कैसा प्रत्यक्ष है? चाक्षुष है, घ्राणज है या श्रोत्रज है? इनमें से किसी एक को स्वीकारने में और दूसरे का निषेध करने में कोई विनिगमना नहीं है। एक प्रत्यक्ष को यदि चाक्षुष, घ्राणज और श्रोत्रज मान लिया जाये, तो इसमें तो जाति साङ्कर्य की आपत्ति आयेगी । साङ्कर्य जातिबाधक होता है, अतः चाक्षुषत्व, घ्राणजत्व आदि जातियाँ नहीं बन सकेंगी । इस कारण ऐसी परिस्थिति में क्या होगा ?

इस प्रश्न का उत्तर दिया जाता है कि कहीं पर भी भिन्नेन्द्रिय से जन्य प्रत्यक्षों की एक क्षण में आपत्ति ही नहीं है। प्रत्यक्ष के प्रति आत्ममनः संयोग, मन इन्द्रिय संयोग और इन्द्रियार्थसन्निकर्ष आवश्यक होता है। चाक्षुषप्रत्यक्ष के लिए आत्मा का मन के साथ संयोग, मन का चक्षुरिन्द्रिय के साथ संयोग और चक्षुरिन्द्रिय का अर्थ के साथ संयोगाद्यन्यतम सन्निकर्ष आवश्यक होगा । इसी प्रकार अन्य प्रत्यक्षों के बारे में भी समझना चाहिए । उपर्युक्त स्थल में चाक्षुष, घ्राणज, श्रोत्रज प्रत्यक्षों के प्रति कारणीभूत आत्ममनः संयोग विद्यमान है, तत्तदर्थों घट, गन्ध व शब्द के साथ तत्तदिन्द्रियों चक्षु, घ्राण व श्रोत्र का क्रमशः संयोग, संयुक्तसमवाय व समवाय सन्निकर्ष भी विद्यमान है। इन दोनों अंशों में तीनों प्रत्यक्षों की सामग्री समानरूप से विद्यमान है। किन्तु मन और इन्द्रिय का सन्निकर्ष भी तदिन्द्रिय जन्य ज्ञान के प्रति कारण होता है। मन को चूँकि न्यायवैशेषिकसम्प्रदाय में अणु स्वीकारा गया है, अतः उसका या तो चक्षु, या तो घ्राण या तो श्रोत्र के साथ ही संयोग हो सकता है। इस कारण उपर्युक्त स्थल में जिस इन्द्रिय के साथ मन का संयोग होगा, उस इन्द्रिय से जन्य प्रत्यक्ष ही होगा । इस कारण उक्त स्थल में एक क्षण में भिन्न -भिन्न इन्द्रियों से

जन्य प्रत्यक्षों की आपत्ति कारण न रहने के कारण ही नहीं है ।

उपर्युक्त रीतियों से यदि कहीं पर दो परामर्शों का अवगाहन करनेवाला समूहालम्बनात्मक ज्ञान हो जाये या कहिए समूहालम्बनात्मक परामर्श हो तो दो अनुमितियाँ नहीं होती है । बल्कि दोनों साध्यों को विषय करने वाली एक ही समूहालम्बनात्मक अनुमिति होती है। शाब्दबोध स्थल में भी इसी प्रकार समझना चाहिए ।

अब समस्या यह है कि यदि कहीं पर प्रत्यक्ष सामग्री है, अनुमिति सामग्री है और शाब्दबोध सामग्री है । इसमें विपर्यय से एक-एक के परित्याग से भी स्थिति बन सकती है । ऐसी परिस्थिति में क्या होगा ? तो इस समस्या का सीधा-सीधा उत्तर देना कठिन है, जो कि सब जगहों पर लागू हो । इस कारण परिस्थितियों के आधार पर उस प्रश्न का उत्तर दिया जाता है।

जहाँ पर एक ही विषय का प्रत्यक्ष करानेवाली सामग्री हो उसी विषय की अनुमिति करानेवाली सामग्री हो और उसी का शाब्दबोध करानेवाली सामग्री हो, या विपर्यय से इनमें से किसी का परित्याग करके एकाधिक अनुभवों की सामग्री हो, तो ऐसी स्थिति में क्या होगा ? यह तो निश्चित है कि ऐसी सामग्रियों का समवधान होने पर अग्रिम क्षण में जिस विषय की अवबोधक सामग्री है, उस विषय का ज्ञान हुआ करता है। किन्तु सन्देह है कि वह ज्ञान कौन सा है? प्रत्यक्ष है, या अनुमिति या शाब्दबोध । इस पर निर्धारण यह किया जाता है कि ऐसी स्थिति में अनुव्यवसाय ही प्रमाण है। समान विषयक अनुमिति या शाब्दबोध सामग्री के साथ यदि प्रत्यक्ष सामग्री है तो ज्ञानोपरान्त अनुव्यवसाय यही होता है कि **'साक्षात्करोमि'** इस कारण उस ज्ञान को प्रत्यक्ष ही मान लेना बेहतर है। इस कारण समानविषयक प्रत्यक्षसामग्री अनुमिति और शाब्दबोध के प्रति प्रतिबन्धक होती है।

जहाँ पर एक विषय की अनुमिति सामग्री है और तद्विषयक शाब्दबोध की सामग्री है। वहाँ पर ज्ञानोपरान्त कैसा अनुव्यवसाय होता है? इसमें विवाद की गुञ्जाइश है। ये ठीक है कि ऐसी स्थिति में **'शाब्दयामि'** ऐसा ही अनुव्यवसाय स्वीकृत है किन्तु शाब्दबोध सामग्री अनुमिति की प्रतिबन्धक होती है और अनुमितिसामग्री शाब्दबोध के प्रति प्रतिबन्धक नहीं होती है इसमें कोई युक्ति तो होनी चाहिए । प्रत्यक्ष तो अनुमिति का उपजीव्य है और शाब्दबोध में भी उपकारक होता है। अतः प्रत्यक्षसामग्री की बलवत्ता तो स्वीकारी जा सकती है। किन्तु शाब्दबोधसामग्री की अनुमिति के प्रति प्रतिबन्धकता क्यों स्वीकारी जाती है?

इस प्रश्न का समाधान गूढार्थतत्त्वालोकव्याख्याकार पं॰ श्री बच्चा झा जी बड़े ही सुसङ्गत रीति से करते हैं कि 'एक ही अर्थ के ज्ञास्यमान होने पर विजातीय अनुभव सामग्री का सन्निपात होने की स्थिति में कोई भी अनुभव होने पर बुभुत्सित अर्थावगतिसाकल्य की सम्पत्ति और पुनः अवगति असम्पाद्य होती है, इस कारण जिस सामग्री की लघुता होती हैं वही सामग्री फलजनिका होती है। ऐसी स्थिति में अन्वयव्यतिरेकसहचारग्रह, तर्क आदि से सम्पाद्य व्याप्तिग्रह आदि की अपेक्षा करनेवाली अनुमितिसामग्री से शाब्दबोधसामग्री के लघुभूता होने के कारण और शाब्दबोधसामग्री से प्रत्यक्षसामग्री के लघुभूता होने के कारण

समानविषयक अनुमिति में और शाब्दबोध में प्रत्यक्ष सामग्री का तथा समानविषयक अनुमिति में शाब्दबोधसामग्री का प्रतिबन्धकत्व होता है[1]। ' इस स्पष्टीकरण का अभिप्राय यह है कि एक ही अर्थ विषयक विजातीय अनुभव सामग्रियों की मौज़ूदगी में चूँकि ज्ञान दुबारा सम्पाद्य नहीं होता है, एक ही अर्थ की अवगति और साकल्येन अवगति एक ही बार सम्पाद्य होती है, इस कारण ज्ञान तो एक ही होगा, चाहे वह जिस अनुभव सामग्री से हो। अब ऐसी स्थिति में जब सामग्री का पुनः सम्पादन करने की जरूरत नहीं है तो उचित यही है कि जो सामग्री लघुभूता हो वही सामग्री फलजनिका हो । प्रत्यक्षसामग्री, अनुमितिसामग्री और शाब्दबोधसामग्री में सबसे लघुभूता सामग्री प्रत्यक्षसामग्री है क्योंकि प्रत्यक्ष सामग्री में उस इन्द्रिय से मन का संयोग और अर्थ के साथ इन्द्रिय का सन्निकर्ष अपेक्षित होता है। आत्मा और मन का संयोग तो ज्ञान मात्र के प्रति कारण हुआ करता है, अतः वह तो किसी भी ज्ञान के पूर्व विद्यमान ही होगा । इसकी अपेक्षा अनुमिति की सामग्री और शाब्दबोध की सामग्री गुरुभूत है। अनुमिति की सामग्री के लिए व्याप्तिग्रह, पक्षधर्मताज्ञान आदि की अपेक्षा होती है। व्याप्तिग्रह सम्पादन अन्वयव्यतिरेकसहचारग्रह, तर्क आदि के द्वारा हुआ करता है। इस प्रकार अनुमितिसामग्री इन तीनों में सब से गुरुभूत है। शाब्दसामग्री के अन्तर्गत भी अनेक चीज़ें प्रविष्ट हैं किन्तु शाब्दसामग्री के सम्पादन के लिए जितनी वस्तुओं की अपेक्षा होती है, वे अनुमितिसामग्री की अपेक्षा थोड़ी हैं । इस कारण जहाँ पर एक ही विषय के प्रत्यक्ष और अनुमिति अनुभवों की सामग्री है, वहाँ पर प्रत्यक्ष ही होता है। इसी कारण एकविषयकप्रत्यक्ष और शाब्दबोध सामग्रियों के रहने पर प्रत्यक्ष ही होता है शाब्दबोध नहीं होता है और इसी कारण ही एकविषयक शाब्दबोध व अनुमिति सामग्रियों के रहने पर शाब्दबोध ही होता है अनुमिति नहीं । प्रत्यक्ष की सामग्री अनुमिति की सामग्री की अपेक्षा भी लघुभूत है और शाब्दबोध सामग्री की अपेक्षा भी । शाब्दबोध सामग्री केवल अनुमिति सामग्री की अपेक्षा लघुभूत है। अतः समानविषयक अनुभव सामग्रियों में उक्त रीति से प्रतिबध्यप्रतिबन्धकभाव होता है।

इसी कारण पं॰ श्री वेणीमाधव शास्त्री जी द्वारा विनिगमनावैकल्य के आधार पर समानविषयक शाब्दबोध के प्रति अनुमितिसामग्री की प्रतिबन्धकता का कथन असङ्गत है।

जहाँ पर भिन्नविषयक प्रत्यक्ष, अनुमिति, शाब्दबोध की सामग्रियाँ एक ही क्षण में हैं, वहाँ पर जो प्रतिबध्यप्रतिबन्धकभाव व्यवस्थापित किया गया है। उसके बार में भी विचार आवश्यक है और उसमें क्या युक्तियाँ हैं ? यहाँ पर यह ध्येय है कि उक्त स्थल में प्रत्यक्ष, अनुमिति और शाब्दबोध इस प्रकार तीन ज्ञान (एकाधिक) एक ही क्षण में नहीं उत्पन्न हो सकते हैं क्योंकि न्यायसिद्धान्त ज्ञानायौगपद्य का है। किन्तु प्रश्न यह है कि जैसे एक इन्द्रिय से अनेक अर्थ विषयक समूहालम्बनात्मक प्रत्यक्ष होता है, उसी प्रकार प्रत्यक्षसामग्री से जायमान प्रत्यक्षात्मक, अनुमितिसामग्री से जायमान अनुमित्यात्मक और

---

1. अथ बुभुत्सिते ह्येकस्मिन्नर्थे विजातीयानुभवसामग्र्याः सन्निपाते कस्मिंश्चिदप्यनुभवे जायमाने बुभुत्सितार्थवगतिसाकल्यसम्पत्तेः पुनरवगतेरसम्पाद्यत्वमिति तत्र यत्सामग्र्या लघुत्वं तस्यैव फलजनकत्वम् ......तथा चान्वयव्यतिरेकसहचारग्रहतर्कादिसम्पाद्यव्याप्तिग्रहाद्यपेक्षानुमितिसामग्रीतःशाब्दसामग्र्याःशाब्दसामग्रीतश्च प्रत्यक्षसमामग्र्या लघुभूताया अनतिरिक्तविषयिकायामनुमितौ शाब्दमतौ च प्रतिबन्धकत्वम् ।

गूढार्थतत्त्वालोक व्युत्पत्तिवाद पृ. 83

शाब्दबोधसामग्री से जायमान शाब्दबोधात्मक एक ही ज्ञान वहाँ पर होता है, ऐसा क्यों न स्वीकार लिया जाये ? इस प्रकार यदि स्वीकार लिया जाये तो भिन्नविषयक अनुभव सामग्रियों का अनुभवों के प्रति परस्पर प्रतिबध्यप्रतिन्धकभाव नहीं स्वीकारना पड़ेगा । किन्तु नैयायिकों के लिए यह स्वीकारना असम्भव है क्योंकि ऐसी स्थिति में जातिसाङ्कर्य प्रसक्त होगा । जातियों के बारे में न्यायसिद्धान्त है कि समानाधिकरण जातियों में व्याप्यव्यापकभाव होना आवश्यक है। प्रत्यक्षत्व, अनुमितित्व, शाब्दबुद्धित्व व उपमितित्व ये अनुभवत्वव्याप्य जातियाँ हैं । यदि एक ही अनुभव व्यक्ति में प्रत्यक्षत्व, अनुमितित्व, उपमितित्व व शाब्दबुद्धित्व में से एकाधिक जाति रहेगी तो परस्परात्यन्ताभावसमानाधिकरण धर्मों का एकत्र समावेश रूप साङ्कर्य दोष प्रसक्त होगा । इस कारण एक ही व्यक्ति में प्रत्यक्षत्वादि अनेक धर्मों का समावेश और इस कारण विजातीय अनुभवसामग्रियों से जायमान एक ज्ञान स्वीकारना न्यायमत में असम्भव है। ऐसी स्थिति में एकाधिक अनुभवसामग्रियों के रहने पर किसी एक अनुभव सामग्री से कोई एक कार्य (ज्ञान) होना चाहिए और यह बग़ैर प्रतिबध्य-प्रतिबन्धकभाव को स्वीकारे सम्भव नहीं है।

अब ऐसी स्थिति में एकाधिक भिन्नविषयक अनुभवसामग्रियों का समवधान होने पर किस अनुभव सामग्री को किस अनुभवसामग्री के प्रति प्रतिबन्धक मानें ? यदि प्रत्यक्ष सामग्री को भिन्नविषयक शाब्दबोध के प्रति प्रतिबन्धक माना जाये तब तो शाब्दप्रमिति का उच्छेद ही हो जायेगा। क्योंकि जब कभी शाब्दसामग्री सम्पन्न होगी, उस समय योग्यताज्ञान, आकाङ्क्षाज्ञान आदि रूप आत्ममानसप्रत्यक्ष की सामग्री भी विद्यमान ही होगी । फलतः शाब्दबोध कभी भी नहीं हो सकेगा, भिन्नविषयकप्रत्यक्ष आत्ममानसप्रत्यक्ष ही होगा । इस कारण शाब्दसामग्री की ही भिन्नविषयक प्रत्यक्ष के प्रति प्रतिबन्धकता स्वीकारनी चाहिए[1]।

इसी प्रकार भिन्नविषयक अनुमिति के प्रति प्रत्यक्षसामग्री की प्रतिबन्धकता स्वीकारने पर अनुमिति मात्र का उच्छेद हो जायेगा । जब कभी व्याप्तिज्ञान आदि से घटित अनुमिति-सामग्री सम्पन्न होगी, उस समय हमेशा व्याप्तिज्ञान आदिरूप आत्ममानसप्रत्यक्ष की भी सामग्री विद्यमान होगी और वह आत्ममानसप्रत्यक्ष की सामग्री[2] अनुमिति का प्रतिबन्ध कर देगी । अतः अनुमिति भी कहीं पर भी नहीं उत्पन्न हो सकेगी ।

इसके अतिरिक्त एक और युक्ति सुझायी जाती है भिन्नविषयक प्रत्यक्ष के प्रति शाब्दसामग्री और अनुमितिसामग्री की प्रतिबन्धकता स्वीकारने में । वही युक्ति शाब्दसामग्री की अनुमिति के प्रति प्रतिबन्धकता स्वीकारने में भी है। भिन्न अर्थों को विषय करनेवाली विजातीय अनुभव सामग्रियों का सन्निपात होने पर किसी एक सामग्री से कोई एक ज्ञान ही, किसी एक अर्थ की अवगति ही सम्भव है क्योंकि ज्ञानयौगपद्य और जातिसाङ्कर्य का

---

1. जातिसाङ्कर्यस्य ज्ञानयौगपद्यस्य चानभ्युपगततयोभयसामग्रीसत्त्वे हि केनचिदेकेनैव कार्येण भवितव्यं नहि तत्र प्रतिबन्धकत्वादृतेऽन्यस्य सम्भवति विनिगमकत्वमित्यावश्यकं प्रतिबन्धकत्वमेकतरसामग्र्यास्तत्र प्रत्यक्षसामग्र्याः प्रतिबन्धकत्वेऽन्ततः सर्वत्र शाब्दसामग्रीकाले योग्यत्वाकाङ्क्षाज्ञानादिमानसप्रत्यक्षसामग्र्या नियमेन सत्तया शाब्दप्रमितिमात्रोच्छेदः स्यादिति शाब्दसामग्र्या एव प्रतिबन्धकत्वं स्वीक्रियते ।

गूढार्थतत्त्वालोक 'व्युत्पत्तिवाद' पृ. 77

2. आत्मा का मानस प्रत्यक्ष विशेषगुणओं का योग होने से ही होता है।
योग्यविशेषगुणस्यज्ञानसुखादेः सम्बन्धेनात्मनः प्रत्यक्षत्वं सम्भवति न त्वन्यथा ।

न्यायसिद्धान्तमुक्तावली (दिनकरी सहित) पृ. 231

न्यायमत में स्वीकार नहीं किया जा सकता है। लेकिन ज्ञास्यमान अर्थ तो एकाधिक है, ऐसी स्थिति में यदर्थविषयक ज्ञान उत्पन्न होगा तदतिरिक्तार्थविषयक ज्ञान का सम्पादन बाद में करना पड़ेगा । शेष अर्थ की अवगति बाद में सम्पाद्य होगी । यह शेष अर्थ की अवगति तो सामग्री के अधीन ही होगी । तो बाद में गुरुभूतसामग्री का सम्पादन करने की अपेक्षा उचित यही है कि अभी गुरुभूत सामग्री के द्वारा कार्योत्पत्ति स्वीकार कर ली जाये और बाद में लघुभूतासामग्री का सम्पादन करके अनवगत अर्थ की अवगति सम्पादित की जाये । इसके अतिरिक्त इसी पक्ष का अनुभव भी पक्षपाती है।[1] इस प्रकार चूँकि प्रत्यक्षसामग्री का पुनः सम्पादन लघुतर क्लेशसाध्य होता है और अनुमितिसामग्री का पुनः सम्पादन तथा शाब्दबोधसामग्री का पुनः सम्पादन गुरुतर क्लेश से साध्य होता है क्योंकि अनुमिति सामग्री और शाब्दसामग्री की अपेक्षा प्रत्यक्ष सामग्री लघुभूता है। इस कारण भिन्नविषयक प्रत्यक्ष के प्रति अनुमिति सामग्री भी प्रतिबन्धक होती है और शाब्दसामग्री भी प्रतिबन्धक होती है।

इसी प्रकार अनुमितिसामग्री व शाब्दसामग्री दोनों के गुरु होने पर भी चूँकि अनुमिति शाब्दसामग्री की अपेक्षा गुरुतर है, अनुमितिसामग्री का पुनः सम्पादन गुरुतर क्लेश से साध्य है,. अतः भिन्नविषयक अनुमितिसामग्री और शाब्दसामग्री का समवधान होने पर अनुमितिसामग्री शाब्दबोध का प्रतिबन्धक कर देती है। ऐसी स्थिति में शाब्दबोध नहीं होता है। अनुमिति ही होती है। इस प्रकार उपर्युक्त प्रतिबध्य प्रतिबन्धकभावों के मूल में ये युक्तियाँ और अनुभव हैं । इसी के आधार पर इनका स्वीकार किया गया है। प्रस्तुत ग्रन्थ में लाघव गौरव के विचार में अनेकत्र इनका उल्लेख है।

**व्युत्पत्तिवाद का प्रतिपाद्य** –जैसा कि इस ग्रन्थ की संज्ञा से ही स्पष्ट होता है, यह ग्रन्थ व्युत्पत्तियों को बतलाने वाला ग्रन्थ है। इसकी यह अन्वर्थ संज्ञा है। किन्तु केवल व्युत्पत्तियों का ही निर्वचन इस ग्रन्थ में नहीं किया गया है। मुख्यतया प्रत्ययार्थों का निरूपण करनेवाला यह ग्रन्थ है। प्रत्यय सुप् , तिङ्, कृत् , तद्धित आदि के भेद से अनेकविध हैं । व्युत्पत्ति का अभिप्राय नियमविशेष है। यह पूर्व में ही उपवर्णित किया जा चुका है। उन नियम विशेषों का क्षेत्र पदार्थों का अन्वयबोध ही है। तत्तत् प्रत्ययों के अर्थों का निरूपण करते हुए इस ग्रन्थ में गदाधर भट्टाचार्य प्रसङ्गवशात् सामान्यतः धात्वर्थ निरूपण भी करते हैं । कुछ एक धातुओं के अर्थों के विषय में विस्तार से विवेचन करते हैं। अर्थविज्ञान सम्बन्धी भाषिक समस्याओं को सुलझाने का सार्थक प्रयास करते हैं ।

यहाँ पर 'व्युत्पत्तिवाद' के प्रतिपाद्य को मैं दो अंशों में विभक्त करना चाहता हूँ, शायद इससे प्रतिपादित सिद्धान्तों का अवबोधन सरल हो जायेगा । इसमें गदाधर ने प्रत्ययार्थों का ही निरूपण प्रमुखता से किया है किन्तु व्युत्पत्तियाँ उसी के बीच-बीच में निविष्ट हैं । इस भूमिका में व्युत्पत्तियों को अलग से और प्रत्ययाद्यर्थनिरूपण को अलग से सारांशरूप में रख रहा हूँ । यद्यपि इसमें अनेक जगहों पर पुनरुक्ति की सम्भावना है,

---

1. बुभित्सितयोरर्थयोर्विजातीयानुभवसामग्र्योः सन्निपाते कयाप्येकयैवार्थावगत्या भवितव्यं जाति साङ्कर्यज्ञानयौगपद्ययोरनभ्युपगमादिति बुभुत्सितार्थावगतिसाकल्यासम्पत्तेः पुनरवगतिः सम्पादनीया सा च सामग्र्यधीना तत्र गुरुसामग्रीसम्पादनापेक्षया लघुसामग्रीसम्पादनं युक्तमिति यत्सामग्र्याः गुरुत्वं तस्या एव प्रथमतः फलजनकत्वमित्यनुभवसिद्धं.......विभिन्नविषयके शाब्दबोधे चानुमितिसामग्र्याः तादृशे प्रत्यक्षे च शाब्दसामग्र्याः प्रतिबन्धकत्वं क्लृप्तम् । गूढार्थतत्त्वालोक व्युत्पत्तिवाद पृ.83

एतदर्थ विद्वज्जन हमें क्षमा करेंगे ।

**व्युत्पत्तियाँ**

शाब्दबोध की जो सामग्री व्यवस्थापित की गयी और जो शाब्दबोध प्रत्यक्ष और अनुमिति से अतिरिक्त व्यवस्थापित किया गया, उसके अनुसार शाब्दबोध में वृत्त्युपस्थाप्य अर्थ ही विषय हो सकते हैं । ध्यान दिया जाये कि जगदीश ने शाब्दबोध को नियन्त्रितार्थ माना है। शाब्दबोध में इसलिए वृत्युपस्थाप्य अर्थ ही भासित हो सकते हैं। वृत्ति का अभिप्राय शक्ति और लक्षणा से है। इससे अतिरिक्त कोई भी अर्थ शाब्दबोध में भासित नहीं हो सकता है। यह अर्थतः लब्ध होता है। किन्तु मुश्किल यहीं से शुरू होती है। यह अनुभव गम्य है कि शाब्दबोध में ऐसे अर्थ भी विषयीभूत होते हैं जो कि न तो शक्ति के द्वारा उपस्थाप्य होते हैं और न तो लक्षणा के द्वारा उनकी उपस्थिति होती है। इस बात को इस रीति से समझा जा सकता है कि किसी व्यक्ति ने कहा **'नीला घड़ा है'** इसमें नीला का अर्थ नीलरूपवाला है और घड़ा का अर्थ घड़ा है। किन्तु जब शाब्दबोध होता है तो उसमें यह भी बोधित होता है कि जो घड़ा है, वह नीलरूपवाला है, अलग-अलग दोनों नहीं भासते हैं । उस प्रयोग में यदि नीलाशब्द की जगह पर घर शब्द का प्रयोग कर दिया जाये **'घर घड़ा है'** ऐसा बोला जाये तो यहाँ पर घर अलग बोधित होता है, घड़ा अलग बोधित होता है। ध्यान दें —प्रथम में जहाँ नीलरूपवाले से अभिन्न घड़े की विद्यमानता बोधित होती है, वहीं द्वितीय में घट की विद्यमानता और घड़े की विद्यमानता अलग-अलग बोधित होती है। तो इसमें पहले वाक्य से जन्य बोध में अभेद कहाँ से आया? इसी प्रकार अन्यत्र भी दो पदों से उपस्थित अर्थों के बीच में संसर्ग बनकर कुछ अर्थ उपस्थित हो जाते हैं और उनका शाब्दबोध में भान होता है। समस्या है कि आखिर शाब्दबोध में ये विषय कैसे भासते हैं ? और इससे शाब्दबोध की नियन्त्रितार्थता क्यों नहीं खण्डित होती है ? इसी प्रश्न का उत्तर देते हुए प्रथम व्युत्पत्ति से गदाधर ग्रन्थ की शुरूआत करते हैं —

**'शाब्दबोधे चैकपदार्थेऽपर पदार्थस्य संसर्गः संसर्गमर्यादया भासते'**

'शाब्दबोध में एक पदार्थ में अपर पदार्थ का संसर्ग संसर्गमर्यादा से भासता है' संसर्गमर्यादाशब्द लाक्षणिक है आकाङ्क्षा में क्योंकि आकाङ्क्षा ही संसर्ग के भान की मर्यादा है। एक पदार्थ में अपर पदार्थ के संसर्ग का अभिप्राय उस संसर्ग से भी है जो कि एक पद के अर्थ में दूसरे पद के अर्थ का संसर्ग है और उस संसर्ग से भी है जो कि एक पद की भिन्न-भिन्न शक्तियों के द्वारा उपस्थित एक अर्थ में दूसरे अर्थ का संसर्ग है। **'नीलो घटः'** इत्यादि स्थलों में नीलपद के अर्थ नीलरूपवान् का घटपद के अर्थ घट में अभेद संसर्ग आकाङ्क्षा से ही भासता है। इस बात को इस प्रकार समझना चाहिए कि शाब्दबोध के लिए जो अर्थ उपस्थित होते हैं वे परस्पर विशिष्ट होकर भासते हैं, अन्वित होकर भासते हैं। अभेद का संसर्गतया भान होने का आशय हुआ कि दो पदार्थों में एक का वैशिष्ट्य अभेदसम्बन्ध से दूसरे में भासेगा । **'नीलो घटः'** से इस प्रकार अभेद की संसर्गता होने पर 'अभेदसम्बन्धेन नीलविशिष्टो घटः' ऐसा शाब्दबोध होता है। **'एव'** पद प्रयोगस्थल में एव पद के ही अर्थ व्यवच्छेद में एव पद के ही अर्थ अन्ययोग का प्रतियोगिकत्व संसर्ग आकाङ्क्षा से भासता है। इस प्रकार शाब्दबोध की नियन्त्रितार्थता का अभिप्राय यह है कि शाब्दबोध में वृत्ति के द्वारा उपस्थापित अर्थ ही विशेष्य बनकर अथवा विशेषण बनकर

भासित हो सकते हैं और उनका संसर्ग आकाङ्क्षा से भासित हो सकता है। व्याख्या में संसर्गतया भासित होनेवाले अंशों को अधोरेखांकित करने का प्रयास बहुतर स्थलों पर किया गया है।

ये आकाङ्क्षा से भासित होने वाले सम्बन्ध दो तरह के हैं । गदाधर ने द्विविध विभाजन किया है। अभेद और अभेदातिरिक्त सम्बन्ध । अभेदातिरिक्त सम्बन्ध को भेदसम्बन्ध कहकर इस ग्रन्थ में अभिहित किया गया है। इसमें से किस स्थल में अभेदसम्बन्ध आकाङ्क्षाभास्य होगा, इसके बारे में व्युत्पत्ति आती है —

**'अभेदश्च प्रातिपदिकार्थे स्वसमानविभक्तिकेन स्वाव्यवहितपूर्ववर्तिना च पदेनोपस्थापितस्यैव संसर्गमर्यादया भासते'**

'अभेद दो तरह का ही संसर्गमर्यादा से भासित हो सकता है, एक तो प्रतिपदिकार्थ में स्वसमानविभक्तिक पद से उपस्थापित अर्थ का अभेद संसर्ग संसर्गमर्यादा से भासित हो सकता है, दूसरा स्वाव्यवहित पूर्ववर्ती पद के द्वारा उपस्थापित पदार्थ का अभेद संसर्गमर्यादा से भासित हो सकता है। उदाहरण दिया जाता है कि—**'नीलो घटः'** यहाँ पर घट पद के समानविभक्तिक नील पद से उपस्थापित नीलरूपवद् अर्थ का घट में अभेद सम्बन्ध आकाङ्क्षाभास्य होता है। नील और घट पद में एकसमान विभक्ति है, दोनों के बाद ही प्रथमा है। यदि ऐसा न होता तो नील और घट का अभेद संसर्गमर्यादा से भास्य नहीं होता। **'नीलघटः'** यहाँ पर घट के अव्यवहित पूर्ववर्ती नील पद के द्वारा उपस्थापित नीलरूपवद् अर्थ का घट में अभेद सम्बन्ध संसर्गमर्यादा से भासित होता है। यहाँ 'एव' पद से अन्ययोगव्यवच्छेद लब्ध होता है। इस कारण जहाँ पर नीलरूपवद् आदि अर्थ घटपद समानविभक्ति या घटपदाव्यवहित पूर्ववर्ती नीलपद के द्वारा उपस्थापित नहीं होता है, वहाँ पर नीलपदार्थ नीलरूपवद् का घटपदार्थ में अभेदान्वय नहीं होता है।

गदाधर अभेद, स्वसमानविभक्तिकत्व आदि का भी निर्वचन करते हैं । इसे ग्रन्थ में ही देख लेना चाहिए । इस प्रसङ्ग में एक और पक्ष सामने आता है अभेद प्रकारतावाद का पक्ष ।

### अभेदप्रकारतावादसंसर्गतावाद

विशेषणवाचक पद विशेष्यवाचक पद का समानविभक्तिक (और साधारण परिस्थिति में समानवचनक भी) ही प्रयुक्त होता है। अब ऐसी स्थिति में प्रश्न यह है कि विशेषणवाचक पदोत्तर विभक्ति क्या सार्थक है अथवा निरर्थक ? यदि विशेषणवाचकपदोत्तर विभक्ति निरर्थक हो तब तो घटपदादि समानविभक्तिक नीलादिपदोपस्थाप्य नीलरूपवद् आदि अर्थों का अभेद सम्बन्ध से घट पदार्थ में अन्वय सम्भव होने से अभेदसंसर्गतावाद का पक्ष उचित होगा । यदि विशेषणवाचकपदोत्तर विभक्ति सार्थक हुई तो यह पक्ष उचित नहीं होगा क्योंकि फिर तो नीलादिपदार्थ का स्वोत्तरविभक्ति के अर्थ में और उस अर्थ का ही घटादिपदार्थ में अन्वय करना पड़ेगा । इसमें एक पक्ष है कि विशेषणवाचकपदोत्तर विभक्ति को निरर्थक मान लेना चाहिए । इसमें युक्ति यह है कि जिन-जिन अर्थों में तत्तत् विभक्तियों का विधान किया गया है विशेषणवाचकपदोत्तर विभक्तियों का वह अर्थ नहीं स्वीकारा जा सकता है क्योंकि **'नीलघटमानय'** इत्यादि स्थलों में नीलपदोत्तर विभक्ति है अम् विभक्ति द्वितीया विभक्ति । द्वितीया विभक्ति का विधान कर्म या कर्मत्व अर्थ में किया गया है तो क्या आनयन में दो कर्मता भासेगी नीलकर्मता और घटकर्मता । इसी प्रकार अन्य स्थलों में भी

आपत्ति आयेगी । इस कारण नीलादिपदोत्तर विभक्ति का निरर्थकत्व ही स्वीकारना चाहिए और नीलादिपदार्थ का घटादिपदार्थ में अभेदसम्बन्ध से अन्वय करना चाहिए । दूसरा पक्ष है कि यदि सार्थकत्व स्वीकार सम्भव हो तो निरर्थकत्व नहीं स्वीकारना चाहिए । ये तो ठीक है कि विशेषणवाचकपदोत्तर विभक्तियों का वह अर्थ नहीं हो सकता है जिन अर्थों में उन विभक्तियों का विधान है। किन्तु वे विभक्तियाँ विशेषणवाचकपद के बाद की क्यों जाती है? इसीलिए की जाती हैं कि तादृशविभक्त्यन्त विशेष्यवाचकपदोस्थापित अर्थ के साथ विशेषणवाचकपदोपस्थाप्य अर्थ का अभेद बोधित हो । तो अभेद को विशेषणवाचकपदोत्तर विभक्ति का अर्थ ही क्यों न मान लिया जाये ? इस कारण यदि विशेषण विभक्ति का अर्थ अभेद को मान लिया जाये तो उपर्युक्त व्युत्पत्ति सीमित हो जायेगी क्योंकि ऐसी स्थिति में **'नीलो घटः'** आदि से जो बोध होगा उसमें नीलपदार्थ नीलरूपवद् स्वोत्तरविभक्ति के अर्थ अभेद =भेदाभाव में अन्वित होगा । (अभेद को विशेषणविभक्ति का अर्थ मानने पर भेद और अभाव में विशेषण विभक्ति की शक्ति माननी पड़ेगी और प्रकृत्यर्थ का भेद में आकाङ्क्षाभास्य प्रतियोगिकत्व सम्बन्ध से और भेद का अभाव में प्रतियोगिकत्व सम्बन्ध से अन्वय होगा ) तथा अभेद = भेदाभाव का आकाङ्क्षाभास्य आश्रयत्व सम्बन्ध से घट में अन्वय होगा । वस्तुतः तो अभेद का तादात्म्य अर्थ है, वही विशेषणविभक्ति का अर्थ अथवा संसर्गमर्यादाभास्य है। किन्तु विशेषण विभक्ति का अर्थ यदि अभेद माना जाये तब भी विशेषण विभक्ति के द्वारा अभेद बोधन में तादृशविभक्त्यन्त विशेष्यवाचकपदसमभिव्याहारज्ञान को कारण मानना पड़ेगा । अभेद का संसर्गमर्यादा से भान होने पर तो उसके लिए तो समभिव्याहारज्ञान कारण है ही ।

इन दोनों पक्षों का इस तरह देखा व समझा जा सकता है—

| प्रकारतावाद– | संसर्गतावाद— |
|---|---|
| नील = नीलरूपवद् | नील = नीलरूपवद् |
| नीलपदोत्तर सु =अभेद | नीलपदोत्तर सु = × × (निरर्थक) |
| घट = घट | घट=घट |
| सु = एकत्व | सु = एकत्व |

प्रथम पक्ष में बोध में नील –अभेद–घट इस तरह अन्वय होता है । बीच में आकाङ्क्षाभास्य सम्बन्ध आता है। द्वितीय पक्ष में नीलरूपवद् और घट का अभेद सम्बन्ध आकाङ्क्षाभास्य होता है। इन दोनों में कौन सा पक्ष सही है और कौन सा ग़लत? ऐसा निर्धारित कर पाना मुश्किल है। दोनों ही पक्ष सही हो सकते हैं । गदाधर गौरवलाघव की दृष्टि से इन दोनों पक्षों पर विचार करते हैं । उन्हें प्रकारतावाद में लाघव प्रतीत होता है। वे कहते हैं कि —**'नीलो घटः' इत्यादौ विशेषणविभक्तेरभेदार्थकत्वमतेपि यद्यप्युक्तरीत्या लाघवं सम्भवति तथापि तत्रापि न नो विद्वेष इति दिक् '** (पृ. 192 ) यद्यपि पूर्व में **'इदन्तु तत्त्वम् '** प्रतीक से अभेदसंसर्गतावाद का पक्ष ही दृढ करते हैं । इसमें कहना है कि अभेदसंसर्गतामत में कोई गौरव नहीं होने से विशेषणविभक्ति की अभेद में वृत्ति की कल्पना अनुचित है।

जगदीश इसमें एक और सन्देह उठाते हैं कि अभेद को विशेषण विभक्ति का अर्थ मानने पर समास और विग्रहवाक्यों की पर्यायता का नियम भङ्ग हो जायेगा क्योंकि

विग्रहस्थल में अभेद प्रकारतया भासेगा और समासस्थल में अभेद संसर्गमर्यादा से भास्य होगा, इससे समास और विग्रहवाक्यों की पर्यापता का विघटन न हो जायेगा[1]। इस कारण विग्रहस्थलों में भी अभेद को आकाङ्क्षाभास्य ही मानना चाहिए । अतः विशेषणविभक्ति प्रयोगसाधुतार्थक है उसका और कोई अर्थ नहीं है।

गदाधर इस सन्देह की कोई चर्चा नहीं करते हैं । ऐसा लगता है कि उनके लिए समास और विग्रह वाक्यों की पर्यायता के नियम का कोई मूल्य नहीं है क्योंकि शायद उनकी दृष्टि में समास और विग्रहवाक्यों की पर्यायता होती है यह नियम प्रामाणिक नहीं है।

गूढार्थतत्त्वालोककार पं॰ श्री बच्चा झा महोदय गदाधर के '**तत्रापि न नो विद्वेषः**' इस कथन पर विचार करते हुए करते हैं कि "हमारी सम्मति है ऐसा न कहकर हमारा विद्वेष नहीं है ऐसा कहने से ज्ञात होता है कि नञ् का भेदार्थकत्व अभियुक्तों ने कहा है, जो कि प्रत्यक्षादि से गृहीत घटादि में पटादि भेद का 'घटः पटो न' इत्यादि वाक्यों से स्वरसतः अभिलाप सार्वजनीन है "यही भगवती भेदानुभूति नञ् असमभिव्याहारस्थल में प्रागुक्त तादात्म्यशक्तिग्राहक शास्त्र, युक्ति आदि के अभाव से असत्प्रतिपक्ष होने से प्रबल प्रतियोग्यभावान्वयतुल्ययोगक्षेमता नियम का सहायक उपलब्ध कराती हुई हजारों लाघवों को बाधित करती हुई विशेषण विभक्ति के अभेदार्थकत्व का अपाकरण करने में समर्थ होती है''[2] इस प्रकार अभेदसंसर्गतावाद का ही पक्ष गदाधर भी प्रमाणित करते हैं और स्वीकारते हैं । यहाँ पर मूल युक्ति यह है कि नञ् घटित '**घटो न नीलः**' आदि में घट में नील का भेद बोधित होता है ऐसा अनुभवगम्य है। विशेषणविभक्ति को अभेदार्थक (तादात्म्यार्थक) मानने पर भेदत्वेन भेद नहीं बोधित होगा अभेदाभावत्वेन बोधित होगा । क्योंकि प्रतियोगि व अभाव का अन्वय तुल्य योगक्षेम होता है। अभेद (तादात्म्य) को संसर्ग मानने पर तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक नीलाभाव (नीलभेद) ही प्रत्याय्यित होगा । इस प्रकार भेदत्वेन ही भेद की प्रतीति हो रही है। इसलिए अभेद की संसर्गता का पक्ष ही गदाधर प्रमाणित करते हैं। इस प्रकार अभेद का विशेषण विशेष्यवाचक पदों का समानविभक्तिकत्व होने पर संसर्गमर्यादा से ही भान स्वीकारना उचित है । इस प्रसङ्ग में जगदीश और गदाधर का ऐकमत्य है। ये और बात है जगदीश समास व विग्रह वाक्य की पर्यायता के अनुरोध से ऐसा स्वीकारते हैं और गदाधर अनुभव के आधार पर ऐसा स्वीकारते हैं।

अभेद का संसर्गमर्यादा से भान इससे अतिरिक्त वहाँ पर होता है जहाँ पर कि द्वितीयान्तपद और धातु पद का समभिव्याहार हो किन्तु द्वितीयान्तपदोपस्थाप्य अर्थ यदि क्रिया विशेषण हुआ तभी ऐसा होगा, जैसे-'**स्तोकं पचति**' आदि स्थलों में । क्रियाविशेषण का अभिप्राय सार्थकप्रत्ययान्त धातूपस्थाप्य अर्थ से है।

---

1. द्वितीयपक्षे वाक्यसमासयोः पर्यायता न घटते । वाक्ये नीलं घटमित्यादावभेदस्य पदार्थत्वेन प्रकारत्वात् न संसर्गत्वम् । नीलघटमित्यादो कर्मधारये लक्षणाया अस्वीकारेणऽभेदस्यापदार्थत्वेन संसर्गत्वात् । तर्कामृतम् पृ. 38

2. अत्र नस्सम्मतिरित्यनभिधाय न नो विद्वेष इत्युक्त्येदमवगम्यते यन्नञो भेदार्थकत्वमभियुक्तैरुक्तं यच्च प्रत्यक्षादिनां गृहीतस्य घटादौ पटादिभेदस्याभिलापत्वं घटः पटो नेत्यादीनां स्वरसतः सार्वजनीनम् .....नञसमभिव्याहारस्थले भगवती भेदानुभूतिः प्रागुक्ततादात्म्यशक्तिग्राहकशास्त्रयुक्त्याद्यभावेनासत्प्रतिपक्षतया प्रबलस्य प्रतियोग्यभावान्वयतुल्ययोगक्षेमतानियमस्य सहायकमासादयन्ती लाघवसहस्रमपि बाधमाना विशेषण-विभक्तेरभेदार्थकत्वमपाकर्तुमीष्टे गूढार्थतत्त्वालोक पृ. 89

इस प्रसङ्ग में विवेचन करते हुए गदाधर एक और व्युत्पत्ति बतलाते हैं —

**'प्रत्ययानां प्रकृत्यर्थान्वितस्वार्थबोधकत्वम्'**

प्रत्यय प्रकृत्यर्थ से अन्वित स्वार्थ के ही बोधक होते हैं । तो ऐसी स्थिति में **'स्तोकः पाकः'** इत्यादि स्थलों में पाकपदोत्तर विभक्ति के अर्थ का अन्वय पाक में नहीं किया जा सकता है क्योंकि पाक में पाकपद की शक्ति नहीं है बल्कि पच् धातु की शक्ति से ही पाक पद से पाक की उपस्थिति होती है। इस प्रकार पाक प्रकृत्यर्थ नहीं है। प्रकृत्यर्थारिक्त से अन्वित स्वार्थ का बोधक प्रत्यय नहीं हो सकता है। इस कारण घञन्त की शक्ति भी पाक आदि में माननी चाहिए।

अभेदान्वयबोध के प्रसङ्ग में एक और व्युत्पत्ति बतलाते हैं —

**'अभेदान्वयबोधश्च विरूपोपस्थितयोरेव'**

विरूपोपस्थित अर्थों का ही अभेदान्वयबोध होता है। एकरूप से उपस्थित अर्थों का अभेदान्वयबोध नहीं होता है। जैसे कि **'नीलो घटः'** यहाँ पर नील पदार्थ नीलरूपवत्त्वेन उपस्थित होता है और घट घटत्वेन, भिन्न रूपों से नील और घट की उपस्थिति होती है। फलतः नील और घट का अभेदान्वयबोध होता है **'घटो घटः'** इत्यादिस्थलों में घटत्वेन ही उद्देश्य और विधेय दोनों की उपस्थिति होती है इसलिए अभेदान्वयबोध नहीं होता है।

गदाधर इस व्युत्पत्ति के मूल में कौन सा कार्यकारणभाव है, इस विषय में विचार करते हुए बताते हैं कि आत्मनिष्ठ प्रत्यासत्ति से शाब्दबोध और उपस्थिति में कार्यकारणभाव मानने पर विषयों का तत्तद् विषयत्वेन कार्यतावच्छेदक कुक्षि में और कारणतावच्छेदक कुक्षि में प्रवेश करना पड़ेगा, अतः विषयनिष्ठप्रत्यासत्त्या कार्यकारणभाव मानना पड़ेगा । विषयनिष्ठप्रत्यासत्ति से कार्यकारणभाव स्वीकारने पर यह समस्या है कि **'नीलो घटः'** और **'घटो घटः'** इन दोनों ही स्थलों में एक जैसी सामग्री है, परन्तु **'नीलो घटः'** से बोध होता है **'घटो घटः'** से नहीं । यह क्यों ? किसी कारण के समवधान असमवधान से ही ऐसा होना चाहिए । इस पर गदाधर सिद्धान्तित करते हैं कि तद्धर्मावच्छिन्नाभेदसंसर्गावच्छिन्न-प्रकारतानिरूपितविशेष्यतावच्छेदकता सम्बन्ध से शाब्दबोध के प्रति तद्धर्मभेद की भी कारणता होती है। **'नीलो घटः'** यहाँ पर घटत्व में नीलत्वावच्छिन्न अभेदसंसर्गावच्छिन्नप्रकारता निरूपित विशेष्यतावच्छेदकता सम्बन्ध से नीलाभिन्नघटविषयक बोध होता है क्योंकि घटत्व में नीलत्वभेदरूप कारण है। **'घटो घटः'** में नहीं है, अतः वहाँ पर शाब्दबोध की आपत्ति नहीं है। यही कार्यकारणभाव उपर्युक्त व्युत्पत्ति के मूल में है।

**'पदार्थः पदार्थेनान्वेति न तु पदार्थैकदेशेन'**

पदार्थ पदार्थ के साथ अन्वित होता है, पदार्थैकदेश के साथ नहीं अन्वित होता है। पदार्थ का अभिप्राय स्वीयवृत्तिग्रह विशेष्य से है। पद की वृत्तिग्रह का विशेष्य जो अर्थ होता है उसी में पदार्थान्तर का अन्वय होता है। पदार्थैकदेश से स्वीयवृत्तिग्रह में विशेषणीभूत अर्थ अपेक्षित है। जैसे कि घट पद की शक्ति घटत्व विशिष्ट में है, वृत्तिग्रह विशेष्य होगा घट और इस कारण घट को पदार्थ कहा जायेगा । **'नित्यो घटः'** ऐसा प्रयोग इसी कारण नहीं किया जा सकता है क्योंकि ऐसा प्रयोग करने पर नित्य पदार्थ का अन्वय घट पदार्थ घट में अभेदेन अपेक्षित होगा और यह बाधित है क्योंकि घट अनित्य है। पदार्थैकदेश में

भी अन्वय व्युत्पन्न होने पर घटत्व में नित्यपदार्थ का अभेदेन अन्वय अबाधित होने से किया जा सकता था तथा ऐसे तात्पर्य से ऐसा प्रयोग भी होना सम्भव होता ।

इस व्युत्पत्ति का अनेकत्र अपवाद दृष्टिगोचर होता है। अनेक जगहों पर गदाधर पदार्थैकदेश में भी पदार्थ का अन्वयबोध स्वीकारते हैं । '**सम्पन्नो व्रीहिः**' में व्रीहिपदोत्तर एकवचनार्थ एकत्व का अन्वय व्रीहि में बाधित है क्योंकि अनेक व्रीहियों के सम्पन्न होने की दशा में उक्त प्रयोग हुआ करता है। गदाधर का मानना है कि यदि सार्थकत्व स्वीकार सम्भव हो तो निरर्थकत्व नहीं स्वीकारना चाहिए । इसलिए यहाँ पर एकवचनार्थ एकत्व का अन्वय व्रीहित्व जाति में करते हैं , तथा इस व्युत्पत्ति का सङ्कोच स्वीकारते हैं ।[1]

इसी प्रकार णिजर्थ विचार के अवसर पर भी गदाधर पदार्थैकदेश कृति में पाक आदि की तरह कृति का अन्वय व्युत्पत्ति वैचित्र्य से स्वीकारते हैं । यद्यपि यहाँ पर वस्तुतः कल्प से पदार्थैकदेश में अन्वय न स्वीकारने का पक्ष भी प्रस्तुत करते हैं ।[2]

इसी प्रकार घ्रा धातु के प्रयोग के स्थल में घ्रा धातु का अर्थ गन्धलौकिकप्रत्यक्ष मानते हैं और उससे समभिव्याहृत द्वितीया के अर्थ आधेयत्व का व्युत्पत्तिवैचित्र्य से गन्ध आदि रूप धात्वर्थैकदेश में अन्वय स्वीकारते हैं ।[3] इस प्रकार हम देखते हैं कि 'पदार्थ से अन्वय होता है पदार्थैकदेश से नहीं' इस व्युत्पत्ति सार्वत्रिक नहीं है। यद्यपि जहाँ तक सम्भव हो सके वहाँ तक इस व्युत्पत्ति का उल्लङ्घन नहीं स्वीकारा जाता है।

यहाँ पर एक अपवाद है–यदि पदार्थ का एक देश ससम्बन्धिक हो तो उसमें प्रतियोगिसम्बन्धान्वय व्युत्पत्तिसिद्ध होता है। इसी प्रकार वृत्ति के भी ससम्बन्धिक एकदेश में प्रतियोगिसम्बन्धान्वय व्युत्पत्तिसिद्ध होता है। यद्यपि सामान्यतया पदार्थैकदेश में पदार्थ के अनन्वय की तरह वृत्त्येकदेश में भी पदार्थ का अन्वय नहीं होता है।

**'भेदान्वयबोधश्च प्रातिपदिकार्थधात्वर्थयोः प्रत्ययार्थेन क्वचिन्निपातार्थेन सममेव जायते'**

'भेदान्वयबोध प्रातिपदिकार्थ और धात्वर्थ का प्रत्ययार्थ के साथ और कहीं पर निपातार्थ के साथ ही होता है'

भेदान्वयबोध का अभिप्राय अभेदातिरिक्त सम्बन्ध से अन्वयबोध से है । इस प्रकार यह व्युत्पत्ति अनेक अन्वयों का निषेध करती है। जैसे कि (1) प्रातिपदिकार्थ के साथ प्रातिपदिकार्थ का अभेदातिरिक्त सम्बन्ध से अन्वयबोध इस व्युत्पत्ति के अनुसार सम्भव नहीं है। (2) प्रातिपदिकार्थ के साथ धात्वर्थ का अभेदातिरिक्त सम्बन्ध से अन्वयबोध सम्भव नहीं है। प्रातिपदिकार्थ का या तो प्रत्ययार्थ के साथ या तो निपातार्थ के साथ ही अभेदातिरिक्त सम्बन्ध से अन्वयबोध हो सकता है। इसी प्रकार धात्वर्थ का भी या तो प्रत्ययार्थ के साथ या तो निपातार्थ के साथ ही अभेदातिरिक्त सम्बन्ध से अन्वय हो सकता है।

---

1. न च 'पदार्थः पदार्थेनान्वेति' इति व्युत्पत्तिविरोधः, सम्पन्नो व्रीहिः इत्यनेकव्रीहितात्पर्यकेप्येकवचनदर्शनेन तादृशव्युत्पत्तिसंकोचस्यावश्यकत्वात् । पृ. 31
2. पदार्थैकदेशे कृतौ पाकादेरिव कृतेरप्यन्वयो व्युत्पत्तिवैचित्र्यात् । वस्तुतः कर्तृत्वं व्यापारश्च पृथगेव णिजर्थः । पृ. 358
3. घ्राधातोर्हि गन्धलौकिकप्रत्यक्षत्वं शक्यतावच्छेदकम् .....तत्समभिव्याहृतद्वितीयायाश्चाधेयत्वमेवार्थस्तस्य च व्युत्पत्तिवैचित्र्यैण गन्धादिरूपधात्वर्थैकदेशेऽन्वयः । पृ. 371

प्रश्न उठता है कि इस व्युत्पत्ति का स्वीकार करने में युक्ति क्या है? किस आधार पर इस व्युत्पत्ति को स्वीकारा जाता है ? इस प्रश्न का समाधान गदाधर देते हैं कि **'राजा पुरुषः' 'भूतलं घटः'** इत्यादि स्थलों में क्रमशः राजपदार्थ व पुरुषपदार्थ की तथा भूतलपदार्थ व घट पदार्थ की उपस्थिति भी है और राजपदार्थ का पुरुष में स्वत्व सम्बन्ध से अन्वय की योग्यता है, भूतल का आधेयता सम्बन्ध से घट में अन्वय की योग्यता है। इस प्रकार यहाँ पर क्रमशः राजप्रकारक स्वत्वसंसर्गक पुरुषविशेष्यक अन्वयबोध के कारण मौज़ूद हैं, इसी प्रकार भूतलप्रकारक आधेयतासंसर्गक घटविशेष्यक अन्वयबोध के कारण मौज़ूद हैं । परन्तु उपर्युक्त प्रयोगों से ऐसे शाब्दबोध का होना अनुभव में नहीं आता । इस कारण यही मानना होगा कि प्रतिपदिकार्थ का प्रातिपदिकार्थ के साथ अभेदातिरिक्त सम्बन्ध से अन्वयबोध व्युत्पत्तिविरुद्ध है।

इसी प्रकार **'तण्डुलः पचति' 'चैत्रः पच्यते'** इत्यादि स्थलों में तण्डुल का स्वकर्मकत्व सम्बन्ध से पाक में अन्वय की योग्यता और आवश्यक पदार्थोपस्थिति है, चैत्र का स्वकर्तृकत्व सम्बन्ध से पाक में अन्वय की योग्यता और आवश्यक पदार्थोपस्थिति है, चैत्र का स्वकर्तृकत्व सम्बन्ध से पाक में अन्वय की योग्यता और आवश्यक पदार्थोपस्थिति होने पर भी इन सम्बन्धों से तण्डुल और चैत्र का अन्वय होकर शाब्दबोध नहीं होता है। इसके विपरीत भी तण्डुल, चैत्र आदि में पाक का कर्मत्व, कर्तृत्व आदि सम्बन्धों से अन्वय होकर शाब्दबोध नहीं होता है। इस कारण यही मानना उचित है कि प्रातिपदिकार्थ का धात्वर्थ के साथ अभेदातिरिक्त सम्बन्ध से अन्वयबोध व्युत्पत्तिविरुद्ध है।

चूँकि **'भूतले न घटः'** इत्यादि स्थलों में घटादि का नञर्थ अभाव के साथ अनुयोगितासम्बन्ध[1] से अन्वय होकर शाब्दबोध होता है, यह अनुभवगम्य है । इसलिए निपातातिरिक्त प्रातिपदिकार्थ के साथ ही प्रातिपदिकार्थ का अभेदातिरिक्त सम्बन्ध से अन्वयबोध व्युत्पत्तिविरुद्ध माना जाता है।

इस स्थल पर गदाधर प्रश्न उठाते हैं कि **'राजा पुरुषः'** इत्यादि स्थलों पर पदार्थोपस्थिति आदि कारणों के रहने पर भी क्यों भेदान्वयबोध नहीं होता है? सामग्री के द्वारा यदि कार्य उत्पन्न होने की स्थिति है तो उस कार्योत्पत्ति से उपर्युक्त व्युत्पत्ति को भङ्ग होने से कोई नहीं रोक सकता है। कारण सामग्री है तो कार्य तो अवश्य उत्पन्न होता है ?

इस प्रश्न का उत्तर यही दिया जा सकता है कि **'राजा पुरुषः'** इत्यादि स्थलों में राजप्रकारक अभेदसंसर्गक पुरुषविशेष्यक शाब्दबोध की ही प्रसिद्धि है, राजप्रकारक स्वत्वादि संसर्गक पुरुषविशेष्यक शाब्दबोध की प्रसिद्धि कहीं नहीं है। जैसे कार्य की जैसे कारण के द्वारा प्रसिद्धि होती है वैसे कार्य की ही वैसे कारण सामग्री के बल से आपत्ति दी जा सकती है। इस कारण ऐसा प्रयोग होने पर स्वत्वादिसंसर्गक शाब्दबोध की आपत्ति नहीं दी जा सकती है क्योंकि ऐसे शाब्दबोध की सामग्री ही नहीं है।

**'राजपुरुषः'** इस स्थल में गदाधर राजशब्द को राजसम्बन्धी में लाक्षणिक मानते

---

1. अभाव अपने प्रतियोगी का अनुयोगी होता है जैसे घटाभाव लें तो घट में अभाव की प्रतियोगिता रहेगी और अभाव में घट की अनुयोगिता । इस कारण घट का अनुयोगिता सम्बन्ध से अभाव में अन्वय हो सकता है।

हैं और राजसम्बन्धिप्रकारक अभेदसंसर्गक पुरुषविशेष्यक शाब्दबोध स्वीकारते हैं । इस प्रकार यहाँ पर भी प्रातिपदिकार्थ का प्रातिपदिकार्थ के साथ अभेदातिरिक्त सम्बन्ध से (भेद सम्बन्ध से ) अन्वयबोध नहीं होता है।

**'राज्ञः पुरुषः'** इत्यादि स्थलों में गदाधर राजपदोत्तर ङस् विभक्ति को स्वत्वार्थक मानते हैं, इस प्रकार स्वत्व का आकाङ्क्षाभास्य आश्रयत्व सम्बन्ध से पुरुष में अन्वय करके शाब्दबोध स्वीकारते हैं । **'राज्ञः पुरुषः'** इत्यादि स्थलों में जैसा बोध होता है **'राजपुरुषः'** से वैसा बोध नहीं होता है। दोनों से अलग-अलग रीति से बोध होता है।

**भेदसम्बन्धप्रकारतावादसंसर्गतावाद**

इस व्युत्पत्ति को स्वीकारना तभी सम्भव है यदि हम प्रत्ययों के भी अर्थ होते हैं ऐसा स्वीकार करें । प्रत्ययों का यदि कोई अर्थ नहीं होता है तो प्रातिपदिकार्थ का प्रातिपदिकार्थ के साथ और प्रातिपदिकार्थ का धात्वर्थ के साथ भेदान्वय स्वीकारने के सिवा दूसरा कोई मार्ग नहीं हो सकता है। समास स्थलों में तो पूर्वपद की लक्षणा स्वीकार लेते हैं और इस प्रकार अभेदान्वयबोध का व्युत्पादन करते हैं, तो यह भी कितना प्रामाणिक है? यह विचारणीय है। प्रत्ययों का भी अर्थ होता है या नहीं ? इस पर गदाधर लम्बा विचार करते हैं । प्रत्ययों का यदि अर्थ न हो तो भेदसम्बन्धों की संसर्गता का ही सिद्धान्त सामने आता है।

**'राज्ञः पुरुषः'** यहाँ पर दोनों के अनुसार किस प्रकार सम्बन्धों व पदार्थों की उपस्थिति होती है? यह इस प्रकार देखा जा सकता है—

प्रकारतावाद —

राज्ञः पुरुषः = राज+ ङस्, पुरुष + सु

राज = राजा

ङस् = स्वत्व

पुरुष = पुरुष

सु = एकत्व

इस प्रकार ये अर्थ पदों से उपस्थित होते हैं । इनका अन्वय होकर शाब्दबोध इस रीति से होता है —

राज → स्वत्व → पुरुष

राज और स्वत्व के बीच में निरूपितत्व सम्बन्ध आकाङ्क्षा से भास्य होता है। स्वत्व का पुरुष के बीच में आश्रयत्व सम्बन्ध आकाङ्क्षाभास्य होता है। इस प्रकार इस मत में प्रातिपदिकार्थ राज पदार्थ का दूसरे प्रातिपदिकार्थ के साथ साक्षात् भेदान्वयबोध नहीं होता है। बल्कि राजपदार्थ का ङस् प्रत्यय के अर्थ स्वत्व के साथ भेदसम्बन्ध निरूपितत्व से अन्वयबोध होता है और स्वत्व का भेदसम्बन्ध आश्रयत्व सम्बन्ध से पुरुष में अन्वयबोध होता है। इस प्रकार उपर्युक्त व्युत्पत्ति इस मत में समञ्जस है । किन्तु प्रत्यय का अर्थ अगर कुछ नहीं होता हो तो इस व्युत्पत्ति को स्वीकारना सम्भव नहीं होगा ।

संसर्गतावाद —

राज = राजा

ङस् = ×× (क्योंकि विभक्तियों का संख्यातिरिक्त कोई अर्थ नहीं होता है)
पुरुष = पुरुष
सु = एकत्व

इस प्रकार जो अर्थ उपस्थित हो रहे हैं उनका इस प्रकार से ही अन्वय होकर बोध हो सकता है — राज → पुरुष

राज पदार्थ का पुरुष में किस सम्बन्ध से अन्वय करें ? बोधानुभव के अनुसार स्वत्वसम्बन्ध से कर सकते हैं, यदि ऐसा स्वीकार लें तो समस्या यह है कि उपर्युक्त व्युत्पत्ति खण्डित हो जायेगी । लेकिन केवल इस कारण आप इस व्युत्पत्ति का स्वीकार नहीं कर सकते हैं । यह कहा जा सकता है कि जैसे **'नीलो घटः'** इत्यादि स्थलों में विशेषणवाचकपदसमभिव्याहृत विभक्ति का साधुत्वमात्रार्थकत्व है उसी प्रकार सभी विभक्तियाँ साधुत्वमात्रार्थक ही होती हैं[1]।

समास स्थल में देखा जाये —

**'राजपुरुषः'** यहाँ पर पदार्थोपस्थिति राज और पुरुष की ही होती है इन दोनों के बीच में कौन सा सम्बन्ध भासेगा ? संसर्गतावादी समाधान देता है कि राजपदार्थ का पुरुषपदार्थ में स्वत्व सम्बन्ध भासेगा । प्रकारतावादी का कहना है कि दो प्रातिपदिकार्थों का भेद सम्बन्ध से अन्वयबोध व्युत्पत्तिविरुद्ध है और अभेदसम्बन्ध से अन्वय तात्पर्यविरुद्ध होने से हो नहीं सकता है। इस कारण राजपद को राजसम्बन्धी में लाक्षणिक मानते हैं, लक्षणा के द्वारा राज पद से राजसम्बन्धी उपस्थित होता है और राजसम्बन्धी का पुरुष के साथ अभेदान्वयबोध ही होता है।

यहाँ पर गङ्गेशोपाध्याय राजपद की राजसम्बन्ध में लक्षणा स्वीकारते हैं और राजसम्बन्ध का पुरुष में आश्रयत्व सम्बन्ध से अन्वय स्वीकारते हैं । इस प्रकार भी उपर्युक्त व्युत्पत्ति से विरोध होता है क्योंकि दो नामार्थों का भेदसम्बन्ध आश्रयत्व सम्बन्ध से अन्वय होकर बोध हो रहा है।

इस प्रकार यहाँ पर तीन मत उपस्थित होते हैं —

(1) **'राज्ञः पुरुषः'** यहाँ पर राजस्वत्वप्रकारक आश्रयत्वसंसर्गक पुरुषविशेष्यक शाब्दबोध होता है । **'राजपुरुषः'** यहाँ पर राजसम्बन्धिप्रकारक अभेदसंसर्गक पुरुषविशेष्यक शाब्दबोध होता है। यह निर्विवाद रूप से गदाधर का अपना मत है।

(2) **'राज्ञः पुरुषः'** यहाँ पर राजप्रकारक स्वत्वसंसर्गक पुरुषविशेष्यक शाब्दबोध होता है और **'राजपुरुषः'** यहाँ पर भी राजप्रकारक स्वत्वसंसर्गक पुरुषविशेष्यक शाब्दबोध ही होता है। यह मत जगदीश का है, ऐसा उद्धृत किया जाता है।

(3) **'राज्ञः पुरुषः'** यहाँ पर राजस्वत्वप्रकारक आश्रयत्वसंसर्गक पुरुषविशेष्यक शाब्दबोध होता है और **'राजपुरुषः'** में भी राजस्वत्वप्रकारक आश्रयत्वसंसर्गक पुरुषविशेष्यक शाब्दबोध ही होता है। यह मत गङ्गेशोपाध्याय का है।

इन तीनों में से प्रथम मत में ही उपर्युक्त व्युत्पत्ति का स्वीकार किया जा सकता है। दूसरे और तीसरे पक्ष में उक्त व्युत्पत्ति का स्वीकार असम्भव है क्योंकि द्वितीय पक्ष में भी

---

1. विभक्तीनां सम्बन्धादिवाचकत्वमपि निर्युक्तिकम् 'नीलो घटः इत्यादौ विशेषणवाचकपदसमभिव्याहृतविभक्तेरिव सर्वविभक्तीनां साधुत्वमात्रार्थकत्वस्यैवोचितत्वात् । पृ. 150

दो प्रातिपदिकार्थों का अभेदातिरिक्त सम्बन्ध से –राजपदार्थ और पुरुषपदार्थ का स्वत्व सम्बन्ध से अन्वयबोध स्वीकारा जा रहा है और तृतीयपक्ष में भी दो प्रातिपदिकार्थों का अभेदातिरिक्त सम्बन्ध से —राजसम्बन्ध और पुरुष का आश्रयत्वसम्बन्ध से अन्वयबोध हो रहा है।

प्रश्न यह है कि क्या गदाधर को द्वितीय, तृतीय मतों में कोई दोष दिखायी दे रहा है, जो उन्होंने अपना अलग मत व्यवस्थापित किया है । गदाधर और रघुनाथ दोनों का ही यही मत है। इसी प्रकार 'जगदीश का मत' कहकर जिसे उद्धृत किया जाता है, क्या वाकई जगदीश ने ऐसा सिद्धान्तित किया है और अगर किया है तो उनकी युक्ति क्या है?

सबसे पहले गङ्गेशोपाध्याय के मत को लेते हैं । इस मत में विभक्तियों की निरर्थकता नहीं है। विभक्तियाँ सार्थक हैं । किन्तु प्रश्न है कि समास स्थल में उपर्युक्त बोध कैसे व्यवस्थापित किया जा सकेगा ? इस विषय में गङ्गेश का कहना है कि 'समास और विग्रह वाक्यों की पर्यायता होती है, इस कारण ऐसा शाब्दबोध स्वीकारना चाहिए ।

वस्तुतः संसर्गमर्यादा से सम्बन्ध का भान होता है, तो कैसे सम्बन्ध का भान संसर्गमर्यादा से होगा ? इस विषय में यही कहा जा सकता है कि यथोचित सम्बन्ध का भान आकाङ्क्षा से हुआ करता है। **'राजपुरुषः'** यहाँ पर राज और पुरुष पदों से क्रमशः राजपदार्थ और पुरुषपदार्थ की उपस्थिति होती है। इन दोनों का यथोचितसम्बन्ध स्वत्वसम्बन्ध हो सकता है, इस प्रकार उस स्वत्वसम्बन्ध को आकाङ्क्षाभास्य होना चाहिए किन्तु इसमें मुश्किल यह है कि समास और विग्रहवाक्यों की तुल्यतार्थता का नियम खण्डित हो जायेगा। **'राजपुरुषः'** इस समास का विग्रह किया जाता है **'राज्ञः पुरुषः राजपुरुषः'** विग्रहवाक्य के द्वारा राजपद से राजपदार्थ, राजपदोत्तर ङस् से स्वत्व और पुरुषपद से पुरुषपदार्थ उपस्थित होता है । इस कारण यहाँ पर राजस्वत्वप्रकारक आश्रयत्वसंसर्गक पुरुषविशेष्यक शाब्दबोध स्वीकारा जाता है। समस्तवाक्य से राजपद से राजपदार्थ और पुरुषपद से पुरुषपदार्थ की उपस्थिति होती है, इस प्रकार राजप्रकारक स्वत्वसंसर्गक पुरुषविशेष्यक शाब्दबोध होता है। तो इस प्रकार समास और विग्रहवाक्यों की पर्यायता का नियम खण्डित हो जाता है। इस कारण गङ्गेश सिद्धान्तित करते हैं कि समास और विग्रहवाक्यों की पर्यायता के अनुरोध से यहाँ पर भी राजस्वत्वप्रकारक आश्रयत्वसंसर्गक पुरुषविशेष्यक शाब्दबोध स्वीकारना चाहिए[1] । इस रीति से गङ्गेश अपने मत को व्यवस्थापित करते हैं।

समास और विग्रहवाक्यों की तुल्यार्थकता के मूल में है पाणिनि का सूत्र **'विभाषा' पा॰ सू॰ 2/1/11**, इसी के आधार पर गङ्गेशोपाध्याय समास और विग्रहवाक्यों की तुल्यार्थकता को स्वीकार कर लेते हैं ।

प्रश्न अब यहाँ पर यह है कि **'राजपुरुषः'** इस समासस्थल में राजस्वत्वप्रकारक, आश्रयत्वसंसर्गक, पुरुषविशेष्यक अन्वयबोध किस प्रकार उपपादित किया जा सकता है? क्या जैसे **'दधि सुन्दरम्'** आदि में दधिपदोत्तर लुप्तविभक्ति का अनुसन्धान करके शाब्दबोध स्वीकारा जाता है, उसी प्रकार यहाँ पर भी राजपदोत्तर लुप्तषष्ठी विभक्ति का

---

1. 'राजपुरुषः' इत्यादिकस्तु तत्पुरुषो न पुरुषे पूर्वपदलक्षितराजसम्बन्धितस्तादात्म्येनान्वयबोधकः समासविग्रहयोस्तुल्यार्थकत्वहान्यापत्तेः, परन्तु राजसम्बन्धस्यैव, अत एव 'राजपुरुष' इत्याजौ पूर्वपदे षष्ठ्यर्थसम्बन्धलक्षणेति मणिकृदुक्तमपि सङ्गच्छते । पृ. 204 शब्दशक्तिप्रकाशिका

अनुसन्धान करके ऐसा अन्वयबोध उपपादित किया जायेगा ? यदि हाँ उत्तर दें तो **'ऋद्धस्य राजमातङ्गाः'** प्रयोग होने की आपत्ति आयेगी क्योंकि इस वाक्य से बोध्य है ऋद्धपदार्थ और राजपदार्थ का अभेद, उसके लिए समान विभक्तिकत्व आवश्यक है। जैसे **'दधि सुन्दरम् पश्य'** में दधि पदोत्तर लुप्तविभक्ति का अनुसन्धान करके सुन्दरपदार्थ और दधिपदार्थ का अभेदान्वयबोध सम्भव होता है। उसी प्रकार यहाँ पर भी सम्भव हो सकेग। जबकि **'ऋद्धस्य राजमातंगाः'** प्रयोग की प्रामणिकता कोई भी नहीं स्वीकार करता है। दूसरी बात यह है कि जो व्यक्ति उस लोप को नहीं जानता है उसे भी **'राजपुरुषः'** से राजस्वत्ववान् पुरुष का बोध हुआ करता है। इस कारण लुप्तविभक्ति के अनुसन्धान से तो बोध स्वीकारना असम्भव है।

इसलिए इस प्रश्न का उत्तर गङ्गेशोपाध्याय यह देते हैं कि यहाँ पर राजपद की राजसम्बन्ध में (राजस्वत्व में) निरूढलक्षणा है[1], इस प्रकार राजस्वत्व राजपदार्थ ही हो जाता है, उसका पुरुषपदार्थ में आश्रयत्व सम्बन्ध से अन्वय होगा । इस प्रकार इस मत में नामार्थों का भेदसम्बन्ध से भी अन्वय व्युत्पत्तिसिद्ध है। किन्तु नामार्थों का भेदसम्बन्ध से अन्वयबोध तत्पुरुषसमासस्थल में ही हो सकता है। अन्यत्र तो अभेदसम्बन्ध से ही अन्वयबोध व्युत्पत्तिसिद्ध है।

अब यहाँ पर द्वितीय पक्ष अवतरित होता है कि यदि आप भेद सम्बन्ध से भी प्रातिपदिकार्थों का अन्वयबोध स्वीक़ारते हैं तो **'राजपुरुषः'** इत्यादि स्थलों में राजपदार्थ का पुरुषपदार्थ में सीधे-सीधे ही अन्वय स्वत्व सम्बन्ध से क्यों नहीं स्वीकार लेते हैं ? समास और विग्रहवाक्यों की पर्यायता तो इस तरह भी प्रतिपादित की जा सकती है कि जैसा शाब्दबोध समासस्थल में स्वीकारा जाता है वैसा ही शाब्दबोध व्यास स्थल में भी स्वीकार कर लिया जाये[2]। समासस्थल में राजप्रकारक स्वत्वसंसर्गक पुरुषविशेष्यक शाब्दबोध स्वीकारा जाता है, व्यासस्थल में भी ऐसा शाब्दबोध स्वीकार कर लिया जाये । किन्तु समास और व्यासस्थलों में एक जैसा राजप्रकारक स्वत्वसंसर्गक पुरुषविशेष्यक शाब्दबोध तभी स्वीकारा जा सकता है यदि स्वत्व की उपस्थिति किसी पद से नहीं हो । परन्तु यहाँ पर तो स्वत्व की उपस्थिति ङस् प्रत्यय के द्वारा होती है। इस पर समाधान यही दे सकते हैं कि ङस् पद की शक्ति स्वत्व में नहीं है क्योंकि विभक्तियों का सार्थकत्व उस तरह का नहीं होता है जैसा कि सार्थकत्व प्रातिपदिकों का हुआ करता है। विभक्तियाँ तत्तद् अर्थों की द्योतिका होती हैं।[3]

इस पक्ष को जगदीश की मान्यता प्राप्त है ऐसा माना जाता है। व्युत्पत्तिवाद की

---

1. राजपुरुष इत्यादौ पूर्वपदस्य षष्ठ्यर्थसम्बन्धे निरूढलक्षणयैव राजसम्बन्धिपुरुषबुद्ध्युपपत्तेर्न समासे शक्तिः । तत्त्वचिन्तामणि भाग 4 पृ. 753

2. मास्तु वा ग्रामादिपदस्य तत्कर्मत्वादौ लक्षणा, कर्मत्वादिसंसर्गेणैव ग्रामादावन्वयसम्भवात्तथापि न क्षतिः 'ग्रामं गतः' इत्यादिविग्रहस्यापि कर्मत्वार्थकद्वितीयाद्यनुसन्धानवशादेव कर्मत्वादिसंसर्गेण गत्यादौ ग्रामाद्यन्वयबोधकतया समाससमानार्थकत्वसम्भवात् । पृ. 231 शब्दशक्तिप्रकाशिका

3. द्रष्टव्य =डॉ॰ किशोरनाथ झा का लेख 'धर्मदत्त झा' –व्यक्तित्वं वैदष्यञ्च प्रकाशित 'न्यायशास्त्रानुशीलनम्' में पृ. 110

गूढार्थतत्त्वालोक व्याख्या में महामहोपाध्याय बच्चा झा जी इस पक्ष को जगदीश की मान्यता प्राप्त है ऐसा बतलाते हैं[1]। यद्यपि हमें ऐसा नहीं प्रतीत होता है कि जगदीश द्वारा इस पक्ष को मान्यता प्रदान की गयी है । वस्तुतः जगदीश ने 'शब्दशक्तिप्रकाशिका' में इस पक्ष में कुछ युक्तियाँ प्रदर्शित की हैं, जिससे कि यह भ्रम होता है कि जगदीश ने इस मत को मान्यता प्रदान की है।

जगदीश ने इस पक्ष में कुछ युक्तियाँ और उपस्थापित की हैं । जगदीश गङ्गेशोपाध्याय के पक्ष में

**'दशैते राजमातङ्गाः तस्यैवामी तुरङ्गमाः ।**
**चैत्रो ग्रामगतस्तत्र मैत्रः किं कुरुतेऽधुना ॥'**

इत्यादि स्थलों में तत् पद से राजा ग्राम आदि के परामर्श की अनुपपत्ति प्रदर्शित करते हैं । कहना है कि तद् आदि पद विशेष्यविधया वृत्ति से पूर्वोपस्थापित अर्थ के ही परामर्शक होते हैं ।[2] इसी कारण **'प्रजावतीयं मे त्वं तस्मै देहि कम्बलम्** ' इत्यादिस्थलों में तद् आदि पदों के द्वारा पदार्थैकदेश भ्रातृ आदि का परामर्श नहीं होता है। प्रजावती पद का अर्थ यहाँ पर भ्रातृपत्नी होता है उसका एकदेश भ्राता है किन्तु उसका तद् आदि पदों से परामर्श नहीं होता है। यदि इसी प्रकार से आप **'राजमातङ्ग'** आदि पदों में राजपद की लक्षणा राजसम्बन्ध में करेंगे तो मुश्किल यह होगी कि उपर्युक्त श्लोकों में तद् आदि पदों से राजपदार्थ राजसम्बन्ध के एकदेश राज का परामर्श न हो सकेगा । इसी प्रकार की आपत्ति गदाधर के मत में भी आयेगी क्योंकि गदाधर के मत में राजपदार्थ राजसम्बन्धी होगा उसका एकदेश होगा राज । इस प्रकार वृत्ति के द्वारा विशेष्यविधया पूर्वोपस्थापित अर्थ का ही परामर्शक तत् पद होने के कारण राज का तत् पद से परामर्श सम्भव नहीं हो सकेगा। इस स्थल में मज़ेदार तथ्य यह है कि गदाधर उपर्युक्त पद्यों में तद् आदि पदों से राजा, ग्राम आदि के परामर्श न हो जाने की आपत्ति की कोई चर्चा भी नहीं करते हैं ।

जगदीश गदाधर प्रतिपादित राजपद के राजसम्बन्धिलाक्षाणिकत्व पक्ष में एक अन्य दोष भी उद्भावित करते हैं कि 'तत्पुरुष के भी समस्यमान पदों के अर्थों के अभेद का अन्वयबोध करने पर उसके कर्मधारयत्व की आपत्ति आयेगी,[3] अर्थात् तत्पुरुष समास भी कर्मधारय समास ही हो जायेगा ।

समासव्यास दोनों ही स्थलों में स्वत्व का संसर्गमर्यादा से भान यदि हम स्वीकारते हैं तो **'राज्ञः पुरुषः'** यहाँ पर राजोपस्थिति और पुरुषोपस्थिति होगी, **'राजपुरुषः'** यहाँ पर

---

1. इदञ्च विभक्त्यर्थसंसर्गतावादिनां नव्यानां मतं तदेव चानुमोदितं शब्दशक्तिप्रकाशिकायां कौस्तुभे च।
गूढार्थतत्त्वालोक व्युत्पत्तिवाद पृ. 74

2. न चेदेवं – 'दशैते राजमातङ्गाः तस्यैवामी तुरङ्गमाः ।
चैत्रो ग्रामगतस्तत्र मैत्रः किं कुरुतेऽधुना ।।'

इत्यादौ राजसम्बन्धादे राजादिपदलक्षकत्वे तदेकदेशस्य राजादेस्तदा परामर्शो न स्यात् विशेष्यविधया वृत्त्या पूर्वोपस्थापितस्यैवार्थस्य परामर्शकत्वात् तदादिशब्दानाम् ।
पृ. 233-234 शब्दशक्तिप्रकाशिका

3. तत्पुरुषस्यापि समस्यमानपदार्थयोरभेदान्वयबोधकत्वे कर्मधारयत्वापत्तेः 'ग्रामं गतः' 'राज्ञः पुरुष' इत्यादिविग्रहस्य समासतुल्यार्थकत्वहान्यापत्तेश्च ।
पृ. 230 शब्दशक्तिप्रकाशिका

भी राजोपस्थिति और पुरुषोपस्थिति होगी । तथा इन दोनों ही स्थलों में राजा और पुरुष के बीच का स्वत्व सम्बन्ध संसर्गमर्यादा से भासेगा । **'राजा पुरुषः'** यहाँ पर भी राजोपस्थिति और पुरुषोपस्थिति ही है। यहाँ पर भी राजपदार्थ का पुरुषपदार्थ के साथ स्वत्व सम्बन्ध से ही अन्वयबोध क्यों नहीं होता है? यह प्रश्न उठाया जा सकता है। यदि शेष समस्त कारण विद्यमान हों तो **'राजपुरुषः'** से राजप्रकारक स्वत्वसंसर्गक पुरुषविशेष्यक शाब्दबोध की तरह **'राजा पुरुषः'** से भी राजप्रकारक स्वत्वसंसर्गक पुरुषविशेष्यक शाब्दबोध की आपत्ति आयेगी । तो ऐसी आपत्ति का निवारण तो इस प्रकार से किया जा सकता है कि राजप्रकारक स्वत्वसंसर्गक पुरुषविशेष्यक शाब्दबोध के प्रति राजपदाव्यवहितोत्तरपुरुषपदत्व रूप आनुपूर्वीविशेषज्ञान की कारणता होती है। **'राजा पुरुषः'** में राजपदाव्यवहितोत्तरपुरुषपदत्व रूप आनुपूर्वी विशेषज्ञान सम्भव नहीं है क्योंकि राजपद और पुरुषपद के बीच में विभक्ति का व्यवधान है। इसी प्रकार राजप्रकारक स्वत्वसंसर्गक पुरुषविशेष्यक अन्वयबोध के प्रति षष्ठ्यन्तराजपदत्वावच्छिन्नधर्मिकपुरुषपदसमभिव्याहाररूप आकाङ्क्षाज्ञान से घटित सामग्री कारण होती है। **'राज्ञः पुरुषः'** में ऐसी सामग्री है, **'राजा पुरुषः'** में नहीं है। इस प्रकार **'राजा पुरुषः'** इत्यादि स्थलों में राजप्रकारक स्वत्वसंसर्गक पुरुषविशेष्यक शाब्दबोध की आपत्ति तो नहीं दी जा सकती है।

यहाँ पर गदाधर अपने मत की पुष्टि के लिए मूल रूप से जो युक्ति देते हैं वह प्रतियोगि और अभाव के अन्वय के तुल्ययोगक्षेम होने और वृत्त्यनियामक सम्बन्ध के अभावप्रतियोगितानवच्छेदक होने पर आधारित है। प्रतियोगि और अभाव के अन्वय के तुल्य योगक्षेम होने का आशय यह है कि नञ् पद के न रहने पर जिस धर्मी में जिसका जिस सम्बन्ध से विशेषणतया भान होता है, वहाँ पर नञ् का प्रयोग होने पर उसी धर्मी में उस सम्बन्ध से अवच्छिन्नप्रतियोगिताक उसी विशेषण का अभाव प्रतीत होता है तथा यह सभी जनों के अनुभव से सिद्ध है। यहाँ पर गदाधर का कहना है कि **'राज्ञः पुरुषः'** यहाँ पर षष्ठी आदि को स्वत्व आदि का वाचक मानना आवश्यक होगा क्योंकि यदि षष्ठी को स्वत्व का वाचक नहीं मानें तो **'राज्ञो न पुरुषः'** इस नञ् घटित वाक्य से पुरुष में राजस्वत्वाभाव का प्रत्यायन नहीं किया जा सकता है। यदि कहा जाये कि वहाँ पर स्वत्वसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक राजाभाव की ही प्रतीति पुरुष में होती है तो स्वत्वसम्बन्ध के अभावीय प्रतियोगिता का अवच्छेदक नहीं होने के कारण स्वत्वसम्बन्धावच्छिन्न प्रतियोगिताक अभाव की प्रसिद्धि न होने से ऐसा स्वीकारना असम्भव है।[1]

**'प्रतियोग्यभावान्वयौ तुल्ययोगक्षेमौ'** इस नियम को देखा जाये तो **'राज्ञः पुरुषः'** से चूँकि राजपदार्थ का पुरुष पदार्थ के साथ स्वत्व सम्बन्ध से अन्वय होता है तो नञ् घटित **'पुरुषो न राज्ञः'** से पुरुष पदार्थ के साथ स्वत्वसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक राजाभाव ही बोधित होना चाहिए । यह नियम निरपवाद रूप में प्रसिद्ध है। इस नियम पर प्रश्नवाचक चिह्न लगानेवाली कोई युक्ति नहीं है क्योंकि नञ् घटित स्थल में अभाव वाचक

---

1. मैवम् —'राज्ञः पुरुषः' इत्यादौ षष्ठ्यादेः स्वत्वादिवाचकत्वमावश्यकम् , अन्यथा –'पुरुषो न राज्ञः' इत्यादौ पुरुषे राजस्वत्वाद्यभावबोधानुपपत्तेः । न हि तत्र स्वत्वादिसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकराजाद्यभाव एव प्रतीयते न तु राजस्वत्वाद्यभाव इति सम्भवति –स्वत्वादिसम्बन्धस्य वृत्त्यनियामकतया प्रतियोगितानवच्छेदकत्वेन तत्सम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावाप्रसिद्धेः । पृ. 158

नञ् के अलावा कोई और नहीं है जिससे कि अभावातिरिक्त भी कोई अतिरिक्त रूप से भासित हो ।

**वृत्त्यनियामक सम्बन्ध का अभावप्रतियोगितानवच्छेदकत्व**

वृत्त्यनियामकसम्बन्ध के अभावीयप्रतियोगितावच्छेदक होने और न होने में विवाद की गुञ्जाइश है। यद्यपि वृत्त्यनियामक सम्बन्ध को गदाधर अभावीयप्रतियोगितावच्छेदक होने पर भी षष्ठी आदि का स्वत्वार्थकत्व व्यवस्थापित करते हैं । द्वितीयाकारक में गदाधर जिस तरह से वृत्त्यनियामक सम्बन्ध की अभावप्रतियोगितावच्छेदकता के पक्ष में खड़े होते हैं और आक्रामक रूप से प्रश्न करते हैं कि—'**वृत्त्यनियामकसम्बन्धस्याभावप्रतियोगितावच्छेदकत्वे दोषः कः ?**' उससे तो यही लगता है कि गदाधर वृत्तिनियामक सम्बन्ध की अभाव प्रतियोगितावच्छेदकता की तरह वृत्त्यनियामकसम्बन्ध की अभाव प्रतियोगितावच्छेदकता भी स्वीकारते हैं । परन्तु वस्तुतः तो गदाधर वृत्त्यनियामक सम्बन्ध की अभावप्रतियोगितानवच्छेदकता के पक्ष में ही है। गदाधर ने 'व्युत्पत्तिवाद' में वृत्त्यनियामक सम्बन्ध को अभावप्रतियोगिता का अनवच्छेदक मानने में युक्ति भी प्रदर्शित की है। विद्वानों को गदाधर की इस युक्ति पर विचार करते हुए ही वृत्त्यनियामक सम्बन्ध की प्रतियोगितावच्छेदकता और अनवच्छेदकता पर अपना पक्ष निर्धारित करना चाहिए ।

गदाधर की युक्ति है कि '**भूतले न घटः**' ऐसा प्रयोग दो अभिप्रायों से किया जाता है, घट में भूतलवृत्तित्वाभाव को बोधित करने के लिए भी ऐसा प्रयोग होता है और घटाभाव में भूतलवृत्तित्व को बोधित करने के लिए भी ऐसा प्रयोग होता है। इनमें से जैसा तात्पर्य वक्ता का हो तदनुसार '**भूतलवृत्तिर्घटाभावः**' अथवा '**घटो भूतलवृत्तित्वाभाववान्**' ऐसा शाब्दबोध श्रोता को हुआ करता है। इन दोनों तरह का शाब्दबोध '**भूतले न घटः**' से होना आवश्यक और अनुभवसिद्ध है।[1]

वृत्त्यनियामकसम्बन्ध यदि अभावीयप्रतियोगिता का अवच्छेदक होता तो '**ज्ञाने न घटः**' इत्यादिवाक्यजन्यप्रत्यय में ज्ञानाधिकरणक आधेयत्वसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकघटाभाव का भी अवगाहन सम्भव होने के कारण '**घटे ज्ञानं न वा** ' इत्यादि संशय का निवारण करने के लिए '**ज्ञाने न घटः**' ऐसा प्रयोग भी किया जाता[2]।

इस युक्ति के मूल में यह निहित है कि भूतलवृत्तित्व को घटाभाव में बोधित करने के लिए भी '**भूतले न घटः**' प्रयोग होता है और घट में भूतलवृत्तित्वाभाव बोधित करने के लिए भी यह प्रयोग होता है। किन्तु घटाभाव में भूतलवृत्तित्व या घट में भूतलवृत्तित्वाभाव तभी आप बोधित कर सकते हैं, यदि सप्तमी वृत्तित्व की वाचिका हो। किन्तु जो विभक्त्यर्थ संसर्गतावादी है, उनके मत में न तो घटाभाव में भूतलवृत्तित्व का बोध इस वाक्य से हो सकता है और न तो घट में भूतलवृत्तित्वाभाव का बोध ही हो सकता है क्योंकि इन बोधों में वृत्तित्व (आधेयत्व) प्रकारतया भासता है और विभक्त्यर्थसंसर्गतावादी के अनुसार

---

1. 'भूतले न घटः' इत्यादौ घटाद्यभावे भूतलाद्यन्वितसप्तम्यर्थाधेयत्वस्येव तात्पर्यवशाद् घटादौ सप्तम्यन्तार्थभूतलादिवृत्तित्वाभावस्यान्वयबोधोऽप्यनुभवसिद्धः । पृ. 191

1. तादृशसम्बन्धस्याभावप्रतियोगितावच्छेदकत्वे 'ज्ञाने न घटः' इत्यादिवाक्यजन्यप्रत्यये ज्ञानाधिकरणक तादृशसम्बन्धावच्छिन्नघटत्वाद्यभावस्याप्यवगाहनसम्भवाद् 'घटे ज्ञानं न वा ' इत्यादि संशयनिरासाय कदाचित् 'ज्ञाने न घटः' इत्यादिकमपि प्रयुज्येत । पृ. 777

आधेयत्व का संसर्गतया भान ही सम्भव है। इस प्रकार संसर्गतावादी के अनुसार आधेयत्व सम्बन्ध से भूतल का वैशिष्ट्य घटाभाव में बोधित कराने के लिए या आधेयत्वसम्बन्धावच्छिन्न प्रतियोगिताक भूतलाभाव का वैशिष्ट्य घट में बोधित कराने के लिए '**भूतले न घटः**' ऐसा वाक्यप्रयोग सम्भव होगा ।

इसी प्रकार '**ज्ञाने न घटः**' इस वाक्यप्रयोग से आधेयत्वसम्बन्धावच्छिन्न प्रतियोगिताक ज्ञानाभाव का वैशिष्ट्य घट में बोधित हो सकता है अथवा आधेयत्वसम्बन्ध से ज्ञान का वैशिष्ट्य घटाभाव में बोधित हो सकता है । '**घटे ज्ञानं न वा** ' इस सन्देह के द्वारा घट में आधेयत्वसम्बन्ध से ज्ञान और ज्ञानाभाव इन दो कोटियों का अवगाहन किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त ज्ञान में आधेयत्व सम्बन्ध से घट और घटाभाव इन दो कोटियों का अवगाहन किया जा सकता है। इस कारण '**घटे ज्ञानं न वा** ' इस सन्देह का निवारण करने के लिए कदाचित् '**ज्ञाने न घटः**' ऐसा प्रयोग करना भी सम्भव होता । किन्तु '**घटे ज्ञानं न वा** ' इस सन्देह का निवारण करने के लिए कोई भी '**ज्ञाने न घटः**' ऐसा प्रयोग नहीं करता है। इस कारण यही स्वीकारना उचित जान पड़ता है कि वृत्त्यनियामक सम्बन्ध को अभावीयप्रतियोगिता का अवच्छेदक नहीं माना जाये ।

यहाँ पर गदाधर की युक्ति बड़ी ही जटिल है। इसे इस रीति से समझा जा सकता है। सन्देह भाव और अभाव दो कोटियों का अवगाहन करता है। '**ज्ञाने न घटः**' इस निश्चयात्मक वाक्य से तात्पर्यवशात् दो में से किसी एक कोटि का अवगाहन किया जा सकता है—

'**ज्ञाने न घटः**' से

(1) आधेयत्व सम्बन्ध से ज्ञान में घटाभाव बोधित हो सकता है।

या

(2) आधेयता सम्बन्ध से ज्ञान का अभाव घट में बोधित हो सकता है । तुल्ययुक्ति से इसी प्रकार '**घटे न ज्ञानम्** ' से—

(1) आधेयत्व सम्बन्ध से घट में ज्ञानाभाव बोधित हो सकता है ।

या

(2) आधेयता सम्बन्ध से घट का अभाव ज्ञान में बोधित हो सकता है।

अब यदि '**घटे ज्ञानं न वा**' सन्देह है तो इससे निम्न रीति से दोनों पक्षों में से तात्पर्यवशात् एक-एक की दो-दो कोटियाँ भासित हो सकती हैं —

इस प्रकार यह सन्देह या तो—

(1) आधेयत्व सम्बन्ध से घट में ज्ञान या ज्ञानाभाव का सन्देह है।

अथवा

(2) आधेयत्व सम्बन्ध से घट या घटाभाव का सन्देह ज्ञान में है।

अब ऐसी स्थिति में देखा जाये तो '**ज्ञाने न घटः**' से तात्पर्यवशात् आधेयत्व सम्बन्ध से ज्ञान में घटाभाव बोधित हो सकता है। (देखें– तात्पर्यवशात् सम्भावित प्रथम बोध) '**घटे ज्ञानं न वा**' से सन्देह का क्रमांक 2 जिसमें कि ज्ञान में आधेयत्वसम्बन्ध से घट या घटाभाव का सन्देह हो सकता है। इन दोनों में परस्पर विरोध है। इस कारण '**घटे ज्ञानं न वा**' का निवारण करने के लिए कभी न कभी '**ज्ञाने न घटः**' प्रयोग भी होना चाहिए । किन्तु ऐसा होता नहीं है। इस कारण यही मानना बेहतर है कि वृत्त्यनियामक

सम्बन्ध अभावीयप्रतियोगितावच्छेदक नहीं होता है। वृत्त्यनियामक सम्बन्ध के अभावीय प्रतियोगिता का अवच्छेदक न होने पर तो आधेयत्व, स्वत्व आदि को विभक्ति का अर्थ मानना ही पड़ेगा।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रकारतावाद में वृत्त्यनियामक सम्बन्ध को अभावीय प्रतियोगितावच्छेदक न मानने पर भी काम चल जाता है किन्तु संसर्गतावाद में वृत्त्यनियामक सम्बन्ध को अभावीयप्रतियोगिता का अवच्छेदक मानना अत्यन्त आवश्यक होता है बग़ैर उसके काम नहीं चल पाता।

यद्यपि गदाधर भट्टाचार्य वृत्त्यनियामक सम्बन्ध को अभावीय प्रतियोगिता का अवच्छेदक मानने पर भी प्रकारतावाद ही समुचित है क्योंकि संसर्गतावाद में प्रतिबध्यप्रतिबन्धकभाव आदि में गौरव होगा, ऐसा कहते हैं। परन्तु गदाधर का इसमें आग्रह नहीं है। व्युत्पत्तिवाद के व्याख्याकार पं॰ श्री बच्चा झा जी संसर्गतावाद में ही लाघव देखते हैं। हम यहाँ पर उक्त विवेचन में नहीं पड़ना चाहते हैं। इस प्रतिबध्यप्रतिबन्धकभाव में सामग्री प्रवेश आदि के गौरव लाघव का विचार तत्स्थलीय व्याख्या में ही देखना चाहिए।

मैं सिर्फ़ इतना ही कहना चाहूँगा कि गदाधरभट्टाचार्य को भी 'संसर्गतावादपक्ष में लाघव है' ऐसा सम्भवतः ज्ञात था। इसी कारण प्रातिपदिकार्थों के भेदान्वयबोध की तरह प्रातिपदिकार्थ और धात्वर्थ के भेदान्वयबोध के भी व्युत्पत्तिविरुद्ध होने पर भी द्वितीया कारक में वे कहते हैं कि —**'अत्रोच्यते –वृत्त्यनियामकसम्बन्धस्याभावप्रतियोगितावच्छेदकत्वे आधेयत्वं संसर्गो विभक्तेः संख्यामात्रमर्थः फलावच्छिन्नव्यापारो धात्वर्थ इत्येवोचितम्। अस्तु च व्युत्पत्तिवैचित्र्येण नामार्थधात्वर्थयोरपि साक्षादन्वयबोधस्तथा सत्यतिप्रसङ्गस्य प्रागुपदर्शितप्रकारेण वारणसम्भवात्** ' (पृ. 310)

यदि द्वितीया के अर्थ आधेयत्व का संसर्गमर्यादा से भान स्वीकारने में लाघव है तो षष्ठी आदि के अर्थ स्वत्व आदि का भी संसर्गमर्यादा से भान स्वीकारने में ही लाघव होगा। यद्यपि वहाँ पर भी '**वस्तुतस्तु**' प्रतीक से आधेयत्व का प्रकारविधयाभान स्वीकारने में ही लाघव है ऐसा वे प्रतिपादित करते हैं। तथापि यदि गदाधर को प्रकारतावाद में लाघव की प्रतीति हो भी तो वस्तुतः तो संसर्गतावाद में ही लाघव है। इस प्रकार प्रकारतावाद में मूलभूत युक्ति वृत्त्यनियामक सम्बन्ध की अभावप्रतियोगितानवच्छेदकता का स्वीकार ही है। तथा प्रकारतावाद में दो दोष हैं प्रथम समास और विग्रहवाक्यों की पर्यायता की हानि और द्वितीय तत्पुरुष के कर्मधारयत्व की आपत्ति।

संसर्गतावाद में क्या समस्याएँ हैं ? यह भी देखें —

(1) संसर्गतावाद में विभक्तियों की निरर्थकता स्वीकारनी पडेगी। कोई भी विभक्ति मात्र संख्या को बतलायेगी। इसमें सबसे बड़ी समस्या जो खड़ी होगी, वह यह कि **'प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनमात्रे प्रथमा'** पा॰ सू॰ 2/346 से सर्वत्र प्रथमा ही होने की आपत्ति आयेगी। क्योंकि तृतीया आदि विभक्तियों के द्वारा आधेयत्व आदि की विवक्षा न होने पर प्रातिपदिकार्थमात्र की विवक्षा होने से प्रातिपदिकार्थमात्रविवक्षा में अनुशिष्ट प्रथमा विभक्ति ही हो जायेगी[1]।

---

1. 'चैत्रेण ज्ञायते' इत्यादावाधेयत्वस्य तृतीययाऽविवक्षणे प्रातिपदिकार्थमात्रविवक्षया तद्विषयानुशिष्टप्रथमैव स्यात्। पृ. 779

(2) **'घटम्** '**'ग्रामम्** ' इत्यादि स्थलों में कर्मत्वादि धर्मिक अन्वयबोध अनुभव गम्य है[1]। इस कारण विभक्ति की निरर्थकता नहीं स्वीकारी जा सकती है। विभक्ति को कर्मत्वाद्यर्थक स्वीकारना पड़ेगा ।

यदि द्वितीया आदि विभक्तियों का कर्मत्वाद्यर्थकत्व स्वीकार लिया जाये तो एक समस्या खड़ी होगी कि विभक्ति द्वारा वाच्य अर्थ का तो प्रकारतया ही भान स्वीकारना चाहिए क्योंकि जो अर्थ वृत्त्युपस्थाप्य नहीं होता है वही आकाङ्क्षाभास्य हो सकता है। इसका समाधान यही दिया जा सकता है कि 'विभक्त्यर्थ का प्रकारतया भान होने का नियम नहीं है[2]' इसकारण विभक्त्यर्थ कर्मत्वादि का **'घटम्** ' आदि स्थलों में विशेष्यतया भान हो जायेगा तथा **'ग्रामं गतः**' इत्यादि स्थलों में संसर्गतया भान हो जायेगा । प्रकारतया कहीं पर भान नहीं होगा ।

इसी प्रकार एक और आपत्ति उठाते हैं कि यदि किसी को ङस् में स्वत्वशक्ति का भ्रम हो जाये, यह भ्रम हो जाये कि ङस् में स्वत्व की बोधक शक्ति है तो ऐसी स्थिति में तो संसर्गतावादी को भी स्वत्वप्रकारक शाब्दबोध ही स्वीकारना पड़ेगा, इसप्रकार संसर्गतावादी को स्वत्वप्रकारक और स्वत्वसंसर्गक शाब्दबोध द्विविध बोधों के प्रति **'राज्ञः पुरुषः**' आदि की कारणता स्वीकारनी पड़ेगी । इसलिए संसर्गतावादी के मत में गौरव होगा, किन्तु इस आपत्ति का निवारण करते हुए यही कहते हैं कि संसर्गतावादी के द्वारा वहाँ पर भी स्वत्वादिसंसर्गक ही अन्वयबोध स्वीकार किया जाता है।[3]

किन्तु इस प्रकार गौरव का परिहार कर देने पर भी यह समस्या तो है ही कि सामान्यतया जो यह स्वीकारा जाता है कि वृत्त्यनुपस्थित अर्थ ही संसर्गमर्यादा से भासित होता है, उसका विरोध होगा । इसके साथ दूसरी समस्या यह है कि नवीन नैयायिक खण्डवाक्यार्थबोधपूर्वक महावाक्यार्थबोध स्वीकारते हैं, खण्डवाक्यार्थबोध में विशेष्यतया उपस्थित जो द्वितीयाद्यर्थ कर्मत्वादि उनका महावाक्यार्थबोध में संसर्गतया भान स्वीकारना तो अनुचित ही होगा । उसका या तो प्रकारतया या विशेष्यतया ही भान होना चाहिए । इस पक्ष में एक और समस्या यह उठ खड़ी होती है कि इस प्रकार स्वीकारने पर विभक्तियों के तत्तद् अर्थों में विधायक शास्त्र अप्रमाणभूत हो जायेंगे । जैसे धातुओं आदि के अर्थों का अनुशासन **'भू सत्तायाम्' 'एध वृद्धौ'** आदि के रूप में मिलता है, उसी प्रकार **'कर्मणि द्वितीया'** इत्यादि रूपों में विभक्तियों के अर्थों का अनुशासन उपलब्ध होता है। शेष विभक्तियों की निरर्थकता स्वीकार लेने पर भी उपपद विभक्तियों की तो निरर्थकता स्वीकारनी सम्भव नहीं है। तो उपपद विभक्तियों की सार्थकता और शेष विभक्तियों की निरर्थकता स्वीकारने की उपेक्षा यही उचित है कि सभी विभक्तियों की सार्थकता ही स्वीकार ली जाये ।

---

1. ग्राममित्यादौ कर्मत्वादिधर्मिकान्वयबोधानुरोधेन द्वितीयादेः कर्मत्वाद्यर्थकत्वात् ।
पृ. 231-232 शब्दशक्तिप्रकाशिका
2. विभक्त्यर्थस्य प्रकारतया भानानियमादिति भावः ।
कृष्णकान्ती पृ. 231 शब्दशक्तिप्रकाशिका
3. विभक्त्या स्वत्वोपस्थितावपि स्वत्वसंसर्गकबोध एवाभ्युपेयः।
पृ. 74 गूढार्थतत्त्वालोक व्युत्पत्तिवादः

इस कारण प्रकारतावाद का पक्ष ही सिद्धान्तित करना चाहिए जो कि गदाधर का पक्ष है। किन्तु ऐसी स्थिति में प्रकारतावाद में आनेवाली आपत्तियों पर भी विचार कर लेना चाहिए —

प्रकारतावाद पक्ष में '**राजपुरुषः**' इत्यादि समस्त स्थलों में पूर्वपद राजादिपदों की या तो राजसम्बन्ध में लक्षणा स्वीकारी जाये, समासविग्रहवाक्यों की तुल्यार्थता के अनुरोध से, जैसा कि गङ्गेश स्वीकारते हैं । अथवा पूर्वपद की राजसम्बन्धी आदि में लक्षणा करके अभेदसम्बन्ध से उत्तरपदार्थ में अन्वयबोध कर लिया जाये, जैसा कि गदाधर स्वीकारते हैं।

इसमें गङ्गेश मत में प्रस्तुत व्युत्पत्ति का भङ्ग होगा । गदाधर मत में समास विग्रहवाक्यों की पर्यायता नहीं बन सकेगी । तो वस्तुतः समास और विग्रहवाक्य की तुल्यार्थकता होने का कोई सामान्य नियम नहीं स्वीकारा जा सकता है। सभी समासों में समास और विग्रहवाक्यों की तुल्यार्थकता तो असम्भव है, बहुव्रीहि समास और उसके विग्रहवाक्य में तो तुल्यार्थकता नहीं ही होती है[1]। इसी कारण जगदीश भी अन्ततः पूर्वपद राजादि की पूर्वपदार्थ राजादिसम्बन्धी में लक्षणा करके अभेदान्वयबोध का ही उपपादन करते हैं[2]।

समास और विग्रहवाक्यों की तुल्यार्थकता नहीं होने में एक युक्ति हमें भी समझ में आती है, घट और कलश पदों की तुल्यार्थकता होती है इस कारण '**नायं घटः**' '**नायं कलशः**' इन वाक्यों से एक जैसा बोध होता है। इसी प्रकार '**राज्ञः पुरुषः**' और '**राजपुरुषः**' की पर्यायता होने पर '**नायं राज्ञः पुरुषः**' से और '**नायं राजपुरुषः**' से एक जैसा बोध होना चाहिए, किन्तु ऐसा होता नहीं है। '**नायं राज्ञः पुरुषः**' से पुरुष में राजस्वत्व का अभाव बोधित होता है और '**नायं राजपुरुषः**' से इदं पदार्थ में राजपुरुष का भेद बोधित होता है। इस कारण यही उचित लगता है कि समास और विग्रहवाक्यों की तुल्यार्थकता कम से कम बहुव्रीहि और तत्पुरुष समास में नहीं होती है । यद्यपि मेरी इस युक्ति की विश्वसनीयता विद्वज्जन ही निश्चित कर सकते हैं ।

रही बात '**दशैते राजममातङ्गा......**' आदि प्रयोगों की, तो इन प्रयोगों की प्रामाणिकता ही सन्दिग्ध है। इस कारण यदि राजा आदि का इन प्रयोगों में तद् आदि पदों से परामर्श नहीं होता, तो भी कोई क्षति नहीं है। इसके बाद शेष बचती है तत्पुरुषसमास के कर्मधारयत्व की आपत्ति । तो इस का उत्तर दे सकते हैं कि ठीक है, तत्पुरुष और कर्मधारय दोनों में पूर्वपदार्थ का उत्तरपदार्थ में अभेद बोधित होता है, किन्तु कर्मधारय में पूर्वपद के मुख्यार्थ का अभेद उत्तरपदार्थ में बोधित होता है और तत्पुरुष में पूर्वपद के लाक्षणिक अर्थ का अभेद उत्तरपदार्थ में बोधित होता है। इसी से समासद्वय की व्यवस्था है। इसी से समासभेद सम्पन्न हो जायेगा । इस कारण प्रकारतावाद का मत ही सङ्गत और उचित है। गदाधर के साथ-साथ जगदीश भी इसी मत के परिपोषक हैं ।

---

1. बहुव्रीहि में 'पीतमम्बरं यस्य' इस विग्रहवाक्य से यत्सम्बन्धि पीताभिन्न अम्बर का बोध होता है, 'पीताम्बर' शब्द से पीताभिन्नाम्बरवान् पुरुष का बोध होता है। इस प्रकार बहुव्रीहि में विग्रहवाक्य और समास की तुल्यार्थकता नहीं होती है।

2. वस्तुतस्तु विरुद्धविभक्त्यनवरुद्धस्य अभेदबोधकत्वव्युत्पत्तेः मुख्यार्थराजाभेदस्य बाधेन राजपदस्य राजसम्बन्धिनि लक्षणा । तर्कामृतम् पृ. 39

**जगदीश की प्रकारतावादिता**

जगदीश को यदि विभक्त्यर्थसंसर्गतावादी माना जाये तो उनके द्वारा जो अनेक लक्षण प्रत्ययों के किये जाते हैं वे असङ्गत हो जायेंगे, जैसे —

'**प्रकृत्यर्थस्य यःस्वार्थे विधेयत्वेन बोधने ।**
**समर्थः सोऽथवा शब्दो विभक्तित्वेन गीयते ॥**' (शब्दशक्तिप्रकाशिका पृ. 285)

यदि प्रत्यय का कोई वाच्य अर्थ होगा ही नहीं तो कैसे प्रकृत्यर्थ का अपने अर्थ में विधेयत्वेन प्रत्यय बोधन करायेगा? इसी प्रकार अन्यत्र भी जगदीश कहते हैं —'**द्वितीयादयस्तु स्वार्थे कर्मत्वादौ प्रकृत्यर्थस्यान्वयबोधं प्रति समर्थाः**' (तदेव, पृ॰ 287) कारक का लक्षण करते हुए जगदीश जैसा वाक्यप्रयोग करते हैं उससे उनके प्रकारतावादी होने में कोई सन्देह नहीं रह जाता ।

'**धात्वर्थांशे प्रकारो यः सुबर्थः सोऽत्र कारकम्** ' (तदेव पृ. 294) जो सुबर्थ धात्वर्थांश में प्रकार बनता है, वह यहाँ पर कारक है। जगदीश यहाँ पर उदाहरण भी दिखलाते हैं कि किस प्रकार किन-किन जगहों में कैसे पञ्चम्यर्थ, द्वितीयार्थ, तृतीयार्थ, चतुर्थ्यर्थ आदि धात्वर्थ में प्रकार बनकर भासते हैं। (द्रष्टव्य, वही पृ. 294) षष्ठ्यर्थ सम्बन्ध के बारे में भी स्पष्ट करते हैं जगदीश कि —'षष्ठी का अर्थ सम्बन्ध तो धात्वर्थ में प्रकार होकर नहीं भासता है क्योंकि तण्डुलस्य पचति इत्यादि प्रयोग नहीं होते हैं, इस कारण सम्बन्ध कारक नहीं होता है और सम्बन्धार्थिका षष्ठी कारकविभक्ति नहीं होती है"[1] इस प्रकार स्पष्ट है कि षष्ठी का अर्थ सम्बन्ध भी धात्वर्थ में प्रकार बनकर नहीं भासता है प्रतिपदिकार्थ में तो वह भी प्रकार बनकर ही भासता है ऐसा ज्ञात होता है।

द्वितीया के अर्थ का प्रकारतया भान जगदीश व्युत्पादित करते हैं और स्पष्टतः कहते हैं — **यस्य धातोर्यदंशे यः प्रकारीभूय भासते ।**
**द्वितीयया स्मारितोऽर्थस्तद्वा तत्कर्मतोच्यते ॥**' (पृ. 329 तदेव)

'जिस धातु के जिस अंश में द्वितीया से स्मारित जो अर्थ प्रकार बन कर भासता है अथवा उसे कर्मता कहते हैं।'

अकारक विभक्ति का जैसा लक्षण जगदीश करते हैं उससे भी यही बात ज्ञात होती है कि विभक्त्यर्थ का प्रकारतया भान ही जगदीश स्वीकारते हैं ।

**यत्सुपो यादृशार्थो न प्रकारीभूय भासते ।**
**धात्वर्थे, तादृगर्थे सा कारकान्यार्थसुब्भवेत् ॥**' (तदेव पृ. 352)

'जिस सुप् का जैसा अर्थ धात्वर्थ में प्रकार बनकर नहीं भासता है वैसे अर्थ में वह सुप् कारकान्यर्थक सुप् होता है।'

इस प्रकार जगदीश की विभक्त्यर्थप्रकारतावादिता का पक्ष ही युक्तिसङ्गत जान पड़ता है, आगे तो विद्वज्जन ही प्रमाणभूत हैं । इस कारण गदाधर और जगदीश में विभक्त्यर्थ प्रकारता को लेकर किसी विवाद की सम्भावना से हमें इन्कार है।

इस रीति से गदाधर प्रतिपादित विभक्त्यर्थप्रकारतावाद मत के सिद्धान्तित हो जाने पर '**भेदान्वयबोधश्च प्रातिपदिकार्थधात्वर्थयोः प्रत्ययार्थेन क्वचिन्निपातार्थेन च सममेव जायते**' इस व्युत्पत्ति का विरोध नहीं आता है। निपातातिरिक्त प्रातिपदिकार्थ के साथ कहीं पर भी प्रतिपदिकार्थ के भेदान्वयबोध की आपत्ति नहीं है।

---

1. षष्ठ्यर्थस्तु सम्बन्धो न धात्वर्थे प्रकारीभूय भासते 'तण्डूलस्य पचती' त्याद्यप्रयोगादतः सम्बन्धो न कारकं न वा तदर्थिकापि षष्ठ्यादिः कारकविभक्तिः, पृ. 295 शब्दशक्तिप्रकाशिका

अब इस व्युत्पत्ति के दूसरे भाग पर विचार किया जाये, क्या प्रातिपदिकार्थ और धात्वर्थ का भी भेदान्वयबोध अव्युत्पन्न है? कारक विभक्ति का अर्थ धात्वर्थ में ही अन्वित होता है, यदि विभक्त्यर्थ संसर्गतावाद का आश्रयण आप लें तो सर्वत्र ही कारक विभक्ति के प्रकृतिभूत पद के अर्थ का विभक्त्यर्थ संसर्ग से धात्वर्थ में अन्वय स्वीकारना पड़ेगा । इस कारण प्रातिपदिकार्थ और धात्वर्थ के भेदान्वयबोध की आपत्ति आयेगी जो कि इस व्युत्पत्ति से विरुद्ध होगी । किन्तु जैसा कि हम देख चुके हैं कि विभक्त्यर्थ प्रकारतावाद ही युक्तिसङ्गत है। इस कारण ऐसी आपत्ति व व्युत्पत्तिविरोध नहीं है।

इसी प्रकार यदि आख्यात की निरर्थकता स्वीकार ली जाये तो धात्वर्थ का प्रातिपदिकार्थ में कृतिसंसर्ग से अन्वयबोध होने की आपत्ति आयेगी, भेदान्वयबोधप्रसङ्ग आपतित होगा । इस पक्ष में भी वृत्त्यनियामक सम्बन्ध के अभावीयप्रतियोगितावच्छेदकत्व का स्वीकार अत्यन्त आवश्यक होगा, अपरिहार्य होगा । इस कारण आख्यात की सार्थकता ही स्वीकारना उचित है।

किन्तु **'चैत्रो जानाति' 'चैत्रः करोति'** इत्यादि स्थलों में ज्ञान, कृति आदि का चैत्र में आश्रयता सम्बन्ध से अन्वय करना तो सम्भव ही है, तो इन स्थलों पर धात्वर्थ का प्रातिपदिकार्थ में आश्रयतासम्बन्ध से अन्वयबोध अर्थात् भेदान्वयबोध क्यों न स्वीकार कर लिया जाये ?

इस प्रश्न के उत्तर में गङ्गेश यहाँ पर भेदान्वयबोध को स्वीकार लेते हैं और ज्ञान, कृति आदि धात्वर्थ का आश्रयत्वरूपभेद सम्बन्ध से प्रातिपदिकार्थ में अन्वय करते हैं । इस प्रकार गङ्गेशोपाध्याय के मत में यहाँ पर व्युत्पत्ति का सङ्कोच आवश्यक है।

दीधितिकार और गदाधर के मत में इन स्थलों में आख्यात की आश्रयत्व में निरूढलक्षणा है, इस कारण भेदान्वयबोध धात्वर्थ और प्रातिपदिकार्थ का साक्षात् अन्वय इस स्थल में भी नहीं होता है। व्युत्पत्तिसङ्कोच यहाँ के लिए अनावश्यक है।

किन्तु कुछेक स्थलों पर गदाधर भी इस व्युत्पत्ति में सङ्कोच करने की वकालत करते हैं । उदाहरण स्वरूप –**'घटो नीलो भवति' 'वृक्षो नौका भवति' 'काष्ठं भस्म भवति'** इत्यादि स्थलों में गदाधर धात्वर्थ असाधारणधर्मभाव में व्युत्पत्ति के वैचित्र्य से नील, नौका, भस्म आदि का साक्षात् ही अन्वयबोध स्वीकार करते हैं क्योंकि प्रथमा विभक्ति अन्तराभासमानार्थक नहीं होती है। इसी प्रकार **'लोहितो वह्निर्ज्ञायते'** इत्यादि स्थलों में भी धात्वर्थ ज्ञान में लोहित आदि का प्रकारिता सम्बन्ध से साक्षाद् अन्वयबोध दूसरी गति न होने से स्वीकार किया जाता है[1]। इसी प्रकार **'काष्ठं भस्म क्रियते'** इत्यादि स्थलों में भस्मादि की निवर्त्य कर्मता का लकार से अभिधान न होने पर भी उस भस्मादि निर्वर्त्यकर्मता का धात्वर्थ में संसर्गतया भान स्वीकारा जाता है और इसीलिए भस्मादिनिर्वत्य कर्मों के उपरान्त प्रथमा की साधुता होती है[2]। ऐसी स्थिति में धात्वर्थ में नामार्थ के भेदसम्बन्ध से साक्षादन्वयबोध के नियम का भङ्ग प्राप्त होगा? इसका समाधान यही दिया

1. यथाहि 'घटो नीलो भवति' 'वृक्षो नौका भवति' 'काष्ठं भस्म भवति' इत्यादौ धात्वर्थेऽसाधारणधर्मरूपे भावे व्युत्पत्तिवैचित्र्येण नीलनौकाभस्मादे साक्षादेवान्वयः प्रथमाया अन्तराभासमानार्थकत्वाभावात् ....तथा धात्वर्थे प्रकृतेऽपि प्रकारितासम्बन्धेन लोहितादेः साक्षादन्वयस्यागत्योपगमात् । पृ. 417

2. 'काष्ठं भस्म क्रियते' इत्यादौ भस्मादिनिर्वर्त्यकर्मताया लकारेणानभिधानेऽपि तत्कर्मताया धात्वर्थे संसर्गतया भानोपगमेन तादृशकर्मोत्तरं प्रथमायाः साधुता । पृ.467

जाता है कि कर्त्रन्तर विशेषणतापन्न धात्वर्थ में कर्तृतासम्बन्ध से और कर्मान्तर विशेषणतापन्न धात्वर्थ में कर्मता सम्बन्ध से प्रातिपदिकार्थ का साक्षाद् भेदान्वय भी स्वीकार लिया जाता है।[1] इससे अतिरिक्त स्थलों में ऐसा नहीं स्वीकारा जाता है।

इस प्रकार उपर्युक्त कुछेक अपवादों को छोड़कर प्रातिपदिकार्थ का प्रातिपदिकार्थ के साथ और प्रातिपदिकार्थ का धात्वर्थ के साथ भेदसम्बन्ध से अन्वयबोध नहीं स्वीकार किया जाता है।

**'उद्देश्यतावच्छेदकावच्छेदेनैव विधेयान्वयः'**

उद्दश्यतावच्छेदकावच्छेदेन ही विधेय का अन्वय हुआ करता है। उदाहरणस्वरूप यदि प्रयोग किया जाये कि **'घटः प्रमेयः'** तो यहाँ पर उद्देश्यतावच्छेदकीभूत घटत्वावच्छेदेन ही विधेय प्रमेय का अभेदेन अन्वय होता है। समस्त घटों का प्रमेय से अभेद बोधित होता है। ऐसा नहीं सम्भव है कि कुछ ही घटों की प्रमेयता बोधित हो (इसके साथ यह भी ध्यातव्य है कि उद्देश्य का वाक्य में प्रथम प्रयोग होना चाहिए विधेय का बाद में प्रयोग होना चाहिए । इनका क्रम बदल जाने पर विधेयाविमर्शदोष हुआ करता है।) **'अत्र घटोऽस्ति'** प्रयोग करने पर घटवृत्ति एकत्व उद्देश्यतावच्छेदक बनता है, तदवच्छेदेन एतद्देशवृत्तित्व रूप विधेय का अन्वय होकर शाब्दबोध होता है। किन्तु यदि प्रयोग किया जाये **'अत्र घटौ स्तः'** तो यहाँ पर उद्देश्यतावच्छेदकावच्छेदेन विधेय का अन्वय होने मात्र से काम नहीं चल सकता है क्योंकि एक घट और एक पट के रहने की स्थिति में भी ऐसे प्रयोग का प्रामाण्य उपपन्न होने लगेगा, द्वित्वावच्छेदेन एतद्देशवृत्तित्व का अन्वय इतने से भी उपपन्न हो जायेगा । इसलिए इसके लिए एक और व्युत्पत्ति बतलायी जाती है कि —

**'व्यासज्यवृत्तिधर्मावच्छिन्नोद्देश्यताकशाब्दबुद्धौ स्वव्याप्यतादृशधर्मवत्त्वमपि विधेयसंसर्गतया भासते'**

'व्यासज्यवृत्तिधर्मावच्छिन्नोद्देश्यताकशाब्दबुद्धि में स्वव्याप्यतादृशधर्मवत्त्व भी विधेय का संसर्ग बनकर भासता है' एक घट और एक पट रहने पर **'अत्र घटौ स्तः'** प्रयोग करें तो उद्देश्यतावच्छेदकीभूत द्वित्वावच्छेदेन एतद्देशवृत्तित्व का अन्वय होने में तो कोई भी आपत्ति नहीं है, किन्तु एतद्देशवृत्तित्व का स्वव्याप्यद्वित्ववत्त्व घटादि में बाधित है क्योंकि एतद्देशवृत्तित्व घट और पट दोनों में रहेगा, उसमें रहनेवाला द्वित्व ही एतद्देशवृत्तित्व से व्याप्य हो सकेगा । घटद्वयवृत्ति द्वित्व एतद्देशवृत्तित्व से व्याप्य नहीं हो सकेगा । इस कारण द्वित्वावच्छेदेन एतद्देशवृत्तित्व का अन्वय सम्भव होने पर भी एतद्देशवृत्तित्व के संसर्ग स्वव्याप्यतादृशधर्मवत्त्व का भान बाधित होने से एक घट और एक पट रहने पर **'अत्र घटौ स्तः'** वाक्य का प्रयोग नहीं होता है। घटद्वय रहने पर तो उक्त प्रयोग होता ही है।

इसी कारण द्वन्द्वघटक एक पदार्थ में विधेय का अन्वय व्युत्पत्तिसिद्ध नहीं माना जाता है।

**'नञा व्यासज्यवृत्तिधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकभेदश्चोद्देश्यतावच्छेदकावच्छेदेनैव बोध्यते'**

---

1. 'घटो नीलो भवति' 'काष्ठं भस्म भवति' इत्यादौ भवनादिक्रियायां नीलादेः कर्तृतासम्बन्धेन साक्षादन्वयवदत्रापि व्युत्पत्तिवैचित्र्येण कर्मान्तरविशेषणतापन्नक्रियायामपरकर्मणः कर्मतासम्बन्धेन साक्षादन्वयोपगमात् । पृ. 468

'नञ् के द्वारा व्यासज्यवृत्तिधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताक भेद उद्देश्यतावच्छेदकावच्छेदेन ही बोधित होता है'

चूँकि व्यासज्यवृत्तिधर्म द्वित्व, त्रित्व, बहुत्व आदि से अवच्छिन्न अभेदेन अन्वय एक में नहीं हो सकता है, इस कारण उनका अभेदेन अन्वय उभयादि रूप अन्वयितावच्छेदकावच्छिन्न में ही होता है। व्युत्पत्ति भी बतायी गई है कि—

**'आख्यातोपस्थापितद्वित्वादिकं चोभयादिरूपान्वयितावच्छेकावच्छिन्न एवान्वेति'** 'आख्यातोपस्थापित द्वित्वादि उभयादि रूप अन्वयितावच्छेदकावच्छिन्न में ही अन्वित होता है'

इसी कारण व्यासज्यवृत्ति धर्मावच्छिन्न प्रतियोगिताक भेद भी उद्देश्यतावच्छेदकावच्छेदेन ही बोधित होता है। जैसे कि अगर हम प्रयोग करें कि **'घटो न द्वौ'** या **'घटपटौ न द्वौ'** तो यह प्रामाणिक नहीं होगा क्योंकि उद्देश्यतावच्छेकीभूत द्वित्वावच्छेदेन द्वित्वावच्छिन्नप्रतियोगिताक भेद बाधित है। इस नियम को न मानने पर तो ऐसे प्रयोग की आपत्ति आती क्योंकि घटत्वावच्छेदेन और पटत्वावच्छेदेन तो द्वित्वावच्छिन्नप्रतियोगिताक भेद है ही, उसका अन्वय अबाधित है। इस कारण इस व्युत्पत्ति को न मानने पर इन प्रयोगों की आपत्ति आती ।

**'आख्यातो.......अन्वेति'** इस व्युत्पत्ति को न मानने पर घटद्वयादि तात्पर्य से **'घटस्तिष्ठतः'** प्रयोग होने की आपत्ति है क्योंकि आख्यातोपस्थापित द्वित्व का घटत्वेन उपस्थित घटद्वय में अन्वय हो ही सकता है। चूँकि **'चैत्रो मैत्रश्च गच्छतः'** इत्यादि प्रयोग होते हैं अत क्रियापद के विशेष्यवाचकपद के समानवचनकत्व का नियम नहीं है। इस कारण बग़ैर उपर्युक्त व्युत्पत्ति को स्वीकारे **'घटस्तिष्ठतः'** प्रयोग की आपत्ति नहीं वारित की जा सकती है।

**'प्रतियोगिपदादन्यद्यदन्यत् कारकादपि ।**
**वृत्तिशब्दैकदेशार्थे न तस्यान्वय इष्यते ॥'**

'प्रतियोगिपद से जो अन्य है और जो कारक से अन्य है, वृत्तिशब्द के एकदेशार्थ में उसका अन्वय नहीं स्वीकारा जाता है'

वृत्तिशब्द का अर्थ यहाँ पर कृदन्त, तद्धितान्त, क्यजाद्यन्त और समास है ।[1] क्योंकि कहा गया है कि **'पदानां प्रत्ययैर्योगः समासश्चेह वृत्तयः'** प्रत्यय का आशय विभक्ति भिन्न प्रत्ययों से है। इस प्रकार इन स्थलों में वृत्तिशब्दार्थ के एकदेश में = कृदन्तार्थ के एकदेश में, तद्धितान्तार्थ के एकदेश में, क्यजाद्यन्तार्थ के एकदेश में, समासार्थ के एकदेश में प्रतियोगिपदान्य व कारकान्य के अर्थ का अन्वय नहीं स्वीकार किया जाता है।

सम्बन्ध कारक नहीं होता है किन्तु वह प्रतियोगिपद माना जाता है। इस प्रकार अर्थ यह होता है कि षष्ठ्यर्थसम्बन्धप्रतियोगिवाचकपदोपस्थाप्य अर्थ का और कारकविभक्त्यन्त पदोपस्थाप्य अर्थ का अन्वय वृत्तिशब्दैकदेशार्थ में हो सकता है। **'चैत्रस्य गुरुकुलम्'** **'शरैः शातितपत्रकः'** **'पितुः स्वर्गकामः'** इत्यादिस्थलों में वृत्तिशब्दैकदेशार्थ गुरु, शातित, स्वर्ग आदि में षष्ठी के अर्थ सम्बन्ध और तृतीया के अर्थ करणत्वादि का अन्वय हुआ

---

1. कृत्तद्धितक्यजादिप्रत्ययान्तं समासश्च वृत्तयः । प्रत्ययशब्देन विभक्तिभिन्नप्रत्ययो ग्राह्यः ।
पृ. 214 रामभद्री शब्दशक्तिप्रकाशिका

करता है। यहाँ पर गदाधर का सिद्धान्त है कि यह व्युत्पत्ति अभेदान्वयबोध का ही निषेध करती है भेदान्वयबोध का निषेध नहीं करती है। क्योंकि वृत्त्येकदेशेन भेदान्वयबोध में कोई बाधक नहीं है। इसी कारण '**ऋद्धस्य राजमातङ्गाः**' इत्यादि प्रयोग नहीं हुआ करते हैं क्योंकि यहाँ पर ऋद्धपदार्थ का वृत्त्येकदेशार्थ में अभेदान्वयबोध ही विवक्षा का विषय है और वह व्युत्पत्तिविरुद्ध है। प्रतियोगिपद और कारकपद दोनों के भेद के निवेश का क्या प्रयोजन होगा ? इसके बारे में गदाधर कहते हैं कि वह दृष्टान्तविधया निविष्ट है। जैसे प्रतियोगिपदार्थ का कहीं पर अभेदान्वय नहीं होता है, वैसे ही वृत्त्येकदेश से भी अन्यपदार्थ का अभेदान्वय नहीं होता है[1]।

इस रीति से गदाधर इस व्युत्पत्ति के द्वारा यही निषेध मानते हैं कि वृत्त्येकदेशार्थ के साथ अन्यपदार्थ का भेदान्वय नहीं होता है। जैसे '**चन्द्र इव मुखम्** ' इत्यादिस्थलों में इवार्थसादृश्य में सादृश्य प्रतियोगिभूत चन्द्र का प्रतियोगिकत्वसम्बन्ध से ही भेद सम्बन्ध से ही अन्वय होकर बोध होता है। उसी प्रकार '**चैत्रस्य गुरुकुलम्** ' आदि में भेदान्वयबोध तो सम्भव होता है किन्तु '**ऋद्धस्य राजमातङ्गाः**' आदि में ऋद्धपदार्थ का राजपदार्थ के साथ अभेदान्वयबोध नहीं सम्भव होता है।

**'एकत्र विशेषणतयोपस्थितस्यान्यत्र विशेषणतयाऽन्वयोऽव्युत्पन्नः'**

'एकत्र विशेषणतया उपस्थित का अन्यत्र विशेषणतया अन्वय अव्युत्पन्न होता है' जो अर्थ जिसमें विशेषण बनकर उपस्थित होता है, वह अर्थ उसी अर्थ में विशेषणतया शाब्दबोधविषय होता है। ऐसा नहीं सम्भव है कि उपस्थित हुआ हो किसी और में विशेषण बनकर और शाब्दबोध हो तो वह किसी और में विशेषण बनकर भासे । इसी कारण '**पचमानं पश्यति**' इत्यादि स्थलों में द्वितीयार्थ कर्मत्व का अन्वय पाक में नहीं हो सकता है। पाक यहाँ पर शानच् प्रत्यय के अर्थ कर्ता में विशेषण बनकर उपस्थित हुआ है, इस कारण पाक द्वितीया के अर्थ कर्मत्व में विशेषण बनकर नहीं भासित हो सकता है। इसी प्रकार अन्यत्र भी जो अर्थ किसी अर्थ में विशेषणतया उपस्थित होता है उसका दूसरे अर्थ में विशेषणतया अन्वय नहीं हो सकता है।

यहाँ पर एक अपवाद स्वीकारा जाता है कि धर्मिपारतन्त्र्येण एक विशेषणतया उपस्थित का भी अन्यत्र विशेषणतया अन्वय होता है। इसी कारण गदाधर कहते हैं कि — '**विशेष्यान्वयिन्येव विशेषणस्य पारतन्त्र्येणान्वयस्य विशिष्टान्वयस्थले व्युत्पत्तिसिद्धत्वाद् न तु विशेष्यानन्वयिनि** '( पृ. 432 ) इस प्रकार जो विशेषण बनकर उपस्थित है, उसके विशेष्य का जिसमें विशेषणतया अन्वय विवक्षित हो, विशेषण का भी उसमें विशेषणतया अन्वय व्युत्पत्तिसिद्ध होता है।

प्रत्यय अपने अर्थ के बोधक कैसे होते हैं ? इस विषय में चार व्युत्पत्तियाँ 'व्युत्पत्तिवाद' में बतलायी गयी हैं । इस विषय में व्युत्पत्ति है कि —

**'प्रत्ययानां प्रकृत्यर्थान्वितस्वार्थपरत्वम् '**

---

1. तादृशव्युत्पत्तेरभेदान्वयस्थल एव स्वीकारात् , वृत्त्येकदेशेन भेदान्वये बाधकाभावात् ।......न च कारकपदप्रतियोदिपदयोर्भेदनिवेशनफलमिति वाच्यम् , तन्निवेशस्य दृष्टान्तविधयोक्तत्वात् –यथा प्रतियोगिपदाद्यर्थस्य कुत्राप्यभेदान्वयो न भवति तथा वृत्त्येकदेशेनान्यपदार्थस्येत्यर्थे तात्पर्यादिति ध्येयम् ।
पृ. 445-446

'प्रत्ययों का प्रकृत्यर्थ से अन्वित स्वार्थबोधकत्व होता है' अर्थात् प्रत्यय स्वतन्त्र रूप से किसी अर्थ को नहीं बोधित करता है, प्रकृत्यर्थ से अन्वित ही अपने अर्थ को बोधित करता है। अब प्रत्ययार्थ या तो प्रकृत्यर्थ में विशेषण बनकर भास सकता है या तो प्रकृत्यर्थ में विशेष्यतया भास सकता है। इसमें प्रत्ययार्थों के बारे में सुस्पष्ट विभाजन है कि कौन सा अर्थ प्रकृत्यर्थ में विशेष्यतया भासेगा और कौन सा विशेषण बनकर ।

**'संख्यातिरिक्तविभक्त्यर्थस्य प्रकृत्यर्थविशेष्यतयैव भानम् '**

संख्या से अतिरिक्त विभक्त्यर्थ का प्रकृत्यर्थविशेष्यतया ही भान होता है। प्रायशः समस्त विभक्तियाँ संख्यार्थक होती है और संख्या प्रकृत्यर्थ में विशेषणतया ही भासती है। इसके अतिरिक्त जितने भी विभक्त्यर्थ होते हैं वे सभी प्रकृत्यर्थ के विशेष्य बनकर ही भासते हैं । उदाहरण के रूप में **'घटमानय'** प्रयोग करने पर घटपदोत्तर द्वितीया विभक्ति अम् के दो अर्थ हैं कर्मत्व और एकत्व संख्या, एकत्व संख्या घट में विशेषणतया भासेगी और कर्मत्व घट के प्रति विशेष्य बनकर भासेगा । इस प्रकार एकघटकर्मताक आनयन का बोध होता है। इसमें एकत्व घट में विशेषण है और घट कर्मता में ।

चूँकि सम्बोधन का अर्थ भी प्रकृत्यर्थविशेषणतया भासता है इसलिए या तो संख्याभेद की तरह सम्बोधनभेद का भी निवेश करना चाहिए या तो सम्बोधन का भी प्रकृत्यर्थविशेष्यतया भान स्वीकारना चाहिए । वस्तुतः तो इस नियम में कोई प्रमाण नहीं हैं नामार्थ का प्रत्ययार्थ को बीच में लाकर ही क्रिया में अन्वय होता है इसके अनुरोध से सुबर्थ कर्मत्वादि का प्रकृत्यर्थविशेष्यतया भान स्वीकारा जाता है इस नियम के अनुरोध से नहीं ।[1]

**कारकविभक्त्यर्थस्य धात्वर्थ एवान्वयः'**

कारक विभक्ति के अर्थ का धात्वर्थ में ही अन्वय होता है। इस व्युत्पत्ति से सम्पूर्णता से सहमत होना नैयायिकसम्प्रदाय के अनुसार मुश्किल है क्योंकि नैयायिकों के मत में वाक्य में क्रियापद का होना अनावश्यक होता है। **'अहं पण्डितः' 'त्वं पण्डितः'** इत्यादि स्थलों में क्रियापद न होने से कैसे कारकविभक्त्यर्थ का अन्वय धात्वर्थ में हो सकेगा ? यद्यपि यह कहते हैं कि कारकविभक्त्यर्थ का अन्वय धात्वर्थातिरिक्त में नहीं होता है, अगर होता है तो धात्वर्थ में ही होता है। इसलिए यहाँ पर कारक विभक्ति प्रथमा के अर्थ का अन्वय धात्वर्थ में न होने से भी कोई क्षति नहीं है। किन्तु **'भूतले घटः'** इत्यादि स्थलों में घटादि पदार्थ में अधिकरण सप्तमी के अर्थ का अन्वय होने के कारण.उक्तनियम असिद्ध है।[2]

षष्ठी को कारकविभक्ति नहीं माना जा सकता है, इस कारण षष्ठी का अर्थ क्रिया में (धात्वर्थ में) नहीं अन्वित होता है। ऐसा भी कुछ विद्वानों का मत है किन्तु कुछ अन्य षष्ठी के अर्थ का भी क्रिया में अन्वय स्वीकारते हैं । यथा —**'गुरुविप्रतपस्विदुर्गतानां**

---

1. 'संख्यातिरिक्त सुबर्थः प्रकृत्यर्थविशेष्यतयैव भासते' इति नियमे संख्याभेदवत् सम्बोधनभेदोऽपि निवेशनीयः........सम्बोधनस्य प्रकृत्यर्थविशेष्यतयैव वा भानमुपेयम् । वस्तुतो नामार्थस्य प्रकृत्यर्थमन्तराकृत्वैव क्रियायामन्वय इत्यनुरोधात् सुबर्थकर्मत्वादेः प्रकृत्यर्थविशेष्यतयैव भानमुपेयते न तूक्तनियमानुरोधेन – उक्तनियमे मानाभावात् । पृ. 725
2. 'भूतले घटः' इत्यादौ घटादिपदार्थेऽप्यधिकरणसप्तम्यर्थान्वयात् तादृशनियमासिद्धेः । पृ.342

**प्रतिकुर्वीत भिषक् स्वभेषजैः**' इत्यादि स्थलों में षष्ठी के अर्थ का धात्वर्थ प्रतिकार में अन्वय स्वीकार लिया जाता है। इसी प्रकार अकारक विभक्ति हेतु पञ्चमी के अर्थ का भी धात्वर्थज्ञान आदि में अन्वय स्वीकारा जाता है। इसी प्रकार '**तस्मात् स्थीयते**' इत्यादि स्थलों में हेतु पञ्चमी के अर्थ का धात्वर्थ स्थिति में अन्वय स्वीकार लिया जाता है।[1]

**'हेतुविभक्त्यतिरिक्तविभक्त्यर्थस्य विभक्त्यर्थानन्वयः'**

'हेतुविभक्ति से अतिरिक्त विभक्ति के अर्थ का विभक्त्यर्थ में अन्वय नहीं होता है' हेतु विभक्ति के अर्थ का तो विभक्त्यर्थ में भी अन्वय होता है। जैसे कि '**तस्मात् पचति**' '**तस्मात् चैत्रस्य**' इत्यादि स्थलों में हेतु पञ्चमी विभक्ति के अर्थ का तिप् के (विभक्ति के) अर्थ कृति में अन्वय हुआ करता है, हेतु पञ्चमी के अर्थ का षष्ठी के अर्थ सम्बन्ध में अन्वय हुआ करता है।[2]

नञर्थ के अन्वय के बारे में भी गदाधर कई व्युत्पत्तियाँ बतलाते हैं —

**'नञर्थे प्रतियोगितयैवाधेयत्वातिरिक्तविभक्त्यर्थस्यान्वयो व्युत्पन्नः'**

'आधेयत्व से अतिरिक्त विभक्त्यर्थ का नञर्थ अभाव में प्रतियोगिता सम्बन्ध से ही अन्वय व्युत्पन्न होता है'

यह व्युत्पत्ति यह बतलाती है कि नञर्थ अभाव में विभक्त्यर्थ का अन्वय यदि करना हो तो आधेयता से अतिरिक्त विभक्त्यर्थ का नञर्थ अभाव में प्रतियोगितया ही अन्वय होता है। जैसे —'**बाणेन न हन्ति**' में नञर्थ अभाव में बाणोत्तर तृतीया के अर्थ करणकत्व का प्रतियोगितया ही अन्वय होता है। इस प्रकार बाणकरणकत्वाभाववत् हनन का बोध इस वाक्य से हुआ करता है। '**भूतले न घटः**' इस स्थल में भूतलपदोत्तर सप्तमी के अर्थ आधेयत्व का नञर्थ अभाव में आश्रयता सम्बन्ध से भी अन्वय व्युत्पन्न होता है। इस कारण भूतलवृत्ति घटाभाव का बोध इस वाक्य से हुआ करता है। अतः इस व्युत्पत्ति में आधेयत्वातिरिक्त अंश का निवेश किया गया है।

**'प्रकृत्यर्थसुबर्थयोरन्तरा नञर्थातिरिक्तस्य भानमव्युत्पन्नम् '**

'प्रकृत्यर्थ और सुबर्थ के बीच में नञर्थ से अतिरिक्त का भान अव्युत्पन्न होता है'

सामान्यतया यह नियम बताया गया है कि प्रत्यय प्रकृत्यर्थ से अन्वित स्वार्थ के बोधक होते हैं । यह व्युत्पत्ति उक्त नियम का आंशिक विरोध दिखाती है। इस व्युत्पत्ति के द्वारा यह बतलाया जाता है कि प्रकृत्यर्थ और सुबर्थ के बीच में किसी अर्थ का भान नहीं स्वीकारा जा सकता है। किन्तु कुछेक जगहों पर इस नियम के पालन में दिक्कत आती है उदाहरणस्वरूप '**नामूढस्येतरोत्पत्तेः' न्या॰ सू॰ 4/1/1** यहाँ पर मोहहीन को रागद्वेष नहीं होता है यह बतलाना अपेक्षित है अर्थात् मोहाभाव में रागद्वेषोत्पत्त्यभावहेतुत्व बतलाना अपेक्षित है। हेतुत्व पञ्चमी का अर्थ है। पञ्चमी का प्रयोग है उत्पत्ति पद के बाद। इस प्रकार उत्पत्तिहेतुत्व उत्पत्तेः पद से प्रत्यायित हो सकता है। नोत्पत्तेः से उत्पत्त्यभावहेतुत्व तभी

1. मणिकारमते 'तस्माज्जानाति इत्यादौ ज्ञानादिरूपधात्वर्थ एव हेतुविभक्त्यर्थस्य 'तस्मात् स्थीयते' इत्यादौ च सर्वमत एव धात्वर्थस्थित्यादौ तस्यान्वयेन षष्ठ्यर्थसम्बन्धस्यापि 'गुरुविप्रतपस्विदुर्गतानां प्रतिकुर्वीत भिषक्स्वभेषजैः'' इत्यादौ धात्वर्थेऽन्वयेन.......कारकविभक्तिभिन्नविभक्त्यर्थस्य क्रियायामनन्वय इत्यनियमात् । पृ. 406

2. हेतुविभक्त्यतिरिक्तविभक्त्यर्थस्य क्रियायामनन्वयनियमात् । पृ. 465

प्रत्यायित हो सकता है यदि प्रकृतिपद के अर्थ उत्पत्ति और हेतुपञ्चमी के अर्थ हेतुत्व के बीच में नञ् के अर्थ अभाव का अन्वय स्वीकार लिया जाये । इस कारण नञर्थ का प्रकृत्यर्थ और सुबर्थ के बीच में भी अन्वय स्वीकार लिया जाता है।

**'उपलक्षणीभूतधर्मावच्छिन्ने न नञर्थाभावान्वयः'**

'उपलक्षणीभूत धर्मावच्छिन्न में नञर्थ अभाव का अन्वय नहीं होता है' इस व्युत्पत्ति के द्वारा प्रतियोगि व अभाव के अन्वय के तुल्ययोगक्षेमता के नियम में सङ्कोच किया जाता है। जैसे कि गन्ध केवल पृथिवी में रहता है सभी द्रव्यों में नहीं रहता है किन्तु **'द्रव्ये गन्धः'** ऐसा प्रयोग होता है और इस प्रयोग से उपलक्षणीभूतद्रव्यत्व से अवच्छिन्न में गन्ध की प्रतीति होती है। किन्तु जल आदि द्रव्यों में गन्धाभाव के रहने पर भी इसी की तर्ज पर **'द्रव्ये न गन्धः'** प्रयोग नहीं किया जा सकता है क्योंकि उपलक्षणीभूत द्रव्यत्व से अवच्छिन्न में नञर्थ अभाव गन्धाभाव का अन्वय नहीं किया जा सकता है और विशेषणीभूत द्रव्यत्वावच्छिन्न में गन्धाभाव पृथिवी में गन्ध के रहने के कारण बाधित है।

**'आख्यातार्थवर्तमानत्वादेर्नञ्समभिव्याहारस्थलेऽभावांशे एवान्वयस्य व्युत्पन्नत्वम्'**

'नञ् समभिव्याहारस्थल में आख्यातार्थ वर्तमानत्वादि का अभावांश में ही अन्वय व्युत्पन्न होता है'

आख्यातार्थ वर्तमानत्व, भविष्यत्त्व, भूतत्व का अन्वय आख्यातार्थ कृति में अन्वय हुआ करता है। नञ् समभिव्याहार होने पर वर्तमानत्वादि का अन्वय कृति में न होकर कृति के अभाव में हुआ करता है। इस विषय में गदाधर अपनी युक्ति देते हैं कि यदि नञ् समभिव्याहार स्थल में भी कृति में ही आख्यातार्थ वर्तमानत्वादि का अन्वय किया जाये तो **'विनष्टघटं न पश्यति'** इत्यादि स्थलों में विनष्टघटकर्मकवर्तमानदर्शनाभाव का बोध होना चाहिए और इसके लिए आवश्यक है कि प्रतियोगी विनष्टघटकर्मकवर्तमानदर्शन की प्रसिद्धि हो। किन्तु वह अप्रसिद्ध है, इस कारण अन्वयबोध नहीं हो पायेगा[1]। इस कारण वर्तमानत्वादि का अभावांश में ही अन्वय व्युत्पत्तिसिद्ध माना जाता है।

विभिन्न व्युत्पत्तियाँ सामान्यतः निष्कर्ष के रूप में बतलायी गयी हैं।

**'गृह्णाति वाचकः संख्यां प्रकृतेर्विकृतेर्नहि'**

'आख्यात प्रकृति की संख्या का ही ग्रहण करता है विकृति की नहीं'

प्रयोग होता है **'वृक्षः पञ्च नौका भवति'** यहाँ पर वृक्ष और नौका में प्रकृतिविकृतिभाव है। वृक्ष भी भवन क्रिया का कर्ता है और नौका भी, किन्तु भूधातूत्तर आख्यात का एकवचन होता है बहुवचन नहीं । वृक्ष के अनुसार उसमें एकवचन ही होता है, नौका के अनुसार बहुवचन नहीं होता है। इसी प्रकार **'काष्ठानि भस्मराशिः क्रियन्ते'** इस प्रयोग में कृति कर्मता काष्ठ और भस्मराशि दोनों में होने पर भी कर्माख्यात प्रयोग होने पर क्रिया में काष्ठपदानुसारी बहुवचन ही होता है । भस्मराशि के अनुसार एकवचन नहीं होता है। इसका कारण यही है कि इन स्थलों में क्रमशः नौका के कर्तृत्व का और भस्मराशि के

---

1. अन्यथा 'विनष्टघटं न पश्यति' इत्यादौ तादृशघटकर्मकवर्तमानदर्शनाद्यप्रसिद्धयाऽन्वयबोधानुपपत्तेः। पृ. 543

कर्मत्व का लकार से अभिधान नहीं होता है, वह संसर्गमर्यादा से भासता है। वृक्ष के कर्तृत्व का और काष्ठ के कर्मत्व का ही धातूत्तर कर्त्राख्यात व कर्माख्यात से बोधन होता है। इस प्रकार यह व्युत्पत्ति स्वरूप कथन करती है।

**'एकपदोपस्थापितयोर्द्वयोस्तत्प्रकृतिकविभक्त्यर्थे एकस्य विशेषणतयाऽपरस्य तदविशेषणतयाऽन्वयो न भवति'**

'एक पद से उपस्थापित दो अर्थों में से एक का तत्प्रकृतिक विभत्त्यर्थ में विशेषणतया और दूसरे का अविशेषणतया अन्वय नहीं होता है'

यह व्युत्पत्ति नानार्थक शब्दों के अर्थों के अन्वय के बारे में है। एक पद से यदि दो अर्थ उपस्थित हो रहे हैं तो दोनों का ही उस पद के बाद की विभक्ति के अर्थ में विशेषणतया तो अन्वय हो सकता है, जैसे **'रामः पुष्पवन्तौ पश्यति'** प्रयोग करें तो पुष्पवन्त पदोपस्थाप्य सूर्य और चन्द्रमा दोनों का स्वोत्तर द्वितीया के अर्थ कर्मत्व में विशेषणतया तो अन्वय हो सकता है, लेकिन ये नहीं हो सकता है कि एक अर्थ तो कर्मता में विशेषणतया भासे और एक अर्थ विशेष्यतया । इसी प्रकार **'सैन्धवं भुङ्क्ते'** आदि स्थलों में भी एक का विशेषणतया और दूसरे का अविशेषणतया अन्वयबोध असम्भव है।

कर्ता के अभिहित न होने पर उससे तृतीया होती है। इस विषय में गदाधर व्युत्पत्ति बतलाते हैं कि —

**'आश्रयातिरिक्तविशेषणतापन्नकर्तृत्वविशेषणतानापन्नक्रियायामेव विशेषणतया तृतीयया कर्तृत्वं बोध्यते'**

'आश्रयातिरिक्त में अविशेषणतापन्न कर्तृत्व में विशेषणतानापन्न क्रिया में ही विशेषणतया कर्तृत्व तृतीया के द्वारा बोधित होता है'

**'चैत्रेण पच्यते'** इस प्रयोग के द्वारा पाक क्रिया में विशेषणतया कर्तृत्व तृतीया के द्वारा विवक्षित है, तथा वह पाकक्रिया आश्रयातिरिक्त में अविशेषणतापन्न कर्तृत्व में विशेषणतानापन्न है। इस कारण तृतीया साधु होती है। चैत्र और मैत्र यदि एक ही पाकक्रिया कर रहे हों तो **'चैत्रेण पचति मैत्रः'** प्रयोग नहीं किया जा सकता है क्योंकि यहाँ पर मैत्र में विशेषणीभूत कृति में विशेषण बननेवाली पाकक्रिया में ही विशेषणतया चैत्र का कर्तृत्व विवक्षित है और वह तृतीया से नहीं बोधित किया जा सकता है। चूँकि **'चैत्रेण मैत्रः पाचयति'** यहाँ पर णिच् का अर्थ है कर्तृत्वनिर्वाहकव्यापार, इस कारण व्यापार में विशेषणीभूत कर्तृत्व में विशेषणतापन्न पाकक्रिया में विशेषणतया कर्तृत्व बोधित करना विवक्षित है। इस कारण तृतीया से कर्तृत्व बोधित हो ा है।

**'सामान्यविधेर्विशेषतरपरत्वम्'**

'सामान्यविधि विशेषेतर परक होती है'

यह व्युत्पत्ति लोक और शास्त्र दोनों में समान रूप से लागू होती है। यह व्युत्पत्ति एक तो इस कारण मानी जाती है कि सामान्यविधि की विशेषविधि अपवाद होती है। व्याकरणशास्त्रीय उदाहरण देखें तो **'आदगुणः' पा॰ सू॰ 6/1/87** और **'वृद्धिरेचि' पा॰ सू॰ 6/1/88** को लिया जा सकता है। **'आद्गुणः'** सामान्यविधि है और **'वृद्धिरेचि'** **विशेषविधि** है। विशेषविधि को छोड़कर सामान्यविधि की प्रवृत्ति होती है। अवर्ण के बाद **एच् से अतिरिक्त** अच् होने पर ही गुण की प्रवृत्ति होती है। लोक में भी इसका उदाहरण

देखा जा सकता है। सामान्यविधि और विशेष विधि में विरोध न होने पर भी ऐसा होता है। जैसे प्रयोग करें कि '**ब्राह्मणेभ्यो दधि दीयतां तक्रं कौण्डिन्याय**' 'ब्राह्मणों की दही दो और कौण्डिन्य को मट्ठा' कौण्डिन्य को दोनों ही देने में भी कोई विरोध नहीं है किन्तु कौण्डिन्य को छोड़कर ही दधिदान की प्रवृत्ति होती है।

**'कथञ्चिद् बाधकापनयसम्भवे नौत्सर्गिकार्थपरित्यागः'**

'यदि किसी तरह बाधकों का अपनय सम्भव हो तो औत्सर्गिक अर्थ का परित्याग नहीं किया जाता है' ऐसा नहीं होता कि बाधकों का अपनय सम्भव होने पर भी औत्सर्गिक अर्थ को छोड़ दिया जाये।

इस प्रकार इस ग्रन्थ में अनेक व्युत्पत्तियों का प्रतिपादन किया गया है। इसके अतिरिक्त अनेक व्युत्पत्तियाँ ऐसी भी इस ग्रन्थ में प्रतिपादित की गयी हैं, गदाधर ने जिनका खण्डन कर दिया है। कुछ अन्य व्युत्पत्तियाँ भी हो सकती हैं जो गदाधर को स्वीकार्य हों किन्तु मुझे दृष्टिगत न हुई हों।

**प्रत्ययाद्यर्थनिरूपण**

जैसा कि पूर्व में ही मैंने कहा था कि इस ग्रन्थ का मूल प्रतिपाद्य प्रत्ययादि के अर्थ का निरूपण है। प्रत्यय आदि के अर्थों के अन्वय के प्रसङ्ग में ही व्युत्पत्तियों का भी कथन किया गया है। प्रत्ययों के बारे में बतलाना प्रारम्भ करते हुए गदाधर कहते हैं कि— '**प्रत्ययाश्च विभक्तिकृत्तद्धितादि[1]भेदेन नानाविधाः। विभक्तिश्च सुप्तिङ्भेदेन द्विविधा**' (पृ. 194) इस प्रकार प्रत्ययों के बहुविधत्व का उपपादन करने के बाद एक एक कर प्रत्ययों के अर्थों का विवेचन करते हैं।

**सुप् प्रत्यय का अर्थ**

प्रातिपदिकों से सु, औ, जस् आदि इक्कीस विभक्तियों का विधान किया जाता है। इन इक्कीसों प्रत्ययों की सुप् विभक्तियों की शक्ति सामान्य रूप से संख्या में है। एकवचन की शक्ति एकत्व में, द्विवचन की शक्ति द्वित्व में और बहुवचन की शक्ति बहुत्व में है। किन्तु यहाँ पर एकवचनादि की एकत्वादिवाचकता गदाधर एकवचनत्वादि रूप से नहीं मानते हैं क्योंकि उनका मानना है कि एकवचनत्वादि का निर्वचन सम्भव नहीं है।

यहाँ पर संख्या को भी प्रकृत्यर्थ मानने वाला एक पक्ष आता है। उस पक्ष का मानना है कि संख्या भी प्रकृति का ही अर्थ है एकवचनादि अर्थों में तात्पर्यग्राहक ही होते हैं। चूँकि एकवचनाद्यन्तपदों का ही एकत्वादि में अनादितात्पर्य है और अनादि तात्पर्य ही स्वारसिक प्रयोग के मूल में होता है, इस कारण एकत्वादि के तात्पर्य से द्विवचनाद्यन्त पदों के स्वारसिक प्रयोग की आपत्ति नहीं आती है। इस पक्ष में गदाधर की खण्डन युक्ति है कि प्रकृति पद तो अनन्त है और प्रत्यय थोड़े से हैं। अनन्त प्रकृति पदों में एकत्वादिशक्ति और अनन्त प्रकृत्यानुपूर्वी को शक्ततावच्छेदक मानने की अपेक्षा थोड़ी विभक्तियों की आनुपूर्वी को ही एकत्वादि का शक्ततावच्छेदक स्वीकारना ही उचित है।[2]

---

1. आदिपदात् सन्क्यच्क्यङ्यङादयो ग्राह्याः।
पृ. 90 गूढार्थतत्त्वालोक (व्युत्पत्तिवाद)

2. अनन्तानां प्रकृत्यानुपूर्वीणां शक्ततावच्छेदकत्वापेक्षयाऽल्पतरविभक्त्याद्यानुपूर्वीणामेकत्वादिशक्ततावच्छेदकत्वस्यैवोचितत्वात्। पृ. 199

यद्यपि यहाँ पर भी प्रकृति को ही संख्या का बोधक मानने के पक्ष में लाघव है क्योंकि विभक्ति को संख्या का बोधक मानने पर भिन्नविषयक प्रत्यक्ष और समानविषयक अनुमिति के प्रति शाब्दसामग्री की प्रतिबन्धकता में प्रातिपदिकजन्य घटाद्युपस्थिति और विभक्तिजन्य संख्योपस्थिति दोनों का प्रवेश करना पड़ेगा और उनके विशेष्यविशेषणभाव में विनिगमना न होने से विशेषणविशेष्यभाव के विपर्यास से प्रतिबन्धकता का बाहुल्य होग। प्रकृति को विशिष्ट में लाक्षणिक मानने पर विशिष्ट विषयक एक ही उपस्थिति का सामग्री में अन्तर्भाव करना पड़ेगा इसलिए लाघव है।[1] तथापि गदाधर विभक्तियों के संख्यार्थकत्व को ही सिद्धान्ततः स्वीकारते हैं । क्योंकि संख्या विशिष्ट में प्रकृति की शक्ति या लक्षणा मानकर विभक्तियों के संख्यार्थकत्व का खण्डन करने में समस्या यह है कि प्रश्न उठेगा कि फिर आप विभक्तियों को कर्मत्वाद्यर्थक क्यों मानते हैं ? कर्मत्वादि भी प्रकृति के द्वारा ही उपस्थित होते हैं यही क्यों नहीं स्वीकार लेते हो? इस में भी कोई मुश्किल तो है नहीं । इसके अतिरिक्त एक और प्रश्न उठता है कि जैसे आप प्रकृति को ही विभक्त्यर्थ का भी बोधक मान रहे हो, तुल्ययुक्ति से उसी प्रकार विभक्ति को ही प्रकृत्यर्थ से विशिष्ट विभक्त्यर्थ का बोधक क्यों न स्वीकार लिया जाये? इस पक्ष में तो अनन्त प्रकृतियों के शक्यकल्पना में भी लाघव होगा[2] जो कि ज़्यादा बड़ा लाघव है। चूँकि दोनों का विविक्त स्थल मिलना सम्भव नहीं है, ऐसा कोई स्थान न मिलेगा जहाँ पर कि केवल प्रकृति का प्रयोग हो या केवल प्रत्यय का क्योंकि कहा गया है कि **'न केवला प्रकृतिः प्रयोक्तव्या न केवलः प्रत्ययः'** जहाँ पर केवल प्रकृति ही दिखती है दधि इत्यादि स्थलों पर वहाँ पर भी विभक्ति का अनुसन्धान करके बोध होता है। समासस्थलों में पूर्वपद के बाद विभक्ति न होने पर भी समस्तपद के बाद तो विभक्ति होती ही है उसी को सम्पूर्ण अर्थ का बोधक मान लिया जायेगा । इस कारण प्रकृति की संख्यार्थकता न स्वीकार कर विभक्ति की ही संख्यार्थकता माननी चाहिए ।

## संख्या का अन्वय

प्रकृत्यर्थ में संख्या पर्याप्ति सम्बन्ध से ही विशेषण बनती है समवाय सम्बन्ध से नहीं क्योंकि एकव्यक्ति में भी द्वित्वादिसंख्या के समवाय सम्बन्ध से रहने के कारण आकाश आदि पदों से भी द्विवचन, बहुवचन आदि होने की आपत्ति आयेगी ।

अब इसमें भी परिष्कार करते हुए उद्देश्यतावच्छेदकव्याप्तिविशिष्ट पर्याप्ति की संसर्गता स्वीकार की जाती है क्योंकि घटाकाश आदि में द्वित्व की पर्याप्ति रहने पर एक-एक में द्वित्व की पर्याप्ति नहीं है ऐसा कहना मुश्किल है। इस प्रसङ्ग में विस्तार से विवेचन करते हुए गदाधर 'पर्याप्ति सम्बन्ध की सत्ता है या नहीं' यह भी विचार करते हैं

1. विभक्तेः संख्याबोधकत्वे समानविषयकामुमित्यादिकं प्रति शाब्दसामग्रीप्रतिबन्धकतायां या प्रातिपदिकजन्या घटाद्युपस्थितिर्या च विभक्तिजन्या संख्योपस्थितिः प्रवेश्या तयोश्चमिथो विशेष्यविशेषणभावे विनिगमनाविरहात् प्रतिबन्धकताबाहुल्यम् । प्रकृतेर्विशिष्टलाक्षणिकत्वे तु तदुभयस्थलीयविशिष्टविषयकोपस्थितिरेकैव सामग्र्यामन्तर्भवतीति लाघवम् । पृ. 207
2. तत्र प्रतिबन्धकत्वलाघवमिवानन्तानां प्रकृतीनां शक्यकल्पनालाघवमप्यधिकं भविष्यति ।
पृ. 102 गूढार्थतत्त्वालोक (व्युत्पत्तिवाद)

तथा अन्ततः द्वित्वादिपर्याप्ति को द्वित्वादि स्वरूप ही मानते हैं ।[1]

सामान्यतया संख्या का अन्वय प्रकृत्यर्थ में होने पर भी कुछेक स्थलों में प्रकृत्यर्थतावच्छेदकगत संख्याओं की प्रतीति होती है। जैसे कि **'सम्पन्नौ व्रीहियवौ'** इत्यादि स्थलों में व्रीहित्व और यवत्व में द्विवचनोपस्थापित द्वित्व का अन्वय होता है।

विरुद्धसंख्यावच्छिन्न वाचक शतआदि पदों की विभक्तियों से उपस्थाप्य संख्या का अन्वय प्रकृत्यर्थ में न होकर प्रकृत्यर्थतावच्छेदकसंख्या में ही हुआ करता है। जैसे कि **'द्वे शते'** आदि स्थलों में द्विवचनोपस्थाप्य द्वित्व का शतत्व में अन्वय होता है।

### विभक्तियों की निरर्थकता

एक, द्वि, बहु शब्दों के बाद आये एकवचन, द्विवचन और बहुवचन संख्या के बोधक नहीं होते हैं केवल पद साधुत्वार्थ ही उनके बाद प्रथमा विभक्ति होती है क्योंकि उद्देश्यतावच्छेदक और विधेय का ऐक्य हो जाने से अन्वयबोध में आकाङ्क्षा नहीं रहती है।

इसी प्रकार नित्यबहुवचनान्त अप् , दार आदि पदों के बाद आनेवाला प्रथमा का बहुवचन भी निरर्थक ही होता है प्रयोगसाधुत्वमात्रार्थक ही होता है।

इस रीति से सामान्यतया सुप् विभक्तियों का संख्यावाचकत्व है।

### प्रथमार्थ

प्रथमा का अर्थ सिर्फ़ संख्या होती है। क्योंकि प्रथमा का विधान किसी अन्य अर्थ में नहीं किया गया है। यद्यपि विशेषण विभक्ति का अभेदार्थकत्व स्वीकारा जाये तो प्रथमा का अर्थ अभेद हो जायेगा, किन्तु गदाधर की अभिरुचि इसमें नहीं है।

### द्वितीयार्थ

कर्मत्व द्वितीया का अर्थ है, गदाधर ऐसा व्यवस्थापित करते हैं । यद्यपि **'कर्मणि द्वितीया'** इस प्रकार पाणिनि ने निर्देश किया है तथापि कर्म में द्वितीया न मान कर कर्मत्व में द्वितीया स्वीकारी जाती है। कर्मत्व क्रियाजन्यफलशालित्व है। इस कारण क्या क्रियाजन्यफलशालित्व द्वितीया का अर्थ है? तो इस प्रश्न का उत्तर यह दिया जाता है कि शब्दार्थ अनन्यलभ्य होता है। क्रिया तो धातु से लब्ध हो जाती है क्योंकि धातु का अर्थ क्रिया ही तो है। जन्यजनकभाव को किसी पद का अर्थ न मानने पर भी उसका संसर्गमर्यादा से भान सम्भव है। इस कारण फलमात्र ही द्वितीया का अर्थ स्वीकारा जाता है। क्रियाजन्यफलशालित्व को मुख्य कर्मत्व मानने पर वैयाकरण **'काशीं गच्छन् पथि मृतः'** में काशी की कर्मता नहीं हो सकेगी ऐसी आपत्ति देते हैं । इस पर नैयायिकों का निवारण है कि काशी आदि के क्रियाजन्यकफलाश्रय न होने पर भी गौण कर्मत्व ही है और वह प्रकृतक्रिया कर्तृसमवेतच्छीयक्रियाजन्यफलाश्रयत्वप्रकारतानिरूपितमुख्यविशेष्यताश्रयत्व है।[2]

किन्तु फल को द्वितीयार्थ मानना तभी सम्भव है यदि फल किसी दूसरे से लब्ध न हो रहा हो। इस कारण नवीन नैयायिकों के अनुसार फल को द्वितीया का अर्थ मानना कठिन होगा क्योंकि नवीननैयायिक फलावच्छिन्नव्यापार को धात्वर्थ मनाते हैं । फल को

---

1. द्वित्वादिस्वरूपस्यैव द्वित्वादिपर्याप्तितयाभिमतसिद्धेः । पृ. 219

2. काश्यादेरपि क्रियाजन्यफलानाश्रयत्वेनामुख्यमेव कर्मत्वं तच्च प्रकृतक्रियाकर्तृसमवेतेच्छीयक्रियाजन्य-फलाश्रयत्वप्रकारतानिरूपितमुख्यविशेष्यताश्रयत्वं काश्याञ्च तदस्ति ।

पृ. 114 गूढार्थतत्त्वालोक व्युत्पत्तिवाद

द्वितीयार्थ मानना प्राचीनों के मत से ही सम्भव है क्योंकि प्राचीनों के अनुसार धातु का अर्थ व्यापार मात्र होता है। चूँकि नव्यनैयायिकों के अनुसार फल अनन्यलभ्य नहीं होता है, इस कारण उसे द्वितीया का अर्थ न मानकर द्वितीया का अर्थ आधेयत्व ही मानते हैं ।

इस प्रकार द्वितीयार्थ आधेयत्व का अन्वय धात्वर्थतावच्छेकीभूतफल में हुआ करता है। किन्तु इसमें '**कर्मणि द्वितीया**' इस अनुशासन से विरोध उपस्थित होता है क्योंकि सूत्र ने कर्म में द्वितीया का विधान किया है। उसका यह अर्थ तो आप कर सकते हैं कि कर्मत्व में द्वितीया होती है किन्तु आधेयत्व में द्वितीया होती है, यह अर्थ आप कैसे कर सकेंगे ? इसका समाधान यह किया जाता है कि कर्म का अर्थ है फलनिष्ठआधेयत्वान्वयी उसमें प्रकृति का तात्पर्य होने पर उसके बाद द्वितीया होती है।

यहाँ पर तीसरा पक्ष उपवर्णित किया गया है कि आधेयत्व का भान संसर्गमर्यादा से स्वीकारते हुए प्रकृत्यर्थ का धात्वर्थ में सीधे-सीधे ही अन्वयबोध करना चाहिए । यह पक्ष विभक्त्यर्थसंसर्गतावादियों का है। इस पक्ष में यद्यपि लाघव है किन्तु इसे मानना युक्तिसङ्गत नहीं है यह पूर्व में स्पष्ट किया जा चुका है।

लेकिन द्वितीया का अर्थ आधेयत्व मानने में सप्तम्यर्थ आधेयत्व का व्यापार में अन्वय जैसे होता है उसी प्रकार व्यापार में द्वितीयार्थ आधेयत्वान्वय के अनुरोध से '**गृहे पचति**' की तरह '**गृहं पचति**' प्रयोग होना चाहिए । इसका उत्तर यह दिया जाता है कि धात्वर्थतावच्छेदकीभूत फलांश में ही आधेयत्वान्वय में द्वितीया की सार्थकता होती है। सप्तमी और द्वितीया की समानार्थकता होने पर भी इस व्युत्पत्तिभेद को बतलाने के लिए ही दो सूत्र बनाये गये हैं।

'**गां गोग्धि पयः**' इत्यादि स्थलों में गोआदिपदोत्तर द्वितीया के द्वारा क्रिया-जन्यफलशालित्व रूप कर्मत्व नहीं बोधित होता है क्योंकि उक्त प्रयोगीय गो आदि पदों से '**अकथितञ्च**' सूत्र से द्वितीया होती है।

ज्ञान आदि सविषयकवस्त्वभिधायक धातुओं का योग होने पर प्रधान कर्म से अन्वित द्वितीया का अर्थ प्राचीन मत में विषयत्व होता है तथा निरूपकता सम्बन्ध से धात्वर्थ में अन्वय होता है। नवीन मत में तो द्वितीया का अर्थ विषयित्व है तथा उसका आश्रयत्वसम्बन्ध से धात्वर्थ ज्ञानादि में अन्वय होता है। तथा ज्ञानादिविषयत्व ही ज्ञानादिकर्मत्व होता है। णिच्प्रत्ययप्रकृतिभूतधात्वर्थकर्तृवाचकपद से भी द्वितीया होती है क्योंकि '**गतिबुद्धिप्रत्य-वसानार्थकर्माकर्मकाणामणि कर्ता स णौ**' इस सूत्र से गत्याद्यर्थक धातुओं के कर्ता की णिच् प्रत्यय होने की स्थिति में कर्मसंज्ञा का विधान किया गया है। इसलिए ऐसी द्वितीया का अर्थ मुख्य और भाक्तसाधारण कर्तृत्व ही है। उसका निरूपकता सम्बन्ध से धात्वर्थ में अन्वय होता है। नवीनों का मत इससे अलग है। इस मत में जहाँ पर कर्तृत्व आश्रयत्व रूप है वहाँ पर द्वितीया का अर्थ आधेयत्व है, जहाँ पर कर्तृत्व अनुकूलकृतिमत्त्व रूप है वहाँ पर द्वितीया का अर्थ कृतिजन्यत्व है, जहाँ पर कर्तृत्व प्रतियोगित्व रूप है वहाँ पर द्वितीया का अर्थ अनुयोगित्व होता है।

चाक्षुष आदि तत्तद् इन्द्रियजन्य प्रत्यक्षवाचक धातुओं से समभिव्याहृत द्वितीया का अर्थ लौकिकविषयित्व हुआ करता है, इसी कारण ज्ञानलक्षणा सन्निकर्ष से सौरभादि का चाक्षुष प्रत्यक्ष होने पर भी '**सौरभं पश्यति**' इत्यादि प्रयोग नहीं होते हैं ।

अनुमित्याद्यर्थक धातुओं का योग होने पर प्राचीन मत से विधेयत्व द्वितीया का अर्थ होता है और नवीन मत से विधेयित्व द्वितीया का अर्थ होता है। विधेयत्व का निरूपकता सम्बन्ध से और विधेयित्व का आश्रयत्व सम्बन्ध से ज्ञानविशेष अनुमिति में अन्वय होता है।

इच्छार्थकधातुस्थल में द्वितीया का अर्थ मुख्यविशेष्यत्व रूप कर्मत्व ही है अथवा उद्देश्यता ही द्वितीया का अर्थ है।

**'तण्डुलानोदनं पचति'** इत्यादि स्थलों में प्रकृतिकर्मतण्डुलादिपदोत्तर द्वितीया का नाशकत्व अर्थ होता है और विकृतिकर्म ओदनादि पदोत्तर द्वितीया का उत्पादकत्व अर्थ होता है। इन दोनों का ही पाक में अन्वय होता है।

**'अधिशीङ्स्थासां कर्म' पा० सू० 1/4/46** के द्वारा आधार की कर्मसंज्ञा का विधान किया गया है, वहाँ पर आधारत्व या आधेयत्व द्वितीया का अर्थ होता है।

विनापद के योग में भी द्वितीया का विधान किया गया है **'दण्डं विना न घट उत्पद्यते'** इत्यादि स्थलों में, यहाँ पर विना पद का अर्थ अभाववान् होता है और अभाव से ही द्वितीया के अर्थ प्रतियोगित्व का अन्वय किया जाता है।

मर्यादार्थक और अभिविध्यर्थक यावत् शब्द का योग होने पर भी द्वितीया का होना देखा जाता है। मर्यादा दो तरह की होती है समयरूपा मर्यादा व देशरूपा मर्यादा । कालरूपा मर्यादा में यावत् शब्द का अर्थ प्रागभाव होता है द्वितीया का अर्थ प्राचीनों के अनुसार प्रतियोगित्व होता है तथा उसका प्रागभाव में निरूपकता सम्बन्ध से अन्वय होता है। नवीनों के अनुसार द्वितीयार्थ अनुयोगित्व है उसका प्रागभाव में आश्रयत्व सम्बन्ध से अन्वय होता है । देशरूपा सीमा के लिए भी यावत् शब्द का प्रयोग होता है, वहाँ पर यावत् शब्द के द्वारा तत्तद्देशानधिकरणत्वविशिष्ट तत्तद्देशद्वयमध्यवर्तिदेशव्यापकत्व प्रत्याय्यित किया जाता है। द्वितीया का अर्थ यहाँ पर प्राचीनों के अनुसार अवधित्व और नवीनों के अनुसार अवधिमत्त्व है।

**'यज्ञमनु प्रावर्षत्'** इत्यादि स्थलों में अनुशब्द का अर्थ कारकत्वरूप हेतुत्व है, उसमें यज्ञान्वित आधेयत्वरूप द्वितीयार्थ का अन्वय होता है। इस प्रकार यहाँ पर भी आधेयत्व ही द्वितीया का अर्थ है। **'अन्वर्जुनं योद्धारः'** इत्यादि स्थलों में अनुशब्द का अर्थ हीनत्व है, द्वितीया का अर्थ यहाँ पर अवधिकत्व है । उसका हीनत्व में अन्वय होता है।

कर्मप्रवचनीय का योग होने पर भी द्वितीया होती है। तत्तत् स्थलों में द्वितीया का अर्थ यथासम्भव आधेयत्व या निरूपितत्व होता है। इसी प्रकार कुछ अन्य स्थलों में भी द्वितीया के अर्थ का निर्वचन गदाधर करते हैं ।

कर्मत्वार्थक द्वितीया होने पर द्वितीया का अर्थ परसमवेतत्व भी होता है क्योंकि गमन जन्य संयोग के ग्राम और चैत्र दोनों में ही समान रूप से रहने पर भी **'चैत्रःस्वं गच्छति'** प्रयोग नहीं होता है। इस परसमवेतत्व का अन्वय धात्वर्थ में हुआ करता है। परत्व के एकदेश होने पर भी आकाङ्क्षा की विचित्रता से उसमें प्रकृत्यर्थ का अन्वय हो जाता है। परत्व माने भेद है। इसमें अनेक मुश्किलें आती हैं इसलिए भेदप्रतियोगितावच्छेदकत्व को

द्वितीयार्थ मानने का पक्ष उठाते हैं तथा उसमें भी दोष देखकर संयोगादि का स्वजनकत्व और स्वाश्रयनिष्ठभेदप्रतियोगितावच्छेदकत्वोभयसम्बन्ध से क्रिया में अन्वय स्वीकारते हैं। इस प्रकार पर समवेतत्व का प्रवेश सम्बन्धविधया ही गदाधर मानते हैं । इसी प्रकार कर्माख्यातस्थल में भी क्रिया का संयोग में स्वजन्यत्वस्वावच्छिन्नभेदसामानाधिकरण्य सम्बन्ध से अन्वय होता है।

**तृतीयार्थ**

चूँकि कर्ता और करण अर्थ में तृतीया का विधान '**कर्तृकरणयोस्तृतीया**' **पा०सू० 2/3/18** के द्वारा किया गया है, इसलिए तृतीया का अर्थ करणत्व और कर्तृत्व होता है। मुख्य कर्तृत्व तो क्रियानुकूलकृति ही है और उसी का कर्मवाच्य और भाववाच्य में तृतीया के द्वारा प्रत्यायन होता है। किन्तु कृति को तृतीया का अर्थ मानने में समस्या होती है कि '**चैत्रेण पच्यते न मैत्रेण**' इत्यादि स्थलों में यही मानना पड़ेगा कि तृतीयान्त 'मैत्रेण' के अर्थ मैत्रीयकृति का अभाव पाक में अन्वित होता है, किन्तु कृति समवाय सम्बन्ध से तो आत्मा में ही रहती है, इस कारण समवाय सम्बन्ध से मैत्रीय कृति का अभाव पाक में तब भी रहेगा जब कि मैत्र पाक कर रहा है। इसलिए कृति का पाक में जन्यता सम्बन्ध से अन्वय होने के कारण जन्यतासम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक कृत्यभाव का पाक में अन्वय करना होगा, किन्तु जन्यतासम्बन्ध तो वृत्त्यनियामक होने के कारण अभावीयप्रतियोगितावच्छेदक नहीं हो सकेगा । इस कारण नवीन नैयायिक कृति को तृतीयार्थ न मानकर कृतिजन्यत्व को तृतीया मानते हैं । यहाँ पर भी अब शाब्दबोध में कोई मुश्किल नहीं है।

यहाँ पर एक पक्ष है जो कि तृतीया का अर्थ कर्तृत्व न मानकर तृतीया का अर्थ आधेयत्व ही मानता है, कृति को आख्यातार्थ ही मानता है। तृतीया के अर्थ आधेयत्व का आख्यातार्थ कृतिविशेषणतया ही अन्वय होता है। ऐसा स्वीकारता है। इसपक्ष में मुश्किल यह है कि जहाँ पर आख्यात नहीं है जैसे कि '**चैत्रेण पक्वम्**' इत्यादि स्थलों में आख्यातार्थ कृति की उपस्थिति नहीं हो सकेगी फिर तृतीयार्थ आधेयत्व का अन्वय कैसे हो सकेगा और किसमें हो सकेगा ?

अचेतन काष्ठ स्थाली आदि के भी कर्तृत्व की विवक्षा से तृतीया का प्रयोग होता है, वहाँ पर व्यापार रूप कर्तृत्व में प्राचीनमत से और व्यापाराश्रयरूपकर्तृकत्व में नवीनमत से तृतीया की लक्षणा होती है। इसी प्रकार '**चैत्रेण ज्ञायते, इष्यते**' इत्यादि स्थलों में तृतीया की आश्रयत्व में प्राचीनमत से और आधेयत्व में नवीनमत से लक्षणा होती है। '**नश्यते घटेन**' इत्यादि स्थलों में तृतीया की उक्तरीति से ही प्रतियोगित्व में या अनुयोगित्व में लक्षणा होती है।

हेतुमात्र अर्थ में भी तृतीया का विधान किया गया है, इस प्रकार उक्त स्थलों में हेतुत्व तृतीया का अर्थ होता है।

करणत्व विवक्षा में तृतीया का विधान किया गया है, करणत्व तो व्यापारवत्कारणत्व ही है तथा कारणत्व इसमें फलोपधानतारूप ही लेना आवश्यक है। इसके अतिरिक्त व्यापार में कर्तृव्यापाराधीनत्व विशेषण देना चाहिए। इस प्रकार कर्तृव्यापाराधीनव्यापारवत्कारणत्व है जिसमें कि तृतीया का विधान किया गया है। इस विशेषण के न देने पर कर्ता के भी

करणत्व की आपत्ति होगी क्योंकि कर्ता भी व्यापारवत् कारण तो होता ही है। यद्यपि इतना कहने पर भी कर्ता के करणत्व की आपत्ति आती है क्योंकि कर्ता के चेष्टादि व्यापार के अधीन व्यापारवत् कारण कर्ता होता है । इसलिए कर्ता में स्वभिन्नत्व भी विशेषण देना पड़ता है।

इस कारण लिङ्गज्ञान की जो लोग अनुमितिकरणता मानते हैं उनके मत में '**धूमेन वह्निमनुमिनोमि**' इत्यादि स्थलों में धूमादि पद धूमादिज्ञानपरक हैं । इसमें हेतुतृतीया भी कुछ लोग स्वीकारते हैं ।

सहार्थ का योग होने पर साहित्यप्रतियोगिवाचकपद से तृतीया होती है। प्रयोग होता है '**पुत्रेण सहागतः पिता**' । इन स्थलों में सहशब्द का अर्थ समभिव्याहृतपदोपस्थाप्य क्रिया का काल ही है। पुत्रादि का उस क्रिया में कर्तृकत्व तृतीया से बोधित होता है।

'**इत्थम्भूतलक्षणे' पा॰ सू॰2/3/31** के द्वारा लक्षणवाची पद से तृतीया का विधान किया जाता है। इस तृतीया का अर्थ वैशिष्ट्य हुआ करता है।

इस प्रकार मुख्यतः तृतीया करण और कर्तृवाचकपदों से ही होती है। मुख्यकर्तृत्व क्रियानुकूलकृतिमत्त्व होता है। वस्तुतः तो तत्क्रियाविषयक होते हुए जो तत्क्रियानुकूल कृति तादृशकृतिमत्त्व ही मुख्यकर्तृत्व होता है। इसी कारण अनजाने ही कोई कार्य हो जाने पर '**मत्तो भूतमिदम् न तु मया कृतम्** ' 'ये मुझसे हो गया मैंने किया नहीं' ऐसा प्रयोग हुआ करता है। इसी कारण ही अन्योद्देशेन शस्त्रप्रहार होने पर ब्राह्मण का जहाँ पर वध हो गया हो वहाँ पर सम्पूर्ण प्रायश्चित नहीं किया जाता है। इस प्रकार तृतीया का विधान कृतिरूप कर्तृत्व में ही किया गया है, अचेतनव्यापार में तृतीया का लाक्षणिक प्रयोग ही '**काष्ठेन पच्यते**' इत्यादि स्थलों में किया जाता है।

करणत्वार्थक तृतीया की शक्ति सिद्धान्ततः समभिव्याहृतकर्तृव्यापाराधीनत्व में और व्यापारवत् कारणत्व में अलग-अलग स्वीकारी जाती है। कर्ता का समभिव्याहार न होने पर '**काष्ठेन पचति** ' आदि से काष्ठ का व्यापारवत्कारणत्व मात्र प्रतीत होता है और कर्ता का समभिव्याहार होने पर '**चैत्रः काष्ठेन पचति**' आदि से काष्ठ का चैत्रव्यापाराधीनव्यापारवत् कारणत्व प्रतीत होता है।

### चतुर्थ्यर्थ

मुख्यतः चतुर्थी का विधान सम्प्रदानत्व में किया गया है, सूत्र है '**चतुर्थी सम्प्रदाने' पा॰ सू॰ 2/3/13** इस प्रकार अर्थ होता है कि सम्प्रदानत्व की वाचिका चतुर्थी होती है। सम्प्रदानत्व भी दो तरह का होता है मुख्य सम्प्रदानत्व और गौणसम्प्रदानत्व । मुख्य और गौण दोनों ही सम्प्रदानत्व क्रिया कर्मसम्बन्धितया कर्ता द्वारा अभिप्रेतत्व ही है। अब इसमें समस्या आती है कि इस तरह का सम्प्रदानत्व कर्मत्व रूप ही हो जायेगा क्योंकि '**कर्तुरीप्सिततमं कर्म' पा॰ सू॰1/4/79** के द्वारा क्रियाजन्यफलभागितया कर्ता की इच्छा के विषयत्व का ही कर्मत्व बतलाया गया है। क्रियाकर्मसम्बन्धितया कर्ता द्वारा अभिप्रेतत्व भी क्रियाजन्यफलभागितया कर्ता की इच्छा का विषयत्व ही है। इसका निवारण इस रीति से किया जाता है कि क्रियाजन्यफलाश्रयतया इष्टत्व कर्मत्व है और क्रिया-जन्यफलसम्बन्धितया इष्टत्व सम्प्रदानत्व है।

यद्यपि फलाश्रयत्व फलसम्बन्धित्व विशेष ही है, इसलिए क्रियाजन्यफलसम्बन्धितया इष्टत्व कर्म में चला जायेगा । फलतः उसके भी सम्प्रदानत्व की आपत्ति आयेगी । इस कारण धात्वर्थतावच्छेदकाश्रयत्व से भिन्न जो फलसम्बन्धित्व उसे ही सम्प्रदानत्व यहाँ पर बताया गया है । **'ब्राह्मणाय गां ददाति'** में गों में धात्वर्थतावच्छेकीभूत स्वत्व का आश्रयत्व है, दा धात्वर्थ स्वस्वत्वध्वंसपूर्वकपरस्वत्वानुकूल त्याग ही है, इसमें धात्वर्थतावच्छेदक स्वस्वत्वध्वंसपूर्वकपरस्वत्व का आश्रयत्व गो में है । इस कारण गो का कर्मत्व है। ब्राह्मण में गोनिष्ठ स्वत्वरूप फल का निरूपकत्वरूप सम्बन्धित्व है, यह सम्बन्धित्व धात्वर्थतावच्छेदक स्वत्व के आश्रयत्व से भिन्न है । **'पत्ये शेते'** में धात्वर्थ शयन, धात्वर्थतावच्छेदकशयनत्व के आश्रयत्व से भिन्न प्रीतिरूपफल का आश्रयत्व पति में है। अतः पति का सम्प्रदानत्व होता है। यहाँ पर पति का गौण सम्प्रदानत्व होता है।

इसके अतिरिक्त भी अन्य अर्थों में चतुर्थी का विधान और सम्प्रदान संज्ञा का विधान किया गया है। उनके अर्थ वहीं पर देख लेना चाहिए ।

**पञ्चम्यर्थ**

अपादानत्व अर्थ में पञ्चमी का विधान किया गया है। सूत्र है **'अपादाने पञ्चमी'** अपादानत्व स्वनिष्ठभेदप्रतियोगितावच्छेदकीभूतक्रियाजन्यविभागाश्रयत्व है। **'वृक्षात् पर्णं पतति'** इत्यादि स्थलों में वृक्ष का अपादानत्व = स्वनिष्ठभेदप्रतियोगितावच्छेदकीभूतक्रियाजन्यविभागाश्रयत्व पञ्चमी के द्वारा बोधित होता है। स्व माने वृक्ष, वृक्षनिष्ठ भेद 'क्रियावान् न' ऐसा भेद, इस भेद की प्रतियोगितावच्छेदकीभूता क्रिया पतन क्रिया उससे जन्य विभाग का आश्रयत्व वृक्ष में है।

इस प्रकार स्वनिष्ठभेदप्रतियोगितावच्छेदकीभूतक्रियाजन्यविभागाश्रयत्व ही अपादानत्व और पञ्चमी का अर्थ माना जा सकता है किन्तु इसमें समस्या यह हैं कि अर्थ अन्यलभ्य नहीं होता है । स्व माने वृक्ष ही है वह तो वृक्ष पद से ही उपस्थाप्य है। क्रिया भी इस अर्थ के अन्तर्गत प्रविष्ट है वह धातु से उपस्थाप्य है। इस कारण पञ्चमी की भेदप्रतियोगितावच्छेदकत्व और विभाग में दो शक्तियाँ मानी जाती हैं। विभाग का अन्वय पतनादिक्रिया में जनकत्व सम्बन्ध से करना पड़ेगा । जनकत्वसम्बन्ध के वृत्त्यनियामक होने से नञ्घटित स्थल में मुश्किल आयेगी क्योंकि जनकत्वसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभाव अप्रसिद्ध होता है। इस कारण विभागजनकत्व को पञ्चम्यर्थ मानते हैं ।

लेकिन नञ् घटित स्थलों में पुनः समस्या आती है। प्रश्न उठता है कि नञ् के अर्थ अभाव का अन्वय किसके साथ होगा, एक पञ्चम्यर्थ के साथ या दोनों के साथ ? किसी भी पक्ष में मार्ग न होने से इस पक्ष को छोड़ देते हैं।

यहाँ पर एक पक्ष यह सिद्धान्तित किया जाता है कि पञ्चमी का अर्थ विभाग और जनकत्व है। विभाग में प्रकृत्यर्थ का अवधिकत्व सम्बन्ध से अन्वय होता है और विभाग का निरूपितत्व सम्बन्ध से जनकत्व में अन्वय होता है। जनकत्व का क्रिया में अन्वय होता है।

दूसरा पक्ष यह सिद्धान्तित किया जाता है कि पञ्चमी के अर्थ विभाग, अधिकरणता और प्रयोजकत्व होते हैं । विभाग में प्रकृत्यर्थ का स्वावधिकत्व सम्बन्ध से अन्वय होता है,

विभाग का निरूपितत्व सम्बन्ध से अधिकारणता में और अधिकरणता का निरूपितत्वसम्बन्ध से प्रयोजकत्व में अन्वय होता है। किन्तु दोनों पक्षों में गदाधर का आग्रह प्रथम पक्ष में ही है।

**'वृक्षाद् विभजते'** इत्यादि स्थलों में पञ्चमी का अर्थ विभाग नहीं माना जाता है क्योंकि विभाग धातु से ही लब्ध हो जाता है। इस कारण यहाँ पर पञ्चमी अवधिकत्व अर्थ को बतलाती है।

इस प्रकार अपादानत्व अर्थ में होने वाली पञ्चमी कहीं पर विभागजनकत्व अर्थ में होती है और कहीं पर अवधिकत्व अर्थ में होती है। इन दोनों ही अर्थों के अन्वय की योग्यता होने पर भी **'वृक्षात् त्यजति'** ऐसा प्रयोग क्यों नहीं होता है? यहाँ पर विभागानुकूलव्यापार में विभागजनकत्व का भी अन्वय अबाधित है और विभाग में वृक्षावधिकत्व का अन्वय भी अबाधित है। इसके लिए धातु की शक्ति फलावच्छिन्नव्यापार में माननेवाले नव्यनैयायिक पञ्चम्यर्थ विभागजनकत्व के अन्वयबोध के प्रति धातु से जन्य फल से अनवच्छिन्नव्यापार की उपस्थिति को कारण मानते हैं और पञ्चम्यर्थ अवधिकत्व के अन्वयबोध के प्रति धातुजन्य विभागमुख्यविशेष्यक उपस्थिति को कारण मानते हैं ।

जो लोग फल और व्यापार की अलग-अलग धात्वर्थता मानते हैं उनके मत में भी फल व व्यापार में धातु की एक ही शक्ति होती है। इस कारण विभाग में पञ्चम्यर्थ अवधिकत्वान्वयबोध के प्रति सङ्केतीयबोधनिष्ठविषयत्वांश में विभागेतरविषयकत्वानवच्छिन्नत्वावगाही शक्तिज्ञान को कारण मानते हैं और क्रियांश में विभागजनकत्वान्वयबोध के प्रति सङ्केतीयबोधनिष्ठविषयतांश में विभागविषयत्वानवच्छिन्नत्वावगाही शक्ति ज्ञान को कारण मानते हैं । धातुविषयक शक्ति **'धातुपदं फलविषयकव्यापारविषयकबोधं जनयतु'** इस प्रकार की इच्छा रूप ही है। इस प्रकार त्यज् धातु का योग होने पर वृक्षादि पदों से पञ्चमी नहीं होती है।

अन्य अर्थों में भी अपादानसंज्ञा की गयी है। उन उन सूत्रों के द्वारा अपादान संज्ञा होने पर होने वाली पञ्चमी का अर्थ प्रयोज्यत्व आदि हुआ करता है। इसे मूल स्थल में ही देखना चाहिए ।

### षष्ठ्यर्थ

अपने सम्बन्ध की विवक्षा में कारक विभक्ति की प्रसक्ति नहीं होती है, इस कारण **'शेषे षष्ठी' पा॰ सू॰** 2/3/50 के द्वारा षष्ठी का विधान किया जाता है। इस प्रकार षष्ठी का अर्थ सम्बन्ध ही होता है।

अब इसमें प्रश्न उठता है कि सम्बन्ध तो अनन्त हैं, उन समस्त सम्बन्धों में षष्ठी की शक्ति स्वीकारनी है, तो सम्बन्धत्वेन सम्बन्धमात्र में षष्ठी की शक्ति है अथवा तत्तत् सम्बन्धों में विशेष करके षष्ठी की शक्ति है? इसका समाधान गदाधर यह देते हैं कि षष्ठी की शक्ति सम्बन्धत्वेन समस्त सम्बन्धों में है, तत्तत् सम्बन्धों में विशेष करके षष्ठी की शक्ति नहीं है क्योंकि ऐसा स्वीकारने पर शक्ति की अनन्तता हो जायेगी ।

लेकिन अनुभव में तो यह आता है कि भवन आदि में चैत्र का संयोग आदि सम्बन्ध रहने पर भी स्वत्वादिसम्बन्धविशेष का अभाव बोधित करने के तात्पर्य से **'नेदं चैत्रस्य**

**वासः**' इत्यादि प्रयोग किया जाता है और स्वत्वादि सम्बन्धविशेष का अभाव बोधित भी होता है। सम्बन्धमात्र ही षष्ठी का अर्थ है तो सम्बन्धमात्र का अभाव होने पर ही इस प्रकार का नञ् घटित प्रयोग होना चाहिए । सम्बन्धविशेष का अभाव होने पर ऐसा नञ् घटित प्रयोग नहीं होना चाहिए । इसका वारण यह कह कर किया जाता है कि षष्ठी के सम्बन्धमात्र की वाचिका होने पर भी षष्ठी की सम्बन्धविशेष में लक्षणा तो हो ही सकती है। इस तरह षष्ठी सम्बन्धविशेष का बोध लक्षणा के द्वारा ही कराती है।

यहाँ पर एक मतभेद है नैयायिकों में । कुछ लोग 'कृद्योगा षष्ठी सम्बन्धत्वेन सम्बन्ध को नहीं बोधित कराती है बल्कि विशेष रूप से ही कराती है' ऐसा मानते हैं । गदाधर ने सिद्धान्तित किया है कि कृद्योगा भी षष्ठी सम्बन्धत्वेन ही सम्बन्ध का बोधन कराती है। इसमें गदाधर की युक्ति है कि करणत्व आदि की यदि करणत्वेन विवक्षा होगी तब तो करणत्वादि अर्थों में होनेवाली तृतीया आदि से षष्ठी का बाध हो जायेगा । सम्बन्धत्वेन करणत्वादि विवक्षा होने पर ही षष्ठी सम्भव होगी ।

निर्धारण षष्ठी के अर्थ के बारे में गदाधर ने पर्याप्त विचार किया है । जात्यादि विशेषणविशिष्ट यद्धर्मावच्छिन्न का जात्यादिविशेषणशून्य तद्धर्मावच्छिन्नव्यावृत्तत्वविशिष्ट विधेयवत्तया प्रतिपादन किया जाता है, तद्धर्मावच्छिन्नवाचकपद से निर्धारण षष्ठी का विधान किया गया है। '**नराणां क्षत्रियः शूरः**' इत्यादि स्थलों में क्षत्रियत्वविशेषणविशिष्टनरत्वावच्छिन्न का क्षत्रियत्वविशेषणशून्यनरत्वावच्छिन्नव्यावृत्त शूरत्ववत्तया प्रतिपादन किया जाता है। इस कारण नर आदि पदों से षष्ठी या सप्तमी होती है।

निर्धारण षष्ठी का विधान यदि इस अर्थ में किया गया है तो षष्ठी के द्वारा यही अर्थ लब्ध होना चाहिए । नरादि पदों के बाद षष्ठी होने से नरत्वावच्छिन्नव्यावृत्तत्व तो षष्ठी का अर्थ हो भी सकता है तथा उसका लाभ षष्ठी से सम्भव है, किन्तु क्षत्रियत्वविशेषणशून्यनरत्वावच्छिन्नव्यावृत्तत्व कैसे लब्ध होगा ?

इस प्रश्न का समाधान कुछेक यह करना चाहते हैं कि इन स्थलों में क्षत्रियपद का अर्थ जैसे क्षत्रिय है वैसे ही लक्षणा से क्षत्रियान्य भी क्षत्रियपदार्थ है। इसी प्रकार शूरपद का अर्थ शूर और शूरान्य होता है। षष्ठ्यर्थ अभेद है। इस प्रकार नराभिन्न क्षत्रिय का शूराभेद और नराभिन्न क्षत्रियान्य का शूरान्याभेद बोधित होता है।

इस समाधान में समस्या यह है कि शूर पद का शूर अर्थ ही क्षत्रिय के साथ क्यों अन्वित होता है शूरान्य अर्थ क्यों नहीं अन्वित होता है? इसी प्रकार '**नराणां शूरस्य क्षत्रियस्येदं राज्यम्** ' इत्यादि स्थलों में क्षत्रियपदोत्तर सम्बन्ध षष्ठी के अर्थ सम्बन्ध में शूरपदार्थ शूर से अन्वयी क्षत्रिय का ही अन्वय होता है, शूरपदार्थ अशूर से अन्वित क्षत्रियान्य नहीं । इसमें विनिगमक दुर्लभ है। साथ ही एकपदोपस्थापित दो अर्थों में से एक का तदुत्तर विभक्ति के अर्थ में विशेषणतया और एक का अविशेषणतया अन्वय व्युत्पत्तिविरुद्ध है।

इस प्रकार इस पक्ष को स्वीकारना सम्भव नहीं है। अन्ततः निर्धारण षष्ठी का अर्थ व्यावृत्तत्व है ऐसा गदाधर व्यवस्थापित करते हैं । किन्तु दो तरह का व्यावृत्तत्व होता है, अभेदान्वयिविधेयसमभिव्याहार स्थल में अन्योन्याभावप्रतियोगित्व रूप व्यावृत्तत्व षष्ठी का

अर्थ है और भेदान्वयिविधेयसमभिव्याहारस्थल में अत्यन्ताभावप्रतियोगित्वरूपव्यावृत्तत्व षष्ठी का अर्थ होता है। अभाव में प्रकृत्यर्थ नरादि का क्षत्रियत्वादिरूप उद्देश्यतावच्छेदकावच्छिन्न भेदविशिष्ट प्रकृत्यर्थतावच्छेदकनरत्वादिव्यापकाधिकरणतानिरूपित आधेयता सम्बन्ध से अन्वय होता है । इतने से ही क्षत्रियान्यनरव्यावृत्तत्व का लाभ हो जाता है।

**सप्त्यम्यर्थ**

मूलतः सप्तमी का अधिकरणत्व अर्थ में ही विधान किया गया है। सूत्र है **'सप्त्म्यधिकरणे च' पा० सू० 2/3/37** किन्तु अधिकरणता को सप्तमी का अर्थ माना जाये तो **'भूतले घटः'** इत्यादि स्थलों में घट में भूतलनिष्ठाधिकरणता (सप्तम्यतार्थ) का निरूपकतासम्बन्ध से अन्वय करना होगा । इस कारण नञ् घटित स्थल में घट में निरूपकतासम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक भूतलनिष्ठाधिकरणताभाव का प्रत्यायन प्रतियोगि और अभावान्वय के तुल्ययोगक्षेम होने से स्वीकारना पड़ेगा । किन्तु वृत्त्यनियामक सम्बन्ध के अभावीयप्रतियोगिता का अवच्छेदक न होने से यह स्वीकारना मुश्किल है। इस कारण गदाधर आधेयता को सप्तमी का अर्थ मानते हैं । इस आधेयता का क्रिया का समभिव्याहार होने पर क्रिया में अन्वय होता है।

जहाँ पर धात्वर्थ भी आधेयतारूप होता है, जैसे वृत आदि धातुओं का अर्थ आधेयता ही होता है, वहाँ पर सप्तमी का अर्थ निरूप्यता ही होता है।

इसके अतिरिक्त **'वीणायां शब्दः' 'कर्णे शब्दः' 'मूले वृक्षे कपिसंयोगः'** इत्यादि प्रत्ययों के अनुरोध से अवच्छेद्यता विशेष को भी आधारसप्तमी का अर्थ माना जाता है। यदि कारकत्व का निर्वाह यहाँ जरूरी लगे तो 'भवति' क्रिया का अध्याहार करके ही वह हो सकता है। अन्यथा **'सप्तम्यधिकरणे च'** सूत्र में चकार ग्रहण होने के कारण अकारक आधारवाची से भी सप्तमी होती है, इस अर्थ का लाभ होने से उपर्युक्त स्थलों में अकारक सप्तमी है, यही मान लेना चाहिए ।

कुछ अन्य अर्थों में भी सप्तमी का विधान किया गया है, जिनमें से दो एक के बारे में गदाधर ने व्याख्यान किया है। उसे ग्रन्थ में ही देख लेना चाहिए ।

**सम्बोधनप्रथमार्थ**

सम्बोधन का अभिप्राय वक्ता की अव्यवहितशब्दजन्यबोधाश्रयत्वेन इच्छा से ही है। चूँकि सम्बोधन अर्थ में भी प्रथमा का विधान किया गया है, इस कारण सम्बोधनप्रथमा का अर्थ वक्ता की अव्यवहितशब्दजन्यबोधाश्रयत्वेन इच्छा ही है। इस इच्छा का प्रकृत्यर्थ विशेषणतया भान होता है।

इस प्रकार **'चैत्र ! त्वया भुज्यताम् '** इस वाक्य से वक्ता की अव्यवहितशब्दजन्यबोधाश्रयत्वेन इच्छा के विषयीभूत युष्मत् पदार्थ चैत्रकर्तृक भोजनकर्तव्यता विषयक शाब्दबोध होता है। इस स्थल में सम्बोधनप्रथमार्थ का प्रकृत्यर्थविशेषणतया भान स्वीकारते हुए गदाधर 'संख्यातिरिक्तसुबर्थ प्रकृत्यर्थविशेष्यतया ही भासता है' इस नियम का भङ्ग स्वीकार लेते हैं और इस नियम को प्रमाणहीन बतलाते हैं ।

**स्त्रीप्रत्ययार्थ**

प्रातिपदिकों से **'स्त्रियाम् ' पा० सू० 4/1/3** के अधिकार में आये सूत्रों के द्वारा

टाप् , ङीप् आदि का विधान किया गया है। वे स्त्रीप्रत्यय कुछ एक स्थलों पर प्रकृत्यर्थ विशेषणतया स्त्रीत्व को बोधित कराते हैं । कहीं पर स्त्रीप्रत्यय भार्यात्वेन स्त्रीत्व को प्रकृत्यर्थ विशेष्यतया बोधित कराते हैं । जैसे कि '**अजा**' इत्यादि से स्त्रीत्वविशिष्ट अज का बोध होता है और '**आचार्याणी**' आदि से आचार्यनिरूपितभार्यात्वविशिष्टस्त्री का बोध होता है।

यहाँ पर गदाधर ने लिङ्ग को भी प्रातिपदिकार्थ मानने वाले मत को उठाया है, जहाँ पर ब्राह्मणी है वहाँ पर '**नात्र ब्राह्मणोऽस्ति किन्तु ब्राह्मणी**' ऐसा प्रयोग हुआ करता है। यदि लिङ्ग प्रातिपदिकार्थ न हो तो '**ब्राह्मणो नास्ति**' से ब्राह्मणत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभाव बोधित होगा, ब्राह्मणी के वहाँ पर रहने से यह बाधित है। इस कारण पुंस्त्व को भी प्रातिपदिकार्थ मानो, पुंस्त्व को प्रातिपदिकार्थ मानने पर पुंस्त्वविशिष्ट ब्राह्मण का अभाव ही प्रतिपादित होगा और वह अबाधित है। इस तरह पुंस्त्व को प्रातिपदिकार्थ मानने पर लिङ्ग का भी प्रातिपदिकार्थत्व सिद्ध होता है। स्त्रीप्रत्यय उस अर्थ के लिङ्गविशेष के द्योतक मात्र हैं ।

इसके उत्तर में गदाधर का कहना है कि पुंस्त्व के प्रातिपदिकार्थ होने पर भी स्त्रीत्व का प्रातिपदिकार्थत्व तो नहीं ही सिद्ध होता है। अनन्त प्रातिपदिकों की स्त्रीत्वार्थकता स्वीकारने की अपेक्षा थोड़े से प्रत्ययों का ही स्त्रीत्वार्थकत्व स्वीकारना युक्तिसङ्गत है क्योंकि इसी में लाघव है।

**तद्धितप्रत्ययार्थ**

प्रातिपदिकों से ही तद्धितप्रत्ययों का भी विधान किया जाता है, वे तद्धितप्रत्यय कहीं पर प्रकृत्यर्थ के साथ स्वार्थैकदेश का और कहीं पर स्वार्थ का अन्वयबोध उत्पन्न करते हैं । उदाहरण के तौर पर देखा जाये तो '**गार्गिः**' इत्यादि स्थलों में अपत्य अर्थ में इञ् प्रत्यय हुआ है, उसके अर्थ अपत्य के एकदेश जन्यत्व में निरूपकतासम्बन्ध से प्रकृत्यर्थ गर्ग आदि का अन्वय होता है। इस प्रकार इन स्थलों में तद्धितप्रत्यय प्रकृत्यर्थ के साथ अपने अर्थ के एकदेश का अन्वयबोध उत्पन्न करते हैं । गदाधर ने यह तो कहा कि तद्धितप्रत्यय कहीं पर प्रकृत्यर्थ के साथ अपने अर्थ के एकदेश का अन्वयबोध उत्पन्न करते हैं तथा कहीं पर प्रकृत्यर्थ के साथ अपने अर्थ का अन्वयबोध उत्पन्न करते हैं । इसमें प्रकृत्यर्थ के अपने अर्थ के एकदेश का अन्वयबोध प्रत्यय कहाँ पर उत्पन्न करते हैं, इसका उदाहरण तो दिया लेकिन तद्धितप्रत्ययार्थ का प्रकृत्यर्थ के साथ कहाँ पर अन्वय होता है इसका कोई भी उदाहरण नहीं दिया । यूँ भी गदाधर ने गिनती के पाँच-सात तद्धित प्रत्ययों के बारे में विचार किया है। शेष को पाठक के अपने विवेक पर छोड़ दिया है। इस कारण यह भी पाठक को ही देखना है कि कहाँ पर तद्धितप्रत्यय अपने अर्थ के साथ प्रकृत्यर्थ का अन्वयबोध कराते हैं ।

गदाधर ने अपत्यार्थक, रक्तार्थक, संस्कृतार्थक, नक्षत्रयुक्तकालार्थक, पौर्णमासी घटितत्वावच्छिन्नार्थक, देवतार्थक और समूहार्थक तद्धितों के ही अर्थनिर्वचनपूर्वक अन्वयबोध का विचार किया है। इस प्रसङ्ग में जो विशेष विचार है, ग्रन्थ में ही देखना चाहिए ।

### धातुप्रत्ययार्थ

धातुओं से अनेक प्रत्ययों का विधान किया गया है, यथा–लकार, कृत् , सन् , यङ्, णिच् आदि । इनमें से कुछ प्रत्यय तो सार्थक होते हैं और कुछ प्रत्यय निरर्थक होते हैं । सार्थक प्रत्यय धात्वर्थ से अन्वित अपने अर्थ का अभिधान करते हैं, निरर्थक प्रत्यय प्रकृतियों के द्वारा धात्वर्थ बोधन में ही आकाङ्क्षानिर्वाहक होने के कारण उपयोगी होते हैं। लकार आदि सार्थक प्रत्यय हैं धात्वर्थ से अन्वित अपने अर्थविशेष को बतलाते हैं । लेकिन भाव में होनेवाले घञ् , ल्युट् आदि कृत् प्रत्यय और भावाख्यात धातु के द्वारा धात्वर्थ का बोधन कराने में आकाङ्क्षानिर्वाहक होने के कारण ही उपयोगी होते हैं । इसमें से लकार के अर्थ का निरूपण गदाधर 'धातुप्रत्ययाः' प्रकरण में करते हैं, कृत् आदि के अर्थ निरूपण को छोड़ देते हैं और सन् व णिच् के अर्थ का निरूपण द्वितीयाकारक में द्वितीयार्थनिरूपण के अवसर पर करते हैं ।

### सन् प्रत्ययार्थ

सन् प्रत्यय इच्छा अर्थ में होता है इसलिए यह तो तय है कि सन् प्रत्यय का अर्थ इच्छा होती है। लेकिन प्रश्न यह उठता है कि सन् धात्वर्थविशेष्यक इच्छा का वाचक होता है अथवा धात्वर्थप्रकारक इच्छा का वाचक होता है? इन दोनों पक्षों में अन्तर क्या पड़ेगा ? कृ धातु को लें तो धात्वर्थविशेष्यक इच्छा होगी **'पाककृतिर्भवतु'** लेकिन यह इच्छा प्रवर्तिका होगी इसमें सन्देह है। धात्वर्थप्रकारक इच्छा होगी **'पाकं कृत्या साधयामि'** ऐसी इच्छा, यह इच्छा निश्चित रूप से प्रवर्तिका होगी ।

द्वितीया का अर्थ इच्छार्थक धातुप्रयोगस्थल में मुख्यविशेष्यत्व रूप कर्मत्व होता है। इस कारण सन् प्रत्यय के धात्वर्थविशेष्यक इच्छा का वाचक होने अथवा धात्वर्थप्रकारक इच्छा का वाचक होने से अन्तर पड़ जायेगा । सन् यदि धात्वर्थप्रकारक इच्छा का वाचक होगा तो सन्नन्त धातु का कर्म वही होगा जिसमें कि उस इच्छा की मुख्य विशेष्यता होगी ऐसी स्थिति में यदि किसी को इच्छा हुई कि **'ओदनभोजनं भवतु'** तो यह इच्छा भोजनप्रकारक नहीं है और इस इच्छा की मुख्यविशेष्यता ओदन में न होने से ओदन की कर्मता न हो सकेगी, फलतः **'ओदनं बुभुक्षते'** प्रयोग नहीं हो सकेगा । यदि धात्वर्थविशेष्यक इच्छा को सन् का अर्थ माना जाये तो कोई मुश्किल यहाँ पर नहीं है क्योंकि ओदन की कर्मता सम्पन्न हो जायेगी । किन्तु **'ओदनं भोजनकर्म भवतु'** ऐसी इच्छा होने पर **'ओदनं बुभुक्षते'** प्रयोग नहीं हो सकेगा । इस पर समाधान दे देते हैं कि इन स्थलों पर यदि ऐसा प्रयोग होता है तो धात्वर्थ में उद्देश्यताख्या विषयता का भान स्वीकार कर ऐसे प्रयोग का निर्वाह किया जा सकता है।

इस प्रकार धात्वर्थविशेष्यक इच्छा ही सन् प्रत्यय का अर्थ होती है। कर्म प्रत्यय स्थल में भी सन् प्रत्यय के द्वारा धात्वर्थविशेष्यक इच्छा का ही प्रत्यायन होता है। किन्तु सन्नन्त धातु का कर्मत्व मुख्यविशेष्यत्व नहीं होता है, अपितु धात्वर्थकर्मतया इच्छा का विषयत्व ही सन्नन्त धातु का कर्मत्व होता है। **'गृहस्थितिर्भवतु'** इच्छा के काल में **'गृहं तिष्ठासति'** प्रयोग इसी कारण नहीं होता है क्योंकि इस इच्छा में गृह स्थितिकर्मतया नहीं विषय हो रहा होता है।

धात्वर्थविशेष्यक इच्छा का आशय विशेष्यतासमानकर्तृकत्वोभयसम्बन्धेन धात्वर्थविशिष्ट

इच्छा से है। इस प्रकार सन् प्रत्यय का अर्थ विशेष्यतासमानकर्तृकत्वोभयसम्बन्ध से धात्वर्थविशिष्ट इच्छा ही है।

**णिच् प्रत्ययार्थ**

णिच् प्रत्यय का विधान दो अर्थों में किया गया है। एक णिच् प्रत्यय चुरादिगणीय धातुओं से होता है। चुरादिगणीय धातुओं से होनेवाला णिच् स्वार्थ में होता है अर्थात् निरर्थक होता है। धातु के द्वारा अपने अर्थ को बतलाने में उपयोगी होता है। वहाँ पर धातु का अर्थ मात्र ही णिजन्त से बोधित होता है। दूसरा णिच् प्रत्यय **'हेतुमति च' पा॰ सू॰ 3/1/26** के द्वारा किया जाता है। इस सूत्र द्वारा विहित णिच् का अर्थ क्या होता है?

इस प्रश्न का उत्तर अलग-अलग विद्वान अलग-अलग देते हैं । णिच् का अर्थ है हेतुकर्तृत्व और हेतुकर्तृत्व है स्वतन्त्रकर्तृप्रेरणा जो कि अन्यनिष्ठकर्तृत्व का निर्वाहक व्यापार रूप होता है। कर्तृत्व अन्यान्य स्थलों में अन्यान्य रूप का होता है जैसे कि ज्ञानाश्रयत्व ज्ञान का कर्तृत्व होता है, गमनानुकूलकृतिमत्त्व गमन का कर्तृत्व होता है, नाशप्रतियोगित्व नाश का कर्तृत्व होता है। तत्तत् कर्तृत्वों का निर्वाहक व्यापार ही ण्यन्त धातु का अर्थ होता है। उपर्युक्त स्थलों में पाकादिकर्तृत्वनिर्वाहकव्यापार, नाशप्रतियोगित्वनिर्वाहक व्यापार, ज्ञानाश्रयत्वनिर्वाहकव्यापार आदि की प्रतीति होती है। चूँकि निर्वाह ही फल होता है और णिजन्त धातुप्रयोगस्थल में निर्वाह होता है कर्तृत्व ही । इसलिए णिजन्तधातुप्रतिपाद्यतावच्छेदक धात्वर्थतावच्छेदक फलकर्तृत्व हुआ, तदाश्रय होने के कारण प्रयोज्य कर्ता की कर्मता होती है।

किन्तु प्रश्न यह उठता है कि यदि णिजन्तधातु का कर्म मूलधात्वर्थकर्ता ऐसे ही हो जा रहा है तो **'गतिबुद्धिप्रत्यवसानार्थकर्माकर्मकाणामणिकर्ता स णौ' पा॰ सू॰ 1/4/52** के द्वारा कर्म संज्ञा की ज़रूरत क्या है? तो इसका समाधान इस पक्ष में यह दिया जाता है कि उपर्युक्त रीति से कर्ता की कर्मता होने के बावज़ूद भी धात्वर्थ विशेषणतया अस्वतन्त्र कर्ता का कर्तृत्व विवक्षित होने पर अस्वतन्त्र कर्ता से तृतीया हो जाती है। इस प्रकार कर्ता से द्वितीया भी विवक्षावशात् साधु होती है और कर्ता से तृतीया भी विवक्षावशात् साधु होती है। जैसे कि **'पाचयत्योदनं चैत्रम्'** भी सही है और **'पाचयत्योदनं चैत्रेण'** प्रयोग भी सही है। इसीलिए **'अजिग्रहत्तं जनको धनुस्तत्'** इत्यादि स्थलों में तद् पद से द्वितीया का प्रयोग भट्टि के द्वारा किया गया है। **'गतिबुद्धि॰'** इत्यादि सूत्र नियमपूर्वक गत्याद्यर्थक धातुओं का योग होने पर कर्तृप्रत्यय का असाधुत्व ही ज्ञापित करता है। इसकारण **'मैत्रश्चैत्रेणौदनं पाचयति'** की तरह **'अजया ग्रामं गमयति'** इत्यादि प्रयोग नहीं हुआ करते हैं ।

इस पक्ष में अन्ततः कर्तृत्व और व्यापार दोनों को ही अलग-अलग णिजर्थ मानना पड़ता है। इस प्रकार धातु से धातु का अर्थ तथा णिच् से कर्तृत्व और व्यापार उपस्थित होता है। इनका अन्वय होकर तत्तद्धात्वर्थकर्तृत्वनिर्वाहकव्यापार णिजन्त से उपस्थित होता है।

दूसरा पक्ष है कि अनुकूलव्यापार ही णिच् का अर्थ होता है, उससे अन्वित होती है धात्वर्थ गमन, भोजनादि क्रिया । इस प्रकार णिजन्त धातु का अर्थ तत्तत्क्रियांनुकूलव्यापार ही होता है। इस रीति से तत्तत् क्रिया गमन, ज्ञान, भोजनादि क्रिया ही धात्वर्थतावच्छेकीभूत

फल है। तादृशक्रिया का सम्बन्धी तादृशक्रियाकर्ता ण्यन्त धातु का कर्म होता है। इस पक्ष में भी उपर्युक्त द्वितीया विधान हेतु कर्म संज्ञाविधायक '**गतिबुद्धि॰**' सूत्र नियम परक ही है। क्योंकि ऐसे कर्मतावाचकपद से कब द्वितीया होगी और कब तृतीया होगी इसमें कोई नियामक नहीं है। इस पक्ष में यही दोष है कि गत्याद्यर्थक से अन्य धातुओं का प्रयोग होने पर कब तृतीया का प्रयोग होगा और कब द्वितीया का, इसमें विनिगमक दुर्लभ है। इसी कारण गदाधर ने इस पक्ष को चिन्तनीय बतलाया है।

तीसरा पक्ष णिच् का अर्थ व्यापार मात्र ही है ऐसा मानता है। व्यापारमात्र णिजर्थ में धात्वर्थ क्रिया का स्वकर्तृत्वनिर्वाहकत्व संसर्ग बनता है। इस प्रकार कर्ता का कर्मत्व किसी भी रीति से प्राप्त नहीं होता है। इस कारण पच आदि धातुओं से णिच् करने पर '**पाचयत्योदनं चैत्रेण**' ही प्रयोग होता है। '**पाचयत्योदनं चैत्रम्** ' ऐसा प्रयोग नहीं होता है। इसी कारण '**गतिबुद्धि॰**' सूत्र का प्रणयन किया गया है कि गत्यादिकर्ता की कर्मसंज्ञा होकर उससे द्वितीया हो सके । इस प्रकार इस मत में उक्त सूत्र संज्ञाविधायकतया सार्थक होता है, नियमतया उसकी सार्थकता नहीं होती है। किन्तु इस पक्ष में '**अजिग्रहत्तं जनको धनुस्तत्** ' इत्यादिप्रयोगों की साधुता का निर्वाह असम्भव हो जाता है।

## लकारार्थ

लट् आदि दस लकार होते हैं । लकारों का विधान '**लः कर्मणि च भावे चाकर्मकेभ्यः**' **पा॰ सू॰ 3/4/69** के द्वारा कर्ता, कर्म और भाव में किया गया है। इस कारण वैयाकरण कर्ता, कर्म और भाव को लकारार्थ मानते हैं । नैयायिकों का कहना है प्रथमान्तपदोपस्थाप्य में कर्तृत्व का अन्वय कर देने से ही कर्ता का लाभ हो जाता है, प्रथमान्त पदोपस्थाप्य में कर्मत्व का अन्वय कर देने से ही कर्म का लाभ हो जाता है। इस कारण कर्ता, कर्म और भाव में लकारों की शक्ति न मानकर कर्तृत्व, कर्मत्व और भाव में ही लकार की शक्ति माननी चाहिए । उपर्युक्त सूत्र लकार की कर्ता, कर्म और भाव वाचकता नहीं बतलाता है बल्कि लकार की कर्ता, कर्म और भावबोधकता ही बतलाया है। लकार की शक्ति कर्ता, कर्म में मानने में गौरव है क्योंकि शक्यतावच्छेदक कर्तृत्व, कर्मत्व के अननुगत होने के कारण शक्यतावच्छेदकतावच्छेदक कृतित्व आदि का भी भान स्वीकारना पड़ेगा । इसकी अपेक्षा कर्तृत्व, कर्मत्व आदि को ही लकारार्थ मानने में लाघव है।

इसमें से कर्तृत्व सामान्य लकार का अर्थ है। किन्तु प्रश्न उठता है कि कर्तृत्व क्या चीज़ है? इसमें मीमांसकों और नैयायिकों में बड़ा मतभेद है। नैयायिक क्रियानुकूलकृति को ही सामान्यतः कर्तृत्व मानते हैं और जहाँ पर इस तरह का कर्तृत्व बाधित होता है वहाँ पर कहीं पर क्रियानुकूलव्यापार रूप कर्तृत्व में लकार की निरूढलक्षणा मान लेते हैं जैसे '**रथो गच्छति**' '**काष्ठं पचति**' आदि में और कहीं पर आश्रयत्व में लकार की लक्षणा मानते हैं जैसे कि '**जानाति**' इत्यादि स्थलों में । इसमें नैयायिकों का कहना है कि व्यापार में शक्ति यदि लकार की मानी जाये तो उसमें व्यापारत्व को शक्यतावच्छेदक मानना पड़ेगा, प्रवृत्तिनिमित्त मानना पड़ेगा, इस कारण गौरव होगा । यदि कृति में शक्ति मानें तो कृतित्व

को प्रवृत्तिनिमित्त मानना होगा इसमें लाघव है।

मीमांसकों का पक्ष है कि जहाँ पर गुरुरूप और लघुरूप दोनों ही रूपों से बोध अनुभवसिद्ध है, निर्विवाद है, वहीं पर लघुरूप से अवच्छिन्न में शक्ति का स्वीकार किया जाता है और गुरुरूप से अवच्छिन्न में लक्षणा मानी जाती है। किन्तु यहाँ पर तो विवाद यही है कि कृतित्वेन बोध होता है या नहीं । इस कारण लकार की कृति में शक्ति नहीं मानकर व्यापार में ही शक्ति माननी चाहिए ।

आख्यात को कृधातु का समानार्थक माना जाता है क्योंकि '**किं करोति**' इस प्रकार से ही क्रिया विषयक प्रश्न किया जाता है, प्रश्न और उत्तरों का समानप्रकारकबोधजनकत्व होता है, इसके अनुरोध से भी नैयायिक आख्यात को यत्नार्थक मानते हैं । मीमांसकों का इस पर कहना है कि कृञ् धातु भी यत्नार्थक नहीं होती है अपितु वह भी व्यापारार्थक ही होती है। इस कारण करोति से क्रिया का ही विवरण होता है, व्यापार का ही विवरण होता है। इसलिए लकार की यत्नार्थकता नहीं उपपन्न होती है।

यहाँ पर एक और युक्ति उठायी जाती है कि चूँकि '**पचति**' इस वाक्य से जन्य बोध रहने पर यत्नत्वावच्छिन्न में वर्तमानत्व का संशय नहीं होता है। इस कारण यह तो सिद्ध है कि इस वाक्य से यत्न का वर्तमानत्व सिद्ध होता है। इस कारण यही स्वीकारने में लाघव है कि यत्न में ही आख्यात की शक्ति है और आख्यातोपस्थापित यत्न का वर्तमानत्व इसी कारण बोधित होता है। इस पर मीमांसकों का कहना है कि तात्पर्य हेतु के द्वारा यत्न में वर्तमानत्व की अनुमिति ही स्वीकारी जाती है क्योंकि वह वर्तमानत्वप्रतीति शाब्द होती है, इसमें शङ्का है।

इस प्रकार मीमांसक लकार की शक्ति व्यापार में ही है ऐसा सिद्धान्तित करते हैं । नैयायिक आख्यात की (लकार की) शक्ति कृति में स्वीकारने में युक्ति देते हैं कि —

चूँकि दूसरे के गमन के अनुकूल नोदनादि व्यापार करने वाले रथ के लिए '**रथो गच्छति**' प्रयोग नहीं होता है, इसलिए वहाँ पर लकार के द्वारा व्यापार का बोध नहीं होता है बल्कि आश्रयत्व का बोध होता है। इस कारण आख्यात की शक्ति व्यापार में है या नहीं इसका निर्धारण '**काष्ठं पचति**' प्रयोग ही कर सकता है यदि यह प्रयोग स्वारसिक हो तो। लेकिन मुश्किल यह है कि यह प्रयोग स्वारसिक नहीं है, '**काष्ठं पचति**' और '**मैत्रः पचति**' से एक जैसा बोध नहीं अनुभवगम्य होता है। यह लकार को कृत्यर्थक मानने पर ही उपपन्न होता है। इसी प्रकार वाक्य प्रयोग होता है '**चैत्र एव पचति न त्वचेतनं काष्ठादि**' 'चैत्र ही पका रहा है अचेतन काष्ठादि नहीं' '**चैत्र एव पाककर्ता नत्वचेतनं काष्ठादि**' 'चैत्र ही पाककर्ता है अचेतन काष्ठादि नहीं' ये वाक्यप्रयोग तभी अबाधित हो सकते हैं, यदि लकार को भी कृत्यर्थक माना जाये और कृञ् धातु को भी । इस कारण लकार की शक्ति और कृञ् धातु की शक्ति कृति में ही माननी चाहिए, व्यापार में नहीं । व्यापार में तो लक्षणा ही स्वीकारना उचित है।

इसलिए नैयायिक लकार की कृत्यर्थकता का पक्ष ही सिद्धान्तित करते हैं । किन्तु न्यायमत में कृति के तीन भेद हैं—(1) प्रवृत्ति (2) निवृत्ति और (3) जीवनयोनि । अब कौन सी कृति आख्यात का अर्थ है और प्रवृत्तिनिमित्त क्या है? इसके उत्तर में कहते हैं कि

कृति ही आख्यात का अर्थ है और कृतित्व ही प्रवृत्तिनिमित्त है जो कि इन तीनों में ही रहनेवाला है। चूँकि निवृत्ति और जीवनयोनि आदि में पाकादि की अनुकूलता ही नहीं होती है। इस कारण प्रवृत्ति के रहने पर ही '**पचति**' इत्यादि प्रयोग होते हैं । अथवा प्रवृत्ति ही लकार का अर्थ है और प्रवृत्तित्व ही आख्यात का प्रवृत्तिनिमित्त होता है। प्रवृत्ति इष्टसाधनताज्ञान से जन्य होती है।

किन्तु इसमें एक समस्या उठती है कि '**ईश्वरो वेदं वक्ति**' इत्यादि प्रयोग तो फिर बाधितार्थक हो जायेंगे क्योंकि आख्यातार्थ प्रवृत्ति होगी, प्रवृत्ति इष्टसाधनताज्ञान से जन्य होती है। ईश्वर का कुछ भी इष्ट नहीं होता है और ईश्वर कृति अजन्य होती है इस कारण ईश्वर कृति प्रवृत्ति रूप नहीं हो सकती है। इस वाक्य से ईश्वर में वेदोच्चारणानुकूल प्रवृत्ति का आश्रयत्व ना बोधित होगा जोकि होने सम्भव नहीं है। इसका समाधान है कि यहाँ पर आख्यात की लक्ष्यार्थव्यापारबोधकता ही स्वीकारी जाती है। अथवा कृतिमात्र को आख्यातार्थ मान लें, क्रिया का यत्न में असाधारणानुकूलत्व सम्बन्ध बनकर भासता है केवल अनुकूलत्व नहीं भासता है। '**ईश्वरो वेदं वक्ति**' यहाँ पर वेदोच्चारणासाधारणानुकूलकृतिमत्त्व ईश्वर में बोधित होता है जो कि अबाधित है। इसलिए ऐसा प्रयोग होता है।

### कृत्याद्यर्थक धातुओं के योग में लकारार्थ

नैयायिक कृञ् धातु को और लकार को तुल्यार्थक मानते हैं । इस कारण यह समस्या होती है कि कृत्यर्थक धातु का प्रयोग होने पर आख्यातार्थ का अन्वय कैसे किया जाये ? जैसे '**एकः**' '**द्वौ**' इत्यादि स्थलों में प्रातिपदिक भी एकत्व और द्वित्व के बोधक हैं और तदुत्तर विभक्ति भी एकत्व और द्वित्व की ही बोधिका है। इस स्थिति में एकत्व व द्वित्व का भान एक बार ही होता है, दो बार नहीं होता है। इसकारण एकवचन और द्विवचन की (प्रत्यय की) साधुत्वार्थकता स्वीकार ली जाती है। उसी प्रकार '**करोति**' इत्यादि स्थलों में कृञ् धातु और तदुत्तर आख्यात से दोनों से ही कृति की उपस्थिति होती है, इस स्थिति में दो बार कृति का बोध अनुभवगम्य नहीं होता है। इसलिए यहाँ पर आख्यात को भी साधुत्वार्थक ही मान लेना चाहिए । तथा इन स्थलों में आख्यात की निरर्थकता ही स्वीकार लेनी चाहिए । ऐसा गङ्गेशोपाध्याय का मत है।

इस मत में प्रातिपदिकार्थ और धात्वर्थ का भेदान्वयबोध स्वीकारना पड़ता है। इस कारण 'नामार्थों और नामार्थ धात्वर्थों का भेदान्वय नहीं होता है' इस नियम में सङ्कोच करना पड़ेगा ।

दीधितिकार '**जानाति**' '**करोति**' इत्यादि स्थलों में आख्यात की आश्रयत्वार्थकता स्वीकारते हैं । इसलिए इनके मत में उपर्युक्त नियम में सङ्कोच नहीं करना पड़ता है। दीधितिकार अपने मत में लाघव दिखलाते हैं । किन्तु मूलतः उस लाघव के कारण ही ऐसा नहीं स्वीकारते हैं । वे इस अनुभव पर निर्भर करते हैं कि कर्मप्रत्यय स्थल में जितने पदार्थ प्रकार बनते हैं, कर्तृप्रत्यय स्थल में भी उतने ही पदार्थ प्रकार बनते हैं किन्तु विशेषणविशेष्यभाव में वैपरीत्य आता है । इसी प्रकार कर्मप्रत्ययस्थल में जिस ससम्बन्धिक पदार्थ की जिस अंश में विशेष्यता होती है कर्तृप्रत्ययस्थल में तन्निरूपकता की उस अंश में प्रकारता होती

है। यह अनुभव दुरपह्नव है। '**चैत्रेण ज्ञायते**' इस स्थल में तृतीया का अर्थ आधेयत्व चैत्र के प्रति विशेष्य बनता है और ज्ञान में प्रकार बनता है। कर्तृप्रत्ययस्थल में '**चैत्रो जानाति**' यहाँ पर उल्टा होकर ज्ञान को आधेयत्व में और आधेयत्व को चैत्र में प्रकार होना चाहिए । किन्तु आधेयत्व ससम्बन्धिक पदार्थ है, इसकारण उसके बारे में यह विशेष संशोधन है कि जिस ससम्बन्धिक पदार्थ की जिस अंश में विशेष्यता होती है, कर्तृप्रत्ययस्थल में उस अंश में तन्निरूपकता की प्रकारता होती है। आधेयत्व की कर्म प्रत्ययस्थल में चैत्र अंश में विशेष्यता होती है, इसलिए कर्तृप्रत्ययस्थल में आधेयत्वनिरूपकता की अर्थात् आधारता की चैत्र अंश में प्रकारता होनी चाहिए । ऐसा तभी हो सकता है यदि आधारता आख्यात का अर्थ हो। इस कारण दीधितिकार आख्यात को इन स्थलों में आश्रयत्वार्थक ही मानते हैं ।

इसके अतिरिक्त भी एक युक्ति देते है इन स्थलों में आख्यात की आश्रयत्वार्थकता सिद्ध करने के लिए । '**पचन् पचति**' इत्यादि स्थलों में उद्देश्यतावच्छेदक और विधेय का अभेद होने से निराकाङ्क्षता होती है। इसी प्रकार '**जानन् जानाति**' यहाँ पर भी उद्देश्यतावच्छेदक और विधेय का अभेद और उससे प्रयोज्य निराकाङ्क्षता होनी चाहिए । यह तभी सम्भव है यदि आख्यात को इस स्थल में आश्रयत्वार्थक मानें क्योंकि आख्यात को निरर्थक मानने पर जानन् से ज्ञानाश्रय प्रतिपाद्य हुआ और ज्ञान उसमें आश्रयतासम्बन्ध से विधेय हुआ । उद्देश्यतावच्छेदक ज्ञानाश्रयत्व और विधेय ज्ञान में भेद होने के कारण इस वाक्य की निराकाङ्क्षता नहीं हो सकेगी । आख्यात को आश्रयत्वार्थक मानने पर ज्ञानाश्रयत्व ही उद्देश्यतावच्छेदक हुआ और ज्ञानाश्रयत्व ही विधेय । इस कारण निराकाङ्क्षता उपपन्न होती है। इसलिए ज्ञानाद्यर्थक धातुओं का योग होने पर आख्यात की आश्रयत्व में निरूढलक्षणा स्वीकारनी चाहिए । गदाधर भी इसी पक्ष को मान्यता प्रदान करते हैं ।

## तिप् आदि में कर्तृत्ववाचकता अथवा लकार में

यहाँ पर प्रश्न उठता है कि लकार की शक्ति कर्तृत्व में है अथवा लकार के आदेशों की शक्ति कर्तृत्व में हैं ? इन दोनों पक्षों में अन्तर यह है कि लकारत्वेन कर्तृत्वशक्तता होने पर '**पचति**' इत्यादि स्थलों में लकार तो सुना नहीं जाता है, इसलिए तिप् आदि से स्थानी लकार का स्मरण होकर शाब्दबोध होगा । आदेशों की शक्ति कर्तृत्व में मानने पर स्थानी लकार का स्मरण अनावश्यक होता है। लकारत्वेन लकारों में कर्तृत्व की शक्ति स्वीकारने पर लकारों के अनुगत होने के कारण लत्वजाति को शक्ततावच्छेदक मानना होगा । इस कारण लाघव है। आदेशों में कर्तृत्व की शक्ति मानने पर आदेशों के अनेक और अननुगत होने के कारण कर्तृत्व का शक्ततावच्छेदक क्या होगा ? यह बतलाना कठिन है। इसलिए नैयायिकैकदेशी तिबादिस्थानी लकार की ही लकारत्वेन कृतिवाचकता स्वीकारते हैं । लकार का श्रवण नहीं होने पर भी आदेश तिबादि से स्थानी का स्मरण होता है और उसी से अर्थ की उपस्थिति होती है। लेकिन इस पक्ष में जिसे स्थान्यादेशभाव ज्ञात नहीं है, उसे कैसे '**पचति**' आदि का श्रवण होने पर शाब्दबोध होगा? इसका समाधान यह दिया जाता है कि उन्हें तो शक्तिभ्रम से ही शाब्दबोध होता है। शायद नैयायिकैकदेशी के इसी मत को लेकर नागेशभट्ट ने 'परमलघुमञ्जूषा' में '**यद्यपि लकाराणामेवार्थनिरूपणं तार्किकैः कृतम्** ' (पृ. 149) ऐसा कहा है।

गदाधर इस पक्ष को खण्डित करते हुए आदेशों की ही वाचकता का पक्ष सिद्धान्तित करते हैं । इसमें गदाधर की युक्तियाँ हैं —चूँकि लकार और तिबादि का स्थान्यादेशभाव दुर्वच है, इस कारण तिबादिस्मारित लकार की वाचकता स्वीकारनी अनुचित है। चूँकि जहाँ पर स्थान्यादेशभाव ज्ञात नहीं है, वहाँ पर तिबादि के वाचकताभ्रम के अनुरोध से '**पचति**' इस आनुपूर्वीज्ञान की तिबादिजन्य उपस्थिति की सहायता से शाब्दबोधजनकता स्वीकारनी आवश्यक है। इसलिए सर्वत्र ही तिबादिजन्य उपस्थिति के द्वारा ही शाब्दबोध होता है ऐसा स्वीकारना उचित है। क्योंकि शक्तिभ्रमस्थल में तिबादिजन्य उपस्थिति की और अन्यत्र तिबादिस्मारितलकारजन्य उपस्थिति की शाब्दबोधकारणता स्वीकारने में गौरव होगा । इस कारण तिबादि की ही तत्तद्रूप से तिप्त्व, तस्त्व आदिरूपों से कर्तृत्व की वाचकता स्वीकारना ही उचित है। इसी को वैयाकरणों ने भी स्वीकार किया है। महाभाष्यकार इसीलिए कहते हैं कि '**उच्चारित एव शब्दोऽर्थप्रत्यायको नानुच्चारितः**' 'उच्चारित ही शब्द अर्थ का प्रत्यायक होता है अनुच्चारित नहीं' । उच्चारित तो तिबादि ही हैं लकार तो अनुच्चारित ही है। इस कारण तिबादि की ही वाचकता स्वीकारी जाती है।

**लकारविशेष की कर्मत्वार्थकता**

आख्यातसामान्य की कर्तृत्व में शक्ति की तरह आख्यातविशेष आत्मनेपद की शक्ति कर्मत्व में होती है। यहाँ पर भी नैयायिकों ने वैयाकरणों का मार्ग छोड़ा है। वैयाकरण कर्म में शक्ति मानते हैं, नैयायिक कर्मत्व में क्योंकि कर्मरूप धर्मी का वाचक आख्यात को मानने में गौरव है और प्रथमान्तपदोपस्थाप्य अर्थ में कर्मत्वान्वय के बल से ही कर्मताविशिष्ट धर्मी का लाभ सम्भव होता है।

साधारणतया कर्मत्व धात्वर्थतावच्छेदकीभूत फल ही होता है और वही विशेष्यतया तङ् से वाच्य होता है। उसका आश्रयतासम्बन्ध से ग्रामादि प्रथमान्तोपस्थाप्य में अन्वय होता है। इस प्रकार '**चैत्रेण ग्रामो गम्यते**' से पदार्थोपस्थिति होती है—

चैत्र = चैत्र, तृतीया = कर्तृकत्व, ग्राम = ग्राम, प्रथमा =××, गम् = संयोगानुकूलव्यापार, आत्मनेपद = संयोगरूपफल ।

अन्वय होने का क्रम है तृतीयान्तार्थ→ धात्वर्थ → आत्मनेपदार्थ → प्रथमान्तार्थ में । इस प्रकार '**चैत्रकर्तृकसंयोगानुकूलव्यापारजन्यसंयोगवान् ग्रामः**' इसमें संयोग का भान दो बार हो रहा है, एक संयोग तो धातु से उपस्थाप्य है और दूसरा आख्यातोपस्थाप्य है। इस शाब्दबोध में ग्राम में चैत्रकर्तृकसंयोगानुकूलव्यापारजन्यसंयोगवत्ता बोधित होती है। चैत्र में भी चैत्रकर्तृकसंयोगानुकूलव्यापारजन्यसंयोगवत्ता अबाधित है, इसलिए ऐसे शाब्दबोध के तात्पर्य से '**चैत्रेण चैत्रो गम्यते**' प्रयोग होना चाहिए ।

इस आपत्ति का निवारण करने के लिए दीधितिकार फल के साथ-साथ परसमवेतत्व को भी आख्यातार्थ मानते हैं । इस प्रकार आख्यातार्थ हुए दो फल और परसमवेतत्व । फल का अन्वय तो प्रथमान्तार्थ में होता है, परसमवेतत्व का अन्वय क्रिया में होता है। परत्व भेद रूप होता है, उसमें प्रतियोगितया प्रथमान्तपदोपस्थाप्य का अन्वय होता है । चूँकि चैत्र में चैत्रान्यसमवेतगमनक्रिया से जन्य संयोगवत्ता बाधित होने से नहीं अन्वित हो सकती है, इसलिए '**चैत्रेण चैत्रो गम्यते**' प्रयोग नहीं होता है।

इस दीधितिकारमत में समस्या यह है कि भेदरूप परत्व में (1) प्रथमान्तपदोपस्थाप्य अर्थ का सामान्यतः प्रतियोगितासम्बन्ध से अन्वय करें या (2) अन्वयितावच्छेदकावच्छिन्नप्रतियोगितासम्बन्ध से अन्वय करें अथवा (3) तत्तद्व्यक्तित्वावच्छिन्नप्रतियोगिता सम्बन्ध से अन्वय करें । प्रथम कल्प में '**चैत्रेण चैत्रो गम्यते**' प्रयोग की आपत्ति यथावत् है क्योंकि चैत्र भी चैत्रमैत्रोभय से भिन्न है ही, ऐसे चैत्रप्रतियोगिकभेदाश्रय चैत्र में समवेत गमन क्रिया से जन्य संयोगवत्ता चैत्र में अबाधित है और वही बोध्य है। दूसरे कल्प में '**चैत्रेण द्रव्यं गम्यते**' आदि प्रयोग नहीं हो सकेंगे, क्योंकि अन्वयितावच्छेदक द्रव्यत्वावच्छिन्नभिन्नसमवेत गमनक्रियाजन्यसंयोगवत्ता यदि द्रव्य में हो तभी ऐसा प्रयोग हो सकेगा, किन्तु चैत्र भी द्रव्य है, अतः उसमें समवेत क्रिया द्रव्यभिन्न समवेत नहीं हुई । इसकारण द्रव्य में द्रव्यभिन्नसमवेत- क्रियाजन्यसंयोगवत्ता के बाधित होने के कारण ऐसा प्रयोग न हो सकेगा । तृतीय कल्प मानना तो असम्भव है क्योंकि संसर्गतात्पर्यज्ञान के अनुरोध से तत्तद्व्यक्तित्वावच्छिन्न प्रतियोगिता का संसर्गतया भान तभी हो सकता है यदि तत्तद्व्यक्तित्वेन उपस्थिति हो और वही नहीं है।

इस कारण गदाधर भेद और फल को कर्माख्यातार्थ मानते हैं । इसमें चैत्रादिनिष्ठ क्रिया का भेद में स्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्व सम्बन्ध से और भेद का स्वसामानाधिकरण्य स्वप्रतियोगितावच्छेदकजन्यत्व उभय सम्बन्ध से फल में अन्वय होता है। फल का प्रथमान्तार्थ में अन्वय होता है। इस प्रकार अन्वय का क्रम होता है—

तृतीयान्तार्थ चैत्रादिकर्तृकत्व→ धात्वर्थ क्रिया →भेद→ फल→ प्रथमान्तार्थ में अन्वय होता है। '**चैत्रेण ग्रामो गम्यते**' यहाँ पर चैत्रकर्तृकगमनक्रिया का स्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्व सम्बन्ध से भेद में अन्वय होगा । ऐसा भेद होगा 'चैत्रकर्तृकगमनक्रियावान् न' भेद, इस भेद का प्रतियोगी चैत्रकर्तृकगमनक्रियावान् और प्रतियोगितावच्छेदक चैत्रकर्तृकगमनक्रिया होती है। उससे जन्यत्व संयोग में है। साथ ही उक्त भेद का सामानाधिकरण्य भी उस संयोग में है। इस कारण स्वसामानाधिकरण्य स्वप्रतियोगितावच्छेदकजन्यत्व उभयसम्बन्ध से भेद से विशिष्ट उक्त संयोग हो जाता है। चैत्र में चैत्रकर्तृगमनक्रिया से जन्य संयोग तो है किन्तु वह संयोग गमनक्रियाविशिष्ट भेद से उक्तोभयसम्बन्ध से विशिष्ट नहीं होता है क्योंकि भेद का सामानाधिकरण्य संयोग में नहीं है।

इस प्रकार कर्माख्यात आत्मनेपद का अर्थ फल और भेद होते हैं । ऐसा गदाधर का सिद्धान्त है।

गमनाद्यर्थकधातुओं का समभिव्याहार होने की स्थिति में संयोगादिरूप फल ही कर्माख्यात का अर्थ उपर्युक्त रीति से होता है। ज्ञान, इच्छा, कृत्याद्यर्थक धातुओं का योग होने पर आत्मनेपद आख्यातविशेष का अर्थ विषयत्वरूपी कर्मत्व होता है।

इस प्रकार आख्यातसामान्य का अर्थ कर्तृत्व और आख्यातविशेष का अर्थ कर्मत्व है। कर्मत्ववाचक आख्यात का अर्थ भेद भी हुआ करता है। इसके अलावा तत्तत् लकारों की आख्यातविशेष की शक्ति काल में भी होती है। आख्यातों की संख्यावाचकता भी होती है।

दीधितिकार तो कर्माख्यात का अर्थ आश्रयत्व ही मानते हैं । इनके मत में धात्वर्थ

व्यापार का विशेष्य बनकर धात्वर्थ फल भासता है, फल का विशेष्य बनकर आख्यातार्थ आश्रयत्व और आख्यातार्थ आश्रयत्व का विशेष्य बनकर प्रथमान्तार्थ भासता है।

### आख्यात की संख्यावाचकता

आख्यात तत्तत् संख्याओं का भी वाचक हुआ करता है। इसमें एकवचन की एकत्व में शक्ति है, द्विवचन की द्वित्व में बहुवचन की बहुत्व में शक्ति होती है। किन्तु इस रीति से एकवचनत्वेन एकवचन की शक्ति एकत्व में द्विवचनत्वेन द्विवचन की शक्ति द्वित्व में और बहुवचनत्वेन बहुवचन की शक्ति बहुत्व में नहीं स्वीकारी जा सकती है क्योंकि एकवचनत्वादि का निर्वचन कठिन है '**एकवचनत्वादेर्दुर्वचत्वात्** ' इस प्रकार एकवचनत्वादि रूप से एकवचन आदि की शक्ति एकत्व आदि में नहीं है।

द्विवचन और बहुवचन की शक्ति तो द्वित्व और बहुत्व में स्वीकारनी आवश्यक है क्योंकि बग़ैर आख्यात द्विवचन और बहुवचन की शक्ति द्वित्व, बहुत्व आदि में स्वीकारे '**चैत्रो मैत्रश्च गच्छतः**' '**चैत्रो मैत्रो देवदत्तश्च गच्छन्ति**' इत्यादि स्थलों में द्वित्व और बहुत्व की प्रतीति नहीं हो सकेगी क्योंकि इन स्थलों पर द्वित्व और बहुत्व का बोधक सुप् तो है ही नहीं । सुप् एकवचन की एकत्व में, द्विवचन की द्वित्व में, बहुवचन की बहुत्व में शक्ति स्वीकारनी ही पड़ती है। किन्तु इन स्थलों में द्वित्व और बहुत्व के बोधक सुप् का प्रयोग नहीं हुआ है। इसलिए आख्यात द्विवचन और बहुवचन की शक्ति द्वित्व और बहुत्व में माननी ही पड़ती है। लेकिन आख्यात एकवचन की संख्यार्थकता में विवाद है। इसमें कहना यह है कि '**चैत्रेण दृष्टो घटः**' इत्यादि स्थलों में आख्यात का प्रयोग ही नहीं है। यहाँ पर एकत्व का अभिधान सुप् के द्वारा ही हो रहा है यही मानना पड़ेगा । सुबेकवचन से ही यहाँ पर एकत्व का बोध स्वीकारना पड़ेगा । इसके सिवा दूसरा मार्ग यहाँ पर नहीं बनता है। इसलिए '**घटोऽस्ति**' इत्यादि स्थलों में भी सुबेकवचन से ही एकत्व का अभिधान स्वीकारा जाये यही युक्तिसङ्गत है । इस कारण कोई भी स्थल ऐसा नहीं है जहाँ पर आख्यातैकवचन के द्वारा एकत्व का बोध आवश्यक हो । केवल '**पचति**' ऐसा प्रयोग जहाँ पर होता है वहाँ पर तो एकत्व का बोध अनुभवगम्य ही नहीं है। यहाँ पर तो पाकानुकूलकृति का ही बोध होता है । एकत्वान्वयबोध की योग्यता और तात्पर्य न होने से यहाँ पर एकत्व का बोध ही नहीं होता है। इस प्रकार आख्यात एकवचन की एकत्वार्थकता अनावश्यक है। इस कारण आख्यातैकवचन एकत्व का वाचक नहीं होता है। और यदि वह एकत्व का वाचक हो भी तो आख्यातैकवचनज्ञान से जन्य एकत्वोपस्थिति की शाब्दबोधोपयोगिता में कोई प्रमाण नहीं है।

### आख्यात आदि के द्वारा कर्तृत्वादि का अनभिधान

लकार, कृत् , तद्धित और समास से मुख्यभाक्तसाधारण कर्तृत्व और कर्मत्व का अनभिधान ही कर्तृवाचक और कर्मवाचक पदों से तृतीया और द्वितीया का नियामक हुआ करता है। कुछेक लोग कर्तृकर्मगत संख्या के अनभिधान को ही कर्तृ और कर्मवाचक पदों से तृतीया और द्वितीया का प्रयोजक मानते हैं । किन्तु गदाधर इसका खण्डन कर देते हैं। गदाधर का कहना है कि '**अनभिहिते**' सूत्र के अधिकार में '**कर्मणि द्वितीया**'

**'कर्तृकरणयोस्तृतीया'** इत्यादि अनुशासनों का प्रयोजन यही है कि **'पचति' 'पच्यते'** इत्यादि क्रियाओं का योग होने पर कर्तृवाचक और कर्मवाचकपदों से तृतीया और द्वितीया के असाधुत्व की प्रतिपत्ति हो । असाधुत्वप्रतिपत्ति का आशय तत्कर्तृत्व, तत्कर्मत्वादि बोधकारणीभूत आकाङ्क्षादिरहितत्व की प्रतिपत्ति से है। इस कारण यदि कर्तृकर्मगत संख्यानभिधान को तृतीया, द्वितीया का प्रयोजक मान भी लिया जाये तो भी उक्त क्रियाओं का योग होने पर कर्तृवाचक और कर्मवाचक पदों के बाद तृतीया और द्वितीया के असाधुत्व की प्रतिपत्ति नहीं हो सकेगी क्योंकि प्रथमान्त चैत्र, तण्डुलादि पद और तत्तद् आख्यातपदों के समभिव्याहार की ही चैत्र, तण्डुलादिविशेष्यक तत्तदाख्यातार्थसंख्यान्वयबोधप्रयोजकता होती है, इसलिए **'चैत्रेण पचति'** इत्यादि वाक्यघटक चैत्रपद और तण्डुलादिपदों के समभिव्याहार के चैत्रविशेष्यक तिबर्थसंख्याप्रकारक अन्वयबोधप्रयोजक न होने से भी कोई अन्तर नहीं पड़ता है। चैत्रविशेष्यक कर्तृत्वान्वयबोधप्रयोजकत्व एतादृश पदों के समभिव्याहार में नहीं है, ऐसा इस नियम से लब्ध नहीं होता है।

इस कारण आख्यात आदि के द्वारा कर्तृत्व, कर्मत्व आदि का अनभिधान ही कर्तृकर्मवाचकपदों से तृतीया द्वितीया का प्रयोजक हुआ करता है। लेकिन यह कर्तृत्व कर्मत्व का अनभिधान तृतीया द्वितीया का प्रयोजक होता है ऐसा स्वीकारने में समस्या यह आती है कि पाणिनि ने कर्ता और कर्म का अनभिधान होने पर तृतीया द्वितीया का विधान किया है। किन्तु इसमें अनभिधान का अभिप्राय क्या है? इसके उत्तर में यही कहते हैं कि अवाचकत्व अनभिधान नहीं है बल्कि अबोधकत्व ही अनभिधान है। कर्तृत्वविशिष्ट का अबोधकत्व ही कर्ता का अनभिधान है। कर्मत्वविशिष्ट का अबोधकत्व ही कर्म का अनभिधान है।

कर्तृत्व और कर्मत्व का अनभिधान कर्तृ और कर्मवाचकपदों से तृतीया और द्वितीया का प्रयोजक होता है, तो इस पक्ष में समभिव्याहृत लकारादि से अनभिहितकर्तृत्व तृतीयार्थ है यह सूत्रार्थ है इसमें अनभिधान का अभिप्राय क्या है? अवाचकत्व अनभिधान शब्दार्थ नहीं है क्योंकि लकार सामान्य की कर्तृत्व में शक्ति होने से सभी आख्यातों में कर्तृत्व वाचकत्व होने के कारण सर्वत्र कर्तृत्व अभिहित ही होगा, अनभिहित नहीं । अतः कहीं पर भी तृतीया नहीं हो सकेगी । कर्तृत्व आदि का अबोधकत्व भी उसका अनभिधान नहीं हो सकता है क्योंकि **'चैत्रेण पच्यते'** इस वाक्य से जन्य बोध में वाक्यघटक समस्त पदों का जनकत्व होता है, इस कारण उस वाक्य में घटकीभूत आख्यात की भी कर्तृत्वबोधकता है ही । इसलिए पुनः तृतीया की अनुपपत्ति होगी । इसी प्रकार कर्तृत्वविषयत्वाप्रयोजकत्व भी कर्तृत्व का अनभिधान नहीं हो सकता है, कयोंकि तृतीया फिर भी अनुपपन्न होगी, कारण यह है कि कर्तृत्व विषयता का प्रयोजकत्व तो आख्यात में फिर भी विद्यमान ही है।

इस कारण इस पक्ष में अनभिधान का अर्थ कर्तृत्वविशेष्यतया प्रातिपदिकार्थ की अविवक्षा ही है। इसी प्रकार कर्मत्व का अनभिधान कर्मत्वविशेष्यतया प्रातिपदिकार्थ की अविवक्षा ही होती है। इन्हीं स्थितियों में कर्तृवाचकपदों से तृतीया और द्वितीया होती है।

**आख्यात की कालार्थकता**

आख्यात कालविशेष का भी बोधक होता है। लट् लकार वर्तमानकाल का वाचक

होता है। लट् प्रत्यय का अर्थ भविष्यत् काल होता है। लुट् का अर्थ अनद्यतन भविष्यत् काल होता है। लुङ् का अर्थ अतीत काल होता है। लङ् का अर्थ अनद्यतन अतीत काल होता है। लिट् का अर्थ अनद्यतन परोक्ष अतीत काल होता है। लिङ् और लोट् का विधि अर्थ होता है। इसके अतिरिक्त लकारों के अर्थों का निर्वचन गदाधर ने नहीं किया है।

**लडर्थ वर्तमानकाल**

आख्यात से ही वर्तमानकाल की भी उपस्थिति होती है और कृति की भी उपस्थिति आख्यात से ही होती है। वर्तमानकाल आख्यातोपस्थित कृति में अन्वित होता है क्रिया में नहीं अन्वित होता है।

वर्तमानकाल तत्तच्छब्दप्रयोगाधिकरणकालरूप होता है, वही तत्तत् लट् आदि शब्दों का अर्थ होता है। इसको इस रीति से व्यवस्थापित किया है सिद्धान्तरूप में कि शब्दप्रयोगाधिकरणवृत्तिकालत्वव्याप्यधर्मोपलक्षित काल ही वर्तमानकाल का अर्थ होता है। इस कारण कहीं पर क्षणपर्यन्त काल का वर्तमानकाल से प्रत्यायन होता है, कहीं पर दिन, मास, वर्ष आदि का वर्तमानकाल करके बोध होता है। क्रियाआरम्भ से पूर्व और क्रिया समाप्ति के बाद 'पढ़ता है' इत्यादि प्रयोग नहीं होते हैं, इस कारण आख्यातार्थ कृति में शब्दप्रयोगाधिकरणवृत्तिकालत्वव्याप्यधर्मोपलक्षितकाल का अन्वय स्ववृत्तिप्रागभावप्रतियोगित्व और स्ववृत्तिध्वंसाप्रतियोगिप्रकृतक्रियाकर्तृनिष्ठत्व से विशिष्ट आधेयता सम्बन्ध से किया जाता है। जब अध्ययन क्रिया नहीं आरम्भ हुई है, उस समय **'पठति'** शब्द का प्रयोग करने पर शब्दप्रयोगाधिरण काल का इस तरह के सम्बन्ध से अध्ययन क्रिया में अन्वय नहीं किया जा सकता है क्योंकि शब्दप्रयोगाधिकरण काल में वृत्ति प्रागभाव का प्रतियोगित्व ही अध्ययन क्रिया में है। इस प्रकार स्ववृत्तिप्रागभावप्रतियोगित्वविशेषित आधेयता सम्बन्ध से शब्दप्रयोगाधिकरणकाल का अध्ययन क्रिया में अन्वय नहीं किया जा सकता है। इस प्रकार अध्ययन समाप्ति के उपरान्त स्ववृत्तिध्वंसाप्रतियोगिप्रकृतक्रियाकर्तृनिष्ठत्व से विशेषित आधेयता सम्बन्ध से शब्दप्रयोगाधिकरणीभूत काल का अन्वय अध्ययन क्रिया में असम्भव है। क्योंकि शब्दप्रयोगाधिकरणीभूतकाल में वृत्ति ध्वंस की प्रतियोगी ही अध्ययनक्रिया हो जाती है। इस प्रकार शब्दप्रयोगाधिकरणवृत्तिकालत्वव्याप्यधर्मोपलक्षित काल वर्तमानकाल है, वही आख्यातार्थ है। तथा इसका कृति में अन्वय स्ववृत्तिप्रागभावाप्रतियोगित्व स्ववृत्तिध्वंसाप्रतियोगिक्रियाकर्तृनिष्ठत्वोभय से विशेषित आधेयता सम्बन्ध से किया जाता है।

नञ् घटित स्थल में आख्यातार्थ वर्तमानत्व का कृत्यभाव में अन्वय किया जाता है तथा वर्तमानकाल का =शब्द प्रयोगाधिकरणकाल का आधेयतासम्बन्ध से कृत्यभाव में अन्वय किया जाता है।

जिन स्थलों में आख्यात कृति का बोधक नहीं होता है जैसे **'जानाति'** इत्यादि स्थलों में वहाँ पर लड् आदि के द्वारा ज्ञान आदि क्रिया का ही वर्तमानत्व बोधित होता है। इस प्रकार ऐसा प्रयोग होने पर ज्ञान की ही वर्तमानता बोधित होती है। नञ् घटित इन स्थलों में ज्ञानाद्यभाव में ही वर्तमानता का अन्वय होता है। किन्तु **'नश्यति'** इत्यादि स्थलों में धात्वर्थ उत्पत्तिमदभाव के एकदेश उत्पत्ति में ही वर्तमानत्व का अन्वय होता है अथवा धात्वर्थ उत्पत्तिमदभाव में ही वर्तमानत्व का उत्पत्ति सम्बन्ध से अन्वय हुआ करता है।

### लृट् प्रत्ययार्थ भविष्यत् काल

लृट् प्रत्यय का अर्थ भविष्यत्त्व आख्यात के कृत्यर्थक होने पर कृति में और आख्यात के कृत्यर्थक न होने पर धात्वर्थ क्रिया में अन्वित हुआ करता है। भविष्यत् शब्द का अर्थ वैसे तो अनागतकालोत्पत्तिकत्व होता है क्योंकि भू धातु उत्पत्त्यर्थक है, परन्तु '**पक्ष्यति**' इत्यादि स्थलों में आख्यातार्थ कृति में अनागतकालोत्पत्तिकत्व की प्रतीति स्वीकारना व्यर्थ है, अनागतत्व मात्र की प्रतीति से ही कृति का अनागतकालोत्पत्तिकत्व लब्ध हो जाता है। इस कारण अनागतत्व को ही लृट् का अर्थ मानना चाहिए । अनागतत्व का अर्थ वर्तमानप्रागभावप्रतियोगित्व ही है। इस प्रकार '**पक्ष्यति**' प्रयोग करने पर पाकानुकूल कृति में वर्तमानप्रागभावप्रतियोगित्व ही प्रत्याय्यित होता है। प्रागभाव को न स्वीकारनेवाले रघुनाथ शिरोमणि आदि के मत में क्या होगा? तो इस मत में वर्तमानकालध्वंस ही अनागतत्व है। यही लृट् का अर्थ है। इसका कृति में आधेयता सम्बन्ध से अन्वय होगा । ध्वंस कालोपाधि होने के कारण समानकालीनपदार्थ का आधार होगा, इसलिए वर्तमानकालध्वंस में भावी कृति रहेगी । उसमें वर्तमानकालध्वंस का आधेयता सम्बन्ध से अन्वय हो सकता है।

चूँकि एक पाकक्रिया के अन्तर्गत अनेक अवान्तर क्रियाएँ होती हैं और उन क्रियाओं के प्रति अनुकूल कृतियाँ भी अनेक होती है। इस प्रकार व्यक्ति जब पाक कर रहा है तो कुछेक पाकानुकूलकृतियाँ अनागत ही हैं। इसलिए वहाँ पर '**पक्ष्यति**' इस वाक्य से जन्यबोध के अबाधितार्थक होने के कारण भविष्यत्कालीन उक्त कृतियों को लेकर ऐसा वाक्यप्रयोग होना चाहिए । ऐसी आपत्ति आती है। इस आपत्ति का वारण करने के लिए बताते हैं कि वर्तमानप्रागभाव या वर्तमानकालध्वंस ही भविष्यत्त्व या अनागतत्व है। वर्तमान प्रागभाव को यदि अनागतत्व का अर्थ माना जाये तो उसका स्वविशिष्टकालवृत्ति पाकानुकूलत्वविशिष्टप्रतियोगितासम्बन्ध से कृति में अन्वय होता है। उपर्युक्त स्थल में आगामी कृति में वर्तमानप्रागभाव की प्रतियोगिता तो है, किन्तु वर्तमानप्रागभावविशिष्ट जो काल उस काल में वृत्ति पाक का अनुकूलत्व ही उस कृति में है अननुकूलत्व नहीं । इस कारण उक्त कृति स्वविशिष्टकालवृत्तिपाकानुकूलत्वविशिष्टप्रतियोगितासम्बन्ध से वर्तमानप्रागभाव से विशिष्ट नहीं है। इसलिए पाक चल रहे होने पर आगामी कृति को लेकर '**पक्ष्यति**' प्रयोग नहीं होता है। वर्तमानकालध्वंस को यदि प्रत्ययार्थ मानें तो उसका कृति में अन्वय स्वपूर्वकालीनकृतिजन्यपाकाननुकूलत्वविशिष्ट आधेयता सम्बन्ध से होता है। पाक चल रहे होने पर आगामिकृति में वर्तमानकालध्वंस वृत्तित्व तो है किन्तु वर्तमानकालध्वंसपूर्वकाल वर्तमानकालवृत्ति कृति से जन्य पाक का अननुकूलत्व नहीं है। इसलिए उक्त स्थल में '**पक्ष्यति**' प्रयोग नहीं होता है। नञ् घटित स्थल में यहाँ पर भी अभावांश में ही अनागतत्व का प्रत्यायन होता है।

### लुडर्थ

लुट् का अर्थ अनद्यतनत्व और भविष्यत्त्व है। अनद्यतनत्व का अर्थ शब्दप्रयोगाधिकरणी-भूतदिवसावृत्तित्व है और भविष्यत्त्व तो पूर्ववत् वर्तमानप्रागभाव या वर्तमानकालध्वंस है। इस प्रकार वर्तमानप्रागभाव का प्रतियोगितासम्बन्ध से और ध्वंस का आधेयता सम्बन्ध से

कृति में अन्वय होता है। इस प्रकार शब्दप्रयोगाधिकरणीभूतदिवसनिष्ठप्रागभावप्रतियोगित्व या शब्दप्रयोगाधिकरणदिवसध्वंसवृत्तित्व ही यहाँ पर अनागतत्त्व है। इसके साथ अनद्यतनत्व भी भासित होता है। उपर्युक्त रीति से ही यहाँ पर भी सम्बन्धों का प्रवेश करना आवश्यक होता है। इस कारण अनागतत्व का अर्थ वर्तमानप्रागभाव या वर्तमानकालध्वंस ही है। इसमें वर्तमानप्रागभाव का स्वविशिष्टदिनवृत्तिकृतिजन्यपाकानुकूलत्वविशिष्टप्रतियोगिता सम्बन्ध से भावि कृति में अन्वय होगा और वर्तमानकालध्वंस का स्वपूर्वदिवसीयकृतिजन्यपाका-नुकूलत्वविशिष्ट आधेयता सम्बन्ध से अन्वय होगा ।

लुडर्थ के विषय में गदाधर ने एक अन्य पक्ष की चर्चा की है जो कि अनागतत्व मात्र को ही लुट् का भी अर्थ मानता है और स्वरूपतः विद्यमान अनद्यतनत्व उस लुट् की साधुता का नियामक होता है। इस पक्ष में समस्या यह है कि जैसे स्वरूपसत् अनद्यतनत्व लुट् की साधुता का नियामक हो सकता है । उसी प्रकार स्वरूपसत् भविष्यत्त्व ही लुट् की साधुता का नियामक हो सकता है। इस कारण तुल्य युक्ति से भविष्यत्त्व आदि लृट् भी आदि के अर्थ नहीं हो सकेंगे ।

**लुङर्थ**

लुङ् का अर्थ अतीतकाल होता है उसका भी आख्यात सामान्यार्थ कृति आदि में अन्वय होता है। सिद्धान्ततः अतीतकाल को लुङ् का अर्थ मानने के बजाय वर्तमानध्वंस को लुङ् का अर्थ मान लेते हैं, उसका प्रतियोगिता सम्बन्ध से कृति आदि में अन्वय होता है। जिस समय पाक चल रहा है, उस समय पाकानुकूल कृतिविशेष तो नष्ट हो ही चुकी है क्योंकि एक ही पाकक्रिया के प्रति अनुकूल अनेक कृतियाँ होती हैं । इसलिए लुङ् लकारीय **'अपाक्षीत्'** प्रयोग की आपत्ति आती है। इसका वारण करने के लिए वर्तमानध्वंस का कृति में स्ववृत्तिकृतिजन्यपाकाननुकूलत्वविशिष्टप्रतियोगितासम्बन्ध से अन्वय स्वीकारते हैं । उक्त कृति वर्तमानध्वंस से प्रतियोगितासम्बन्ध से तो विशिष्ट है, लेकिन वर्तमानध्वंसवृत्ति कृति से जन्य पाक के प्रति अनुकूलत्व ही उसमें होने के कारण स्ववृत्तिकृतिजन्यपाकाननुकूलत्वविशिष्टप्रतियोगितासम्बन्ध से वर्तमानध्वंस से विशिष्ट उक्त कृति नहीं है। इसकारण ऐसा प्रयोग नहीं होता है।

**लङर्थ**

लङ् का अर्थ अतीतत्व और अनद्यतनत्व दोनों है। अनद्यतनत्व का अर्थ शब्दप्रयोगाधिकरणीभूतदिनावृत्तित्व है। इस प्रकार अतीतत्व और अनद्यतनत्व को अलग-अलग लङ् का अर्थ मानने के अलावा अनद्यतनत्व को अलग से लङ् का अर्थ मानने का पक्ष भी है। अनद्यतनातीतत्व का अर्थ प्रकृतशब्दप्रयोगाधिकरणीभूतदिनाद्यक्षण वृत्तिध्वं-सप्रतियोगित्व होता है।

**लिडर्थ**

लिट् का अर्थ अतीतत्व अनद्यतनत्व और परोक्षत्व तीनों है। अतीतत्व और अनद्यतनत्व तो पूर्ववत् ही है। परोक्षत्व का अर्थ वक्ता के साक्षात्कार का अविषयत्व है। यहाँ पर वक्तृभिन्नकर्तृत्व को परोक्षत्व मानने का पक्ष भी है। गदाधर की इसमें स्वीकृति नहीं है।

**लिङर्थ और लोडर्थ**

लिङ् और लोट् का अर्थ विधि हीं माना जाता है क्योंकि पर की प्रवृत्ति के लिए

लिङ् और लोट् का प्रयोग किया जाता है। विधि का अर्थ प्रवर्तकज्ञानविषय धर्म होता है। प्रवर्तकज्ञानविषयधर्म न्यायसम्प्रदाय के अनुसार कृतिसाध्यत्व और बलवदनिष्टाननुबन्धित्व-विशिष्टेष्टसाधनत्व ही है। कृतिसाध्यत्व का ज्ञान तो लिङ् और लोट् से नहीं होता है, यह तो प्रमाणान्तर से ही ज्ञात है। शेष बचता है बलवदनिष्टाननुबन्धित्वविशिष्टेष्टसाधनत्व, तो यही लिङ् और लोट् का अर्थ होता है।

अब प्रश्न होता है कि लिङ् व लोट् की शक्ति बलवदनिष्टाननुबन्धित्वविशिष्टेष्टसाधनत्व में है अथवा बलवदनिष्टाननुबन्धित्व में अलग शक्ति और इष्ट साधनत्व में अलग शक्ति है? तो इस प्रश्न के उत्तर में बताया जाता है कि **'न कलञ्जं भक्षयेत्'** इत्यादि स्थलों में तृप्ति आदिरूप इष्ट का साधनत्व तो है, इसलिए कलञ्जभक्षण में इष्टसाधनत्वाभाव का बोधन सम्भव नहीं है। बलवदनिष्टाननुबन्धित्व का अभाव ही कलञ्जभक्षण में बोधित किया जा सकता है। इसलिए बलवदनिष्टाननुबन्धित्वविशिष्टेसाधनत्व में यदि लिङ् व लोट् की शक्ति स्वीकारी जाये तो बलवदनिष्टाननुबन्धित्वविशेष्टसाधनत्वाभाव का ही इस स्थल में प्रत्यायन होगा । यह विशिष्टाभाव है और विशिष्टाभाव विशेषणाभावप्रयुक्त भी होता है। इस कारण बलवदनिष्टाननुबन्धित्वाभावप्रयुक्त बलवदनिष्टाननुबन्धित्वविशिष्टेसाधनत्वाभाव प्रत्याय्यित होने में कोई समस्या नहीं है। किन्तु यह निवर्तक नहीं होगा । निवर्तक तो बलवदनिष्टसाधनत्वज्ञान ही होता है। यह विशिष्टाभाव तो ऐसा है नहीं । इस कारण बलवदनिष्टाननुबन्धित्वविशिष्टे-साधनत्वाभावरूप हेतु से कलञ्जभक्षण के बलवदनिष्टसाधनत्व की अनुमिति करनी पड़ेगी। यही अनुमित्यात्मक ज्ञान ही निवर्तक होगा । इस प्रकार श्रुतिवाक्य का परम्परया ही निवर्तकत्व होगा । दूसरी बात यह है कि विशिष्ट में शक्ति मानने पर विशेष्यविशेषणभाव में कोई भी विनिगमनना नहीं है। इस कारण बलवदनिष्टासाधनत्व को अलग और इष्टसाधनत्व को अलग (स्वतन्त्र रूप से) विध्यर्थ मानना चाहिए ।

विशिष्ट शक्ति स्वीकारने में **'श्येनेनाभिचरन् यजेत्'** यहाँ पर श्येनयाग में विध्यर्थ का बाध हो जायेगा क्योंकि श्येनयाग में इष्टसाधनत्व होने पर भी बलवदनिष्टनरकानुबन्धित्वविशिष्ट ही इष्टसाधनत्व है, बलवदनिष्टाननुबन्धित्वविशिष्ट इष्टसाधनत्व नहीं है। उक्त वाक्य से श्येनयाग में बलवदनिष्टाननुबन्धित्वविशिष्टेसाधनत्व ही बोधित होता है जो कि बाधित है। इस कारण उक्त वाक्य का प्रामाण्य खण्डित हो जायेगा । इस कारण इष्टसाधनत्व और बलवदनिष्टासाधनत्व दोनों को अलग-अलग विध्यर्थ मानना चाहिए । चिन्तामणिकार भी ऐसा ही स्वीकारते हैं । ऐसा स्वीकारने पर श्येनयाग में केवल इष्टसाधनत्व बोधित होता है बलवदनिष्टासाधनत्व नहीं बोधित होता है, यही स्वीकारने से काम चल जाता है। कोई भी अयोग्यता इस वाक्य में नहीं होती है। विशिष्टशक्ति पक्ष में यह नहीं सम्भव है कि इष्टसाधनत्व का भान हो और बलवदनिष्टासाधनत्व का भान न हो । यह शक्तिभेद होने पर ही सम्भव है। इसलिए इष्टसाधनत्व और बलवदनिष्टासाधनत्व विधि के अलग-अलग अर्थ हैं ।

मीमांसक इष्टसाधनत्व को विध्यर्थ नहीं मानते हैं । उनका कहना है कि नित्यकर्मों के निष्फल होने से विध्यर्थ इष्टसाधनत्व का सन्ध्योपासनादि में अन्वय असम्भव है। अतः इष्टसाधनत्व लिङ् व लोट् का अर्थ नहीं हो सकता है। सन्ध्यावन्दनादि में **'सन्ध्यामुपासते ये च सततं संशितव्रताः । विधूतपापास्ते यान्ति ब्रह्मलोकं सनातनम् ॥'** इत्यादि

अर्थवाद से उपस्थापित ब्रह्मलोकावाप्ति आदि फलसाधनत्व स्वीकार भी लें, तो भी उस श्रुति में सततं ऐसा सुनायी देता है। इस कारण जिसका कभी भी सन्ध्यावन्दनादि का बाध हो गया, उसके द्वारा किये गये सन्ध्यावन्दनादि में ब्रह्मलोकावाप्तिसाधनत्व न होने से उस व्यक्ति की सन्ध्यावन्दन में प्रवृत्ति का निर्वाह नहीं हो सकता है। इस कारण इष्टसाधनत्व को विध्यर्थ नहीं माना जा सकता है। किन्तु इष्टसाधनत्व को विध्यर्थ न मानेंगे और सन्ध्यावन्दनादि में इष्टसाधनता नहीं है, तो सन्ध्यावंदनादि में प्रवृत्ति कैसे होगी ? इसके उत्तर में मीमांसको का कहना है कि प्रायश्चित्त में कैसे प्रवृत्ति होती है? जैसे प्रायश्चित्त में प्रवृत्ति होती है वैसे ही सन्ध्यावन्दनादि में भी होगी । प्रायश्चित्त में इष्टसाधनताज्ञान नहीं होने पर भी उसमें प्रवृत्ति होती है क्योंकि प्रायश्चित्ताभाव के नरकप्रयोजक होने के कारण प्रायश्चित्त भावविषयक द्वेष से ही प्रायश्चित्त में प्रवृत्ति होती है। उसी प्रकार सन्ध्यावन्दनादि का अभाव भी नरक प्रयोजक होता है, इस कारण सन्ध्यावन्दनाभावविषयकद्वेष से ही सन्ध्यावन्दनादि में प्रवृत्ति सम्भव है।

नैयायिक नरकात्यन्ताभाव को ही प्रायश्चित और सन्ध्यावन्दनादि का फल मानते हैं। नरक दुःखविशेष ही है, दुःखविशेषाभाव भी इष्ट ही होता है। इसी कारण न्यायमत में मुक्ति विषयिणी भी प्रवृत्ति सम्भव होती है। सुख और दुःखाभाव साक्षात् इष्ट होते हैं, इस कारण सुखसाधन और दुःखाभावसाधन में प्रवृत्ति का निर्वाह होता है। सुखसाधन में जैसे इष्टसाधनताज्ञान हो जाता है, उसी प्रकार दुःखाभावसाधन में भी इष्टसाधनताज्ञान होने में कोई समस्या नहीं है। इस प्रकार सन्ध्यावन्दन और प्रायश्चित आदि में नरकात्यन्ताभावसाधनता ज्ञान से प्रवृत्ति का निर्वाह हो जाता है। इसलिए इष्टसाधनत्व ही विध्यर्थ है तथा स्वतन्त्र रूप से बलवदनिष्टासाधनत्व विध्यर्थ होता है।

**धात्वर्थ**

प्रसङ्गानुसार गदाधर 'व्युत्पत्तिवाद' में धात्वर्थ क्या होता है? इस पर भी विचार करते हैं। तथा युक्तिपुरस्सर इसमें अपने पक्ष का निर्णय करते हैं । इस विषय में तीन मत हैं व्यापारमात्रधात्वर्थतावादी प्राचीनमत, फलावच्छिन्नव्यापारधात्वर्थतावादी नवीन मत और फल तथा व्यापार की धात्वर्थतावादी नवीनैकदेशीमत ।

**व्यापारमात्र की धात्वर्थता**

प्राचीनों का कहना है कि **'ग्रामं गच्छति'** इत्यादि स्थलों में ग्रामनिष्ठ संयोगानुकूलव्यापारविशेष की प्रतीति हुआ करती है। इसमें संयोग तो ग्रामपदोत्तर द्वितीया का ही अर्थ है क्योंकि ग्राम का कर्मत्व ग्रामनिष्ठकर्मत्व ही है। इस कारण गम् आदि धातु का अर्थ व्यापारमात्र ही हुआ करता है। इस मत में धातु का सकर्मकत्व फलान्वितव्यापार बोधकत्व ही होता है। द्वितीया आदि फल के उपस्थापक होते हैं किन्तु द्वितीयादि की गम् आदि से उपस्थापित स्पन्द में ही फलान्वय के बोध की जनकता है, स्पन्द आदि धातु से उपस्थापित स्पन्द में फलान्वयबोध जनकता नहीं है। इस कारण स्पन्द की सकर्मकता नहीं होती है, गम् की होती है।

इस प्राचीनसिद्धान्त में प्रश्न यह उठ सकता है कि इस प्रकार तो **'ग्रामं गच्छति'** और **'ग्रामं त्यजति'** की पर्यायता हो जायेगी क्योंकि इन दोनों ही वाक्यों में जिस अंश में शब्द प्रयोग में भेद है, वह है धातुमात्रांश । धातु है गम् और त्यज्, एक जगह पर गम्

धातु का प्रयोग है और दूसरी जगह पर त्यज् धातु का प्रयोग है। लेकिन गम् और त्यज् के अर्थ तो एक ही हैं दोनों ही व्यापार मात्र के वाचक है। ऐसी परिस्थिति में उक्त दोनों ही वाक्यों का समान अर्थ बोधित करने के लिए प्रयोग होना चाहिए । इसी प्रकार केवल '**त्यजति**' '**गच्छति**' प्रयोगों से '**त्यागः**' '**गमनम्**' से भी अविलक्षणबोध होना चाहिए। किन्तु शक्तिभ्रमादि के बग़ैर इनसे एक जैसा बोध होना कोई भी नहीं स्वीकार करता है। इस मत में अभ्रान्त को इनसे अविलक्षण बोध होने की पाली आ जायेगी ।

इस आपत्ति का उत्तर इस तरह दिया जाता है कि कर्मप्रत्यय से असमभिव्याहृत त्याग, गमन आदि पदों के तत्तत् फलों से अवच्छिन्नव्यापार में अनादि तात्पर्य की कल्पना करते हैं केवल व्यापार में नहीं । अनादि तात्पर्य ही स्वारसिक प्रयोग का नियामक होता है, इस कारण एक अर्थ के तात्पर्य से प्रामाणिकों द्वारा त्याग और गमन आदि पदों का स्वारसिक प्रयोग नहीं किया जाता है तथा त्याग, गमन आदि पदों से अविलक्षण बोध नहीं होता है। इसी प्रकार त्यजि, गमि आदि धातुओं से समभिव्याहृत कर्मप्रत्यय का फलविशेष में वैसा नियत तात्पर्य हुआ करता है। गम् धातु से समभिव्याहृत कर्मप्रत्यय द्वितीया का तात्पर्य संयोगबोधन में नियत है, त्यज् धातु से समभिव्याहृत कर्मप्रत्यय द्वितीया का तात्पर्य विभाग बोधन में नियत है । इस कारण '**ग्रामं त्यजति**' और '**ग्रामं गच्छति**' से विलक्षण बोध की उत्पत्ति सम्भव है, भले ही धातुओं की व्यापारमात्रवाचिता हो। इस रीति से धातुओं की व्यापारमात्रवाचिता भी स्वीकारी जा सकती है। उपर्युक्त आपत्तियों का निवारण सम्भव है।

## फलावच्छिन्न व्यापार की धात्वर्थता

रघुनाथ शिरोमणि प्रभृति नवीननैयायिक व्यापारमात्र की धात्वर्थता नहीं स्वीकारते हैं। इनका कहना है कि ऐसी स्थिति में गम्, त्यज् आदि धातुओं की पर्यायता हो जाने की आपत्ति आयेगी । पूर्व में प्राचीनमत का विवेचन करते हुए हम इस आपत्ति का वारण किस रीति से किया जा सकता है यह विचार कर चुके हैं । प्राचीनों ने '**त्यजति**' '**गच्छति**' '**ग्रामं त्यजति**' '**ग्रामं गच्छति**' से अविलक्षणबोधोत्पत्ति का वारण करने में युक्ति दी थी कि कर्मप्रत्ययासमभिव्याहृत त्यज् गम् आदि की फलविशेषावच्छिन्न व्यापार में निरूढलक्षणा है। इस कारण विलक्षणबोध की उत्पत्ति होती है। तथा गम् आदि से समभिव्याहृत कर्मप्रत्यय की भी तत्तत् फलविशेष में निरूढलक्षणा है। इस कारण विलक्षणबोध की उत्पत्ति होती है । जहाँ पर गम् धातु से व्यापार की उपस्थिति होती है, वहाँ पर संयोगात्मक फल की उपस्थिति कर्मप्रत्यय से होती है। जहाँ पर व्यापार की उपस्थिति त्यज् धातु से होती है, वहाँ पर विभागात्मक फल की उपस्थिति कर्मप्रत्यय से होती है। प्राचीनों की इस युक्ति पर नवीनों के द्वारा कहा जाता है कि या धातु और गम् धातु की पर्यायता होने से दोनों से अविलक्षण बोध की उत्पत्ति सभी के द्वारा स्वीकारी जाती है। इसी प्रकार यदि किसी को त्यज् और गम् धातु की पर्यायता का भ्रम हो जाये तो '**त्यजति**' '**गच्छति**' से भी अविलक्षणबोध की उत्पत्ति सभी लोग स्वीकारते हैं । इस कारण आपका यह कथन खण्डित हो जाता है कि 'जहाँ पर तत्तत् धातुओं से व्यापार की उपस्थिति होती है, कर्मप्रत्यय वहीं पर तत्तत् फलों का बोधक होता है' क्योंकि यहाँ पर दोनों से ही व्यापार की

उपस्थिति होने पर भी कर्मप्रत्यय भ्रम के अनुसार संयोग का बोधक होगा और विभाग का बोधक होगा । इस युक्ति का निहितार्थ यह है कि धातुविशेष के समभिव्याहार के आधार पर समान कर्मप्रत्यय के द्वारा तत्तत् फलविशेषों का बोध स्वीकारने की अपेक्षा उचित यह है कि धातुविशेष के द्वारा ही तत्तत् फलविशेषों का बोध स्वीकार लिया जाये । इस कारण फल को भी धात्वर्थ ही मानना चाहिए । यूँ भी वाक्य में जिस अंश में वैलक्षण्य है, उसी वैलक्षण्य को शाब्दबोध के वैलक्षण्य का कारण मानना उचित दिखायी देता है। **'ग्रामं गच्छति' 'ग्रामं त्यजति'** में धात्वंश में वैलक्षण्य है, इसी वैलक्षण्य को शाब्दबोधीय फलांश में वैलक्षण्य का प्रयोजक मानना चाहिए । यह तभी बन सकता है यदि फल और व्यापार दोनों को धात्वर्थ माना जाये । धातूपस्थाप्य व्यापार अंश तो उभयत्र समान है किन्तु धातूपस्थाप्य फलांश में वैलक्षण्य है। इसलिए फलांश में शाब्दबोध विलक्षण होता है।

इस प्रकार नवीन फलावच्छिन्नव्यापार में धातु की शक्ति स्वीकारते हैं । फलावच्छिन्नव्यापारबोधकत्व ही धातु का सकर्मकत्व है और फलानवच्छिन्नव्यापारबोधकत्व धातु का अकर्मकत्व होता है। नैयायिक पतधातु का सकर्मकत्व नहीं स्वीकारते हैं, यद्यपि पत धातु अधःसंयोगावच्छिन्नव्यापार का बोधक होता है। इस कारण आश्रयानवच्छिन्न फलावच्छिन्नव्यापारबोधकत्व ही सकर्मकत्व है। पत् धातु अधोदेशरूप आश्रय से अवच्छिन्न फल संयोग से अवच्छिन्नव्यापार का बोधक होता है। अतः पत धातु की सकर्मकता नहीं होती है।

## फल और व्यापार की अलग-अलग धात्वर्थता

तीसरा पक्ष फल और व्यापार की अलग-अलग धात्वर्थता का है। वस्तुतः इसमें भी दो मत हैं । एक पक्ष यह है कि फल और व्यापार दोनों में धातु की दो शक्तियाँ हैं । इसमें समस्या यह है कि **'गमनं न स्पन्दः'** इसका प्रामाण्य होने लगेगा क्योंकि गम् धातु से उपस्थित संयोग में तो स्पन्द का भेद है ही । इसलिए यह पक्ष तो फलावच्छिन्नव्यापार की धात्वर्थता के समक्ष अयोग्य ही ठहरता है। फलावच्छिन्नव्यापार की धात्वर्थता होने पर तो संयोगावच्छिन्नस्पन्द ही गम् धात्वर्थ हैं, उसमें स्पन्दभेद नहीं है। संयोग के पदार्थैकदेश होने के कारण उसमें तो स्पन्दभेद अन्वित नहीं हो सकता है। इस कारण ऐसे प्रयोग के प्रामाण्य की आपत्ति फलावच्छिन्नव्यापार की धात्वर्थतामत में नहीं है।

फल और व्यापार की अलग-अलग धात्वर्थता में द्वितीय पक्ष यह है कि एक वृन्तगत फलद्वयन्याय से फल और व्यापार में धातु की एक शक्ति है। इस विषय में पुष्पवन्तपद का उदाहरण दिया जाता है। पुष्पवन्त पद की चन्द्र और सूर्य में एक ही शक्ति है। इस कारण जैसे पुष्पवन्त पद से विशेष्यविशेषणभावानापन्न ही चन्द्र और सूर्य की निरपेक्षतया बोध होता है, उसी प्रकार धात्वर्थफल और व्यापार का भी विशेष्यविशेषणभावानापन्न ही निरपेक्षतया बोध होने की आपत्ति आती है। इसलिए **'धातुपदं फलविषयकव्यापार-विषयकबोधं जनयतु'** इस सङ्केत के बोधांश में विशेषणतया भासमान फलविषयकत्व और व्यापारविषयकत्वों में अवच्छेद्यावच्छेदकभाव भासता है, ऐसा मानना पड़ेगा । तथा चूँकि विशेष्यविशेषणभाव से भासमान ही व्यापार व फल की विषयताओं में अवच्छेद्यावच्छेदक भाव होता है। इसलिए फल और व्यापार का विशेषणविशेष्यभावापन्न ही भान होता है। इस

प्रकार धातु से जन्य उपस्थिति में फल **'गमनं न स्पन्दः'** से विशेष्यतया नहीं उपस्थित होता है। इस कारण इस वाक्य का प्रामाण्य नहीं हुआ करता है।

इस रीति से फल और व्यापार में धातु की अलग-अलग एक ही शक्ति स्वीकारने में फलावच्छिन्नव्यापार में धातु की शक्ति स्वीकारने की अपेक्षा फायदा यह है कि फलावच्छिन्नव्यापार की धात्वर्थता स्वीकारने पर **'ग्रामो गम्यते'** इत्यादि स्थलों में ग्राम में संयोगावच्छिन्नव्यापारजन्यसंयोगवत्ता बोधित होगी, क्योंकि धातु का अर्थ संयोगावच्छिन्नव्यापार और कर्माख्यात का अर्थ संयोग है। इस प्रकार संयोग का दो बार भान स्वीकारना पड़ेगा क्योंकि फलावच्छिन्नव्यापार में शक्ति स्वीकारने में विशेष्यविशेषणभाव का विपर्यास नहीं हो सकता है। फल और व्यापार में अलग शक्ति स्वीकारने पर तो विशेष्यविशेषणभाव का विपर्यास हो सकता है। फल कर्माख्यातार्थ आश्रयत्व में और आश्रयत्व प्रथमान्तपदोपस्थाप्य कर्म में अन्वित हो जायेगा । इस प्रकार फल का भान एक ही बार स्वीकारना पड़ता है।

वस्तुतः यह तीसरा पक्ष फलावच्छिन्नव्यापार में धातु की शक्ति है इसी पक्ष की स्पष्टीकृत व्याख्या है। इसीकारण गदाधर ने इसका दीधितिकार का मत कह कर उल्लेख किया है—

**फलावच्छिन्नव्यापारबोधकधातूनां फले व्यापारे च शक्तिद्वयम् । कर्त्राख्यातस्थले फलं धात्वर्थव्यापारविशेषणतया भासते, तत्र द्वितीयार्थाधेयत्वान्वयः । कर्माख्यातस्थले फलं धात्वर्थव्यापारस्य विशेष्यतया भासते तस्य विशेष्यतयाऽऽख्यातार्थ आश्रयत्वं तद्विशेष्यतया कर्म इति दीधितिकृतः'** (पृ. ४००)

इस प्रकार यही मत सिद्धान्त रूप में धात्वर्थनिर्णय में ग्राह्य है।

इसके अतिरिक्त भी अनेक विषयों का प्रसङ्गप्राप्त होने के कारण गदाधर ने 'व्युत्पत्तिवाद' में निरूपण किया है, उनको यहाँ पर दे पाना कठिन था । उन्हें ग्रन्थ में ही देख लेना चाहिए ।

--------:0:--------

# व्युत्पत्तिवादविषयसूची

| | पृष्ठ |
|---|---|
| **भूमिका** | i-xciii |
| नव्यन्याय का प्रादुर्भाव | i |
| नव्यन्याय की भाषा और शैली | ii |
| नव्यन्याय के प्रवर्तक गङ्गेशोपाध्याय | ii |
| नव्यन्याय की विद्वत्परम्परा | iv |
| नव्यन्याय परम्परा में जगदीश और गदाधर का स्थान | v |
| जगदीश और गदाधर की भाषाशैली | vi |
| जगदीश और गदाधर का मतभेद | vi |
| गदाधर का काल और स्थान | xi |
| गदाधर का कृतित्व और वैदुष्य | xii |
| गदाधर की मौलिकता | xiv |
| गदाधर की कृति व्युत्पत्तिवाद | xv |
| व्युत्पत्तिवाद की टीकाएँ | xvi |
| व्युत्पत्तिवाद को हृदयङ्गम करने के लिए ज्ञेय सिद्धान्त | xvii |
| शाब्दबोधप्रक्रिया | xviii |
| शाब्दबोध का प्रत्यक्ष व अनुमिति से वैलक्षण्य | xviii |
| शाब्दबोध में मुख्यविशेष्य | xxi |
| शाब्दबोधसामग्री | xxii |
| पदज्ञान, पदार्थोपस्थिति और शक्तिज्ञान | xxii |
| योग्यताज्ञान | xxiv |
| आकाङ्क्षाज्ञान | xxvi |
| आसत्तिज्ञान | xxvi |
| तात्पर्यज्ञान | xxvi |
| अनुभवसामग्रियों का परस्पर अनुभवों के प्रति प्रतिबध्यप्रतिबन्धकभाव | xxvii |
| समानविषयक सामग्रियों के काल में | xxviii |
| विभिन्नविषयक अनुभवसामग्रियों के काल में | xxx |
| उपर्युक्त प्रतिबध्य प्रतिबन्धकभावों के स्वीकार में युक्ति | xxxi |
| व्युत्पत्तिवाद का प्रतिपाद्य | xxxiv |
| व्युत्पत्तियाँ | xxxiv |
| शाब्दबोधे चैकपदार्थेऽपरपदार्थस्य संसर्गः संसर्गमर्यादया भासते | xxxvii |
| अभेदश्च प्रातिपदिकार्थे स्वसमानविभक्तिकेन स्वाव्यवहितपूर्ववर्तिना च पदेनोपस्थापितस्यैव संसर्गमर्यादया भासते | xxxiii |
| अभेदप्रकारतावाद संसर्गतावाद | xxxiii |
| प्रत्ययानां प्रकृत्यर्थान्वितस्वार्थबोधकत्वम् | xli |

अभेदान्वयबोधश्च विरूपोपस्थितयोरेव xli

पदार्थः पदार्थेनान्वेति न तु पदार्थैकदेशेन xli

भेदान्वयबोधश्च प्रातिपदिकार्थधात्वर्थयोः प्रत्ययार्थेन क्वचिन्निपातार्थेन सममेव जायते xlii

भेदसम्बन्ध प्रकारतावाद संसर्गतावाद xliv

वृत्त्यनियामकसम्बन्ध का अभावप्रतियोगितावच्छेदकत्व xlix

जगदीश की प्रकारतावादिता liv

उद्देश्यतावच्छेदकावच्छेदेनैव विधेयान्वयः lvii

व्यासज्यवृत्तिधर्मावच्छिन्नोद्देश्यताकशाब्दबुद्धौ स्वव्याप्यतादृशधर्मवत्त्वमपि विधेयसंसर्गतया भासते lvii

नञा व्यासज्यवृत्तिधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकभेदश्चोद्देश्यतावच्छेदकावच्छेदेनैव बोध्यते lvii

आख्यातोपस्थापितद्वित्वादिकं चोभयादिरूपान्वयितावच्छेदकतावच्छिन्न एवान्वेति lviii

प्रतियोगिपदादन्यत् यदन्यत् कारकादपि lviii

एकत्र विशेषणतयोपस्थितस्यान्यत्र विशेषणतयान्वयोऽव्युत्पन्नः lix

प्रत्ययानां प्रकृत्यर्थान्वितस्वार्थपरत्वम lix

संख्यातिरिक्तविभक्त्यर्थस्य प्रकृत्यर्थविशेष्यतयैव भानम् lx

कारकविभक्त्यर्थस्य धात्वर्थ एवान्वयः lx

हेतुविभक्त्यतिरिक्तविभक्त्यर्थस्य विभक्त्यर्थानन्वयः lxi

नञर्थे प्रतियोगितयैवाधेयत्वातिरिक्तविभक्त्यर्थस्यान्वयो व्युत्पन्नः lxi

प्रकृत्यर्थसुबर्थयोरन्तरा नञर्थातिरिक्तस्य भानमव्युत्पन्नम् lxi

उपलक्षणीभूतधर्मावच्छिन्ने न नञर्थाभावान्वयः

आख्यातार्थवर्तमानत्वादेर्नञ्समभिव्याहारस्थलेऽभावांश एवान्वयस्य व्युत्पन्नत्वम् lxii

गृह्णाति वाचकः सङ्ख्यां प्रकृतेर्विकृतेर्नहि lxii

एकपदोपस्थापितयोर्द्वयोस्तत्प्रकृतिकविभक्त्यर्थ एकस्य विशेषणतयाऽपरस्य तदविशेषणतयान्वयो न भवति lxiii

आश्रयातिरिक्ताविशेषणतापन्नकर्तृत्वविशेषणतापन्नक्रियायामेव विशेषणतया तृतीयया कर्तृत्वं बोध्यते lxiii

सामान्यविधेर्विशेषेतरपरत्वम् lxiii

कथञ्चिद् बाधकापयनसम्भवे नौत्सर्गिकार्थपरित्यागः lxiv

प्रत्ययाद्यर्थ निरूपण lxiv

सुप् का अर्थ lxiv

संख्या का अन्वय lxv

विभक्तिविशेषों की निरर्थकता lxvi

प्रथमार्थ lxvi

द्वितीयार्थ lxvi

तृतीयार्थ lxix

चतुर्थ्यर्थ lxx

| | |
|---|---|
| पञ्चम्यर्थ | lxxi |
| षष्ठ्यर्थ | lxxii |
| सप्तम्यर्थ | lxxiv |
| सम्बोधनप्रथमार्थ | lxxiv |
| स्त्रीप्रत्ययार्थ | lxxiv |
| तद्धितप्रत्ययार्थ | lxxv |
| धातुप्रत्ययार्थ | lxxv |
| सन् प्रत्ययार्थ | lxxvi |
| णिच् प्रत्ययार्थ | lxxvii |
| लकारार्थ | lxxviii |
| कृत्याद्यर्थक धातुओं के योग में लकारार्थ | lxxx |
| तिबादि में कर्तृत्ववाचकता अथवा लकार में | lxxxi |
| लकारविशेष का कर्मत्वार्थकत्व | lxxxii |
| आख्यात की संख्यावाचकता | lxxxiv |
| आख्यात आदि के द्वारा कर्तृत्वादि का अनभिधान | lxxxiv |
| आख्यात की कालार्थकता | lxxxvi |
| लडर्थ वर्तमानकाल | lxxxvi |
| लृट् प्रत्ययार्थ भविष्यत् काल | lxxxvii |
| लुडर्थ | lxxxvii |
| लुङर्थ | lxxxviii |
| लङर्थ | lxxxviii |
| लिडर्थ | lxxxviii |
| लिङर्थ और लोडर्थ | lxxxviii |
| धात्वर्थ | lxxxviii |
| व्यापारमात्र की धात्वर्थता | xc |
| फलावच्छिन्न व्यापार की धात्वर्थता | xci |
| फल और व्यापार की अलग अलग धात्वर्थता | xcii |
| **प्रथमाकारक** | **1-282** |
| एकत्वापरत्वान्वय | 3 |
| अभेदान्वयवाद | 12 |
| समानविभक्तिकत्व | 14 |
| समानविभक्तिवचनकत्व | 19 |
| अभेदान्वयाकाङ्क्षाविचार | 40 |
| अभेदस्वरूप | 58 |
| क्रियाविशेषणों के अभेदान्वयाकाङ्क्षा का स्वरूप | 82 |
| विरूपोपस्थितों का ही अभेदान्वयबोध | 95 |
| भेदान्वयबोध | 129 |

| | |
|---|---|
| रूपकालङ्कारचर्चा | 133 |
| भेदान्वयबोध का नियामक | 137 |
| प्रत्ययार्थविचार | 194 |
| एकवचनादिविचार | 194 |
| संख्यावाचकविचार | 197 |
| प्राद्युपसर्गार्थविचार | 206 |
| संख्यासम्बन्धविचार | 207 |
| पदार्थान्तरान्वयविचार | 227 |
| संख्यान्वयविचार | 242 |
| दशशतादिशब्दविषयकविचार | 243 |
| नित्यबहुवचनान्तशब्दविचार | 249 |
| आख्यात की संख्यार्थता | 251 |
| द्वितीयातृतीयाप्रयोजकसिद्धान्त | 266 |
| आख्यातद्विवचनादि का संख्याबोधकत्व | 277 |
| संख्यान्वयबोधसामग्री | 279 |
| गुणादिवाचकपदोत्तरविभक्त्यर्थविचार | 281 |
| प्रथमाकारकसमाप्ति | 282 |
| **द्वितीयाकारक प्रथमखण्ड** | **283-398** |
| द्वितीयार्थ धात्वर्थनिरूपणारम्भ | 283 |
| प्राच्यमत से धात्वर्थ | 284 |
| नव्यमत से धात्वर्थ | 293 |
| नव्य और प्राच्यमत की समीक्षा | 300 |
| सिद्धान्त | 310 |
| कर्माख्यातार्थनिरूपण | 313 |
| द्वितीया का आधेयत्व अर्थ | 316 |
| हुधात्वर्थ | 319 |
| दाधात्वर्थ | 327 |
| प्रतिग्रहार्थ | 328 |
| पच्धात्वर्थ | 328 |
| भुज् धात्वर्थ | 328 |
| द्विकर्मकधातुसमभिव्याहृत द्वितीया का अर्थ | 329 |
| दुहधात्वर्थ | 330 |
| याच् धात्वर्थ | 335 |
| रुध् धात्वर्थ | 338 |
| पृच्छ धात्वर्थ | 338 |
| नी, वह धात्वर्थ | 341 |
| निरूपयत्यर्थ | 343 |

ण्यन्तधातुप्रयोगविशेष 344
णिजर्थ 346
यगन्तप्रयोग 351
परसमवेतत्व भी द्वितीयार्थ 359
ज्ञादिधात्वर्थ 367
घ्राधात्वर्थ 370
'आकाशं न पश्यति' का विवाद 379
द्वितीयाकारक प्रथमखण्डसमाप्ति 398
**द्वितीयाकारक द्वितीयखण्ड 399-530**
अनुमित्यर्थ धातु 399
विभक्त्यर्थों का अन्वय 402
यज्ञपतिमतानुयायिमत 411
यज्ञपतिमतखण्डन 415
आख्यात का आरोपविषयवाचक समानवचनत्व 417
इच्छार्थकधातु 420
सन्नन्त प्रयोग 423
नामधातु क्यच् 441
आचारार्थक क्यच् 447
कृत्यर्थक धातु के योग में कर्मत्व 453
कर्मप्रभेद 455
अधिशीङ्स्थासां प्रयोग 471
कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे 473
अत्यन्तसंयोगरूपाभिव्याप्ति 476
विनापदसमभिव्याहृत द्वितीया का अर्थ 503
यावत् पदसमभिव्याहृत द्वितीया का अर्थ 512
कालनिष्ठसीमात्व 512
देशनिष्ठसीमात्व 519
अभिविध्यर्थक यावत् शब्द 520
अनुशब्दसमभिव्याहृत द्वितीया का अर्थ 522
कर्मप्रवचनीय प्रतिशब्द 523
अन्तराशब्दसमभिव्याहृत द्वितीया का अर्थ 530
**तृतीयाकारक 531-612**
तृतीया का कर्तृत्वार्थकत्व 531
मुख्य क्रियाकर्तृत्व 555
धूमेन वह्निम् इत्यादि में तृतीया 577
हेतुतृतीया 582
हेतुवृत्ति गुणत्वपदार्थ 584
ज्ञाप्यज्ञापकस्वरूप 585

सहशब्दप्रयोगप्राप्त तृतीया 595
सहशब्दार्थ 595
इत्थम्भूतलक्षणतृतीया 606
विशेषण और उपलक्षण का स्वरूप 606
तृतीयाकारकसमाप्ति 612
**चतुर्थीकारक** **613-666**
सम्प्रदानत्व का लक्षण 613
शत्रवे भयं ददाति 628
युद्धाय सन्नह्यते 628
रजकस्य वस्त्रं ददाति 630
नारदाय रोचते कलहः 631
धारयत्यर्थ 633
यूपाय दारु 640
पाकाय व्रजति 644
नमः स्वस्ति आदि के योग में चतुर्थी 645
नमः पदार्थ त्याग 645
नमः पदार्थ नमस्कार 653
च्विप्रत्ययार्थ 661
चतुर्थीकारक समाप्ति 666
**पञ्चमीकारक** **667-697**
पञ्चम्यर्थ 667
भीत्रार्थक धातु के योग में पञ्चमी का अर्थ 677
वारणार्थक धातु के योग में पञ्चमी का अर्थ 679
आख्यातोपयोगे 681
जनिकर्तुः सूत्र 681
भुवः प्रभवः सूत्र 683
अपादानत्रैविध्य 684
अन्येतरादिपदार्थविचार 689
कारकमध्यार्थक सप्तमी पञ्चमी का अर्थ 696
पञ्चमीकारक समाप्ति 697
**षष्ठीविभक्ति** **698-713**
षष्ठी का सम्बन्धत्वेन सम्बन्धबोधकत्व 698
निर्धारण षष्ठी का अर्थ 702
षष्ठीनिरूपण समाप्ति 713
**सप्तमीकारक** **714-723**
आधारत्वविवेचन 714
निमित्तात् कर्मयोगे 720

| | |
|---|---|
| भाव से भावलक्षण में सप्तमी | 721 |
| सप्तमीकारक समाप्ति | 723 |
| **सम्बोधन प्रथमा** | **724-726** |
| **स्त्रीप्रत्यय** | **727-730** |
| **तद्धितप्रत्यय** | **731-746** |
| नक्षत्रेण युक्तः कालः | 732 |
| सास्मिन् पौर्णमासी | 733 |
| पौषादिपदों का शक्यतावच्छेदक | 734 |
| सास्य देवता | 741 |
| **धातुप्रत्यय** | **747-872** |
| लकारों का कर्तृत्ववाचकत्व | 747 |
| कर्ता का अनभिधान | 748 |
| लकारार्थ में मीमांसकमत | 763 |
| तार्किकमत | 767 |
| दीधितिकारमत | 775 |
| कर्तृत्वशक्ततावच्छेदक | 782 |
| आत्मनेपद का कर्मत्वार्थकत्व | 786 |
| कर्माख्यातार्थ | 787 |
| लट् की वर्तमानकालार्थकता | 805 |
| वर्तमानकाल का स्वरूप | 806 |
| लृडर्थ | 814 |
| लुडर्थ | 817 |
| लुङर्थ | 826 |
| लङर्थ | 827 |
| लिडर्थ | 828 |
| लिङ् लोडर्थ | 830 |
| मीमांसकमत | 847 |
| मीमांसकमतखण्डन | 854 |
| निषेधवाक्यार्थ | 858 |
| श्येनवाक्यार्थ | 858 |
| तार्किकमत से सिद्धान्त | 869 |
| ग्रन्थसमाप्ति | 872 |
| परिशिष्ट I | 873-874 |
| परिशिष्ट II | 875-877 |
| परिशिष्ट III | 878-879 |


------:0:-------

श्रीगणेशाय नमः

अथ

# व्युत्पत्तिवादः

## सुनन्दानन्दितः

शाब्दबोधे चैकपदार्थेऽपरपदार्थस्य संसर्गः संसर्गमर्यादया भासते।

व्रजति विकटशृङ्गं यद्व्रजः प्राप्य पङ्गुः
प्रवदति खलु मूकः संस्कृतां चारुभाषाम्।
विरचय इह नत्वा तौ रमाकान्तपादौ
सहृदयबुधनन्दां चारुटीकां सुनन्दाम्॥
समीक्ष्य विविधान् ग्रन्थान् निर्मिता सुपरिष्कृता।
टीका व्युत्पत्तिवादस्य भूयादेषा बुधप्रिया॥
गदाधरं रमाकान्तं नमस्कृत्य यथामति।
सच्चिदानन्दमिश्रेण व्याख्येयं प्रवितन्यते॥

**–ग्रन्थारम्भ–**

शाब्दबोध की जैसी प्रक्रिया वर्णित की गयी है तदनुसार शाब्दबोध के प्रति पदज्ञान करण होता है, पदार्थस्मरण व्यापार होता है और शक्तिज्ञान सहकारी कारण हुआ करता है।[1] परन्तु घट पद से घटविषयक ही शाब्दबोध होता है पट विषयक नही हालाँकि प्रकारान्तर से पट विषयक स्मरण (उपस्थिति) सम्भव है इसलिए तत् पदजन्य तद्विषयक शाब्दबोध के प्रति तत्पदजन्यतद्विषयकोपस्थिति (स्मरण) को कारण माना जाता है। घटपदज्ञान के अनन्तर पटविषयक जो उपस्थिति कदाचित् होती है वह घटपदजन्य नहीं होती है। अतः घटपदज्ञान के बाद पटविषयक शाब्दबोध की सामग्री ही उपलब्ध न रहने के कारण पटविषयक शाब्दबोध नहीं होता है। यहाँ पर ज्ञातव्य ये है कि पदों के ज्ञान से पदार्थ की उपस्थिति कैसे होती है? इसका समाधान यही बतलाया गया है कि **'एक सम्बन्धिज्ञानमपरसम्बन्धिस्मारकम्'** एक सम्बन्धी का ज्ञान दूसरे सम्बन्धी का स्मारक होता है इस नियम के अनुसार पदज्ञान से पदार्थ स्मरण हुआ करता है। जैसेकि पालतू हाथी और महावत का सम्बन्ध है, अतः हाथी का ज्ञान महावत का और महावत का ज्ञान हाथी का स्मरण कराता है। उसी प्रकार पद और पदार्थ का भी ईश्वरेच्छारूप (शक्तिरूप) वाच्यवाचकभावात्मक सम्बन्ध है। अतः उक्त नियम से एक सम्बन्धी का ज्ञान हो जाने पर द्वितीयसम्बन्धी का स्मरण हो जाया करता है (पदज्ञान से पदार्थस्मरण हो जाया करता है)। परन्तु आशङ्का यहाँ पर यह होती है कि जैसे पद पदार्थ का सम्बन्ध है उसी प्रकार पद का आकाश के साथ भी सम्बन्ध है क्योंकि शब्द आकाश का गुण है[2] और गुण गुणी का समवाय सम्बन्ध होता है। इस रीति से शब्द और आकाश परस्पर सम्बन्धी हो गये

1- पदज्ञानन्तु करणं द्वारं तत्र पदार्थधीः।
शाब्दबोधः फलं तत्र शक्तिधीः सहकारिणी ।। कारिकावली कारिका संख्या 81

2- आकाशस्य तु विज्ञेयः शब्दो वैशेषिको गुणः ।। कारिकावली कारिका सं. 44

इसलिए घटरूपपद (शब्द) से जैसे घट पदार्थ की उपस्थिति होती है वैसे आकाश की भी उपस्थिति होगी और यह आकाश विषयक उपस्थिति घटादिपदजन्य होगी । चूँकि घटपदजन्य आकाशविषयक उपस्थिति विद्यमान है इसलिए घटपद से आकाशविषयक शाब्दबोध होना चाहिए। परन्तु ऐसा लोकानुभव में नहीं आता है। इसलिए कार्यकारण भाव के नियम को संशोधित करना पड़ता है और कहना पड़ता है कि तत्पदजन्य तद्विषयक शाब्द बोध के प्रति तत्पदनिष्ठवृत्तिज्ञानाधीन तद्विषयक उपस्थिति कारण होती है। वृत्ति से शक्ति और लक्षणा में से अन्यतर (किसी एक) का सम्बन्ध अपेक्षित है। **'वृत्तिश्च शक्तिलक्षणान्यतरसम्बन्धः'** **( सिद्धान्तमुक्तावली शब्दखण्ड )** इसी बात को शक्तिवाद ग्रन्थ के प्रारम्भ में गदाधरभट्टाचार्य **'सङ्केतो लक्षणा चार्थे पदवृत्तिः'** 'सङ्केत (शक्ति) और लक्षणा ही अर्थ में पद की वृत्ति है' से कहते हैं शक्ति से ईश्वरेच्छा अभिप्रेत है क्योंकि न्यायमत में शक्ति ईश्वरेच्छारूप ही मानी जाती है। शक्तिवाद में गदाधर पदविशेष्यक और अर्थविशेष्यक ईश्वरेच्छा को शक्ति मानते हैं (सविवृतिक शक्तिवाद पृ.5) लक्षणा शक्यसम्बन्धरूपा होती है **'लक्षणा शक्यसम्बन्धः' ( कारिकावली 82 कारिका )** जैसेकि 'गङ्गायां घोषः' ऐसा प्रयोग करने पर गङ्गापद का शक्य जो जलप्रवाहविशेष है, उसका सम्बन्ध तट में विद्यमान है, उस तट का गङ्गापद की लक्षणा नामिका वृत्ति से बोध होता है । इस प्रकार अभिप्राय निकलता है कि तत् पद से होने वाले तत् पदार्थ को विषय करने वाले शाब्दबोध के प्रति तत् पद से होने वाली शक्ति अथवा लक्षणा के अधीन तत् पदार्थ विषयक उपस्थिति कारण होती है। इस प्रकार कार्यकारणभाव का नियम स्वीकार कर लेने के उपरान्त घटादि पदों से आकाशविषयक उपस्थिति होने पर भी आकाशविषयक बोध नहीं होगा क्योंकि घट पद से जो आकाशविषयक उपस्थिति होती है वह शक्ति या लक्षणा के अधीन नहीं होती है अपितु समवायसम्बन्ध से घट पद का सम्बन्धी आकाश होता है इसलिए होती है। इस प्रकार घट पद से घट पदार्थ, घटत्वजाति और घट घटत्व का सम्बन्ध समवाय शक्ति के द्वारा उपस्थित होता है। इसी प्रकार अन्य पदार्थों की भी स्थिति है।

इस स्थिति में जब 'नीलो घटः' प्रयोग किया जाता है तो यहाँ पर नील पद का अर्थ है नीलरूपवाला[1], नीलपद के बादवाली सुविभक्ति निरर्थक है सिर्फ पदसाधुत्व का सम्पादन करने के लिए प्रयुक्त है क्योंकि नियम है कि **'अपदं न प्रयुञ्जीत'** अपद का प्रयोग नहीं करना चाहिए । पद बनाने के लिए कोई न कोई विभक्ति लानी आवश्यक है क्योंकि सुबन्त और तिङन्त की ही पद संज्ञा हुआ करती है।[2] घट पद का अर्थ है घट, घटत्व और इनका समवाय तथा घटपदोत्तर सु विभक्ति का अर्थ है एकत्व। इस स्थल में शाब्दबोध होता है 'नीलाभिन्नः एकत्ववान् घटः' (नील रूपवाले से अभिन्न घट) प्रश्न यह उपस्थित होता है कि शाब्दबोध में उन्हीं विषयों का भान होना चाहिए जो कि किसी पद से वृत्तिज्ञान के अधीन उपस्थित होते हैं जैसे कि नील, एकत्व और घट क्योंकि नियम ही स्वीकृत किया गया है कि 'तत्पदजन्य तद्विषयकशाब्दबोध के प्रति तत्पदजन्य वृत्तिज्ञानाधीन तद्विषयक उपस्थिति कारण होती है' शाब्दबोध में विषय होने वाला अभेद तो किसी भी पद के द्वारा उपस्थित नहीं होता है, वह शाब्दबोध विषय कैसे होगा ?

1- गुणे शुक्लादयः पुंसि गुणिलिङ्गास्तु तद्वति । अमरकोष
गुणवाचक शुक्लादि पुंल्लिंग में प्रयुक्त होते हैं और गुणीवाचक गुणी के लिङ्ग के अनुसार

2- सुप्तिङन्तं पदम् ।। पाणिनीय अष्टाध्यायी 1/4/14

इस प्रश्न का उत्तर देते हुए अन्विताभिधानवादी प्रभाकर कहते हैं कि अन्वित घटादि में ही घटादि पदों की शक्ति है। इस प्रकार अभेदान्वित घट में घट पद की शक्ति है या अभेदान्वित नील में नील पद की शक्ति है ऐसा प्रभाकर का मानना है। ऐसी परिस्थिति में अभेद की उपस्थिति भी घटपद या नीलपदनिष्ठवृत्तिज्ञानाधीन होगी । अतः उसके शाब्दबोधविषय होने में कोई आपत्ति नहीं है। परन्तु एक अन्यस्थल में दोष आता है। होता यह है कि घटपद से नियम से घटत्वप्रकारक घटविशेष्यक (घटत्व को विशेषण बनाकर और घट को विशेष्य बनाकर) बोध ही होता है। अन्विताभिधानवादी के मत में यह नियम नहीं बनेगा अपितु जैसे घटत्वप्रकारक घटविशेष्यक बोध होता है उसी प्रकार घटप्रकारक घटत्वविशेष्यक बोध भी होने लगेगा। क्योंकि उसका कोई प्रतिबन्धक नहीं है। इसलिए 'तत्पदजन्य तद्धर्मप्रकारकतद्विशेष्यक शाब्दबोध के प्रति तत् पदजन्यवृत्तिज्ञानाधीन तद्धर्मप्रकारकतद्विशेष्यक उपस्थिति, को कारण मानना चाहिए। घटपद से हमेशा घटत्वप्रकारक घटविशेष्यक ही उपस्थिति होती है, अतः शाब्दबोध भी घटत्व प्रकारक घटविशेष्यक ही होगा । घटप्रकारक घटत्वविशेष्यक उपस्थिति न होने से शाब्दबोध भी वैसा नहीं होगा। इस प्रकार शाब्दबोधीय अभेदादिसंसर्ग में आनेवाली विषयता न तो प्रकारताख्या विषयता है और न तो विशेष्यताख्या, इसलिए अभेदादिसंसर्ग की उपस्थिति यदि वृत्तिज्ञान के अधीन नहीं होती है तो भी कोई दोष (व्यभिचार) नहीं आपन्न होगा। कुमारिल इस प्रश्न का समाधान देने के लिए अभिहितान्वयवाद सिद्धान्त की अवतारणा करते हैं और तात्पर्या वृत्ति के द्वारा उभय पदार्थों के संसर्गों का भान स्वीकारते हैं। लेकिन इन दोनों ही मतों में संसर्गों में वृत्ति की कल्पना करनी पड़ती है। अतः गौरव होता है। अतः नैयायिकों का कथन है कि अभेदादिसंसर्गों में वृत्ति की कल्पना करना अनुचित है।

परन्तु नैयायिकों के मत में दो पदार्थों का जो संसर्ग भासित हो रहा है उसका नियामक क्या होगा? यदि कोई नियामक नहीं हो तो सभी जगहों पर ही विना किसी आपत्ति के सकल संसर्गों का भान होना चाहिए। इष्टापत्ति मानना तो सम्भव ही नहीं है क्योंकि ऐसी स्थिति में बग़ैर किसी नियम के किसी भी सम्बन्ध का भान शाब्दबोध में होना चाहिए, जैसे **'नीलोघटः'** इस वाक्य से **'नीलाभिन्नो घटः'** इस प्रकार शाब्दबोध में अभेद संसर्ग भासता है उसी प्रकार स्वस्वामिभावसंसर्ग भी भासना चाहिए । इसी आशङ्का का निवारण करने के लिए गदाधर भट्टाचार्य इस व्युत्पत्तिवाद नामक ग्रन्थ का प्रारम्भ करते हुए कहते हैं कि[1] शाब्द बोध में तो एक पदार्थ में अपर पदार्थ का संसर्ग संसर्गमर्यादा (आकाङ्क्षा) से भास्य होता है। आकाङ्क्षा से यहाँ पर पदसमभिव्याहार अपेक्षित है। अर्थात् पदों

---

1- कुछ लोग इस ग्रन्थ का अवतरण अन्य रीति से देते हैं। उनका कथन है कि "प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि न्यायसूत्र 1।1।3 के अनुसार चार प्रमाण हैं । उसमें प्रत्यक्षस्थल में घटादि का प्रत्यक्ष हो जाने पर घट में घटत्व, नीलरूप आदि का जो समवायसम्बन्ध है वह इन्द्रियसम्बद्धविशेषणता सन्निकर्ष से भासित होता है और उसमें आनेवाली प्रत्यक्ष की विषयता संयुक्तविशेषणता सन्निकर्ष से प्रयोज्य होती है, साध्य वह्नि में रहने वाली विषयता व्याप्तिज्ञान से प्रयोज्य होती है, वह्नि पर्वत के संयोग में रहने वाली विषयता पक्षधर्मताज्ञान से प्रयोज्य होती है। उपमितिस्थल में नीलगायरूप अर्थ और गवय पद के वाच्यवाचकभावरूपसम्बन्ध में आनेवाली विषयता सादृश्यज्ञान से प्रयोज्य होती है। ये सब कुछ तो प्रत्यक्ष, अनुमान और उपमानचिन्तामणि आदि ग्रन्थों से ज्ञात हो गया परन्तु 'राजपुरुषः' 'नीलो घटः' इत्यादिवाक्यों से जायमान शाब्दबोध स्थलों में स्वत्व अभेद आदि सम्बन्धों का भान कैसे होता है? और उनमें आनेवाली विषयता किं प्रयोज्या होती है ये नहीं जाना गया, अतः उसे कहना चाहिए इस

का जो समभिव्याहार है मिलाकर एक साथ उल्लेख है उसे ही आकाडक्षा कहते हैं। निष्कर्षतः पदों की जो आनुपूर्वी विशेष है वही एक पदार्थ में अपर पदार्थ के किसी विशेष सम्बन्ध को भासित कराती है। जैसे कि 'नीलो घटः' यहाँ पर जो आनुपूर्वी है (न के बाद ई, ई के बाद ल, ल के बाद अ, अ के बाद सु, सु के बाद घ, घ के बाद अ, अ के बाद ट, ट के बाद अ और अ के बाद सु यह जो क्रम है) वही 'नीलाभिन्नः एकत्ववान् घटः' इस शाब्द बोध में नीलप्रतियोगिक और घटानुयोगिक अभेद संसर्ग को भासित कराने में समर्थ है। इसी लिए 'नीलस्य घटः' प्रयोग करने पर नीलाभिन्न घट का बोध नहीं होता है क्योंकि यहाँ पर आनुपूर्वी बदल चुकी है वर्णों का वह क्रम यहाँ नहीं है जो कि 'नीलो घटः' में था ।

**विमर्श**-यहाँ पर '**शाब्दबोधे**' में जो सप्तमी विभक्ति है उसका अर्थ है निरूपितत्व। '**एकपदार्थे**' में जो सप्तमी है उसका अर्थ अनुयोगिता है। '**अपरपदार्थस्य**' में जो षष्ठी है उसका अर्थ प्रतियोगिता है। '**संसर्गमर्यादया**' में तृतीया का अर्थ प्रयोज्यत्व है। भास्धातु का अर्थ विषयता है, आख्यात (तप्रत्यय) का अर्थ आश्रयत्व है। न्यायसिद्धान्त के अनुसार प्रथमान्तार्थ मुख्यविशेष्यक शाब्दबोध स्वीकार किया जाता है। वाक्य में प्रथमान्त है **संसर्गः** पद, उसका अर्थ संसर्ग ही शाब्दबोध में मुख्यविशेष्य होगा । '**शाब्दबोधे**' में आयी हुई सप्तमी के अर्थ निरूपितत्व रूप सम्बन्ध से शाब्दबोध पदार्थ का भासधात्वर्थ विषयता में अन्वय होता है। '**एकपदार्थे**' में आयी सप्तमी के अर्थ अनुयोगिता में एक पदार्थ का निष्ठत्व सम्बन्ध (जो कि आकाङ्क्षाभास्य होगा) से अन्वय होगा और अनुयोगिता का आकाङ्क्षाभास्य निरूपकत्वसम्बन्ध से संसर्ग में अन्वय होगा। इसी तरह अपर पदार्थ का षष्ठ्यर्थ प्रतियोगिता में आकाङ्क्षाभास्य निरूपितत्वसम्बन्ध से अन्वय होगा और प्रतियोगिता का आकाङ्क्षाभास्य निरूपकत्वसम्बन्ध से संसर्ग में अन्वय होगा। संसर्गमर्यादा पद का अर्थ है आकाङ्क्षा, उसी का तृतीयार्थ प्रयोज्यत्व में अन्वय होता है और प्रयोज्यत्व का भास धात्वर्थ विषयता में अन्वय होता है तथा विषयता का आश्रयत्व (जो कि आख्यातार्थ है) में अन्वय होता है। इस प्रकार '**एकपदार्थनिष्ठानुयोगितानिरूपक अपरपदार्थनिष्ठ प्रतियोगितानिरूपकः संसर्गः आकाङ्क्षाप्रयोज्यशाब्दबोधनिरूपितविषयताश्रयः**' अर्थात् एक पदार्थ में रहने वाली अनुयोगिता का निरूपक और अपर पदार्थ में रहने वाली प्रतियोगिता का निरूपक संसर्ग आकाङ्क्षाप्रयोज्य शाब्दबोधीय विषयता का आश्रय होता है, ऐसा शाब्द बोध '**शाब्दबोधे चैकपदार्थे ---- भासते**' इस ग्रन्थ से होता है इस शाब्दबोध में एकपदार्थनिष्ठ अनुयोगिता निरूपक जो अपरपदार्थनिष्ठप्रतियोगितानिरूपक संसर्ग उसको उद्देश्य कर के आकाङ्क्षाप्रयोज्य शाब्दबोधनिरूपित (शाब्दबोधीय) विषयताश्रयत्व का विधान किया जा रहा है। इस तरह 'एकपदार्थनिष्ठ अनुयोगिता निरूपक, अपरपदार्थनिष्ठप्रतियोगितानिरूपक संसर्ग हुआ उद्देश्य और आकाङ्क्षाप्रयोज्यशाब्दबोधीयविषयताश्रयत्व हुआ विधेय । विधेय में उद्देश्यतावच्छेदक का व्यापकत्व नियम से भासित होता है।

---

अभिप्राय से गदाधरभट्टाचार्य 'शाब्दबोधे च' से आरम्भ करते हुए व्युत्पत्तिवाद ग्रन्थ का प्रणयन कर रहे हैं।'' परन्तु यह ठीक नहीं है क्योंकि स्वत्व, अभेदादि सम्बन्धों का भान कैसे होता है यह बताने के लिए शब्दचिन्तामणि आदि ग्रन्थ हैं ही उसके लिए प्रकृत ग्रन्थ का प्रणयन अनुचित है। यदि इसी कारण इस ग्रन्थ का प्रणयन मानोगे, यदि शब्द चिन्तामणि आदि ग्रन्थों से शाब्दबोधीय स्वत्व, अभेदादिनिष्ठ विषयता किं प्रयोज्या होती है? इसका समाधान नहीं होता है तो अनुमित्यादि स्थलों में भी वह्निप्रतियोगिक सम्बन्ध में रहने वाली विषयता किं प्रयोज्या होगी ? इसका समाधान भी अनुमिति चिन्तामणि आदि ग्रन्थों से सम्भव न होने से तदर्थ भी ग्रन्थान्तर का प्रणयन होना चाहिए

इस प्रकार जहाँ पर भी एकपदार्थनिष्ठानुयोगितानिरूपकापरपदार्थनिष्ठप्रतियोगितानिरूपकसंसर्गत्वरूप उद्देश्यतावच्छेदक होगा, वहाँ पर हर जगह आकाङ्क्षाप्रयोज्य शाब्दबोधीयविषयताश्रयत्व को रहना चाहिए। वैसे संसर्ग को उद्देश्य कर के आकाङ्क्षाप्रयोज्यशाब्दबोधनिरूपित (शाब्दबोधीय) विषयता श्रयत्व का विधान किया जा रहा है।

परन्तु यहाँ पर ध्यान देने योग्य बात यह है कि प्रत्यक्षस्थल में **'भूतलं घटवत्'** यहाँ पर भूतल और घट का जो सम्बन्ध संयोग है वह भी एकपदार्थनिष्ठानुयोगितानिरूपक और अपरपदार्थनिष्ठप्रतियोगितानिरूपक है क्योंकि उस संयोग सम्बन्ध का भूतल अनुयोगी है और घट प्रतियोगी, इस तरह भूतलनिष्ठ अनुयोगितानिरूपक और घटनिष्ठप्रतियोगितानिरूपक संसर्ग संयोग है।[1] उस संयोग में एकपदार्थनिष्ठानुयोगितानिरूपकापरपदार्थनिष्ठप्रतियोगिता-निरूपकसंसर्गत्वरूप उद्देश्यतावच्छेदक विद्यमान है। अतः आकाङ्क्षाप्रयोज्यशाब्दबोधीयविषयता-श्रयत्व भी उसमें आना चाहिए जो कि नहीं आता है अपितु उक्त संयोग संसर्ग में संयुक्त समवाय सन्निकर्षप्रयोज्य प्रत्यक्षीयविषयता आती है। इसलिए उद्देश्यविधेयभाव नहीं बन पाता है। अतः **'एकपदार्थनिष्ठानुयोगितानिरूपकापरपदार्थनिष्ठप्रतियोगितानिरूपक-संसर्गनिष्ठशाब्दबोधीयविषयता आकाङ्क्षाप्रयोज्या'** ऐसा उद्देश्यविधेयभाव मानना चाहिए। अब एकपदार्थनिष्ठानुयोगितानिरूपकापरपदार्थनिष्ठप्रतियोगितानिरूपक संसर्गनिष्ठ-शाब्दबोधीयसंसर्गताख्या विषयता उद्देश्य है एतादृश विषयतात्व उद्देश्यतावच्छेदक और विधेय है आकाङ्क्षाप्रयोज्यत्व। उपर्युक्त प्रत्यक्षस्थल में संयोग सम्बन्ध में आनेवाली जो संसर्गताख्या विषयता है वह शाब्दबोधीय विषयता नहीं है अपितु प्रत्यक्षविषयता है । अतः उसमें आकाङ्क्षा प्रयोज्यत्व के न होने पर भी कोई दोष नहीं आयेगा क्योंकि वह उद्देश्य ही नहीं है। उद्देश्य में ही विधेय का रहना अपेक्षित होता है।

इस स्थल में एक विशेष बात और है जो कि बार-बार प्रश्न रूप से उपस्थित होती है, वो यह है कि जो यहाँ पर एक पदार्थ और अपर पदार्थ कहा गया है उसमें एक और अपर पद किसके विशेषण हैं पद के या पदार्थ के ? अर्थात् एकत्व और अपरत्व का अन्वय किसमें होगा पद में या पदार्थ में ? यदि प्रथम पक्ष को माना जाये अर्थात् एकत्व और अपरत्व का पद में अन्वय होता है ये स्वीकार करें तो अर्थ निकलेगा कि एक जो पद तदर्थनिष्ठअनुयोगितानिरूपक अपर जो पद तदर्थनिष्ठप्रतियोगितानिरूपक जो संसर्ग वह आकाङ्क्षाभास्य होगा । अपर का अर्थ है भेदवाला । यह भेद किस तरह का लिया जाये? यदि एकपदत्वावच्छिन्न प्रतियोगिताक भेद लिया जाये अर्थात् **'एकपदं न'** ऐसा भेद लिया जाये तो सम्भव न होगा क्योंकि किसी भी पद में एकपद का भेद नहीं जायेगा हरपद एक पद तो होता ही है। इस तरह अपरपद अप्रसिद्ध हो जायेगा। यदि एकपदनिष्ठ प्रतियोगिताक भेद विवक्षित है तो जिस पद का अर्थ अनुयोगी होता है वही पद अपर पद भी हो जायेगा क्योंकि एक पद कहकर जिस पद को पकड़ा गया है, उस पद में उसी पद का भेद भी आ सकता है जैसे घटपद को एक पद कहकर पकड़ा गया उसी घटपद में 'घटपद और पट दोनों नहीं है' ये भेद आ जायेगा क्योंकि घटपद घटपद है लेकिन घटपद और पट दोनों तो है नहीं। इस प्रकार अपरपद भी वही घट पद कहलायेगा, जो अनुचित होगा और अव्यवस्था हो जायेगी।

---

1- सभी सम्बन्धों का एक प्रतियोगी होता है और एक अनुयोगी। जो उस सम्बन्ध से अधिकरण बनता है उसे अनुयोगी और जो आधेय बनता है उसे प्रतियोगी कहा जाता है।

इसलिए यदि एकत्व और अपरत्व का पदों में अन्वय अपेक्षित है तो इस प्रकार से करना होगा और कहना पड़ेगा कि '**पदविशिष्ट संसर्ग में रहनेवाली शाब्दबोधीय संसर्गताख्या विषयता आकाङ्क्षाप्रयोज्य होती है संसर्ग में पद का वैशिष्ट्य स्वार्थानुयोगिकत्व और स्वनिष्ठप्रतियोगिताकभेदवत् जो पद तदर्थप्रतियोगिकत्व इन दोनों सम्बन्धों से लेना है**' अभिप्राय यह है जो संसर्ग पद से विशिष्ट होगा वह आकाङ्क्षाभास्य होगा । स्वपद से विशेष्यवाचक पद पकड़ा जायेगा और स्वनिष्ठ प्रतियोगिताक भेद से स्व में रहने वाले तद्व्यक्तित्व से अवच्छिन्न प्रतियोगिताक भेद अपेक्षित है। जैसे कि '**नीलो घटः**' इस स्थल में हम देखते हैं- विशेष्यवाचक पद है घट पद उसे स्व पद से हम पकड़ते है। स्वार्थ (घट पद का अर्थ) हुआ घट पदार्थ, वही अभेद सम्बन्ध का अनुयोगी होता है क्योंकि अभेद सम्बन्ध से नीलपदार्थ घट में ही रहता है। स्वार्थ अनुयोगी है जिसका ऐसा संसर्ग हुआ अभेद, प्रथम सम्बन्ध से अभेद स्व से (पद से) विशिष्ट हो गया । अब दूसरे सम्बन्ध से देखते हैं। द्वितीय सम्बन्ध है स्वनिष्ठप्रतियोगिताक भेदवत् जो पद तदर्थ प्रतियोगिकत्व, स्व है घटपद, तन्निष्ठ प्रतियोगिताक भेद '**घटपदं न**' यह भेद है। यह भेद नीलपद में हैं क्योंकि नीलपद घटपद से भिन्न है, तदर्थ है नीलरूपवाला, वह अभेद सम्बन्ध का प्रतियोगी है । अतः द्वितीय सम्बन्ध से भी अभेद संसर्ग विशिष्ट हो गया। इसलिए उसमें आने वाली शाब्दबोधीय संसर्गताख्या विषयता आकाङ्क्षाप्रयोज्य होगी। परन्तु इस प्रकार निर्वचन करने पर एव पदस्थल में दोष आयेगा। कारण ये है कि एव पद की शक्ति खण्डशः अन्ययोग और व्यवच्छेद में स्वीकार की जाती है क्योंकि सीधे-सीधे अन्ययोग व्यवच्छेद तो प्रसिद्ध ही नहीं होगा, हर एक स्थल में किसी न किसी अन्य का योग होना अवश्यं भावी है। अतः सम्पूर्ण रूप में अन्ययोगव्यवच्छेद में शक्ति स्वीकार करना सम्भव नहीं है। खण्डशः शक्ति स्वीकारने पर अन्ययोग भी प्रसिद्ध है और व्यवच्छेद भी प्रसिद्ध है। इस स्थल में अन्ययोग का व्यवच्छेद में स्वनिष्ठप्रतियोगिताकत्व सम्बन्ध से अन्वय किया जाता है जो कि आकाङ्क्षाभास्य होता है। अर्थात् इस संसर्ग में आने वाली शाब्दबोधीया संसर्गताख्या विषयता आकाङ्क्षाप्रयोज्य होती है। परन्तु उपर्युक्त नियम को स्वीकारने पर (एकत्व और अपरत्व का पद में अन्वय करने पर) इस स्वनिष्ठप्रतियोगिताकत्व संसर्ग में आनेवाली शाब्दबोधीय संसर्गताख्या विषयता आकाङ्क्षाप्रयोज्य न हो सकेगी क्योंकि यह संसर्ग उपर्युक्त दोनो सम्बन्धों से पद विशिष्ट नहीं हो सकेगा। वह इसलिए कि यहाँपर स्वार्थानुयोगिकत्व तो विद्यमान है क्योंकि एवपद का अर्थ व्यवच्छेद उक्त संसर्ग का अनुयोगी बन रहा है, परन्तु स्वनिष्ठप्रतियोगिताकभेदवत् जो पद तदर्थ प्रतियोगी नही बन रहा है अपितु स्वार्थ (अन्ययोग) ही प्रतियोगी बन रहा है। सार रूप में उक्त नियम में संसर्ग के अनुयोगी और प्रतियोगी दोनों पदार्थों का वाचक अलग पद होना चाहिए, तभी वह संसर्ग आकाङ्क्षाभास्य होगा । एवपदस्थल में स्वनिष्ठप्रतियोगिताकत्व संसर्ग के प्रतियोगी और अनुयोगी दोनों पदार्थ (अन्ययोग और व्यवच्छेद) एक ही '**एव**' पद से वाच्य हैं। इनके वाचक पद अलग-अलग नहीं हैं। अतः उक्त संसर्ग आकाङ्क्षाभास्य न हो सकेगा जबकि उसे आकाङ्क्षाभास्य माना जाता है। इसलिए एकत्व और अपरत्व का पद में अन्वय करना ठीक नहीं है।

इस कारण यदि एकत्व और अपरत्व का अन्वय पदार्थ में किया जाये तो अर्थ होगा

**पदार्थ से विशिष्ट संसर्ग आकाङ्क्षाभास्य होगा ( पदार्थ से विशिष्ट संसर्ग में रहने वाली शाब्दबोधीय संसर्गताख्या विषयता आकाङ्क्षाप्रयोज्य होगी ) पदार्थ से विशिष्ट संसर्ग को स्वानुयोगिकत्व और स्वभिन्नार्थप्रतियोगिकत्व इन दो सम्बन्धों से बनाना है।** अभिप्राय यह है जिस संसर्ग का अनुयोगी एक अर्थ हो और प्रतियोगी दूसरा अर्थ हो वह संसर्ग आकाङ्क्षाभास्य होगा। ऐसी नियम मानने पर एवपदस्थल का दोष वारित हो जायेगा और स्वनिष्ठ प्रतियोगिताकत्व रूप संसर्ग आकाङ्क्षाभास्य हो जायेगा क्योंकि यद्यपि अन्ययोग और व्यवच्छेद एक ही पद एव के अर्थ हैं परन्तु दोनों अर्थ तो भिन्न-भिन्न ही हैं। व्यवच्छेद रूप अर्थ उक्त संसर्ग का अनुयोगी है और अन्ययोग रूप अर्थ प्रतियोगी है जोकि व्यवच्छेद रूप अर्थ से भिन्न है। परन्तु इस परिस्थिति में **'नीलो घटः'** इस स्थल के शाब्दबोध में आकाङ्क्षाभास्य होनेवाला अभेद संसर्ग आकाङ्क्षाभास्य नहीं हो सकेगा, कारण ये है कि उक्त नियम के अनुसार अनुयोगी और प्रतियोगी पदार्थों को भिन्न भिन्न होना चाहिए **'नीलो घटः'** इस स्थल में प्रतियोगी पदार्थ है नील (नीलरूपवाला) और अनुयोगी पदार्थ है घट दोनों में अभेद है, तादात्म्य है, दोनों पदार्थ एक ही हैं इसलिए यहाँ पर अभेद संसर्ग आकाङ्क्षाभास्य नहीं हो सकेगा।

इस तरह एकत्व और अपरत्व का अन्वय न तो पद में किया जा सकता है और न तो पदार्थ में । अतः प्रश्न उठता है कि फिर किसमें इनका अन्वय किया जाये? एक तीसरा समाधान बचता है वह यह कि एकत्व और अपरत्व का अन्वय पदार्थतावच्छेदक धर्म में किया जाये । ऐसा करने पर कहना पडेगा कि **धर्म से विशिष्ठ संसर्ग आकाङ्क्षाभास्य होता है अर्थात् धर्म से विशिष्ट संसर्ग में रहनेवाली शाब्दबोधीयसंसर्गताख्या विषयता आकाङ्क्षाप्रयोज्य होती है** धर्म का वैशिष्ट्य संसर्ग में स्वावच्छिन्नानुयोगिता-निरूपकत्व और स्वभिन्नधर्मावच्छिन्न प्रतियोगितानिरूपकत्व इन दो सम्बन्धों से लेना है। अभिप्राय है कि जो संसर्ग स्व (विशेष्यभूत पदार्थ के विशेषण धर्म) से अवच्छिन्न अनुयोगिता का निरूपक होगा और उस धर्म से भिन्न धर्म से अवच्छिन्न प्रतियोगिता का निरूपक होगा उसमें आनेवाली संसर्गताख्या विषयता आकाङ्क्षा से प्रयोज्य होगी। इस प्रकार कहने पर **'नीलो घटः'** में भी कोई दोष नहीं है और एवपदस्थल में भी कोई दोष (आपत्ति) नहीं है **'नीलो घटः'** इस स्थल में स्वपद से ग्राह्य होगा घटत्व, उक्त स्थल में अनुयोगी है घट, उसमें रहने वाली अनुयोगिता घटत्व से अवच्छिन्न है और वह अनुयोगिता अभेद सम्बन्ध की है, अभेद सम्बन्ध से निरूपित है। अतः अनुयोगिता का निरूपक हुआ अभेद संसर्ग। इस तरह प्रथम सम्बन्ध से पदार्थतावच्छेदकधर्म से विशिष्ट संसर्ग अभेद संसर्ग हो गया। द्वितीय सम्बन्ध से विशिष्ट भी अभेद हो जाता है क्योंकि स्व (पदार्थतावच्छेदक धर्म = घटत्व) से भिन्न है नीलत्व । अभेदसंसर्ग का प्रतियोगी है नील उसमें रहने वाली प्रतियोगिता नीलत्व से अवच्छिन्न है और यह नील में रहने वाली प्रतियोगिता अभेद संसर्ग की है, अभेद संसर्ग से निरूपित है, अतः प्रतियोगितानिरूपक हुआ अभेद संसर्ग। इस प्रकार स्वभिन्नधर्मावच्छिन्नप्रतियोगितानिरूपक भी अभेद संसर्ग हो गया । वह आकाङ्क्षाभास्य हो जायेगा। एव पदस्थल में विशेष्य होता है व्यवच्छेद उसका विशेषणीभूत धर्म व्यवच्छेदत्व स्वपद से लिया जायेगा। अब हम देखते हैं तो यहाँ का स्वनिष्ठप्रतियोगिताकत्व सम्बन्ध भी आकाङ्क्षाभास्य हो जाता है। इस सम्बन्ध का अनुयोगी है व्यवच्छेद और प्रतियोगी है

अन्ययोग । व्यवच्छेद में रहने वाली अनुयोगिता तथा अन्ययोगनिष्ठप्रतियोगिता स्वनिष्ठप्रतियोगिताकत्व से निरूपित हैं। इस प्रकार स्व (व्यवच्छेदत्व) से अवच्छिन्न व्यवच्छेदनिष्ठ अनुयोगिता का निरूपक और स्व (व्यवच्छेदत्व) से भिन्न अन्ययोगत्व से अवछिन्न अन्ययोग में रहने वाली प्रतियोगिता का निरूपक भी स्वनिष्ठप्रतियोगिताकत्व सम्बन्ध है। अतः स्वनिष्ठप्रतियोगितकत्व सम्बन्ध आकाङ्क्षाभास्य हो जायेगा।

परन्तु पशुपदस्थल में इस पक्ष का अवलम्बन करने पर भी दोष आयेगा क्योंकि पशुपद की शक्ति लोमवल्लाङ्गूलविशिष्ट में स्वीकार की जाती है। यहाँ पर लोम (रोम) लाङ्गूल (पूँछ) का विशेषण है। मतलब ये कि रोमवाली पूँछ वाले को पशु कहा जाता है। इस स्थल में रोम और पूँछ का जो सम्बन्ध समवाय है वह आकाङ्क्षा भास्य नहीं होता है, शक्तिभास्य होता है। उसमें भी पशुपद की शक्ति है। परन्तु जैसा नियम ऊपर प्रदर्शित किया गया है उसके अनुसार उसे भी आकाङ्क्षाभास्य होना चाहिए, उसमें आनेवाली शाब्दीय संसर्गताख्या विषयता को आकाङ्क्षाप्रयोज्य होना चाहिए क्योंकि रोम और पूँछ का जो समवायसम्बन्ध है उसका अनुयोगी है पूँछ और प्रतियोगी है रोम। रोम में रहने वाली प्रतियोगिता और पूँछ में रहने वाली अनुयोगिता समवाय सम्बन्ध से निरूपित है। इस प्रकार लाङ्गूलत्व से अवच्छिन्न लाङ्गूल (पूँछ) में रहने वाली अनुयोगिता का निरूपक और लाङ्गूलत्व से भिन्न लोमत्व से अवच्छिन्न रोम में रहने वाली प्रतियोगिता का निरूपक समवाय सम्बन्ध हो जाता है। अतः उसे आकाङ्क्षाभास्य ही होना चाहिए जब कि वह शक्ति भास्य है। इस तरह उद्देश्यतावच्छेदक का व्यापकत्व विधेय में लब्ध नहीं हो सकेगा जो कि लब्ध होना चाहिए। उद्देश्यतावच्छेदक है धर्मविशिष्टसंसर्गनिष्ठसंसर्गताख्यशाब्दबोधीय विषयतात्व और विधेय है आकाङ्क्षाप्रयोज्यत्व । उपर्युक्त स्थल में धर्मविशिष्ट संसर्ग रोम और लाङ्गूल का संसर्ग समवाय है उसमें रहनेवाली संसर्गताख्या शाब्दीयविषयता में उद्देश्यतावच्छेदक-धर्मविशिष्ट संसर्गताख्यशाब्दबोधीयविषयतात्व विद्यमान है परन्तु विधेय आकाङ्क्षाप्रयोज्यत्व उसमें नहीं है।

इसी प्रकार '**राज्ञो राजा राजराजः**' इत्यादि समासस्थलों में 'राजराज' पद से राजाओं का राजा यह अर्थ बोधित होता है। राजाओं का राजा के साथ स्वस्वामिभावसम्बन्ध है। जो कि आकाङ्क्षाभास्य होता है परन्तु उपर्युक्त नियम के अनुसार उसे आकाङ्क्षाभास्य नहीं होना चाहिए। कारण यह कि पदार्थतावच्छेदक धर्म से विशिष्टसंसर्ग ही आकाङ्क्षाभास्य होगा। वैशिष्ट्य के नियामक जो दो सम्बन्ध बतलाये गये हैं, वे हैं स्वावच्छिन्न अनुयोगितानिरूपकत्व और स्वभिन्नधर्मावच्छिन्नप्रतियोगितानिरूपकत्व। निष्कर्षतः जो संसर्ग पदार्थतावच्छेदक धर्म से अवच्छिन्न अनुयोगिता का निरूपक होगा और उससे भिन्न धर्म से अवच्छिन्न प्रतियोगिता का निरूपक होगा वही संसर्ग आकाङ्क्षाभास्य हो सकेगा। यहाँ पर अनुयोगिता का अवच्छेदक धर्म भी राजत्व है और प्रतियोगिता का अवच्छेदक धर्म भी राजत्व ही है।क्योंकि स्वस्वामिभाव रूप संसर्ग का प्रतियोगी भी राजा है और अनुयोगी भी। इसलिए पदार्थतावच्छेदक राजत्व से अवच्छिन्न अनुयोगिता का निरूपक तो स्वस्वामिभाव संसर्ग है परन्तु पदार्थतावच्छेदक राजत्व से भिन्न धर्म से अवच्छिन्न प्रतियोगिता का निरूपक उक्त संसर्ग नहीं है क्योंकि प्रतियोगिता राजत्व से ही अवच्छिन्न है राजत्वभिन्न धर्म से नहीं। इसी प्रकार '**समवायेन अभावो नास्ति**' अर्थात् समवाय सम्बन्ध से अभाव नहीं है इस वाक्य से जो शाब्दबोध

होता है, उसमें नञ् पदार्थ अभाव में अभाव पदार्थ अभााव का स्वनिष्ठ प्रतियोगिताकत्वरूप संसर्ग से अन्वय होता है जो कि आकाङ्क्षाभास्य होता है। परन्तु उपर्युक्त नियम के अनुसार ये संसर्ग आकाङ्क्षाभास्य नहीं हो सकेगा। जैसे **'राजराजः'** में अनुयोगिता और प्रतियोगिता के अवच्छेदक धर्मों में भेद नहीं होने से स्वस्वामिभावसंसर्ग आकाङ्क्षाभास्य नहीं होता है[1] उसी प्रकार यहाँ पर भी प्रतियोगी और अनुयोगी अभाव ही है, प्रतियोगिता और अनुयोगिता का अवच्छेदक धर्म अभावत्व ही है उसमें भेद नहीं होने से स्वनिष्ठप्रतियोगिताकत्वरूप संसर्ग आकाङ्क्षाभास्य नहीं हो सकेगा।

इस तरह एकत्व और अपरत्व का पद, पदार्थ और पदार्थतावच्छेदक तीनों में से किसी में भी अन्वय नहीं किया जा सकता । अतः पारिभाषिक रीति से उनका अन्वय करते हुए परिष्कार करना पड़ता है और कहा जाता है कि **'उपस्थितीयविशेष्यता से विशिष्टसंसर्ग में रहने वाली संसर्गताख्या शाब्दीयविषयता आकाङ्क्षाप्रयोज्य होती है'** उपस्थितीय विशेष्यता से संसर्ग को स्वप्रयोज्यविशेष्यता निरूपकत्व और स्वनिरूपितत्वाभाववदुपस्थितीय विषयताप्रयोज्यप्रकारतानिरूपकत्व इन दो सम्बन्धों से विशिष्ट बनाना है। जिससे विशिष्ट बनाना है उसे ही स्वपद से हर जगह पर पकड़ा जाता है। यहाँ पर उपस्थितीयविशेष्यता से विशिष्ट बनाना है, अतः उसे ही स्वपद से पकड़ा जायेगा । इस प्रकार परिष्कार करने पर उपर्युक्त स्थलों के दोष वारित हो जाते हैं। पहले **'नीलो घटः'** इस स्थल को हम देखते हैं - यहाँ पर **नीलः** पद से नीलत्व और नील की उपस्थिति होती है नील विशेष्य होता है और उसमें विशेष्यता आती है। नीलत्व विशेषण (प्रकार) होता है और उसमें प्रकारता आती है। इन दोनों विषयताओं में (नीलनिष्ठ विशेष्यता और नीलत्वनिष्ठ प्रकारता में) निरूप्यनिरूपकभाव है। इसी तरह **घटः** पद से घट और घटत्व की उपस्थिति होती है, घट विशेष्य होता है और घटत्व प्रकार (विशेषण) होता है। इन दोनों में रहने वाली विषयताओं में (घटनिष्ठविशेष्यता और घटत्वनिष्ठा प्रकारता में) परस्पर निरूप्यनिरूपकभाव होता है। यहाँ पर उपस्थितीयघटनिष्ठविशेष्यता से प्रयोज्य शाब्दबोधीयघटनिष्ठविशेष्यता होती है और उपस्थितीयनीलनिष्ठविशेष्यता से प्रयोज्य शाब्दबोधीयनीलनिष्ठप्रकारता होती है। अब उपर्युक्त नियम को घटित करने पर यह नियम घटित होता है और नील और घट का अभेद संसर्ग आकाङ्क्षाभास्य होता है। क्योंकि उपस्थितीया जो घटनिष्ठविशेष्यता है उससे विशिष्ट उक्त दोनों सम्बन्धों से अभेद संसर्ग हो जाता है। पहला सम्बन्ध है स्वप्रयोज्यविशेष्यतानिरूपकत्व, उपस्थितीयघटनिष्ठविशेष्यता से प्रयोज्य विशेष्यता है शाब्दबोधीय-घटनिष्ठविशेष्यता उसका निरूपक अभेदसंसर्ग होता है। अतः पहला सम्बन्ध घटित हो गया । दूसरा सम्बन्ध है स्वनिरूपितत्वाभाववदुपस्थितीयविषयताप्रयोज्यप्रकारतानिरूपकत्व, स्वपद से वही उपस्थितीयघटनिष्ठविशेष्यता पकड़ी जायेगी उससे अनिरूपित (निरूपितत्वाभाववद्) उपस्थितीय विषयता है नीलनिष्ठ विशेष्यता (क्योंकि घटनिष्ठविशेष्यता और नीलनिष्ठ विशेष्यता में कोई निरूप्यनिरूपकभाव नहीं है) उससे प्रयोज्य प्रकारता है शाब्दबोधीयनीलनिष्ठ-प्रकारता उसका निरूपकत्व भी अभेदसंसर्ग में है। अतः उस अभेद संसर्ग में आने वाली

---

1- वस्तुतः न्यायसिद्धान्त के अनुसार प्रथम राज पद से लक्षणा के द्वारा राजसम्बन्धी की और दूसरे राज पद से राजा की उपस्थिति होनी है। तथा राजा से राज सम्बन्धी का अभेद रूप संसर्ग आकाङ्क्षा भास्य होता है। इसलिए राजसम्बन्धित्व और राजत्व पदार्थतावच्छेदक हो रहे हैं जो कि भिन्न हैं अतः उक्त आपत्ति नही है।

शाब्दीयसंसर्गताख्या विषयता आकाङ्क्षाप्रयोज्य होगी । अब पशुपदादिस्थलों का दोष वारित हो जायेगा। लोम (रोम) और लाङ्गूल (पूँछ) का आपसी सम्बन्ध समवाय उपस्थितीयविशेष्यता से विशिष्ट नहीं होगा क्योंकि पशु पद से जो उपस्थिति होती है उसमें लाङ्गूल विशेष्य बनता है और लोम प्रकार बनता है इनमें रहने वाली विशेष्यता और प्रकारता में परस्पर निरूप्यनिरूपकभाव है। और शाब्दीय लाङ्गूलनिष्ठ विशेष्यता की प्रयोजिका उपस्थितीयलाङ्गूलनिष्ठ विशेष्यता है तथा लोमनिष्ठ प्रकारता (शाब्दीया) की प्रयोजिका उपस्थितीयलोमनिष्ठ प्रकारता है। अब यहाँ पर प्रथम सम्बन्ध उपस्थितीयविशेष्यता से प्रयोज्य शाब्दीयलाङ्गूलनिष्ठविशेष्यता का निरूपकत्व समवाय सम्बन्ध में है परन्तु उपस्थितीयलाङ्गूलनिष्ठविशेष्यता से अनिरूपित उपस्थितीय विषयता से प्रयोज्य प्रकारता का निरूपकत्व समवाय सम्बन्ध में नहीं है। अपितु उपस्थितीयलाङ्गूलनिष्ठ विशेष्यता से निरूपित उपस्थितीया रोमनिष्ठप्रकारताख्या विषयता से प्रयोज्य शाब्दीयप्रकारता का निरूपकत्व समवाय संसर्ग में है। अतः वह आकाङ्क्षाभास्य न होकर शक्तिभास्य होगा। इसी प्रकार **'राजराजः'** और **'समवायेन अभावो नास्ति'** इन स्थलों के दोष भी वारित हो जाते हैं और राजप्रतियोगिक राजानुयोगिक स्वस्वामिभाव तथा अभावप्रतियोगिक और अभावानुयोगिक स्वनिष्ठ प्रतियोगिताकत्वरूप सम्बन्ध भी क्रमशः आकाङ्क्षाभास्य हो जाते हैं क्योंकि ये दोनों ही सम्बन्ध उपस्थितीय विशेष्यता से दोनों सम्बन्धों से विशिष्ट हो जाते हैं। स्वस्वामिभाव सम्बन्ध में उपस्थितीयराजनिष्ठ विशेष्यता से प्रयोज्य शाब्दीय राजनिष्ठविशेष्यता निरूपकत्व है और उपस्थितीय राजनिष्ठ विशेष्यता से अनिरूपित जो अपरराजपदजन्य उपस्थितीय राजनिष्ठ विशेष्यता (क्योंकि दोनों ही राज पदों से अलग राजविशेष्यक उपस्थिति होगी और उन दोनों उपस्थितीय विशेष्यताओं में कोई सम्बन्ध निरूप्यनिरूपकभाव नहीं होगा) से प्रयोज्य राजनिष्ठशाब्दीयप्रकारतानिरूपकत्व भी है। अतः स्वस्वामिभावसम्बन्ध आकाङ्क्षाभास्य हो जायेगा। स्वनिष्ठप्रतियोगिताकत्व सम्बन्ध भी आकाङ्क्षाभास्य होगा क्योंकि नञ्पदजन्य उपस्थितीय अभावनिष्ठविशेष्यता से प्रयोज्य जो शाब्दीय अभावनिष्ठविशेष्यता तन्निरूपकत्व उक्तसम्बन्ध में है और नञ्पदजन्य उपस्थितीय अभावनिष्ठविशेष्यता से अनिरूपित अभावपद-जन्य उपस्थितीय अभावनिष्ठविशेष्यता से प्रयोज्य शाब्दीय अभावनिष्ठ प्रकारता का निरूपकत्व भी उक्तसम्बन्ध में है। अतः इस संसर्ग में आनेवाली शाब्दीयसंसर्गताख्या विषयता आकाङ्क्षा से प्रयोज्य होगी।

किन्तु इस तरह निर्वाचन करने पर न्यायसिद्धान्त में समवाय के एक ही होने के कारण समवाय के हर जगह पर ही शाब्दबोध में आकाङ्क्षाभास्य होने की पाली आ जायेगी। इसे यूँ समझना चाहिए- समवाय कहीं पर शक्तिभास्य होता है और कहीं पर आकाङ्क्षा से भास्य होता है। जैसे- घट पद से होने वाले घटघटत्वविषयक शाब्दबोध में घट घटत्व का समवाय शक्ति से भास्य होता है। तथा विभक्ति से उपस्थाप्य एकत्वादि का घटदि में जो समवायसम्बन्ध भासता है वह आकाङ्क्षा भास्य होता है। परन्तु जो ऊपर नियम निर्धारित किया गया है, वह ये है कि उपस्थितीय विशेष्यता से विशिष्ट संसर्ग में आनेवाली शाब्दीय संसर्गताख्या विषयता आकाङ्क्षा से प्रयोज्य होगी। विभक्त्यर्थ एकत्व प्रतियोगिक और घटानुयोगिक समवायसम्बन्ध उपस्थितीय विशेष्यता से विशिष्ट होता है उसमें आनेवाली संसर्गताख्या शाब्दीयविषयता आकाङ्क्षाप्रयोज्य होगी। यहाँ पर समस्या यह है कि समवाय

सम्बन्ध एक ही है जो समवाय घट और विभक्त्यर्थ एकत्व का है वही घटत्व और घट का भी है। इनदोनों में कोई भेद नहीं है। समवाय के एक ही होने के कारण उसमें आनेवाली संसर्गताख्याशाब्दीय विषयता आकाङ्क्षाभास्य ही होनी चाहिए क्योंकि समवायसंसर्ग उपस्थितीय विशेष्यता से विशिष्ट है। परन्तु ऐसा तो है नहीं कि समवायसंसर्ग हर जगह आकाङ्क्षा भास्य हो। अतः फिर से परिष्कार करना चाहिए । **उपस्थितीयविषयता से विशिष्ट संसर्गता आकाङ्क्षाप्रयोज्य होती है और उपस्थितीयविषयता का संसर्गता में वैशिष्ट्य स्वप्रयोज्यविशेष्यतानिरूपितत्व और स्वनिरूपितत्वाभाववदुपस्थितीय विषयताप्रयोज्यशाब्दीयप्रकारतानिरूपितत्व इन दो सम्बन्धों से ले जाना है।** संसर्गता, प्रकारता और विशेष्यता इन तीनों में परस्पर निरूप्यनिरूपकभाव होने के कारण ये वैशिष्ट्यनियामकसम्बन्ध बन सकते हैं। समवाय यद्यपि एक ही है परन्तु समवायनिष्ठसंसर्गताओं के भिन्न-भिन्न होने के कारण कहीं पर समवायनिष्ठ संसर्गता वृत्तिभास्य होगी और कहीं पर आकाङ्क्षाभास्य । जैसे- एकत्व और घट का समवाय आकाङ्क्षाभास्य होगा ।

**सच क्वचिदभेदः। क्वचिच्च तदतिरिक्त एवाधाराधेयप्रतियोग्यनुयोगि विषयविषयिभावादिः॥**

अब प्रश्न उठता है कि वह आकाङ्क्षाभास्य सम्बन्ध कौन सा है? इसी का उत्तर देते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि— वह आकाङ्क्षाभास्य सम्बन्ध कहीं पर अभेद होता है और कहीं पर अभेद से अतिरिक्त आधाराधेयभाव, प्रतियोग्यनुयोगिभाव, विषयविषयिभावादि होते हैं।

**विमर्श–** यहाँ पर आशङ्का होती है कि न्यायसिद्धान्त में आधाराधेयभाव, विषयविषयिभाव प्रतियोग्यनुयोगिभाव आदि को तो सम्बन्ध माना नहीं जाता है। यदि कोई इसका यह समाधान करे कि आधेयता, आधारता, विषयता, विषयिता, प्रतियोगिता, अनुयोगिता आदि को तो सम्बन्ध माना जाता है उसी अभिप्राय से यह ग्रन्थ है। तो ऐसा कथन उचित नहीं है क्योंकि नैयायिकों में भी सभी नैयायिकों का यह अभिमत नहीं हो सकता है, नैयायिकों में प्राचीन और नवीन दो भेद हैं। जिसमें से किसी के भी मत में आधारता और आधेयता दोनों को सम्बन्ध नहीं माना जाता है। प्राचीन लोग प्रकृत्यर्थ का प्रत्ययार्थ में आधारत्व सम्बन्ध मानते हैं और नवीन प्रकृत्यर्थ का प्रत्ययार्थ में आधेयत्व सम्बन्ध मानते हैं। इस परिस्थिति में यह ग्रन्थ न तो प्राचीन मत से हो सकता है और न तो नवीन मत से ही हो सकता है। इस प्रश्न का समाधान जयाटीकाकार जयदेव मिश्र जी करते हैं कि यह ग्रन्थ वैयाकरणमत से है। वैयाकरण मत में '**सम्बन्धो हि सम्बन्धिभ्यां भिन्नः द्विष्ठः**' सम्बन्ध सम्बन्धियों से भिन्न होता है और द्विष्ठ (दो में रहने वाला) होता है। इस मत में आधारतानिरूपित आधेयता, प्रतियोगितानिरूपित अनुयोगिता आदि को ही सम्बन्ध माना जाता है। ये तो दोनों में ही रहेगा परन्तु ऐसा मानना सङ्गत नहीं प्रतीत होता है क्योंकि गदाधर भट्टाचार्य जैसा नैयायिक न्यायमत को दृष्टि में रख कर ही कोई ग्रन्थ लिखेगा। अतः गूढार्थतत्त्वालोककार का समाधान ही यहाँ पर उचित प्रतीत होता है। गूढार्थतत्त्वालोककार का कथन है कि यह ग्रन्थ प्राचीन और नवीन दोनों मतों के अनुरोध से है। अभिप्राय यह कि यह ग्रन्थ प्राचीन और नवीन दोनों मतों के अनुरोध से है। आधारता को संसर्ग मानने वाले प्रचीन मत और आधेयता को संसर्ग मानने वाले नवीन मत दोनो मतों को लेकर यह ग्रन्थ है। आधारता का

उल्लेख प्राचीनमत से और आधेयता का उल्लेख ग्रन्थकार ने नवीनमत से किया है। वैसे मेरा अपना मानना है कि विशिष्ट बुद्धि का नियामक होने के कारण यहाँ पर ग्रन्थकार ने आधाराधेयभाव, विषयविषयिभाव, प्रतियोग्यनुयोगिभाव का उल्लेख किया है। व्याकरणमत से तो इस ग्रन्थ के होने की कोई सम्भावना नहीं है क्योंकि अभेद व्याकरणमत में सम्बन्ध नहीं बन सकता, व्याकरण मत में किसी के सम्बन्ध बनने की शर्त में शामिल है द्विष्ठ होना, अभेद द्विष्ठ नहीं होता। अतः विशिष्टबुद्धि नियामक होने के कारण जैसे अभेद का यहाँ उल्लेख ग्रन्थकार ने किया है वैसे ही आधाराधेयभाव, विषयविषयिभावादि का भी उल्लेख किया है ऐसा मैं समझता हूँ।

## –अभेदान्वयवाद–

**अभेदश्च प्रातिपदिकार्थे स्वसमानविभक्तिकेन स्वाव्यवहितपूर्ववर्त्तिना च पदेनोपस्थापितस्यैव संसर्गमर्यादया भासते, यथा नीलो घटो, नीलघटमानयेत्यादौ घटादौ नीलादेः। न तु विरुद्धविभक्तिमत्पदार्थस्य। नीलस्य घट इत्यादौ नीलघटाभेदान्वयबोधस्य सर्वानुभवविरुद्धत्वात्।**

आकाङ्क्षाभास्य होने वाले सम्बन्धों का द्वैविध्य पूर्वग्रन्थ के द्वारा ग्रन्थकार ने बतलाया था अभेद और अभेदातिरिक्त सम्बन्ध, इनमें अभेदसम्बन्ध तो एक ही है और अभेदातिरिक्त सम्बन्ध अनेक हैं। अतः 'सूचीकटाहन्याय'[1] से और प्रथम उद्दिष्ट होने से अभेद संसर्ग का शाब्दबोध में भानस्थल बता रहे हैं—स्वसमानविभक्तिक और स्वाव्यवहित पूर्ववर्त्ती पद द्वारा उपस्थापित पदार्थ का ही अभेद संसर्ग प्रातिपदिकार्थ में संसर्गमर्यादा से भासता है अर्थात् अपने समान विभक्ति जिस पद में है उस पद से और अपने ठीक पूर्व में रहने वाले पद से उपस्थापित अर्थ का ही प्रातिपदिकार्थ में अभेदसंसर्ग आकाङ्क्षा से भास्य होता है। जैसे—'**नीलो घटः**' यहाँ पर नीला का अभेद घट में भासता है। घटपद प्रातिपदिक[2] है उसका अर्थ है घट पदार्थ (घड़ा) **नीलः** पद **घटः** का समानविभक्तिक है क्योंकि **घटः** में जो विभक्ति प्रथमा एकवचन सु विभक्ति है वही विभक्ति **नीलः** में भी है। इसलिए नील पदार्थ का प्रातिपदिकार्थ घट पदार्थ में अभेद भासता है। एवं '**नीलघटमानय**' यहाँ पर भी प्रातिपादिकार्थ घट पदार्थ में घट के अव्यवहित पूर्ववर्ती पद के अर्थ नील का अभेद भासता है। विरुद्ध विभक्तिवाले पद के अर्थ का अभेद प्रातिपदिकार्थ में नहीं भासित होता है। '**नीलस्य घटः**' यहाँ पर नील और घट का अभेदान्वयबोध सर्वानुभवविरुद्ध है, यहाँ पर किसी का भी अनुभव ऐसा नहीं है जिसमें नील और घट का अभेद शाब्दबोध में भासे। ज्ञातव्य है कि यहाँ पर '**घटः**' में प्रथमा है और **नीलस्य** में षष्ठी है।

**विमर्श–** यहाँ पर '**प्रातिपदिकार्थे**' में जो सप्तमी है उसका अर्थ अनुयोगिता है और उसका प्रकृत्यर्थ प्रतिपदिकार्थ में वृत्तित्व (निष्ठत्व) सम्बन्ध से तथा अभेद में निरूपकत्वसम्बन्ध से अन्वय होगा '**उपस्थापितस्य**' में जो षष्ठी है उसका अर्थ प्रतियोगिता है और उसका प्रकृत्यर्थ में वृत्तित्व (निष्ठत्व) सम्बन्ध से और अभेद में निरूपकत्वसम्बन्ध से अन्वय

1- लुहार के पास यदि दो व्यक्ति एक साथ पहुँचे, एक को सूई बनवानी हो और दूसरे को कड़ाही तो लुहार छोटा होने के कारण सूई बनाने का काम पहले निपटाता है और कढ़ाही बनाने का काम बाद में करता है। इसी को सूची कटाहन्याय कहते हैं।

2- अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्। पाणिनीय अष्टाध्यायी 1/2/45
कृत्तद्धितसमासाश्च। पाणिनीय अष्टाध्यायी 1/2/46

होगा। '**संसर्गमर्यादया**' में तृतीया का अर्थ है प्रयोज्यत्व, भास् धातु का अर्थ है शाब्दीय विषयता। इस प्रकार अर्थ होता है कि प्रातिपादिकार्थनिष्ठ अनुयोगितानिरूपक और स्वसमान-विभक्तिकपदोपस्थाप्य अर्थनिष्ठप्रतियोगितानिरूपक या स्वाव्यवहितपूर्ववर्त्तिपदोपस्थाप्य अर्थनिष्ठ-प्रतियोगितानिरूपक अभेदसंसर्ग आकाङ्क्षाप्रयोज्य शाब्दीयसंसर्गताख्यविषयता का आश्रय होता है। इस प्रकार अभिप्राय निकलता है कि प्रातिपदिकार्थनिष्ठ अनुयोगितानिरूपक और स्वसमानविभक्तिकस्वाव्यवहितपूर्ववर्त्ति अन्यतरपदोपस्थाप्य अर्थ निष्ठप्रतियोगितानिरूपक अभेदसंसर्ग आकाङ्क्षाप्रयोज्य शाब्दीयसंसर्गताख्यविषयताश्रय होता है। यहाँ पर प्रातिपदिकार्थ निष्ठ अनुयोगितानिरूपक स्वसमानविभक्तिक स्वाव्यवहितपूर्ववर्त्ति अन्यतरपदोपस्थाप्य अर्थनिष्ठ-प्रतियोगितानिरूपक अभेदसंसर्ग उद्देश्य हुआ और आकाङ्क्षाप्रयोज्य शाब्दीय संसर्गताख्यविषयता-श्रयत्व विधेय हुआ। यहाँ पर स्वपद से प्रातिपदिकार्थ का परिग्रह किया जाता है। उपर्युक्त रीति से उद्देश्यविधेयभाव माना गया । उद्देश्यविधेयभाव जहाँ पर भी होता है वहीं पर उद्देश्यतावच्छेदक का व्यापकत्व विधेय में नियम से भासता है। इस प्रकार लब्ध होता है कि जो भी अभेदसंसर्ग प्रातिपदिकार्थनिष्ठ अनुयोगितानिरूपक और स्वसमानविभक्तिक स्वाव्यवहितपूर्ववृत्ति अन्यतरपदोपस्थाप्य अर्थनिष्ठप्रतियोगितानिरूपक होगा उसमें आकाङ्क्षा-प्रयोज्यशाब्दीयसंसर्गताख्या विषयता आयेगी । जैसे '**नीलो घटः**' यहाँ पर नील और घट का अभेदसंसर्ग प्रातिपदिकार्थघटनिष्ठ अनुयोगितानिरूपक और स्वसमान विभक्तिक **नीलः** पद से उपस्थाप्य नीलरूप अर्थनिष्ठप्रतियोगितानिरूपक है। अतः उसमें आकाङ्क्षाप्रयोज्य शाब्दीय संसर्गताख्या विषयता आती है। इसी प्रकार '**नीलघटमानय**' में भी नील और घट का अभेद संसर्ग प्रातिपदिकार्थ घटनिष्ठ अनुयोगितानिरूपक और स्वाव्यवहित पूर्ववर्त्ति (घट पद के अव्यवहितपूर्ववर्त्ति) नीलपद से उपस्थाप्य नील (अर्थ) निष्ठ प्रतियोगितानिरूपक है, अतः उसमें आनेवाली शाब्दीयसंसर्गताख्या विषयता आकाङ्क्षाप्रयोज्य होगी।

**स्वसमानविभक्तिकत्वञ्च स्वप्रकृतिकविभक्तिसजातीयविभक्तिकत्वम्। साजात्यञ्च विभक्तिविभाजकप्रथमात्वादिना, न तु समानानुपूर्वीकत्वं साजात्य म्– 'वेदाः प्रमाणम्' 'शतं ब्राह्मणाः' इत्यादावन्वयबोधानुपपत्तेः ।**

पूर्वग्रन्थ के अनुसार वही अभेद संसर्ग आकाङ्क्षाभास्य होगा जो कि प्रातिपदिकार्थ निष्ठ अनुयोगितानिरूपक हो और स्वसमानविभक्तिक या स्वाव्यवहितपूर्ववर्त्ति पद से उपस्थाप्य अर्थनिष्ठप्रतियोगिता का निरूपक हो। अब प्रश्न ये उठता है कि स्वसमानविभक्तिकत्व का क्या मतलब है? इसी प्रश्न का समाधान करने के लिए ग्रन्थकार कहते हैं कि — स्वसमानविभक्तिकत्व का अभिप्राय है–स्वप्रकृतिकविभक्तिसजातीयविभक्तिकत्व स्व पद से विशेष्यवाचक पद को पकड़ना है। विशेष्यवाचकपद समानविभक्तिकत्व का इस तरह निर्वचन किया जा रहा है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि विशेष्यवाचक पद प्रकृति है ज़िस विभक्ति की, उस विभक्ति की सजातीयविभक्तिवाला होना ही विशेष्य वाचक पद का समानविभक्तिकत्व है। विभक्तियों का सजातीयत्व भी कई प्रकार से लिया जा सकता है। जैसे- सुप्त्व, प्रथमात्व, समान आनुपूर्वीकत्व इत्यादि। इसलिए पुंनः प्रश्न उठता है कि इस स्थल पर विभक्ति का साजात्य किस प्रकार से लिया जायेगा? यदि सुप्त्वेन साजात्य लें तो जितनी भी सु, औ, जस्, अम्, औट्, शस् आदि सुप् प्रभृति विभक्तियाँ हैं सभी आपस में सजातीय हो जायेंगी। इसतरह '**नीलस्य घटः**' यहाँ पर भी विशेष्यवाचक **घट** पद का

समानविभक्तिक **नीलस्य** पद हो जायेगा क्योंकि घट पद प्रकृति है सुविभक्ति की, उस सु की सुप्त्वेन सजातीय विभक्ति ङस् विभक्ति हुई, वह ङस् विभक्ति नीलपद की है। इस तरह **घटः** का समानविभक्तिक **नीलस्य** पद है, उसके द्वारा उपस्थाप्य नील (अर्थ) प्रतियोगिक और घटानुयोगिक अभेद संसर्ग को आकाङ्क्षाभास्य होना चाहिए। परन्तु '**नीलस्य घटः**' इस स्थल में नीलप्रतियोगिक और घटानुयोगिक अभेदसंसर्ग आकाङ्क्षाभास्य नहीं होता। यदि समान आनुपूर्वीकत्व रूप साजात्य लें तो सु की सजातीय विभक्ति सु ही होगी क्योंकि सु की जो आनुपूर्वी है स् के बाद उ और उ के बाद अवसान (अन्यवर्ण का अभाव) इस प्रकार की आनुपूर्वी सिर्फ सु में ही रहेगी। इसी प्रकार की स्थिति अन्य विभक्तियों के विषय में भी है। ऐसी परिस्थिति में '**वेदाः प्रमाणम्**' इस स्थल में वेद का समानविभक्तिकत्व प्रमाण पद में नहीं जायेगा, कारण ये है कि '**वेदाः**' में जस् विभक्ति है और '**प्रमाणम्**' में सु विभक्ति है। जस् विभक्ति की आनुपूर्वी है 'ज के बाद अ, अ के बाद स् और स् के बाद अवसान' ऐस्री आनुपूर्वी जस् के सिवा किसी दूसरी विभक्ति की नहीं है, अतः जस् की सजातीय विभक्ति सुविभक्ति नहीं होगी। अतः '**वेदाः प्रमाणम्**' इस स्थल में वेद का समानविभक्तिकत्व प्रमाण में नहीं आयेगा। ऊपर नियम तो यही बताया गया है कि प्रातिपदिकार्थानुयोगिक और स्वसमानविभक्तिकपदोपस्थाप्यार्थप्रतियोगिक संसर्ग आकाङ्क्षाभास्य होता है और प्रातिपदिकार्थानुयोगिक तथा स्वाव्यवहितपूर्ववर्तिपदोपस्थाप्यार्थ प्रतियोगिक संसर्ग आकाङाक्षाभास्य होता है। इस स्थिति में वेदानुयोगिक और प्रमाणप्रतियोगिक अभेदसंसर्ग आकाङ्क्षाभास्य नहीं हो सकेगा क्योंकि यह अभेद संसर्ग न तो वेद समानविभक्तिकपदोपस्थाप्यार्थ प्रतियोगिक है और न तो वेदाव्यवहितपूर्ववृत्तिपदोपस्थाप्यार्थ प्रतियोगिक है। यही स्थिति हूबहू '**शतं ब्राह्मणाः**' में भी है। यहाँ पर ब्राह्मण पद जस् विभक्त्यन्त है और शत पद सुविभक्त्यन्त है। अतः समानानुपूर्वीकत्व साजात्य यहाँ पर भी नहीं है। यहाँ भी ब्राह्मणानुयोगिक और शतसंख्याकप्रतियोगिक अभेद संसर्ग आकाङ्क्षाभास्य होता है। समानानुपूर्वीत्वरूपविभक्तिसाजात्य लेने पर यहाँ अभेदसंसर्ग आकाङ्क्षाभास्य नहीं हो सकेगा। इसलिए गदाधर भट्टाचार्य कहते हैं कि साजात्य विभक्तिविभाजकप्रथमात्वादि के द्वारा लिया जायेगा, यहाँ पर समानानुपूर्वीकत्व रूप साजात्य विवक्षित नहीं है क्योंकि समानानुपूर्वीकत्व रूप साजात्य की विवक्षा करने पर '**वेदाः प्रमाणम्**' '**शतं ब्राह्मणाः**' इत्यादि स्थलों में अभेदसंसर्गक अन्वयबोध अनुपपन्न हो जायेगा। विभक्तिविभाजक प्रथमात्वादि के द्वारा साजात्य लेने पर '**वेदाः प्रमाणम्**' इस स्थल में वेदानुयोगिक और प्रमाण प्रतियोगिक अभेद संसर्ग आकाङ्क्षाभास्य हो जायेगा क्योंकि वेद प्रकृति है जिस विभक्ति की वह विभक्ति है जस् विभक्ति। उस जस् विभक्ति की प्रथमात्वेन सजातीय विभक्तियाँ हुईं सु, औ, जस् विभक्तियाँ क्योंकि इन तीनों में ही प्रथमात्व बैठा है। इनमें से सु विभक्ति की प्रकृति है प्रमाण पद । इस प्रकार वेद का समानविभक्तिक पद हो गया प्रमाण पद, उस प्रमाण पदोपस्थाप्यार्थप्रतियोगिक और वेदानुयोगिक अभेद संसर्ग आकाङ्क्षाभास्य हो जायेगा। इसी तरह '**शतं ब्राह्मणाः**' यहाँ पर भी जस् की सजातीय विभक्ति सु के होने से ब्राह्मण पद का समानविभक्तिकत्व शत पद में जायेगा। इसलिए ब्राह्मणानुयोगिक और शतप्रतियोगिक अभेद संसर्ग आकाङ्क्षाभास्य हो जायेगा।

**विमर्श–** इस ग्रन्थ में दो पारिभाषिक शब्द उल्लेखनीय और व्याख्येय हैं समानानुपूर्वीकत्व

और विभक्तिविभाजकत्व। प्रथमतः समानानुपूर्वीकत्व (अर्थात् स्वसमानानुपूर्वीकत्व) क्या है, यह विचार करते हैं। यदि स्वसमानानुपूर्वीकत्व का अर्थ लें स्ववृत्ति आनुपूर्वी सजातीय आनुपूर्वीमत्त्व— स्व में रहने वाली आनुपूर्वी की सजातीय आनुपूर्वीवाला होना— जैसा कि आम तौर पर प्रतीत होता है। स्वपद से उस पद को पकड़ना है जिसका समानानुपूर्वीकत्व विवक्षित है। इस प्रकार का समानानुपूर्वीकत्व ग्रहण कर पाना सम्भव नहीं है क्योंकि इस स्थिति में आनुपूर्वी का प्रवेश आप कैसे करेंगे? यदि तत्तद्वर्णोत्तरतत्तद्वर्णत्वेन आनुपूर्वी का प्रवेश किया जाये तो तत् पद घटित होने के कारण अनुगम सम्भव नहीं है क्योंकि यत् और तत् का अनुगम नहीं होता है। अनुगम नहीं होने के कारण जाति नहीं बन सकती है क्योंकि जब अनुगत होंगे तभी उनमें जाति मानी जा सकती है जैसे कि सास्नावाली (गलकम्बल वाली) होने से सभी गायों का अनुगम हो जाने पर उनमें गोत्व जाति का स्वीकार किया जाता है। जाति न होने पर सजातीयत्व की कोई सम्भावना ही नहीं शेष रहती है क्योंकि सजातीयत्व का अर्थ ही समान जातिवाला होना है। इसके सिवा दूसरी आपत्ति ये है इसमें कि घटपद का समानानुपूर्वीकत्व नीलघट पद में भी आ जायेगा क्योंकि नीलघट इस पद में भी घकारोत्तर अ, अकारोत्तर ट, टकारोत्तर अत्व रूप आनुपूर्वी तो है ही। इस लिए उक्तरीति से समानानुपूर्वीकत्व परिष्कृत नहीं किया जा सकता है ।

यदि स्वसमानानुपूर्वीकत्व का अर्थ किया जाये कि स्व से विशिष्टत्व ही समानानुपूर्वीकत्व है स्व का वैशिष्ट्य जिन दो सम्बन्धें से ले जाना है वे दो सम्बन्ध हैं— स्वघटकतानवच्छेदकावच्छिन्नाघटितत्व और स्ववृत्तित्व । स्ववृत्तित्व स्वघटकतानवच्छेदकावच्छिन्नाघटितत्व सम्बन्ध से लेना है। प्रथम सम्बन्ध का आशय है कि स्व की घटकता का अनवच्छेदक जो धर्म, उस धर्म से अवच्छिन्न वर्ण से घटित न होना । द्वितीय सम्बन्ध का आशय है कि स्व में वृत्ति होना। और स्व में वृत्तित्व स्वघटकतानवच्छेदकावच्छिन्नाघटितत्व सम्बन्ध से विवक्षित है। यहाँ पर ध्यातव्य यह है कि प्रथम और द्वितीय सम्बन्ध में स्व पद से उसे पकड़ना है जिसका समानानुपूर्वीकत्व विवक्षित है और वृत्तित्वनियामकसम्बन्ध में स्व पद से उसे पकड़ना है जिसमें समानानुपूर्वीकत्व विवक्षित है। इस प्रकार से जब हम समानानुपूर्वीकत्व निर्वचन का करते हैं तो घट पद का समानानुपूर्वीकत्व नीलघट पद में नहीं जाता है। अब हम सम्बन्धों को घटाकर देखेंगे। स्व पद से पकड़ा गया घट पद। उसके घटक वर्ण हैं घ, अ, ट, अ,। घटकतावच्छेदक हुए घत्व, अत्व, टत्व, अत्व। घटकतानवच्छेदक हुए पत्व, मत्व, नत्व, ईत्व, लत्व आदि। इनसे अवच्छिन्न हुए प, म, न, ई, ल वगैरह । नीलघट पद न, ई, ल से घटित है क्योंकि उसमें नीलपद भी है इसलिए प्रथम सम्बन्ध ही न जाने से घट का समानानुपूर्वीक नीलघट पद नहीं हुआ। इसी तरह नीलघट का समानानुपूर्वीक घट पद भी नहीं होगा। यहाँ पर स्वपद से पकड़ा गया नीलघट पद। उसके घटक वर्ण हैं न, ई, ल, अ, घ, अ, ट, अ। घटकतावच्छेदक हुए नत्व, ईत्वादि। अनवच्छेदक हुए इनसे अतिरिक्त पत्व, मत्व आदि। घट पद प, म आदि वर्णों से अघटित है। अतः प्रथम सम्बन्ध तो घटित हो गया । दूसरा सम्बन्ध है स्व वृत्तित्व, स्वमाने नीलघट पद, नीलपट पद में घट पद को रहना चाहिए। नीलघट पद में घट पद को बैठाना है और बैठाने का सम्बन्ध है स्वघटकतानवच्छेदकावच्छिन्नाघटितत्व। इसलिए इस स्थल में स्वपद से घटपद को पकड़ा जायेगा। अब हम देखते हैं तो स्व माने घट पद उसके घटक हैं घ, अ, ट, अ।

घटकतावच्छेदक हुए घत्व, अत्व, टत्व, अत्व। अनवच्छेदक हुए नत्व, ईत्व, लत्व आदि। तदवच्छिन्न न, ई, ल से घटित ही है नीलघट पद। इस तरह स्वघटकतानवच्छेदकावच्छिन्नाघटितत्व सम्बन्ध से घट पद नीलघट में वृत्ति नहीं हुआ। अतः नीलघट पद से घट पद उक्त दोनों सम्बन्धों से विशिष्ट नहीं हो सका। इसलिए नीलघट पद का समानानुपूर्वीक घट पद नहीं होगा।

परन्तु इस प्रकार निर्वचन करने पर ताल पद का समानानुपूर्वीक लता पद भी होने लगेगा क्योंकि ताल पद के घटक जो वर्ण हैं वही वर्ण लता शब्द के भी घटक हैं। अतः दोनों सम्बन्धों से तालशब्द से विशिष्ट लता शब्द हो जायेगा। प्रथमतः पहला सम्बन्ध— स्व माने तालशब्द, उसके घटक वर्ण त, आ, ल, अ, घटकतावच्छेदक तत्व, आत्व, लत्व, अत्व। अनवच्छेदक इनके अतिरिक्त वर्णों के धर्म तदवच्छिन्नाघटितत्व लताशब्द में तो है ही क्योंकि ताल में जो वर्ण आये हैं उससे अतिरिक्त कोई भी वर्ण लता शब्द में नहीं आया है। दूसरा सम्बन्ध— स्व माने ताल में लता का वृत्तित्व, लता का स्वघटकतानवच्छेद-कावच्छिन्नाघटितत्व सम्बन्ध ताल में है क्योंकि लता में जो वर्ण घटक हैं वही ताल में भी है। सम्बन्ध की सत्ता सम्बन्धी की सत्ता को नियमित करती है। इसलिए स्वघटकता नवच्छेद का वच्छिन्नाघटितत्व सम्बन्ध से लतापद ताल में वृत्ति हो गया । इस प्रकार दोनों ही सम्बन्धों से ताल पद से विशिष्ट लता पद हो गया अतः लता पद को तालपद का समानानुपूर्वीक कहा जाना चाहिए जो कि होता नहीं। इसी प्रकार सर का समानानुपूर्वीक रस को भी मानना चाहिए।

अतः समानानुपूर्वीकत्व को अन्य रीति से परिष्कृत करना चाहिए। अब समानानुपूर्वीकत्व का अर्थ किया जाता है स्वविशिष्टत्व ही समानानुपूर्वीकत्व है स्व का वैशिष्ट्य स्वघटकावृत्तिश्रावणप्रत्यक्षविषयतावच्छेदकधर्मावच्छिन्नाघटितत्व और स्ववृत्तित्व इन दो सम्बन्धों से विवक्षित है। स्व में वृत्तित्व स्वघटकावृत्तिश्रावणप्रत्यक्षविषयतावच्छेदकधर्मावच्छिन्नाघटितत्व सम्बन्ध से लेना है। यहाँ पर (वृत्तितानियामक सम्बन्ध में) स्वपद से वह पद पकड़ा जायेगा जिसको विशिष्ट बनाना हो। समन्वय करने के लिए हम घट पद को पकड़ते हैं इसका समानानुपूर्वीक घट पद ही होगा। अब हम देखते हैं पहला सम्बन्ध—स्व माने घटशब्द उसके घटक वर्ण घ, अ, ट, अ, इनमें रहने वाले श्रावणप्रत्यक्षविषयतावच्छेदक धर्म घत्व, अत्व, टत्व, अत्व, इनमें न रहने वाले श्रावणप्रत्यक्षविषयतावच्छेदक धर्म इनसे अतिरिक्त कत्व, खत्व आदि, उन धर्मो से अवच्छिन्न वर्ण हुए क, ख, ग आदि इनसे अघटितत्व घट शब्द में है। अतः प्रथम सम्बन्ध द्वारा घट पद से विशिष्ट घटपद हुआ। घट पद में स्वघटकावृत्तिश्रावणप्रत्यक्षविषयतावच्छेदकधर्मावच्छिन्नाघटितत्व के होने से स्ववृत्तित्व सम्बन्ध भी घटित हो जाता है। इस तरह उपर्युक्त उभय सम्बन्धों से घटपद से विशिष्ट घटपद हो गया वह घटपद का समानानुपूर्वीक होता है। अब हम देखते हैं तालशब्द और लता शब्द के बारे में। यहाँ पर दोनों ही सम्बन्ध नहीं घटित होते हैं। देखें—पहला सम्बन्ध— स्व माने तालशब्द उसके घटक में अवृत्ति श्रावणप्रत्यक्षविषयतावच्छेदक धर्म है लशब्दोत्तरतकारत्व तदवच्छिन्न (लशब्दोत्तर तकार) से अघटितत्व लताशब्द में नहीं है अपितु लशब्दोत्तरतकार से घटितत्व ही है। इसी प्रकार दूसरा सम्बन्ध भी घटित नहीं होता है दूसरा सम्बन्ध है स्ववृत्तित्व, स्व माने तालशब्द, यदि लता शब्द का स्वघटकावृत्तिश्रावणप्रत्यक्षविषयता-

वच्छेदकधर्मावच्छिन्नाघटितत्व तालशब्द में जाये तो ताल शब्द का स्ववृत्तित्व लता शब्द में आयेगा, ऐसा होता नहीं है। क्योंकि लता शब्द घटक में अवृत्तिश्रावणप्रत्यक्षविषयतावच्छेदक धर्म है ताशब्दोत्तरलकारत्व तदवच्छिन्न (ताशब्दोत्तर लकार = ताल) से घटित ही ताल शब्द है। इस प्रकार दोनों ही सम्बन्धों से ताल शब्द से विशिष्ट लता शब्द नहीं होता है। अतः तालशब्द का समानानुपूर्वीक लता शब्द नहीं होगा, ध्यातव्य है कि ताल शब्द में ता के बाद ल सुनायी पड़ता है और लता में ल के बाद त सुनायी पड़ता है यही उक्त सम्बन्धों के घटित न होने के मूल में है।

दूसरा व्याख्येय पारिभाषिक शब्द है विभक्तिविभाजकत्व। विभक्तिविभाजकत्व माने क्या? विभक्तिविभाजकत्व से यहाँ पर क्या अभिप्रेत है? हम इस शब्द का शाब्दिक अर्थ देखने हैं तो प्रतीत होता है कि विभक्तियों का विभाजन करने वाला ही विभक्तिविभाजक कहा जाता है। यहाँ पर चिन्तनीय यह है कि वस्तुतः विभाजक कौन होता है? जिसका विभाजन करना है उसके आसाधारण धर्म से व्याप्य और उस असाधारण धर्म के व्याप्य का अव्याप्य जो धर्म वही विभाजक होता है। जैसे— पदार्थों का द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, समवाय और अभाव इस प्रकार से विभाजन किया जाता है, पदार्थत्व के व्याप्य धर्म हैं द्रव्यत्व, गुणत्व, कर्मत्व, सामान्यत्व, विशेषत्व, समवायत्व और अभावत्व। और ये सभी ही पदार्थत्व के व्याप्य के अव्याप्य है। यद्यपि स्व का व्याप्य स्व भी होता है इस तरह पदार्थत्व व्याप्य द्रव्यत्व, गुणत्व, कर्मत्व आदि के व्याप्य द्रव्यत्व, गुणत्व, कर्मत्वादि क्रमशः होंगे ही, इसी तरह पदार्थत्व के व्याप्य पदार्थत्व का व्याप्य द्रव्यत्व, गुणत्व कर्मत्वादि होते हैं । इस प्रकार पदार्थत्वव्याप्याव्याप्यत्व इनमें नहीं जायेगा, ऐसा आक्षेप किया जा सकता है। परन्तु यहाँ पर पदार्थत्व के स्वभिन्न व्याप्य का अव्याप्यत्व अपेक्षित है, पदार्थत्व के स्वभिन्न व्याप्य का व्याप्यत्व द्रव्यत्वादि में कथमपि नहीं आयेगा क्योंकि द्रव्यत्वदि पदार्थत्वव्याप्यद्रव्यत्वभिन्न गुणत्वादि से व्याप्य नहीं ही होता है इसी प्रकार गुणत्वादि भी स्वभिन्न द्रव्यत्वादि से व्याप्य नहीं हुआ करते हैं। इसी प्रकार का विभक्तिविभाजकत्व यहाँ पर भी अपेक्षित होगा अर्थात् विभक्तित्व का व्याप्य होना और विभक्तित्व के व्याप्य (स्वभिन्न) का व्याप्य न होना ही विभक्ति विभाजकत्व है ऐसा कहना पड़ेगा। इस स्थिति में यहाँ पर समस्या आपतित हो जाती है, जिसे विभक्तिविभाजक कर के ग्रन्थकार उल्लिखित कर रहे हैं वे प्रथमात्वादि विभक्ति विभाजक नहीं हो सकेंगे। क्योंकि सुप् और तिङ् दोनों की ही विभक्तिसंज्ञा है।[1] विभक्तित्व सुप् में भी रहता है और तिङ् में भी रहता है। इस प्रकार प्रथमात्व विभक्तित्व का व्याप्य तो है परन्तु विभक्तित्व के व्याप्य सुप्त्व का भी व्याप्य है। इसलिए विभक्तित्वव्याप्यत्व और विभक्तित्वव्याप्याव्याप्यत्व प्रथमात्व में नहीं आता है। फलतः प्रथमात्व विभक्तिविभाजक नहीं होगा।

यदि कहा जाये कि व्याप्यत्व ही विभाजकत्व है तो प्रथमात्व में विभक्ति विभाजकत्व आ जायेगा क्योंकि विभक्तित्व का व्याप्य प्रथमात्व होता है। परन्तु इस प्रकार कहने पर सुत्व, औत्व, जस्त्व आदि भी विभक्तिविभाजक कहलाने लगेंगे क्योंकि सु, औ, जस् आदि में भी विभक्तित्वव्याप्यत्व (विभक्तित्व की व्याप्ति) विद्यमान है। इसके अलावा न्यायसिद्धान्तमुक्तावली प्रत्यक्षखण्ड में गुणादि पदार्थों के साधर्म्यनिर्वचन के अवसर पर

1- पाणिनीय अष्टाध्यायी 1/4/104

कहा गया है कि '**आकाशत्वञ्च न पदार्थविभाजकोपाधिः**' आकाशत्व तो पदार्थविभाजक उपाधि ही नहीं है। यह न्याय का सर्वमान्य सिद्धान्त है। यह असङ्गत हो जायेगा क्योंकि जिस प्रकार यहाँ पर विभक्तित्व के व्याप्य सुत्व, औत्वादि विभक्तिविभाजक उपाधि हो रहे हैं उसी प्रकार पदार्थत्व के व्याप्य आकाशत्व, आत्मत्वादि भी पदार्थविभाजक उपाधि हो जायेंगे। अतः आकाशत्व पदार्थ विभाजक उपाधि नहीं है ऐसा ग्रन्थ असङ्गत होगा।

इसलिए यहाँ पर समाधान दिया जाता है कि विभक्ति पद यहाँ पर लाक्षणिक है और सुबर्थ में ही प्रयुक्त है। इस तरह यहाँ पर विभक्तिविभाजकत्व का अर्थ सुब्विभाजकत्व है अर्थात् विभक्तिविभाजकत्व का यहाँ पर अर्थ है सुप्त्व का व्याप्य होना और सुप्त्व के व्याप्य का व्याप्य न होना। परन्तु इस प्रकार का अर्थ करने पर भी यहाँ पर सामञ्जस्य स्थापित नहीं किया जा सकता क्योंकि प्रथमात्व सुप्त्व का व्याप्य है परन्तु सुप्त्वव्याप्य सर्वनामस्थानत्व का अव्याप्य नहीं है। सु, औ, जस्, अम् और औट् की सर्वनामस्थातन संज्ञा होती है इस तरह सर्वनामस्थानत्व सु, औ, जस्, अम् और औट् में रहता है और प्रथमात्व सु, औ, जस् में ही रहता है। इसलिए सर्वनामस्थानत्व का व्याप्यत्व प्रथमात्व में स्पष्ट है फलतः प्रथमात्व में विभक्तिविभाजकत्व नहीं आयेगा। यद्यपि नपुंसकलिङ्गक शब्द से आनेवाले सु, औ, जस्, अम् और औट् में सर्वनामस्थानत्व नहीं है क्योंकि '**सुडनपुंसकस्य' पा. सू.1/4/43**' के द्वारा अनपुंसक शब्द (नपुंसकलिङ्गक शब्द से भिन्न शब्द) से आने वाले सुट् (सु, औ, जस्, अम्, औट्) की सर्वनामस्थान संज्ञा होती है तथा नपुंसकलिङ्गक सु, औ, जस् में भी प्रथमात्व विद्यमान है। इस तरह सर्वनामस्थानत्व यहाँ नहीं है नपुंसकलिङ्गकशब्द से आनेवाले सु, औ, जस् में, वहाँ पर भी प्रथमात्व विद्यमान है। इसलिए सर्वनामस्थानत्व का व्याप्य प्रथमात्व नहीं होता है। तथापि दोष का सर्वतोभावेन वारण इस रीति से नहीं होता है क्योंकि इस प्रकार प्रथमात्व में तो विभक्ति विभाजकत्व प्रथमात्व से लेकर सप्तमीत्वप्रभृति में जाना चाहिए। जायेगा नहीं क्योंकि तृतीयात्व आदि यद्यपि सुप्त्व के व्याप्य हैं मतलब प्रथम सम्बन्ध उनमें है, परन्तु सुप्त्व का व्याप्य जो आप्त्व (जो कि टा से लेकर सुप्पर्यन्त में रहता है) उसके भी व्याप्य है। अतः तृतीयात्वादि विभक्तिविभाजक नहीं हो सकेंगे। अतः यहाँ पर कुछ परिष्कार अपेक्षित है। इस परिस्थिति में कहते हैं सुप्त्व से विशिष्ट होना ही सुब्विभाजकत्व है और सुप्त्व से विशिष्ट स्वव्याप्यत्व और स्वव्याप्याव्याप्यत्व इन्ही दो सम्बन्धों से बनाना है जैसा कि पूर्व में भी कहा जा रहा था। किन्तु द्वितीय सम्बन्ध जो स्वव्याप्याव्याप्यत्व है उसमें स्वव्याप्य पद से जिसे लेना है उसे स्वव्याप्यविशिष्टभिन्न होना चाहिए। स्वव्याप्य का वैशिष्ट्य स्वसामानाधिकरण्य और स्वाभावसामानाधिकरण्य इन दो सम्बन्धों से लेना है। अभिप्राय ये है कि जिसे सुप्त्व का व्याप्य करके पकड़ रहे हैं यदि उसमें सुप्त्वव्याप्य का सामानाधिकरण्य और सुप्त्वव्याप्य के अभाव का सामानाधिकरण्य आ जायेगा तो वह विशिष्ट कहलायेगा और यदि नहीं आयेगा तो विशिष्टभिन्न कहलायेगा जो कि अपेक्षित है। इस प्रकार निर्वचन करने पर प्रथमात्व, तृतीयात्वादि में विभक्तिविभाजकत्व चला जायेगा क्योंकि प्रथमात्वादि में स्वव्याप्यत्व रूप प्रथम सम्बन्ध तो विद्यमान है ही। दूसरा सम्बन्ध जो स्वव्याप्याव्याप्यत्व है वह भी प्रथमात्व, तृतीयात्वादि में चला जाता है क्योंकि अब आप्त्व को स्वव्याप्य पद से पकड़ा नहीं जा सकता है, निर्वचन कर चुके हैं कि स्वव्याप्याव्याप्यत्व में स्वव्याप्य को स्वव्याप्य विशिष्ट

भिन्न होना चाहिए। अतः सुप्त्व व्याप्यआप्त्व को सुप्त्वव्याप्यविशिष्ट से भिन्न होना चाहिए जो कि सम्भव नहीं है क्योंकि सुप्त्वव्याप्य तृतीयात्व का सामानाधिकरण्य भी आप्त्व में है और तृतीयात्वाभाव का सामानाधिकरण्य भी है (तृतीयात्व टा में रहता है, उसमें भी आप्त्व है और ङे, ङस् आदि में तृतीयात्व नहीं है, उसमें भी आप्त्व रहता है) इसलिए सुप्त्वव्याप्य तृतीयात्व रूप स्व के सामानाधिकरण्य और सुप्त्वव्याप्य तृतीयात्व के अभाव के सामानाधिकरण्य इन दोनों ही सम्बन्धों से विशिष्ट आप्त्व हो जाता है, विशिष्ट से भिन्न नहीं हुआ। अतः द्वितीय सम्बन्ध में स्वव्याप्याव्याप्यत्व में स्वव्याप्य पद से आप्त्व भिन्न चतुर्थीत्व आदि ही पकड़े जायेगे उनका अव्याप्यत्व तो प्रथमात्वादि में है ही, द्वितीय सम्बन्ध से भी सुप्त्व से विशिष्ट प्रथमात्वादि हो जायेगें। इस सम्पूर्ण निर्वचन में हर जगह पर स्वव्याप्य को स्व से भिन्न ही लेना है।

यद्यपि सु, अम् एतदन्यतरत्व में अभी भी सुब्विभाजकत्व आ जायेगा जो कि वस्तुतः सुब्विभाजक नहीं है, अतः अतिव्याप्ति होगी। यहाँ पर उपर्युक्त दोनों ही सम्बन्ध घटित हो जाते हैं । दोनों ही सम्बन्धों से सुप्त्व से विशिष्ट सु, अम् एतदन्यतरत्व हो जाता है क्योंकि सु, अम् एतदन्यतरत्व में सुप्त्वव्याप्यत्व भी है और सुप्त्वव्याप्य अम्त्वादि का अव्याप्यत्व भी है। इसलिए यहाँ पर एक और सम्बन्ध का प्रवेश किया जाता है और कहते हैं कि सुप्त्व से विशिष्ट होना ही सुब्विभाजकत्व है और सुप्त्व का वैशिष्ट्य स्वव्याप्यत्व, स्वव्याप्याव्याप्यत्व, स्वव्याप्याघटितत्व इन तीन सम्बन्धों से लेना है। सु, अम् एतदन्यतरत्व में सुप्त्वव्याप्यत्व है, सुप्त्वव्याप्याव्याप्यत्व भी है परन्तु सुप्त्वव्याप्याघटित्व नहीं है क्योंकि सुप्त्वव्याप्य सुत्व और अम्त्व से घटितत्व ही सु, अम् एतदन्यतरत्व में विद्यमान है।

**ननु 'विंशत्याद्याः सदैकत्वे' इत्यनुशासनात् शतं ब्राह्मणा इत्यादेः साधुत्वेऽपि वेदाः प्रमाणमित्यादयः कथं प्रयोगाः, विशेष्यविशेषणवाचकपदयोरसति विशेषानुशासने समानवचनकत्वनियमात् । अन्यथा घटा नील इत्यादेरपि साधुताप्रसङ्गात् । समानलिङ्गकस्थले तथानियमोपगमेन वेदा प्रमाणमित्यादेः साधुत्वोपपादनेऽपि 'इति हेतुस्तदुद्भवे' इति कारिकायाः 'इति त्रयः समुदिताः हेतुः' इति काव्यप्रकाशव्याख्याया असङ्गतिर्दुर्वारैव। एवमसमानलिङ्गकस्थले विशेष्यवाचकपदासमानवचनस्यापि विशेषणपदस्य साधुत्वे तादृशस्थल औत्सर्गिकमेकवचनमेव सर्वत्र विशेषणपदानन्तरं प्रयोक्तुमुचितमिति 'प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि' 'पितरो देवताः' इत्यादेरनुपपत्तिः।**

आमतौर पर विशेष्यवाचक और विशेषणवाचक पदों में समान वचन होते हैं परन्तु **'वेदाः प्रमाणम्'** और **'शतं ब्राह्मणाः'** इत्यादि कुछ गिन-चुने स्थलों में विशेष्यवाचक पद और विशेषणवाचक पदों में समान वचन नहीं भी होते हैं। अतः प्रश्न यह उठता है कि ऐसा क्यों? कहीं पर समानवचनकता और कहीं पर असमानवचनकता का कारण क्या है? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए **'विंशत्याद्याः सदैकत्वे'** विंशति आदि संख्यावाचक शब्द जब संख्येयवाचक होते हैं तो वे नियम से एकवचनान्त ही होते हैं, इस नियम का हवाला देते हुए **'शतं ब्राह्मणाः'** को साधु घोषित किया जा सकता है। क्योंकि यहाँ पर **शतं** पद शतसंख्याक का वाचक है, अतः नियमतः एकवचनान्त ही होगा। परन्तु प्रश्न अब ये होता

है कि उक्त अनुशासन के आधार पर '**शतं ब्राह्मणाः**' इस प्रयोग की साधुता होने पर भी '**वेदाः प्रमाणम्**' इत्यादि प्रयोग साधु कैसे हो सकेंगे तथा यहाँ पर वेद और प्रमाण का अभेदान्वयबोध क्यों कर हो सकेगा? यहाँ पर **वेदाः** बहुवचनान्त है और **प्रमाणम्** एकवचनान्त है। इस प्रकार '**वेदाः प्रमाणम्**' ये प्रयोग कैसे साधु होगा क्योंकि नियम है कि यदि कोई विशेष अनुशासन न हो तो विशेष्यवाचक और विशेषण वाचक में समानवचन ही होना चाहिए। '**शतं ब्राह्मणाः**' यहाँ पर '**विंशत्याद्याः सदैकत्वे**' इस विशेष अनुशासन के होने से यह प्रयोग तो साधु हो जायेगा परन्तु '**वेदाः प्रमाणम्**' इस प्रयोग की साधुता कैसे होगी? यदि उक्त समानवचनकत्व नियम को नहीं माना जाये तो जैसे '**वेदाः प्रमाणम्**' की साधुता स्वीकृत होगी उसी प्रकार '**घटाः नीलः**' यह असमानवचनक प्रयोग भी साधु होने लगेगा। यदि कहा जाये कि जहाँ पर विशेष्यवाचक और विशेषणवाचक पदों का लिङ्ग समान हो वहीं पर विशेष्य विशेषण वाचक पदों का समानवचनकत्व अपेक्षित होता है, '**वेदाः प्रमाणम्**' में वेदपद पुंल्लिङ्ग है और प्रमाणपद नपुंसकलिङ्ग, अतः समानवचनकत्व विवक्षित न होगा। '**घटाः नीलः**' में घटपद और नीलपद दोनों पुंल्लिङ्ग हैं अतः समानवचनकत्व विवक्षित होगा। इस प्रकार उक्त स्थलों के दोष तो निवारित किये जा सकते हैं परन्तु '**इति हेतुस्तदुद्भवे**' इस कारिका[1] की '**इति त्रयः समुदिताः हेतुः**' इस काव्यप्रकाश व्याख्या की असङ्गति तो दुर्वार ही होगी क्योंकि यहाँ पर त्रिपद और हेतु पद दोनों ही पुंल्लिङ्ग हैं अर्थात् समानलिङ्गक हैं, अतः दोनों में समानवचन भी होने चाहिए जो कि है नहीं। **त्रयः** पद बहुवचनान्त है और **हेतुः** पद एकवचनान्त। इसके अलावा असमानलिङ्गकस्थलों भी एक आपत्ति आयेगी असमानलिङ्गकस्थल के लिए उक्तनियमानुसार अभी बताया गया कि असमानलिङ्गकस्थलों में समानवचनकत्व विशेष्य विशेषणवाचक पदों का विवक्षित नहीं है अर्थात् यदि विशेष्यविशेषण वाचक पदों का लिङ्ग समान नहीं है तो विशेष्यविशेषण वाचक पदों में समानवचन होना आवश्यक नहीं है। ऐसी परिस्थिति में जब विशेष्यवाचक पद का असमानवचनक भी विशेषणवाचक पद साधु होता है तो समानलिङ्गक स्थल में सर्वत्र विशेषण वाचक पद के बाद औत्सर्गिक (विधिसम्मत) एकवचन ही प्रयोग करना उचित है। यहाँ पर ग्रन्थकार का आशय यह है कि उक्त अर्थों का प्रयोग नहीं होता है इसलिए जब विशेष्यवाचक पदोत्तर विभक्ति के द्वारा संख्या उक्त हो गयी तो विशेषणवाचक पद के बाद द्विवचन और बहुवचन की अपेक्षा ही नहीं है। द्विवचन, बहुवचन का प्रयोग क्रमशः द्वित्व और बहुत्व संख्या को बतलाने के लिए किया जाता है विशेष्यवाचक पदोत्तर विभक्ति के द्वारा ही जब संख्या उक्त हो गयी तो विशेषणवाचकपद के बाद की विभक्ति केवल पदसाधुत्वार्थक ही होती है। नियम है कि असाधु पद का प्रयोग नहीं करना चाहिए। पदसाधुता सुप् का आनयन करने पर ही आ सकती है। आम तौर पर विशेष्यवाचक पद का समानवचनक ही विशेषण वाचक पद साधु माना जाता है यदि कोई विशेष अनुशासन न हो तो। यदि असमान लिङ्गकस्थल में विशेष्यवाचक पद का असमान वचनक भी विशेषणवाचक पद साधु होता है तो पदसाधुत्व की सम्पत्ति के लिए जहाँ पर विशेष्यवाचक पद और विशेषण वाचक पदों का लिङ्ग भिन्न-

1- पूरी कारिका इस प्रकार है- शक्तिर्निपुणतालोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात् ।
काव्यज्ञशिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे ।। काव्यप्रकाश कारिका 3

भिन्न है वहाँ पर नियमतः एकवचन का ही प्रयोग करना ही उचित होगा। और इस परिस्थिति में '**प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि**' और '**पितरो देवताः**' इत्यादि प्रयोग अनुपपन्न होंगे। यहाँ पर **प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः** ये विशेष्यवाचक पद है और पुंल्लिङ्ग है। **प्रमाणानि** ये विशेषणवाचक है और नपुंसक लिङ्ग है। इस प्रकार विशेष्यविशेषणवाचक पदों का लिङ्ग असमान होने के कारण समानवचनकत्व भी दोनों का आवश्यक नहीं है। फलतः विशेषणवाचक प्रमाण पदोत्तर एकवचन का ही प्रयोग करना उचित होता। इसी प्रकार द्वितीय स्थल '**पितरो देवताः**' में पितृ पद पुंल्लिङ्ग और देवतापद स्त्रीलिङ्ग है। असमानलिङ्गक होने से विशेष्य विशेषण वाचकपदों में समानवचन होना यहाँ भी अविवक्षित है। अतः देवता पद जो कि विशेषणवाचक है, में एकवचन का ही प्रयोग करना उचित होता। समानवचनक प्रयोग जो किये गये हैं वो अनुपन्न होंगे।

**मैवम्– यत्र विशेष्यवाचकपदोत्तरविभक्तितात्पर्यविषयसंख्याविरुद्ध संख्याया अविवक्षितत्वं तत्र विशेष्यविशेषणपदयोः समानवचनकत्वनियमः, अत एव 'पुरूरवोमाद्रवसौ विश्वेदेवाः' इत्यादौ द्वित्वविशिष्टयोः पुरूरवोमाद्रवः प्रभृत्योर्विशेषणतया विवक्षितत्वात्तद्वाचकस्य द्विवचनान्तता । वेदाः प्रमाणमित्यत्र च विशेषणपदोत्तरविभक्त्या बहुत्वविरुद्धमेकत्वं विवक्षितं तच्च प्रमितिकरणत्वेऽन्वेति । शाब्दप्रमाकरणत्वं च शब्दत्वावच्छिन्नं यावच्छब्दनिष्ठमेकमेवेति नायोग्यता ।**

ग्रन्थकार पूर्वोक्त आशङ्का का समाधान करते हुए कहते हैं कि— ऐसा नहीं है अर्थात् '**वेदाः प्रमाणम्**' की साधुता अनुपपन्न नहीं है। जहाँ पर विशेष्यवाचक पदोत्तर विभक्ति की तात्पर्यविषयीभूत संख्या के विरुद्धसंख्या की विवक्षा नहीं होती है वहीं पर विशेष्यवाचक और विशेषण वाचक पदों के समानवचनकत्व का नियम प्रवृत्त होता है। जैसे- '**नीलो घटः**' यहाँ पर विशेष्यवाचक पद है घट पद, उसके बाद की विभक्ति है सुविभक्ति, सुविभक्ति की तात्पर्यविषयी भूत संख्या है एकत्व संख्या, उसकी विरुद्धसंख्या द्वित्व बहुत्वादि संख्या की विवक्षा नहीं है। अतः नीलपदोत्तर भी सुविभक्ति होती है और विशेष्यविशेषणवाचक पदों में समानवचन होते हैं। यही स्थिति '**प्रत्यक्षानुमानोपमान शब्दाः प्रमाणानि**' और '**पितरो देवताः**' की भी है, अतः इन दोनों स्थलों में भी विशेष्य विशेषणवाचक पदों में समानवचन ही होते हैं। इस नियम के होने के कारण ही '**पुरूरवोमाद्रवसौ विश्वेदेवाः**' इस स्थल में (और अन्य स्थलों में भी) विशेष्यवाचक पद में जो वचन है वही वचन विशेषणवाचक पद में नही होता है अपितु भिन्न वचन ही विशेषणवाचक पद में होता है। यहाँ पर विशेष्यवाचक विश्वेदेव पद बहुवचनान्त है और विशेषणवाचक पुरूरवोमाद्रवस् पद द्विवचनान्त है। चूँकि यहाँ पर विशेष्यवाचक विश्वेदेव पदोत्तर विभक्ति है जस्‌विभक्ति, जस् विभक्ति की तात्पर्यविषयीभूत संख्या है बहुत्वसंख्यां, बहुत्वसंख्या की विरुद्धसंख्या द्वित्वसंख्या की विवक्षा ही है क्योंकि द्वित्व विशिष्ट पुरूरवोमाद्रवस् की विश्वेदेवविशेषणता विवक्षित है। इसलिए यहाँ पर विशेष्यविशेषणवाचक पदों का समानवचनकत्व प्राप्त नहीं होता है किन्तु द्वित्वसंख्या की विवक्षा होने के कारण पुरूरवोमाद्रवस् इस विशेषणवाचक पद के बाद द्वित्वबोधक द्विवचन ही होता है। यही स्थिति '**वेदाः**

**प्रमाणम्**' की भी है। यहाँ पर भी विशेष्यवाचक वेद पदोत्तर जस् विभक्ति की तात्पर्य विषयीभूत बहुत्वसंख्या की विरुद्धसंख्या एकत्व संख्या विवक्षित ही है। अतः प्रमाण पद में वेद पद की समान विभक्ति (समान वचन) होना आवश्यक नहीं है। इस स्थल में विशेषण पदोत्तर विभक्ति (प्रमाण पद के बाद वाली सु विभक्ति) पद साधुत्वार्थक नहीं है अपितु इसके द्वारा एकत्व विवक्षित है जो कि प्रकृत्यर्थतावच्छेदक (प्रमाणपदार्थतावच्छेदक) प्रमितिकरणत्व में अन्वित होता है। अर्थात् प्रमाण पदोत्तर सुविभक्ति के द्वारा प्रमितिकरणत्व का एकत्व विवक्षित है। यहाँ पर प्रमाण है प्रकृति और प्रमाण का अर्थ होता है प्रमिति (प्रमा) का कारण प्रकृत्यर्थ इस प्रकार प्रमितिकरण हुआ और प्रकृत्यर्थतावच्छेदक प्रमितिकरणत्व। इसी में एकत्व का अन्वय होता है। यद्यपि चारों वेद भिन्न हैं परन्तु चारों वेदों में रहने वाला प्रमितिकरणत्व एक ही है। यावत्त शब्दनिष्ठ शब्दत्वावच्छिन्न शाब्द प्रमाकरणत्व एक ही है इसलिए अयोग्यता नहीं है।

**विमर्श–** ग्रन्थकार ने अभी नियम बताया है कि जहाँ पर विशेष्यवाचकपदोत्तर विभक्ति की तात्पर्यविषयीभूत संख्या की विरुद्धसंख्या विशेषणवाचकपदोत्तर विभक्ति से अविवक्षित होगी, वहीं पर विशेष्यविशेषणवाचक पदों की समानवचनता आवश्यक होगी। जहाँ पर विशेष्यवाचक पदोत्तर विभक्ति की तात्पर्यविषयीभूतसंख्या की विरुद्ध संख्या विशेषणवाचकपदोत्तर विभक्ति से अविवक्षित नहीं होगी वहाँ पर समानवचनकत्व आवश्यक न होगा। **'वेदाः प्रमाणम्'** इस स्थल के बारे में समाधान दिया गया कि यहाँ पर विशेष्यवाचकवेदपदोत्तर विभक्ति जस् की तात्पर्यविषयीभूत संख्या बहुत्व संख्या की विरुद्धसंख्या एकत्व संख्या विशेषणवाचक प्रमाणपदोत्तर सुविभक्ति से विवक्षित है। अतः समानवचनकत्व का नियम इस स्थल में प्रवृत्त नहीं होता । परन्तु इस नियम पर कुछ विचार अपेक्षित है। एक प्रयोग है **'सुन्दराःदाराः'** दार पद का अर्थ है पत्नी। यह दारपद हमेशा पुंल्लिङ्ग में और बहुवचनान्त ही प्रयुक्त होता है। अमर कोष का कथन ही है **'दाराः पुंभूम्नि चाक्षताः'** सुन्दर पद विशेषण है। दार पद विशेष्य है। दारपद के नित्यबहुवचनान्त होने से सुन्दर पद जो कि विशेषण है उसमें भी बहुवचन का ही प्रयोग होता है परन्तु जैसे **'सुन्दराः दाराः'** ये प्रयोग होता है उसी प्रकार **'सुन्दरो दाराः'** ये प्रयोग भी साधु होना चाहिए। परन्तु **'सुन्दरो दाराः'** ये प्रयोग साधु नहीं है। इस स्थल पर हम पूर्वोक्त नियम का समन्वय करें – विशेष्यवाचक पद है दार पद, दारपदोत्तर विभक्ति है जस् विभक्ति, जस् की तात्पर्यविषयीभूत संख्या ? कोई नहीं है क्योंकि दार पद में बहुवचन पत्नियों के बहुत्व का द्योतन करने के लिए नहीं है अपितु बहुवचनान्त दार पद की ही साधुता होने के कारण बहुवचनान्त दार पद का प्रयोग किया गया है। दारपदोत्तर जस् विभक्ति की तात्पर्य विषयीभूत कोई संख्या न होने से उसकी विरुद्धसंख्या भी अप्रसिद्ध होगी और उस विरुद्धसंख्या का अविवक्षितत्व भी अप्रसिद्ध होगा । इस प्रकार यहाँ पर समान वचनकत्व का नियम प्रवृत्त नहीं हो सकेगा क्योंकि नियम के अनुसार यदि विरुद्ध संख्या का अविवक्षितत्व आये तब तो समानवचनकत्व नियम प्रवृत्त हो । ऐसी परिस्थिति में **'सुन्दरो दाराः'** यह असमानवचनक प्रयोग भी साधु होना चाहिए ।

पूर्वोक्त नियम इस प्रकार से परिष्कृत करना चाहिए कि विशेष्यवाचकपद से विशिष्ट विशेषणवाचकपद विशेष्यवाचक पद का समानवचनक होता है। विशेष्यवाचक पद का

वैशिष्ट्य स्वाभाववत्त्व सम्बन्ध से विशेषणवाचक पद में ले जाना है। अभावीयप्रतियोगितावच्छेदक सम्बन्ध है स्वाव्यवहितोत्तरविभक्तितात्पर्यविषयसंख्याविरुद्धसंख्याविषयकबोधजनकत्वेन तात्पर्य-विषयविभक्तिप्रकृतित्व। अभिप्राय यह है कि इस सम्बन्ध से विशेष्यवाचकपद जिस विशेषणवाचक पद में नहीं रहेगा, वह विशेषणवाचक पद विशेष्यवाचक पद का समानवचनक होगा। सम्बन्ध की सत्ता सम्बन्धी की सत्ता को नियमित करती है। इसलिए विशेष्यवाचक पद का उक्त सम्बन्ध जहाँ पर रहेगा, विशेष्यवाचक पद वहीं पर होगा। अतः सिद्धान्ततः विशेष्यवाचक पद का उक्त सम्बन्ध जिस विशेषणवाचक पद में रहेगा वही विशेष्यवाचक पद वाला होगा और जहाँ पर उक्त सम्बन्ध नहीं जायेगा वह विशेषणवाचक पद विशेष्यवाचक पद से विशिष्ट होगा। उक्त सम्बन्ध का आशय है— स्व माने विशेष्यवाचक पद उसके अव्यवहित (बीच में कोई व्यवधान न हो) उत्तरवर्ति विभक्ति की तात्पर्यविषयीभूतसंख्याकविरुद्धसंख्या विषयक बोधजनक हो इस प्रकार तात्पर्यविषयीभूत जो विभक्ति उसकी प्रकृति होना । अब हम '**नीलो घटः**' इस स्थल पर देखते हैं— विशेष्यवाचक पद है घटपद, घटपदोत्तर विभक्ति है सुविभक्ति उसकी तात्पर्यविषयीभूत संख्या है एकत्व संख्या, उस एकत्वसंख्या की विरुद्ध संख्या द्वित्वबहुत्वादि संख्या, द्वित्वबहुत्वादि संख्याविषयक बोधजनक हो इस प्रकार तात्पर्य की विषय विभक्ति औ, जस् आदि विभक्ति इन विभक्तियों की प्रकृति नीलपद नहीं है। इसलिए पूर्वोक्त सम्बन्ध यहाँ पर घटित नहीं हुआ, अर्थात् विशेष्यवाचक पद विशेषण वाचक पद में उक्त सम्बन्ध से नहीं रहा, अर्थात् विशेष्यवाचक पद का उक्त सम्बन्ध से अभाव विशेषणवाचक पद में रहा, अर्थात् विशेष्यवाचक पद स्वाभाववत्त्व सम्बन्ध से विशेषण वाचक पद में रहा। इस तरह स्वाभाववत्त्वसम्बन्ध से विशेष्यवाचक पद से विशिष्ट विशेषणवाचक पद हो गया, अतः विशेषणवाचक पद विशेष्यवाचक पद का समानवचनक होगा और '**नीलो घटः**' ऐसा प्रयोग ही होगा।

'**वेदाः प्रमाणम्**' यहाँ पर विशेष्यवाचक पद है वेद पद, वेदपदोत्तर विभक्ति है जस् विभक्ति, उसकी तात्पर्यविषयसंख्या बहुत्व संख्या, उसकी विरुद्ध संख्या एकत्व संख्या, एकत्वसंख्या विषयक बोधजनक हो इस प्रकार तात्पर्यविषय विभक्ति सुविभक्ति (यहाँ पर प्रमाण पदोत्तर सुविभक्ति प्रामाण्यगत एकत्व का बोधन करने के लिए है पद साधुत्वमात्र के लिए नहीं है) उस सुविभक्ति का प्रकृतित्व प्रमाणपद (विशेषणवाचक पद) में विद्यमान है। इस प्रकार सम्बन्ध के रहने से विशेष्य वाचक पद का अभाव विशेषणवाचक पद में नहीं है। अर्थात् स्वाभाववत्त्वसम्बन्ध से विशेष्यवाचक वेद पद से विशेषणवाचक प्रमाण पद विशिष्ट नहीं हुआ, इसलिए यहाँ पर समानवचनकत्व का नियम प्रवृत्त नहीं होगा।

अब हम '**सुन्दराः दाराः**' यहाँ पर देखते है– स्वपदवाच्य विशेष्यवाचकपद दार पद, दारपदोत्तर विभक्ति जस् विभक्ति उसकी तात्पर्य विषय कोई संख्या नहीं है क्योंकि **दाराः** में बहुवचन बहुत्वसंख्याद्योतन के लिए नहीं है अपितु पदसाधुत्वमात्र के लिए है। अतः आगे यह सम्बन्ध घटित नहीं होता, अप्रसिद्ध ही होता है। परन्तु अन्यस्थलों में तो यह सम्बन्ध प्रसिद्ध है ही। अतः उक्त सम्बन्ध से दार पद का अभाव सुन्दर पद में लिया जा सकता है।[1] इस प्रकार विशेष्यवाचकदारपद से स्वाभाववत्त्व सम्बन्ध से विशिष्ट विशेषण वाचक सुन्दर पद हो गया। अतः समानवचनकत्व का नियम यहाँ पर प्रवृत्त होगा। इस प्रकार '**सुन्दराः दाराः**' ये समानवचनक प्रयोग ही साधु होगा '**सुन्दरो दाराः**' ये

1. यह व्यधिकरण सम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभाव है।

असमानवचनक प्रयोग साधु नहीं होगा।

परन्तु '**मैथिली तस्य दाराः**' यहाँ पर भी '**सुन्दराः दाराः**' की तरह समानवचनकत्व की आपत्ति होगी क्योंकि '**सुन्दराः दाराः**' में भी दार पद विशेष्यवाचक है और '**मैथिली तस्य दाराः**' में भी दारपद ही विशेष्यवाचक है और दोनों ही प्रयोगों में दारपदोत्तर जस् विभक्ति की तात्पर्यविषयीभूत कोई संख्या नहीं है। अतः जैसे— '**सुन्दराः दाराः**' में विशेष्यवाचक दार पद से स्वाभाववत्त्वसम्बन्ध से विशेषणवाचक सुन्दर पद विशिष्ट हो जाता है, उसी प्रकार '**मैथिली तस्य दाराः**' में भी विशेष्यवाचकदारपद से स्वाभाववत्त्वसम्बन्ध से विशेषणवाचक मैथिली पद विशिष्ट हो जायेगा। अतः यहाँ पर भी विशेष्यवाचक पद और विशेषण वाचक पद में समानवचन ही होना चाहिए ऐसी आपत्ति आती है। सिद्धान्ततः तो यह प्रयोग असमानवचनक ही साधु है क्योंकि समस्त मैथिली नारियाँ राम की पत्नी नहीं हैं अपितु एक ही है। इस कारण इस दोष का निवारण करने के लिए कहा जाता है कि— विशेष्यवाचक पद से विशिष्ट विशेषणवाचक पद समानवचनक होता है। विशेष्यवाचक पद का वैशिष्ट्य स्वाभाववत्त्व सम्बन्ध से लिया जायेगा। अभावीय प्रतियोगितावच्छेदक सम्बन्ध है स्वाभाववत् संख्याविषयकबोधजनकत्वेन तात्पर्यविषयविभक्तिप्रकृतित्व। स्व का स्वाव्यवहितोत्तरविभक्तितात्पर्यविषयीभूतसंख्या अविरुद्धत्वसम्बन्ध से संख्या में अभाव लेना है। इस प्रकार जब परिष्कार करते हैं तो '**मैथिली तस्य दाराः**' इस स्थल का पूर्वोक्त दोष वारित हो जाता है और विशेष्यविशेषणवाचक पदों का समानवचनकत्व आवश्यक नहीं रह जाता है। देखें— विशेष्यवाचक पद है दार पद, दारपद का वैशिष्ट्य स्वाभाववत्त्व सम्बन्ध से मैथिली पद में ले जाना है। स्वपद से सिद्धान्ततः दारपद ही पकड़ा जायेगा। दार पद का अभाव स्वाव्यवहितोत्तर विभक्ति तात्पर्य विषयी भूत संख्याऽ विरुद्धत्व सम्बन्धावच्छिन्न-प्रतियोगिताकस्वाभाववत्संख्याविषयकबोधजनकत्वेन तात्पर्यविषयविभक्तिप्रकृतित्व सम्बन्ध से लेंगे। यहाँ पर भी स्वपद से दारपद ही लिया जायेगा। स्व माने दारपद दारपदोत्तर विभक्ति जस् विभक्ति की तात्पर्यविषयीभूत कोई संख्या नहीं है, यदि कोई संख्या होती तो उस संख्या की अविरुद्धा संख्या हो सकती थी, ऐसी कोई संख्या ही नहीं है अतः दारपदोत्तर विभक्तितात्पर्य विषयीभूत संख्या अविरुद्धत्वसम्बन्ध से दार पद का आधार कोई नहीं होगा एकत्व, द्वित्वादि। इस रीति से उक्त अविरुद्धत्व सम्बन्ध से उक्त दार का अभाव एकत्व, द्वित्व, बहुत्व संख्या में आ जायेगा। उक्त सम्बन्ध से दारपदाभाववत् संख्या एकत्वविषयकबोध जनकत्वेन तात्पर्यविषयविभक्ति है मैथिलीपदोत्तर सुविभक्ति, उस सुविभक्ति का प्रकृतित्व मैथिली पद में है। इस प्रकार उक्त सम्बन्ध के मैथिलीपद में चले जाने से दारपद का अभाव मैथिली पद में नहीं जा सका। अर्थात् दारपद स्वाभाववत्त्व सम्बन्ध से मैथिलीपद में नहीं गया। इस तरह दार पद से विशिष्ट मैथिली पद न हुआ। अतः दारपद का समानवचनक मैथिलीपद नहीं होगा और '**मैथिली तस्य दाराः**' ये असमानवचनक प्रयोग साधु होगा। '**सुन्दराः दाराः**' यहाँ पर दारपदोत्तर जस् विभक्ति तात्पर्यविषयीभूतसंख्याऽविरुद्धत्वसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकस्वाभाववत् संख्या एकत्व द्वित्व या बहुत्व संख्या विषयक बोधजनकत्वेन तात्पर्यविषय विभक्ति प्रकृतित्व सुन्दर पद में नहीं है क्योंकि सुन्दरपदोत्तर जस् विभक्ति बहुत्वसंख्या का बोधन करने के लिए नहीं है केवल पदसाधुत्वमात्र के लिए है। '**मैथिली तस्य दाराः**' और '**सुन्दराः दाराः**' में यही अन्तर है । '**मैथिली तस्य दाराः**' में मैथिली

पदोत्तर सुविभक्ति मैथिलीगत एकत्व का बोधन करने के लिए है और '**सुन्दराः दाराः**' में सुन्दर पदोत्तर विभक्ति सुन्दर गत संख्या का बोधन करने के लिए नहीं है। इसी कारण जहाँ '**मैथिली तस्य दाराः**' यह असमानवचनक प्रयोग ही साधु होता है, वहीं '**सुन्दराः दाराः**' ये समान वचनक प्रयोग ही साधु होता है।

यद्यपि '**मैथिली तस्य दाराः**' यहाँ पर मैथिली पद को विशेष्यवाचक और दार पद को विशेषणवाचक भी माना जा सकता है और इस परिस्थिति में समानवचनत्व की आपत्ति होगी। देखें— विशेष्यवाचक पद मैथिलीपद, तदुत्तरविभक्ति सुविभक्ति, सुविभक्ति की तात्पर्यविषयीभूत संख्या एकत्वसंख्या, एकत्व संख्या की अविरुद्धा संख्या एकत्वसंख्या अर्थात् स्वाव्यवहितोत्तरविभक्तितात्पर्यविषयीभूतसंख्या अविरुद्धत्वसम्बन्ध से मैथिलीपदवती संख्या एकत्व संख्या हुई। इसलिए तादृश अविरुद्धत्वसम्बन्ध से मैथिलीपदाभाववत् संख्या द्वित्व और बहुत्वसंख्या, द्वित्व या बहुत्वसंख्या विषयक बोधजनकत्वेन तात्पर्यविषय विभक्ति प्रकृतित्व दारपद में नहीं है क्योंकि दारपदोत्तर जस् विभक्ति बहुत्वसंख्या का बोधन करने के लिए न होकर पद साधुत्वमात्रार्थक है। इस प्रकार ये सम्बन्ध दार पद में नहीं गया। अतः इस सम्बन्ध से मैथिली पद का अभाव दारपद में आ गया और स्वाभाववत्त्वसम्बन्ध से मैथिली पद से विशिष्ट दारपद हो गया। अतः मैथिली पद का समानवचनक दार पद हो ऐसी आपत्ति आती है। तथापि स्वाभाववत्त्वसम्बन्ध से विशेष्यवाचकपदविशिष्ट नियत वचनातिरिक्त विशेषण वाचक पद समानवचनक होता है ऐसा समझना चाहिए। नियतवचन पद का अभिप्राय उन पदों से है जिनका वचन निश्चित है। तदतिरिक्त जो विशेष्यवाचकपद से विशिष्ट विशेषणवाचक पद होंगे वही विशेष्यवाचक पद के समानवचनक होंगे। '**मैथिली तस्य दाराः**' में दारपद नियत वचन है दारपद का वचन बहुवचन निश्चित है। अतः मैथिली पद से विशिष्ट होने पर भी उसमें मैथिली पद का समानवचनकत्व अपेक्षित नहीं है।

परन्तु इस प्रकार परिष्कार करने पर '**त्रयः पुरुषः**' इस प्रयोग के साधुत्व की आपत्ति आयेगी। यहाँ पर पुरुषपदोत्तर सु विभक्ति को एकत्वबोधकत्वेन यदि अविवक्षा हो अथवा पुरुषत्व जातिगत एकत्वबोधकत्वेन यदि विवक्षा कर लें तो इस प्रकार '**त्रयः पुरुषः**' ऐसा प्रयोग भी साधु हो जायेगा। कारण यह है— **पुरुषः** इस प्रकार का प्रयोग यदि सु विभक्ति के द्वारा एकत्व अविवक्षित हो अथवा पुरुषत्व गत एकत्व विवक्षित हो तो भी असाधु होता है। उसका विशेषण है **त्रयः** पद। यहाँ पर त्रिपद नियत वचन है, त्रिपद का नियम से बहुवचन में ही प्रयोग होता है। नियतवचनातिरिक्त ही विशेष्यवाचकपदविशिष्ट विशेषणवाचक पद विशेष्यवाचक पद का समानवचनक होता है। त्रिपद नियतवचन है, अतः पुरुषपद से विशिष्ट होने पर भी वह पुरुषपद का समानवचनक हो ये जरूरी नहीं है। इस प्रकार '**त्रयः पुरुषः**' इस प्रयोग के भी साधुत्व की आपत्ति गले पड़ती है।

इस दोष का निवारण करने के लिए परिष्कार किया जाता है कि— विशेष्यवाचकपद विशिष्ट विशेषणवाचक पद विशेष्यवाचक पद का समानवचनक होता है। विशेष्यवाचक पद का वैशिष्ट्य विशेषणवाचक पद में स्वाभाववत्त्व और स्वाभाववत्त्व इन दो सम्बन्धों से लेना है। दोनों ही सम्बन्ध एक ही हैं तथापि प्रतियोगितावच्छेदक सम्बन्धों के भिन्न-भिन्न होने के कारण ये दोनों अभावात्मक सम्बन्ध भिन्न होते हैं। (जैसे— घटाभाव के एक होने

पर भी संयोग सम्बन्ध से घट का अभाव और समवाय सम्बन्ध से घट का अभाव दोनों भिन्न-भिन्न होते हैं) प्रथम स्वाभाववत्त्व सम्बन्ध का प्रतियोगितावच्छेदक सम्बन्ध है स्वाव्यवहितोत्तर विभक्तितात्पर्यविषयसंख्याऽविरुद्धत्वसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकस्वाऽभाववत्संख्याविषयक बोधजनकत्वेन तात्पर्यविभक्तिप्रकृतित्व। जैसाकि पूर्व में बतलाया गया है। द्वितीय स्वाभाववत्त्वसम्बन्ध जो कि अभी वैशिष्ट्यघटकत्वेन बतलाया गया है। उसका प्रतियोगितावच्छेदक सम्बन्ध है स्वोत्तरविभक्तिवाच्यसंख्यावच्छिन्नानुयोगिताकपर्याप्तिप्रतियोगिधर्मावच्छिन्नबोधकत्व। जिसका वैशिष्ट्य लेना हो स्वपद से उसे ही पकड़ा जाता है। अतः स्पष्ट है कि विशेष्यवाचक पद ही स्वपद से पकड़ा जायेगा। अब नियतवचनातिरिक्त विशेषण न दिया जायेगा। यहाँ पर '**त्रयः पुरुषः**' में प्रथम स्वाभाववत्त्वसम्बन्ध से विशेष्यवाचक पद से विशिष्ट विशेषणवाचक पद है। देखें — प्रथम स्वाभाववत्त्व सम्बन्ध का प्रतियोगितावच्छेदक सम्बन्ध है स्वाव्यवहितोत्तर विभक्तितात्पर्यविषयसंख्याऽविरुद्धत्वसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकस्वाभाववत् संख्याविषयक बोधजनकत्वेन तात्पर्यविषयविभक्तिप्रकृतित्व। स्व माने विशेष्यवाचक पुरुषपद। पुरुषपदोत्तर विभक्ति सु विभक्ति की तात्पर्यविषय संख्या एकत्वसंख्या। एकत्वसंख्या की अविरुद्धसंख्या एकत्वसंख्या ही होगी। इसलिए पुरुषपदवत् तादृश अविरुद्धत्व सम्बन्ध से एकत्व संख्या और तादृश अविरुद्धत्वसम्बन्ध से पुरुषाऽभाववत् संख्या द्वित्व, बहुत्व संख्या तद्विषयक बोधजनकत्वेन तात्पर्यविषयविभक्ति का प्रकृतित्व त्रिपद में नहीं है क्योंकि त्रिपदोत्तर बहुवचन बहुत्व (त्रित्व) संख्या का बोधक नहीं है, त्रित्वसंख्या का बोधक तो त्रिपद ही है। त्रिपद से वाच्य त्रित्व का ही बोधन त्रिपदोत्तर बहुवचन से करने की कोई आवश्यकता नहीं है। इस प्रकार प्रथम स्वाभाववत्त्व सम्बन्ध से पुरुषपद से विशिष्ट त्रिपद होता है। द्वितीय स्वाभाववत्त्व सम्बन्ध से भी पुरुषपद से विशिष्ट त्रिपद होता है। देखें — स्व माने पुरुषपद, पुरुषपदोत्तर सुविभक्ति से वाच्य संख्या एकत्व, एकत्वावच्छिन्नानुयोगिताकपर्याप्ति प्रतियोगि धर्मावच्छिन्नबोधकत्व त्रिपद में नहीं है। क्योंकि त्रित्व तीन में पर्याप्ति सम्बन्ध से रहेगा एक में नहीं । अतः त्रित्व से अवच्छिन्न अनुयोगितानिरूपक जो पर्याप्ति है उस पर्याप्ति का प्रतियोगित्व त्रित्व में आयेगा। एक में एकत्व ही पर्याप्ति सम्बन्ध से रहेगा अतः एकत्वावच्छिन्नानुयोगिताकपर्याप्ति का प्रतियोगित्व एकत्व में ही आयेगा। एकत्वधर्मावच्छिन्नबोधकत्व त्रिपद में नहीं है। इस तरह इस सम्बन्ध से भी विशेष्यवाचकपद पुरुषपद त्रिपद में नहीं गया अर्थात् पुरुषपद का उक्त सम्बन्ध से अभाव त्रिपद में गया, निष्कर्षतः स्वाभाववत्त्व सम्बन्ध से पुरुषपद का वैशिष्ट्य त्रिपद में चला गया। इसलिए यहाँ पर समानवचनक प्रयोग ही साधु होगा, '**त्रयः पुरुषाः**' यही प्रयोग साधु होगा '**त्रयः पुरुषः**' ये प्रयोग साधु नहीं होगा।

इसी परिष्कार से ही '**मैथिली तस्य दाराः**' यहाँ पर मैथिली के विशेष्यवाचक माने जाने पर भी कोई दोष नहीं आता है और समानवचनकत्व की आपत्ति नहीं आती है। नियतवचनातिरिक्तत्व जो विशेषणवाचक पद का विशेषण दिया गया था उसे देने की भी आवश्यकता नहीं है। '**मैथिली तस्य दाराः**' में द्वितीय स्वाभाववत्त्वसम्बन्ध से मैथिली पद का वैशिष्ट्य दारपद में नहीं जाता है। देखें— स्व माने मैथिलीपद, मैथिलीपदोत्तरविभक्ति सुविभक्ति से वाच्य संख्या एकत्वावच्छिन्नानुयोगिताक पर्याप्ति प्रतियोगी धर्म है दारत्व, क्योंकि एक दार में दारत्व पर्याप्तिसम्बन्ध से विद्यमान है। दारत्वावच्छिन्नत्व दारपद में विद्यमान है। इस प्रकार द्वितीय स्वाभाववत्त्व के प्रतियोगितावच्छेदक सम्बन्ध के रहने से

उक्त सम्बन्ध से विशेष्यवाचक मैथिली पद का अभाव विशेषणवाचक दार पद में नहीं गया। अर्थात् द्वितीय स्वाभाववत्त्वसम्बन्ध से मैथिलीपद का वैशिष्ट्य दारपद में नहीं गया। अतः समानवचनकत्वनियम यहाँ पर नहीं प्रवृत्त होगा।

परन्तु इस प्रकार कहने पर '**रुक्मिणीसत्यभामे कृष्णस्य दाराः**' यह साधु प्रयोग नहीं हो सकेगा असाधु होने लगेगा। यहाँ समानवचकत्व नियम लगने लगेगा क्योंकि दोनों स्वाभाववत्त्व सम्बन्ध से विशेष्यवाचक रुक्मिणीसत्यभाम पद का वैशिष्ट्य दारपद में चला जायेगा। देखें—प्रथम स्वाभाववत्त्वसम्बन्ध का प्रतियोगितावच्छेदकसम्बन्ध है स्वाव्यवहितोत्तरविभक्तितात्पर्यविषयीभूतसंख्याऽविरुद्धत्वसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकस्वाभाववत्संख्याविषयकबोधजनकत्वेन तात्पर्यविषयविभक्तिप्रकृतित्व। स्व माने विशेष्यवाचक रुक्मिणीसत्यभाम पद, रुक्मिणीसत्यभामपदोत्तर विभक्ति औ विभक्ति, औविभक्ति से वाच्य संख्या (तात्पर्य विषय संख्या) द्वित्व संख्या, उसका अविरुद्धत्व द्वित्व में अतः इस तरह के अविरुद्धत्व सम्बन्ध से रुक्मिणीसत्यभामपदाऽभाववत् संख्या एकत्व और बहुत्वादि संख्यायें, एकत्व या बहुत्वविषयक बोध जनकत्वेन तात्पर्यविषयीभूतविभक्ति का प्रकृतित्व दार पद में नहीं है क्योंकि दार पदोत्तर जस् विभक्ति पद साधुत्वमात्र के लिए है, संख्या का बोधन करने के लिए नहीं है। इस तरह प्रतियोगितावच्छेदक सम्बन्ध के न रहने से विशेष्यवाचक पद का अभाव विशेषणवाचक पद दार पद में चला गया अर्थात् स्वाभाववत्त्वसम्बन्ध से रुक्मिणी सत्यभाम पद का वैशिष्ट्य दारपद में चला गया। द्वितीय स्वाभाववत्त्व सम्बन्ध का प्रतियोगितावच्छेदक सम्बन्ध है स्वोत्तरविभक्तिवाच्यसंख्यावच्छिन्नानुयोगिताक पर्याप्ति प्रतियोगि धर्मावच्छिन्नबोधकत्व। स्व माने रुक्मिणीसत्यभामपद, तदुत्तर विभक्ति औविभक्ति, औविभक्ति–वाच्यसंख्या द्वित्व संख्या, द्वित्वावच्छिन्नानुयोगिताकपर्याप्ति प्रतियोगी धर्म दारत्व नहीं है क्योंकि दारत्व एकदार (पत्नी) में ही पर्याप्ति सम्बन्ध से रहेगा और उस पर्याप्तिसम्बन्ध की अनुयोगिता का अवच्छेदक एकत्व होगा। अर्थात् एकत्वावच्छिन्नानुयोगिता निरूपक जो पर्याप्ति है उसी का प्रतियोगी धर्म दारत्व होगा। द्वित्वावच्छिन्नानुयोगितानिरूपक पर्याप्ति का प्रतियोगी दारत्व न होगा। इसलिए रुक्मिणीसत्यभामपदोत्तरविभक्ति वाच्य द्वित्वावच्छिन्नानुयोगिताक पर्याप्ति प्रतियोगिधर्मावच्छिन्नबोधकत्व दारपद में नहीं आया। सम्बन्ध के न आने से सम्बन्धी (विशेष्यवाचक रुक्मिणीसत्यभामपद) का अभाव विशेषणवाचक पद में आ जायेगा अर्थात् द्वितीय स्वाभाववत्त्व सम्बन्ध से विशेष्यवाचकपद से विशिष्ट विशेषणवाचक पद हो गया। इसकारण (दोनों स्वाभाववत्त्व सम्बन्धों से विशेष्यवाचक पद का वैशिष्ट्य विशेषणवाचक पद में आ जाने के कारण) विशेष्यवाचक रुक्मिणीसत्यभाम पद और विशेषणवाचक दार पद में समान वचन होना चाहिए। असमानवचनक '**रुक्मिणीसत्यभामे कृष्णस्य दाराः**' यह प्रयोग साधु नहीं माना जाना चाहिए। इसलिए द्वितीय स्वाभाववत्त्व सम्बन्ध के प्रतियोगितावच्छेदकस्वोत्तरविभक्तिवाच्यसंख्यावच्छिन्नानुयोगिताकपर्याप्तिप्रतियोगिधर्मावच्छिन्नबोधकत्व की जगह पर स्वोत्तरविभक्तिवाच्यसंख्याविशिष्टधर्मावच्छिन्नबोधकत्व सम्बन्ध का निवेश करना चाहिए। संख्या से धर्म को स्वावच्छिन्नानुयोगिताकपर्याप्ति प्रतियोगित्व सम्बन्ध से अथवा स्वन्यूनसंख्यावच्छिन्नानुयोगिताकपर्याप्तिप्रतियोगित्व सम्बन्ध से विशिष्ट होना चाहिए। इस प्रकार परिष्कार करने पर हम देखते हैं कि '**रुक्मिणीसत्यभामे कृष्णस्य दाराः**' में रुक्मिणीसत्यभामपद से दारपद विशिष्ट नहीं होता है। यहाँ पर प्रथम

स्वाभाववत्त्व सम्बन्ध से रुक्मिणीसत्यभाम पद का वैशिष्ट्य दारपद में है, जैसा कि पूर्व में बतलाया जा चुका है। द्वितीय स्वाभाववत्त्व सम्बन्ध का प्रतियोगितावच्छेदक सम्बन्ध है स्वोत्तरविभक्तिवाच्य संख्याविशिष्टधर्मावच्छिन्नबोधकत्व। स्व माने रुक्मिणीसत्यभाम पद, तदुत्तर विभक्ति औविभक्ति, औविभक्ति से वाच्य संख्या द्वित्वसंख्या। इस द्वित्व संख्या का वैशिष्ट्य स्वावच्छिन्नानुयोगिताक पर्याप्तिप्रतियोगित्व, स्वन्यूनसंख्यावच्छिन्नानुयोगिताकपर्याप्तिप्रतियोगित्व अन्यतर सम्बन्ध से धर्म में ले जाना है। जैसा कि पूर्व में भी बतलाया जा चुका है कि जिसका वैशिष्ट्य लेना हो उसे ही स्व पद से पकड़ते हैं। इस तरह यहाँ पर स्व माने द्वित्वसंख्या, द्वित्वावच्छिन्नानुयोगिताक पर्याप्ति प्रतियोगित्व दारत्व में नहीं है (यह पूर्व में भी कहा जा चुका है) परन्तु द्वित्वन्यून संख्या एकत्वावच्छिन्नानुयोगिताक पर्याप्तिप्रतियोगित्व दारत्व में है। दारत्वावच्छिन्नत्व दारपद में है। इस प्रकार स्वोत्तरविभक्तिवाच्यसंख्याविशिष्टधर्मावच्छिन्नबोधकत्व सम्बन्ध से रुक्मिणीसत्यभाम पद दारपद में चला गया। अतः रुक्मिणीसत्यभाम पद का अभाव दारपद में नहीं आया मतलब स्वाभाववत्त्वसम्बन्ध से रुक्मिणीसत्यभाम पद का वैशिष्ट्य दारपद में नहीं आया। इस तरह विशेष्यवाचक रुक्मिणीसत्यभामपद से विशिष्ट दार पद के न होने से समानवचनकत्व का नियम यहाँ पर प्रवृत्त नहीं होता।

इस प्रकार '**रुक्मिणीसत्यभामे कृष्णस्य दाराः**' इस प्रयोग की साधुता उपपन्न हो जाती है। परन्तु इसी रीति से '**पुष्पवन्तौ देवः**' इस असाधुप्रयोग की भी साधुता उपपन्न होने लगेगी। देखें — यहाँ पर विशेष्यवाचक है देवपद। देवपद से विशिष्ट पुष्पवन्त पद नहीं होता है। पहले प्रथम स्वाभाववत्त्वसम्बन्ध देखते हैं। प्रथमस्वाभाववत्त्व सम्बन्ध का प्रतियोगितावच्छेदक सम्बन्ध है स्वाव्यवहितोत्तरविभक्तितात्पर्यविषयसंख्याऽविरुद्धत्वसम्बन्ध से स्वाभाववत् संख्याविषयकबोधजनकत्वेन तात्पर्यविषयविभक्तिप्रकृतित्व । स्व माने देवपद देवपद,देवपदोत्तरविभक्ति सु की तात्पर्यविषय संख्या, एकत्व तदविरुद्धत्व सम्बन्ध से देवपदाभाववत् द्वित्व, बहुत्वसंख्या, तद्विषयक बोधजनकत्वेन तात्पर्यविषयविभक्ति की प्रकृति पुष्पवन्त पद नहीं है क्योंकि पुष्पवन्तपदोत्तर औ विभक्ति द्वित्वसंख्या का बोधन करने के लिए नहीं है अपितु पदसाधुत्व के लिए है। अतः उक्त सम्बन्ध से देवपद का अभाव (स्वभावत्त्व) पुष्पवन्तपद में चला गया । प्रथम स्वाभाववत्त्व सम्बन्ध से देवपद से विशिष्ट पुष्पवन्त पद हो गया किन्तु द्वितीय स्वाभाववत्त्वसम्बन्ध से देवपद से विशिष्ट पुष्पवन्त पद नहीं होता है । द्वितीय स्वाभाववत्त्व सम्बन्ध का प्रतियोगितावच्छेदक सम्बन्ध है स्वोत्तरविभक्तिवाच्यसंख्याविशिष्टधर्मावच्छिन्नबोधकत्व। स्व माने देवपद, तदुत्तर विभक्ति सु से वाच्य संख्या एकत्व, स्वावच्छिन्नानुयोगिताकपर्याप्तिप्रतियोगित्व सम्बन्ध से एकत्व से विशिष्ट सूर्यत्व और चन्द्रत्व धर्म हो जाते हैं क्योंकि एकत्वावच्छिन्नानुयोगिताकपर्याप्ति का प्रतियोगि सूर्यत्व होता है (सूर्यत्व और चन्द्रत्व एक-एक में ही पर्याप्ति सम्बन्ध से रहते हैं) सूर्यत्वावच्छिन्नबोधकत्व और चन्द्रत्वावच्छिन्नबोधकत्व पुष्पवन्तपद में विद्यमान है। इस तरह द्वितीय स्वाभाववत्त्वसम्बन्ध के प्रतियोगितावच्छेदक सम्बन्ध ही रहने के कारण द्वितीय स्वाभाववत्त्व सम्बन्ध से देवपद का वैशिष्ट्य पुष्पवन्तपद में नहीं है। अतः समानवचनकत्व का नियम यहाँ पर प्रवृत्त न होगा, '**पुष्पवन्तौ देवः**' प्रयोग की भी साधुता होनी चाहिए। इसलिए (इस आपत्ति का निवारण करने के लिए) द्वितीय स्वाभाववत्त्व सम्बन्ध के प्रतियोगितावच्छेदक सम्बन्ध में पर्याप्ति प्रतियोगिधर्मावच्छिन्नबोधकत्व की जगह पर पर्याप्तिप्रतियोगिधर्मवैशिष्ट्य का निवेश करना

चाहिए। धर्म का वैशिष्ट्य स्वावच्छिन्नबोधकत्वेन तात्पर्यविषयत्व और स्वपर्याप्तावच्छेदकता-निरूपितावच्छेद्यतावती या शक्यता तन्निरूपित शक्ततावत्त्व इन दो सम्बन्धों से लेना है। **'पुष्पवन्तौ देवः'** यहाँ पर पर्याप्ति प्रतियोगिधर्मावच्छिन्नबोधकत्व के पुष्पवन्त पद में होने पर भी इन दोनों सम्बन्धों से पर्याप्तिप्रतियोगिधर्म का वैशिष्ट्य पुष्पवन्त पद में नहीं है। देखें- प्रथम सम्बन्ध स्वावछिन्नबोधकत्वेन तात्पर्यविषयत्व। पर्याप्तिप्रतियोगिधर्म का वैशिष्ट्य लेना है, अतः नियमतः स्व पद से पर्याप्ति प्रतियोगी धर्म ही लिया जायेगा। पर्याप्तिप्रतियोगी धर्म है सूर्यत्व और चन्द्रत्व एक-एक करके पकड़ना है। सूर्यत्वावच्छिन्नबोधकत्वेन तात्पर्यविषयत्व पुष्पवन्त पद में है। दूसरा सम्बन्ध है स्वपर्याप्तावच्छेदकतानिरूपितावच्छेद्यतावती या शक्यता तन्निरूपित शक्ततावत्त्व। स्व (सूर्यत्व) में पर्याप्त अवच्छेदकतानिरूपित अवच्छेद्यतावती शक्यता पुष्पवन्त पद की सूर्यनिष्ठ शक्यता नहीं है क्योंकि पुष्पवन्त पद चन्द्र का भी वाचक होता है। अपितु सूर्यादिपद की सूर्यनिष्ठ शक्यता है। तन्निरूपित शक्तता सूर्यपद में हो सकती है पुष्पवन्त पद में नहीं। अतः उक्त दोनों सम्बन्धों से पर्याप्ति प्रतियोगिधर्म का वैशिष्ट्य पुष्पवन्त पद में नहीं है। द्वितीय स्वाभाववत्त्व सम्बन्ध के प्रतियोगितावच्छेदक धर्म के न रहने से देवपद का स्वाभाववत्त्व सम्बन्ध से वैशिष्ट्य पुष्पवन्त पद में है। अतः समानवचनकत्वनियम यहाँ पर प्रवृत्त होगा। यहाँ पर पुष्पवन्त पद की शक्यता सूर्य और चन्द्र दोनों में पर्याप्तिसम्बन्ध से है। अतः शक्यतावच्छेदक पर्याप्तिसम्बन्ध से सूर्यत्व और चन्द्रत्व दोनों ही होंगे। इसलिए सूर्यत्व चन्द्रत्व उभयपर्याप्त अवच्छेदकता निरूपित अवच्छेद्यतावती शक्यतानिरूपित शक्ततावत्त्व ही पुष्पवन्तपद में आता है। केवल सूर्यत्व या केवल चन्द्रत्व पर्याप्त अवच्छेदकतानिरूपित अवच्छेद्यतावती शक्यतानिरूपित शक्ततावत्त्व पुष्पवन्त पद में नहीं आता है।

यहाँ पर कुछ और स्थलों के विषय में विचार करना उचित प्रतीत होता है। **'राज्ञः पुरुषौ'** यहाँ पर राजपदोत्तर विभक्ति के द्वारा यदि संख्या की विवक्षा न हो तो समान वचनकत्व नियम प्रवृत्त होने की आपत्ति आती है और **'राज्ञोः पुरुषौ'** इस प्रयोग की आपत्ति होती है। कारण ये है कि पूर्वोक्त दोनों स्वाभाववत्त्वसम्बन्धों से पुरुष पद का वैशिष्ट्य राजपद में है। पुरुषपदोत्तरविभक्तिवाच्य द्वित्वसंख्याऽविरुद्धत्वसम्बन्ध से पुरुषपदा भाववत् संख्या विषयक बोधजनकत्वेन तात्पर्य विषयत्व राजपद में नही है। अतः प्रथम स्वा भाववत्त्व सम्बन्ध से पुरुषपद का वैशिष्ट्य राजपद में है। इसी प्रकार द्वितीय स्वाभाववत्त्वसम्बन्ध से भी पुरुषपद का वैशिष्ट्य राजपद में है, अतः समानवचनकत्वनियम प्रवृत्त होना चाहिए। इसलिए दोनों स्वाभाववत्त्व सम्बन्धों के साथ एक तीसरा भी सम्बन्ध भी वैशिष्ट्यघटकत्वेन निविष्ट किया जाता है—स्वप्रयोज्यविशेष्यतानिरूपित अभेदसम्बन्धावच्छिन्नप्रकारता प्रयोजकत्व। स्वपद से यहाँ भी विशेष्यवाचक पद ही पकड़ा जायेगा। यहाँ पर पुरुषपद से प्रयोज्य पुरुषनिष्ठ विशेष्यता से निरूपितराजनिष्ठप्रकारता अभेदसम्बन्धावच्छिन्न नहीं है, अपितु स्वस्वामिभावसम्बन्धावच्छिन्न है। क्योंकि पुरुष में राजा स्वस्वामिभावसम्बन्ध से विशेषण है।

**'स्तोकं पचौ'** इत्यादिस्थलों में क्विप् का अनुसन्धान किया जाता है। इस कारण प्रतियोगितावच्छेदक सम्बन्ध नहीं रहेगा और पच् का वैशिष्ट्य स्तोक पद में आ जाने के कारण समानवचनत्व की आपत्ति आयेगी। यहाँ पर क्विप् का अनुसन्धान किया जाता है

इसलिए पच् के अव्यवहितोत्तरविभक्ति न मिलेगी बीच में क्विप् आ जायेगा। अतः दोनों स्वाभाववत्त्व सम्बन्धों से पच् का वैशिष्ट्य स्तोक पद में आ जायेगा। पच् पद प्रयोज्य पाकनिष्ठ विशेष्यता निरूपित स्तोक निष्ठ प्रकारता अभेद सम्बन्ध से अवच्छिन्न है क्योंकि स्तोक अभेद सम्बन्ध से ही पाक में विशेषण है। इस तरह उपर्युक्त तीनों सम्बन्धों से पच् का वैशिष्ट्य स्तोक में आने से समानवचनत्व की आपत्ति आयेगी। इसलिए स्वाव्यवहितोत्तर विभक्तिवृत्तिधर्मवद्विभक्तिकत्व रूप चतुर्थसम्बन्ध का निवेश करते हैं। '**स्तोकं पचौ**' में पच् के अव्यवहितोत्तर क्विप् है विभक्ति नहीं। अतः इस सम्बन्ध से पच् का वैशिष्ट्य राजपद में नहीं ले सकते हैं। फलतः समानवचनत्व की आपत्ति वारित हो जाती है।

'**नीलौ घटः**' इस असाधु प्रयोग के साधुत्व की आपत्ति आती है। प्रथम स्वाभाववत्त्व सम्बन्ध से यद्यपि घट का वैशिष्ट्य नील पद में है क्योंकि घटपदोत्तर विभक्तितात्पर्यविषय-संख्याऽविरुद्धत्वसम्बन्ध से घटाभाववत् संख्या (द्वित्वादि) विषयक बोध जनकत्वेन तात्पर्यविषय विभक्तिप्रकृतित्व नीलपद में नहीं है, नीलपदोत्तर विभक्ति पदसाधुत्वार्थक होने के कारण। परन्तु द्वितीयस्वाभाववत्त्वसम्बन्ध से घट का वैशिष्ट्य नीलपद में नहीं है क्योंकि घटपदोत्तर सुविभक्ति से वाच्य एकत्व संख्या से विशिष्ट नीलत्वावच्छिन्नत्व ही नीलपद में है। इसलिए द्वितीय स्वाभाववत्त्वसम्बन्ध का प्रतियोगितावच्छेदक दूसरा सम्बन्ध भी निविष्ट करते हैं स्वोत्तरविभक्तिसमानानुपूर्वीकविभक्तिप्रकृतित्वप्रकारकसम्भावनाप्रयोज्यसाधुत्वप्रकारकसम्भावना-विषयत्वाभाववत्त्व। अभिप्राय यह है कि द्वितीय स्वाभाववत्त्व स्वोत्तरविभक्तिवाच्यसंख्याविशिष्ट धर्मवैशिष्ट्य, स्वोत्तरविभक्तिसमानानुपूर्वीकविभक्तिप्रकृतित्वप्रकारकसम्भावनाप्रयोज्य साधुत्व-प्रकारकसम्भावनाविषयत्वाभाववत्त्व उभयसम्बन्ध से लेना है। यहाँ पर प्रथम सम्बन्ध यद्यपि है, किन्तु द्वितीय सम्बन्ध नहीं है। देखें— घटपदोत्तर सुविभक्ति की समानानुपूर्वीक विभक्ति सु विभक्ति की प्रकृति यदि नील पद हो तो प्रयोग साधु होगा ऐसी सम्भावना का विषयत्व ही नीलपद में है। सम्भावनाविषयत्वाभाववत्त्व नहीं है। इस प्रकार एक सम्बन्ध के रहने पर भी दोनों सम्बन्धों के न रहने से दोनों सम्बन्धों से घटपद का अभाव नीलपद में चला जायेगा। अतः द्वितीय स्वाभाववत्त्व सम्बन्ध से भी घटपद का वैशिष्ट्य नीलपद में है और अन्य सम्बन्धों से भी है । फलतः समानवचनकत्व नियम यहाँ पर प्रवृत्त होगा। '**नीलौ घटः**' की साधुता न होकर '**नीलो घटः**' की ही साधुता होगी।

इन सारे परिष्कारों के करने के बाद समानवचनकत्व का नियम इस प्रकार होता है— विशेष्यवाचक पद से विशिष्ट विशेषणपद, विशेष्यवाचक पद का समानवचनक होता है। विशेष्यवाचक पद का विशेषणवाचकपद में चार सम्बन्धों से वैशिष्ट्य लेना है। पहला है स्वाव्यवहितोत्तरविभक्तितात्पर्यविषयसंख्याऽविरुद्धत्वसम्बन्ध से स्वाभाववत् संख्याविषयक बोधजनकत्वेन तात्पर्यविषयत्वसम्बन्ध से स्वाभाववत्त्व। दूसरा सम्बन्ध है स्वोत्तरविभक्तिवाच्यसंख्या विशिष्टधर्मविशिष्टत्व, स्वोत्तरविभक्तिसमानानुपूर्वीकविभक्तिप्रकृतित्वप्रकारकसम्भावना प्रयोज्य-साधुत्वप्रकारकसम्भावनाविषयत्वाभाववत्त्व उभय सम्बन्ध से स्वाभाववत्व। यहाँ पर प्रथम प्रतियोगितावच्छेदक सम्बन्ध में संख्या का धर्म में वैशिष्ट्य स्वावच्छिन्नानुयोगिताकपर्याप्ति प्रतियोगित्व, स्वन्यूनसंख्यावच्छिन्नानुयोगिताकपर्याप्तिप्रतियोगित्व अन्यतर सम्बन्ध से (दोनों में से किसी एक सम्बन्ध से) लेना है। धर्म का वैशिष्ट्य स्वावच्छिन्नबोधकत्वेन तात्पर्यविषयत्व, स्वपर्याप्त अवच्छेदकतानिरूपित अवच्छेद्यतावती या शक्यता तन्निरूपित शक्तताववत्त्व इन

दोनों सम्बन्धों से लेना है। तीसरा सम्बन्ध है स्वप्रयोज्यविशेष्यतानिरूपित अभेदसम्बन्धावच्छिन्न-प्रकारताप्रयोजकत्व। चौथा सम्बन्ध है स्वोत्तरविभक्तिसमानानुपूर्वीक विभक्तिप्रकृतित्व। इन चार सम्बन्धों से विशेष्यवाचक पद से विशिष्ट विशेषणवाचक पद समानवचनक होगा।

इन सारे परिष्कारों के करने के बावजूद **'शतं ब्राह्मणाः'** में समानवचनत्व की आपत्ति आती है क्योंकि उक्त चारों ही सम्बन्धों से ब्राह्मण पद से शतपद विशिष्ट हो जाता है। यद्यपि यहाँ पर यह कहा जा सकता है कि **'शतं ब्राह्मणाः'** में शतपदोत्तर विभक्ति से एकत्व विवक्षित है इसलिए प्रथम स्वाभाववत्त्व सम्बन्ध से ब्राह्मण पद का वैशिष्ट्य शत पद में नहीं जायेगा क्योंकि ब्राह्मणपदोत्तर विभक्तिवाच्य संख्या— बहुत्वसंख्याऽभाववत् एकत्वसंख्या विषयक बोधजनकत्वेन तात्पर्य विषयत्व रूप प्रतियोगितावच्छेदक सम्बन्ध ही विद्यमान है तथापि एकत्व की यदि अविवक्षा हो तो **'शतानि ब्राह्मणाः'** एसा प्रयोग दुर्वार ही होगा क्योंकि उक्त चतुष्टय सम्बन्ध से ब्राह्मणपद का वैशिष्ट्य शत पद में विद्यमान होने से समान वचनक प्रयोग ही साधु होना चाहिए। इस परिस्थिति में **'विंशत्याद्याः सदैकत्वे'** इस अनुशासन के द्वारा विंशत्यादि संख्या बोधक शब्दों के एकवचनान्त होने पर ही साधुत्व का बोधन किस प्रकार उचित होगा? यहाँ पर समाधान यही है कि विंशति आदि पदों के बाद में जो विभक्ति आती है उसके द्वारा प्रकृत्यर्थतावच्छेदक निष्ठ संख्या का बोधन किया जाता है। विंशति आदि शब्दों के प्रकृत्यर्थतावच्छेदक विंशतित्व आदि एक ही हैं। अतः एकवचनान्त ही विंशति आदि शब्दों की साधुता होती है। इसमें ही उक्त अनुशासन का तात्पर्य है, इसी कारण जब विंशतित्व आदि में द्वित्व रहता है तो **'द्वे विंशती'** (दो बीस = चालीस) इत्यादि प्रयोग साधु माने जाते हैं। अन्यथा उन प्रयोगों में असाधुता की आपत्ति आती। इस कारण यदि एकत्व विवक्षित है तो **'शतं ब्राह्मणाः'** ऐसा प्रयोग साधु होगा और यदि एकत्व अविवक्षित है तो बहुत्व विवक्षित है **'शतानि ब्राह्मणाः'** ऐसा प्रयोग साधु होगा।

**न च "पदार्थः पदार्थेन अन्वेति" इति व्युत्पत्तिविरोधः, 'सम्पन्नो व्रीहिः' इत्यनेकव्रीहितात्पर्यकेऽप्येकवचनदर्शनेन तादृशव्युत्पत्तिसङ्कोचस्यावश्यकत्वात् ।**

**यदि स्वाश्रयप्रकृत्यर्थतावच्छेदकवत्त्वसम्बन्धेन प्रकृत्यर्थ एवैकत्वान्वयः व्रीहित्वजातेः स्वरूपत एव व्रीह्यादिपदशक्यतावच्छेदकतयाऽन्वयितावच्छेदकरूपेणाऽनुपस्थितेस्तत्र पदार्थान्तरस्यान्वयानुपपत्तेरिति मन्यते? तदा प्रकृतेऽपीदृश्येव गतिः।**

पूर्वग्रन्थ में गदाधर भट्टाचार्य ने बतलाया **'वेदाः प्रमाणम्'** यहाँ पर प्रमाण पदोत्तर सुविभक्ति का अर्थ एकत्व प्रमाकरणत्व रूप (प्रामाण्य रूप) पदार्थतावच्छेदक में अन्वित होता है। उस पर आक्षेप उठाते हुए प्रश्न करते हैं कि— यदि **'वेदाः प्रमाणम्'** इस स्थल में प्रमाणपदोत्तर सुविभक्ति के अर्थ एकत्व का अन्वय प्रमाकरणत्व में करते हैं तो **'पदार्थ पदार्थेन अन्वेति न तु पदार्थैकदेशेन"** पदार्थ पदार्थ से ही अन्वित होता है पदार्थ के एकदेश से नहीं इस व्युत्पत्ति का विरोध होगा। इस स्थल में प्रमाण पद से शक्ति के द्वारा

1. शक्तिवाद में गदाधरभट्टाचार्य इस व्युत्पत्ति में पदार्थ पद का क्या अर्थ है? और पदार्थैकदेश से क्या अभिप्रेत है? इसे बताते हैं कि— 'एवञ्च पदार्थः पदार्थेनान्वेति न तु पदार्थैकदेशेनेत्यत्र पदार्थत्वं बोधविषयताश्रयत्वेन सङ्केतविषयत्वम् , तदेकदेशत्वञ्च बोधविषयतावच्छेदकत्वेन तथात्वरूपं, तदेव च शक्यतावच्छेदकत्वमित्यवधेयम्' पृ. 49 सविवृतिक शक्तिवाद

जो उपस्थित होता है उसमें प्रमाण बोधीयविषयता का आश्रय बनकर सङ्केत विषय होता है और प्रमाकरणत्व बोधीयविषयता का अवच्छेदक बनकर सङ्केतविषय होता है। इस प्रकार प्रमाण पदार्थ है और प्रमाकरणत्व पदार्थैकदेश। विभक्त्यर्थ एकत्व रूप पदार्थ प्रमाण पदार्थ में ही अन्वित हो सकता है, प्रमाकरणत्वरूप पदार्थैक देश में नहीं अन्वित हो सकता है। यदि एकत्व का अन्वय प्रमाकरणत्व में करोगे जैसाकि कर रहे हो तो उपर्युक्त व्युत्पत्ति का विरोध होगा। इसका समाधान देते हैं कि नहीं व्युत्पत्ति का विरोध नहीं होगा क्योंकि **'सम्पन्नो व्रीहिः'** ऐसा प्रयोग देखा जाता है। यहाँ पर व्रीहिपदोत्तर जो एकवचन है उसके द्वारा व्रीहिगत एकत्व विवक्षित नहीं हो सकता क्योंकि एकव्रीहि के सम्पन्नत्व में उक्त वाक्य का तात्पर्य नहीं है अपितु अनेक व्रीहि के सम्पन्नत्व में उक्त वाक्य का तात्पर्य है। अनेक व्रीहियों में एकत्व का अन्वय सम्भव न होने से व्रीहित्वजाति में एकत्व का अन्वय किया जाता है जोकि पदार्थैकदेश (शक्यतावच्छेदक) है। इस कारण उक्त व्युत्पत्ति में सङ्कोच किया जाता है कि यदि बाधक न हो तो पदार्थ पदार्थ से ही अन्वित होता है पदार्थैक देश से नहीं, बाधक होने पर तो पदार्थैकदेश से भी अन्वित होता है। यहाँ पर बाधक है, अतः एकत्व का अन्वय व्रीहित्वरूप पदार्थैकदेश (शक्यतावच्छेदक) से हो सकता है। इसी प्रकार **'वेदाः प्रमाणम्'** में भी एकत्व का अन्वय प्रमितिकरणत्व रूप पदार्थैक देश (शक्यतावच्छेदक) में सम्भव होने से कोई दोष नहीं है।

परन्तु यहाँ पर आक्षेप यह है कि **'सम्पन्नो व्रीहिः'** में भी एकत्व का अन्वय किस प्रकार पदार्थैकदेश व्रीहित्व में होगा? क्योंकि व्रीहित्व जाति स्वरूपतः व्रीहिपद की शक्यतावच्छेदक होगी, इस कारण अन्वयितावच्छेदक रूप से उसकी उपस्थिति नहीं हो रही है। पदार्थ का अन्वय होने के लिए जिसमें पदार्थ का अन्वय होना है उसकी अन्वयितावच्छेदकरूप से उपस्थिति होनी ही चाहिए। नियम है कि पदार्थान्तरनिष्ठप्रकारतानिरूपित विशेष्यतासम्बन्ध से शाब्दबोध के प्रति अन्वयितावच्छेदक रूप से उपस्थिति कारण होती है। जैसे **'नीलो घटः'** इत्यादि स्थलों में पदार्थान्तर नीलनिष्ठप्रकारता निरूपितविशेष्यता घट में आती है (इस स्थल के शाब्दबोध में घट विशेष्य होता है और नील विशेषण (प्रकार) होता है) घट की अन्वयितावच्छेदक रूप से (घटत्वेन) उपस्थिति होती है मतलब घट भासता है तो घटत्व को लेकर ही स्वरूपतः नहीं भासता है। इसलिए पदार्थन्तर नील का घट में अन्वय होता है। **'सम्पन्नो व्रीहिः'** यहाँ पर व्रीहित्व स्वरूपतः उपस्थित होता है, व्रीहित्वत्वेन नहीं। पदार्थान्तर के अन्वय के लिए अन्वयितावच्छेदक रूप से उपस्थिति के कारण होने से और व्रीहित्व की उपस्थिति अन्वयितावच्छेदक व्रीहित्वत्व रूप से न होने से व्रीहित्व में एकत्व रूप पदार्थान्तर का अन्वय सम्भव नहीं है। इस कारण यदि स्वाश्रयप्रकृत्यर्थतावच्छेदकवत्त्व सम्बन्ध से प्रकृत्यर्थ में ही एकत्व का अन्वय होता है, (इस प्रकार प्रकृत्यर्थ व्रीहि में एकत्व का अन्वय सम्भव है। देखें— स्व माने एकत्व, एकत्व का आश्रय प्रकृत्यर्थतावच्छेदक व्रीहित्व व्रीहि में है) ऐसा मानते हैं तो प्रकृत स्थल **'वेदाः प्रमाणम्'** में भी ऐसी ही गति है, इसी सम्बन्ध से एकत्व का प्रकृत्यर्थ प्रमाण में अन्वय हो जायेगा। एकत्व का आश्रयीभूत प्रमितिकरणत्ववत्ता प्रमाण भूत वेदों में है ही।

---

अभिप्राय है कि बोधविषयता का आश्रय इस रूप में सङ्केतविषय को पदार्थ और बोधविषयता का अवच्छेदक इस रूप में सङ्केतविषय को पदार्थैकदेशपद से इस व्युत्पत्ति में लिया गया है। उसी को शक्यतावच्छेदक भी कहते हैं। शक्य का शक्य में अन्वय होता है शक्यतावच्छेदक में नहीं यह सार है।

**यत्तु 'सम्पन्नो व्रीहिः' इत्यादावेकवचनोपस्थितानि नानैकत्वानि प्रत्येकं नानाव्रीहिष्वन्वीयन्ते इत्युक्त्यैव सामञ्जस्ये जातावेकत्वभानोपगमो निरर्थक इति, तदसत्, यतः– स्वसजातीयनिष्ठभेदप्रतियोगितानवच्छेदकैकत्वरूप सजातीयद्वितीयरहितत्वमेकवचनार्थो न त्वेकत्वमात्रं तस्य वस्तुमात्रसाधारण्ये नार्थत एवलाभात्, अनुपयोगाच्च। अतएव 'पशुनायजेत'' इत्यादौ पशुनिष्ठ-तादृतशैकत्वस्य विवक्षितत्वादनेकपशुकरणकयागान्नादृष्टसिद्धिः।**

गदाधर भट्टाचार्य ने '**सम्पन्नो व्रीहिः**' इस स्थल में व्रीहिपदोत्तर सु विभक्ति के अर्थ एकत्व का साक्षात् व्रीहित्व में और परम्परा सम्बन्ध से व्रीहि में अन्वय करके उक्त प्रयोग की साधुता समर्थित की है। कुछ अन्य विद्वान जो कि जाति में एकत्वभानोपगम को निरर्थक मानकर अन्य रीति से '**सम्पन्नो व्रीहिः**' की साधुता का समर्थन करते हैं। गदाधर भट्टाचार्य उक्तमत का खण्डन करने के लिए पहले उनके मत की स्थापना करते हैं– कुछ लोगों का कथन है कि '**सम्पन्नो व्रीहिः**' इत्यादि स्थलों में एकवचन से नाना एकत्व उपस्थित होते हैं और वे नाना एकत्व एक-एक करके नाना व्रीहियों में अन्वित होते हैं ऐसा कहने मात्र से सामञ्जस्य उपपन्न हो सकता है। अतः जाति में एकत्व के भान का स्वीकरण निरर्थक है। वह गलत है। क्योंकि एकवचन का अर्थ है स्वसजातीयद्वितीयराहित्य— अपने सजातीय दूसरे का अभाव । यह स्वसजातीय द्वितीय राहित्य स्वसजातीयनिष्ठ भेद प्रतियोगितानवच्छेदक एकत्वरूप है, सिर्फ एकत्व रूप नहीं। अर्थात् स्वसजातीय में रहने वाले भेद का प्रतियोगितानवच्छेदक जो एकत्व है, वही एकवचन का अर्थ है। केवल एकत्व एकवचन का अर्थ नहीं है। क्योंकि वह एकत्वमात्र तो वस्तुमात्रसाधारण है—अपने आप में तो हर वस्तु में एकत्व विद्यमान है। अतः उसका तो अर्थतः ही लाभ हो जाता है। अर्थात् हर वस्तु में ही एकत्व के विद्यमान रहने के कारण उसकी प्रतीति तो अर्थतः ही सम्भव है, उसका बोधन करने के लिए एकवचन का प्रयोग उचित नहीं होगा । दूसरे सिर्फ एकत्व का बोधन एकवचन के द्वारा करना अनुपयोगी है क्योंकि वह तो अर्थतः ही सम्भव है। इसीलिए '**पशुना यजेत**' इत्यादि स्थलों में स्वसजातीयनिष्ठभेद प्रतियोगितानवच्छेदक एकत्व रूप सजातीयद्वितीय रहितत्व के ही एकवचनार्थ होने के कारण अनेक पशुओं के द्वारा जो याग किया जाता है, उससे अदृष्ट[1] की सिद्धि नहीं होती है। क्योंकि अनेक पशुकरणक जो याग होता है, वहाँ पर पशु में स्वसजातीय निष्ठ भेदप्रतियोगितानवच्छेदक एकत्व रूप एकवचनार्थ अन्वित नहीं हो सकता । वहाँ पर अनेक पशुओं के होने से एक पशु का भेद दूसरे पशु में रहेगा (दोनों ही सजातीय हैं ) इस प्रकार यागस्थल में उपस्थित समस्त पशुओं में चालनीन्याय[2] से एक दूसरे का भेद आयेगा और उस भेद के प्रतियोगितावच्छेदक उन समस्त पशुओं में रहने वाले एकत्व हो जाते हैं। किसी भी पशु में रहने वाला एकत्व भेद प्रतियोगितानवच्छेदक नहीं होता है। '**पशुना यजेत**' के द्वारा एक पशु करणक याग का विधान किया गया है। यदि एकत्वमात्र एकवचन का अर्थ हो तो पश्वन्तर की व्यावृत्ति न होने से अनेक पशुओं के द्वारा जो याग किया जाता है, उससे भी अदृष्ट की सिद्धि होनी

1. अदृष्ट का अर्थ धर्म और अधर्म है। यहाँ पर अदृष्ट पद से धर्म अभीष्ट है।
2. चालनी से जब हम कुछ छानते हैं तो इधर के छेदों से जो वस्तु निकलती है वह दूसरी तरफ और दूसरी तरफ से जो वस्तु निकलती है वह परली तरफ गिरती है। इसी को चालनी न्याय कहते हैं।

चाहिए । क्योंकि इस परिस्थिति में भी प्रत्येक पशु में एकत्व है ही, '**सम्पन्नो व्रीहिः**' की तरह हम कह सकते हैं कि **पशुना** में जो तृतीया का एकवचन है उससे नाना एकत्व उपस्थित होते हैं और प्रत्येक नाना पशुओं में अन्वित होते हैं । इस प्रकार '**पशुना यजेत**' के द्वारा एक पशुकरणक याग का विधान किया गया है। तदनुसारी याग करने से ही अदृष्ट की सिद्धि होगी, पुण्यलाभ होगा । अनेक पशु करणक याग भी उक्तरीति से उक्तविधिवाक्य से विहित ही हो जायेगा । विहित का अनुष्ठान करने से पुण्य लाभ होता है। अतः यदि एकत्वमात्र ही एकवचन का अर्थ हो तो अनेक पशुकरणक याग से भी पुण्यलाभ होता है ऐसा स्वीकारने की पाली आ जायेगी । ऐसा कोई भी स्वीकार नहीं कर सकता, इसलिए 'स्वसजातीयनिष्ठभेदप्रतियोगितानवच्छेदक एकत्व रूप जो सजातीय द्वितीय राहित्य है वही एकवचनार्थ है' यही स्वीकार करना चाहिए। जहाँ पर एक ही घट होता है, वहाँ ही '**अयं घटोऽस्ति**' ऐसा प्रयोग होता है। इस प्रयोग में देखें — जहाँ पर सिर्फ एक घट है, वहाँ पर घट को स्व पद से पकड़ें । घट का सजातीय दूसरा नहीं है क्योंकि वहाँ पर एक ही घट है। घट का सजातीय खुद ही घट है, उस घट में रहने वाला जो भेद वह पट, मठ इत्यादि किसी का भी भेद हो उस घट का भेद नहीं हो सकता । क्योंकि स्व में स्व का भेद नहीं हो सकता, जो घट है वह घट से भिन्न नहीं हो सकता है। इस प्रकार भेद प्रतियोगितावच्छेदक पट, मठ गत एकत्व हो सकते हैं, घटगत एकत्व घट सजातीयनिष्ठ भेद प्रतियोगितावच्छेदक नहीं हो सकता है। वह प्रतियोगितानवच्छेदक होगा । वही एकवचन का अर्थ है।

**साजात्यञ्च स्वसमभिव्याहृतपदार्थसंसर्गित्वविशिष्टप्रकृत्यर्थतावच्छेदकवत्त्वरूपेण । अतः 'अत्र घटोऽस्ति' इत्यादौ घटनिष्ठभेदप्रतियोगितानवच्छेदकैकत्वाप्रसिद्धावपि न क्षतिः–एतद्देशविद्यमानघटनिष्ठभेदप्रतियोगितानवच्छेदकैकत्वस्यैव तत्र बोधादिति तस्य च प्रसिद्धत्वात् । एतेद्देशे बहुघटसत्त्वदशायां तादृशवाक्यप्रयोगस्तु जात्येकत्वादेव समर्थनीयः।**

पूर्वग्रन्थ में बतलाया गया कि स्वसजातीयनिष्ठ भेदप्रतियोगितानवच्छेदक एकत्व रूप स्वसजातीयद्वितीयराहित्य ही एकवचन का अर्थ है। किन्तु इस प्रकार का एकत्व तो अप्रसिद्ध हो जायेगा क्योंकि सजातीय का अर्थ होता है समानजातीय । जिस स्थल में एक ही घट है वहाँ पर भी '**अत्र घटोऽस्ति**' ऐसा प्रयोग सम्भव नहीं हो सकेगा । देखें—स्व माने एतद्देशनिष्ठ घट, इस एतद्देशनिष्ठ घट का सजातीय होगा हर घट (चाहे वह किसी भी देश में हो क्योंकि वह घटत्वरूप समानजातिवाला होगा) अन्यदेशस्थ घट में 'एतद्देशस्थ घटनिष्ठ एकत्ववान् न' ऐसा भेद आ जायेगा और इस भेद का प्रतियोगितावच्छेदक ही एतद्देशस्थघटनिष्ठ एकत्व होगा। इस प्रकार प्रतियोगितानवच्छेदक एकत्व की अप्रसिद्धि होने लगेगी इसलिए ग्रन्थकार गदाधर भट्टाचार्य अग्रिम ग्रन्थ के द्वारा बतलाते हैं कि—यहाँ पर साजात्य स्वसमभिव्याहृतपदार्थसंसर्गित्वविशिष्टप्रकृत्यर्थतावच्छेदकवत्त्व रूप से लेना है। (स्वपदसे उस एकवचन सु आदि को लेना है, जिसका अर्थ एकत्व होता है) इसलिए '**अत्र घटोऽस्ति**' इत्यादि स्थलों में घटनिष्ठभेद प्रतियोगितानवच्छेदक एकत्व के (पूर्वोक्त रीति से) अप्रसिद्ध होने पर भी कोई क्षति नहीं है। क्योंकि एतद्देशस्थघटनिष्ठभेदप्रतियोगितानवच्छेदक एकत्व ही वहाँ पर बोधित होता है और वह तो प्रसिद्ध ही है। '**अत्र घटोऽस्ति**'

इत्यादि स्थलों में घट में सु का अर्थ एकत्व प्रतीत होता है। वह घट में अन्वित होने वाला स्वर्थ (सु का अर्थ) एकत्व क्या है? घटवृत्ति जो धर्म हैं, सु का प्रकृत्यर्थवाच्छेदक घटत्व (सु की प्रकृति घट पद, घट पद का अर्थ घट रूप कम्बुग्रीवादिमान् पदार्थ प्रकृत्यर्थ, प्रकृत्यर्थता का अवच्छेदक घटत्व हुआ) और सु से समभिव्याहृत पदार्थ एतद्देशविद्यमानत्व आदि तथा स्वरूप आदि संसर्ग तद्वत्त्व ही एकत्व पदार्थ है। जिस स्थल में दूसरा घट नहीं है वहाँ पर **'अत्र घटोऽस्ति'** ऐसा प्रयोग करने पर देखें—सु से समभिव्याहृतपदार्थ है एतद्देशविद्यमानत्व, एतद्देशविद्यमानत्वपदार्थ संसर्गित्व से विशिष्ट प्रकृत्यर्थतावच्छेदक घटत्व एतद्देशविद्यमान घट में ही रहेगा, अन्यदेशस्थ घट में नहीं रहेगा । क्योंकि जिस घट में एतद्देशविद्यमानत्व भी रहे और घटत्व भी रहे उसी में एतद्देशविद्यमानत्वविशिष्ट प्रकृत्यर्थतावच्छेदकघटत्ववत्त्व रहेगा । एतद्देशस्थ घट तो एक ही है इसलिए स्वसमभिव्याहृत-पदार्थतावच्छेदकवत्त्व रूप से एतद्देशस्थ घट का सजातीय खुद वही होगा। उसमें रहने वाला जो भेद वह 'तद्घट (एतद्देशस्थघट) निष्ठ एकत्ववान् न ' ऐसा भेद नहीं हो सकता क्योंकि एतद्देशस्थ घट एतद्देशस्थ निष्ठ एकत्ववान् ही होगा, अपितु 'देशान्तरस्थघटनिष्ठ एकत्ववान् न ' ऐसा भेद ही एतद्देशस्थ घट में मिलेगा जिसका प्रतियोगी हुआ देशान्तरस्थघट निष्ठ एकत्ववान्, प्रतियोगितावच्छेदक हुआ देशान्तरस्थ घटनिष्ठ एकत्व और प्रतियोगिता-नवच्छेदक हुआ एतद्देशस्थनिष्ठ एकत्व । वही घटपदोत्तर एकवचन से प्रतिपाद्य है। यदि उस स्थल में द्वितीय घट भी है तो वहाँ पर उस द्वितीय घट में रहनेवाला भेद हो जायेगा एतद्घटनिष्ठ एकत्ववान् न ऐसा भेद जिसका प्रतियोगितावच्छेदक ही एतद्देशस्थ घटनिष्ठ एकत्व होगा। द्वितीय घट के रहने की दशा में प्रथम घट का सजातीय द्वितीय घट भी होगा क्योंकि उसमें भी एतद्देशविद्यमानत्व और घटत्व दोनों विद्यमान हैं । इस तरह एतद्देशविद्यमानत्व पदार्थसंसर्गित्व से विशिष्ट प्रकृत्यर्थतावच्छेदक घटत्व एतद्देशस्थ दोनों घट ही सजातीय होंगे और पूर्वोक्त रीति से तन्निष्ठ भेद प्रतियोगितावच्छेदक ही एतद्देशस्थ घटनिष्ठ एकत्व हो जायेगा । इसलिए एकवचनार्थ एकत्व यहाँ अन्वित नहीं हो सकेगा । किन्तु कभी-कभी एक ही स्थल में (एतद्देशादि में) बहुत घट रहने की दशा में भी **'अत्र घटोऽस्ति'** ऐसा प्रयोग किया जाता है। वह कैसे होता है? इसे बतलाते हुए गदाधर कहते हैं कि—एतद्देश में बहुत घट होने की दशा में उस प्रकार का वाक्य प्रयोग (**'अत्र घटोऽस्ति'** ऐसा एकवचनप्रयोग) तो जाति के एक होने से ही समर्थित करना चाहिए । अर्थात् जैसे **'सम्पन्नो व्रीहिः'** यहाँ पर एकत्व का व्रीहित्व जाति में अन्वय करके एकवचनान्त प्रयोग की साधुता बतलायी गयी है, उसी प्रकार एतद्देश में बहुत घट होने की दशा में **'अत्र घटोऽस्ति'** से एकवचनान्त प्रयोग की साधुता भी एकत्व का अन्वय घटत्व जाति में करके उपपादित करनी चाहिए ।

**यत्तु एकत्वाविवक्षायामपि भावाख्यातस्थले एकवचनस्य साधुत्वदर्शनात् संख्याया अविवक्षणेऽपि सम्पन्नो व्रीहिरित्यादावेकवचनोपपत्तेरलं जात्येकत्व परतया तत्र समर्थनेनेति, तदप्यकिञ्चित्करम् –भावाख्यातस्थले गत्यन्तरविरहेण विभक्तेर्निरर्थकत्वोपगमात् , अत्र च सार्थकत्वोपगमसम्भवे तत्परित्याग-स्यानुचितत्वात् , सति तात्पर्ये तद्बोधस्यानुभविकत्वाच्चेति ।**

गदाधर भट्टाचार्य यहाँ पर सिद्धान्तैकदेशी मत को उपस्थित करते हुए उसका खण्डन करते हैं कि — जो यह कहना है कि एकत्व की अविवक्षा होने पर भी भावाख्यातस्थल में एकवचन साधु देखा जाता है। अभिप्राय यह है कि भाववाच्य में आख्यात (तिङ् ) के द्वारा कोई भी संख्या वाच्य नहीं होती है क्योंकि जिस वाच्य में तिङ् आता है उसी की संख्या तिङ् के द्वारा वाच्य होती है, जैसे कर्तृवाच्य में कर्ता की संख्या और कर्मवाच्य में कर्म की संख्या तिङ् के द्वारा वाच्य होती है। भाववाच्य में भाव की संख्या विवक्षित न होने के कारण भाववाच्य में तिङ् के द्वारा कोई भी संख्या वाच्य नहीं होती है, अतः '**एकवचनमुत्सर्गतःकरिष्यते**' इस नियम के अनुसार हमेशा एकवचन का ही प्रयोग होता है। इसी पर कहा जा रहा है कि भावाख्यात स्थल में एकत्व के अविवक्षित होने पर भी पदसाधुत्वार्थक एकवचन साधु होता है। उसी प्रकार '**सम्पन्नो व्रीहिः**' इत्यादि स्थलों में एकत्व के अविवक्षित होने पर भी एकवचन की उपपत्ति हो सकती है तो व्रीहित्व जाति में एकत्व का अन्वय करके एक वचन का समर्थन करने का प्रयोजन है? इसकी कोई आवश्यकता नहीं है। ऐसा कहना अकिञ्चित्कर (कुछ भी न करने वाला) है अर्थात् अनुचित है, ग़लत है, क्योंकि भावाख्यात स्थल में दूसरा रास्ता न होने से विभक्ति का निरर्थकत्व स्वीकार किया जाता है। अभिप्राय यह है कि भावाख्यात स्थल में विभक्त्यर्थ संख्या का अन्वय किसी भी स्थिति में सम्भव न होने के कारण विभक्ति का निरर्थकत्व स्वीकार किया जाता है। जब यहाँ '**सम्पन्नो व्रीहिः**' में विभक्ति के सार्थकत्व का उपगम (जाति में एकत्व का अन्वय करके) सम्भव है तो सार्थकत्व का परित्याग अनुचित है तथा तात्पर्य होने पर संख्या का बोध अनुभव सिद्ध है। इस कारण यहाँ पर एकवचन का निरर्थकत्व नहीं स्वीकार करना चाहिए।

वस्तुतः एकत्व का जाति में अन्वय करने का कोई प्रयोजन नहीं प्रतीत होता है। मुझे तो यही उचित प्रतीत होता है कि जहाँ पर संख्या का बोधन करने में वक्ता का तात्पर्य हो और उसका कोई प्रयोजन हो वहाँ पर संख्याबोधकत्वेन विभक्ति का सार्थकत्व मानना उचित है। जिस संख्या का बोधन करने में कोई प्रयोजन न हो उसका बोधन करने से विभक्ति का सार्थकत्व मानना उचित नहीं है। '**सम्पन्नो व्रीहिः**' में एकवचनार्थ एकत्व का व्रीहित्व जाति में अन्वय करने का कोई प्रयोजन नहीं है क्योंकि व्रीहित्व जाति एक ही है, दूसरे उक्त वाक्य से जो शाब्दबोध होता है उसमें व्रीहित्वगत एकत्व भासता हो ऐसा अनुभव में नहीं आता है, तीसरे वक्ता का तात्पर्य सिर्फ व्रीहि के सम्पन्नत्व में है न कि एकत्वविशिष्ट व्रीहित्व से विशिष्ट व्रीहि के सम्पन्नत्व में । इसलिए संख्या की विवक्षा न होने के कारण व्रीहि के बहुत होने पर भी '**सम्पन्नो व्रीहिः**' ऐसा एकवचनान्त प्रयोग साधु होता है और भावाख्यात स्थल की तरह विभक्ति निरर्थक है ऐसा मैं मानता हूँ । यद्यपि यह सम्भव है कि मेरी धारणा ग़लत हो ।

**विमर्श** – अभी ग्रन्थकार ने बतलाया है कि '**सम्पन्नो व्रीहिः**' में विभक्त्यर्थ एकत्व का अन्वय व्रीहित्व जाति में किया जाता है। इस पर कुछ विचारणीय है–न्यायवैशेषिक सिद्धान्त के अनुसार संख्या को गुण माना जाता है और यह भी माना जाता है कि गुण सिर्फ द्रव्य में ही रहता है। इस परिस्थिति में एकत्व संख्या जो कि गुण है का अन्वय

व्रीहित्वजाति में कैसे किया जा सकता है? इसका समाधान यह दिया जाता है कि इन स्थलों में अपेक्षाबुद्धिविशेषविषयत्व रूप ही संख्या विवक्षित होती है। व्युत्पत्तिवाद में ही (पृ.282) गदाधर भट्टाचार्य गुणादि में द्वित्वबहुत्वादि बोधन कैसे हो सकता है? यह प्रश्न उठाकर इसका समाधान करते हैं कि–**'अपेक्षाबुद्धिविषयत्वमेव तदुत्तरद्विवचनादिना बोध्यते'** अपेक्षाबुद्धिविषयत्व ही गुणादिवाचक पदोत्तरद्विवचनादि से बोधित होता है। श्री रघुनाथ शिरोमणि तो संख्या को गुण ही नहीं मानते हैं तथा उसके पदार्थान्तरत्व का प्रतिपादन करते हुए सभी पदार्थों में संख्या की विद्यमानता स्वीकार करते हैं (पदार्थतत्त्व निरूपण) इस मत को ही मानना उचित प्रतीत होता है।

**एवं 'त्रयः समुदिताः हेतुः' इत्यत्र हेतुपदं कार्योत्पादप्रयोजकतावच्छेदक समुदायत्वावच्छिन्नपरं तादृशसमुदायत्वान्वितमेकत्वमेकवचनार्थः, अत एव शक्त्यादीनां त्रयाणां तृणारणिमणिन्यायेन हेतुत्वशङ्कानिरासः, तथा सत्येतेषामेकैकसमवधानदशायामपि कार्योत्पत्तेरावश्यकतया तत्त्रितयपर्याप्त–समुदायत्वस्य कार्योत्पत्तिप्रयोजकतानवच्छेदकतया तेषां त्रयाणां तथाविधैक-समुदायत्वाश्रयत्वानुपपत्तेः।**

**एवम् 'जात्याकृतिव्यक्तयः पदार्थः' इत्यत्र त्रितयनिष्ठस्य पदशक्तिरूप-पदार्थत्वस्यैकत्वं विवक्षितमिति तत्र विशेष्यपदस्य बहुवचनान्तत्वेऽपि विशेषणपदस्यैकवचनान्तत्वोपपत्तिः ।**

**प्रत्यक्षानुमानेत्यादिसूत्रे प्रमाकरणत्वरूपप्रकृत्यर्थतावच्छेदकस्य प्रत्यक्षानु-मानादिनिष्ठस्यैकताया बाधितत्वेनाविवक्षितत्वात् प्रमाणपदस्य बहुवचनान्तता ।**

**एवम् 'पितरो देवताः' इत्यत्रापि पितृपितामहादिनां सहितानामेकरूपेण देवतात्वविरहेण पितृत्वपितामहत्वादिना पृथगेव त्यागोद्देश्यत्वरूपदेवतात्वम्। उद्देश्यतावच्छेदकभेदेनैवोद्देश्यताभेदात् , तत्रैकत्वस्याविवक्षया देवतापदस्य बहुवचनान्ततेति दिक् ।**

इसी प्रकार **'त्रयः समुदिताः हेतुः'** यहाँ पर हेतु पद कार्योत्पादप्रयोजकतावच्छेदकसमुदाय-त्वावच्छिन्न परक है अर्थात् कार्य की उत्पत्ति का प्रयोजक जो समुदाय, उस समुदाय में रहनेवाली प्रयोजकता का अवच्छेदक जो समुदायत्व उससे विशिष्ट का बोधक हेतु पद है। उस हेतु पद के उत्तर में विद्यमान एकवचन का अर्थ एकत्व कार्योत्पादप्रयोजकतावच्छेदक समुदायत्व में अन्वित होता है। अभिप्राय यह है कि एकत्व का अन्वय जब तादृशसमुदायत्व में किया जाता है तो लब्ध यह होता है कि तीनों (शक्ति, लोकव्यवहार शास्त्र काव्यादि के पर्यालोचन से उत्पन्न व्युत्पत्ति और काव्य की रचनाशैली गुण-दोषों को जानने वाले विद्वानों की शिक्षा के अनुसार अभ्यास) की समष्टि काव्य की प्रयोजिका होती है। इसीलिए शक्ति, व्युत्पत्ति और अभ्यास इन तीनों के तृणारणिमणिन्याय से हेतुत्व की शंका का निरास हो जाता है। अग्नि के प्रति तृण भी कारण होता है, अरणि भी कारण होता है और मणि (सूर्यकान्त मणि अथवा चकमक पत्थर) भी कारण होता है। इन तीनों की जो अग्नि के प्रति कारणता है वह तीनों की अलग-अलग कारणता है। केवल तृण से भी आग पैदा होता है,

केवल अरणि से भी और केवल मणि से भी । यही है तृणारणिमणिन्याय । यहाँ पर प्रश्न (आशङ्का) यह है कि शक्ति, व्युत्पत्ति और अभ्यास की काव्य के प्रति प्रयोजकता तृण, अरणि, मणि की तरह है क्या ? इसी के प्रति ग्रन्थकार का कहना है कि तृणारणिमणिन्याय से शक्ति, व्युत्पत्ति, अभ्यास की कारणत्वशङ्का का उक्तरीति से एकत्व का समुदायत्व में अन्वय करने से निरास हो जाता है। यदि तृणारणिमणिन्याय से शक्ति, व्युत्पत्ति और अभ्यास की प्रयोजकता काव्य के प्रति होती तो एक-एक का समवधान होने पर भी कार्योत्पत्ति आवश्यक होगी (शक्ति, व्युत्पत्ति और अभ्यास में किसी एक के होने पर भी काव्य होना चाहिए) एक-एक का समवधान होने पर भी कार्योत्पत्ति के आवश्यक होने पर समुदाय कार्योत्पाद प्रयोजक न होगा और समुदायत्व (शक्ति, व्युत्पत्ति, अभ्यास त्रितयपर्याप्त समुदायत्व) कार्योत्पादप्रयोजकतावच्छेदक न होगा । अतः शक्ति, व्युत्पत्ति और अभ्यास में कार्योत्पादप्रयोजकतावच्छेदसमुदायत्वाश्रयत्व उपपन्न न हो सकेगा । इस कारण तीनों के समुदाय की कारणता बन सके जो कि विवक्षित है, आचार्य मम्मट ने **हेतुः** ऐसा एकवचनान्त प्रयोग किया।

इसी प्रकार '**जात्याकृतिव्यक्तयः पदार्थः**' यहाँ पर जाति, आकृति और व्यक्ति इन तीनों में रहने वाला जो पदशक्ति रूप पदार्थत्व है उस का एकत्व विवक्षित है, इसलिए विशेष्यपद **जात्याकृतिव्यक्तयः** के बहुवचनान्त होने पर भी विशेषणपद **पदार्थः** के एकवचनान्तत्व की उत्पत्ति होती है। अभिप्राय यह है कि 'जाति, आकृति और व्यक्ति में पदनिरूपिता एक ही शक्ति होती है' यह बतलाने के लिए **पदार्थः** ऐसा एकवचनान्त प्रयोग किया गया है। **पदार्थाः** ऐसा बहुवचनान्त प्रयोग किया जाता तो उससे यह तो ज्ञात होता कि पदशक्ति रूप पदार्थत्व जाति, आकृति और व्यक्ति में है। परन्तु यह नहीं बोधित होता कि एक ही पदार्थत्व जाति, आकृति और व्यक्ति तीनों में है।

'**प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि**' इस सूत्र में प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द निष्ठ प्रकृत्यर्थतावच्छेदक प्रमाकरणत्व रूप प्रमाणत्व की एकता के बाधित होने से अविवक्षित होने से प्रमाणपद की बहुवचनान्तता ही होती है। अभिप्राय यह है कि सूत्र में **प्रमाणानि** इस बहुवचनान्त पद की प्रकृति है प्रमाणपद। प्रमाणपद का अर्थ है प्रमाकरण अर्थात् प्रकृत्यर्थ है प्रमाकरण और प्रकृत्यर्थता का अवच्छेदक है प्रमाकरणत्व। यह एक ही प्रमाकरणत्व प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्दात्मक चतुर्विध प्रमाणों में सम्भव नहीं है। क्योंकि प्रत्यक्ष सामग्री इन्द्रियार्थसंयोगादि होता है, अनुमिति की सामग्री व्याप्तिज्ञानादि, उपमिति की सामग्री सादृश्यज्ञानादि और शाब्दबोध की सामग्री पदज्ञानादि हैं। इस प्रकार सामग्री के भिन्न-भिन्न होने से तन्निष्ठ प्रमाकरणत्व भी भिन्न-भिन्न ही हो सकता है एक नहीं। अतः प्रमाकरणत्व के एकत्व की विवक्षा सम्भव न होने से **प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः** का समानवचनक **प्रमाणानि** पद बहुवचनान्त प्रयुक्त किया गया है।

इसी प्रकार '**पितरो देवताः**' यहाँ पर भी पितृ पितामहादि सहित अनेकों में एकरूपता से देवतात्व नहीं है अपितु पितृत्व, पितामहत्वादि भिन्न-भिन्न रूपों से त्यागोद्देश्यत्व रूप देवतात्व है। अभिप्राय यह है कि पितरों में जो देवतात्व है वह सिर्फ त्यागोद्देश्यत्व है पितरों को उद्देश्य करके त्याग (पिंड दान आदि) किया जाता है। पितरों में जो यह त्याग की

उद्देश्यता है वह एक रूप से नहीं है। पितरों के अन्तर्गत पिता, पितामह, प्रपितामह, वृद्ध प्रपितामह, माता, मातामह, प्रमातामह आदि आते हैं। ये सभी त्यागोद्देश्य भिन्न-भिन्न रूपों से होते हैं पिता पितृत्व से, पितामह पितामहत्व से, प्रपितामह प्रपितामहत्व से इस प्रकार भिन्न-भिन्न रूपों इनमें त्यागोद्देश्यता आती है। उद्देश्यतावच्छेदक के भिन्न होने से ही उद्देश्यता भिन्न होती है। पितरों में देवतात्व क्या है? त्यागोद्देश्यत्व ही। त्यागोद्देश्यता पितृ पितामह आदि में है और उद्देश्यतावच्छेदक पितृत्व, पितामहत्वादि है। इस प्रकार उद्देश्यतावच्छेदक भिन्न होने से उद्देश्यता भी भिन्न होगी। उद्देश्यता रूप देवतात्व के एकत्व की विवक्षा न होने से देवता पद बहुवचनान्त है **पितरः** पद का समानवचनक है।

**स्वप्रकृतिकत्वञ्च स्वाव्यवहितोत्तरत्वेन प्रतिसन्धीयमानत्वम्, तेन 'दधि सुन्दरम्' इत्यादौ विशेष्यपदानन्तरं विभक्तेरसत्त्वेऽपि न क्षतिः- तत्र विभक्तेरनुसन्धानं विना शाब्दबोधानुपगमात् । एवं तादृशविभक्तिसजातीय विभक्तिकत्वमपि तथाविधविभक्त्यव्यवहितपूर्ववर्त्तितया प्रतिसन्धीयमानत्वम्, तेन 'इदं दधि' इत्यादौ विशेषणपदानन्तरं विभक्तेरसत्त्वेऽपि न क्षतिः।**

विषयप्रसङ्ग चल रहा था कि अभेद संसर्ग कहाँ पर आकाङ्क्षाभास्य होता है? स्वसमानविभक्तिक और स्वाव्यवहित पूर्ववर्त्ति पद के द्वारा उपस्थापित अर्थ का प्रातिपदिकार्थ में अभेद संसर्ग आकाङ्क्षाभास्य होता है। इस पर प्रश्न उठा कि स्वसमानविभक्तिक का अभिप्राय क्या है? समाधान दिया गया स्वप्रकृतिकविभक्तिसजातीयविभक्तिकत्व ही स्वसमान-विभक्तिकत्व है। इसी प्रसंग में **'वेदाः प्रमाणम्' 'शतं ब्राह्मणाः** इत्यादि स्थलों में अन्वयबोधानुपपत्ति होने लगेगी ऐसी आपत्ति आयी थी और फिर उसी प्रसङ्ग में विचार चलने लगा था। अब ग्रन्थकार ने पुनः प्रकृत विषय पर विचार प्रारम्भ करते हुए बताया कि स्व प्रकृतिकत्व माने क्या है— और स्वप्रकृतिकत्व माने स्वाव्यवहितोत्तरत्वेन प्रतिसन्धीय मानत्व होता है। ऐसा कह देने से **'दधि सुन्दरम्'** इत्यादि स्थलों में विशेष्यवाचक पद के बाद विभक्ति न होने पर भी कोई क्षति नहीं है क्योंकि इन स्थलों में बगैर विभक्ति का अनुसन्धान किये शाब्दबोध होता है। ऐसा स्वीकार नहीं किया जाता । अभिप्राय यह है कि **'दधि सुन्दरम्'** यहाँ पर दधि पद के बाद कोई विभक्ति नहीं सुनायी पड़ती है। स्वसमानविभक्तिकत्व का अर्थ किया है स्वप्रकृतिकविभक्तिसजातीय विभक्तिकत्व, दधि पदोत्तर कोई विभक्त सुनायी न पड़ने से स्वप्रकृतिक (दधि प्रकृतिक) विभक्ति सुनायी न पड़ेगी। अतः समस्या यह आती है कि किस विभक्ति की सजातीय विभक्तिप्रकृतित्व लिया जाये। स्वप्रकृतिकत्व का जब यह अर्थ कर दिया गया कि स्वाव्यवहितोत्तरत्वेन प्रतिसन्धीयमानत्व तो यह समस्या नहीं आती है क्योंकि शाब्दबोध के पूर्व यह प्रतिसन्धान (स्मरण) तो किया ही जाता है (सोचा ही जाता है) कि दधि पद के बाद सु विभक्ति है। विना विभक्ति का अनुसन्धान किये तो शाब्द बोध होता नहीं है। इसलिए दधि पद के बाद विभक्ति सुनायी न देने पर भी दधिपदाव्यवहितोत्तरत्वेन प्रतिसन्धीयमानत्व सुपद में आ ही जाता है। अतः दधि प्रकृतिकत्व सु में आ जाने से तत् सजातीय विभक्तिकत्व भी सुन्दर पद में गृहीत हो

जाता है कोई समस्या नहीं आती है। इसी प्रकार तादृश (स्वाव्यवहितोत्तरत्वेन प्रतिसन्धीयमान) विभक्तिसजातीय विभक्तिकत्व भी तथाविध (स्वाव्यवहितोत्तरत्वेन प्रतिसन्धीयमानविभक्ति सजातीय) विभक्त्यव्यवहितपूर्ववर्तित्वेन प्रति सन्धीयमानत्व है।इसलिए '**इदं दधि**' इत्यादि स्थलों में विशेषणवाचक पद दधि पद के बाद विभक्ति न होने पर भी कोई क्षति नहीं है। यहाँ पर विचारणीय यह है कि '**इदं दधि**' यहाँ पर विशेषणवाचक दधि पद के बाद कोई विभक्ति सुनायी नहीं पड़ती है, अतः स्वप्रकृतिकविभक्तिसजातीय विभक्तिकत्व दधि पद में कैसे जायेगा? इसीलिए ग्रन्थकार इसका समाधान भी पूर्वोक्त रीति से करते हैं कि यहाँ पर भी बग़ैर विभक्ति का अनुसन्धान किये शाब्द बोध होता नहीं है। अतः तादृशविभक्त्यव्यवहित पूर्ववर्ती है इस रूप से प्रतिसन्धान जिसका होगा वही तादृशविभक्तिक होगा। अतः दधि पद भी अदस् पद प्रकृतिक विभक्ति सजातीय विभक्तिक हो जायेगा कोई समस्या नहीं आयेगी।

**अथ 'नीलस्य घटः' इत्यादावपि पदार्थोपस्थित्यादिकारणसमवधान सम्भवात् कथं न नीलघटाद्योरभेदान्वयबोधः –सामग्र्या कार्यजनने उक्त नियमभङ्गप्रसङ्गेरूपबाधकस्याकिञ्चित्करत्वादिति चेत्? तथाविधान्वय बोधौपयिकाकाङ्क्षाविरहात् । तथाहि तादृशान्वयबोधे प्रथमाविभक्त्यन्त-घटादिपदसमभिव्याहृतप्रथमान्तनीलादिपदत्वमेवासमस्तनीलघटपदा-द्याकाङ्क्षा, समासस्थले च घटादिपदाव्यवहितपूर्ववर्तिनीलादिपदत्वं नीलादिपदाव्यवहितोत्तरवर्त्तिघटादिपदत्वं वाकाङ्क्षा। उक्तस्थले च तादृश्या एक-एकस्या अप्याकाङ्क्षाया विरहान्नापत्तिः।**

सामग्री के रहने पर कार्य अवश्य उत्पन्न हुआ करता है। शाब्दबोध के प्रति पदज्ञान, पदार्थोपस्थिति, शक्ति ज्ञानादि को कारण माना जाता है। इन सभी कारणों का समवधान जैसे '**नीलो घटः**' में है, उसी प्रकार '**नीलस्य घटः**' में भी है। फिर '**नीलो घटः**' की तरह '**नीलस्य घटः**' से अभेदान्वय बोध क्यों नहीं होता? होना चाहिए इसी प्रश्न को गदाधर भट्टाचार्य उठा रहे हैं कि— '**नीलस्य घटः**' इत्यादि में भी पदार्थोपस्थिति आदि कारणों का समवधान सम्भव होने से नील और घटादि का अभेदान्वयबोध क्यों नहीं होता है— नील और घट का अभेद सम्बन्ध शाब्दबोध में क्यों नहीं भासता है? यदि कहिए कि जहाँ पर समान विभक्तिकत्व होता है वहीं पर ही अभेद सम्बन्ध भासता है अर्थात् समानविभक्तिकत्व स्थल में ही प्रकार और विशेष्य का अभेद सम्बन्ध भासता है ऐसा नियम है तो ऐसा नहीं कहा जा सकता है क्योंकि—सामग्री के द्वारा यदि कार्य उत्पन्न हो सकता हो तो उक्तनियम के भंग होने का प्रसङ्ग (आपत्ति) रूप जो बाधक है वह अकिंचित् कर है—इस बाधक से कोई प्रतिबन्ध कर पाना सम्भव नहीं है। तो इसका उत्तर देते हैं कि उस प्रकार के शाब्द बोध—अभेद सम्बन्ध से अवच्छिन्न नीलत्वावच्छिन्नप्रकारतानिरूपित घटत्वावच्छिन्नविशेष्यताशाली शाब्दबोध—के प्रति औपयिक—कारणीभूत—आकाङ्क्षा के न रहने से उक्त शाब्दबोध की उत्पत्ति का प्रसंग नहीं है। सामग्री के रहने पर ही कार्योत्पत्ति की आपत्ति आती है नील की प्रकारता, घट की विशेष्यता और अभेद सम्बन्ध की संसर्गता को विषय करनेवाले शाब्दबोध के प्रति कारणीभूत आकाङ्क्षा के न रहने से उक्त

शाब्दबोधोत्पत्ति की कोई आपत्ति नहीं है। तादृश शाब्दबोध के प्रति प्रथमाविभक्त्यन्त घटादिपदसमभिव्याहृत प्रथमान्तनीलादि पदत्व ही असमस्त नीलघटपदादि की आकाङ्क्षा और समासस्थल में घटादि पदों के अव्यवहित पूर्ववर्त्तिनीलादिपदत्व अथवा नीलादि पदों के अव्यवहितोत्तरवर्त्ति घटादिपदत्व रूप आकाङ्क्षा ही कारणीभूत आकाङ्क्षा है। **'नीलस्य घटः'** इस स्थल में उस प्रकार की एक भी आकाङ्क्षा के न रहने से कोई आपत्ति— अभेदान्वय बोध की आपत्ति नहीं है। अभिप्राय यह है कि अभेदान्वयबोध के प्रति पद ज्ञान पदार्थोपस्थित्यादि कारणों से अतिरिक्त उक्त आकाङ्क्षाओं की भी कारणता है। **'नीलस्य घटः'** इस स्थल में अन्य कारणों के रहने पर भी इन आकाङ्क्षाओं से किसी भी आकाङ्क्षा के न रहने से अभेदान्वय बोध होने की आपत्ति नहीं रह जाती है। यहाँ पर न तो प्रथमान्तनीलपदसमभिव्याहृतप्रथमान्तघटपदत्वरूप आकाङ्क्षा है क्योंकि नीलपद यहाँ पर षष्ठ्यन्त है और न तो नीलपदाव्यवहितोत्तरघटपदत्व या घटपदाव्यवहितपूर्ववर्ति नीलपदत्व रूप आकाङ्क्षा है क्योंकि नील पद और घट पद के बीच में ङस् (स्य) के रहने के कारण व्यवधान है।

**विमर्श–** यहाँ पर आकाङ्क्षाओं की जो शाब्दबोध के प्रति कारणता बतलायी गयी है, उसमें प्रथमान्तनीलपदसमभिव्याहृत प्रथमान्तघटपदत्वरूप आकाङ्क्षा की कारणता बतायी गयी है। वह वस्तुस्थिति का स्पष्टीकरण मात्र है। विभक्तियों का आकाङ्क्षा में प्रवेश प्रथमात्व, विभक्तित्वादि रूपों से नहीं किया गया है क्योंकि प्रथमात्व, विभक्तित्व आदि धर्मों का ज्ञान न होने पर भी घट इत्यादि आनुपूर्वी के द्वारा स्वन्तत्वादि का ज्ञान होने मात्र से भी शाब्दबोध सम्भव है, अतः आकाङ्क्षा में घटः, नीलः आदि का प्रवेश है अर्थात् नीलादि पदोत्तर स्वादिविभक्तियों में प्रथमात्व, विभक्तित्वादि का ज्ञान न होने पर भी आनुपूर्वीविशेषविषयक ज्ञान के अधीन उसके अर्थों की उपस्थिति होने पर शाब्दबोध की उत्पत्ति सम्भव है। आगे चलकर गदाधर भट्टाचार्य खुद **'राज्ञः पुरुषः'** के प्रसंग में कहते हैं कि-**'राज्ञः पुरुषः इत्यादौ षष्ठ्यादेः प्रत्ययत्वाद्यनुपस्थितिदशायामपि आनुपूर्वीविशेषप्रकारक-ज्ञानाधीनतदर्थोपस्थितिसत्त्वे शाब्दबोधोत्पत्त्या प्रत्ययत्वप्रकारकज्ञाननिवेशा-सम्भवात्'** (राज्ञः पुरुषः इत्यादि स्थलों में षष्ठी आदि के प्रत्ययत्व की अनुपस्थिति होने की दशा में भी आनुपूर्वी विशेषप्रकारक ज्ञान के अधीन तदर्थ की उपस्थिति होने पर शाब्दबोध की उत्पत्ति होने से प्रत्ययत्व प्रकारक ज्ञान का निवेश असम्भव है) इसका अभिप्राय यही है कि प्रत्ययत्व प्रकारक ज्ञान का निवेश करने पर प्रत्ययत्वादि की उपस्थिति दशा में आनुपूर्वीविशेषप्रकारकज्ञानाधीन तदर्थोपस्थिति से शाब्द बोध की उत्पत्ति नहीं हो सकेगी क्योंकि प्रत्ययत्वप्रकारक ज्ञान का निवेश होने से प्रत्ययत्व प्रकारक ज्ञान का रहना अनिवार्य होगा। यही स्थिति यहाँ पर भी है यदि प्रथमात्व, विभक्तित्वादि रूपों से आकाङ्क्षा में विभक्तियों का प्रवेश किया जायेगा। अतः घटः इत्यादि का आनुपूर्वी के द्वारा ही आकाङ्क्षाओं में प्रवेश किया जायेगा न कि प्रथमात्व विभक्तित्वादिरूपों से। इसलिए **'नीलो घटः'** **'घटो नीलः'** इत्यादि आनुपूर्वी से विशिष्टविषयतानिरूपक ज्ञान ही शाब्दबोध का जनक है, यही माना जाता है। अब प्रश्न उठेगा कि **'नीलश्चैत्रस्य घटः'** ऐसा वाक्यप्रयोग जहाँ पर किया जाता है वहाँ पर न तो **नीलो घटः** यह आनुपूर्वी है और न तो **घटो नीलः** यही आनुपूर्वी है। इन दोनों आनुपूर्वियों में अन्तर सिर्फ इतना है कि

**'नीलो घटः'** में नीलः पूर्व में है और घटः ठीक बाद में। **'घटो नीलः'** में नीलः बाद में है और घटः ठीक पहले। **'नीलश्चैत्रस्य घटः'** में चैत्रस्य पद भी बीच में है फलतः दोनों ही आनुपूर्वियाँ यहाँ पर नहीं है। इसका समाधान यही है कि इन स्थलों में भी **नीलो घटः** या **घटो नीलः** ऐसी आनुपूर्वीवाले वाक्य की कल्पना करके ही शाब्दबोध किया जाता है। इसीलिए आसत्ति भी उपपन्न होती है। आसत्ति का अभिप्राय सन्निधि है, सन्निधि अर्थात् पदों का विना विलम्ब के उच्चारण **'पदानामविलम्बेनोच्चारणं सन्निधिः'** (तर्क संग्रह शब्द परिच्छेद) **'नीलश्चैत्रस्य घटः'** उच्चारण करने पर नीलः पद और घटः पद का उच्चारण अविलम्ब से नहीं होता है अपितु बीच में चैत्रस्य पद के आ जाने के कारण विलम्ब हो जायेगा। अतः सन्निधि रूप आसत्ति नहीं बन सकेगी। इसलिए **'नीलो घटः'** या **'घटो नीलः'** ऐसे वाक्य और आनुपूर्वी की कल्पना करके ही शाब्द बोध किया जाता है, ऐसा करने पर आसत्ति भी उपपन्न होती है। वस्तुतः आसत्ति से जिन पदार्थों का अन्वय परस्पर अपेक्षित है उन पदार्थों की विना व्यवधान के उपस्थिति अपेक्षित है। **'नीलश्चैत्रस्य घटः'** कहने पर नील पदार्थ, चैत्र पदार्थ और घट पदार्थ की क्रमशः उपस्थिति होती है। इस तरह नील और घट पदार्थों की उपस्थिति में चैत्रपदार्थोपस्थिति का व्यवधान होगा, आसक्ति नहीं बनेगी । उक्त रीति से आनुपूर्वीवाले वाक्य की कल्पना करने पर नीलोपस्थिति और घटोपस्थिति में व्यवधान नहीं होने से आसक्ति बन जायेगी ।

समासस्थल में व्यासस्थलीया आकाङ्क्षा नहीं है अतः उसके लिए भिन्न प्रकार की आनुपूर्वी का प्रवेश किया गया है। इसी तरह **'नीलौ घटौ' 'नीलाःघटाः' 'नीलं घटम्' 'नीलेन घटेन' 'नीलाभ्याम् घटाभ्याम्'** इत्यादि समुदायों के आनुपूर्वी ज्ञानों की भी अभेदान्वयबोध के प्रति तत्तदानुपूर्वी प्रकारक ज्ञानत्वेन कारणता माननी चाहिए। इसतरह अभेदान्वयबोध के प्रति व्यासस्थल में (असमस्त स्थल में) इक्कीस आनुपूर्वी ज्ञानों की कारणता तत्तदानुपूर्वीप्रकारक ज्ञानत्वेन होगी।

समासस्थल के लिए ग्रन्थकार ने सिर्फ इतना ही कहा है नीलपदाव्यहितोत्तरघटपदत्व या घटपदाव्यवहितपूर्ववर्तिनीलपदत्वरूप आकाङ्क्षाज्ञान की अभेदान्वयबोध के प्रति कारणता है। यहाँ पर प्रश्न यह उठता है कि **'नीलघटः' 'नीलघटौ' 'नीलघटाः'** इत्यादि सातों विभक्तियों के तीनों वचनों में अभेदान्वयबोध होता है तो तत्तद्विभक्त्यन्त समुदाय में पर्याप्त तत्तत् आनुपूर्वीप्रकारक ज्ञानत्वेन कारणता स्वीकार की जाये या नीलघटत्व रूप आनुपूर्वीविषयकज्ञानत्वेन कारणता स्वीकार की जाये। अभिप्राय यह है कि जैसे व्यासस्थल में विभक्त्यन्त समुदायनिष्ठ आनुपूर्वीज्ञानों की कारणता स्वीकार की जाये? ऐसा कहने पर कारणतावच्छेदक नीलघटत्वरूप आनुपूर्वी होगा। अतः इस पक्ष में लाघव होगा। परन्तु यहाँ पर सिद्धान्ततः यही स्वीकार करना चाहिए कि विभक्त्यन्तानुपूर्वीप्रकारकज्ञान की ही कारणता स्वीकारी जा रही है अर्थात् विभक्त्यन्तानुपूर्वी के प्रवेश में ही ग्रन्थकार का तात्पर्य है, विभक्ति का भी आनुपूर्वी में प्रवेश है। यद्यपि ऐसा मानने में गौरव होता है परन्तु ऐसा न मानकर यदि नीलघटत्व (नीलपदाव्यवहितोत्तर घटपदत्व) रूप आनुपूर्वी प्रकारक ज्ञानत्वेन अभेदान्वय बोध के प्रति कारणता स्वीकारी जाये तो निर्विभक्तिक नीलघट इस पद से नीलप्रकारक, घटविशेष्यक अभेदसंसर्गक शाब्दबोध होना चाहिए क्योंकि नीलपदाव्यवहितोत्तरघट-

पदत्वरूप आनुपूर्वी जो कि अबेदान्वयबोध के प्रति कारण है वह यहाँ पर है ही।

यद्यपि यहाँ पर पूँछा जा सकता है कि निर्विभक्तिक 'नीलघट' इस समुदाय से कैसा शाब्दबोध होगा? जिसकी आपत्ति दी जा रही है। यदि कहिए कि नीलप्रकारक, घट विशेष्यक, अभेदसंसर्गक शाब्दबोध की आपत्ति दी जा रही है, तो सम्भव नहीं है क्योंकि ऐसा शाब्दबोध कहीं पर भी प्रसिद्ध नहीं है— कहीं पर भी ऐसा शाब्दबोध होता ही नहीं है। आपत्ति प्रसिद्ध की ही दी जा सकती है अप्रसिद्ध की नहीं। गदाधर भट्टाचार्य खुद ग्रन्थ में आगे (पृ097) कहते हैं कि—'**यादृशं फलं क्वचित् प्रसिद्ध्यति तादृशस्यैवापत्तिः सम्भवति क्लृप्तसामग्रीबलात्। यादृशं च सर्वथैवाप्रसिद्धं तादृशस्य चापादकाप्रसिद्धेरापत्तिरशक्यैव ..**' जैसा फल कहीं पर प्रसिद्ध होता है वैसे फल की ही स्वीकृत सामग्री के बल से आपत्ति सम्भव है जैसा फल सर्वथा अप्रसिद्ध है वैसे फल का आपादक भी अप्रसिद्ध होगा, अतः वैसे फल की आपत्ति अशक्य होगी। उक्तस्थल में नीलप्रकारक, घटविशेष्यक, अभेद संसर्गक शाब्दबोध की आपत्ति दी जा रही है वैसा फल (शाब्दबोध) कहीं पर भी प्रसिद्ध नहीं है। '**नीलो घटः**' '**नीलघटः**' इत्यादिवाक्यों से जो शाब्दबोध होता है वह घटविशेष्यक नीलप्रकारक अभेदसंसर्गक यद्यपि होता है तथापि उसमें एकत्व भी विशेषण बनकर भासता है। इस तरह '**नीलघट**' इस निर्विभक्तिक पद के द्वारा जैसे शाब्दबोध की आपत्ति दी जा रही है वैसा शाब्दबोध कहीं पर भी प्रसिद्ध नहीं है। अतः उक्त शाब्दबोध की आपत्ति नहीं दी जा सकती है, ऐसा कह सकते हैं।

इसका समाधान यह है कि एकत्वोपस्थिति आदि में एकत्वावच्छिन्न (एकत्वनिष्ठ) विषयता से घटित शाब्दबोध के प्रति कारणता है अर्थात् एकत्वत्वावच्छिन्नविषयताघटित शाब्दबुद्धित्वावच्छिन्न कार्यता से निरूपित कारणता एकत्वोपस्थिति आदि में है, एकत्वत्वावच्छिन्न विषयता से अघटित नीलप्रकारक, अभेदसंसर्गक, घटविशेष्यक शाब्दबोध के प्रति एकत्व की उपस्थिति अनपेक्षित है। अभिप्राय यह है कि '**अधिकं प्रविष्टं न तु तद्धानिः**' अधिक प्रविष्ट हो गया उसकी हानि तो न हुई यह न्याय है। '**नीलो घटः**' '**नीलघटः**' इत्यादि वाक्यों से जो शाब्दबोध होता है, एकत्व विशेषणविधया (विशेषण बन कर) भले ही भासता हो, परन्तु उससे शाब्दबोध के नीलप्रकारकत्व, अभेदसंसर्गकत्व, घटविशेष्यकत्व की क्षति नहीं होती है। इस तरह नीलप्रकारक, अभेदसंसर्गक, घटविशेष्यक शाब्दबोध प्रसिद्ध हो जाने से निर्विभक्तिक '**नीलघट**' इस पद के द्वारा नीलप्रकारक, अभेदसंसर्गक घटविशेष्यक शाब्दबोध की आपत्ति दी जा सकती है। अतः विभक्त्यन्त समुदायनिष्ठ आनुपूर्वीविषयक ज्ञान की कारणता स्वीकार करनी पड़ती है। निर्विभक्तिक '**नीलघट**' यह समुदाय विभक्त्यन्त नहीं है, अतः वह शाब्दबोध का आपादक न होगा।

**कार्यतावच्छेदककोटावव्यवहितोत्तरत्वनिवेशान्नोक्ताकाङ्क्षाज्ञानयोः परस्परबोधे व्यभिचारः।**

अभी ग्रन्थकार ने अभेदान्वयबोध के प्रति व्यासस्थलीय और समासस्थलीय आकाङ्क्षा की कारणता बतलायी। इस प्रकार मुख्य रूप से दो और गौण रूप से (विभक्त्यन्त का प्रवेश करने से) इक्कीस-इक्कीस आकाङ्क्षाओं की कारणता अभेदान्वयबोध के प्रति स्वीकृत हो रही है। परन्तु एक कार्य के प्रति जब स्वतन्त्र रूप से अनेक कारण होते हैं तो

**'कारणाभावे कार्यसत्त्वम्'** कारण के न रहने पर कार्य होना रूप व्यतिरेक व्यभिचार अवश्य आपतित होता है। वही व्यतिरेक व्यभिचार यहाँ पर भी आयेगा जैसे **'नीलो घटः'** इस वाक्य से नीलप्रकारक, अभेदसंसर्गक, घटविशेष्यक शाब्दबोध हो रहा है। यहाँ पर नीलप्रकारक, अभेदसंसर्गक, घटविशेष्यक शाब्दबोध प्रथमान्तनीलपदसमभिव्याहृत प्रथमान्तघट-पदत्वरूप आकाङ्क्षाज्ञान से हो रहा है। किन्तु द्वितीयान्तनीलपदसमभिव्याहृत द्वितीयान्तघट-पदत्वादिरूप आकाङ्क्षाज्ञान नहीं है। इसी तरह नीलपदाव्यवहितोत्तरघट पदत्व रूप आकाङ्क्षाज्ञान नहीं है। जबकि यह भी आकाङ्क्षाज्ञान अभेदान्वयबोध के प्रति कारण है। निष्कर्ष यह है कि अभेदान्वय बोध के प्रति पूर्वोक्त रीति से इक्कीस + इक्कीस = बयालीस आकाङ्क्षाज्ञानों की कारणता है। किन्तु जहाँ पर भी अभेदान्वयबोध होगा वहाँ पर एक ही आकाङ्क्षाज्ञान रहेगा शेष इकतालीस आकाडक्षाज्ञानों का अभाव रहेगा ही । इस प्रकार कारण के न रहने पर कार्य का होना रूप व्यतिरेक व्यभिचार होने लगेगा। फलतः उक्त आकाङ्क्षाज्ञानों की अभेदान्वयबोध के प्रति कारणता कैसे स्वीकृत की जा सकेगी? इसलिए ग्रन्थकार व्यतिरेक व्यभिचार वारण करने का तरीका बतला रहे हैं कि— कार्यतावच्छेदककोटि में अव्यवहितोत्तरत्व का निवेश कर देने से उक्त आकाङ्क्षाज्ञानों का परस्पर बोध में व्यभिचार नहीं होता है। हर जगह पर जहाँ पर एक कार्य के प्रति अनेकों की स्वतन्त्ररूप से कारणता स्वीकारी जाती है वहाँ पर व्यतिरेकव्यभिचार का वारण करने के लिए यही रीति अपनायी जाती है। जैसे अग्नि के प्रति तृण, अरणि और मणि की स्वतन्त्र रीति से कारणता है। वहाँ पर भी तृण के द्वारा अग्नि होने पर अरणि, मणि का अभाव, अरणि से अग्नि होने पर तृण मरणि का अभाव, मणि से अग्नि होने पर तृण, अरणि का अभाव इस तरह कारण के न रहने पर भी कार्यसत्त्वरूप व्यतिरेक व्यभिचार स्फुट है। यहाँ पर व्यभिचार वारण करने के लिए कहा जाता है कि तृणाव्यवहितोत्तर जायमान (तृण के अव्यवहित बाद में होने वाली) अग्नि के प्रति तृण कारण होता है। मणि के अव्यवहित उत्तर में पैदा होने वाली अग्नि के प्रति मणि और अरणिके अव्यवहित उत्तर में होने वाली अग्नि के प्रति अरणि कारण होता है। इस तरह से कार्यतावच्छेदक कोटि[1] में अव्यवहितोत्तरत्व का निवेश करने से व्यतिरेक व्यभिचार वारित हो जाता है। क्योंकि तृण के बाद जो अग्नि उत्पन्न हो रहा है उसके प्रति अरणि और मणि कारण ही नहीं हैं, अतः अरणि और मणि का अभाव आने पर भी कोई दोष नहीं आता है। उसके प्रतिकारणीभूत तृण तो वहाँ पर है ही, इसी प्रकार अरणि, मणि के उत्तर जायमान अग्नि के प्रति क्रमशः तृण, मणि और तृण, अरणि की कारणता नहीं होती है। इसी प्रकार यहाँ पर अभेदान्वयबोध स्थल में भी अव्यवहितोत्तरत्व का कार्यतावच्छेदक कोटि में निवेश करते हैं— प्रथमान्तनीलपदसमभिव्याहृतप्रथमान्त घटपदाव्यवहितोत्तरजायमान नीलप्रकारक, अभेदसंसर्गक, घटविशेष्यकशाब्दबोध के प्रति प्रथमान्तनीलपदसमभिव्याहृत प्रथमान्तघटपदत्व-रूप आकाङ्क्षाज्ञान कारण होता है। इस तरह कह देने पर प्रथमान्तनीलपदसमभिव्याहृत-प्रथमान्तघटपदत्व रूप आकाङ्क्षाज्ञान से होने वाले शाब्दबोध के प्रति अन्य आकाङ्क्षाज्ञानों

---

1. कार्य का जो विशेषण होता है वह कार्यतावच्छेदक होता है। जब कहा जाता है कि तृणाव्यहितोत्तर जायमान अग्नि के प्रति कारण होता है तो कार्य होता है 'तृणाव्यवहितोत्तर जायमान अग्नि' इसमें विशेष्य है अग्नि, अग्नित्व, तृणावअयवहितोतरजायमानत्व ये विशेषण हैं अर्थात् कार्यतावच्छेदक हैं।

की कारणता ही न होने से उनका अभाव आने पर भी व्यतिरेक व्यभिचार नहीं होता है। क्योंकि कारणीभूत प्रथमान्तनीलपदसमभिव्या हृत प्रथमान्त घटपदत्वरूप आकाङ्क्षाज्ञान तो है ही। इसी प्रकार द्वितीयान्त, तृतीयान्त आदि समासस्थलीय आकाङ्क्षाज्ञानोत्तरजायमान शाब्दबोध के प्रति तत्तत् आकाङ्क्षाज्ञानों की कारणता स्वीकारी जाती है। इस तरह कार्यतावच्छेदक कोटि में तत्तत्कारणाव्यवहितोत्तरत्व का निवेश कर देने से पूर्वोक्त व्यतिरेक व्यभिचार वारित हो जाता है क्योंकि एक ही कार्य के प्रति जब स्वतन्त्र रूप से अनेक कारण होते हैं तब उक्त व्यतिरेक व्यभिचार होता है। इस तह कार्यतावच्छेदक कोटि में तत्तत् कारणाव्यवहितोत्तरत्व का निवेश कर देने से कार्य भी भिन्न-भिन्न हो गये कार्यतावच्छेदक के भिन्न-भिन्न होने से। कार्यतावच्छेदक के भेद से ही कार्य का भेद होता है। अब भिन्न-भिन्न कार्यों के प्रति भिन्न-भिन्न कारण होने से उक्त दोष वारित हो जाता है।

यहाँ पर एक अन्य रीति से व्यतिरेक व्यभिचार फिर भी आ सकता है जैसे जहाँ पर देवदत्त को प्रथमान्त नीलपद समभिव्याहृतप्रथमान्तघटपदत्व रूप आकाङ्क्षाज्ञान हो गया और उसी क्षण में यज्ञदत्त को द्वितीयान्तनीलपदसमभिव्याहृत द्वितीयान्तघट पदत्व रूप आकाङ्क्षाज्ञान हो गया। अगले क्षण में देवदत्त को और यज्ञदत्त को दोनों को ही नीलप्रकारक, अभेदसंसर्गक, घट विशेष्यक शाब्दबोध होगा। यहाँ पर देवदत्त को जो शाब्दबोध हो रहा है वह जैसे प्रथमान्त नीलपदसमभिव्याहृत प्रथमान्त घट पदत्वरूपाकाङ्क्षाज्ञानाव्यवहितोत्तरजायमान है, अतः उसके प्रति प्रथमान्तनीलपदसमभिव्याहृत प्रथमान्तघटपदत्वरूप आकाङ्क्षाज्ञान कारण होगा। उसी प्रकार यह शाब्दबोध द्वितीयान्तनीलपदसमभिव्याहृत द्वितीयान्तघटपदत्वरूप आकाङ्क्षाज्ञाना-व्यवहितोत्तरजायमान भी है, अतः इस शाब्दबोध के प्रति द्वितीयान्त नीलपद समभिव्याहृत-द्वितीयान्तघटपदत्वरूप आकाङ्क्षाज्ञान भी कारण होगा। इसी रीति से यज्ञ दत्त को जो अभेदान्वयबोध हो रहा है उसके प्रति भी प्रथमान्तनीलपदसमभिव्याहृत प्रथमान्त घटपदत्वरूपाकाङ्क्षाज्ञान और द्वितीयान्तनीलपदसमभिव्याहृत द्वितीयान्तघटपदत्वरूप आकाङ्क्षाज्ञान कारण होंगे। परन्तु देवदत्त में द्वितीयान्तनीलपदसमभिव्याहृत द्वितीयान्तघटपदत्वरूप आकाङ्क्षाज्ञान का अभाव है और यज्ञदत्त में प्रथमान्तनीलपद समभिव्याहृतप्रथमान्तघटपदत्व-रूप आकाङ्क्षाज्ञान का अभाव है। इसरीति से पुनः कारणाभाव होने पर कार्य होने लगेगा। अतः पुनः व्यतिरेकव्यभिचार गले पतित होगा। इसका समाधान अन्यस्थलों की तरह ही ढूँढना चाहिए और कहना चाहिए कि तत्तत् आकाङ्क्षाज्ञान से विशिष्ट अभेदान्वयबोध के प्रति तत्तत् आकाङ्क्षाज्ञान कारण होते हैं। अभिप्राय यह है कि—प्रथमान्तनीलपदसमभिव्याहृत प्रथमान्त घटपदत्व रूप आकाङ्क्षाज्ञान से विशिष्ट अभेदान्वयबोध के प्रति प्रथमान्तनीलपद-समभिव्याहृतप्रथमान्तघटपदत्वरूप आकाङ्क्षाज्ञान कारण होता है। आकाङ्क्षाज्ञान से शाब्दबोध को स्वाव्यवहितोत्तरत्व और स्वाधिकरणवृत्तित्व सम्बन्ध से विशिष्ट बनाना है। देवदत्त और यज्ञदत्त स्थल में जहाँ अभी दोष दिखलाया गया है, इस तरह परिष्कार कर देने से दोष वारित हो जाता है। देवदत्त को जो अभेदान्वयबोध हुआ वह प्रथमान्तनीलपदसमभिव्याहृत-प्रथमान्तघटपदत्व रूप आकाङ्क्षाज्ञान से ही विशिष्ट होगा क्योंकि देवदत्त को जो अभेदान्वयबोध हुआ वह प्रथमान्तनीलपदसमभिव्याहृत प्रथमान्तघटपदत्वरूप आकाङ्क्षाज्ञान से अव्यवहित उत्तरक्षण में हुआ है और इस आकाङ्क्षाज्ञान के अधिकरण देवदत्त (आत्मा) में वृत्ति भी

है।अतः देवदत्त को होने वाले अभेदान्वयबोध के प्रति प्रथमान्तनीलपदसमभिव्याहृत प्रथमान्तघट पदत्वरूप आकाङ्क्षाज्ञान ही कारण होगा, द्वितीयान्तनीलपदसमभिव्याहृत द्वितीयान्त घटपदत्व रूप आकाङ्क्षाज्ञान कारण नहीं होगा क्योंकि द्वितीयान्तनीलपदसमभिव्याहृत द्वितीयान्त नीलपदत्वरूपआकाङ्क्षाज्ञान के अव्यवहितोत्तरक्षण में जायमान तो है देवदत्तनिष्ठ शाब्दबोध; परन्तु उक्त आकाङ्क्षाज्ञान के अधिकारण में वृत्ति नहीं है— उक्त आकाङ्क्षाज्ञान यज्ञदत्त में है और शाब्दबोध देवदत्त में है।इसी प्रकार यज्ञदत्त को होने वाले शाब्दबोध के प्रति द्वितीयान्तनीलपदसमभिव्याहृत द्वितीयान्तघटपदत्वरूप आकाङ्क्षा ज्ञान ही कारण होगा न कि प्रथमान्तनीलपदसमभिव्याहृतप्रथमान्तघटपदत्वरूप आकाङ्क्षाज्ञान कारण होगा। इस प्रकार देवदत्तीयशाब्दबोध में द्वितीयान्तनीलपदसमभिव्याहृतद्वितीयान्तघट पदत्वरूप आकाङ्क्षाज्ञान के और यज्ञदत्तीयशाब्दबोध में प्रथमान्तनीलपदसमभिव्याहृत प्रथमान्तघटपदत्वरूप आकाङ्क्षाज्ञान के कारण न होने से पूर्वोक्त व्यतिरेक व्यभिचार वारित हो जाता है।

**विमर्श–** इस प्रकार कार्यतावच्छेदक कोटि में कारणवैशिष्ट्य का निवेश करके आकाङ्क्षाज्ञान और शाब्दबोध का कारणकार्यभाव विना व्यभिचार के उपपन्न होता है। परन्तु उस रीति से व्यतिरेक व्यभिचार का वारण करने पर नाना कार्यकारण भावों की कल्पना करनी पड़ेगी जैसाकि पूर्व में बतलाया गया है। इसलिए प्रश्न यह उठता है कि समस्त आकाङ्क्षाज्ञानों की अभेदान्वयबोध के प्रति अन्यतमत्वेन कारणता की कल्पना क्यों न कर ली जाये अर्थात् उक्त समस्त आकाङ्क्षाज्ञानों की अन्यतमत्वेन अभेदान्वयबोध के प्रति कारणता मान ली जाये। ऐसा करने पर होगा यह कि किसी एक आकाङ्क्षाज्ञान के रहने पर भी अभेदान्वय बोध हो जायेगा। जहाँ पर प्रथमान्तनीलपदसमभिव्याहृतप्रथमान्तघट पदत्वरूप आकाङ्क्षाज्ञान से शाब्दबोध हो रहा है वहाँ पर भी आकाङ्क्षाज्ञानों में अन्यतम (कोई एक) तो है ही। अन्य आकाङ्क्षाज्ञान जो कि कारण हैं उनके न रहने पर भी कोई दोष नहीं है क्योंकि अन्यतमत्वेन कारणता स्वीकारी गयी है। अतः स्वाव्यवहितोत्तरत्व और स्वाधिकरणवृत्तित्व सम्बन्धों से आकाङ्क्षाज्ञानों का वैशिष्ट्य भी अभेदान्वयबोध में नहीं देना पड़ेगा। अतः लाघव भी होगा।

इस प्रश्न का समाधान ढूँढ़ते हुए प्रथमतः यह विचार करना चाहिए कि अन्यतमत्व का अभिप्राय क्या है? अन्य का मतलब होता है भेदवान्, अन्यतर का मतलब है भेदद्वयावच्छिन्नप्रतियोगिताकभेदवान्, अन्यतम का मतलब है भेदकूटावच्छिन्न प्रतियोगिताकभेदवान्। जैसे— घट से अन्य है पट क्योंकि पट में घट का भेद (घटत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकभेद) है। घटपटान्यतर घट और पट दोनों ही होते हैं क्योंकि घट से भिन्न और पट से भिन्न पट पट दोनों को छोड़कर समस्त संसार होगा, अर्थात् घटत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकभेद और पटत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकभेद ये भेदद्वय (दो भेद) हुए, भेदद्वयवान् समस्त संसार होगा घट, पट को छोड़कर। 'भेदद्वयवान् न' ऐसा भेद घट, पट में आयेगा क्योकि भेदद्वयवान् सिर्फ घट और पट ही नहीं हैं। 'भेदद्वयवान् न' इस भेद का प्रतियोगी है भेदद्वयवान्, प्रतियोगिता भेदद्वयवान् में, प्रतियोगिता का अवच्छेदक हुआ भेदद्वय, इस तरह भेदद्वयावच्छिन्नप्रतियोगिताकभेदवान् घट पट ही घटपटान्यतर होते हैं। घटपटमठान्यतम घट, पट, मठ तीनों ही होते हैं क्योंकि घट से भिन्न, पट से भिन्न और मठ से भिन्न इन तीनों के अलावा समस्त संसार होगा, घट का भेद, पट का भेद और मठ का भेद यह

भेदकूट हो गया, भेदकूटवान् घटपटमठातिरिक्त ही होगा। इसलिए 'भेदकूटवान् न' ऐसा भेद आयेगा घट, पट, मठ इन तीनों में क्योंकि भेदकूटवान् यही तीन नहीं है। इस भेद का प्रतियोगी है भेदकूटवान् । प्रतियोगिता भेदकूटवान् में और प्रतियोगिता का अवच्छेदक है भेदकूट, इस तरह भेदकूट से अवच्छिन्न प्रतियोगिता जिस भेद की है ऐसा भेद हुआ 'भेद कूटवान् न' यह भेद। इस भेदवाले होंगे घटपटमठ ये तीनों ही। अब हम प्रकृतस्थल में देखें— यहाँ पर आकाङ्क्षाज्ञानों को अभेदान्वयबोध के प्रति अन्यतमत्वेन यदि कारण माना जाये तो अन्यतमत्व का अर्थ होगा— प्रथमान्तनीलपदसमभिव्याहृतप्रथमान्तघटपदत्वरूप आकाङ्क्षाज्ञान प्रतियोगिक भेद से विशिष्ट द्वितीयान्तनीलपदसमभिव्याहृत द्वितीयान्तघट पदत्वरूप आकाङ्क्षाज्ञानप्रतियोगिकभेद इसी प्रकार समस्त कारणीभूत आकाङ्क्षाज्ञान प्रतियोगिक भेदों को एक-एक करके पकड़ना होगा और फिर तादृशभेदकूटवान् करके इन आकाङ्क्षाज्ञानों से अतिरिक्त समस्त जगत् को पकड़कर 'तादृशभेदकूटवान् न' ऐसा भेद लेना पड़ेगा। यह भेदवत्त्व ही अन्यतमत्व है। यहाँ पर जो भेद से विशिष्ट अपर भेद, अपरभेद से विशिष्ट अन्यभेद ऐसा निवेश किया जा रहा है उसमें ऐसी कोई विनिगमना ( एक पक्ष को प्रबल बताने वाली युक्ति) तो है नहीं जिससे यह पता चले कि किस आकाङ्क्षाज्ञान प्रतियोगिक भेद से विशिष्ट किस भेद को बनाना है। जैसे इधर से विशिष्ट लिया जा सकता है उसी प्रकार उधर से विशिष्ट भी लिया जा सकता है। इस प्रकार प्रवेश करने पर कारणता का बाहुल्य होगा। दूसरी बात यह है कि अन्यतमत्व को कारणतावच्छेदक मान रहे हैं और पूर्वोक्त रीति से अन्यतमत्व गुरुधर्म है। गुरुधर्म को कारणतावच्छेदक मानना युक्तिसंगत नहीं है। तीसरी बात यह है कि 'भेद कूटवान् न' ऐसा भेद जो लिया जा रहा है उसका प्रतियोगि भेदकूटवान् अर्थात् जगत् होगा क्योंकि भेदकूटवान् जगत् ही होगा। इस प्रकार जगत् का भेद प्रतियोगि बनाकर प्रवेश किया जा रहा है, अतः महान गौरव होगा। इसलिए ग्रन्थकार ने जैसा तरीका अपनाया है, उसे छोड़ने में कोई तर्कसंगत युक्ति नहीं दिखलायी पड़ती है।

इस पर यह प्रश्न पूँछा जा सकता है कि अन्यतमत्व को पूर्वोक्त प्रकार का मानने पर उक्त प्रकार से दोष आयेगा लेकिन यदि उतने आकाङ्क्षाज्ञानों में रहनेवाला अन्यतमत्व एक ही मान लिया जाये अर्थात् उसे जातिरूप मान लें अथवा अखण्डोपाधि रूप मान लें और उसे कारणतावच्छेदक मानें तो पूर्वोक्त दोषों की कोई आपत्ति नहीं रहेगी इस तरह मानने पर कारणता भी एक ही होगी और कारणतावच्छेदक भी लघुधर्म होगा। फिर इस रीति से ही अन्यतमत्वेन आकाङ्क्षाज्ञानों की कारणता क्यों न मान ली जाये?

परन्तु इस तरह भी आकाङ्क्षाज्ञानों की कारणता अन्यतमत्वेन नहीं बन सकती है। क्योंकि समानविषयकशाब्दबोध के प्रति प्रत्यक्षसामग्री प्रतिबन्धक होती है अर्थात् यदि एक ही विषय के शाब्दबोध की सामग्री मौजूद है और उसी विषय के प्रत्यक्ष की सामग्री भी मौजूद है तो प्रत्यक्ष ही होगा न कि शाब्दबोध। इसलिए आकांक्षाज्ञान जन्य शाब्दबोध के प्रति सहकारी कारण होता है समानविषयक प्रत्यक्षसामग्री का अभाव क्योंकि प्रतिबन्धका भाव को भी सहकारी कारण माना जाता है। इस प्रकार समानविषयक प्रत्यक्षसामग्री के रहने पर आकाङ्क्षाज्ञान आदि समस्त कारणों के रहने पर भी शाब्दबोध नहीं होता है। किन्तु उसी स्थल में यदि शाब्दबोध हो ऐसी इच्छा रहे तो शाब्दबोध ही होता है प्रत्यक्ष नहीं।

इसलिए शाब्देच्छाविरहविशिष्टप्रत्यक्षसामग्री का अभाव शाब्दबोध के प्रति कारण होता है ऐसा माना जाता है। ऐसा मानने पर जब शाब्देच्छा है और प्रत्यक्ष सामग्री भी है तो विशेषण (शाब्देच्छाविरह) के न रहने से विशेषणाभावप्रयुक्त विशिष्टाभाव आ जायेगा अतः शाब्दबोध होगा। जब शाब्देच्छा नहीं है और प्रत्यक्षसामग्री भी नहीं है तो विशेष्य (प्रत्यक्षसामग्री) के न रहने से विशेष्याभावप्रयुक्त विशिष्टाभाव आ जायेगा, अतः शाब्दबोध होगा। जब शाब्देच्छा है और प्रत्यक्षसामग्री नहीं है तो विशेषण (शाब्देच्छाविरह) और विशेष्य (प्रत्यक्षसामग्री) दोनों के न रहने से उभयाभाव प्रयुक्त विशिष्टाभाव आ जायेगा, अतः शाब्द बोध होगा। जब प्रत्यक्षसामग्री है और शाब्देच्छा नहीं है तो विशेषण (शाब्देच्छाविरह) और विशेष्य (प्रत्यक्षसामग्री) दोनों के रहने से शाब्दबोध नहीं होता है। यहाँ पर ध्यान देने योग्य तथ्य यह है कि शाब्देच्छाविरहविशिष्ट प्रत्क्षसामग्री का अभाव शाब्दबोध के प्रति कारण है, इसमें विशेषण है शाब्देच्छाविरह और विशेष्य है प्रत्यक्षसामग्री। जब शाब्देच्छाविरह से विशिष्ट प्रत्यक्षसामग्री रहेगी तो शाब्दबोध नहीं होगा और शाब्देच्छाविरहविशिष्टप्रत्यक्षसामग्री नहीं रहेगी तो शाब्दबोध होगा। इसके साथ ही एक बात और ध्यान देने योग्य है वह यह कि प्रथमान्तनील पदसमभिव्याहृतप्रथमान्तघटपदत्वरूप आकाङ्क्षाज्ञान है और समानविषयप्रत्यक्षसामग्री भी है तो यदि इच्छा हुई कि 'द्वितीयान्तनीलपदसमभिव्याहृत द्वितीयान्तघटपदत्वरूप आकाङ्क्षाज्ञान-जन्यशाब्दबोध होवे' तो वहाँ पर शाब्दबोध नहीं होता है। इसलिए माना यह जाता है कि शाब्दबोध के उत्पन्न हो जाने पर जिस इच्छा के विषय की सिद्धि होती है वही इच्छा उत्तेजक होती है। उपदर्शित स्थल में यदि शाब्दबोध हो तो उससे उक्त शाब्देच्छा के विषय की सिद्धि नहीं होती है क्योंकि शाब्देच्छा का विषय है द्वितीयान्त नीलपदसमभिव्याहृत द्वितीयान्तघटपदत्वरूप आकाङ्क्षाज्ञानजन्य शाब्द बोध, उपदर्शित स्थल में जो शाब्दबोध होगा वह प्रथमान्तनीलपद-समभिवव्याहृत प्रथमान्त घट पदत्व रूप आकाङ्क्षाज्ञान जन्य होगा । अतः इस शाब्दबोध से उक्त इच्छा के विषय की सिद्धि नहीं होती है। फलतः यह इच्छा उक्त शाब्दबोध में उत्तेजक नहीं होगी। इस प्रकार यदि हम ग्रन्थकार ने जैसा कहा है उस रीति से शाब्दबोध के प्रति तत्तद् रूप से आकाङ्क्षाज्ञान को कारण मानते हैं तब तो '**प्रथमान्त नीलपद समभिव्याहृत प्रथमान्त घटपदत्वरूप आकाङ्क्षाज्ञान के अव्यवहितोत्तरक्षण में होने वाले नीलप्रकारक, अभेद संसर्गक, घट विशेष्यक शाब्दबोध के प्रति प्रथमान्तनील पद समभिव्याहृत प्रथमान्तघटपदत्वरूप आकाङ्क्षाज्ञानजन्यशाब्देच्छाविरहविशिष्ट जो नील प्रकारक, अभेदसंसर्गक, घटविशेष्यक प्रत्यक्षसामग्री उसके विरह से सहकृत प्रथमान्तनीलपदसमभिव्याहृतप्रथमान्तघटपदत्वरूप आकाङ्क्षाज्ञान कारण है**' ऐसा कार्यकारणभाव बनता है। फलस्वरूप दूसरी तरह की शाब्देच्छा होने पर दूसरी तरह का आकाङ्क्षा ज्ञान होने पर समान विषयक प्रत्यक्षसामग्री के रहने पर शाब्दबोध नहीं होता है। किन्तु यदि अन्यतमत्वेन रूपेण समस्त आकाङ्क्षाज्ञानों का कारणविधया प्रवेश करते है तो कार्यकारण भाव बनेगा कि -'**अन्यतम आकाङ्क्षाज्ञान के अधीन शाब्देच्छा के विरह से विशिष्ट जो समानविषयकप्रत्यक्षसामग्री उसके विरह से सहकृत अन्यतम आकाङ्क्षाज्ञान नीलप्रकारक, अभेदसंसर्गक, घटविशेष्यक शाब्दबोध**

**के प्रति कारण है'** फलस्वरूप समान विषयक प्रत्यक्षसामग्री के रहने पर भी किसी भी शाब्देच्छा के रहने पर किसी भी आकाङ्क्षाज्ञान से शाब्दबोध होने लगेगा। जैसे- जहाँ प्रथमान्तनीलपदसमभिव्याहृत प्रथमान्तघटपदत्व रूप आकाङ्क्षाज्ञान है, नीलप्रकारक, अभेद संसर्गक, घट विशेष्यक प्रत्यक्षसामग्री है और 'द्वितीयान्तनीलपदसमभिव्याहृत द्वितीयान्त घटपदत्वरूप आकाङ्क्षाज्ञानजन्य शाब्दबोध हो' ऐसी शाब्देच्छा है। वहाँ शाब्दबोध (अभेदान्वयबोध) होने लगेगा क्योंकि अन्यतम आकाङ्क्षाज्ञानाधीन शाब्देच्छा है ही, अतः समानविषयक प्रत्यक्षसामग्री के रहने पर भी विशेषणाभावप्रयुक्तविशिष्टाभाव आ जायेगा। इस तरह तादृशप्रत्यक्षसामग्रीविरहसहकृत अन्यतम आकाङ्क्षाज्ञान प्रथमान्त नीलपदसमभिव्याहृत-प्रथमान्तघटपदत्वरूप आकाङ्क्षाज्ञान है। अतः कारण रहने से नीलप्रकारक, अभेद संसर्गक, घट विशेष्यक अभेदान्वय बोध होने लगेगा। जो कि होता नहीं है। अतः मूलकारोक्त रीति से ही कार्यकारणभाव मानना चाहिए।

इस प्रकार कार्यकारणभावमानने पर एक दूसरी आशंका उठ खड़ी होती है। वह यह कि ऐसा कार्यकारणभाव स्वीकारने पर **'नीलस्य घटः'** इत्यादि स्थलों में नीलप्रकारक, अभेद संसर्गक, घटविशेष्यक शाब्दबोध होना चाहिए क्योंकि ऊपर जो कार्यकारणभाव अव्यवहितोत्तरत्व या वैशिष्ट्य का निवेश करके बनाया गया है, तत्तत् आकाङ्क्षाज्ञान के अव्यवहित उत्तर में उत्पन्न होने वाले अथवा तत्तत् आकाङ्क्षाज्ञान से विशिष्ट अभेदान्वयबोध के प्रति हो तत्तत् आकाङ्क्षाज्ञानों की कारणता है। **'नीलस्य घटः'** इस वाक्य के द्वारा जिस अभेदान्वयबोध की आपत्ति दी जा रही है वह तत्तद् आकाङ्क्षाज्ञानों में से किसी से भी अव्यवहितोत्तर या विशिष्ट नहीं है। अतः उसके प्रति तत्तत्आकाङ्क्षाज्ञानों में से किसी की भी कारणता न होगी। अभेदान्वयबोध के प्रति कोई सामान्य कारण तो बताया ही नहीं गया है और माना भी नहीं जाता। यदि कोई सामान्य कारण अभेदान्वयबोध के प्रति होता तो 'उसके न रहने से यहाँ पर अभेदान्वयबोध नहीं होता है' ऐसा कह सकते थे। ऐसा भी नहीं है। तत्तत् आकाङ्क्षाज्ञान तत्तत् आकाङ्क्षाज्ञान से विशिष्ट अभेदान्वय बोध के प्रति (विशेष के प्रति) ही कारण हैं न कि अभेदान्वय बोध सामान्य के प्रति। अतः **'नीलस्य घटः'** यहाँ पर अभेदान्वय होने में प्रतिपादित रीति से कोई परेशानी या आपत्ति नहीं समझ में आती है।

इस आशंका का समाधान यह है— **सामान्यधर्म से विशिष्ट कार्य को उत्पन्न करने के लिए विशेष धर्म से विशिष्ट कार्य को उत्पन्न करने वाली सामग्री की अपेक्षा होती है।** जैसे शुक्लपट (सफ़ेद कपड़े) के प्रति शुक्लतन्तुओं (सफ़ेद धागों) की कारणता होती है, काले कपड़े के प्रति काले धागों की कारणता होती है। इस प्रकार विशेष धर्म शुक्लपटत्व कृष्णपटत्वादि से विशिष्ट को उत्पन्न करने के लिए शुक्ल तन्तु, कृष्ण तन्तु आदि की अपेक्षा होती है। यदि पटत्व रूप सामान्य धर्म से विशिष्ट कार्य पट को उत्पन्न करना हो तो उसके लिए किसी अन्य कारण की अपेक्षा नहीं होती है अपितु शुक्ल,कृष्ण आदि तन्तुओं की ही आवश्यकता होती है। इसी प्रकृत स्थल **'नीलस्य घटः'** में नीलप्रकारक, अभेदसंसर्गक, घट विशेष्यक शाब्दबोध हेतु (सामान्य धर्म से विशिष्ट

कार्य को उत्पन्न करने के लिए) तत्तत् आकाङ्क्षाज्ञानविशिष्ट नीलप्रकारक, अभेदसंसर्गक, घटविशेष्यक शाब्दबोध को (विशेषधर्म से विशिष्ट कार्य को) उत्पन्न करने वाली सामग्री तत्तत् आकाङ्क्षाज्ञानों की ही अपेक्षा होती है। तत्तत् आकाङ्क्षाज्ञानों के न रहने से यहाँ पर अभेदान्वय बोध नहीं होता है।

यद्यपि यहाँ पर यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि शुक्लपट के प्रति शुक्ल तन्तुओं की कृष्ण पट के प्रति कृष्ण तन्तुओं की इसी रीति से अन्यवर्णवाले पट के प्रति अन्यवर्ण वाले तन्तुओं की कारणता होने पर भी 'पट सामान्य के प्रति तन्तुसामान्य की कारणता होती है' ऐसा एक सामान्य कार्यकारणभाव भी है। कहा भी जाता है कि- **'यद्विशेषयोः कार्य कारणभावस्तत्सामान्ययोरपि'** जो विशेषकार्यों का कार्यकारण भाव होता है वह सामान्य का भी कार्यकारण भाव होता है। अतः 'सामान्यधर्म से विशिष्ट कार्य को उत्पन्न करने के लिए विशेष धर्म से विशिष्ट कार्य को उत्पन्न करने वाली सामग्री की अपेक्षा होती है' इस नियम को यदि न माना जाये तो भी दृष्टान्तस्थल में कोई दोष नहीं आता क्योंकि पट सामान्य के प्रति तन्तुसामान्य की कारणता होने से पट की उत्पत्ति में कोई विवाद नहीं है। तथापि **'यद्विशेषयोः कार्यकारणभावस्तत्सामान्ययोरपि'** इस नियम को मानने में विवाद है। अव्वल तो जहाँ कहीं पर भी विशेषों का कार्यकारणभाव माना जाता है वहाँ हर जगह सामान्यों का कार्यकारण भाव हो ही यह ज़रूरी नहीं है। उदाहरण के लिए इसी स्थलस को लिया जा सकता है, यहाँ पर अभेदान्वयबोध सामान्य के प्रति कोई सामान्य कारण नहीं बतलाया जा सकता है। न्यायसिद्धान्तमुक्तावली दिनकरी की रामरुद्री व्याख्या में (सिद्धान्तमुक्तावली रामरुद्री पृ.26) उक्त नियम के विषय में कहा गया है कि— **'तस्याप्यप्रयोजकत्वात्'** यह नियम अप्रयोजक है अर्थात् व्यभिचार शंकानिवर्तकतर्क से शून्य है। दूसरी बात यह है कि इस नियम से पूर्वोक्त नियम का कोई विरोध नहीं है। सामान्यों का भी यदि कार्यकारण भाव हो तो उससे यह खण्डित नहीं होता है कि सामान्य धर्मविशिष्ट कार्य को उत्पन्न करने के लिए विशेषधर्म से विशिष्ट कार्य को उत्पन्न करने वाली सामग्री की अपेक्षा होती है।

कुछ अन्य लोग **'नीलस्य घटः'** यहाँ पर विशेष्यवाचक पद में प्रथमान्तत्व का निवेश न करके **'प्रथमान्तनीलपदसमभिव्याहृतघटपदत्वरूप आकाङ्क्षाज्ञान से विशिष्ट ( स्वाव्यवहितोत्तरत्व, स्वसामानाधिकरण्य इन दो सम्बन्धों के द्वारा विशिष्ट ) नीलप्रकारक, अभेदसंसर्गक, घटविशेष्यक शाब्दबोध के प्रति प्रथमान्तनीलपद समभिव्याहृतप्रथमान्तघटपदत्वरूप आकाङ्क्षाज्ञान कारण होता है'** ऐसा कार्य कारण भाव बनाते हैं। इसी तरह द्वितीयान्त, तृतीयान्त आदि का भी निवेश करके आकाङ्क्षा ज्ञान की वैसे शाब्द बोध के प्रति कारणता स्वीकार करते हैं। जैसे कि **'द्वितीयान्त नीलपदसमभिव्याहृतघटपदत्वरूप आकाङ्क्षाज्ञान से विशिष्ट नीलप्रकारक, अभेदसंसर्गक, घटविशेष्यक शाब्दबोध के प्रति द्वितीयान्तनीलपदसमभिव्याहृत द्वितीयान्तघटपदत्वरूप आकाङ्क्षाज्ञान कारण होता है'** इसी प्रकार से सातों विभक्तियों में कार्यकारणभाव स्वीकार किया जायेगा। फलतः 'नीलस्य घटः' में जिस अभेदान्वयबोध

(नीलप्रकारक, अभेदसंसर्गक, घटविशेष्यक शाब्दबोध) की आपत्ति दी जा रही थी वह वारित हो जायेगी क्योंकि उक्त रीति से '**षष्ठ्यन्तनीलपदसमभिव्याहृत घटपदत्व रूप आकाङ्क्षाज्ञान से विशिष्ट अभेदान्वयबोध षष्ठ्यन्तनीलपदसमभिव्याहृत षष्ठ्यन्तघटपदत्वरूप आकाङ्क्षाज्ञान कारण होता है**' ऐसा कार्यकारण भाव स्वीकृत है। '**नीलस्य घटः**' में जो अभेदान्वयबोध आपाद्यमान है वह षष्ठ्यन्तनीलपदसमभिव्याहृत घट पदत्वरूप आकाङ्क्षाज्ञान से विशिष्ट है। फलतः उक्त कार्यकारणभाव के अनुसार इस अभेदान्वयबोध के प्रति षष्ठ्यन्त नीलपदसमभिव्याहृत षष्ठ्यन्त घट पदत्व रूप आकाङ्क्षाज्ञान कारण होगा जो कि है नहीं । इस तरह '**नीलस्य घटः**' यहाँ पर आपाद्यमान अभेदान्वय बोध का आपादक आकाङ्क्षाज्ञान न होने के कारण अभेदान्वयबोध की आपत्ति वारित हो जाती है। परन्तु इस तरह का समाधान उचित नहीं है क्योंकि '**नीलस्य घटः नीलो घटश्च**' ऐसे समूहालम्बन[1] रूप आकाङ्क्षाज्ञान से नील और घट का अभेदान्वय बोध, जो कि होता है, नहीं हो सकेगा। चूँकि उक्त समूहालम्बनात्मक आकाङ्क्षाज्ञान प्रथमान्तनीलपदसमभिव्याहृत प्रथमान्त घट पदत्वरूप आकाङ्क्षाज्ञान है, अतः यहाँ पर नीलघटाभेदान्वयबोध होता है। परन्तु उपर्युक्त रीति से कार्यकारण भाव के मानने की दशा में चूँकि उक्तशाब्दबोध षष्ठ्यन्तनील पदसमभिव्याहृत घटपदत्वरूप आकाङ्क्षाज्ञान से विशिष्ट होता है क्योंकि उक्त समूहालम्बनात्मक आकाङ्क्षाज्ञान षष्ठ्यन्त नीलपदसमभिव्याहृत घट पदत्वरूप आकाङ्क्षाज्ञान है और उसका सामानाधिकरण्य तथा अव्यवहितोत्तरत्व उक्त शाब्दबोध में है। इसलिए उसके पूर्व में कारणीभूत षष्ठ्यन्तनीलपदसमभिव्याहृत षष्ठ्यन्तघटपदत्वरूप आकाङ्क्षाज्ञान आवश्यक होगा। वह है नहीं फलतः उक्त अभीष्ट नील घटाभेदान्वय बोध नहीं हो सकेगा। इस कारण इस रीति से '**नीलस्य घटः**' में अभेदान्वयबोध वारित नहीं किया जा सकता है।

कुछ अन्यलोग कहते हैं कि— प्रथमान्त, द्वितीयान्त, तृतीयान्त, चतुर्थ्यन्त, पञ्चम्यन्त और षष्ठ्यन्त स्थलों के लिए पूर्वोक्त रीति से ही कार्य कारण भाव बनाया जाये जैसे कि '**प्रथमान्तनीलपदसमभिव्याहृत प्रथमान्त घटपदत्व रूप आकाङ्क्षाज्ञान से विशिष्ट नीलप्रकारक, अभेदसंसर्गक, घटविशेष्यक शाब्दबोध के प्रति प्रथमान्त नीलपदसमभिव्याहृत प्रथमान्त घटपदत्वरूप आकाङ्क्षाज्ञान कारण होता है**' इसी प्रकार द्वितीयान्त आदि स्थलों के लिए भी कार्यकारणभाव बनााया जाये। किन्तु सप्तम्यन्त स्थल के लिए '**तत्तत् आकाङ्क्षाज्ञानों से अविशिष्ट नीलप्रकारक, अभेद संसर्गक, घटविशेष्यक शाब्दबोध के प्रति सप्तम्यन्तनीलपदसमभिव्याहृत सप्तम्यन्त-घटपदत्वरूप आकाङ्क्षाज्ञान कारण होता है**' ऐसा कार्यकारणभाव बनाया जाये। '**नीलस्य घटः**' इस स्थल में जिस शाब्दबोध (अभेदान्वयबोध) की आपत्ति दी जा रही है, वह अभेदान्वयबोध प्रथमान्तनीलपदसमभिव्याहृत प्रथमान्त घटपदत्वरूप आकाङ्क्षाज्ञान

---

1- नानामुख्यविशेष्यताशालिज्ञानं समूहालम्बनम्' जिस ज्ञान की अनेक मुख्य विशेष्यतायें होती हैं उस ज्ञान को समूहालम्बन कहते हैं। समूहमालम्बते इति समूहालम्बनम् इस व्युत्पत्ति से भी यही अर्थ लब्ध होता है। सामान्य ज्ञान में एक ही मुख्यविशेष्यता होती है जैसे 'नीलो घटः' इस ज्ञान में मुख्य विशेष्यता घट में है क्योंकि वह किसी का विशेषण नहीं बनता है। नील में विशेष्यता भी है क्योंकि नील में नीलत्व विशेषण होता है और प्रकारता भी है क्योंकि

से विशिष्ट नहीं है क्योंकि स्वाव्यवहितोत्तरत्व, स्वसामानाधिकरण्य इन दो सम्बन्धों से वैशिष्ट्य लिया जाना है और प्रथमान्तनीलपदसमभिव्याहृत प्रथमान्त घटपदत्व रूप आकाङ्क्षा ज्ञान का अव्यवहितोत्तरत्व अभेदान्वय बोध में आयेगा नहीं, इसी प्रकार द्वितीयान्तादि नीलपदसमभिव्याहृत द्वितीयान्तादिघटपदत्वरूप आकाङ्क्षाज्ञानों का भी वैशिष्ट्य अभेदान्वयबोध में नहीं है। इस प्रकार तत्तत् आकाङ्क्षाज्ञानों से अविशिष्ट यह अभेदान्वयबोध होगा जिसकी आपत्ति दी जा रही है। उसके प्रति सप्तम्यन्त नील पदसमभिव्याहृतसप्तम्यन्त घटपदत्व रूप आकाङ्क्षाज्ञान कारण होगा जोकि है नहीं। इसलिए उक्त अभेदान्वयबोध की आपत्ति वारित हो जायेगी।

परन्तु ऐसा समाधान भी उचित नहीं है— **'नीलो घटाः नीलस्य घटः'** इस समूहालम्बनात्मक आकाङ्क्षाज्ञान में 'नीलो घटः' इस अंश में यदि अप्रामाण्यज्ञान (अयथार्थत्वज्ञान) हो जाये तो यहाँ पर नीलघटाभेदान्वय बोध होने लगेगा क्योंकि यह आपाद्यमान (जिसकी आपत्ति दी जा रही है) शाब्दबोध तत्तत् आकाङ्क्षाज्ञानों से अविशिष्ट नहीं होता है, प्रथमान्तनीलपदसमभिव्याहृत प्रथमान्तघटपदत्व रूप आकाङ्क्षाज्ञान से विशिष्ट ही होता है। अतः उसके प्रति सप्तम्यन्तनीलपद समभिव्याहृत सप्तम्यन्त घटपदत्व रूप आकाङ्क्षाज्ञान कारण नहीं होगा। शाब्दबोध के प्रति अप्रामाण्यज्ञान से अनास्कन्दित ही आकाङ्क्षाज्ञान के कारण होने से उक्त प्रथमान्तनीलपदसमभिव्याहृत प्रथमान्त घट पदत्वरूप आकाङ्क्षाज्ञान कारण नहीं हो सकता । अतः इस रीति से यहाँ पर शाब्दबोध (अभेदान्वयबोध) की आपत्ति नहीं वारित की जा सकती है।

**यत्तु समासव्याससाधारणं विशेषणपदस्य विशेष्यवाचकपदाप्रकृतिक विभक्त्यप्रकृतित्वरूपं विरुद्धविभक्तिराहित्यमेव तादृशान्वयबोधौपयिकाकाङ्क्षा विशेष्यवाचकपदनिष्ठविशेषणवाचकपदाप्रकृतिकविभक्त्यप्रकृतित्वं च न तथा 'नीलघटमानय' इत्यादावसम्भवादिति, तदसत् - विशेष्यवाचकपदाप्रकृतिकत्वस्य तादृशपदानुत्तरत्वरूपस्य तदुत्तरत्वेनाप्रतिसन्धीयमानत्वरूपस्य वा 'नीलो घटः' इत्यादौ नीलादिपदसमभिव्याहृतविभक्तौ घटपदसमभिव्याहृतविभक्ति-भिन्नतया सत्त्वात् ।**

अभी मूलकार ने समासस्थल के लिए अलग तरह की आकाङ्क्षा और व्यास (समासभिन्न) स्थल के लिए अलग तरह की आकाङ्क्षा का स्वीकार किया है। कुछ अन्यलोग समासस्थल और व्यासस्थल दोनों स्थलों के लिए एक ही प्रकार की आकाङ्क्षा स्वीकारना चाहते हैं उनके मत को उपस्थित करके ग्रन्थकार खण्डन करते हैं कि-जो लोग समास और व्यास दोनों स्थलों के लिए साधारण (एक जैसा) विशेषणपद का विशेष्यवाचक पदाप्रकृतिकविभक्त्य प्रकृतित्व रूप विरुद्धविभक्तिराहित्य को ही नीलप्रकारक, अभेदसंसर्गक,

---

नीलपदार्थ घट में विशेषण बनता है। घट में मुख्य विशेष्यता है क्योंकि वह विशेष्य (नील का) तो बनता है परन्तु किसी का भी विशेषण नहीं बनता है। 'नीलो घटः नीलस्य घटश्च' इस समूहालम्बन ज्ञान में घट में नील अभेद सम्बन्ध से विशेषण है और अन्यसम्बन्ध से भी विशेषण है। यह क्रमशः नीलो घटः नीलस्य घटः इस ज्ञान से होता है। घट किसी का भी विशेषण नहीं होता है। इस प्रकार घट में दो मुख्यविशेष्यताएँ आती हैं एक अभेदसम्बन्ध से नील के विशेषण होने से और दूसरी अन्य सम्बन्ध से नील के विशेषण होने से।

घटविशेष्यक शाब्दबोध के प्रति कारणीभूत आकाङ्क्षा मानते हैं। इनका कथन यह है कि समास व्यास दोनों स्थलों के लिए एक जैसी आकाङ्क्षा ही कारण माननी चाहिए और उभयस्थलसाधारण आकाङ्क्षा है विरुद्धविभक्तिराहित्य। विरुद्धविभक्तिराहित्य से 'विशेष्यवाचक पद प्रकृति नहीं है जिस विभक्ति की विशेषणवाचक पद में उस विभक्ति का जो अप्रकृतित्व है' वही विवक्षित है। **'नीलो घटः'** में हम देखें - विशेष्यवाचक पद है घट पद, घटपद प्रकृति है सुविभक्ति की और प्रकृति नहीं है सु से भिन्न विभक्तियों की। विशेषणवाचक पद नीलपद में भी सुविभक्ति ही है, अतः सु से भिन्न विभक्तियों की अप्रकृति ही है नील पद, सु से भिन्न विभक्ति का अप्रकृतित्व नीलपद में है। इस प्रकार विरुद्धविभक्तिराहित्य रूप आकाङ्क्षा बन गयी है। **'नीलघटः'** इस समासस्थल में- विशेष्यवाचक घट पद प्रकृति है सु विभक्ति की, घटपदप्रकृतिक विभक्ति सुविभक्ति है और घटपदाप्रकृतिक विभक्ति सु से भिन्न विभक्ति होगी । सु से भिन्न विभक्ति का प्रकृतित्व नीलपद में नहीं है अप्रकृतित्व है। इस प्रकार यहाँ पर भी विरुद्धविभक्तिराहित्यरूप आकाङ्क्षा बन जाती है। **'नीलस्य घटः'** यहाँ पर भी विशेष्य वाचक घटपदाप्रकृतिक विभक्ति सु से भिन्न विभक्ति होगी और सु से भिन्न विभक्ति में षष्ठी विभक्ति भी आती है। षष्ठीविभक्ति प्रकृति है नील की। इस प्रकार विशेष्यवाचकपदाप्रकृतिक विभक्ति का अप्रकृतित्व नील पद में नहीं है। यहाँ पर प्रश्न यह उठता है कि- विशेष्यवाचकपदनिष्ठ विशेषणवाचकपदाप्रकृतिकविभक्त्य प्रकृतित्व को ही क्यों न विरुद्धविभक्तिराहित्य मान लिया जाये विशेषणवाचकपदनिष्ठ विशेष्यवाचकपदाप्रकृतिक विभक्त्य प्रकृतित्वरूप ही विरुद्धविभक्तिराहित्य क्यों माना जाये? तो इसका समाधान देते हैं कि **'नीलघटमानय'** इत्यादिस्थलों में यह सम्भव नहीं है क्योंकि विशेषण वाचक नील पद के बाद कोई विभक्ति नहीं है, वह किसी भी विभक्ति की प्रकृति नहीं है। अतः सारी विभक्तियाँ विशेषणवाचक नीलपदाप्रकृतिक हो जायेंगी। इस प्रकार विशेषणवाचक नीलपदाप्रकृतिक अम् विभक्ति का प्रकृतित्व ही घट पद में होने से विरुद्ध विभक्तिराहित्य रूप आकाङ्क्षा नहीं बन सकेगी।

परन्तु यह सारा कथन असत् (ग़लत) है क्योंकि प्रश्न यह उठता है कि विशेष्यवाचक पदाप्रकृतिकत्व का अर्थ क्या है? इसके दो अर्थ हो सकते हैं 1. विशेष्यवाचकपदानुत्तरत्व 2. विशेष्यवाचकपदोत्तरत्वेन अप्रतिसन्धीयमानत्व। प्रथम का अभिप्राय है विशेष्यवाचक पद के उत्तर में (बाद में) न होना अर्थात् जो विभक्ति विशेष्यवाचकपद के बाद में न होगी वह विशेष्यवाचकपदाप्रकृतिकविभक्ति कहलायेगी। दूसरे का अभिप्राय है विशेष्य वाचक पद के उत्तरत्वेन प्रतिसन्धान (स्मरण) न होना अर्थात् जिस विभक्ति का विशेष्यवाचक पदोत्तरत्वेन स्मरण न होगा वह विभक्ति विशेष्यवाचकपदाप्रकृतिक विभक्ति कहलायेगी। न्यायशास्त्रीय नियम है कि **'प्रत्युच्चारणं शब्दाः भिद्यन्ते'** हरेक उच्चारण में शब्द भिन्न हो जाते हैं। **'नीलो घटः'** यहाँ पर घट के बाद भी सु विभक्ति है और नील के बाद भी सु विभक्ति है। परन्तु दोनों सु विभक्तियों में भेद है। इस प्रकार नीलपदोत्तर सुविभक्ति घट पदानुत्तर भी है और घटपदोत्तरत्वेन उसका स्मरण भी नहीं होता है। घटपदोत्तरत्वेन घट पदोत्तर सुविभक्ति का ही स्मरण होता है। अतः घटपदाप्रकृतिकविभक्ति नीलपदोत्तर सुविभक्ति है और उसका

प्रकृतित्व ही नीलपद में है। विरुद्धविभक्तिराहित्यरूप आकाङ्क्षा इसलिए नहीं बन सकेगी। फलतः यहाँ पर नील और घट का अभेदान्वयबोध नहीं हो सकेगा।

**अथ विशेष्यवाचकपदोत्तरावृत्तिविभक्तिविभाजकधर्मवद्भिभक्ति-राहित्यस्य विवक्षणान्न दोष इति चेत् ? तर्हि विभक्तित्वादिकमजानतः पुरुषस्य तादृशधर्मज्ञानासम्भवाच्छाब्दबोधानुपपत्तिः। 'नीलो घटः' इत्यादावपि सुपदस्याम्पदत्वभ्रमदशायां तादृशबोधस्यानुदयात् , 'नीलस्य घटः' इत्यादावपि षष्ठ्यादेः सुपदत्वादिभ्रमदशायां शाब्दबोधोत्पत्त्या स्वरूपतो विरुद्ध विभक्तिराहित्यस्याप्रयोजकत्वात्**

पूर्वग्रन्थ के द्वारा पूर्वपक्षी के मत का उपस्थापन करके ग्रन्थकार उसका खण्डन कर चुके हैं। पूर्वपक्षी अपने मत में परिष्कार करके उक्त दोष का निवारण करना चाहता है। वह कहता है कि- विरुद्धविभक्तिराहित्य ही आकाङ्क्षा है जो कि समासव्याससाधारण है। विरुद्धविभक्तिराहित्य का मतलब है- विशेष्यवाचकपदोत्तर अवृत्ति विभक्ति का विभाजक जो धर्म उस धर्म वाली विभक्ति का राहित्य। इस प्रकार का विरुद्धविभक्तिराहित्य जब आकाङ्क्षा माना जाता है तो **'प्रत्युच्चारणं शब्दाः भिद्यन्ते'** इस न्यायशास्त्रीय नियम को मानने पर भी कोई दोष (पूर्वोक्त दोष) नहीं आयेगा **'नीलो घटः'** इत्यादि स्थलों में भी अभेदान्वयबोध हो जायेगा। देखें **'नीलो घटः'** में– विशेष्यवाचक पद है घट पद, घट पदोत्तर अवृत्ति (घटपद के बाद में न रहने वाली) विभक्ति प्रथमा विभक्ति से भिन्न अम् आदि विभक्तियाँ, उन विभक्तियों का विभाजक धर्म द्वितीयात्व, तृतीयात्व आदि धर्म, तर्द्धर्मवत् विभक्ति अम् आदि का राहित्य नीलपद में है क्योंकि नीलपद के बाद भी सु ही है। इस प्रकार विरुद्धविभक्तिराहित्य रूप आकाङ्क्षा बन जाती है। **'नील घटः'** में भी— विशेष्यवाचकपद घट पद के उत्तर अवृत्ति ( न रहने वाली) विभक्ति प्रथमा से भिन्न अमादि विभक्ति का विभाजक धर्म द्वितीयात्व, तृतीयात्व, तृतीयात्व आदि धर्म वाली विभक्तियों का राहित्य (अभाव) नील पद में है क्योंकि नीलपद के बाद कोई भी विभक्ति नहीं है। इस प्रकार यहाँ पर भी विरुद्धविभक्तिराहित्य रूप आकाङ्क्षा बन जाती है। इस प्रकार इस रीति से विरुद्धविभक्तिराहित्य का परिष्कार करने पर पूर्वोक्त दोष नहीं है।

तो ऐसा नहीं कहा जा सकता है क्योंकि विभक्तित्व आदि धर्मों को जो नहीं जाननेवाला पुरुष है, उसको इस प्रकार के विरुद्धविभक्तिराहित्य धर्म का पता नहीं चल सकता है, उसको इस प्रकार के विरुद्धविभक्तिराहत्यि का ज्ञान असम्भव है। अतः उसको **'नीलो घटः'** इस वाक्य से अभेदान्वयबोध उपपन्न नहीं होता है।अभिप्राय यह है कि उक्त प्रकार का विरुद्धविभक्तिराहित्य ही आकांक्षा है। आकाङ्क्षा जो होती है वह स्वरूपतः विद्यमान मात्र होने से कारण नहीं होती है अपितु ज्ञात होकर ही कारण होती है। उक्त विरुद्ध विभक्तिराहित्य रूप आकाङ्क्षा का ज्ञान बिना उसके विशेषणों विभक्तिविभाजक धर्म आदि का ज्ञान हुए नहीं हो सकता । फलस्वरूप जो व्यक्ति विभक्तित्व आदि धर्मों को नहीं जानता है उसको अभेदान्वय बोध नहीं हो सकता है, जबकि व्यवहार में देखा गया है कि उसे भी

शाब्दबोध होता है। इसलिए विरुद्धविभक्तिराहित्य रूप आकाङ्क्षा की शाब्द बोध के प्रति कारणता नहीं स्वीकारी जा सकती है।

आकाङ्क्षा ज्ञात होकर ही कारण बनती है न कि स्वरूपतः विद्यमान होने मात्र से यदि ऐसा स्वीकार न करें अर्थात् आकाङ्क्षा को स्वरूपततः विद्यमान होने मात्र से यदि कारण माना जाये तो उपर्युक्त आक्षेप वारित हो जायेगा। शाब्दबोध के प्रति आकाङ्क्षा का रहना ज़रूरी होगा न कि आकाङ्क्षा का ज्ञान इसलिए उपर्युक्तस्थल में भी अभेदान्वयबोध उपपन्न हो जायेगा। यदि ऐसा समाधान दिया जाये तो ग्रन्थकार का कहना है कि ऐसा कहना उचित नहीं है, स्वरूपतः विरुद्धविभक्तिराहित्य अप्रयोजक है, स्वरूपतः विरुद्धविभक्तिराहित्य का कोई मूल्य नहीं है। **'नीलो घटः'** यहाँ पर नीलपद और घटपद दोनों प्रथमान्त हैं विरुद्धविभक्तिराहित्य विद्यमान है। परन्तु यदि यहाँ पर सुपद में अम् पद होने का भ्रम हो जाये तो अभेदान्वयबोध नहीं होता है। यहाँ पर हम विचार करें तो पाते हैं कि सुपद में अम् पदत्व भ्रम हो जाने पर— सुपद को अम् पद समझने पर— भी उक्त **'नीलो घटः'** वाक्य के विरुद्धविभक्तिराहित्य की कोई क्षति नहीं होती है। अतः सुपद को भ्रमवशात् अमपद समझने पर भी अभेदान्वयबोध होने की पाली आ जाती है क्योंकि शाब्दबोध के प्रति आकाङ्क्षा का स्वरूपतः विद्यमान होना ही कारण होता है ऐसा आप मान रहे हैं। इसी प्रकार **'नीलस्य घटः'** में यदि नीलपदोत्तर षष्ठी में सुपदत्वभ्रम हो जाये- षष्ठी को भ्रमवशात् सु समझ लिया जाये— तो अभेदान्वयबोध यहाँ पर होता है। जबकि विरुद्ध विभक्तिराहित्यरूप आकाङ्क्षा यहाँ पर नहीं है। विशेष्यवाचकपद घटपद के उत्तर अवृत्ति (न रहने वाली) विभक्ति द्वितीया, तृतीया आदि का विभक्तिविभाजक धर्म द्वितीयात्व, तृतीयात्व आदि धर्म उन धर्मों वाली विभक्तियों का राहित्य नीलपद में नहीं है क्योंकि नीलपद में षष्ठी विभक्ति है। इसलिए आकाङ्क्षाज्ञान को ही कारण मानना चाहिए न कि आकाङ्क्षा स्वरूपसती कारण होती है।

**विमर्श-** यहाँ पर मूलकार की जो पंक्ति है **'विशेष्यवाचकपदोत्तरावृत्तिविभक्ति विभाजकधर्मवद्विभक्तिराहित्य'** उसका दो तरह से अर्थ लिया जाता है। एक तो विशेष्यवाचकपदोत्तर अवृत्ति जो विभक्ति उस विभक्ति का विभाजकधर्मवद्विभक्ति का राहित्य और दूसरा विशेष्यवाचक पदोत्तर में अवृत्ति जो विभक्तिविभाजकधर्म तादृशधर्मवद्विभक्तिराहित्य। इन दोनों प्रकारों से ही उक्त पंक्ति का अर्थ लिया जा सकता है तथा दोनों ही तरह से सामंजस्य भी बनाया जा सकता है।

**अथ 'नीलो घटः' 'नीलघटः' इत्यादिद्विविधबोधसाधारणं स्वोत्तरसुप्पद-भिन्नपदानुत्तरत्वादिरूपस्वाव्यवहितोत्तरत्वसम्बन्धेन नीलादिपदवत् सुबन्तघटादिपदत्वमेव तथास्तु इति चेत् ? न, 'नीलघटरूपम्' इत्यादिवाक्य साधारण्यानुरोधेनान्यादृश्या अप्याकाङ्क्षायाः समासस्थले उपगन्तव्यतयो-पदर्शितसमासव्याससाधारणानुगताकाङ्क्षानुसरणस्याप्रयोजकत्वादिति।**

अब एक अन्य रीति से समासस्थल और व्यासस्थल दोनों के लिए एक ही प्रकार की

आकाङ्क्षा के ज्ञान को ही कारण मानने का पक्ष समुपस्थापित किया जा रहा है— ठीक है, **'नीलो घटः'** और **'नीलघटः'** इत्यादि दो तरह के बोधों में समान रूप से रहने वाला जो स्वोत्तरसुप्पदभिन्नपदानुत्तरत्व से विशिष्ट स्वोत्तरत्वरूप स्वाव्यवहितोत्तरत्व सम्बन्ध से नीलादिपदवत् सुबन्तघटादिपदत्व है उसी को ही समासस्थलीय और व्यसस्थलीय अभेदान्वयबोध के प्रति कारण मान लिया जाये। यहाँ पर सुप्पद से भिन्न जो लेना है उसमें सुप् के अन्तर्गत आने वाले सु, आदि का एक-एक करके प्रवेश है। इस प्रकार **'नीलो घटः'** और **'नीलघटः'** इन दोनों वाक्यों से होने वाले बोध के प्रति स्वोत्तरसुपदभिन्नपदानुत्तरत्व और स्वोत्तरत्व इन दोनों सम्बन्धों से नीलपद से विशिष्ट स्वन्तघटपदत्व रूप आकाङ्क्षा कारण होगी । अब हम देखें— स्वपद से यहाँ पर विशेषण वाचक पद नीलपद ही लिया जायेगा। नीलपद के बाद **'नीलो घटः'** में सुपद है और **'नीलघटः'** में कोई पद नहीं है, इसलिए नीलपदोत्तर सुपदभिन्नपद का उत्तरत्व दोनो स्थलों में घटपद में नहीं है अर्थात् नीलपदोत्तरसुपद-भिन्नपदानुत्तरत्व घटपद में है और नीलपदोत्तरत्व भी घटपद में है। इन दोनों सम्बन्धों का जो वैशिष्ट्य है वह स्वाव्यवहितोत्तरत्वरूप ही है। इन दोनों सम्बन्धों से विशिष्ट स्वन्तघटपदत्व रूप आकाङ्क्षा बन गयी, वही आकाङ्क्षा अभेदान्वयबोध के प्रति कारण होगी। इसी तरह **'नीलं घटम्' 'नीलेन घटेन' 'नीलघटम्' 'नीलघटेन'** इत्यादि स्थलों में भी शाब्दबोध की कारणता सम्भव है। इसी प्रकार का कार्यकारणभाव मान लिया जाये। ऐसा मानने पर पूर्वोपस्थापित रीति से समासस्थल के लिए अन्य प्रकार की और व्यासस्थल के लिए अन्यप्रकार की आकाङ्क्षा की कारणता न स्वीकारनी पड़ेगा।

तो ऐसा नहीं कह सकते हैं क्योंकि **'नीलघटरूपम्'** यहाँ पर भी नील और घट का या नील और घटरूपका अभेदान्वयबोध होता है जोकि समासस्थल और व्यासस्थल के लिए उक्त प्रकार से एक ही आकाङ्क्षा बनाने पर सम्भव नहीं हो सकेगा। अतः दूसरे प्रकार की आकाङ्क्षा को भी समासस्थल में कारण मानना पड़ेगा । इसलिए ऊपर दिखलाये गये तरीके से समास और व्यास साधारण अनुगत आकाङ्क्षा का अनुसरण करने का कोई प्रयोजन नहीं है अर्थात् समासव्याससाधारण अनुगत आकाङ्क्षा का अनुसरण करना निरर्थक है। यहाँ पर अभिप्राय यहा है— **'नीलघटरूपम्'** यहाँ पर दो प्रकार से समास हो सकता है। पहला **'नील श्चासौ घटः इति नीलघटः, नीलघटस्य रूपम् नीलघटरूपम्'** ऐसा कर्मधारयपूर्वपदक (पूर्वपद में कर्मधारय समास फिर) षष्ठीतत्पुरुष समास। दूसरा **'घटस्यरूपम् घटरूपम्, नीलश्च तत् घटरूपम् नीलघटरूपम्'** ऐसा षष्ठीतत्पुरुषोत्तरपदक कर्मधारय (उत्तर पद में षष्ठी) तत्पुरुषसमास और कर्मधारय समास। पहले में अर्थ होगा नीला जो घट उसका रूप और दूसरे में नील जो घटरूप । पहले में नील और घट का अभेद भासेगा और दूसरे में नील और घटरूप का अभेद भासेगा। उक्त रीति से समासस्थल और व्यासस्थल साधारण आकाङ्क्षा की कारणता यहाँ सम्भव नहीं है। कर्मधारयपूर्वक षष्ठीतत्पुरुषसमास के पक्ष में नीलपदोत्तरसुपदभिन्नपदानुत्तरत्व और नीलपदोत्तरत्व तो घटपद में है परन्तु इन दोनों सम्बन्धों से विशिष्ट स्वन्तघटपदत्व नहीं है (एक-एक कर सुबन्त घटपदत्व नहीं है) क्योंकि घटपद के बाद कोई विभक्ति नहीं है रूपपद है। षष्ठी तत्पुरुषोत्तरपदककर्मधारयसमास में नील और रूप का अभेद संसर्ग भासता है इसलिए रूप

पद में नीलपदोत्तरसुपद भिन्न पदानुत्तरत्व और नीलपदोत्तरत्व इन दोनों को आना चाहिए जो कि आ नहीं सकते हैं क्योंकि नीलपदोत्तर सुपदभिन्न घटपद का उत्तरत्व है, घट पद का व्यवधान है । अतः नीलपदोत्तरत्व भी नहीं आ सकता है। इसलिए इस स्थल के लिए अन्य प्रकार की आकाङ्क्षा को कारण मानना पड़ेगा। फलस्वरूप समासस्थल और व्यासस्थल के लिए एक ही प्रकार की आकाङ्क्षा को कारण मानना निरर्थक है।

**विमर्श–** यद्यपि समासव्यासस्थल के लिए जैसी आकाङ्क्षा की कारणता स्वीकार करते हुए उसका खण्डन किया गया है। वैसी आकाङ्क्षा **'घटो नीलः'** में भी नहीं बन सकती है क्योंकि नीलपदोत्तरसुपदभिन्नपदानुत्तरत्व तो घट पद में है परन्तु नीलपदोत्तरत्व घट पद में नहीं है, घटपद के नीलपद से पूर्व में होने के कारण। तथापि इस स्थल के लिए दूसरी आकाङ्क्षा की कारणता मानी पड़ेगी, यह आपत्ति ग्रन्थकार ने नहीं दी है क्योंकि **'घटो नीलः'** का **'नीलः घटः'** ऐसा अन्वय करके ही शाब्दबोध होता है।

**अथ 'नीलं घटमानय' इत्यादौ नीलादेर्घटादावन्वयोपगमे नीलादिपदोत्तर विभक्त्यर्थकर्मत्वादेः कुत्रान्वय इति चेत् ? न कुत्रापि, विभक्तिपदं साधुत्वार्थमेव प्रयुज्यते। अभेद एव वा विशेषणविभक्तेरर्थः अभेदस्य संसर्गमर्यादया भानन्तु समासस्थल एव तत्र लुप्तविभक्तेरनुसन्धानं विनापि शाब्दबुद्धेरानुभविकत्वादित्यपि वदन्ति।**

अब ग्रन्थकार एक नया प्रश्न उठा रहे हैं कि **'नीलं घटमानय'** इस वाक्य में नील का अभेद संसर्ग से घट में, घट का अम्पदार्थ कर्मता में तथा कर्मता का आनयन क्रिया में अन्वय हो जायेगा । इस प्रकार नील आदि का घटादि में अन्वय स्वीकार करने पर नीलपदोत्तर विभक्ति अम् के अर्थ कर्मत्व आदि का अन्वय कहाँ होगा? यहाँ पर प्रश्न उठाने का आशय यह है कि अम् पदार्थ कर्मत्व का अन्वय क्रिया में भी नहीं हो सकता है क्योंकि नील से अन्वित कर्मत्व का क्रिया में अन्वय मानना चाहो तो नील का दो प्रकार से भान होगा, नील का अभेदसंसर्ग से घट में और कर्मता में। नील से अनन्वित कर्मत्व का तो क्रिया में अन्वय सम्भव नहीं है क्योंकि नियम है कि प्रकृत्यर्थ से अन्वित प्रत्ययार्थ का ही भान होता है। नील में भी कर्मत्व का अन्वय नहीं हो सकता है। क्योंकि प्रकृत्यर्थ के प्रति प्रत्ययार्थ विशेष्य ही होता है। यद्यपि इस नियम का भंग स्वीकारा जा सकता है नैयायिक प्रकृत्यर्थ में प्रत्ययार्थ का विशेषणविधया भी अन्वय मानते हैं, इसीलिए प्रथमान्तार्थ मुख्यविशेष्यक शाब्दबोध का स्वीकार भी नैयायिक कर पाते हैं। परन्तु कारकों का क्रिया में भी अन्वय होता है इस नियम का कहीं पर भी कोई विरोध नहीं है।कर्मत्व द्वितीया कारक है उसका अन्वय भी क्रिया में ही हो सकता है किसी दूसरे में नहीं । अतः नील में भी कर्मत्व का अन्वय नहीं स्वीकारा जा सकता है। फिर किसमें किया जाये कर्मत्व का अन्वय? इसका समाधान ग्रन्थकार दे रहे हैं कि कहीं पर भी नहीं । अभिप्राय यह है कि कर्मत्व का भान ही नहीं होता है इसलिए उसका कहाँ पर अन्वय होगा ऐसा प्रश्न ही अनुचित है। परन्तु अब प्रश्न यह होता है कि फिर नीलपदोत्तर अम् का क्या प्रयोजन है? तो उसका समाधान दे रहे हैं कि— यहाँ पर विशेषण वाचक नील आदि पदों के बाद अम्

आदि विभक्तियों का प्रयोग पद की साधुता के लिए है। वह अभेदान्वयबोध प्रोयजक जो समानविभक्तिकत्त्व है उसका सम्पादक होता है। परन्तु ऐसा मानने पर नीलादिपदोत्तर अम् आदि विभक्तियों की निरर्थकता ही सम्पादित होगी। इसलिए ग्रन्थकार अन्य पक्ष का आश्रयण करते हुए कहते हैं कि— अथवा अभेद ही विशेषण विभक्ति का अर्थ होता है। अभेद का संसर्गविधया भान तो समासस्थल में ही होता है क्योंकि समासस्थल में लुप्त विभक्ति का विना अनुसन्धान किये भी शाब्दबोध आनुभविक (अनुभवसिद्ध) है, ऐसा भी कहते हैं। अभिप्राय यह है कि व्यासस्थल में जहाँ पर विभक्ति का लोप हुआ रहता है जैसे-**'इदं दधि'** आदि में लुप्त विभक्ति का अनुसन्धान होता है, तब अभेद भासता है, समासस्थल में **'नीलघटः'** आदि में नील और घट का अभेद विना लुप्त विभक्ति का अनुसन्धान किये ही भासता है। तर्क यह है कि यदि पदसमभिव्याहार रूप आकाङ्क्षा से ही **'इदं दधि'** आदि व्यासस्थलों में भी अभेदसंसर्ग भासता है तो लुप्तविभक्ति का अनुसन्धान करने की क्या जरूरत है? जैसे समासस्थल में विना लुप्त विभक्ति का अनुसन्धान किये शाब्दबोध (अभेद संसर्गक) होता है वैसे ही व्यासस्थल में भी होना चाहिए। ऐसा होता नहीं है इसलिए यही मानना उचित प्रतीत होता है कि समासस्थल में अभेदसंसर्ग आकाङ्क्षा भास्य होता है और व्यासस्थल में अभेद वृत्तिभास्य होता है। ऐसा भी लोगों का कथन है इस परिस्थिति में **'नीलो घटः'** और **'नीलघटः'** में शाब्दबोध भी अलग-अलग तरह का होगा **'नीलघटः'** से घट में अभेद संसर्ग से नील भासेगा क्योंकि अभेद आकाङ्क्षा से भास्य हो रहा है। **'नीलो घटः'** में नील का अभेद स्वरूपसम्बन्ध से घट में भासेगा क्योंकि अभेद विशेषण नीलपद की विभक्ति नीलपदोत्तर सुविभक्ति का अर्थ है।

**अथैतन्मते अभेदो यदि भेदत्वावच्छिन्नाभावस्तदाऽप्रसिद्धिः, यदि च भेदप्रतियोगिकोऽभावस्तदा नीलं जलमित्यादि वाक्यस्यापि प्रामाण्यापत्तिः। जले द्वित्वादिना नीलभेदाद्यभावस्य सत्त्वात् । नीलभेदत्वावच्छिन्नाभावस्य विभक्त्यर्थत्वे नीलादिपदार्थानन्वयप्रसङ्गः।**

ग्रंथकार एक नया प्रश्न उठा रहे हैं कि—अभेद का अर्थ यदि भेदत्वावच्छिन्न अभाव अर्थात् भेदत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभाव अर्थात् जिस अभाव की प्रतियोगिता भेदत्व से अवच्छिन्न हो ऐसा अभाव किया जाये तो ऐसा अभाव अप्रसिद्ध हो जायेगा क्योंकि प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्न (प्रतियोगी) के साथ अत्यन्ताभाव का विरोध होता है, प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्न के अधिकरण में अत्यन्ताभाव नहीं रहता है।

चूँकि कोई न कोई भेद हर जगह ही रहेगा, भेदत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभाव का प्रतियोगितावच्छेदक भेदत्व है और भेदत्व से अवच्छिन्न भेद के अधिकरण में भेदत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभाव नहीं रह सकता है। इसलिए भेदत्वावच्छिन्नाभाव की अप्रसिद्धि का मतलब है अत्यन्ताभाव की प्रतियोगिता में भेदत्वावच्छिन्नत्व की अप्रसिद्धि होना। यदि **'भेदो नास्ति'** भेद नहीं है ऐसा सामान्य अभाव कहीं पर प्रसिद्ध होता मिलता तब तो अत्यन्ताभाव की प्रतियोगिता में भेदत्वावच्छिन्नत्व प्रसिद्ध होता। यदि कहा जाये कि भेद प्रतियोगिक अभाव लेना है और भेद प्रतियोगिक अभाव तो प्रसिद्ध ही है तब **'नीलं**

**जलम्**' इस वाक्य के भी प्रामाण्य की आपत्ति आने लगेगी। अभिप्राय यह है कि जो जैसा है उसे वैसा समझना ही प्रमात्मक ज्ञान कहलाता है। भेदप्रतियोगिक अभाव जब अभेद का अर्थ होगा तो जहाँ पर भेदप्रतियोगिक अभाव है वहाँ पर यदि अभेद भासेगा तो वह ज्ञान प्रमात्मक ही होगा। '**नीलं जलम्**' यहाँ पर जल में नील भेद का अभाव है, नीलभेद प्रतियोगिक अभाव है क्योंकि हम '**नीलभेदघटोभयं नास्ति**' ऐसा भेद ले लेंगे। नीलभेद के जल में रहने पर भी नीलभेद और घट दोनों के न रहने से 'नील भेद और घट दोनों नहीं हैं' ऐसा अभाव जल में आ जायेगा, इस अभाव का प्रतियोगी नील भेद है। इस प्रकार नीलभेदप्रतियोगिक अभाव जल में है और '**नीलं जलम्**' इस वाक्य से होने वाले शाब्दबोध में नीलभेदप्रतियोगिक अभाव ही जल में भासता है। अभेद का अर्थ ही आपने किया है भेदप्रतियोगिक अभाव। इस प्रकार '**नीलं जलम्**' इस वाक्य के प्रामाण्य की आपत्ति आती है। सिद्धान्ततः जल नीला नहीं होता है, इस प्रकार जल में नील भेद ही बैठा हुआ है इसलिए '**नीलं जलम्**' ऐसा वाक्य प्रयोग नहीं होता है। इस दोष का वारण करने के लिए यदि कहा जाये कि तत्तद्भेदत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभाव लेना है तो '**नीलं जलम्**' इस स्थल का दोष वारित हो जायेगा क्योंकि नीलभेदप्रतियोगिक जो अभाव (नीलभेद घट दोनों नहीं है ऐसा अभाव) लिया गया था वह अभाव नीलभेदत्वावच्छिन्न प्रतियोगिताक नहीं है क्योंकि नीलभेदत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभाव का अर्थ होता है कि जिस अभाव की प्रतियोगिता नीलभेदत्व से अवच्छिन्न हो और नीलभेदत्वातिरिक्त धर्म से अवच्छिन्न न हो ऐसा अभाव। '**नीलभेदघटोभयं नास्ति**' नीलभेद और घट दोनों नहीं हैं, इस अभाव की प्रतियोगिता जैसे नीलभेदत्व से अवच्छिन्न है उसी प्रकार नीलभेदत्वातिरिक्त घटत्व और उभयत्व से भी अवच्छिन्न है। इसलिए यह अभाव नीलभेदत्वावच्छिन्न प्रतियोगिताक अभाव नहीं हुआ। इस प्रकार '**नीलं जलम्**' इस वाक्य के प्रामाण्य की आपत्ति वारित हो जाती है। किन्तु एक दूसरी समस्या आकर खड़ी हो जाती है '**नीलो घटः**' इत्यादि स्थलों में नील आदि पदार्थों का अन्वय ही नहीं हो सकेगा। देखें— '**नीलो घटः**' यहाँ पर घटपदार्थ, नीलपदार्थ, नीलभेदत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभाव और एकत्व उपस्थित होगें। घट पद से घटपदार्थ, नीलपद से नीलपदार्थ, नीलपदोत्तर विभक्ति से नील भेदत्वावच्छिन्न-प्रतियोगिताक अभाव और घटपदोत्तर विभक्ति से एकत्व की उपस्थिति होगी। यहाँ पर नीलपदार्थ का अन्वय नीलपदोत्तर विभक्ति से उपस्थित नीलभेदत्वावच्छिन्न प्रतियोगिताक अभाव में ही होना चाहिए और उसमें किसी भी तरह से नीलपदार्थ का अन्वय सम्भव नहीं है क्योंकि अभाव का विशेषणीभूत नीलपदार्थ भी विभक्त्यर्थ ही हो गया है। नीलपदार्थ का विभक्त्यर्थ नीलभेदत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभाव के एकदेश नील में अभेदसंसर्ग से अन्वय हो जायेगा ऐसा भी नहीं कहा जा सकता है क्योंकि अभेदसंसर्ग से अन्वय वहीं पर होता है जहाँ पर प्रकारतावच्छेदक और विशेष्यतावच्छेदक में भेद हो जैसे **नीलघटः** यहाँ पर प्रकारतावच्छेदक है नीलत्व और विशेष्यतावच्छेदक है घटत्व दोनों में भेद है। यहाँ पर तो प्रकारतावच्छेदक और विशेष्यतावच्छेदक दोनों ही नीलत्व ही है।

**विमर्श–** यहाँ पर ग्रन्थकार ने '**अभेदो यदि भेदत्वावच्छिन्नाभावस्तदाऽप्रसिद्धिः**'

अभेद का मतलब यदि भेदत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताक (भेदत्व से अवच्छिन्न प्रतियोगिता है जिसकी ऐसा) अभाव है तो अप्रसिद्धि होगी, ऐसा कहा है। इस पर कुछ विचार करना है। भेदत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभाव का मतलब यही है कि— जिस अभाव की प्रतियोगिता भेदत्व से अवच्छिन्न हो ऐसा अभाव । इस प्रकार का अभाव '**भेदो नास्ति**' भेद नहीं है 'यह अभाव भी होगा क्योंकि इस अभाव का प्रतियोगी भेद है और प्रतियोगिता का अवच्छेदक भेदत्व अर्थात् प्रतियोगिता भेदत्व से अवच्छिन्न होगी। इसी तरह '**भेदत्वेन घटो नास्ति**' 'भेदत्व धर्म से घट नहीं है' यह अभाव भी भेदत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताक होगा। इस अभाव का प्रतियोगी घट है और प्रतियोगितावच्छेदक भेदत्व है। घट जहाँ पर भी रहेगा घटत्वधर्म से ही रहेगा नकि भेदत्व धर्म से रहेगा इसलिए यह अभाव केवलान्वयी (हर जगह रहने वाला) होता है। भेदत्वेन घट का अभाव लिया जाता है, अतः भेदत्व इस अभाव की प्रतियोगिता का अवच्छेदक होता है। अर्थात् इस अभाव की प्रतियोगिता भेदत्व से अवच्छिन्न होती है। इसी प्रकार '**संयोगसम्बन्धेन भेदो नास्ति**' संयोगसम्बन्ध से भेद नहीं है यह अभाव भी भेदत्वावच्छिन्न प्रतियोगिताक होगा। इस अभाव का प्रतियोगी भेद है और प्रतियोगितावच्छेदक भेदत्व। इस तरह भेदत्व से अवच्छिन्न प्रतियोगिता इस अभाव की भी होगी। भेद जहाँ पर भी रहेगा स्वरूप सम्बन्ध से रहेगा, संयोगसम्बन्ध से नहीं रहेगा। इसलिए यह अभाव भी केवलान्वयी होगा। इसी प्रकार '**भेदघटोभयं नास्ति**' भेद और घट दोनों नहीं हैं' ऐसा अभाव भी भेदत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताक होगा। इस अभाव के प्रतियोगी हैं भेद और घट उभय (दोनों) तथा प्रतियोगिता के अवच्छेदक हैं भेदत्व, घटत्व और उभयत्व इस तरह इस अभाव की प्रतियोगिता भेदत्व, घटत्व और उभयत्व इन तीनों से अवच्छिन्न होगी। इन तीन धर्मों से प्रतियोगिता के अवच्छिन्न होने से यह तो सिद्ध ही होता है कि प्रतियोगिता भेदत्व से अवच्छिन्न है। घटत्व और उभयत्व से अवच्छिन्न होने पर भी प्रतियोगिता का भेदत्वावच्छिन्नत्व तो नहीं निवृत्त होता है। इसलिए यह अभाव भी भेदत्वावच्छिन्न प्रतियोगिताक होगा। इसी प्रकार अन्य भी भेदत्वावच्छिन्न प्रतियोगिक अभाव हो सकते है।

इन चारों भेदत्वावच्छिन्न प्रतियोगिताक अभावों में से प्रथम अभाव ही अप्रसिद्ध हो रहा है। बाकी के तीन अभाव तो प्रसिद्ध ही हैं, ऐसी परिस्थिति में ग्रन्थकार ने 'भेदत्वावच्छिन्न प्रतियोगिताक अभाव अप्रसिद्ध है' ऐसा कैसे कहा? वस्तुतः भेदत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभाव कहकर जैसा अभाव अपेक्षित है सिर्फ '**भेदो नास्ति**' यही अभाव वैसा है। वह तो अप्रसिद्ध ही है इसलिए ग्रन्थकार ने ऐसा कहा है। शेष अभावों में '**भेदत्वेन घटो नास्ति**' अभाव की प्रतियोगिता भेदत्व से अवच्छिन्न ही नहीं है क्योंकि इस अभाव का प्रतियोगी है घट और भेदत्वेन घट का अभाव लिया जा रहा है। घट में भेदत्व रहता नहीं है, भेदत्वेन घट कहीं पर भी नहीं रह सकता, इसलिए यह अभाव केवलान्वयी होता है। गंगेशोपाध्याय व्यधिकरण ग्रन्थ में कहते हैं कि '**प्रतियोग्यवृत्तिश्च धर्मो न प्रतियोगितावच्छेदकः**' प्रतियोगि में न रहने वाला धर्म प्रतियोगिता का अवच्छेदक नहीं होता है। (पृ० 94 जागदीशी व्यधिकरण दीपिकासहित,प्रका. चौ. सं.सी.1958) इस अभाव का प्रतियोगी है घट और घट में भेदत्व रहता नहीं। प्रतियोगी में नहीं रहने के कारण भेदत्व प्रतियोगिता का

अवच्छेदक नहीं होगा अर्थात् इस अभाव की प्रतियोगिता (जो कि घटनिष्ठा है) भेदत्व से अवच्छिन्न न होगी। यद्यपि प्रतियोगी में न रहने वाला धर्म प्रतियोगितावच्छेदक नहीं ही होगा, यह विवाद का विषय है। रघुनाथ शिरोमणि तो **'यदि पुनरानुभविको लोकानां स्वरसवाही घटत्वेन पटो नास्ति पटत्वेन घटो नास्तीत्याद्यभावस्तदा तादृशाभावनिवारणं गीर्वाणगुरूणामप्यशक्यम्'**[1] 'यदि पुनः अनुभवसिद्ध और लोगों के स्वरस का वहन करने वाले घटत्वेन पट नहीं है, पटत्वेन घट नहीं है इत्यादि अभाव होते हैं तब तो वैसे अभाव का निवारण बृहस्पति के लिए भी अशक्य है' ऐसा कहते हैं तथा व्यधिकरणधर्मावच्छिन्न प्रतियोगिताक (व्यधिकरण धर्म = प्रतियोगी में न रहने वाले धर्म से अवच्छिन्न प्रतियोगिता है जिसकी ऐसा) अभाव स्वीकारते हैं। इस स्थिति में भेदत्वावच्छिन्न प्रतियोगिताक अभाव **'भेदत्वेन घटो नास्ति'** यह अभाव हो जायेग। परन्तु यह अभाव ग्राह्य नहीं है ग्रन्थकार को भेदत्वावच्छिन्न प्रतियोगिताक अभाव से भेद सामान्याभाव ही अपेक्षित है। यह अभाव तो भेदसामान्याभाव न होकर भेदत्वेन घट का अभाव है। इस अभाव का निवारण करने हेतु सिर्फ भेदनिष्ठ विशेषण प्रतियोगिता में दे देना चाहिए अर्थात् भेदत्वावच्छिन्नभेदनिष्ठप्रतियोगिताक **'भेदत्वेन घटो नास्ति'** अभाव की प्रतियोगिता भेदत्वावच्छिन्ना तो है परन्तु भेदनिष्ठ नहीं है अपितु घटनिष्ठ है। **'संयोगसम्बन्धेन भेदो नास्ति'** अभाव का निवारण करने के लिए प्रतियोगिता में स्वरूपसम्बन्धावच्छिन्नत्व विशेषण देना चाहिए। इस अभाव की प्रतियोगिता स्वरूप सम्बन्ध से अवच्छिन्न नहीं है, अपितु संयोग सम्बन्ध से अवच्छिन्न है संयोग सम्बन्ध से भेद का अभाव लिया गया है। जिस सम्बन्ध से अभाव लेते हैं, वही सम्बन्ध प्रतियोगितावच्छेदक सम्बन्ध कहलाता है और प्रतियोगिता उसी सम्बन्ध से अवच्छिन्न होती है। इस तरह इस अभाव की प्रतियोगिता स्वरूप सम्बन्ध से अवच्छिन्ना न होगी किन्तु संयोग सम्बन्ध से अच्छिन्ना होगी। **'भेद घटोभयं नास्ति'** अभाव का निवारण करने के लिए भेदत्व पर्याप्त अवच्छेदकतानिरूपित अवच्छेद्यतावत् प्रतियोगिताक अभाव भेदत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभाव का अर्थ किया जाता है। भेदत्वपर्याप्तावच्छेदकतानिरूपित अवच्छेद्यतावत्प्रतियोगिताक अभाव का अर्थ है भेदत्वपर्याप्त जो अवच्छेदकता उससे निरूपित जो अवच्छेद्यता उस अवच्छेद्यतावाली प्रतियोगिता का निरूपक जो अभाव **'भेदो नास्ति'** यह अभाव ऐसा है, इस अभाव का प्रतियोगि भेद है और प्रतियोगितावच्छेदक भेदत्व। प्रतियोगिता की अवच्छेदकता भेदत्व में पर्याप्त है क्योंकि और कोई प्रतियोगिता का अवच्छेदक नहीं है। इस भेदत्व में पर्याप्त अवच्छेदकता से निरूपित अवच्छेद्यता रहेगी इस अभाव की प्रतियोगिता में, इस तरह भेदत्वपर्याप्त अवच्छेदकतानिरूपित अवच्छेद्यतावत् प्रतियोगिता **'भेदो नास्ति'** अभाव की भेद निष्ठा प्रतियोगिता होगी। इस प्रतियोगिता का निरूपक अभाव होगा यही **'भेदो नास्ति'** अभाव। **'भेदघटोभयं नास्ति'** अभाव के प्रतियोगी भेद, घट उभय होते हैं, प्रतियोगितावच्छेदक भेदत्व, घटत्व, उभयत्व त्रितय होते हैं। प्रतियोगितावच्छेदकता भेदत्व, घटत्व, उभयत्व त्रितय पर्याप्त होती है भेदत्व पर्याप्त नहीं। इसलिए भेदत्वपर्याप्त अवच्छेदकतानिरूपित अवच्छेद्यतावत् प्रतियोगिता भेदघटोभयाभाव की नहीं हो सकती है

---

1- पृ0 279 जागदीशीव्यधिकरण दीपिकासहित

और इस अभाव का निवारण हो जायेगा। परन्तु यहाँ पर प्रश्न यह उठाया जा सकता है कि भेदघटोभयाभाव की प्रतियोगितावच्छेदकता भेदत्व, घटत्व, उभयत्व एतत् त्रितय पर्याप्त मानने में प्रमाण क्या है? **'घटो नास्ति, भेदो नास्ति'** ऐसी समूहालम्बनात्मक जो अभाव प्रतीति होती है, उस प्रतीति की विषयीभूत जो घटत्वादि प्रत्येक पर्याप्त प्रतियोगितावच्छेदकता है, उसी का भान उभयाभावीय प्रतियोगिता निरूपित है' इस प्रकार होता है ऐसा ही क्यों न मान लिया जाये। ऐसा मानने पर इस अभाव की (उभयाभाव की ) प्रतियोगितावच्छेदकता भेदत्व पर्याप्त हो जायेगी। फलतः मूलकार का यह कथन कि भेदत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभाव अप्रसिद्ध हो जायेगा, असंगत हो जाता है। इस प्रश्न का समाधान ढूँढ़ते हुए हमें देखना होगा कि भेदघटोभयाभाव और **'भेदो नास्ति घटो नास्ति'** इस समूहालम्बन प्रतीति विषयीभूत अभाव क्या एक ही है? अथवा इनमें कोई विलक्षणता है? तो हम पाते हैं कि **'घटो नास्ति, भेदो नास्ति'** यह समूहालम्बन प्रतीति वहाँ पर नहीं होती है जहाँ पर घट या भेद दोनों में से कोई एक भी रहता है। उभयाभाव की प्रतीति तो वहाँ पर भी होती है,जहाँ पर एक रहता है। दोनों में से किसी एक के होने पर समूहालम्बनप्रतीतिविषयी भूत अभाव नहीं रहता है। दोनों के होने पर ही उभयाभाव नहीं रहता है। दोनों में से किसी एक के रहने पर भी उभयाभाव आ जाता है। यही विलक्षणता समूहालम्बनप्रतीतिविषय अभाव और उभयाभाव में है। यह विलक्षता यही है कि उभयाभाव की प्रतियोगितावच्छेदकता भेदत्व, घटत्व, उभयत्वत्रितयपर्याप्त होती है तथा समूहालम्बन प्रतीति विषय अभाव की प्रतियोगितावच्छेदकता घटत्व पर्याप्त और भेदत्व पर्याप्त होती है। इस तरह भेदवृत्ति, स्वरूपसम्बन्धावच्छिन्न भेदत्वपर्याप्त अवच्छेदकतानिरूपित अवच्छेद्यतावत् प्रतियोगितानिरूपक अभाव विवक्षित है अभेद पद से।

किन्तु यदि **'भेदत्वेन भेदघटौ न स्तः'** भेदत्वधर्म से भेद और घट दोनों नहीं हैं अथवा **'स्वरूपसंयोगोभयसम्बन्धेन भेदो नास्ति'** स्वरूप संयोग दोनों सम्बन्धों से भेद नहीं है, इस तरह अभाव लिया जाये तो ये दोनों ही अभाव लक्षण घटक हो जायेंगे। यहाँ पर प्रथम अभाव का प्रतियोगी भेद भी है और घट भी, प्रतियोगिता भेद में भी रहेगी और घट में भी। इसतरह इस अभाव की प्रतियोगिता भेद वृत्ति है। प्रतियोगितावच्छेदक स्वरूप सम्बन्ध है, इस तरह प्रतियोगिता स्वरूपसम्बन्धावच्छिन्ना है। इस अभाव का प्रतियोगितावच्छेदक धर्म है मात्र भेदत्व अर्थात् इस अभाव की प्रतियोगिता की अवच्छेदकता भेदत्वपर्याप्त है। इस तरह यह प्रतियोगिता भेदत्वपर्याप्त अवच्छेदकतानिरूपित अवच्छेद्यतावती है। इस प्रतियोगिता का निरूपक अभाव है **'भेदत्वेन भेदघटौ न स्तः'**। इसी प्रकार दूसरे अभाव में स्वरूप और संयोग दो सम्बन्धों से भेद का अभाव लिया गया है। भेद स्वरूप सम्बन्ध सम्बन्ध से रहता है न कि संयोग सम्बन्ध से अर्थात् स्वरूप और संयोग इन दोनों सम्बन्धों से भेद नहीं रहता है। इसकी प्रतियोगिता भेद वृत्ति है और स्वरूपसंयोग उभयसम्बन्धों से अवच्छिन्ना है अर्थात् स्वरूपसम्बन्धावच्छिन्ना है क्योंकि दूसरे सम्बन्ध संयोग से भी प्रतियोगिता के अवच्छिन्न होने से प्रतियोगिता का स्वरूपसम्बन्धावच्छिन्नत्व तो निवृत्त नहीं ही होता है। इस अभाव का प्रतियोगितावच्छेदक धर्म भी सिर्फ भेदत्व है, अतः भेदत्व पर्याप्त अवच्छेदकतानिरूपित अवच्छेद्यतावती यह प्रतियोगिता होगी। इस प्रतियोगिता का

निरूपक अभाव है **'स्वरूपसंयोगोभयसम्बन्धेन भेदो नास्ति'**। यहाँ पर **'भेदत्वेन भेदघटौ न स्तः'** तथा **'स्वरूपसंयोगोभयसम्बन्धेन भेदो नास्ति** का निवारण करने के लिए कहा जाता है कि भेदत्वविशिष्ट अभाव यहाँ पर विवक्षित है, वैशिष्ट्यनियामक सम्बन्ध हैं दो। पहला स्वपर्याप्त अवच्छेदकतानिरूपित अवच्छेद्यतावत् (स्वरूपसम्बन्ध पर्याप्त अवच्छेदकतानिरूपित अवच्छेद्यतावत्) प्रतियोगितानिरूपकत्व तथा दूसरा है स्वपर्याप्त अवच्छेदकतानिरूपित अवच्छेद्यतावन्निरूपकतानिरूपितनिरूप्यतावत्त्व। **'भेदत्वेन भेदघटौ न स्तः'** इस अभाव में प्रथम सम्बन्ध से भेदत्व का वैशिष्ट्य तो है क्योंकि इस अभाव की प्रतियोगिता भेदत्वपर्याप्त अवच्छेदकतानिरूपित अवच्छेद्यतावती है और स्वरूप सम्बन्धपर्याप्त अवच्छेदकतानिरूपित अवच्छेद्यतावती है उस प्रतियोगिता का निरूपक है यह अभाव। किन्तु द्वितीय सम्बन्ध से भेदत्व का वैशिष्ट्य अभाव में नहीं है क्योंकि इस अभाव की जैसी प्रतीति होती है, उसमें अभाव की निरूपकता भेदघटोभय में आती है और निरूपकतावच्छेदक भेदत्व, घटत्व, उभयत्व होता है अर्थात् निरूपकतावच्छेदकता भेदत्व पर्याप्त नहीं है। इस तरह भेदत्वपर्याप्त अवच्छेदकता निरूपित अवच्छेद्यतावती निरूपकता इस अभाव की नहीं है। **'स्वरूपसंयोगोभयसम्बन्धेन भेदो नास्ति'** इस अभाव की प्रतियोगिता का अवच्छेदक जैसे स्वरूपसम्बन्ध है वैसे ही संयोग भी। इसलिए स्वरूपसम्बन्ध पर्याप्त अवच्छेदकतानिरूपित अवच्छेद्यतावती प्रतियोगिता इस अभाव की नहीं होगी। इस तरह इन दोनों ही अभावों का निवारण हो जायेगा

यहाँ पर एक प्रश्न उठाया जा सकता है कि जो अवच्छेदकता भेदत्व, घटत्व और उभयत्व त्रितय में पर्याप्त है वह क्या भेदत्व में पर्याप्त न होगी? जो अवच्छेदकता स्वरूपसंयोगोभय में पर्याप्त है क्या वह स्वरूपसम्बन्ध में पर्याप्त न होगी? **'न ह्यवयवा पर्याप्तस्य समुदाये पर्याप्तिरस्ति'** जो अवयव में पर्याप्त नहीं है उसकी समुदाय में भी पर्याप्ति नहीं होती है। इस स्थिति में **'भेदघटोभयं नास्ति' 'स्वरूपसंयोगोभयसम्बन्धेन भेदो नास्ति'** इन अभावों का निवारण कैसे किया जा सकेगा? प्रतियोगितावच्छेदकता जब भेदत्व, घटत्व, उभयत्व त्रितयपर्याप्त है तो भेदत्व पर्याप्त भी है। अतः भेदत्वपर्याप्त अवच्छेदकतानिरूपित अवच्छेद्यतावती प्रतियोगिता इन अभावों की होगी तथा स्वरूपसम्बन्धपर्याप्त अवच्छेदकता निरूपित अवच्छेद्यतावती भी प्रतियोगिता इन अभावों की होगी। इसलिए इनका निवारण करने के लिए कहा जाता है भेदत्व गत एकत्व से विशिष्ट अभाव प्रसिद्ध नहीं है ऐसा मूलकार का आशय है। वैशिष्ट्य के नियामक सम्बन्ध हैं- 1. स्वावच्छिन्नानुयोगिताकपर्याप्तिप्रतियोग्यवच्छेदकतानिरूपित अवच्छेद्यतावन्निरूपकताकत्व 2. स्वावच्छिन्ना-नुयोगिताकपर्याप्तिप्रतियोग्यवच्छेदकतानिरूपित अवच्छेद्यतावती जो स्वरूपसम्बन्धत्व गतैकत्वावच्छिन्नानुयोगिताकपर्याप्तिप्रतियोग्यवच्छेदकतानिरूपित अवच्छेद्यतावती प्रतियोगिता तन्निरूपकत्व ये दो सम्बन्ध। यहाँ पर त्रितय पर्याप्त जो अवच्छेदकता है उसे प्रत्येक में पर्याप्त होने पर भी पर्याप्ति तो एक ही होती है और उसकी अनुयोगिता तीनों में होती है, अनुयोगितावच्छेदक त्रितयगत त्रित्व ही होता है। जब भेदसामान्याभाव लिया जाता है तो प्रतियोगी भेद, प्रतियोगिता भेदनिष्ठ और प्रतियोगितावच्छेदक भेदत्व। प्रतियोगितावच्छेदकता भेदत्वपर्याप्त होती है और प्रतियोगितावच्छेदकता की जो पर्याप्ति होती है उसकी अनुयोगिता

भेदत्व मात्र में होती है। अनुयोगितावच्छेदक भेदत्वगत एकत्व होता है। इस प्रकार त्रितय पर्याप्त धर्म के एक में पर्याप्त होने पर भी अनुयोगितावच्छेदक भिन्न-भिन्न होते हैं। उसी को आधार बना कर इस तरह का परिष्कार किया गया है। यहाँ पर जो द्वितीय सम्बन्ध्र है वही पूर्वोक्त दो अभावों का निवारण करता है। स्वपद से जिसका वैशिष्ट्य लेना हो उसी को पकड़ना चाहिए। इस तरह स्व माने एकत्व (भेदत्वगतैकत्व) जब हम **भेदघटोभयाभाव** लेते हैं तो प्रतियोगितावच्छेदक भेदत्व, घटत्व, उभयत्व (ये तीन) होते है। प्रतियोगितावच्छेदकता इन तीनों में रहेगी पर्याप्ति सम्बन्ध से। उस पर्याप्ति सम्बन्ध का प्रतियोगी होगी उक्तोभयाभावीय प्रतियोगितावच्छेदकता और अनुयोगी होंगे भेदत्व, घटत्व, उभयत्व त्रितय। अनुयोगिताका अवच्छेदक त्रित्व होगा। अर्थात् त्रित्वावच्छिन्नानुयोगिताकपर्याप्ति का प्रतियोगि उभयाभावीय प्रतियोगितावच्छेदकता होगी न कि भेदत्वगतैकत्वावच्छिन्नानुयोगिताक पर्याप्तिप्रतियोगि होगी। भेदत्वगतैकत्वावच्छिन्नानुयोगिताकपर्याप्तिप्रतियोगि प्रतियोगितावच्छेदकता भेदसामान्याभाव की भेदत्वमात्रनिष्ठप्रतियोगितावच्छेदकता ही होगी। उससे निरूपित अवच्छेद्यतावती प्रतियोगिता भेदसामान्याभाव की ही होगी। अतः वही ग्राह्य होगा। '**स्वरूपसंयोगोभयसम्बन्धेन भेदो नास्ति**' अभाव में संसर्गनिष्ठ जो प्रतियोगितावच्छेदकता है संसर्गताख्या, उसके अनुयोगी स्वरूप संयोग उभय है। अर्थात् प्रतियोगितावच्छेदकता स्वरूपसंयोग उभय में पर्याप्ति सम्बन्ध से है। इसलिए पर्याप्ति सम्बन्ध के अनुयोगी स्वरूप और संयोग सम्बन्ध हुए, प्रतियोगी प्रतियोगितावच्छेदकता हुई। यह पर्याप्ति सम्बन्ध की अनुयोगिता स्वरूप, संयोगगत द्वित्व से अवच्छिन्न हैं न कि स्वरूपसम्बन्ध गत एकत्व से। स्वरूप सम्बन्धगत एकत्वावच्छिन्न अनुयोगिताक पर्याप्ति इस अभाव की प्रतियोगितावच्छेदकता की नहीं हो सकती है। उसी अभाव की हो सकती है जो सिर्फ स्वरूप सम्बन्ध से ही लिया गया है। इसलिए इस अभाव का भी निवारण हो जायेगा। यद्यपि इसमें अभी भी अनेक परिष्कारों की गुंजाइश बची है, जिसे अन्यस्थलों में देखना चाहिए।

**न च भेदप्रतियोगिकाभाव एव विभक्त्यर्थः नीलपदसमभिव्याहारान्नील-भेदत्वावच्छिन्नाभावः प्रतीयत इति वाच्यम्, पदार्थद्वयसंसर्गभानस्यैवा-काङ्क्षानियम्यत्वान्नीलभेदत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वान्तर्भावेण वृत्तिं विना भेदरूपपदार्थतावच्छेदकस्याभावे तादृशसम्बन्धेन भानासम्भवात्।**

**मैवम्– भेदोऽभावश्च विशेषणविभक्तेरर्थो विशिष्टलाभस्त्वाकाङ्क्षादिवशात्। एतेन भेदे नीलादिपदार्थान्वय एकदेशान्वयप्रसङ्ग इति निरस्तम्।**

ग्रन्थकार अभेद के एक अन्य सम्भाव्य अर्थ की चिन्ता करते हैं— भेदप्रतियोगिक अभाव ही विभक्ति का अर्थ है (विशेषण विभक्ति का अर्थ है) किन्तु भेद प्रतियोगिक अभाव को विशेषण विभक्ति का अर्थ मानने पर '**नीलं जलम्**' इस वाक्य के प्रामाण्य की आपत्ति दी गयी है । उसका निवारण करने हेतु कहते हैं— नीलपद का समभिव्याहार होने से नीलभेदत्वावच्छिन्नाभाव प्रतीत होता है। तो ऐसा नहीं कह सकते हैं क्योंकि पदार्थद्वय (दो पदार्थों) के संसर्ग का भान ही आकाङ्क्षा द्वारा नियमित होता है '**नीलो घटः**' यहाँ पर जो नीलभेदत्वावच्छिन्नाप्रतियोगिताक अभाव प्रतीत होता है उसमें नीलभेद का और अभाव का

जो नीलभेदत्वावच्छिन्न प्रतियोगिताकत्वरूप संसर्ग है उसका भान कैसे होगा? आकाङ्क्षा से इस संसर्ग के भान की सम्भावना ही नहीं है क्योंकि दो पदार्थों का संसर्ग ही आकाङ्क्षा द्वारा भास्य हुआ करता है, ऐसा नियम है। यहाँ पर जो स्थिति है उसमें पदार्थ भेद प्रतियोगिक अभाव या भेदाभाव होता है। पदार्थतावच्छेदक होगा भेद (नील भेद) न कि पदार्थ क्योंकि पदार्थ अभेद में भेद विशेषण है। इस प्रकार पदार्थतावच्छेदक का संसर्ग आकाङ्क्षा भास्य हो ही नहीं सकता है, अपितु जैसे घट पद के अर्थ भूत घट में पदार्थतावच्छेदक घटत्व का समवाय सम्बन्ध शक्ति से ही भासता है न कि आकाङ्क्षा से, उसी प्रकार यहाँ पर भी विभक्त्यर्थ (प्रथमादिविभक्त्यर्थ) भेदाभाव रूप अभेद (जो कि शक्ति से उपस्थित है) में पदार्थतावच्छेदकीभूत भेद का नीलभेदत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्व रूप संसर्ग शक्ति से ही भास्य होना चाहिए न कि आकाङ्क्षा से। इस प्रकार वृत्ति के विना भेदरूप पदार्थतावच्छेदक का अभाव में नीलभेदत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वसम्बन्ध से भान सम्भव ही नहीं है।

अग्रिम ग्रन्थ से ग्रन्थकार आक्षिप्त दोषों का परिहार करते हैं कि— ऐसा नहीं है अर्थात् ये सब दोष नहीं है। (क्योंकि) भेद और अभाव विशेषण विभक्ति के अर्थ हैं और विशिष्ट का लाभ तो आकाङ्क्षा के बल से होता है। अभिप्राय यह है कि विशेषण विभक्ति की खण्डशः शक्ति भेद औंर अभाव में है, भेद में विशेषणविभक्ति की जो शक्ति है अभाव में उससे भिन्न शक्ति है। इस प्रकार भेद भी प्रसिद्ध हो जाता है और अभाव भी [1] भेद और अभाव दोनों की ही विशेषण विभक्ति से मुख्य बनकर (प्रधान बनकर अर्थात् विशेष्य बनकर किसी में विशेषण बनकर नहीं) अलग-अलग उपस्थिति होती है। नील आदि पदों का समभिव्याहार होने पर कारण विशिष्ट भेदाभाव की प्रतीति होती है। इसलिए पूर्वोक्त दोष वारित हो जाते हैं—

**'नीलं जलम्'** इस वाक्य के प्रामाण्य की आपत्ति नहीं है क्योंकि जल में नील भेद ही बैठा हुआ है, नील भेद का अभाव नहीं है।

**'नीलो घटः'** यहाँ पर नीलपदार्थ, भेद पदार्थ, अभाव पदार्थ और घट पदार्थ की उपस्थिति होती है। नील पदार्थ का भेदपदार्थ में स्वनिष्ठप्रतियोगितानिरूपकत्व सम्बन्ध से अन्वय होता है। स्व माने नील पदार्थ, नीलपदार्थनिष्ठप्रतियोगिता भेद की प्रतियोगिता है, अतः प्रतियोगिता का निरूपक भेद हुआ और निरूपकत्व भेद में है। भेद का भी स्वनिष्ठ प्रतियोगितानिरूपकत्व सम्बन्ध से अभाव में अन्वय होता है। यहाँ पर स्व माने भेद (नीलभेद) तन्निष्ठ प्रतियोगिता निरूपकत्व अभाव में है। अभाव का विशेष्यता सम्बन्ध से घट में अन्वय होता है। यह सिद्धान्त है। विशेषण विभक्ति की यदि विशिष्ट भेदाभाव में एक ही शक्ति स्वीकारी जाये तो भेद पदार्थ न होकर पदार्थ का एकदेश होगा, उसमें नीलपदार्थ का अन्वय करने पर **'पदार्थः पदार्थेनान्वेति न तु पदार्थैकदेशेन'** 'पदार्थ पदार्थ में ही अन्वित होता है पदार्थ के एकदेश में नहीं' इस नियम का विरोध होगा। यह आक्षेप भी निरस्त हो गया क्योंकि अब विशेषण विभक्ति की भेद और अभाव में खण्डशः शक्ति स्वीकारी गयी है, अतः भेद भी पदार्थ ही हुआ न कि पदार्थ का एक देश । उसमें नील

1- 'एव' पदस्थल में भी इसी प्रकार अन्ययोग और व्यवच्छेद में खण्डशः शक्ति स्वीकारी जाती है अन्ययोग व्यवच्छेद की प्रसिद्धि के लिए ।

पदार्थ का अन्वय यदि किया जा रहा है तो यह पदार्थ में ही पदार्थ का अन्वय हुआ न कि पदार्थैकदेश में।

**न च विशेषणविभक्तेरभेदार्थकत्वमते नीलं घट इत्यादावप्यभेदान्वय-बोधापत्तिः, धान्येन धनवान् इत्यादौ तृतीयया भेदबोधनात् अभेदप्रकारकबोधे विरुद्धविभक्तिराहित्यस्यानपेक्षणादिति वाच्यम्, द्वितीयादिनाऽभेदबोधने द्वितीयाद्यन्तविशेष्यवाचकपदसमभिव्याहारस्य प्रयोजकत्वमित्युपगमात् ।**

ग्रन्थकार अभेद को विशेषण विभक्ति का अर्थ मानने पर दोष उठाकर समाधान कर रहे हैं— विशेषण विभक्ति को अभेदार्थक मानने पर जिस प्रकार विशेषण और विशेष्य के समानविभक्तिक होने पर अभेदान्वयबोध होता है उसी प्रकार विशेषण और विशेष्य के असमान विभक्तिक होने पर भी अभेदान्वयबोध होना चाहिए[1]। जैसे कि— **'नीलं घटः'** यहाँ पर विशेषणविभक्ति अम् विभक्ति है और विशेष्यविभक्ति सुविभक्ति है। नीलपद के बाद अम् है तथा घटपद के बाद सु है। यहाँ पर अभेदान्वयबोध होता नहीं है, परन्तु विशेषणविभक्ति को अभेदार्थक मानने पर यहाँ पर अभेदान्वयबोध होना चाहिए क्योंकि नील पद विशेषणवाचक है। अतः तदुत्तर विभक्ति अम् विभक्ति का अर्थ अभेद होगा यह प्राप्त होता है। इस प्रकार अभेद के विभक्ति से उपस्थित होने के कारण अभेदान्वयबोध होना चाहिए। यदि कहें कि अभेदान्वयबोध में विरुद्धविभक्ति रहित्य प्रयोजक होता है जो कि **'नीलं घटः'** इस स्थल में नहीं है, विशेषण और विशेष्य में क्रमशः अम् और सु विभक्तियाँ है। तो ऐसा नहीं कहा जा सकता है क्योंकि— **'धान्येन धनवान्'** में विशेषण पद है धान्यपद तदुत्तरविभक्ति तृतीया है। विशेष्यवाचक पद है धनवत् पद तदुत्तर विभक्ति प्रथमा है। यहाँ पर विरुद्ध विभक्तिराहित्य का अभाव है फिर भी धान्याभिन्न धनवान् इस प्रकार अभेदान्वय बोध होता है। अतः अभेदान्वयबोध के प्रति विरुद्धविभक्तिराहित्य की कारणता नहीं स्वीकारी जा सकती है। फलतः **'नीलं घटः'** इस स्थल में अभेदान्वयबोध होना चाहिए।

ग्रन्थकार इस आक्षेप का परिहार करते हैं कि— तो ऐसा नहीं कहना चाहिए द्वितीयादि के द्वारा अभेद के बोधन के लिए द्वितीयाद्यन्त विशेष्यवाचक पद का समभिव्याहार प्रयोजक हुआ करता है। अभिप्राय यह है कि द्वितीयाके द्वारा अभेद बोधन हेतु द्वितीयान्त विशेष्यवाचक पद का समभिव्याहार प्रयोजक होता है। इसी प्रकार तृतीया चतुर्थी पञ्चमी आदि के विषय में भी समझना चाहिए। उक्तस्थल में द्वितीयान्त विशेष्यवाचक पद का समभिव्याहार नहीं है, अतः विशेषणवाचक पदोत्तर द्वितीया से अभेदबोधन नहीं हो सकता है।

इस प्रकार कहने से **'नीलं घटः'** में अभेदान्वयबोधापत्ति वारित हो जाती है किन्तु एक दूसरी समस्या उठ खड़ी होती है। **'धान्येन धनवान्'** में अभेदान्वयबोध स्वीकार किया जाता है परन्तु अभी-अभी सिद्धान्तित किया गया है कि तृतीया से अभेद बोधन के लिए

---

1- इस ग्रन्थ के द्वारा यह ज्ञात होता है कि अभेदसंसर्गक बोध स्वीकार करने पर यह दोष नहीं होता है। अभेद प्रकारक बोध होने पर ही यह दोष हो सकता है। संसर्गविधया अभेद का भान मानने वाले के मत में अभेद भान में आकाङ्क्षा नियामिका होती है 'नीलं घटः' ये आकाङ्क्षा अभेद भान में नियामिका ही नहीं होती है। अतः अभेद संसर्गक बोध मानने वाले के मत में कोई दोष नहीं है।

तृतीयान्त विशेष्यवाचक पद का समभिव्याहार कारण होता है। इस स्थल में तृतीया से ही अभेदबोधन होता है, अतः तृतीयान्तविशेष्यवाचक पद का समभिव्याहार उसके प्रति कारण होगा। जो कि यहाँ पर है नहीं, विशेष्यवाचक पद तो यहाँ पर प्रथमान्त है। इस कारण अभेदान्वयबोध यहाँ पर नहीं हो सकेगा। इसका समाधान यह दिया जाता है कि— '**प्रकृत्यादिभ्य उपसंख्यानम्**' यह जो वार्तिक है वह सभी विभक्तियों का अपवाद है। अतः '**प्रकृत्या चारुः**' '**गोत्रेण गार्ग्यः**' इत्यादि प्रयोग होते हैं। इन सब स्थलों में विशेषणवाचक पद में तृतीयातिरिक्त विभक्ति प्रामाणिक नहीं होती है। इस कारण '**प्रकृत्यादिभ्य उपसंख्यानम्**' इस वार्त्तिक से विहित तृतीया से अतिरिक्त तृतीया से अभेदबोधन के लिए तृतीयान्त विशेष्यवाचक पद का समभिव्याहार प्रयोजक होता है ऐसा कार्यकारणभाव स्वीकार किया जाता है। '**धान्येन धनवान्**' में तो '**प्रकृत्यादिभ्य उपसंख्यानम्**' इस वार्त्तिक से ही तृतीया विहित है। अतः उससे अभेदबोधन हेतु तृतीयान्तविशेष्यवाचक पद के समभिव्याहार की कोई आवश्यकता नहीं है, विना उक्त समभिव्याहार के भी विशेषणपदोत्तर तृतीया से अभेदबोधन हो सकता है।

**अथ 'प्रमेयो घटः' इत्यादौ प्रमेयत्वावच्छिन्नभेदाप्रसिद्ध्या लघुधर्म-समनियतगुरुधर्मस्याभावप्रतियोगितानवच्छेदकत्वेन 'कम्बुग्रीवादिमान् घटः' इत्यादावपि कम्बुग्रीवादिमत्त्वावच्छिन्न प्रतियोगिताकभेदाप्रसिद्ध्या विशेषणविभक्तेरभेदार्थकत्वाऽसम्भवः एवं नीलपटादिपरनीलादिपदघटितस्य 'नीलो घटः' इत्यादिवाक्यस्यापि प्रामाण्यापत्तिः- नीलत्वादिना पटादे-र्भेदाभावस्य नीलघटादौ सत्त्वात्।**

अभेद को विभक्त्यर्थ मानने पर अन्य दोषापत्ति दे रहे हैं— पूर्वग्रन्थ के द्वारा अभेद को विशेषण विभक्ति का अर्थ सिद्धान्तैकदेशी के द्वारा स्वीकार किया गया तथा अभेद का अर्थ किया गया भेद और अभाव अर्थात् भेदाभाव। विभक्त्यर्थ भेद में प्रकृत्यर्थ का अन्वय होता है तथा भेद का फिर अभाव में अन्वय होता है ऐसा स्वीकार किया गया है। एक प्रयोग होता है '**प्रमेयो घटः**' यहाँ पर विशेषण पद है प्रमेयपद तथा विशेष्यपद है घट पद। विशेष्यवाचक पदोत्तर भी सु विभक्ति है तथा विशेषणवाचक पदोत्तर भी । प्रमेय पदोत्तर सु विभक्ति का अर्थ है भेद व अभाव। भेद में प्रकृत्यर्थ प्रमेय का प्रमेयत्वावच्छिन्न प्रतियोगिताकत्व सम्बन्ध से तथा भेद का प्रमेयत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकभेदत्वावच्छिन्न प्रतियोगिताकत्व सम्बन्ध से अभाव में अन्वय होना चाहिए किन्तु यह सम्भव नहीं है क्योंकि प्रमेयत्व के केवलान्वयि होने के कारण (हर जगह पर प्रमेयत्व के विद्यमान होने के कारण) तथा प्रतियोगितावच्छेदक के साथ भेद का विरोध होने के कारण प्रमेयत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताक भेद '**प्रमेयो न**' ऐसा भेद अप्रसिद्ध है। प्रमेयत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताक भेद के अप्रसिद्ध होने के कारण न तो भेद में प्रकृत्यर्थ प्रमेय का प्रमेयत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वसम्बन्ध से अन्वय हो सकता है और न ही तादृशभेदत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्व सम्बन्ध से भेद का ही अभाव में अन्वय हो सकता है।

इसी प्रकार '**कम्बुग्रीवादिमान् घटः**' इत्यादि स्थलों पर भी अभेदान्वयबोध सम्भव नहीं है। यहाँ पर विशेष्यवाचक पद है घट पद और विशेषणवाचक पद है कम्बुग्रीवादिमत्

पद। विशेषण व विशेष्य विभक्ति सुविभक्ति है। विशेषण विभक्ति सु विभक्ति का अर्थ है भेद व अभाव। भेद में विशेषण कम्बुग्रीवादिमत् पदार्थ का कम्बुग्रीवादिमत्त्वावच्छिन्न प्रतियोगिताकत्व सम्बन्ध से अन्वय होगा। कम्बुग्रीवादिमत्त्व घटमात्र में रहता है व घटत्व भी घटमात्र में रहता है। घटत्व की अपेक्षा कम्बुग्रीवादिमत्त्व गुरुधर्म है । नियम है कि— **'सम्भवति च लघौ गुरौ तदभावात्'** लघुधर्म में यदि प्रतियोगितावच्छेदकत्व सम्भव हो तो गुरुधर्म में प्रतियोगितावच्छेदकत्व नहीं रहता है। इस कारण यदि हम **'कम्बुग्रीवादिमान् न'** ऐसा भेद लेते हैं तो इस भेद की प्रतियोगिता का अवच्छेदक कम्बुग्रीवादिमत्त्व रूप गुरुधर्म नहीं होगा अपितु घटत्वरूप लघुधर्म ही प्रतियोगितावच्छेदक होगा। अर्थात् कम्बुग्रीवादिमत्त्वावच्छिन्न प्रतियोगिता अप्रसिद्ध होगी। फलतः कम्बुग्रीवादिमत्त्वावच्छिन्न प्रतियोगिताकत्व सम्बन्ध से कम्बुग्रीवादिमत् पदार्थ का विभक्त्यर्थ भेद में अन्वय सम्भव नहीं हो सकेगा।

इसी प्रकार नीलपटाभिप्रायक नीलपद से घटित **'नीलो घटः'** इस वाक्य के भी प्रामाण्य की आपत्ति आती है। उक्त वाक्य घटक नील पद नीलपट का वाचक है, इसकारण इस वाक्य से जो बोध होगा उसमें नीलपट का घट से अभेद भासित होगा जो कि सम्भव नहीं है, नीलपट घट से अभिन्न नहीं हो सकता है। इस कारण यह वाक्य अप्रामाणिक है। परन्तु विभक्ति को अभेदार्थक मानने पर तो नील जो घट और पट हैं उनके घटत्वेन और पटत्वेन रूपेण भिन्न-भिन्न होने पर भी नीलत्वेन रूपेण घट और पट में कोई भेद नहीं है घट भी नील है व पट भी नील है। नीलत्वेन घट व पट में भेद न होने से नीलत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्व सम्बन्ध से नील का भेद में व भेद का भेदत्वावच्छिन्न प्रतियोगिताकत्व सम्बन्ध से अभाव में अन्वय सम्भव है। अभाव का अन्वय घट में हो सकता है। इस कारण नीलपटपरक नील पद घटित **'नीलो घटः'** वाक्य का प्रयोग करने पर नीलाभेद प्रकारक घटविशेष्यक बोध हो सकता है। अतः उक्त वाक्य, जो कि प्रामाणिक नहीं है, के प्रामाण्य की आपत्ति आती है।

**एतेन– विशेषणतावच्छेदकीभूतनीलत्वप्रमेयत्वादिकमेव विशेषण-विभक्त्यर्थः नीलत्वादेर्नीलत्वावच्छिन्नभेदाभावरूपतयाऽभेदार्थकत्व प्रवादोपपत्तिरित्यपि निरस्तम् ।नीलत्वादौ नीलत्वादिमतः स्ववृत्तित्वसम्बन्धे-नान्वये आकाङ्क्षाविरहाच्च । यथाहि तद्विशिष्टेऽधिकरणे तदधिकरणतया तदन्वयोऽनुभवविरुद्धस्तथा तद्धर्मे आधेयतया तद्धर्मवदन्वयोऽपि, अत एव 'कर्म गच्छति' इति वाक्यस्य निराकाङ्क्षता ।**

एतेन माने इसी दोष से । अभिप्राय है नीलपटपरक नीलपदघटित **'नीलो घटः'** वाक्य के प्रामाण्य प्रसङ्ग से। विशेषणतावच्छेदकीभूत नीलत्व, प्रमेयत्वादि ही विशेषण विभक्ति के अर्थ हैं। नीलत्व क्या है? नीलत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकभेदाभाव रूप है। अत एव विशेषणविभक्ति का अर्थ अभेद है यह प्रवाद है । सिद्धान्ततः विशेषणविभक्ति का अर्थ नीलत्वादि ही (विशेषणतावच्छेदक) है। इस प्रकार **'नीलो घटः' 'प्रमेयो घटः'** इत्यादि स्थलों में घटादि के नीलत्वाश्रय, घटत्वाश्रय होने के कारण कोई दोष नहीं आता है। किन्तु नीलपट परक नीलपद घटित **'नीलो घटः'** इस वाक्य के प्रामाण्य की आपत्ति इस मत में

भी आती है। क्योंकि विशेषण विभक्ति का यदि विशेषणतावच्छेदकीभूत नीलत्वादि ही अर्थ हैं तो नीलत्व तो एक ही है घट, पट आदि समस्त स्थलों में । अतः पटवृत्तिनीलत्व घट में विद्यमान है। फलस्वरूप नीलत्व का अन्वय घट में सम्भव होने से उक्त नीलपटाभिप्रायक नीलपदघटित '**नीलो घटः**' वाक्य के प्रामाण्य की आपत्ति आती है। उक्त वाक्य का प्रामाण्य तो स्वीकार नहीं किया जाता है अतः निष्कर्ष यही निकलता है कि विशेषणतावच्छेदक को विशेषण विभक्ति का अर्थ नही स्वीकार कर सकते हैं।

इसके अलावा भी विशेषणतावच्छेदक को विशेषण विभक्ति का अर्थ मानने पर दोष आते हैं, वह यह है— नीलत्वादि में नीलत्वादिमान् (नीलादि) का अन्वय किस सम्बन्ध से किया जायेगा? स्ववृत्तित्व सम्बन्ध से नीलादि का नीलत्वादि में अन्वय करने में आकाङ्क्षा नहीं है। जिस प्रकार तद्विशिष्ट अधिकरण में तदधिकरणतया तत् का अन्वय नहीं हो सकता है जैसे घटाधिकरण में घट का अधिकरणतया अन्वय नहीं हो सकता है क्योंकि 'घटवाला घटवाला है' ऐसा बोध नहीं होता है। उसी प्रकार तद्धर्म में आधेयतया तद्धर्मवत् का अन्वय भी नहीं होता है। इस कारण नीलत्व में नीलत्ववान् का आधेयता (स्ववृत्तित्व) सम्बन्ध से अन्वय नहीं हो सकता है। इसी कारण (तद्धर्म में तद्धर्मवत् का आधेयता सम्बन्ध से अन्वय सम्भव न होने के कारण) ही '**कर्म गच्छति**' इस वाक्य की निराकाङ्क्षता होती है। यहाँ पर कर्म पद द्वितीयान्त है। कर्मपदार्थ है कर्म, द्वितीयार्थ है कर्मत्व। नियम है कि '**प्रकृति प्रत्ययार्थौ सहार्थं ब्रूतः प्रत्ययार्थस्यैव प्राधान्यम्**' प्रकृति और प्रत्ययार्थ साथ ही साथ अपने अर्थ को कहते हैं और उसमें प्रत्ययार्थ की ही प्रधानता होती है (विशेष्यता होती है) इस कारण कर्मत्व को विशेष्य होना चाहिए एतदर्थ कर्म का अन्वय कर्मत्व में होना आवश्यक है। कर्मत्व में कर्म का अन्वय स्ववृत्तित्व सम्बन्ध से ही हो सकता है परन्तु इस प्रकार अन्वय होने में कोई आकाङ्क्षा नहीं है। इस तरह यह सिद्ध होता है कि प्रकृत्यर्थतावच्छेदक (विशेषणतावच्छेदक) को विशेषण विभक्ति का अर्थ मानने पर उक्त दोष आने से विशेषणतावच्छेदक को विशेषणविभक्ति का अर्थ नहीं स्वीकार कर सकते हैं।

**न चैवं ससर्गतामतेऽप्यनिस्तारः– 'नीलो घटः' इत्यादौ स्ववृत्तिनीलत्वादेः संसर्गतास्वीकारे उक्तस्थले प्रामाण्यापत्तेर्दुर्वारत्वादिति वाच्यम्, स्ववृत्ति नीलत्वादेः स्वस्मिन्नेव सम्बन्धतोपगमेन पटादिवृत्तिनीलत्वादे र्घटादौ पटादि-सम्बन्धताविरहेण तादृशातिप्रसंगाभावात् ।**

ग्रन्थकार संसर्गतामत में भी उन्हीं दोषों की सत्ता सम्भव है जिनकी आपत्ति प्रकारतामत में दी गयी है, इस प्रकार से संसर्गतामत में भी दोष उठा रहें हैं — (संसर्गतामत का अभिप्राय है अभेद का जो संसर्गविधया भान मानते हैं तथा प्रकारतामत का अभिप्राय है अभेद का जो प्रकारविधया भान मानते है) इस प्रकार तो संसर्गतामत में भी अभेद का संसर्गविधया भान मानने वाले के मत में भी निस्तार नहीं है क्योंकि '**नीलो घटः**' इस प्रकार नीलपटपरक नीलपद से घटित वाक्य की प्रमाण्यापत्ति इस मत में भी है। देखें— अभेद की संसर्गता स्वीकार करने पर भी नीलभेदाभाव नीलत्व रूप ही होता है, नीलत्व जिस प्रकार पट में है, उसी प्रकार घट में भी है। इस प्रकार अभेद (नीलाभेद— नीलभेदाभाव—नीलत्व) घट में होने के कारण यदि उक्त रीति से नीलपटपरक नीलपद

घटित **'नीलो घटः'** इस वाक्य का प्रयोग किया जाये तो उक्त वाक्य के प्रामाण्य की आपत्ति दुर्वार ही है क्योंकि घट नीलत्ववान् है और उसी में नीलो घटः ऐसा प्रोयग हो रहा है। अतः जैसा दोष अभेद प्रकारता मत में अर्थात् अभेद को विशेषण विभक्ति का अर्थ मानने पर है वैसा ही दोष अभेद का भान संसर्गविधया होने पर भी है। ऐसा कहें तो नहीं कह सकते हैं क्योंकि स्ववृत्ति नीलत्व आदि की स्व में ही सम्बन्धता स्वीकारी जाती है। इसलिए पटादिवृत्ति नीलत्वादि का घटादि में पटादिसम्बन्धता न होने से वैसा अति प्रसंग नहीं होता है। अभिप्राय यह है कि पटवृत्तित्वविशिष्ट नीलत्व की ही सम्बन्धता उक्त स्थल में है क्योंकि नीलपटपरक नीलपद घटित उक्त वाक्य का प्रयोग किया गथा है। पटवृत्तित्वविशिष्ट नीलत्व तो पट में ही रहेगा घट में नहीं। इसलिए यदि नीलपटपरक नीलपदघटित वाक्य का प्रयोग हो तो पट में ही नीलाभेद भासित होगा घट में नहीं। उक्त वाक्य प्रयोग **'नीलो घटः'** में नीलपटपरक नीलपद का प्रयोग है, अतः घट से नील का अभेद बोधित नहीं होगा।

**वस्तुतस्तु– तत्तद्व्यक्तित्वावच्छिन्नभेदाभाव एव नीलत्वादिप्रकारेण भासमानानां तत्तद्व्यक्तीनां स्वस्मिन् सम्बन्धतया भासत इति न काप्यनुपपत्तिः। सम्बन्धता च तस्य भेदप्रतियोगिताकाभावत्वेन तत्तद्व्यक्तिभेदप्रतियोगिता-काभावत्वेन वेत्यन्यदेतत् ।**

संसर्गतामत में भी **'नीलो घटः'** इस वाक्य के प्रामाण्य की आपत्ति है इस आक्षेप का एक समाधान दे चुके हैं परन्तु अब वास्तविक समाधान दे रहे हैं— वस्तुतः तो तत्तत् व्यक्तित्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकभेद का अभाव ही नीलत्वादि को प्रकार बनाकर के भासमान जो तत्तद् व्यक्ति हैं उनका स्व में सम्बन्ध बन कर भासित होता है। अतः कोई अनुपपत्ति नहीं है। अभिप्राय है कि नीलपटपरक नीलपदघटित **'नीलो घटः'** वाक्य का प्रयोग करने पर उक्त वाक्य के प्रामाण्य की आपत्ति दी गयी थी, अभेद को विभक्त्यर्थ मानकर प्रकारतया (विशेषण बनकर) भान मानने के पक्ष में। उस पर आपत्ति यह दी गयी कि यह दोष तो अभेद का संसर्गविधया (सम्बन्ध के रूप में) भान मानने पर भी आयेगा। पूर्वग्रन्थ के द्वारा इसका एक समाधान दिया गया। इस ग्रन्थ के द्वारा सिद्धान्त रूप में वास्तविक समाधान दे रहे हैं कि जब अभेद का संसर्गविधया (सम्बन्ध के रूप में) भान होता है तो तत्तद्व्यक्तित्वावच्छिन्न प्रतियोगिताक भेदाभाव ही सम्बन्ध बन कर भासता है नीलत्वादि को प्रकार बनाकर (विशेषण बनाकर) भासित होने वाले तत्तद्व्यक्तियों नीलपटादि व्यक्तियों का नीलपटादि व्यक्तियों में सम्बन्ध बन कर भासित होता है। इस कारण से जब नीलपट के लिए नीलपटपरक नीलपदघटित वाक्य का प्रयोग होता है तो वह वाक्य प्रमाणभूत होता है क्योंकि नीलपटव्यक्ति में नील (पट) व्यक्ति का भेद नहीं है। किन्तु जब नीलपट परक नीलपदघटित **'नीलो घटः'** वाक्य का प्रयोग किया जाता है तो इस वाक्य का प्रामाण्य नहीं होता है क्योंकि नील (पट) व्यक्ति का तत्तद्व्यक्तित्वेन भेद घटव्यक्ति में विद्यमान है। इसलिए कोई अनुपपत्ति नहीं है। अब उक्त तत्तद्व्यक्तित्वावच्छिन्नभेदाभाव की सम्बन्धता भेद प्रतियोगिताकाभावत्व रूप से स्वीकारी जाये या तत्तद्व्यक्तिभेदप्रतियोगिताकाभावत्व रूप से स्वीकारी जाये ये अलग बात है। मतलब ये कि इन दोनों में से किसी भी रूप से उसकी

सम्बन्धता स्वीकारी जा सकती है, किसी भी रूप से सम्बन्धता स्वीकारने पर कोई क्षति नहीं है।

**न चैवं विशेषणविभक्तेरभेदार्थकत्वमतेऽपि तत्तद्व्यक्तित्वावच्छिन्नाऽभेद एव विभक्त्यर्थो वक्तव्य इति वाच्यम्, तथासत्यपूर्वव्यक्तिनिष्ठतत्तद्व्यक्तित्वस्य कथंचिदपि भानासंभवेन तदवच्छिन्नभेदाभावे शक्तिग्रहासम्भवेनाऽपूर्वव्यक्तीनामभेदान्वयबोधानुपपत्तेः, संसर्गज्ञानस्य विशिष्टबुद्धावहेतुत्वेनाऽनुपस्थितस्यापि संसर्गतया भानसम्भवेन संसर्गतामतेऽनुपपत्त्यभावात् ।**

इस ग्रन्थ के द्वारा आशंका करते हैं कि क्या इसी प्रकार अभेद को विशेषणविभक्ति का अर्थ माननेवाले के मत में भी नहीं हो सकता है और फिर उसका समाधान करते हैं कि— विशेषण विभक्ति को अभेदार्थक मानने वाले के मत में तत्तद्व्यक्तित्वावच्छिन्नाऽभेद (तत्तद्व्यक्तित्वावच्छिन्नभेदाभाव) को ही विभक्त्यर्थ कहना चाहिए[1] ऐसा ही क्यों न मान लिया जाये। अभिप्राय है कि अभेद का संसर्गतामत में जैसा अर्थ करके नीलपटपरक नील पद घटित '**नीलो घटः**' वाक्य के प्रामाण्य की आपत्ति जिस प्रकार वारित की गयी उसी प्रकार अभेद का अर्थ अभेद का प्रकारतया भान मानने वाले पक्ष में भी करके भी उक्त वाक्य के प्रमाण्य की आपत्ति क्यों न वारित कर ली जाये? दोनों ही पक्षों की स्थिति इस विषय में समान है यह मानकर अभी चला जा रहा है। नियम भी है कि '**यत्रोभयोः समो दोषः परिहारः समो भवेत्**' जहाँ पर दोनो पक्षों में समान दोष हो वहाँ परिहार भी समान ही होता है। तो ऐसा नहीं कह सकते हैं क्योंकि ऐसा होने पर अर्थात् अभेद का प्रकारतया भान मानकर फिर अभेद का तत्तद्व्यक्तित्वावच्छिन्नप्रतियोगिताक भेदाभाव रूप अर्थ करने पर अपूर्व व्यक्ति में रहने वाले तत्तद्व्यक्तित्व का भान किसी भी तरह सम्भव न होने के कारण अपूर्वव्यक्तिनिष्ठतत्तद्व्यक्तित्वावच्छिन्न भेदाभाव में शक्तिग्रह असम्भव होगा। अतः अपूर्वव्यक्तियों का अभेदान्वयबोध नहीं हो सकेगा। अभिप्राय यह है कि प्रकारीभूत पदार्थ के अन्वयबोध के प्रति वृत्तिज्ञानाधीन तत्पदार्थोपस्थिति कारण होती है। अभेद अर्थात् तत्तद्व्यक्तित्वावच्छिन्न भेदाभाव को जब विशेषणविभक्ति का अर्थ मान रहें है अर्थात् तत्तद्व्यक्तित्वावच्छिन्नभेदाभाव का प्रकारतया भान मान रहे हैं तो उसकी उपस्थिति वृत्ति (शक्तिलक्षणान्यतर) ज्ञानाधीन होनी चाहिए। अपूर्वव्यक्तिनिष्ठतत्तद्व्यक्तित्व का भान कथमपि सम्भव नहीं है जैसे कि प्रयोग किया जाये —'**गौरः पुत्रो भविता**' गोरा पुत्र होगा यहाँ पर गौर पुत्र अपूर्व व्यक्ति है अभी उत्पन्न नहीं है। उसमें रहने वाले तत्तद्व्यक्तित्व का भान किसी भी तरह सम्भव नहीं है । इस कारण भावि गौरपुत्रनिष्ठतत्तद्व्यक्तित्वावच्छिन्नभेदाभाव में विभक्ति का शक्तिग्रह सम्भव नहीं है। तत्तद्व्यक्तित्व के प्रति व्यक्ति में भिन्न-भिन्न होने के कारण तत्तद्व्यक्तित्वावच्छिन्नभेदाभाव में शक्तिग्रह सम्भव न होगा। इस प्रकार भाविगौर पुत्र निष्ठतत्तद्व्यक्ति त्वावच्छिन्नभेदाभाव में विभक्ति का शक्तिग्रह सम्भव न होने के कारण अपूर्वव्यक्ति पुत्र के साथ गौर का अभेद नहीं भासित हो सकता है अर्थात् गौर के साथ पुत्र का अभेदान्वय बोध सम्भव नहीं हो सकता है।

---

1- यहाँ पर ये समझ लेना चाहिए कि प्रकारतया भान जिसका होता है वह किसीं न किसी पद का अर्थ होता है और शक्ति या लक्षणा से उपस्थित होना है। संसर्ग न तो किसी पद का अर्थ होता है और न तो शक्ति लक्षणा से उपस्थित होता है अपितु आकाङ्क्षाभास्य होता है। विभक्त्यर्थ अभेद कहने से अभेद प्रकारतया भासित होता है यह लब्ध होता है।

संसर्गज्ञान के विशिष्ट बुद्धि में कारण न होने के कारण अनुपस्थित का भी संसर्गतया भान हो सकता है[1] अभिप्राय है कि विशिष्टबुद्धि के प्रति विशेषण ज्ञान व विशेष्य ज्ञान कारण होता है किन्तु संसर्गज्ञान कारण नहीं होता है। विशेषण की उपस्थिति अन्वय बोध के पूर्व में होनी आवश्यक है, संसर्ग की उपस्थिति आवश्यक नहीं है। इसलिए पूर्वोक्त **'गौरः पुत्रो भविता'** इस वाक्य से अन्वयबोध के पूर्व भाविपुत्रनिष्ठ तत्तद् व्यक्तित्व के उपस्थित न होने से भाविपुत्रनिष्ठतत्तद्व्यक्तित्वावच्छिन्न भेदाभावरूप संसर्ग की उपस्थिति न होने पर भी आकाङ्क्षा से अन्वयबोध में उक्त संसर्ग विषय बनता है। अतः संसर्गतामत में कोई अनुपपत्ति नहीं है।

**न च विभक्त्यर्थेऽपि भेदे तत्तद्व्यक्तित्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वसम्बन्धेन नीलत्वादिना तत्तद्व्यक्तीनामन्वयः तादृशभेदानामपि तत्तद्व्यक्तिभेदत्वावच्छिन्न-प्रतियोगिताकत्वसम्बन्धेनाऽभावेऽन्वय उपेयते, तावतैव तत्तद्व्यक्तित्वा-वच्छिन्नाभेदलाभ इति न किंचिदनुपपन्नमिति वाच्यम्; विशेषणतावच्छेदका-वच्छिन्नाया एव प्रतियोगिताया अभावे प्रतियोगिनः सम्बन्धतया भानात् अन्यथा विशिष्टवैशिष्ट्यबुद्धित्वानुपपत्तेः। 'प्रतियोगिविशेषिताभावज्ञानं च विशिष्टवैशिष्ट्यबोधमर्यादां नातिशेते' इति दर्शनात् केवलं विशेष्ये विशेषणमिति रीत्या न कश्चिदभ्युपैतीति चेत्?**

ग्रन्थकार अब एक बार फिर अभेद को विभक्ति का अर्थ मानने वाले पक्ष को उठा रहे हैं तथा फिर खण्डन करके सिद्धान्तित कर रहे हैं— विभक्ति का अर्थ है अभेद अर्थात् भेदाभाव। पूर्व में कह चुके हैं कि विभक्ति की शक्ति भेद में है और अभाव में है। विशिष्ट का लाभ तो आकाङ्क्षा के बल से होता है। ऐसी परिस्थिति में विभक्त्यर्थ हैं दो भेद और अभाव। विभक्त्यर्थ भेद में तत्तद्व्यक्तित्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्व सम्बन्ध से नीलत्वादि से तत्तद्व्यक्तियों का अन्वय होता है। उन— तत्तद्व्यक्तित्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वसम्बन्ध से नीलत्वादि द्वारा तत्तद्व्यक्तियों से अन्वित भेदों का भी तत्तद्व्यक्तिभेदत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्व सम्बन्ध से अभाव में अन्वय स्वीकार करते हैं। और उसी से ही तत्तद्व्यक्तित्वावच्छिन्नाभेद का लाभ हो जाता है इस प्रकार कुछ भी अनुपपन्न नहीं होता है।

अभिप्राय यह है कि संसर्गतामत में- अभेद का संसर्गतया भान स्वीकारने वाले मत में– अपूर्वव्यक्तिनिष्ठतत्तद्व्यक्तित्व की उपस्थिति न होने पर भी जिस प्रकार आपने तत्तद् व्यक्तित्वावच्छिन्नप्रतियोगिताक भेदाभाव के अनुपस्थित होने पर भी 'संसर्ग की उपस्थिति न होने पर भी आकाङ्क्षा से शाब्दबोधविषयता संसर्ग में आ सकती है' ऐसा उपस्थापित व सिद्धान्तित किया। उसी प्रकार अभेद का प्रकारतया भान मानने पर भी हो सकता है क्योंकि अभेद का अर्थ है भेद व अभाव। तत्तद्व्यक्तित्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्व सम्बन्ध से तत्तद्व्यक्तियों का अन्वय भेद में होता है अर्थात् तत्तद्व्यक्तित्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्व संसर्गतया भासित होता है आकाङ्क्षाभास्य होता है। भेदों का तत्तद्व्यक्तिभेदत्वावच्छिन्न प्रतियोगिताकत्व सम्बन्ध

1. यद्यपि मीमांसक संसर्गतया भी अनुपस्थित का भान नहीं स्वीकार करते हैं और इसीलिए संसर्ग में भी शक्ति स्वीकार करते हैं तथापि इस मीमांसक मत का खण्डन करके अनुपस्थित भी दो पदार्थों के संसर्ग का संसर्गमर्यादा से भान नैयायिक स्वीकार करते हैं ।

से अभाव में अन्वय होता है अर्थात् तत्तद्व्यक्तित्वावच्छिन्न प्रतियोगिताकत्व सम्बन्ध से अभाव में अन्वय होता है। अर्थात् तत्तद्व्यक्तिभेदत्वावच्छिन्न प्रतियोगिताकत्व सम्बन्ध भी आकाङ्क्षाभास्य होता है। इस प्रकार अभेद का प्रकारतया भान मानने पर भी अपूर्वव्यक्तियों का अभेदान्वय बोध सम्भव है क्योंकि दर्शित रीति से अभेद का प्रकारतया भान मानने पर भी तत्तद्व्यक्तित्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्व व तत्तद्व्यक्तिभेदत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्व का तो संसर्गतया ही भान हो रहा है। तत्तद्व्यक्तित्व का संसर्ग घटक होकर ही भान हो रहा है। अतः उसके अनुपस्थित होने पर भी कोई क्षति नहीं है।

यदि ऐसा कहें तो नहीं कह सकते हैं। अभिप्राय है कि आप जो कह रहे हैं कि तत्तद्व्यक्तित्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्व सम्बन्ध से नीलात्वादिना तत्तद्व्यक्ति का भेद में व भेद का तत्तद्व्यक्तिभेदत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्व सम्बन्ध से अभाव में अन्वय हो जायेगा वह सम्भव नहीं है। क्योंकि विशेषणतावच्छेदक से अवच्छिन्न प्रतियोगिता का ही अभाव में प्रतियोगी का सम्बन्ध बनाकर भान होता है अर्थात् प्रतियोगी का विशेषण बनकर भासमान धर्म से अवच्छिन्न प्रतियोगिता का ही प्रतियोगी के अभाव में संसर्गतया भान होता है। आप **'नीलो घटः'** इत्यादि स्थलों में नील का तत्तद्व्यक्तित्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वसम्बन्ध से भेद में अन्वय स्वीकार कर रहे हैं यह सम्भव नहीं है क्योंकि इन स्थलों पर नील का भेदाभाव घट में भासता है। प्रतियोगी है नील, उसका विशेषण बनकर भासमान धर्म नीलत्व है न कि तत्तद्व्यक्तित्व। अतः नीलत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्व सम्बन्ध से ही नील से विशिष्ट भेद का भान होना चाहिए। अर्थात् नीलत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्व रूप संसर्ग ही नील का भेद में संसर्ग बन सकता है, न कि तत्तद्व्यक्तित्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्व। इस प्रकार यदि नहीं स्वीकार करोगे तो अभाव ज्ञान को विशिष्ट्यबुद्धि नहीं कह सकेंगे। विशेषण और विशेषणतावच्छेदकोभयप्रतियोगिकसम्बन्धद्वय को विषय करने वाली बुद्धि को विशिष्ट वैशिष्ट्य बुद्धि कहा जाता है।[1] **'नीलो घटः'** ऐसा प्रयोग करने पर विभक्त्यर्थ भेद में नील का (विशेषण का) स्वप्रतियोगिकत्व सम्बन्ध भासता है तथा नीलत्व का (विशेषणतावच्छेदक का) स्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्व सम्बन्ध भासता है। इस प्रकार उक्त वाक्य से जायमान ज्ञान (शाब्दबोधात्मकज्ञान) विशेषण नीलप्रतियोगिक स्वप्रतियोगिकत्वसम्बन्ध को विषय करता है, साथ ही विशेषणतावच्छेदक नीलत्वप्रतियोगिक स्वावच्छिन्नप्रतियोगिकत्व संसर्ग को भी विषय करता है। अतः यह विशिष्टवैशिष्ट्यबुद्धि है। प्रतियोगि से विशेषित अभावज्ञान विशिष्टबैशिष्ट्यबोधमर्यादा का अतिक्रमण नहीं करता है ऐसा दर्शन है। केवल विशेष्य में विशेषण है इस रीति से कोई भी अभावज्ञान को स्वीकार नहीं करता है। अर्थात् भेद रूप विशेष्य में नीलविशेषण है व नील में नीलत्व विशेषण है इस रीति से कोई भी अभावज्ञान का स्वीकार नहीं करता है।

इस प्रकार नीलत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्व संसर्ग ही नील का भेद में सम्बन्ध हो सकता है, तत्तद्व्यक्तित्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्व संसर्ग नील का भेद में संसर्ग नहीं हो सकता है। इस परिस्थिति में नीलत्वावच्छिन्न प्रतियोगिता के ही संसर्ग होने के कारण

---

1- विशिष्ट वैशिष्ट्यबुद्धि का शाब्दिक अर्थ होता है विशिष्ट के वैशिष्ट्य की बुद्धि । जैसे घटाभावज्ञान विशिष्ट वैशिष्ट्यबुद्धि है क्योंकि घटत्व से विशिष्ट घट का वैशिष्ट्य अभाव में भासता है अर्थात् जैसे घट का स्वप्रतियोगिताकत्वसम्बन्ध से (स्व माने घट) अभाव में अन्वय होता है वैसे ही घटत्व का स्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्व सम्बन्ध से (स्व माने घटत्व) अभाव में अन्वय होता है।

नीलत्व के तो हर जगह घट पटादि में एक होने के कारण नीलपटपरक नीलपद घटित **'नीलो घटः'** वाक्य के प्रामाण्य की आपत्ति पूर्ववत् पुनः प्राप्त होती है।

**सत्यम् – अभेदस्तादात्म्यम्, तच्च स्ववृत्त्यसाधारणो धर्मः असाधारण्यं च एकमात्रवृत्तित्वम् । तच्च स्वसामानाधिकरण्यस्वप्रतियोगिवृत्तित्वोभय-सम्बन्धेन भेदविशिष्टं यत् तदन्यत्वमित्येकमात्रवृत्ति धर्म एव विशेषण-विभक्तेरर्थः । वृत्तिश्च तत्र प्रकृत्यर्थस्य संसर्गमर्यादया भासते, तादृशधर्मस्तत्तद्-व्यक्तित्वादिरूप एव । अपूर्वव्यक्तिनिष्ठतादृशधर्मस्य विशिष्य ज्ञातुमशक्य-त्वेप्येकमात्रवृत्तिधर्मत्वादिना सामान्यप्रत्यासत्तितः सुग्रहत्वमेव।**

सच है अर्थात् अभेद का अर्थ भेद व अभाव मानने पर व अभेद विशेषणविभक्ति का अर्थ मानने पर उक्त दोष आयेगा ही। (अतः अभेद का अर्थ भेदाभाव नहीं मानते हैं बल्कि) अभेद का अर्थ है तादात्म्य। और तादाम्त्य स्ववृत्ति असाधारण धर्म ही है। असाधारण्य का अर्थ है एकमात्रवृत्तित्व सिर्फ एक ही में रहना। और एकमात्रवृत्तित्व का पारिभाषिक अर्थ है स्वसामानाधिकरण्य और स्वप्रतियोगिवृत्तित्व इन दोनों सम्बन्धों से जो भेदविशिष्ट होता है तदन्यत्व। इस प्रकार एकमात्रवृत्तिधर्म ही विशेषणभिक्ति का अर्थ है और उस एकमात्रवृत्तिधर्म में प्रकृत्यर्थ की वृत्ति (प्रकृत्यर्थ का सम्बन्ध) संसर्गमर्यादा से भासित होता है। देखें— **'नीलो घटः'** यहाँ पर घट में नील का तादात्म्य भासता है। वह तादाम्य क्या है? एकमात्रवृत्तिधर्म है, आसाधारण धर्म है। घट वृत्ति असाधारण धर्म है तादात्म्य। स्व माने घट। उसमें जो नील का तादात्म्य आ रहा है वही घटवृत्ति आसाधारण धर्म है क्योंकि नीलतादात्म्य एकव्यक्ति तद्घटमात्र में वृत्ति होता है। पारिभाषिक एकमात्र वृत्तित्व भी घटवृत्तिनीलतादात्म्य में आता है। स्व माने नीलव्यक्ति का भेद। नीलव्यक्तिभेद तद्घट से अतिरिक्त घट में विद्यमान है और तद्घटातिरिक्त उस घट में घटत्व भी विद्यमान है। इस प्रकार स्वसामानाधिकरण्य सम्बन्ध से नीलव्यक्तिभेद से विशिष्ट घटत्व है। इसी प्रकार स्व का प्रतियोगी जो नीलव्यक्ति तद्वृत्तित्व भी घटत्व में होने से द्वितीय सम्बन्ध से भी नीलव्यक्तिभेद से विशिष्ट घटत्व है उससे अन्यत्व तन्नीलघटवृत्तितद्व्यक्तित्व में आता है। इस प्रकार उस नीलघट में रहनेवाला तद्व्यक्तित्व ही एकमात्रवृत्ति धर्म अर्थात् स्ववृत्ति असाधारण धर्म होगा। वही विशेषण विभक्ति का अर्थ है तथा तादात्म्य पदार्थ है।

अब पूर्वोक्त दोषों का निवारण दिखला रहे हैं कि— अपूर्व व्यक्ति (भाविपुत्रादि) निष्ठ तादृश (तत्तद्व्यक्तित्वादि) धर्म जो कि तादात्म्यपदार्थ हैं, का ज्ञान विशेषकर के शक्य न होने पर भी (पूर्वोक्तरीति से शक्य न होने पर भी) एकमात्रवृत्तिधर्मत्व रूप समान्यप्रत्यासत्ति (सामान्यलक्षणाप्रत्यासत्ति[1]) के द्वारा सुग्रह है। एकमात्रवृत्तिधर्म का वर्तमान नीलादिव्यक्तियों में ज्ञान सम्भव है और एक मात्र वृत्तिधर्मत्वेन रूपेण भाविव्यक्तियों का भी ज्ञान हो जायेगा। अतः अपूर्व व्यक्तिनिष्ठ तत्तद्व्यक्तित्व की उपस्थिति कथमपि सम्भव न होने के कारण अभेद को विभक्त्यर्थ मानने के कल्प में जो दोष दिया गया था, वह वारित हो जाता है।

1- सामान्यं लक्षणं स्वरूपं यस्याः सा सामान्यलक्षणा, अर्थात् सामान्य हो जिसका स्वरूप हो उसे सामान्यलक्षणा प्रत्यासत्ति कहते हैं। जैसे— एक गो व्यक्ति को जान लेने से गोत्वेन समस्त गो व्यक्तियों को सामान्य लक्षणा प्रत्यासत्ति से जान लिया जाता है।

**विमर्श–** यहाँ पर विप्रतिपत्ति उठ खड़ी होती है जिस पर विचार कर लेना आवश्यक प्रतीत होता है। वह यह है कि तादात्म्य का आप जो अर्थ इस समय कर रहे है वह है **स्वसामानाधिकरण्य स्वप्रतियोगिवृत्तित्व उभयसम्बन्ध से जो भेद विशिष्ट, उससे भिन्नत्व** भेद का अर्थ है **तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभाव।** ऐसी परिस्थिति में अन्योन्याश्रय दोष आपन्न होता है क्योंकि तादात्म्य का लक्षण भेद से घटित है और भेद का लक्षण तादात्म्य से घटित है। इस आपत्ति का वारण करने के लिए तादात्म्य के लक्षण में भेद की जगह पर अभाव का प्रयोग करना चाहिए। अर्थात् **स्वसामानाधिकरण्य स्वप्रतियोगिवृत्तित्वोभयसम्बन्ध से जो अभावविशिष्ट तदन्यत्व** ही तादात्म्य पदार्थ है। इस प्रकार कहने पर तादात्म्यलक्षण के भेद से घटित न होने के कारण पूर्वोक्त अन्योन्याश्रय दोष वारित हो जाता है। यद्यपि अब भी ये आशंका होती है कि यह लक्षण भी तो अन्यत्व से घटित है क्योंकि अभाव विशिष्टान्यत्व तो फिर भी लक्षण में घटक है। तो इसके लिए समाधान देते है कि भेदत्व अखण्डोपाधि है अर्थात् भेदत्व का अर्थ तादात्म्य सम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभावत्व नहीं है। अतः अन्योन्याश्रय इस प्रकार नहीं आपन्न हो सकता है। इसी प्रकार अभावत्व को भी अखण्डोपाधि स्वीकार करते हैं, नहीं तो इस प्रकार परिष्कार करने पर भी अन्योन्याश्रय दोष आने लगेगा । कारण कि अभाव का अर्थ है भावभिन्न-भावभेदवान् । इस प्राकर अभाव मानें भाव से भिन्न और भिन्न माने तादात्म्य सम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभाववान् । इस प्रकार तादात्म्य के निर्वचन हेतु अभाव निर्वचन की आवश्यकता, अभाव निर्वचन हेतु भेदनिर्वचन की आवश्यकता, भेद निर्वचन हेतु तादात्म्य निर्वचन की आवश्यकता इस इस प्रकार अन्योन्याश्रय आयेगा । परन्तु अभावत्व को अखण्डोपाधि मान लेने पर अभाव निर्वचन हेतु भेद, तादात्म्यादि निर्वचन आवश्यक नहीं होता है। अतः अन्योन्याश्रय वारित हो जाता है।

यहाँ पर कुछ अन्य विचार कर लेना आवश्यक प्रतीत होता है। अभी ग्रन्थकार ने परिष्कार किया है कि स्वसामानाधिकरण्य स्वप्रतियोगिवृत्तित्व उभय सम्बन्ध से जो भेदविशिष्ट तदन्यत्व ही एकमात्रवृत्तित्व है। यहाँ पर इसका संगमन इस तरह करते हैं कि जैसे घट में दूसरे घट का भेद है। वही भेद है स्वपदार्थ, उस भेद का अधिकरण प्रथम घट हुआ, उसमें घटत्व विद्यमान है, अतः स्वसामानाधिकरण्य घटत्व में है। द्वितीय घट स्व का प्रतियोगी है उसमें वृत्ति है घटत्व। इस तरह स्वप्रतियोगिवृत्तित्व सम्बन्ध से भी भेद से विशिष्ट घटत्व होता है। यहाँ प्रथम घट भेद का अनुपयोगी है और द्वितीय घट प्रतियोगी होता है। प्रतियोगी द्वितीय घट में रहने वाले तद्व्यक्तित्व में स्वप्रतियोगिवृत्तित्व रूप द्वितीय सम्बन्ध के रहने पर भी स्वसामानाधिकरण्य रूप प्रथम सम्बन्ध नहीं है। अनुयोगी प्रथम घट वृत्ति तद्व्यक्तित्व में स्वसामानाधिकरण्य रूप प्रथम सम्बन्ध के होते हुए भी स्वप्रतियोगिवृत्तित्व रूप द्वितीयसम्बन्ध नहीं है।

यहाँ आशंका ये होती है कि प्रतियोगिभूत घटवृत्तितद्व्यक्तित्व में स्वप्रतियोगिवृत्तित्व-सम्बन्ध तो विद्यमान है ही। वह तद्व्यक्तित्व कालिक सम्बन्ध से अनुयोगी घट में भी रहेगा क्योंकि कालिक सम्बन्ध से जन्य और महाकाल में सभी रह सकते हैं, अनुयोगी घट भी जन्य तो है ही । इस प्रकार भेदाधिकरण में प्रतियोगिघटगत तद्व्यक्तित्व के विद्यमान होने के कारण स्वसामानाधिकरण्य सम्बन्ध से भी भेद का वैशिष्ट्य प्रतियोगिघटगत तद्व्यक्तित्व

में चला जायेगा । इस प्रकार तद्व्यक्तित्व भी भेद विशिष्टान्य नहीं हो सकेगा। चालनी न्याय से सारे तद्व्यक्तित्वों में इसी प्रकार भेद वैशिष्ट्य ही आ जायेगा । कोई भी धर्म एकमात्रवृत्तिधर्म नहीं कहा जा सकेगा।

यदि इस दोष का वारण करने के लिए आप कहें कि स्वसामानाधिकरण्य गतवृत्तित्व स्वरूप सम्बन्ध से लेना है तो समवाय सम्बन्ध से रहने वाले जो नीलत्वघटत्वादि हैं उनमें भी भेदविशिष्टान्यत्व की आपत्ति होगी । क्योंकि घटत्वादि समवाय सम्बन्ध से रहते हैं स्वरूपसम्बन्ध से नहीं । इसलिए स्वसामानाधिकरण्य सम्बन्ध से भेद का वैशिष्ट्य घटत्वादि में नहीं जायेगा । इस परिस्थिति में अन्य नीलपद घटित '**नीलो घटः**' वाक्य के प्रमाण्य की आपत्ति आ जायेगी । क्योंकि उक्तोभय सम्बन्ध से भेद का वैशिष्ट्य घटत्वादि में नहीं जायेगा, घटत्व भेदविशिष्टान्य ही होगा ।तादात्म्य बन रहा है उसी में तादात्म्यबोधन हेतु वाक्य प्रयोग है अतः प्रामाण्यापत्ति होगी ।

यदि इस दोष का वारण करने के लिए कहा जाये कि कालिकातिरिक्त सम्बन्ध से स्वसामानाधिकरण्य गत वृत्तित्व लेना है तो उक्तरीति से उक्त दोष वारित हो जायेंगे (यहाँ स्वप्रतियोगिवृत्तित्वघटकवृत्तित्व को भी अन्य सम्बन्ध से लेकर पूर्वोक्त रीति से दोष आपन्न होने लगेंगे । अतः स्वसामानाधिकरण्यघटकीभूत वृत्तित्व को आप जिस सम्बन्ध से लें उसी सम्बन्ध से स्वप्रतियोगिवृत्तित्वघटकी भूत वृत्तित्व को भी लें ) परन्तु फिर भी विषयिता सम्बन्ध को लेकर दोष आयेगा ही । क्योंकि घटतद्व्यक्तित्व विषयक ज्ञान का भेद घट में रहेगा (ज्ञान और घट में भेद स्पष्ट है) इस भेद से विशिष्ट ही घटगत तद्व्यक्तित्व होगा । इस भेद का अधिकरण है घट, तद्वृत्तित्व तद्व्यक्तित्व में है, अतः स्वसामानाधिकरण्य रूप प्रथम सम्बन्ध से भेद का वैशिष्ट्य तद्व्यक्तित्व में है और उस भेद का प्रतियोगी है ज्ञान, उस ज्ञान में घटगत तद्व्यक्तित्व विषयिता सम्बन्ध से विद्यमान है। इस प्रकार द्वितीय सम्बन्ध स्वप्रतियोगिवृत्तित्व से भी उक्त भेद से विशिष्ट घटगततद्व्यक्तित्व हो जायेगा । ज्ञान में विषयिता सम्बन्ध से घट है ऐसी प्रतीति होती है इस कारण विषयिता सम्बन्ध को वृत्त्यनियामक नहीं मान सकते हैं।

इस आशंका का समाधान दिया जाता है कि भेदविशिष्टान्यघटकीभूत वृत्तिता को स्वरूपसम्बन्ध से ही लेना है, अतः कालिकविषयितादि सम्बन्धों के परिग्रह से दोष नहीं दे सकते हैं । पूर्वोक्त रीति से अन्य नीलघटतात्पर्यक नीलपदघटित '**नीलो घटः**' वाक्य के प्रामाण्य की भी आपत्ति नहीं है। क्योंकि भेदविशिष्टान्यरूप विभक्त्यर्थ में स्वरूपसम्बन्धावच्छिन्न आधेयता का ही प्रकृत्यर्थसंसर्ग के रूप में भान स्वीकृत है। घटत्व के पूर्वोक्त रीति से भेदविशिष्टान्य होने पर भी स्वरूपसम्बन्धावच्छिन्न आधेयता सम्बन्ध से प्रकृत्यर्थ के अन्वय के बाध के कारण सम्भव न होने के कारण पूर्वोक्त आपत्ति असम्भव है।

**अभेदस्य संसर्गतामतेऽप्येतादृशानुगताभेदस्यैव तथात्वमुचितम्। तत्तद्व्यक्तित्वावच्छिन्नभेदाभावकूटस्य विशिष्य तथात्वे 'घटो न नीलः' इत्यादिवाक्यजन्यबोधे 'प्रतियोग्यभावान्वयौ तुल्ययोगक्षेमौ' इति न्यायेन तादृशाननुगतसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकाऽननुगताभावा एव भासेरन् न तु नीलवृत्तिरेकोऽभावः, तथासति यत् किंचित्तादृशाभावतात्पर्येण प्रयुक्तस्य नीलेऽपि 'न नीलः' इत्यादिवाक्यस्य प्रामाण्यापत्तिः ।**

अभेद को विभक्त्यर्थ मानकर उसका प्रकारतया भान मानने के पक्ष में पूर्व ग्रन्थ से अभेद का अर्थ तादात्म्य है यह प्रतिपादित किया । अब अभेद का संसर्गविधया भान मानने वाले पक्ष में भी अभेद का अर्थ तादात्म्य ही होना चाहिए यह व्यवस्थापित कर रहे हैं — अभेद के संसर्गता मत में —अभेद का संसर्गविधया भान मानने के पक्ष में —इस प्रकार के अनुगत अभेद की ही, तादात्म्य की ही संसर्गता स्वीकारना उचित है। अभिप्राय है कि अभेद का प्रकारतया भान मानने के पक्ष में जिस प्रकार अभेद को तादात्म्यरूप में स्वीकार करते हैं तथा तादात्म्य का अर्थ करते हैं स्ववृत्ति असाधारण धर्म । असाधारण्य का अभिप्राय है एक मात्रवृत्तित्व अर्थात् स्वसामानाधिकरण्य स्वप्रतियोगिवृत्तित्व उभय सम्बन्ध से भेदविशिष्टान्यत्व । उसी प्रकार अभेद का संसर्गतया भान मानने के पक्ष में भी अभेद को तादात्म्यरूप ही स्वीकार करना चाहिए । यदि ऐसा स्वीकार न करके तत्तद्व्यक्तित्वावच्छिन्न भेदाभावकूट को अभेद का अर्थ मानकर उसी को सम्बन्ध मानते हो तो **'घटो न नीलः'** इत्यादिवाक्यों से जायमान शाब्दबोधों में **'प्रतियोग्यभावान्वयौ तुल्ययोगक्षेमौ'** प्रतियोगी और अभाव का अन्वयबोध तुल्ययोगक्षेम वाला होता है, इस नियम के कारण तादृश अननुगत सम्बन्धों से अवच्छिन्न प्रतियोगिताक अभाव ही भासित होंगे न कि नीलवृत्ति एक अभाव भासित होगा ।

अभिप्राय यह है कि प्रतियोगी और अभाव का अन्वय (शाब्द बोध) तुल्ययोगक्षेम होता है नियम है। इसका अर्थ है कि प्रतियोगी और अभाव के शाब्दबोध सम्बन्धादिविषयों में तुल्य सापेक्ष होते हैं अर्थात् नञ् के न रहने पर जिसका, जिस रूप से , जिस सम्बन्ध से , जहाँ विद्यमानता प्रतीत होती है, नञ् के रहने पर उसका , उसी रूप से, उसी सम्बन्ध से, वहाँ अविद्यमानता प्रतीत होती है। इस प्रकार नञ् के न रहने पर यत्सम्बन्धावच्छिन्न यद्धर्मावच्छिन्नप्रकारताक, यद्विशेष्यक शाब्दबोध होता है अर्थात् नञ् के न रहने पर जिस सम्बन्ध से, जिस रूप से, जहाँ यद्वत्ता प्रतीत होती है, नञ् के रहने पर उसी सम्बन्ध से उसी रूप से वहाँ तदभाववत्ता प्रतीत होगी । जैसे—**'अत्र घटोऽस्ति'** यहाँ पर संयोग सम्बन्ध से, घटत्वरूप घट जहाँ पर भूतल आदि में प्रतीत होता है। नञ् के रहने पर संयोग सम्बन्ध से घटत्व रूप से घट का अभाव वहीं पर भूतलादि में प्रतीत होता है। इस प्रकार यदि तत्तद्व्यक्तित्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकभेदाभावकूट को अभेद पदार्थ स्वीकार करते हो तो नञ् समभिव्याहार स्थल में तत्तद्व्यक्तित्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकभेदाभावकूट का अभाव ही भासित होगा शाब्दबोध में न कि नीलवृत्ति एक अभाव । जैसे कि—**'घटो नीलः'** यहाँ पर घट में नील का अभेद भासित होता है अर्तात् घट में नील का सत्त्व भासता है तत्तद्व्यक्तित्वावच्छिन्नभेदाभावात्मक अभेदसम्बन्ध से। नञ् समभिव्याहार होने पर घट में नील का अभाव तत्तद्व्यक्तित्वावच्छिन्न भेदाभावात्मक अभेद सम्बन्ध से भासित होगा । तत्तद्व्यक्तित्वावच्छिन्नभेदाभाव तो अनन्त है और अननुगत है, तत्तद्व्यक्ति के अनन्त व अननुगत होने के'कारण । अतः तत्सम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभाव भी अनन्त होंगे। इस प्रकार अननुगत अनन्त नीलाभाव ही घट में भासित होंगे नीलवृत्ति (नीलघटवृत्ति) एक अभाव भासित नहीं होगा । ऐसी परिस्थिति में यत् किंचित् तद्व्यक्तित्वावच्छिन्न भेदाभावात्मक अभेद सम्बन्ध से नीलव्यक्ति का अभाव बोधन हेतु प्रयुक्त जो नील व्यक्ति के लिए भी **'न नीलः'** ऐसा प्रयोग, वह प्रामाणिक होने लगेगा । अभिप्राय यह है कि यदि **'घटो न नीलः'** इस वाक्य से तत्तन्नीलव्यक्तित्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकभेदत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावरूप

एक सम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक एक ही नीलाभाव प्रतीत होता है तो नील घट में किंचिन्नीलव्यक्ति के रहने पर भी किंचिन्नीलव्यक्ति का अभाव भी है (किसी नील व्यक्ति के रहने पर भी किसी अन्य नीलव्यक्ति का अभाव तो है ही) तो जो नीलव्यक्ति नहीं है उस नीलव्यक्ति के अभाव के अभिप्राय से नील घट में **'घटो न नीलः'** ऐसा प्रयोग होना चाहिए तथा इस प्रयोग का प्रमात्व भी होना चाहिए । ऐसा होता नहीं है इसलिए अननुगत अनन्त अभावों की संसर्गता न स्वीकार करके एकमात्रवृत्तिधर्मत्वरूप से अनुगत उक्त तादात्म्यरूप तद्व्यक्तित्व की ही संसर्गता स्वीकारनी चाहिए।

**इदन्तु बोध्यम् –विशेषणविभक्तेरभेदार्थकत्वे 'घटो न नीलः' इत्यादौ नञा नीलाद्यभेदाभाव एव प्रत्याययिष्यते न तु नीलादिभेदः, यादृशसमभिव्याहारस्थले येन सम्बन्धेन यत्र धर्मिणि येन रूपेण यद्वत्त्वं नञसत्त्वे प्रतीयते तादृशस्थले नञा तद्धर्मिणि तादृशसम्बन्धावच्छिन्न प्रतियोगिताकतदभावबोधस्य व्युत्पत्तिसिद्धत्वात् ।'प्रतियोग्यभावान्वयौ च' इत्यादेरप्ययमेवार्थः। एवं च नञो भेदबोधकत्वं न कुत्रापि संभवति–'अनीलं घटमानय' इत्यादौ घटपदसामानाधिकरण्यानुरोधेनाऽनीलपदस्य नीलभिन्नपरतया नञो भेदवत्येव लक्षणाया उपगन्तव्यत्वात् ।**

ग्रन्थकार निष्कर्ष रूप में कहते हैं कि— यह समझ लेना चाहिए कि–विशेषणविभक्ति को अभेदार्थक मानने पर अर्थात् अभेद को विशेषणविभक्ति का अर्थ मानकर प्रकारतया उसका भान मानने पर **'घटो न नीलः'** इत्यादि स्थलों में नञ् के द्वारा नीलादि अभेद का अभाव ही प्रत्यायित होता है शाब्दबोध का विषय होता है, घट में नील का भेद शाब्दबोध विषय नहीं होता है। क्योंकि जैसे समभिव्याहारस्थल में नञ् के न रहने पर जिस सम्बन्ध से, जिस धर्मी में , जिस रूप से, यद्वत्ता प्रतीत होती है, नञ् के रहने पर वैसे समभिव्याहारस्थल में उसी सम्बन्ध से, उसी धर्मी में, उसी रूप से तदभाववत्ता प्रतीत होती है, तदभाववत्ता (तदभाव) विषयक ही शाब्द बोध होता है, यह व्युत्पत्तिसिद्ध है। **'प्रतियोग्यभावान्वयौ च तुल्ययोगक्षेमौ'** इस नियम का भी यही अर्थ है। जैसे **'भूतले घटोऽस्ति'** यहाँ पर संयोग सम्बन्ध से, भूतल में, घटत्वेन रूपेण घटवत्ता प्रतीत होती है। यहाँ पर नञ् के न रहने पर इस प्रकार की प्रतीति होती है । नञ् के रहने पर अर्थात् **'भूतले घटो नास्ति'** से संयोग सम्बन्ध से, भूतल में, घटत्वेन रूपेण, घट का अभाव प्रत्यायित होता है शाब्दबोध विषय होता है। यहाँ पर संयोग सम्बन्ध से व घटत्वेन रूपेण का अर्थ क्रमशः संयोगसम्बन्धावच्छिन्न प्रतियोगिताक व घटत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताक है। इस प्रकार नञ् के रहने पर उक्त समभिव्याहारस्थल में संयोगसम्बन्धावच्छिन्नघटत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकघटाभाववत्ता भूतल में शाब्दबोध द्वारा प्रतीत होती है। विशेषण विभक्ति को अभेदार्थक मानने पर **'घटो न नीलः'** इस प्रकार के समभिव्याहार स्थल में किस प्रकार का शाब्दबोध होता है, इसके लिए प्रथमतः हम देखते हैं कि नञ् के न रहने पर इस प्रकार के समभिव्याहार स्थल में क्या शाब्दबोध होता है ? नञ् के न रहने पर उक्त समभिव्यहार स्थल में अर्थात् **'घटो नीलः'** वाक्य से नीलाभिन्नघटविषयक शाब्दबोध होता है। सारांशतः घट में, आश्रयतासम्बन्ध से, नीलाभेदत्व रूप से, नीलाभेद शाब्दबोध में भासता है प्रतीत होती है। नञ् के रहने पर उक्त समभिव्याहारस्थल में अर्थात् **'घटो न नीलः'** के द्वारा घट

में आश्रयत्व सम्बन्ध से, नीलाभेदत्वरूप से, नीलाभेद का अभाव शाब्दबोधविषय होगा अर्थात् आश्रयत्वसम्बन्धावच्छिन्न नीलाभेदत्वावच्छिन्न प्रतियोगिताक अभाव घट में शाब्दबोध के द्वारा प्रत्यायित होगा । इस प्रकार नञ् के द्वारा भेद का बोधकत्व कहीं पर भी सम्भव नहीं हो सकेगा । **'अनीलं घटमानय'** इत्यादिस्थलों में भी नञ् के द्वारा भेद का बोधन नहीं हो सकता है यहाँ पर घट पद के सामानाधिकरण्य के अनुरोध से अर्थात् घटपद से जिसका बोधन हो रहा है अनीलपद से भी उसी का बोधन हो रहा है, घट का अनील अर्थात् नीलभिन्न रूप में भान अपेक्षित है, इसके लिए अपेक्षित है नीलभेदवान् का बोध इसलिए अनीलपद की नील भेदवान् में लक्षणा कर ली जाती है अर्थात् लक्षणा के द्वारा अनील पद से नीलभेदवान् का ही बोध होता है। नञ् के द्वारा भेद का बोधन यहाँ पर भी नहीं होता है। इस प्रकार नञ् का भेदबोधकत्व कहीं पर भी सम्भव नहीं होगा।

**विमर्शः**–विशेषण विभक्ति का अर्थ अभेद मानने पर ग्रन्थकार ने अभी कहा है कि नञ् के द्वारा भेद का बोधन कहीं पर भी सम्भव नहीं हो सकेगा । विशेषणविभक्ति का अर्थ यदि तादात्म्य माना जाये तो भी यही स्थिति होगी क्योंकि **'नीलो घटः'** यहाँ पर घट में स्वरूपसम्बन्ध से नीलतादात्म्यत्वरूप से नीलतादात्म्य भासित होता है। अतः नञ् के रहने पर अर्थात् **'नीलो न घटः'** के द्वारा स्वरूप सम्बन्ध से नीलतादात्म्यत्वरूप से नीलतादात्म्य का अभाव ही घट में भासित होगा, शाब्दबोध के द्वारा प्रतीत होगा। भेद तो तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्न प्रतियोगिताक अभाव को कहते है। नञ् का भेदबोधकत्व प्रसिद्ध है। इस रीति से भेदाभावात्मक अभेद को विशेषण विभक्ति का अर्थ मानें अथवा तादात्म्यात्मक अभेद को दोनों ही स्थितियों (पक्षों) में नञ् के द्वारा भेदबोधन सम्भव नहीं होगा।

यद्यपि अभेद को विशेषणविभक्ति का अर्थ मानने पर नञ् रहने की दशा में अभेदाभाव का बोधन होगा जो कि भेदरूप ही होगा क्योंकि अभेद का अर्थ भेदाभाव । अभेदाभाव का अर्थ होगा भेदाभावाभाव । अभाव का अभाव प्रतियोगिस्वरूप होता है, उदयनाचार्य का प्रसिद्ध कथन है **'अभावविरहात्मत्वं वस्तुनः प्रतियोगिता'** अभावाभावरूपता ही प्रतियोगिता पद से कही जाती है। जैसे कि घट में घटाभावाभाव रूपता विद्यमान है यही घट में घटाभाव की प्रतियोगिता है। इस प्रकार अभेदाभाव के भेद रूप होने के कारण नञ् के द्वारा भेद का बोधन हो ही रहा है। इसी प्रकार तादात्म्यरूप अभेद को विशेषणविभक्ति का अर्थ मानने पर नञ् रहने की दशा में तादात्म्याभाव का ही बोधन होगा तद्भेद और तत्तादात्म्याभाव दोनों एक ही चीजें हैं दोनों में परमार्थतः कोई भी फर्क नहीं है ऐसी परिस्थिति में यहाँ पर भी नञ् के द्वारा भेद का बोधन हो रहा है। परन्तु ग्रन्थकार का आशय है कि भेदत्वेन भेद का बोधन सम्भव नहीं हो सकेगा, जो कि वस्तुतः सम्भव नहीं है।

**इदं त्वत्रावधेयम् –अभेदस्य प्रकारतामतेऽपि 'घटो न नीलः' इत्यादिवाक्यस्य नीलाभेदाभावबोधकत्वेऽपि तृतीयाभावस्य प्रतियोगि-स्वरूपतया नञो भेदबोधकत्वं नानुपपन्नं परन्तु भेदत्वप्रकारेण भेदबोधो भवति न वेत्यन्यदेतत् ।**

यहाँ पर यह ध्यान में रखना चाहिए कि अभेद का प्रकारविधया भान माननेवाले के मत में भी **'घटो न नीलः'** इत्यादि वाक्यों के द्वारा नीलाभेदाभाव बोधन होने पर भी तृतीयाभाव के (अभावाभाव के) प्रतियोगि स्वरूप होने के कारण नञ् का भेदबोधकत्व अनुपपन्न नहीं है, परन्तु भेदत्वप्रकारेण भेदत्व को प्रकार बनाकर भेद का बोध होता है या नहीं यह अलग बात

है। (यह ग्रन्थ पूर्वग्रन्थ की व्याख्या के अवसर पर ही व्याख्यात हो चुका है)

**इदन्तु तत्त्वम् –'नीलो घटः' इत्याद्यसमासस्थलेऽभेदस्य संसर्गतोपगमेऽपि गौरवविरहात् तत्र विशेषणविभक्तेर्वृत्तिकल्पनमनुचितम् ।**

यह यहाँ पर तत्त्व (सार) है—'**नीलो घटः**' इत्यादि असमस्त स्थलों में अभेद की संसर्गता स्वीकार कर लेने पर भी–अभेद का संसर्गविधया भान स्वीकार कर लेने पर भी—कोई गौरव आदि दोष नहीं है इसलिए उसमें विशेषण विभक्ति की वृत्ति कल्पना करना अनुचित है।

अभिप्राय यह है कि '**नीलघटः**' इत्यादि समस्त स्थलों में अभेद का उपस्थापन करनेवाली कोई विभक्ति आदि नहीं है। तथा इस प्रकार के समस्तस्थलों में विभक्ति का अनुसन्धान करके भी शाब्दबोध नहीं होता है। इसलिए अभेद की किसी पद से या विभक्ति से उपस्थिति सम्भव नहीं है। वृत्ति से—शक्ति या लक्षणा से उपस्थित का ही प्रकारतया भान होता है ऐसा नियम है । इस कारण अगत्या समासस्थल में अभेद का संसर्गतया भान ही स्वीकारना पड़ता है। '**नीलो घटः**' इत्यादि असमास स्थल में अभेद में विशेषणविभक्ति की वृत्ति स्वीकारी जा सकती है। अभेद की उपस्थिति विशेषणविभक्ति द्वारा सम्भव है। अतः अभेद का प्रकारतया भान सम्भव है परन्तु अभेद का संसर्गतया भान स्वीकार करने में कोई गौरव नहीं है। अतः अभेद का संसर्गतया भान ही स्वीकारना चाहिए विशेषणविभक्ति की अभेद में वृत्ति की कल्पना अनुचित है।

**विमर्शः**– अभेद का प्रकारतया भान यदि स्वीकारते हैं तो अभेद की उपस्थिति वृत्तिज्ञानाधीन होनी चाहिए क्योंकि नियम है कि '**संसर्गताभिन्न तन्निष्ठविषयताक शाब्दबोध के प्रति वृत्तिज्ञानाधीन तद्विषयक उपस्थिति कारण होती है**' अभेद का प्रकारतया भान स्वीकार करने पर संसर्गताभिन्न अभेदनिष्ठप्रकारताख्यविषयताक शाब्दबोध के प्रति वृत्तिज्ञान के अधीन अभेद विषयक उपस्थिति कारण होने के कारण आवश्यक होगी। इसीलिए अभेद में विशेषणविभक्ति के शक्ति की कल्पना करनी होगी । यही गौरव होगा। अभेद का संसर्गतया भान स्वीकार करने पर अभेद में वृत्ति की कल्पना नहीं करनी होगी क्योंकि संसर्गविधया भान के लिए शक्तिलक्षणाधीन उपस्थिति अपेक्षित नहीं होती है। यह लाघव है।

अन्य स्थितियाँ तो दोनों ही पक्षों में समान है। अभेद का संसर्गतया भान माननेवाले के मत में '**नीलस्य घटः**' इत्यादि वाक्यों से अभेद संसर्गक शाब्दबोध न हो इसलिए '**अभेदसंसर्गकशाब्दबोध के प्रति प्रथमान्तनीलपदसमभिव्याहृत प्रथमान्त घटपदत्व रूप आकाङ्क्षाज्ञान कारण है**' ऐसा कार्य कारण भाव स्वीकार किया जाता है। अभेद का प्रकारतया बोध माननेवाले के मत में '**अभेदप्रकारक शाब्दबोध के प्रति प्रथमान्तनीलपद समभिव्याहृत प्रथमान्तघटपदत्व रूप आकाङ्क्षाज्ञान कारण होता है**' ऐसा कार्यकारणभाव स्वीकार ही करना पड़ता है। इसलिए अभेद का प्रकारतयाभान मानने पर आकाङ्क्षाज्ञान की कारणता में लाघव है ऐसा भी नहीं है। अतः अभेद में विशेषणविभक्ति के वृत्ति की कल्पना करना गुरुभूत है। इसीलिए अभेद का प्रकारतया भान स्वीकारना युक्तिसंगत व उचित नहीं है।

**न च यत्राभेदे विशेषणविभक्तेः शक्तिभ्रमः स्वारसिकलक्षणाग्रहो वा तत्र सर्वमत एवाभेदप्रकारबोधस्य 'नीलो घटः' इत्यादिवाक्यादुत्पत्त्या तादृशसमभिव्याहारज्ञानस्य द्विविधबोधे हेतुताद्वयं कल्पनीयम्, अभेदस्य**

**संसर्गतावादिनेति गौरवम् । एवं तादृशसमभिव्याहारघटितसामग्र्या भिन्नयोग्यता ज्ञानघटितत्वेन द्वैविध्यमिति भिन्नविषयकप्रत्यक्षादिकं प्रति तादृशशाब्द-सामग्रीप्रतिबन्धकताया अप्याधिक्यमिति वाच्यम् , संसर्गतावादिनोक्तस्थलेऽपि तत्संसर्गकबोधस्यैवोपगमादिति दिक् ।**

पिछले ग्रन्थ के द्वारा ग्रन्थकार ने कहा कि अभेद का संसर्ग विधया भान ही असमस्त **'नीलो घटः'** इत्यादिवाक्यों से स्वीकार लेने में भी गौरव न होने के कारण अभेदप्रकार बोध स्वीकार करने के लिए अभेद में विशेषण विभक्ति के वृत्ति की कल्पना करना अनुचित है। इस ग्रन्थ के द्वारा यह प्रश्न उठा रहे हैं कि असमास स्थल में अभेदसंसर्गक बोध स्वीकारने में गौरव है— जहाँ पर अभेद में विशेषण विभक्ति का शक्तिभ्रम हो जाये अथवा स्वारसिक लक्षणा[1]का ग्रहण हो जाये तो वहाँ पर अभेद प्रकारक बोध ही सभी के मत में **'नीलो घटः'** इत्यादि से उत्पन्न होगा । चाहे अभेदसंसर्गक बोध स्वीकारनेवाला हो या अभेद प्रकारक बोध स्वीकारनेवाला, सभी मत में अभेद में विशेषणविभक्ति का शक्तिग्रह होने पर तथा स्वारसिक लक्षणा का ग्रहण होने पर दोनों ही परिस्थितियों में अभेद प्रकारक बोध ही होगा। इस परिस्थिति में प्रथमान्तनीलपदसमभिव्याहृतप्रथमान्तघटपदत्व रूप आकाङ्क्षाज्ञान की द्विविध बोध में (अभेद संसर्गक व अभेद प्रकारक बोध में) द्विविध हेतुता स्वीकार करनी पड़ेगी । **'नीलो घटः'** इस वाक्य से सामान्य परिस्थितियों में अभेद संसर्गक शाब्दबोध होता है, इसलिए अभेदसंसर्गक बोध के प्रति प्रथमान्त नीलपदसमभिव्याहृत प्रथमान्त घट पदत्व रूप आकाङ्क्षाज्ञान की कारणता स्वीकारनी पड़ती है। **'नीलो घटः'** इसी वाक्य से विशेषण विभक्ति का अभेद में शक्तिभ्रम होने पर तथा स्वारसिक लक्षणाग्रह होने पर अभेद प्रकारक शाब्दबोध होता है इसलिए अभेदप्रकारक शाब्दबोध के प्रति भी प्रथमान्त नीलपजसमभिव्याहृतप्रथमान्तघटपदत्वरूप आकाङ्क्षाज्ञान की कारणता स्वीकारनी पड़ेगी । इस तरह सामान्यतः असमासस्थल में अभेद संसर्गकबोध स्वीकार करनेवाले के मत में अर्थात् अभेदसंसर्गतावादी के मत में आकाङ्क्षाज्ञान की द्विविध बोध में कारणता स्वीकारनी पड़ेगी । अभेदप्रकारतावादी के मत में सामान्य परिस्थितियों में भी अभेदप्रकारक शाब्दबोध होता है तथा अभेद में विशेषणविभक्ति का शक्तिभ्रम या स्वारसिकलक्षणाग्रह होने पर भी अभेदप्रकारक ही शाब्दबोध होगा । इसलिए दोनों ही परिस्थितियों में अभेदप्रकारक शाब्दबोध ही होने के कारण प्रकारतावादी को अभेदप्रकारक शाब्दबोध के प्रति ही आकाङ्क्षाज्ञान की कारणता स्वीकारनी पड़ेगी । इस तरह अभेदप्रकारतावादी के मत में लाघव है तथा संसर्गतावादी के मत में गौरव यह स्पष्ट होता है।

और भी गौरव हैं इस पक्ष में । संसर्गतावादी दो प्रकार के अभेदसंसर्गक व अभेद प्रकारक शाब्दबोध स्वीकार करता है। दोनों प्रकार के शाब्दबोधों के प्रति कारणीभूत योग्यताज्ञान भी भिन्न-भिन्न होगा । अभेदसंसर्गकबोध के प्रति कारणीभूत योग्यताज्ञान अभेदसंसर्गकनीलप्रकारक होगा तथा अभेदप्रकारक बोध के प्रति कारणीभूत योग्यताज्ञान स्वरूपसम्बन्धावच्छिन्न अभेदनिष्ठप्रकारता निरूपक होगा। अभेदप्रकारकबोध स्वीकारने वाले को तो एक जैसे ही योग्यताज्ञान की कारणता स्वीकारनी पड़ेगी । (इस तरह भी प्रकारतावादी के मत में एक कार्यकारणभाव तथा संसर्गतावादी के मत में दो कार्यकारणभाव

---

टिप्पणी-1-अपने मन से जब हम किसी शब्द से किसी विशेष अर्थ को समझते हैं तो उसे स्वारसिकलक्षणा कहते हैं ।

स्वीकारने के कारण संसर्गतावादी के मत में गौरव होगा) योग्यताज्ञानों के भिन्न होने के कारण योग्यता ज्ञान घटित सामग्री (शाब्दबोध सामग्री) भी भिन्न होगी। न्यायदर्शन का सिद्धान्त है कि जहाँ पर प्रत्यक्षसामग्री व शाब्दबोध सामग्री दोनों समान विषयक होती हैं वहाँ प्रत्यक्ष सामग्री के प्रबल होने के कारण शाब्दबोध के प्रति प्रत्यक्ष सामग्री प्रतिबन्धक होती है । इसलिए सिद्धान्तित किया जाता है कि शाब्दबोध के प्रति समानविषयक प्रत्यक्षसामग्री प्रतिबन्धिका होती है। जहाँ पर प्रत्यक्षसामग्री भिन्न विषयक होती है वहाँ तो शाब्दसामग्री की प्रबलता होती है। अतः सिद्धान्तित किया जाता है कि प्रत्यक्ष के प्रति भिन्न विषयक शाब्दबोध सामग्री प्रतिबन्धक होती है। संसर्गतामत में योग्यताज्ञानघटित शाब्दसामग्री के भिन्न-भिन्न होने के कारण (द्वैविध्य होने के कारण)भिन्न विषयक प्रत्यक्ष के प्रति उक्त द्विविध शाब्दबोध सामग्रियों की प्रतिबन्धकता स्वीकारनी पड़ेगी । अतः गौरव होगा । प्रकारतामत में तो सर्वत्र अभेद प्रकारक शाब्दबोध ही स्वीकारा जाता है। अतः प्रकारतामत में शाब्दसामग्री का एकविध योग्यताज्ञान से घटित होने के कारण द्वैविध्य नहीं है। अतः प्रतिबन्धकता का भी द्वैविध्य नहीं होगा । अतः लाघव है।

इस तरह संसर्गतामत में गौरव विद्यमान है। अतः ग्रन्थकार का पूर्वोक्त कथन '**अभेद का संसर्गविधया ही भान असमस्त 'नीलो घटः' इत्यादि वाक्यों में स्वीकार कर लेने में कोई गौरव न होने से अभेद में वृत्ति कल्पना अनुचित है**' यह असंगत हो जाता है। यदि ऐसा कहा जाये तो नहीं कह सकते हैं क्योंकि संसर्गतावादी के द्वारा उक्त स्थलों भी अभेदप्रकारक बोध का स्वीकार न करके अभेदसंसर्गक बोध का ही स्वीकार किया जाता है। ससंर्गतावादी के मत में पूर्वोक्त गौरव यह मान कर प्रदर्शित किये गये थे कि जहाँ पर अभेद में विशेषणविभक्ति की शक्ति का भ्रम हो जाता है या स्वारसिक लक्षणाग्रह हो जाता है वहाँ पर सभी के मत में ही अभेदप्रकारक बोध ही होता है। संसर्गतावादी की तरफ से समाधान दिया जा रहा है कि जहाँ पर अभेद में शक्तिभ्रम या स्वारसिक लक्षणताग्रह हो जाता है वहाँ पर भी अभेदसंसर्गक ही शाब्दबोध का स्वीकार हम किया करते हैं। यहाँ पर आशय यह है कि जैसे अनुभव का जो विषय नहीं होता है उसका स्मरण नहीं होता है ऐसा नियम है। परन्तु अनुभूत का स्मरण होता ही है ऐसा नियम नहीं है। उसी प्रकार किसी पद के द्वारा वृत्ति से जो उपस्थित नहीं होता है वह प्रकार नहीं बनता है यह नियम तो है परन्तु यह नियम नहीं है कि वृत्ति से उपस्थित जो होता है वह प्रकार ही होता है। इसलिए विशेषण विभक्ति से शक्तिभ्रम या स्वारसिक लक्षणाग्रह होने पर उपस्थित भी अभेद की संसर्गता ही होती है, संसर्गता ही स्वीकारी जाती है प्रकारता नहीं। अतः कोई गौरव नहीं है।

**'स्तोकं पचति' 'मृदु पचति' इत्यादौ विरुद्धविभक्त्यवरुद्धपदोपस्थापितस्यापि स्तोकमृद्वादेर्धात्वर्थपाकादावभेदान्वयो व्युत्पत्तिसिद्धः, तदनुरोधेन च द्वितीयान्तपदधातुपदयोः समभिव्याहारस्याप्यभेदान्वयबोधौपयिकाकाङ्क्षात्वमुपगम्यते । क्रियाविशेषणस्थले च न द्वितीयातिरिक्तविभक्तिरुत्पद्यते 'क्रियाविशेषणानां क्लीबत्वं कर्मत्वञ्च' इत्यनुशासनेन तत्र कर्मत्वातिदेशात्।**

पूर्वग्रन्थ के द्वारा ग्रन्थकार ने 'अभेदसंसर्गक बोध ही सर्वत्र स्वीकार करना चाहिए'

ऐसा प्रतिपादित किया । अग्रिम ग्रन्थ के द्वारा अभेदान्वयबोध के प्रति अन्य प्रकार आकाङ्क्षा की भी कारणता का प्रतिपादन कर रहे हैं—**'स्तोकं पचति' 'मृदु पचति'** थोड़ा पकाता है, मधुर पकाता है; इत्यादि स्थलों पर स्तोक और मृदु आदि का धात्वर्थ पाक में अभेदान्वय व्युत्पत्तिसिद्ध है, अभेदान्वयबोध का ही अनुभव इन स्थलों पर हुआ करता है। इन स्थलों पर विशेषणवाचक पद और विशेष्यवाचक पद में समानविभक्तित्व नहीं है। यद्यपि **'नीलो घटः'** इत्यादि स्थलों में विशेष्यविशेषणवाचक पदों में समानविभक्तिकत्व न होने पर अभेदान्वय बोध नहीं होता है तथापि **'स्तोकं पचति'** इत्यादि प्रयोगों में तो विशेष्यविशेषणवाचक पदों में समानविभक्तिकत्व न होने पर भी **पचति** इस तिङ् विभक्ति की अपेक्षा विरुद्ध विभक्ति द्वितीया से अवरुद्ध **स्तोकं** इस पद से उपस्थापित भी स्तोकपदार्थ का धात्वर्थ पाक में अभेद सम्बन्ध से अन्वय होता है। इस अभेदान्वयबोध के अनुरोध से द्वितीयान्तपद तथा धातु पद के समभिव्याहार को भी अभेदान्वयबोध के प्रति कारणीभूत आकाङ्क्षा स्वीकार करते हैं। अर्थात् **'अभेदान्वयबोध के प्रति द्वितीयान्त स्तोकपदसमभिव्याहृत पचत्यादिपदत्वरूप आकाङ्क्षाज्ञान कारण है'** इस प्रकार कार्यकारणभाव स्वीकार करते हैं। वस्तुतः जैसे-जैसे समभिव्याहार से अभेदान्वयबोध हुआ करता है वैसे-वैसे समभिव्याहार की अभेदान्वयबोध के प्रति कारणता स्वीकारी जाती है। द्वितीयान्त स्तोक पदसमभिव्याहृतपचत्यादिपदत्व रूप समभिव्याहार से अभेदान्वयबोध होता है, अतः उसकी कारणता अभेदान्वयबोध के प्रति स्वीकारते हैं ।

यहां पर प्रश्न उठता है कि क्रियाजन्यफलाश्रय को कर्म कहते हैं जैसे **'चैत्रः ग्रामं गच्छति'** यहाँ पर गमन क्रिया से जन्य उत्तरदेश संयोग रूप फल का आश्रय ग्राम होता है। अतः उसको कर्म कहा जाता है, फलतः कर्म में होने वाली द्वितीया विभक्ति उपपन्न होती है। स्तोक में तो क्रियाजन्यफलाश्रयत्व है नहीं, वह तो पाकविषय ओदन आदि में होगा । अतः कर्मता स्तोक में उपपन्न नहीं होती है, कर्मता के उपपन्न न होने पर कर्म में ही होने वाली द्वितीया विभक्ति भी सम्भव नहीं हो सकती है? इसी का समाधान ग्रन्थकार दे रहे हैं कि –क्रिया विशेषण स्थल में द्वितीया से अतिरिक्त विभक्ति नहीं उत्पन्न होती है क्योंकि **'क्रियाविशेषणानां क्लीबत्वं कर्मत्वं च'** क्रिया के विशेषणों में नपुंसकता व कर्मता होती है (क्रिया विशेषणों का नपुंसकलिंग में ही प्रयोग होता है और क्रिया विशेषण में कर्मत्व होता है) इस अनुशासन के द्वारा स्तोक में कर्मत्व का अतिदेश यानी उपचार होता है। अभिप्राय यह है कि मूलतः तो क्रियाजन्य फलाश्रय को ही कर्म कहा जाता है किन्तु औपचारिक कर्मत्व क्रियाविशेषणों का भी होता है और इसलिए उनमें भी द्वितीया उपपन्न होती है।

**न चैवं 'स्तोकः पाकः' इत्यादावपि द्वितीयाप्रसंगः–तत्रापि स्तोकादेः क्रियायामेव विशेषणत्वात्, भावकृतां प्रयोगसाधुत्वमात्रार्थकतया धातुनैव तत्र पाकादिप्रतिपादनादिति वाच्यम् ; क्रियापदस्य तत्र सार्थकप्रत्ययान्त धातूपस्थाप्यार्थपरत्वात् 'स्तोकं स्थीयते' इत्यादावाख्यातस्यापि वर्तमानत्वार्थकतया सार्थकत्वात् । न च वर्तमानत्वाद्यविवक्षायां द्वितीयानुपपत्तिरितिवाच्यम्, वर्तमानत्वादिविवक्षास्थल इवाऽर्थबोधप्रयोजका-**

**काङ्क्षाशालित्वेनैव तदविवक्षास्थलेऽपि भावाख्यातस्यार्थवत्त्वात् ।**

पूर्वग्रन्थ के द्वारा जो सिद्धान्तित किया था कि क्रियाविशेषणों का कर्मत्व होता है और इसी आधार पर '**स्तोकं पचति**' में स्तोक की द्वितीयान्तता प्रतिपादित की थी । उस पर आक्षेप करते हैं कि — इस प्रकार तो (क्रिया विशेषणों की औपचारिक कर्मता स्वीकार करने पर तो ) '**स्तोकः पाकः**' इत्यादि स्थलों में भी स्तोक पद से द्वितीया होनी चाहिए। जिस प्रकार '**स्तोकं पचति**' इस स्थल में स्तोकपदार्थ क्रियाविशेषण है अतः उसकी कर्मता होने से द्वितीया होती है उसी प्रकार '**स्तोकः पाकः**' यहाँ पर भी स्तोकपदार्थ क्रियाविशेषण ही है क्योंकि भावार्थक कृत् प्रत्ययों के प्रयोगसाधुत्व मात्र के लिए होने के कारण धातु के द्वारा ही वहाँ पर पाकादि का प्रतिपादन होता है।

यहाँ पर अभिप्राय यह है कि '**पाकः**' इस स्थल में धातु के द्वारा भी पाक क्रिया का ही प्रतिपादन होता है और भावार्थक घञ् प्रत्यय के द्वारा भी पाक क्रिया का ही प्रतिपादन सम्भव है। नियम है कि '**उक्तार्थानामप्रयोगः**' उक्त अर्थों का प्रयोग नहीं होता है, एक ही पाक का दो बार अभिधान सम्भव नहीं है । अतः या तो धातु का अर्थ ही पाक माना जाये या तो प्रत्ययार्थ ही माना जाये । इसी परिस्थिति में धातु का अर्थ ही पाक माना जाता है क्योंकि धातु की तो अगत्या क्रिया में शक्ति स्वीकारनी ही है। प्रत्यय तो भावार्थक कृत् प्रत्यय तो प्रयोग साधुत्वमात्र के लिए है , प्रयोग साधुत्वोपपादन के लिए ही भावार्थकृत् प्रत्ययों का विधान है। इस आक्षेप का समाधान करते हैं कि वहाँ पर क्रिया पद का अर्थ है सार्थकप्रत्ययान्त धातूपस्थाप्य अर्थ ।

अभिप्राय है कि '**क्रियाविशेषणानां कर्मत्वं नपुंसकत्वं च**' क्रिया विशेषणों की कर्मता व नपुसंकता होती है इस अनुशासन में क्रिया पद का अर्थ है सार्थकप्रत्ययान्त धातूपस्थाप्य अर्थ अर्थात् क्रिया पद यहाँ पर सार्थकप्रत्ययान्त धातूपस्थाप्य अर्थ में पारिभाषिक है। इस प्रकार उक्त अनुशासन का भाव है कि सार्थकप्रत्ययान्त धातूपस्थाप्य अर्थ का जो विशेषण होगा उसकी कर्मता व नपुंसकता होगी । '**स्तोकं पचति**' यहाँ पर पच् धातु सार्थकप्रत्ययान्त है क्योंकि पच् धातु के अन्त में जो विभक्ति है उसका सार्थकत्व है (उसका अर्थ वर्तमान काल, एकत्वसंख्या, कृति है) सार्थकप्रत्ययान्त पच् धातु से उपस्थाप्य अर्थ पाक का विशेषण है स्तोक पदार्थ इसलिए स्तोकपद की नपुंसकता व कर्मता होती है। '**स्तोकः पाकः**' यहाँ पर स्तोक पद की कर्मता व नपुंसकता नहीं होती है क्योंकि पाक पदार्थ सार्थकप्रत्ययान्त धातूपरस्थाप्य नहीं है। पच् धातूत्तर जो प्रत्यय (घञ् प्रत्यय) है वह सार्थक नहीं है (निरर्थक है) इस तरह पाक रूप जो धातूस्थाप्य अर्थ है वह सार्थकप्रत्ययान्त धातु से उपस्थाप्य नहीं है, अतः उसके विशेषण स्तोक की कर्मता व नपुंसकता नहीं होती है।

'**स्तोकं स्थीयते**' इत्यादि भाववाच्य स्थलों में भी आख्यात का वर्तमानत्व अर्थ है। इस कारण आख्यात सार्थक प्रत्यय है और स्थाधातु सार्थक प्रत्ययान्त धातु है। सार्थकप्रत्ययान्त धातु से उपस्थाप्य अर्थ में स्तोक पदार्थ विशेषण है इसलिए स्तोक की नपुंसकलिंगता व कर्मता होती है।

यहाँ पर प्रश्न उठता है कि यदि भाववाच्य '**स्तोकं स्थीयते**' आदि स्थलों में वर्तमानकाल की विवक्षा न हो तो द्वितीया जो स्तोक पद से होती है वह नहीं हो सकेगी

क्योंकि वर्तमानकाल की विवक्षा न होने पर भाववाच्य में आया हुआ आख्यात सार्थक नहीं हो सकेगा (अन्य कोई अर्थ तो उसका स्वीकार नहीं कर सकते हैं ) इस प्रकार स्था धातु से उपस्थाप्य अर्थ सार्थकप्रत्ययान्त धातु से उपस्थाप्य अर्थ नहीं होगा । इसलिए स्थाधातूपस्थाप्य अर्थ में विशेषण स्तोक की कर्मता व नपुंसकता नहीं हो सकेगी, कर्मता न होने से द्वितीया सम्भव नहीं है। तो ऐसा नहीं कह सकते हैं क्योंकि जैसे वर्तमानत्वादि विवक्षास्थल में भाव आख्यात की अर्थवत्ता (सार्थकता) होती है. उसी प्रकार वर्तमानत्वादि की अविवक्षास्थल में भी अर्थ बोधप्रयोजक आकाङ्क्षाशालित्वेन भावाख्यात की सार्थकता होती है। इसलिए जहाँ पर भावाख्यात से वर्तमान काल की विवक्षा नहीं होगी, वहाँ पर भी उसकी सार्थकता होने के कराण द्वितीया उपपन्न होगी ।

अभिप्राय यह है कि '**अर्थबोधानुकूल आकाङ्क्षापर्याप्त्यधिकरण प्रत्यय प्रकृतिभूत धातुवाच्य अर्थ में जो विशेषण होता है उसकी कर्मता व नपुंसकता होती है**' । '**स्तोकं पचति**' '**स्तोकं स्थीयते**' इत्यादि स्थलों में तिप् प्रत्यय के सार्थक होने के कारण अर्थबोधानुकूल आकाङ्क्षा का पर्याप्ति अधिकरण होने से उसकी प्रकृतिभूत धातु के अर्थ में विशेषणीभूत स्तोक की कर्मता व नपुसंकता होती है।

विमर्श- वस्तुतः यहाँ पर मूल में '**अर्थबोधस्वरूपयोग्यताप्रयोजकाकाङ्क्षाशालित्वेनैव तदविवक्षास्थलेऽपि भावाख्यातस्यार्थवत्त्वात्** ' ऐसा पाठान्तर उपलब्ध होता है और वही सुसंगत भी प्रतीत होता है। '**स्तोकं स्थीयते**' यहाँ पर वर्तमानत्वप्रकारकस्थितिविशेष्यक बोध के प्रतिस्थाधातूत्तरवर्त्ति आकाङ्क्षाज्ञान कारण होता है और यह आकाङ्क्षा वर्तमानत्वविवक्षास्थल में जिस प्रकार है उसी प्रकार वर्तमानत्व अविवक्षास्थल में भी है । अतः वर्तमानत्व विवक्षास्थल में और वर्तमानत्व अविवक्षास्थल में दोनों ही पक्षों में आख्यात सार्थक होता है। '**स्तोकः पाकः**' इत्यादि में घञर्थनिष्ठविषयतानिरूपित धात्वर्थनिष्ठ विषयताक बोध ही नहीं होता है क्योंकि घञ् तो मात्र पदसाधुत्वार्थक होता है, अतः निरर्थक है उसका कोई भी अर्थ नहीं है । इस प्रकार घञर्थनिष्ठविषयता निरूपितधात्वर्थनिष्ठ विषयताक बोध के ही न होने के कारण तादृशबोधप्रयोजक आकाङ्क्षाशालित्व का भी अभाव होगा । तादृश आकाङ्क्षाशालित्वरूप सार्थकत्व न होने के कारण इस स्थल में स्तोक की कर्मता व नपुंसकता नहीं होती है।

**केचितु–धातोरिव घञन्तस्यापि पाकादौ शक्तिरुपेयते, अन्यथा सुब्विभक्त्यर्थसंख्याकर्मत्वादीनां तत्र पाकादावन्वयानुपपत्तेः –'प्रकृत्यर्थान्वितस्वार्थबोधकत्वं प्रत्ययानाम् ' इति व्युत्पत्तेः धातूनां च सुब्विभक्त्यप्रकृतित्वात्। प्रकृत्येकदेशार्थेऽपि प्रत्ययार्थान्वयोपगमे 'पचन्तं पश्यति' इत्यादितः 'पचमानं पश्यति' इत्यादितश्च पाकादौ द्वितीयाद्यर्थकर्मत्वाद्यन्वयबोधप्रसंगात् ।**

भावार्थक कृत् प्रत्ययों का प्रयोगसाधुत्वमात्र अर्थ है ऐसा कह कर ग्रन्थकार ने जो भावार्थक कृत प्रत्ययों की निरर्थकता बतलायी है। उस पर किन्हीं लोगों का कथन है कि घञादि की भी सार्थकता होती है। उसी को उपस्थापित कर रहे हैं कि—

कुछ लोग तो— धातु की तरह घञन्त की भी पाकादि में शक्ति स्वीकार की जाती है नहीं तो सुप् विभक्ति के अर्थ संख्या, कर्मत्व आदि का पाक आदि में अन्वय नहीं हो

सकेगा। अभिप्राय यह है कि यदि घञन्त पाक पद की पाक रूप अर्थ में शक्ति नहीं है तो **'पाकः'** इस प्रकार प्रयोग करने पर पाकपदोत्तर सुब्विभक्ति (सु) के अर्थ एकत्व संख्या का अन्वय पाक में नहीं हो सकेगा । क्योंकि व्युत्पत्ति है कि **'प्रकृत्यर्थान्वितस्वार्थबोधकत्वं प्रत्ययानाम्** ' प्रत्ययों का प्रकृत्यर्थ से अन्वित स्वार्थ का बोधत्व होता है अर्थात् प्रत्यय प्रकृत्यर्थ से अन्वित स्वार्थ के बोधक होते हैं। **'पाकः'** यहाँ पर सु विभक्ति की प्रकृति है पाकपद । पाकपद का तो अपना कोई अर्थ ही नहीं है। जो अर्थ है सो पच् धातु का अर्थ है और पच् धातु सुविभक्ति की प्रकृति नहीं है। इस परिस्थिति में प्रकृत्यर्थ से अन्वित स्वार्थ (प्रत्ययार्थ) का बोधन प्रत्यय द्वारा सम्भव नहीं है। यदि प्रकृति के एकदेश के अर्थ में भी प्रत्ययार्थ अन्वय स्वीकार करें ? इस स्थिति में प्रकृतिभूत पाक के एकदेश पच् धातु के अर्थ में प्रत्यय सु विभक्ति के अर्थ का अन्वय सम्भव है । तो **'पचन्तं पश्यति'** और **'पचमानं पश्यति'** इत्यादि स्थलों में भी द्वितीयादि के अर्थ कर्मत्व आदि का अन्वय पाकादि क्रिया में होने की आपत्ति आयेगी ।

अभिप्राय यह है कि **'पचन्तं पश्यति'** **'पचमानं पश्यति'** यहाँ पर द्वितीया के अर्थ कर्मत्व का अन्वय पाकक्रिया के कर्ता के अर्थ में भी प्रत्ययार्थ का अन्वय स्वीकार लिया जायेगा तो इस प्रकार के स्थलों में भी, प्रकृत्येकदेशार्थ में भी प्रत्ययार्थ का अन्वय करना साधु ही होगा। फलस्वरूप पच् धात्वर्थ पाक में ही द्वितीयार्थ कर्मत्व का अन्वय कर सकेंगे। अतः बोध होने लगेगा 'पाकक्रिया को देखता है' जो कि किसी को भी स्वीकार्य नहीं होगा ।

**एकविशेषणत्वेनोपस्थितस्यान्यत्र विशेषणत्वेनान्वयस्याव्युत्पन्नतया तत्र प्रत्ययार्थविशेषणपाकादेर्न कर्मत्वे विशेषणतयाऽन्वय इति चेत् ? तथापि पाकादिविशेषणतया सुबर्थसंख्याया अन्वयसम्भवात् यत्र पाककर्त्रादेर्द्वित्वादिकं बाधितं पाकादेश्च तदबाधितं तत्र 'पचन्तौ पश्यति' 'पचमानौ पश्यति' इत्यादिप्रयोगप्रसंगस्य दुर्वारत्वात् । धातूपस्थाप्यार्थे सुबर्थान्वयबोधं प्रतितत्तद्धातूत्तरप्रत्ययधर्मिककिंचिदर्थपरत्वज्ञानस्य प्रतिबन्धकतामुपगम्यैतादृशातिप्रसङ्गवारणे च गौरवात् ।**

**'पचन्तं पश्यति'** **'पचमानं पश्यति'** यहाँ पर द्वितीया के अर्थ कर्मत्व का अन्वय पाकक्रिया में होने की आपत्ति पूर्व में दी गई थी। उसका निवारण करने के लिए नियम का हवाला देते हुए कहते हैं कि–जो पदार्थ एक अर्थ का विशेषण बनकर उपस्थित होता है वह पदार्थ अन्य किसी का विशेषण बनकर अन्वित नहीं हो सकता है। अभिप्राय यह है कि एक पदार्थ एक अर्थ का ही विशेषण हो सकता है। एक से ज्यादा अर्थ का नहीं ऐसा नियम है। इस कारण एक अर्थ का विशेषण बनकर जो अर्थ उपस्थित होता है। उक्त स्थल में पाक रूप अर्थ जो कि धात्वर्थ है प्रत्ययार्थकर्ता में विशेषण बनकर उपस्थित हुआ है। वही पाक रूप अर्थ द्वितीयार्थ कर्मत्व में विशेषण बनकर अन्वित नहीं हो सकता है। क्योंकि इस स्थिति में पाकरूप धात्वर्थ प्रत्ययार्थ कर्ता का भी विशेषण होगा और द्वितीयार्थ कर्मत्व का भी विशेषण होगा जो कि मुमकिन नहीं है। इस प्रकार धात्वर्थ पाक का (प्रकृत्येकदेशार्थ पाक का) कर्मत्व में अन्वय की आपत्ति वारित हो जायेगी। यदि ऐसा कहें तो भी पाकादि का विशेषण बनाकर सुबर्थ संख्या का अन्वय सम्भव होने के कारण जहाँ पर पाककर्ता का

द्वित्वादि तो बाधित है किंतु पाक का द्वित्वादि बाधित नहीं है वहाँ पर '**पचन्तौ पश्यति**' '**पचमानौ पश्यति**' इत्यादि प्रयोगों की आपत्ति दुर्वार होगी ।

अभिप्राय यह है कि पूर्व में प्रकृत्यदेशार्थ अर्थात् धात्वर्य का अन्वय द्वितीयार्थ कर्मत्व में होने की आपत्ति दी थी । उसकी वारण पूर्वोक्त रीति से सम्भव है। परन्तु कहना यह है कि मूल आपत्ति यह नहीं है कि प्रकृत्येकदेशार्थ में द्वितीयार्थ कर्मत्व का अन्वय होने लगेगा बल्कि मूल आपत्ति है कि प्रकृत्येकदेशार्थ में द्वितीयार्थ या कहिए प्रत्ययर्थ का अन्वय होने लगेगा । द्वितीया का एकमात्र अर्थ कर्मत्व ही नहीं बल्कि संख्या भी है। प्रत्ययर्थ कर्मत्व में जब प्रकृत्यर्थ या प्रकृत्येकदेशार्थ अन्वित होता है तो प्रत्ययार्थ विशेष्य होता है तथा प्रकृत्यर्थ या प्रकृत्येकदेशार्थ विशेषण । प्रत्ययार्थ संख्या में जब प्रकृत्यर्थ या प्रकृत्येकदेशार्थ अन्वित होता है तो संख्या विशेषण होती है तथा प्रकृत्यर्थ या प्रकृत्येकदेशार्थ विशेष्य । एक ही अर्थ का दो जगह विशेषणत्वेन अन्वय सम्भव न होने के कारण शतृ या शानच् प्रत्ययार्थ कर्ता में विशेषणीभूत पाक का द्वितीयार्थ कर्मत्व में विशेषणतया अन्वय अव्युत्पन्न होने के कारण वह तो वारित हो जाता है परन्तु संख्या का अन्वय जब होता है तो वह तो पाक का विशेषण ही बनेगी इसलिए संख्या का अन्वय पाक में, पाक का अन्वय कर्ता में तथा कर्ता का दर्शनक्रियाकर्मता में अन्वय सम्भव है। इसमें किसी नियम का उल्लंघन नहीं किया जा रहा है। इस परिस्थिति में जहाँ पर पाककर्ता का द्वित्व बाधित है अर्थात् पाककर्ता एक ही है परन्तु पाक का द्वित्व बाधित नहीं है अर्थात् पाक दो चीजों का हो रहा है वहाँ पर द्वित्व का पाक में, पाक का कर्ता में तथा कर्ता का दर्शन क्रिया कर्मता में अन्वय सम्भव होने से '**पचन्तौ पश्यति**' '**पचमानौ पश्यति**' इत्यादि प्रयोगों का प्रसंग दुर्वार ही होगा।

यदि इस प्रकार के प्रयोगों का वारण करने के लिए (क्योंकि पाककर्ता के दो होने पर ही इस प्रकार का प्रयोग साधु माना जाता है पाक के दो होने पर नहीं) प्रतिबध्यप्रतिबन्धक भाव की कल्पना की जाए कि '**धातूपस्थाप्य अर्थ में सुबर्थ के अन्वयबोध के प्रति तत्तद्धातूत्तरप्रत्ययधर्मिककिंचिदर्थपरत्वज्ञान प्रतिबन्धक होता है**' अभिप्राय है कि धातु से उपस्थाप्य अर्थ में सुबर्थ के अन्वयबोध के प्रति उस धातु के बाद हुए प्रत्यय में किंचिदर्थपरत्व का ज्ञान प्रतिबन्धक होता है। इसलिए जहाँ पर धातू के बाद आये हुए प्रत्यय में किंचिदर्थपरत्व का ज्ञान होगा वहाँ पर धातू पस्थाप्य अर्थ में सुबर्थ का अन्वयबोध नहीं होगा । जहाँ पर धातु के बाद आये हुए प्रत्यय में किंचिदर्थपरत्व का ज्ञान नहीं होगा वहीं पर धातूपस्थाप्य अर्थ में सुबर्थ का अन्वय बोध होगा । इस प्रकार '**पाकः**' में पच् धातु के बाद आये हुए घञ् प्रत्यय में किंचिदर्थपरत्व ज्ञान नहीं है क्योंकि भावार्थक कृत् प्रत्यय प्रयोग साधुत्वमात्रार्थक है। इसलिए सुबर्थ एकत्व का पच् धात्वर्थ में अन्वय हो जायेगा । '**पचन्तं पश्यति**' '**पचमानं पश्यति**' में धातूत्तर शतृ और शानच् प्रत्ययों में किंचिदर्थपरत्व ज्ञान है क्योंकि शतृ और शानच् की कर्ता में शक्ति है । अतः धातूपस्थाप्य अर्थ में सुबर्थ के अन्वयबोध के प्रति प्रतिबन्धकीभूत धातूत्तरप्रत्ययधर्मिक किंचिदर्थपरत्व ज्ञान मौजूद है। फलतः धातूपस्थाप्य अर्थ में सुबर्थ का (संख्या या कर्मत्व का) अन्वय नहीं होगा । परन्तु इस प्रकार से उक्त दोष या अतिप्रसंग का वारण करने पर गौरव आयेगा । अतः घञन्त की पाक में शक्ति स्वीकार करनी चाहिए व प्रत्ययार्थ का प्रकृत्येकदेशार्थ में अन्वय नहीं स्वीकार करना चाहिए ।

**एवं 'शोभनं पचनम्' इत्यादौ धातुमात्रेण पाकाद्युपस्थितौ च तत्र शोभनाद्यभेदान्वयबोधानुपपत्तिः–विशेषणविभक्तिसजातीयविभक्ति-प्रकृत्यनुपस्थाप्यत्वात् प्रकृत्येकदेशसाधारणतादृशविभक्तिप्रकृतित्वस्य प्रयोजकत्वे ? तत्र ल्युडादेरधिकरणपरत्वेऽपि तथाविधान्वयबोधापत्तेः। कस्यचित् प्रतिबन्धकतां कल्पयित्वा तद्वारणे च गौरवात्।**

इसी प्रकार **'शोभनं पचनम्'** इत्यादि स्थलों पर यदि धातुमात्र से पाक की उपस्थिति स्वीकारते हैं तो धातुमात्र से पाक की उपस्थिति होने पर उसमें शोभन आदि के अभेदान्वय बोध के लिए विशेषण व विशेष्य को परस्पर सजातीय विभक्ति प्रकृति से उपस्थाप्य होना चाहिए । यहाँ पर विशेषण विभक्ति सुविभक्ति की सजातीय सुविभक्ति की प्रकृति जो पचन पद है उससे पाक की उपस्थिति तो हुई ही नहीं है अपितु पच् धातु से पाक की उपस्थिति हुई है। इसलिए पाक और शोभन का अभेदान्वय सम्भव न हो सकेगा । यहाँ पर यह ज्ञातव्य है कि पचनशब्द पच् धातु से भाव अर्थ में ल्युट् प्रत्यय करके सिद्ध होता है। भाव के द्वारा किसी भी अतिरिक्त अर्थ का द्योतन नहीं होता है अतः भावार्थक प्रत्ययों की पदसाधुत्वमात्रप्रयोजकता स्वीकारी जाती है तथा पच् धातु का अर्थ ही पाक स्वीकार किया जाता है। यही स्थिति भावार्थक घञ् प्रत्यय करने के बाद निष्पन्न पाक शब्द के साथ भी है। इसी कारण **'शोभनं पचनम्'** में पाकरूप अर्थ विशेषण विभक्ति सजातीय विभक्ति की प्रकृति से उपस्थाप्य नहीं हो रहा है क्योंकि विशेषण विभक्ति सजातीय विभक्ति की प्रकृति तो पचन पद है किंतु पाकरूप अर्थ का उपस्थापन पच् धातु से किया जा रहा है।

प्रकृत्येकदेशसाधारण विशेषणविभक्तिसजातीयविभक्ति प्रकृतित्व को यदि अभेदान्वय बोध का प्रयोजक मानें ? अभिप्राय यह है कि विशेषण विभक्ति सजातीय विभक्ति की प्रकृति या प्रकृत्येकदेश से उपस्थाप्य अर्थ से अभेदान्वय बोध होता है, यदि ऐसा स्वीकारें? तो **'शोभनं पचनम्'** यहाँ पर अभेदान्वय बोध होने में कोई दिक्कत नहीं आयेगी । क्योंकि यद्यपि विशेषणविभक्तिसजातीयविभक्तिप्रकृति से पाकरूप अर्थ उपस्थाप्य नहीं है किन्तु प्रकृति के एकदेश पच् धातु से तो उपस्थाप्य है ही ।

परन्तु जहाँ ल्युट् अधिकरणपरक होगा[1] अर्थात् जहाँ पर अधिकरण अर्थ में ल्युट् प्रत्यय हुआ है वहाँ पर **'शोभनं पचनम्'** (पाकाधिकरण शोभन है) पाकाधिकरण के साथ शोभन का अभेदान्वयबोध होता है। अभेदान्वयबोध के लिए जैसा पूर्व में बतलाया गया है कि विशेषणविभक्तिसजातीयविभक्तिप्रकृति या प्रकृत्येकदेश से उपस्थाप्य अर्थ के साथ अभेदान्वयबोध होगा तो यहाँ पर पाकाधिकरण के साथ भी शोभन का अभेदान्वय करना भी उचित माना जायेगा तथा पाक के साथ भी । पाकाधिकरण तादृशविभक्तिप्रकृति से उपस्थाप्य है तथा पाक प्रकृत्येकदेश से । किन्तु इष्ट तो पाकाधिकरण के साथ ही अभेदान्वय बोध करना है।

इस कारण से यदि किसी की प्रतिबन्धकता की कल्पना करके उसका वारण करते

1– ल्युट् प्रत्यय अनेक अर्थों में होता है जैसे भाव में, कर्म उपपद में, करण में, अधिकरण में, इन विषयों पर पाणिनीयसूत्र है ल्युट् च 3-3-115/कर्मणि य येन संस्पर्शात् कर्तुः शरीर सुखम् 3-3-116/ करणाधिकरणयोश्च 3-3-117।

हैं अर्थात् '**पदान्तरार्थप्रकारक धात्वर्थविशेष्यक अभेदान्वयबोध के प्रति धातूत्तर प्रत्ययधर्मिक किंचिदर्थपरत्वज्ञान प्रतिबन्धक होता है**' इस प्रकार यदि प्रतिबध्यप्रति-बन्धकभाव स्वीकारते हैं तो भावार्थक ल्युट् प्रत्ययान्त '**शोभनं पचनम्** ' तथा अधिकरणार्थक ल्युट् प्रत्ययान्त '**शोभनं पचनम्** ' दोनों ही स्थलों के दोष वारित हो जाते हैं। भावार्थक ल्युट् होने पर पच् धातूत्तर (पच् दातु के बाद आने वाले) ल्युट् प्रत्यय में किंचिदर्थपरत्वज्ञान नहीं है। इसलिए प्रतिबन्धक होने के कारण पदान्तर (शोभन) अर्थ प्रकारक पच् धात्वर्थ पाक विशेष्यक अभेदान्वयबोध सम्भव हो जाता है। ल्युट् प्रत्यय के अधिकरणार्थक होने पर पच् धातूत्तर ल्युट् प्रत्यय में किंचिदर्थपरत्वज्ञान मौजूद है जो कि शोभन तथा पच् धात्वर्थ पाक के अभेदान्वयबोध के प्रति प्रतिबन्धक है। अतः शोभन और पाक का अभेदान्वयबोध सम्भव नहीं हो पाता है। परन्तु इस प्रकार से दोषों का वारण करने पर गौरव प्राप्त होता है क्योंकि नवीन प्रतिबध्यप्रतिबन्धकभाव की कल्पना करनी पड़ती है। इस कारण भावार्थक ल्युट् प्रत्ययान्त पचन की ही पाक में शक्ति स्वीकार करिए। तथा अधिकरणार्थ ल्युट् प्रत्ययान्त पचन की पाकाधिकरण में शक्ति स्वीकार करिए । ऐसी परिस्थिति में कहीं पर भी शाब्दबोध होने में कोई परेशानी नहीं आयेगी ।

**न चैवम् –उपकुम्भार्धपिप्पल्यादिरूपपूर्वपदार्थप्रधानसमासपदात् कुम्भसमीपपिप्पल्यर्धादौ विभक्त्यर्थान्वयस्य प्रातिपदिकान्तरार्थाभेदान्वयस्य चानुपपत्तिः–पूर्वपदस्य समासोत्तरविभक्त्य प्रकृतित्वादिति वाच्यम् , तदनुरोधेनैव तत्र कुम्भपिप्पल्यादिपदानामेव कुम्भसमीपपिप्पल्यर्धादौ लक्षणायाः पूर्वपदस्य तात्पर्यग्रहमात्रोपयोगितायाश्च स्वीकारात् ।**

अब एक अन्य आपत्ति दी जा रही है कि –इस प्रकार (प्रत्ययों का स्वप्रकृत्यर्थविशिष्ट स्वार्थ बोधकत्वनियम होने पर और स्वाव्यवहितपूर्ववृतित्व ही प्रकृतित्व है ऐसा स्वीकारने पर) '**उपकुम्भम्** ' '**अर्धपिप्पली**' आदि में विभक्त्यर्थ के अन्वय की तथा अन्य प्रतिपदिक के अर्थ के अन्वय की अनुपपत्ति है पूर्वपद के समासोत्तर विभक्ति का प्रकृति न होने के कारण । अभिप्राय यह है कि अभी पूर्व में स्वीकार किया है कि प्रत्यय अपने प्रकृति के अर्थ से विशिष्ट अपने अर्थ को बतलाते हैं और यह तो उसके भी पूर्व स्वीकार चुके हैं कि प्रत्यय से अव्यवहितपूर्व में होना ही उस प्रत्यय की प्रकृति होना है। '**उपकुम्भम्** ' '**अर्धपिप्पली**' इत्यादि पूर्वपदार्थ प्रधान समासों में[1] पूर्वपदार्थ (पूर्व पद के अर्थ) समीप और अर्ध आदि के साथ विभक्त्यर्थ कर्मत्व आदि का अन्वय नहीं हो सकेगा । इन पूर्व पदार्थ प्रधान समासों में पूर्वपद (उप और अर्ध) के अर्थ समीप और अर्ध के साथ ही विभक्त्यर्थ का अन्वय होना चाहिए क्योंकि वही प्रधान अर्थात् विशेष्य है। किन्तु यह सम्भव नहीं हो सकेगा क्योंकि पूर्वपद (उप और अर्ध पद) समस्त 'उपकुम्भ' और 'अर्धपिप्पली' पद के उत्तर आयी हुई विभक्तियों की प्रकृति नहीं है। उपकुम्भ व अर्धपिप्पली पदोत्तर विभक्तियों की प्रकृति कुम्भ और पिप्पली पद ही होंगे उप और अर्ध पद तो होंगे नहीं क्योंकि प्रत्यय के ठीक पूर्व में जो पद होता है वही प्रकृति होता है। इसलिए विभक्ति के अर्थ कर्मत्व आदि का अन्वय कुम्भ और पिप्पली पद के अर्थ में ही हो सकता है उप

1-समासों के विषय में सिद्धान्तित किया जाता है कि पूर्वपदार्थप्रधानोऽव्ययीभावः, उत्तरपदार्थप्रधानस्तत्पुरुषः, अन्यपदार्थप्रधानो बहुव्रीहिः, उभयपदार्थप्रधानश्च द्वन्द्वः । अर्थात् अव्ययीभाव समास में पूर्वपद का अर्थ, तत्पुरुष में उत्तरपद का अर्थ, बहुव्रीहि में अन्य पदको अर्थ तथा द्वन्द्व में दोनों ही पदों का अर्थ प्रधान होता है।

और अर्ध पद के अर्थ में नहीं । इसी प्रकार '**उपकुम्भं सुन्दरम्** ' ऐसा प्रयोग करने पर पूर्वपद उपपद के अर्थ समीप के साथ प्रातिपदिकान्तर (दूसरे प्रातिपदिक) सुन्दर पद के अर्थ का अभेदान्वय नहीं हो सकेगा जो कि होता है। कारण यह है कि उन्हीं दो पदों के अर्थों का अभेदान्वय होता है जिन दो पदों में समान विभक्तियाँ हों या एक पद द्वितीय पद के अव्यवहित पूर्व में हो । अन्यथा विशेष अनुशासन के होने पर ही अभेदान्वयबोध हो सकता है। यहाँ पर ऐसा नहीं है क्योंकि उपपद व सुन्दर पद के अर्थों में (समीप और सुन्दर में ) अभेदान्वय होना है उक्त दोनों पदों में न तो समान विभक्तिकत्व है और न तो एक दूसरे के अव्यवहित पूर्व में ही है। अतः सुन्दर पदार्थ का तथा पूर्व पद (उपपद) के अर्थ समीप अभेदान्वय बोध नहीं हो सकता है। इसलिए समास स्थल में 'उपकुम्भ' 'अर्धपिप्पली' आदि समस्त पदों की शक्ति ही कुम्भसमीप और पिप्पल्यर्ध में स्वीकारनी चाहिए और ऐसा स्वीकारने पर उक्त दोनों ही आपत्तियाँ वारित की जा सकेंगी। समस्त पद की शक्ति स्वीकारने पर कुम्भसमीपरूप अर्थ उपकुम्भ इस समस्त पद का अर्थ होगा, उप और कुम्भ इन दो पदों का सम्मिलित अर्थ नहीं होगा इस प्रकार उपकुम्भ शब्द के बाद आने वाली विभक्ति की प्रकृति उपकुम्भ शब्द होगा केवल कुम्भशब्द नहीं, इसलिए उपकुम्भ पदार्थ कुम्भसमीप में द्वितीयार्थ कर्मत्व आदि का अन्वय होने में कोई आपत्ति नहीं है। इसी प्रकार प्रातिपदिकान्तर (सुन्दरादि पद) के अर्थ का भी कुम्भसमीप आदि में अभेदान्वय होने में कोई आपत्ति नहीं है क्योंकि सुन्दर पद और उपकुम्भ पद समान विभक्तिक हैं '**सुन्दरमुपकुम्भम्**' प्रयोग करने पर । अतः सुन्दर पदार्थ व उपकुम्भ पदार्थ में अभेदान्वय बोध होने में कोई आपत्ति नहीं है।

नैयायिक समास में शक्ति नहीं स्वीकारता है अतः वैयाकरण के द्वारा उठायी गई आपत्ति का अन्य तरीके से समाधान करता है कि –उक्त दोष के अनुरोध से उक्त पूर्व पदार्थ प्रधान समासों में कुम्भ और पिप्पली आदि पदों की ही कुम्भ समीप और पिप्पल्यर्ध आदि में लक्षणा स्वीकार लेते हैं और पूर्वपद की तात्पर्यग्रह मात्र ही उपयोगिता स्वीकारते हैं । इस प्रकार स्वीकार लेने पर भी उक्त दोष वारित हो जायेंगे । अब विभक्त्यर्थ कर्मत्वादि का अन्वय कुम्भ समीप में करने में कोई आपत्ति नहीं है क्योंकि कुम्भसमीप रूप अर्थ विभक्ति के अव्यवहितपूर्ववर्त्ति कुम्भ पद का ही अर्थ है। इसीलिए '**सुन्दरमुपकुम्भम्** ' इत्यादि स्थलों भी सुन्दर पद और कुम्भ पद (विशेषणवाचक व विशेष्य वाचक) के समान विभक्तिक होने के कारण सुन्दर और कुम्भसमीप का अभेदान्वयबोध होने में कोई आपत्ति नहीं आती है।

**वस्तुतस्तु–तत्रोत्तरपदार्थविशेषितपूर्वपदार्थसमीपार्धादौ प्रत्ययार्थान्वय-बोधे तादृशसमस्तपदप्रत्ययपदयोरव्यवहितपूर्वापरीभावोऽप्याकाङ्क्षा, एवं तत्र प्रातिपदिकान्तरार्थाभेदान्वयबोधे समानविभक्तिकयोस्तादृशसमस्तपद-पदान्तरयोश्च समभिव्याहारोप्याकाङ्क्षा तथासत्यतिप्रसङ्गविरहात्। धात्वर्थपाकादौ प्रत्यार्थान्वयबोधे प्रातिपदिकान्तरार्थाऽभेदान्वयबोधे च ल्युड्घञाद्यन्त-समुदायप्रत्यययोरानुपूर्वीरूपाव्यवहितपूर्वापरीभावस्य समानविभक्तिकयो-स्तादृशसमुदायपदपदान्तरयोः समभिव्याहारस्य चाकाङ्क्षात्वोपगमे दर्शिताधि-करणार्थकल्युट्प्रत्ययस्थलीयातिप्रसङ्गस्य दुरुद्धरतया न तत्सम्भवः।**

उक्त पूर्वोपस्थापित दोष का वास्तविक समाधान न्याय मत से देते हैं कि –वस्तुतः तो उक्तस्थलों में उत्तरपद के अर्थ कुम्भ आदि से विशेषित पूर्व पद के अर्थ समीप, अर्ध आदि में प्रत्ययार्थ का अन्वयबोध होने के प्रति तादृश समस्त पद 'उपकुम्भ' 'अर्धपिप्पली' आदि व प्रत्यय पद अम् आदि का जो पूर्वापरीभाव है वह भी कारणीभूत आकाङ्क्षा है। अभिप्राय है कि **'प्रत्ययार्थप्रकारक पूर्वपदार्थविशेष्यक शाब्दबोध के प्रति ( प्रत्ययार्थ विशेषण व पूर्वपद का अर्थ विशेष्य बन रहा हो जिसमें ऐसे शाब्दबोध के प्रति ) विभक्ति से अव्यवहितपूर्ववर्ति कुम्भपद अव्यवहितपूर्ववर्ति उपपद का ज्ञान कारण होता है**, अर्थात् विभक्ति से ठीक पूर्व कुम्भपद व कुम्भ पद के ठीकपूर्व उप पद का होना, विभक्ति के अर्थ का उपपदार्थ में अन्वय होने के प्रति कारणीभूत आकाङ्क्षा है। ऐसी स्थिति में विभक्त्यर्थ कर्मत्वादि का कुम्भसमीप आदि में अन्वय होने में कोई आपत्ति नहीं है। इसी प्रकार प्रातिपदिकान्तर के अर्थ से अभेदान्वयबोध के प्रति समानविभक्तिक तादृश समस्त पद और पदान्तर का समभिव्याहार भी आकाङ्क्षा होगी । अभिप्राय यह है कि **'अभेदसम्बन्ध से सुन्दरप्रकारक कुम्भसमीपविशेष्यक शाब्दबोध के प्रति ( अभेदसम्बन्ध से सुन्दर विशेषण व कुम्भसमीप रूप अर्थ विशेष्य हो जिसमें ऐसे शाब्दबोध के प्रति ) समानविभक्तिक सुन्दरपद व उपकुम्भपद का समभिव्याहार कारण होता है।'** उक्त समभिव्याहार ही आकाङ्क्षा है। इस प्रकार पूर्वपदार्थ में (कुम्भसमीपरूप अर्थ में सुन्दरपदार्थ का अभेदान्वयबोध होने में कोई आपत्ति नहीं होगी । उक्त दोनों ही अतिप्रसङ्ग (1) पूर्वपदार्थ में प्रत्ययार्थान्वय की अनुपपत्ति व (2) पूर्वपदार्थ में पदान्तरार्थान्वय की अनुपपत्ति वारित हो जायेंगे ।

यदि इस पर पूर्वपक्षी कहे कि जैसे आपने 'उपकुम्भ' इत्यादि समस्तपदों में शक्ति नहीं स्वीकार की है तथा पूर्वोक्त रीति से आकाङ्क्षा की कल्पना करके पूर्व पदार्थ में प्रत्ययार्थ का व पदान्तरार्थ का अन्वय उपपादित किया, उसी प्रकार **'पाकः'** इत्यादि भावार्थक कृदन्तस्थलों में भी विशिष्ट घञन्त पाक आदि पदों में शक्ति नहीं स्वीकार करनी चाहिए, किन्तु घञ् की (भावार्थक कृत् प्रत्ययों की) निरर्थकता का आश्रय लेकर धातु की ही पाक आदि में शक्ति स्वीकारनी चाहिए और **'धात्वर्थ पाक आदि में प्रत्ययार्थ के अन्वयबोध के प्रति ल्युड्घञाद्यन्तसमुदाय 'पाक' 'पचन' आदि का व प्रत्यय ( सु आदि ) का जो पूर्वापरीभाव है वही आकाङ्क्षा है'** ऐसा मानना चाहिए । अभिप्राय है कि जहाँ पर ल्युड्घञाद्यन्त समुदाय पाक, पचन पूर्व में व प्रत्यय सु आदि बाद में होंगे वहीं पर प्रत्ययार्थ का अन्वय धात्वर्थ में होगा । इसी प्रकार **'अभेद सम्बन्ध से पदार्थान्तरप्रकारक धात्वर्थपाकादिविशेष्यक शाब्दबोध के प्रति ( अभेदसम्बन्ध से पदार्थान्तर विशेषण व धात्वर्थ विशेष्य बन रहा हो जिसमें ऐसे शाब्दबोध के प्रति ) ल्युड्घञाद्यन्त समुदाय व विशेषणवाचक पद का समानविभक्तिकत्व ज्ञान आकाङ्क्षारूप कारण होता है।'** ऐसा कार्यकारणभाव समानविभक्तिक ल्युड्घञाद्यन्तसमुदाय व पदान्तर प्रयोग स्थल में धात्वर्थ पाकादि में प्रतिपदिकान्तरार्थ का अभेदान्वयबोध कराने के लिए स्वीकार करना चाहिए । तो इस पर ग्रन्थकार कहते हैं कि धात्वर्थ पाकादि में प्रत्ययार्थान्वयबोध में व प्रातिपदिकान्तरार्थाभेदान्वय बोध में क्रमशः ल्युड्घञाद्यन्त समुदाय

व प्रत्यय की आनुपूर्वीरूप पूर्वापरीभाव को तथा समान विभक्तिक तादृश (ल्युड्घञाद्यन्त समुदाय) पद व पदान्तर के समभिव्याहार को कारणीभूत आकाङ्क्षा स्वीकारने पर दर्शित अधिकरणार्थक ल्युट् प्रत्ययस्थलीय अतिप्रसङ्ग के दुरुद्धर होने से वह सम्भव नहीं है। अभिप्राय यह है कि उक्त प्रकार से आकाङ्क्षा की कल्पना करने पर जहाँ पर ल्युट् प्रत्यय अधिकरण अर्थ में हुआ होगा वहाँ पर उक्त आकाङ्क्षा तो मौजूद ही है। अतः धात्वर्थ पाकादि में ही प्रत्ययार्थ का व पदान्तरार्थ का अन्वय होने की आपत्ति आयेगी। जबकि ल्युट् प्रत्यय के अधिकरणार्थक होने पर विभक्त्यर्थ का तथा पदान्तरार्थ का अधिकरण रूप अर्थ में ही अन्वय वस्तुतः हुआ करता है।

इस कारण से उक्त प्रकार की आकाङ्क्षा से निर्वाह सम्भव न होने से '**पाकः**' इत्यादि में तो ल्युड्घञाद्यन्त समुदाय की ही शक्ति पाक आदि में स्वीकारनी चाहिए जैसाकि पूर्व में भी व्यवस्थापित किया गया है।

**अथ घञन्तसमुदायस्य पाकाद्यर्थकत्वे घञन्तसमुदायस्य संयोगविभागत्वादिविशिष्टावाचकत्वं व्युत्पाद्य संयोगविभागादिपदानां नैमित्तिकसंज्ञात्वनिराकरणं दीधितिकृतां विरुद्धमिति चेत् ? का क्षतिः—नहि कस्यचिद् ग्रन्थकृतो विपरीतलेखनं युक्तिबलाद्वस्तुसिद्धौ बाधकम् ।**

अब आशंका कर रहे हैं कि—आपने घञन्त समुदाय पाक आदि की पाकादिरूप अर्थों में शक्ति स्वीकार की है। परन्तु दीधितिकार रघुनाथ शिरोमणि ने घञन्त समुदाय (घञ् प्रत्ययान्त) संयोग और विभाग आदि पदों के संयोगत्व विभागत्वादिविशिष्ट का अवाचकत्व व्युत्पादित कर के संयोग और विभाग आदि पदों की नैमित्तिक संज्ञात्व का निराकरण किया है वह विरुद्ध होगा ।

अभिप्राय यह है कि रघुनाथ शिरोमणि ने–घञन्त संयोग विभाग पदों में क्रमशः संयोगत्वविशिष्टवाचकत्व और विभागत्वविशिष्टवाचकत्व नहीं है ऐसा व्युत्पादन कर के संयोग विभाग पदों की नैमित्तिक संज्ञात्व का निराकरण किया है । डित्थ, डवित्थ इत्यादि संज्ञाएँ यदृच्छासंज्ञाएँ हैं, घटपट आदि संज्ञाएँ नैमित्तिक संज्ञाएँ हैं क्योंकि ये घटत्व, पटत्व आदि को प्रवृत्तिनिमित्त बनाकर प्रवृत्त होती हैं अर्थात् घटपटादि पदों की क्रमशः घटत्वपटत्वाद्यवच्छिन्न (घटत्वपटत्वादि विशिष्ट) में शक्ति है। यदि संयोग विभाग पदों की शक्ति संयोगत्वविभागत्वावच्छिन्न में होती तो संयोग विभाग पद संयोगत्व, विभागत्व को प्रवृत्तिनिमित्त बनाकर प्रवृत्त होने के कारण नैमित्तिक संज्ञा होते । (घटत्वपटत्वादि को प्रवृत्तिनिमित्त बनाकर प्रवृत्त होने का अभिप्राय है कि–घटत्वपटत्व जहाँ पर दिखते हैं वहीं पर घटपटादि पदों का प्रयोग किया जाता है अर्थात् घटत्व, पटत्व प्रवृत्ति के लिए निमित्त होते हैं ) संयोगत्व विभागत्व धर्म प्रवृत्ति के प्रति निमित्त नहीं होते हैं । यदि घञन्त संयोग विभाग पदों की संयोगविभागत्वावच्छिन्न में शक्ति स्वीकार की जायेगी तो संयोगत्व विभागत्व संयोग विभागपदों की प्रवृत्ति के निमित्त होंगे इस प्रकार नैमित्तिक संज्ञा होने लगेगी संयोग विभाग संज्ञा, किन्तु संयोग विभाग पदों की संयोगत्वविभागत्वावच्छिन्न में शक्ति नहीं है अन्यथा '**संयुनक्ति, संयुज्यते, विभजते**' इत्यादि स्थलों में संयोग विभागपदों के न होने से संयोग विभाग रूप अर्थों की उपस्थिति नहीं हो सकेगी, जबकि

यहाँ पर भी संयोग और विभाग की उपस्थिति होती है इसलिए सर्वत्र अनुगत धातु की ही संयोग विभाग रूप अर्थों में शक्ति स्वीकारना उचित होगा । घञन्त संयोग विभाग आदि पदों की शक्ति संयोगत्वविभागत्वावच्छिन्न में नहीं स्वीकारनी चाहिए । इस आशय से घञ् की साधुत्वमात्रता स्वीकार करते हुए दीधितिकार ने घञन्त संयोग, विभाग पदों की नैमित्तिक संज्ञात्व का निराकरण किया है। वह आप के कथन से विरुद्ध होगा क्योंकि आप तो घञन्त पाकपद की शक्ति ही पाकरूप अर्थ में स्वीकार रहें हैं ।

इस पर समाधान दे रहें हैं कि—क्या नुकसान है-किसी ग्रन्थकार का विपरीत लेखन युक्ति से वस्तुसिद्धि करने में बाधक नहीं होता है। अर्थात् जो बात हम कर रहे हैं अगर वह बात युक्तिसंगत है तो उसे स्वीकार करने में किसी ग्रन्थकार का विपरीत लेखन बाधक नहीं हो सकता है।

**एवं च यत्र धातुमात्रस्यैव पाकादौ तात्पर्यं तत्र तद्विशेषणवाचकपदाद् द्वितीयैव । यत्र तु कृदन्तसमुदायस्य पाकादौ तात्पर्यं तत्र तादृशपदं तथाविधकृदन्तसमुदायसमानविभक्तिकमेव । तदुक्तं च कातन्त्रपरिशिष्टकृता- 'कथं स्तोकः पाकः? कृदन्तविशेषणत्वात् ' धात्वर्थैकाधिकरण्ये तु 'स्तोकमोदनस्य पाकः' इति स्यादेवेति वदन्ति ।**

इस प्रकार जहाँ पर धातुमात्र का ही पाक में तात्पर्य है वहाँ पर विशेषण वाचक पद के बाद द्वितीया ही होगी । जहाँ पर कृदन्तसमुदाय का पाकादि में तात्पर्य होगा वहाँ पर विशेषणपद कृदन्त समुदाय का समान विभक्तिक होगा जैसा कि कातन्त्रपरिशिष्टकार के द्वारा कहा भी गया है—कैसे **'स्तोकः पाकः'** ऐसा प्रयोग है कृदन्त का विशेषण होने के कारण । अर्थात् यहाँ पर कृदन्त समुदाय का (पाक पद का) पाकरूप अर्थ में तात्पर्य है । अतः विशेषणवाचक स्तोकपद पाकपद का समानविभक्तिक होता है और स्तोकपदोत्तर प्रथमा होती है। जहाँ पर धात्वर्थ का एकाधिकरण होगा अर्थात् धात्वर्थ पाक में स्तोक पद विशेषण होगा । अभिप्राय है कि जहाँ पर धातु के द्वारा पाकरूप अर्थ की उपस्थिति होगी और धातूपस्थाप्य पाक रूप अर्थ में स्तोक रूप अर्थ विशेषण होगा वहाँ पर स्तोक पद (विशेषणवाचक पद) में **'क्रियाविशेषणानां कर्मत्वं नपुंसकत्वं च'** क्रियाविशेषणों की कर्मता और नपुंसकलिंगता होती है, इस नियम के कारण द्वितीया और नपुंसकलिंगता होगी। तथा इस प्रकार **'स्तोकं औदनस्य पाकः'** इस प्रकार का प्रयोग होने में कोई आपत्ति नहीं है, ऐसा प्रयोग होता ही है।

**तदर्थपदोत्तरविभक्त्या संख्याबोधनेऽभेदसंसर्गावच्छिन्नप्रकारताभिन्नतदर्थविषयताशालिशाब्दबोधसामग्री अपेक्षिता, तादृशश्च बोधस्तदर्थविशेष्यकः तदर्थनिरूपितभेदान्वयविषयकश्च । 'नीलौ घटौ' इत्यादौ च विशेष्यवाचकपदोत्तरविभक्त्यैव द्वित्वादिकं प्रत्याय्यते एवं च- क्रियाविशेषणवाचकपदोत्तरविभक्त्याऽबाधितयोरपि द्वित्वबहुत्वयोः प्रत्यायनासम्भवात् तादृशपदोत्तरमौत्सर्गिकमेकवचनमेव भावाख्यातस्थलवदित्यवधेयम् ।**

पूर्व में ग्रन्थकार ने कहा है कि विशेषणविभक्ति साधुत्वमात्रार्थक होती है। विशेषणविभक्ति के द्वारा संख्या आदि कुछ भी बोधित नहीं होता है। इसको व्यवस्थापित करने के लिए

कार्यकारणभाव दे रहे हैं कि—**तदर्थकपदोत्तरविभक्ति से संख्याबोधन में अभेदसंसर्गावच्छिन्नप्रकारता से भिन्न तदर्थविषयताशालि शाब्दबोध सामग्री अपेक्षित होती है।** अभिप्राय है कि जिस अर्थ को अभेद संबन्ध से प्रकार बनाने वाली शाब्दबोध सामग्री नहीं होगी, अन्य रूप से विषय बनाने वाली होगी तद्वाचकपदोत्तरविभक्ति से संख्या बोधित होगी । और ऐसा बोध होता है तदर्थविशेष्यक या तदर्थनिरूपित भेदान्वयविषयक । जैसे कि उदाहरण के तौर पर देखें—'**नीलो घटः**' यहाँ पर 'नीलाभिन्न एकत्ववान् घट' ऐसा शाब्दबोध होता है। यहाँ पर नील प्रकार (विशेषण) है अभेद सम्बन्ध से घट में । घट विशेष्य है। एकत्वसंख्या जो शाब्दबोध में भासित हो रही है वह घटपदोत्तर सु विभक्ति का अर्थ है। नीलपदोत्तर सुविभक्ति पदसाधुत्वमात्र के लिए है। अर्तात् घटपदोत्तर सु से एकत्व संख्या बोधित होती है नीलपदोत्तर सु से नहीं बोधित होती है। क्यों नहीं होती ? कार्य कारणभाव में तद् पद से विशेष्य या विशेषण को लेंगे । पहले विशेषण को –तदर्थक पद —विशेषणार्थकपद नीलपदोत्तर सुविभक्ति से संख्याबोधन में अपेक्षित है अभेद संसर्गावच्छिन्न प्रकारता से भिन्न नीलार्थविषयताशालि शाब्दबोध सामग्री किन्तु यहाँ पर '**नीलाभिन्नः एकत्ववान् घटः**' इस प्रकार शाब्दबोध की सामग्री है '**नीलो घटः**' इस वाक्य में । इस शाब्दबोध में नीलरूप अर्थ में प्रकारता (अभेदसंसर्गावच्छिन्न) है। अर्थात् अभेद संसर्गावच्छिन्न नीलप्रकारताशालि शाब्दबोध सामग्री ही है, अभेद संसर्गावच्छिन्न प्रकारता भिन्न नीलविषयताशालिशाब्दबोधसामग्री नहीं है। इसलिए नीलार्थक नीलपदोत्तर विभक्ति से संख्या का बोधन नहीं होता है। अब विशेष्य को लें –तदर्थकपद विशेष्यार्थक घटपदोत्तर विभक्ति से संख्याबोधन में अभेदसंसर्गावच्छिन्नप्रकारताभिन्नघटनिष्ठ विषयताशालि शाब्दबोध सामग्री अपेक्षित है। उक्त स्थल में जो शाब्दबोध सामग्री है वह नीलप्रकारक अभेदसंसर्गक घटविशेष्यक शाब्दबोध सामग्री है, अभेद संसर्ग से घट को प्रकार बनाने वाली सामग्री नहीं है। अपितु अभेद संसर्गावच्छिन्न प्रकारता से भिन्न घटनिष्ठ विशेष्यता शालिशाब्दबोध सामग्री है। इसलिए घटपदोत्तर विभक्ति से एकत्व संख्या का बोधन होता है।

इसी प्रकार '**राज्ञः पुरुषः**' यहाँ पर देखें । इस स्थल में विशेषणवाचक राजपदोत्तर विभक्ति से वं पुरुष पदोत्तर विभक्ति से (दोनों से ही) संख्या का बोधन होता है। पुरुष पदोत्तर विभक्ति से पूर्व वाक्य की तरह ही संख्या बोध होता है। राजपदोत्तर विभक्ति से संख्या बोधन कैसे होता है? यह दिखलाया जा रहा है । तदर्थकपद राजपदोत्तर विभक्ति से संख्या बोधन में अपेक्षित है अभेद संसर्गावच्छिन्न प्रकारता से भिन्न राजनिष्ठविषयताशालिशाब्द बोध सामग्री । यहाँ पर '**एकराजनिरूपितस्वत्ववान् एकत्ववान् पुरुषः**' ऐसा शाब्द बोध होता है। इस शाब्दबोध में विशेष्य है पुरुष, स्वत्वसम्बन्ध से प्रकार है राजा । अर्थात् शाब्दबोध सामग्री है स्वत्वसम्बन्धावच्छिन्न राजनिष्ठप्रकारताशालि व पुरुषनिष्ठविशेष्यता शालि शाब्द बोध की । अभिप्राय यह हुआ कि अभेसंसर्ग से राज को प्रकार बनाने वाली शाब्दबोध सामग्री नहीं अपितु स्वत्व सम्बन्ध से प्रकार बनाने वाली (विषय बनाने वाली) शाब्दबोध सामग्री है अतः राजपदोत्तर षष्ठी विभक्ति से एकत्व संख्या का बोधन उक्त वाक्य के द्वारा होता है।

'**नीलौ घटौ**' इत्यादि स्थलों में तो विशेष्यवाचक घटादि पदोत्तर विभक्ति के द्वारा ही

द्वित्वादि का प्रत्यायन होता है नीलादि पदोत्तर विभक्तियों के द्वारा नहीं वे पदसाधुत्वमात्र के लिए होती हैं। इस प्रकार संख्याबोधन में अभेदसंसर्गावच्छिन्न प्रकारताभिन्नविषयता शालि शाब्दबोधसामग्री की अपेक्षा स्वीकार करने पर क्रिया विशेषण स्तोकादि के क्रिया में अभेदसम्बन्ध से ही प्रकार होने से उनमें आनेवाली प्रकारता के अभेदसंसर्गावच्छिन्न होने के कारण स्तोकादिपदोत्तर विभक्ति के अर्थ संख्या का शाब्दबोध में भान नहीं होता है । अतः अबाधित भी द्वित्व बहुत्व का प्रत्यायन सम्भव न होने से स्तोकादि पदों के बाद भावाख्यात स्थल की तरह औत्सर्गिक एकवचन ही करना चाहिए, यह ध्यान में रखना चाहिए ।

**अभेदान्वयबोधश्च विरूपोपस्थितयोरेवेति व्युत्पत्तिः–'घटो घटः' 'दण्डवान् दण्डवान्' 'पाकं पचति' इत्यादौ घटत्वदण्डवत्त्वपाकाद्यवच्छिन्ने तत्तद्रूपावच्छिन्नस्य तथाविधान्वयबोधानुदयात् ।**

अभेद सम्बन्ध से अन्वय के प्रति समानविभक्तिकत्व प्रयोजक होता है परन्तु **'घटो घटः'** इत्यादि स्थलों में समानविभक्तिकत्व के विद्यमान रहने पर भी अभेदान्वयबोध नहीं हुआ करता है और **'नीलो घटः'** इत्यादि स्थलों में अभेदान्वयबोध होता है। इसलिए अभेदान्वयबोध के विषय में एक अन्य नियम भी बता रहे हैं कि—विरूपोपस्थितों का ही—विरुद्ध धर्मों से उपस्थित पदार्थों का ही—अभेदान्वयबोध हुआ करता है ऐसी व्युत्पत्ति है। **'घटो घटः' 'दण्डवान् दण्डवान्' 'पाकं पचति'** इत्यादि स्थलों में घटत्व, दण्डवत्त्व, पाकत्व से विशिष्ट में घटत्व, दण्डवत्त्व, पाकत्व से अवच्छिन्न का अभेदान्वयबोध न होने के कारण अर्थात् **'घटो घटः'** से घटविशेष्यक घटप्रकारक अभेदान्वयबोध **'दण्डवान् दण्डवान्'** से दण्डवद् विशेष्यक दण्डवत्प्रकारक अभेदान्वयबोध, **'पाकं पचति'** से पाकत्वावच्छिन्नप्रकारक पाकत्वावच्छिन्नविशेष्यक अभेदान्वयबोध नहीं होता है। सारांशतः तीनों ही स्थलों में क्रमशः घट में घट का अभेद, दण्डवान् में दण्डवान् का अभेद, पाक में पाक का अभेद शाब्दबोध का विषय नहीं होता है। इन तीनों ही स्थलों में जिन दो पदार्थों का अभेद भासित हो सकता है समानविभक्तिकपदोपस्थाप्य होने के कारण, उन दो पदार्थों की उपस्थिति विरुद्धधर्मों से नहीं हुई है अपितु समान धर्मों से ही हुई है। **'नीलो घटः'** इत्यादि स्थलों में नीलपदार्थ नीलत्वेन (नीलत्व धर्म को आगे कर) उपस्थित होता है और घटपदार्थ घटत्वेन उपस्थित होता है। अतः नीलत्व घटत्व इन दो विरुद्ध धर्मों से नील और घट पदार्थ के उपस्थित होने के कारण अभेदान्वयबोध होता है।

**विमर्शः–** यहाँ पर एक आशंका उठाई जाती है कि एक व्यक्ति का ही अभेदान्वयबोध होता है अर्थात् विशेषण और विशेष्य दोनों के एक होने पर ही अभेदान्वयबोध सम्भव है। क्योंकि यदि विशेष्य और विशेषण दोनों में भेद हुआ तो अभेदान्वयबोध की योग्यता ही नहीं रह जायेगी । ऐसा परिस्थिति में ग्रन्थकार **'विरूपोपस्थितयोरेव'** इस प्रकार से द्विवचन का प्रयोग कैसे कर रहे हैं ? विशेष्य और विशेषणीभूत पदार्थों ऐक्य होने के कारण एकवचन प्रयोग ही होना चाहिए । इसका समाधान देते हैं कि यहाँ पर बहुव्रीहि समास किया गया है– **'विरूपाभ्यां विभिन्नरूपाभ्यामुपस्थितो याभ्यां तौ विरूपोपस्थितौ तयोः विरूपोपस्थितयोः'** अर्थात् विरूप से विभिन्न रूपों से उपस्थित है एक ही पदार्थ जिन दो पदों से उन दो पदों को विरूपोपस्थित कहा जाता है। उन्हीं दो पदों से जन्य अभेदान्वयबोध होता है। यहाँ पर मूल वाक्य में **पदयोः** का अध्याहार करके **विरूपोपस्थितयोः**

के साथ उसका अन्वय किया गया है। षष्ठी का अर्थ है जन्यत्व तथा उस जन्यत्व का बोध में अन्वय होता है। इस प्रकार अर्थ होता है कि भिन्न रूपों से एक ही अर्थ के उपस्थापक पदों से जन्य होता है अभेदान्वयबोध । इस प्रकार द्वित्व का पद में अन्वय होने से अनुपपत्ति नहीं रह जाती है ।

अब इस स्थिति में भी एक गलत बोध भी साधु होने लगेगा जैसे कि **'नीलो घटः'** **'घटो घटः'** इन दो वाक्यों से जायमान घटत्व से अवच्छिन्नप्रकारता विशेष्यता निरूपित अभेदनिष्ठ संसर्गता का निरूपक समूहालम्बनात्मक बोध (घट को ही प्रकार और विशेष्य बनाने वाला) भी साधु होने लगेगा क्योंकि विभिन्नरूपों से उपस्थित होता है पदार्थ जिन पदों से उन पदों से जन्य होता है अभेदान्वयबोध, ऐसा आप बतला रहे हैं । यहाँ पर प्रथम वाक्य से नील प्रकारक अभेद संसर्गक घट विशेष्यक शाब्दबोध हो रहा है अर्थात् घट की उपस्थिति नीलाभिन्न घटत्वेन हो रही है। द्वितीय वाक्य से घटत्वेन हो रही है इस प्रकार भिन्नरूपों से एक ही अर्थ उपस्थित हो रहा है। अतः यहाँ पर वाक्यद्वय से जन्य समूहालनम्बनात्मक इस प्रकार का बोध साधु होने लगेगा ।

इस पर समाधान देते हैं कि यहाँ पर भाव में प्रत्यय किया गया है। इस प्रकार **'अभेदान्वयबोधश्च विरूपोपस्थियोरेवेति'** अर्थ है **'विरूपे विभिन्नप्रकारिके ये उपस्थिते उपस्थिती, तत्प्रयोज्या या प्रकारताविशेष्यतारूपा विषयता तन्निरूपक एव योऽभेदस्तद्विषयकबोधः'** अर्थात् विरूपे का अर्थ है विभित्र प्रकारिके जो उपस्थित उपस्थितियाँ । अभिप्राय है कि विभित्र प्रकारिके जो उपस्थित उपस्थितियाँ उन उपस्थितियों से प्रयोज्य जो प्रकारता और विशेष्यतारूपा विषयताएँ उनका निरूपक जो अभेद तद्विषयक शाब्द बोध होता है। जैसे **'नीलो घटः'** इस वाक्य से शाब्द बोध होने से पूर्व नीलपद से नीलरूप अर्थ का, घटपद से घटरूप अर्थ की उपस्थिति होती है, तदनन्तर शाब्दबोध होता है । इस वाक्य से जायमान शाब्दबोध की प्रकारता रहती है नील में व विशेष्यता रहती है घट में तथा इन दोनों (प्रकारता और विशेष्यता) का निरूपक होता है नील और घट का अभेदसंसर्ग । नील में आनेवाली शाब्दबोधप्रकारता नीलपद से होने वाली नील पदार्थ उपस्थिति की नीलनिष्ठ विषयता से प्रयोज्य होती है तथा घटपद से होने वाली घट पदार्थोपस्थिति की घटनिष्ठविषयता से प्रयोज्य होती है घट में आने वाली शाब्दबोध की विशेष्यता । इस स्थल पर नील की उपस्थिति नीलत्वेन नीलत्व को प्रकार बनाकर व घट की घटत्वेन घटत्व को प्रकार बनाकर होती है । इस प्रकार विभिन्नप्रकारिका उपस्थितियाँ नील व घट की उपस्थितियाँ हुई, इन उपस्थितियों से प्रयोज्य जो प्रकारतारूपा नीलनिष्ठ विषयता तथा विशेष्यतारूपा घटनिष्ठविषयता इन दोनों का निरूपक अभेद होता है। **'घटो घटः'** उपस्थितियाँ विभिन्न प्रकारिका नहीं होती है क्योंकि विशेष्यवाचक व विशेषणवाचक पदों से घटत्व को ही प्रकार बनाने वाली उपस्थिति होती है। इसी प्रकार पूर्वोक्त वाक्यद्वय स्थल में उपस्थितियाँ घटत्व प्रकारिका ही होती है, अतः वहाँ पर भी घट विशेष्यक घटप्रकारक अभेदसंसर्गक शाब्दबोध नहीं होता है। इसी बात को परिष्कार का रूप देते हुए जया टीकाकार कहते हैं कि —**उपस्थिति विषयता से विशिष्टा अभेदनिष्ठ शाब्दबोधीय-संसर्गता होती है, शाब्दबोधीय अभेदनिष्ठसंसर्गता को उपस्थितीय विषयता से विशिष्ट होना चाहिए ( 1 ) स्वावच्छेदकधर्मेतरधर्मावच्छिन्नविषयता प्रयोज्यविशेष्यता-**

**निरूपितत्व ( 2 ) स्वप्रयोज्यप्रकारतानिरूपितत्व इन दो सम्बन्धों से ।** देखें – **'नीलो घटः'** इस वाक्य स्थल में उपस्थिति विषयता से विशिष्ट ही शाब्दीय अभेदनिष्ठ संसर्गताख्या विषयता होती है। उपस्थिति विषयता करके नीलपद से होने वाली नीलोपस्थिति विषयता को लीजिए । स्व माने वही नीलनिष्ठ नीलोपस्थिति विषयता उक्त विषयता का अवच्छेदक धर्म हुआ नीलत्व, उससे इतरधर्म घटत्व से अवच्छिन्नविषयता घटपद से जायमान घटोपस्थिति की घटनिष्ठविषयता, इस विषयता से प्रयोज्य विशेष्यता है शाब्दबोध की घटनिष्ठविशेष्यता तथा इस विशेष्यता से निरूपितत्व अभेदसंसर्ग निष्ठ संसर्गता में है। दूसरे सम्बन्ध से भी इसी प्रकार उपस्थिति विषयता का वैशिष्ट्य शाब्दबोधीय अभेदसंसर्ग की संसर्गता में है— स्व माने उपस्थिति विषयता नीलनिष्ठा उस से प्रयोज्य है शाब्दबोध की नीलनिष्ठाप्रकारता, उक्त प्रकारता निरूपितत्व भी अभेदसंसर्ग निष्ठ संसर्गता में है । **'घटो घटः'** में उपस्थिति विषयता से विशिष्ट शाब्दबोधीयसंसर्गनिष्ठसंसर्गता नहीं होती है। उपस्थितिविषयता घटनिष्ठा विषयता स्वपद से लें, उसके अवच्छेदक धर्म से इतर धर्म से अवच्छिन्न विषयता से प्रयोज्य विशेष्यता निरूपितत्व अभेदसंसर्गनिष्ठशाब्दीयसंसर्गताख्य विषयता में नहीं आ सकता हैं क्योंकि उक्त वाक्य से शाब्दबोध अगर होगा तो विशेष्य भी घट ही होगा और विशेष्यता घटत्वेतर धर्म से अवच्छिन्न उपस्थितीय विषयता से प्रयोज्य नहीं होगी । अतः यहाँ पर अभेदसंसर्गक शाब्दबोध नहीं होता है। इसी प्रकार पूर्वोक्त वाक्यद्वय से समूहालम्बनात्मक अभेदसंसर्गक घट प्रकारक घट विशेष्य शाब्द बोध नहीं होता है।

**अथ तत्प्रयोजकसमानविभक्तिकत्वादेः सत्त्वात् कथं न तादृशान्वय बोधः अत्राहुः –यादृशं फलं क्वचित् प्रसिद्ध्यति तादृशस्यैवापत्तिः सम्भवति क्लृप्तसामग्रीबलात् । यादृशं च सर्वथैवाप्रसिद्धं तादृशस्य चापादका प्रसिद्धेरापत्तिरशक्यैवेति घटत्वाद्यवच्छिन्नविशेष्यताकाभेदसंसर्गघटत्वा-द्यवच्छिन्नप्रकारताकशाब्दबोधस्य क्वचिदप्यनुदयात् कथं तदापत्तिः?**

अब आशंका होती है कि—अभेदान्वय बोध के जो प्रयोजक होते हैं समानविभक्तिकत्व आदि उन सबके होने के कारण क्यों अभेदान्वय बोध नहीं होता है ? अभिप्राय यह है कि अभेदान्वयबोध बोध के प्रति समानविभक्तिकत्व आदि जिन-जिनकी कारणता (प्रयोजकता) बतलायी गयी है वे सब यहाँ पर मौजूद है **'घटो घटः'** में । पूर्वग्रन्थ के द्वारा बतलाया गया कि विरूपोपस्थितों का ही अभेदान्वयबोध होता है किन्तु विरूपेण उपस्थित की अभेदान्वयबोध के प्रति कारणता तो स्वीकार नहीं की गयी है। यह एक नियम अवश्य बतला दिया गया है। किन्तु नियम के द्वारा किसी चीज का वारण नहीं हो सकता है। बल्कि नियम तो लक्षणों को देखकर बनाया जाता है। इसलिए यहाँ पर यह बतलाना पड़ेगा कि उक्त स्थल में अभेदान्वय बोध क्यों नहीं होता है?

इस पर समाधान देते हैं कि—जैसा फल कहीं पर प्रसिद्ध होता है वैसे ही फल की आपत्ति स्वीकृत सामग्री के बल से सम्भव होती है। जैसा फल सर्वथा अप्रसिद्ध है वैसे फल का कोई आपादक ही प्रसिद्ध नहीं होगा तथा आपादक ही न होने के कारण वैसे फल की आपत्ति शक्य ही नहीं है। इसलिए घटत्वावच्छिन्नविशेष्यताकाभेदसंसर्गकघटत्वावच्छिन्न

प्रकारक शाब्दबोध कहीं पर भी उत्पन्न न होने के कारण कैसे उस की आपत्ति की जा सकती है। अभिप्राय है कि घटविशेष्यक घटप्रकारक अभेदसंसर्गक बोध के सर्वथा अप्रसिद्ध होने के कारण उसकी आपत्ति नहीं दी जा सकती है।

यहाँ पर अंतिम पंक्ति का सामान्यीकरण करते हुए अर्थ यह करना चाहिए कि तद्धर्मावच्छिन्नप्रकारक अभेदसंसर्गक तद्धर्मावच्छिन्नविशेष्यकशाब्दबोध के कहीं भी प्रसिद्ध न होने के कारण घटत्वावच्छिन्नप्रकारकाभेदसंसर्गक घटत्वावच्छिन्न विशेष्यक शाब्दबोध की आपत्ति नहीं दी जा सकती है। क्योंकि वैसे शाब्दबोध के प्रति कारण ही प्रसिद्ध नहीं हो सकेगा ।

**अथ 'घटो नीलघटः' 'दण्डवान् रक्तदण्डवान् ' इत्यादौ तादृशशाब्द-बोधस्य प्रसिद्धिः-विधेयकोटावधिकावगाहिनः शाब्दबोधस्य नवीनैः स्वी-कारादिति चेत् ? तर्हि घटाद्यंशे विशेषणतावच्छेदकविधया नीलादिभान-नियामकनीलाद्युपस्थितितात्पर्यज्ञानविशेषादिघटितैव सामग्री घटत्वावच्छिन्न-विशेष्यकनीलघटत्वाद्यवच्छिन्नाभेदान्वयबोधप्रयोजिका तदभावादेव 'घटो घटः' इत्यादिषु न तादृशशाब्दबोधापत्तिरिति केचित्।**

पूर्व ग्रन्थ के द्वारा जो कहा गया है कि जैसा बोध प्रसिद्ध होता है कहीं पर वैसे बोध की ही आपत्ति दी जा सकती है घटविशेष्यकाभेदसंसर्गकघटप्रकारक शाब्दबोध कहीं पर भी प्रसिद्ध नहीं है। उस पर आशंका उपस्थापित कर रहे हैं कि—**'घटो नीलघटः' 'दण्डवान् रक्तदण्डवान् '** इत्यादि स्थलों में घटविशेष्यक अभेदसंसर्गक घटप्रकारक तथा दण्डवत्त्वावच्छिन्न-प्रकारक अभेदसंसर्गक दण्डवत्त्वावच्छिन्नविशेष्यक शाब्दबोध होता है। इसलिए जो यह आपने कहा कि तद्धर्मावच्छिन्नविशेष्यकतद्धर्मावच्छिन्नप्रकारक अभेदसंसर्गक शाब्दबोध अप्रसिद्ध है वह आपका कहना अनुचित है। इन दोनों स्थलों में वैसा ही शाब्दबोध हो रहा है **'घटो नीलघटः'** में घटत्व से अवच्छिन्न घट ही विशेष्य है व घटत्व से अवच्छिन्न घट ही प्रकार है तथा दोनों में अभेदसंसर्ग भास रहा है शाब्दबोध में । **'दण्डवान् रक्तदण्डवान् '** में दण्डवत्त्वरूप धर्म से अवच्छिन्न दण्डवान् ही प्रकार व विशेष्य दोनों है तथा उनका अभेदसंसर्ग से अन्वयबोध हो रहा है। (यद्यपि **'घटो नीलघटः'** में घटत्व से विशिष्ट घट विशेष्य और नीलघटत्व से अवच्छिन्न नीलघट प्रकार है। तथा **'दण्डवान् रक्तदण्डवान् '** में दण्डवत्त्व से अवच्छिन्न दण्डवान् विशेष्य व रक्तदण्डवत्त्व से अवच्छिन्न रक्तदण्डवान् प्रकार है। परन्तु **'अधिकं प्रविष्टं न तद्धानिकरं भवति'** अधिक प्रविष्ट हो तो हानिकर नहीं होता जैसे किसी के पास सौ रुपये हैं तो उससे पचास रुपये होने में कोई दिक्कत नहीं होती बल्कि पचास तो उसके पास होते ही हैं। उसी प्रकार घट विशेष्य व नीलघट प्रकार होने पर घट के विशेष्य और प्रकार होने में कोई परेशानी नहीं है तथा दण्डवान् के विशेष्य तथा रक्तदण्डवान् के प्रकार होने में भी कोई परेशानी नहीं है दण्डवान् के प्रकार विशेष्य दोनों होने में । उक्त दोनों स्थलों में क्रमशः नीलघटत्व व रक्तदण्डवान् के प्रकार होने पर भी और दण्डवान् की प्रकारता बाधित नहीं होती है) विधेयकोटि में अधिक का अवगाहन करनेवाला शाब्दबोध नवीनों के द्वारा स्वीकृत होने के कारण इन स्थलों में तद्धर्मावच्छिन्न विशेष्यक तद्धर्मावच्छिन्न प्रकारक अभेदसंसर्गक शाब्दबोध प्रसिद्ध हो जायेगा ।

नवीनों का आशय है कि—विधेयघटकतया यदि सम्पूर्ण उद्देश्य तथा उससे इतर का भी अवगाहन हो रहा हो तो वहाँ शाब्दबोध का स्वीकार करना चाहिए । विधेयत्व का अभिप्राय है अपूर्वबोध्यत्व । अर्थात् विधेय के द्वारा ऐसी बतलायी जानी चाहिए जो कि पूर्व में बतलायी न गयी हो ! जब वाक्य प्रयोग किया जाता है तो उद्देश्य का प्रथम प्रयोग होना चाहिए तथा विधेय का उसके बाद । उद्देश्य प्रथमावगत होता है अतः जहाँ पर उद्देश्य और विधेय एक ही होते हैं वहाँ पर विधेय का उद्देश्य के द्वारा ही अवगम हो जाता है और इस परिस्थिति में विधेय के द्वारा अपूर्वबोधन सम्भव नहीं हो पाता है। इस कारण उद्देश्य और विधेय के तथा उद्देश्यतावच्छेदक और विधेय के एक होने पर शाब्दबोध सम्भव नहीं हो तो ऐसा प्राचीनों का पक्ष है। जैसे कि—'**घटो घटः**' यहाँ पर घट ही विशेष्य है अर्थात् उद्देश्य है तथा अभेद सम्बन्ध से घट ही विधेय भी है। इस प्रकार उद्देश्य और विधेय के एक होने के कारण इस स्थल पर शाब्दबोध नहीं होता है।

नवीनों का कहना है कि घटत्वेन जो वस्तु जान ली गयी उसके विषय में '**नीलघट है या नहीं**' ऐसा सन्देह सर्वानुभवसिद्ध है और इस सन्देह का निवारण '**घटो घटः**' से नहीं होता है अपितु '**घटो नीलघटः**' से होता है इसलिए निश्चित रूप से '**घटो घटः**' की अपेक्षा '**घटो नीलघटः**' में अपूर्वबोधकत्व विद्यमान है। यदि '**घटो घटः**' की अपेक्षा '**घटो नीलघटः**' में अपूर्वबोधकत्व न हो तो इससे उक्त सन्देह का निवारण नहीं होना चाहिए । और इस वाक्य से सन्देह निवारण तभी होगा जब इससे शाब्दबोध हो। इस कारण दूसरी कोई गति नहीं होने से यही स्वीकार करना होगा कि उद्देश्य यदि अपूर्व विशिष्ट हो कर विधेय हो रहा हो तो ऐसा बोध स्वीकार करना चाहिए । '**घटो नीलघटः**' में नीलत्वरूप अपूर्व धर्म व्रिशिष्ट होकर घटरूप उद्देश्य विधेय हो रहा है, इसलिए इस वाक्य से अभेदान्वयबोध स्वीकार करना चाहिए ।

इस प्रकार घटत्वावच्छिन्नविशेष्यक अभेदसंसर्गक घटत्वावच्छिन्नप्रकारक शाब्दबोध '**घटो नीलघटः**' में प्रसिद्ध है तथा उसका घटत्वादि उपस्थिति रूप कारण भी प्रसिद्ध है तथा वे कारण '**घटो घटः**' में भी मौजूद है अतः इस वाक्य से भी घटत्वावच्छिन्न विशेष्यक अभेदसंसर्गक घटत्वावच्छिन्न प्रकारक शाब्दबोध होना चाहिए ।

आपत्ति का साम्प्रदायिक समाधान देते हैं कि—तो घटादि अंश में विशेषणतावच्छेदकविधया नीलादि के भान की नियामिका जो नीलादि की उपस्थिति और तात्पर्यज्ञान विशेष है उस से घटित ही सामग्री घटत्वावच्छिन्न विशेष्यक नीलघटत्वावच्छिन्न प्रकारक अभेदान्वय बोध की प्रयोजिका होती है तथा नीलादि उपस्थिति व नीलादि भाननियामक तात्पर्यज्ञान विशेष घटित सामग्री रूप प्रयोजक के '**घटो घटः**' इत्यादि स्थलों में न होने के कारण घटत्वावच्छिन्नविशेष्यक अभेदसंसर्गक घटत्वावच्छिन्नप्रकारक शाब्दबोध की आपत्ति नहीं है ऐसा कुछ लोग कहते हैं।

इस समाधान का यह आशय है —जो शाब्दबोध व्यक्ति अन्यत्र प्रसिद्ध है उसी शाब्दबोध व्यक्ति की आपत्ति दूसरी जगह पर नहीं दी जा सकती है। वही व्यक्ति दूसरी जगह उपपन्न नहीं हो सकता है। क्योंकि शाब्दबोध का अर्थ है शब्द से जायमान बोध अर्थात् ज्ञान। ज्ञान को नैयायिक क्षणिक स्वीकार करते हैं प्रथमक्षण में उत्पन्न होता है, द्वितीयक्षण में विद्यमान रहता है और तृतीयक्षण में नष्ट हो जाता है। इस स्थिति में जो शाब्दबोध व्यक्ति पूर्व में किसी स्थल में उत्पन्न हुआ था (प्रसिद्ध हुआ था) वही दूसरे स्थल में कैसे उपपन्न

होगा ? अपितु प्रसिद्ध जो धर्म है तदवच्छिन्नकार्यतानिरूपित कारणताश्रय के रहने से तद्धर्मावच्छिन्न कार्य की आपत्ति होती है । '**घटो नीलघटः**' यहाँ पर घटत्वावच्छिन्न विशेष्यक घटत्वावच्छिन्नप्रकारक अभेदसंसर्गक शाब्दबोध प्रसिद्ध हुआ था । इसके प्रति घटत्वादि की उपस्थिति के साथ-साथ नीलादि भान की नियामिका नीलादि की उपस्थिति व नीलादिभाननियामक तात्पर्यज्ञानविशेष भी कारण है क्योंकि शुद्धघटत्वावच्छिन्न प्रकारक अभेदसंसर्गक घटत्वावच्छिन्नविशेष्यक शाब्दबोध का तो अभाव ही है अपितु नीलघटत्वावच्छिन्न प्रकारक घटत्वावच्छिन्नविशेष्यक अभेदसंसर्गक शाब्दबोध ही प्रसिद्ध होता है। इस प्रकार के शाब्दबोध के प्रति नीलादि की उपस्थिति तथा नीलादिभान नियामक तात्पर्य ज्ञान भी कारण होगा या यूँ कहिए कि घटत्वावच्छिन्नप्रकारक अभेदसंसर्गक घटत्वावच्छिन्न विशेष्यक शाब्दबोध तब तक नहीं होता जब तक विशेष्यतावच्छेदक विधया नीलादि का भान न हो रहा हो । इसलिए ऐसे शाब्दबोध के प्रति विशेषणतावच्छेदक विधया नीलादिभान नियामिका नीलादि उपस्थिति तथा तात्पर्यज्ञान भी कारण होगा । '**घटो घटः**' में इसका (नीलादि उपस्थिति तथा तात्पर्यज्ञान का) अभाव है। कारणकूट ही कार्योत्पादक होता है घटोपस्थिति आदि कारणों के रहने पर भी कारण कूटान्तर्गत नीलादिउपस्थिति, तात्पर्यज्ञान के न रहने के कारण '**घटो घटः**' से घटत्वावच्छिन्न विशेष्यक घटत्वावच्छिन्न प्रकारक अभेदसंसर्गक शाब्दबोध नहीं हो सकता है।

**–तन्न, द्रव्यत्वादौ धर्मितावच्छेदकतासंसर्गेण प्रसिद्धस्य शुद्धघटत्वावच्छिन्नप्रकारकाभेदान्वयबोधस्य घटत्वादावापत्तिसम्भवात् ।**

उक्त साम्प्रदायिक समाधान का खण्डन करते हैं कि— यह समाधान ठीक नहीं है। (यहाँ पर आपन्न आपत्ति का वारण कर लेने पर भी) द्रव्यात्वादि में धर्मितावच्छेदकता संसर्ग से प्रसिद्ध शुद्धघटत्वावच्छिन्न प्रकारक अभेदान्वयबोध की घटत्वादि में आपत्ति फिर भी सम्भव होने के कारण ।

अभिप्राय यह है —शाब्दबोध और उसके कारणों का कार्यकारणभाव दो प्रकार से होता है (1) आत्मनिष्ठप्रत्यासत्ति से (2) विषयनिष्ठप्रत्यासत्ति से। प्रत्यासत्ति का आशय है एक ही स्थल में कार्य और कारण दोनों के रहने से। आत्मनिष्ठ प्रत्यासत्ति से कार्यकारणभाव बनाने पर कार्य और कारण आत्मा में प्रत्यासन्न होते हैं। विषयनिष्ठप्रत्यासत्ति से कार्यकारण भाव मानने पर विषय में कार्य और कारण प्रत्यासन्न होते हैं। आत्मनिष्ठ प्रत्यासत्ति से जब कार्य कारणभाव स्वीकारते हैं तो शाब्दबोधरूप कार्य तथा शाब्दबोधकारणीभूत उपस्थिति, योग्यताज्ञान, तात्पर्यज्ञान समवाय सम्बन्ध से आत्मा में रहते हैं। इस प्रकार समवाय सम्बन्ध से शाब्दबोध के प्रति समवाय सम्बन्ध से उपस्थिति आदि कारण हैं। जैसे समवाय सम्बन्ध से ज्ञान आत्मा में रहता है उसी प्रकार विषयता सम्बन्ध से ज्ञान विषय में भी रहता है। अतः विषयनिष्ठ प्रत्यासत्ति से भी कार्यकारणभाव होता है। यह विषयता विविध रूपा होती है। जैसे कि–एक ही शाब्दबोध में '**नीलो घटः**' से होने वाले शाब्दबोध में नील भी विषय होता है, नीलत्व भी, घट भी, घटत्व भी, नील घट का अभेद सम्बन्ध भी, घट घटत्व का समवाय सम्बन्ध भी विषय होता है। यहाँ पर शाब्दबोध की विषयता इन सब में है परन्तु इन सब में रहने वाली विषयताएँ भिन्न-भिन्न हैं। यथा–नील में प्रकारता रूपा विषयता है क्योंकि नील विशेषण बन रहा है। नीलत्व में प्रकारतावच्छेदकतारूपा विषयता है क्योंकि नीलत्व नीलनिष्ठप्रकारता का अवच्छेदक है। घट में विशेष्यता या धर्मिता रूपा विषयता है

क्योंकि घट विशेष्य या धर्मी है। घटत्व में धर्मितावच्छेदकता या विशेष्यतावच्छेदकतारूपा विषयता है क्योंकि घटत्व घटनिष्ठविशेष्यता या धर्मिता का अवच्छेदक है। अभेद सम्बन्ध में संसर्गताख्या विषयता है। घट घटत्व समवाय में प्रकारतावच्छेदकतावच्छेदकतारूपाविषयता है क्योंकि घटघटत्वसमवाय घटत्वनिष्ठप्रकारतावच्छेदकता का अवच्छेदक है। शाब्दबोध क्रमशः इन-इन विषयताओं से इन सभी विषयों में रहेगा । अर्थात् प्रकारताख्याविषयता सम्बन्ध से शाब्दबोध प्रकारभूत नील रूप अर्थ में उत्पन्न होगा। प्रकारतावच्छेदकता सम्बन्ध से नीलत्व में, विशेष्यता या धर्मिता सम्बन्ध से घट में, धर्मितावच्छेदकता सम्बन्ध से घटत्व में, संसर्गता सम्बन्ध से अभेदसंसर्ग में, प्रकारतावच्छेदकतावच्छेदकतासम्बन्ध से घटघटत्व समवाय में शाब्दबोध उत्पन्न होगा ।

यहाँ पर आत्मनिष्ठ प्रत्यासत्ति से जब शाब्दबोध का कार्यकारणभाव बतलाया जाता है तो विषयप्रवेश करना आवश्यक होता है। जैसे कि—'**नीलो घटः**' यहाँ पर '**समवाय सम्बन्ध से अभेदसंसर्गकनीलत्वावच्छिन्नप्रकारकघटत्वावच्छिन्नविशेष्यक शाब्दबोध के प्रति समवाय सम्बन्ध से अभेदसंसर्गक नीलत्वावच्छिन्नप्रकारक घटत्वावच्छिन्न-विशेष्यक उपस्थिति कारण है**' इस प्रकार से कार्यकारणभाव स्वीकारना पड़ता है।

जब विषयनिष्ठप्रत्यासत्ति से कार्यकारणभाव स्वीकार किया जाता है तो '**धर्मितावच्छेदकता संसर्ग से अभेदसम्बन्धाच्छिन्न नीलत्वावच्छिन्नप्रकारक शाब्दबोध के प्रति धर्मिता-वच्छेदकता संसर्ग से अभेदसम्बन्धावच्छिन्न नीलत्वावच्छिन्न प्रकारताक उपस्थिति कारण है**' इस प्रकार कार्यकारणभाव स्वीकारना पड़ता है।

'**द्रव्यं घटः**' इस वाक्य से अभेद संसर्गावच्छिन्न घटत्वावच्छिन्नप्रकारताक द्रव्यत्वावच्छिन्न विशेष्यताक 'अभेद सम्बन्ध से घट को प्रकार व द्रव्य को विशेष्यविधया विषय बनाने वाले' शाब्दबोध को समवाय सम्बन्ध से आत्मा में उत्पन्न होने के लिए अभेदसंसर्गावच्छिन्न घटत्वावच्छिन्न प्रकारताक द्रव्यत्वावच्छिन्नविशेष्यताक उपस्थिति को समवाय सम्बन्ध से आत्मा में रहना चाहिए । आत्मा में ऐसी उपस्थिति समवाय सम्बन्ध से है अतः अभेदसंसर्गावच्छिन्न घटत्वावच्छिन्नप्रकारताकद्रव्यत्वावच्छिन्नविशेष्यताक (अभेद सम्बन्ध से घट को विशेष्ण तथा द्रव्य को विशेष्यविधया विषय करने वाला) शाब्दबोध उत्पन्न होता है।

'**घटो घटः**' इस वाक्य से अभेदसंसर्गावच्छिन्नघटत्वावच्छिन्नप्रकारताकघटत्वावच्छिन्न विशेष्यताक (अभेद सम्बन्ध से घट को विशेषण व घट को ही विशेष्यविधया विषय बनाने वाले) शाब्दबोध के समवाय सम्बन्ध से आत्मा में उत्पन्न होने के लिए समवाय सम्बन्ध से अभेदसंसर्गावच्छिन्नघटत्वावच्छिन्नप्रकारताकघटत्वावच्छिन्नविशेष्यताक (अभेद संसर्ग से घट को ही प्रकार व विशेष्यविधया विषय बनाने वाली) उपस्थिति कारण हो सकती है। परन्तु पूर्व में ही यह कहा गया है कि जैसा फल कहीं पर प्रसिद्ध होता है उसी की आपत्ति दी जा सकती है। अभेदसंसर्गावच्छिन्नघटत्वावच्छिन्नप्रकारताकघटत्वावच्छिन्नविशेष्यताक शाब्दबोध रूप कार्य के अप्रसिद्ध होने के कारण उसका आपादक ही न होने से उक्त शाब्दबोध की आपत्ति आत्मनिष्ठ प्रत्यासत्ति से कार्यकारणभाव मानने के पक्ष में नहीं दी जा सकती है। '**द्रव्यं घटः**' इस स्थल में जैसा शाब्दबोध प्रसिद्ध है, आत्मनिष्ठ प्रत्यासत्ति से शाब्दबोध और उपस्थिति का कार्यकारणभाव स्वीकारने पर वैसे शाब्दबोध की आपत्ति '**घटो घटः**' इस स्थल में नहीं दी जा सकती है। इसलिए विषयनिष्ठप्रत्यासत्ति से जब कार्यकारणभाव

स्वीकारा जाता है उस पक्ष में दोष (**'घटो घटः'** वाक्य से शाब्दबोध की आपत्ति) दे रहे हैं।

विषयनिष्ठप्रत्यासत्ति से जब कार्यकारणभाव स्वीकार करते हैं तो जैसा शाब्दबोध **'द्रव्यं घटः'** में प्रसिद्ध है वैसे ही शाब्दबोध की आपत्ति **'घटो घटः'** से दी जा रही है अतः पूर्वोक्त रीति से यह कह कर खण्डन नहीं किया जा सकता है कि 'जैसा फल कहीं पर प्रसिद्ध होता है, उसी की आपत्ति दी जा सकती है । यहाँ पर तो ऐसा नहीं है ऐसा फल ही प्रसिद्ध नहीं है' क्योंकि अब तो **'घटो घटः'** के द्वारा वैसे ही शाब्दबोध की आपत्ति दे रहे हैं जैसा शाब्दबोध स्वीकृत सामग्री बल से **'द्रव्यं घटः'** में प्रसिद्ध हो चुका है। देखें— **'द्रव्यं घटः'** में द्रव्यत्वावच्छिन्नविशेष्यतानिरूपितघटत्वावच्छिन्नप्रकारताक शाब्दबोध होता है, उसके साथ उपस्थिति का कार्यकारणभाव होता है, —**'धर्मितावच्छेदकता सम्बन्ध से अभेदसंसर्गावच्छिन्नघटत्वावच्छिन्नप्रकारताशाब्दबोध के प्रति धर्मितावच्छेदकता सम्बन्ध से अभेदसंसर्गावच्छिन्नघटत्वावच्छिन्नप्रकारताक उपस्थिति कारण होती है'** द्रव्यत्व में धर्मितावच्छेदकता सम्बन्ध से अभेदसंसर्गावच्छिन्नघटत्वावच्छिन्नप्रकारताक (अभेद सम्बन्ध से घट को प्रकारविधया विषय बनाने वाले ) शाब्दबोध के उत्पन्न होने के लिए धर्मितावच्छेदकतासम्बन्ध से अभेदसंसर्गावच्छिन्नघटत्वावच्छिन्नप्रकारताक (अभेदसंसर्ग से घट को प्रकारविधया विषय बनाने वाली) उपस्थिति कारण हो रही है। द्रव्यत्व में धर्मितावच्छेदकता सम्बन्ध से उक्त उपस्थिति के रहने से धर्मितावच्छेदकता सम्बन्ध से अभेदसंसर्गावच्छिन्नघटत्वावच्छिन्नप्रकारताक शाब्दबोध द्रव्यत्व में हो रहा है। इस रीति से यहाँ पर कार्य प्रसिद्ध है धर्मितावच्छेदकतासम्बन्ध से अभेदसंसर्गावच्छिन्नघटत्वावच्छिन्नप्रकारताक शाब्दबोध और उक्त कार्य का आपादक है धर्मितावच्छेदकतासम्बन्ध से अभेदसंसर्गावच्छिन्न-घटत्वावच्छिन्नप्रकारताक उपस्थिति । **'घटो घटः'** यहाँ पर भी घटत्व में धर्मितावच्छेदकता सम्बन्ध से अभेदसंसर्गावच्छिन्नघटत्वावच्छिन्नप्रकारताक उपस्थिति रूप आपादक विद्यमान है। अतः धर्मितावच्छेदकता सम्बन्ध से घटत्व में अभेदसंसर्गावच्छिन्नघटत्वावच्छिन्नप्रकारताक शाब्दबोध को उत्पन्न होना चाहिए । इस स्थिति में द्रव्यत्व में प्रसिद्ध है जो शाब्दबोध, उसी शाब्दबोध की आपत्ति कारण के रहने से घटत्व में दी जा रही है। अतः उसका वारण पूर्वोक्त रीति से सम्भव नहीं है।

**न च तत्रापादकाभावः–तात्पर्यज्ञानविशेषादिघटिताया धर्मितावच्छेदकतया द्रव्यत्वादौ तदुत्पादनियामकसामग्र्या एवापादकत्वात्।**

यदि कहें **'घटो घटः'** यहाँ पर वैसे शाब्दबोध (अभेद सम्बन्ध से घट को प्रकारविधया विषय करने वाले शाब्दबोध) के प्रति कारणीभूत सामग्री का अभाव है, तो ऐसा नहीं कह सकते हैं, तात्पर्यज्ञान विशेष आदि से घटित द्रव्यत्वादि में धर्मितावच्छेदकता सम्बन्ध से तादृशशाब्दबोध के उत्पाद की नियामक सामग्री के ही घटत्व में भी तादृश शाब्दबोध का आपादक होने के कारण ।

अभिप्राय यह है कि **'द्रव्यं घटः'** यहाँ पर अभेदान्वयविषयक तात्पर्यज्ञानादि घटित सामग्री मौजूद है, अतः तत्कार्यभूत घटत्वावच्छिन्न प्रकारक अभेदान्वय बोध होता है। **'घटो घटः'** यहाँ पर वस्तुतः अभेद होने पर भी अभेदबोधानुकूल सामग्री का अभाव होने से

अभेदान्वय बोध कैसे होगा? यही बात **'तत्रापादकाभावः'** के द्वारा उठायी जा रही है। **न च** का आगे अन्वय होकर सम्पूर्ण वाक्य से इस प्रश्न का समाधान किया जा रहा है कि —धर्मितावच्छेदकता सम्बन्ध से द्रव्यत्व में घटत्वावच्छिन्नप्रकारक अभेदान्वयबोध उत्पत्ति की नियामक तात्पर्यज्ञानविशेषादि से घटित सामग्री के ही घटत्व में भी घटत्वावच्छिन्नप्रकारक अभेदान्वयबोधपादक होने के कारण। अभिप्राय है जैसे कारण कलाप से किसी स्थल में जैसे कार्य की उत्पत्ति होती है वैसे कारणकलाप से ही अन्यत्र भी वैसे कार्य की उत्पत्ति होती है। जिस तात्पर्यज्ञानादि से घटित सामग्री से **'द्रव्यं घटः'** यहाँ पर घटत्वावच्छिन्नप्रकारक अभेदान्वयबोध होता है **'घटो घटः'** में भी तादृश अभेदान्वय बोध होने के लिए वैसे ही तात्पर्यज्ञानादि से घटित सामग्री की आवश्यकता होगी । वह यहाँ विद्यमान है।

**न च धर्मितावच्छेदकतासम्बन्धेन द्रव्यत्वादौ तादृशान्वयबोधोत्पत्तिप्रयोजिका द्रव्यपदजन्यद्रव्यत्वाद्यवच्छिन्नविशेष्यकोपस्थितितदवच्छिन्नविशेष्यकयोग्यताज्ञानादिघटितसाम्ग्र्येव। धर्मितावच्छेदकतायास्तत्कार्यतावच्छेदकसम्बन्धताविरहेऽपि द्रव्यत्वादिनिष्ठायास्तस्यास्तत्कार्यतावच्छेदकधर्मघटकत्वात् । तादृशासामग्र्याश्चात्मनिष्ठप्रत्यासत्त्या द्रव्यत्वाद्यवच्छिन्नविशेष्यकघटत्वाद्यवच्छिन्नभेदबुद्धित्वरूप स्वीयकार्यतावच्छेदकावच्छिन्नोत्पत्तेरेव व्याप्यतया घटत्वादौ धर्मितावच्छेदकतासम्बन्धेन घटत्वाद्यवच्छिन्नाभेदबोधापादकत्वं न सम्भवतीति वाच्यम् , योग्यताज्ञानस्य धर्मितावच्छेदकं निवेश्य तद्भेदेनानन्तकारणता कल्पनमपेक्ष्य लाघवाद् धर्मितावच्छेदकतासम्बन्धेन शाब्दबुद्धौ तादृशसम्बन्धेन तस्य धर्मितावच्छेदकमनिवेश्य हेतुताकल्पनस्यैव युक्तत्वात् घटत्वादिधर्मितावच्छेदककघटत्वावच्छिन्नप्रकारकयोग्यताज्ञानबलादेव घटत्वादौ धर्मितावच्छेदकतासम्बन्धेन तदापत्तेः।**

**'घटो घटः'** में अभेद सम्बन्ध से घटत्वावच्छिन्न शाब्दबोध की आपत्ति का वारण करने का प्रयास करते हैं कि—धर्मितावच्छेदक सम्बन्ध से द्रव्यत्वादि में अभेदसम्बन्धावच्छिन्न घटत्वाद्यवच्छिन्नप्रकारताक शाब्दबोध (अभेद सम्बन्ध से घट को विशेषण बनाकर विषय करने वाले शाब्दबोध) के उत्पत्ति की प्रयोजिका द्रव्यपदजन्य द्रव्यत्वाद्यवच्छिन्नविशेष्यक उपस्थिति, द्रव्यत्वाद्यवच्छिन्नविशेष्यक योग्यताज्ञान आदि से घटित सामग्री ही है। अभिप्राय यह है कि द्रव्यपदजन्यद्रव्यत्वाद्यवच्छिन्नविशेष्यक उपस्थिति व द्रव्यत्वाद्यवच्छिन्नविशेष्यक योग्यताज्ञान आदि से घटित सामग्री जहाँ पर होगी वहाँ पर द्रव्यत्वाद्यवच्छिन्नविशेष्यकशाब्दबोध होगा । यदि ऐसा कार्यकरणभाव न स्वीकार किया जायेगा तो अन्यधर्मावच्छिन्न विशेष्यताक योग्यताज्ञान से उससे भिन्न दूसरे धर्म से अवच्छिन्न विशेष्यक शाब्दबोध होने लगेगा (घटत्वावच्छिन्नविशेष्यताक योग्यताज्ञान से पटत्वावच्छिन्नविशेष्यताक शाब्दबोध होने लगेगा) अतः इस प्रकार का ही कार्यकारणभाव स्वीकारना चाहिए । ऐसा परिस्थिति में **'घटो घटः'** इत्यादि स्थलों में घटत्व में धर्मितावच्छेदकतासम्बन्ध से घटत्वाद्यवच्छिन्न प्रकारताकाभेदसंसर्गक (अभेद सम्बन्ध से घट को विशेषण बनाने वाला) शाब्दबोध होने की आपत्ति

वारित हो जाती है क्योंकि यहाँ पर द्रव्यपदजन्यद्रव्यत्वाद्यवच्छिन्नविशेष्यताक उपस्थिति और द्रव्यत्वाद्यवच्छिन्नविशेष्यक योग्यताज्ञान नहीं है। यह मूल की प्रथम पंक्ति का आशय है।

यदि प्रश्न उठाया जाये कि—द्रव्यत्वाद्यवच्छिन्नविशेष्यताक योग्यताज्ञान से घटित सामग्री की शाब्दबोध के प्रति कारणता आत्मनिष्ठ प्रत्यासत्ति से ही हो सकती है। आत्मनिष्ठ प्रत्यासत्ति से कारणता (कार्यकारणभाव) बनाया जायेगा तो कार्यकारण भाव बनेगा—'**समवाय सम्बन्ध से द्रव्यत्वाद्यवच्छिन्नविशेष्यताक योग्यताज्ञान समवाय सम्बन्ध से उक्त शाब्दबोध के प्रति कारण है**' इस परिस्थिति में कार्यतावच्छेदक (कार्यता का नियामक) सम्बन्ध तथा कारणतावच्छेदक (कारणता का नियामक) सम्बन्ध समवाय होगा। '**घटो घटः**' इस स्थल में जो घटत्व में धर्मितावच्छेदकता सम्बन्ध से शाब्दबोध की आपत्ति वारित की जा रही है वह सम्भव नहीं है क्योंकि इस कार्यकारणभाव के कारण '**द्रव्यं घटः**' इस स्थल में भी द्रव्यत्व में धर्मितावच्छेदकता सम्बन्ध से उक्त शाब्दबोध सम्भव नहीं है। इस शाब्दबोध स्थल में कार्यतावच्छेदक सम्बन्ध समवाय न होकर धर्मितावच्छेदकता रूप सम्बन्ध कार्यतावच्छेदक है। कार्यकारणभाव में कार्यतावच्छेदक सम्बन्ध धर्मितावच्छेदकता नहीं है अतः कारणीभूत योग्यताज्ञान धर्मितावच्छेदकता सम्बन्ध से उक्त शाब्दबोध के प्रति कारण ही नहीं होगा । ऐसा परिस्थिति में '**द्रव्यं घटः**' इस स्थल में भी धर्मितावच्छेदकता सम्बन्ध से द्रव्यत्व में उक्त शाब्दबोध सम्भव न होगा। जबकि यहाँ पर आप धर्मितावच्छेदकता सम्बन्ध से द्रव्यत्व में उक्त शाब्दबोध (अभेद सम्बन्ध से घट के विशेषण बनाने वाला) स्वीकार करते हैं।

इस प्रश्न का समाधान ग्रन्थकार '**धर्मितावच्छेदकतायास्तत्कार्यता वच्छेदकताविरहेऽपि**' इस पंक्ति के द्वारा कर रहे हैं कि–यद्यपि धर्मितावच्छेदकतारूप सम्बन्ध कार्यतावच्छेदक नहीं है तथापि द्रव्यत्वादि में रहने वाली जो धर्मितावच्छेदकता है वह कार्यतावच्छेदक धर्मघटक है अतः उक्त प्रश्न समाहित हो जाता है। अभिप्राय यह है कि आपका यह कथन सत्य है कि धर्मितावच्छेदकता सम्बन्ध कार्यतावच्छेदक नहीं है परन्तु आत्मनिष्ठ प्रत्यसत्ति से उक्त शाब्दबोध के प्रति कारणीभूत सामग्री है द्रव्यत्वावच्छिन्न विशेष्यताक उपस्थिति, द्रव्यत्वावच्छिन्नविशेष्यताक घटत्वावच्छिन्नप्रकारताक योग्यताज्ञान से घटित सामग्री । इस सामग्री का कार्यभूत शाब्दबोध है द्रव्यत्वावच्छिन्नविशेष्यताक घटत्वावच्छिन्नप्रकारताक शाब्दबोध ( द्रव्यत्वावच्छिन्न को विशेष्य व घटत्वावच्छिन्न को प्रकारविधया विषय करने वाला शाब्दबोध)। इस शाब्दबोध का विशेषण है अर्थात् कार्यतावच्छेदक है द्रव्यत्वावच्छिन्नविशेष्यताकघटत्वावच्छिन्नप्रकारताकशाब्दबुद्धित्व । इस कार्यतावच्छेदक की घटक है द्रव्यत्ववृत्ति धर्मितावच्छेदकता । इस स्थिति में धर्मितावच्छेदकता सम्बन्ध से द्रव्यत्व में उत्पन्न होने वाले अभेद सम्बन्ध से घटत्वावच्छिन्नप्रकारताक शाब्दबोधवृत्ति तादृशशाब्दबुद्धित्व आत्मनिष्ठप्रत्यासत्ति से निर्धारित कार्यकारणभाव के अनुसार कार्यतावच्छेदकीभूत समवायसम्बन्ध से द्रव्यत्वावच्छिन्नविशेष्यताक घटत्वावच्छिन्न कार्य की उत्पत्ति में समनियतधर्मावच्छिन्न कार्योत्पादकसामग्री की अपेक्षा होती है। अतः आत्मनिष्ठप्रत्यासत्ति से जिसका कार्य कारणभाव कल्पित है ऐसी योग्यताज्ञानादि से घटित सामग्री द्रव्यत्व में धर्मितावच्छेदकता सम्बन्ध से घटत्वावच्छिन्न प्रकारताक शाब्दबोध के प्रति भी अपेक्षित

होगी। इस लिए पूर्वपक्षी का यह प्रश्न समाहित हो जाता है कि धर्मितावच्छेदकता के कार्यतावच्छेदक सम्बन्ध न होने के कारण धर्मितावच्छेदकता सम्बन्ध से द्रव्यत्व में उक्त योग्यताज्ञानादि से घटित सामग्री कैसे उक्त शाब्दबोध की उत्पादिका होगी या उक्त शाब्दबोध के प्रति उक्त योग्यताज्ञानादि की क्या आवश्यकता होगी ? द्रव्यत्व में कार्यतावच्छेदक धर्मितावच्छेदकता सम्बन्ध से द्रव्यत्वावच्छिन्न उपस्थिति आदि से घटित सामग्री आत्मा में विद्यमान रहते हुए भी उक्त शाब्दबोध को उत्पन्न करती है। घटत्व में धर्मितावच्छेदक सम्बन्ध से उक्त शाब्दबोध को उक्त सामग्री उत्पन्न नहीं कर सकती है क्योंकि द्रव्यत्व में विद्यमान धर्मितावच्छेदकता कार्यतावच्छेदक धर्मघटक है इसलिए धर्मितावच्छेदकता सम्बन्ध से द्रव्यत्व में उक्त शाब्दबोध के प्रति ही उक्त सामग्री कारण होगी, घटत्व में उक्त शाब्दबोध के प्रति उक्त सामग्री कारण नहीं होगी । इस प्रकार घटत्व में धर्मितावच्छेदकता सम्बन्ध से घटत्वावच्छिन्नप्रकारक अभेदसंसर्गक शाब्दबोध की आपत्ति आपादक न होने से वारित हो जाती है।

**'योग्यताज्ञानस्य'** से लेकर **'तदापत्तेः'** पर्यन्त ग्रन्थभाग से आत्मनिष्ठप्रत्यासत्ति से कार्यकारणभाव स्वीकारने में गौरव होने के कारण उसे छोड़कर लाघव से धर्मितावच्छेदक का निवेश न करके विषयनिष्ठ प्रत्यासत्ति से कार्यकारणभाव स्वीकारने पर पुनः घटत्व में उक्त शब्दबोध की आपत्ति होगी ऐसा स्थापित कर रहे हैं कि—धर्मितावच्छेदक का निवेश कर कार्यकारणभाव स्वीकारने पर धर्मितावच्छेदक का भेद होने के कारण अनन्त कारणता की कल्पना करनी पड़ती है। इस रीति से अनन्त कारणता की कल्पना करने की अपेक्षा लाघव होने के कारण धर्मितावच्छेदक का निवेश न करके धर्मितावच्छेदकता सम्बन्ध से शाब्दबोध के प्रति धर्मितावच्छेदकता सम्बन्ध से योग्यताज्ञान की कारणता स्वीकार करनी चाहिए । ऐसी परिस्थिति में घटत्वादिधर्मितावच्छेदककघटत्वादि से अवच्छिन्न प्रकारताक योग्यताज्ञान के बल से घटत्वादि में उक्त शाब्दबोध की आपत्ति है।

यहाँ पर ग्रन्थकार का यह आशय है—मूलतः कार्यकारणभाव दो प्रकार से माना जाता है (1) आत्मनिष्ठ प्रत्यासत्ति से तथा (2) विषयनिष्ठ प्रत्यासत्ति से । आत्मनिष्ठ प्रत्यासत्ति का आशय यह है कि इस प्रकार सम्बन्धों से कार्य कारणभाव बनाया जाये कि कार्य और कारण आत्मा में प्रत्यासन्न (इकट्ठे) हों । विषयनिष्ठ प्रत्यासत्ति का आशय यह है कि कार्य और कारण अपने सम्बन्धों के द्वारा विषय में प्रत्यासन्न हों। अभी तक योग्यताज्ञान और शाब्दबोध का जो कार्यकारण भाव बनाया गया था—**'समवाय सम्बन्ध से घटत्वावच्छिन्नप्रकारक अभेदसंसर्गक द्रव्यत्वावच्छिन्नविशेष्यक शाब्दबोध के प्रति समवाय सम्बन्ध से घटत्वावच्छिन्नप्रकारक अभेदसंसर्गक द्रव्यत्वावच्छिन्न विशेष्यक योग्यताज्ञान कारण है'** । इस कार्य कारणभाव के आधार पर समवाय सम्बन्ध से उक्त शाब्दबोध और योग्यताज्ञान दोनों ही आत्मा में प्रत्यासन्न होते हैं। किंतु इस कार्यकारणभाव में एक दोष है। वह दोष ये है कि इस कार्यकारणभाव में समस्त विषयों का निवेश है (1) प्रकार का भी (2) विशेष्य का भी और (3) संसर्ग का भी । जहाँ पर इनमें कोई भी अलग होगा वहाँ पर कार्यकारणभाव भिन्न हो जायेगा । प्रकार घटादि के, विशेष्य द्रव्य के, संसर्ग अभेद के भिन्न होने पर यह होना अवश्यंभावी है। इसमें से विषय निष्ठ प्रत्यासत्ति से

कार्यकारणभाव यदि बनाते हैं और विषय पद से धर्मितावच्छेदक का ग्रहण करते हैं तो भी प्रकार और संसर्ग का भेद होने पर तो कार्यकारणभाव का भेद होगा ही परन्तु धर्मितावच्छेदक का भेद होने से कार्यकारणभाव का भेद नहीं होगा। सारांश ये है कि अभेदसंसर्गकघटत्वावच्छिन्नप्रकारक शाब्दबोध के साथ योग्यताज्ञान का कार्यकारणभाव यदि धर्मितावच्छेदकनिष्ठ प्रत्यासत्ति से स्वीकार किया जाये तो धर्मितावच्छेदक घटत्वपटत्वद्रव्यत्वादि का भेद होने पर भी कार्यकारणभाव एक ही स्वीकारना पड़ेगा, अतः लाघव होगा। यदि आत्मनिष्ठप्रत्यासत्ति से कार्यकारणभाव स्वीकार करेंगे तो धर्मितावच्छेदक का भेद होने से कार्यकारणभाव भिन्न होगा इसलिए अनन्त कार्यकारणभाव स्वीकारने होंगे। अतः गौरव होगा । अतः धर्मितावच्छेदकनिष्ठप्रत्यासत्ति से '**धर्मितावच्छेदकतासम्बन्ध से अभेदसंसर्गक घटत्वावच्छिन्नप्रकारक शाब्दबोध के प्रति धर्मितावच्छेदकता सम्बन्ध से अभेदसम्बन्धावच्छिन्नघटत्वावच्छिन्नप्रकारताक योग्यताज्ञान कारण है**' इस प्रकार कार्यकारणभाव स्वीकारना चाहिए। आत्मनिष्ठ प्रत्यासत्ति से कार्यकारणभाव स्वीकारना अनुचित है। इस प्रकार धर्मितावच्छेदकनिष्ठ प्रत्यासत्ति से कार्यकारणभाव स्वीकार आवश्यक होने के कारण इसे स्वीकार करने पर पूर्वोक्त आपत्ति का निवारण सम्भव नहीं है। घटत्व में अभेदसम्बन्धावच्छिन्न घटत्वावच्छिन्न प्रकारताक योग्यताज्ञान के धर्मितावच्छेदकता सम्बन्ध से विद्यमान रहने के कारण (कारण मौजूद होने से) अभेदसंसर्गक घटप्रकारकशाब्दबोध होना चाहिए जैसा कि द्रव्यत्व में अभेद सम्बन्धावच्छिन्न घटत्वावच्छिन्नप्रकारताक योग्यताज्ञान के विद्यमान रहने से अभेदसंसर्गक घटप्रकारक शाब्दबोध होता है।

**न च योग्यताज्ञानस्य धर्मितावच्छेकनिष्ठप्रत्यासत्त्या हेतुत्वोपगमे द्रव्यत्वाद्यवच्छिन्नस्य पदादनुपस्थितत्वेऽपि द्रव्यत्वादौ तादृशप्रत्यासत्त्या प्रत्यासन्नयोग्यताज्ञानात्तत्र तादृशप्रत्यासत्त्या शाब्दबोधापत्तिः, आत्मनिष्ठ प्रत्यासत्त्या हेतुभूतां द्रव्यत्वाद्यवच्छिन्नोपस्थितिमन्तरेणापि तादृशप्रमेयत्वाद्यवच्छिन्नोपस्थित्यादिदशायां प्रमेयत्वादौ धर्मितावच्छेदकता सम्बन्धेन योग्यताज्ञानस्य फलजनकत्वात् तादृशद्रव्यत्वाद्यवच्छिन्नोपस्थितिविरहस्याकिंचित्करत्वादिति वाच्यम्; समानप्रकारताप्रत्यासत्त्या पदार्थोपस्थितेः शाब्दबोधे हेतुत्वोपगमात् ।**

अब ग्रन्थकार इस आशय से आक्षेप करते हैं कि आत्मनिष्ठ प्रत्यासत्ति में गौरव होने के कारण विषयनिष्ठप्रत्यासत्ति से आप कार्यकारणभाव स्वीकार रहे हैं किंतु यदि विषयनिष्ठ प्रत्यासत्ति से कार्यकारणभाव स्वीकारने में कोई व्यभिचार आदि दोष आ रहा हो तो आत्मनिष्ठ प्रत्यासत्ति से कार्यकारणभाव स्वीकारना ही उचित होगा क्योंकि फलमुख गौरव को दोषावह नहीं माना जाता है। ग्रन्थकार का आक्षेप है कि—योग्यताज्ञान का शाब्दबोध के साथ धर्मितावच्छेदकनिष्ठ प्रत्यासत्ति से कार्यकारणभाव स्वीकार करने पर द्रव्यत्वादि में धर्मितावच्छेदकनिष्ठ प्रत्यासत्ति से योग्यताज्ञान के द्वारा शाब्दबोध की उत्पत्ति होनी चाहिए यदि द्रव्यत्वविशिष्ट (द्रव्य) की पद से उपस्थिति नहीं हुई है फिर भी । आत्मनिष्ठ प्रत्यासत्ति से कारणीभूत द्रव्यत्वविशिष्ट (द्रव्य) की उपस्थिति के बिना भी प्रमेयत्वादि विशिष्ट की उपस्थिति होने पर प्रमेयत्वादि में धर्मितावच्छेदकता सम्बन्ध से योग्यताज्ञान के

फलजनक (शाब्दबोधजनक) होने के कारण (जैसा कि '**प्रमेयो घटः**' इत्यादि स्थलों में देखा जाता है) द्रव्यत्वावच्छिन्न की उपस्थिति का अभाव अकिंचित् कर है। इस प्रकार से द्रव्यत्वविशिष्ट की उपस्थिति न होने पर भी द्रव्यत्व में धर्मितावच्छेदकनिष्ठप्रत्यासत्ति से योग्यताज्ञान के द्वारा शाब्दबोधोत्पत्ति की आपत्ति है। आक्षेप का समाधान ग्रन्थकार करते हैं कि— केवल योग्यता ज्ञान तो शाब्दबोध के प्रति कारण नहीं है, उपस्थिति भी कारण है और उपस्थिति को शाब्दबोध के प्रति समानप्रकारताप्रत्यासत्ति से कारण मानते हैं। द्रव्यत्व विशिष्ट की उपस्थिति न होने के कारण योग्यताज्ञान रूप कारण के विद्यमान रहने पर भी द्रव्यत्व में शाब्दबोध की आपत्ति नहीं है।

इस पूर्वपक्ष और उत्तर पक्ष का अभिप्राय यह है कि—धर्मितावच्छेदकनिष्ठप्रत्यासत्ति से यदि आप कार्यकारणभाव स्वीकार करते हैं तो द्रव्यत्व की उपस्थिति न होने पर भी द्रव्यत्व में योग्यताज्ञान के बल से घटत्वावच्छिन्नप्रकारक अभेदसंसर्गक शाब्दबोध होने लगेगा। जैसे '**प्रमेयो घटः**' यहाँ पर प्रमेयत्व में धर्मितावच्छेदक सम्बन्ध से घटत्वावच्छिन्न अभेदसम्बन्धावच्छिन्नप्रकारताक योग्यताज्ञान के बल से धर्मितावच्छेदकता सम्बन्ध से अभेदसम्बन्धावच्छिन्नघटत्वावच्छिन्नप्रकारताक शाब्दबोध उत्पन्न होता है। उस शाब्दबोध की उत्पत्ति में द्रव्यत्वविशिष्ट की उपस्थिति की कोई अपेक्षा या आवश्यकता नहीं हुआ करती है। उसी प्रकार द्रव्यत्व में धर्मितावच्छेदकता सम्बन्ध से अभेदसम्बन्धावच्छिन्न घटत्वावच्छिन्नप्रकारताक शाब्दबोध बगैर द्रव्यत्वविशिष्ट की उपस्थिति के भी उत्पन्न होना चाहिए। यद्यपि द्रव्यत्वविशिष्ट की उपस्थिति आत्मनिष्ठप्रत्यासत्ति से कारण हुआ करती है किंतु विषयनिष्ठप्रत्यासत्ति से उसके बगैर भी '**प्रमेयो घटः**' इस स्थल में ऐसा ही शाब्दबोध होता देखा गया है। अतः द्रव्यत्वविशिष्ट की उपस्थिति का अभाव अकिंचित्कर है।

समाधान यह है कि योग्यताज्ञान ही तो शाब्दबोध के प्रति एकमात्र कारण है नहीं, साथ में पदार्थोपस्थिति की भी शाब्दबोध के प्रतिकारणता स्वीकार की जाती है। पदार्थोपस्थिति की शाब्दबोध के प्रति समानप्रकारता सम्बन्ध से कारणता स्वीकरी जाती है अर्थात् प्रकारता सम्बन्ध से शाब्दबोध के प्रति प्रकारता सम्बन्ध से उपस्थिति कारण है। ऐसी स्थिति में उपस्थिति रूप द्वितीय कारण के न रहने से उक्त शाब्दबोध की आपत्ति वारित हो जाती है। अभिप्राय यह है कि '**द्रव्यं घटः**' इस वाक्य से जन्य उपस्थिति में घटत्व घट में प्रकार है, घट द्रव्य में प्रकार है, द्रव्यत्व द्रव्य में प्रकार है एकमात्र द्रव्य ही विशेष्य है। उपस्थिति में प्रकारता और विशेष्यता का कोई अवच्छेदक बनकर नहीं भासता है किंतु द्रव्यत्व प्रकार बनकर अवश्य भासता है। वही द्रव्यत्व शाब्दबोध में धर्मितावच्छेदक बनकर भासता है अर्थात् प्रकार बनता है। इस प्रकार द्रव्यनिष्ठ प्रकारता सम्बन्ध से उपस्थिति शाब्दबोध के प्रति कारण है। इसलिए उपस्थिति के न रहने पर द्रव्यत्व में शाब्दबोध की जो आपत्ति दी गयी थी वह वारित हो जाती है।

**येन सम्बन्धेन यद्धर्मावच्छिन्नकार्यं प्रति येन सम्बन्धेन यद्धर्मावच्छिन्न-कार्यस्य व्यापकता तेन सम्बन्धेन तद्धर्मावच्छिन्नकार्योत्पादकसामग्र्या अपि तेन सम्बन्धेन् तद्धर्मावच्छिन्नकार्योत्पत्तावपेक्षिततया प्रकारतासम्बन्धेन द्रव्यत्वादौ द्रव्यपदजन्यपदार्थोपस्थित्यसत्त्वे तत्र धर्मितावच्छेदकतासम्बन्धेन शाब्दबोधापत्तेरयोगात् ।**

अब प्रश्न यह है कि समानप्रकारता प्रत्यासत्ति से शाब्दबोध और पदार्थोपस्थिति का कार्यकारणभाव स्वीकार लेने पर भी आया क्या? जिससे आप धर्मितावच्छेदकनिष्ठ प्रत्यासत्ति से योग्यताज्ञान के रहने के कारण द्रव्यत्वविशिष्ट की उपस्थिति न रहने पर द्रव्यत्व में उक्त शाब्दबोध होना चाहिए ऐसी आपत्ति का वारण कर सकें ? इस प्रश्न का ही समाधान करते हैं ग्रन्थकार कि—जिस सम्बन्ध से यद्धर्मावच्छिन्न कार्य के प्रति जिस सम्बन्ध से यद्धर्मावच्छिन्न कार्य की व्यापकता होती है, उस सम्बन्ध से तद्धर्मावच्छिन्न कार्योत्पादक सामग्री की भी उस सम्बन्ध से तद्धर्मावच्छिन्न कार्य की उत्पत्ति में अपेक्षा होने के कारण प्रकारता सम्बन्ध से द्रव्यत्वादि में द्रव्यत्वविशिष्ट पदार्थ की उपस्थिति न रहने पर उस द्रव्यत्व में धर्मितावच्छेदकता सम्बन्ध से शाब्दबोधापत्ति का अयोग है।

यहाँ पर ग्रन्थकार एक समान्य नियम के बारे में बतला रहे हैं कि—**'जिस सम्बन्ध से यद्धर्मावच्छिन्न कार्य के प्रति जिस सम्बन्ध से यद्धर्मावच्छिन्न कार्य की व्यापकता होती है उस सम्बन्ध से तद्धर्मावच्छिन्नकार्योत्पादकसामग्री की भी उस सम्बन्ध से तद्धर्मावच्छिन्न कार्य की उत्पत्ति में अपेक्षा होती है'** यह नियम वस्तुतः **'व्यापक के प्रति जो कारण होता है वह व्याप्य के प्रति भी कारण होता है'** इस नियम का परिष्कार है। चूँकि जब व्याप्य व्यापक भाव बनाया या देखा जाता है तो सम्बन्ध और धर्म भी दृष्टि में अवश्य आते हैं । विना सम्बन्ध और धर्म को लिए व्याप्यव्यापक भाव बनाया या देखा नहीं जा सकता है। इसीलिए यह नियम उक्त रीति से परिष्कृत किया जाता है। इस नियम के उदाहरण के रूप में —समवाय सम्बन्ध से रूपत्वावच्छिन्न कार्य (रूप) के प्रति समवाय सम्बन्ध से गुणत्वावच्छिन्न कार्य (गुण) की व्यापकता है (जहाँ जहाँ समवाय सम्बन्ध से रूप रहेगा वहाँ वहाँ समवाय सम्बन्ध से गुण अवश्य रहेगा) इसलिए समवाय सम्बन्ध से गुणत्वावच्छिन्न कार्य (गुण) की उत्पादक सामग्री द्रव्यरूप सामग्री भी समवाय सम्बन्ध से रूपत्वावच्छिन्न (रूप) की उत्पत्ति में अपेक्षित होती है। जब भी समवाय सम्बन्ध से रूप उत्पन्न होगा तो तादात्म्य सम्बन्ध से द्रव्य का होना वहाँ पर आवश्यक है। उसी प्रकार यहाँ पर धर्मितावच्छेदकता सम्बन्ध से घटत्वावच्छिन्नप्रकारक अभेदसंसर्ग के शाब्दबोधत्वावच्छिन्न कार्य के प्रति प्रकारता सम्बन्ध से घटत्वावच्छिन्नप्रकारक अभेदसंसर्गक शाब्दबोधत्वावच्छिन्न कार्य की व्यापकता है। क्योंकि धर्मितावच्छेदकता जहाँ पर भी होती है वहाँ पर प्रकारता अवश्य होती है। इसलिए धर्मितावच्छेदकतासम्बन्ध से शाब्दबोध के प्रति प्रकारतासम्बन्ध से शाब्दबोध की व्यापकता होती है। इस कारण प्रकारतासम्बन्ध से उक्त शाब्दबोध के लिए कारणीभूत जो सामग्री है उस सामग्री की अपेक्षा धर्मितावच्छेदकता सम्बन्ध से उक्त शाब्दबोध की उत्पत्ति में भी होगी। प्रकारतासम्बन्ध से उक्त शाब्दबोध के लिए प्रकारतासम्बन्ध से पदार्थोपस्थिति आवश्यक है, इसलिए धर्मितावच्छेदकतासम्बन्ध से शाब्दबोध के प्रति प्रकारतासम्बन्ध से उपस्थिति आवश्यक होगी । इसलिए यदि द्रव्यत्वावच्छिन्न की उपस्थिति नहीं है, तो धर्मितावच्छेदकता सम्बन्ध से शाब्दबोध नहीं होगा । पूर्वोक्त आपत्ति वारित हो जाती है।

**नच यत्र प्रमेयत्वावच्छिन्नविशेष्यकवृत्तिज्ञानजन्यप्रमेयत्वाद्यवच्छिन्न-विशेष्यकोपस्थितावेव उद्बोधकान्तराद् द्रव्यत्वाद्यवच्छिन्नस्य भानं तत्र**

**द्रव्यत्वाद्यवच्छिन्नविषयकशाब्दापत्तिवारणाय तद्धर्मावच्छिन्नविषयक शाब्दबोधं प्रति तद्धर्मावच्छिन्नविशेष्यकवृत्तिज्ञानजन्यतद्धर्मप्रकारकोपस्थितित्वेनैव पदार्थोपस्थितेर्हेतुता वाच्या, तथा च प्रकार विशेषनिवेशस्यावश्यकत्वे विषयनिष्ठप्रत्यासत्त्या हेतुताकल्पनमयुक्तम्, तथा सति पुरुषभेदेन कार्यकारणभावबाहुल्यप्रसङ्ग इति वाच्यम् ;**

'**घटो घटः**' इस स्थल में घटत्व में धर्मितावच्छेदकता सम्बन्ध से अभेद संसर्गक घट प्रकारक शाब्दबोध की आपत्ति प्रदर्शित की गयी है। इस आपत्ति का उत्थान आत्मनिष्ठा प्रत्यासत्ति से कार्य कारणभाव बनाने पर सम्भव नहीं हो रहा था, अतः ग्रन्थकार ने 'आत्मनिष्ठ प्रत्यासत्ति में दोष दिखलाकर (गौरव दोष दिखाकर) विषयनिष्ठ प्रत्यासत्त्या (धर्मितावच्छेदकनिष्ठ प्रत्यासत्ति से) कार्यकारणभाव स्वीकारना चाहिए' ऐसा कहा था। यदि धर्मितावच्छेदकनिष्ठप्रत्यासत्ति से कार्यकारणभाव स्वीकार लिया जाता है तो पूर्वोक्त स्थल में घटत्व में धर्मितावच्छेदकता सम्बन्ध से अभेदसंसर्गक घटप्रकारक शाब्दबोध की आपत्ति आ पड़ती है। अतः इस पूर्वपक्ष के द्वारा ग्रन्थकार यह आक्षेप उठाते हैं कि जिस गौरव दोष के चलते आत्मनिष्ठ प्रत्यासत्ति से कार्यकारण भाव स्वीकार किया गया था वह गोरव दोष तो विषयनिष्ठ प्रत्यासत्ति से कार्य कारणभाव स्वीकार करनें पर भी आपतित हो रहा है। कहना यह है कि —

जहाँ पर प्रमेयत्वाद्यवच्छिन्नविशेष्यक वृत्तिज्ञानजन्य प्रमेयत्वाद्यवच्छिन्नविशेष्यक उपस्थिति में ही उद्बोधकान्तर के कारण द्रव्यत्वादि से अवच्छिन्न का भान होता है वहाँ पर द्रव्यत्वादि से अवच्छिन्नविषयक शाब्दबोध की आपत्ति का वारण करने के लिए तद्धर्मावच्छिन्न विषयक शाब्दबोध के प्रति तद्धर्मावच्छिन्नविशेष्यक वृत्तिज्ञानजन्य तद्धर्मप्रकारक उपस्थितित्वेन ही उपस्थिति की कारणता माननी चाहिए । अभिप्राय यह है कि जिस स्थल में **प्रमेयः** इस पद से प्रमेयत्वावच्छिन्नविशेष्यक वृत्तिज्ञान से प्रमेयत्वावच्छिन्नविशेष्यक उपस्थिति हुई किन्तु स्मृति आदि किसी दूसरे उद्बोधक के कारण इसी उपस्थिति में ही द्रव्यत्वाद्यवच्छिन्न का भी भान हुआ । परन्तु शाब्दबोध में वृत्तिज्ञानजन्य जिन पदार्थों की उपस्थिति होती है वही पदार्थ विषय बनते हैं। इसलिए उद्बोधकान्तर से उपस्थिति विषय जो पदार्थ हुआ है उसको विषय करने वाला शाब्दबोध नहीं होना चाहिए । एतदर्थ '**तद्धर्मावच्छिन्नविषयकशाब्दबोध के प्रति तद्धर्मावच्छिन्नविशेष्यक वृत्तिज्ञानजन्य तद्धर्मप्रकारक उपस्थिति कारण है**' ऐसा स्वीकार करना चाहिए । इस कार्यकारणभाव के बन जाने पर उक्त स्थल में द्रव्यत्वाद्यवच्छिन्नविषयक शाब्दबोध के लिए द्रव्यत्वाद्यवच्छिन्नविशेष्यक वृत्तिज्ञान से द्रव्यत्वादिप्रकारक उपस्थिति जन्य होनी चाहिए । किन्तु यहाँ पर द्रव्यत्वावच्छिन्न विषयक उपस्थिति तो उद्बोधकान्तर से हुई, अतः शाब्दबोध में वह विषय नहीं होगा । किंतु इस प्रकार से पूर्वोक्त कारण कार्यभाव में भी प्रकार विशेष का निवेश आवश्यक होगा । प्रकार विशेष के निवेश के आवश्यक हो जाने पर विषय निष्ठ प्रत्यासत्ति से हेतुता की (कार्यकारण भाव की) कल्पना उचित नहीं है क्योंकि विषयनिष्ठप्रत्यासत्ति से कार्यकारणभाव बनाने पर पुरुष भेद से कार्यकारणभाव अनन्त होने लगेंगे। अभिप्राय यह है कि शाब्दबोध और उसके कारण का कार्य कारणभाव विषयनिष्ठ प्रत्यासत्ति से भी बनाया जा सकता है और आत्मनिष्ठ

प्रत्यासत्ति से भी बनाया जा सकता है। आत्मनिष्ठप्रत्यासत्ति में पुरुष के प्रवेश की अपेक्षा नहीं होती है क्योंकि जिस पुरुष में कारण है उसी पुरुष में कार्य भी उत्पन्न होगा। विषयनिष्ठप्रत्यासत्ति से कार्यकारण भाव जब हम बनाते हैं तो विषय का प्रवेश आनावश्यक होता है। उसी विषय का प्रवेश आवश्यक नहीं होता है यद्विषयनिष्ठ प्रत्यासत्ति से हम कार्यकारण भाव बनाते हैं। आत्मनिष्ठप्रत्यासत्ति में समस्तविषयों का प्रवेश करना पड़ता है विषय निष्ठ प्रत्यासत्ति में नहीं करना पड़ता है इस प्रकार लाघव है। ऐसा कहा गया था। किन्तु इस रीति से वृत्तिज्ञानजन्यतद्धर्मप्रकारक पदार्थोपस्थिति की ही कारणता मानने पर विषयों का निवेश भी आवश्यक है तथा देवदत्त को पदार्थोपस्थिति रहने पर यज्ञदत्त को तो शाब्दबोध होता नही है। अतः तत्पुरुषीय शाब्दबोध के प्रति तत्पुरुषीय उपस्थिति की ही कारणता स्वीकार करनी चाहिए। ऐसी परिस्थिति में कार्यकारणभाव के अन्तर्गत तत्पुरुषीयत्व का प्रवेश कर देने पर विषयनिष्ठ प्रत्यासत्ति से कार्यकारणभाव स्वीकार करने में गौरव है। उसकी अपेक्षा आत्मनिष्ठप्रत्यासत्ति से कार्यकारण भाव स्वीकारने में लाघव है। यदि ऐसा कहें तो वक्ष्यमाणकारण से नहीं कहना चाहिए।

**स्वजनकज्ञानीयवृत्तिनिष्ठप्रकारतानिरूपितविशेष्यतावच्छेदकताविशिष्ट प्रकारतासम्बन्धेनोपस्थितेर्हेतुतां स्वीकृत्य तादृशापत्तेर्वारणात् ।**

इस ग्रन्थ के द्वारा कहा जा रहा है कि तत्पुरुषीयत्व निवेश न होने पर भी विषयनिष्ठ प्रत्यासत्ति से कार्यकारणभाव बनाया जा सकता है। यह व्यवस्थापित किया जा रहा है। विषयनिष्ठ प्रत्यासत्ति से कार्यकारणभाव बनाने में मूल समस्या यह है कि देवदत्त को उपस्थिति रहने की दशा में यज्ञदत्त को शाब्दबोध का वारण कैसे किया जाये? तत्पुरुषीयत्वनिवेश से वारण करने पर गौरव होता है। परन्तु गौरव क्यों होता है? पूर्वोक्त रीति से विषय प्रवेश भी करना आवश्यक हो जाने के कारण। इस ग्रन्थ से यही कहा जा रहा है कि पूर्वोक्त रीति से विषय प्रवेश किया बिना भी विषयनिष्ठप्रत्यासत्ति से कार्यकारणभाव बन सकता है—

स्वजनकज्ञानीयवृत्तिनिष्ठप्रकारता से निरूपितविशेष्यतावच्छेदकता से विशिष्ट प्रकारता सम्बन्ध से उपस्थिति की शाब्दबोध के प्रति कारणता का स्वीकार कर उस आपत्ति का वारण हो जाता है।

अभिप्राय यह है कि विषय प्रवेश करने की आवश्यकता क्यों आ पड़ी है? क्योंकि विषय प्रवेश न करने पर प्रमेयपदजन्य प्रमेयत्वावच्छिन्नविशेष्यक उपस्थिति में ही जहाँ पर उद्बोधकान्तरवशात् द्रव्यत्वादि का भी भान होता है वहाँ पर द्रव्यत्वादि का शाब्दबोध में भान न होने लगे। इसके लिए पूर्व में सुझाव दिया था कि **'तद्धर्मावच्छिन्नविशेष्यक वृत्तिज्ञानजन्यतद्धर्मप्रकारकपदार्थोपस्थिति तद्धर्मावच्छिन्नविशेष्यकशाब्दबोध के प्रति कारण होती है'** इस प्रकार कार्यकारणभाव स्वीकारना चाहिए। परन्तु इस कार्यकारणभाव में प्रकार और विशेष्य का निवेश आवश्यक हो जाता है। विषयनिष्ठप्रत्यासत्ति से कार्यकारणभाव स्वीकरने पर तत्पुरुषीयत्व निवेश तो आवश्यक है ही। अतः गौरव होता है। अब नये तरीके से उद्बोधकान्तर से उपस्थिति के विषय बनने वाले द्रव्यत्वादि से अवच्छिन्न का शाब्दबोध में भान निवारित कर रहे हैं। अभी बताया गया जो कार्यकारणभाव है उसके अनुसार द्रव्यत्वादि से अवच्छिन्न का शाब्दबोध में भान भी वारित हो जायेगा और प्रकार विशेष्य (या

प्रकार विशेष) के निवेश की जरूरत भी नहीं रहेगी। देखें- स्व पद से लेना है उपस्थिति को, उसका जनक ज्ञान हुआ 'प्रमयम् प्रमेयपदशक्तिमत्' यह शक्तिरूप वृत्तिज्ञान, इस ज्ञान की अर्थात् इस ज्ञान से निरूपित वृत्तिनिष्ठप्रकारता हुई शक्तिरूपवृत्तिनिष्ठप्रकारता क्योंकि इस ज्ञान में प्रकार शक्ति ही है। इस प्रकारता से निरूपित विशेष्यता है प्रमेय में क्योंकि उक्त ज्ञान में विशेष्य है प्रमेय। विशेष्यतावच्छेदकता है प्रमेयत्व में और उसी प्रमेयत्व में प्रमेयपदजन्य प्रमेयपदार्थोपस्थिति निरूपित प्रकारता भी है क्योंकि प्रमेय पद से जब उपस्थिति होती है तो प्रमेयत्व प्रकारतया और प्रमेय विशेष्यतया उपस्थित होता है। इस प्रकार प्रमेयत्व में स्वजनकज्ञानीयवृत्तिनिष्ठप्रकारतानिरूपित विशेष्यतावच्छेदकता भी है और उपस्थितीय प्रकारता भी है, अतः सामानाधिकरण्य सम्बन्ध से उक्त विशेष्यतावच्छेदकता से विशिष्ट उपस्थितीय प्रकारता हेती है। उक्त प्रकारता सम्बन्ध से प्रमेय की उपस्थिति कारण बनती है। उसी उपस्थिति में उद्बोधकान्तर से जब द्रव्यत्वाद्यवच्छिन्न का भान होता है तो उस द्रव्यत्वादि में प्रमेयपदजन्योपस्थिति निरूपित प्रकारता तो रहती है परन्तु उक्त विशेष्यतावच्छेदकता नहीं रहती है क्योंकि स्व से प्रमेयपदजन्योपस्थिति (द्रव्यत्वाद्यवच्छिन्न की उपस्थिति) उसका जनक शक्ति रूप वृत्ति ज्ञान नहीं होता है बल्कि उद्बोधकान्तर होता है। अतः द्रव्यत्वाद्यवच्छिन्न का भान शाब्दबोध में नहीं होता है। अतः विषयनिष्ठ प्रत्यासत्ति से कार्यकारण भाव स्वीकारने में कोई दोष नहीं है।

**विमर्श–** अभी स्वजनकज्ञानीयवृत्तिनिष्ठप्रकारतानिरूपितविशेष्यतावच्छेदकता विशिष्ट प्रकारता सम्बन्ध से उपस्थिति की शाब्दबोध के प्रति कारणता स्वीकारनी चाहिए ऐसा कहा। यहाँ पर प्रश्न यह उठता है कि स्वजनकज्ञानीयवृत्तिनिष्ठप्रकारतानिरूपितविशेष्यतावच्छेदकता सम्बन्ध से ही उपस्थिति को यदि शाब्दबोध के प्रति कारण मानें तो भी उद्बोधकान्तर से द्रव्यत्वावच्छिन्न की उपस्थिति होने की दशा में द्रव्यत्व में स्वजनकज्ञानीयवृत्तिनिष्ठप्रकारतानिरूपित- विशेष्यतावच्छेदकता नहीं है, अतः शाब्दबोध में द्रव्यत्वावच्छिन्न के भान की आपत्ति वारित हो जाती है। फिर उक्त विशेष्यतावच्छेदकता विशिष्टप्रकारता का निवेश करने की क्या जरूरत है।

इसका समाधान यह है कि—**'द्रव्यं द्रव्यपदशक्यं' प्रमेयः प्रमेयपदशक्यः'** इस समूहालम्बनात्मक वृत्तिज्ञान से प्रमेयत्वावच्छिन्नमात्र की उपस्थिति जहाँ पर हुई कारणान्तर न रहने से या प्रतिबन्धक रहने से द्रव्यत्वावच्छिन्न की उपस्थिति नहीं हुई, वहाँ पर द्रव्यत्व में उक्तविशेष्यतावच्छेदकता सम्बन्ध से उपस्थिति विद्यमान है यथा स्व माने उपस्थिति (प्रमेय त्वावच्छिन्नोपस्थिति) स्वजनकज्ञान उक्त समूहालम्बनात्मकवृत्तिज्ञान, इस ज्ञान से निरूपित प्रकारता वृत्तिनिष्ठप्रकारता उससे निरूपित विशेष्यतावच्छेदकता जैसे प्रमेयत्व में वैसे ही द्रव्यत्व में भी है क्योंकि **द्रव्यं द्रव्यपद शक्यं** इस अंश में द्रव्य विशेष्य और द्रव्यत्व विशेष्यतावच्छेदक बन रहा है। इस परिस्थिति में पुनः पूर्वोक्त दोष की आपत्ति होगी, अतः उक्त विशेष्यतावच्छेदकता से विशिष्ट प्रकारता का निवेश करते हैं। विशेष्यतावच्छेदकता का वैशिष्ट्य सामानाधिकरण्य सम्बन्ध से लेना चाहिए। इस स्थल में द्रव्यत्वावच्छिन्न की उपस्थिति ही नहीं होने के कारण, द्रव्यत्व में उक्त विशेष्यतावच्छेदकता के होने पर भी प्रकारता न होने से यह दोष वारित हो जाता है। किंतु इस स्थिति में भी **'घटो घट पदशक्यः'** इस वृत्तिज्ञान से घटत्वावच्छिन्न की उपस्थिति होती है और उसी

उपस्थिति में उद्बोधकान्तर के द्वारा प्रमेयत्वावच्छिन्न का भी भान होता है। तो प्रमेयत्वावच्छिन्न प्रकारता में उक्त विशेष्यतावच्छेदकता का वैशिष्टय समानाधिकरण्यसम्बनध से विद्यमान है। स्वजनक ज्ञान माने घटत्वावच्छिन्नोपस्थितिजनकज्ञान उक्त वृत्तिज्ञान, उक्तवृत्तिज्ञानीय प्रकारता वृत्तिनिष्ठा और उस प्रकारता से निरूपित विशेष्यतावच्छेदकता घटत्वनिष्ठ हुई। घटत्व भी प्रमेय है, अतः घटत्वनिष्ठ प्रमेयत्वावच्छिन्नप्रकारता उक्त विशेष्यतावच्छेदकता से विशिष्ट सामानाधिकरण सम्बन्ध से हो जाती है।अतः प्रमेयत्वावच्छिन्नप्रकारकशाब्द बोध होना चाहिए। इस शाब्दबोध का वारण करने के लिए वैशिष्ट्य घटक सम्बन्ध में स्वानवच्छेदका-नवच्छिन्नत्वसम्बन्ध का भी निवेश करना चाहिए। इस प्रकार उक्त विशेष्यतावच्छेकता का वैशिष्ट्य **सामानाधिकरण्य, स्वानवच्छेदकानवच्छिन्नत्व उभय सम्बन्ध से** लेना चाहिए। घटत्वनिष्ठ प्रमेयत्वावच्छिन्न प्रकारता में उक्त विशेष्यतावच्छेदकता का सामानाधिकरण्य होने पर भी उक्तविशेष्यतावच्छेदकता का अनवच्छेदक जो प्रमेयत्व तदवच्छिन्नत्व भी विद्यमान है। इसलिए स्वानवच्छेदकानवच्छिन्नत्वरूप द्वितीय सम्बन्ध से प्रमेयत्वावच्छिन्न घटरूपप्रमेयनिष्ठ प्रकारता में उक्त विशेष्यतावच्छेदकता का वैशिष्ट्य नहीं है। अतः शाब्दबोध की आपत्ति वारीत हो जाती है।

इसके अतिरिक्त '**प्रमेयवान् प्रमेयपदशक्यः**' इस वृत्तिज्ञान से प्रमेयत्वावच्छिन्न प्रकारक उपस्थिति में उद्बोधकान्तरवशात् घटत्वावच्छिन्न का जहाँ पर भान हो रहा हो वहाँ पर निरवच्छिन्नघटत्वनिष्ठ प्रकारता में उपस्थितिजनकज्ञानीयवृत्तिनिष्ठप्रकारतानिरूपित विशेष्यतावच्छेदकता, जो कि प्रमेयनिष्ठा है, का वैशिष्ट्य है; क्योंकि प्रमेयत्वावच्छिन्नप्रकारक उपस्थिति जनक उक्त वृत्तिज्ञानीय प्रकारता वृत्ति में और विशेष्यता प्रमेयवान् में है तथा उसकी अवच्छेदकता है प्रमेयनिष्ठा। घटत्व भी प्रमेय है अतः घटत्व में भी उक्त विशेष्यता वच्छेदकता है ही, इस प्रकार सामानाधिकरण्य से उक्त विशेष्यतावच्छेदकता का वैशिष्ट्य घटत्वनिष्ठ प्रकारता में है ही और उक्त विशेष्यतावच्छेदकता के अनवच्छेदक से अनवच्छिन्नत्व भी प्रकारता में है क्योंकि उक्त घटत्वनिष्ठप्रकारता निरवच्छिन्न है। इस प्रकार उक्त उपस्थिति से निरवच्छिन्नघटत्वनिष्ठप्रकारताक शाब्दबोध की आपत्ति है। अतः स्वानवच्छेदकानवच्छिन्नत्व सम्बन्ध से स्ववृत्तित्व का भी वैशिष्ट्य घटकसम्बन्धों में निवेश करना चाहिए। स्व में = उक्त विशेष्यतावच्छेदकता में विशिष्ट होने वाली प्रकारता को स्वानवच्छेदकानवच्छिन्नत्व सम्बन्ध से रहना चाहिए। अभिप्राय यह हुआ कि स्वानवच्छेदकानवच्छिन्नत्व में स्व पद से प्रकारता को लेना है। घटत्वनिष्ठप्रकारता के अनवच्छेदक प्रमेयत्व से ही अवच्छिन्न है विशेष्यतावच्छेदकता इस लिए उक्त प्रकारता इस सम्बन्ध से स्व में (विशेष्यतावच्छेदकता में) वृत्ति नहीं है। इस प्रकार घटत्वनिष्ठ प्रकारता इन तीनों सम्बन्धों से विशिष्ट नहीं होती है। अतः घटत्वनिष्ठनिरवच्छिन्नप्रकारताक शाब्द बोध की आपत्ति वारित हो जाती है।

इसके अतिरिक्त '**कालिकसम्बन्धेन द्रव्यत्वविशिष्टो द्रव्यपदशक्यः**' इस वृत्तिज्ञान से जन्य कालिकसम्बन्धावच्छिन्नद्रव्यत्वनिष्ठप्रकारताक उपस्थिति में उद्बोधकान्तर के द्वारा समवायसम्बन्ध से द्रव्यत्वविशिष्ट द्रव्य का भान होने पर द्रव्यत्वनिष्ठसमवायसम्बन्धावच्छिन्न प्रकारता में विशेष्यतावच्छेदकता के उक्त तीनों सम्बन्धों से रहने के कारण विशेष्यता वच्छेदकता से विशिष्ट यह प्रकारता हो जाती है। इस स्थिति में समवायसम्बन्धावच्छिन्न द्रव्यत्वप्रकारक शाब्दबोध की आपत्ति है। अतः स्वावच्छेदकसम्बन्धावच्छिन्नत्व रूप चतुर्थ

सम्बन्ध से विशेष्यतावच्छेदकता का वैशिष्ट्य प्रकारता में देना चाहिए। यहाँ पर विशेष्यतावच्छेदकता का अवच्छेदक कालिकसम्बन्ध है और प्रकारता का अवच्छेदक समवाय है। इस प्रकार दोष का निवारण हो जाता है।

वस्तुतः उद्बोधकवशात् होनेवाली उपस्थिति की प्रकारताओं में उक्त विशेष्यतावच्छेदकता प्रयोज्यत्व नहीं होता है। अतः इन चारों ही सम्बन्धों के स्थान पर एक मात्र स्वप्रयोज्यत्व सम्बन्ध का निवेश ही उचित है। स्वप्रयोज्यत्व मात्र सम्बन्ध से विशेष्यतावच्छेदकता का प्रकारता में वैशिष्ट्य कहना चाहिए।

स्वजनकज्ञानीयवृत्तिनिष्ठप्रकारतानिरूपितविशेष्यतावच्छेदकता विशिष्ट प्रकारता सम्बन्ध से उपस्थिति की शाब्दबोध के प्रति कारणता स्वीकार करनी चाहिए ऐसा ग्रन्थकार ने व्यवस्थापित किया। परन्तु इस प्रकार के व्यवस्थापन में एक आशंका उठ खड़ी होती है। घटत्वादिप्रकारक उपस्थिति के जनक शक्तिज्ञान नानाविध हैं। जैसे कि— **'घटो घटपद शक्यत्ववान्' 'शक्तिसम्बन्धेन घटो घटपदविशिष्टः'** इत्यादि। इनमें प्रथम में शक्ति शक्तिज्ञान में प्रकार होती है किन्तु द्वितीय शक्तिज्ञान में शक्ति में संसर्गता आती है। इसके अलावा **'घटपदं घटशक्तम्' 'शक्तिसम्बन्धेन घटविशिष्टं घटपदम्'** इस प्रकार के शक्तिज्ञान भी हो सकते हैं। इनमें सबमें जो प्रथम ज्ञान है **'घटो घटपदशक्यत्ववान्'** या **'घटो घटपदशक्यः'** इसी ज्ञान से जन्य उपस्थितीय घटत्वनिष्ठ प्रकारता ही उपस्थितिजनकज्ञानीय वृत्तिनिष्ठ प्रकारता से निरूपित विशेष्यतावच्छेदकता (जो कि घटत्व निष्ठा है) से विशिष्ट होती है। अन्य शक्तिज्ञानों से जन्य उपस्थितीय घटत्वनिष्ठ प्रकारता उपस्थिति जनकज्ञानीय वृत्तिनिष्ठप्रकारतानिरूपित विशेष्यतावच्छेदकता से विशिष्ट नहीं होती है। **'शक्तिसम्बन्धेन घटो घटपदविशिष्टः'** इस ज्ञान में तो शक्तिरूप वृत्तिनिष्ठा प्रकारता नहीं है बल्कि संसर्गता है। अतः उपस्थितिजनक ज्ञानीयवृत्तिनिष्ठप्रकारता ही सुलभ नहीं है। **'घटपदं घटशक्तम्' 'शक्तिसम्बन्धेन घटविशिष्टं घटपदम्'** इस ज्ञानों में उपस्थितिजनक ज्ञानीयवृत्तिनिष्ठप्रकारता तो सुलभ है क्योंकि इन दोनों ही ज्ञानों में घटपद विशेष्य और घटशक्ति प्रकार है। परन्तु उस प्रकारता से निरूपित विशेष्यता घट पद में और विशेष्यतावच्छेदकता घटपद की आनुपूर्वी में है क्योंकि वही विशेष्यता का अवच्छेदक है। उस विशेष्यतावच्छेदकता (आनुपूर्वी निष्ठा) से विशिष्ट उपस्थितीयघटत्वनिष्ठ प्रकारता नहीं है, अतः उक्त प्रकारता सम्बन्ध से घटत्व में उपस्थितियाँ नहीं है। इस कारण घटत्व में शाब्दबोध न होने की आपत्ति है।

इस आपत्ति का वारण करने के लिए **'घटो घटपदशक्यः'** इस शक्ति ज्ञान स्थल में स्वजनकज्ञानीयवृत्तिनिष्ठप्रकारतानिरूपितविशेष्यतावच्छेदकता विशिष्ट प्रकारता सम्बन्ध से उपस्थिति की कारणता पूर्ववत् स्वीकार की जाये। **'शक्तिसम्बन्धेन घटो घटपदविशिष्टः'** इस शक्तिज्ञान स्थल में स्वजनकज्ञानीयवृत्तिनिष्ठसंसर्गतानिरूपित विशेष्यताविशिष्ट प्रकारता सम्बन्ध से उपस्थिति की कारणता स्वीकारी जाये। इस तरह से कारणता स्वीकार सम्भव है क्योंकि यहाँ पर वृत्ति (शक्तिरूप) में संसर्गता आ रही है, उससे निरूपित घटपद निष्ठप्रकारता से निरूपित विशेष्यता घटनिष्ठा और विशेष्यतावच्छेदकता घटत्वनिष्ठा है और उससे विशिष्ट प्रकारता भी घटत्वनिष्ठा है, इसलिए घटत्व में शाब्दबोधोत्पत्ति में कोई बाधक नहीं है। **'घटपदं घटशक्तम्'** इस शक्तिज्ञानस्थल में स्वजनकज्ञानीयशक्तत्वनिष्ठ-प्रकारतानिरूपितावच्छेदकता वच्छेदकताविशिष्ट प्रकारता सम्बन्ध से उपस्थिति की कारणता

का स्वीकार करना चाहिए। इस तरह कारणतास्वीकार समुचित तरीके से हो सकता है। यहाँ पर उपस्थितिजनक इस शक्तिज्ञान की शक्तत्वनिष्ठप्रकारता से निरूपित अवच्छेदकता घट में क्योंकि शक्तत्व घट से विशिष्ट है। उस अवच्छेदकता की अवच्छेदकता घटत्व में है उससे विशिष्ट प्रकारता भी घटत्व में ही है इस प्रकार उक्त प्रकारता सम्बन्ध से घटत्व में उपस्थिति के विद्यमान होने के कारण घटत्व में शाब्दबोध उत्पन्न होने में कोई आपत्ति नहीं है। **'शक्तिसम्बन्धेन घटविशिष्टं घटपदम्'** इस शक्तिज्ञानस्थल में उपस्थितिजनक इस शक्तिज्ञानीय शक्ति निष्ठ संसर्गता से निरूपित प्रकारता घट में और प्रकारतावच्छेदकता घटत्व में है। अतः स्वजनकज्ञानीयशक्तिनिष्ठसंसर्गतानिरूपितप्रकारतावच्छेदकताविशिष्टप्रकारता सम्बन्ध से उपस्थिति की शाब्दबोध के प्रति कारणता स्वीकार सम्भव है।

परन्तु इस प्रकार से शाब्दबोध के प्रति तत्तद् अवच्छेदकता विशिष्ट प्रकारता सम्बन्ध से उपस्थितियों की कारणता का स्वीकार करने परस्पर जन्य शाब्दबोधों में परस्पर उपस्थितियों का अभाव होने के कारण 'कारण न होने पर कार्य का होना' रूप व्यतिरेक व्यभिचार उपस्थित होगा। इस व्यभिचार का वारण करने के लिए तत्तद् अवच्छेदकताविशिष्ट प्रकारता सम्बन्ध से उपस्थिति के अव्यवहितोत्तरजायमान शाब्दबोध के प्रति तत्तद् अवच्छेदकता विशिष्ट प्रकारता सम्बन्ध से उपस्थिति कारण है। ऐसा कार्य कारण भाव स्वीकारना होगा। इस प्रकार से चार अवच्छेदकताओं को पकड़ा गया है इसलिए चार प्रकार से कार्य कारण भाव भी होगा।

इसके अलावा समानविषयक शाब्दबोध के प्रति समानविषयकप्रत्यक्षसामग्री प्रतिबन्धक होती है। किंतु शाब्दबोधेच्छा के रहने पर समान विषयक प्रत्यक्षसामग्री के रहने पर भी शाब्द बोध हुआ करता है, अतः शाब्दबोध सामग्री में शाब्देच्छाविरहविशिष्टसमानविषयक प्रत्यक्षसामग्री के अभाव का भी प्रवेश करना चाहिए। इसके साथ ही **'शक्तिज्ञानाधीनः शाब्दबोधो जायताम्'** ऐसी इच्छा रहने पर समानविषयक प्रत्यक्षसामग्री के रहने पर लक्षणाज्ञानाधीन शाब्दबोध नहीं होता है तथा **'लक्षणाज्ञानाधीनः शाब्दबोधो जायताम्'** ऐसी इच्छा के रहने पर शक्तिज्ञानाधीन शाब्दबोध नहीं होता है। अतः शक्तिज्ञानाधीनोपस्थितिजन्यशाब्देच्छाविरहविशिष्ट प्रत्यक्षसामग्री के अभाव को शाब्द बोध के प्रति कारण मानना चाहिए। शक्तिलक्षणान्यतरत्वेन इनका अनुगम सम्भव न होने कारण **'घटः घटपद शक्यसम्बन्धी' घटः स्वशक्यसम्बन्धित्वरूपलक्षणात्मकसम्बन्धेन घटपदविशिष्टः' 'घटसम्बन्धिशक्तं घटपदम्' 'स्वसम्बन्धिशक्तत्वसम्बन्धेन घटविशिष्टं घटपदम्'** इस प्रकार चतुर्विध लक्षणा ज्ञानाधीन उपस्थितियों की एक रूप से कारणतास्वीकार असम्भव होने के कारण अलग-अलग कारणता को कहना पड़ेगा। अलग-अलग कारणता को कहने पर व्यभिचार होगा परस्पर जन्यबोधों में। अतः कार्यतावच्छेदक कुक्षि में अव्यवहितोत्तरत्व का निवेश कर चार कार्यकारण भाव बनाने पड़ेंगे।

इस तरह इन सब कार्यों में से किसी भी एक कार्य की धर्मितावच्छेदकता सम्बन्ध से शाब्दबोध के प्रति व्यापकता नहीं बन सकेगी। फिर जो ग्रन्थकार का यह कहना है कि प्रकारतासम्बन्ध से शाब्दबोध के धर्मितावच्छेदकतासम्बन्ध से शाब्दबोध के प्रति व्यापक होने से प्रकारता सम्बन्ध से शाब्दबोध के प्रति जो कारण अपेक्षित होता है वह धार्मितावच्छेदकता

सम्बन्ध से भी शाब्दबोध के प्रति अपेक्षित होगा। इसलिए **'प्रमेयो घटः'** यहाँ पर धर्मितावच्छेदकता सम्बन्ध से अनुपस्थित द्रव्यत्व में शाब्दबोध की आपत्ति वारित हो जायेगी। वह खण्डित हो जाता है। तथा धर्मितावच्छेदकता सम्बन्ध से शाब्दबोधोत्पत्ति में प्रकारतासम्बन्ध से शाब्दबोधोत्पत्ति में कारणीभूत उपस्थिति की अपेक्षा न होने के कारण अनुपस्थित द्रव्यत्व में धर्मितावच्छेदकतासम्बन्ध से योग्यताज्ञान के बल से धर्मितावच्छेदकता सम्बन्ध से शाब्दबोध होना ही चाहिए।

इस आशंका का समाधान यूँ दिया जाता है कि— ये जितने भी कार्यतावच्छेदक धर्म कहे गये हैं सभी प्रकारता सम्बन्ध से जायमान शाब्दबोधत्व के व्याप्य है। व्याप्यधर्मावच्छिन्न कार्योत्पत्ति में व्यापकधर्मावच्छिन्नकार्योत्पादकसामग्री की कारणता में कोई भी विवाद नहीं है। अव्यवहितोत्तरत्व का निवेश कर जब कार्यकारणभाव स्वीकार किया गया है तो उक्तविशिष्टप्रकारतासम्बन्ध से उपस्थिति के न होने की दशा में शुद्धप्रकारता सम्बन्ध से उद्बोधकवशात् उपस्थित द्रव्यत्व में शाब्दबोध न हो इसलिए व्यापकधर्मावच्छिन्न कार्य के प्रति व्याप्यधर्मावच्छिन्नयत्किंचित्कार्यसामग्री की अपेक्षा होती है ऐसा स्वीकार करना चाहिए। व्याप्यधर्मावच्छिन्नयत्किंचित् कार्य की सामग्री के अन्तर्गत विशिष्टप्रकारतासम्बन्ध से उपस्थिति भी है उसके न होने के कारण शुद्धप्रकारतासम्बन्ध से उद्बोधकवशात् उपस्थित द्रव्यत्व में शाब्दबोधापत्ति वारित हो जाती है। धर्मितावच्छेदकता सम्बन्ध से शाब्दबोध के प्रति प्रकारतासम्बन्ध से शाब्दबोध की व्यापकता है, अतः जिस सम्बन्ध से यद्धर्मावच्छिन्न कार्य के प्रति जिस सम्बन्ध से यद्धर्मावच्छिन्न कार्य की व्यापकता होती है उस सम्बन्ध से तद्धर्मावच्छिन्न कार्योत्पादक सामग्री की उस सम्बन्ध से तद्धर्मावच्छिन्न कार्योत्पत्ति में अपेक्षा होती है, इस रीति से धार्मितावच्छेदकता-सम्बन्ध से शाब्दबोध के प्रति व्यापकीभूत प्रकारता सम्बन्ध से शाब्दबोध की उत्पत्ति में अपेक्षित सामग्री के अन्तर्गत विशिष्टप्रकारता सम्बन्ध से उपस्थिति भी है। अतः धर्मितावच्छेदकता-सम्बन्ध से शाब्दबोध की उत्पत्ति के लिए भी विशिष्टप्रकारतासम्बन्ध से उपस्थिति की अपेक्षा होगी। अतः द्रव्यत्वादि की अनुपस्थिति दशा में धर्मितावच्छेदकतासम्बन्ध से द्रव्यत्वादि में शाब्दबोध की आपत्ति नहीं है।

**न च पदार्थेऽपि प्रकारतासम्बन्धेन शाब्दबोधोत्पत्त्या तत्र निरुक्तप्रकारता सम्बन्धेन पदार्थोपस्थितेरभावात् प्रकारनिष्ठप्रत्यासत्त्या पदार्थोपस्थितेर्हेतुता व्यभिचारेण कल्पयितुमशक्येति वाच्यम्, परामर्शकारणता विचारदर्शितदिशा-व्यभिचारस्य वारणीयत्वादिति चेत्तर्हि तद्धर्मावच्छिन्नाभेदसंसर्गावच्छिन्न प्रकारतानिरूपितविशेष्यतावच्छेदकतासम्बन्धेन शाब्दबुद्धित्वावच्छिन्नं प्रति तद्धर्मभेदस्यापि हेतुतायाः स्वीकरणीयता घटो घट इत्यादिस्थले न शाब्दबोधः।**

इस **नच से** शुरु होनेवाले ग्रन्थ से आशंका की जाती है कि— पदार्थ में भी प्रकारतासम्बन्ध से शाब्दबोध की उत्पत्ति होती है किन्तु उसमें निरुक्तप्रकारता सम्बन्ध से पदार्थ की उपस्थिति नहीं होने के कारण प्रकारनिष्ठ प्रत्यासत्ति से शाब्दबोध के प्रति पदार्थोपस्थिति की हेतुता व्यभिचार होने के कारण कल्पित करना अशक्य है। अभिप्राय यह है कि समानप्रकारताप्रत्यासत्ति से पदार्थोपस्थिति की शाब्दबोध के प्रति हेतुता स्वीकार की जाती है। इसमें कारणतावच्छेदकीभूत सम्बन्ध का परिष्कार करते हुए कहते हैं कि स्वजनक

ज्ञानीयवृत्तिनिष्ठप्रकारतानिरूपितविशेष्यतावच्छेदकताविशिष्टप्रकारता सम्बन्ध से उपस्थिति प्रकारता सम्बन्ध से शाब्दबोध के प्रति कारण है। निष्कर्ष यह है कि प्रकारता सम्बन्ध से जहाँ पर शाब्द बोध रहे स्वजनकज्ञानीय.......विशिष्ट प्रकारता सम्बन्ध से वहाँ पर उपस्थिति को रहना चाहिए। इसी में व्यतिरेक व्यभिचार दिखला रहे हैं कि **'नीलो घटः'** इत्यादि स्थलों में शाब्दबोध में प्रकारीभूत नील पदार्थ में प्रकारता सम्बन्ध से शाब्दबोध तो है परन्तु नीलपदार्थोपस्थितिजनकशक्तिज्ञानीयशक्तिरूपवृत्तिनिष्ठप्रकारतानिरूपित विशेष्यतावच्छेदकता, जो कि नीलत्व में है, से स्वप्रयोज्यत्व सम्बन्ध से विशिष्टप्रकारतानीलानिष्ठ प्रकारता नहीं है। क्योंकि नीलनिष्ठशाब्दीय प्रकारता उपस्थितीयनीलनिष्ठविशेष्यता से प्रयोज्य होती है न कि नीलत्वनिष्ठ प्रकारता से। इसलिए स्वजनकज्ञानीयवृत्तिनिष्ठ प्रकारतानिरूपित-विशेष्यतावच्छेदकताविशिष्टप्रकारतासम्बन्ध से उपस्थिति के न रहने पर भी प्रकारतासम्बन्ध से शाब्दबोध के नीलपदार्थ में विद्यमान होने के कारण कारणाभाव होने पर कार्यसत्त्वरूप व्यतिरेक व्यभिचार है। अतः इस प्रकार कार्यकारणभाव का स्वीकार उचित व सम्भव नहीं है।

**परामर्श कारणताविचारदर्शितदिशा** से **इति चेत्** तक के वाक्य से इस व्यभिचार के वारण का तरीका बता रहे हैं कि— परामर्शकारणता के विचार में दर्शित दिशा से व्यभिचार का वारण हो जायेगा ऐसा कहो तो । यहाँ पर यह आशय है— परामर्शस्थल में आत्मनिष्ठप्रत्यासत्ति से यदि कार्यकारणभाव माना जाये तो पक्षतावच्छेदक के अनन्त होने से अनन्तकार्यकारणभाव स्वीकार करने होंगे। अतः 'धर्मितावच्छेदकता सम्बन्ध से धूमहेतुक वह्नित्वावच्छिन्नप्रकारताक अनुमिति के प्रति धर्मितावच्छेदकतासम्बन्ध से वह्निव्याप्यधूमत्वावच्छिन्न प्रकारताक परामर्श कारण है' ऐसा धर्मितावच्छेदकनिष्ठप्रत्यासत्ति से कार्यकारणभाव स्वीकारते हैं। इसमें लाघव भी है। किन्तु एक विशेष स्थल में इस कार्यकारणभाव को स्वीकारने में दोष है—जहाँ पर **भाविज्ञानमप्रमा** इस ज्ञान के बाद **वह्निव्याप्यधूमवान् पर्वतः** यह परामर्श हुआ, उसके बाद **वह्निव्याप्यालोकवद्द्रव्यम्** यह परामर्श हुआ। इस द्वितीय परामर्श की उत्पत्तिक्षण में अप्रामाण्यज्ञान का नाश हो गया क्योंकि ज्ञान एकक्षण में उत्पन्न होता है द्वितीय क्षण में रहता है और तृतीय क्षण में नष्ट हो जाता है। इस लिए द्वितीय परामर्श के काल में अप्रामाण्य ज्ञान से दोनों ही परामर्श अनास्कन्दित है। अतः इन दोनों ही परामर्शों के द्वारा मिलकर एक समूहालम्बनात्मक **'पर्वतो वह्निमान् द्रव्यं वह्निमद्'** इस प्रकार उभयलिंगक अनुमिति होती है। यहाँ पर कारणीभूत जो वह्निव्याप्य धूम प्रकारक परामर्श है उसका धर्मितावच्छेदकता सम्बन्ध से द्रव्यत्व में अभाव है, किन्तु धूमलिंगकवह्निप्रकारक अनुमिति धर्मितावच्छेदकता संबन्ध से द्रव्यत्व में है। इसी प्रकार धर्मितावच्छेदकता सम्बन्ध से पर्वतत्व में आलोकलिंगक अनुमिति है किन्तु वह्निव्याप्यालोक प्रकारक परामर्श नहीं है। अतः व्यभिचार प्राप्त होता है इस व्यभिचार का वारण करने के लिए कहा जाता है कि **धर्मितावच्छेदकतासम्बन्ध से वह्निव्याप्यधूमत्वावच्छिन्नप्रकारताक परामर्शज्ञान स्वीयधर्मितावच्छेदकताविशिष्ट धर्मितावच्छेदकतासम्बन्ध से धूमहेतुकवह्नित्वा-वच्छिन्नप्रकारताक अनुमिति के प्रति कारण है।** इसी प्रकार आलोकलिंगक परामर्श और अनुमिति के लिए भी कार्यकारणभान का स्वीकार किया जाता है। यहाँ पर द्रव्यत्ववृत्ति-धर्मितावच्छेदकता में धूमहेतुकपरामर्शीय धर्मितावच्छेदकता का वैशिष्ट्य न होने के कारण

तथा पर्वतत्ववृत्ति धर्मितावच्छेदकता में आलोकहेतुक परामर्शीयधर्मितावच्छेदकता का वैशिष्ट्य न होने के कारण पूर्वोक्त व्यभिचार वारित हो जाते हैं। क्योंकि वैशिष्ट्य न होने के कारण तत्तदनुमितियों के प्रति तत्तत् परामर्शों की कारणता ही नहीं है। अतः न होने पर भी व्यतिरेक व्यभिचार प्रसक्त नहीं होता है।

इसी प्रकार यहाँ पर **स्वजनकज्ञानीयवृत्तिनिष्ठप्रकारतानिरूपित विशेष्यतावच्छेदकताविशिष्टप्रकारतासम्बन्ध से उपस्थिति स्वजनक ज्ञानीयवृत्तिनिष्ठप्रकारतानिरूपितविशेष्यतावच्छेदकताविशिष्टप्रकारताविशिष्ट प्रकारतासम्बन्ध से शाब्दबोध के प्रति कारण है।** इस प्रकार से कारणतावच्छेदक सम्बन्ध का वैशिष्ट्य कार्यतावच्छेदक सम्बन्ध में देकर कार्यकारणभाव की कल्पना करके व्यभिचार का वारण करना चाहिए। ऐसी स्थिति में '**नीलोघटः**' इत्यादि स्थलों में प्रकारीभूतनीलनिष्ठप्रकारता स्वजनकज्ञानीय...... विशिष्ट प्रकारता से विशिष्ट नहीं होती है। अतः उक्त नीलनिष्ठप्रकारतासम्बन्ध से शाब्दबोध के प्रति स्वजनक ज्ञानीय....... विशिष्ट प्रकारतासम्बन्ध से उपस्थिति की कारणता ही नहीं है। अतः इसके न होने पर भी व्यभिचारादि दोष नहीं आयेंगे। इस प्रकार समानप्रकारताप्रत्यासत्ति से उपस्थिति और शाब्दबोध में कार्यकारणभाव स्वीकार करना चाहिए। उसमें कोई आपत्ति नहीं है। इस प्रकार '**घटो घटः**' यहाँ पर धर्मितावच्छेदकतासम्बन्ध से घटत्व में अभेदसंसर्मक घटत्वावच्छिन्नप्रकारक शाब्दबोध की आपत्ति दुरुद्धर है।

अब **तर्हि** से **न शाब्दबोधापत्तिः** तक के ग्रन्थ के द्वारा '**घटो घटः**' इस स्थल में घटत्व में धर्मितावच्छेदकता सम्बन्ध से अभेदसंसर्गक घटत्वावच्छिन्नप्रकारक शाब्दबोध की आपत्ति वारित कर रहे हैं कि— तद्धर्मावच्छिन्न अभेदसंसर्गावच्छिन्नप्रकारतानिरूपित विशेष्यतावच्छेदकतासम्बन्ध से शाब्दबुद्धित्वावच्छिन्न के प्रति तद्धर्मभेद की भी हेतुता स्वीकार करनी चाहिए। अतः '**घटो घटः**' इत्यादिस्थलों में शाब्दबोध की आपत्ति नहीं है। अभिप्राय यह है कि '**घटो घटः**' इस स्थल में आत्मनिष्ठप्रत्यासत्ति से शाब्दबोध के प्रति उपस्थिति, आकाङ्क्षा, योग्यताज्ञान आदि की कारणता यदि स्वीकारें तब तो कारणसामग्री ही नहीं होने के कारण घटत्वावच्छिन्नविशेष्यक घटत्वावच्छिन्नप्रकारक अभेदसंसर्गक शाब्दबोध की आपत्ति नहीं हो सकती है। धर्मितावच्छेदकनिष्ठ प्रत्यासत्ति से शाब्दबोध के प्रति उपस्थिति, आकांक्षा, योग्यताज्ञान आदि की कारणता का स्वीकार करने पर उक्त वाक्य से घटत्व में अभेदसंसर्गक घटत्वावच्छिन्नप्रकारक शाब्दबोध की आपत्ति आती है। इस आपत्ति का वारण करने के लिए धर्मितावच्छेदकनिष्ठप्रत्यासत्ति से शाब्दबोध के प्रति एक अन्यकारण का भी स्वीकार किया जा रहा है कि धर्मितावच्छेदक में अभेदान्वयबोध होने के लिए प्रकारतावच्छेदक का भेद भी अपेक्षित होता है। '**द्रव्यं घटः**' इत्यादि स्थलों में उपस्थित्यादि कारणसामग्री के अतिरिक्त द्रव्यत्व रूप धर्मितावच्छेदक में प्रकारतावच्छेदकीभूत घटत्व का भेद भी विद्यमान है, अतः उक्तस्थल में द्रव्यत्वरूप धर्मितावच्छेदक में अभेदसंसर्गक घटत्वावच्छिन्नप्रकारक शाब्दबोध होता है। किन्तु '**घटो घटः**' में धर्मितावच्छेदक भी घटत्व ही है और प्रकारतावच्छेदक भी घटत्व ही है। अतः धर्मितावच्छेदकीभूत घटत्व में प्रकारतावच्छेदकीभूत घटत्व का भेद नहीं होने के कारण घटत्व में धर्मितावच्छेदकता सम्बन्ध से अभेदसंसर्गक घटत्वावच्छिन्न प्रकारक शाब्दबोध की आपत्ति वारित हो जाती है।

**विमर्श–** नीलादिपदार्थ में भी प्रकारतासम्बन्ध से शाब्दबोध की उत्पत्ति होती है किन्तु उसमें स्वजनक ज्ञानीय..... विशिष्ट प्रकारता सम्बन्ध से उपस्थिति नहीं है। अतः व्यतिरेक व्यभिचार होता है। इसका निवारण करने के लिए यदि हम स्वजनकज्ञानीयवृत्तिनिष्ठ प्रकारतानिरूपितविशेष्यतावच्छेदकताविशिष्टविषयता सम्बन्ध से उपस्थिति को कारण मानें और विशेष्यतावच्छेदकता का वैशिष्ट्य विष्यता में स्वप्रयोज्यत्व स्वनिरूपित धर्मिताप्रयोज्यत्वान्यतर सम्बन्ध से लें। ऐसा करने पर ऐसा लगता है कि दोष वारण सम्भव होगा क्योंकि स्व माने नीलपदजन्य पदार्थोपस्थिति, तज्जनकशक्तिज्ञानीयशक्तिनिष्ठ प्रकारतानिरूपितविशेष्यता नीलनिष्ठा, विशेष्यतावच्छेदकता नीलत्वनिष्ठा उस विशेष्यतावच्छेदकता से प्रयोज्यत्व तो नीलनिष्ठ प्रकारता में नहीं है किन्तु इस विशेष्यतावच्छेदकता से निरूपित धर्मिता नील में है उस धर्मिता से प्रयोज्यत्व नीलनिष्ठप्रकारता में है। तो ऐसा नहीं कहा जा सकता है क्योंकि इस प्रकार से तो उपस्थिति मुख्यविशेष्य घट में भी रहेगी यथा—घटपदजन्य उपस्थिति जनकज्ञानीयवृत्तिनिष्ठप्रकारतानिरूपितविशेष्यतावच्छेदकता (जो कि घटत्व में है) से निरूपित घटनिष्ठधर्मिता से प्रयोज्यत्व घटनिष्ठ विशेष्यता में भी है। किन्तु वहाँ पर कार्यभूत शाब्दबोधप्रकारता सम्बन्ध से नहीं है। इसलिए इस प्रकार से व्यतिरेक व्यभिचार वारण करने का प्रयास करने पर अन्वयव्यभिचार आपन्न हो जाता है।

**स घट इत्यादिवाक्याज्जातित्वादिना घटत्वादिधर्मितावच्छेदककस्य स्वरूपतो घटत्वादिप्रकारतावच्छेदककस्य, घटः स इत्यादि वाक्यात् स्वरूपतो घटत्वादिधर्मितावच्छेदककस्य जातित्वादिविशिष्टघटत्वावच्छिन्नप्रकारताकस्य च शाब्दबोधस्योपपत्तये विशेष्यत्वप्रकारत्वयोरवच्छेदकत्वे निरवच्छिन्नत्वेन विशेषणीये।**

**'स घटः'** इत्यादि वाक्यों से जातित्वादि रूप से घटत्वादि धर्मितावच्छेदकक और स्वरूपतः घटत्वादि प्रकारतावच्छेदकक, **'घटः सः'** इत्यादिवाक्यों से स्वरूपतः घटत्वादि धर्मितावच्छेदकक और जातित्वावच्छिन्नघटत्वावच्छिन्नप्रकारताक शाब्दबोध की उपपत्ति के लिए विशेष्यता और प्रकारता के अवच्छेदकताओं में निरवच्छिन्नत्व विशेषण देना चाहिए ।

अभिप्राय यह है कि अभी पूर्व ग्रन्थ के द्वारा ग्रन्थकार ने कहा है कि तद्धर्मावच्छिन्न अभेदसंसर्गावच्छिन्नप्रकारतानिरूपितविशेष्यतावच्छेदकतासम्बन्ध से शाब्दबोध के प्रति तद्धर्मभेद कारण होता है। **'यः खलु जातिमान् स घट आनेतव्यः'** इस वाक्य में घटक जो **'सः घटः'** यह वाक्य है यहाँ पर तत्पद से घटरूप घटत्वजातिमान् ही बोध्य होता है। इस प्रकार जात्यवच्छिन्न में तत् पद की शक्ति है जो कि विशेष्य बन रहा है। जाति तो स्वरूपतः भास नहीं रही है, जातित्वेन भास रही है। इस तरह जातित्वावच्छिन्नजाति (घटत्व) से अवच्छिन्न अर्थ विशेष्य हुआ। घटत्व स्वरूपतः भास रहा है उसमें कोई अवच्छेदक बन कर नहीं भास रहा है। इस प्रकार **'सः घटः'** इस वाक्य से जो शाब्दबोध हो रहा है वह जातित्वावच्छिन्नजात्यवच्छिन्नविशेष्यक तथा निरवच्छिन्नघटत्वानच्छिन्नप्रकारक व अभेद संसर्गक हो रहा है। जातित्वावच्छिन्न जाति घटत्व ही है। इस तरह विशेष्यतावच्छेदक जो घटत्व है वही घटत्व प्रकारतावच्छेदक भी है। अतः विशेष्यतावच्छेदक में तद्धर्मभेदरूप कारण नहीं है। इसलिए शाब्दबोध नहीं होगा, ऐसी आपत्ति है। जबकि यहाँ पर शाब्दबोध प्रामाणिक है।

इसी प्रकार इसके उल्टे विशेष्यविशेषण भाव होने पर **'घटः सः'** इस वाक्य से जो शाब्दबोध होता है उसमें घटत्वावच्छिन्न विशेष्य तथा जातित्वावच्छिन्न (घटत्व) जात्यवच्छिन्न प्रकार होता है। अभिप्राय यह कि विशेष्यतावच्छेदक भी घटत्व तथा प्रकारतावच्छेदक भी घटत्व ही होता है। अन्तर सिर्फ यह है कि यहाँ पर विशेष्यतावच्छेदकता निरवच्छिन्न तथा प्रकारता वच्छेदकता सावच्छिन्न होती है। इसलिए यहाँ पर भी विशेष्यतावच्छेदक में तद्धर्म भेद नहीं मिल सकेगा। अतः शाब्दबोध न होने की आपत्ति है।

इस पर ग्रन्थकार का समाधान है कि इन दोनों स्थलों पर शाब्दबोध की उपपत्ति के लिए विशेष्यता और प्रकारता की अवच्छेदकताओं में निरवच्छिन्नत्व विशेषण दे देना चाहिए। अभिप्राय यह है कि जहाँ पर विशेष्यतावच्छेदकता और प्रकारतावच्छेदकता निरवच्छिन्न होती हैं वैसे शाब्दबोध के लिए ही तद्धर्मभेद को कारण मानना चाहिए या माना जाता है। जैसे **'घटो घटः'** इत्यादिस्थलों में प्रकारतावच्छेदकता और विशेष्यता वच्छेदकता दोनों ही घटत्वनिष्ठ हैं तथा निरवच्छिन्न हैं। अतः तद्धर्मभेद की कारणता है तथा विशेष्यतावच्छेदक में प्रकारतावच्छेदकीभूत धर्म का भेद न होने के कारण यहाँ पर शाब्दबोध नहीं होता है। **'घटः सः'** या **'सः घटः'** इन वाक्यों में विशेष्यतावच्छेदकता और प्रकारतावच्छेदकता दोनो निरवच्छिन्न नहीं है। अपितु प्रथम में (घटः सः में) प्रकारतावच्छेदकता और द्वितीय में विशेष्यतावच्छेदकता सावच्छिन्न है। इसलिए यहाँ पर तद्धर्मभेद की कारणता ही नहीं है। अतः शाब्दबोध होने में कोई आपत्ति नहीं है। किन्तु इस प्रकार कहने पर **'सः सः'** इस स्थल में भी शाब्द बोध की आपत्ति आयेगी क्योंकि यहाँ पर भी प्रकारतावच्छेदकता और विशेष्यतावच्छेदकता दोनों ही निरवच्छिन्न नहीं है बल्कि दोनों ही सावच्छिन्न हैं। अतः तद्धर्मभेद यहाँ पर कारण नहीं होगा। इसके लिए ग्रन्थकार आगे समाधान पेश करेंगे।

**घटो नीलघटः इत्याद्यन्वयबोधस्य प्रामाणिकत्वेऽन्यत्रदर्शितरीत्या सोऽप्युपपादनीयः।**

**'घटो नीलघटः'** इत्यादि स्थलों में अन्वयबोध के प्रामाणिक होने पर अन्यत्र दिखाये गये तरीके से उसका भी उपपादन करना चाहिए। यहाँ पर ग्रन्थकार ने जो यह कहा है कि **'अन्वयबोधस्य प्रामाणिकत्वे'** उससे यह पता लगता है कि **'घटो नीलघटः'** इस स्थल में शाब्दबोध होता है ऐसा स्वीकारने में विवाद है। कुछ यहाँ पर शाब्दबोध स्वीकार करते हैं कुछ नहीं स्वीकरते हैं। जो नहीं स्वीकारते उनके मत में विशेष्यतावच्छेदक में प्रकारतावच्छेदक का भेद नहीं है अतः कारण ही न होने से **'घटो घटः'** के समतुल्य शाब्दबोध की आपत्ति नहीं है। जो लोग इस स्थल में शाब्दबोध को प्रामाणिक मानते हैं उनके मत में शाब्दबोध का उपपादन कैसे किया जाये? यह समस्या है। क्योंकि पूर्वोक्त कार्यकारणभाव के अनुसार विशेष्यतावच्छेदक में प्रकारतावच्छेदक का भेद होना चाहिए। यहाँ पर विशेष्यतावच्छेदक घटत्व और प्रकारतावच्छेदक नीलघटत्व है, इसलिए विशेष्यतावच्छेदक में प्रकारतावच्छेदक का भेद नहीं है। फिर शाब्दबोध का उपपादन कैसे किया जाये? इसके लिए गदाधर भट्टाचार्य कहते हैं कि **'अन्यत्र दर्शितदिशा सोऽप्युपपादनीयः'** अन्यत्र दिखाये गये रास्ते से उसका उपपादन कर लेना चाहिए। यह अन्यत्र दिखाया गया रास्ता है पर्याप्ति निवेश। अर्थात् **तद्धर्मपर्याप्तावच्छेदकताक**

**अभेदसंसर्गावच्छिन्नप्रकारतानिरूपित विशेष्यतावच्छेदकता सम्बन्ध से शाब्दबोध के प्रति तद्धर्मभेद की कारणता है।** यहाँ पर तो नील घटत्व उभय पर्याप्त है अवच्छेदकता, घटत्व पर्याप्त तो है नहीं। अतः घटत्व का भेद न होने पर भी कोई दोष नहीं है क्योंकि पर्याप्ति के आधार पर भेद हो जाता है।

**विमर्श–** यहाँ पर प्रश्न उठता है कि नीलघटत्वावच्छिन्न अभेदसम्बन्धावच्छिन्नप्रकारतानिरूपित विशेष्यता सम्बन्ध से शाब्दबोध के प्रति यदि नीलभेद और घटत्वभेद दोनों की सम्मिलित कारणता है तो विधेयकोटि में अधिक को विषय करने वाला 'घट नीलघट है' यह बोध नहीं हो सकेगा क्योंकि घटत्व में नीलघटत्वावच्छिन्न अभेदसम्बन्धावच्छिन्न प्रकारता निरूपित विशेष्यता सम्बन्ध से शाब्दबोध होगा, उस घटत्व में नीलभेद और घटत्वभेद होना चाहिए। नीलभेद के होने पर भी घटत्वभेद न होने के कारण शाब्दबोध सम्भव नहीं हो सकेगा। यदि उक्त विशेष्यतासम्बन्ध से शाब्दबोध के प्रति नीलघटत्वोभय भेद की कारणता स्वीकारें तो घटत्व में वह नीलघटत्वोभय भेद मौजूद है (क्योंकि घटत्व नील और घटत्व दोनों नहीं है) अतः '**घटो नीलघटः**' यहाँ पर शाब्दबोध होने में कोई आपत्ति नहीं है। परन्तु नीलघटत्वोभयभेद तो केवलान्वयी है समस्त धर्मों में रहने वाला है, इसलिए '**नीलघटो नीलघटः**' इस वाक्य से समानविशेष्यक समानप्रकारक शाब्दबोध की आपत्ति आयेगी। यहाँ पर आप चाहे घटत्व को विशेष्यतावच्छेदक बनायें चाहे नील को नील घटत्वोभय भेद दोनों में ही मौजूद है। अतः यह आपत्ति बरकरार है।

इसका समाधान करने के लिए **तद्रूपावच्छिन्नानुयोगिताकपर्याप्तिप्रतियोगि अवच्छेदकतानिरूपित अवच्छेद्यतावती अभेदसम्बन्धावच्छिन्नप्रकारता से निरूपित विशेष्यतावच्छेदकतात्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकपर्याप्त्यनुयोगितावच्छेदकत्वसम्बन्ध से शाब्दबोध के प्रति तद्रूपभेद कारण है** ऐसा स्वीकार करना चाहिए। **घटो नीलघटः** यहाँ पर नीलघटत्व उभयगतद्वित्वरूप से अवच्छिन्न अनुयोगिताकपर्याप्तिप्रतियोगि अवच्छेदकता नीलघटत्व उभयनिष्ठ है क्योंकि नीलघटत्व दोनों ही प्रकारता के अवच्छेदक बन रहे हैं, उभयपर्याप्त प्रकारतावच्छेदकता है। नीलघटत्व उभयनिष्ठ जो द्वित्वावच्छिन्नानुयोगिताक-पर्याप्तिप्रतियोगि अवच्छेदकता उससे निरूपित अवच्छेद्यतावती प्रकारता नीलघटनिष्ठ प्रकारता (जोकि अभेद सम्बन्ध से अवच्छिन्न है क्योंकि अभेदसम्बन्ध से नीलघट घट में प्रकार होता है) से निरूपित विशेष्यता घट में, विशेष्यतावच्छेदकता घटत्व मात्र में पर्याप्त है । अतः विशेष्यतावच्छेदकतात्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकपर्याप्ति अनुयोगिता घटत्वमात्र में और अनुयोगिता-वच्छेदकत्व घटत्वगत एकत्व में पहुँचता है। उक्त अनुयोगितावच्छेदकत्वसम्बन्ध से शाब्दबोध के प्रति तद्रूपभेद कारण है। यहाँ पर उक्त अनुयोगितावच्छेदकत्वसम्बन्ध से शाब्दबोध एकत्व में हो रहा है, उसमें तद्रूप (द्वित्व) का भेद विद्यमान है। कोई दोष नहीं ।

यहाँ पर प्रश्न हो सकता है कि उभयपर्याप्त भी प्रकारतावच्छेदकता वस्तुतः घटत्व में ही पर्याप्त है ऐसी स्थिति में तद्रूपपद से घटत्व गत एकत्व को ही पकड़ना होगा और फिर एकत्वावच्छिन्नानुयोगिताकपर्याप्तिप्रतियोगि अवच्छेदकतानिरूपित अवच्छेद्यतावती अभेद सम्बन्धावच्छिन्नप्रकारता नीलघटनिष्ठप्रकारता से निरूपित विशेष्यतावच्छेदकतात्वावच्छिन्न प्रतियोगिताकपर्याप्त्यनुयोगितावच्छेदकत्व के घटत्वगत एकत्व में ही रहने के कारण और उसमें तद्रूपभेद न होने के कारण शाब्दबोध नहीं होना चाहिए। जब कि '**घटो नीलघटः**

यहाँ पर शाब्दबोध अनुभवसिद्ध है।

इस पर समाधान यह है कि— **स्वनिरूपितावच्छेदकतात्वावच्छिन्नप्रतियोगिताक पर्याप्ति अनुयोगितावच्छेदकत्वसम्बन्ध से तद्रूपवृत्ति जो अभेदसम्बन्धावच्छिन्न प्रकारता उससे निरूपितविशेष्यतावच्छेदकतात्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकपर्याप्ति अनुयोगितावच्छेदकत्वसम्बन्ध से शाब्दबोध के प्रति तद्रूपभेद कारण है।** ऐसा स्वीकारते हैं। नीलघटनिष्ठ अभेदसम्बन्धावच्छिन्नप्रकारता स्वनिरूपितावच्छेदकतात्वावच्छिन्न-प्रतियोगिताकपर्याप्त्यनुयोगितावच्छेदकत्वसम्बन्ध से नीलघटत्वोभयगत द्वित्व में ही वृत्ति होती है। क्योंकि स्व माने नीलघटनिष्ठप्रकारता उससे निरूपित अवच्छेदकता नीलघटत्वोभयपर्याप्त है। अवच्छेदकतात्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकपर्याप्ति की अनुयोगिता उभयगत तथा अनुयोगिता-वच्छेदकत्व उभयगत द्वित्व में है। उस द्वित्व का भेद उस प्रकारता से निरूपित विशेष्यता-वच्छेदकतात्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकपर्याप्त्यनुयोगितावच्छेदक घटत्वगत एकत्व में विद्यमान है। अतः शाब्दबोध होने में कोई आपत्ति नहीं है।

यहाँ पर आशंका होती है कि जातित्वाच्छिन्नघटत्वनिष्ठप्रकारतावच्छेदकताक जो '**घटः सः**' इस वाक्य से जायमान शाब्दबोध है उसमें— अभेदसम्बन्धावच्छिन्नप्रकारता स्वनिरूपित अवच्छेदकतात्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकपर्याप्त्यनुयोगितावच्छेदकत्व सम्बन्ध से जातित्वावच्छिन्न घटत्ववृत्ति एकत्व में वृत्ति होती है। और अभेदसम्बन्धावच्छिन्नप्रकारतानिरूपित विशेष्यता-वच्छेदकतात्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकपर्याप्यनुयोगितावच्छेदकत्व घटत्वनिष्ठ एकत्व में है। इस एकत्व में तद्रूपभेद नहीं है क्योंकि ये दोनों ही एकत्व घटत्व निष्ठ है। घटत्वगत एकत्व में भेदसम्भव न होने के कारण इस स्थल में शाब्दबोध नहीं होना चाहिए जबकि शाब्दबोध अनुभवसिद्ध है।

इसका समाधान किया जाता है कि—**स्वविशिष्टधर्मावच्छिन्नानुयोगिताकपर्याप्ति प्रतियोगिभूतावच्छेदकतानिरूपितावच्छेद्यतावद् भेदसम्बन्धावच्छिन्नप्रकारता निरूपितविशेष्यतावच्छेदकतात्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकपर्याप्त्यनुयोगितावच्छेदकत्व सम्बन्ध से शाब्दबोध के प्रति स्वनिरूपितावच्छेदकतात्वावच्छिन्नप्रतियोगिताक पर्याप्त्यनुयोगितावच्छेदकरूपभेद कारण होता है। स्व का धर्म में वैशिष्ट्य स्वनिरूपितनिरवच्छिन्नावच्छेदकतात्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकपर्याप्त्यनुयोगिता-वच्छेदकत्वसम्बन्ध से लेना है।** स्वपद से अभेदसम्बन्धावच्छिन्न प्रकारता को लेना है। '**घटः सः**' यहाँ पर अभेदसम्बन्धावच्छिन्न प्रकारता से कोई भी धर्म स्वनिरूपित निरवच्छिन्नावच्छेदकतात्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकपर्याप्त्यनुयोगितावच्छेदकत्व सम्बन्ध से विशिष्ट नहीं होता है। अतः स्वविशिष्टधर्मावच्छिन्न आदि का गमन सम्भव नहीं होता है। इसलिए इसनियम या कार्यकारणभाव के यहाँ पर लागू ही न होने के कारण कोई दोष नहीं है।

यद्यपि अवच्छेदकता में निरवच्छिन्नत्व का निवेश कर देने मात्र से '**घटः सः**' इस स्थल का शाब्दबोधानापत्ति दोष वारित किया जा सकता है परन्तु अवच्छेदकता में निरवच्छिन्नत्वनिवेश मात्र करने पर नीलघटत्वावच्छिन्न प्रकारता की निरवच्छिन्न अवच्छेदकता के घटत्व में ही रहने के कारण नील में न होने से नीलघटनिष्ठप्रकारतानिरूपित निरवच्छिन्नावच्छेदकतात्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकपर्याप्त्यनुयोगितावच्छेदकत्व सम्बन्ध से घटत्वनीलोभयावच्छिन्नप्रकारता भी घटत्वगतैकत्ववृत्ति हो जाती है और उसका भेद घटत्व गत एकत्व में न होने के कारण '**घटो नीलघटः**' इस स्थल में शाब्दबोध न हो पायेगा।

पूर्वोक्त प्रकार से निवेश करने पर तो यह आपत्ति भी वारित हो जाती है देखें— स्व माने नीलघटनिष्ठ अभेदसम्बन्धावच्छिन्नप्रकारता। उससे विशिष्ट धर्म हुआ घटत्वनिष्ठ एकत्व क्योंकि उक्त प्रकारता से निरूपित निरवच्छिन्न अवच्छेदकता (घटत्वनिष्ठा) त्वावच्छिन्न प्रतियोगिताकपर्याप्ति का अनुयोगी घटत्व, अनुयोगितावच्छेदक घटत्वगत एकत्व है। उस एकत्वावच्छिन्नानुयोगिताकपर्याप्तिप्रतियोगिभूत अवच्छेदकता घटत्वष्ठिा उससे निरूपित अवच्छेद्यतावती अभेदसम्बन्धावच्छिन्नप्रकारता नीलघटनिष्ठा उससे निरूपित विशेष्यता घटनिष्ठा विशेष्यतावच्छेदकतात्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकपर्याप्त्यनुयोगितावच्छेदकत्व घटत्ववृत्ति एकत्व में पहुँचा। उस एकत्व में स्वनिरूपित (उक्त प्रकारता निरूपित) अवच्छेदकतात्वावच्छिन्न-प्रतियोगिताकपर्याप्त्यनुयोगितावच्छेदक रूप भेद आना चाहिए और उक्त प्रकारता निरूपित अवच्छेदकता नीलघटत्वोभयनिष्ठा है, अतः यह अनुयोगितावच्छेदक रूप होगा नीलघटत्वोभयगतद्वित्व । उस द्वित्व का भेद एकत्व में विद्यमान है। अतः दोष वारित हो जाता है। **'नीलघटो नीलघटः'** इत्यादिस्थलें में भी नीलघटत्वोभयगत द्वित्व में नील घटत्वोभयगत द्वित्व का भेद न होने के कारण कोई दोष (शाब्दापत्ति) नहीं है।

इस तरह निर्वचन करने पर उद्देश्य अंश में अधिकावगाही शाब्दबोध की आपत्ति होगी। जैसे कि **'नीलघटो घटः'** यहाँ पर। क्योंकि विशेष्यतावच्छेदकतात्वावच्छिन्न प्रतियोगिताक-पर्याप्त्यनुयोगितावच्छेदकीभूत नीलघटत्वोभयगत द्वित्व में प्रकारतावच्छेदकतात्वावच्छिन्न प्रतियोगितापर्याप्त्यनुयोगितावच्छेदक घटत्वगत एकत्व का भेद विद्यमान है। इसलिए **'स्वनिरूपित अभेदसम्बन्धावच्छिन्न विशेष्यतावच्छेदकता सम्बन्ध से शाब्दबोध के प्रति स्वविशिष्ट भेद कारण है। वैशिष्ट्यनियामक सम्बन्ध हैं स्वावच्छेदक-तात्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकपर्याप्त्यनुयोगितावच्छेदक धर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्व और स्वनिरूपितविशेष्यतावच्छेदकतात्वावच्छिन्नप्रतियोगिताक पर्याप्त्य-नुयोगितावच्छेदकरूपावच्छिन्नानुयोगिताकत्व** ऐसा निर्वचन करना चाहिए। **'घटो नीलघटः'** यहाँ पर नीलघटत्वोभयगतद्वित्ववान् न यह भेद घटत्व में एकत्वावच्छेदेन विद्यमान है। और यह भेद उक्त उभयसम्बन्ध से स्व यानी अभेदसम्बन्धावच्छिन्न प्रकारता से विशिष्ट है। देखें— प्रथम सम्बन्ध स्व माने अभेदसम्बन्धावच्छिन्न प्रकारता उसका अवच्छेदक नीलघटत्व, अवच्छेदकता पर्याप्ति सम्बन्ध से नील घटत्व उभय में है। अतः पर्याप्ति का प्रतियोगी हुई अवच्छेदकता और अनुयोगी हुआ नीलघटत्वोभय। इस तरह स्वावच्छेदकतात्वावच्छिन्न प्रतियोगिताकपर्याप्त्यनुयोगी हुआ नीलघटत्वोभय। अनुयोगितावच्छेदक हुआ उभयगतद्वित्व। नीलघटत्वोभयगतद्वित्ववान् न इस भेद की प्रतियोगिता अनुयोगितावच्छेदक धर्म द्वित्व से अवच्छिन्न है। अतः इस भेद में उक्त अनुयोगितावच्छेदकधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्व रूप प्रथम सम्बन्ध विद्यमान है। दूसरा सम्बन्ध— स्व माने अभेदसम्बन्धावच्छिन्न नीलघटनिष्ठ प्रकारता, उससे निरूपित विशेष्यता घट में, विशेष्यतावच्छेदक घटत्व, विशेष्यतावच्छेदकता पर्याप्ति सम्बन्ध से रहेगी घटत्व मात्र में, इसलिए विशेष्यतावच्छेदकतात्वावच्छिन्नप्रतियोगिताक पर्याप्ति का अनुयोगी हुआ घटत्व, अनुयोगितावच्छेदक रूप हुआ घटत्वगत एकत्व। चूँकि उसी घटत्व में ही नीलघटत्वोभयद्वित्ववान् न यह भेद भी विद्यमान है। अतः इस भेद की अनुयोगिता भी घटत्व में है और इस अनुयोगिता का अवच्छेदक घटत्व गत एकत्व है। इस

प्रकार पूर्वोक्त अनुयोगितावच्छेदकरूपावच्छिन्न अनुयोगिताकत्व भी उक्त भेद में विद्यमान है। इस तरह दोनों ही सम्बन्धों से स्वविशिष्टभेद रूप कारण विद्यमान रहने पर यहाँ पर शाब्द बोध होने में कोई आपत्ति नहीं है।

**'नीलघटो घटः'** तथा **'नीलघटो नीलघटः'** यहाँ पर शाब्द बोध होने की आपत्ति नहीं है, क्योंकि उद्देश्यकोटि में अधिकावगाही शाब्दबोध में (प्रथम वाक्य में) नीलघटत्वोभयगत द्वित्वावच्छेदेन (अर्थात् नीलघटत्व उभय में) 'घटत्वगत एकत्ववान्न' यह भेद आना चाहिए तभी उक्त दोनों सम्बन्धों से अभेदसम्बन्धावच्छिन्न प्रकारता से विशिष्ट भेद हो सकेगा। किन्तु यह भेद नीलघटत्व उभय में आना सम्भव नहीं है। कारण यह है कि घटत्व में एकत्व विद्यमान ही है। द्वितीय वाक्य में तो नीलघटत्वोभय में 'नीलघटत्वगतद्वित्ववान् न' यह भेद आना चाहिए जो कि कथमपि सम्भव नहीं है। नीलघटत्वोभय तो नीलघटत्वनितष्ठद्वित्ववान् ही हैं। अतः इन दोनों स्थलो में शाब्दबोध की आपत्ति नहीं है।

यद्यपि इस प्रकार परिष्कार करने पर **'सः घटः' 'घटः सः'** इन दोनों स्थलों में शाब्दबोध की अनुपपत्ति है। क्योंकि एकत्वावच्छेदेन एकत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताक भेद तो आना सम्भव ही नहीं है। यदि इन स्थलों पर आपत्ति का वारण करने के लिए निरवच्छिन्न अवच्छेदकता का प्रवेश करें तो उद्देश्य अंश में अधिक को विषय करनेवाला भी शाब्दबोध हो जायेगा। क्योंकि निरवच्छिन्नावच्छेदकतात्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकपर्याप्त्यनुयोगितावच्छेदक तो घटत्वगत एकत्व ही होगा। नीलगतावच्छेदकता सावच्छिन्ना है, निरवच्छिन्ना नहीं। अतः निरवच्छिन्नावच्छेदकता का प्रवेश करना सम्भव नहीं है।

इस आपत्ति का निवारण करने के लिए पूर्वोक्त कार्यकारणभाव में कार्यतावच्छेदक सम्बन्ध स्वनिरूपिताभेदसम्बन्धावच्छिन्नविशेष्यतावच्छेदकतासम्बन्ध के स्थान पर **'निरवच्छिन्न घटत्वादिनिष्ठावच्छेदकताकाभेदसम्बन्धावच्छिन्नप्रकारताकविशेष्यतानिरूपित निरवच्छिन्नावच्छेदकता सम्बन्ध'** का निवेश करना चाहिए । अर्थात् इस सम्बन्ध से शाब्दबोध के प्रति स्वविशिष्ट भेद कारण है। **'सः घटः' 'घटः सः'** इन दोनों स्थलों में प्रथम में विशेष्यतानिरूपित निरवच्छिन्न अवच्छेदकता नहीं है। द्वितीय में निरवच्छिन्न घटत्वादिनिष्ठ अवच्छेदकताकाभेदसम्बन्धावच्छिन्न प्रकारता नहीं है। अतः इन दोनों स्थलों पर स्वविशिष्ट भेद की कारणता ही नहीं है। अतः कोई दोष नहीं है। **घटो नीलघटः** यहाँ पर घटत्व में उक्त सम्बन्ध से शाब्दबोध उत्पन्न होता है क्योंकि घटत्व में निरवच्छिन्न अवच्छेदकता है। अतः उसके प्रति कारण होगा ही घटत्व भेद जो कि हैं नहीं।

इन समस्त कार्यकारणभावों में आपत्ति सम्भव है। कहीं पर प्रकार दल ही उद्देश्य और विशेष्यदल ही विधेय हो सकता है। विधेयता न तो प्रकारतानियत होती है और न तो उद्देश्यता ही विशेष्यतानियत होती है। यद्यपि इसमें मतभेद हो सकता है। परन्तु यदि ऐसा स्वीकारें तो अधिकावगाहिविशेष्यक शाब्दबोध भी स्वीकृत होगा क्योंकि अधिकावगाहिविशेष्यक होने पर भी अधिकावगाही उद्देश्यक भी वह होगा इसमें संदेह है। विशेष्य उद्देश्य ही होगा यह नियम तो इसमत में स्वीकार्य न होगा। ऐसी परिस्थिति में समस्त कार्यकारणभावों में प्रकारता और विशेष्यता के स्थान पर विधेयता और उद्देश्यता का निवेश करना चाहिए।

**एवं स स इत्यादि वाक्याज्जातित्वाद्यवच्छिन्नधर्मितावच्छेदकताकतद्धर्मावच्छिन्नप्रकारतावच्छेदकताकाभेदान्वयबोधस्य वारणाय तद्धर्मावच्छिन्नावच्छेदकताकप्रकारतानिरूपितधर्मितावच्छेदकतावच्छेदकत्वप्रत्यासत्त्या शाब्दबोधं प्रति तद्धर्मभेदस्य पृथक्कारणत्वं कल्पनीयम् ।**

अभी '**घटः सः**' '**सः घटः**' इन स्थलों पर शाब्दबोधापत्ति का वारण करने के लिए जो परिष्कार आदि किये गये उसका सार यही था कि— **जहाँ पर प्रकारतावच्छेदकता और विशेष्यतावच्छेदकताएँ दोनो ही निरवच्छिन्न मिलेंगी वहाँ पर स्वविशिष्ट भेद की कारणता होगी जहाँ पर दोनों में से कोई भी निरवच्छिन्न नहीं होगी वहाँ पर स्वविशिष्ट भेद की कारणता नहीं होगी ।** इन दोनों ही स्थलों में एक में प्रकारता वच्छेदकता और एक में विशेष्यतावच्छेदकता निरवच्छिन्न नहीं मिलती है। अतः स्वविशिष्ट भेद की कारणता नहीं है। '**नीलघटो घटः**' यहाँ पर जब घटत्वनिष्ठ विशेष्यतावच्छेदकता को हम पकड़ते हैं तो विशेष्यतावच्छेदकता और प्रकारतावच्छेदकता दोनों ही निरवच्छिन्न मिल जाते हैं। अतः स्वविशिष्टभेद की कारणता यहाँ पर आवश्यक होती है। अब ग्रन्थकार एक ऐसा स्थल दिखला रहे हैं जहाँ प्रकारतावच्छेदकता और विशेष्यतावच्छेदकता दोनों ही निरवच्छिन्न नहीं हैं बल्कि सावच्छिन्न हैं। किन्तु वहाँ पर शाब्दबोध नहीं होता है। स्वविशिष्ट भेद की तो वहाँ करणता ही नहीं है फिर कौन सा कारण न रहने के कारण वहाँ पर शाब्दबोध नहीं होता ? —

'**स सः**' इत्यादि वाक्यों से जातित्वावच्छिन्नधर्मितावच्छेदकताक और जातित्वावच्छिन्न प्रकारतावच्छेदकताक अभेदान्वय बोध का वारण करने के लिए तद्धर्मावच्छिन्न प्रकारता निरूपित धर्मितावच्छेदकतावच्छेदकत्व सम्बन्ध से शाब्दबोध के प्रति तद्धर्मभेद की भी कारणता पृथक् स्वीकार करनी चाहिए।

अभिप्राय यह है कि जहाँ पर प्रकारतावच्छेदक और विशेष्यतावच्छेदक निरवच्छिन्न होते हैं ऐसे अभेदान्वयबोध में प्रकारतावच्छेदक और विशेष्यतावच्छेदक के भेद की अपेक्षा होती है । उसी प्रकार जहाँ पर प्रकारतावच्छेदक और विशेष्यतावच्छेदक सावच्छिन्न होते हैं वहाँ पर प्रकारतावच्छेदकतावच्छेदक और विशेष्यतावच्छेदकतावच्छेदक के भेद की अपेक्षा होती है। तथा इस भेद की कारणता स्वीकृत की जाती है। इसी बात को ग्रन्थकार ने मूल ग्रन्थ की उपर्युक्त पंक्तियों के द्वारा बतलायी है। ग्रन्थकार का कथन है कि सावच्छिन्नावच्छेदकताक शाब्दबोध धर्मितावच्छेदकतावच्छेदकत्वसम्बन्ध से धर्मितावच्छेदकतावच्छेदक में होता है तथा धार्मितावच्छेदकतावच्छेदकत्व सम्बन्ध से शाब्दबोध के प्रति तद्धर्मभेद की भी कारणता हुआ करती है। उदाहरण के रूप में '**जातिमान् प्रमेयवान्**' को देख सकते हैं। यहाँ पर विशेष्यतावच्छेदक जाति जातित्व से और प्रकारतावच्छेदक प्रमेय प्रमेयत्व से अवच्छिन्न है। विशेष्यतावच्छेदकतावच्छेदक जातित्व में प्रकारतावच्छेदकतावच्छेदक प्रमेयत्व का भेद विद्यमान होने से शाब्दबोध की उत्पत्ति में कोई आपत्ति नहीं है। '**सः सः**' में जाति ही धर्मितावच्छेदक और जाति ही प्रकारतावच्छेदक है। जातित्व धर्मितावच्छेदकतावच्छेदक हुआ, उसमें प्रकारतावच्छेदकतावच्छेदक का भेद नहीं है क्योंकि प्रकारतावच्छेदकतावच्छेदक भी जातित्व ही है। इसलिए शाब्दापत्ति वारित हो जाती है।

**एवम्– 'दण्डवान् दण्डवान्' इत्यादिवाक्याद् दण्डसंयोगत्वाद्यवच्छिन्नवति तदवच्छिन्नवदभेदान्वयबोधस्य वारणाय दण्डसंयोगत्वाद्यवच्छिन्नावच्छेदकताकप्रकारतानिरूपितविशेष्यतानिरूपितसंयोगत्वाद्यवच्छिन्नावच्छेदकतानिरूपितावच्छेदकतावच्छेदकत्वसम्बन्धेन शाब्दबोधे दण्डत्वादिभेदस्यापि पृथक् कारणत्वं कल्पनीयम्। अवच्छेदकतायां निरवच्छिन्नत्वनिवेशोऽपि पूर्ववद् बोध्यः।**

जिस प्रकार '**स सः**' इस स्थल में शाब्दबोध उचित नहीं है उसी प्रकार '**दण्डवान् दण्डवान्**' इस स्थल में भी शाब्दबोध नहीं होना चाहिए। सावच्छिन्न अवच्छेदकताक शाब्दबोध स्थलों में विशेष्यतावच्छेदकतावच्छेदक में प्रकारतावच्छेदकतावच्छेदक का भेद आना आव्श्यक है। तथा उन शाब्दबोधों के प्रति इस भेद की कारणता भी स्वीकार की गयी है। '**स सः**' इस स्थल में शाब्दबोध का वारण भी इसी प्रकार किया गया है। परन्तु '**दण्डवान् दण्डवान्**' यह ऐसा स्थल है जहाँ पर विशेष्यतावच्छेदक और प्रकारतावच्छेदक दोनों ही सावच्छिन्न हैं यहाँ पर विशेष्यतावच्छेदकतावच्छेदक में प्रकारतावच्छेदकतावच्छेदक का भेद भी विद्यमान है। परन्तु शाब्दबोध अनुभवसिद्ध नहीं है, उसकी आपत्ति है इसीका निवारण ग्रन्थकार करते हैं कि—

'**दण्डवान् दण्डवान्**' इत्यादि वाक्यों से दण्डसंयोगत्वाद्यवच्छिन्नवत् में दण्डसंयोगत्वावच्छिन्नवत् के अभेदान्वयबोध का वारण करने के लिए दण्डसंयोगत्वादि से अवच्छिन्न अवच्छेदकताकप्रकारता से निरूपितविशेष्यतानिरूपितसंयोगत्वादि अवच्छिन्न अवच्छेदकतानिरूपित अवच्छेदकतावच्छेदकत्व–सम्बन्ध से शाब्दबोध में दण्डत्वादिभेद की भी पृथक् कारणता कल्पित करनी चाहिए। अवच्छेदकता में निरवच्छिन्नत्वनिवेश भी पूर्ववत् समझना चाहिए।

यहाँ पर आशय यह है कि '**दण्डवान् दण्डवान्**' यहाँ पर मतुप् की शक्ति सम्बन्धी में होने के कारण दण्डसंयोगवान् दण्डसंयोगवान् यह अर्थ हुआ यहाँ पर प्रथम पद विशेष्य और द्वितीय पद प्रकार है। अर्थात् दण्डसंयोगवत् ही विशेष्य भी है और प्रकार भी है। दण्डसंयोगवत् में दण्डसंयोगवत् के अभेदान्वयबोध की आपत्ति है। यहाँ पर अभेदान्वय बोध का वारण करने के लिए कह रहे हैं कि दण्डसंयोगत्वादि से अवच्छिन्न अवच्छेदकता (दण्डसंयोगनिष्ठा) निरूपक प्रकारता (दण्डसंयोगवत् निष्ठा) से निरूपित विशेष्यता (दण्ड संयोगवत् निष्ठा) निरूपित दण्डसंयोगत्वावच्छिन्न (दण्डसंयोगनिष्ठ) अवच्छेदकता की अवच्छेदकता (दण्डनिष्ठा) का अवच्छेदकत्व दण्डत्व में इस सम्बन्ध से शाब्दबोध के प्रति दण्डत्वादिभेद की भी पृथक् कारणता स्वीकारनी चाहिए। निष्कर्षतः जहाँ पर प्रकारतावच्छेदकतावच्छेदकतावच्छेदक और विशेष्यतावच्छेदकतावच्छेदकतावच्छेदक भास रहे हों वहाँ पर विशेष्यतावच्छेदकतावच्छेदकतावच्छेदक में प्रकारतावच्छेदकतावच्छेदकतावच्छेदक का भेद भी शाब्दबोध के प्रति कारण होता है। जो कि यहाँ पर नहीं है। इसलिए शाब्दबोध वारित हो जाता है। '**जातिमद्वान् दण्डवान्**' इत्यादिस्थलों में प्रकारतावच्छेदकतावच्छेदकता–वच्छेदक और विशेष्यतावच्छेदकतावच्छेदकतावच्छेदक में भेद न होने पर भी (इनका ऐक्य होने पर भी) शाब्दबोध (अभेदान्वयबोध) इष्ट है क्योंकि विशेष्यतावच्छेदकतावच्छेदकता-वच्छेदक बनकर जो दण्डत्व भास रहा है वह स्वरूपतः नहीं भास रहा है बल्कि जातित्वेन

भास रहा है। प्रकारतावच्छेदकतावच्छेदकतावच्छेदक बन कर दण्डत्व स्वरूपतः भास रहा है। अतः '**सः घट**' की तरह शाब्दबोध यहाँ पर इष्ट है। अतः यहाँ के लिए भी कहा कि अवच्छेदकता में निरवच्छिन्नत्व विशेषण पूर्ववत् देना चाहिए। इसलिए यहाँ पर कोई आपत्ति नहीं आती है।

**वस्तुतस्तु तद्धर्मान्यवृत्तिविषयतासम्बन्धेन ज्ञानं प्रति तद्धर्मभेदत्वेन हेतुता कल्प्यते लाघवात्।**

'**घटो घटः**' '**सः सः**' '**दण्डवान् दण्डवान्**' इत्यादिस्थलों पर शाब्दबोध वारण करने के लिए पृथक्-पृथक् कार्यकारणभावों के विषय में कल्पना की गयी। किन्तु इस प्रकार अनेक कार्यकारण भावों की कल्पना करनी पड़ती है। अतः गौरव है। चूँकि व्याप्यधर्मावच्छिन्न कार्य की उत्पत्ति में व्यापकधर्मावच्छिन्न कार्योत्पादकसामग्री अपेक्षित हुआ करती है। शाब्दबोध के प्रति ज्ञान की व्यापकता है। इसलिए ज्ञान के साथ ही ऐसा कार्यकारण भाव बतला रहे हैं कि जिससे यह सभी शाब्दबोधों की आपत्ति वारित हो जाये।

वस्तुतः तो तद्धर्मान्यवृत्तिविषयतासम्बन्ध से ज्ञान के प्रति तद्धर्मभेद की हेतुता कल्पित करते हैं लाघव होने से। तद्धर्म पद से विशेषणकोटि में प्रविष्ट पदार्थ गत धर्म को लेना है जैसे कि प्रकारतावच्छेदक, प्रकारतावच्छेदकतावच्छेदक इत्यादि, तदन्यपद से विशेष्यतावच्छेदक, विशेष्यतावच्छेदकतावच्छेदक इत्यादि। उदाहरण के तौर पर देखें— '**नीलो घटः**' यह पर प्रकार है नील, विशेष्य है घट। प्रकारतावच्छेदक नीलत्व को तद्धर्मपद से लें, तद्धर्मान्य घटत्व हुआ, घटत्व वृत्ति विशेष्यतावच्छेदकता रूप विषयता सम्बन्ध से शाब्दबोधात्मक ज्ञान के प्रति तद्धर्मभेद (नीलत्वभेद) कारण होगा। यह तद्धर्म भेद घटत्व में विद्यमान है। अतः शाब्दबोध होने में कोई आपत्ति नहीं है। '**घटो घटः**' इत्यादि स्थलों में तद्धर्म घटत्व हुआ, तदन्यवृत्तिविषयतासम्बन्ध से ज्ञान उत्पन्न नहीं हो रहा है। इस प्रकार तद्धर्मभेद रूप कारण न होने के कारण शाब्दबोधापत्ति वारित हो जाती है।

**एवं च घटत्वाद्यवच्छिन्नप्रकारतानिरूपितविशेष्यतावच्छेदकतासम्बन्धेन शाब्दबोधं प्रति घटत्वाद्यन्यवृत्तिविषयतासम्बन्धेन ज्ञानत्वावच्छिन्नस्य व्यापकतया घटत्वादौ तादृशविषयतासम्बन्धेन ज्ञानत्वावच्छिन्नोत्पादक सामग्रीविरहेण न तत्र तादृशविशेष्यतावच्छेदकतासम्बन्धेन शाब्दबोधापत्तिः। एवं घटवान् घटवान् इत्यादिशाब्दबोधवारणानुरोधेन धर्मितावच्छेदकतावच्छेदकादिनिष्ठप्रत्यासत्त्या कारणत्वान्तरमपि न कल्प्यते।**

ग्रन्थकार खुद भी '**घटो घटः**' यहाँ पर उक्त नियम से (कार्यकारणभाव से) कैसे शाब्दबोधापत्ति वारित होगी यह बतला रहे हैं कि– इस प्रकार घटत्वाद्यवच्छिन्नप्रकारता निरूपितविशेष्यतावच्छेदकतासम्बन्ध से शाब्दबोध के प्रति घटत्वाद्यन्यवृत्तिविषयता सम्बन्ध से ज्ञानत्वावच्छिन्न की व्यापकता होने के कारण घटत्वादि में घटत्वाद्यन्यवृत्तिविषयता सम्बन्ध से ज्ञानत्वावच्छिन्नोत्पादक सामग्री का अभाव होने के कारण वहाँ पर घटत्वाद्यवच्छिन्न प्रकारतानिरूपितविशेष्यतावच्छेदकता सम्बन्ध से शाब्दबोधापत्ति नहीं है। और '**घटवान् घटवान्**' इत्यादिशाब्दबोधों के वारण के अनुरोध से धार्मितावच्छेदकतावच्छेदकादिनिष्ठ प्रत्यासत्त्या कारणान्तर की कल्पना भी नहीं करनी पड़ती।

ग्रन्थकार का आशय यह है कि व्यात्त्यधर्मावच्छिन्नकार्य की उत्पत्ति के प्रति व्यापक धर्मावच्छिन्नकार्योत्पादकसामग्री की भी अपेक्षा हुआ करती है। घटत्वाद्यवच्छिन्नप्रकारता निरूपितविशेष्यतावच्छेदकतासम्बन्ध से शाब्दबोध के प्रति घटत्वाद्यन्यवृत्तिविषयतासम्बन्ध से ज्ञानत्वावच्छिन्न की व्यापकता है। इसलिए घटत्वाद्यवच्छिन्नप्रकारतानिरूपित विशेष्यतावच्छेदकतासम्बन्ध से शाब्दबोध की उत्पत्ति के लिए घटत्वाद्यन्यवृत्ति विषयतासम्बन्ध से ज्ञानोत्पादक सामग्री की भी अपेक्षा होगी। घटत्वाद्यन्यवृत्तिविषयता सम्बन्ध से ज्ञानोत्पादक सामग्री के अन्तर्गत है तद्धर्मभेद (घटत्वभेद)। यह घटत्वभेद '**घटो घटः**' यहाँ पर विशेष्यतावच्छेदकीभूत घटत्व में नहीं है। इस कारण तादृशविशेष्यतावच्छेदकता सम्बन्ध से शाब्दबोध की आपत्ति वारित हो जाती है। इस प्रकार से ही यहाँ पर शाब्दबोधवारण करने पर '**घटवान् घटवान्**' इत्यादिवाक्यस्थलीय शाब्दबोधों का वारण भी हो जाता है। क्योंकि यहाँ पर भी तद्धर्मान्यवृत्तिविषयतासम्बन्ध से ज्ञानोत्पादक सामग्र्यर्गत तद्धर्मभेद रूप कारण नहीं है। व्यापकीभूत कार्य की उत्पादक सामग्री ही नहीं होने के कारण व्याप्यकार्य की उत्पत्ति भी नहीं हो सकती है। ज्ञानोत्पादकसामग्री ही नहीं होने से शाब्दबोधापत्ति तो सुतरां वारित हो जाती है।

इसी प्रकार '**दण्डवान् दण्डवान्**' इत्यादि स्थलों में भी शाब्दापत्ति वारित हो जाने के कारण धार्मितावच्छेदकतावच्छेदकादिनिष्ठ प्रत्यासत्तियों से भी पृथक्-पृथक् कार्यकारण भाव की कल्पना नहीं करनी पड़ती है। इन समस्तस्थलों पर शाब्दबोधापत्ति मात्र इसी कार्य कारणभाव से ही वारित हो जाती है।

**एवमुद्देश्यतावच्छेदकविधेययोरैक्येन 'एकः' 'द्वौ' इत्यादिवाक्यादेकत्व द्वित्वाद्यवच्छिन्ने एकत्वद्वित्वादीनां भेदान्वयबोधानुदयात् एकत्वत्वद्वित्वत्वाद्यवच्छिन्नसमवायादिसंसर्गावच्छिन्नप्रकारतानिरूपितसमवायादिसंसर्गावच्छिन्नावच्छेदकतावच्छेदकत्वादिसम्बन्धेन शाब्दबुद्धौ एकत्वत्वद्वित्वत्वादिभेदस्य, एवं 'कर्म गच्छति' इत्यादौ च कर्मत्वत्वाद्यच्छिन्ने आधेयतासम्बन्धेन तद्वतोऽन्वयबोधवारणाय कर्मत्वाद्यवच्छिन्नावच्छेदकताकाधेयतासम्बन्धावच्छिन्नप्रकारतानिरूपितधर्मितावच्छेदकतासम्बन्धेन शाब्दबोधे कर्मत्वादिभेदस्य, घटो न घटः इत्याद्यनुमितेः शाब्दबोधस्य च वारणाय घटत्वावच्छिन्नभेदप्रकारतानिरूपितधर्मितावच्छेदकतासम्बन्धेन अनुमितौ शाब्दबोधे च घटत्वादिभेदस्य हेतुत्वान्तरकल्पनमनादेयमेव; तद्धर्मभेदस्यैककारणतयैव सकलातिप्रसंगवारणसम्भवात् इति कृतं पल्लवितेन।**

ग्रन्थकारने 'तद्धर्मान्यवृत्तिविषयता सम्बन्ध से शाब्दबोध के प्रति तद्धर्मभेद कारण है' इस प्रकार का जो कार्य कारण भाव (या नियम) बनाया है उसका अन्य फल भी बतला रहे हैं—

इसी प्रकार उद्देश्यतावच्छेदक और विधेय के एक होने के कारण '**एकः**' '**द्वौ**' इत्यादिवाक्यों से एकत्व, द्वित्वादि से अवच्छिन्न में एकत्वद्वित्वादियों के भेदान्वयबोध का उदय न होने के कारण एकत्वत्वद्वित्वत्वाद्यवच्छिन्नसमवायादिसम्बन्धावच्छिन्नप्रकारतानिरूपित विशेष्यतानिरूपित समवायदिसंसर्गावच्छिन्नावच्छेदकतावच्छेदकत्वादिसम्बन्ध से शाब्दबुद्धि

में एकत्वद्वित्वत्वादिभेद की तथा '**कर्म गच्छति**' इत्यादि में कर्मत्वादि से अवच्छिन्न में आधेयतासम्बन्ध से कर्मत्वादिमान् के अन्वयबोध का वारण करने के लिए कर्मत्वत्वादि से अवच्छिन्न अवच्छेदकताक आधेयतासम्बन्धावच्छिन्न प्रकारतानिरूपित धर्मितावच्छेदकता सम्बन्ध से शाब्दबोध में कर्मत्वत्वादिभेद की तथा '**घटो न घटः**' इत्यादि अनुमिति और शाब्दबोध का वारण करने के लिए घटत्वावच्छिन्नभेद प्रकारता निरूपित धार्मितावच्छेदकता सम्बन्ध से अनुमिति में और शाब्दबोध में घटत्वादिभेद की पृथक् कारणता की कल्पना नहीं करनी पड़ती है। तद्धर्मभेद की ही एकमात्र कारणता स्वीकार करने से सकल अतिप्रसंगों का वारण सम्भव होने के कारण परिष्कारों की कोई जरूरत नहीं।

यहाँ पर ग्रन्थकार का कहना है कि '**एकः**' '**द्वौ**' इत्यादिस्थलों में यदि विभक्ति को सार्थक माने तो इन दोनों से ही क्रमशः 'एकत्ववान् एकत्ववान्' और 'द्वित्ववान् द्वित्ववान्' ऐसा शाब्दबोध होगा क्योंकि एकपदार्थ तो एकत्ववान् है ही, एकपदोत्तर विभक्ति का अर्थ भी एकत्व ही है। इसी प्रकार द्वि पदार्थ भी द्वित्ववान् और तदुत्तरविभक्ति का अर्थ द्वित्व है। उक्त दोनों वाक्यों से भेदान्वयबोध तो होता नहीं है किन्तु कारण मौजूद है। अतः उक्त वाक्यों से शाब्दबोध (भेदान्वयबोध) का वारण के लिए '**एकत्वत्व द्वित्वत्वाद्यवच्छिन्न समवायादिसंसर्गावच्छिन्नप्रकारतानिरूपितविशेष्यता निरूपित समवायादि-संसर्गावच्छिन्न अवच्छेदकतावच्छेदकत्वाद्रि सम्बन्ध से शाब्द बोध के प्रति एकत्वत्व द्वित्वत्वादि भेद कारण हैं**' इस प्रकार एक अतिरिक्त कार्यकारण भाव स्वीकारना पड़ेगा। यहाँ पर उक्त सम्बन्धों से शाब्दबोध एकत्वत्व व द्वित्वत्व में उत्पन्न होगा, वहाँ पर एकत्वत्व व द्वित्वत्व का भेद विद्यमान नहीं है। इस तरह वारित हो जाता है। किन्तु '**तद्धर्मान्यवृत्ति-विषयतासम्बन्ध से ज्ञान के प्रति तद्धर्मभेद कारण है**' इसी कार्यकारण भाव को स्वीकारने के कारण उक्तस्थल में भी शाब्दबोध वारित हो जाता है। क्योंकि उक्तस्थलों में तद्धर्मभेद रूप कारण नहीं है। इसलिए उपर्युक्त कार्यकारणभाव स्वीकारने की कोई आवश्यकता नहीं है।

इसी प्रकार '**कर्म गच्छति**' यह प्रयोग इष्ट नहीं है। '**ग्रामं गच्छति**' यहाँ पर तो शाब्द बोध हुआ करता है यहाँ पर शाब्द बोध में ग्राम आधेयता सम्बन्ध से द्वितीयार्थ कर्मता में प्रकार होता है। इस वाक्य से ग्राम की ग्राम पद से, कर्मता की द्वितीया से तथा व्यापार कृत्यादि की गच्छति से उपस्थिति होती है। ग्राम के कर्म पदार्थ होने के कारण कर्मपद से वाच्य होने पर भी ग्राम पद के स्थान पर कर्मपद का प्रयोग करना और '**कर्म गच्छति**' इस तरह वाक्य प्रयोग उचित नहीं है। इस वाक्य से शाब्दबोध होता नहीं है परन्तु शाब्दबोधापादक सामग्री विद्यमान है। क्योंकि इस प्रकार वाक्य प्रयोग करने पर ग्राम रूप अर्थ के कर्म होने के कारण कर्म पद से ग्राम की उपस्थिति, कर्मपदोत्तर लुप्त द्वितीया से कर्मता की उपस्थिति तथा व्यापार कृत्यादि की गच्छच्ति से उपस्थिति होती हैं। इस रीति से जैसे '**ग्रामं गच्छति**' यहाँ पर शाब्दबोध हुआ करता है, उसी प्रकार '**कर्म गच्छति**' यहाँ पर शाब्दबोध की आपत्ति है। इसका वारण करने के लिए अर्थात् कर्मत्वत्वादि से अवच्छिन्न में कर्मत्ववत् का आधेयता सम्बन्ध से अन्वयबोध के वारण के लिए '**कर्मत्वत्वादि से अवच्छिन्न अवच्छेदकताक आधेयतासम्बन्धावच्छिन्नप्रकारतानिरूपित धर्मिता-वच्छेदकता सम्बन्ध से शाब्दबोध के प्रति कर्मत्वत्वादि भेद कारण है**' ऐसा कार्य

कारण भाव मानना पड़ता है। कर्मत्वत्व से अवच्छिन्न अवच्छेदकता कर्मत्व में, कर्मत्व निष्ठ अवच्छेदकतानिरूपक कर्मनिष्ठप्रकारता जो कि आधेयतासम्बन्धावच्छिन्न है क्योंकि कर्म का आधेयता सम्बन्ध से कर्मता में अन्वय कर रहे हैं। '**प्रकृतिप्रत्ययौ सहार्थं ब्रूतः प्रत्ययार्थस्यैव प्राधान्यम्**' प्रकृति और प्रत्यय साथ-साथ अर्थ को कहते हैं और उसमें प्रत्ययार्थ की ही प्रधानता होती है, यह नियम है। इसलिए प्रकृत्यर्थ कर्म प्रकृत्यर्थ कर्मता में आधेयता सम्बन्ध से प्रकार होता है। कर्म निरूपित आधेयता कर्मता में होने से आधेयता सम्बन्ध से कर्म कर्मता में निष्ठ हो जाता है। इस प्रकार कर्मत्वत्व से अवच्छिन्न अवच्छेदकताक आधेयत्वसम्बन्धावच्छिन्नकर्मनिष्ठप्रकारतानिरूपित धर्मिता कर्मतानिष्ठ और धर्मितावच्छेदकता कर्मत्वत्व में। इस तरह इस सम्बन्ध से शाब्दबोध कर्मत्वत्व में हो रहा है। कर्मत्वत्व में इस सम्बन्ध से शाब्दबोध होने के लिए एक अतिरिक्त कारण स्वीकार किया कर्मत्वत्व भेद को। इसके न होने से शाब्दबोध वारित हो जाता है। किन्तु तद्धर्मान्यवृत्तिविषयतासम्बन्ध से ज्ञान के प्रति तद्धर्मभेद कारण होता है' इस सामान्य नियम से यह शाब्दबोध भी वारित हो जाता है क्योंकि धर्मितावच्छेदक और प्रकारतावच्छेदकता वच्छेदक एक ही हैं। तद्धर्मभेद न होने से तद्धर्मान्यवृत्ति विषयतासम्बन्ध से ज्ञान सम्भव नहीं हो पायेगा।

इसके अतिरिक्त '**घटो न घटः**' इत्यादि अनुमित्ति और शाब्द बोध का वारण करने के लिए (चूँकि घट में घटभेद नहीं होता है इस लिए यहाँ पर शाब्दबोध नहीं होना चाहिए इस लिए) **घटत्वावच्छिन्नभेदप्रकारतानिरूपितधर्मितावच्छेदकता सम्बन्ध से शाब्दबोध में और अनुमिति में घटत्व भेद कारण है,** इस प्रकार कार्य कारणभाव स्वीकार करना चाहिए। इस तरह से कार्यकारणभाव मानने पर उक्त सम्बन्ध से शाब्दबोध या अनुमिति घटत्व में हो रही है उसमें घटत्वभेदरूप कारण नहीं है। अतः शाब्द बोध और अनुमिति वारित हो जाती है। ग्रन्थकार का कहना है कि तद्धर्मान्यवृत्तिविषयतासम्बन्ध से ज्ञान के प्रति तद्धर्मभेद कारण है इस प्रकार जो कार्यकारणभाव स्वीकार किया जा रहा है उससे ही यह वारित हो जायेगा। यहाँ पर धर्मितावच्छेदक घटत्व और प्रकारता वच्छेदकतावच्छेदक भी घटत्व है, इसलिए भेद न होने के कारण तद्धर्मभेद रूप कारण न होने से शाब्दबोध और अनुमिति वारित हो जाती हैं ।

## –भेदान्वयवाद–

**भेदान्वयबोधश्च प्रतिपदिकार्थधात्वर्थयोः प्रत्ययार्थेन क्वचिन्निपातार्थेन च सममेव जायते न त्वन्येन। सत्यपि पदार्थोपस्थितियोग्यताज्ञानादिरूप कारणकलापे राजा पुरुषः भूतलं घटः इत्यादौ पुरुषाद्यंशे राजभूतलादेः स्वत्वाधेयतासम्बन्धेन, तण्डुलः पचति चैत्रः पच्यते इत्यादौ कर्मत्वकर्तृत्वादिसम्बन्धेन तण्डुलचैत्रादौ पाकादेः, स्वकर्मकत्वस्वकर्तृकत्वादिसम्बन्धेन पाकाद्यंशे वा तण्डुलचैत्रादेरन्वयबोधान्निपातातिरिक्तप्रातिपदिकार्थयोः क्रियातादृशप्रातिपतिकार्थयोश्च भेदेन साक्षादन्वयबोधस्याव्युत्पन्नत्वात् ।**

शाब्दबोध में एकपदार्थ में अपरपदार्थ का संसर्ग संसर्गमर्यादा से भासित होता है। इस प्रकार से ग्रन्थ को प्रारम्भ कर ग्रन्थकार ने कहा था कि वह सम्बन्ध कहीं पर अभेद होता है और कहीं पर अभेद से अतिरिक्त विषयविषयिभाव, आधाराधेयभाव इत्यादि। अभीतक

अभेदसम्बन्ध के विषय में बतला चुके कि किस जगह पर अभेद सम्बन्ध संसर्गमर्यादा से भासता है। अब अभेदातिरिक्त सम्बन्ध कहाँ पर संसर्ग मर्यादा से भासित होता है यह बतलाने के लिए '**भेदान्वयबोधश्च**' यह ग्रन्थ प्रारम्भ किया जा रहा है।

और भेदान्वयबोध प्रातिपदिकार्थ और धात्वर्थ का प्रत्ययार्थ के साथ और कहीं पर निपातार्थ के साथ ही होता है अन्य के साथ नहीं जैसे कि '**तण्डुलं पचति**' यहाँ पर तण्डुल पदार्थ जोकि प्रातिपदिकार्थ है का अम् पदार्थ कर्मत्व (जो कि प्रत्ययार्थ है) में आधेयतासम्बन्ध से अन्वय होकर शाब्दबोध होता है तथा पच् धात्वर्थ पाक का अनुकूलत्वसम्बन्ध से प्रत्ययार्थ कृति में अन्वय होकर शाब्दबोध होता है। इस प्रकार **तण्डुलं** से आधेयता सम्बन्धेन तण्डुलवती कर्मता और **पचति** से पाकानुकूलकृतिः बोध होता है। सम्पूर्ण वाक्य से शाब्दबोध होने में तण्डुलवती कर्मता का निरूपकत्वसम्बन्ध से पाक में और कृति का आधारतासम्बन्ध से कर्ता देवदत्तादि में अन्वय होता है। इस प्रकार 'आधेयता सम्बन्ध से तण्डुलवती कर्मतानिरूपक पाकानुकूलकृतिमान् देवदत्त' ऐसा शाब्द बोध होता है। '**न कलञ्जं भक्षयेत्**' यहाँ पर भक्ष् धात्वर्थ भक्षण में विध्यर्थ बलवदनिष्टाननुबंधित्वविशिष्टेष्टसाधनत्व के अभाव, जो कि निपात नञ् का अर्थ है, का अनुयोगिता सम्बन्ध से अन्वय होकर शाब्दबोध होता है। इस तरह 'बलवदनिष्टाननुबंधित्वविशिष्टेष्टसाधनत्वाभाववत् कलञ्जभक्षणम्' ऐसा बोध होता है। इस प्रकार भेदान्वयबोध-प्रतिपदिकार्थ और धात्वर्थ का प्रत्ययार्थ के साथ और कहीं पर निपातार्थ के साथ ही होता है अन्य के साथ नहीं।

पदार्थोपस्थिति योग्यताज्ञान आदि कारण समूह के होने पर भी '**राजा पुरुषः**' '**भूतलं घटः**' इत्यादि स्थलों में पुरुष घटादि अंश में राजभूतलादि का स्वत्व, आधेयतासम्बन्ध से; '**तण्डुलः पचति**' '**चैत्रेण पच्यते**' इत्यादि स्थलों में कर्मत्व कर्तृत्वादि सम्बन्धों से तण्डुल चैत्रादि में पाकादि का स्वकर्मकत्व स्वकर्तृकत्वादि सम्बन्धों से पाकादि अंश में तण्डुल चैत्रादि का अन्वय बोधित न होने के कारण निपातातिरिक्तप्रातिपदिकार्थों का आपस में और क्रिया व निपातातिरिक्त प्रतिपदिकार्थ का भेद सम्बन्ध से साक्षात् अन्वयबोध अव्युत्पन्न है।

अभिप्राय यह है कि '**राजा पुरुषः**' यहाँ पर राज पदार्थ, पुरुष पदार्थ की उपस्थिति रूप कारण भी मौजूद है स्वत्वसम्बन्ध से राजपदार्थ का अन्वय पुरुषपदार्थ में होने की योग्यता भी है। इस प्रकार स्वत्व सम्बन्ध से राजपदार्थ का पुरुषपदार्थ में अन्वय होकर शाब्दबोध होने के लिए आवश्यक उपस्थिति, योग्यताज्ञानादि कारण मौजूद हैं परन्तु स्वत्व सम्बन्ध से राजपदार्थ का पुरुष पदार्थ में अन्वय होकर शाब्दबोध नही होता है। इसी प्रकार '**भूतलं घटः**' यहाँ पर भूतल, घटादि की उपस्थिति रूप कारण तथा आधेयतासम्बन्ध से भूतल का घट में अन्वय करने की योग्यता (व उसका ज्ञान) मौजूद है परन्तु आधेयता सम्बन्ध से भूतल का घट में अन्वय होकर शाब्दबोध नहीं होता है। इसलिए यह स्वीकार करते हैं कि निपातातिरिक्त प्रातिपदिकार्थों का भेद सम्बन्ध से (अभेदातिरिक्तसम्बन्ध से) अन्वय बोध अव्युत्पन्न है। इन दोनों स्थलों में प्रथम में राज और पुरुष दोनों निपातातिरिक्त प्रातिपदिकार्थ हैं, द्वितीय में भी भूतल और घट निपातातिरिक्त प्रातिपदिकार्थ हैं। अतः इन का भेद सम्बन्ध से अन्वय अव्युत्पन्न है।

'**तण्डुलः पचति**' यहाँ पर तण्डुल, पाक आदि पदार्थों की उपस्थिति और योग्यताज्ञान आदि विद्यमान होने पर भी कर्मतासम्बन्ध से तण्डुल में पाक का अन्वय होकर शाब्दबोध

नहीं होता है। इसी प्रकार **'चैत्रः पच्यते'** यहाँ पर भी चैत्र, पाक आदि की उपस्थिति होने पर भी साथ ही योग्यता ज्ञान के होने पर भी चैत्र में कर्तृत्व सम्बन्ध से पाक का अन्वय होकर शाब्दबोध नहीं होता है। इन स्थलों में प्रथम वाक्य में स्वकर्मकत्व सम्बन्ध से तण्डुल का पाकादि में अन्वय होकर भी शाब्दबोध नहीं होता है और द्वितीयवाक्य में चैत्र का स्वकर्तृकत्वसम्बन्ध से पाक में अन्वय होकर भी शाब्दबोध नहीं होता है। इसलिए क्रिया और निपातातिरिक्त प्रातिपदिकार्थ का भी साक्षात् भेद सम्बन्ध से अन्वय नहीं होता है यह व्युत्पत्ति स्वीकार की जाती है।

यहाँ पर यह ध्यान रखने योग्य है कि **'राज्ञः पुरुषः' 'भूतले घटः' 'तण्डुलं पचति' 'चैत्रेण पच्यते'** इन स्थलों पर शाब्दबोध हुआ करता है। वह कैसे? क्या उनमें प्रातिपदिकार्थों का क्रिया और प्रातिपदिकार्थ का अन्वय नहीं होता है? यहाँ पर उत्तर यह है कि यहाँ कहीं पर भी ऐसी स्थिति नहीं है। कहीं पर भी प्रातिपदिकार्थों का या क्रिया और प्रातिपदिकार्थ का भेदान्वयबोध नहीं होता है देखें— **'राज्ञः पुरुषः'** यहाँ पर राजपदार्थ का स्वत्वसम्बन्ध से अन्वय होकर फिर पुरुष से अन्वय होकर बोध होता है। स्वत्वसम्बन्ध षष्ठी विभक्ति का अर्थ है इसतरह प्रातिपदिकार्थ का विभक्त्यर्थ के साथ और विभक्त्यर्थ का द्वितीय प्रातिपदिकार्थ के अन्वय हो रहा है, प्रातिपदिकार्थ का प्रातिपदिकार्थ के साथ भेदान्वय बोध नहीं हो रहा है। **'भूतले घटः'** यहाँ पर भूतल का आधेयतासम्बन्ध में और आधेयता का घट में अन्वय होकर बोध होता है, आधेयता सम्बन्ध में और आधेयता का घट में अन्वय होकर बोध होता है आधेयता सम्बन्ध सप्तमी विभक्ति का अर्थ है। इसकारण यहाँ पर भी पूर्ववत् स्थिति है। **तण्डुलं पचति** यहाँ पर द्वितीया विभक्ति के अर्थ कर्मत्व रूप सम्बन्ध से पाक का तण्डुल के साथ अन्वय होकर शाब्दबोध होता है। **चैत्रेण पच्यते** यहाँ पर तृतीया विभक्ति के अर्थ कर्तृत्व रूप सम्बन्ध से पाक का चैत्र में अन्वय होकर शाब्द बोध होता है। इस प्रकार क्रिया और प्रतिपदिकार्थ का भी भेदान्वयबोध सम्भव नहीं है। और इन सब स्थलों पर कहीं पर भी ऐसा होता भी नहीं है।

विभक्त्यर्थमन्तराकृत्य तयोरप्यभेदान्वयबोधात् ।

निपातातिरिक्तत्वविशेषणात् - 'भूतले न घटः' 'घटो न पटः' इत्यादौ घटादेर्नञर्थाभावेन, 'मुखं चन्द्र इव' इत्यादौ मुखचन्द्रादीनामिवार्थ-सादृश्यादिना, 'न कलञ्जं भक्षयेत्' इत्यादौ नैयायिकमते नञुपस्थाप्येन बलवदनिष्टाननुबंधित्वविशिष्टेष्टसाधनत्वादिरूप विध्यर्थाऽभानेन धात्वर्थभक्षणादेरनुयोगितया, गुरुमते तु विध्यर्थाऽपूर्वांशे विशेषणतयान्वितेन नञुपस्थाप्याभावेन धात्वर्थभक्षणादेः प्रतियोगितयाऽन्वयेऽपि न क्षतिः।

अभी ग्रन्थकार ने व्युत्पत्ति निकाली है कि **'निपातातिरिक्तप्रातिपदिकार्थयोः क्रियातादृशप्रातिपदिकार्थयोश्च भेदेन साक्षादन्वयबोधोऽव्युत्पन्नः'** अब इस व्युत्पत्ति का पदकृत्य कर रहें है—

विभक्त्यर्थ को बीच में लेकर दो प्रतिपदिकार्थों का भी भेद सम्बन्ध से अन्वय बोध होता है, अतः साक्षात् कहा। अभिप्राय यह है कि विभक्त्यर्थ को बीच में लेकर **'राज्ञः पुरुषः'** इत्यादि स्थलों में प्रातिपदिकार्थ राजपदार्थ और पुरुष पदार्थ का भेदसम्बन्ध स्वत्व

सम्बन्ध से अन्वय होकर शाब्दबोध हुआ करता है जैसाकि अभी टीका में ही प्रदर्शित किया गया है। अतः यदि नियम यह बनाते कि निपातातिरिक्त प्रातिपदिकार्थों और क्रियाप्रातिपदिकार्थों का भेदेन अन्वयबोध अव्युत्पन्न है तो यह नियम इन स्थलों में व्यभिचारी हो जाता क्योंकि निपातातिरिक्त राज और पुरुष प्रातिपदिकार्थों का भेद सम्बन्ध से यहाँ पर अन्वयबोध हो रहा है। अतः नियम में साक्षात् पद भी दिया। साक्षात् तो यहाँ पर दोनों प्रातिपदिकार्थों का अन्वयबोध नहीं हो रहा है क्योंकि बीच में विभक्त्यर्थ को लेकर वह अन्वयबोध हो रहा है।

अब निपातातिरिक्तत्व विशेषण की सार्थकता और प्रयोजन बतला रहे हैं— निपातातिरिक्तत्वविशेषण से— '**भूतले न घटः**' '**घटो न पटः**' इत्यादि स्थलों में घटादि का नञर्थ अभाव के साथ, '**मुखं चन्द्र इव**' इत्यादिस्थलों में मुखचन्द्र आदि का इवार्थ सादृश्य के साथ, '**न कलञ्जं भक्षयेत्**' इत्यादि स्थलों में नैयायिक मत में नञ् से उपस्थाप्य बलवदनिष्टाननुबंधित्वविशिष्टेष्टसाधनत्वादिरूप विध्यर्थ अभाव के साथ धात्वर्थभक्षणादि का अनुयोगिता सम्बन्ध से, गुरुमत में तो विध्यर्थ अपूर्वांश में विशेषणतयाऽन्वित नञ् से उपस्थाप्य अभाव के साथ धात्वर्थ भक्षणादि का प्रतियोगिता सम्बन्ध से अन्वय होने पर भी कोई क्षति नहीं है।

अभिप्राय यह है कि यदि उपर्युक्त नियम में निपातातिरिक्तत्वविशेषण न दिया जाये तो नियम बनेगा कि— **प्रतिपदिकार्थयोः क्रियाप्रातिपदिकार्थयोश्च भेदेन साक्षादन्वय-बोधोऽव्युत्पन्नः**' अर्थात् प्रातिपदिकार्थों का और क्रियाप्रातिपदिकार्थों का भेदेन साक्षात् अन्वयबोध अव्युत्पन्न है। ऐसी स्थिति में '**भूतले न घटः**' '**घटो न पटः**' इत्यादि स्थलों में घटादि का नञर्थ अभाव में साक्षात् अन्वय होता है। '**भूतले न घटः**' में नञ् जो कि प्रातिपदिक है उसके अर्थ अभाव के साथ घट का स्वप्रतियोगिकत्वसम्बन्ध से अन्वय होता है इस प्रकार बोध होता है कि **घटप्रतियोगिकोऽभावो भूतलवृत्तिः**। नञ् चूँकि निपात है निपातों को भी प्रातिपदिक माना ही जाता है। इस प्रकार निपातार्थ भी प्रातिपदिकार्थ ही है। '**घटो न पटः**' में पट का स्व प्रतियोगिकत्व सम्बन्ध में नञ् के अर्थ भेद में अन्वय होता है और नञर्थ भेद का घट में अन्वय होकर **पटप्रतियोगिकभेदवान् घटः** यह शाब्दबोध होता है। इस रीति से इन दोनों ही स्थलों में प्रातिपदिकार्थ का प्रातिपदिकार्थ (निपातार्थ रूप प्रातिपादिकार्थ) के साथ भेद सम्बन्ध से अन्वयबोध हो रहा है।

इसी प्रकार '**मुखं चन्द्र इव**' इव पदार्थ सादृश्य के साथ चन्द्र और मुख का भेद सम्बन्ध स्वप्रतियोगिकत्व और स्वानुयोगिकत्व सम्बन्ध से अन्वयबोध होता है। इस तरह **चन्द्रप्रतियोगिकसादृश्यानुयोगि मुखम्** ऐसा शाब्दबोध होता है। यहाँ पर भी इवपद के निपात होने के कारण इवार्थ सादृश्य भी निपातार्थ होने के कारण प्रातिपदिकार्थ हुआ, उसका अन्य प्रातिपदिकार्थो चन्द्र और मुख के साथ भेद सम्बन्ध से अन्वय होकर शाब्दबोध हो रहा है। '**न कलंजं भक्षयेत्**' यहाँ पर नैयायिकों के मत में नञ् से उपस्थाप्य अभाव विध्यर्थ बलवदनिष्टाननुबन्धित्वविशिष्टेष्टसाधनत्व से अन्वित होता है स्वप्रतियोगिकत्व सम्बन्ध से। फिर उस अभाव का अनुयोगिता सम्बन्ध से धात्वर्थ भक्षण में अन्वय होता है। इस प्रकार '**कलञ्जकर्मकं भक्षणं बलवदनिष्टाननुबंधित्वविशिष्टेष्टसाधनत्वाभाववत्**' ऐसा शाब्दबोध हुआ करता है। यहाँ पर भक्षण क्रिया के साथ निपातार्थ (नञर्थ) अभाव का

अन्वय होकर शाब्दबोध हो रहा है। अतः यह जो कहा गया कि क्रिया और प्रातिपदिकार्थ का भेद सम्बन्ध से अन्वयबोध नहीं होता है। वह बाधित हो जाता है क्योंकि क्रिया (भक्षण) के साथ प्रातिपदिकार्थ (नञर्थ) अभाव का भेदसम्बन्ध से अन्वयबोध हो रहा है। गुरुमत में विध्यर्थ बलवदनिष्टाननुबंधित्वविशिष्टेष्टसाधनत्व न होकर अपूर्वांश विध्यर्थ होता है। उस अपूर्वांश में नञ् से उपस्थाप्य अभाव विशेषणतया अन्वित होता है। उस अभाव के साथ भक्षण का प्रतियोगितया अन्वय होता है। इस प्रकार प्रभाकर मत में '**कलञ्जभक्षणप्रतियोगिका-भाववद्अपूर्वम्**' ऐसा शाब्दबोध होता है।[1] यहाँ पर क्रिया (भक्षण) का स्वप्रतियोगिकत्व रूप भेद सम्बन्ध से नञर्थ (प्रातिपदिकार्थ) अभाव में स्वप्रतियोगिकत्वसम्बन्ध से अन्वय होकर शाब्दबोध हो रहा है। इस प्रकार यदि नियम में निपातातिरिक्तत्व विशेषण न दिया जायेगा तो इन सारी जगहों पर उक्तनियम का व्यभिचार सामने आयेगा।

अतः निपातातिरिक्तत्व विशेषण दिया गया। निपातातिरिक्तत्व विशेषण दे देने पर यह व्यभिचार वारित हो जाता है क्योंकि कहीं पर भी निपातातिरिक्त प्रातिपदिकार्थों या क्रिया और निपातातिरिक्त प्रतिपदिकार्थ का भेद सम्बन्ध से अन्वयबोध नहीं हो रहा है। अतः उपर्युक्त रीति से अन्वयबोध होने पर भी कोई क्षति (कोई व्यभिचारादि दोष) नहीं है।

**राजपुरुषः इत्यादि समासस्थले तु पुरुषादिपदार्थेन समं राजादिपदार्थस्य न भेदान्वय बोधः किन्तु तेन समं विभक्त्यन्तार्थविशिष्टलाक्षणिकराजादि पदोपस्थाप्यराजसम्बन्ध्यादेरभेदान्वयबोध एवेति न दोषः। एवं 'मुखं चन्द्रः' इत्यादिरूपकस्थले चन्द्रादिपदस्य चन्द्रादिसदृशे लक्षणया चन्द्रादिसदृशा भेदान्वयबोध एव, न तु सादृश्यादिसम्बन्धेन चन्द्रादेर्मुखादावन्वय इति न तत्र व्यभिचारः।**

अभी ग्रन्थकार ने एक नियम की तरफ शब्दः संकेत किया कि— निपातातिरिक्तप्रातिपदिकार्थों का और क्रिया व निपातातिरिक्त प्रातिपदिकार्थ का साक्षात् भेदान्वयबोध अव्युत्पन्न है। विभक्त्यर्थ को बीच में लेकर परम्परया भेदान्वयबोध के सम्भव होने के कारण '**राज्ञः पुरुषः**' इत्यादिस्थलों में राजा और पुरुष का स्वत्व आदि सम्बन्धों से अन्वयबोध होने में कोई आपत्ति नहीं है किन्तु '**राजपुरुषः**' इत्यादिसमासस्थलों में, राजा और पुरुष जहाँ कि दोनों ही प्रतिपदिकार्थ हैं राजपदार्थ का स्वत्वरूप भेद सम्बन्ध से पुरुष के साथ अन्वयबोध कैसे होगा?

चूँकि राजा और पुरुष दोनों ही निपातातिरिक्त प्रतिपदिकार्थ हैं अतः, भेद सम्बन्ध से साक्षात् अन्वयबोध अव्युत्पन्न है। इसी प्रकार '**मुखं चन्द्रः**' इस रूपकस्थल में प्रातिपदिकार्थ चन्द्र का सादृश्यरूप भेद सम्बन्ध से प्रातिपदिकार्थ मुख के साथ अन्वयबोध अव्युत्पन्न है क्योंकि बीच में विभक्त्यर्थ इत्यादि कुछ भी नहीं आ रहा है। मुख और चन्द्र दोनों के ही प्रथमान्त होने पर भी इनका अभेदान्वयबोध तो सम्भव ही नहीं है क्योंकि मुख और चन्द्र का भेद तो प्रत्यक्षसिद्ध है। इसी का समाधान इस ग्रन्थ से करते हैं

'**राजपुरुषः**' इत्यादि समासस्थलों में तो पुरुषादिपदार्थ के साथ राजादिपदार्थ का

1- नैयायिकमत में कलञ्जभक्षण अनिष्टजनक है, तद्भक्षण का अभाव पुण्यजनक नहीं है। गुरुमत में कलंज भक्षणाभाव पुण्य जनक है यही भेद है।

भेदान्वय बोध नहीं होता है (अर्थात् जो आप भेदान्वयबोध की अव्युत्पन्नता दिखला रहे हैं वह सत्य है) किन्तु पुरुष के साथ विभक्त्यन्त राज पद के अर्थ (राजसम्बन्धी रूप अर्थ) से विशिष्ट लाक्षणिक राजादि पद से उपस्थाप्य राजसम्बन्ध आदि का अभेदान्वयबोध ही होता है। अभिप्राय यह है कि '**राजपुरुषः**' यहाँ पर भेदान्वयबोध तो अव्युत्पन्न होने के कारण होता ही नहीं है अपितु राजपद की लक्षणा से राजसम्बन्धी रूप अर्थ की उपस्थिति होती है उसके साथ पुरुषपद का अभेदान्वय बोध होता है। अभेदान्वयबोध में तो कोई दोष है नहीं, भेदान्वयबोध स्वीकारने में व्युत्पत्तिविरोध आ सकता था वह तो हम स्वीकार ही नहीं रहे है।

इसी प्रकार '**मुखं चन्द्रः**' इत्यादि रूपक अलंकार के स्थल में भी चन्द्र आदि पदों की चन्द्र सदृश में लक्षणा होती है और फिर मुख का चन्द्रसदृश के साथ अभेदान्वयबोध ही होता है। सादृश्यादिसम्बन्ध से चन्द्र का मुखादि में अन्वय नहीं होता है इसलिए व्यभिचार नहीं है। अभिप्राय यह है कि चन्द्र का मुख में सादृश्य सम्बन्ध से अन्वय करने पर व्यभिचार और व्युत्पत्तिविरोध होता है। अब ग्रन्थकार का कहना है कि चन्द्र पद के द्वारा ही लक्षणा से चन्द्रसदृश की उपस्थिति हो जाती है और फिर चन्द्र सदृश का मुख के साथ अभेदान्वय बोध हो जाता है। इस लिए कोई व्युत्पत्ति विरोध और व्यभिचार नहीं उपस्थित होता है। इस प्रकार '**राजपुरुषः**' यहाँ पर '**राजसम्बन्ध्यभिन्नः पुरुषः**' तथा '**मुखं चन्द्रः**' यहाँ पर '**चन्द्रसदृशाभिन्नं मुखम्**' ऐसा शाब्दबोध होता है।

**केचित्तु रूपकस्थले चन्द्रादिपदस्य न चन्द्रसदृशे लक्षणा किन्तु तत्र मुख्यार्थचन्द्रादेरेवाभेदभ्रमो मुखादौ। 'मुखं न चन्द्रः' इत्यादिविशेषदर्शन दशायाञ्च न तत्र शाब्दोऽभेदप्रत्ययः, अपितु शब्दजन्यविशकलितपदार्थोपस्थितिमूलको मानस एवाऽऽहार्यभेदभ्रम इत्याहुः।**

'**मुखं चन्द्रः**' यहाँ पर चन्द्र पद की चन्द्र सदृश में लक्षणा करके अभेदान्वयबोध का उपपादन करना सम्भव है। किन्तु उपमा और रूपक अलंकार में आलंकारिकों के सिद्धान्तानुसार चमत्कारवैलक्षण्य सिद्ध है। यदि उपमा और रूपक दोनों ही अलंकारो की जगह पर एक ही प्रकार का शाब्दबोध होता है तो यह चमत्कार वैलक्षण्य बन नहीं सकता। क्योंकि विषय वैलक्षण्य ही चमत्कार वैलक्षण्य का प्रयोजक है। पूर्वोक्त रीति से अभेदान्वयबोध का उपपादन करने पर दोनों ही स्थलों पर (उपमा और रूपक के स्थल पर) चन्द्र का सादृश्य ही मुख में भासनेके कारण यह विषयवैलक्षण्य बन नहीं सकता है। इसलिए विषयवैलक्षण्य का उपपादन करने वाले मतविशेष के अनुसार कहते हैं कि—

कुछ लोग तो— रूपकस्थल में चन्द्रादिपदों की चन्द्रादि सदृश में लक्षणा नहीं होती है किन्तु वहाँ पर मुख्यार्थचन्द्रादि का ही मुखादि में अभेदभ्रम होता है। अभिप्राय यह है कि '**मुखं चन्द्रः**' यहाँ पर '**चन्द्रभिन्नं मुखं**' यह भ्रमात्मक ही शाब्दबोध हुआ करता है, मुख में चन्द्राभेद का भ्रम होता है। इस प्रकार उपमा और रूपक स्थल में विषय वैलक्षण्य प्रयोज्य चमत्कार वैलक्षण्य भी उपपन्न हो जायेगा। उपमास्थल '**मुखं चन्द्र इव**' में '**चन्द्र सदृशं मुखं**' ऐसा शाब्दबोध होता है और '**मुखं चन्द्राभिन्नम्**' ऐसा शाब्द बोध '**मुखं चन्द्रः**' यहाँ पर होता है। इस प्रकार उपमास्थल में शाब्दबोध का विषय चन्द्रसादृश्य हो रहा है और रूपक स्थल में चन्द्राभेद शाब्दबोध का विषय हो रहा है। इस तरह विषय की विलक्षणता स्पष्टतः दिख रही है।

किन्तु इस स्थिति में जब बाध ज्ञान हो तो उक्त अभेद शाब्दबोध भ्रम सम्भव नहीं होगा

क्योंकि शाब्दबोध के लिए योग्यता की भी जरूरत होती है और योग्यता के विषय में कहा गया है कि बाधाभाव ही योग्यता है। अतः कहते हैं कि —

**'मुखं न चन्द्रः'** इत्यादि विशेषदर्शन दशा में तो उक्ताकार शाब्द अभेद प्रत्यय नहीं हो सकता है। अपितु शब्दजन्य विशकलित पदार्थोपस्थिति मूलक मानस ही आहार्य[1] अभेदभ्रम होता है ऐसा कहते हैं। अभिप्राय यह है कि समान विभक्तिक मुख और चन्द्र पद से जन्य उपस्थिति के विषय मुख और चन्द्र का मानस अभेद भ्रम होता है। मानस ज्ञान तो विरोधि ज्ञान से प्रतिबध्य नहीं होता है। इसलिए शाब्द अभेदभ्रम के सम्भव न होने पर भी मानस अभेदभ्रम (आहार्यात्मक) होने में आपत्ति नहीं है ऐसा कहते हैं।

**परे तु तादात्म्यातिरिक्तसम्बन्धेन नामार्थयोर्नान्वयबोधः। तादात्म्यं च प्रकृते तद्वृत्तिधर्मवत्त्वम्। एवं च नीलो घट इत्यादौ स्ववृत्तिनीलत्वादिमत्त्वसम्बन्धेन घटाद्यंशे नीलपदार्थस्येव मुखं चन्द्र इत्यादौ स्ववृत्त्याह्लादकत्वादिमत्त्वसम्बन्धेन मुखादौ चन्द्रादेरन्वयबोधः तादृशार्थान्वयबोधेऽपि समानविभक्तिकत्वं तन्त्रमित्यतो नातिप्रसङ्ग इति वदन्ति**

'केचित्तु' इस प्रतीक के द्वारा जो सिद्धान्तित किया गया कि 'मुख चन्द्रमा नहीं है' इस विशेषदर्शन के रहने पर शाब्द अभेदभ्रम के सम्भव न होने के कारण मानसआहार्य अभेदभ्रम हुआ करता है, उसमें यह शंका हो सकती है कि **'मुखं चन्द्रः'** इस वाक्य से जन्य प्रतीति में **'श्रुतोऽयमर्थश्चेतश्चमत्करोति'** (यह अर्थ सुना जाने पर चित्त को चमत्कृत कर देता है) यह अनुभव प्रामाणिक है। यहाँ पर श्रुधातु का शाब्दबोध ही अर्थ हो सकता है, मानसबोध श्रुधातु का अर्थ नहीं हो सकता है। इसलिए **'मुखं चन्द्रः'** यहाँ पर शाब्दाभेदप्रत्यय ही स्वीकार करना चाहिए न कि मानस अभेद प्रत्यय क्योंकि मानस अभेद प्रत्यय के लिए श्रु धातु का प्रयोग अनुचित है। शाब्दबोध के लिए ही श्रु धातु का प्रयोग उचित हो सकता है। इसलिए 'परेतु' इस प्रतीक से मतान्तर की उपस्थित करते हैं—

अन्य तो तादात्म्यातिरिक्तसम्बन्ध से नामार्थों का अन्वयबोध नहीं होता है। तादात्म्य का अभिप्राय प्रकृत स्थल में तद्वृत्तिधर्मवत्त्व है। इस प्रकार 'नीलो घटः' इत्यादिस्थलों में स्ववृत्तिनीलत्वादिमत्त्वसम्बन्ध से घटादि अंश में नीलपदार्थ के अन्वय की तरह 'मुखं चन्द्र' इत्यादि स्थलों में स्ववृत्त्याह्लादकत्वादिमत्त्व सम्बन्ध से मुखादि में चन्द्रादि का अन्वयबोध होता है और तादृशार्थान्वयबोध के प्रति भी समानविभक्तिकत्व तन्त्र है इसलिए अति प्रसङ्ग नहीं होगा ऐसा कहते हैं।

यहाँ पर आशय है कि पूर्वोक्त जो नियम था कि 'निपातातिरिक्तनामार्थों का और क्रिया व निपातातिरिक्त नामार्थ का साक्षात् भेदसम्बन्ध से अन्वय बोध अव्युत्पन्न है' उसका आशय है कि तादात्म्यातिरिक्त सम्बन्ध से अन्वय बोध अव्युत्पन्न है। (नामार्थ और प्रातिपदिकार्थ पर्याय है) प्रकृत स्थल में तादात्म्य का अभिप्राय है तद्वृत्तिधर्मवत्त्व। इस प्रकार **'नीलो घटः'** यहाँ पर नीलपदार्थ का तादात्म्य अर्थात् नीलवृत्तिधर्मवत्त्व सम्बन्ध से घटादि में अन्वय हो जायेगा क्योंकि नील में वृत्ति धर्म है नीलत्व और वह नीलत्व घट में भी विद्यमान है ही। इस प्रकार तद्वृत्तिधर्मवत्त्व रूप तादात्म्य सम्बन्ध से नील का घट में अन्वय

1.-बाधकालीनेच्छाजन्यं ज्ञानमाहार्यम् । बाधकालीन इच्छा से जन्यज्ञान को आहार्यज्ञान कहा जाता है।

होकर शाब्द बोध होने में कोई आपत्ति नहीं है। यद्यपि यहाँ पर प्रश्न हो सकता है कि नील में विद्यमान नीलत्व नीलगुणनिष्ठ नीलत्व जाति है वह नीलत्व जाति घट में तो रह नहीं सकती है। तथापि '**गुणे शुक्लादयः पुंसि गुणिलिंगास्तु तद्वति**' इस अमरकोषवाक्य के अनुसार नीलादिपद नीलवान् के भी (गुणी के भी) वाचक हुआ करते हैं। यहाँ पर नीलपद नीलवान् का वाचक है नीलवान् का धर्म है नील (यही नीलगुण विशिष्ट के वाचक नील का नीलत्व है) तद्वत्त्व तो घट में भी विद्यमान ही है। इस प्रकार '**नीलो घटः**' यहाँ पर नील का तादात्म्य सम्बन्ध से घट में अन्वय बोध हो जायेगा। इसी प्रकार '**मुखं चन्द्रः**' इत्यादि स्थलों में चन्द्र का तादात्म्य सम्बन्ध चन्द्रवृत्ति आह्लादकत्वादिमत्त्व सम्बन्ध से मुखादि में अन्वय बोध होता है। और इस अर्थ के अन्वय बोध में भी अर्थात् तादात्म्यसम्बन्ध से अन्वयबोध में भी समानविभक्तित्व तन्त्र है, प्रयोजक है। इसलिए अतिप्रसङ्ग नहीं होता है, '**नीलस्य घटः**' इत्यादिस्थलों में तादात्म्य सम्बन्ध से अन्वयबोध नहीं होता है। ऐसा कहते हैं।

**विमर्श–** वस्तुतः यह मत युक्तिसंगत नहीं है क्योंकि इस प्रकार तो '**घटः पटः**' यहाँ पर घट वृत्ति द्रव्यत्ववत्त्व के पट में भी विद्यमान होने के कारण घट का पट में उक्त तादात्म्य सम्बन्ध (स्ववृत्तिधर्मवत्त्व) से अन्वय सम्भव होने के कारण '**घटः पटः**' इस प्रयोग की आपत्ति है। यद्यपि जैसे यत्किंचित् धर्मवत्त्व को लेकर सादृश्य की बात नहीं की जाती है किन्तु '**तद्भिन्नत्वे सति तद्गतभूयोधर्मवत्त्व**[1]' को लेकर ही सादृश्य को स्वीकार किया जाता है और जहाँ पर तद्गतभूयोधर्मवत्त्व विद्यमान रहता है वहाँ पर '**मुखं चन्द्रः**' इत्यादि सादृश्यानुसारी प्रयोग किये जाते हैं। वैसे ही यहाँ पर भी तादात्म्य का परिष्कृत अर्थ कुछ उसी तरह किया जा सकता है। इसलिए कथंचित् इस दोष का निवारण सम्भव है।

परन्तु '**मुखं चन्द्रः**' इत्यादिस्थलों में मुख के साथ चन्द्र का स्ववृत्तिधर्मवत्त्वसम्बन्ध से अन्वय स्वीकार करने पर '**प्रतियोग्यभावान्वयौ तुल्ययोगक्षेमौ**' प्रतियोगि और अभाव का अन्वय तुल्ययोगक्षेम होता है अर्थात प्रतियोगि का जिस सम्बन्ध से भाव हुआ करता है, अभाव को बोधित करने के लिए प्रतियोगी का उसी सम्बन्ध से अभाव भी बोधित हुआ करता है। इसलिए '**न चन्द्रः मुखमेवेदम्**' इत्यादिस्थलों में स्ववृत्तिधर्मवत्त्व सम्बन्ध से चन्द्र का अभाव ही मुख में नञ्पद के समभिव्याहार से प्रतीत होना चाहिए। किन्तु वह तो बाधित है क्योंकि चन्द्रवृत्ति आह्लादकत्वादिमत्त्व तो मुख में विद्यमान है। इसलिए वहाँ पर तो शाब्दबोध नहीं होना चाहिए किन्तु होता है। इसलिए यह पक्ष गदाधर भट्टाचार्य को स्वीकृत नहीं है ऐसा '**परेतु**' और '**वदन्ति**' के द्वारा सूचित होता है।

'**केचित्तु**' के द्वारा उपस्थापित जो मत है वह भी ग्रन्थकार का अपना मत नहीं है। ग्रन्थकार के स्वमत में तो चन्द्रपद की चन्द्रसदृश में लक्षणा ही होती है। उपमा अलंकार और रूपक अलंकार में चमत्कारवैलक्षण्य विषयवैलक्षण्य पर आधारित नहीं है बल्कि कारणान्तर से गम्य ही है। जैसे '**गङ्गायां घोषः**' इससे और '**गङ्गातीरे घोषः**' इन दोनों ही प्रयोगों से गङ्गातीर में घोष की ही प्रतीति होती है परन्तु '**गंगातीरे घोषः**' से शैत्य और पावनत्व के अतिशय की प्रतीति नहीं होती है गंगातीर में लाक्षणिक गंगा पद से जब गंगातीर का बोध होता है तभी शैत्यपावनत्वातिशय की प्रतीति होती है। उसी प्रकार उपमा और

1. सादृश्यमपि न पदार्थान्तरं किंतु तद्भिन्नत्वे सति तद्गतभूयोधर्मवत्त्वम् 1
न्यायसिद्धान्तमुक्तावली सादृश्यपदार्थान्तरत्व खण्डन का. 2

रूपकस्थल में भी समझना चाहिए। उपमास्थल में सादृश्य अभिधा से बोध्य होता है और रूपक में सादृश्य लक्षणा से गम्य होता है। यही दोनो में पार्थक्य है और इसीलिए विषय की विलक्षणता न होने पर भी चमत्कार की विलक्षणता कारणान्तर से गम्य होती है जो कि सहृदयों के द्वारा ही गम्य है।

**अथ राजा पुरुष इत्यादौ पदार्थोपस्थित्यादिसत्त्वेन कथं न भेदान्वयबोधः? सामग्र्या कार्यजनने उक्तनियमभंगरूपाया प्रयोजनक्षतेरकिंचित्करत्वात् सामग्रीसत्त्वेऽवश्यं कार्यमितिनियमात् ।**

पूर्व में जो नियम बनाया है कि निपातातिरिक्त नामार्थों का क्रिया व निपातातिरिक्त नामार्थों का भेदसम्बन्ध से अन्वयबोध अव्युत्पन्न है। उस नियम के मूल में कौन सा कार्यकारण भाव है? इसी को अग्रिम शंका समाधानों के द्वारा बतलाना चाह रहें है—

**'राजा पुरुषः'** इत्यादिस्थलों में राजसम्बन्धिपुरुषविषयक शाब्दबोध के प्रति कारणीभूत पदार्थोपस्थिति, योग्यताज्ञान, तात्पर्यज्ञान इत्यादि सामग्री के रहने पर भी भेदान्वयबोध (भेदसम्बन्ध से अन्वयबोध) क्यों नहीं होता है? (यदि आप कहें कि यहाँ पर भेदान्वयबोध स्वीकार कर लेने पूर्वस्वीकृत नियमभङ्ग हो जायेगा तो) सामग्री से कार्य उत्पत्ति होने की स्थिति में उक्तनियमभङ्गरूप प्रयोजनक्षति अकिंचित्कर होती है क्योंकि सामग्री के रहने पर कार्य अवश्य होगा ऐसा नियम है। अभिप्राय यह है कि **'राजा पुरुषः'** यहाँ पर भेदान्वयबोध की सामग्री मौजूद है, सामग्री के रहने पर कार्योत्पत्ति आवश्यक है। आप यह कहकर सामग्री के रहने पर कार्योत्पत्ति का निषेध नहीं कर सकते हैं कि यहाँ पर कार्योत्पत्ति स्वीकार कर लेने पर फलाँ नियम भंग हो जायेगा क्योंकि नियम दृष्टानुसारी हुआ करते हैं। कहीं पर सामग्री के रहने पर कार्योत्पत्ति दिखायी पड़ने पर यदि नियमभङ्ग हो रहा है तो यही मानना होगा कि वह नियम ग़लत है, न कि उस नियम को आधार बनाकर आप कार्योत्पत्ति का निषेध करें।

**न च तत्र भेदान्वयबोधौपयिकाकाङ्क्षाविरहाच्छाब्दसामग्र्येवासिद्धेति वाच्यम्, समभिव्याहाररूपाकाङ्क्षायास्तत्रापि सत्त्वात् ।**

यदि कहो कि **'राजा पुरुषः'** यहाँ पर भेदान्वयबोध के प्रति कारणीभूत आकाङ्क्षा के न रहने के कारण शाब्दसामग्री ही असिद्ध है तो नहीं कह सकते हैं क्योंकि समभिव्याहाररूप आकाङ्क्षा वहाँ पर भी विद्यमान है।

यहाँ पर दोषनिवारण (शाब्दापत्ति निवारण) का प्रयास इस आशय से किया जा रहा है कि शाब्दबोध के प्रति केवल पदार्थोपस्थिति, योग्यताज्ञान, तात्पर्यज्ञान की ही कारणता नहीं है बल्कि आकाङ्क्षा की भी कारणता है (जिसके द्वारा संसर्ग भासित होता है) **'राज्ञः पुरुषः'** यहाँ पर भेदान्वयबोध के प्रति कारणीभूत समभिव्याहाररूप आकाङ्क्षा विद्यमान है, **राजानं, राज्ञा, राज्ञे, राज्ञः** इत्यादि स्थलों में राजनिष्ठकर्मत्व, राजनिष्ठकरणत्व, राजनिष्ठसम्प्रदानत्व, राजनिष्ठस्वत्व आदिप्रकारक भेदान्वयबोध के प्रति **राजानं, राज्ञा, राज्ञे** इत्यादि ज्ञानों की कारणता होती है इसलिए **'राजा पुरुषः'** इत्यादि स्थलों में तादृश आनुपूर्वीरूप आकाङ्क्षा के न रहने से शाब्दसामग्री ही नहीं है।अतः **'राज्ञः पुरुषः'** में तो भेदान्वय बोध होता है मगर **'राजा पुरुषः'** में भेदान्वयबोध होने की सामग्री नहीं है। सामग्री के ही न होने के कारण शाब्दापत्ति वारित हो जायेगी। पुनः शाब्दापत्ति मौजूद है यह

बतलाने के लिए कहा जा रहा है कि भेदान्वयबोध के प्रति आनुपूर्वीज्ञानों की परस्पर व्यभिचारिता होगी क्योंकि एक जगह पर जैसे '**राजानं**' यहाँ पर '**राज्ञः**' वाली आनुपूर्वी तो रहेगी नहीं इसी प्रकार उल्टी रीति से भी होगा। अतः अव्यवहितोत्तरत्वादि का निवेश कर के नानाकार्यकारण भाव बनाना पड़ेगा। इसकारण प्रकार और विशेष्य वाचक पदों के समभिव्याहाररूप आकाङ्क्षाज्ञान की ही कारणता स्वीकारनी चाहिए। वह तो जैसे **राज्ञः पुरुषः** में है उसी प्रकार '**राजा पुरुषः**' में भी है। अतः शाब्दसामग्री के विद्यमान होने से '**राजा पुरुषः**' यहाँ पर अभेदान्वय बोध की आपत्ति पूर्ववत् है।

**न च तादृशाकाङ्क्षायस्तत्र सत्त्वेऽपि राजादिपदार्थप्रकारकभेदान्वयबोधे राजादिपदाव्यवहितोत्तरङस्पदत्वरूपानुपूर्वीविशेषरूपाया आकाङ्क्षाया अपि प्रयोजकत्वात् तदभावादेव न तत्र शाब्दसामग्रीतिवाच्यम्, सम्बन्धादि-विशेष्यकराजादिप्रकारकान्वयबोध एव तादृशाकाङ्क्षाज्ञानस्य हेतुतया पुरुषादौ राजादिपदार्थप्रकारकान्वयबोधोत्पतौ तादृशाकाङ्क्षाज्ञानरूप-कारणविरहस्याकिंचित्करत्वात्।**

यदि कहें कि प्रकार विशेष्यवाचक पदों के समभिव्याहार रूप आकाङ्क्षा के वहाँ पर होने पर भी राजादिपदार्थप्रकारक भेदान्वयबोध के प्रति राजादिपदाव्यवहितोत्तरङस् पदत्वरूप आनुपूर्वी विशेषरूप आकाङ्क्षा के भी प्रयोजक होने से और '**राजा पुरुषः**' यहाँ पर राजादिपदाव्यवहितोत्तरङस् पदत्वरूप आनुपूर्वी रूप आकाङ्क्षा का अभाव होने के कारण भेदान्वयबोध की सामग्री पूरी नही होती है। तो ऐसा नहीं कह सकते हैं क्योंकि सम्बन्धादिविशेष्यक राजादिपदार्थप्रकारक अन्वयबोध में ही उक्त राजादिपदाव्यवहितोत्तरङस् पदत्वादिरूप आकाङ्क्षाज्ञान की हेतुता होने के कारण पुरुषादि में राजादिपदार्थप्रकारक अन्वय बोध को उत्पत्ति में वैसा आकाङ्क्षाज्ञानरूप कारण विरह अकिंचित्कर है।

यहाँ पर आशय यह है कि '**राजा कर्मत्वम्**' '**राजा स्वत्वम्**' इत्यादिस्थलों में समभिव्याहार रूप आकाङ्क्षा के रहने पर भी शाब्दबोध नहीं होने के कारण भेदान्वयबोध के प्रति आनुपूर्वी की भी कारणता स्वीकारनी पड़ेगी। इसलिए प्रकार और विशेष्य वाचक पदों के समभिव्याहार रूप आकाङ्क्षा के रहने पर भी भेदान्वय बोध (राजादिपदार्थ प्रकारक भेदान्वय बोध) के प्रति राजादिपदाव्यवहितोत्तरङस्पदत्व रूप आनुपूर्वी विशेषरूपा आकाङ्क्षा को भी प्रयोजक मानना पड़ेगा और उक्त आकाङ्क्षा तो '**राजा पुरुषः**' इस स्थल में है नहीं। अतः शाब्द सामग्री ही पूरी नहीं होगी। शाब्दसामग्री के न रहने के कारण ही भेदान्वय बोध नहीं हो सकेगा।

इसका समाधान करते हैं कि- भई आपने ग़लत समझा है। राजादिपदाव्यवहितोत्तरङस्पदत्व रूप आनुर्वीविशेषरूप आकाङ्क्षा की कारणता (या प्रयोजकता) सम्बन्धादिविशेष्यक राजादि प्रकारक अन्वयबोध के प्रति ही है, पुरुषादिविशेष्यक राजादिपदार्थ प्रकारक अन्वयबोध की उत्पत्ति के प्रति तो राजादिपदाव्यवहितोत्तरङस् पदत्वरूप अनुपूर्वीविशेषरूप आकाङ्क्षा की कारणता ही नहीं है। निष्कर्ष रूप में यह समझें कि- **राजनिष्ठभेदसम्बन्धावच्छिन्न प्रकारतानिरूपितस्वत्वनिष्ठविशेष्यताकशाब्दबोध के प्रति ही राजपदाव्यव-हितोत्तरङस्पदत्वरूप आनुपूर्वीरूप आकाङ्क्षाज्ञान कारण है।** अर्थात् '**निरूपितत्व**

**सम्बन्धेन राजवत् स्वत्वम्**' इस प्रकार के शाब्दबोध के प्रति ही राजपदाव्यवहितोत्तरङस्पदत्वरूप आनुपूर्वीज्ञान कारण है, राजपदार्थप्रकारक पुरुषविशेष्यक शाब्दबोध के प्रति नहीं । यहाँ पर हमारे द्वारा राजप्रकारकनिरूपितत्वसंसर्गकस्वत्वविशेष्यक शाब्दबोध की आपत्ति तो दी नहीं जा रही है किन्तु पुरुषविशेष्यक शाब्दबोध की आपत्ति दी जा रही है। उसके प्रति तो राजपदाव्यवहितोत्तरङस्दत्वरूप आनुपूर्वीज्ञान की कारणता ही नहीं है, नहीं तो '**राजपुरुषः**' यहाँ पर पुरुषविशेष्यक शाब्दबोध नहीं हो सकेगा क्योंकि यहाँ पर राजपदाव्यवहितोत्तरङस्पदत्व रूप आनुपूर्वी है नहीं । इसलिए जैसे समासस्थल में इस आनुपूर्वी के न रहने पर भी राजप्रकारक स्वत्वसंसर्गक पुरुषविशेष्यक शाब्दबोध हुआ करता है, उसी प्रकार '**राजा पुरुषः**' यहाँ पर भी राजप्रकारक स्वत्वसंसर्गक पुरुषविशेष्यक शाब्दबोध होना चाहिए। इस प्रकार '**राजा पुरुषः**' यहाँ पर भेदान्वयबोध की आपत्ति पूर्ववत् मौजूद है, उसका निवारण करना इन तरीकों से सम्भव नहीं है।

**अत्र केचित् – नामार्थप्रकारकभेदान्वयबोधं प्रति समानविशेष्यताप्रत्यासत्त्या प्रत्ययजन्योपस्थितेर्हेतुत्वकल्पनात् नामार्थप्रकारकभेदान्वयबोधे विशेष्यतया प्रत्ययार्थस्यैव भानं न तु नामार्थान्तरस्य तत्र विशेष्यतासम्बन्धेन प्रत्ययजन्योपस्थितेरसत्त्वात् ।**

ग्रन्थकार सिद्धन्तैकदेशी द्वारा दिया गया समाधान देते हैं– यहाँ पर कुछ लोगों का कहना है कि नामार्थप्रकारकभेदान्वयबोध के प्रति समान विशेष्यता प्रत्यासत्ति से प्रत्ययजन्य उपस्थिति की हेतुता की कल्पना करने के कारण नामार्थप्रकारक भेदान्वयबोध में विशेष्य बनकर प्रत्ययार्थ का ही भान हुआ करता है नामार्थान्तर (दूसरे नामार्थ) का नहीं क्योंकि उसमें विशेष्यता सम्बन्ध से प्रत्ययजन्य उपस्थिति नहीं रहती है।

अभिप्राय यह है कि **राज्ञः**, **राजानं**, इत्यादि स्थलों में '**निरूपितत्व वृत्तित्वादिसम्बन्धावच्छिन्नप्रकारतानिरूपित स्वत्व, कर्मत्वादिनिष्ठविशेष्यताक शाब्दबोध के प्रति ङस् प्रत्ययजन्यस्वत्वोपस्थिति, अम्प्रत्ययजन्य कर्मत्वोपस्थिति कारण है**' (**राज्ञः** यहाँ पर निरूपितत्व सम्बन्ध से राजपदार्थ ङसपदार्थ स्वत्व में प्रकार है, इस प्रकार निरूपितत्व सम्बन्ध से अवच्छिन्न राजपदार्थनिष्ठ प्रकारता से निरूपित स्वत्वनिष्ठ विशेष्यता है, **राजानम्** यहाँ पर राजपदार्थ वृत्तित्व सम्बन्ध से कर्मता में प्रकार है। इस प्रकार वृत्तित्वसम्बन्धावच्छिन्न राजपदार्थनिष्ठ प्रकारता से निरूपित विशेष्यता कर्मत्व में है। क्रमशः इन दोनों के लिए ङस् पद जन्य स्वत्वोपस्थिति और अम् पद जन्य कर्मत्व की उपस्थिति कारण है)इस क्रम से विशेष्य का कार्य कारण कोटि में निवेश कर के आत्मनिष्ठप्रत्यासत्ति से कार्यकारणभाव स्वीकारने पर गौरव होगा। इसलिए '**विशेष्यतासम्बन्ध से नामार्थनिष्ठ भेदसम्बन्धावच्छिन्नप्रकारताक शाब्दबोध के प्रति विशेष्यतासम्बन्ध से प्रत्ययजन्य उपस्थिति कारण है**' इस प्रकार विषयनिष्ठप्रत्यासत्ति से कार्यकारण भाव कहना चाहिए। **राज्ञः** यहाँ पर नामार्थनिष्ठ (राजपदार्थनिष्ठ) भेदसम्बन्ध (निरूपितत्व सम्बन्ध) से अवच्छिन्नप्रकारताक शाब्दबोध (**निरूपितत्वसम्बन्धेन राजवत्स्वत्वम्** ऐसा शाब्दबोध) विशेष्यतासम्बन्ध से स्वत्व में है, उस स्वत्व में विशेष्यतासम्बन्ध से प्रत्ययजन्य उपस्थिति (स्वत्वोपस्थिति) भी है क्योंकि प्रत्ययजन्यस्वत्व की उपस्थिति में स्वत्व विशेष्य हुआ करता है। '**राजा पुरुषः**' से कल्प्यमान भेदान्वयबोध (जो कि नामार्थ राजपदार्थनिष्ठ

भेदसम्बन्ध स्वत्वावच्छिन्न प्रकारतानिरूपक होगा) विशेष्यता सम्बन्ध से पुरुष में रहेगा (क्योंकि भेदान्वयबोध का विशेष्य पुरुष होगा) उसके प्रति कारण है विशेष्यता सम्बन्ध से प्रत्यय जन्य उपस्थिति, वह तो पुरुष में विशेष्यता सम्बन्ध से है नहीं। अतः पुरुषविशेष्यक भेदसम्बन्धावच्छिन्नराजनिष्ठप्रकारताक शाब्द बोध नहीं होता है।

इस विवेचन का सार यह है कि जहाँ पर विशेष्यतासम्बन्ध से प्रत्ययजन्य उपस्थिति होगी वहीं पर विशेष्यता सम्बन्ध से भेदसम्बन्धावच्छिन्नप्रतिपदिकार्थनिष्ठप्रकारताक शाब्द बोध होगा। विशेष्यता सम्बन्ध से प्रत्ययजन्य उपस्थिति प्रत्ययार्थ में ही रहेगी, इसलिए प्रत्ययार्थ में ही विशेष्यता सम्बन्ध से (या कहें कि प्रत्ययार्थ विशेष्यक ही) भेदसम्बन्धावच्छिन्ननामार्थनिष्ठप्रकारताकशाब्दबोध होता है। पुरुषादिविशेष्यक भेदसम्बन्ध स्वत्वाद्यवच्छिन्नराजादिनिष्ठप्रकारताक शाब्दबोध नहीं होता है। निष्कर्ष ये है कि नामार्थों का साक्षात् भेदान्वयबोध नहीं होता है, या साक्षात् नामार्थ प्रकारक नामार्थ विशेष्यक भेदान्वय बोध नहीं ही होता है यह सिद्धान्त है।

**'राजः पुरुषः'** यहाँ पर भी राजप्रकारक भेदसम्बन्ध (स्वत्व) संसर्गक पुरुषविशेष्यक शाब्दबोध नहीं होता है अपितु निरूपितत्व सम्बन्ध से राज पदार्थ स्वत्व में प्रकार होता है और स्वत्व आश्रयत्व सम्बन्ध से पुरुष में प्रकार होता है । कह सकते हैं कि राजस्वत्व का भेदसम्बन्ध आश्रयत्व सम्बन्ध से पुरुष में भान होता है अर्थात् राजस्वत्व प्रकारक (षष्ठ्यर्थ प्रकारक) पुरुषविशेष्यक शाब्दबोध इस वाक्य से होता है। नामार्थ का नामार्थ के साथ भेद सम्बन्ध से अन्वय नहीं हो रहा है, स्वत्व सम्बन्ध बनकर बीच में नहीं आ रहा है बल्कि प्रकार बनकर आ रहा है।

**'राजपुरुषः'** यहाँ पर भी राजप्रकारक स्वत्वसंसर्गक पुरुषविशेष्यक शाब्दबोध नहीं होता है बल्कि राजपद की राजसम्बन्धी में लक्षणा होती है और राजसम्बन्धिप्रकारक, अभेद संसर्गक, पुरुषविशेष्यकशाब्दबोध हुआ करता है।

इस प्रकार यह भी सिद्धान्तित हुआ कि नामार्थप्रकारक भेदान्वयबोध में प्रत्ययार्थ का ही विशेष्यतया भान होता है नामार्थान्तर का नहीं। अतः **राजा पुरुषः** यहाँ पर भेदान्वयबोध की आपत्ति वारित हो जाती है।

**न च सम्बन्धादेरपि नामार्थतया तत्प्रकारकान्वयबोधे पुरुषादिपदार्थस्य विशेष्यतया भानानुपपत्तिः, तत्तन्नामपदजन्यतत्तन्नामार्थप्रकारकशाब्दबोधत्वावच्छिन्नं प्रति प्रत्ययजन्योपस्थितित्वेन हेतुत्वेऽपि 'राजसम्बन्धः प्रमेयः' 'राज्ञः पुरुषः' इत्येतादृशवाक्यद्वयजन्यवाक्यार्थद्वयान्वयबोधे पुरुषस्य राजसम्बन्धविशेष्यतया भानानुपपत्तिरिति वाच्यम्, प्रत्ययाधीनतत्तत्पदार्थोपस्थित्यजन्यतदर्थप्रकारकशाब्दत्वावच्छिन्नं प्रत्येव प्रत्ययजन्योपस्थितेः समानविशेष्यताप्रत्यासत्त्या हेतुत्वोपगमात् ।**

अब ग्रन्थकार इस आशय से प्रश्न कर रहें है (जिसका कि फिर समाधान भी देंगे) कि- प्रत्ययार्थ और नामार्थ का विभाग कर पाना सम्भव नहीं है, जो कहीं पर प्रत्ययार्थ है वह अन्यत्र नामार्थ भी हो सकता है। या जो भी प्रत्ययार्थ होगा वह नामार्थ भी है ही। ग्रन्थकार आशंका करते हैं-

सम्बन्धादि के भी नामार्थ होने के सम्बन्धादिप्रकारक अन्वयबोध में पुरुषादिपदार्थ विशेष्यतया भान की अनुपपत्ति है। अभिप्राय यह है कि अभी-अभी यह कार्य कारण भाव स्थापित किया गया कि **'विशेष्यतासम्बन्ध से नामार्थनिष्ठभेदसम्बन्धावच्छिन्न-प्रकारताशाब्दबोध के प्रति विशेष्यतासम्बन्ध से प्रत्ययजन्य उपस्थिति कारण है'**। **'राज्ञः पुरुषः'** इस स्थल में जो शाब्दबोध होता है उसके विषय में सिद्धान्तित किया गया कि पुरुषविशेष्यक आश्रयत्वसम्बन्धावच्छिन्न राजस्वत्वनिष्ठप्रकारताक शाब्दबोध यहाँ पर होता है। यह शाब्दबोध नामार्थनिष्ठ भेदसम्बन्धावच्छिन्नप्रकारताक है। यद्यपि राजस्वत्व प्रत्ययार्थ (षष्ठ्यर्थ) है तथापि उसको नामार्थ होने में तो कोई आपत्ति नहीं ही है क्योंकि प्रत्ययार्थ भी तो नामार्थ होता है। इसलिए यदि राजस्वत्वनिष्ठप्रकारता भेदसम्बन्ध (आश्रयत्व) से अवच्छिन्न है (जैसा कि है) तो नामार्थनिष्ठभेदसम्बन्धावच्छिन्नप्रकारताक यह शाब्दबोध हो गया, यह विशेष्यता सम्बन्ध से पुरुष में होता है तो पुरुष में विशेष्यता सम्बन्ध से प्रत्ययजन्य उपस्थिति को रहना चाहिए। प्रत्ययजन्य उपस्थिति विशेष्यता सम्बन्ध से पुरुष में तभी रहेगी यदि पुरुष की उपस्थिति प्रत्ययजन्य हो, वह तो है नहीं। इस प्रकार पुरुष में विशेष्यता सम्बन्ध से प्रत्ययजन्य उपस्थिति के न रहने के कारण भेदसम्बन्ध आश्रयत्व से अवच्छिन्न नामार्थस्वत्वनिष्ठप्रकारताक शाब्दबोध विशेष्यता सम्बन्ध से पुरुष में नहीं हो सकेगा या कहें कि पुरुष का विशेष्यता सम्बन्ध से उक्तशाब्दबोध में भान नहीं हो सकेगा।

इसका निवारण करने के लिए यदि कहें कि- **'तत्तन्नामपदजन्य तत्तन्नामार्थप्रकारक शाब्दबोध के प्रति प्रत्ययजन्य उपस्थिति कारण है'** तो इस दोष का वारण हो जायेगा। देखें- स्वत्व यद्यपि नामार्थ है और **'राज्ञः पुरुषः'** से जायमान शाब्दबोध राजस्वत्व प्रकारक है परन्तु यह स्वत्व प्रकारक बोध यहाँ पर स्वत्व वाचक नाम पद से जन्य नहीं है अपितु प्रत्यय से जन्य है। इसलिए उसके लिए प्रत्ययजन्य उपस्थिति कारण नहीं होती है। कार्यकारणभाव का अभिप्राय यह है कि यन्नामार्थनिष्ठप्रकारताक शाब्दबोध तन्नाम पद से जन्य होगा उसके प्रति प्रत्ययजन्य उपस्थिति विशेष्यता सम्बन्ध से कारण होगी और अपेक्षित होगी। जैसे **'राज्ञः'** यहाँ राजपदार्थ निरूपितत्व सम्बन्ध से प्रकार बनकर ङस्पदार्थ स्वत्व में भासता है शाब्दबोध में। यहाँ शाब्दबोध राजरूप नामार्थनिष्ठ प्रकारताक है, यह शाब्दबोध तन्नामपद (राजपद) से जन्य है क्योंकि राजपदार्थ की उपस्थिति राजपद से हुई है। इसलिए विशेष्यता सम्बन्ध से इस शाब्दबोध के होने के लिए विशेष्यता सम्बन्ध से प्रत्ययजन्य उपस्थिति कारण है। जो कि ङस्प्रत्ययजन्य स्वत्व की उपस्थिति यहाँ पर विद्यमान है।

परन्तु इस प्रकार का कार्यकारण भाव बना लेने पर भी **'राजसम्बन्धः प्रमेयः' 'राज्ञः पुरुषः'** इन दो वाक्यों से जन्य वाक्यार्थद्वय के अन्वयबोध में पुरुष का राजसम्बन्ध का विशेष्य बनकर भान की अनुपपत्ति है। अभिप्राय यह है कि इन दो वाक्यों से जन्य जो समूहालम्बनात्मक बोध होता है उसमें **'राज्ञः पुरुषः'** इस वाक्य के द्वारा पुरुषविशेष्यक आश्रयत्व सम्बन्ध से राजस्वत्व प्रकारक बोध होना चाहिए। अर्थात् पुरुष का विशेष्यतया और राजस्वत्व का प्रकारतया भान होना चाहिए। किन्तु ऊपर अभी जो कार्यकारणभाव बतलाया गया उसके अनुसार देखें तो यह जो शाब्दबोध है वह तन्नामपदजन्य तन्नामार्थ

प्रकारक शाब्दबोध है। यहाँ पर षष्ठयर्थ स्वत्व की जैसे ङस्पद से उपस्थिति है वैसे ही राजसम्बन्ध इस नाम पद से भी उपस्थिति है। दोनों वाक्यों से होनेवाला शाब्दबोध तो समूहालम्बनात्मक होकर एक ही हो रहा है। इसलिए राजस्वत्वप्रकारक शाब्दबोध जो कि समूहालम्बनात्मक हो रहा है वह तन्नामपद राजसम्बन्ध पद से जन्य है। अतः विशेष्यता सम्बन्ध से यह शाब्दबोध वहीं पर होगा जहाँ पर विशेष्यता सम्बन्ध से प्रत्ययजन्य उपस्थिति होगी। विशेष्यता सम्बन्ध से प्रत्यय जन्य उपस्थिति पुरुष में नहीं है अतः पुरुष का विशेष्यतया उक्त शाब्द बोध में भान नही हो सकेगा।

**'प्रत्ययाधीन'** इत्यादि से इस आशंका का समाधान ग्रन्थकार दे रहे हैं कि- प्रत्ययाधीनतत्तत्पदार्थोपस्थिति से अजन्य तदर्थप्रकारक शाब्दबोध के प्रति ही प्रत्ययजन्य उपस्थिति की समानविशेष्यता प्रत्यासत्ति से हेतुत्व का स्वीकार करने से उक्त दोष वारित हो जाता है। इस प्रकार से कार्यकारणभाव की कार्यतावच्छेदक कोटि में परिष्कार करके कार्यकारणभाव यह बना कि- **विशेष्यतासम्बन्ध से प्रत्ययाधीनतत्तत्पदार्थोपस्थिति से अजन्य तत्तत्पदार्थप्रकारकशाब्दबोध के प्रति विशेष्यतासम्बन्ध से प्रत्ययजन्य उपस्थिति कारण है'**। पहले सामान्य स्थल पर इस कार्यकारणभाव को घटाते हैं- **'राज्ञः'** यहाँ पर प्रत्यय के अधीन राजपदार्थ की उपस्थिति नहीं होती है, अतः प्रत्ययाधीन राजपदार्थ की उपस्थिति से अजन्य राजपदार्थप्रकारक शाब्दबोध होता है। विशेष्यता सम्बन्ध से उस शाब्दबोध के प्रति प्रत्यय (ङस्) जन्य पदार्थ स्वत्व की उपस्थिति कारण बनती है। **'राज्ञः पुरुषः'** यहाँ पर राजस्वत्वप्रकारक जो शाब्दबोध है, वह ङस् प्रत्यय के अधीन स्वत्वपदार्थ की उपस्थिति से जन्य है क्योंकि ङस् के द्वारा स्वत्व की उपस्थिति होने पर ही राजस्वत्वप्रकारक शाब्दबोध होता है। इस प्रकार यहाँ पर राजस्वत्वप्रकारक शाब्दबोध प्रत्ययाधीन तत्तत्पदार्थ (स्वत्वरूप अर्थ) की उपस्थिति से अजन्य नहीं है किन्तु जन्य ही है। अतः उक्त शाब्दबोध के प्रति विशेष्यता सम्बन्ध से प्रत्ययजन्य उपस्थिति की कारणता ही नहीं है। इस प्रकार निष्कर्षतः कह सकते हैं कि प्रत्ययाधीनतदर्थोपस्थिति से अजन्य जो तन्नामार्थप्रकारक शाब्दबोध उसके लिए ही प्रत्ययजन्योपस्थिति की कारणता होती है। समूहालम्बनस्थलीय बोध के सम्बन्ध रूप नाम (प्रातिपदिक) के अर्थ स्वत्वनिष्ठ प्रकारताक होने पर भी स्वत्वनिष्ठप्रकारताकशाब्दबोध के ङस्प्रत्ययाधीनस्वत्वोपस्थिति जन्य होने के कारण उसके प्रति प्रत्ययजन्य उपस्थिति की विशेष्यता सम्बन्ध से कारणता ही नहीं है। यदि प्रत्ययाधीन उपस्थिति से अजन्य होता स्वत्वप्रकारताकशाब्दबोध, तब उसके लिए विशेष्यता सम्बन्ध से प्रत्ययजन्य पदार्थोपस्थिति की आवश्यकता (कारणता) होती ।

**विमर्श-** पूर्व में जो कार्यकारण भाव दिखलाया गया था- **'विशेष्यता सम्बन्ध से भेदसम्बन्धावच्छिन्ननामार्थनिष्ठप्रकारताक शाब्दबोध के प्रति विशेष्यता सम्बन्ध से प्रत्ययजन्य उपस्थिति कारण है'** उसमें कार्य है भेदसम्बन्धावच्छिन्न नामार्थनिष्ठप्रकारताक शाब्दबोध और कारण है प्रत्ययजन्य उपस्थिति। इस कार्यकारणभाव की कार्य कोटि में (कार्यतावच्छेदक कोटि में) परिष्कार करने के लिए उक्त आशंका और समाधान किया गया तथा बतलाया गया कि यदि ऐसा कार्यकारणभाव मानते हैं तो उसमें क्या दोष आयेगा? अतः भेद सम्बन्धावच्छिन्ननामार्थनिष्ठप्रकारताक शाब्दबोध के प्रति प्रत्ययजन्य पदार्थोपस्थिति को कारण न मानिए बल्कि प्रत्ययाधीन तत्तत्पदार्थोपस्थिति से अजन्य भेदसम्बन्धावच्छिन्न

तत्तत्पदार्थनिष्ठप्रकारताक शाब्दबोध के प्रति कारण मानिए। इस प्रकार अब तक का परिष्कृत कार्यकारणभाव हुआ—'**विशेष्यता सम्बन्ध से प्रत्ययाधीनतत्तत्पदार्थोपस्थिति से अजन्य भेदसम्बन्धावच्छिन्नतत्तत्पदार्थनिष्ठ प्रकारताक शाब्दबोध के प्रति विशेष्यता सम्बन्ध से प्रत्ययजन्य पदार्थोपस्थिति कारण है**'। अब आगे इस कार्य कारण भाव की कारणकोटि प्रत्ययजन्यपदार्थोपस्थिति के विषय में विचार करेंगे।

**अथैवमपि यत्र 'राजा पुरुष' इत्यत्र पुरुषपदाधीनपुरुषोपस्थितौ प्रत्ययवशात् कश्चित् प्रत्ययार्थोऽपि विषयीभूतस्तत्र प्रत्ययजन्यतथाविधसमूहालम्बनोपस्थिते विंशेष्यतासम्बन्धेन पुरुषेऽपि सत्त्वात् तस्य राजप्रकारकान्वयबोधे विशेष्यतया भानापत्तिर्दुर्वारैव।**

ठीक है, इस प्रकार कार्यकारणभावनिर्वचन करने पर भी जहाँ पर '**राजा पुरुषः**' यहाँ पर पुरुष पद से पुरुष की उपस्थिति में ही प्रत्ययवश कोई प्रत्ययार्थ भी विषय हो गया वहाँ प्रत्ययजन्य तथाविध समूहालम्बन उपस्थिति के विशेष्यता सम्बन्ध से पुरुष में भी रहने के कारण पुरुष के राजप्रकारक अन्वयबोध में विशेष्यता सम्बन्ध से भान की आपत्ति दुर्वार ही है।

अभिप्राय यह है कि जहाँ पर '**राजा पुरुषः**' इस स्थल में पुरुष पद से पुरुष की उपस्थिति हुई और पुरुष पदोत्तर सुविभक्ति से एकत्व की उपस्थिति हुई इस प्रकार '**पुरुष एकत्वं च**' ऐसी समूहालम्बनात्मिका उपस्थिति हुई। यह उपस्थिति जिस प्रकार पुरुषपद से जन्य है उसी प्रकार प्रत्यय पद सु से भी जन्य है। इस प्रकार विशेष्यता सम्बन्ध से प्रत्ययजन्य उपस्थिति जैसे एकत्व में है उसी प्रकार पुरुष में भी है। '**राजा पुरुषः**' यहाँ पर विशेष्यता सम्बन्ध से भेदसम्बन्धावच्छिन्नराजनिष्ठप्रकारताक शाब्द बोध के लिए विशेष्यतासम्बन्ध से प्रत्ययजन्य उपस्थिति की आवश्यकता है। विशेष्यतासम्बन्ध से प्रत्ययजन्य उपस्थिति पुरुष में है ही। जोकि अभी अभी दिखाया गया। इस प्रकार पुरुष में विशेष्यता सम्बन्ध से प्रत्ययजन्योपस्थिति के रहने के कारण (कारण के रहने से) कार्यभूत भेदसम्बन्ध (स्वत्व) से अवच्छिन्न राजनिष्ठप्रकारताकशाब्दबोध की उत्पत्ति विशेष्यता सम्बन्ध से पुरुष में होनी चाहिए। अर्थात् राजप्रकारक स्वत्वसंसर्गक पुरुषविशेष्यक शाब्दबोध की आपत्ति '**राजा पुरुषः**' इस वाक्य से है। इस प्रकार से पूर्व में निवारित की जा चुकी इस वाक्य से भेदान्वयबोध की आपत्ति का अन्य रीति से पुनः आपादन कर रहे है।

**न च प्रत्ययजन्यतावच्छेदकीभूतविशेष्यतासम्बन्धेनोपस्थिते र्हेतुत्वोपगमान्नानुपत्तिः तादृशसमूहालम्बनोपस्थितिनिरूपितपुरुषनिष्ठ विशेष्यताया नाम्न एव जन्यतावच्छेदकत्वादिति वाच्यम्, ज्ञानभेदेन विशेष्यताभेदाभावात्, यत्र कुत्रचित् प्रत्ययादेव लक्षणादिना पुरुषाद्युपस्थिति स्तत्र तादृशोपस्थितिनिरूपितप्रत्ययजन्यतावच्छेदकीभूत विशेष्यतातः पुरुषादिपदजन्यपुरुषाद्युपस्थितिविशेष्यताया अभिन्नतया तावताप्युक्तातिप्रसङ्गवारणासम्भवादिति चेत् ?**

पूर्व ग्रन्थ द्वारा आक्षिप्त '**राजा पुरुषः**' यहाँ पर भेदान्वयबोध की आपत्ति का निवारण करने का प्रयास व उसका खडन करते हैं कि- यदि कहो कि प्रत्ययजन्यतावच्छेदकीभूत

विशेष्यता सम्बन्ध से भेदान्वयबोध के प्रति उपस्थिति की हेतुता का स्वीकार किया जाता है, इसलिए अनुपपत्ति नहीं है, उक्ताकारक समूहालम्बन उपस्थिति से निरूपित पुरुष निष्ठ विशेष्यता के तो नाम का ही जन्यतावच्छेदक होने कारण। यहाँ पर **नच** से **वाच्यम्** पर्यन्त ग्रन्थ द्वारा इस प्रकार से शाब्दबोधापत्ति के वारण का प्रयास किया गया। शाब्दबोधापत्ति वारण करने का प्रयास करने वाले का कहना यह है कि पूर्व में जो कार्यकारणभाव बनाया गया था उसकी कारणतावच्छेदक सम्बन्ध कोटि में परिष्कार कर देते हैं। कारणतावच्छेदक सम्बन्ध अभी तक विशेष्यतामात्र को बनाते थे अब प्रत्ययजन्यतावच्छेदकीभूत विशेष्यता सम्बन्ध से प्रत्ययजन्य उपस्थिति को कारण बनाइए। यद्यपि समूहालम्बनात्मक जो पुरुष और एकत्वविषयक उपस्थिति होती है उस उपस्थिति में प्रत्ययजन्यत्व भी है और पुरुषपद जन्यत्व भी है किन्तु प्रत्ययार्थनिष्ठ विषयता में ही प्रत्ययपदजन्यतावच्छेदकत्व आयेगा पुरुषनिष्ठविषयता में प्रत्ययपदजन्यतावच्छेदकत्व नहीं आयेगा क्योंकि पुरुष की जो उपस्थिति हो रही है वह पुरुष इस नामपद से हो रही है, प्रत्ययजन्य नहीं है। इसलिए पुरुषनिष्ठ विशेष्यताख्यविषयता प्रत्ययजन्यतावच्छेदिका नहीं है, इस कारण प्रत्ययजन्य उपस्थिति कारणतावच्छेदकीभूत सम्बन्ध प्रत्ययजन्यतावच्छेदक विशेष्यता सम्बन्ध से पुरुष में नहीं है, जहाँ पर कारणतावच्छेदक सम्बन्ध से कारण रहता है वहीं कार्यतावच्छेदक सम्बन्ध से कार्य की उत्पत्ति होती है। चूँकि पुरुष में कारणतावच्छेदक सम्बन्ध से कारण विद्यमान नहीं है अतः कार्यतावच्छेदकसम्बन्ध विशेष्यता सम्बन्ध से भेदसम्बन्धावच्छिन्नराजनिष्ठप्रकारताक शाब्दबोध रूप कार्य पुरुष में होने की आपत्ति वारित हो जाती है। जिसकी उपस्थिति जिस पद के द्वारा हो रही है उसमें रहने वाली विशेष्यता उस पद की जन्यतावच्छेदक होगी। पुरुष की उपस्थिति पुरुष पद से ही हो रही है अतः पुरुषनिष्ठ विशेष्यता जन्यतावच्छेदक होगी पुरुषपद की। प्रत्ययपद की जन्यतावच्छेदक नहीं होगी। इस लिए आपत्ति वारित हो जायेगी।

**'ज्ञानभेदेन'** से **'इति चेत्'** पर्यन्त ग्रन्थ के द्वारा ग्रन्थकार इस आपत्ति वारण प्रकार का खण्डन करते हैं कि- ऐसा नहीं कह सकते, ज्ञान भेद से विशेष्यता भेद में प्रमाण न होने के कारण। इस प्रकार जहाँ पर कहीं भी प्रत्यय से ही लक्षणा आदि के द्वारा पुरुष की उपस्थिति होती है, वहाँ पर तादृश उपस्थिति से निरूपित प्रत्ययजन्यतावच्छेदकीभूत विशेष्यता से पुरुषादिपदजन्य पुरुषाद्युपस्थिति विशेष्यता के अभिन्न होने के कारण प्रत्ययजन्यतावच्छेदकीभूत विशेष्यता को कारणतावच्छेदक सम्बन्ध बना देने पर भी उक्त अति प्रसङ्ग वारण (**'राजा पुरुषः'** यहाँ पर भेदान्वयबोधापत्तिवारण) सम्भव नहीं है।

अभिप्राय यह है कि ज्ञान के भेद से विशेष्यता का भेद नहीं होता है। इस कारण से कहीं पर लक्षणा आदि के द्वारा प्रत्यय से ही पुरुष की उपस्थिति होती है तो पुरुषनिष्ठ जो विशेष्यता है वह प्रत्ययपदजन्यतावच्छेदकीभूत विशेष्यता हो जायेगी पुरुषपद से पुरुष की जो उपस्थिति हुई है वह पुरुषनिष्ठविशेष्यता प्रत्ययपदजन्यतावच्छेदकीभूत पुरुष निष्ठ विशेष्यता से भिन्न नहीं है। इस प्रकार प्रत्ययपदजन्यतावच्छेदकीभूतपुरुषनिष्ठ पुरुषत्वावच्छिन्नविशेष्यता सम्बन्ध से प्रत्ययपदजन्यनिरुक्तसमूहालम्बनात्मक उपस्थिति के पुरुष में होने के कारण कारणसत्त्वात् कार्य की भी उत्पत्ति विशेष्यता सम्बन्ध से भेदसम्बन्धावच्छिन्न राजनिष्ठप्रकारताक शाब्दबोध की उत्पत्ति होनी चाहिए। इस प्रकार पुरुष में राजपदार्थ के अभेदान्वयबोध की आपत्ति है।

**विमर्श–** ज्ञान के भेद से विषयता का भेद नहीं स्वीकारा जाता है बल्कि विषय भेद से विषयता भिन्न-भिन्न होती है। एकाकार ज्ञानों की एक-एक विषयों में रहने वाली विषयता एक ही होती है। वह एकाकारक ज्ञान भले ही समूहालम्बनात्मक होने से किसी अन्य पदार्थ को भी विषय कर रहा हो। यही न्याय सिद्धान्त है। इसी को लेकर ऊपर दोष का पुनरापादन किया है।

**न, स्वजनकज्ञानीयप्रत्ययवृत्तिप्रकारतानिरूपितविशेष्यताविशिष्ट विशेष्यतासम्बन्धेनैवोपस्थितेर्हेतुतया उक्तसमूहालम्बनोपस्थितिनिरूपित पुरुषनिष्ठविशेष्यतायाश्च तादृशोपस्थितिजनकज्ञानीयप्रत्ययवृत्तिप्रकारता निरूपितविशेष्यतासामानाधिकरण्यविरहान्नातिप्रसङ्ग इति वदन्ति।**

उपर्युक्त भेदान्वयबोध की आपत्ति का खण्डन करते हैं कि- नहीं (उपर्युक्त भेदान्वय बोध की आपत्ति नहीं है) स्वजनकज्ञानीयप्रत्ययवृत्तिप्रकारतानिरूपितविशेष्यताविशिष्ट विशेष्यता सम्बन्ध से ही उपस्थिति के कारण होने के कारण और समूहालम्बन उपस्थिति निरूपित पुरुषनिष्ठ विशेष्यता में तादृश उपस्थितिजनकज्ञानीयप्रत्ययवृत्तिप्रकारतानिरूपित विशेष्यता का सामानाधिकरण्य न होने के कारण अतिप्रसंग नहीं है ऐसा कहते हैं।

इस ग्रन्थ के द्वारा जो भेदान्वयबोध की आपत्ति निवारित की जा रही है उसमें कहा यह जा रहा है कि प्रत्ययजन्योपस्थिति की भेदान्वयबोध के प्रति कारणता न तो विशेष्यता सम्बन्ध से और न तो प्रत्ययजन्यतावच्छेदकीभूत विशेष्यता सम्बन्ध से मानी जाये अपितु स्वजनकज्ञानीयप्रत्ययवृत्तिप्रकारतानिरूपितविशेष्यताविशिष्टविशेष्यतासम्बन्ध से प्रत्यय जन्योपस्थिति की भेदान्वयबोध के प्रति कारणता को स्वीकार किया जाये । स्व माने उपस्थिति, उपस्थिति जनक जो अर्थ विशेष्यक शक्ति ज्ञान, उस शक्ति ज्ञान की जो प्रत्यय वृत्ति प्रकारता (क्योंकि प्रत्ययार्थ विशेष्यक शक्ति ज्ञान में प्रत्यय का प्रकार विधया ही भान होगा) उससे निरूपित जो प्रत्ययार्थ निष्ट विशेष्यता उस विशेष्यता से विशिष्ट विशेष्यता सम्बन्ध से उपस्थिति को कारण मान रहे हैं। विशेष्यता का विशेष्यता में वैशिष्ट्य सामानाधिकरण्य सम्बन्ध से होगा। जैसे **राज्ञः** यहाँ पर ङस् प्रत्ययजन्य जो स्वत्व की उपस्थिति तज्जनक जो ङस्प्रत्ययार्थ-स्वत्वविशेष्यक शक्तिज्ञान **'ङस्प्रत्ययशक्यं स्वत्वम्'** इस प्रकार का शक्ति ज्ञान, इस शक्तिज्ञान का विषयभूत जो ङस् प्रत्ययनिष्ठ प्रकारता (क्योंकि शक्तिज्ञान में ङस् प्रत्यय प्रकार बन के भास रहा है) उससे निरूपित जो स्वत्वनिष्ठ विशेष्यता, उसी स्वत्व में ङस् प्रत्ययजन्य स्वत्वोपस्थितीय विशेष्यता भी है। इसलिए उपस्थितीय विशेष्यता उक्त स्वत्वनिष्ठ विशेष्यता से विशिष्ट हो जायेगी सामानाधिकरण्य सम्बन्ध से। इस तरह प्रत्ययजन्य उपस्थिति उक्त सम्बन्ध से स्वत्व में है और उसमें नामार्थराजप्रकारक निरूपितत्वसंसर्गक भेदान्वयबोध हो रहा है।

जब उक्त समूहालम्बनोपस्थिति को स्वपद से लेते हैं तो उक्त समूहालम्बनोपस्थिति जनक जो शक्तिज्ञान (पुरुषोपस्थितिजनक शक्तिज्ञान को लेने से कोई फायदा ही नहीं है क्योंकि फिर तो प्रत्ययनिष्ठ प्रकारता ही नहीं मिलेगी) **'सुप्रत्ययशक्यमेकत्वम्'** यह शक्तिज्ञान, इसकी प्रकारता सुप्रत्यय में, उस प्रकारता से निरूपित विशेष्यता एकत्वनिष्ठा ही होगी। इसलिए इस विशेष्यता से सामानाधिकरण्य सम्बन्ध से विशिष्ट विशेष्यता

पुरुषनिष्ठविशेष्यता (उपस्थितीय विशेष्यता) नहीं हो सकती है। इस प्रकार स्वजनक ज्ञानीयप्रत्ययवृत्तिप्रकारतानिरूपितविशेष्यताविशिष्ट विशेष्यता सम्बन्ध से प्रत्ययजन्योपस्थिति पुरुष में नहीं है। अतः कारणतावच्छेदक सम्बन्ध से कारण के पुरुष में नहीं होने के कारण पुरुष में कार्यतावच्छेदक सम्बन्ध से भेदान्वयबोध रूप कार्य उत्पन्न होने की कोई आपत्ति नहीं है।

**तदसत्– प्रत्ययत्वस्यानुगतस्यानतिप्रसक्तस्य दुर्वचतया उक्तकार्यकारण भावकल्पनाया असम्भवात्। 'राजसम्बन्धः पुरुषः' इत्यादौ सम्बन्धादिपदे ङस्पदत्वादिभ्रमदशायां सम्बन्धादिविशेष्यकराजादिपदार्थप्रकारकान्वय बोधानुपपत्तेः। 'राज्ञः पुरुषः' इत्यादौ ङस्पदादिषु सम्बन्धादिपदत्वभ्रमदशायां सम्बन्धांशे राजादिप्रकारकान्वयबोधापत्तेश्च।**

ग्रन्थकार पूर्वग्रन्थ द्वारा दिये गये समाधान का खण्डन करते है। कि वह असत् (ग़लत) है अनुगत और अनति प्रसक्त प्रत्ययत्व के दुर्वच होने के कारण उक्त कार्यकारण भाव कल्पना के असम्भव होने के कारण। आशय यह है कि प्रत्ययत्व का निर्वचन करना बहुत मुश्किल है, वह इसलिए है कि प्रत्ययत्व का कैसे भी निर्वचन करें, सारे प्रत्ययों का अनुगम नहीं हो पायेगा या प्रत्ययों से अतिरिक्त में भी प्रत्ययत्व अति प्रसक्त हो जायेगा। जब तक प्रत्ययत्व का अनुगम करके उसका अनतिप्रसक्त निर्वचन नहीं किया जाता तब तक प्रत्यय पद का निवेश करके उक्त कार्यकारणभाव की कल्पना करना असम्भव है क्योंकि प्रत्ययत्व का निर्वचन नहीं करने पर प्रत्यय का ज्ञान सम्भव नहीं है। यह तो प्रथम आपत्ति हुई। दूसरी आपत्ति यह है कि **'राजसम्बन्धः पुरुषः'** इत्यादिस्थलों में सम्बन्ध आदि पदों में ङस् पदत्व का भ्रम हो जाये तो ऐसी दशा में सम्बन्ध विशेष्यक (स्वत्वसम्बन्ध विशेष्यक) राजादिपदार्थप्रकारक भेदान्यबोध होता है, वह अनुपपन्न होगा। कारण यह है कि सम्बन्धादि पदों में ङस्पदत्वभ्रम हो जाने की दशा में भी सम्बन्ध पद को ङस्पद समझने के कारण सम्बन्ध पद से होने वाली जो स्वत्वसम्बन्ध की उपस्थिति है वह प्रत्यय जन्य उपस्थिति तो वस्तुतः नहीं ही है। क्योंकि सम्बन्ध पद से स्वत्व सम्बन्ध की उपस्थिति इसलिए नहीं हो रही है कि वह प्रत्यय है बल्कि इसलिए हो रही है कि हम उसे ङस्प्रत्यय समझ रहे हैं। इस कारण पूर्वोक्त कारणतावच्छेदक सम्बन्ध से प्रत्ययजन्योपस्थिति स्वत्वसम्बन्ध में नहीं रह सकती है जो कि राजादिपदार्थप्रकारक भेदान्वयबोध के प्रति कारण है। इसके विपरीत एक तीसरी आपत्ति भी है। वह यह कि **'राज्ञः पुरुषः'** इत्यादि स्थलों में ङस्पदादि में सम्बन्धपदत्व का भ्रम हो जाये तो सम्बन्धांश में राजादिपदार्थप्रकारक भेदान्वयबोध होता नहीं है परन्तु होने लगेगा। कारण यह है कि जब ङस्पद में सम्बन्धपदत्व भ्रम हो जाता है तो उसपद से होनेवाली जो स्वत्वसम्बन्धविषयक उपस्थिति है वह वस्तुतः है तो प्रत्ययजन्य उपस्थिति लेकिन हम उसको प्रत्ययजन्य उपस्थिति समझ नहीं रहे हैं बल्कि ङस्पद में सम्बन्ध पदत्व भ्रम के कारण सम्बन्ध पद जन्य उपस्थिति समझ रहे हैं। इस कारण यहाँ पर शाब्दबोध होता नहीं है किन्तु आपके कार्यकारणभाव के अनुसार कारणी भूत प्रत्ययजन्य उपस्थिति तो मौजूद ही है। कारण के मौजूद रहने से कार्य भी उत्पन्न होना चाहिए।

इस प्रकार तीन दोष है 1 प्रत्ययत्व का अनुगत अनतिप्रसक्त निर्वचन अत्यन्त कठिन होने के कारण उक्त कार्यकारणभाव कल्पना सम्भव नहीं है। 2. **'राजसम्बन्धः पुरुषः'** इत्यादिस्थलों में सम्बन्ध पद में ङस्पदत्व भ्रम होने पर अन्वयबोध अनुभव सिद्ध है वह अनुपपन्न है। 3. **'राज्ञः पुरुषः'** यहाँ ङस् में सम्बन्धपदत्व भ्रम होने पर शाब्दबोध अनुभवसिद्ध नहीं है उसकी आपत्ति।

**न च प्रत्ययत्वेन ज्ञातं यत्पदं तत्पदजन्योपस्थितेः कारणत्वादेतद् दोषद्वयस्य नावकाश इति वाच्यम्, राज्ञः पुरुष इत्यादौ षष्ठ्यादेः प्रत्ययत्वाद्यनुपस्थितिदशायामपि आनुपूर्वीविशेषप्रकारकज्ञानाधीनतदर्थोपस्थितिसत्त्वे शाब्दबोधोत्पत्त्या प्रत्ययत्वप्रकारकज्ञाननिवेशासम्भवत् ।**

पूर्वग्रन्थ से जो तीन दोषों की आपत्ति ही गयी है उसमें बाद के दोनों दोष इस आशय से दिये गये हैं कि यदि प्रत्ययत्व का अनुगम स्वीकार भी कर लिया जाये तो भी ये दो दोष हैं। इसलिए इस ग्रन्थ के द्वारा प्रथम दोष निवारण के लिए कोई प्रयास नहीं करके अग्रिम दोष द्वय निवारण के लिए कहते हैं कि— प्रत्ययत्वेन ज्ञात जो पद तत्पदजन्य उपस्थिति को कारण माना जाये प्रत्ययजन्य उपस्थिति को कारण मानने की जगह पर तो उक्त दोषद्वय को अवकाश (मौका) नहीं मिलेगा। पूर्व में दो दोष यही थे **'राजसम्बन्धः पुरुषः'** में सम्बन्ध पद में ङस् पदत्व भ्रम होने पर शाब्दबोध की अनापत्ति और **'राज्ञः पुरुषः'** यहाँ पर ङस् पद में सम्बन्धपदत्व भ्रम होने पर शाब्दबोध की आपत्ति। दोनों दोष वारित हो जायेंगे क्योंकि प्रत्ययत्वेन ज्ञात जो पद तत्पदजन्योपस्थिति को कारण मानने पर **'राजसम्बन्धः पुरुषः'** यहाँ पर प्रत्ययत्वेन ज्ञात पद है सम्बन्ध पद तत्पदजन्य उपस्थिति कारण है इस लिए शाब्दबोध हो जायेगा **'राज्ञः पुरुषः'** यहाँ पर ङस् पद प्रत्ययत्वेन ज्ञात पद नहीं है, अतः उस पद से जन्य उपस्थिति शाब्दबोध के प्रति कारण नहीं है। अतः शाब्द बोध नहीं होगा। इस प्रकार दोषद्वय वारित हो जायेंगे यदि ऐसा कहें तो नहीं कह सकते हैं क्योंकि **'राज्ञः पुरुषः'** इत्यादि स्थलों में षष्ठी आदि के प्रत्ययत्वादि की अनुपस्थिति दशा में भी आनुपूर्वीविशेषप्रकारकज्ञानाधीन तदर्थोपस्थिति के रहने पर शाब्दबोध की उत्पत्ति होने के कारण प्रत्ययत्व प्रकारक ज्ञान का निवेश असम्भव है। अभिप्राय यह है कि **'राज्ञः'** यहाँ पर जब षष्ठी की प्रत्ययत्वेन उपस्थिति नहीं होती है तब भी **'राज्ञः'** इत्याकारक आनुपूर्वीविशेष प्रकारक आनुपूर्वीमात्रविषयक जो ज्ञान, उस ज्ञान से जन्य षष्ठ्यर्थ स्वत्व की उपस्थिति होने पर राजपदार्थप्रकारक षष्ठ्यर्थस्वत्वविशेष्यक भेदान्वयबोध होता है। वह इष्ट भी है किन्तु जैसा निवेश आप करना चाह रहे हैं 'प्रत्ययत्वेन ज्ञात जो पद तत्पद जन्य उपस्थिति कारण है' ऐसा निवेश करने पर उक्तबोध न हो सकेगा। क्योंकि ऐसा निवेश करने पर जब षष्ठी की प्रत्ययत्वेन उपस्थिति नहीं हो रही है उस स्थिति में आनुपूर्वीविशेषप्रकारक आनुपूर्वीमात्र विषयक ज्ञान से जन्य स्वत्वोपस्थिति के होने पर शाब्दबोध की उत्पत्ति नहीं हो सकेगी। निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि उक्तविधया निवेश करने पर ङसादि में प्रत्ययत्व का अज्ञान होने की दशा में भी शाब्दबोध होना इष्ट है वह नहीं हो सकेगा।

**इदं पुनरत्र तत्त्वम् – 'राजा पुरुषः' इत्यादौ पुरुषादिविशेष्यकराजादिप्रकारकभेदान्वयबोधस्याप्रसिद्धयैव नापत्तिसम्भवः। यत्र षष्ठ्यादिविभक्तेरेव**

**स्वारसिकलक्षणया शक्तिभ्रमेण वा पुरुषाद्युपस्थितिस्तत्र तद्विशेष्यक-राजादिप्रकारकभेदान्वयबोधः प्रसिद्ध इति चेत्? तर्हि तादृशबोधे तथाविधप्रकृतिप्रत्ययानुपूर्वीविशेषरूपाकाङ्क्षाज्ञानसहकृततत्तद्विभक्तिजन्य-पुरुषाद्युपस्थितिघटितसामग्र्या एव तादृशबोधोत्पत्तिनियामकतया तदभावादेव न तदापत्तिः।**

मूल समस्या यह है कि '**राजा पुरुषः**' इत्यादिस्थलों में राजप्रकारक पुरुषविशेष्यक भेदान्वयबोध क्यों नहीं हुआ करता है? उसके लिए कार्य कारण भावों की कल्पना की गयी और उनका खण्डन भी कर दिया गया। मूल समस्या अभी भी मौजूद है। उसके लिए सिद्धान्तपक्षीय समाधान देते हैं—

यहाँ पर यह तत्त्व (सार) है— '**राजा पुरुषः**' इत्यादि स्थलों में पुरुषादिविशेष्यक राजादिप्रकारक भेदान्वयबोध के अप्रसिद्ध होने के कारण ही आपत्ति सम्भव नहीं है। अभिप्राय यह है कि जो कार्य कहीं पर प्रसिद्ध होता है उसी कार्य की आपत्ति सामग्री के बल से दी जा सकती है, जैसा कार्य कहीं पर प्रसिद्ध न हो वैसे कार्य की आपत्ति किसी भी प्रकार से नहीं दी जा सकती है। जैसे घट रूप कार्य की सामग्री के बल से आपत्ति दी जा सकती है क्योंकि घट रूप कार्य प्रसिद्ध है। शशशृङ्गादिरूप कार्य की प्रसिद्धि नहीं है तो शशशृङ्गादि की आपत्ति किसी भी तरह से नहीं दी जा सकती है। उसी प्रकार यदि नामार्थ प्रकारक नामार्थविशेष्यक भेदान्वयबोध कहीं पर प्रसिद्ध हो तो समाग्री के बल से नामार्थ प्रकारकनामार्थविशेष्यक भेदान्वयबोध की आपत्ति सम्भव हो सकती है। किन्तु नामार्थ प्रकारकनामार्थविशेष्यकभेदान्वयबोध तो कहीं पर प्रसिद्ध ही नहीं है । अतः उसकी आपत्ति कथमपि सम्भव नहीं है।

यदि कहो कि— जहाँ पर षष्ठ्यादि विभक्ति की ही स्वारसिक लक्षणा से अथवा शक्तिभ्रम से पुरुषादि की उपस्थिति हो जाये वहाँ पर पुरुषविशेष्यक राजादिपदार्थप्रकारक भेदान्वयबोध प्रसिद्ध है तो तादृश बोध के प्रति तथाविध प्रकृति प्रत्यय की अनुपूर्वीविशेषरूप आकाङ्क्षाज्ञान से सहकृत तत्तद् विभक्ति से जन्य पुरुषादि की उपस्थिति से घटित सामग्री के ही तादृश बोध की उत्पत्ति का नियामक होने से उसका अभाव होने के कारण ही राज प्रकारक पुरुषविशेष्यक भेदान्वयबोध की आपत्ति नहीं है।

अभिप्राय यह है कि ग्रन्थकार ने जो कहा कि राजप्रकारक पुरुषविशेष्यक भेदान्वय बोध यदि कहीं पर प्रसिद्ध हो तो उसकी आपत्ति दी जा सकती है, वह तो प्रसिद्ध ही नहीं है तो फिर उसकी आपत्ति कैसे दोगे? उस पर कहा जा सकता है कि '**राज्ञः**' इस स्थल में किसी की यदि स्वारसिक लक्षणा हो जाये। स्वारसिकलक्षणा का तात्पर्य है अपनी मनमर्जी के हिसाब से की गयी लक्षणा जैसे किसी ने सोच लिया कि हमें ङस् प्रत्यय से पुरुष को समझना है। ऐसी परिस्थिति में राज पद से राजपदार्थ की, वह पुरुष की ङस् से उपस्थिति होगी और राजपदार्थ का स्वत्व सम्बन्ध से पुरुष में अन्वय कर के राजप्रकारक पुरुषविशेष्यक स्वत्वसंसर्गक शाब्दबोध होगा जो कि भेदान्वय बोध है। अथवा किसी को शक्तिभ्रम हो जाये कि 'ङस् पद पुरुष में शक्त है' तो भी पुरुष की ङस् से उपस्थिति होगी तथा स्वत्वसंसर्गक पुरुषविशेष्यक राजप्रकारक शाब्दबोध (भेदान्वय बोध) होगा। इस प्रकार

भेदान्वयबोध की प्रसिद्धि होने पर आपका यह कथन उचित नहीं प्रतीत होता कि राज प्रकारक पुरुषविशेष्यक भेदान्वयबोध के अप्रसिद्ध होने के कारण उसकी आपत्ति आप सामग्री के बल से कैसे दे रहे हैं? तो ग्रन्थकार समाधान देते हैं कि जब उक्त भेदान्वयबोध प्रसिद्ध हो रहा है तो उसकी सामग्री क्या है? और वह कारण सामग्री क्या **'राजा पुरुषः'** इस स्थल में है? तो उस भेदान्वयबोध की सामग्री है उस प्रकार के प्रकृति, प्रत्यय की आनुपूर्वीविशेष रूप आकाङ्क्षा ज्ञान से सहकृत तत्तद् विभक्ति (ङस्) से जन्य पुरुषादि की उपस्थिति से घटित सामग्री। वह सामग्री तो यहाँ पर है नहीं क्योंकि यहाँ पर न तो प्रकृति प्रत्यय की तथाविध आनुपूर्वी है और न तो तत्तद् विभक्ति से जन्य पुरुषादि की उपस्थिति ही है। सामग्री के अभाव से कार्य (भेदान्वयबोध रूप कार्य) की आपत्ति भी नहीं दी जा सकती है। क्योंकि यदि कारण नहीं है तो कार्य का नहीं होना कोई दोष नहीं बल्कि गुण है।

**अत एव स्वत्वादिसम्बन्धेन राजादिविशिष्टपुरुषतात्पर्यकतदादिपदघटितात् 'स सुन्दरः' इति वाक्यात् पुरुषादिविशेष्यकस्वत्वादिसंसर्गकराजादिप्रकारकशाब्दबोधस्य च प्रसिद्ध्या 'राजा पुरुषः सुन्दरः' इत्यादौ पदार्थोपस्थितियोग्यताज्ञानादिबलात् तादृशशाब्दबोधापत्तिरित्यपि निरस्तम्- 'स सुन्दरः' इत्यादिवाक्याधीनशाब्दबोधसामग्र्यास्तत्पदत्वाद्यवच्छिन्नविशेष्यकसुन्दरादिपदसमभिव्याहारज्ञानसहकृततदादिपदजन्यतादृशविशिष्टार्थोपस्थितिघटिततया तदभावादेवापत्त्यभावात्।**

ग्रन्थकार उपर्युक्त निष्कर्ष का ही समर्थन करते हैं कि- इसीलिए स्वत्वादिसम्बन्ध से राजादिविशिष्टपुरुषतात्पर्यकतदादिपद से घटित **'स सुन्दरः'** इस वाक्य से पुरुषादिविशेष्यक स्वत्वादिसंसर्गकराजादिप्रकारक शाब्दबोध के प्रसिद्ध होने कारण **'राजा पुरुषः सुन्दरः'** इत्यादिस्थलों में पदार्थोपस्थिति योग्यताज्ञानादि के बल से स्वत्वादिसंसर्गकराजादिप्रकारक पुरुषविशेष्यक शाब्दबोध की आपत्ति है यह भी निरस्त हो जाता है। **'स सुन्दरः'** इत्यादिवाक्यों के अधीन शाब्दबोध की सामग्री के तत्पदत्वावच्छिन्नविशेष्यकसुन्दरादि पदसमभिव्याहारज्ञान से सहकृत तदादिपदजन्य राजादिविशिष्ट पुरुष रूप अर्थ की उपस्थिति से घटित होने के कारण उसका अभाव होने के कारण ही आपत्ति का अभाव है।

अभिप्राय यह है कि जैसे ङस् पद की स्वारसिकलक्षणा या शक्तिभ्रम से राजप्रकारक पुरुषविशेष्यक भेदान्वयबोध की प्रसिद्धि होने पर भी तत्स्थलीय आकाङ्क्षाज्ञान तत्तद्विभक्तिजन्य उपस्थिति आदि से घटित सामग्री के ही उक्ताकारक भेदान्वयबोध में कारण होने के कारण **'राजा पुरुषः'** यहाँ पर वैसी सामग्री के न होने के कारण वैसे शाब्दबोध (भेदान्वयबोध) की आपत्ति नहीं आती है। उसी प्रकार अन्यरीति से भी यद्यपि राजादि प्रकारक पुरुषविशेष्यक भेदान्वयबोध प्रसिद्ध हो सकता है परन्तु फिर भी **'राजा पुरुषः सुन्दरः'** इत्यादि स्थलों में वैसे शाब्दबोध की आपत्ति नहीं होगी। शाब्दबोध की प्रसिद्धि इस प्रकार है- स्वत्वादि सम्बन्ध से राजविशिष्ट पुरुषतात्पर्यक तत् पद से घटित **'स सुन्दरः'** यह वाक्य है। इस वाक्य घटक तत् पद से स्वत्वसम्बन्ध से राजविशिष्ट पुरुष की उपस्थिति होगी। सुन्दर से सुन्दर की उपस्थिति होगी। तथा स्वत्वसम्बन्ध से राजविशिष्टपुरुष में सुन्दर का अभेदान्वय

बोध होगा। अब इस वाक्य से जन्य शाब्दबोध में राजरूपअर्थ का पुरुष रूप अर्थ के साथ स्वत्व रूप भेद सम्बम्ध से अन्वय हो रहा है तथा सुन्दर पदार्थ का पुरुष रूप अर्थ के साथ अभेदान्वय हो रहा है। इस प्रकार यहाँ पर **'स सुन्दरः'** इस वाक्य से राज प्रकारक पुरुषविशेष्यक भेदान्वयबोध हो रहा है। इस प्रकार भेदान्वयबोध तो प्रसिद्ध है। परन्तु इसी भेदान्वयबोध की प्रसिद्धि का तर्क देकर **'राजा पुरुषः सुन्दरः'** इत्यादिस्थलों में पदार्थोपस्थिति योग्यताज्ञानादि के बल से शाब्दबोध की आपत्ति (भेदान्वयबोध की आपत्ति) है यह नहीं कहा जा सकता है क्योंकि **'स सुन्दरः'** इत्यादि वाक्याधीन शाब्दबोध की जो सामग्री है वह; इस वाक्यस्थलीय जो समभिव्याहार तत्पदविशेष्यक सुन्दरपद का समभिव्याहार; उसका ज्ञान, उस ज्ञान से सहकृत तत् पद से जन्य जो राजविशिष्ट पुरुष विषयक उपस्थिति उससे घटित ही है। उस सामग्री का तो यहाँ पर अभाव ही है। इसलिए उक्तसामग्री का अभाव होने के कारण **'राजा पुरुषः सुन्दरः'** इस स्थल में **'स सुन्दरः'** इस स्थल में होने वाले शाब्दबोध जैसे शाब्दबोध की आपत्ति नहीं दी जा सकती है।

**अथैतादृशरीत्यापत्तिवारणे 'राज्ञः पुरुषः' इत्यादौ स्वत्वादिसम्बन्धेन पुरुषादौ राजाद्यन्वयबोधस्वीकारेऽपि क्षतिविरहादुक्तव्युत्पत्तिर्निर्युक्तिका, विभक्तीनां सम्बन्धादिवाचकत्वमपि निर्युक्तिकम्, 'नीलो घटः' इत्यादि विशेषणवाचकपदसमभिव्याहृतविभक्तेरिव सर्वविभक्तीनां साधुत्वमात्रार्थकत्वस्यैवोचितत्वात् नहि तत्र तथाविधान्वयबोधोपगमे तत्स्थलीयसामग्रीबलात् 'राजा पुरुषः' इत्यादिष्वपि तथाविधान्वयबोधप्रसङ्गः सम्भवति, तत्स्थलीयसामग्र्याः षष्ठ्यन्तराजपदत्वाद्यवच्छिन्नधर्मिकपुरुषादिपदसमभिव्याहाररूपाकाङ्क्षाज्ञानघटिततया तदभावादेव तत्र तादृशसामग्र्या अभावात्।**

**'राजा पुरुषः'** इस स्थल पर भेदान्वयबोध की आपत्ति का वारण कर दिया गया। किन्तु जिस रीति से भेदान्वयबोध की आपत्ति का वारण किया गया है। इस ग्रंथ के द्वारा उसी पर प्रश्न उठा रहे हैं—

जैसे शाब्द बोध की सामग्री हुआ करती है वैसी सामग्री के रहने पर वैसा ही शाब्द बोध हुआ करता है। इस प्रकार कह कर **'राजा पुरुषः' 'राजा पुरुषः सुन्दरः'** इत्यादिस्थलों में भेदान्वयबोध की आपत्ति का वारण करने पर **'राज्ञः पुरुषः'** इत्यादिस्थलों में यदि पुरुषादि में स्वत्वादि सम्बन्ध से राजादि का अन्वयबोध स्वीकार भी कर लिया जाये तो कोई क्षति नहीं होने के कारण उक्त व्युत्पत्ति निर्युक्तिक है। अभिप्राय यह है कि जो व्युत्पत्ति आपने स्वीकार की है कि **'निपातातिरिक्त नामार्थों का क्रिया और निपातातिरिक्त नामार्थों का भेदान्वयबोध अव्युत्पन्न है'** यदि इस व्युत्पत्ति का स्वीकार न किया जाये तो भी कोई क्षति नहीं है क्योंकि **'राज्ञः पुरुषः'** यहाँ पर स्वत्वसंसर्गक राजप्रकारक पुरुषविशेष्यकशाब्दबोध के प्रति कारणीभूत सामग्री ङसन्तराजपदसमभिव्याहृत प्रथमान्त पुरुषपदसमभिव्याहाररूप आकाङ्क्षाज्ञान, उपस्थिति आदि से घटित है। ऐसी सामग्री तो **'राजा पुरुषः'** इस स्थल में है नहीं क्योंकि यहाँ पर तो राजपद भी प्रथमान्त है षष्ठ्यन्त

नहीं। अतः यहाँ पर तो राज प्रकारक स्वत्वसंसर्गक पुरुषविशेष्यक शाब्दबोध की आपत्ति ही नहीं है। उक्तव्युत्पत्ति को स्वीकारने का कोई फल नहीं दिखायी पड़ रहा है। अतः उक्त व्युत्पत्ति को स्वीकार करने में कोई मुक्ति नहीं है।

इस प्रकार विभक्तियों को जो सम्बन्धादि का वाचक माना जाता है वह भी निर्युक्तिक है क्योंकि **'नीलो घटः'** इत्यादिस्थलों में जैसे विशेषणवाचक नीलादिपद समभिव्याहृत विभक्ति की साधुत्वमात्रार्थकता स्वीकार करते हैं उसी प्रकार सभी विभक्तियों (सभी विशेषण-वाचकपदोत्तर विभक्तियों) की साधुत्वमात्रार्थकता स्वीकार ही उचित है। क्योंकि वहाँ पर वैसे अन्वय बोध का स्वीकार तत्स्थलीय सामग्री के बल से करने पर भी **'राजा पुरुषः'** इत्यादिस्थलों में वैसे अन्वयबोध की आपत्ति सम्भव नहीं है क्योंकि भेदान्वय बोधस्थलीय सामग्री के षष्ठ्यन्तराजपदत्वाद्यवच्छिन्नधर्मिक पुरुषादिपदसमभिव्याहार रूप आकाङ्क्षाज्ञान से घटित होने के कारण उस सामग्री का **'राजा पुरुषः'** यहाँ पर अभाव है।

अभिप्राय यह है कि अभी तक एक तरह से यही समझाया जाता रहा कि **'राज्ञः पुरुषः'** और **'राजा पुरुषः'** इन दोनों स्थलों में यदि विशेषणवाचकपदोत्तर विभक्ति को पदसाधुत्वार्थक मानते हुए निरर्थक मान लें जैसा कि **'नीलो घटः'** में विशेषण वाचक नीलादिपदोत्तरविभक्ति को पदसाधुत्वार्थक मानते हुए निरर्थक मान लिया जाता है। तो **'राज्ञः पुरुषः'** और **'राजा पुरुषः'** इन दोनो स्थलों पर एक जैसा ही शाब्दबोध होने की आपत्ति आयेगी क्योंकि दोनों ही स्थलों में पदार्थोपस्थिति एक जैसी है। दोनों ही स्थलों में विशेषणवाचकपदोत्तर विभक्ति पदसाधुत्वार्थक है। शेष पद तो समान ही हैं। किन्तु अब ये कहा जा रहा है कि पदार्थोपस्थिति के एक जैसा होने पर भी समभिव्याहाररूप आकाङ्क्षाज्ञान भिन्न-भिन्न होने के कारण (एक जगह षष्ठ्यन्तराजपद समभिव्याहृत पुरुषपद है और दूसरी जगह प्रथमान्तराजपदसमभिव्याहृत पुरुषपद है) ही शाब्दबोध एक जैसा होने की आपत्ति नहीं है। फिर यही क्यों न मान लिया जाये कि सर्वत्र विशेषण वाचक पदोत्तर विभक्तियों का सार्थक्य मात्र पदसाधुत्व के सम्पादन के लिए ही है। इस प्रकार विभक्तियों का सम्बन्धादिवाचकत्व निर्युक्तिक है।

**एवंच 'राजपुरुषः' इत्यादिसमासे राजादिपदस्य राजसम्बन्ध्यादिलक्षणास्वीकारोऽपि व्यर्थः- तत्र भेदान्वयबोधस्वीकारेऽपि क्षतिविरहात्। न च तत्र भेदान्वयबोधाभ्युपगमे तत्स्थलीयसामग्रीबलात् 'राजा पुरुषः' इत्यादावपि तादृशान्वयबोधापत्तिरित्यपिनिरस्तम्, तत्स्थलीयशाब्दबोधे राजपदाव्यवहितोत्तरपुरुषादिपदत्वरूपानुपूर्वीविशेषज्ञानस्य हेतुतयाऽसमासस्थले पुरुषादिपदस्य विभक्त्या राजादिपदव्यवहितत्वात् तादृशानुपूर्वी विशेषज्ञानाऽसम्भवेन तत्र तादृशबोधसामग्र्या असिद्धेः।**

पदार्थोपस्थिति के एक जैसा होने पर भी आकाङ्क्षाज्ञान वशात् शाब्दबोध में विषय भेद स्वीकारने पर अन्य आपत्तियाँ भी दी जा रही हैं कि—

इसी प्रकार ही **'राजपुरुषः'** इत्यादिसमासस्थलों में राजादिपद की राजसम्बन्धी आदि में लक्षणा का स्वीकार करना भी व्यर्थ है क्योंकि वहाँ पर भेदान्वयबोध स्वीकार कर लेने पर भी कोई क्षति नहीं है।

अभिप्राय यह है कि अभी तक '**राजपुरुषः**' यहाँ पर राजपद की राजसम्बन्धी में लक्षणा करके शाब्दबोध (**राज सम्बन्ध्यभिन्नः पुरुषः** ऐसा शाब्द बोध) क्यों स्वीकार करते थे? वह इसलिए कि यदि यहाँ पर भेदान्वय बोध स्वीकार करें तो '**राजपुरुषः**' और '**राजा पुरुषः**' यहाँ पर पदार्थोपस्थिति के समान होने से एक जैसा शाब्द बोध होना चाहिए। इस प्रकार '**राजा पुरुषः**' यहाँ पर भी भेदान्वयबोध की आपत्ति होगी। जब हम '**राजपुरुषः**' में राजपद की राजसम्बन्धी में लक्षणा का स्वीकार करते हैं तो दोनों स्थलों की पदार्थोपस्थिति समान नहीं रहती है, **राजपुरुषः** में राजसम्बन्धी और पुरुष की उपस्थिति होती है और '**राजा पुरुषः**' में राजा और पुरुष की उपस्थिति होती है। अतः भिन्नाकारकशाब्दबोध सिद्ध होता है। किन्तु अब यह कहा जा रहा है कि लक्षणा स्वीकारने की ज़रूरत नहीं है, दोनों ही स्थलों में पदार्थोपस्थिति के समान होने पर भी भिन्नाकारक आकाङ्क्षाज्ञान से घटित सामग्री के द्वारा समास स्थल में राजप्रकारक पुरुषविशेष्यक भेदान्वयबोध का स्वीकार कर लेने पर भी '**राजा पुरुषः**' इस स्थल में राजप्रकारक पुरुष विशेष्यकभेदान्वयबोध की आपत्ति नहीं दी जा सकती है तत्स्थलीय सामग्री का अभाव होने के कारण।

यदि कहो कि समासस्थल में भेदान्वयबोध स्वीकार कर लेने पर तत्स्थलीय सामग्री के बल से '**राजा पुरुषः**' इत्यादि स्थलों में भी भेदान्वयबोध की आपत्ति है (समासस्थलीय सामग्री उपस्थिति आदि तथा आकाङ्क्षाज्ञान भी उभयत्र समान है क्योंकि समासस्थल में भी राजपदोत्तर पुरुषपदत्व रूप आनुपूर्वीविशेषात्मक आकाङ्क्षाज्ञान है और असमासस्थल में भी राजपदोत्तर पुरुषपदत्वरूपानुपूर्वीविशेषात्मक आकाङ्क्षा ज्ञान है) तो नहीं कह सकते हैं क्योंकि '**राजपुरुषः**' इस स्थलीय शाब्दबोध में राजपदाव्यवहितोत्तर पुरुषादिपदत्वरूप आनुपूर्वीविशेष का ज्ञान कारण है, असमास स्थल '**राजा पुरुषः**' में राजपदोत्तर विभक्ति से पुरुष पद के व्यवहित होने के कारण (राज पद के बाद विभक्ति और विभक्ति के बाद पुरुष पद, समास स्थल में तो राज पद के ठीक बाद में पुरुषपद है) राजपदाव्यवहितोत्तर पुरुषपदत्व रूप आनुपूर्वी विशेष का ज्ञान सम्भव नहीं है जो कि '**राजपुरुषः**' इस स्थलीय शाब्दबोध सामग्री के अन्तर्गत है। अतः तादृश (समासस्थलीय) शाब्दबोध की सामग्री के असमास स्थल में असिद्ध होने के कारण समासस्थलीय शाब्दबोध की आपत्ति असमासस्थल में नहीं दी जा सकती है।

**न च प्रकृतिप्रत्यययोरानुपूर्वीविशेषरूपस्याकाङ्क्षात्वात् प्रातिपदिकद्वयाव्यवधानघटितोक्तानुपूर्वीविशेषज्ञानस्य हेतुत्वमेव निष्प्रामाणकमितिवाच्यम्, भवन्मतेऽपि 'राजपुरुषः' इत्यादौ यादृशसामग्रीबलात् राजपदार्थराजसम्बन्धिपुरुषपदार्थयोरभेदान्वयबोधः, तादृशसामग्रीबलाद्राज्ञः पुरुषः इत्यादावपि राजादिपदस्य राजसम्बन्ध्यादौ लक्षणाग्रहसत्त्वे तादृशाभेदान्वयबोधप्रसङ्गवारणाय तथाविधानुपूर्वीविशेषज्ञानस्य समासजन्यबोधे हेतुताकल्पनस्यावश्यकत्वात् । अस्माभिर्भेदान्वयबोधे एव तादृशानुपूर्वीविशेषज्ञानस्य हेतुतायाः कल्पनीयत्वात् ।**

यदि कहो कि- आकाङ्क्षा प्रकृति और प्रत्यय की आनुपूर्वी विशेषरूप होती है अतः

प्रतिपदिकद्वय के अव्यवधान से घटित उक्त आनुपूर्वीविशेष ज्ञान का हेतुत्व ही निष्प्रमाणक हैं अर्थात् प्रकृति और प्रत्यय की आनुपूर्वीविशेष रूप होती है आकाङ्क्षा, जब **'राजपुरुषः'** यहाँ पर राजपदाव्यवहितोत्तरपुरुषपदत्व रूप आनुपूर्वीविशेष के ज्ञान को हेतु बनाते हैं तो वह आनुपूर्वी तो राज और पुरुष इन दो प्रातिपदिकों की अव्यवधानरूपा है। इस कारण उसका शाब्दबोध के प्रति हेतुत्व निष्प्रमाणक है यदि ऐसा कहो तो नहीं कह सकते हैं क्योंकि आपके मत में भी **'राजपुरुषः'** इत्यादिस्थलों में जैसी सामग्री के बल से राजपदार्थ राजसम्बन्धी और पुरुष पदार्थ का अभेदान्वयबोध होता है, वैसी सामग्री के बल से **'राज्ञः पुरुषः'** इत्यादि स्थलों में भी राजपद की राजसम्बन्धी में लक्षणाग्रह होने पर तादृश (राजसम्बन्धिप्रकारक पुरुषविशेष्यक) अभेदान्वय बोध का वारण करने के लिए तथाविध (प्रातिपदिकद्वयाव्यवधानरूप) आनुपूर्वीविशेषज्ञान की समासजन्य बोध में हेतुता की कल्पना आवश्यक है। हम लोगों के द्वारा भेदान्वय बोध के प्रति तादृशानुपूर्वी विशेषज्ञान की हेतुता की कल्पना की जाती है।

अभिप्राय यह है कि आप यह नहीं कह सकते हैं कि प्रातिपदिकद्वयाव्यवधान घटित आनुपूर्वी विशेषज्ञान की हेतुता निष्प्रमाणक है क्योंकि वह तो आप को भी स्वीकार ही करनी है। क्योंकि **'राजपुरुषः'** यहाँ पर जैसी सामग्री के बल से राजसम्बन्धी और पुरुष का अभेदान्वयबोध होता है, **'राज्ञः पुरुषः'** में राज पद की राजसम्बन्धी में लक्षणा का ग्रह होने की दशा में वैसी ही सामग्री से राजसम्बन्धी और पुरुष का अभेदान्वय बोध क्यों न हो जाये? चूँकि आप प्रतिपदिकद्वयाव्यवधान से घटित आनुपूर्वीविशेषज्ञान की हेतु नहीं स्वीकार रहे हैं, अतः उक्त आनुपूर्वीविशेष ज्ञान के अलावा जैसी सामग्री **'राजपुरुषः'** इस स्थल में है वैसी ही सामग्री **'राज्ञः पुरुषः'** यहाँ पर भी राज पद की राजसम्बन्धी में लक्षणा का ग्रह होने की दशा में भी है। इस प्रकार एक जैसी सामग्री के दोनों ही स्थलों में होने के कारण एक जैसा शाब्दबोध दोनों स्थलों में होना चाहिए जो कि आपको स्वीकार्य नहीं होगा। इसलिए दोनों स्थलों की शाब्दबोध सामग्री में वैलक्षण्य सम्पादन करने के लिए आपको समास स्थल में प्रातिपदिकद्वयाव्यवधान से घटित आनुपूर्वीविशेष ज्ञान की कारणता स्वीकार करनी ही पड़ेगी। अब हममें और आपमे फर्क यह है कि आप उक्त प्रातिपदिकद्वयाव्यवधानरूप आकाङ्क्षा ज्ञान की कार ता अभेदान्वयबोध (राजसम्बन्धिप्रकारक पुरुषविशेष्यक अभेदान्वयबोध) के प्रति मानते हैं और हम राजप्रकारक पुरुषविशेष्यक भेदान्वय बोध के प्रति मानते हैं। इस प्रकार इसरीति से आप हमारी बात का खण्डन नहीं कर सकते है।

**न चोभयमत एव राजसम्बन्धिनि राजपदस्य स्वारसिकलक्षणाग्रहेण 'राजपुरुषः' इत्यत्र राजसम्बन्धिपुरुषयोरभेदान्वयबोधो भवति, इयांस्तु विशेषःयदस्मन्मतेऽसौ समासः षष्ठीतत्पुरुषो भवन्मते कर्मधारयः इति। एवं च पुरुषविशेष्यकाभेदसंसर्गकराजसम्बन्धिप्रकारकबोधे राजपदाव्यवहितोत्तर-वर्तिपुरुषपदत्वप्रकारकज्ञानत्वेन हेतुत्वमुभयवादिसिद्धमेव भेदान्वयबोधे तादृशानुपूर्वीज्ञानहेतुताकल्पनमधिकमिति वाच्यम्, उक्ताभेदान्वयबोधे तथाविधानुपूर्वीज्ञानहेतुतायां पर्यायशब्दान्तरघटितानुपूर्वीज्ञानजन्यतथा-**

**विधान्वयबोधे व्यभिचारवारणाय तादृशानुपूर्वीज्ञानानन्तर्यस्य कार्यतावच्छेदककोटाववश्यं निवेशनीयतया तत्र विषयनिवेशे प्रयोजनाभावेन तादृशकार्यतावच्छेदकस्यैव भेदान्वयबोधसाधारण्येनानुपूर्वीज्ञानस्य भेदान्वयबोधे हेतुताया अनाधिक्यात् ।**

सिद्धान्ती '**राजपुरुषः**' इस समासस्थल में भेदान्वयबोध स्वीकार करने वाले पूर्वपक्षी के मत में गौरव दिखलाता है कि- राजसम्बन्धी में राजपद की स्वारसिक लक्षणा का ग्रहण होने पर '**राजपुरुषः**' इस स्थल में राजसम्बन्धी और पुरुष का अभेदान्वय बोध होता है, (इसमें दोनों सिद्धान्ती और पूर्वपक्षी एकमत हैं, चाहे राजपुरुष पद से राज सम्बन्ध्यभिन्न पुरुषविषयक शाब्दबोध स्वीकार किया जा रहा हो, चाहे राजप्रकारक पुरुषविशेष्यक स्वत्वसंसर्गकशाब्दबोध स्वीकार किया जा रहा हो स्वारसिकलक्षणाग्रह होने की दशा में राजसम्बन्ध्यभिन्न पुरुषविषयक ही शाब्दबोध होगा) इतना विशेष है हमारे और आपके मत में कि हमारे मत में स्वारसिक लक्षणाग्रह स्थल में '**राजपुरुषः**' इस पद में समास है षष्ठी तत्पुरुष, क्योंकि हम '**राज्ञः पुरुषः**' इस विग्रह को स्वीकार कर ङसन्त राजपद की राजसम्बन्धी में लक्षणा स्वीकार करते हैं। और आपके मत में इस स्थल में समास है कर्मधारय क्योंकि आपके द्वारा '**राजा चासौ पुरुषो राजपुरुषः**' इस प्रकार विग्रह स्वीकार का राजपद की राजसम्बन्धी में लक्षणा स्वीकार की जाती है। आपके द्वारा षष्ठी समास का स्वीकार इस स्थल में नहीं किया जा सकता है क्योंकि षष्ठी समास का स्वीकार करो तो राजपद की राजसम्बन्धी में स्वारसिकलक्षणाग्रह होने की दशा में राजसम्बन्धि प्रकारक पुरुषविशेष्यक स्वत्वसंसर्गक शाब्दबोध ही आपके मत में होगा। उसका कारण यह है कि षष्ठीसमासस्थल में जब शक्ति के द्वारा राजपद से राजपदार्थ की उपस्थिति होती है तो राजप्रकारक पुरुषविशेष्यक स्वत्वसंसर्गक शाब्दबोध होता है, यदि राजपद की लक्षणा (स्वारसिक लक्षणा) के द्वारा राजसम्बन्धी की उपस्थिति होगी तो स्वाभाविक रूपसे राजसम्बन्धिप्रकारक पुरुषविशेष्यक स्वत्वसंसर्गक ही शाब्दबोध होना चाहिए। इसलिए आप के मत में षष्ठी समास मानने से काम नहीं चला सकेगा बल्कि कर्मधारय समास स्वीकारना पड़ेगा।

इस प्रकार पुरुषविशेष्यक अभेदसंसर्गक राजसम्बन्धिप्रकारक शाब्दबोध के प्रति राजपदाव्यवहितोत्तर पुरुषपदत्वप्रकारक ज्ञान का हेतुत्व स्वारसिक लक्षणाग्रहस्थल में उभय वादिसिद्ध है सिद्धान्ती और पूर्व पक्षी दोनों के मत में सिद्ध है। सिद्धान्ती षष्ठी तत्पुरुषसमासस्थल में सर्वत्र उसी प्रकार का शाब्दबोध स्वीकार करते हैं इसलिए उन्हें अभेदान्वय बोध के प्रति राजपदाव्यवहितोत्तरवर्त्ति पुरुषपदत्वप्रकारक ज्ञान की एकमात्र हेतुता का स्वीकार करना पड़ता है। पूर्वपक्षी को तो इस प्रकार के अभेदान्वयबोध के प्रति भी राजपदाव्यवहितोत्तर वर्तिपुरुषपदत्वप्रकारक ज्ञान की हेतुता स्वारसिक लक्षणाग्रह के अनुरोध से स्वीकारनी पड़ती है और राजप्रकारक पुरुषविशेष्यकस्वत्वसंसर्गक बोध का स्वीकार स्वारसिक लक्षणा न होने पर करने के कारण इस भेदान्वय बोध के प्रति भी राजपदाव्यवहितोत्तरवर्तिपुरुषपदत्वरूप

आकाङ्क्षा ज्ञान की हेतुता स्वीकार करनी पड़ती है। इस प्रकार एक जैसे आकाङ्क्षाज्ञान की भेदान्वयबोध के प्रति भी और अभेदान्वय बोध के प्रति भी हेतुता का स्वीकार करने के कारण हेतुताद्वय की कल्पना करनी पड़ती है, अतः इस मत में गौरव है। यदि ऐसा कहें तो नहीं कह सकते क्योंकि उक्त अभेदान्वय बोध में उस प्रकार की (राजपदाव्य वहितोत्तरवर्ति पुरुषपदत्वरूप) आनुपूर्वी ज्ञान की हेतुता स्वीकार करने पर पर्यायशब्दान्तर से घटित उसी प्रकार के अन्वयबोध में व्यभिचार होगा अर्थात् **'नृपपुरुषः'** इत्यादि प्रकार से राजा और पुरुष के पर्याय शब्दान्तर से घटित आनुपूर्वी जो कि यहाँ मौजूद है के ज्ञान से जन्य राजसम्बन्धिप्रकारक पुरुषविशेष्यक अभेदान्वयबोध में व्यभिचार प्राप्त होगा क्योंकि कार्य तो अभेदान्वयबोध रूप विद्यमान है, किन्तु कारणीभूतराजपदाव्यवहितोत्तर वर्तिपुरुषपदत्वरूप आनुपूर्वी ज्ञान मौजूद नहीं है। इस व्यभिचार का वारण करने के लिए सिद्धान्ती को यही करना होगा कि तादृश आनुपूर्वीज्ञानानन्तर्य का कार्यतावच्छेदक की कोटि में निवेश किया जाये अर्थात् इस प्रकार से कार्यकारणभाव बनाया जाये कि- **'राजपदाव्यवहितोत्तरपुरुष-पदानुपूर्वीज्ञानोत्तर जायमान राजसम्बन्धिप्रकारक पुरुषविशेष्यकाभेदान्वय बोध के प्रति राजपदाव्यवहितोत्तरपुरुषपदानुपूर्वीज्ञान की कारणता है' 'नृपपदाव्यवहितो-त्तरवर्तिपुरुषपदानुपूर्वीज्ञानायवहितोत्तरजायमान राजसम्बन्धिप्रकारक पुरुषविशेष्यक शाब्दबोध के प्रति नृपपदाव्यवहितोत्तरवर्ति पुरुषपदानुपूर्वीज्ञान की कारणता है'** इसी प्रकार अन्य पर्याय शब्दों से घटित आनुपूर्वीज्ञान से जन्य शाब्दबोध के विषय में भी कार्यकारणभाव बनाना पडेगा इस प्रकार तादृशानुपूर्वीज्ञानानन्तर्य के कार्यतावच्छेदककोटि में अवश्य निवेशनीय होने के कारण इसी से कार्य पूरा हो सकता है कार्य की कोटि में विषयनिवेश में कोई प्रयोजन न होने से विषयनिवेश छोड़ देना चाहिए। इस प्रकार कार्यकारण भाव बनेगा **'राजपदाव्यवहितोत्तर पुरुषपदानुपूर्वीज्ञानाव्यवहितोत्तरजायमान शाब्दबोध के प्रति राजपदाव्य वहितोत्तरपुरुषपदानुपूर्वी ज्ञान की कारणता है'** इसी प्रकार पर्यायशब्दान्तर से घटित वाक्यजन्य शाब्दबोध के लिए भी कार्यकारणभाव बनाना होगा। जब विना विषय का निवेश किये हम कार्यकारणभाव बनाते हैं, यहां पर कार्यतावच्छेदक तो भेदान्वयबोध और अभेदान्वयबोध साधारण हैं, कार्यतावच्छेदक है राजपदाव्यवहितोत्तर पुरुषपदानुपूर्वीज्ञाना व्यवहितोत्तरजायमानशाब्दबोधत्व, ऐसा शाब्दबोधत्व अभेदान्वयबोध में भी रह सकता है भेदान्यबोध में भी। अतः अभेदान्वयबोध और भेदान्वयबोध दोनों ही स्थलों के लिए इसी प्रकार सिर्फ एक कार्य कारण भाव ही मानना पड़ता है। अर्थात् आप, जो सर्वत्र अभेदान्वय बोध मानते हैं, को भी एक ही कार्य कारण भाव बनाना पड़ता है और मुझे भी जो भेदान्वय बोध (सामान्यतः) और अभेदान्वय बोध (स्वारसिक लक्षणा ग्रह स्थल में) दोनों को मानता हैं, एक ही कार्यकारण भाव स्वीकारना पड़ता है । फिर कैसे गौरव है? कोई गौरव नहीं है।

**विमर्श-** यहाँ पर जो यह कहा जा रहा है कि बिना विषय निवेश किये कार्य कारण भाव बनालेंगे उसमें कुछ दिक्कतें पेश आ सकती है। जैसे कि राजपुरुष इस आकाङ्क्षाज्ञान के

अव्यवहितोत्तर जायमान शाब्दबोध के प्रति राजपुरुष इत्यादि आकाङ्क्षा ज्ञान की कारणता स्वीकार की गयी। ऐसी परिस्थिति में '**राज्ञः पुरुषः**' इत्यादिस्थलों में यदि राजपद की राजसम्बन्धी में स्वारसिकलक्षणाग्रह हो जाये, ऐसी दशा में राजसम्बन्धिप्रकारक अभेद संसर्गक पुरुषविशेष्यक शाब्दबोध जो कि '**राजपुरुषः**' यहाँ पर प्रसिद्ध है, की तात्पर्य ज्ञानादि से घटित सामग्री के विद्यमान होने के कारण '**राज्ञः पुरुषः**' इस वाक्य से राजसम्बन्धिप्रकारक पुरुषविशेष्यक अभेदसंसर्गक शाब्दबोध होना चाहिए। राजपदाव्यवहितोत्तर पुरुषपदत्वरूप आनुपूर्वी ज्ञान का अभाव तो यहाँ पर अकिञ्चित्कर है क्योंकि वह तो अपने अव्यवहितोत्तर जायमान शाब्दबोध के प्रति ही कारण है ङसन्त राजपदाव्यहितोत्तर पुरुषपदत्व-रूपानुपूर्वीज्ञान के अव्यवहितोत्तर जायमान शाब्दबोध के प्रति तो उसकी कारणता ही नहीं है। इसलिए उसके (राजपदाव्यवहितोत्तर पुरुषपदत्व रूप आनुपूर्वी के) न रहने से कुछ बिगड़ने वाला नहीं है। तात्पर्यज्ञान, उपस्थिति आदि से घटित सामग्री के बल से '**राज्ञः पुरुषः**' यहाँ पर राजपद की राजसम्बन्धी में स्वरसिक लक्षणा का ग्रह होने पर राजसम्बन्धिप्रकारक पुरुषविशेष्यक अभेदसंसर्गक शाब्दबोध होना चाहिए। इसका समाधान यूँ दे सकते हैं कि जो कार्य यादृशान्यतम का समनियत होता है, उस कार्य की उत्पत्ति में तादृशान्यतम की सामग्री अपेक्षित होती है। यहाँ आपाद्यमान जो कार्य है राजसम्बन्धिप्रकारक पुरुषविशेष्यक अभेद संसर्गक कार्य, उस कार्य में राजपुरुषः, नृपपुरुषः इत्यादि आकाङ्क्षा घटित प्रदर्शित कार्यों में अन्यतम का समनैयत्य है। इसलिए उसकी उत्पत्ति में तदन्यतम कारण की अपेक्षा होगी। किन्तु उनमें से कोई भी आकाङ्क्षा यहाँ नहीं है, अतः उक्ताकारक शाब्दबोध की आपत्ति नहीं है ऐसा समझना चाहिए।

वस्तुतः यहाँ पर विषय निवेश किये बिना काम नहीं चल सकता हैं। तृणारणिमणिन्याय[1] से परस्पर व्यभिचार का वारण करने के लिए अव्यवहितोत्तरत्व का निवेश करने पर तृणाव्यवहितोत्तर वह्नित्व की अपेक्षा लाघव होने से तृणाव्यवहितोत्तर प्रमेयत्व को या तृणाव्यवहितोत्तरत्व आदि की कार्यतावच्छेदकता का वारण करने के लिए विशेष्यधर्मावच्छिन्न कार्य के प्रति यदि कारणत्व सम्भव हो तो सामान्यधर्मावच्छिन्न के प्रति अन्यथासिद्धत्व स्वीकारना चाहिए। इस प्रकार राजसम्बन्धिप्रकारक अभेदसंसर्गक पुरुषविशेष्यक शाब्द बुद्धित्वच्छिन्न के प्रति कारणत्व सम्भव होने से सामान्यधर्म शाब्दबुद्धित्वावच्छिन्न के प्रति अन्यथासिद्धत्व ही होगा। इसलिए बिना विषय निवेश किये काम चल नहीं सकता है। इस कारण मूलग्रन्थ को बग़ैर इस विषय में विचार किये लगाना चाहिए।

**एवं 'तण्डुलं पचति' इत्यादावपि पाकादिरूपधात्वर्थे कर्मत्वादिसम्बन्धेन तण्डुलादेरन्वयबोधः स्वीकर्तुमुचितः। कर्मत्वस्य पाकाद्यंशे प्रकारत्वे तत्र तत्र द्वितीयादेः शक्तिकल्पने तादृशवाक्यजन्यशाब्दबोधे कर्मत्वादिसंसर्ग-**

---

1- तृणारणिमणिन्याय का अभिप्राय यह है- अग्नि के प्रति तृण की भी कारणता है, अरणि की भी और मणि (सूर्यकान्त) की भी। किन्तु तीनों मिल कर कारण नहीं होते हैं एक ही अग्नि के उत्पादन में पर्याप्त होता है। इसलिए एक से कार्य की उत्पत्ति में शेष दो का अभाव रहता है। अतः व्यभिचार होता है।

**स्याधिकस्य विषयताकल्पने च गौरवात्। 'तण्डुलं पचति' इत्यादिवाक्यजन्य शाब्दबोधसामग्रीबलात् 'तण्डुलः पचति' इत्यादावपि तथाविधान्वयबोधापत्तिस्तु न सम्भवति- तादृशान्वयबोधे द्वितीयान्ततण्डुलपदत्वावच्छिन्नधर्मिक पचतीत्यादिसमभिव्याहारज्ञानस्य हेतुतया 'तण्डुलः पचति' इत्यादौ तादृशसामग्र्या अप्रसिद्धेः।**

पुनः ग्रन्थकार प्रकृत प्रसंग पर आते हुए कहते हैं कि- इसी प्रकार **'तण्डुलं पचति'** इत्यादि स्थलों में भी पाक आदि रूप धात्वर्थ में कर्मत्वादिसम्बन्ध से तण्डुलादि के अन्वयबोध का स्वीकार ही उचित है, कर्मत्व को पाकादि अंश में प्रकार मानने पर वहाँ वहाँ द्वितीया आदि की शक्ति की कल्पना करने में वैसे वाक्य से जन्य शाब्दबोध में कर्मत्वादि संसर्ग अधिक की विषयता की कल्पना करने में गौरव होने के कारण। अभिप्राय यह है कि अभी तक यही स्वीकार किया जाता रहा है (जो कि सिद्धान्त पक्ष है) कि **'तण्डुलं पचति** यहाँ पर तण्डुलपद से तण्डुल की, तण्डुलपदोत्तर द्वितीया से कर्मता की पच् धातु से पाक की तथा धातूत्तर विभक्ति से कृति की उपस्थिति होती है। शाब्दबोध में तण्डुल कर्मता में प्रकार होता है और कर्मता पाकरूपधात्वर्थ में प्रकार होती है। ऐसी स्थिति में पूर्व पक्षी का कहना है कि तण्डुल का कर्मता सम्बन्ध से पाक में सीधे अन्वय कर दिया जाये तो इसमें लाघव है बजाय इसके कि तण्डुल का निष्ठत्व सम्बन्ध से कर्मता में और कर्मता का आश्रयत्व सम्बन्ध से पाक में अन्वय किया जाये।

पहला लाघव तो यह है कि कर्मता का संसर्गविधया भान होने के कारण उसका संसर्ग नही भासित होगा। जो प्रकारविधया भासित होगा उसी का संसर्ग भासेगा, संसर्ग विधया जो भासित होगा उसका संसर्ग तो भासता नहीं अर्थात् विषय नहीं होता। तण्डुल का कर्मता सम्बन्ध से पाक में अन्वय करने पर कर्मता का संसर्ग विषय नही होगा शाब्दबोध में। यह पहला लाघव है। दूसरा यह कि द्वितीया की शक्ति कर्मत्व में नहीं स्वीकारनी पडेगी, द्वितीया को पदसाधुत्वमात्रार्थक मान लेंगे। यह दूसरा लाघव है। इस प्रकार लाघव होने से पाकादि रूप धात्वर्थ में कर्मता सम्बन्ध से तण्डुल का अन्वय करना ही उचित है।

**'तण्डुलं पचति'** इत्यादि वाक्य से जन्य शाब्दबोध की सामग्री के बल से **'तण्डुलः पचति'** इत्यादि स्थलों में भी उसी प्रकार के अन्वयबोध की आपत्ति तो नहीं सम्भव है क्योंकि वैसे अन्वयबोध (कर्मत्व सम्बन्ध से पाक में तण्डुलान्वयबोध) के प्रति द्वितीयान्त-तण्डुलपदत्वावच्छिन्नधर्मिक पचति इत्यादि समभिव्याहार ज्ञान के हेतु होने के कारण **'तण्डुलः पचति'** इत्यादि स्थलों में इस प्रकार समभिव्याहार ज्ञान से घटित सामग्री ही अप्रसिद्ध है। इसलिए कारण ही न होने से कार्य की आपत्ति नहीं दी जा सकती है।

**एवं 'पचति चैत्रः' इत्यादावपि कृतिसम्बन्धेन पाकादेश्चैत्राद्यंशेऽन्वय बोधस्वीकार उचितः, अन्यथा उक्तरीत्या गौरवात्। तत्र तादृशान्वयबोध स्वीकारे तत्स्थलीयसामग्रीबलात् 'पच्यते चैत्रः' "पाकश्चैत्रः' इत्यादौ तथाविधान्वयबोधापत्तेरप्युक्तरीत्या वारणसम्भवात् ।**

इसी प्रकार **'पचति चैत्रः'** इत्यादिस्थलों में भी कृति सम्बन्ध से पाकादि का चैत्रादि

अंश में अन्वय बोध स्वीकार ही उचित है, अन्यथा उक्तरीति से गौरव होगा। अभिप्राय यह है कि अभी तक इस स्थल में पच् धात्वर्थ पाक का तिङर्थ कृति में अनुकूलत्व सम्बन्ध से और कृति का चैत्र में समवाय सम्बन्ध से अन्वय करके शाब्दबोध स्वीकार क़िया जाता है। जोकि सिद्धान्त है। पूर्वपक्षी का कहना है कि यहाँ पर पाक का कृति में अनुकूलत्व सम्बन्ध से और कृति का समवाय सम्बन्ध से चैत्र में अन्वय करने में गौरव है। इसकी अपेक्षा यदि पाक का कृति सम्बन्ध से सीधे चैत्र में अन्वय करें तो कृति का भान संसर्ग विधया होने से उसका सम्बन्ध नहीं भासेगा इसलिए लाघव होगा। अतः यही स्वीकार करना उचित है। यहाँ पर वैसा शाब्दबोध स्वीकार करने पर तत्स्थलीय सामग्री के बल से **'पच्यते चैत्रः'** **'पाकश्चैत्रः'** इत्यादिस्थलों में वैसे ही अन्वयबोध की आपत्ति का भी उक्तरीति से वारण सम्भव है। अर्थात् **'पचति चैत्रः'** इस स्थलीय समभिव्याहार ज्ञान से घटित सामग्री के नहीं होने के कारण इन दोनों स्थलों में वैसे शाब्दबोध की आपत्ति नहीं दी जा सकती है।

**मैवम्- 'राज्ञः पुरुषः' इत्यादौ षष्ठ्यादेः स्वत्वादिवाचकत्वमावश्यकम्, अन्यथा 'पुरुषो न राज्ञः' इत्यादौ पुरुषे राजस्वत्वाद्यभावबोधानुपपत्तेः। नहि तत्र स्वत्वादिसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकराजाद्यभाव एव प्रतीयते न तु राजस्वत्वाद्यभाव इति सम्भवति- स्वत्वादिसम्बन्धस्य वृत्त्यनियामकतया प्रतियोगितानवच्छेदकत्वेन तत्सम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावाप्रसिद्धेः।**

ग्रन्थकार इन सारे आक्षेपों को खण्डित करते हुए कहते है कि- ऐसा नहीं है- **'राज्ञः पुरुषः'** इत्यादि स्थलों में षष्ठी आदि का स्वत्व आदि का वाचकत्व आवश्यक है, अन्यथा **'पुरुषो न राज्ञः'** इत्यादिस्थलों में पुरुष में राजस्वत्वादि के अभाव के बोध की अनुपपत्ति होगी। अभिप्राय यह है कि **'राज्ञः पुरुषः'** इत्यादि स्थलों में यदि स्वत्व को षष्ठी का अर्थ नहीं मानोगे तथा षष्ठी को पदसाधुत्वार्थक मानते हुए राजपदार्थ का पुरुष में आकाङ्क्षाभास्य स्वत्व सम्बन्ध से अन्वय करते हुए शाब्दबोध विषय बनाओगे तो यह तो सच है कि स्वत्व को आकाङ्क्षाभास्य मानने के कारण स्वत्व का प्रकारविधया भान मानने की कोई ज़रूरत नहीं होगी व स्वत्व को षष्ठी का वाच्य मानने की आवश्यकता नहीं होगी। किन्तु ऐसी स्थिति में **'पुरुषो न राज्ञः'** इस नञ् घटित वाक्य से राजस्वत्वाभाव का बोध नहीं होगा और स्वत्वसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक राजाभाव ही बोधित होगा। वहाँ पर स्वत्व सम्बन्धा वच्छिन्न राजाभाव की ही प्रतीति हुआ करती है (अनुभवगम्य है) राजस्वत्वाभाव की प्रतीति नहीं होती है यह कहना सम्भव नहीं है क्योंकि स्वत्वादि सम्बन्ध वृत्तिता के नियामक नहीं होते हैं और वृत्त्यनियामक सम्बन्ध अभावीय प्रतियोगितावच्छेदक नहीं होता है। इसलिए वृत्त्यनियामक सम्बन्धावच्छिन्न प्रतियोगिताक अभाव की अप्रसिद्धि है। चूँकि स्वत्व भी वृत्त्यनियामक सम्बन्ध है इसलिए स्वत्वसम्बन्धावच्छिन्न प्रतियोगिताक राजाद्यभाव अप्रसिद्ध होगा और अप्रसिद्ध की तो शाब्दबोधविषयता ही असिद्ध है।

इस प्रकार निष्कर्ष यह निकला कि यदि **'राज्ञः पुरुषः'** यहाँ पर षष्ठी को स्वत्व का वाचक नहीं मानकर स्वत्व को आकाङ्क्षाभास्य मानते हुए राजप्रकारक स्वत्वसंसर्गक पुरुष विशेष्यक शाब्दबोध स्वीकारते हैं तो **'पुरुषो न राज्ञः'** इस स्थलीय बोध में स्वत्वसम्बन्धावच्छिन्न प्रतियोगिताक राजाभाव की प्रतीति होनी चाहिए किंतु स्वत्व सम्बन्ध के वृत्त्यनियामक होने

के कारण तत्सम्बन्धावच्छिन्न प्रतियोगिताक अभाव ही अप्रसिद्ध होगा। अतः इस स्थल में राजस्वत्वाभाव का बोध ही होना चाहिए । इस स्थल में राजस्वत्वाभावका बोध तभी हो सकता है जब नञ् रहित वाक्य से राजस्वत्व का बोधन हो। इसलिए **'राज्ञः पुरुषः'** इस स्थल में राजस्वत्व का बोध करने के लिए षष्ठी को स्वत्व का वाचक मानकर स्वत्व का प्रकारविधया भान स्वीकारना ही पड़ेगा।

**विमर्श-** वृत्त्यनियामक सम्बन्ध को अभावीयप्रतियोगिता का अवच्छेदक नहीं माना जाता ऐसा सिद्धान्त है। इसका कारण यह है कि जिस सम्बन्ध से यद्वत्ताबुद्धि जहाँ पर प्रवृत्ति की प्रयोजिका होती है, तत्सम्बन्धावच्छिन्न प्रतियोगिताक तदभाववत्ता की बुद्धि उसमें अप्रवृत्ति के लिए उपयोगी होती है ऐसी कल्पना करना आवश्यक है। स्वत्वादि सम्बन्धों से तद्वत्ताबुद्धि तो प्रवृत्ति में प्रयोजिका नहीं होती है। इसलिए तत्सम्बन्धावच्छिन्न प्रतियोगिताक तदभाववत्ता बुद्धि के उसमें अप्रवृत्ति में अनुपयोगी होने के कारण उसकी कल्पना अर्थात् वृत्त्यनियामक सम्बन्ध के अभावीयप्रतियोगितावच्छेदकत्व की कल्पना आवश्यक नहीं है।

**अत एव स्वामित्वादिकं परित्यज्य स्वत्वादेः षष्ठ्यर्थत्वं नवीनाः स्वीकुर्वन्ति-स्वामित्वादेः षष्ठ्यर्थत्वे तस्य निरूपकतासम्बन्धेन पुरुषार्थेऽन्वय सम्भवेऽपि तादृशसम्बन्धस्य वृत्त्यनियामकतया संसर्गाभावप्रतियोगितान-वच्छेदकत्वेन तत्सम्बन्धावच्छिन्नाभावस्य नञा प्रत्यायनासम्भवात्। आश्रयता सम्बन्धाद्यवच्छिन्नाभावबोधस्यैतादृशसमभिव्याहारस्थलेऽभ्युपगमे चैत्रसम्बन्धिनि धनेऽप्याश्रयतासम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकचैत्रवृत्ति-स्वामित्वाभावसत्त्वात् 'नेदं चैत्रस्य' इति प्रयोगापत्तिः।**

इसी कारण ही स्वामित्वादि को छोड़कर स्वत्वादि को नवीन लोग षष्ठी का अर्थ स्वीकारते हैं क्योंकि स्वामित्व को षष्ठी का अर्थ मानने पर उसका निरूपकता सम्बन्ध से पुरुष में अन्वय सम्भव होने पर भी निरूपकता सम्बन्ध के वृत्त्यनियामक होने के कारण संसर्गाभाव का प्रतियोगितानवच्छेदक होने के कारण उस निरूपकता सम्बन्ध से अवच्छिन्न प्रतियोगिताक अभाव का नञ् के द्वारा प्रत्यायन सम्भव नहीं है। अभिप्राय यह है कि षष्ठी का अर्थ स्वत्व भी हो सकता है और स्वामित्व भी। परन्तु नवीन सिद्धान्ती षष्ठी का अर्थ स्वत्व ही मानते हैं स्वामित्व नहीं क्योंकि स्वामित्व यदि षष्ठी का अर्थ मानेंगे तो यह स्वामित्व तो राजा में रहने वाला है पुरुष में रहने वाला है नहीं। इसलिए आश्रयता आदि सम्बन्धों से पुरुष में स्वामित्व का अन्वय सम्भव नहीं है निरूपकता सम्बन्ध से ही पुरुष में राजनिष्ठ स्वामित्व का अन्वय सम्भव है। किन्तु निरूपकता सम्बन्ध तो वृत्त्यनियामक सम्बन्ध है। अतः वह अभावीय प्रतियोगिता का अवच्छेदक नहीं होगा। इस कारण निरूपकतासम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकस्वामित्वाभाव का बोधन नञ्घटित **'पुरुषो न राज्ञः'** के द्वारा नहीं किया जा सकता, सम्भव नहीं है। इस प्रकार स्वामित्व को षष्ठी का अर्थ मानने पर भी वही समस्या है, जो षष्ठी को पद साधुत्वार्थक मान लेने पर आती थी। इस प्रकार जिस कारण षष्ठी को वाचक न मानकर पदसाधुत्वार्थक नहीं माना जा सकता, उसी कारण से षष्ठी का अर्थ स्वामित्व भी नहीं स्वीकारा जा सकता है।

यदि कहो कि स्वामित्व का निरूपकतासम्बन्धावच्छिन्न प्रतियोगिताक अभाव अप्रसिद्ध है आश्रयतासम्बन्धावच्छिन्न प्रतियोगिताक अभाव तो प्रसिद्ध ही है आश्रयता के वृत्तिनियामक होने के कारण। नञ् घटित उक्त वाक्यस्थल में आश्रयतासम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक स्वामित्वाभाव विषयक अन्वयबोध को स्वीकार कर लेने पर तो चैत्रसम्बन्धी जो धन है उस धन में भी आश्रयता सम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकचैत्रवृत्तिस्वामित्वाभाव होने के कारण '**नेदं चैत्रस्य**' ऐसे प्रयोग की आपत्ति है। अभिप्राय है कि आश्रयतासम्बन्धावच्छिन्न प्रतियोगि-ताकस्वामित्वाभाव का भान मानने पर कोई फायदा नहीं है क्योंकि आश्रयतासम्बन्ध से स्वामित्व तो स्वामी में ही रहेगा। आश्रयतासम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकस्वामित्वाभाव तो उसमें भी रहेगा जिसका स्वामित्व स्वामी में है जैसे कि चैत्र के धन में भी स्वामित्व का आश्रयतासम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभाव रहेगा। अतः चैत्र के धन में भी 'यह चैत्र का नहीं है' ऐसा प्रयोग होने लगेगा। इसी प्रकार राजसम्बन्धी पुरुष में '**पुरुषो न राज्ञः**' ऐसा प्रयोग होने लगेगा।

**न च नञ्समभिव्याहारस्थलानुरोधेन षष्ठ्यादेः स्वत्वादिवाचकत्वेऽपि 'राज्ञः पुरुषः' इत्यादौ षष्ठ्याद्यर्थस्य संसर्गमर्यादया भानमुचितम् तस्य प्रकारत्वोपगमे तत्सम्बन्धस्याधिकस्य भानकल्पनेन गौरवात्। नञ् समभिव्याहारस्यैव तत्प्रकारकबोधनियामकत्वाभ्युपगमेन सामग्रीविरहात् तत्-प्रकारकबोधस्य तदसमभिव्याहारस्थलेऽसम्भवादिति वाच्यम्; एवं सति नञ्पदं विना यादृशसमभिव्याहारस्थले यत्र धर्मिणि येन सम्बन्धेन यस्य विशेषणतया भानं तत्र नञ्समभिव्याहारे तत्र धर्मिणि तत्सम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिता-कतदभावः प्रतीयते इति सर्वजनानुभवस्यापलापापत्तेः। 'राज्ञः पुरुषः' इतिवाक्यजन्याप्रामाण्यज्ञानानास्कन्दितबोधदशायां 'पुरुषो न राज्ञः' इत्यादि-वाक्यादपि शाब्दबोधापत्तेः- स्वत्वाभावबुद्धौ स्वत्वसंसर्गकज्ञानस्य विरोधित्वे मानाभावात् ।**

अब पूर्वपक्षी एक अन्य आपत्ति करता है कि- ठीक है नञ् समभिव्याहार स्थल में स्वत्वसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकराजाभाव का बोधन सम्भव नहीं है, अतः नञ् समभिव्याहार स्थल के अनुरोध से षष्ठी को स्वत्व का वाचक मानने पर भी '**राज्ञः पुरुषः**' इत्यादि स्थलो में षष्ठी का अर्थ भी जो स्वत्व है उसका प्रकारविधया भान मानने की ज़रूरत नहीं है, उसका संसर्गविधया ही भान मानना उचित है क्योंकि षष्ठ्यर्थभूत स्वत्व का यदि प्रकार विधया भान शाब्दबोध में स्वीकार करोगे तो स्वत्व के सम्बन्ध का भी भान होगा जो कि अधिक होगा, अतः गौरव है। नञ् का जो समभिव्याहार है वही स्वत्वप्रकारक बोध का नियामक है ऐसा स्वीकार करने के कारण, नञ् रहित वाक्य स्थल में नञ् समभिव्याहाररूप सामग्री न होने के कारण स्वत्वप्रकारक बोध नहीं होता है, स्वत्व प्रकारक बोध के सामग्रीविरह के कारण ही नञ् के असमभिव्याहारस्थल में असम्भव होने के कारण ऐसा ही स्वीकार करना उचित है। ऐसा कहें तो नहीं कहना चाहिए क्योंकि ऐसी स्थिति में (ऐसा स्वीकारने पर) नञ् पद के विना जैसे समभिव्याहारस्थल में जिस धर्मी में जिस सम्बन्ध से

जिसका विशेषणतया भान होता है, वहाँ पर नञ् समभिव्याहार होने पर उस धर्मी में तत्सम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक तदभाव प्रतीत होता है ऐसा जो सर्वजनानुभव है उसका अपलाप होने की आपत्ति है।अभिप्राय यह है कि प्रतियोगि और अभाव का अन्वय तुल्य योगक्षेम होता है। नञ् पद के न रहने पर जिसमें जिस सम्बन्ध से यद्वत्ता प्रतीत होती है, नञ् पद के रहने पर उसी में उस सम्बन्ध से अवच्छिन्नप्रतियोगिताकतदभाव प्रतीत होता है। जैसे यहाँ पर नञ् के न रहने पर '**राज्ञः पुरुषः**' इस वाक्य से स्वत्वसम्बन्ध से राजवत्ता पुरुष में प्रतीत होती है (पूर्वपक्षी के अनुसार) इसलिए नञ् के रहने पर स्वत्वसम्बन्धावच्छिन्न प्रतियोगिताकराजाभाव ही पुरुष में प्रतीत होगा। राजस्वत्वाभाव नहीं प्रतीत होगा। यदि नञ् घटित स्थल में राजस्वत्वाभाव की प्रतीति हो रही है तो नञ्रहित स्थल में राजस्वत्ववत्ता की प्रतीति होनी चाहिए, तभी यह राजस्वत्वाभाव की प्रतीति बन सकती है।

इसके अतिरिक्त '**राज्ञः पुरुषः**' यहाँ पर स्वत्वसंबन्ध से राजा का पुरुष में भान स्वीकारने पर और '**पुरुषो न राज्ञः**' यहाँ पर राजस्वत्वाभाव का पुरुष में भान स्वीकारने पर एक समस्या है। वह यह इन दोनों में कोई विरोध नहीं होगा क्योंकि स्वत्वाभाव की बुद्धि में स्वत्वसंसर्गक ज्ञान को विरोधी मानने में कोई प्रमाण नहीं है। तद्वत्ता बुद्धि में तदभाववत्ताबुद्धि और तदभाववत्ताबुद्धि में तद्वताबुद्धि प्रतिबन्धक होती है। तदभाववत्ता बुद्धि के प्रति तत्संसर्गक बुद्धि की प्रतिबंधकता तो है नहीं। अतः '**राज्ञः पुरुषः**' इस वाक्य से जन्य अप्रामाण्यज्ञानानास्कन्दित शाब्दबोध की मौजूदगी में भी '**पुरुषो न राज्ञः**' इस वाक्य से शाब्दबोध होने की आपत्ति है। इसलिए '**राज्ञः पुरुषः**' यहाँ पर भी स्वत्वसंसर्गक शाब्दबोध न मानकर स्वत्वप्रकारक शाब्दबोध ही मानना चाहिए। जब स्वत्वप्रकारक शाब्दबोध स्वीकारेंगे तो तद्वत्ताबुद्धि के तदभाववत्ताबुद्धि का प्रतिबन्धक होने के कारण उपर्युक्त आपत्ति नहीं है।

**विमर्श–** ग्रन्थकार ने यहाँ पर एक नियम का हवाला दिया कि 'नञ् पद के न रहने पर जैसे समभिव्याहारस्थल में जिस सम्बन्ध से जिसका जिस धर्मी में विशेषणतया भान होता है, नञ् पद समभिव्याहार होने पर उसी धर्मी में उसका (विशेषणीभूत का) उसी सम्बन्ध से अवच्छिन्न प्रतियोगिताक अभाव प्रतीत होता है' उदाहरण के लिए देखें तो '**घटवद् भूतलम्**' में भूतलरूप धर्मी में संयोग सम्बन्ध से घट विशेषणतया भासित हो रहा है, '**भूतलं न घटवत्**' इस नञ् घटित वाक्य में भूतल रूप धर्मी में संयोगसम्बन्धावच्छिन्न प्रतियोगिताकघटाभाव भासता है। किन्तु विचारणीय है कि क्या यह नियम सर्वत्र इसी प्रकार लागू हो रहा है। ऐसा तो है नहीं। उदाहरण के लिए देखें तो '**भूतले घटः**' कहने पर घटरूप धर्मी में भूतलवृत्तिता स्वरूपसम्बन्ध से शाब्दबोधविषय होती है, किन्तु '**भूतले न घटः**' कहने पर कई बार घट प्रतियोगितया अभाव (नञर्थ) में अन्वित हो जाता है, धर्मी ही नहीं बनता है और घटाभाव धर्मी बन जाता है । इस प्रकार घटाभाव में स्वरूप सम्बन्ध से भूतलवृत्तिता प्रतीत होती है। यहाँ पर ही वह नियम लागू नहीं हो रहा है। इसलिए यही कहना पड़ेगा कि यह नियम परिष्कृत करना होगा तथा यह नियमाकार होगा कि- नञ् के न रहने पर यत्सम्बन्धावच्छिन्नयद्धर्मावच्छिन्नप्रकारताक शाब्दबोध के प्रति साकाङ्क्ष जो वाक्य है, नञ् के रहने पर यदि उस वाक्य से तद्धर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभाव यदि

बोधित करने के लिए इच्छित हो तो तत्सम्बन्धावच्छिन्न प्रतियोगिताक ही अभाव बोधित हो। **'भूतले घटः'** इस स्थल में स्वरूपसम्बन्धावच्छिन्न भूतलवृत्तितात्वावच्छिन्नप्रकारताक शाब्दबोध के प्रति साकाङ्क्ष यह वाक्य है, यदि इससे नञ् घटित अवस्था में भूतलवृत्तित्वाभाव बुबोधयिषित होता तो वह अभाव स्वरूपसम्बन्धावच्छिन्न प्रतियोगिताक ही बोधित होता। ऐसा तो है नहीं, यहाँ पर घट में भूतलवृत्तित्वाभाव बुबोधयिषित नहीं है। **'राज्ञः पुरुषः'** यह वाक्य स्वत्वसम्बन्धावच्छिन्न राजत्वावच्छिन्न प्रकारताक शाब्दबोध के प्रति साकाङ्क्ष है, यदि इससे नञ् घटित होने की दशा में राजत्वावच्छिन्न प्रति योगिताक अभाव बोध्य होता तो स्वत्वसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभाव ही बोध्य होता। ऐसा तो है नहीं इसलिए यह भी नियमाक्रान्त नहीं है। इसीलिए **'राज्ञः पुरुषः'** इस उपक्रम के द्वारा दूसरा दोष दिया गया है।

**वृत्त्यनियामकसम्बन्धस्याभावप्रतियोगितावच्छेदकत्वेऽपि 'राज्ञः पुरुषः' इत्यादौ राजस्वत्वादेः प्रकारताभ्युपगमः समुचितः, अन्यथा समभिव्याहार-ज्ञानघटितशाब्दसामग्रीकाले 'राजस्वत्वाभाववान् पुरुषः सुन्दरः' इत्याकारक-विशिष्टवैशिष्ट्यावगाहिप्रत्यक्षवारणाय तत्र तादृशसामग्र्याः 'राजस्वत्वाभाववान् पुरुषः' इत्यात्यादिबाधाभावघटिततया तत्सत्त्वे विशेष्यतावच्छेदकादिप्रकार-कनिश्चयरूपकारणविरहादेव तथाविधविशिष्टवैशिष्ट्यावगाहिप्रत्यक्षो-त्पत्त्यसम्भवेन तादृशसामग्र्यास्तत्र प्रतिबन्धकत्वस्याकल्पनात्।**

अभी तक जो भी पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष किया गया वह यह स्वीकार कर किया गया कि वृत्त्यनियामक सम्बन्ध अभावीय प्रतियोगितावच्छेदक नहीं होता है किन्तु यदि वृत्त्यनियामक सम्बन्ध को भी अभावीयप्रतियोगितावच्छेदक मान लिया जाये तो उपर्युक्त आपत्तियों का निवारण हो जायेगा क्योंकि वृत्त्यनियामक सम्बन्ध को अभावीयप्रतियोगितावच्छेदक मान लेने पर **'पुरुषो न राज्ञः'** इस स्थल में स्वत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताक राजाभाव का पुरुष में भान स्वीकारने में कोई आपत्ति नहीं है। **'राज्ञः पुरुषः'** यहाँ पर स्वत्वसंसर्गक राज प्रकारक पुरुषविशेष्यक बोध और नञ्घटित स्थल में स्वत्वसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक राजाभाव प्रकारक पुरुषविशेष्यक बोध स्वीकारेंगे। ऐसी स्थिति में स्वत्वसंसर्गक राजप्रकारक बुद्धि के स्वत्वसम्बन्धावच्छिन्न राजाभावप्रकारक बुद्धि के प्रति प्रतिबन्धक होने के कारण **'राज्ञः पुरुषः'** इस वाक्य से जन्य अप्रामाण्यज्ञानानास्कन्दित शाब्दबोध की दशा में **'पुरुषो न राज्ञः'** इस वाक्य से शाब्दबोध की आपत्ति भी नहीं है। इस प्रकार पूर्वोक्त आपत्तियाँ वृत्त्यनियामकसम्बन्ध को अभावीयप्रतियोगितावच्छेदक मानने पर नहीं आती हैं। इसलिए ग्रन्थकार अन्यापत्ति का प्रदर्शन कर रहे हैं कि-

वृत्त्यनियामक सम्ब्रन्ध को अभावीयप्रतियोगितावच्छेदक मान लेने पर भी **'राज्ञः पुरुषः'** इत्यादि स्थलों में राजस्वत्वादि की प्रकारता का ही अभ्युपगम उचित है अर्थात् राजस्वत्वप्रकारक शाब्दबोध का स्वीकार ही उचित है, नहीं तो उक्त वाक्य के समभिव्याहार ज्ञान से घटित शाब्दसामग्री के काल में **'राजस्वत्वाभाववान् पुरुषः सुन्दरः'** इस प्रकार के विशिष्टवैशिष्ट्यावगाही प्रत्यक्ष का वारण करने के लिए उस सामग्री की प्रतिबन्धता की

कल्पना ज्यादा करनी पड़ेगी, अतः गौरव होगा। हमारे मत में तो तादृश समभिव्याहार से घटित सामग्री के '**राजस्वत्वाभाववान् पुरुषः**' इस बाध के अभाव से घटित होने के कारण उसके रहने पर विशेष्यतावच्छेदकप्रकारक निश्चय रूप कारण न होने के कारण ही उस प्रकार के विशिष्टवैशिष्ट्यावगाही प्रत्यक्ष की उत्पत्ति असम्भव होने से उक्त सामग्री के प्रतिबन्धकत्व की कल्पना नहीं करनी पड़ती है। सर्वत्र विशिष्टवैशिष्ट्यावगाही का अर्थ होता है विशिष्ट के वैशिष्ट्य को विषय करने वाला, किन्तु यहाँ पर विशिष्ट में वैशिष्ट्य को विषय करने वाला अर्थ होता है।

इस ग्रन्थ का आशय यह है कि- यदि वृत्त्यनियामक सम्बन्ध को सम्बन्ध को अभावीय प्रतियोगितावच्छेदक स्वीकार भी कर लें तो भी '**राज्ञः पुरुषः**' इत्यादि स्थलों में स्वत्वसंसर्गक राजप्रकारक पुरुषविशेष्यक शाब्दबोध का स्वीकार नहीं करना चाहिए अपितु राजस्वत्व प्रकारक आश्रयत्वसंसर्गक पुरुषविशेष्यक ही शाब्द बोध स्वीकारना चाहिए। उसका कारण यह है कि स्वत्वसंसर्गक शाब्दबोध स्वीकारने पर स्वत्वसंसर्गक शाब्दबोध की सामग्री के काल में '**राजस्वत्वाभाववान् पुरुषः सुन्दरः**' इत्याकारक विशिष्ट में वैशिष्टय को विषय करने वाले प्रत्यक्ष का वारण करने के लिए स्वत्वसंसर्गक शाब्दबोध की सामग्री की प्रतिबन्धकता की कल्पना करनी पड़ेगी। हमारे मत में तो स्वत्वप्रकारक शाब्दबोध होता है। स्वत्वप्रकारक शाब्दबोध का आकार है '**राजस्वत्ववान् पुरुषः**' इसका बाध है '**राज स्वत्वाभाववान् पुरुषः**' इस स्वत्वप्रकारक शाब्दबोध की कारणीभूत जो समभिव्याहार, उपस्थिति आदि से घटित सामग्री है उसके अन्तर्गत इस बाध/का अभाव भी है, बाध के अभाव से भी घटित है शाब्द बोध सामग्री क्योंकि शाब्दबोध के प्रति योग्यता की भी कारणता होती है और योग्यता तो बाधाभावरूप ही होती है। बाधाभाव के रहने पर उक्त जो विशिष्ट वैशिष्ट्यावगाहीप्रत्यक्ष आपन्न किया जा रहा है उसकी सामग्री पूरी नहीं होती है क्योंकि विशेष्यतावच्छेदकादिप्रकारकनिश्चयरूप कारण की भी अपेक्षा है। विशेष्यतावच्छेदक है राजस्वत्वाभाव, तत्प्रकारकनिश्चय '**राजस्वत्वाभाववान् पुरुषः**' यह निश्चय जोकि कारण बनता है उसकी भी अपेक्षा है। इस निश्चयरूप कारण के न रहने से उक्त विशिष्टवैशिष्ट्यावगाही प्रत्यक्ष की उत्पत्ति सामग्री न रहने के कारण ही नहीं हो सकती है। इस प्रकार निष्कर्ष यह है कि हमारे मत में शाब्दसामग्री की प्रतिबन्धकता उस विशिष्टवैशिष्ट्यावगाही प्रत्यक्ष के प्रति नहीं स्वीकारनी पड़ती है तुम्हारे मत में यानी स्वत्वसंसर्गक शाब्दबोध स्वीकारने वाले के मत में स्वीकारनी पड़ती है। अतः तुम्हारे मत में गौरव है। इस कारण हमारे मत में लाघव होने के कारण हमारे मत को ही स्वीकार करना चाहिए।

**अन्यादृशप्रत्यक्षस्थलीयप्रतिबन्धकतया च न त्वन्मते निर्वाहः- अन्यत्रा न्यविधप्रत्यक्षेच्छानामुत्तेजकतया तादृशेच्छायामसत्यां चोपदर्शितविशिष्ट वैशिष्ट्यबोधप्रकारकेच्छाबलादुपदर्शितविशिष्टवैशिष्ट्यबोधोपपत्तयेऽन्या- दृशविषयताया एव प्रतिबध्यतावच्छेदकत्वोपगमावश्यकत्वात्।**

यदि पूर्वपक्षी संसर्गतावादी (स्वत्व का संसर्गविधयाभान मानने वाला) यह कहे कि- भिन्नविषयक प्रत्यक्ष के प्रति शाब्दबोधसामग्री की प्रतिबन्धकता तो स्वीकृत ही है यह जो

आप (प्रकारतावादी ) कह रहे हैं कि '**राज्ञः पुरुषः**' इत्याकारक वाक्य जन्य शाब्दबोध के सामग्री की '**राजस्वत्वाभाववान् पुरुषः सुन्दरः**' इत्याकारक प्रत्यक्ष के प्रति नवीन प्रतिबन्धकता की कल्पना करनी पड़ेगी तो ऐसा तो नहीं है अपितु भिन्नविषयक प्रत्यक्ष के प्रति शाब्दसामग्री की जो पूर्वस्वीकृत प्रतिबन्धकता है उसी से इस स्थल पर उक्त विशिष्टवैशिष्ट्यावगाही प्रत्यक्ष का भी निवारण हो जायेगा। भिन्नविषयक प्रत्यक्षसामग्री के प्रति शाब्दसामग्री की प्रतिबन्धकता तो प्रकारता वादी के मत में भी स्वीकार ही की जाती है। इसलिए कोई नवीन प्रतिबध्य प्रतिबन्धक भाव भी नहीं स्वीकार करना पड़ रहा है तो गौरव भी कैसे होगा? इसी प्रश्न का समाधान देते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि-

अन्यादृशप्रत्यक्षस्थलीय प्रतिबन्धकता से तुम्हारे (संसर्गतावादी के) मत में निर्वाह सम्भव नहीं है अर्थात् गौरव का निवारण सम्भव नहीं है। अन्यत्र अन्यविध प्रत्यक्षेच्छाओं के उत्तेजक होने के कारण तादृश इच्छा (अन्यविध प्रत्यक्षेच्छा) के न रहने पर उपदर्शित विशिष्टवैशिष्ट्य बोधत्व प्रकारक इच्छा के बल से उपदर्शित विशिष्टवैशिष्ट्यबोध की उपपत्ति के लिए अन्यादृशविषयताओं के ही प्रतिबध्यतावच्छेदकत्व का उपगम आवश्यक है।

अभिप्राय यह है कि '**राज्ञः पुरुषः**' इत्यादि शाब्दबोध की सामग्री है और घट व पट प्रत्यक्षसामग्री है। ऐसी स्थिति में यदि घटप्रत्यक्ष की इच्छा है तो शाब्दबोध नहीं होता है बल्कि प्रत्यक्ष होता है किन्तु घट का प्रत्यक्ष होता है पट का प्रत्यक्ष नहीं होता है। इसी प्रकार पट प्रत्यक्ष की इच्छा होने पर पट का ही प्रत्यक्ष होता है घट का नहीं। इसलिए अन्यत्र अन्यविधप्रत्यक्ष की इच्छाएँ उत्तेजक है। इस कारण '**घट प्रत्यक्षेच्छाविरहविशिष्ट शाब्दसामग्री घटप्रत्यक्ष के प्रति प्रतिबन्धक है**'' **पटप्रत्यक्षेच्छाविरहविशिष्ट शाब्दबोध सामग्री पटप्रत्यक्ष के प्रति प्रतिबन्धक है**' इस प्रकार पृथक् ही प्रतिबध्यप्रतिबन्धकभाव की कल्पना करनी होगी। इस परिस्थिति में '**राजस्वत्वाभाववान् पुरुषः सुन्दरः**' इत्याकारकप्रत्यक्षेच्छाविरहविशिष्टशाब्दसामग्री इस प्रत्यक्ष के प्रति प्रतिबन्धक है, ऐसा प्रतिबध्य प्रतिबन्धक भाव स्वीकार करना पड़ेगा। इस प्रकार भिन्नविषयक प्रत्यक्ष के प्रति शाब्दसामग्री प्रतिबन्धक होती है। इस एकमात्र प्रतिबध्य प्रतिबन्धक से ही कार्य नहीं सम्पन्न होने वाला है। अन्यविधप्रत्यक्ष के प्रति अन्यविधप्रत्यक्षेच्छाविरह विशिष्ट शाब्द सामग्री की प्रतिबन्धकता है' ऐसा प्रतिबध्यप्रतिबन्धक भाव अलग से संसर्गतावादी को स्वीकारना पड़ता है, प्रकारतावादी को इस प्रकार के प्रतिबध्यप्रतिबन्धकभाव को स्वीकारने की ज़रूरत नहीं है। इस प्रकार प्रकारतावादी के मत में लाघव और संसर्गतावादी के मत में गौरव है।

**न च स्वत्वादेः प्रकारतामतेऽपि स्वत्वादिसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक राजाद्यभावविशिष्टपुरुषादिवैशिष्ट्यबोधे तथाविधसामग्र्याः प्रतिबन्धकता धिक्येन गौरवम् तत्संसर्गतामते स्वत्वादिसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक राजाद्यभाववंत्तानिश्चयाभावघटिततया तत्सत्त्वे कारणविरहादेव तथाविध प्रत्यक्षवारणसम्भवादिति वाच्यम्; मन्मते तादृशप्रत्यक्षं प्रति तथाविधसामग्र्याः प्रतिबन्धकताधिक्येऽपि निरूपितत्वसम्बन्धावच्छिन्नप्रातियोगिताक राजाद्यभावविशिष्टस्वत्वादिवैशिष्ट्यबोधे तथाविधसामग्र्याः प्रतिबन्धकता-ऽकल्पनेन तदंशे साम्यात्। तथा च पूर्वोक्तराजस्वत्वाभाववान् पुरुषः सुन्दरः**

**इत्यादिविशिष्टवैशिष्ट्यप्रत्यक्षं प्रति 'राज्ञः पुरुषः' इत्यादि सामग्र्याः प्रतिबन्धकत्वकल्पनं संसर्गतावादिनाम्मतेऽधिकमिति।**

इस ग्रन्थ में **'न च'** से **'वाच्यम्'** तक पूर्वपक्षी के मत से उक्त दोष (गौरव) के निराकरण का प्रयास किया गया है तथा **'मन्मते'** से **'इति'** तक गौरव का दृढीकरण किया गया है। पूर्वपक्षी आशंका करता है कि -

स्वत्वादि की प्रकारता के मत में भी (स्वत्व का प्रकारविधया भान मानने वाले के मत में भी) स्वत्वसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकराजाद्यभाव से विशिष्ट पुरुषवैशिष्ट्यबोध में स्वत्वप्रकारक शाब्दबोध के सामग्री की प्रतिबन्धकता की कल्पना ज्यादा करनी पड़ेगी अतः गौरव होगा। स्वत्व की संसर्गता स्वीकारने के मत में स्वत्वादिसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक राजाद्यभाववत्ता-निश्चयाभाव से स्वत्वसंसर्गक शाब्दबोध की सामग्री के घटित होने के कारण ही न होने के कारण उक्ताकारक प्रत्यक्ष का वारण सम्भव है।

पूर्वपक्षी का आशय यह है कि जैसे हमारे मत में अर्थात् संसर्गतावादी के मत में एक अतिरिक्त प्रतिबध्य प्रतिबन्धकभाव की कल्पना करनी पड़ती है उसी प्रकार से प्रकारतावादी के मत में भी एक अतिरिक्त प्रतिबध्यबन्धकभाव की कल्पना करनी पड़ेगी जो कि संसर्गता वादी को नहीं करनी है। इस प्रकार प्रकारतावादी और संसर्गतावादी दोनों के मत में गौरव लाघव समान होगा। प्रकारतावादी के मत में राजस्वत्वप्रकारक शाब्दबोध होता है। राजस्वत्वप्रकारक शाब्दबोध की जो सामग्री है उसको **'स्वत्वसम्बन्धेन राजाभाववान् पुरुषः सुन्दरः'** इस प्रकार के स्वत्वसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकराजाभावविशिष्ट पुरुष वैशिष्ट्यबोधात्मक प्रत्यक्ष के प्रति प्रतिबन्धक मानना पड़ेगा तथा इसकी प्रतिबन्धकता भी पूर्वनिर्दिष्ट रीति से ही स्वीकार करनी पड़ेगी। संसर्गतावादी के मत में तो **'राज्ञः पुरुषः'** इस वाक्य से **'स्वत्वसम्बन्धेन राजवान् पुरुषः'** यही शाब्दबोध हुआ करता है। इस शाब्दबोध सामग्री के अन्तर्गत 'स्वत्वसम्बन्धेन राजाभाववान्' इस निश्चय का अभाव भी है क्योंकि यह बाधाभावरूप योग्यतात्मक हो रहा है। स्वत्वसम्बन्धेन राजाभाववान् इस निश्चय का अभाव रहने पर उक्त विशिष्टवैशिष्ट्यावगाही प्रत्यक्ष नहीं हो सकता है क्योंकि उक्त विशिष्टवैशिष्ट्यावगाही प्रत्यक्ष के प्रति कारण है स्वत्वसम्बन्धेन राजाभाववान् यह निश्चय। इस प्रकार संसर्गतावादी के मत में इस प्रत्यक्ष का वारण विना शाब्दसामग्री की इसके प्रति प्रतिबन्धकता करे स्वीकार किये ही हो जाता है। प्रकारतावादी को शाब्द सामग्री की प्रतिबन्धकता इस विशिष्टवैशिष्ट्यावगाही प्रत्यक्ष के प्रति स्वीकारनी पड़ती है। इस प्रकार संसर्गतावादी का कहना है कि हमें जैसे **'राजस्वत्वाभाववान् पुरुषः सुन्दरः'** इस विशिष्टवैशिष्ट्यावगाही प्रत्यक्ष के प्रति **'राज्ञः पुरुषः'** इस वाक्य से जन्यशाब्दबोध की सामग्री की प्रतिबन्धता अतिरिक्त स्वीकारनी पड़ती और आपको नहीं। उसी प्रकार **'स्वत्वसम्बन्धेन राजाभाववान् पुरुषः सुन्दरः'** इस विशिष्टवैशिष्ट्यावगाही प्रत्यक्ष के प्रति **'राज्ञः पुरुषः'** इस वाक्य से जन्य शाब्दबोधसामग्री की प्रतिबन्धकता आपको भी अतिरिक्त स्वीकारनी पड़ती है और हमें नहीं। इसलिए इस अंश में गौरव लाघव बराबर है।

अब प्रकारतावादी **'मन्मते'** के द्वारा उक्ताशंका को समाहित करते हुए संसर्गतावादी के मत में गौरव को सिद्धान्तित कर रहा है कि- मेरे मत में उक्त प्रत्यक्ष के प्रति

(**स्वत्वसम्बन्धेन राजाभाववान् पुरुषः सुन्दरः** इस प्रत्यक्ष के प्रति) राजस्वत्वप्रकारकशाब्द बोध के सामग्री की प्रतिबन्धकता की अधिकता होने पर भी निरूपितत्वसम्बन्धावच्छिन्न प्रतियोगिताराजाद्यभावविशिष्टस्वत्वादिवैशिष्ट्य बोध में तथाविध (राजस्वत्व प्रकारक) शाब्दबोध सामग्री की प्रतिबन्धकता की कल्पना नहीं करनी पड़ेगी, इसलिए उस अंश में साम्य है। इस प्रकार पूर्वोक्त **राजस्वत्वाभाववान् पुरुषः सुन्दरः** इत्यादि विशिष्टवैशिष्ट्यप्रत्यक्ष के प्रति **'राज्ञः पुरुषः'** इत्यादि स्वत्वसंसर्गक शाब्द सामग्री की प्रतिबन्धकता की कल्पना संसर्गतावादियों के मत में अधिक है।

सिद्धान्ती (प्रकारता वादी) का कहना है कि ठीक कहना है तुम्हारा, मेरे मत में **'स्वत्व सम्बन्धेन राजाभाववान् पुरुषः सुन्दरः'** इस प्रत्यक्ष के प्रति स्वत्वप्रकारक शाब्दसामग्री की प्रतिबन्धकता की अधिकता होगी, किंतु तुम्हारे मत में एक और अधिकता होगी। **'निरूपितत्वसम्बन्धेन राजाभाववत् स्वत्वं प्रमेयम्'** इस प्रकार के निरूपितत्व-सम्बन्धावच्छिन्न प्रतियोगिताकराजाभाव विशिष्ट स्वत्ववैशिष्ट्यबोध में हमें स्वत्वप्रकारक शाब्दसामग्री की प्रतिबन्धकता की कल्पना नहीं करनी पड़ती है क्योंकि स्वत्व प्रकारक शाब्दबोध स्थल में स्वत्व का आश्रयतासम्बन्ध से पुरुष में और स्वत्व में निरूपितत्व सम्बन्ध से राजा का अन्वय होता है। इस प्रकार निरूपितत्वसम्बन्ध से राजविशिष्टस्वत्व पुरुष वृत्तित्वेन भासता है। निरूपितत्वसम्बन्ध से राजविशिष्टस्वत्वविषयक ज्ञान का निरूपितत्वसम्बन्ध से राजाभाववत्स्वत्वविषयक ज्ञान बाध होगा। इस बाध के अभाव से घटित होगी उक्त शाब्दबोध की सामग्री। **'निरूपितत्व सम्बन्धेन राजाभाववत् स्वत्वं प्रमेयम्'** इस प्रत्यक्ष के प्रति कारण है निरूपित्वसम्बन्ध से राजाभाववत्स्वत्व का ज्ञान। इस ज्ञान का अभाव तो उक्तशाब्दबोध के प्रति बाधाभाव रूप योग्यता बन रहा है। इस प्रकार इस प्रत्यक्ष की उत्पत्ति का कारण ही न होने से यह प्रत्यक्ष उत्पन्न नहीं होगा। संसर्गतावादी को तो इस प्रत्यक्ष के प्रति **'राज्ञः पुरुषः'** इस वाक्य से जन्य शाब्दबोध की सामग्री को प्रतिबन्धक मानकर एक अतिरिक्त प्रतिबन्धकता की कल्पना करनी पड़ेगी। इस प्रकार एक जगह पर प्रकारतावादी को प्रतिबन्धकता की कल्पना करनी पडी और संसर्गतावादी को नहीं और एक जगह पर संसर्गतावादी को प्रतिबन्धकता की कल्पना करनी पड़ी और प्रकारतावादी को नहीं। इसलिए इस अंश में तो समान है। किन्तु संसर्गतावादी को **'राजस्वात्वभाववान् पुरुषः सुन्दरः'** इस प्रत्यक्ष के प्रति **'राज्ञः पुरुषः'** इस शाब्दसामग्री की प्रतिबन्धकता की कल्पना ज्यादा करनी पड़ेगी। अतः गौरव है।

सारांशतः कह सकते हैं कि प्रकारतावादी को सिर्फ एक जगह पर शाब्दसामग्री की प्रत्यक्ष के प्रति प्रतिबन्धकता स्वीकारनी पड़ती और संसर्गतावादी को दो जगह पर अतः संसर्गतावादी के मत में गौरव है।

**न च स्वत्वादेः प्रकारतामते घटप्रत्यक्षादिकं प्रति तादृशसामग्री प्रतिबन्धकतायां विभक्तिजन्यस्वत्वाद्युपस्थितिनिवेशाधिक्येन च गौरवम्, अस्मन्मते तादृशोपस्थितितथाविधबाधाभावादीनां तथाविधवाक्यजन्य शाब्दबोधं प्रत्यहेतुतया तादृशवाक्यघटितसामग्रीप्रतिबन्धकतायां तेषा-मनिवेशादितिवाच्यम्;**

संसर्गतावादी आक्षेप करता है कि- स्वत्वादि की प्रकारतामत में (स्वत्वादि का प्रकार विधया भान मानने वाले मत में) घटप्रत्यक्षादि के प्रति उक्त शाब्दबोधसामग्री की प्रतिबन्धकता में विभक्तिजन्य स्वत्वादि की उपस्थिति का निवेश अधिक होगा और **'राजस्वत्वा भाववान् पुरुषः'** इस बाध के अभाव का भी निवेश अधिक होगा, अतः गौरव होगा। हमारे मत में तो विभक्तिजन्य स्वत्वादि की उपस्थिति और तथाविध बाधाभावादि की **'राज्ञः पुरुषः'** इस वाक्य से जन्य शाब्दबोध के प्रति हेतुता ही नहीं होने के कारण तादृश वाक्य घटित सामग्री की प्रतिबन्धकता में उनका निवेश ही नहीं है, अतः लाघव है।

अभिप्राय यह है कि स्वत्वादि का जब प्रकारविधया भान मानते हैं तो **'राज्ञः पुरुषः'** इस वाक्य से जन्य शाब्दबोध की सामग्री के अन्तर्गत ङस्पदजन्य स्वत्व की उपस्थिति भी आती है और **'राजस्वत्वाभाववान् पुरुषः'** इत्यादि बाध का अभाव भी आता है। भिन्न विषयक प्रत्यक्ष (घटादि प्रत्यक्ष) के प्रति जब इस शाब्दबोध सामग्री की प्रतिबन्धकता स्वीकार की जाती है तो उस प्रतिबन्धकता में ङस्पदजन्य स्वत्व की उपस्थिति और **'राजस्वत्वाभाववान् पुरुषः'** इस बाध का अभाव भी निविष्ट होता है। हमारे मत में (संसर्गतावादी के मत में) तो विशेषणवाचकपदोत्तर विभक्तियाँ पदसाधुत्वमात्रार्थक हैं, स्वत्वादि की उपस्थिति तो विभक्ति से जन्य होती ही नहीं। यह बाध भी उसके प्रति नहीं है। स्वत्वादि उपस्थिति और **'राजस्वत्वाभाववान् पुरुषः'** इस बाध का अभाव **'राज्ञः पुरुषः'** इस वाक्य से जन्य शाब्दबोध की सामग्री के अन्तर्गत ही नहीं आता है संसर्गतावादी के मत में। इसलिए भिन्नविषयकघटादिप्रत्यक्ष के प्रति इस शाब्दसामग्री की प्रतिबन्धकता जब हम स्वीकार कर रहे हैं तो उसके अन्तर्गत स्वत्वादि उपस्थिति और **'राजस्वत्वाभाववान् पुरुषः'** इस बाध के अभाव का निवेश नहीं करना पड़ेगा। अतः लाघव है।

**भवन्मतेऽपि स्वत्वसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकराजाभावव्याप्यराजस्वत्वाभाववान् पुरुषः इत्यादिनिश्चयस्य तदभावव्याप्यवत्तानिश्चयमुद्रया तादृशवाक्यजन्यशाब्दधीविरोधितया तादृशनिश्चयाभावस्य तथाविधसामग्रीप्रतिबन्धकतायां निवेशनस्याधिक्येन लाघवानवकाशात् । मन्मते 'राजस्वत्वाभाववान् पुरुषः' इत्यादिबाधकाभावनिवेशेनैव तादृशनिश्चयकाले प्रत्यक्षाभ्युपपत्तेस्तदभावानिवेशात्।**

सिद्धान्ती समाधान दे रहा है कि- आपके मत में भी **स्वत्वसम्बन्धावच्छिन्न प्रतियोगिताकराजाभावव्याप्यराजस्वत्वाभाववान् पुरुषः** इत्यादि निश्चय के तदभावव्याप्य–वत्तानिश्चयमुद्रया तादृश वाक्य से जन्य (**'राज्ञः पुरुषः** इस वाक्य से जन्य) शाब्दबोध का विरोध होने के कारण (इस निश्चयाभाव के भी तथाविध शाब्दबोध सामग्री के अन्तर्गत होने के कारण) शाब्द सामग्री की प्रतिबन्धकता में उस निश्चयाभाव का भी प्रवेश अधिक होने के कारण लाघव का कोई अवकाश नहीं है। हमारे मत में **'राजस्वत्वाभाववान् पुरुषः'** इत्यादि बाधक के अभाव का निवेश कर देने से ही तादृशनिश्चय काल में प्रत्यक्ष ही होता है उसके अभाव का निवेश न करने से गौरव नहीं है।

अभिप्राय यह है कि जो पूर्वपक्षी संसर्गतावादी यह कह रहा है कि प्रकारतावादी के मत

में विभिन्नविषयक प्रत्यक्ष की शाब्दसामग्री में विद्यमान जो प्रतिबन्धकता है उस प्रतिबन्धकता में '**राजस्वत्वाभाववान् पुरुषः**' इत्यादि बाधादि के अभाव का निवेश अधिक करना पड़ेगा वैसा है नहीं क्योंकि संसर्गतावादी को भी शाब्दसामग्रीनिष्ठप्रतिबन्धकता में उसका निवेश करना ही होगा। कारण यह है कि **स्वत्वसम्बन्धेन राजवान् पुरुषः** के प्रति **स्वत्वसम्बन्धेन राजाभाववान् पुरुषः** यह ज्ञान प्रतिबन्धक होता है तदभाववत्ता मुद्रया, इसी प्रकार '**स्वत्वसम्बन्धेन राजाभावव्याप्यराजस्वत्वाभाववान् पुरुषः**' यह ज्ञान भी प्रतिबन्धक होता है तदभावव्याप्यवत्तामुद्रया, इस कारण '**स्वत्वसम्बन्धेन राजवान् पुरुषः**' इस शाब्दबोध के प्रति बाध हैं ये दोनों ही ज्ञान। बाधाभाव ही योग्यता कहलाती है इसलिए इन दोनों का ही अभाव बाधाभावात्मक योग्यता रूप होगा। योग्यता का शाब्द सामग्री में निवेश किया ही जाता है, इसलिए शाब्दसामग्री के अन्तर्गत इन दोनों बाधों का अभाव भी आ जायेगा। जब '**राज्ञः पुरुषः**' इस वाक्य से जन्य '**स्वत्वसम्बन्धेन राजवान् पुरुषः**' इस प्रकार के शाब्दबोध सामग्री के अंतर्गत उक्त दोनों ही प्रकार के बाध के बाध का अभाव आ गया। इसलिए भिन्नविषयकप्रत्यक्ष के प्रति प्रतिबन्धकता में इन दो बाधों का अभाव भी निविष्ट होगा, फिर संसर्गतावादी के मत में लाघव का कोई अवकाश ही नहीं है। प्रतिबन्धकता में जिसका निवेश प्रकारतावादी कर रहा है उसका निवेश संसर्गतावादी भी कर ही रहा है। हमारे मत में '**राजस्वत्वाभाववान् पुरुषः**' इत्यादि बाधक के अभाव का निवेश कर देने से ही उस बाधनिश्चय के काल में प्रत्यक्ष ही होता है कहने का आशय यह है कि प्रकारतावादी को तदभावव्याप्यवत्तामुद्रया प्रतिबन्धकता नहीं माननी पड़ रही है। क्योंकि प्रकारता वादी के मत में '**स्वत्वसम्बन्धेन राजाभावव्याप्य राजस्वत्वाभाववान् पुरुषः**' इस बाधनिश्चय का अभाव '**राजस्वत्वाभाववान् पुरुषः** इस बाधनिश्चय के अभाव के प्रवेश कर देने से ही गतार्थ ही जाता है। संसर्गतावादी को तो '**स्वत्वसम्बन्धेन राजाभावव्याप्यराजस्वत्वाभाववान् पुरुषः**' इस बाधनिश्चय के अभाव का भी निवेश करना पड़ता है इसलिए लाघव का कोई अवकाश नहीं है।

यद्यपि जिस प्रकार से संसर्गतावादी के मत में '**स्वत्वसम्बन्धेन राजवान् पुरुषः**' इस बोध के प्रति तदभावव्याप्यवत्तामुद्रया प्रतिबन्धकी भूत '**स्वत्वसम्बन्धेन राजाभाव-व्याप्यराजस्वत्वाभाववान् पुरुषः**' ज्ञान के अभाव का भी प्रवेश शाब्दसामग्री के अन्तर्गत '**स्वत्वसम्बन्धेन राजाभाववान् पुरुषः**' इस बाधनिश्चय के अभाव के साथ-साथ करना पड़ता है। इस तरह द्विविध बाध के अभाव का शाब्दसामग्री में प्रवेश है। उसी प्रकार प्रकारतावादी के मत में भी '**राजस्वत्ववान् पुरुषः**' इस शाब्दबोध के प्रति '**राजस्वत्वाभाववान् पुरुषः**' इस बाधनिश्चय की तदभाववत्ता मुद्रया और '**राजस्वत्वा-भावव्याप्यस्वत्वसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकराजाभाववान् पुरुषः**' इस बाध निश्चय की तदभावव्याप्यवत्तामुद्रया प्रतिबन्धकता होती है। इसलिए उभयविधबाधनिश्चय के अभाव का शाब्दसामग्री के अन्तर्गत यहाँ पर भी प्रवेश करना ही पड़ेगा। इस कारण इस अंश में प्रकारतावादी और संसर्गतावादी के मत में सिद्धान्ततः समानता ही है , तथापि व्यापकसामानाधिकरण्य ही व्याप्ति है और व्यापकत्व जिसका व्याप्यत्व विवक्षित है

तत्समानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगितानवच्छेदकधर्मवत्त्व रूप है। इस प्रकार स्वत्वसंसर्गक राजप्रकारक पुरुषविशेष्यक शाब्दबुद्धि में स्वरूपसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकराजस्वत्वाभाव (क्योंकि राजस्वत्व का अभाव स्वरूप सम्बन्ध से लिया जायेगा) समानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगितानवच्छेदक जो स्वत्व सम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक राजाभावत्व, तद्वत्समानाधिकरणस्वरूपसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकराजस्वत्वाभाववान् पुरुषः यह निश्चय प्रतिबन्धक होगा और इस निश्चय के अभाव का शाब्दसामग्री के अन्तर्गत संसर्गतावादी के द्वारा प्रवेश करना पड़ेगा। इस प्रकार संसर्गतावादी के मत में राजस्वत्वाभावत्व रूप गुरुधर्म का दो बार प्रवेश करना पड़ेगा। प्रकारतावादी के मत में तो स्वत्वसम्बन्धावच्छिन्न प्रतियोगिताकराजाभावसमानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगितानवच्छेदक जो राजस्वत्वाभावत्व तद्वत्राजस्वत्वाभावसमानाधिकरणस्वत्वसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकराजाभाववान् पुरुषः इस निश्चय की प्रतिबन्धकता स्वीकानी होगी। उसके अभाव का शाब्दसामग्री में प्रवेश करना पड़ेगा। यहाँ पर राजाभावत्व रूप लघु धर्म का दो बार भान होगा। इसलिए इस मत में लाघव है।

**यत्तु 'राज्ञः पुरुषः' इत्यादौ 'राजस्वत्ववान् पुरुषः' इत्याद्यन्वयबोधोपगमे 'राजकीयं स्वत्वं' 'राजस्वत्वाभाववान् पुरुषः' इत्याकारकद्विविधानुमितेरेव तदतिरिक्ताविषयकत्वेन तादृशानुमितिं प्रति प्रत्येकं तादृशवाक्यघटित सामग्र्याः प्रतिबन्धकत्वद्वयम्। अस्मन्मते च तादृशानुमित्योस्तथाविध वाक्यजन्यात् 'राजकीयः पुरुषः' इत्याकारकस्वत्वसंसर्गकैकविधानुमितिं प्रत्येव तादृशसामग्र्याः प्रतिबन्धकत्वमेकं कल्पनीयमिति लाघवमिति।**

संसर्गतावादी के द्वारा अन्य रीति से दिखाये जा रहे दोष का ग्रंथकार प्रदर्शन व अनुवाद कर रहे हैं कि- जो यह कहते हैं कि **'राज्ञः पुरुषः'** इत्यादि स्थलों में **'राजस्वत्व वान् पुरुषः'** इस प्रकार के अन्वयबोध का उपगम करने पर **'राजकीयं स्वत्वम्' 'राजस्वत्ववान् पुरुषः'** इत्याकारक द्विविध अनुमिति के तदतिरिक्ताविषयक होने के कारण इस दोनों अनुमितियों के प्रति प्रत्येक-प्रत्येक तादृशवाक्यघटित सामग्री की दो प्रतिबन्धकताएँ स्वीकार करनी पड़ेंगी। हमारे मत में तो तादृश अनुमितियों (उक्त दोनों अनुमितियों) के **'राज्ञः पुरुषः'** इस वाक्य से जन्य **'राजकीयः पुरुषः'** इस बोध से अतिरिक्तविषयक होने के कारण उन दोनों अनुमितियों के प्रति इस शाब्दबोध की सामग्री के प्रतिबन्धकत्व की कल्पना ही नहीं है। उक्ताकारक अनुमितियों की सामग्री और उक्ता कारक शाब्दबोध की सामग्री के रहने पर अनुमिति की ही उत्पत्ति होती है शाब्दबोध की नहीं। अपितु **'राजकीयः पुरुषः'** इत्याकारक स्वत्वसंसर्गक एकविधानुमिति के प्रति ही तादृशशाब्दबोध (**'राज्ञः पुरुषः'** इस वाक्य से जन्य शाब्दबोध) की सामग्री की एकमात्र प्रतिबन्धकता की कल्पना की जाती है, अतः लाघव है।

इस दोष प्रदर्शन का आशय यह है कि जैसे भिन्नविषयक प्रत्यक्ष के प्रति शाब्द सामग्री की प्रतिबन्धकता होती है, उसी प्रकार समानविषयक अनुमिति के प्रति भी शाब्दसामग्री की प्रतिबन्धकता होती है और भिन्नविषयक अनुमिति की सामग्री शाब्दबोध की प्रतिबन्धक होती

है। अर्थात् यदि एक ही क्षण में समान विषयक अनुमति व शाब्द बोध की सामग्री उपस्थित है तो शाब्दबोध ही होगा अनुमिति नहीं और यदि एक ही क्षण में भिन्नविषयक शाब्दबोध और अनुमिति की सामग्री है तो अनुमिति ही होगी शाब्द बोध नहीं होगा। यहाँ पर समानविषयकत्व का आशय है तदतिरिक्ताविषयकत्व। प्रकारतावादी के अनुसार **'राज्ञः पुरुषः'** यहाँ पर **'राजस्वत्ववान् पुरुषः'** इत्यादि अन्वयबोध का उपगम कर लेने पर इस अन्वय बोध के अतिरिक्त (अन्वय बोध विषय से भिन्न) पदार्थ को विषय न करने वाली (इस प्रकार अन्वयबोधातिरिक्त विषयक अर्थात् अन्वय बोध समान विषयक) अनुमितियाँ है **'राजकीयं स्वत्वम्'** और **'राजस्वत्ववान् पुरुषः'** इन दोनों अनुमितियों के **'राजस्वत्वान् पुरुषः'** इस अन्वय बोध की अतिरिक्ताविषयक होने के कारण (समानविषयक हो जाने से) इन अनुमितियों के प्रति तादृशवाक्यघटित शाब्दबोधसामग्री की प्रतिबन्धकता की कल्पना करनी पड़ेगी। उक्त दोनों अनुमितियों में ही उक्त अन्वयबोध से अतिरिक्त कोई भी विषय विषय नहीं हो रहा है। इसलिए तदतिरिक्ताविषयकत्व निर्विवाद है। संसर्गतावादी का कहना है कि हमारे मत में (संसर्गतावादी के मत में) उक्त दोनों ही अनुमितियाँ **'राज्ञः पुरुषः'** इस वाक्य से जन्य **'राजकीयः पुरुषः'** इस शाब्दबोध से अतिरिक्तविषयक हैं क्योंकि इस शाब्दबोध में स्वत्व प्रकार या विशेष्य बनकर नहीं भास रहा है और अनुमितियों में से पहली में स्वत्वविशेष्य बनकर और दूसरी में प्रकार बनकर भास रहा है। इसलिए ये अनुमितियाँ अन्वयबोधातिरिक्त विषयक हो गयी और इसीलिए इन अनुमितियों के प्रति शाब्दसामग्री की प्रतिबन्धकता की कल्पना नहीं करनी पड़ेगी क्योंकि इन अनुमितियों की सामग्री और उक्त शाब्दबोध की सामग्री के रहने पर अनुमिति ही होती है शाब्द बोध नहीं। इस प्रकार आप के मत में **'राज्ञः पुरुषः'** इस वाक्य से जन्य शाब्दबोध की सामग्री की उक्त दो अनुमितियों के प्रति प्रतिबन्धकता स्वीकारनी होगी। हमारे मत में तो **'राज्ञः पुरुषः'** इस वाक्य से जन्य शाब्दबोध की अतिरिक्ताविषयक अनुमिति होगी सिर्फ एक प्रकार की स्वत्वसंसर्गक **'राजकीयः पुरुषः'** इस प्रकार की अनुमिति। इसलिए **'राज्ञ पुरुषः'** इस वाक्य से घटित शाब्दबोध सामग्री की प्रतिबन्धकता सिर्फ इसी अनुमिति के प्रति कल्पित करनी पड़ेगी। अतः हमारे मत में लाघव है। यह संसर्गतावादी का कहना है।

**तदप्यकिंचित् करम्- भवन्मते यत्र यादृशानुमितिः स्वीक्रियते अस्मन्मतेऽपि तत्र तादृशानुमितेरेव स्वीकरणीयतयाऽनुमितौ शाब्दसामग्र्याः प्रतिबन्धकत्वसाम्यात्-उपदर्शितस्थले भवद्भिरनुमितिः स्वीक्रियते, अस्माभिरपि स्वीक्रियते कुतः प्रतिबन्धकताद्वयकल्पनमिति। भवतापि तादृशशाब्दं प्रति तादृशानुमितिसामग्रीद्वयस्य प्रतिबन्धकताया वाच्यतया साम्याच्च।**

प्रकारतावादी के अनुसार उक्त गौरवाशंका का समाधान ग्रन्थकार दे रहे हैं कि- यह जो कहना है वह अकिंचित् कर है अर्थात् उससे हमारे सिद्धान्त पर कोई आक्षेप नहीं हो रहा है कोई क्षति नहीं हो रही है। इसका कारण यह है कि आप के मत में जहाँ पर जैसी अनुमिति स्वीकार की जाती है हमारे मत में भी वहाँ पर वैसी ही अनुमिति स्वीकृत होने के कारण अनुमिति में शाब्द सामग्री की प्रतिबन्धकता समान है। उपदर्शितस्थल में आप भी

अनुमिति का स्वीकार करते है हम भी अनुमिति का स्वीकार करते हैं कैसे दो प्रतिबन्धकताओं की कल्पना है? अभिप्राय यह है कि अन्वयबोधातिरिक्ताविषय अनुमिति के प्रति शाब्दसामग्री की प्रतिबन्धकता की जो कल्पना आपने की है उसे हम नहीं मानते हैं। किस अनुमिति के प्रति शाब्दसामग्री प्रतिबन्धक होगी और किस शाब्दबोध के प्रति अनुमिति सामग्री प्रतिबन्धक होगी इसका नियामक कुछ और ही है। इसलिए आपके मत में जहाँ पर जैसी अनुमिति का स्वीकार किया जाता है हमारे मत में वहाँ पर वैसी ही अनुमिति स्वीकारी जाती है। आपके मत में '**राज्ञः पुरुषः**' इस वाक्य घटित शाब्द सामग्री काल में '**राजकीयं स्वत्वम्**' और '**राजस्वत्ववान् पुरुषः**' इन अनुमितियों की उत्पत्ति का स्वीकार किया जाता है, हमारे मत में भी स्वीकार किया जाता है। इसलिए आपका यह कहना कि हमारे मत में इन अनुमितियों की उत्पत्ति स्वीकृत नहीं है, अतः इन अनुमितियों के प्रति शाब्दसामग्री की दो प्रतिबन्धकताओं की कल्पना करनी पड़ेगी, ग़लत है।

ठीक है, यदि मान भी लें कि हमारे मत में इन दोनों अनुमितियों के प्रति शाब्दसामग्री की प्रतिबन्धकता है तो भी आप के मत की अपेक्षा हमारे मत में गौरव नहीं है क्योंकि अपके मत में भी तो द्विविध अनुमिति सामग्री की शाब्दबोध के प्रति द्विविध प्रतिबन्धकता स्वीकारनी ही पड़ेगी। अतः साम्य है। आपके मत में शाब्दबोध के प्रति अनुमिति सामग्री की द्विविध प्रतिबन्धकता स्वीकृत है, हमारे मत में अनुमिति के प्रति शाब्दसामग्री की द्विविध प्रतिबन्धकता स्वीकृत है। इस प्रकार गौरव लाघव समान ही है।

**एवं 'राजपुरुषः' इत्यादि समासवाक्यात् स्वत्वसंसर्गकशाब्दबोधस्वीकारे तादृशशाब्दबोधसामग्र्याः स्वत्वसंसर्गेण राजविशिष्टपुरुषतात्पर्य ज्ञानादिघटितायाः भिन्नविषयकप्रत्यक्षादिकं प्रति प्रतिबन्धकत्वाधिक्येन गौरवात् तत्र राजसम्बन्धिप्रकारकभेदान्वयस्वीकार एवोचितः।**

ग्रन्थकार प्रकारतावादी के अनुसार संसर्गतावादी के मत में सिद्धान्त रूप में अन्य गौरव का प्रदर्शन कर रहे हैं कि- इसी प्रकार '**राजपुरुषः**' इत्यादि समासवाक्य से स्वत्वसंसर्गक शाब्दबोध का स्वीकार करने पर स्वत्वसंसर्गक शाब्दबोध की सामग्री, की जो कि स्वत्वसंसर्ग से राजविशिष्ट पुरुष तात्पर्यज्ञानादि से घटित है, भिन्न विषयक प्रत्यक्षादि के प्रति अधिक प्रतिबन्धकता की कल्पना करनी पड़ेगी। जो कि प्रकारतावादी को नहीं करनी है। अतः गौरव होगा। इसलिए इस समासस्थल में भी राजसम्बन्धिप्रकारक अभेदान्वयबोध का स्वीकार ही उचित है।

यह गौरव भिन्नविषयक प्रत्यक्ष के प्रति शाब्दसामग्री प्रतिबन्धक होती है। इस नियम के आधार पर दिखाया जा रहा है। कहना यह है कि स्वत्वसंसर्गक शाब्दसामग्री की प्रतिबन्धकता भिन्नविषयकप्रत्यक्ष के प्रति स्वीकारनी पड़ेगी संसर्गतावादी को। प्रकारतावादी को नहीं स्वीकारनी पड़ेगी। अतः संसर्गतावादी के मत में गौरव होगा।

**न च भवन्मतेऽपि तादृशाभेदान्वयबोधसामग्र्याः प्रतिबन्धकताधिक्येन गौरवमिति वाच्यम्, राजपदस्य राजसम्बन्धिनि स्वारसिकलक्षणाग्रह-दशायामभेदसम्बन्धेन राजसम्बन्धिविशिष्टपुरुषे तात्पर्यग्रहसत्त्वे भवन्मतेऽपि**

**कर्मधारयत्वेनाभिमतात् तथाविधसमासवाक्यात् तादृशशाब्द बोधस्वीकार-स्यावश्यकतया तादृशसामग्रीप्रतिबन्धकताया उभयमतसिद्धत्वात्।**

प्रकारतावादी ने संसर्गतावादी के मत में गौरव दिखाया कि आपको स्वत्वसंसर्गक शाब्दबोधसामग्री की भिन्नविषयकप्रत्यक्ष के प्रति प्रतिबन्धकता स्वाकारनी पड़ेगी और हमें नहीं। इसलिए आपके मत में गौरव है। इस पर संसर्गतावादी के मत से आक्षेप करके उसका समाधान करते हैं कि-

यदि कहो कि आपके मत में भी तादृश अभेदान्वयबोध सामग्री की भिन्न विषयक प्रत्यक्ष के प्रति प्रतिबन्धकता अधिक स्वीकारनी पड़ेगी । अतः गौरव तो आपको भी होगा अर्थात् संसर्गतावादी '**राजपुरुषः**' यहाँ पर स्वत्व का संसर्गविधया भान मानते हुए राजप्रकारक स्वत्वसंसर्गक पुरुष विशेष्यक शाब्दबोध स्वीकारता है तो उसके मत में इस शाब्दबोध की सामग्री में भिन्नविषयकप्रत्यक्ष के प्रति प्रतिबन्धकता की कल्पना करनी पड़ती है। प्रकारतावादी यहाँ पर राजसम्बन्धिप्रकारक, अभेदसंसर्गक, पुरुषविशेष्यक शाब्दबोध स्वीकारता है, तो उसके मत में इस शाब्दबोध सामग्री में भिन्न विषयक प्रत्यक्ष के प्रति प्रतिबन्धकता स्वीकारनी पड़ती है। अतः दोनों में गौरव समान है। तो ऐसा नहीं कह सकते क्योंकि राजपद की राज सम्बन्धी में स्वारसिक लक्षणाग्रह की दशा में अभेदसम्बन्ध से राजसम्बन्धि पुरुष में तात्पर्यग्रह रहने पर आपके मत में भी कर्मधारय समास स्वीकार कर के इस समासवाक्य से राजसम्बन्धिप्रकारक अभेद संसर्गक पुरुषविशेष्यक शाब्दबोध स्वीकार आवश्यक होने के कारण ऐसे शाब्दबोध की सामग्री में भिन्नविषयक प्रत्यक्ष के प्रति प्रतिबन्धकता तो आपको भी स्वीकारनी पड़ेगी, यह तो उभयमत सिद्ध है। अर्थात् आपको स्वत्वसंसर्गक शाब्दबोध सामग्री में भिन्नविषयकप्रत्यक्ष के प्रति एक प्रतिबन्धकता स्वीकारनी पड़ेगी और अभेदसंसर्गक राजसम्बन्धिप्रकारक शाब्दबोध सामग्री में दूसरी। अतः गौरव होगा। हमारे मत में स्वारसिक लक्षणाग्रह होने की दशा में और सामान्यतः भी अभेदसंसर्गक राजसम्बन्धिप्रकारक शाब्दबोध ही होने के कारण ऐसे शाब्दबोध की सामग्री में ही भिन्नविषयक प्रत्यक्ष के प्रति प्रतिबन्धकता स्वीकारनी पड़ेगी। अतः लाघव है। (स्वारसिक लक्षणाग्रह की दशा में संसर्गतावादी के मत में अभेद संसर्गक राजसम्बन्धि प्रकारक शाब्दबोध का उपपादन पूर्व में भी किया गया है वहीं पर देखें)

**यत्तु दधि पश्य इत्यादौ लुप्तद्वितीयाविभक्तिस्मरणेन दधिकर्मकदर्शन बोधवत् 'राजपुरुषः' इत्यादावपि लुप्तषष्ठीविभक्तिस्मरणेन राजसम्बन्ध प्रकारकभेदान्वयबोधनिर्वाहे राजसम्बन्धिनि निरूढलक्षणां स्वीकृत्याभेदान्वय बोधोपगमो निरर्थकः। न च षष्ठीतत्पुरुषादिस्थलेऽपि लुप्तविभक्तिस्मरण एव चेदन्वयबोधः? तदा 'ऋद्धस्य साजमातङ्गाः' इत्यादिप्रयोगापत्तिः- तत्र मातङ्गादौ राजादीनामन्वयबोधोपपत्तये राजादिपदोत्तर षष्ठ्यादिविभक्त-यनुसन्धानस्यावश्यकत्वेन समानविभक्तिकतया राजादौ ऋद्धादिपदार्थस्या-ऽभेदान्वयबोधसम्भवादिति वाच्यम्, यतस्तत्र राजादीनामभेदान्वयबोधा-नुपपत्त्या नाभियुक्तानामप्रयोगः अपितु समासाऽघटकपदसापेक्षतया**

**राजपदस्यासामर्थ्यातिदेशात् समासाऽसाधुत्वेन। तत्सापेक्षत्वं च = तदर्थान्वितस्वार्थपरत्वम्, स्वार्थश्च= स्वीयवृत्तिग्रहविशेष्यः। अत एव 'शरैः शातितपत्रः' चैत्रस्य दासभार्या' इत्यादौ न समस्यमानशातितदासपदादेः सापेक्षता तदर्थैकदेशशातनदासत्वादावेव शरकरणकत्व चैत्रनिरूपितत्वादीनामन्वयात् । तदर्थान्वितेत्यत्राऽभेदान्वयो वा निवेशनीय इति।**

संसर्गतावादियों के एकदेशी के मत को उपस्थित कर रहें कि- जो यह कहते हैं कि- '**दधि पश्य**' इत्यादिस्थलों में दधि पदोत्तर लुप्त द्वितीया विभक्ति का स्मरण हो कर जैसे दधिकर्मकदर्शन बोध हुआ करता है (और यह सर्वस्वीकृत है) उसी प्रकार '**राजपुरुषः**' इत्यादिस्थलों में भी राजपदोत्तर लुप्त षष्ठी विभक्ति का स्मरण हो कर राजसम्बन्ध प्रकारक भेदान्वयबोध का निर्वाह सम्भव है अर्थात् '**राज्ञः पुरुषः**' यहाँ पर जैसा बोध होता है राजस्वत्व प्रकारक पुरुषविशेष्यक बोध, समासस्थल में लुप्तषष्ठी विभक्ति का स्मरण होकर वैसा ही शाब्दबोध हो सकता है। फिर राजपद की राजसम्बन्धी में निरूढलक्षणा का स्वीकार कर के समासस्थल में राजसम्बन्धिप्रकारक पुरुषविशेष्यक भेदान्वयबोध का उपगम निरर्थक ही है। यहाँ पर आशय यह है कि अनादितात्पर्यवती लक्षणा को निरूढलक्षणा कहा जाता है। '**राजपुरुषः**' इस समासस्थल में राजपद की राजसम्बन्धी में लक्षणा मानेंगे तो वह लक्षणा अनादितात्पर्यवती लक्षणा ही होगी। जब लुप्तविभक्ति का स्मरण हो कर शाब्दबोध '**राजस्वत्ववान् पुरुषः**' सम्भव है तो निरूढलक्षणा का स्वीकार कर राजसम्बन्धिप्रकारक पुरुषविशेष्यकाभेदान्वयबोध का स्वीकार करने का कोई अर्थ, प्रयोजन नहीं है।

अब यहाँ पर यदि आशंका की जाये कि षष्ठीतत्पुरुषस्थल में भी लुप्तविभक्ति का स्मरण होकर ही अन्वय बोध होता है तो (जैसे '**ऋद्धस्य राज्ञः मातङ्गाः**' यह प्रयोग होता है तथा उसे साधुप्रयोग माना जाता है, उसी प्रकार) '**ऋद्धस्य राजमातङ्गाः**' इत्यादि प्रयोगों की आपत्ति है क्योंकि इन स्थलों में मातङ्गादि में राजादि के अन्वय बोध की उपपत्ति के लिए राजादिपदोत्तर षष्ठी विभक्ति का अनुसन्धान आवश्यक होने के कारण राजपद और ऋद्धपद समान विभक्तिक हो गये और समानविभक्तिक होने के कारण राज और ऋद्ध पदार्थ का अभेदान्वयबोध सम्भव है। यहाँ पर लुप्त विभक्ति का स्मरण या अनुसन्धान किया जाता है । वहाँ पर अभेदान्वय बोध होना सम्भव होता है जैसे '**सुन्दरं दधि पश्य**' यहाँ पर दधि पदोत्तर लुप्तविभक्ति का अनुसंधान करने पर सुन्दरपद और दधि पद समानविभक्तिक हो जाते हैं और उनका अभेदान्वय बोध होता है।

तो ऐसी आशंका उचित नहीं है, क्योंकि यहाँ पर राजपदार्थ और ऋद्धपदार्थ का अभेदान्वय बोध सम्भव नहीं है, इसलिए अभियुक्तों के द्वारा ऐसा प्रयोग नहीं किया जाता है ऐसा नहीं है। अर्थात् यहाँ पर अभेदान्वय बोध जो कि आप आपन्न कर रहे हैं वह हो सकता है, यह तो हम भी मानते हैं किन्तु समासाघटकपदसापेक्ष होने के कारण राजपद के असामर्थ्य का अतिदेश होने से समास के असाधु होने के कारण ऐसा प्रयोग अभियुक्तों के द्वारा नहीं किया जाता है। अभिप्राय यह है कि समास में नियम है '**समर्थः पदविधिः**'

**अष्टाध्यायी 2-1-1** समर्थ समर्थ के साथ समस्त होता है। जो सापेक्ष होता है वह असमर्थ होता है। ऐसी स्थिति में '**ऋद्धस्य राजमातङ्गाः**' ऐसा प्रयोग किया जाये तो राजपद के समासाघटक ऋद्धपदसापेक्ष होने के कारण समर्थ न होने से राजपद का मातंग पद के साथ समास ही सम्भव नहीं है इसीलिए अभियुक्तों के द्वारा '**ऋद्धस्य राजमातङ्गाः**' ऐसा प्रयोग नहीं किया जाता है। (अब प्रश्न उठता है कि समासाघटकपदसापेक्षत्व क्या चीज़ है? तो बताते हैं कि-) तत्सापेक्षत्व का अर्थ है तदर्थान्वितस्वार्थपरत्व अर्थात् तदर्थ से अन्वित स्वार्थपरक जो होगा उसे तत्सापेक्ष कहा जायेगा। स्वार्थ स्वीयवृत्तिग्रहविशेष्य को कहा जाता है। '**ऋद्धस्य राजमातङ्गाः**' में राजपद ऋद्धपदसापेक्ष है क्योंकि ऋद्धपद के अर्थ से अन्वित स्वार्थ राजपदार्थ का राजपद बोधन कर रहा है। इसीलिए इस प्रकार से तत्सापेक्षत्व का अर्थ परिभाषित करने के कारण ही) '**शरैः शातितपत्रः**' '**चैत्रस्य दासभार्या**' इत्यादि स्थलों में शातित और दासादि पदों की सापेक्षता नहीं होती है। यहाँ पर शरपदार्थ से अन्वित स्वार्थ का बोधक शातित पद नहीं है और दास पद भी चैत्रपदार्थ से अन्वित स्वार्थ का बोधक नहीं है क्योकि शरकरणकत्व और चैत्रनिरूपितत्व का अन्वय यहाँ पर शातित पदार्थ और दास पदार्थ में नहीं होता है बल्कि शातित पदार्थैकदेश शातन में और दासमदार्थैकदेश दासत्व में हुआ करता है। इसलिए '**शरैः शातितपत्रः**' '**चैत्रस्य दासभार्या** इत्यादि स्थलों में समास का असाधुत्व नहीं होता है और इस प्रकार के अभियुक्तों के प्रयोग होते हैं। अथवा तदर्थान्वित स्वार्थपरत्व, जो अर्थ किया जा रहा है तत्सापेक्षत्व का, उसमें अभेदान्वय का निवेश किया जाये। अर्थात् तदर्थ से अभेदेन अन्वित स्वार्थ का बोधक जो पद होगा वही तत्सापेक्ष कहा जायेगा। '**ऋद्धस्य राजमातङ्गाः**' में ऋद्ध पदार्थ का राजपदार्थ में अभेदेन अन्वय ही अपेक्षित होता है, इसलिए राजपद ऋद्ध पदार्थ से अभेदेन अन्वित स्वार्थ राजपदार्थ का बोधक होने के कारण ऋद्धपदसापेक्ष है। अतः उसके असामर्थ्य का अतिदेश हो रहा है। इसलिए समास साधु नहीं है। '**शरैः शातितपत्र;**' '**चैत्रस्य दासभार्या**' इत्यादि स्थलों में शरपदार्थ और चैत्रपदार्थ का अन्वय अभेदेन शातित और दासपदार्थ में नहीं होता है। इसलिए यहाँ पर शातित और दास पद में समासाघटक पदसापेक्षत्व नहीं आता है और इसीलिए यहाँ पर समास असाधु नहीं होता है।

**तदसत् - स्वारसिकलक्षणाग्रहस्थलानुरोधेन तादृशसमभिव्याहार ज्ञानादेस्तथाविधबोधजनकतायाः क्लृप्तत्वात् तत्र निरूढलक्षणास्वीकारे गौरवाभावात् । यत्र राजपदस्य राजसम्बन्धिनि स्वारसिकलक्षणाग्रहस्तत्र तादृशबोधस्योभयमतसिद्धतया तादृशसमभिव्याहारज्ञानस्य राजसम्बन्ध्यभिन्न पुरुषबोधे कारणतायाः क्लृप्तत्वात् तथैव निर्वाहेण सर्वत्र लुप्त विभक्तिस्मरणकल्पने मानाभावात् ।**

ग्रन्थकार संसर्गतावादी के आशय से उठायी गयी आशंका और पूर्वपक्ष का प्रकारतावादी के मत से खण्डन करते हैं कि- यह असत् है अर्थात् पूर्वपक्षी का कथन और आशंका ग़लत है? क्योंकि स्वारसिकलक्षणाग्रहस्थल के अनुरोध से तादृशसमभिव्याहारज्ञान की तथाविध

बोध जनकता स्वीकृत होने के कारण वहाँ पर निरूढलक्षणा का स्वीकार कर लेने में गौरव नहीं है। अभिप्राय यह है कि '**राजपुरुष;**' यहाँ पर राजपद की राजसम्बन्धी में स्वारसिक लक्षणाग्रह हो जाये तो ऐसी स्थिति में राजपदाव्यवहितोत्तरपुरुषपदत्वरूप समभिव्याहार ज्ञान की राजसम्बन्ध्यभिन्नपुरुषविषयकबोधजनकता तो स्वीकृत ही है क्योंकि राजपद की राज सम्बन्धी में स्वारसिकलक्षणा ग्रह हो जाने की दशा में यहाँ पर राजसम्बन्धि प्रकारक, अभेदसंसर्गक पुरुषविशेष्यक ही शाब्दबोध का होना सभी स्वीकार करते हैं। इसलिए सर्वत्र निरूढलक्षणा का स्वीकार कर उसी प्रकार के शाब्द बोध को स्वीकारने में कोई गौरव नहीं है। (इसीको स्पष्ट करते हैं कि-) जहाँ पर राजपद की राजसम्बन्धी में स्वारसिक लक्षणा का ग्रह हो जाता है वहाँ पर राजसम्बन्धिप्रकारक, अभेदसंसर्गक, पुरुषविशेष्यक बोध के उभयमत (पूर्वपक्षी और उत्तरपक्षी के मत) से सिद्ध होने के कारण राजाव्यवहितोत्तर पुरुषपदत्व रूप समभिव्याहारज्ञान की राजसम्बन्ध्यभिन्नपुरुषबोध के प्रति कारणता तो स्वीकृत ही है, वैसी ही कारणता से जब निर्वाह सम्भव है (प्रकारतावादी एक ही प्रकार का शाब्दबोध हर जगह स्वीकार करता है '**राजपुरुषः**' में) तो संसर्गतावादी के अनुसार हर जगह लुप्तविभक्ति के स्मरण की कल्पना में कोई प्रमाण नहीं है।

**न च स्वारसिकलक्षणाग्रहस्थले तत्र तादृशान्वयबोधस्योभयवादिसिद्धत्वेऽपि निरूढलक्षणामते सम्बन्धितात्पर्यस्यानादित्वकल्पनागौरवम्, अनादितात्पर्यविषयीभूतलक्षणाया एव निरूढलक्षणात्वादिति वाच्यम्; 'राजपुरुषः' इत्यादिवाक्यजन्यशाब्दबोधात् पूर्वं नियमतो लुप्तविभक्तिस्मरणकल्पनापेक्षया तात्पर्यस्यानादित्वकल्पनायां गौरवविरहादिति।**

यदि कहो कि- स्वारसिकलक्षणाग्रह स्थल में '**राजपुरुषः**' यहाँ पर राजसम्बन्ध्यभिन्न पुरुषविषयक शाब्दबोध के उभयमत में सिद्ध होने पर भी निरूढलक्षणामत में ('**राजपुरुषः**' यहाँ पर राजपद से राजसम्बन्धि की ही उपस्थिति लक्षणा से मानने वाले के मत में) राज पद का राजसम्बन्धि में तात्पर्य को अनादि मानना पड़ेगा, इसलिए कल्पना गौरव होगा। अनादितात्पर्यविषयीभूत अर्थनिष्ठलक्षणा के ही निरूढलक्षणा होने के कारण राजपद का राजसम्बन्धि में अनादितात्पर्य स्वीकारना तो आवश्यक ही है। अतः कल्पना गौरव होगा? तो ऐसा नहीं कहना चाहिए क्योंकि '**राजपुरुषः**' इत्यादि वाक्य से जन्य शाब्दबोध के पूर्व में नियम से लुप्तविभक्ति के स्मरण की कल्पना की अपेक्षा तात्पर्य के अनादित्व की कल्पना में गौरव का अभाव है। अभिप्राय यह है कि प्रकारतावादी को तो मात्र 'राज पद का राजसम्बन्धि में अनादितात्पर्य है' इस प्रकार अनादितात्पर्य की कल्पना करनी पड़ती है। सारांशतः तो तात्पर्य में अनादित्व की कल्पना मात्र स्वीकारनी पड़ती है क्योंकि स्वारसिकलक्षणाग्रहस्थल में तात्पर्य तो आप भी स्वीकार ही करते हैं। आप को तो '**राजपुरुषः**' इस वाक्य से जन्य शाब्दबोध से पूर्व में नियम से लुप्त विभक्ति के स्मरण की कल्पना करनी पड़ती है। इसलिए आपके मत की अपेक्षा हमारे मत में गौरव नहीं है, बल्कि हमें तो सिर्फ तात्पर्य के अनादित्व की कल्पना करनी पड़ती है, आपको तो हर जगह

शाब्दबोध के पूर्व में लुप्तविभक्ति के स्मरण की कल्पना करनी पड़ती है। इसलिए आपके मत में ही गौरव है।

**न चैवम् - 'दधि पश्यति' इत्यादावपि दध्यादिपदस्य दधिकर्मकादौ लक्षणां स्वीकृत्य धात्वर्थेन समं तस्याभेदान्वयबोधोपपादनसम्भवात् तत्रापि लुप्तविभक्तिस्मरणकल्पनमनुचितमिति वाच्यम्, दध्यादिपदस्य दधिकर्मकादौ लक्षणाग्रहदशायामपि तस्य द्वितीयेतरविभक्त्यन्तत्वभ्रमदशायां 'दधिकर्मकः पश्यति' 'दधिकर्मकेण पश्यति' इत्यादाविवोक्तस्थलेऽपि दधिकर्मकदर्शनान्वयबोधानुदयात् । भवन्मते 'दधिकर्मकः पश्यति' इत्यत्र 'दधि पश्यति' इतिस्थलीयदधिपदोत्तरपश्यतिपदत्वरूपाकाङ्क्षाज्ञानादिघटितसामग्रीसत्त्वात् दधिकर्मकदर्शनान्वयस्यापत्तेर्द्वितीयान्तदध्यादिपदत्वावच्छिन्नधर्मिकता-दृशधात्वादिसमभिव्याहारज्ञानस्य तादृशान्वयबोधे हेतुताया आवश्यकत्वात्, 'दधि पश्यति' इत्यादौ लुप्तद्वितीयानुसन्धानस्यावश्यकत्वात्।**

यदि कहो कि- (जैसे '**राजपुरुषः**' यहाँ पर राजपद की राजसम्बन्धी में लक्षणा का स्वीकार कर राजसम्बन्ध्यभिन्न पुरुष विषयक अन्वयबोध का उपपादन किया गया उसी प्रकार) '**दधि पश्यति**' इत्यादि स्थलों में भी दधि आदि पदों की दधिकर्मकादि में लक्षणा स्वीकार कर धात्वर्थ के साथ उसके अभेदान्वयबोध का उपपादन सम्भव है, इसलिए वहाँ पर भी लुप्तविभक्ति के स्मरण की कल्पना अनुचित है। अभिप्राय यह है कि '**दधि पश्यति**' यहाँ पर '**दधिकर्मकदर्शनानुकूलकृतिमान्**' यही शाब्दबोध होता है और इसमें दधिकर्मक का धात्वर्थ दर्शन के साथ अभेदान्वयबोध होता है। संसर्गतावादी आशंका यह कर रहा है कि यहाँ पर भी दधि पद की ही दधिकर्मक में लक्षणा कर ली जाये, फिर उसका धात्वर्थ दर्शन के साथ अभेदान्वय करते हुए शाब्दबोध का उपपादन किया जाये। यहाँ पर भी दधिपदोत्तर लुप्तद्वितीयाविभक्ति के स्मरण की कल्पना अनुचित है?

तो ऐसा नहीं कहना चाहिए क्योंकि दध्यादिपदों की दधिकर्मकादि में लक्षणाग्रह की दशा में भी यदि उसमें द्वितीयेतरविभक्त्यन्तत्व का भ्रम हो जाये तो ऐसी दशा में '**दधिकर्मकः** ' और **दधिकर्मकेण पश्यति** यहाँ दधिकर्मक की उपस्थिति तो है परन्तु एक में प्रथमान्त और एक में तृतीयान्त होने के कारण दधिकर्मक का दर्शन के साथ अभेदान्वयबोध नहीं होता है, उसी प्रकार दधि पद की दधिकर्मक में लक्षणा का ग्रह होने पर भी यदि दधि पद में द्वितीयेतरविभक्त्यन्तत्व का भ्रम हो जाये तो '**दधि पश्यति**' यहाँ पर भी दधिकर्मकदर्शनान्वयबोध नहीं होता है। इसलिए विभक्तिस्मरण को स्वीकार कर द्वितीयान्त दधिपदसमभिव्याहृत पश्यतिपदसमभिव्याहार को कारण मानो, आपके मत में '**दधिकर्मकः पश्यति**' यहाँ पर 'दधि पश्यति' इस स्थल की दधिपदोत्तरपश्यतिपदत्वरूप आकाङ्क्षाज्ञानादि से घटित सामग्री रहने के कारण दधिकर्मक दर्शन के अन्वय की आपत्ति होगी । इसलिए द्वितीयान्तदध्यादि पदधर्मिकतादृश धात्वादिसमभिव्याहार की दधिकर्मक दर्शनान्वयबोध के प्रति हेतुता स्वीकार करनी चाहिए। इसलिए '**दधि पश्यति**' यहाँ पर

लुप्त द्वितीया का अनुसन्धान आवश्यक है।

यहाँ पर लुप्त विभक्ति का अनुसन्धान आवश्यक है इसमें दो तर्क देते हैं प्रथम यह कि दधि पद की दधि कर्मक में यदि लक्षणा गृहीत भी हो तो भी यदि द्वितीयेतर विभक्त्यन्तत्व का भ्रम हो जाये तो दधि कर्मक दर्शनान्वयबोध नहीं होता है। अतः द्वितीयान्तदधिपद और पश्यतिपद के समभिव्याहार ज्ञान की कारणता स्वीकारनी होगा। द्वितीयान्तत्व का पता तो लुप्तविभक्ति का अनुसन्धान करने पर ही चल सकता है। द्वितीय यह कि यदि दधि पद की दधिकर्मक में लक्षणा कर के दधिकर्मक दर्शनान्वय बोध का उपपादन करेंगे तो '**दधिकर्मकः पश्यति**' यहाँ पर भी '**दधि पश्यति**' इस स्थल की दधि पदोत्तर पश्यतिपदत्व रूप आकाङ्क्षा ज्ञान से घटित सामग्री होने के कारण दधिकर्मकदर्शनान्वय बोध होना चाहिए। इस कारण द्वितीयान्त दधिपदधर्मिकपश्यति-पदसमभिव्याहार ज्ञान की ही दधिकर्मकदर्शनान्वयबोध के प्रति कारणता स्वीकारनी चाहिए। अतः लुप्त विभक्ति का स्मरण आवश्यक होगा।

**राजसम्बन्धिपुरुषाद्यन्वयबोधे च राजादिपदाव्यवहितोत्तरपुरुषादि पदत्वप्रकारकज्ञानस्य हेतुतायाः स्वारसिकलक्षणाग्रहस्थलानुरोधे नावश्यकल्पनीयतया 'राजपुरुषः' इत्यादौ राजादिपदस्य तृतीयाद्यन्तत्व भ्रमदशायां राजसम्बन्धिपुरुषाद्यन्वयबोधापत्त्यसम्भवात् तृतीयाविभक्त्या व्यवधानात्। 'दधि पश्यति' इत्यादौ दधिपदाव्यवहितोत्तरत्वप्रकारक धातुज्ञानस्य हेतुतायाः अक्लृप्तत्वात्। 'पश्यति दधि' 'पश्यति चैत्रो दधि' इत्यादावपि दधिकर्मकदर्शनान्वयबोधात् तादृशज्ञानहेतुताया अशक्य-कल्पनीयत्वाच्चेति।**

अब प्रश्न होता है कि जैसे '**दधि पश्यति**' यहाँ पर लुप्तविभक्ति का स्मरण आवश्यक नहीं है? इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए दोनों ही स्थलों की विषमता का उपपादन ग्रन्थकार कर रहे हैं कि—

राजसम्बन्धिपुरुषाद्यन्वयबोध में तो राजपदाव्यवहितोत्तरपुरुषादिपदत्वप्रकारक ज्ञान की कारणता स्वारिसकलक्षणाग्रहस्थल के अनुरोध से अवश्य कल्पनीय है (उसी को हर जगह राजसम्बन्धिपुरुषान्वयबोध के प्रति कारण मानते हैं) यदि '**राजपुरुषः**' यहाँ पर राजादिपद में तृतीयाद्यन्तत्व का भ्रम हो जाये तो ऐसी स्थिति में राजसम्बन्धिपुरुषान्वयबोध की आपत्ति सम्भव नहीं है क्योंकि राजपद और पुरुषपद में तृतीयाविभक्ति का व्यवधान है। इस कारण राजपदाव्यवहितोत्तरपुरुषादिपदत्वप्रकारक ज्ञान सम्भव नहीं होता है, जिस कारण राजसम्बन्धिपुरुषान्वयबोध नहीं होता है कारणाभाव होने से इसलिए समासस्थल में लुप्तविभक्तिस्मरण की अपेक्षा नहीं होती है। (प्रश्न होता है कि '**दधि पश्यति**' इत्यादिस्थलों में भी अभेदान्वयबोध के प्रति दधिपदाव्यवहितोत्तर पश्यतिपद समभिव्याहार को यदि कारण मान लिया जाये तो '**दधिकर्मकः पश्यति**' इत्यादि स्थलों में दधिकर्मकदर्शनान्वयबोध नहीं होगा जो कि आपन्न किया गया था। तो इस का समाधान देते हैं कि–) '**दधि**

**पश्यति**' इत्यादि स्थलों में तो दधिपदाव्यवहितोत्तर पश्यतिपदत्वज्ञान की हेतुता तो स्वीकृत नहीं है और '**पश्यति दधि**' '**पश्यति चैत्रो दधि**' इत्यादि स्थलों में भी दधिकर्मकदर्शनान्वयबोध होने के कारण दधिपदाव्यवहितोत्तर पश्यतिपदत्वप्रकारकज्ञान की हेतुता की कल्पना कल्पित ही नहीं की जा सकती है। क्योंकि इन स्थलों में दधिपदाव्यवहितोत्तरपश्यतिपदत्वरूप आकाङ्क्षारूप कारण (आपद्वारा कल्पित) विद्यमान नहीं है किन्तु दधिकर्मकदर्शनान्वयबोध होता है। इस प्रकार कारणाभाव होने पर कार्यसत्त्वरूप व्यतिरेकव्यभिचार है जो कि दधिपदाव्यवहितोत्तरपश्यतिपदत्व रूप समभिव्याहार ज्ञान की दधिकर्मकदर्शनान्वयबोध के प्रति कारणता का खण्डन कर रहा है।

**'तण्डुलं पचति' इत्यादौ तण्डुलादिपदस्यैव तण्डुलादिकर्मके लक्षणा विभक्तिस्तु साधुत्वार्था । एवम् –'राज्ञः पुरुषः' इत्यादावपि राजादिपदस्य सम्बन्ध्यादौ लक्षणा विभक्तिः साधुत्वार्था। तत्तद्विभक्त्यन्तसमभिव्याहारस्य तत्तल्लाक्षणिकार्थबोधानियामकत्वान्नातिप्रसङ्गः । विभक्तेरेव प्रकृत्यर्थविशेषितस्वार्थे लक्षणेति न सम्भवति– विभक्तेः कुत्रापि शक्तेरक्लृप्ततया तत्र शक्यसम्बन्धरूपलक्षणाया असम्भवात्। तण्डुलः प्रमेयः इत्यादौ विभक्त्यर्थामिश्रितस्यैव प्रकृत्यर्थस्य भानात् प्रकृतिशक्तेः स्वार्थे क्लृप्ततया तत्र लक्षणासम्भवादिति तु चिन्तनीयम्।**

संसर्गतावादी ने जिन स्थलों पर संसर्गतया भान होकर शाब्दबोध का आपादन किया था, अनुवाद कर रहे हैं कि–'**तण्डुलं पचति**' इत्यादि स्थलों में तण्डुलादि पद की तण्डुलकर्मक में लक्षणा कर लेंगे, तण्डुलपदोत्तर विभक्ति तो साधुत्वार्थक है। इसी प्रकार '**राज्ञः पुरुषः**' इत्यादि स्थलों में भी राजादि पद की राजसम्बन्धी में लक्षणा कर ली जाती है राजपदोत्तर विभक्ति तो केवल पदसाधुत्वार्थक है। (इन सबका पूर्व में संसर्गतावादी के अनुसार उपपादन किया जा चुका है। इस संसर्गतावादी के मत में प्रकृति की ही प्रकृत्यर्थ विशेषित विभक्त्यर्थ में लक्षणा कर ली जाती है और प्रकृतिपदोत्तर विभक्ति पदसाधुत्व मात्रार्थक मानकर निरर्थक मान ली जाती है। इसमें प्रश्न उठता है कि विभक्ति की ही प्रकृत्यर्थविशेषित स्वार्थ में लक्षणा क्यों न कर ली जाये? तो इसी का समाधान ग्रन्थकार देते हैं कि–) विभक्ति की ही प्रकृत्यर्थ से विशेषित स्वार्थ (विभक्त्यर्थ) में लक्षणा नहीं सम्भव है क्योंकि विभक्ति की शक्ति कहीं पर भी स्वीकृत नहीं है इसलिए शक्यसम्बन्ध रूप लक्षणा सम्भव नहीं है। अभिप्राय यह है कि शक्यसम्बन्ध ही लक्षणा है ऐसा स्वीकार किया जाता है। जिस अर्थ में पद की शक्ति स्वीकृत होती है उसी अर्थ को शक्य कहा जाता है । विभक्ति की शक्ति किसी भी अर्थ में स्वीकृत ही नहीं है। इसलिए विभक्ति का कोई शक्य नहीं हो सकता और जब शक्य ही नहीं है, तो शक्य का सम्बन्ध कैसे होगा? अतः विभक्ति की प्रकृत्यर्थ विशेषित विभक्त्यर्थ में शक्यसम्बन्ध रूप लक्षणा नहीं स्वीकार कर सकते । '**तण्डुलः प्रमेयः**' इत्यादि स्थलों में विभक्ति के अर्थ से अमिश्रित प्रकृत्यर्थ का भान होने के कारण (यहाँ पर प्रथमा के प्रतिपदिकमात्रार्थक होने के कारण उसका कोई अर्थ सम्भव नहीं है । अतः

विभक्त्यर्थ अमिश्रित तण्डुल पदार्थ ही भासित होता है) प्रकृति की शक्ति स्वार्थ (प्रकृत्यर्थ) में क्लृप्त (स्वीकृत) होने के कारण प्रकृत्यर्थ का भान लक्षणा से सम्भव नहीं है। इसलिए प्रकृति तण्डुल आदि की तण्डुलकर्मकादि में लक्षणा करनी चाहिए। यह कथन तो चिन्तनीय हैं। चिन्तनीय क्यों है? इसे अग्रिम ग्रन्थ से बता रहे हैं।

**राजादिपदस्य राजसम्बन्ध्यादौ शक्तत्वभ्रमदशायामिव तदर्थग्रहदशायामपि 'राजसम्बन्धिसम्बन्धी पुरुषः' इत्याद्यन्वयबोधस्य सर्वजनानामनुभवसिद्धत्वात्। 'पचति चैत्रः' इत्यादावपि कृतिसम्बन्धेन पाकादेश्चैत्राद्यंशे विशेषणत्वोपगमे 'चैत्रो न पचति' इत्यादावन्वयबोधानुपपत्तिर्द्रष्टव्या-कृतिसम्बन्धस्यापि वृत्त्यनियामकतया तत्सम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावस्याप्रसिद्ध्या तद्बोधनासम्भवात् ।**

ग्रन्थकार इस बात का खण्डन कर रहे हैं कि विभक्तियों की साधुत्व मात्रार्थकता है और वे निरर्थक है- राजादि पद की राज सम्बन्धि आदि में शक्तत्वभ्रम होने की दशा में '**राज्ञः पुरुषः**' यहाँ पर '**राजसम्बन्धिसम्बन्धी पुरुषः**' ऐसा अन्वयबोध जिस प्रकार सभी जनों को अनुभव सिद्ध है, उसी प्रकार राजपद की राजसम्बन्धी में यदि लक्षणा का ग्रह हो जाये तो भी इसी प्रकार का अन्वयबोध सभी जनों को अनुभव सिद्ध है ऐसा स्वीकार किया जाता है। इस शाब्दबोध में राजसम्बन्धी का जो सम्बन्ध भासता है, वह सम्बन्ध षष्ठी से ही भासता है। इसलिए विभक्ति का निरर्थकत्व नहीं स्वीकारा जा सकता है। अभिप्राय यह है कि प्रतिज्ञामात्र से वस्तु सिद्धि नहीं होती है। आपके यह कह देने से कि 'विभक्ति की शक्ति कहीं पर स्वीकृत नहीं है' यह बात सिद्ध नहीं हो जाती क्योंकि राजपद की शक्ति का ग्रह यदि राजसम्बन्धी में हो जाये तो '**राज्ञः पुरुषः**' से **राजसम्बिन्धसम्बन्धी पुरुषः** ऐसा शाब्दबोध होता है, यही शाब्द बोध तब भी होता है यदि राज पद की राजसम्बन्धी में लक्षणा हो जाये। यह दूसरा सम्बन्धी रूप अर्थ जो भासित होता है वह किससे भासता है? ङस् ही उसका भासक हो सकता है दूसरा कोई नहीं। इसलिए विभक्ति की शक्ति स्वीकारनी ही पड़ेगी।

'**पचति चैत्रः**' यहाँ पर कृतिसम्बन्ध से पाकादि का चैत्रादि अंश में विशेषणत्व यदि स्वीकार किया जाये तो '**चैत्रो न पचति**' यहाँ पर अन्वयबोध की अनुपपत्ति द्रष्टव्य है-कृतिसम्बन्ध के भी वृत्त्यनियामक होने के कारण उस सम्बन्ध से अवच्छिन्न प्रतियोगिताक अभाव की अप्रसिद्धि होने के कारण उसका बोधन असम्भव होने के कारण। अभिप्राय यह है कि यदि आप '**पचति चैत्रः**' यहाँ पर कृति सम्बन्ध से पाक रूप अर्थ का चैत्र में विशेषणत्व स्वीकार करते हैं तो '**चैत्रो न पचति**' यहाँ पर कृतिसम्बन्धावच्छिन्न प्रतियोगिताकपाकाभाव का चैत्र में विशेषणतया भान स्वीकार करना चाहिए। कारण यह है कि नियम है 'प्रतियोगि और अभाव का अन्वय तुल्य योगक्षेम होता है' नञ् के न रहने पर जहाँ पर जिस सम्बन्ध से यद्वत्ता प्रतीत होती है, नञ् के रहने पर वहाँ पर उसी सम्बन्ध से तदभाववत्ता प्रतीत होती है। '**पचति चैत्रः**' में कृतिसम्बन्ध से पाकवत्ता चैत्र में प्रतीत होती है, तो '**चैत्रो न पचति**' में कृतिसम्बन्धावच्छिन्न प्रतियोगिताकपाकाभाववत्ता चैत्र में प्रतीत

होनी चाहिए, जोकि सम्भव नहीं है क्योंकि वृत्त्यनियामकसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिता होती नहीं है और कृतिसम्बन्ध वृत्त्यनियामक है। इस कृतिसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक पाकाभाव की अप्रसिद्धि होने के कारण इस स्थल में कृतिसम्बन्धावच्छिन्न प्रतियोगिताक पाकाभाव का बोधन चैत्र में सम्भव नहीं है। इसलिए आख्यात का भी निरर्थकत्व नहीं स्वीकारा जा सकता है बल्कि आख्यात का अर्थ कृति मानना चाहिए। और इस प्रकार पाक का अनुकूलत्व सम्बन्ध से कृति में और कृति का आश्रयता सम्बन्ध से चैत्र में अन्वय होगा। आश्रयतासम्बन्ध के वृत्तिनियामक होने के कारण आश्रयतासम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकृत्यभाव तो प्रसिद्ध ही है। इसका भान तो '**चैत्रो न पचति**' यहाँ पर हो ही सकता है।

**अथैवमपि 'चैत्रो जानाति' इत्यादौ चैत्राद्यंशे ज्ञानादेराश्रयता सम्बन्धेनान्वयोपगमे क्षतिविरहः। आश्रयतासम्बन्धस्याभावप्रतियोगितावच्छेदकतया 'न जानाति चैत्रः' इत्यादावाश्रयतासम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकज्ञानाद्यभावस्यैव भानसम्भवात्। तथा च तत्राख्यातस्याश्रयत्वार्थकत्वं निर्युक्तिकम् ।**

ग्रन्थकार ने अभी '**चैत्रो न पचति**' यहाँ पर शाब्दबोध की अनुपत्ति से आख्यात की कृत्यर्थतया सार्थकता स्वीकार करायी। किन्तु संसर्गतावादी (पूर्वपक्षी) इस आशय से अब पूर्वपक्ष कर रहा है कि- भई, ठीक है हर जगह आख्यात की निरर्थकता स्वीकार नहीं की जा सकती है, किन्तु जहाँ पर आख्यात की सार्थकता सम्भव हो यहाँ पर सार्थकता, जहाँ पर सम्भव न हो वहाँ पर निरर्थकता क्यों न स्वीकार कर ली जाये। '**चैत्रो न पचति**' यहाँ पर आख्यात को कृत्यर्थक नहीं माने बग़ैर काम नहीं चल सकता है तो यहाँ पर आख्यात को कृत्यर्थक मान लिया जाये, किन्तु '**चैत्रो जानाति**' इत्यादिस्थलों में क्यों न आख्यात को निरर्थक मान लिया जाये? — ठीक है, इस प्रकार भी (इस प्रकार से '**पचति चैत्रः**' इत्यादि स्थलों में आख्यात की सार्थकता स्वीकार कर लेने पर भी) '**चैत्रो जानाति**' इत्यादि स्थलों में चैत्रादि अंश में ज्ञानादि का आश्रयता सम्बन्ध से अन्वय स्वीकार कर लेने पर भी क्षतिविरह है अर्थात् यहाँ पर ज्ञाधात्वर्थ ज्ञान का आश्रयता सम्बन्ध से चैत्र में भान स्वीकार कर आख्यात की निरर्थकता स्वीकार कर लेने में भी कोई क्षति नहीं है। क्योंकि '**न जानाति चैत्रः**' यहाँ पर आश्रयतासम्बन्ध के अभावीय प्रतियोगितावच्छेदक होने के कारण आश्रयतासम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकज्ञानाभाव का चैत्र में भान सम्भव है। इसलिए आख्यात को आश्रयत्वार्थक मानना निर्युक्तिक है। कहने का आशय यह है कि '**चैत्रः पचति**' यहाँ पर कृति सम्बन्ध से पाक का भान यदि चैत्र में स्वीकार करते हैं, तो '**चैत्रो न पचति**' यहाँ पर कृतिसम्बन्धावच्छिन्नपाकाभाव का भान चैत्र में होना चाहिए जोकि कृति सम्बन्ध के वृत्त्यनियामक होने के कारण अभावीय प्रतियोगितावच्छेदक नहीं होने से सम्भव नहीं है। इसलिए यहाँ पर आख्यात को कृत्यर्थक स्वीकार किया जाता है। किन्तु '**चैत्रो जानाति**' यहाँ पर ज्ञान का आश्रयता सम्बन्ध से चैत्र में भान स्वीकारने पर '**चैत्रो न जानाति**' में आश्रयतासम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकज्ञानाभाव का भान चैत्र में होना चाहिए, जो कि सम्भव है। अतः यहाँ पर आख्यात को निरर्थक ही क्यों न स्वीकार कर लिया जाये? यहाँ पर तो आख्यात का आश्रयत्वार्थकत्व जो कि सिद्धान्ती स्वीकार करता है वह

निर्युक्तिक है।

**न च ज्ञानादेराश्रयतासम्बन्धेन चैत्रादिरूपप्रातिपदिकार्थे साक्षात् प्रकारत्वोपगमे 'ज्ञानं चैत्रः' इत्यादावपि तथान्वयबोधापत्तिरिति वाच्यम्, तादृशान्वयबोधे आख्यातान्तधातुसमभिव्याहारज्ञानस्य हेतुत्वात्। भवतोप्याश्रयताप्रकारकबोधे तादृशसमभिव्याहारज्ञानस्य हेतुताया आवश्यकत्वात्।**

यदि कहो कि धात्वर्थ ज्ञानादि की आश्रयता सम्बन्ध से चैत्रादिरूप प्रातिपदिकार्थ में साक्षात् प्रकारता का स्वीकार करने पर (अर्थात् आश्रयतासंसर्गक धात्वर्थज्ञानप्रकारक प्रातिपदिकार्थ चैत्रविशेष्यक अन्वयबोध का स्वीकार करने पर) **'ज्ञानं चैत्रः'** इत्यादिस्थलों में भी उसी प्रकार के अन्वयबोध की आपत्ति होगी। अभिप्राय यह है कि आश्रयतासंसर्गक ज्ञान प्रकारक चैत्रविशेष्यक शाब्दबोध तो प्रसिद्ध हो ही गया है **'चैत्रो जानाति'** इत्यादि स्थलों में, **'ज्ञानं चैत्रः'** यहाँ पर भी पदार्थोपस्थिति आदि मौजूद हैं ही। इसलिए यहाँ पर भी आश्रयतासंसर्गक ज्ञानप्रकारक चैत्रविशेष्यक शाब्दबोध होना चाहिए। तो ऐसा नहीं कहना चाहिए क्योंकि तादृश अन्वयबोध के प्रति (आश्रयतासंसर्गक ज्ञानप्रकारक चैत्रविशेष्यक अन्वयबोध के प्रति) आख्यातान्त धातुसमभिव्याहारज्ञान कारण होता है। ( **चैत्रो जानाति** में आख्याततिबन्त ज्ञाधातुसमभिव्याहारज्ञान रूप कारण विद्यमान है, **ज्ञानं चैत्रः** में नहीं है। इसलिए प्रथम में तादृश शाब्दबोध होता है द्वितीय में नहीं) आपको भी आश्रयता प्रकारक बोध में आख्यातान्त धातुसमभिव्याहार ज्ञान की हेतुता स्वीकारनी आवश्यक है। अतः हमारे मत में कोई गौरव भी नहीं है।

**यत्तु 'पचति चैत्रः' इत्यादौ 'पाककृतिमांश्चैत्रः' इत्याकारकाख्यातार्थप्रकारकशाब्दबोधोत्पत्त्या तत्राख्यातजन्यकृत्युपस्थितेर्हेतुत्वकल्पनमावश्यकम्, तथा च तत्तदर्थविशेषान् निवेश्यात्मनिष्ठप्रत्यासत्त्या पदार्थोपस्थितेर्हेतुत्वकल्पने शक्यलक्ष्यसहस्रार्थभेदेनाख्यातजन्योपस्थितेः कारणताबाहुल्यमित्यर्थविशेषाननिवेश्य धात्वर्थप्रकारकान्वयबोधं प्रति प्रत्ययजन्योपस्थितेः समानविशेष्यताप्रत्यासत्त्यैव हेतुत्वमुपेयते तथा च तादृशकारणबाधेन चैत्रादेर्धात्वर्थज्ञानविशेष्यतया 'चैत्रो जानाति' इत्यादौ भानं न सम्भवति।**

अभी तक के ग्रन्थ के द्वारा यह आक्षेप किया गया कि सर्वत्र आख्यात की निरर्थकता सम्भव न होने पर भी **'चैत्रो जानाति'** इत्यादि स्थलों में तो आख्यात की निरर्थकता है ही। **'यत्तु'** इस प्रतीक से यहाँ पर भी आख्यात की सार्थकता के उपपादन का प्रयास कर रहे हैं—

जो यह कहते हैं **'पचति चैत्रः'** इत्यादि स्थलों में **'पाककृतिमांश्चैत्रः'** इस प्रकार के आख्यातार्थप्रकारक शाब्दबोध की उत्पत्ति से उसमें (आख्यातार्थ कृतिप्रकारक शाब्दबोध में) आख्यातजन्यकृति उपस्थिति को कारण मानना पड़ेगा और उसको कारण मानना आवश्यक होगा। ऐसी परिस्थिति में ततत् अर्थविशेषों का निवेश करके आत्मनिष्ठप्रत्यासत्ति से पदार्थोपस्थिति की हेतुता की कल्पना करने पर शक्यार्थ और लक्ष्यार्थ के हजारों भेद होने

से आख्यातजन्य उपस्थिति की कारणता की बहुलता होगी। अभिप्राय यह है कि **'पचति चैत्रः'** इत्यादि में आख्यात (तिप्) अर्थ कृति ही शाब्दबोध में प्रकार बनकर भासती है। इसलिए आख्यातार्थकृतिप्रकारक शाब्दबोध के प्रति आख्यातजन्यकृत्युपस्थिति को कारण मानना आवश्यक है। आख्यातार्थ का विशेष-विशेष कर (एक-एक कर) निवेश कर यदि आत्मनिष्ठ प्रत्यासत्ति से अर्थात् **'समवाय सम्बन्ध से पाककृतिप्रकारक शाब्दबोध के प्रति समवाय सम्बन्ध से आख्यातजन्य कृत्युपस्थिति कारण है' 'समवाय सम्बन्ध से आश्रयत्व प्रकारक शाब्दबोध के प्रति समवायसम्बन्ध से आख्यात जन्य आश्रयत्वोपस्थिति कारण है'** इस प्रकार कार्यकारणभाव बनाते हैं तो अनेक कार्यकारण भाव हो जायेंगे। इसलिए बिना अर्थ विशेष का निवेश किए ही **'विशेष्यतासम्बन्ध से धात्वर्थप्रकारक अन्वयबोध के प्रति विशेष्यतासम्बन्ध से प्रत्ययजन्य उपस्थिति कारण है'** इस प्रकार से कार्य कारण भाव बनाना चाहिए। **'चैत्रो जानाति'** यहाँ पर ज्ञाधात्वर्थज्ञानप्रकारक अन्वयबोध के चैत्र में विशेष्यतासम्बन्ध से उत्पन्न होने के लिए कारणीभूत विशेष्यता सम्बन्ध से प्रत्ययजन्य चैत्र की उपस्थिति तो है नहीं । इसलिए वैसे कारण का बाध होने से इस स्थल में चैत्र का ज्ञानविशेष्यतया भान सम्भव नहीं है। चैत्र का ज्ञानविशेष्यतया शाब्द बोध में भान सम्भव न होने के कारण ज्ञान प्रकारक चैत्रविशेष्यक आश्रयतासंसर्गक शाब्दबोध नहीं होता है। इस प्रकार **'चैत्रो जानाति'** यहाँ पर ज्ञान प्रकारक चैत्र विशेष्यक शाब्द बोध की आपत्ति नहीं है। यहाँ पर ज्ञानप्रकारक आश्रयत्वविशेष्यक शाब्दबोध होता है क्योंकि आश्रयत्व प्रत्ययार्थ है।

**यदि च धातुत्वप्रत्ययत्वादीनामनुगतानां दुर्निर्वचतया नैतादृशा नुगतकार्यकारणभावकल्पनं सम्भवतीति मन्यते? तदापि यत्र ज्ञाधातोरेव पाकादौ लक्षणा तत्र 'जानाति' इत्यादिवाक्यात् पाककृत्यादि प्रकार-कान्वयबोधोत्पत्त्या ज्ञाधात्वर्थप्रकारकान्वयबोधे तदव्यवहितोत्तर तिप्त्वा-दिप्रकारकज्ञान जन्योपस्थितेः समानविशेष्यताप्रत्यासत्त्या हेतुतायास्तत्र कल्पनीयतया तादृशकारणबाधात् 'चैत्रो जानाति' इत्यादौ चैत्रा-देर्ज्ञानविशेष्यतया भानानुपपत्तिर्दुर्वारैवेति।**

यदि धातुत्व प्रत्ययत्वादि का अनुगम करके निर्वचन करना दुःशक्य है, इस वज़ह से इस प्रकार के अनुगतकार्यकारण भाव की कल्पना करना सम्भव नहीं है।अभिप्राय यह है कि आप **'समानविशेष्यताप्रत्यासत्ति से धात्वर्थप्रकारक अन्वयबोध के प्रति प्रत्ययजन्य उपस्थिति कारण है'** इस प्रकार कार्यकारण भाव बना रहे हैं, किन्तु यह कार्यकारण भाव तभी सम्भव है, यदि प्रत्ययत्व क्या है? इसका सभी प्रत्ययों में रहने वाले धर्म के रूप में निर्वचन सम्भव हो। किन्तु प्रत्ययत्व का निर्वचन करना ही सभी प्रत्ययों का अनुगम करके सम्भव नहीं है। यदि आप ऐसा मानते हैं? तो भी जहाँ पर ज्ञा धातु की ही पाकादि में लक्षणा हो गयी वहाँ पर **'जानाति'** इस वाक्य से पाकत्यादिप्रकारक ही अन्वयबोध की उत्पत्ति होने से ज्ञाधात्वर्थप्रकारक अन्वयबोध में तदव्यवहितोत्तरतिप्त्वादि प्रकारक ज्ञानजन्य उपस्थिति की समानविशेष्यता प्रत्यासत्ति से कारणता के कल्पनीय होने के कारण वैसे कारण का **'चैत्रो जानाति'** इस स्थल में बाध होने के कारण चैत्र का

ज्ञानविशेष्यतया भान की अनुपपत्ति दुर्वार ही है। अभिप्राय यह है कि जहाँ पर ज्ञा धातु की पाक में लक्षणा हुई वहाँ पर तो पाक का कृतिसम्बन्ध से चैत्रादि में प्रकारतया भान होकर अन्वयबोध नहीं हो सकता है क्योंकि कृति के वृत्त्यनियामक सम्बन्ध होने के कारण कृतिसंसर्गक पाकादिप्रकारक चैत्रादि विशेष्यक बोध स्वीकारने में नञ्घटित स्थल में आपत्ति आयेगी। इसलिए पाक कृति प्रकारक ही शाब्दबोध मानना पड़ेगा। अतः **'समानविशेष्यतासम्बन्ध से ज्ञाधात्वर्थ प्रकारक अन्वयबोध के प्रति तदव्यवहितोत्तर तिप्त्वादिप्रकारकज्ञानजन्योपस्थिति कारण है'** ऐसा ही कारणकार्यभाव मानना चाहिए। अन्यथा मुख्यार्थपरकस्थल में चूँकि चैत्रविशेष्यक ज्ञानप्रकारकाश्रयतासंसर्गक शाब्दबोध स्वीकारते हैं धात्वर्थ प्रकारक प्रत्ययार्थविशेष्यक नहीं; लाक्षणिक स्थल में धात्वर्थ पाकप्रकारक प्रत्ययार्थकृतिविशेष्यक शाब्दबोध स्वीकारते हैं इसलिए अलग तरह का कार्यकारण भाव स्वीकार करने पर गौरव होगा। **'चैत्रो जानाति'** यहाँ पर चैत्र में चूँकि विशेष्यता सम्बन्ध से ज्ञाधात्वव्यवहितोत्तरतिप्त्वादि प्रकारकज्ञान जन्य उपस्थिति रूप कारण नहीं है, अतः चैत्र का ज्ञाधात्वर्थज्ञानविशेष्यतया भान नहीं हो सकता है आश्रयतासंसर्गक ज्ञान प्रकारक बोध नहीं हो सकता है।

**तदप्यसत् - प्रत्ययान्तरार्थविशेष्यकशाब्दबोधे व्यभिचारवारणाय तादृशोपस्थितिवैशिष्ट्यस्य तादृशोपस्थितिजन्यतावच्छेदककोटाववश्यं निवेशनीयतया तदनुत्तरशाब्दबोधे चैत्रादेर्ज्ञानादिविशेष्यतया भाने तादृशकारणबाधस्याकिंचित्करत्वात्, तादृशानुपूर्वीघटकज्ञादिधातुजन्यज्ञानाद्युपस्थितिचैत्रादिरूपविशेष्योपस्थितियोग्यताज्ञानादिघटितसामग्र्या आश्रयतासंसर्गकशाब्दबोधजनने बाधकाभावात् ।**

**'यत्तु'** इस प्रतीक से जो अभी तक कहा गया उसका खण्डन करते है कि वह भी ग़लत है (माने इस प्रकार कहना भी ग़लत है क्योंकि जब आप उपर्युक्त रीति से ज्ञाधात्वर्थ प्रकारक शाब्दबोध के प्रति ज्ञाधात्वव्यवहितोत्तरतिप्त्वादिप्रकारकज्ञानजन्य उपस्थिति की कारणता मानेंगे तो) प्रत्ययान्तरार्थविशेष्यक शाब्दबोध में व्यभिचार का वारण करने के लिए (क्योंकि जैसे **'जानाति'** यहाँ पर ज्ञाधात्वर्थप्रकारकशाब्दबोध होता है उसी प्रकार **'जानन्'** यहाँ पर भी ज्ञाधात्वर्थप्रकारक शाब्दबोध होता है किन्तु यहाँ पर तिप्त्वादि प्रकारक ज्ञानजन्य उपस्थिति रूप कारण नहीं है, इसलिए 'कारण के न रहने पर कार्य होना' रूप व्यतिरेकव्यभिचार हो रहा है। इसी का वारण करने के लिए) तादृशोपस्थितिवैशिष्ट्य के तादृशोपस्थिति जन्यतावच्छेदक कोटि में अवश्य निवेशनीय होने के कारण जो शाब्दबोध तादृशोपस्थिति के बाद नहीं हो रहा है, उसमें चैत्रादि का ज्ञान विशेष्यतया भान होने में तादृशकारणबाध के अकिंचित्कर होने के कारण तादृश आनुपूर्वी घटक ज्ञादि धातु से जन्य ज्ञानादि उपस्थिति, चैत्रादिरूप विशेष्य उपस्थिति, योग्यताज्ञान आदि से घटित सामग्री के आश्रयता संसर्गक शाब्दबोध को उत्पन्न करने में कोई बाधक नहीं है।

यहाँ पर आशय यह है **'ज्ञाधात्वर्थप्रकारक शाब्दबोध के प्रति ज्ञाधातूत्तरतिप्त्वादि प्रकारक ज्ञानजन्य उपस्थिति कारण है'** इस प्रकार कार्यकारण भाव स्वीकार करने पर

प्रत्ययान्तर (शतृ, शानचादि) का अर्थ जहाँ पर विशेष्य बन रहा है ऐसे शाब्दबोध में व्यभिचार होगा। क्योंकि तिप् और शतृ शानच् आदि तकरीबन समानार्थक हैं, इसलिए शतृशानचादि प्रयोगस्थल में भी ज्ञाधात्वर्थ प्रकारक शाब्दबोध होना चाहिए, किन्तु कारणी भूतज्ञाधातूत्तरतिप्त्वादिप्रकारकज्ञानजन्य उपस्थितिरूप कारण वहाँ पर नहीं है। इस व्यभिचार का वारण करने के लिए आपको कार्यकारण भाव में कार्यतावच्छेदक कोटि में अव्यवहितोत्तरत्वसम्बन्ध से तादृशोपस्थितिवैशिष्ट्य का निवेश करना अर्थात् **'अव्यवहितोत्तरत्व सम्बन्ध से ज्ञाधातूत्तरतिप्त्वादिप्रकारक ज्ञानजन्य उपस्थिति से विशिष्ट ज्ञाधात्वर्थप्रकारकशाब्दबोध के प्रति धातूत्तरतिप्त्वादिप्रकारकज्ञानजन्य उपस्थिति कारण है'** ऐसा कार्यकारणभाव मानना पडेगा। शत्रादिस्थल में ज्ञाधात्वर्थ प्रकारक शाब्दबोध ज्ञाधातूत्तरतिप्त्वादि प्रकारक ज्ञानजन्य उपस्थिति से अव्यवहितोत्तर नहीं हो रहा है, अतः कार्य और कारण दोनों ही नहीं हैं, व्यभिचार वारित हो जाता है। किन्तु इस प्रकार कार्य कारणभाव स्वीकारने का निहितार्थ यह हुआ कि तादृशोपस्थिति से विशिष्टशाब्दबोध के प्रति ही समानविशेष्यतासम्बन्ध से तादृशोपस्थिति की कारणता है, जो शाब्दबोध तादृशोपस्थिति विशिष्ट नहीं होगा उस शाब्दबोध के लिए तादृशोपस्थिति का होना या न होना कोई मायने नहीं रखता है क्योंकि वहाँ पर तो तादृशोपस्थिति की कारणता ही नहीं है तादृश शाब्द बोध के प्रति। इसलिए तादृश आनुपूर्वी घटक ज्ञा धातु से जन्य ज्ञानादि उपस्थिति, चैत्रादि रूप विशेष्य की उपस्थिति, योग्यता ज्ञान आदि से घटित सामग्री से ज्ञानप्रकारक चैत्रादिविशेष्यक आश्रयतासंसर्गक शाब्दबोध उत्पन्न होने में कोई बाधक नहीं है। यह शाब्दबोध ज्ञाधातूत्तरतिप्त्वादिप्रकारकज्ञान जन्य उपस्थिति से अव्यवहितोत्तर नहीं हो रहा है, इसलिए इसके लिए ऐसी उपस्थिति का होना या न होना निष्प्रयोजन है।

सार यह है कि यदि एक कार्यकारणभाव सम्भव होता तो आश्रयतासंसर्गक शाब्द बोध का निवारण यह कह कर हो सकता था कि कारणी भूत उपस्थिति के न होने के कारण ज्ञाधात्वर्थज्ञानप्रकारक शाब्दबोध नहीं हो सकता है। किंतु शत्रादिस्थल के अनुरोध से अनेक कार्यकारणभाव स्वीकारने पड़ रहे हैं। अतः किसी एक कारण के न रहने पर भी ज्ञाधात्वर्थज्ञानप्रकारकशाब्दबोध उत्पन्न हो ही सकता है।

**न चैतन्मत आश्रयतासम्बन्धेन ज्ञानादिप्रकारकशाब्दबोधे तादृशयोग्यताज्ञानहेतुत्वान्तरकल्पनाधिक्यम्, आश्रयतासम्बन्धेन ज्ञानविशिष्ट चैत्रादितात्पर्यकात् सर्वनाम्नः सांकेतिकशब्दान्तराद्वा तादृशसम्बन्धेन ज्ञानादि प्रकारकचैत्रादिविशेष्यकशाब्दबोधस्य सर्वमत एव प्रसिद्धावपि तादृशशाब्द बोधे पदार्थान्तरभाननैयत्येन तन्मिश्रितयोग्यताज्ञानस्य तत्र हेतुताया आवश्यकत्वात्, ज्ञानादिविशिष्टचैत्रादिमात्रविषयकयोग्यताज्ञानस्य ज्ञानादि विशिष्टचैत्रादिविषयकशाब्दबोधे हेतुतायाः कुत्राप्यक्लृप्तत्वादिति वाच्यम्, भवन्मतेऽपि ज्ञानाश्रयताप्रकारकचैत्रादिविशेष्यकशाब्दबोधे तथाविध योग्यताज्ञानहेतुताया आधिक्यात्। आश्रयतासंसर्गकज्ञानीय कारणता-**

**वच्छेदकस्य तदीयसंसर्गविषयताघटिततत्प्रकारकज्ञानत्वरूपकारणतावच्छेद-कापेक्षया लघुशरीरतयाश्रयतायाः संसर्गमतस्यैव लघुत्वात्।**

पूर्वग्रन्थ के द्वारा आश्रयतासंसर्गक शाब्दबोध का निवारण नहीं किया जा सकता है ऐसा प्रतिपादित किया गया। अब आश्रयतासंसर्गक शाब्दबोध में '**नच**' से गौरव का आपादन और '**भवन्मतेऽपि**' से गौरव का निवारण कर रहे हैं। गौरव दिखलाते हैं कि-इस मत में आश्रयतासंसर्गक ज्ञानादिप्रकारक शाब्दबोध में आश्रयतासम्बन्ध से ज्ञानप्रकारक योग्यताज्ञान की हेतुता की कल्पना ज्यादा करनी पड़ेगी। अभिप्राय यह है कि '**चैत्रो जानाति**' इस प्रकार का प्रयोग मुख्यार्थपरक भी हो सकता है और लाक्षणिक भी। यदि ज्ञा धातु पाक रूप अर्थ में लाक्षणिक हो तो आख्यात का अर्थ कृति ही मानना पड़ेगा और '**पाकानुकूलकृतिमांश्चैत्रः**' ऐसा शाब्दबोध होगा। तथा इस शाब्दबोध के प्रति आख्यातार्थ कृतिप्रकारक योग्यताज्ञान की कारणता स्वीकारनी होगी। जब ज्ञाधातु मुख्यार्थ परक हो तो आख्यातार्थ आश्रयताप्रकारक शाब्दबोध का स्वीकार न करके आश्रयतासंसर्गक शाब्दबोध स्वीकार कर रहे हैं। अतः आश्रयतासम्बन्ध से ज्ञानप्रकारक योग्यताज्ञान की हेतुता स्वीकारनी पड़ेगी। जो यहाँ पर आश्रयताप्रकारक शाब्दबोध स्वीकारता है उसके मत में मुख्यार्थपरक और लाक्षणिक दोनों ही स्थलों में आख्यातार्थप्रकारक योग्यताज्ञान की ही कारणता स्वीकारनी पड़ेगी। यहाँ पर आश्रयतासंसर्गकशाब्दबोध स्वीकारने वाले के मत में तो लाक्षणिकस्थल में आख्यातार्थप्रकारकयोग्यताज्ञान की और मुख्यार्थपरकस्थल में आख्यातार्थ संसर्गक योग्यताज्ञान की कारणता स्वीकारनी पड़ेगी। इस प्रकार ज्ञानादिप्रकारक शाब्दबोध में आश्रयतासंसर्गक योग्यताज्ञान की हेतुता की कल्पना ज्यादा करनी पड़ेगी।

आश्रयतासम्बन्ध से ज्ञानविशिष्ट चैत्रादितात्पर्यक सर्वनाम से अथवा सांकेतिक शाब्दान्तर से उस सम्बन्ध (आश्रयतासम्बन्ध) से ज्ञानादिप्रकारक चैत्रादिविशेष्यक शाब्दबोध के सभी के मत में प्रसिद्ध होने पर भी वैसे शाब्दबोध में पदार्थान्तर का भान नियत होने के कारण पदार्थान्तरविषयक योग्यताज्ञान की हेतुता आवश्यक है। अभिप्राय यह है कि जहाँ पर किसी के द्वारा प्रयोग किया गया '**आश्रयतासम्बन्धेन ज्ञानविशिष्टश्चैत्रो गच्छति, तमानय**' इस प्रयोग में जो तत् पद प्रयुक्त किया गया है वह आश्रयता सम्बन्ध से ज्ञानविशिष्ट चैत्रतात्पर्य से प्रयुक्त है। यहाँ पर '**तमानय**' इस प्रयोग से '**आश्रयतासम्बन्धेन ज्ञानविशिष्टं चैत्रमानय**' (आश्रयतासम्बन्ध से ज्ञानविशिष्ट चैत्र को ले आओ) ऐसा शाब्दबोध हुआ करता है। इसी प्रकार फलाँ शब्द से आश्रयतासम्बन्ध से ज्ञानविशिष्ट चैत्र को समझना ऐसा संकेत करने पर उस शब्द से भी ऐसा शाब्दबोध होता है। किन्तु ऐसे शाब्दबोध में पदार्थान्तर एकत्व, कर्मत्व आदि, जोकि तत् पदोत्तर विभक्ति का अर्थ है, का भान नियत है। इसलिए उक्त शाब्दबोध के प्रति एकत्व, कर्मत्वादि से मिश्रित योग्यताज्ञान की ही कारणता स्वीकारनी पड़ेगी। ज्ञानादिविशिष्टचैत्रादिमात्रविषयक योग्यताज्ञान की ज्ञानादिविशिष्टचैत्रादि- विषयक शाब्दबोध में कहीं पर भी हेतुता स्वीकृत नहीं होने के कारण आश्रयता सम्बन्ध से ज्ञानादिप्रकारक शाब्दबोध में आश्रयता सम्बन्ध से ज्ञानादि प्रकारक योग्यताज्ञान की हेतुता अतिरिक्त स्वीकार करनी पड़ेगी। इस प्रकार कल्पनाधिक्य होगा।

'**न चैतन्मते**' से '**वाच्यम्**' तक का आशय यह है कि यद्यपि सांकेतिक शब्दान्तर

से अथवा आश्रयतासम्बन्धेन ज्ञान विशिष्टचैत्रतात्पर्यक सर्वनाम तत् पदादि से आश्रयता सम्बन्ध से ज्ञानप्रकारक चैत्रविशेष्यक शाब्दबोध सभी के मत में प्रसिद्ध है परन्तु वैसे शाब्द बोध में पदार्थान्तर एकत्व, कर्मत्व आदि का भान नियत होने के कारण उससे मिश्रित योग्यताज्ञान की ही हेतुता वैसे शाब्दबोध के प्रति स्वीकारी जाती है। ज्ञानादिविशिष्ट-चैत्रादिमात्रविषयक योग्यताज्ञान की हेतुता ज्ञानादिविशिष्ट चैत्रादिविषयक शाब्दबोध में कहीं पर भी स्वीकृत नहीं है। आश्रयतासम्बन्ध से ज्ञानप्रकारक चैत्रविशेष्यक शाब्दबोध **'चैत्रो जानाति'** से स्वीकारने पर ज्ञानादिविशिष्ट चैत्रादिमात्रविषयक योग्यताज्ञान की हेतुता ऐसे शाब्दबोध में अतिरिक्त स्वीकारनी पड़ेगी, अतः संसर्गतामत में कल्पना गौरव है।

**'भवन्मतेऽपि'** के द्वारा इस कल्पनागौरव की आपत्ति का निवारण कर रहे हैं कि-आपके मत में भी ज्ञानाश्रयताप्रकारक चैत्रादिविशेष्यक शाब्दबोध में ज्ञानाश्रयताप्रकारक चैत्रादिविशेष्यक योग्यताज्ञान की हेतुता अधिक स्वीकारनी पडती है। कहने का आशय यह है कि **'जानाति'** इत्यादि स्थलों में आख्यात को आश्रयत्वार्थक मानने पर भी ज्ञाधातु की पाकादि में जहाँ पर लक्षणा या स्वारसिक लक्षणा होती है, वहाँ पर **'पाकानुकूल कृतिमान्'** ऐसा शाब्दबोध और इस शाब्दबोध के प्रति पाकानुकूलकृतिप्रकारक योग्यताज्ञान की कारणता स्वीकारनी पड़ेगी। जहाँ पर **'जानाति'** इस स्थल में ज्ञाधातु मुख्यार्थज्ञान परक है, वहाँ पर पाकानुकूलकृतिप्रकारक योग्यताज्ञान की कारणता से निर्वाह सम्भव नहीं है। बल्कि जैसे हमारे मत में मुख्यार्थ स्थल में आश्रतासंसर्गक शाब्द बोध स्वीकारते हुए उस शाब्दबोध के प्रति आश्रयतासंसर्गक योग्यता ज्ञान की कारणता अधिक स्वीकारनी पड़ती है, उसी प्रकारक आपको भी ज्ञानाश्रयताप्रकारक चैत्रादिविशेष्यक शाब्दबोध के प्रति ज्ञानाश्रयताप्रकारकचैत्रादिविशेष्यक योग्यताज्ञान की कारणता अधिक स्वीकारनी पडेगी।

इस अंश में समानता होने पर भी कारणतावच्छेदक कोटि में भी यदि विचार किया जाये तो आपके (ज्ञानाश्रयताप्रकारक शाब्दबोध स्वीकारने वाले के) मत में ही गौरव है क्योंकि- आश्रयतासंसर्गक योग्यताज्ञान की कारणता के अवच्छेदक के आश्रयता के संसर्ग की विषयता से घटित आश्रयताप्रकारकज्ञानत्वरूप कारणतावच्छेदक की अपेक्षा लघुशरीर होने के कारण आश्रयता का संसर्गतामत ही लघूभूत है। अभिप्राय यह है कि आश्रयतासंसर्गक योग्यताज्ञान की कारणतास्वीकारने की स्थिति में 'ज्ञानप्रकारक ज्ञानत्व' को कारणतावच्छेदक बनाना पड़ेगा आश्रयता का संसर्गविधया भान होगा, उसमें संसर्गताख्यविषयता आयेगी आश्रयताप्रकारक योग्यताज्ञान की कारणता स्वीकारने की स्थिति में 'ज्ञानाश्रयताप्रकारक ज्ञानत्व' को कारणतावच्छेदक बनाना पड़ेगा, जिसमें कि आश्रयता के संसर्ग का संसर्गविधया भान होना। इस प्रकार **'ज्ञानाश्रयताप्रकारकज्ञानत्व'** की अपेक्षा **'ज्ञानप्रकारकज्ञानत्व'** रूप कारणतावच्छेदक लघुभूत है।

**न च यत्राश्रयत्वे ज्ञाधातुसमभिव्याहृताख्यातस्य शक्तिभ्रमः स्वारसिकलक्षणाग्रहो वा तत्र ज्ञानाश्रयताप्रकारकशाब्दबोधस्योभयमतसिद्धतया तत्र तादृशयोग्यताज्ञानहेतुत्वमुभयवादिसिद्धमेवेतिवाच्यम्, आश्रयतायाः संसर्गतावादिना तत्राप्याश्रयताप्रकारकबोधस्यानभ्युपगमादिति चेत् ?**

पूर्वग्रन्थ के द्वारा ज्ञानप्रकारक आश्रयतासंसर्गक शाब्दबोध स्वीकारने वाला पक्ष ही लघुभूत सिद्ध हुआ। अब पुनः युक्त्यन्तर से आश्रयताप्रकारक शाब्दबोध वाले पक्ष को

लघुभूत सिद्ध करने का प्रयास कर रहे हैं '**नच**' इस ग्रन्थ के द्वारा जहाँ पर ज्ञाधातु समभिव्याहृत आख्यात का आश्रयत्व में शक्ति भ्रम या स्वारसिकलक्षणाग्रह हो जाये, वहाँ पर 'ज्ञानाश्रयताप्रकारक शाब्दबोध' के उभयमत में सिद्ध होने के कारण ज्ञानाश्रयताप्रकारक योग्यताज्ञान की उस शाब्दबोध के प्रति कारणता पूर्वपक्षी और उत्तरपक्षी दोनों के ही मत में सिद्ध ही है। ऐसी स्थिति में ज्ञानाश्रयताप्रकारक शाब्दबोध सामान्यतः स्वीकारने वाले के मत में ज्ञानप्रकारक आश्रयतासंसर्गक शाब्दबोध स्वीकारने वाले की अपेक्षा लाघव है, क्योंकि आश्रयतासंसर्गकशाब्दबोधवादी को 1. ज्ञा धातु की पाक में स्वारसिक लक्षणास्थल में 2. ज्ञा धातु के मुख्यार्थस्थल में और 3. आख्यात का आश्रयत्व में शक्तिभ्रम या स्वारसिक लक्षणाग्रह स्थल में अलग-अलग योग्यताज्ञान की कारणता स्वीकारनी पड़ेगी क्योंकि तीनों ही जगहों पर अलग-अलग तरह का शाब्दबोध हुआ करता है। आश्रयताप्रकारक-शाब्दबोधवादी को सिर्फ दो प्रकार के योग्यता ज्ञान की कारणता स्वीकारनी पड़ेगी क्योंकि द्वितीय, तृतीय स्थल में तो एक ही जैसा शाब्दबोध उसके मत में होता है। इस प्रकार आश्रयताप्रकारकशाब्दबोध मत ही लघुभूत होने के कारण मान्य होना चाहिए।

यदि ऐसा कहो तो नहीं कह सकते हैं, आश्रयता का संसर्गविधया भान माननेवाले के मत में वहाँ पर भी आश्रयताप्रकारकबोध के अस्वीकरणीय होने के कारण। अभिप्राय यह है कि जैसे आश्रयताप्रकारकबोधवादी के मत में मुख्यार्थ परक और आख्यात का आश्रत्व में शक्ति भ्रम स्थल में एक ही जैसा शाब्दबोध होता है, उसी प्रकार संसर्गतावादी के मत में भी मुख्यार्थ परक और आख्यात का आश्रयत्व में शक्तिभ्रमस्थल में एक ही जैसा शाब्द बोध स्वीकार किया जाता है। आश्रयताप्रकारकशाब्दबोधवादी के मत में उक्त दोनों स्थलों में आश्रयताप्रकारकशाब्दबोध और आश्रयतासंसर्गक शाब्दबोधवादी के मत में आश्रयतासंसर्गक शाब्दबोध ही स्वीकार किया जाता है। इसलिए उपर्युक्त गौरव का संसर्गवादी के मत में आपादन नहीं किया जा सकता है। यदि ऐसा कहें तो?

**सत्यम् - एतदभिप्रायेणैव 'जानाति' इत्यादावाख्यातस्य निरर्थकतां मणिकार उरीचकार। तत्राश्रयत्वे निरूढलक्षणामभ्युपगच्छतां दीधितिकाराणां पुनरेष आशयः- यत्र ज्ञाधातोर्ज्ञानाश्रयत्वे शक्तिभ्रमः स्वारसिकलक्षणाग्रहो वा तत्र चैत्राद्यंशे धात्वर्थैकदेशस्य ज्ञानादेरन्वयानुपपत्त्या स्वरूपसम्बन्धेन ज्ञानाश्रयताप्रकारकचैत्रादिविशेष्यकान्वयबोध एव तत्र मणिकृता स्वीकरणीयः। तथा च तत्र ज्ञानाश्रयताप्रकारकशाब्दबोधे तत्प्रकारकयोग्यता ज्ञानहेतुतायाः क्लृप्तत्वादाश्रयतासंसर्गकशाब्दबोधे तादृशयोग्यताज्ञान हेतुताकल्पनमधिकमेव मणिकृन्मते।**

सत्य है, इसी अभिप्राय से ही '**जानाति**' इत्यादिस्थलों में चिन्तामणिकार ने आख्यात की निरर्थकता को स्वीकार किया है। '**जानाति**' इत्यादिस्थलों में आश्रत्व में निरूढलक्षणा स्वीकार करने वाले दीधितिकार का तो आशय यह है- जहाँ पर ज्ञा धातु का ज्ञानाश्रयत्व में शक्तिभ्रम हो गया या स्वारसिकलक्षणाग्रह हो गया वहाँ पर चैत्रादि अंश में धात्वर्थ के एकदेश ज्ञानादि के अन्वय की अनुपपत्ति होने से स्वरूपसम्बन्ध से ज्ञानाश्रयताप्रकारक चैत्रादिविशेष्यक अन्वयबोध ही मणिकार को स्वीकारना पड़ेगा। इस प्रकार वहाँ पर ज्ञानाश्रयताप्रकारक शाब्दबोध में ज्ञानाश्रयताप्रकारक योग्यताज्ञान की कारणता के स्वीकृत

होने के कारण आश्रयतासंसर्गक शाब्दबोध में आश्रयतासंसर्गक योग्यताज्ञान के कारणता की कल्पना मणिकार के मत में ज्यादा करनी पडेगी।

यहाँ पर यह स्मरणीय है कि ग्रन्थकार चिन्तामणिकार को आश्रयतासंसर्गकशाब्दबोधवादी और दीधितिकार को आश्रयताप्रकारक शाब्दबोधवादी बतला रहे हैं। मणिकार ने **'जानाति'** इत्यादिस्थलों में आख्यात की निरर्थकता स्वीकारी है। दीधितिकार ने आश्रयत्व में आख्यात की निरूढलक्षणा इन स्थलों में स्वीकार की है। इस प्रकार आश्रयतासंसर्गक शाब्दबोधवादी मणिकार के ऊपर दीधितिकार का कहना है कि ज्ञाधातु का ज्ञानाश्रयत्व में शक्तिभ्रम या स्वारसिक लक्षणाग्रह हो जाने पर ज्ञान का चैत्रादि में आश्रयतासंसर्ग से अन्वय नहीं हो सकता है क्योंकि ज्ञानपदार्थ न होकर पदार्थैकदेश होगा और नियम है कि 'पदार्थ पदार्थ से ही अन्वित होता है पदार्थैकदेश से नहीं'। इस कारण ज्ञानाश्रयताप्रकारक चैत्रादिविशेष्यक शाब्दबोध संसर्गवादी को भी स्वीकारना ही पड़ेगा। ऐसी परिस्थिति में प्रकारतावादी को केवल एक ही योग्यता ज्ञान की कारणता स्वीकारनी पड़ेगी क्योंकि सामान्यतः भी वह आश्रयताप्रकारक ही शाब्दबोध स्वीकारता है। संसर्गतावादी को एक ज्यादा योग्यताज्ञान की कारणता स्वीकारनी पड़ेही क्योंकि सामान्यतः आश्रयतासंसर्गक शाब्दबोध वह स्वीकारता है और यहाँ पर आश्रयताप्रकारक शाब्दबोध स्वीकारना पड़ेगा यही मणिकार के मत में गौरव है।

**न च दीधितिकृन्मते तादृशयोग्यताज्ञानहेतुत्वाकल्पनलाघवेऽपि 'जानाति इत्यादावानुपूर्वीज्ञानघटितज्ञाधातुशक्तिज्ञानजन्यज्ञानोपस्थितिशाब्दसामग्र्या भिन्नविषयकप्रत्यक्षं प्रति प्रतिबन्धकतायामाख्यातजन्याश्रयत्वोपस्थिते-र्निवेशस्याधिक्याद् गौरवमिति वाच्यम्, भवन्मतेऽपि 'ज्ञानाश्रयत्वाभाववांश्चैत्रः सुन्दरः' इत्यादिविशिष्टवैशिष्ट्यावगाहिप्रत्यक्षे 'जानाति चैत्रः' इत्याद्यानुपूर्वीज्ञान घटितज्ञाधातुजन्यज्ञानोपस्थितिघटितसामग्र्याः प्रतिबन्धकताधिक्येन गौरवात्। मन्मते च तादृशसामग्र्या विरोधिज्ञानाश्रयत्वाभाववत्तानिश्चयघटिततया तथाविधविशिष्टवैशिष्ट्यबोधसामग्र्या समं युगपदवस्थानासम्भवेन तादृशप्रतिबन्धकत्वकल्पनाविरहादित्यधिकं दर्शितदिशावसेयम्।**

पूर्व ग्रन्थ के द्वारा संसर्गतावादी मणिकार के मत में गौरव का प्रदर्शन किया गया। इस ग्रन्थ के द्वारा दीधितिकार के मत में गौरव की आपत्ति दिखाकर गौरव का निराश किया जा रहा है कि- दीधितिकार के मत में यद्यपि आश्रयतासम्बन्ध से ज्ञानप्रकारक चैत्रादिविशेष्यक योग्यता ज्ञान की शाब्दबोध के प्रति हेतुता नहीं स्वीकारनी पड़ती है। इस प्रकार लाघव होने के बावज़ूद भी **'जानाति'** इत्यादिस्थलों में आनुपूर्वीज्ञान से घटित ज्ञाधातुशक्ति ज्ञान से जन्य ज्ञानोपस्थिति से घटित शाब्दसामग्री की भिन्नविषयकप्रत्यक्ष के प्रति जो प्रतिबन्धकता स्वीकार करेंगे, उस प्रतिबन्धकता में आख्यात जन्य आश्रयत्व की उपस्थिति का भी निवेश करना पड़ेगा, अतः गौरव होगा। अभिप्राय यह है कि भिन्नविषयकप्रत्यक्ष के प्रति शाब्द सामग्री प्रतिबन्धक होती है, इस कारण **'जानाति'** इस वाक्य से जन्य शाब्दबोध ज्ञानाश्रयताप्रकारक चैत्रादिविशेष्यक शाब्दबोध की सामग्री को भी भिन्नविषयक प्रत्यक्ष के प्रति प्रतिबन्धक मानना होगा। प्रकारतावादी के मत में आश्रयत्व की उपस्थिति भी सामग्री

के अन्तर्गत है । अतः उसका भी निवेश शाब्दसामग्री के अन्तर्गत करना पड़ेगा। संसर्गतावादी के मत में आश्रयता का सम्बन्धविधया भान होने के कारण उसकी उपस्थिति शाब्द सामग्री के अन्तर्गत नहीं है। इस प्रकार आश्रयत्व का भी प्रतिबन्धकता की कोटि में निवेश करने से प्रकारतावादी दीधितिकार के मत में गौरव है।

यदि ऐसा कहें तो नहीं कहना चाहिए क्योंकि आपके मत में भी '**ज्ञानाश्रयत्वाभाववांश्चैत्रः सुन्दरः**' इत्यादिविशिष्टवैशिष्ट्यावगाही प्रत्यक्ष में '**जानाति चैत्रः**' इत्यादि आनुपूर्वी ज्ञान से घटित ज्ञाधातु से जन्य ज्ञानोपस्थिति से घटित सामग्री की प्रतिबन्धकता ज़्यादा स्वीकारने से गौरव होता है। अभिप्राय यह है कि '**ज्ञानाश्रयत्वाभाववांश्चैत्रः सुन्दरः**' यह जो ज्ञानाश्रयत्वाभावविशिष्ट चैत्र में सुन्दरत्व के वैशिष्ट्य का अवगाहन करने वाला प्रत्यक्ष है उसके प्रति '**जानाति चैत्रः**' इत्याद्यानुपूर्वीज्ञान से घटित ज्ञाधातु से जन्य ज्ञानोपस्थिति से घटित शाब्दसामग्री की प्रतिबन्धकता स्वीकारनी पड़ेगी क्योंकि इस वाक्य से जन्य शाब्दबोध '**आश्रयतासम्बन्धेन ज्ञानप्रकारक चैत्रविशेष्यक शाब्दबोध**' है। प्रत्यक्ष का विषय ज्ञानाश्रयत्वाभाव है। इस प्रकार शाब्दबोध और विशिष्टवैशिष्ट्यावगाही प्रत्यक्ष का भिन्न विषयकत्व स्पष्ट है। इस कारण आश्रयतासंसर्गक ज्ञानप्रकारकचैत्रादिविशेष्यक शाब्दबोध सामग्री की उक्त विशिष्टवैशिष्ट्यावगाही प्रत्यक्ष के प्रति प्रतिबन्धकता स्वीकार करनी पड़ेगी अतः गौरव है।

हमारे मत में (प्रकारतावादी के मत में) तो विशिष्टवैशिष्ट्यावगाहिप्रत्यक्षसामग्री के '**जानाति चैत्रः**' इस वाक्य से जन्य ज्ञानाश्रयत्वप्रकारक चैत्रविशेष्यक शाब्दबोध की सामग्री के प्रति विरोधी ज्ञानाश्रयत्वा भाववत्तानिश्चय से घटित होने के कारण उक्त प्रत्यक्ष सामग्री और शाब्दसामग्री का इकट्ठा अवस्थान असम्भव होने के कारण प्रत्यक्ष के प्रति शाब्द सामग्री की प्रतिबन्धकता की कल्पना करने की आवश्यकता नहीं है। अभिप्राय यह है कि प्रकारतावादी के मत में प्रत्यक्ष का विषय ज्ञानाश्रयत्वाभाव और शाब्दबोध का विषय ज्ञानाश्रयत्व हो रहा है। इस कारण प्रत्यक्ष और शाब्दबोध की सामग्रियाँ परस्पर विरोधी भाव और अभाव से घटित हैं। इसलिए दोनों सामग्री एकक्षण में अवस्थित ही नहीं हो सकती है। यदि दोनों की सामग्रियाँ एक समय में उपस्थित हों तो अगले क्षण में शाब्दबोध और प्रत्यक्ष दोनों की उपस्थितियाँ सम्भव न होने के कारण किसी सामग्री को किसी दूसरे के प्रति प्रतिबन्धक माना जाये किंतु यहाँ पर तो ऐसी स्थिति ही नहीं हैं । अतः किसी भी सामग्री को दूसरे के प्रति प्रतिबन्धक नहीं मानना पड़ेगा। इसलिए इस मत में ही लाघव है।

**अथैवं रीत्या 'भूतले न घटः' इत्यादौ घटादिपदस्य घटप्रतियोगिकादौ तदुत्तरसुब्विभक्तेरेव वा प्रतियोगितायां लक्षणामभ्युपेत्य तत्र 'घटप्रतियोगिकाभावो भूतलवृत्तिः' इत्याद्याकारकप्रतियोगिताप्रकारकशाब्दबोधोपगम एव समुचितः तथा सति तथाविधसमभिव्याहारज्ञानघटितसामग्र्याः 'घटप्रतियोगिकत्वाभाववानभावः प्रमेयः' इत्यादि विशिष्टवैशिष्ट्यबोधं प्रति प्रतिबन्धकत्वाकल्पनेन लाघवादित्युक्तनियमे निपातातिरिक्तत्वविशेषणवैयर्थ्यमिति चेत्?**

उपर्युक्त ग्रन्थ के द्वारा आश्रयतासंसर्गक शाब्दबोध स्वीकार किया जाये या आश्रयता प्रकारक इसमें लाघव को निर्णायक मानते हुए आश्रयताप्रकारक शाब्दबोध को ही स्वीकार किया गया। उस पर प्रकारान्तर से आरोप लगाते हुए पूर्वपक्षी कहता है कि- इस प्रकार से तो (लाघव को ही निर्णायक मानने की स्थिति में) '**भूतले न घटः**' इत्यादिस्थलों में घटादि पद की ही घट प्रतियोगिकादि में अथवा घटपदोत्तर सुब्विभक्ति की प्रतियोगिता में लक्षणा स्वीकार करके वहाँ पर भी '**घटप्रतियोगिकाभावो भूतलवृत्तिः**' इत्याद्याकारक शाब्द बोध का स्वीकार ही उचित है। (घटपद की घटप्रतियोगिक में लक्षणा करने पर घट पदार्थ हुआ घट प्रतियोगिक रूप अर्थ उसका नञर्थ अभाव के साथ अभेदान्वय करते हुए सप्तम्यन्तभूतलपद का भूतलवृत्तित्व अर्थ करते हुए '**घटप्रतियोगिकाभावो भूतलवृत्तिः**' ऐसा शाब्दबोध होगा । घटपदोत्तर सुब्विभक्ति की लक्षणा प्रतियोगिता में करें तो घटपद का घट ही अर्थ होगा उस घट का आधेयतासम्बन्ध से विभक्त्यर्थ प्रतियोगिता में प्रतियोगिता का निरूपकत्वसम्बन्ध से नञर्थ अभाव में अन्वय होगा। इस प्रकार '**घटनिष्ठप्रतियोगिता निरूपकाभावो भूतलवृत्तिः**' ऐसा शाब्दबोध होगा।) ऐसा होने पर '**भूतले न घटः**' इत्याकारकसमभिव्याहार से घटित शाब्दसामग्री की '**घटप्रतियोगिकत्वाभाववानभावः प्रमेयः**' इत्यादि विशिष्टवैशिष्ट्यावगाही (घटप्रतियोगिकत्वाभावविशिष्ट अभाव में प्रमेयत्व के वैंशिष्टय का अवगाहन करने वाले) प्रत्यक्ष के प्रति प्रतिबन्धकता की कल्पना नहीं करने से लाघव होगा, इसलिए '**निपातातिरिक्तनामार्थयोः अभेदातिरिक्तसम्बन्धेनान्वय-बोधोऽव्युत्पन्नः**' इस नियम में निपातातिरिक्तत्व विशेषण का वैयर्थ्य है।

अभिप्राय यह है कि उक्त नियम में निपातातिरिक्तत्व विशेषण का प्रयोजन है निपातार्थ और निपातातिरिक्त नामार्थ का भेदान्वयबोध। यदि जहाँ पर भेदान्वयबोध स्वीकारा जाता है, वहाँ पर अभेदान्वयबोध स्वीकारा जा सके तो भेदान्वयबोध का प्रतिपादन व्यर्थ होगा। दूसरी बाद यह है कि निपातातिरिक्त नामार्थों का अभेदान्वयबोध और निपातार्थ निपातातिरिक्तनामार्थ का भेदान्य बोध इस वैषम्य में गौरव भी है। निपातार्थ और निपातातिरिक्त नामार्थ का अभेदान्वय बोध कैसे स्वीकारा जा सकता है इसका उपपादन ऊपर किया जा चुका है। नञर्थ रूप निपातार्थ व घटार्थ रूप नामार्थ का अभेदान्वयबोध लक्षणा का स्वीकार करते हुए उपपादित किया जा चुका है।इस प्रकार निपातारिक्तत्वविशेषण व्यर्थ है।

प्राचीन जैसा शाब्दबोध स्वीकारते हैं वैसा शाब्दबोध स्वीकारने में तो गौरव है। प्राचीनों के मत में प्रतियोगिता प्रकारविधया नहीं भासती है बल्कि सम्बन्ध विधया भासती है। '**भूतले न घटः**' इस वाक्य से '**प्रतियोगितासम्बन्धेन घटवानभावो भूतलवृत्तिः**' ऐसा शाब्दबोध स्वीकारते है। '**घटप्रतियोगिकत्वाभाववानभावः प्रमेयः**' इस विशिष्ट वैशिष्ट्यावगाही प्रत्यक्ष में अभाव में घट प्रतियोगिकत्वाभाव प्रकार बन रहा है घटाभाव नही, इसलिए शाब्दबोध और प्रत्यक्ष का कोई विरोध नहीं है। विरोध न होने के कारण इस प्रत्यक्ष की व इस शाब्दबोध की सामग्री एक ही समय में उपस्थित हो सकती है तथा प्रत्यक्ष के भिन्न विषयक होने के कारण उसी के प्रति शाब्दसामग्री की प्रतिबन्धकता स्वीकारनी पड़ती है। अतः गौरव होगा।

लक्षणा इत्यादि करके जैसा शाब्दबोध हम स्वीकारते है जो कि इस ग्रन्थ से आक्षिप्त किया गया है, उसमें '**भूतले न घटः**' में '**घटप्रतियोगिकाभावो भूतलवृत्तिः**' ऐसा

शाब्दबोध स्वीकारा जाता है। उसमें घटप्रतियोगिकत्व प्रकार है। '**घटप्रतियोगिकत्वाभाववान भावः प्रमेयः**' इस प्रत्यक्ष में अभाव में घट प्रतियोगिकत्वाभाव प्रकार है, इस प्रकार परस्पर शाब्दबोध व प्रत्यक्ष का विरोध प्राप्त है। इसलिए शाब्दबोध व प्रत्यक्ष की सामग्री एक समय में उपलब्ध होनी सम्भव नहीं है। अतः शाब्दसामग्री की प्रत्यक्ष के प्रति प्रतिबन्धकता नही स्वीकारनी पड़ेगी। इसलिए प्राचीनों के अनुसार शाब्दबोध न स्वीकार करके ऐसा ही स्वीकारना चाहिए। ऐसा शाब्दबोध स्वीकारने पर उपदर्शित रीति से निपातातिरिक्तत्व विशेषण की व्यर्थता है?

**न, 'भूतले न घटः' इत्यादौ घटाद्यभावे भूतलाद्यन्वितसप्तम्यर्थाधेयत्वस्येव तात्पर्यवशाद् घटादौ सप्तम्यन्तार्थभूतलादिवृत्तित्वाभावस्यान्वयबोधोऽप्यनुभवसिद्धः, अन्यथा- तादृशवाक्यजन्यस्याप्रामाण्यज्ञानानास्कन्दितबोधस्य 'भूतले घटः' इत्यादिवाक्यजन्यघटादिविशेष्यकभूतलाद्याधेयत्वप्रकारकबोधविरोधितायाः सर्वानुभवसिद्धया अनुपपत्तेः। नञ्पदं विना यत्र धर्मिणि यस्य विशेषणतया भानं यादृशसमभिव्याहाराद् भवति तादृशसमभिव्याहारस्थले नञ् सत्त्वे तत्र धर्मिणि तदभावः प्रतीयत इत्यनुभवापलापप्रसङ्गाच्च। एवं च नञर्थाभावेऽनुयोगितया घटाद्यन्वयबोधोपपत्तये निपातातिरिक्तत्वविशेषणमावश्यकम्।**

निपातातिरिक्त विशेषण की व्यर्थता के विषय में जो आरोप अभी लगाया गया, उसका खण्डन करते हुए निपातातिरिक्तविशेषण की सार्थकता बतला रहे हैं कि- नहीं अर्थात् उक्त विशेषण व्यर्थ नहीं है। क्योंकि '**भूतले न घटः**' यहाँ पर घटाद्यभाव में भूतलादि से अन्वित सम्यर्थ आधेयत्व के अन्वयबोध की तरह ही तात्पर्यवशात् घटादि में सप्तम्यन्तार्थ भूतलादिवृत्तित्व के अभाव का अन्वयबोध भी अनुभवसिद्ध है। अर्थात् जैसे '**घटाभावो भूतलवृत्तिः**' ऐसा शाब्दबोध होता है वैसे ही '**घटो भूतलवृत्तित्वाभाववान्**' ऐसा बोध भी '**भूतले न घटः**' इस वाक्य से हुआ करता है क्योंकि ऐसा भी तात्पर्य तथा अनुभव है। अन्यथा (यदि घट में भूतलवृत्तित्वाभाव का अवगाहन करने वाला शाब्दबोध नहीं स्वीकारते हैं तो) '**भूतले न घटः**' इस वाक्य से जन्य अप्रामाण्यज्ञान से अनास्कन्दित बोध की '**भूतले घटः**' इस वाक्य से जन्य घटादिविशेष्यकभूतलवृत्तित्वप्रकारक '**घटो भूतलवृत्तिः**' ऐसे शाब्दबोध के प्रति विरोधिता जो कि सर्वजनानुभवसिद्ध है, की अनुपपत्ति होगी। अभिप्राय यह है कि '**भूतले न घटः**' से आप शाब्दबोध स्वीकार कर रहे हैं '**घटप्रतियोगिकाभावो भूतलवृत्तिः**' तथा '**भूतले घटः**' से बोध हो रहा है '**घटो भूतलवृत्तिः**'। नञ्रहित वाक्य से जो शाब्दबोध हो रहा है नञ् घटित वाक्य से जन्य शाब्दबोध के द्वारा उसका अभाव नहीं विषय किया जा रहा है। इसलिए नञ् रहित '**भूतले घटः**' इस वाक्य से जन्य बोध के प्रति '**भूतले न घटः**' इस वाक्य से जन्य शाब्दबोध की विरोधिता है जो कि सर्वानुभवसिद्ध है, का उपपादन सम्भव नहीं हो सकेगा, उसका अपलाप हो जायेगा। नञ् पद के बिना जिस धर्म में जिसका विशेषणतया भान जैसे समभिव्याहार से होता है, वैसे समभिव्याहार के स्थल में नञ् के रहने पर उसी धर्मी में

विशेषणतया भासने वाले का अभाव भासता है इस अनुभव का भी अपलाप होने लगेगा। क्योंकि नञ् के न रहने पर '**भूतले घटः**' इस वाक्य से घट में भूतलवृत्तित्व विशेषणतया भासित होता है और नञ् सहित इसी वाक्य से आप घटप्रतियोगिकाभावरूप धर्मी में भूतलवृत्तित्व का भान स्वीकार कर रहे हैं। जबकि घट में भूतलवृत्तित्व का अभाव भासित होना चाहिए। इस प्रकार नञर्थ अभाव में घट का अनुयोगितया अन्वय कर अन्वयबोध की उपपत्ति के लिए निपातातिरिक्तत्व विशेषण आवश्यक है। अर्थात् '**घटो भूतलवृत्तित्वाभाववान्** इस प्रकार के अन्वयबोध के लिए (जो कि आवश्यक है) निपातातिरिक्तत्व विशेषण देना ही पड़ेगा क्योंकि यहाँ पर घटरूपनामार्थ में नञर्थ अभाव का अनुयोगिता सम्बन्ध से अन्वय स्वीकार किया जाता है। अनुयोगिता तो अभेदातिरिक्त सम्बन्ध ही है।

**एवं 'न पचति चैत्रः' 'चैत्रस्य न धनम्' इत्यादौ पाककृतिचैत्रस्वत्वाद्यभावस्य नञर्थस्य चैत्रधनादावन्वयबोधोपपत्तये च तदावश्यकम्।**

इसी प्रकार '**न पचति चैत्रः**' यहाँ पर नञर्थ पाककृत्यभाव का चैत्र में अन्वयबोध के लिए और '**चैत्रस्य न धनम्**' इत्यादि स्थलों में चैत्रस्वत्वाभाव रूप नञर्थ के धन में अन्वयबोध की उपपत्ति के लिए निपातातिरिक्तत्व विशेषण आवश्यक है। आशय यह है कि यदि निपातातिरिक्तत्वविशेषण नहीं देंगे तो नियम होगा '**नामार्थों का अभेदातिरिक्तसम्बन्ध से अन्वयबोध अव्युत्पन्न है**' ऐसी स्थिति में '**न पचति चैत्रः**' और '**चैत्रस्य न धनम्**' में क्रमशः पाककृत्यभाव और चैत्रस्वत्वाभावरूप नञर्थ (नामार्थ) का चैत्र व धन रूप नामार्थ में अन्वय नहीं हो सकेगा क्योंकि यहाँ पर इन अभावों का चैत्र धनादि में विशेष्यत्व रूप भेद सम्बन्ध से ही अन्वय होता है।

**न चोक्तस्थलेषु नञोऽभाववल्लाक्षणिकतयाऽभाववता सममनुयोगिनोऽभेदान्वयबोध एव तत्रोपेयते इति वाच्यम्, तथा सति सर्वत्राभाववत एव नञर्थतया मुख्यार्थपरनञो दुर्लभत्वापत्तेः। अभावस्य भेदान्वयोपगमेऽपि कार्यकारणभावकल्पनाधिक्यविरहेणाभाववति लक्षणानौचित्यात्। अभाववतोऽभेदान्वयबोधान्वयबोधोपगमे 'भूतले घटः' इत्यादिवाक्येजन्य बोधे 'भूतले न घटः' इत्यादिवाक्यजन्यबोधस्याविरोधितापत्तेश्च लाघवात् स्वरूपसम्बन्धेन ग्राह्याभावनिश्चयस्यैव विशिष्टबुद्धिविरोधित्वात्, नत्वभेदसंसर्गकग्राह्याभावाश्रयप्रकारकनिश्चयस्येति। 'नीलो घटः' इत्यादौ विशेषणविभक्तेरभेदार्थकत्वमतेऽपि यद्यप्युक्तरीत्या लाघवं सम्भवति तथापि तत्रापि न नो विद्वेष इति दिक्।**

अभी '**न पचति चैत्रः**' और '**चैत्रस्य न धनम्**' में भेदान्वयबोध की उपपत्ति के लिए भी निपातातिरिक्तत्व विशेषण की सार्थकता बतलायी क्योंकि यहाँ पर अभेदान्वय बोध सम्भव नहीं है। '**नच**' इस ग्रन्थ के द्वारा यह आक्षेप कर रहे हैं कि- इन दोनों स्थलों मे भी (इन जैसे समस्त स्थलों में) नञ् को अभाववत् में लाक्षणिक मान कर अभाववत् के साथ अनुयोगी का अभेदान्वय बोध ही स्वीकारते हैं यदि ऐसा कहना चाहो? अर्थात् इन स्थलों में पाककृत्यभाववत् और चैत्रस्वत्वाभाववत् में नञ् की लक्षणा करते हुए चैत्र और धन के साथ क्रमशः अभेदान्वयबोध उपपादित हो सकता है, यदि ऐसा कहो? (खण्डन

करते हैं '**तथा सति**' से) तो नहीं कह सकते हैं क्योंकि ऐसी स्थिति में तो हर जगह अभाववत् को ही नञर्थ मान सकते हैं, फिर मुख्यार्थ (अभाव) परक नञ् ही दुर्लभ हो जायेगा। दूसरी बात यह है कि- अभाव का भेदान्वय स्वीकारने पर भी कार्यकारणभाव कल्पना में तो कोई गौरव या अधिकता है नहीं इसलिए नञ् के मुख्यार्थ को छोडकर नञ् की अभाववत् में लक्षणा अनुचित है। इसके अलावा- अभाववत् का यदि अभेदान्वय बोध स्वीकारते हैं तो '**भूतले घटः**' इस वाक्य से जन्य बोध में '**भूतले न घटः**' इस वाक्य से जन्य बोध के अविरोधिता की आपत्ति है। क्योंकि स्वरूपसम्बन्ध से ग्राह्याभावनिश्चय की ही विशिष्ट बुद्धि के प्रति विरोधिता स्वीकारने में लाघव है, अभेदसंसर्गक ग्राह्याभावाश्रय प्रकारक निश्चय क़ी विरोधिता स्वीकारने में तो लाघव है नहीं। अभिप्राय यह है कि '**भूतले न घटः**' से '**घटो भूतलवृत्तित्वाभाववदभिन्नः**' ऐसा ही शाब्दबोध होगा नञ् की अभाववत् में लक्षणा करके। '**भूतले घटः**' से '**भूतलवृत्तिर्घटः**' ऐसा बोध होगा। नञ् रहित वाक्य से जो ग्राह्य हो रहा है उसके अभाव का निश्चय ही निरोधी होगा। नञ् रहित वाक्य से घट में भूतलवृत्तित्व ग्राह्य हो रहा है तो भूतलवृत्तित्वाभावनिश्चय से ही इसका विरोध हो सकता है। नञ् सहित वाक्य के द्वारा तो भूतलवृत्तित्वाभाव निश्चय हो नहीं रहा है बल्कि भूतलवृत्तित्वाभाववदभिन्नत्व निश्चय हो रहा है। इसलिए विरोधिता सम्भव न होगी[1]। '**नीलो घटः**' इत्यादि स्थलों में विशेषणविभक्ति को अभेदार्थक मानने के मत में भी यद्यपि उक्तरीति से लाघव हो सकता है, तथापि वैसा स्वीकारने में भी हमें कोई विद्वेष नहीं है। उक्तरीति से कहना यह है कि '**नीलाभेदाभाववान् घटः प्रमेयः**' इस प्रत्यक्ष के प्रति भिन्नविषयकतया '**नीलो घटः**' इस वाक्य जन्य शाब्दसामग्री को प्रतिबन्धक नहीं मानना पड़ेगा, अतः लाघव होगा। '**नीलो घटः**' से अभेदसंसर्गक बोध मानने पर उक्त प्रत्यक्ष से यह भिन्नविषयक होगा क्योंकि शाब्दबोध में नील अभेदसंसर्ग से घट में भास रहा है। प्रत्यक्ष से कोई विरोध न होने से करना यही पड़ेगा कि शाब्दसामग्री को प्रत्यक्ष के प्रति प्रतिबन्धक मानें। जब '**नीलो घटः**' में विशेषण विभक्ति को अभेदार्थक मान कर '**नीलाभेदवान् घटः**' शाब्दबोध स्वीकारेंगे तो इस शाब्दबोध के प्रति '**नीलाभेदाभाववान्**' बाध होगा जो कि उक्त प्रत्यक्ष के प्रति विशेष्यतावच्छेदक प्रकारक निर्णय होने से कारण है। इस बाध का अभाव शाब्दबोध में योग्यतारूप कारण है। इस प्रकार शाब्द और प्रत्यक्ष की सामग्री परस्पर अभाव से घटित हैं, अतः दोनों की सामग्री एक काल में उपस्थित नहीं हो सकती है। इसलिए किसी को किसी के प्रतिप्रतिबन्धक मानने की ज़रूरत नहीं है। अतः लाघव होगा तो क्यों न विशेषणविभक्ति को अभेदार्थक मान लिया जाये? तो सिद्धान्ती का कहना है, ठीक है मान लो मुझे कोई आपत्ति नहीं है।

**—इति नामार्थान्वयबोधविवरणम्–**

## अथ प्रत्ययविचारारम्भः

**प्रत्ययाश्च विभक्तिकृत्तद्धितादिभेदेन नानाविधाः। विभक्तिश्च सुप्तिङ् भेदेन द्विविधा। सुब्विभक्तयः प्रथमाद्वितीयादयः सप्त। तत्र प्रथमार्थः प्रकृत्यर्थे**

---

1. अभिप्राय यह है कि तद्वत्ता बुद्धि के प्रति तदभाववत्तानिश्चय (तदभावप्रकारक निश्चय) विरोधी होता है, घट में भूतल वृत्तित्वप्रकारक बोध के प्रति भूतलवृत्तित्वाभावप्रकारक बोध विरोधी हो सकता है। नञ्घटितवाक्य से भूतलवृत्तित्वा भावप्रकारक बोध न होकर भूतलवृत्तित्वाभाववदभिन्नत्व प्रकारक बोध हो रहा है वह विरोधी नहीं हो सकता ।

**विशेषणविधयान्वयिनी संख्यैव। अत एव यत्र विशेष्यवाचकसमानविभक्तिक पदं निपातपदं वा नास्ति तत्र प्रथमान्तार्थस्य विशेष्यभासकसामग्र्यभावादसौ मुख्यविशेष्यतयैव भासते। संख्यावाचकानां चैकवचनद्विवचनबहुवचनाना-मेकत्वत्वद्वित्वत्वबहुत्वत्वावच्छिन्नेषु शक्तिः। शक्तता च सुत्वौत्वजस्त्वादिना, न तु स्वादितिबादिसाधारणैकवचनत्वादिना- एकवचनत्वादेर्दुर्वचत्वात्। न चैकत्वादिवाचकत्वं तत् वाचकतायाः शक्ततारूपत्वे आत्माश्रयप्रसङ्गात् बोधकतारूपत्वे शक्तिभ्रमेण द्विवचनादीनामप्येकत्वबोधकतयाऽतिप्र-सक्तत्वात्। न चैकवचनत्वादिकं जातिविशेषः सुत्वादिना साङ्कर्यात्।**

प्रत्यय विभक्ति, कृत्, तद्धितादि भेदों से नानाविध हैं। उसमें विभक्ति सुप् और तिङ् के भेद से दो प्रकार की है। सुप् विभक्तियाँ प्रथमा द्वितीयादि सात हैं। उसमें प्रथमा का अर्थ प्रकृत्यर्थ में विशेषणविधया अन्वित होने वाली संख्या ही है। इसीलिए जहाँ पर विशेष्यवाचक पद का समानविभक्तिक दूसरा पद या निपात पद नहीं होता है, वहाँ पर प्रथमान्त के अर्थ का विशेष्यभासकसामग्री न होने के कारण यह प्रथमान्तार्थ मुख्यविशेष्य बनकर ही भासता है । अभिप्राय यह है कि जहाँ पर विशेष्य पद का समानविभक्तिक पद हुआ करता है, वहाँ पर तो विशेष्यवाचक पदोत्तर विभक्ति की अर्थभूता संख्या विशेष्य की विशेषण बन कर भासती है और विशेष्य भी किसी का विशेषण बन जाता है। जहाँ पर विशेष्यवाचक समानविभक्तिक पद नहीं होता है, वहाँ पर विशेष्यभासक सामग्री के (विशेष्यवाचक पद समानविभक्तिक पद ही विशेष्य भासक सामग्री होती है उसके) न रहने के कारण विशेष्यवाचक पदोत्तर विभक्ति की अर्थ भूत संख्या मात्र विशेषण बनकर भासती है। जैसे '**घटः**' यहाँ पर '**घट एकत्ववान्**' ऐसा ही बोध होता है। संख्यावाचक एकवचन, द्विवचन, बहुवचन का एकत्वत्व, द्वित्वत्व, बहुत्वत्व से अवच्छिन्न में क्रमशः शक्ति है। शक्तता भी सुत्व, औत्व, जस्त्वादि रूप से है एकवचनत्वादिना नहीं एकवचनत्व के स्वादि और तिबादि में साधारण होने के कारण तथा एकवचन त्वादि के दुर्वच होने के कारण। आशय यह है कि '**एकवचनं एकत्वत्वावच्छिन्ने शक्तम्**' '**द्विवचनं द्वित्वत्वावच्छिन्ने शक्तम्**' इत्यादि रूप से स्वादितिबादिसाधारण एकवचनत्वादिना एकत्वत्वावच्छिन्न, द्वित्वत्वावच्छिन्न में शक्ति नही स्वीकारते हैं क्योंकि एकवचनत्वादि का निर्वचन अत्यन्त कठिन है। एकवचनत्वादि क्या हैं? यह बतलाना सरल नहीं है। यदि कहो कि '**एकत्वादिवाचकत्वम् एकवचनत्वादिकम्**' तो वाचकता के शक्तता रूप होने के कारण आत्माश्रय हो जायेगा क्योंकि शक्तता के निरूपण के लिए एकवचन, द्विवचनादि का निवेश कर रहे हैं तथा एकवचनादि के निर्वचन के लिए वाचकतारूप शक्तत्व का निवेश कर रहे हैं। यदि उक्त परिष्कार में वाचकता को बोधकता रूप मानें तो शक्ति भ्रम से द्विवचनादि के भी एकत्वादि का बोधक होने के कारण अतिप्रसक्ति होगी। क्योंकि द्विवचन में भी एकत्व बोधकत्व रहेगा। अतः द्विवचन में एकवचन का लक्षण अतिव्याप्त होगा। एकवचनत्वादि को जाति विशेष नहीं मान सकते हैं क्योंकि सुत्वादि धर्म से साङ्कर्य हो जायेगा। क्योंकि सुरभि आदि पद घटक सु में सुत्व तो है परन्तु एकवचनत्व नहीं है, अम्

आदि में एकवचनत्व है सुत्व नहीं है किंतु सुरूपप्रथमा के एकवचन में एकवचनत्व और सुत्व दोनों का ही समावेश है। अतः एकवचन नत्वादि जाति विशेष तो हो नहीं सकते ।

**विशेष–** यहाँ पर **'सुप्त्वादिना सांकर्यात्'** ऐसा पाठ भी मिलता है। इस, पाठ में सुप्त्व बहुवचनादि में है वहाँ एकवचनत्व नहीं है। एकवचनत्व तिङ् के एक वचन में है किन्तु वहाँ सुप्त्व नहीं है। सु में एकवचनत्व और सुप्त्व दोनों ही मौजूद हैं। इस प्रकार परस्पर अभाव के अधिकरण में विद्यमान एकवचनत्व और सुप्त्व का सु रूप अधिकरण में एकत्र समावेश है। अतः सांकर्य इस पाठ में भी सुसङ्गत है।

**न च शक्तिसम्बन्धेनैकवचनादिपदवत्त्वं तत् तादृशाज्ञानदशायां च सुत्वादिना शक्तिभ्रमादेव शाब्दबोधः, एकवचनादिशब्दस्य पदद्वयात्मक तया तादृशसमुदायशक्तेरेवाप्रसिद्धिरिति तु नाशङ्कनीयम् - एकं वक्ती त्यादिव्युत्पत्त्या एकवचनादिशब्दस्य स्वादिबोधकत्वे एकादिशब्देऽपि तादृशव्यवहारापत्तेः, एकवचनादिशब्दस्य स्वादौ रूढिस्वीकारस्यावश्यक त्वादिति वाच्यम्, ग्रन्थकारीयसङ्केतेनैवोपपत्तावेकवचनादिपदे शक्तेर प्रामाणिकत्वात् । 'तान्येकवचनद्विवचन' इत्यादिपाणिनीयसूत्रस्य तदीय सङ्केतग्रहपरतयाप्युपपत्तेः। नहि 'यू स्त्र्याख्यौ नदी' इत्यनुशासनात् स्त्र्याख्येदूदन्तादिशब्दे नद्यादिपदस्य शक्तिः सिद्ध्यति, किंतु तदीयसङ्केत एव। अत एव नद्यादिसंज्ञाऽऽधुनिकसङ्केतशालित्वात् पारिभाषिक्येव न त्वौपाधिकी।**

पिछले ग्रन्थ के द्वारा कहा कि एकवचनत्व दुर्वच है। कुछ तरीकों से एकवचनत्व का निर्वचन करने का प्रयास भी किया, परन्तु वह खण्डित हो गया। यहाँ पर पुन निर्वचन करने का प्रयास करते हैं कि— शक्ति सम्बन्ध से एकवचनादिपदवत्त्व ही एकवचनत्व है। (इस प्रकार शक्तिसम्बन्ध से एकवचनादिपदवत्त्वादिरूप एकवचनत्वादि ही एकत्वादि निरूपित शक्तता के अवच्छेदक हो जायेंगे) शक्ति सम्बन्ध से एकवचनादि पदवत्त्व का ज्ञान न रहने की दशा में तो सुत्वादि के द्वारा शक्ति भ्रम होने से ही शाब्दबोध होता है। एकवचनादि पद के पद द्वयात्मक होने के तादृशसमुदाय शक्ति की ही अप्रसिद्धि है, ऐसी आशङ्का तो नहीं करनी चाहिए (अभिप्राय यह है कि नैयायिक पद में शक्ति स्वीकारते हैं पद समुदाय में नहीं। इसीलिए समास में नैयायिक शक्ति नहीं स्वीकारते हैं। एकवचन पद नहीं एक और वचन इन दो पदों का समुदाय है। इसलिए उक्त दोनों पदों के समुदाय में शक्ति की अप्रसिद्धि है, ऐसी आशङ्का नहीं करनी चाहिए) क्योंकि **'एकं वक्ति'** इत्यादि व्युत्पत्ति के द्वारा एकवचन शब्द को यदि सुआदि का बोधक मानोगे तो एकादि शब्दों में भी एकवचनादि शब्दों का व्यवहार होने लगेगा। अभिप्राय यह है कि एक पद भी एक का बोधन करता है, अतः **'एकं वक्ति'** ऐसी व्युत्पत्ति के आधार पर एकवचन को सु आदि का बोधक मानने पर एकपद का भी बोधक एकवचन होने लगेगा। इसलिए एकपद में भी एकवचनादि का व्यवहार होने लगेगा। इस कारण से एकवचनादि शब्दों की सु आदि में रूढि स्वीकारनी आवश्यक है अर्थात् रूढशक्ति स्वीकारनी आवश्यक है।

(खण्डन करते हैं कि—) ऐसा नहीं कहना चाहिए। ग्रन्थकारीय सङ्केत से ही उपपत्ति सम्भव होने के कारण एकवचनादिपदों में शक्ति स्वीकार अप्रामाणिक है। **'तान्येकवचनद्विवचन......' पा॰सू॰1/4/102** इत्यादि पाणिनीय सूत्र की उपपत्ति एकवचन, द्विवचनादि के संकेतग्रह परक होने से भी हो सकती है। अर्थात् उक्त सूत्र की उपपत्ति केवल शक्तिग्राहकतया ही नहीं हो सकती है कि उसके कारण एकवचनादि पदों की सु आदि में शक्ति स्वीकारी जाये, अपितु सङ्केतग्राहकतया भी उक्त सूत्र की उपपत्ति हो सकती है। अतः शक्ति स्वीकारना आवश्यक नहीं है। **'यू स्त्र्याख्यौ नदी' पा॰सू॰1/4/2** इस अनुशासन से स्त्रीसंज्ञक ईकारान्त ऊकारान्त शब्दों में नदी आदि पदों की शक्ति है ऐसा नहीं सिद्ध होता है किन्तु नदी पद का सङ्केत ही ईकारान्त, ऊकारान्त संज्ञक शब्दों में सिद्ध होता है। इसीलिए नदी आदि संज्ञा आधुनिक सङ्केत शाली होने के कारण पारिभाषिकी ही है औपाधिकी नहीं। औपाधिकी संज्ञा उसे कहते हैं जो किसी उपाधि को प्रवृत्तिनिमित्त को लेकर प्रवृत्त होती है। जैसे -घटादि में घटादिसंज्ञा घटत्वरूप प्रवृत्तिनिमित्त को लेकर प्रवृत्त होती है। नदी संज्ञा ऐसी नहीं है, यह एकवचनादि संज्ञा भी ऐसी नहीं है। इसीप्रकार प्रकृत स्थल में भी स्वादि में एक वचनादिपद पारिभाषिक ही हैं शाक्त नहीं।

**अथैवमपि पाणिनिसङ्केतसम्बन्धेन तादृशपदवत्त्वमेवैकत्वादिशक्ततावच्छेदकमस्त्विति चेत्? न, तादृशसङ्केतस्य केन रूपेण सम्बन्धता? सङ्केतत्वेनेति चेत् ? तर्हि कस्यचित् पुंस एकवचनपदात् स्वौजसादिर्बोद्धव्य इत्याकारकसङ्केतस्यापि सम्भवादतिप्रसक्तिर्दुर्वारैव। पाणिनिसंकेतत्वेनेति चेत्? तर्हि व्याकरणप्रणेतुः पुरुषान्तरस्यापि तादृशसङ्केतस्य सम्भवात् तदीयसङ्केतसम्बन्धेन तत्पदवत्त्वस्य, डित्थादिपदात् स्वौजसादिर्बोद्धव्य इत्याकारकपुरुषसङ्केतसम्बन्धेन डित्थादिपदवत्त्वस्य वा विनिगमनाविरहेण शक्ततावच्छेदकताप्रसङ्गस्तथाचागत्या आनुपूर्वीविशेष एव शक्ततावच्छेदक इति।**

पूर्वग्रन्थ के द्वारा **'शक्तिसम्बन्धेन एकवचनादिपदवत्त्वम् एकवचनत्वम्'** इस प्रकार एकवचनत्वादि का निर्वचन करने का प्रयास किया व इसका यह कह कर खण्डन किया कि एकवचनादि की सु आदि में शक्ति ही नहीं है पाणिनीय सङ्केत स्वीकार करने मात्र से काम चल जायेगा। अब प्रश्न कर रहे हैं कि— ठीक है, शक्ति नहीं है। परन्तु शक्ति न होने पर भी **पाणिनिसङ्केतसम्बन्धेन एकवचनादिपदवत्त्व** को ही एकवचनत्वादिरूप मानकर एकत्वादि का शक्ततावच्छेदक मान लिया जाये? तो ऐसा नहीं हो सकता है। प्रश्न होगा उस सङ्केत की सम्बन्धता किस रूप से है? संकेतत्वेन है यदि ऐसा कहो, तो किसी पुरुष का सङ्केत ऐसा भी हो सकता है कि एकवचन पद से सु, औ, जस् आदि को समझना है, तो अतिप्रसक्ति दुर्वार ही होगी। क्योंकि ऐसी स्थिति में सङ्केतत्वेन सङ्केत सम्बन्ध से एकवचनपदवत्त्व औ, जस् आदि में भी जायेगा। यदि पाणिनीय सङ्केतत्वेन सङ्केत की सम्बन्धता है तो व्याकरण प्रणेता पुरुषान्तर का भी तादृशसंकेत सम्भव होने के कारण उस व्याकरण प्रणेता पुरुषान्तर के संकेत सम्बन्ध से एकवचनादिपदवत्त्व या 'डित्थादि पदों से सु, औ, जस् आदि को समझना' इत्याकारक पुरुषसङ्केत सम्बन्ध से डित्थादिपदवत्त्व को

शक्ततावच्छेदक बनाया जाये इसमें कोई विनिगमना नहीं है। अभिप्राय यह है कि पाणिनिसङ्केत सम्बन्ध से एकवचनादिपदवत्त्व, व्याकरण प्रणेता पुरुषान्तर के सङ्केतसम्बन्ध से एकवचनादिपदवत्त्व, डित्यादि पद से सु, औ, जस् आदि को समझना है ऐसे पुरुष सङ्केत सम्बन्ध से डित्थादिपदवत्त्व को शक्ततावच्छेदक बनाय जाये इसमें कोई विनिगमना नहीं है। इसलिए अगत्या आनुपूर्वीविशेष को ही शक्ततावच्छेदक मानना चाहिए। सुत्व, औत्व, जस्त्वादि को ही शक्ततावच्छेदक मानना चाहिए।

**यत्तु संख्यापि प्रकृतेरर्थः एकवचनादिकं चैकत्वाद्यर्थे तात्पर्यग्राहकमेव। नचैवमेकप्रकृत्युपस्थाप्ययोरर्थयोः परस्परमन्वये आकाङ्क्षाविरहाद् घटादावेकत्वाद्यन्वयानुपपत्तिः अन्यथा हर्यादिपदादुपस्थितयोरश्वसूर्ययोराधाराधेयभावेनान्वयापत्तिः। घटादिपदस्यैकत्वादिविशिष्टघटादौ च न शक्तिसम्भवः 'घटरूपं पश्य' इत्यादौ संख्यानवच्छिन्नघटादेरेवान्वय बोधादितिवाच्यम्; आकाङ्क्षावैचित्र्यादेकप्रकृत्युपस्थाप्ययोरपि घटैकत्वयोः परस्परमन्वयसम्भवात्। अत एव खण्डशक्त्यैवकाराद्युपस्थाप्ययोरन्ययोगव्यवच्छेदाद्योः परस्परमन्वयबोधः।**

'**यत्तु**' के द्वारा किसी अर्धवैयाकरण का मत खण्डन के लिए उठाते हैं कि— जो यह कहते हैं कि संख्या भी प्रकृति का ही अर्थ है। एकवचनादि तो एकत्वादि अर्थ में तात्पर्य ग्राहक ही हैं बोधक नहीं। किन्तु ऐसा होने पर तो एक प्रकृति से उपस्थाप्य अर्थों में परस्पर अन्वय होने में आकाङ्क्षा न रहने के कारण घटादि में एकत्वादि के अन्वय की अनुपपत्ति है। यदि एक पद से उपस्थाप्य अर्थों में भी अन्वय स्वीकारोगे तो हरि आदि पदों से उपस्थित अश्व और सूर्य का आधाराधेयभाव से अन्वय की आपत्ति होगी। इसलिए घटादि पदों की एकत्वादिविशिष्ट घटादि में शक्ति सम्भव नहीं है। '**घटरूपं पश्य**' इत्यादिस्थलों में तो संख्या से अनवच्छिन्न घटादि का ही अन्वयबोध होता है। संख्याविशिष्ट घट नहीं भासता है यहाँ पर। ऐसा नहीं कहना चाहिए क्योंकि आकाङ्क्षा के वैचित्र्य से एक प्रकृति से उपस्थाप्य भी घट' व एकत्व का परस्पर अन्वयबोध सम्भव है। इसीलिए खण्डशक्ति से एवकारादि से उपस्थित भी अन्ययोग और व्यवच्छेद का परस्पर अन्वयबोध होता है। एव पद की शक्ति अन्ययोग और व्यवच्छेद में स्वीकार की जाती है। शाब्दबोध के समय अन्ययोग व व्यवच्छेद का परस्पर अन्वयबोध होता ही है। उसी प्रकार घट एवं एकत्व में घटपद की शक्ति स्वीकारने पर आकाङ्क्षा की विचित्रता से एवपदवत् परस्पर अन्वय बोध होता ही है।

**न चैवं कर्मत्वादिकमपि प्रकृत्यर्थ एवास्तु किं तत्र द्वितीयादिशक्त्येति वाच्यम्, नामार्थधात्वर्थतयोः साक्षाद्भेदान्वयबोधस्याव्युत्पन्नतया कर्मत्वादेर्नामार्थत्वे तेन समं धात्वर्थान्वयासम्भवात्।**

जिस प्रकार संख्या को प्रकृति का अर्थ आप स्वीकार रहे हैं तथा एकवचनादि को एकत्वादि अर्थ में तात्पर्यग्राहक स्वीकार रहे हैं, उसी प्रकार कर्मत्वादि को भी प्रकृत्यर्थ ही

मान लें द्वितीयादि को तात्पर्य ग्राहक मात्र मानें, द्वितीयादि की शक्ति कर्मत्वादि में स्वीकारने की क्या ज़रूरत है? ऐसा नहीं कहना चाहिए क्योंकि नामार्थ और धात्वर्थ का साक्षात् भेदान्वयबोध अव्युत्पन्न होने के कारण कर्मत्वादि को यदि आप नामार्थ मानेंगे तो उसके साथ धात्वर्थ का अन्वय सम्भव नहीं होगा। इसलिए द्वितीयादि की ही कर्मत्वादि में शक्ति माननी पड़ेगी, कर्मत्वादि को प्रकृत्यर्थ नहीं स्वीकार कर सकते हैं।

**न च संख्यायाः प्रातिपदिकार्थत्वे सति तात्पर्यज्ञाने विनैव शक्तिभ्रमं लक्षणाग्रहंच द्विवचनाद्यन्तपदादेकत्वादिबोधसम्भवात् - एकत्वादि-तात्पर्येणैकवचनान्तस्येव द्विवचनान्तस्यापि पदस्य स्वारसिकप्रयोगापत्तिरिति वाच्यम्, अनादितात्पर्यस्यैव स्वारसिकप्रयोगमूलत्वात्, एकवचनाद्यन्त पदस्यैवैकत्वादावनादितात्पर्योपगमेनातिप्रसङ्गविरहात्। 'द्व्येकयोर्द्विवचनैक-वचने' इत्याद्यनुशासनं च तादृशतात्पर्यग्राहकमिति वैयाकरणमतम्।**

**तदसत् - अनन्तानां प्रकृत्यानुपूर्वीणां शक्ततावच्छेदकत्वापेक्षयाऽल्पतर विभक्त्याद्यानुपूर्वीणामेकत्वादिशक्ततावच्छेदकत्वस्येवोचिततत्वात्।**

यदि कहो कि संख्या को प्रातिपदिक का अर्थ मानने पर तात्पर्य ज्ञान होने पर विना शक्ति भ्रम के और विना लक्षणाग्रह के द्विवचनाद्यन्त पर से एकत्वादि बोध सम्भव होगा (क्योंकि एकत्वादि तो विभक्ति के अर्थ हैं नहीं प्रकृत्यर्थ हैं) इस कारण एकत्वादि के तात्पर्य से एकवचनान्त की तरह ही द्विवचनान्तपद का भी स्वारसिक प्रयोग होने की आपत्ति है। तो ऐसा नहीं कहना चाहिए क्योंकि अनादितात्पर्य ही स्वारसिक प्रयोग का मूल होता है, एकवचनाद्यन्त पद का ही एकत्वादि में अनादितात्पर्य स्वीकारने के कारण अतिप्रसङ्ग नहीं है अर्थात् एकत्वादि तात्पर्य से द्विवचनान्तपद के प्रयोग की आपत्ति नहीं है। **'द्व्येकयोर्द्विवचनैक वचने'** पा॰सू॰1/4/22 इत्याद्यनुशासन उसी अनादितात्पर्य के ही ग्राहक हैं। ऐसा वैयाकरण का मत है।

वह ग़लत है क्योंकि अनन्त प्रकृतिआनुपूर्वी की शक्ततावच्छेदकत्व की अपेक्षा अल्पतर विभक्ति आनुपूर्वी में ही एकत्वादि शक्ततावच्छेदकत्व स्वीकारना उचित है।अभिप्राय यह है कि यदि प्रकृति का अर्थ संख्या को मानेंगे तो प्रकृति पद तो अनन्त हैं, उन अनन्त प्रकृति पदों में संख्या की शक्ति स्वीकारने में उन अनन्त प्रकृति पदों की आनुपूर्वी को शक्ततावच्छेदक मानना पड़ेगा इसकी अपेक्षा अल्पतर विभक्ति आनुपूर्वी में शक्ततावच्छेदकत्व स्वीकारने में लाघव है। अतः यही उचित है। विभक्तियों को ही एकत्वादि का बोधक माना जाना चाहिए।

**न च प्रातिपदिकत्वमेव शक्ततावच्छेदकं न तु घटपंदत्वादिकमिति न शक्त्यानन्त्यमिति वाच्यम्, प्रतिपदिकत्वस्य दुर्वचत्वात् तदज्ञानेप्येकत्वादि ज्ञानस्यानुभविकत्वात् पदत्वेन वर्णत्वेन वा शक्तत्वे विभक्तेरपि त-द्वाचकतासिद्धेः। एकत्वादिशाब्दबोधात्पूर्वं वर्णत्वाद्युपस्थितेरप्यनावश्यक-त्वाच्च। फलानुरोधेन तत्कल्पने च गौरवात्।**

**एवमानुपूर्वीभिन्नधर्मस्य वाचकतावच्छेदकत्वे घटपदं सुपदं च न संख्यावाचकमिति विपरीतनिश्चयकालेऽपि तादृशधर्मावच्छिन्नस्य**

**वाचकताग्रहसम्भवाद् 'घटः' इत्यादौ संख्याया बोधापत्तिः।**

संख्या को प्रकृत्यर्थ मानने पर अनन्त प्रकृति आनुपूर्वी को शक्ततावच्छेदक मानना पड़ेगा, अतः गौरव होगा। इस पर कह रहे हैं कि यदि प्रकृतिआनुपूर्वी को शक्ततावच्छेदक मानेंगे तब न गौरव होगा। प्रातिपदिकत्व को ही शक्ततावच्छेदक मान लिया जाये घट पदत्वादि को न माने तो शक्ति की अनन्तता नहीं होगी। ऐसा कहो तो नहीं कहना चाहिए प्रातिपदिकत्व के दुर्वच होने के कारण। अर्थात् प्रातिपदिकत्व का निर्वचन करना दुःशक्य है। विना प्रातिपदिकत्व का ज्ञान हुए भी एकत्वादि ज्ञान का अनुभव हुआ करता है। इसलिए भी प्रातिपदिकत्व को शक्ततावच्छेदक नहीं स्वीकार कर सकते हैं। यदि पदत्वेन या वर्णत्वेन शक्तता स्वीकारते हैं तो अर्थात् यदि संख्या में पद की शक्ति और पदत्व को शक्ततावच्छेदक मानते हैं या संख्या में वर्ण की शक्ति और वर्णत्व को शक्ततावच्छेदक मानते हैं तो, विभक्ति की भी पदरूप और वर्ण रूप होने के कारण संख्या वाचकता प्राप्त होती है। दूसरी बात यह कि एकत्वादि शाब्दबोध के पूर्व में वर्णत्वादि की उपस्थिति भी अनावश्यक है तथा फल के अनुरोध से वर्णत्वादि की उपस्थिति की कल्पना करने में कल्पना गौरव है। आशय यह है कि शक्ततावच्छेदक की उपस्थिति के बिना शक्यार्थ का बोध नहीं होता है, यदि वर्णत्व,पटत्व, प्रातिपदिकत्व आदि में से किसी को भी शक्ततावच्छेदक माने तो संख्या रूप शक्यार्थ के बोध के पूर्व शक्ततावच्छेदकीभूत वर्णत्वादि की उपस्थिति होनी चाहिए। किंतु कहीं पर संख्याविषयक शाब्दबोध के लिए वर्णत्वादि की उपस्थिति की आवश्यकता नहीं प्रतीत होती है। 'शक्ततावच्छेदक की उपस्थिति के बिना शक्यार्थ का बोध नहीं होता है' इस नियम के कारण शक्ततावच्छेदकोपस्थिति की कल्पना करें तो कल्पना गौरव है। अतः वर्णत्वादि का शक्ततावच्छेदकत्व नहीं स्वीकार किया जा सकता है।

इसके अतिरिक्त दोषान्तर भी है। इस प्रकार आनुपूर्वी से भिन्न प्रतिपदिकत्व, वर्णत्व, पदत्वादि धर्म को वाचकतावच्छेदक मानने पर **'घटपदं सुपदं च न संख्यावाचकम्'** ऐसे विपरीत निश्चय के काल में भी आनुपूर्वी से भिन्न प्रातिपदिकत्व, वर्णत्व, पदत्वादि धर्मावच्छिन्न की वाचकता का ग्रहसम्भव होने के कारण **'घटः'** इत्यादि स्थलों में संख्या के बोध की आपत्ति है। अभिप्राय यह कि ऐसे विपरीत निश्यय के काल में भी प्रातिपदिक के संख्यावाचकत्व का ग्रहण तो सम्भव ही है। इसलिए घटपद और सुपद में संख्यावाचकत्वाभाव का ग्रहण होने पर भी **'घटः'** इस स्थल में संख्या के बोध की आपत्ति है। उक्त विपरीत निश्चय के द्वारा घट पद और सुपद में ही संख्यावाचकत्व के ग्रह का प्रतिबन्ध हो सकता है। प्रातिपदिक में संख्यावाचकत्व ग्रह का प्रतिबन्ध नहीं अतः यह आपत्ति दुर्निवार है।

**अथ विभक्तीनां सार्थकतामते, प्रकृतिविभक्त्योरेकवाक्यता विरहनिश्चयदशायां विभक्त्युपस्थाप्यैकत्वादेः प्रकृत्यर्थेऽन्वयबोधवारणाय तयोः समभिव्याहारज्ञानस्य घटादिविशेष्यकैकत्वान्वयबोधं प्रति कारणत्वमधिकं कल्पनीयम्। एकपदोपस्थितयोर्घटैकत्वाद्योरन्वयबोधोपगमे च न समभिव्याहारज्ञानस्य तत्र हेतुता कल्प्यत इति लाघवात् प्रकृत्याद्यानुपूर्वीणां संख्यावाचकतानवच्छेदकत्वमुपेयत इति चेत् ? न, आकाङ्क्षाविचारे समभिव्याहारज्ञानस्य हेतुताया निराकृतत्वात् ।**

पुनः प्रकारान्तर से संख्या की प्रकृत्यर्थता का ही प्रतिपादन करना चाह रहे हैं कि- विभक्तियों की सार्थकता के मत में प्रकृति और विभक्ति की एकवाक्यताविरहनिश्चय की दशा में अर्थात् '**घटः**' इस स्थलीय घट पद से घट की और '**पटः**' इस स्थलीय पटपदोत्तर सुविभक्ति से एकत्व की उपस्थिति होने की स्थिति में प्रकृति और विभक्ति में एकवाक्यता नहीं है। एकवाक्यता न होने पर भी पदपदोत्तर सु से उपस्थाप्य एकत्वादि का घट प्रकृत्यर्थ में अन्वय होकर शाब्द बोध न हो एतदर्थ '**घटादिविशेष्यक एकत्वान्वयबोध के प्रति घटपदोत्तरसुत्वरूप समभिव्याहार ज्ञान की कारणता है**' यह स्वीकारना पड़ेगा, जो कि अधिक है। एकपद से उपस्थापित घट और एकत्वादि का अन्वय बोध स्वीकारने पर तो अर्थात् संख्या को भी प्रकृत्यर्थ ही मानने पर घटपदोत्तर सुत्वरूप समभिव्याहार ज्ञान की हेतुता की कल्पना करने की आवश्यकता नहीं रहती है। इस प्रकार लाघव होने के कारण प्रकृत्यादि आनुपूर्वी को ही संख्या का वाचकतावच्छेदक मानना चाहिए अर्थात् प्रकृति को ही संख्यावाचक भी मानना चाहिए। तो ऐसा उचित नहीं है। आकाङ्क्षाविचार स्थल में समभिव्याहाररूप आकाङ्क्षाज्ञान की कारणता निराकृत है। आशय यह है कि जिस पदार्थ का जिस पदार्थ के साथ अन्वयबोध विवक्षित है, उन्हीं पदों का परस्पर समभिव्याहार है आकाङ्क्षा इस प्रकार तात्पर्य से घटित आकाङ्क्षा की कारणता स्वीकारी जाती है। जब तात्पर्यज्ञान कारणता से ही निर्वाह सम्भव हो तो '**घटः**' इत्यादि स्थलों में घटपदोत्तर सुत्वरूप समभिव्याहार आकाङ्क्षाज्ञान की हेतुता निराकृत हो जाती है। सारांश यह है कि जहाँ पर आकाङ्क्षा का विचार किया गया है, वहाँ पर कहा गया है कि तात्पर्यगर्भा आकाङ्क्षा की कारणता स्वीकारी जाती है। '**घटः**' इत्यादिस्थलों में घटपदोत्तर सुत्वरूपसमभिव्याहार आकाङ्क्षाज्ञान की कारणता नहीं स्वीकारते हैं क्योंकि तात्पर्य ज्ञान की कारणता को स्वीकारने से ही काम चल जायेगा। इस प्रकार विभक्ति की सार्थकता स्वीकारने पर भी कल्पना गौरव नहीं होता है।

वस्तुतः विभक्ति की सार्थकता और निरर्थकता दोनों ही मतों में विभक्ति समभिव्याहार के विना संख्या का बोध नहीं होता है। सार्थकता के मत में संख्या विना विभक्ति के उपस्थित ही नहीं होती है, निरर्थकता मत में एकत्व, द्वित्व, बहुत्वादि में से किस संख्या का भान होना चाहिए, यह विभक्ति की उपस्थिति से ही पता चलता है। इसलिए विभक्तिसमभिव्याहार होना तो दोनों मतों में आवश्यक है। किन्तु समभिव्याहार रूप आकाङ्क्षाज्ञान की कारणता दोनों मतों में ही नहीं स्वीकारी जाती है। यदि केवल एकमत में ऐसा होता तो उस मत में कल्पना गौरव दिखा सकते थे किन्तु ऐसा है नहीं। अतः कल्पना गौरव नहीं है।

**अथैवमपि विभक्तेः संख्यार्थकत्वे विनिगमनाविरहेण प्रकृतिधर्मिकस्य विभक्तिधर्मिकस्य च संख्याप्रकारकान्वयबोधपरत्वज्ञानस्य हेतुता कल्पनीया, विभक्तेर्द्योतकत्वमते तु विभक्तितात्पर्यविरहेण प्रकृतिधर्मिकमेव तात्पर्यज्ञानं तादृशान्वयबोधहेतुरिति लाघवमिति चेत्?**

**न, विभक्तेः संख्यावाचकताविरहेऽपि प्रकृतिविभक्त्योरानुपूर्वीज्ञानस्य तादृशान्वयबोधहेतुताया निर्विभक्तिकादिपदज्ञानादन्वयबोधवारणा- यावश्यकल्पनीयतया संख्यावाचकप्रकृतेरिव तदवाचकविभक्तेरपि**

**संख्यान्वयबोधकत्वप्रकारकेच्छाविषयत्वरूपतादृशबोधपरत्वसम्भवेन विभक्तिधर्मिकतज्ज्ञानहेतुतायाः विनिगमनाविरहेणावश्यकत्वात्।**

पुनः संख्या के प्रकृत्यर्थत्व के उपपादन का प्रयास करते हैं कि- इस प्रकार भी अर्थात् तात्पर्य ज्ञान की कारणता का आश्रय लेकर समभिव्याहाररूप आकाङ्क्षाज्ञान की कारणता का स्वीकार न करने पर भी विभक्ति को संख्यार्थक मानने पर विनिगमना न होने के कारण प्रकृतिधर्मिक और विभक्तिधर्मिक संख्या प्रकारक अन्वयबोध परत्वज्ञान की हेतुता कल्पित करनी होगी। अर्थात् प्रकृतिधर्मिक और विभक्तिधर्मिक द्विविधतात्पर्य ज्ञान ( **विभक्तिसमभिव्याहृता प्रकृतिः संख्याप्रकारकान्वयबोधपरा** ' व ' **प्रकृतिसमभिव्याहृता विभक्तिः संख्याप्रकारकान्वयबोध परा** ' इस प्रकार द्विविध तात्पर्य ज्ञान) की हेतुता माननी पड़ेगी क्योंकि इनमें एक को मानने और दूसरी को न मानने में कोई युक्ति नहीं है। विभक्ति की द्योतकता के मत में तो विभक्ति का तात्पर्य तो संख्या में है नहीं, अतः प्रकृति धर्मिक ही तात्पर्यज्ञान संख्याप्रकारक अन्वयबोध के प्रति कारण माना जायेगा, इसलिए लाघव होगा।

तो ऐसा नहीं है। विभक्ति की संख्यावाचकता न होने पर भी प्रकृति और विभक्ति के आनुपूर्वीज्ञान को संख्याप्रकारक अन्वयबोध के प्रति कारण अवश्य मानना पड़ेगा। इस प्रयोजन से कि निर्विभक्तिकादिपदों के ज्ञान से अन्वयबोध का वारण हो सके। अभिप्राय है कि निर्विभक्तिक घट आदि पदों से तो संख्याप्रकारक अन्वयबोध होता नहीं है। यदि प्रकृति और विभक्ति के आनुपूर्वीज्ञान को संख्याप्रकारक अन्वयबोध के प्रति कारण नहीं मानोगे तो '**घटरूपम्**' इत्यादि स्थलों में भी घट पद, जो कि विभक्तिरहित है के द्वारा संख्या प्रकारक अन्वय बोध होने लगेगा। अतः प्रकृति और विभक्ति के आनुपूर्वीज्ञान को संख्या प्रकारक अन्वयबोध के प्रति कारण अवश्य मानना पड़ेगा। ऐसी स्थिति में संख्यावाचक प्रकृति की तरह ही संख्या की अवाचिका विभक्ति का भी संख्यान्वयबोधकत्वप्रकारक इच्छाविषयत्वरूप संख्याप्रकारक बोधपरत्व सम्भव होने के कारण विभक्तिधर्मिक संख्या प्रकारकान्वयबोधतात्पर्यज्ञान की हेतुता विनिगमना न होने से अवश्य कल्पनीय है।

आशय यह है कि जब आप संख्या प्रकारक अन्वयबोध के प्रति प्रकृति और विभक्ति के आनुपूर्वीज्ञान को कारण मानेंगे तो जैसे संख्यावाचकप्रकृतिधर्मिक संख्यान्वय बोधकत्वप्रकारकेच्छाविषयत्वरूप संख्याप्रकारकबोधपरत्व सम्भव है, उसी प्रकार विभक्ति धर्मिक भी संख्यान्वयबोधकत्वप्रकारकेच्छाविषयत्वरूपसंख्याप्रकारकबोधपरत्व सम्भव है। इसमें कोई युक्ति नहीं है कि विभक्ति की द्योतकता के मत में '**विभक्तिसमभिव्याहृता प्रकृतिः संख्याप्रकारकान्वयबोधपरा**' इसी तात्पर्य ज्ञान की कारणता है, '**प्रकृतिसमभिव्याहृता विभक्तिः संख्याप्रकारकान्वयबोधपरा**' इस तात्पर्यज्ञान की कारणता नहीं है। इसलिए विभक्ति के वाचकत्व और द्योतकत्व मत में कोई भी लाघव गौरव इस आधार पर नहीं दिखलाया जा सकता है।

**अथ स्वादीनां संख्यावाचकत्वकल्पनापेक्षया प्रकृतेस्तत्र लक्षणैवोचिता शक्यलक्ष्ययोः परस्परमन्वयोपगमे क्षतिविरहात्, प्रथमाविभक्तेः कुत्रापि शक्तेरक्लृप्ततया तस्याः शक्यसम्बन्धरूपा लक्षणा न सम्भवति, द्वितीयादेः कर्मत्वादौ शक्तत्वेऽपि तादृशविभक्तेस्तत्समभिव्याहृतप्रकृतेर्वा संख्यायां**

**लक्षणेत्यत्र विनिगमकं दुर्लभम्।**

पूर्वग्रन्थ के द्वारा प्रकृति की संख्यावाचकता का खण्डन कर दिया गया। अब संख्या में प्रकृति की लक्षणा की जाती है इस मत को उपस्थित कर रहे हैं कि- प्रकृति में संख्या वाचकता सम्भव नहीं होने की स्थिति में स्वादि में संख्यावाचकत्वकल्पना की अपेक्षा प्रकृति की संख्या में लक्षणा करनी ही उचित होगी। शक्य अर्थ और लक्ष्य अर्थ का आपस में अन्वय स्वीकारने में कोई क्षति तो है नहीं। जैसे **'गङ्गायां घोषः'** इत्यादि स्थलों में गङ्गा पद के द्वारा शक्ति से प्रवाह की और लक्षणा से तीर की उपस्थिति हुआ करती है, वैसे ही यहाँ भी घटादि पदों से शक्ति से घटादि पदार्थों की और लक्षणा से संख्या (एकत्वादि) की उपस्थिति होने में कोई हर्ज़ नहीं है। किन्तु प्रश्न यह उठता है कि प्रकृति की ही लक्षणा क्यों स्वीकारी जाये विभक्ति की ही क्यों न लक्षणा स्वीकार कर ली जाये? इसके लिए कहते हैं कि- प्रथमा विभक्ति की तो कहीं पर शक्ति ही स्वीकृत नहीं है, लक्षणा होती है शक्यसम्बन्ध रूप, इसलिए प्रथमाविभक्ति की शक्यसम्बन्धरूपालक्षणा सम्भव नहीं है क्योंकि प्रथमाविभक्ति की शक्ति कहीं पर भी स्वीकृत न होने से उसका कोई शक्य ही नहीं है। शक्य न होने से उसका सम्बन्ध तो हो ही नहीं सकता है। द्वितीयादि की कर्मत्वादि में शक्ति उपलब्ध होने पर भी द्वितीयादि विभक्ति की या द्वितीयादि समभिव्याहृत प्रकृति की संख्या में लक्षणा स्वीकार की जाये,इसमें विनिगमक दुर्लभ है। इस परिस्थिति में प्रथमान्त प्रयोगस्थल में चूँकि प्रकृति की ही लक्षणा स्वीकारी गयी है संख्या में, अतः द्वितीयान्तादि स्थलों में भी प्रकृति की ही संख्या में लक्षणा स्वीकारनी चाहिए। नहीं तो प्रथमान्तस्थल से विषमता और गौरव दोनों ही होगा।

**न चैकत्वाद्यन्वयबोधे घटपदादिज्ञानजन्योपस्थितित्वेनानन्तहेतुता कल्पनमपेक्ष्य स्वादिपदज्ञानजन्यतदुपस्थितित्वेन कतिपयहेतुताकल्पनायां लाघवात् कतिपयशक्तिकल्पने गौरवमकिञ्चित्करम्, सामान्यतः पदवृत्ति ज्ञानजन्यतदुपस्थितित्वेनैककारणताकल्पनं तु न सम्यक् निर्विभक्तिक कुम्भपदादितः संख्योपस्थितौ तदगृहीतवृत्तिकघटादिपदे तत्तद्विभक्त्यन्तत्वज्ञानवतः पुंसो घटादौ संख्यान्वयबोधप्रसङ्गाद्, घटपदादिज्ञानजन्यैकत्वाद्युपस्थितित्वेनैकत्वादिविषयकशाब्दबोधहेतुतां कल्पयित्वा विभक्तिघटादिपदानुपूर्वीज्ञानतादृशोपस्थित्योः परस्परसहकारेण फलजनकताया अवश्याभ्युपेयत्वादितिवाच्यम्;**

**घटादिपदस्यैकत्वादौ लक्षणाग्रहसत्त्वे 'घटः प्रमेयः' इत्यादिवाक्यात् 'एकत्वं प्रमेयम्' इत्याद्यन्वयबोधस्य सर्वसम्मततया तदनुरोधेनैक त्वादिविषयकशाब्दबोधे घटादिपदजन्यैकत्वाद्युपस्थितित्वेन हेतुतायाः सर्वसम्मतत्वात् ।**

यदि कहो कि एकत्वादि के अन्वयबोध में घटपदादिज्ञानजन्य उपस्थितित्वेन अनन्त हेतुता की कल्पना करनी पड़ेगी क्योंकि घटपदादि की ही एकत्वादि संख्याबोधकता आप स्वीकार रहे हैं। इसकी अपेक्षा सु आदि पदों के ज्ञान से जन्य उपस्थितित्वेन एकत्वादि

अन्वयबोध के प्रति हेतुता की कल्पना में लाघव है, अतः सु आदि कुछेक पदों में शक्ति की कल्पना करने में जो गौरव है, वह अकिंचित् कर है। अभिप्राय यह है कि यदि प्रकृति पदों के द्वारा लक्षणावृत्ति से एकत्वादि की उपस्थिति स्वीकारते हैं तो एकत्वादि उपस्थिति के प्रति कारणीभूत शक्ति की कल्पना नहीं करनी पड़ेगी, यह लाघव होने पर भी एकत्वादि विषयक अन्वयबोध के प्रति घटपटपदादिजन्य उपस्थितित्वेन कारणता स्वीकारने से कल्पना गौरव है क्योंकि अनन्त पदों से जन्य उपस्थिति को कारण मानने में अनन्त कार्यकारणभाव कल्पित करना होगा। इसकी अपेक्षा यदि सु आदि कुछेक विभक्ति पदों में एकत्वादिबोधानुकूल एकत्वादि उपस्थितिजनक शक्ति स्वीकार ली जाये तो कतिपय शक्ति स्वीकार रूप गौरव तो होगा, किन्तु इस स्थिति में स्वादिपदज्ञानजन्य उपस्थितित्वेन कतिपय कारणता की कल्पना करनी पड़ेगी इसलिए कारणताकल्पना में लाघव है। इस कारण यही उचित है कि कुछेक सु आदि विभक्ति में ही एकत्वादि बोधिका शक्ति स्वीकार ली जाये। ऐसा तो कहा नहीं जा सकता है कि सामान्यतः पदवृत्तिज्ञानजन्य एकत्वाद्युपस्थितित्वेन एकत्वादिविषयक शाब्दबोध के प्रति कारणता है। इस प्रकार एककारणता की कल्पना तो उचित है नहीं अर्थात् उपर्युक्त कल्पनागौरव दूर करने के लिए एक ही कार्यकारणभाव इस प्रकार नहीं मान सकते क्योंकि निर्विभक्तिक कुम्भ पद से एकत्वादि संख्या की उपस्थिति होने पर संख्या में जिसकी वृत्ति (लक्षणावृत्ति) गृहीत नहीं है ऐसे घट आदि में तत्तद्विभक्त्यन्तत्व ज्ञानवाले पुरुष को घट में संख्या का अन्वयबोध होने की आपत्ति है। कहने का आशय यह है कि यदि पदवृत्तिज्ञानजन्य संख्या की उपस्थिति को संख्याविषयक अन्वयबोध के प्रति कारण मानते हैं तो जहाँ पर घट पद में स्वादि विभक्त्यन्तत्व का ज्ञान है पुरुष को, किन्तु घट पद की लक्षणारूपा वृत्ति संख्या में गृहीत नहीं है और विभक्तिरहित कुम्भपद के द्वारा संख्या की उपस्थिति है। वहाँ पर पद (कुम्भ पद) वृत्तिज्ञानजन्य संख्या की उपस्थिति होने के कारण संख्या का अन्वयबोध होना चाहिए। इसकारण घटपदादिज्ञानजन्य एकत्वादि उपस्थितित्वेन एकत्वादिविषयक शाब्दबोध के प्रति हेतुता स्वीकारनी पड़ेगी, ऐसी कार्यकारण भाव की कल्पना कर विभक्ति घटादिपदानुपूर्वीज्ञान और घटपदादिज्ञानजन्य एकत्वादि उपस्थिति को परस्पर सहकार से फलजनकता अवश्य स्वीकार करनी पड़ेगी।

तो ऐसा नहीं कहना चाहिए। घटादिपद का एकत्वादि में लक्षणाग्रह होने पर '**घटः प्रमेयः**' इत्यादि वाक्यों से '**एकत्वं प्रमेयम्**' ऐसा ही शाब्दबोध सर्वसम्मत होने के कारण उस शाब्दबोध के अनुरोध से एकत्वादिविषयक शाब्दबोध के प्रति घटादिपद जन्य एकत्वादि उपस्थितित्वेन कारणता सर्वसम्मत है। आशय यह है कि उक्तस्थल पर एकत्वविषयक शाब्द बोध होता है। उसके लिए एकत्वादिविषयक शाब्दबोध के प्रति घटादिपदजन्य एकत्वादि उपस्थिति कारण है सामान्यतया यह मानना पड़ेगा। यह सर्वमतसिद्ध है, इसी का यहाँ पर स्वीकार किया जा रहा है, तो कोई नयी बात तो स्वीकारी जा नहीं रही पूर्व में स्वीकृत का ही स्वीकार किया जा रहा है। इसलिए कोई नवीन कल्पना नहीं करने से कोई कल्पना गौरव नहीं है।

**मैवम्, यादृशयादृशपदानां लक्षणयैकत्वादिशाब्दधीजनकत्वं नोभयवादि सिद्धं तादृशानन्तपदज्ञानजन्यैकत्वाद्युपस्थितीनां तच्छाब्दहेतुत्वकल्पनं प्रकृतेः**

**संख्यावाचकतावादिनामधिकमिति तत्कल्पनापेक्षया चाल्पतरस्वादिपदजन्यैकत्वाद्युपस्थितिहेतुताकल्पन एव लाघवम्।**

**'अथ स्वादीनां'** इस ग्रन्थ के द्वारा जो लक्षणावाद स्वीकारने का पक्ष उठाया गया था उसे खण्डित करते हैं कि- ऐसा नहीं है, जैसे-जैसे पदों की लक्षणा के द्वारा एकत्वादि शाब्द बोधजनकत्व उभयवादि सिद्ध नहीं है, वैसे-वैसे अनन्तपदों के ज्ञान से जन्य एकत्वादि उपस्थितयों की एकत्वादिशाब्दबोध हेतुता की कल्पना प्रकृति को संख्या का वाचक मानने वालों के मत में ज़्यादा होगा। इसलिए ऐसी कल्पना की अपेक्षा अल्पतर सु आदि पदों से जन्य एकत्वादि उपस्थिति की हेतुता की कल्पना में ही लाघव है।

अभिप्राय यह है कि जैसे-जैसे पदों की लक्षणा के द्वारा एकत्वादिसंख्याविषयक बोध उभयमतसिद्ध है वहाँ पर गौरव न होने पर भी जिन पदों की लक्षणा के द्वारा एकत्वादि संख्याविषयकबोध वादी-प्रतिवादी दोनों के मत में सिद्ध नहीं है वे पद अनन्त हैं। उन पदों के अनन्त होने के कारण तत्तत्पदों से जन्य संख्या की अनन्त उपस्थितियों की अनन्त कारणता की कल्पना प्रकृति का अर्थ संख्या को माननेवाले के मत में अधिक होगी। उसकी अपेक्षा स्वादि विभक्तियों की संख्या में शक्ति स्वीकार लेने में ही लाघव है। इस प्रकार संख्याविषयक शाब्द बोध के प्रति स्वादिविभक्तिपदजन्य संख्योपस्थिति को ही कारण मान लेना चाहिए।

**एतेन- संख्याविशेषावच्छिन्नघटादिर्लक्षणया प्रकृतेरर्थो न तु संख्या विभक्त्यर्थः, शाब्दबोधे विभक्तिजन्यसंख्योपस्थितिहेतुताकल्पनाधिक्येन गौरवात् । घटादिपदस्यैकत्वादिविशिष्टघटादौ लक्षणाग्रहदशायां सर्वमत एव तज्जन्यविशिष्टविषयकोपस्थित्या विशिष्टविषयकशाब्दधीजननात् तथाविधोपस्थितिहेतुतायाः सर्वानुमतत्वात्। पदान्तरासमभिव्याहृतात् 'घटः' इत्यादिपदादेकत्वादिविशिष्टघटादिशाब्दबोधास्त्वलीक एवतद्विषयकस्मरणस्य तत्रोपगमात्। तथा चोक्तम् -'सर्वं हि वाक्यं क्रियायां परिसमाप्यते' इत्यापि निरस्तम् । यादृशपदानां लक्षणयैकत्वादिविशिष्टस्वार्थबोधहेतुत्वं नोभयवादिसिद्धं तादृशानन्तपदजन्यविशिष्टोपस्थितीनां शाब्दधीहेतुताकल्पनमपेक्ष्य विभक्तिजन्यसङ्ख्योपस्थितीनामल्पानां तत्कल्पने लाघवात्।**

इसी कारण से पूर्वोपदर्शित तर्क से- संख्याविशेषावच्छिन्न घटादि लक्षणा से प्रकृति का अर्थ है, संख्या विभक्त्यर्थ नहीं है शाब्दबोध में विभक्ति जन्य संख्योपस्थिति की भी हेतुता की कल्पना अधिक होने के कारण गौरव होने के कारण। अर्थात् विभक्ति का अर्थ संख्या को मानने पर विभक्ति से जन्य संख्या की उपस्थिति को भी शाब्दबोध में कारण मानना पड़ेगा, अतः गौरव होगा। घटादि पद का एकत्वादिविशिष्ट घटादि में लक्षणाग्रह की दशा में सभी के मत में ही उससे जन्यविशिष्टविषयक उपस्थिति से विशिष्टविषयकशाब्दबोध उत्पन्न होने के कारण विशिष्टविषयक उपस्थिति की विशिष्टविषयक शाब्दबोध के प्रति कारणता सर्वानुमत है। पदान्तर से असमभिव्याहृत **'घटः'** इत्यादि पदों से एकत्वादि विशिष्ट घटादि शाब्दबोध तो झूठा ही है क्योंकि वहाँ पर तो सिर्फ एकत्वादिविशिष्टघटादि

का स्मरण ही स्वीकार किया जाता है। कहा भी गया है कि **'सारे ही वाक्य क्रिया से ही परिसमाप्त होते हैं'।** यह भी खण्डित हो जाता है। क्योंकि जैसे पदों की लक्षणा के द्वारा एकत्वादिविशिष्टस्वार्थबोधहेतुत्व उभयवादि सिद्ध नहीं है वैसे अनन्त पदों से जन्य विशिष्ट उपस्थितियों की शाब्दबोधहेतुता की कल्पना की अपेक्षा विभक्तिजन्यसंख्योपस्थितियाँ, जो कि अल्प हैं, की शाब्दबोधहेतुता की कल्पना में लाघव है।

**इदं पुनरिहावधेयम् - विभक्तेः संख्याबोधकत्वे समानविषयकानुमित्यादिकं प्रति शाब्दसामग्रीप्रतिबन्धकतायां वा प्रातिपदिकजन्या घटादिद्युपस्थितिर्या च विभक्तिजन्या संख्योपस्थितिः प्रवेश्या तयोश्च मिथो विशेष्यविशेषणभावे विनिगमनाविरहात् प्रतिबन्धकताबाहुल्यम् । प्रकृतेर्विशिष्टलाक्षणिकत्वे तु तदुभयस्थलीयविशिष्टविषयकोपस्थितिरेकैव-सामग्र्यन्तर्भवतीति लाघवम्।**

यहाँ पर यह (सिद्धांततः) समझ लेना चाहिए- विभक्ति को संख्या का बोधक मानने पर समानविषयक अनुमित्यादि के प्रति शाब्दसामग्री की जो प्रतिबन्धकता स्वीकार की जाती है, उस प्रतिबन्धकता में प्रातिपदिकजन्य घटादि की उपस्थिति और विभक्तिजन्य संख्या की उपस्थिति का प्रवेश करना पड़ेगा (शाब्द सामग्री के अन्तर्गत होने के कारण) उक्त दोनों ही उपस्थितियों में परस्पर विशेष्य विशेषणभाव में कोई विनिगमना न होने के कारण प्रतिबन्धकता का बाहुल्य होगा। यदि प्रकृति को विशिष्ट का लाक्षणिक मानें तो उभयस्थलीय विशिष्टविषयक एक ही उपस्थिति सामग्री के अन्तर्भूत होती है, अतः लाघव होगा। अभिप्राय यह है कि भिन्नविषयक प्रत्यक्ष और समानविषयक अनुमिति के प्रति शाब्दसामग्री की जो प्रतिबन्धकता स्वीकारी जाती है, उस प्रतिबन्धकता में विभक्ति को संख्या का बोधक स्वीकारने के पक्ष में विभक्तिजन्यसंख्योपस्थिति और प्रतिपदिकजन्य घटादि उपस्थिति दोनों का ही प्रवेश करना पड़ेगा। इसमें एक पक्ष साधक कोई युक्ति न होने के कारण प्रातिपदिक जन्योपस्थितिविशिष्ट विभक्तिजन्योपस्थिति और विभक्तिजन्योपस्थितिविशिष्ट प्रातिपादिक-जन्योपस्थिति दोनों की ही प्रतिबन्धक मानना पड़ेगा। इसलिए इस पक्ष में गौरव है। प्रकृति की ही संख्याविशिष्ट प्रकृत्यर्थ घटादि में लक्षणा स्वीकारने पर तो एक ही विशिष्टविषयक उपस्थिति का प्रतिबन्धकता में प्रवेश करना पड़ेगा। अतः लाघव है।

**न च विशिष्टविषयकोपस्थितेरप्येकत्वादिप्रकारतानिरूपितघटादि विशेष्यताशालित्वेन घटादिविशेष्यतानिरूपितैकत्वादिविषयताशालित्वेन वा प्रवेश इति विनिगमनाविरहात्साम्यमिति वाच्यम्; भवन्मते योग्यताज्ञानघटोपस्थित्येकत्वोपस्थितीनां तिसृणां विशेष्यविशेषणभावे विनिगमनाविरहेण प्रतिबध्यप्रतिबन्धकभावषट्कम् । मन्मते तत्र योग्यताज्ञाने विशिष्टविषयकोपस्थितेः प्रत्येकं दर्शितोभयरूपेण वैशिष्ट्यं निवेश्य तदुभयम् । प्रत्येकं तादृशरूपद्वयावच्छिन्नायां मुपस्थितौ योग्यताज्ञानस्य वैशिष्ट्यं निवेश्य च द्वयमिति तच्चतुष्टयमात्रमितिरीत्याऽस्माकमल्पतरतत्कल्पने महालाघवम्।**

आशङ्का करते हैं कि- प्रकृतिभूतपद को लाक्षणिक मानने के मत में विशिष्ट विषयक

उपस्थिति का भी एकत्वादिप्रकारतानिरूपितघटादिविशेष्यताशालित्वेन प्रवेश किया जाये या घटादि विशेष्यतानिरूपित एकत्वादिप्रकारताशालित्वेन प्रवेश किया जाये इसमें भी कोई विनिगमना न होने के कारण विभक्ति को एकत्वादि का वाचक मानने वाले मत से साम्य है। ऐसा नहीं कहना चाहिए। क्योंकि आपके (विभक्ति की संख्या वाचकता वादी के) मत में योग्यता ज्ञान, घटोपस्थिति और एकत्वोपस्थिति इन तीन के विशेष्यविशेषण भाव में निर्णायक युक्ति न होने के कारण छः प्रतिबध्य प्रतिबन्धक भाव होंगे। जैसे

1. योग्यताज्ञानविशिष्ट घटोपस्थिति विशिष्टैकत्वोपस्थिति की प्रतिबन्धकता
2. योग्यताज्ञानविशिष्टैकत्वोपस्थिति विशिष्ट घटोपस्थिति की प्रतिबन्धकता,
3. घटोपस्थितिविशिष्टैकत्वोपस्थितिविशिष्टयोग्यताज्ञान की प्रतिबन्धकता,
4. घटोपस्थितिविशिष्टयोग्यताज्ञान विशिष्टैकत्वोपस्थिति की प्रतिबन्धकता
5. एकत्वोपस्थितिविशिष्टयोग्यताज्ञानविशिष्ट घटोपस्थिति की प्रतिबन्धकता
6. एकत्वोपस्थितिविशिष्टघटोपस्थितिविशिष्टयोग्यताज्ञान की प्रतिबन्धकता

हमारे मत में अर्थात् प्रकृति की विशिष्टलाक्षणिकता के मत में योग्यता ज्ञान में विशिष्ट विषयकोपस्थिति का दिखलाये गये तरीके से वैशिष्ट्य निवेश करके दो प्रतिबध्यप्रतिबन्धकभाव कल्पित करने पड़ेंगे। योग्यताज्ञान से विशिष्ट विशिष्टविषयकोपस्थिति की एक प्रतिबन्धकता, विशिष्टविषयकोपस्थिति से विशिष्टयोग्यता ज्ञान की दूसरी प्रतिबन्धकता। उपस्थिति में उपर्युक्त रूपद्वयावच्छिन्ना में योग्यता ज्ञान के वैशिष्ट्य का निवेश करके दो होगा, इस प्रकार कुल चार प्रतिबध्यप्रतिबन्धक भाव की कल्पना करनी पड़ेगी। जैसे 1. एकत्वादि प्रकारता निरूपितघटादिविशेष्यताशालिउपस्थितिविशिष्टयोग्यताज्ञान की प्रतिबन्धकता 2. घटादि विशेष्यता निरूपितएकत्वादिप्रकारकताशालिउपस्थिति विशिष्टयोग्यताज्ञान की प्रतिबन्धकता 3. योग्यताज्ञान-विशिष्ट एकत्वादिप्रकारतानिरूपितघटादिविशेष्यताशालि उपस्थिति की प्रतिबन्धकता 4. योग्यताज्ञानविशिष्ट घटादिविशेष्यतानिरूपित एकत्वादिप्रकारताशालि उपस्थिति की प्रतिबन्धकता, इस प्रकार चार प्रतिबन्धकभाव की ही कल्पना करनी पड़ेगी। अतः इस मत में अल्पतर प्रतिबध्यप्रतिबन्धकभाव की कल्पना करनी पड़ेगी। अतः महालाघव है। इस प्रकार प्रकृति की विशिष्टलाक्षणिकता का मत ही श्रेयस्कर है।

**तादृशरीत्यैव च 'प्रणमति' इत्यादौ प्रकर्षविशिष्टनतिर्धातूनामेवार्थः प्रादयो द्योतका एव न तु प्रकर्षादिवाचका इति सर्वानुमतः पन्थाः परिष्कर्तुं शक्यते। अन्यथा अनन्तधातुजन्यप्रकर्षादिविशिष्टतत्तत्स्वार्थोपस्थितीनां शाब्दधी-जनकतामपेक्ष्य कतिपयोपसर्गाधीनप्रकर्षाद्युपस्थितीनां तज्जनकता कल्पने लाघवात् स्वादीनामिव प्रादीनामपि वाचकता निराबाधा सिद्ध्येतेति।**

इसी रीति से '**प्रणमति**' इत्यादि स्थलों में प्रकर्षविशिष्ट नति धात्वर्थ ही है, प्रादि केवल द्योतक हैं प्रकर्षादि के वाचक नहीं है यह सर्वानुमत मार्ग परिष्कृत किया जा सकता है। अर्थात् प्रादि को प्रकर्षादि का वाचक मानेंगे तो शाब्दबोध सामग्री में प्रादिजन्य प्रकर्षादि उपस्थिति का प्रवेश करना पड़ेगा, शाब्दसामग्री की भिन्नविषयकप्रत्यक्ष और समान विषयक अनुमिति के प्रति प्रतिबन्धकता स्वीकारी जाती है, योग्यताज्ञान के साथ धात्वर्थोपस्थिति प्रकर्षाद्युपस्थिति के परस्पर विशेष्यविशेषणभाव में विनिगमना न होने से प्रतिबध्यप्रतिबन्धकभाव

की संख्या अधिक होने के कारण गौरव होगा। इसलिए धातु का ही प्रकर्ष विशिष्ट नाति आदि अर्थ हैं ऐसा मानो। यदि धातु का विशिष्ट अर्थ न स्वीकार कर धातु का प्रकर्ष और नति को अलग-अलग अर्थ मानें तो अनन्त धातुओं से जन्य प्रकर्ष आदि से विशिष्ट स्वार्थोपस्थितियों की शाब्दबोधजनकता की अपेक्षा कतिपय उपसर्गों के अधीन प्रकर्षादि उपस्थितियों की उत्पत्ति स्वीकारने में लाघव होने के कारण स्वादि की तरह ही प्रादि की भी वाचकता निराबाध सिद्ध हो जायेगी।

अभिप्राय यह है कि यदि '**प्रणमति**' इत्यादि स्थलों में धातु के द्वारा शक्ति से नति आदि अर्थ और लक्षणा से प्रकर्ष आदि अर्थ उपस्थित होते हैं ऐसा स्वीकार करोगे तो अनन्त धातुओं से लक्षणा के द्वारा जन्य प्रकर्षादि उपस्थिति की शाब्द बोध के प्रति कारणता स्वीकार करने की अपेक्षा कुछेक उपसर्गों के अधीन प्रकर्ष आदि उपस्थितियों की जनकता स्वीकारने में लाघव होगा। इसलिए स्वादि की तरह ही प्रादि की भी वाचकता बग़ैर बाधा के सिद्ध हो जायेगी। अतः प्रकर्षविशिष्टनति को ही धातु का अर्थ माना जाना चाहिए, तभी उपर्युक्त रीति से प्रादि द्योतक ही हैं वाचक नहीं यह सर्वानुमत मार्ग परिष्कृत किया जा सकता है।

**संख्यायाश्च प्रकृत्यर्थे पर्याप्तिसम्बन्धेनैव विशेषणत्वं न तु समवायादिना, तथा सति- एकवचनबोधपरादाकाशशब्दादपि द्विवचनबहुवचनाद्यापत्तेः -तत्तदर्थयोर्द्वित्वबहुत्वयोः समवायादिनाऽऽकाशाद्यन्वययोग्यत्वात् ।**

संख्या को चाहे प्रकृत्यर्थ मानें चाहे विभक्त्यर्थ, वह संख्या किस सम्बन्ध से प्रकृत्यर्थ में विशेषण बनेगी, इसे बतला रहे हैं कि—

संख्या की प्रकृत्यर्थ में पर्याप्तिसम्बन्ध से ही विशेषणता है समवायादि सम्बन्ध से नहीं, वैसा होने पर एकव्यक्तिबोधपरक आकाशशब्द से भी द्विवचन और बहुवचन की आपत्ति है क्योंकि द्विवचन और बहुवचन के अर्थ द्वित्व और बहुत्व समवाय सम्बन्ध से आकाशादि में अन्वययोग्य है।

अभिप्राय यह है कि संख्या एकत्वादि यद्यपि गुण रूप हैं इसलिए समवायसम्बन्ध से ही उनका अन्वय होना चाहिए, तथापि उनकी प्रकृत्यर्थ में विशेषणता समवाय सम्बन्ध से न होकर पर्याप्ति सम्बन्ध से है क्योंकि यदि समवाय सम्बन्ध से संख्या एकत्वादि का अन्वय प्रकृत्यर्थ में करेंगे तो आकाश जो कि एकव्यक्ति का ही बोध करता है, उससे भी द्विवचन और बहुवचन होने लगेंगे क्योंकि द्विवचन और बहुवचन के अर्थभूत द्वित्व और बहुत्व समवाय सम्बन्ध से आकाशादि में अन्वययोग्य हैं। समवाय सम्बन्ध से द्वित्व, बहुत्व आकाश में रह सकते हैं। जैसे घट और आकाश उभयगत द्वित्व समवायसम्बन्ध से घट में भी रहता है और आकाश में भी।

**न च पर्याप्तेः संसर्गत्वेऽपि तद्दोषतादवस्थ्यम्- घटाकाशादौ द्वित्वादेः पर्याप्तिसत्त्वे प्रत्येकमाकाशादौ तत्पर्याप्तिर्नास्तीति वक्तुमशक्यत्वात्, प्रत्येकस्योभयानतिरिक्तत्वादितिवाच्यम्; उद्देश्यतावच्छेदकव्याप्यत्वविशिष्टपर्याप्तेरेव संसर्गतोपगमात् आकाशत्वादिव्याप्यताया द्वित्वादिपर्याप्तावसत्त्वे-नातिप्रसङ्गविरहात्।**

पूर्वग्रन्थके द्वारा कहा गया कि पर्याप्ति सम्बन्ध से संख्या का प्रकृत्यर्थ में विशेषणत्व है समवायसम्बन्ध से नहीं क्योंकि समवायसम्बन्ध से संख्या द्वित्व बहुत्वादि आकाश में रहते हैं। इसलिए द्वित्व बहुत्वादिवाचक द्विवचनबहुवचनादि का प्रयोग भी आकाश शब्द से होने लगेगा। पर्याप्तिसम्बन्ध से संख्या की प्रकृत्यर्थ में विशेषणता बनाने पर पर्याप्ति सम्बन्ध से द्वित्व घटाकाशोभय में ही पर्याप्त है न केवल घट में और न केवल आकाश में। अतः घट पद के बाद भी द्विवचन का प्रयोग नहीं हो सकता है आकाशपद के बाद भी नहीं हो सकता है। इस पर इस ग्रन्थ के द्वारा आशंका कर रहे हैं कि—

पर्याप्ति की संसर्गता होने पर भी उक्त दोष स्थित ही रहेगा क्योंकि घट और आकाश दोनो में द्वित्व की पर्याप्ति रहने पर प्रत्येक घट और आकाश में द्वित्व की पर्याप्ति नहीं है ऐसा कहना सम्भव नहीं है क्योंकि प्रत्येक से उभय अतिरिक्त नहीं होता है। अभिप्राय यह है कि यदि घट में पर्याप्ति सम्बन्ध से द्वित्व नहीं है और आकाश में भी पर्याप्ति सम्बन्ध से द्वित्व नहीं है। तो घट और आकाश दोनों में द्वित्व कैसे पर्याप्ति सम्बन्ध से रह सकता है। इसलिए प्रत्येक में पर्याप्ति सम्बन्ध से द्वित्व नहीं रहता है ऐसा कहना उचित नहीं है? ऐसी स्थिति में पर्याप्ति सम्बन्ध से संख्या की विशेषणता स्वीकारने पर भी आकाश शब्द से द्विवचन का प्रयोग होने लगेगा। ऐसा नही कहना चाहिए क्योंकि उद्देश्यतावच्छेदकव्याप्य पर्याप्ति की ही संसर्गता स्वीकार की जा रही है **'आकाशौ'** ऐसे प्रयोग की स्थिति में आकाशत्व उद्देश्यतावच्छेदक होता है, आकाशत्वादि की व्याप्यता तो द्वित्व पर्याप्ति में है नहीं। अतः द्विवचन प्रयोग की आपत्ति नहीं है। द्वित्वपर्याप्ति तो घट में भी है वहाँ आकाशत्व का अभाव है। इसलिए आकाशत्वव्याप्यता द्वित्वपर्याप्ति में नहीं है। इस प्रकार द्वित्वपर्याप्ति के आकाशत्व व्याप्य न होने के कारण द्वित्व पर्याप्ति संसर्ग नहीं बन सकती है।

**वैशिष्ट्यं च वैज्ञानिकं न तु वास्तवं, तेन यत्र योग्यताभ्रमजन्यः 'अत्राकाशौ' इत्यादिवाक्यजन्यद्वित्वादिप्रकारकाकाशादिशाब्दबोधस्तत्रविशिष्टसंसर्गा प्रसिद्धावपि न क्षतिः द्वित्वादिपर्याप्तावन्यत्र प्रसिद्धस्याकाशत्वव्याप्यत्वस्य भ्रान्तेस्तत्रोपगमात्, प्रकारतायां भ्रमस्य सर्वानुभवसिद्धत्वेपि सम्बन्धतावच्छेद कांशे भ्रमत्वस्यान्यत्रोपपादितत्वात् ।**

पर्याप्ति में उद्देश्यतावच्छेकव्याप्यत्व का वैशिष्ट्य होना चाहिए। अब प्रश्न यह है कि यह वैशिष्ट्य कैसा लेना है वैज्ञानिक या वास्तविक? यदि वास्तविक लेते हैं तो किसी पुरुष को आकाश में द्वित्व की भ्रान्ति होकर जो यह प्रयोग उसके द्वारा किया जाता कि **'अत्रा काशौ'** वह सम्भव न होगा द्वित्व पर्याप्ति में वास्तविक आकाशत्वव्याप्यत्व न होने के कारण। अतः कहते हैं कि—

वैशिष्ट्य तो वैज्ञानिक ही लेना है वास्तविक नहीं, इस कारण जहाँ पर योग्यता भ्रम से जन्य **'अत्राकाशौ'** इत्यादिवाक्य से द्वित्वादि प्रकारक आकाशादि का बोध हो रहा है, वहाँ पर विशिष्ट संसर्ग की अप्रसिद्धि होने पर भी कोई क्षति नहीं है। अन्यत्र प्रसिद्ध जो आकाशत्वव्याप्यत्व है उसी की भ्रान्ति द्वित्व पर्याप्ति में हो रही है ऐसा ही स्वीकार किया जाता है। इस भ्रान्ति के आधार पर भी वैज्ञानिक उद्देश्यतावच्छेदकव्याप्यत्व का वैशिष्ट्य तो बन ही जायेगा। आकाशत्वव्याप्यत्व शब्दादि में प्रसिद्ध है उसी का भ्रम द्वित्व पर्याप्ति में

हो रहा है ऐसा कहना है। (अब प्रश्न यह है कि प्रकारतांश में भ्रम तो प्रसिद्ध ही है किंन्तु क्या सम्बन्धांश में भी भ्रम हुआ करता है? इसके लिए कहना है कि-) प्रकारता में भ्रम के सर्वानुभवसिद्ध होने पर भी सम्बन्धतावच्छेदकांश में भ्रमत्व भी अन्यत्र उपपादित है। अभिप्राय यह है कि यहाँ पर **'अत्राकाशौ'** इत्यादि स्थलों में आकाश में द्वित्व प्रकार बनकर भासता है, उसमें सम्बन्ध है पर्याप्ति, उस पर्याप्ति रूप सम्बन्ध में आकाशत्वव्याप्यत्व मौजूद नहीं है फिर भी भासता है। इस प्रकार यहाँ पर भ्रम सम्बन्धतावच्छेदकांश में हो रहा है। सम्बन्धतावच्छेदकांश में भ्रम तो प्रसिद्ध है नहीं। इस पर कहना है कि सम्बन्धतावच्छेदकांश में भ्रम भी अन्यत्र उपपादित है। अन्यत्र से ग्रन्थकार का क्या आशय है यह स्पष्ट नहीं होता है। यहाँ पर समाधान यह भी दिया जाता है कि परस्पर विशेष्यविशेषणभावापन्नों में ही संसर्गता स्वीकार की जाती है। इसलिए विशेष्यतावच्छेदकांश में और विशेषणतावच्छेदकांश में जैसे भ्रम हुआ करता है, सम्भव होता है, उसी प्रकार संसर्गतावच्छेदकांश में भी भ्रम सम्भव है क्योंकि उसके भी विशेष्यविशेषणभावापन्न होने के कारण विशेष्यतावच्छेदक या विशेषणतावच्छेदक रूप ही संसर्गतावच्छेदक होता है।

**न च प्रकृत्यर्थतावच्छेदक एव व्यापकतासम्बन्धेन द्वित्वान्वयधीः किं नोपेयत इति वाच्यम्, 'घटौ' इत्यादौ घटत्वादीनां स्वरूपत एवोपस्थिततया तत्रोक्तान्वयबोधस्यासम्भवात्। स्वव्यापकीभूतोद्देश्यतावच्छेदकवत्त्वरूप परम्पराया एव प्रकृत्यर्थे द्वित्वादेः सम्बन्धतास्वीकारे च व्यापकतारूपसम्बन्धावच्छेदकांशे भ्रमत्वस्यावश्यकतया उद्देश्यतावच्छेदकव्याप्यत्वविशिष्टपर्याप्तेः सम्बन्धतोपेक्षाया निर्बीजत्वात्।**

(अब यहाँ पर प्रश्न कर रहे हैं कि) उद्देश्यतावच्छेदकव्याप्यत्वविशिष्ट पर्याप्ति को सम्बन्ध मानकर उस सम्बन्ध से प्रकृत्यर्थ में संख्या द्वित्वादि का अन्वय करने की अपेक्षा व्यापकता सम्बन्ध से द्वित्वादि संख्या का प्रकृत्यर्थतावच्छेदक में ही क्यों न अन्वय कर लिया जाये ऐसा ही क्यों नहीं स्वीकारते हो? ऐसा करने पर संसर्गतावच्छेदकांश में भ्रम नहीं स्वीकारना पड़ेगा। (उत्तर देते हैं कि) ऐसा नही कह सकते क्योंकि **'घटौ'** इत्यादि स्थलों में घटत्वादि के स्वरूपतः ही उपस्थित होने के कारण घटत्वादि में व्यापकतासम्बन्ध से संख्या द्वित्वादि का अन्वय नहीं हो सकता है। अभिप्राय यह है कि पदार्थन्तरनिष्ठ प्रकारतानिरूपितविशेष्यता सम्बन्ध से शाब्दबोध के प्रति अन्वयितावच्छेदक रूपेण उपस्थिति कारण होती है। यहाँ पर घटत्व की स्वरूपतः उपस्थिति हो रही है, अन्वयितावच्छेदक घटत्वत्वादि रूप से उपस्थिति नहीं हो रही है। अतः उसमें व्यापकता सम्बन्ध से द्वित्व संख्या का अन्वय नहीं किया जा सकता है। स्वव्यापकीभूतोद्देश्यतावच्छेदकवत्त्व रूप परम्परा सम्बन्ध से प्रकृत्यर्थ में द्वित्वादि की सम्बन्धता स्वीकार करने पर अर्थात् स्वव्यापकीभूतोद्देश्यतावच्छेदकवत्त्व सम्बन्ध से द्वित्व का प्रकृत्यर्थ में अन्वय स्वीकारने पर व्यापकता रूप सम्बन्धतावच्छेदकांश में भ्रमत्व आवश्यक होगा। ऐसी स्थिति में उद्देश्यतावच्छेदक व्याप्यत्वविशिष्टपर्याप्ति की सम्बन्धता की उपेक्षा निर्बीज है। आशय यह है कि उद्देश्यतावच्छेदकव्याप्यत्वविशिष्टपर्याप्ति को सम्बन्धता मानने पर द्वित्वपर्याप्ति में आकाश त्वव्याप्यत्व का भ्रम स्वीकार करते है, स्वव्यापकीभूतोद्देश्यतावच्छेदकवत्त्व सम्बन्ध से द्वित्व

का प्रकृत्यर्थ में अन्वय स्वीकारने पर आकाशत्व में द्वित्वव्यापकत्व का भ्रम स्वीकारना पडेगा। इसलिए दोनों ही पक्षों में सम्बन्धतावच्छेदकांश में भ्रम आवश्यक है। अतः इसमें कोई हेतु नहीं है कि ग्रन्थकार द्वारा जो सम्बन्ध स्वीकार किया गया है उसे छोड़ कर दूसरे सम्बन्ध को स्वीकार किया जाये। '**अत्राकाशौ**' में दोनों में से किसी की भी सम्बन्धता स्वीकारने पर सम्बन्धतावच्छेदकांश में भ्रम होगा ही।

**अथात्र व्याप्तिर्व्यापकसामानाधिकरण्यरूपैव वाच्या न तु तद्वदन्यावृत्तित्व -रूपा केवलान्वयिधर्मस्य प्रकृत्यर्थतावच्छेदकता यत्र तत्र प्रसिद्धेः एवं चोद्देश्यतावच्छेदकव्याप्तिविशिष्टपर्याप्त्यपेक्षया लघोः स्वव्यापकता-दृशधर्मवत्त्वस्यैव सम्बन्धत्वमुचितमिति चेत् ? तर्हि 'आकाशौ न द्वौ' इत्यादिवाक्यजन्यशाब्दबोधदशायामपि 'आकाशौ' इत्यादिवाक्याद् द्वित्वबोधापत्तिः तथाहि 'आकाशौ न द्वौ' इत्यादौ द्वित्वावच्छिन्नभेदः प्रतीयते स च न स्वव्यापकाकाशत्ववत्त्वादिसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगितावच्छेदकताकः तादृशसम्बन्धेन द्वित्ववतोऽप्रसिद्धेः। अपितु पर्याप्तिसम्बन्धावच्छिन्न प्रतियोगितावच्छेदकताक एव तत्काले च पर्याप्तिसम्बन्धेन द्वित्वविशिष्ट-बुद्धिरेव प्रतिबध्यते न तूक्तपरम्परासम्बन्धेन तद्विशिष्टबुद्धिरपीति।**

अब प्रश्न करते हैं कि- यहाँ पर व्याप्ति तो व्यापकसामानाधिकरण्य रूप ही लेनी है ऐसा कहना पड़ेगा, तद्वदन्यावृत्तित्व रूप व्याप्ति का ग्रहण यहाँ पर नहीं कर सकते हैं क्योंकि यदि आप तद्वदन्यावृत्तित्व रूप व्याप्ति को ग्रहण करना चाहेंगे तो जहाँ पर केवलान्वयिधर्म की प्रकृत्यर्थतावच्छेदकता होगी वहाँ पर अप्रसिद्धि हो जायेगी। (जैसे कि '**द्वौ प्रमेयौ**' यहाँ पर प्रमेयत्व प्रकृत्यर्थतावच्छेदक और उद्देश्यतावच्छेदक है प्रमेयत्व के केवलान्वयि होने के कारण प्रमेयत्ववदन्य ही अप्रसिद्ध हो जायेगा और प्रमेयत्ववदन्यवृत्तित्व और अवृत्तित्व भी अप्रसिद्ध ही हो जायेगा। इस प्रकार तद्वदन्यावृत्तित्वरूप व्याप्ति उद्देश्यतावच्छेदक की द्वित्व में प्रसिद्ध नहीं है, इस कारण उद्देश्यतावच्छेदकव्याप्तिविशिष्टपर्याप्ति में व्याप्ति करके तद्वदन्यावृत्तित्वरूप व्याप्ति का ग्रहण नहीं कर सकते हैं आप, मजबूरन स्वव्यापकसामामाधिकरण्यरूप व्याप्ति का ही ग्रहण करना पड़ेगा। स्वव्यापकसामानाधिकरण्य रूप व्याप्ति का व्याप्ति पद से परिग्रह करने पर पर्याप्तिव्यापकप्रमेयत्व सामानाधिकरण्य रूपव्याप्ति द्वित्वपर्याप्ति में विद्यमान है। इसलिए अप्रसिद्धि वारित होती है) किन्तु इस प्रकार उद्देश्यतावच्छेदकव्याप्तिविशिष्टपर्याप्ति की अपेक्षा लघुभूत स्वव्यापकोद्देश्यतावच्छेदकवत्त्व को सम्बन्ध बना लेना उचित है। यहाँ पर पूर्व में भी स्वव्यापकोद्देश्यतावच्छेदकवत्त्व की सम्बन्धता के विषय में प्रश्न उठा चुके हैं वहाँ पर यही कहा था कि दोनों ही पक्षों में समान स्थिति है तो एक पक्ष को छोड़ कर दूसरा क्यों ग्रहण किया जाये? यहाँ पर स्वव्यापकीभूतोद्देश्यतावच्छेदकवत्त्व की सम्बन्धता के पक्ष में लाघव है ऐसा कह रहे हैं।

यदि ऐसा कहोगे तो '**आकाशौ न द्वौ**' इत्यादि वाक्य से जन्य शाब्दबोध की दशा में '**आकाशौ**' इत्यादि वाक्यों से द्वित्वबोध की आपत्ति है क्योंकि '**आकाशौ न द्वौ**' के द्वारा द्वित्वावच्छिन्न भेद की प्रतीति होती है और वह भेद स्वव्यापकाशत्ववत्त्वादिसम्बन्धावच्छिन्न-प्रतियोगितावच्छेदकताक नहीं है, स्वव्यापकाकाशत्ववत्त्व सम्बन्ध से द्वित्ववान् के ही

अप्रसिद्ध होने के कारण। अभिप्राय यह है कि भेद यत्सम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगितावच्छेदकताक होता है तत्सम्बन्ध से तद्वत्ताबुद्धि का विरोधी होता है। जैसे '**संयोगसम्बन्धेन घटवान् न**' यहाँ पर घटवान् का भेद जो भास रहा है उसका प्रतियोगि घटवान् और प्रतियोगितावच्छेदक घट हुआ। घटनिष्ठप्रतियोगितावच्छेदकता घटत्वरूपधर्म और संयोगसम्बन्ध से अवच्छिन्न है, इस प्रकार यह भेद संयोगसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगितावच्छेदकताक है, इसलिए यह भेद '**संयोगसम्बन्ध से घटवत्ताबुद्धि**' का ही विरोधी होगा समवायादिसम्बन्ध से घटवत्ता का नहीं; भेद ज्ञान के समय घटवत्ताबुद्धि नहीं हो सकेगी। यहाँ पर '**आकाशौ न द्वौ**' के द्वारा आकाश में द्वित्वावच्छिन्न भेद की प्रतीति होती है, उस भेद का प्रतियोगी द्वित्ववान् और प्रतियोगितावच्छेदक द्वित्व है। द्वित्वनिष्ठ प्रतियोगितावच्छेदकता का अवच्छेदक धर्म द्वित्वत्व है और सम्बन्ध पर्याप्ति है। प्रतियोगितावच्छेदकता का अवच्छेदक सम्बन्ध स्वव्यापकी-भूताकाशत्ववत्त्व सम्बन्ध नहीं हो सकता है क्योंकि प्रतियोगितावच्छेदकतावच्छेदक वही सम्बन्ध हो सकता है जिस सम्बन्ध से प्रतियोगितावच्छेदक प्रतियोगि में रहता है। स्वव्यापकी-भूताकाशत्ववत्त्वसम्बन्ध से प्रतियोगितावच्छेदकीभूत द्वित्व का अधिकरण ही अप्रसिद्ध है। द्वित्व प्रतियोगिभूत द्वित्ववान् में नहीं रहता हैं क्योंकि '**आकाशौ न द्वौ**' इस प्रयोग के स्थल में द्वित्वव्यापकीभूताकाशत्व के अप्रसिद्ध होने के कारण द्वित्वव्यापकीभूताकाशत्ववत्त्व भी अप्रसिद्ध है। तथा इस सम्बन्ध से द्वित्ववान् भी अप्रसिद्ध है। इसलिए इस स्थल में पर्याप्तिसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगितावच्छेदकताक ही भेद की प्रसिद्धि होती है क्योंकि पर्याप्ति समबन्ध से द्वित्ववान् प्रसिद्ध है। इस प्रकार पर्याप्ति सम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगितावच्छेदकताक भेद का भान '**आकाशौ न द्वौ**' से होता है। यही स्वीकारना पड़ेगा। इस वाक्य से जन्य शाब्दबोध काल में पर्याप्तिसम्बन्ध से द्वित्वविशिष्ट बुद्धि का ही प्रतिबन्ध किया जायेगा क्योंकि पर्याप्तिसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगितावच्छेदकताक भेद भास रहा है। स्वाभाविक रूप से पर्याप्ति सम्बन्ध से द्वित्ववत्त्व का ही प्रतिबन्धक होगा। स्वव्यापकीभूताकाशत्ववत्त्व सम्बन्ध से द्वित्ववत्ताबुद्धि का प्रतिबन्धक नहीं होगा। इसलिए '**आकाशौ न द्वौ**' इस वाक्य से जन्य शाब्दबोध की दशा में भी '**आकाशौ**' इत्यादिवाक्य से द्वित्वबोध की आपत्ति है जोकि अनुभव विरुद्ध है। इसलिए पर्याप्ति सम्बन्ध से ही द्वित्व का बोध स्वीकारना चाहिए।

**अथ 'आकाशौ न द्वौ' इत्यादौ केवलपर्याप्तिसम्बन्धावच्छिन्न प्रतियोगितावच्छेदकताकभेदो नञा बोधयितुं न शक्यते- आकाशेऽप्युक्त-युक्त्या द्वित्वपर्याप्तेः सत्त्वेन तत्र तेन सम्बन्धेन तद्भेदस्य वक्तुमशक्यत्वात्, आकाशत्वव्याप्यपर्याप्तिसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगितावच्छेदकताकद्वित्वादि मद्भेदश्चाप्रसिद्ध एवेति चेत् ? न, द्वित्वादिपर्याप्तेरुभयादिवृत्तिधर्मेणैवा-वच्छेदात् तदनवच्छेदकैकमात्रवृत्तिधर्मावच्छेदेन तद्वद्भेदस्य तेन सम्बन्धेन द्वित्वादिमद्भेदस्य च तद्वति वृत्तौ बाधकाभावात्।**

अब प्रश्न उठा रहे हैं कि- '**आकाशौ न द्वौ**' इत्यादि स्थलों में केवल पर्याप्ति सम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगितावच्छेदकताक भेद नञ् के द्वारा नहीं बोधित किया जा सकता है, आकाश में पूर्वोक्त युक्ति से (आकाशत्वव्याप्यत्व विशिष्ट पर्याप्ति और आकाशत्वव्याप्ति का पर्याप्ति में वैज्ञानिक वैशिष्ट्य लेकर) द्वित्वपर्याप्ति विद्यमान है, इस प्रकार पर्याप्तिसम्बन्ध

से आकाश के भी द्वित्ववान् होने के कारण आकाश में पर्याप्ति सम्बन्ध से द्वित्ववान् का भेद नहीं बोधित किया जा सकता है। आकाशत्वव्याप्य पर्याप्तिसम्बन्धावच्छिन्न प्रतियोगितावच्छेदकताक द्वित्ववान् का भेद तो अप्रसिद्ध ही है। जैसा कि पूर्वग्रन्थ के द्वारा वताया गया, केवल आकाश में द्वित्व नहीं ही है, इसलिए द्वित्वपर्याप्ति में आकाशत्व व्याप्यत्व नहीं ही है। इस कारण आकाशत्वव्याप्यपर्याप्ति सम्बन्ध से द्वित्ववान् का भेद अप्रसिद्ध है।

यदि ऐसा कहें तो ऐसा नहीं है, क्योंकि द्वित्वादि पर्याप्ति का उभयादिधर्म से ही अवच्छेद होता है, अर्थात् द्वित्वपर्याप्ति का अवच्छेदक उभयवृत्ति धर्म उभयत्व ही होता है। इसलिए उभयत्वावच्छेदेन द्वित्वावच्छिन्न भेद का ही विरोध है, द्वित्वपर्याप्त्यवच्छेदको भयत्ववत् में द्वित्वावच्छिन्न भेद का रहना सम्भव नहीं है। द्वित्व पर्याप्ति के अनवच्छेदक एकमात्रवृत्तिधर्मावच्छेदेन द्वित्वपर्याप्तिमद् भेद के और पर्याप्ति सम्बन्ध से द्वित्वादिमद्भेद के एकमात्रवृत्ति धर्मवत् में वृत्ति में बाधक नहीं है। अभिप्राय यह है कि द्वित्वादि पर्याप्ति का अवच्छेदक एकमात्रवृत्तिधर्म नहीं हुआ करता है, अतः एकमात्रवृत्तिधर्मावच्छेदेन और एकमात्र वृत्तिधर्माधिकरण में द्वित्वादिपर्याप्तिमद् भेद और पर्याप्ति सम्बन्ध से द्वित्ववद् भेद की वृत्ति में बाधक नहीं है। इसलिए **'आकाशौ न द्वौ'** यह प्रयोग उपपन्न होता है क्योंकि द्वित्वपर्याप्त्यनवच्छेदक एकमात्रवृत्ति धर्म आकाशत्वावच्छेदेन द्वित्वावच्छिन्न भेद की वृत्ति में कोई बाधक नहीं हैं।

**न चैवम् -'घटपटौ न द्वौ' इति प्रयोग आपद्येत- घटपटयोरपि प्रत्येकं द्वित्वावच्छिन्नभेदसत्त्वादिति वाच्यम्, द्विवचनाद्युपस्थापितद्वित्वावच्छेदेनैव द्वित्वावच्छिन्नभेदस्य बाधेन तादृशप्रयोगाभावोपपत्तेः। नञा व्यासज्यवृत्तिधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकभेदस्योद्देश्यतावच्छेदकावच्छेदेनैव बोध्यते इति व्युत्पत्तेः द्वित्वसामानाधिकरण्येन तदबाधस्याकिञ्चित्करत्वात् ।**

अब आशङ्का करते हैं कि- इस प्रकार (द्वित्वादि पर्याप्ति को व्यासज्यवृत्तिधर्मावच्छेदेन ही स्वीकार करने पर) **'घटपटौ न द्वौ'** यह प्रयोग होना चाहिए क्योंकि घट और पट दोनों में एक-एक कर द्वित्वावच्छिन्न भेद विद्यमान है। आशय यह है कि जैसे आकाशत्वावच्छेदेन द्वित्वपर्याप्ति के न होने के कारण **'आकाशौ न द्वौ'** यह प्रयोग आकाशत्वावच्छेदेन द्वित्ववद्भेद बोधन के लिए होता है। उसी प्रकार एक-एक कर घटत्वावच्छेदेन और पटत्वावच्छेदेन द्वित्वावच्छिन्न भेद मौजूद है क्योंकि द्वित्व तो व्यासज्यवृत्ति उभयत्व धर्मावच्छेदेन ही रह सकता है न तो घटत्वावच्छेदेन और न तो पटत्वावच्छेदेन।**'घटपटौ न द्वौ'** इस वाक्य के द्वारा घट पटत्वावच्छेदेन ही द्वित्ववद् भेद बोधित होना चाहिए क्योंकि वही उद्देश्यतावच्छेदक होगा। उद्देश्य घट पट, और उद्देश्यतावच्छेदक घट पटत्व। इस प्रकार घटपटत्वावच्छेदेन द्वित्वावच्छिन्नभेद बोधन के लिए **'घटपटौ न द्वौ'** यह प्रयोग होना चाहिए ।

(खण्डन करते हैं कि) ऐसा नहीं कहना चाहिए। द्विवचनाद्युपस्थापित द्वित्वावच्छेदेन ही द्वित्वावच्छिन्न भेद का बाध होने के कारण उक्त प्रयोग का अभाव उपपन्न होता है। अभिप्राय यह है कि **'घटपटौ न द्वौ'** यहाँ पर उद्देश्य घट पट दोनों ही हैं, इसलिए

उद्देश्यतावच्छेदक घटत्व, पटत्व नहीं होगे, बल्कि घटपटोत्तर द्विवचन से उपस्थाप्य द्वित्व ही उद्देश्यतावच्छेदक होता है। द्वित्वावच्छेदेन द्वित्वावच्छिन्नभेद का बाध होने के कारण **'घटपटौ न द्वौ'** यह प्रयोग नहीं हो सकता है। अर्थात् ऐसा प्रयोग करने घटपटोभयत्वावच्छेदेन ही द्वित्वावच्छिन्न भेद बोधित होगा, जबकि घटपटोभयत्वावच्छेदेन पर्याप्ति सम्बन्ध से द्वित्व के मौजूद रहने के कारण बाध होगा, अतः यह प्रयोग नहीं होता है। नञ् के द्वारा व्यासज्यवृत्तिधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताक भेद हमेशा उद्देश्यतावच्छेदकावच्छेदेन ही बोधित होता है यह व्युत्पत्ति है। इसलिए द्वित्वसामानाधिकरण्येन घट में और पट में द्वित्वावच्छिन्न का भेद रहने पर भी उसका बाध नहीं होना अकिंचित् कर है।

**न च घटत्वादेरतिप्रसक्ततया द्वित्वादिपर्याप्तेरनवच्छेदकत्वात् तदवच्छेदेन द्वित्ववद्भेदस्य भवतामप्यनुमतत्वात् प्रकृत्यर्थगतैकत्वविवक्षायां 'घटो न द्वौ' इत्यादिप्रयोगापत्तिरिति वाच्यम्, तादृशप्रयोगाभावे घटत्वादेर्द्वित्व-पर्याप्तेरिव द्वित्वादिमद्भेदस्याप्यनुयोगितावच्छेदकताया अप्रामाणिकत्वात्। प्रतियोगितावच्छेदकानवच्छेदकताया भेदावच्छेदकतानियतत्वासिद्धेः।**

अब ग्रन्थकार एक जटिल आशङ्का उठा रहे हैं कि- घटत्व द्वित्वपर्याप्ति का अवच्छेदक नहीं हो सकता है अतिप्रसक्त होने के कारण। अभिप्राय यह है कि द्वित्वपर्याप्ति के अनधिकरणी भूत अनेक घटों में घटत्व विद्यमान है अतिप्रसक्त धर्म के अवच्छेदकत्व का स्वीकार नहीं किया जाता है। अतः द्वित्वपर्याप्ति का अवच्छेदक घटत्व नहीं हो सकता है, अनवच्छेदक ही होगा। द्वित्वपर्याप्ति का अनवच्छेदक होने के कारण घटत्व के अवच्छेदेन द्वित्ववद् का भेद आपको भी अनुमत ही है। इसलिए प्रकृत्यर्थगत एकत्व की विवक्षा न होने पर भी **'घटो न द्वौ'** यह प्रयोग होना चाहिए। कहने का आशय यह है कि जब प्रकृत्यर्थगत एकत्व की विवक्षा होती है उस स्थिति में तो ऐसा प्रयोग होने में कोई विवाद नहीं है क्योंकि एकत्वविशिष्ट घट में द्वित्व का अभाव होने से द्वित्वावच्छिन्न भेद तो विवक्षित ही है। किंतु प्रकृत्यर्थघटगत एकत्व की विवक्षा न होने की दशा में ऐसा प्रयोग इष्ट नहीं है क्योंकि ऐसी स्थिति में द्वित्व सम्भव है, केवल घट में एकत्व, द्वित्व, बहुत्व कुछ भी सम्भव है। परन्तु आशङ्का यही है कि यदि प्रकृत्यर्थगत एकत्व की विवक्षा न हो तब भी चूँकि घटत्त्व द्वित्व पर्याप्ति का अवच्छेदक नहीं हो सकता है, घटत्वावच्छेदेन द्वित्ववद् भेद आपको भी अनुमत है, अतः **'घटो न द्वौ'** ऐसा प्रयोग होना चाहिए।

समाधान करते हैं कि- ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि प्रकृत्यर्थगत एकत्व की विवक्षा न होने की दशा में (यहाँ पर **'तादृशप्रयोगाभावे'** का तात्पर्य **'तादृशप्रयोगस्थले प्रकृत्यर्थगतैकत्वविवक्षाऽभावे'** ही प्रतीत हो रहा है) जैसे द्वित्वपर्याप्ति की अनुयोगितावच्छेदकता घटत्व में अप्रामाणिक है, उसी प्रकार द्वित्वादिमद्भेद की अनुयोगितावच्छेदकता भी अप्रामाणिक है। अर्थात् जैसे द्वित्वपर्याप्ति से अतिप्रसक्त होने के कारण घटत्व द्वित्व पर्याप्ति का अवच्छेदक (अनुयोगितावच्छेदक) नहीं बनता है, उसी प्रकार द्वित्वादिमद् भेद से भी घटत्व अतिप्रसक्त है क्योंकि **'घटपटौ द्वौ'** इस स्थल में द्वित्व रहने के कारण द्वित्वावच्छिन्न भेद का अभाव रहने पर भी (द्वित्वावच्छिन्न भेद नहीं है घट में और) घटत्व विद्यमान है। इसलिए द्वित्वादिमद्भेद का भी अनुयोगितावच्छेदकत्व घटत्व

में अप्रामाणिक है। इस कारण प्रकृत्यर्थ गत एकत्व की विवक्षा न होने की दशा में '**घटो द्वौ**' ऐसा प्रयोग भी नहीं हो सकता है क्योंकि घटत्व द्वित्व पर्याप्ति का अनुयोगितावच्छेदक नहीं है, और '**घटो न द्वौ**' ऐसा प्रयोग भी नहीं हो सकता है क्योंकि घटत्व द्वित्वादिमद् भेद का भी अनुयोगितावच्छेदक नहीं है। द्वित्वपर्याप्ति की अनुयोगितावच्छेदकता की तरह द्वित्वादिमदभेद की भी अनुयोगितावच्छेदकता घटत्व में अप्रमाणिक है। '**घटो न द्वौ**' यह प्रयोग द्वित्वादिमद् भेद की अनुयोगितावच्छेदकता को लेकर ही हो सकता है, वह तो अप्रामाणिक है। अतः ऐसा प्रयोग सम्भव नहीं है।

इस पर किसी का कहना है कि 'जो यद् भेदीयप्रतियोगितावच्छेदकानवच्छेदक हेता है वह तद्भेदावच्छेदक हेता है' ऐसा नियम है। चूँकि घटत्व द्वित्ववद् भेदीय प्रतियोगितावच्छेदक द्वित्व का अवच्छेदक (अनुयोगितावच्छेदक) नहीं बनता है, अतः द्वित्ववद् भेद का अवच्छेदक होगा। इसलिए आप जो यह कह रहे हैं कि द्वित्ववद् भेद की अनुयोगितावच्छेदकता घट में अप्रमाणिक है, वह ग़लत है। इसका खण्डन करने के लिए ग्रन्थकार कह रहे हैं कि प्रतियोगितावच्छेदकानवच्छेदकता में भेदावच्छेदकतानियतत्व की असिद्धि है। अर्थात् आप जिस नियम का हवाला देकर घटत्व में द्वित्ववद् भेदावच्छेदकत्व सिद्ध करना चाह रहे हैं, वह नियम ही असिद्ध है। असिद्ध नियम से कभी भी किसी की सिद्धि नहीं की जा सकती है। यह नियत है ही नहीं कि भेद का प्रतियोगितावच्छेदकानवच्छेदक घटत्वादि भेद के अवच्छेदक होते ही हैं उक्त नियम के असिद्ध होने के कारण।

**अस्तु वाऽतिप्रसक्तोऽपि घटत्वादिर्द्वित्वपर्याप्तेरवच्छेदकः 'घटौ' इत्यादि प्रतीतिबलात् ।**

**वस्तुतस्तु घटत्वादेः प्रत्येकं द्वित्वपर्याप्त्यनवच्छेदकत्वेऽपि द्वित्वपर्याप्तित्वावच्छिन्नानतिप्रसक्ततया तदवच्छिन्नावच्छेदकत्वमव्याहतमेव।**

अब अतिप्रसक्त धर्म की भी अवचछेदकता को स्वीकारते हुए कहते हैं-

ठीक है, अतिप्रसक्त भी घटत्वादि द्वित्वपर्याप्ति के अवच्छेदक हो जायें '**घटौ**' इत्यादि प्रतीति के बल से। अभिप्राय यह है कि '**घटौ**' ऐसी प्रतीति हुआ करती है, इसमें घट में द्वित्व का अन्वय होता है जो कि घटपदोत्तर द्विवचन से उपस्थाप्य है। इस घटपदोत्तर द्विवचन से उपस्थाप्य द्वित्व की पर्याप्ति का अवच्छेदक कौन होगा? पूर्व में कह आये हैं कि '**द्वित्वादिपर्याप्तेरुभयादिवृत्तिधर्मेणैवावच्छेदात्**' अर्थात् द्वित्वादि की पर्याप्ति का अवच्छेद उभयादिवृत्ति धर्मों से ही होता है। यहाँ पर कोई द्वित्व, उभयत्व तो भास नहीं रहा है। '**घटौ द्वौ**' कहने पर घट पदोत्तर द्विवचन से भी द्वित्व बोधित होता है, द्वि पद के द्वारा भी, द्विवचनोपस्थाप्य द्वित्वावच्छेदेन द्विपदोपस्थाप्य द्वित्व का अन्वय किया जा सकता है। '**घटौ**' में द्विवचनोपस्थाप्य द्वित्व का घटत्वावच्छेदेन ही अन्वय करना पड़ेगा, अन्य कोई मार्ग दिखता नहीं। वह घटत्व अतिप्रसक्त है द्वित्व पर्याप्ति की अपेक्षा। इसीलिए ग्रन्थकार कहते हैं कि अतिप्रसक्त भी घटत्वादि को द्वित्वपर्याप्ति का अवच्छेदक मान लिया जाये। ऐसा स्वीकार लेने पर पूर्व की आपत्ति सम्भव नहीं है क्योंकि वह आपत्ति इस पूर्वधारणा पर आधारित है कि द्वित्व पर्याप्ति का अवच्छेदक घटत्व अतिप्रसक्त होने के कारण नहीं हो सकता है।

वस्तुतः तो घटत्वादि के प्रत्येक द्वित्वपर्याप्ति का अनवच्छेदक होने पर भी द्वित्वपर्याप्तित्वावच्छिन्नानतिप्रसक्त होने के कारण तदवच्छिन्नावच्छेदकत्व अव्याहत ही है। कहना यह है कि द्वित्वपर्याप्ति अनेक है, एक-एक द्वित्व पर्याप्ति के प्रति घटत्व के अतिप्रसक्त होते हुए भी (अतः प्रत्येक द्वित्वपर्याप्ति का अनवच्छेदक हेते हुए भी) द्वित्वपर्याप्तित्वावच्छिन्न के प्रति घटत्व अनतिप्रसक्त है। अर्थात् जहाँ जहाँ घटत्व है वहाँ वहाँ कोई न कोई द्वित्वपर्याप्ति अवश्य है। इसलिए द्वित्वपर्याप्तित्वावच्छिन्न के प्रति घटत्व के अनतिप्रसक्त होने के कारण घटत्व का द्वित्वपर्याप्तित्वावच्छिन्न के प्रति अवच्छेदकत्व अव्याहत है। सारांश यह कि अवच्छेदक तो अनतिप्रसक्त ही होना चाहिए। घटत्व यद्यपि तत् तत् द्वित्वपर्याप्ति का अवच्छेदक नहीं है अतिप्रसक्त होने के कारण किंतु द्वित्वपर्याप्तित्वावच्छिन्न का अवच्छेदक है। अतः पूर्वग्रन्थ के द्वारा जो आपत्ति दी जा रही थी इस पूर्वधारणा के आधार पर कि घटत्व द्वित्व पर्याप्ति का अवच्छेदक नहीं है, वह खण्डित हो जाती है।

**अथ पर्याप्त्याख्यविलक्षणसम्बन्ध एवाप्रामाणिकस्तत्कथं तत्सम्बन्धता? 'आकाशौ न द्वौ' इति प्रतीतिस्तु समवायसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगितावच्छेदकताकद्वित्वावच्छिन्नभेदविषयिकैवास्ताम् -आकाशादौ द्वित्व समवायसत्त्वेऽपि द्वित्वादेरेवोभयादिवृत्तिधर्ममात्रावच्छिन्नत्वोपगमात् तदनवच्छेदकाकाशत्वाद्यवच्छेदेन समवायसम्बन्धेन तद्वतो भेदस्य वृत्तौ बाधकाभावादिति चेत् ?**

**न, 'आकाशौ' इत्यादिवाक्यजन्यशाब्दबोधस्याप्रमात्वानुपपत्त्यैव तादृशसम्बन्धसिद्धेः, समवायविषयकत्वे प्रमात्वनिराकरणस्याशक्यत्वात्; उद्देश्यतावच्छेदकव्याप्तिविशिष्टसमवायस्य संसर्गतोपगमे 'घटौ' इत्यादिवाक्यस्याप्यप्रमाणतापत्तिः समवायस्यैक्येन घटादिनिष्ठस्य द्वित्वादिसमवायस्य घटादावपि सत्त्वेन घटत्वाद्यव्याप्यत्वात् ।**

अब ग्रन्थकार पर्याप्ति सम्बन्ध की अप्रामाणिकता का प्रश्न उठा रहे है कि- पर्याप्तिनामक यह विलक्षण सम्बन्ध ही अप्रामाणिक है तो कैसे पर्याप्ति की सम्बन्धता हो सकती है? कैसे पर्याप्ति सम्बन्ध से शाब्दबोध में संख्या का भान हो सकता है? **'आकाशो न द्वौ'** यह प्रतीति तो समवायसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगितावच्छेदकताक द्वित्वावच्छिन्न भेद विषयिका ही हो जाये अर्थात् यहाँ पर पर्याप्ति सम्बन्ध का प्रतियोगितावच्छेदकतावच्छेदक सम्बन्ध विधया भान नहीं होता है बल्कि समवाय समबन्ध का प्रतियोगितावच्छेदकतावच्छेदक सम्बन्ध विधया भान होता है। अर्थात् समवाय समबन्ध से द्वित्ववान् का भेद लिया जाता है। पर्याप्ति सम्बन्ध से द्वित्ववान् का भेद यहाँ पर गृहीत नहीं होता है। आकाशादि में द्वित्व समवाय रहने पर भी द्वित्वादि के उभयादि वृत्ति धर्ममात्र से अवच्छिन्नत्व का स्वीकार करने के कारण द्वित्वादि के अनवच्छेदक आकाशत्वादि अवच्छेदेन समवाय सम्बन्ध से द्वित्ववान् के भेद की वृत्ति में कोई बाधक नहीं है। अभिप्राय यह है कि यदि पर्याप्ति के बजाय समवाय का प्रतियोगितावच्छेदकतावच्छेदक सम्बन्ध विधया भान स्वीकारेंगे तो **'आकाशो न द्वौ'** यह प्रतीति नहीं हो सकेगी ऐसी आपत्ति है क्योंकि घटाकाशोभयगत द्वित्व का

समवाय सम्बन्ध से आधार है आकाश अर्थात् आकाश द्वित्ववान् है समवाय सम्बन्ध से। आकाश में द्वित्व का समवाय मौजूद रहने की स्थिति में 'समवाय सम्बन्ध से द्वित्ववान् नहीं है आकाश' ऐसी प्रतीति नहीं हो सकेगी। इस कारण **'आकाशो न द्वौ'** इस वाक्य से शाब्दबोध नहीं हो सकेगा बाध होने के कारण। इस आपत्ति का निवारण करते हैं कि जैसे समवाय के एक होने से वायु में स्पर्श समवाय विद्यमान है तो रूपसमवाय भी विद्यमान है, किन्तु रूप समवाय होने पर भी रूप न होने के कारण रूपाभाववत्ताबुद्धि वायु में होती है। उसी प्रकार आकाश में द्वित्व समवाय होने के बावजूद भी चूँकि द्वित्वादि उभयादि वृत्तिधर्ममात्रावच्छिन्न होते हैं अर्थात् द्वित्वादि के अनुयोगितावच्छेदक उभयादिवृत्तिधर्ममात्र होते हैं। इसलिए द्वित्वादि के अनुयोगितावच्छेदक आकाशत्वादि के अवच्छेदेन समवाय सम्बन्ध से द्वित्ववान् के भेद की वृत्ति में कोई बाधक नहीं है। **'आकाशो न द्वौ'** कहने पर आकाशत्व ही अनुयोगितावच्छेदक बन कर भासता है वह आकाशत्व एकव्यक्तिवृत्ति धर्म है और द्वित्वादि के अनुयोगितावच्छेदक बनने के लिए द्वित्वादि का उभयादिवृत्तिधर्म होना आवश्यक है। इसलिए द्वित्व का अनुयोगितानवच्छेदक है आकाशत्व, अतः आकाशत्वावच्छेदेन द्वित्ववान् के भेद की वृत्ति में कोई बाधक नहीं है।

खण्डन करते हैं कि- ऐसा नहीं है। **'आकाशौ'** इत्यादि वाक्य से जन्य शाब्दबोध के अप्रमात्व की अनुपपत्ति होने के कारण ही पर्याप्ति सम्बन्ध की सिद्धि होती है। ऐसी बुद्धि यदि समवायविषयिका हो तो उसके प्रमात्व का निराकारण करना अशक्य होगा। अभिप्राय यह है कि यदि पर्याप्ति सम्बन्ध के अप्रमाणिक होने के कारण आप समवाय सम्बन्ध की ही संसर्गता पर्याप्ति सम्बन्ध स्थल में स्वीकार करोगे तो **'आकाशौ'** इत्यादिवाक्य से जन्य शाब्दबोध का अप्रमात्व उपपन्न नहीं हो सकेगा और प्रमात्व निराकरण अशक्य होगा। **'आकाशौ'** के द्वारा आकाशानुयोगिक द्वित्वविषयक शाब्दबोध होता है, यह अप्रमा है यह निश्चित है किन्तु समवाय सम्बन्ध से यदि संख्या का अन्वय स्वीकारेंगे तो इसका प्रमात्व दुर्वार होगा क्योंकि तदभाववत् में तद्वत् का अनुभव ही अप्रमा होता है, किन्तु समवाय सम्बन्ध से द्वित्ववत् आकाश में ही द्वित्व का अनुभव यहाँ हो रहा है। पर्याप्ति की सम्बन्धता स्वीकारने पर तो द्वित्व पर्याप्ति के घटाकाशोभय में ही रहने के कारण केवल आकाश में द्वित्वपर्याप्ति के न रहने के कारण पर्याप्ति सम्बन्ध से द्वित्व की आकाश में विद्यमानता सम्भव न होने से पर्याप्ति सम्बन्ध से द्वित्वाभाववत् में पर्याप्ति सम्बन्ध से द्वित्व का अनुभव होने के कारण उक्त शाब्दबोधात्मक अनुभव अप्रमा होगा। इसलिए पर्याप्ति की ही संसर्गता स्वीकार की जानी चाहिए।

यद्यपि समवाय सम्बन्ध से आकाश में द्वित्व आकाशत्वावच्छेदेन नहीं है अपितु घटाकाशोभयत्वावच्छेदेन ही है। इसलिए यदि पर्याप्ति का स्वीकार न करें तो भी उक्त बुद्धि का अप्रमात्व व्यवस्थापित किया जा सकता है। जैसे मूलावच्छेदेन वृक्ष के कपिसंयोगी न रहने के कारण मूलावच्छेदेन कपिसंयोग को विषय करने वाली बुद्धि अप्रमा ही होती है प्रमा नहीं होती है। उसी प्रकार आकाशत्वावच्छेदेन समवाय सम्बन्ध से द्वित्व आकाश में नहीं है और शाब्दबुद्धि के द्वारा आकाशत्वावच्छेदेन ही द्वित्व का बोध हो रहा है। इसलिए पर्याप्ति संबन्ध को न स्वीकारने पर भी **'आकाशौ'** इस वाक्य से जन्य शाब्दबोध का

अप्रमात्व उपादित किया जा सकता है तथापि नियम है कि जो जिसके सम्बन्ध का अवच्छेदक होता है वह उसका भी अवच्छेदक होता है। प्रकृतस्थल में द्वित्वसमवाय का अवच्छेदक है आकाशत्व, तो द्वित्व का भी अवच्छेदक होगा ही। इसलिए आकाशत्वावच्छेदेन द्वित्वसमवाय भी है और इसीलिए द्वित्व भी है। अतः '**आकाशौ**' इस प्रतीति का प्रमात्व होने लगेगा। वह न हो इसलिए आकाशत्व से अनवच्छेद्य द्वित्व का कोई सम्बन्ध ढूँढ़ना चाहिए। वह पर्याप्ति ही होगा।

यदि '**आकाशौ**' इसके अप्रमात्व का व्यवस्थापन करने के लिए पर्याप्ति का स्वीकार न कर उद्देश्यतावच्छेदकव्याप्तिविशिष्ट समवाय की संसर्गता स्वीकार करें तो समवाय के एक होने के कारण जो समवाय आकाश में है वही घट में भी है। उद्देश्यतावच्छेदक आकाशत्व के अभाव के अधिकरण घट में समवाय के वृत्ति होने के कारण इस समवाय में उद्देश्यतावच्छेदक आकाशत्व का व्याप्यत्व नहीं है और उद्देश्यतावच्छेदकव्याप्तिविशिष्ट समवाय सम्बन्ध से आकाश में द्वित्व के असम्भव होने के कारण '**आकाशौ**' इस प्रतीति का अप्रमात्व उपपादित किया जा सकता है। इसके लिए कहते हैं कि- उद्देश्यतावच्छेदक व्याप्ति विशिष्ट समवाय की संसर्गता का स्वीकार करने पर '**घटौ**' इत्यादि वाक्य के अप्रामाण्य की आपत्ति है क्योंकि समवाय के एक होने के कारण घटादिनिष्ठ द्वित्वादिसमवाय के पट आदि में भी रहने के कारण द्वित्वादि समवाय घटत्वादि का अव्याप्य ही होगा। इसलिए उद्देश्यतावच्छेदकव्याप्ति विशिष्ट समवाय सम्बन्ध से घट में द्वित्व के असम्भव होने के कारण '**घटौ**' इस प्रतीति का अप्रामाण्य होने लगेगा।

**न चोद्देश्यतावच्छेदकव्याप्यद्वित्वादिसमवायत्वेनैव सम्बन्धतास्तु द्वित्वादि समवायस्य घटत्वाद्यव्याप्यत्वेऽपि द्वित्वादेस्तद्व्याप्यतया न 'घटौ' इत्यादेरप्रमाणतेति वाच्यम्, एवं सति तथाविधद्वित्वादेरेव लाघवेन द्वित्वादिसम्बन्धतौचित्यात्।**

अब पर्याप्ति की संसर्गता न स्वीकारनी पड़े इसके लिए दूसरे तरीके से भी प्रयास करते हैं कि -उद्देश्यतावच्छेदक व्याप्ति विशिष्ट द्वित्वादि के समवाय की ही संसर्गता क्यों न स्वीकार कर ली जाये (पूर्व में उद्देश्यताव्च्छेदक से व्याप्य समवाय को पकड़ा जा रहा था यहाँ पर उद्देश्यतावच्छेदक से व्याप्य द्वित्व को पकड़ा जा रहा है यह अन्तर है) द्वित्वादि समवाय के उद्देश्यतावच्छेदक घटत्वादि का व्याप्य न होने पर भी द्वित्वादि के फिर भी घटत्वादि का व्याप्य होने के कारण '**घटौ**' इत्यादि की अप्रमाणता नहीं होगी। आशय यह है कि पूर्व में दो आपत्तियाँ दिखलायी गयी थी 1. '**आकाशौ**' इस प्रताति की प्रमात्त्वापत्ति 2. उद्देश्यतावच्छेदकव्याप्य समवाय की संसर्गता स्वीकारने पर '**घटौ**' इस प्रतीति की अप्रमात्वापत्ति। उद्देश्यतावच्छेदक व्याप्य द्वित्व के समवाय की सम्बन्धता स्वीकारने पर दोनों ही दूर हो जाती है। आकाशत्व का व्याप्य द्वित्व नहीं है और द्वित्व समवाय का संसर्ग विधया भान हो रहा है। अतः अप्रमा ही है। उसके प्रमात्व की आपत्ति नहीं है। घटत्व का व्याप्य द्वित्व है (बोध्य द्वित्व दो घटों में ही वृत्ति है) उस द्वित्वसमवाय को संसर्ग बनाने पर कोई आपत्ति नहीं है, प्रमात्व निर्विरोध सिद्ध है। तो ऐसा नहीं कहना चाहिए यदि उद्देश्यतावच्छेदक व्याप्य द्वित्व के समवाय को ही संसर्ग बनाना है तो उसकी अपेक्षा उद्देश्यतावच्छेदक व्याप्य द्वित्व की ही सम्बन्धता लाघव होने के कारण माननी चाहिए समवाय प्रवेश का कोई प्रयोजन नहीं दिखता है। अर्थात् द्वित्वात्मक स्वरूपसम्बन्ध की ही सम्बन्धता स्वीकार लेनी चाहिए ।

**अथास्त्वेवमपि पर्याप्तिसम्बन्धस्य विलयादिति चेत् ? न द्वित्वादि-स्वरूपस्यैव द्वित्वादिपर्याप्तितयाऽभिमतसिद्धेः। उक्तं च दीधितिकृता- 'पर्याप्तिश्च "अयमेको घट इमौ द्वौ" इत्यादिप्रतीतिसाक्षिकः स्वरूपसम्बन्ध-विशेषः' इति। समवायस्य नानात्वमते च द्वित्वादिसमवाय एव तत्पर्याप्तिर्नतु स्वरूपमतिरिक्तपदार्थो वेत्यन्यदेतत्।**

ठीक है ऐसा ही हो जाये, ऐसा ही स्वीकार कर लिया जाये उससे भी पर्याप्ति सम्बन्ध का विलय हो जायेगा। आशय यह है कि पिछले ग्रन्थ के द्वारा उद्देश्यतावच्छेदक व्याप्य द्वित्वादि के समवाय की संसर्गता का निराकरण करते हुए कहा कि इसकी अपेक्षा उद्देश्यतावच्छेदकव्याप्य द्वित्वादि की ही संसर्गता स्वीकार करने में लाघव है, उसलिए वही उचित है। उसी पर अब कहा जा रहा है कि उद्देश्यतावच्छेदक व्याप्य द्वित्वादि की ही संसर्गता क्यों न स्वीकार कर ली जाये, उद्देश्यतावच्छेदकव्याप्य द्वित्वादि की संसर्गता स्वीकारने पर भी पर्याप्ति की संसर्गता का तो विलय हो ही जायेगा। पर्याप्ति की संसर्गता नहीं सिद्ध हो सकेगी। यदि ऐसा कहो तो ठीक नहीं है क्योंकि द्वित्वादि पर्याप्ति द्वित्वादिस्वरूप ही होती है इसलिए अभिमत की ही सिद्धि हो रही है। आशय यह है कि द्वित्वादि पर्याप्ति जिसको कि सम्बन्ध बनाने के लिए हम कह रहे हैं, वह द्वित्वादि पर्याप्ति उद्देश्यतावच्छेदकव्याप्य द्वित्वादि स्वरूप ही होती है, उससे अलग नहीं होती है। उद्देश्यतावच्छेदकव्याप्य द्वित्वादि की यदि आप संसर्गता स्वीकार रहे हैं तो वह पर्याप्ति की ही संसर्गता आप नामान्तर से स्वीकार रहे हैं। दीधितिकार ने कहा भी है- 'पर्याप्ति "यह एक घट है ये दो हैं" इत्यादि प्रतीतिसाक्षिक स्वरूपसम्बन्ध विशेष ही है' स्वरूपसम्बन्ध का आशय यह होता है कि स्वरूप ही सम्बन्ध है, जिसका सम्बन्ध होता है तत्स्वरूप ही सम्बन्ध होता है। समवाय के नानात्व मत में (समवाय के विषय में दो सिद्धान्त है एक का कथन है कि समवाय एक है दूसरे का कथन है कि समवाय अनेक है। इसमें समवाय की एकता के मत में पर्याप्ति की संसर्गता होती है, समवाय की अनेकता के मत में) द्वित्वादि का समवाय ही द्वित्वादि की पर्याप्ति है न तो स्वरूप और न तो कोई अतिरिक्त पदार्थ यह अलग बात है। समवाय नानात्व मत में समवाय की ही संसर्गता स्वीकारी जाती है अर्थात् द्वित्वादि समवाय को ही द्वित्वादिपर्याप्ति कहते हैं द्वित्वादि स्वरूप पर्याप्ति नहीं होती है। समवाय के नाना होने के कारण "**आकाशौ**' इस प्रतीति का अप्रमात्व और '**घटौ**' इस प्रतीति का प्रमात्व सूपपाद है क्योंकि समवाय के नाना होने से घटादि गत द्वित्वसमवाय आकाश में है नहीं अतः **आकाशौ** का अप्रभात्व होता है। घट में द्वित्व समवाय और द्वित्व मौजूद हैं अतः '**घटौ**' का प्रभात्व होता है।

**यत्तु 'आकाशं न द्वे' इत्यादिप्रतीतिवत् 'आकाशं न द्वित्ववत्' इति प्रतीतेः प्रमात्वस्य वारणाय समवायेन द्वित्वादिमद्भेद आकाशत्वावच्छेदेन न स्वीकर्तव्यः, तथा च पर्याप्तेरविलक्षणत्वे 'आकाशं न द्वे' इत्यादि प्रतीतेरप्यप्रमात्वापत्तिरिति, तन्न -'आकाशं न द्वित्ववत्' इतिप्रतीतौ द्वित्वसमवायावच्छिन्नभेद एव विषयो मतुपा सम्बन्ध्युल्लेखात् न तु द्वित्वावच्छिन्नभेदः, एवं चाकाशत्वाद्यवच्छेदेन द्वित्वाद्यवच्छिन्नभेद एव**

**स्वीकर्तव्यो न तु तत्सम्बन्धावच्छिन्नभेद इति 'आकाशं न द्वे' इति प्रतीतेरप्रमात्वस्य 'आकाशं न द्वित्ववत्' इत्यादि प्रतीतेर्वा प्रमात्वस्य न प्रसङ्गः इति।**

समवाय से भिन्न पर्याप्ति सम्बन्ध की सिद्धि के लिए अन्य के द्वारा दी गयी युक्ति का खण्डन करने के लिए उपस्थापन कर रहे हैं कि- जो यह कहना है कि **'आकाशं न द्वे'** इस प्रतीति की तरह **'आकाशं न द्वित्ववत्'** इस प्रतीति के प्रमात्व का वारण करने के लिए समवाय से द्वित्वादिमद् भेद आकाशत्वावच्छेदेन नहीं स्वीकारना चाहिए और पर्याप्ति के समवाय से विलक्षण न मानने पर **'आकाशं न द्वे'** इस प्रतीति के भी अप्रमात्व की आपत्ति है। अभिप्राय यह है कि **'आकाशं न द्वे'** यह प्रतीति दो आकाशों के न होने के कारण होती है और उसका प्रमात्व भी इष्ट है। घटाकाशोभयगत द्वित्व के आकाश में रहने के कारण उस द्वित्व से आकाश के भी द्वित्ववान् होने के कारण **'आकाशं न द्वित्ववत्'** ऐसी प्रमात्मिका प्रतीति नहीं होती है। यदि **'आकाशं न द्वे'** इस प्रतीति के द्वारा और **'आकाशं न द्वित्ववत्'** इस प्रतीति के द्वारा द्वित्वावच्छिन्न भेद का ही प्रतिपादन होता है तो दोनों वाक्यों से जन्य प्रतीतियों की समानता और दोनों वाक्यों से जन्य प्रतीतियों में समान रूप से प्रमात्व या अप्रमात्व होगा। जब कि इनमें प्रथम का प्रमात्व और द्वितीय का अप्रमात्व होता है। इसलिए समवाय सम्बन्ध से द्वित्वावच्छिन्न भेद आकाशत्वावच्छेदेन नहीं स्वीकार करना चाहिए। ऐसा करने पर **'आकाशं न द्वित्ववत्'** इस प्रतीति से समवाय सम्बन्ध से द्वित्वादिमद् भेद विषय होता है जबकि आकाशत्वावच्छेदेन समवाय सम्बन्ध से द्वित्वादिमद् भेद वस्तुतः है नहीं। अतः इस प्रतीति का अप्रमात्व होता है। **'आकाशं न द्वे'** के द्वारा आकाशत्वावच्छेदेन पर्याप्ति सम्बन्ध से द्वित्वादिमद्भेद विषय होता है जो कि आकाशत्वावच्छेदेन विद्यमान है। इस कारण **'आकाशं न द्वे'** का प्रमात्व होता है। यदि पर्याप्ति को समवाय सम्बन्ध से विलक्षण न मानेंगे (अर्थात् पर्याप्ति को समवाय सम्बन्धात्मक ही मानेंगे) तो जिस प्रकार **'आकाशं न द्वित्ववत्'** के द्वारा समवायसम्बन्ध से आकाशत्वावच्छेदेन द्वित्वादिमद् भेद के विषय होने के कारण इस प्रतीति का अप्रमात्व होता है, उसी तरह **'आकाशं न द्वे'** इस प्रतीति के भी अप्रमात्व की आपत्ति है क्योंकि उसके द्वारा भी आकाशत्वावच्छेदेन समवाय सम्बन्ध से द्वित्वादिमद्भेद ही विषय किया जा रहा है। अतः पर्याप्तिसम्बन्ध को समवाय से विलक्षण मानना चाहिए।

वह उचित नहीं है, **'आकाशं न द्वित्ववत्'** इस प्रतीति में द्वित्वसमवायावच्छिन्न भेद ही विषय होता है, मतुप् के द्वारा सम्बन्धी का उल्लेख होने के कारण द्वित्वावच्छिन्न भेद नहीं। अर्थात् द्वित्ववत् का भेद आकाश में विषय हो रहा द्वित्व के बाद जो वतुप् प्रत्यय है वह सम्बन्धी का ही उल्लेख करता है, अतः द्वित्वसम्बन्ध (समवाय) विशिष्ट का भेद ही विषय होता है। आकाशत्वावच्छेदेन द्वित्वावच्छिन्न का भेद ही स्वीकर्तव्य है द्वित्वसम्बन्धावच्छिन्न भेद नहीं। **'आकाशं न द्वे'** के द्वारा आकाशत्वावच्छेदेन द्वित्वावच्छिन्नभेद विषयीभूत होता है। **'आकाशं न द्वित्ववत्'** के द्वारा आकाशत्वावच्छेदेन द्वित्वसमवायावच्छिन्न भेद विषय होता है। आकाशत्वावच्छेदेन द्वित्वावच्छिन्न भेद स्वीकार्य है, द्वित्व समवायावच्छिन्न भेद नहीं। अतः **'आकाशं न द्वे'** यह प्रमा और **'आकाशं न द्वित्ववत्'** यह प्रतीति अप्रमा

होती है। इसलिए '**आकाशं न द्वे**' इस प्रतीति के अप्रमात्व और '**आकाशं न द्वित्ववत्**' इस प्रतीति के प्रमात्व का प्रसङ्ग नहीं है। निष्कर्ष यह कि पर्याप्ति को समवाय से विलक्षण न मानने पर भी इस प्रकार प्रमात्व अप्रमात्व का उपपादन सम्भवन है। अतः पूर्वोक्त रीति से '**यत्तु**' प्रतीक के द्वारा उठाया गया मत खण्डित हो जाता है।

**अथोद्देश्यतावच्छेदकव्याप्यपर्याप्तेर्द्वित्वसम्बन्धत्वे 'धवखदिरौ छिनत्ति' इत्यादावुद्देश्यतावच्छेदकीभूतधवत्वखदिरत्वव्याप्यं द्वित्वादिद्वयं प्रत्येव्यं न तु धवखदिरादिपर्याप्तिद्वित्वादिकं तथा चैकैकधवखदिरादितात्पर्येण तथा-प्रयोगानुपपत्तिरिति द्वित्वान्वयितावच्छेदकमपेक्षाबुद्धिविशेषविषयत्वादिरूप-मुभयदिनिष्ठं साहित्यं द्वन्द्वसमासार्थो वाच्यस्तथा च मीमांसकमतप्रवेश इति चेत् ? न, यत्रैकधर्मस्य द्वित्वाद्युद्देश्यतावच्छेदकता तत्रैवोद्देश्यतावच्छेदक व्याप्तिविशिष्टपर्याप्तेः संसर्गतानियमः। यत्र धर्मद्वयादेस्तथात्वं तत्र केवला पर्याप्तिः समवाय एव वा संसर्ग इत्युपगमाद् विनैव साहित्यस्यान्वयिता-वच्छेदकतामेकैकतात्पर्येण 'धवखदिरौ' इत्यादि प्रयोगोपपत्तेः।**

अब अनेक आशंकाओं के उत्थान और समाधानोपरान्त पर्याप्ति सम्बन्ध का स्वीकार करना ही उचित कल्प है इस निष्कर्ष पद पहुँचे। पर्याप्ति सम्बन्ध की सम्बन्धता को सिद्धान्तित करते समय कहा था कि उद्देश्यतावच्छेदक व्याप्य पर्याप्ति को द्वित्वादि का सम्बन्ध मानते हैं। उस पर आक्षेप कर रहे हैं कि- उद्देश्यतावच्छेदकव्याप्य पर्याप्ति को द्वित्व का सम्बन्ध मानने पर '**धवखदिरौ छिनत्ति**' इत्यादि स्थलों में उद्देश्यतावच्छेद की भूत धवत्वखदिरत्व का व्याप्य द्वित्वादिद्वय ही प्रत्येतव्य होना चाहिए (क्योंकि धवत्व और खदिरत्व का व्याप्य एक द्वित्व तो हो नही सकता है) धवखदिरादि पर्याप्तद्वित्वादि प्रत्येतव्य नहीं होगा इस प्रकार एक-एक धव और खदिर के तात्पर्य से '**धवखदिरौ छिनत्ति**' ऐसा प्रयोग नहीं होना चाहिए, एक-एक धवखदिर के तात्पर्य से ऐसे प्रयोग की अनुपपत्ति होगी। यहाँ पर एक-एक धव खदिर के तात्पर्य से ऐसा प्रयोग किया जाता है जोकि नहीं हो सकता है क्योंकि उद्देश्यतावच्छेदकीभूत धवत्व का व्याप्य एक द्वित्व होगा और खदिरत्व का व्याप्य दूसरा द्वित्व होगा एक द्वित्व का धव में और एक का खदिर में अन्वय होगा। इस प्रकार धवगत द्वित्वपर्याप्ति और खदिरगत द्वित्वपर्याप्ति के बोधन के लिए ही ऐसा प्रयोग होगा। एक-एक धवखदिर तात्पर्य से नहीं होगा। इसका कारण यह है एक-एक धव खदिर का बोधन करना जब प्रयोजन होगा तो धव खदिर उभय गत द्वित्वपर्याप्ति में न तो धवत्व रूप उद्देश्यतावच्छेदक की व्याप्यता है और न तो खदिरत्व रूप उद्देश्यतावच्छेदक की व्याप्यता है क्योंकि धवत्वाभावाधिकरण खदिर में और खदिरत्वाभावाधिकरण धव में द्वित्वपर्याप्ति विद्यमान है। इसलिए उद्देश्यतावच्छेदकव्याप्यपर्याप्ति नहीं मिल सकेगी। जबकि एक-एक धव खदिरादितात्पर्य से भी उक्त प्रयोग होता है। इसलिए द्वित्वान्वयितावच्छेदक अपेक्षाबुद्धिविशेषविषयत्वादिरूप उभयादिनिष्ठ साहित्य है जोकि द्वन्द समास का अर्थ है ऐसा स्वीकारना चाहिए। ऐसा कहने पर मीमांसकमत में प्रवेश होगा। क्योंकि नैयायिक तो समास में शक्ति नहीं मानते हैं अवयवशक्ति से ही निर्वाहसम्भव होने के कारण समस्तपदों की शक्ति के द्वारा ही निर्वाह सम्भव है, अतः समास में शक्ति नहीं है ऐसा नैयायिकों का

कहना है। मीमांसक समास में शक्ति मानते हैं और द्वन्द्व समास की शक्ति साहित्य में है ऐसा कहते हैं। यदि वही आप भी स्वीकारेंगे तो मीमांसकमत में प्रवेश होगा।

तो ऐसा नहीं है, जहाँ पर एक धर्म की द्वित्वादि के प्रति उद्देश्यतावच्छेदकता होती है, वहीं पर उद्देश्यतावच्छेदकव्याप्तिविशिष्ट पर्याप्ति की संसर्गता का नियम है। जहाँ पर धर्मद्वयादि की द्वित्वादि के प्रति उद्देश्यतावच्छेदकता हैं वहाँ पर केवल पर्याप्ति या केवल समवाय ही संसर्ग होता है ऐसा स्वीकारने के कारण विना ही साहित्य की अन्वयितावच्छेदकता को स्वीकार किये एक-एक धवखदिर के तात्पर्य से '**धवखदिरौ**' इत्यादि प्रयोग की उपपत्ति हो जाती है। आशय यह है कि '**घटौ**' इत्यादि स्थलों में जहाँ पर एक धर्म घटत्वादि की द्वित्वादि के प्रति उद्देश्यतावच्छेदकता होती है वहाँ पर ही उद्देश्यतावच्छेदकव्याप्यपर्याप्ति की संसर्गता स्वीकारते हैं। '**धवखदिरौ छिनत्ति**' इत्यादि स्थलों में जहाँ पर कि द्वित्वादि के प्रति धर्मद्वयादि (धवत्वत्खदिरत्वादि) की उद्देश्यतावच्छेदकता होती है वहाँ पर केवल पर्याप्ति या समवाय की ही संसर्गता स्वीकारी जाती है। अतः यहाँ पर केवल पर्याप्ति की ही संसर्गता स्वीकारी जाती है। केवल पर्याप्ति की संसर्गता स्वीकारने से उद्देश्यतावच्छेदकव्याप्य न होने पर भी कोई क्षति नहीं है और धवखदिरादिपर्याप्त द्वित्वादि का प्रत्यायन सम्भव होने के कारण एक-एक धवखदिरादितात्पर्य से वैसे प्रयोग की अनुपपत्ति नहीं है। अतः मीमांसकमत प्रवेश की आपत्ति नहीं है।

**न चैवमेकैकधवखदिरादितात्पर्येण 'धवौ' 'खदिरौ' इत्यादि प्रयोगापत्तिः तादृशवाक्यद्वयविषयकसमूहालम्बनजन्यसमूहालम्बनशाब्द-बोधस्य नानाधर्मावच्छिन्नोद्देश्यताकतया शुद्धपर्याप्तेरपि संसर्गतयाऽवगाह-नसम्भवादिति वाच्यम्, यत्र नानाधर्मावच्छिन्नविशेष्यतानिरूपिता एकैव द्वित्वादिप्रकारता तत्रैव शुद्धायाः पर्याप्तेः समवायस्य वा भानात्। 'धवौ' 'खदिरौ इत्यादिनानावाक्यजन्यसमूहालम्बनशाब्दबोधे विशेष्यताभेदेन प्रकारताभेदादुद्देश्यतावच्छेदकधवत्वादिव्याप्तिविशिष्टपर्याप्तेः संसर्गतानियमे-नैकैकधवखदिरादितात्पर्येण तथाप्रयोगासम्भवात्।**

पूर्वग्रन्थ में कहा कि जहाँ पर एक धर्म की द्वित्वादि के प्रति उद्देश्यतावच्छेदकता होती है वहीं पर उद्देश्यतावच्छेदकव्याप्तिविशिष्ट पर्याप्ति को द्वित्वादि का सम्बन्धत्व स्वीकार करते हैं। जहाँ पर उद्देश्यतावच्छेदक एक धर्म नहीं होता है वहाँ पर केवल पर्याप्ति या केवल समवाय की ही संसर्गता स्वीकार की जाती है। इस पर आशंका उठा रहे हैं–

इस प्रकार से तो एक-एक धव और खदिर के तात्पर्य से भी '**धवौ**' '**खदिरौ**' इत्याद प्रयोगों की आपत्ति है क्योंकि इन दोनों वाक्यों को विषय करने वाले समूहालम्बन से जन्य समूहालम्बन शाब्दबोध के नानाधर्मावच्छिन्नोद्देश्यताक होने के कारण शुद्ध पर्याप्ति का संसर्गतया अवगाहन सम्भव होगा। आशय यह है कि '**धवौ**' '**खदिरौ**' इस वाक्यद्वय समूहालम्बन से जन्य समूहालम्बन शाब्दबोध की उद्देश्यता धव और खदिर में रहेगी, उद्देश्यतावच्छेदक धवत्व भी होगा और खदिरत्व भी होगा। इस प्रकार धवत्व और खदिरत्व दो धर्मों की द्वित्व के प्रति उद्देश्यतावच्छेदकता होगी, आपने पूर्वग्रन्थ के द्वारा सिद्धान्तित किया है कि जहाँ पर एक धर्म की द्वित्वादि के प्रति उद्देश्यतावच्छेदकता होती है वहीं पर

उद्देश्यतावच्छेदक व्याप्यपर्याप्ति की संसर्गता होगी। चूँकि यहाँ पर धवत्व, खदिरत्वरूप दो धर्मों की द्वित्व के प्रति उद्देश्यतावच्छेदकता है, अतः शुद्ध पर्याप्ति की संसर्गता का अवगाहन यहाँ पर होना चाहिए।

इसका खण्डन करते हैं कि- ऐसा नहीं कहना चाहिए क्योंकि जहाँ पर नानाधर्मों से अवच्छिन्न विशेष्यता से निरूपित द्वित्वादि प्रकारता एक होती है वहीं पर शुद्ध पर्याप्ति या समवाय की संसर्गता स्वीकारी जाती है, शुद्ध पर्याप्ति या समवाय का संसर्गतया भान होता है। जैसे -'**धवखदिरौ**' इस प्रयोगस्थल में धवत्व, खदिरत्व इन दो धर्मों से अवच्छिन्न विशेष्यता से निरूपित द्वित्व निष्ठ एक प्रकारता है, धव, खदिर विशेष्य होते हैं और द्वित्व प्रकार। इसलिए यहाँ पर शुद्ध पर्याप्ति या समवाय संसर्गतया भासित होता है। '**धवौ** ''**खदिरौ**' इत्यादि अनेक वाक्यों से जन्य समूहालम्बनशाब्दबोध में धव में रहने वाली विशेष्यता और खदिर में रहने वाली विशेष्यता अलग-अलग भासित होती हैं और भिन्न-भिन्न है। विशेष्यता रूप निरूपक के भिन्न-भिन्न होने के कारण द्वित्वनिष्ठप्रकारता भी भिन्न-भिन्न ही होगी। अभिप्राय यह है कि समूहालम्बन ज्ञान में जैसे अनेक विशेष्यताएँ होती हैं उसी प्रकार अनेक प्रकारताएँ भी होती है। इसी कारण '**नानामुख्यविशेष्यताशालिज्ञानं समूहालम्बनम्**' के अलावा '**नानामुख्यप्रकारताशालिज्ञानं समूहालम्बनम्**' यह भी समूहालम्बन ज्ञान का लक्षण हो सकता है। इस कारण समूहालम्बन '**धवौ**' '**खदिरौ**' में धव, खदिरनिष्ठ विशेष्यता के अलावा विशेष्यताओं से निरूपित द्वित्वनिष्ठ प्रकारताएँ भी भिन्न-भिन्न हैं, '**धवखदिरौ**' में धव, खदिर निष्ठ भिन्न-भिन्न विशेष्यताओं से निरूपित द्वित्वनिष्ठ एक प्रकारता है। इसलिए '**धवखदिरौ**' यहाँ शुद्ध पर्याप्ति या समवाय की संसर्गता प्रतीत होगी। '**धवौ**''**खदिरौ**' में विशेष्यता भेद से प्रकारता भिन्न हो जाने के कारण उद्देश्यतावच्छेदकव्याप्ति विशिष्ट पर्याप्ति की हो संसर्गता प्रतीत होगी इस नियम के कारण एक-एक धव खदिरादि तात्पर्य से वैसा प्रयोग सम्भव नहीं है।

**'धवखदिरौ' इत्यादिसमासोत्तरद्विवचनेन धवत्वखदिरत्वाद्यवच्छिन्ननानाविशेष्यतानिरूपितैकद्वित्वादिप्रकारताशालिज्ञानमेव जन्यते - तादृशवाक्यजन्यबोधस्य समूहालम्बनानात्मकतया विशेष्यताभेदेन प्रकारताभेदाभावात् यथा हि समूहालम्बनानात्मके 'खड्गी चैत्रः कुण्डली' इत्याकारक -नानाविशेषणकैकविशेष्यकज्ञाने नानाप्रकारतानिरूपिता एका विशेष्यता तथा तथाविधे 'धवखदिरौ' इत्याद्याकारके नानाविशेष्यकैकविशेषणकज्ञाने विशेष्यताभेदेप्यभिन्नैव द्वित्वादिप्रकारता, अन्यथा समूहालम्बनतस्तद्वैलक्षण्यानुपपत्तेः, समासघटकधवखदिरादिपदानामेकवाक्यतानुपपत्तेश्च, तत्प्रयोज्यविषयतया साक्षात् परम्परया वा निरूपिता या विषयता तत्प्रयोजकत्वस्यैव तदेकवाक्यतापदार्थत्वात् ।**

खुद ही उदाहरण देते हुए उपस्थापित कर रहे हैं कि कहाँ पर नानाधर्म से अवच्छिन्न विशेष्यता से निरूपित एक प्रकारता है- '**धवखदिरौ**' इत्यदिसमासोत्तर द्विवचन के द्वारा धवत्व खदिरत्वादि से अवच्छिन्न नाना विशेष्यता से निरूपित एक द्वित्वादि प्रकारता शालिज्ञान ही उत्पन्न होता है, इस वाक्य से जन्य शाब्दबोध के समूहालम्बनात्मक न होने

के कारण विशेष्यता के भिन्न-भिन्न होने पर भी प्रकारता का भेद नहीं है। आशय यह है कि समूहालम्बनात्मक ज्ञान में ही विशेष्यता के भेद से प्रकारता भेद का नियम है। जैसे समूहालम्बनानात्मक (समूहालम्बनात्मक नहीं है ऐसे) '**खड्गी चैत्रः कुण्डली**' इत्याकारक नाना विशेषणक एक विशेष्यक ज्ञान में नाना प्रकारता से निरूपित एक विशेष्यता होती है। यहाँ पर चैत्र रूप विशेष्य में खड़ग और कुण्डल प्रकार होते हैं। खड्गकुण्डलादिनिष्ठ प्रकारता भिन्न-भिन्न है, नाना हैं। उन भिन्न-भिन्न प्रकारताओं से निरूपित चैत्र निष्ठ विशेष्यता एक ही है। प्रकारता भेद से विशेष्यता भेद नहीं होता है। उसी प्रकार (समूहालम्बनानात्मक) '**धवखदिरौ**' इत्याद्याकारक नानाविशेष्यक एक विशेषणक ज्ञान में धव खदिर निष्ठ विशेष्यताओं के भिन्न होने पर भी द्वित्वनिष्ठ प्रकारता एक ही है। अन्यथा (यदि भिन्न विशेष्यताओं के होने से प्रकारता भिन्न मानी जाये तो) समूहालम्बन से '**धवखदिरौ**' की विलक्षणता नहीं बन सकेगी। समूहालम्बन में भी नानामुख्यविशेष्यता और नानामुख्य प्रकारता होती है, इसमें भी वैसा है ही। जबकि '**धवखदिरौ**' को समूहालम्बन नहीं माना जाता है। दूसरी बात यह है कि यदि आप यहाँ पर '**धवखदिरौ**' में विशेष्यता के भेद से प्रकारता भेद मानेंगे तो समास घटक धव, खदिरादिपदों में एक वाक्यता की अनुपपत्ति है क्योंकि तत्प्रयोज्यविषयता से साक्षात् या परम्परा सम्बन्ध से निरूपित जो विषयता तत्प्रयोजकत्व ही एकवाक्यता पदार्थ है।

अभिप्राय यह है कि समासघटक पदों में एकवाक्यता होनी आवश्यक है। बग़ैर एकवाक्यता के समास ही नहीं हो सकेगा। एकवाक्यता का अर्थ है तत्प्रयोज्य विषयता से साक्षात् निरूपित विषयता या परम्परया निरूपित विषयता का प्रयोजकत्व। जैसे '**राज पुरुषः**' यहाँ पर राजपदार्थ पुरुष में प्रकारविधया भासता है। इसलिए राजपद से प्रयोज्य राजनिष्ठप्रकारताख्या विषयता होगी, उस विषयता (प्रकारताख्या) से निरूपित पुरुषनिष्ठ विशेष्यताख्या विषयता, उसका प्रयोजकत्व पुरुष पद में है। इसी प्रकार पुरुषपद से प्रयोज्य पुरुषनिष्ठविशेष्यताख्या विषयता से साक्षात् निरूपित राजनिष्ठप्रकारताख्याविषयता का प्रयोजकत्व राजपद में है। अतः समास होता है। '**धवखदिरौ**' यहाँ पर यदि धव, खदिर निष्ठ भिन्न विशेष्यताओं से निरूपित द्वित्वनिष्ठप्रकारता को एक मानते हैं तब तो धव पद प्रयोज्यधवनिष्ठ-विशेष्यताख्या विषयता से निरूपित द्वित्वनिष्ठप्रकारताख्यविषयता और खदिरपदप्रयोज्य-खदिरनिष्ठविशेष्यताख्यविषयता से निरूपित द्वित्वनिष्ठप्रकारताख्यविषयता एक हैं, इसलिए तादृश द्वित्वरूप परम्परा सम्बन्ध से धवपद प्रयोज्य विषयता से निरूपित खदिरनिष्ठ-विषयता का प्रयोजकत्व खदिर पद में और उसी परम्परा से खदिरपद प्रयोज्यविषयता से निरूपित धवनिष्ठ विषयता प्रयोजकत्व धवपद में होने से एकवाक्यता बन जाने से समास सम्भव होगा। यहाँ पर धव और खदिर में परस्पर विशेष्य विशेषणभाव नहीं है, कोई किसी का विशेषण नहीं है अतः साक्षात् तो निरूपितत्व सम्भव नहीं है किन्तु एक ही द्वित्व में धव और खदिर दोनों विशेषण हैं, अतः परम्परया निरूप्यनिरूपकभाव सम्भव है। यदि द्वित्वनिष्ठ प्रकारता को विशेष्यता के भेद से भिन्न मानोगे तो परम्परया भी निरूप्यनिरूपक भाव सम्भव न होने से एकवाक्यता नहीं बन सकेगी। अतः धवखदिर पदों का समास सम्भव न होगा।

**न चैतादृशैकवाक्यताविरहेऽपि क्षतिविरहः- तथा सति समासस्यैवानुपपत्तेः। 'अयमेति पुत्रो राज्ञः पुरुषोऽपसार्यताम्' इत्यादौ राजपुरुषपदादीनां समासवारणाय समर्थपदयोरेव समासानुशासनात्। सामर्थ्यस्य च निरुक्तैकवाक्यतारूपत्वात्।**

यदि कहो कि ऐसी एकवाक्यता के न रहने पर भी कोई क्षति नहीं है, (बग़ैर ऐसी एकवाक्यता के भी समास हो जायेगा) तो ऐसा नहीं है। ऐसी एकवाक्यता के न रहने पर समास की ही अनुपपत्ति होगी। '**अयमेति पुत्रो राज्ञः पुरुषोऽपसार्यताम्** इत्यादिस्थलों में राज पद और पुरुष पद में समास न होने लगे, इसलिए समर्थ पदों में ही समास होने का अनुशासन है और सामर्थ्य निरुक्त एकवाक्यता रूप ही है। अभिप्राय यह है कि '**अयमेति पुत्रो राज्ञः पुरुषोऽपसार्यताम्**' में राज पद का पुरुष पद के साथ समास नहीं होता है और समास न होना ही इष्ट है। कारण यह है कि राज का पुरुष के साथ अन्वय ही नहीं होता है। यहाँ पर राज और पुरुषपदों का समास न हो इसलिए अनुशासन बनाया गया है कि '**समर्थः पदविधिः**' ( **2।1।1 पाणिनीय अष्टाध्यायी** ) अर्थात् समर्थ पदों का ही समास होता है। वह सामर्थ्य उक्त एकवाक्यता रूप ही होता है। यहाँ पर राजपदप्रयोज्य राजनिष्ठविषयता से पुरुषनिष्ठ विषयता न तो साक्षात् और न तो परम्परया ही निरूपित होती है। इसलिए राजपदप्रयोज्यविषयतानिरूपितविषयताप्रयोजकत्व न तो पुरुषपद में है और न तो पुरुषपदप्रयोज्यविषयतानिरूपितविषयताप्रयोजकत्व राजपद में है। अतः उक्त एकवाक्यतारूप सामर्थ्य न होने से राज व पुरुष पद का समास नहीं होता है। राजपदप्रयोज्यराजनिष्ठ प्रकारताख्यविषयता से साक्षात् निरूपित पुत्रनिष्ठविशेष्यताख्यविषयता का प्रयोजकत्व पुत्रपद में और पुत्रपदप्रयोज्यपुत्रनिष्ठविशेष्यताख्यविषयता से साक्षात् निरूपित राजनिष्ठप्रकारताख्यविषयताप्रयोजकत्व राज पद में है। अतः राज और पुत्र पदों में सामर्थ्य (एकवाक्यता रूप) होने के कारण राज और पुत्र पदों का समास होकर '**अयमेति राजपुत्रः पुरुषोपसार्यताम्**' ऐसा प्रयोग भी होता है। इसलिए धव और खदिर पदों में समासोपपादन के लिए धव, खदिर निष्ठ भिन्न-भिन्न विशेष्यता से निरूपित द्वित्वनिष्ठ एक प्रकारता को स्वीकार कर एकवाक्यता बनाना आवश्यक है। अन्यथा '**धवखदिरौ**' ऐसा समस्त प्रयोग असंगत होगा।

**'जलपृथिव्योः स्नेहगन्धौ' इत्यादितोपि न 'जले स्नेहः पृथिव्यां गन्धः' इत्याकारकसमूहालम्बनबोधः किंतु तद्विलक्षणो द्वित्वादिनिष्ठैकप्रकारतानिरूपितजलत्वपृथिवीत्वाद्यवच्छिन्नविशेष्यतात्मकप्रकारताद्वयनिरूपिताधेयत्वप्रकारतानिरूपितं यद्धर्मितावच्छेदकद्वित्वादिनिष्ठैकप्रकारतानिरूपकं स्नेहत्वगन्धत्वाद्यवच्छिन्नविशेष्यताद्वयं तद्वानिति, अतो न कुत्राप्येकवाक्यताभङ्गः।**

'**जलपृथिव्योः स्नेहगन्धौ**' यहाँ पर '**जले स्नेहः पृथिव्यां गन्धः**' इस प्रकार समूहालम्बनात्मक ही शाब्दबोध होता है, ऐसी स्थिति में उक्त एकवाक्यता न बन पाने के कारण जलपृथिवी का और स्नेह गन्ध का समास सम्भव नहीं होगा। इस आशंका पर

ग्रन्थकार का कहना है कि-

**'जलपृथिव्योः स्नेहगन्धौ'** इत्यादि वाक्यों से भी **'जले स्नेहःपृथिव्यां गन्धः'** ऐसा समूहालम्बनात्मक शाब्दबोध नहीं होता है किन्तु इस समूहालम्बनात्मक बोध से विलक्षण द्वित्वादिनिष्ठ एकप्रकारता से निरूपित जलत्व, पृथिवीत्वादि से अवच्छिन्न विशेष्यतात्मक प्रकारताद्वय से निरूपित आधेयत्वप्रकारतानिरूपित जो धर्मितावच्छेदक द्वित्वादिनिष्ठ एक प्रकारतातन्निरूपक स्नेहत्वगन्धत्वादि से अवच्छिन्न विशेष्यताद्वय तद्वान् ऐसा शाब्दबोध होता है। इसलिए कहीं पर भी एकवाक्यता का भङ्ग नहीं है।

अभिप्राय यह है कि **'जले स्नेहः पृथिव्यां गन्धः'** इस प्रकार समूहालम्बनात्मक शाब्दबोध **'जलपृथिव्योः स्नेहगन्धौ'** से नहीं होता है क्योंकि इस समूहालम्बनात्मक बोध में जलपृथिवीगत द्वित्व और स्नेहगन्धगत द्वित्व कहीं पर भी भसित नहीं हुआ करता है। जबकि **'जलपृथिव्योः स्नेहगन्धौ'** इस वाक्य से जन्य शाब्दबोध में जलपृथिवीगत द्वित्व और स्नेहगन्धगत द्वित्व भासित होता है। वह समूहालम्बनात्मक से भिन्न शाब्दबोध जोकि इस वाक्य से होता है इसमें स्नेह, गन्ध विशेष्य बनते हैं, स्नेह और गन्ध में रहने वाली स्नेहत्व और गन्धत्व से अवच्छिन्न दो विशेष्यताएँ धर्मितावच्छेदकीभूत द्वित्वादिनिष्ठ एक प्रकारता की निरूपक होती हैं तथा उक्त दोनों विशेष्यताएँ द्वित्वनिष्ठ एक प्रकारतानिरूपित जलत्व पृथिवीत्व से अवच्छिन्न विशेष्यतात्मक प्रकारता द्वय से निरूपित सप्तम्यर्थ आधेयत्व प्रकारता से निरूपित होती है। अर्थात् जल और पृथिवी में द्वित्व प्रकार है तथा जल और पृथिवी आधेयत्व में प्रकार हैं, वह आधेयत्व स्नेह और गन्ध में प्रकार है । इस प्रकार द्वित्वनिष्ठ प्रकारता से निरूपित विशेष्यता और आधेयत्वनिष्ठ विशेष्यता की निरूपक प्रकारता जल और पृथिवी में है। जलत्वपृथिवीत्वावच्छिन्नप्रकारतानिरूपितविशेष्यता और स्नेह, गन्धनिष्ठविशेष्यतानिरूपक प्रकारता आधेयत्व में है। एकव्यक्तिवृत्ति एकज्ञानीयप्रकारता और विशेष्यताओं में अभेद होता है।[1] इसलिए द्वित्वनिष्ठप्रकारता से निरूपित जलत्व पृथिवीत्वावच्छिन्न विशेष्यता आधेयत्वनिष्ठविशेष्यतानिरूपकप्रकारता से अभिन्न है। इसी प्रकार आधेयत्वनिष्ठा जलत्वपृथिवीत्वच्छिन्नप्रकारतानिरूपित विशेष्यता और स्नेहगन्धनिष्ठ विशेष्यतानिरूपितप्रकारता अभिन्न है। इस प्रकार द्वित्व जल पृथिवी में, जल पृथिवी आधेयत्व में, आधेयत्व स्नेह गन्ध में विशेषण बनकर भासते हैं उक्त शाब्द बोध में और विशेष्यीभूतस्नेहगन्धनिष्ठ विशेष्यताद्वय से निरूपित धर्मितावच्छेदक द्वित्व निष्ठ एक प्रकारता होती है। उक्त विशेष्यताद्वयवान् स्नेह और गन्ध हैं। इस तरह द्वित्वनिष्ठ एक प्रकारता से निरूपित जलत्वपृथिवीत्वावच्छिन्नविशेष्यतात्मक प्रकारता से निरूपितआधेयत्व निष्ठविशेष्यतात्मक-प्रकारता से निरूपित धर्मितावच्छेदक द्वित्वादिनिष्ठ एकप्रकारतानिरूपक स्नेहत्वगन्धत्वावच्छिन्न-विशेष्यतावान् स्नेह और गन्ध है ऐसा शाब्दबोध उक्त वाक्य से हुआ करता है। निश्चित रूप से यह शाब्द बोध **'जले स्नेहः पृथिव्यां गन्धः'** इस समूहालम्बनवाक्य से जन्य शाब्द बोध से पृथक् है। इस लिए कहीं पर भी एकवाक्यता नहीं भङ्ग होती है।

---

1. इस विषय में गदाधर और जगदीश में मतभेद है जगदीश एकव्यक्ति वृत्ति एक ज्ञानीय प्रकारता विशेष्यता में अभेद और गदाधर अवच्छेद्य अवच्छेदकभाव मानते हैं। यहाँ जैसा प्रतिपादन किया गया है वह जगदीशमत से प्रतीत होता है।

**'चैत्रो मैत्रश्च गच्छतः' इत्यादावाख्यातद्वित्वादिप्रकारेण भासमाने चैत्रमैत्रोभयादौ गमनाश्रयत्वाद्यन्वयेन निरुक्तैकवाक्यतासम्भवेऽपि समासविधेर्विभाषाधिकारीयत्वादसमासः। तत्र विशेष्यताभेदभिन्नद्वित्वनिष्ठप्रकारताद्वयप्रतियोगी समूहालम्बनात्मक बोधः इति तु न सम्यक् तथा सत्युक्त युक्त्या एकैकचैत्रमैत्रादितात्पर्येण तथाप्रयोगानुपपत्तेः ।**

**'चैत्रो मैत्रश्च गच्छतः'** इत्यादिस्थलों में आख्यातद्वित्वादि प्रकार से भासमान चैत्रमैत्रोभयादि में गमनाश्रयत्वादि अन्वय होकर निरुक्त एकवाक्यता सम्भव होने पर भी समास विधि के विभाषाधिकारीय होने के कारण समास नहीं होता है। अभिप्राय यह है कि समास होने के लिए एकवाक्यता होना आवश्यक है किन्तु एकवाक्यता होने पर समास होना आवश्यक नहीं है। क्योंकि समासविधिविभाषाधिकारीय है, समासविधि वैकल्पिक है। इसी कारण यद्यपि **'चैत्रो मैत्रश्च गच्छतः'** में उक्त एकवाक्यता सम्भव है क्योंकि चैत्र मैत्र निष्ठ विशेष्यताओं के भिन्न-भिन्न होते हुए भी गम् धातूत्तर द्विवचन के अर्थ द्वित्व निष्ठ प्रकारता एक ही है। उस द्वित्व को प्रकार बनाकर भासते हुए चैत्र और मैत्र दोनों में ही गमनाश्रयत्व का अन्वय होता है। इसलिए चैत्रनिष्ठविशेष्यतानिरूपितद्वित्वनिष्ठप्रकारता निरूपित मैत्रनिष्ठविशेष्यता होती है, द्वित्व द्वारा चैत्रमैत्र परस्पर प्रयोज्यविषयता शालि हैं। अतः एकवाक्यता है। तथापि समास (समासविधि के वैकल्पिक होने के कारण) नहीं होता है। यहाँ पर विशेष्यता के भिन्न होने के कारण द्वित्वनिष्ठप्रकारताद्वय प्रतियोगी समूहालम्बनात्मक बोध होता है ऐसा कहना उचित नहीं है। क्योंकि ऐसा कहने पर तो उक्त युक्ति से- चैत्र निष्ठ द्वित्व और मैत्र निष्ठ द्वित्व के दो होने पर एक चैत्र और एक मैत्र में तो द्वित्व होना सम्भव नहीं है, अतः चैत्र के दो होने पर और मैत्र के दो होने पर ही ऐसा प्रयोग सम्भव होगा। एक-एक चैत्र और मैत्र के तात्पर्य से वैसा प्रयोग सम्भव नहीं होगा, एक-एक मैत्रतात्पर्य से वैसा प्रयोग अनुपपन्न होगा। जबकि एक चैत्र और एक मैत्र के तात्पर्य से ही ऐसा प्रयोग हुआ करता है। यहाँ पर आशंका करने वाले का आशय यह है कि निरूपक भेद से ही विशेष्यता प्रकारता आदि का भेद हुआ करता है। यहाँ पर द्वित्व निष्ठ प्रकारता के निरूपक भिन्न हैं, चैत्र निष्ठ विशेष्यता से और मैत्रनिष्ठ विशेष्यता से प्रकारता निरूपित है। इस प्रकार द्वित्व निष्ठ प्रकारता के निरूपक भिन्न-भिन्न है, निरूपक भिन्न होने से प्रकरता भी भिन्न होनी चाहिए। इसलिए यद्यपि द्वित्व एक है, परन्तु द्वित्वनिष्ठ प्रकारता एक नहीं है बल्कि चैत्रनिष्ठ विशेष्यता और मैत्रनिष्ठ विशेष्यता से निरूपित भिन्न-भिन्न प्रकारताएँ हैं तथा प्रकारताद्वय प्रतियोगी समूहालम्बनात्मक बोध होता है। तो इस पर समाधान दे रहे है कि यदि यहाँ पर विशेष्यता भेद से द्वित्वनिष्ठ प्रकारता को भिन्न-भिन्न मानो तो चैत्र और मैत्र दोनों का विशेषण बनकर एक ही द्वित्व प्रतीत नहीं होगा किंतु चैत्रविशेषणतया पृथक् द्वित्व प्रतीत होगा और मैत्रविशेषणतया पृथक् द्वित्व प्रतीत होगा। इस प्रकार चैत्रद्वय और मैत्रद्वय तात्पर्य से ही वैसा प्रयोग सम्भव होगा जो कि इष्ट नहीं है। तथा एक-एक चैत्र-मैत्र तात्पर्य से वैसा प्रयोग सम्भव नहीं होगा जोकि इष्ट है।

**आख्यातोपस्थापितद्वित्वादिकं चोभयादिरूपान्वयितावच्छेदकावच्छिन्न एवान्वेतीति व्युत्पत्तिः, तेनोक्तप्रयोगदर्शनात् क्रियापदस्य विशेष्यवाचक**

**पदसमानवचनकत्वानियमेऽपि घटद्वयादितात्पर्येण 'घटस्तिष्ठतः' इत्यादयो न प्रयोगाः। एकवचनान्तं क्रियापदं च तादृशविशेष्यवाचकपदप्रयोगे एव साधु, अतः 'घटास्तिष्ठति' इत्यादयो न प्रयोगाः।**

ग्रन्थकार ने '**चैत्रो मैत्रश्च गच्छतः**' इस प्रकार के स्थलों पर उठने वाली समस्या का समाधान करते हुए बतलाया कि यहाँ पर एक वाक्यता होने पर भी समासविधि के वैकल्पिक होने के कारण समास नहीं होता है। किन्तु यह प्रश्न तो फिर भी खड़ा है कि इन स्थलों पर प्रातिपदिक तो एकवचनान्तपदोपस्थित है और आख्यातोपस्थापित द्वित्वादि हैं. उन का अन्वय कहाँ पर होगा? इसी प्रश्न का समाधान ग्रन्थकार करते हैं कि -

आख्यात से उपस्थापित द्वित्वादि तो (च शब्द तु अर्थ में प्रयुक्त है) उभयादिरूप अन्वयितावच्छेदकावच्छिन्न में ही अन्वित होता है ऐसी व्युत्पत्ति है। अभिप्राय यह है कि '**चैत्रो मैत्रश्च गच्छतः**' इत्यादि स्थलों में अर्थोभयत्वावच्छिन्न में ही आख्यात से उपस्थापित द्वित्वादि का अन्वय हुआ करता है, इस कारण से इस प्रकार के क्रिया पद के द्विवचनान्तादि और विशेष्यवाचक पद के एकवचनान्त प्रयोग के देखे जाने के कारण क्रिया पद और विशेष्य वाचक पद के समानवचनकत्व का नियम सम्भव नहीं होने पर भी दो घट के तात्पर्य से '**घटस्तिष्ठतः**' इत्यादि प्रयोग नहीं होते हैं। तथा एकवचनान्त क्रियापद तो एकवचनान्त विशेषणवाचक पद का प्रयोग करने पर ही साधु होता है, इसलिए '**घटास्तिष्ठति**' इत्यादि प्रयोग नहीं होते हैं।

अभिप्राय यह है कि '**चैत्रो मैत्रश्च गच्छतः**' इस प्रकार के प्रयोगों के होने के कारण क्रिया पद और विशेष्य वाचक पद के समान वचनकत्व का नियम नहीं बन सकता है (यहाँ पर क्रिया पद और विशेष्यवाचकपद असमान वचनक हैं) फिर भी घटद्वयादि के तात्पर्य से '**घटस्तिष्ठतः**' ऐसा प्रयोग नहीं होता है क्योंकि आख्यातोपस्थापित द्वित्वादि उभयादिरूप अन्वयितावच्छेदकावच्छिन्न में ही अन्वित होते हैं और एकवचनान्त क्रियापद के साथ एकवचनान्त ही विशेष्यवाचक पद प्रयुक्त होगा तभी प्रयोग साधु होगा, इसलिए **तिष्ठति** इस एकवचनान्त क्रियापद के साथ **घटाः** ऐसा बहुवचनान्त विशेष्यवाचक पद का प्रयोग साधु नहीं होता है। अतः ऐसे प्रयोग नहीं होते हैं।

**अथैकघटादिव्यक्तेरेतद्देशवृत्तितादशायाम् 'अत्र घटौ स्तः' 'घटाः सन्ति' इति कथं न प्रयोगाः? घटादौ घटत्वादिव्याप्तिविशिष्टपर्याप्तिसम्बन्धेन द्वित्वादेः स्वरूपादिसम्बन्धेनैतद्देशवृत्तित्वाश्रयत्वादेश्च सत्त्वात्।**

अब ग्रन्थकार एक प्रश्न उठाते हुए कहते है कि - एक घटादि व्यक्ति के एतद्देशवृत्ति होने की स्थिति में '**अत्र घटौ स्तः**' '**घटाः सन्ति**' इत्यादि प्रयोग क्यों नहीं होते हैं ? (इस प्रकार के प्रयोग का कारणी भूत है घट में द्वित्व और एतद्देशवृत्तित्व का होना) यहाँ पर घटादि में घटत्वादिव्याप्तिविशिष्टपर्याप्ति सम्बन्ध से द्वित्वादि (एतद्देशस्थ और देशान्तरस्थ घट में मिलाकर द्वित्व मौजूद है ही और वह द्वित्वपर्याप्ति घटत्वव्याप्तिविशिष्ट है, एक में भी उसके रहने में कोई बाध तो है नहीं इस प्रकार द्वित्वादि मौजूद है घटत्वादि व्याप्ति विशिष्ट पर्याप्तिसम्बन्ध से घट में) और स्वरूप सम्बन्ध से एतद्देशवृत्तित्वाश्रयत्व भी विद्यमान है। सीधी सी बाद ये है कि एक घटव्यक्ति के एतद्देशवृत्ति होने की दशा में घट

में एतद्देशवृत्तित्व और द्वित्व दोनों ही मौजूद हैं अपने-अपने सम्बन्धों से, फिर **अत्र घटौ स्तः** ऐसा प्रयोग क्यों नहीं हुआ करता है ?

**न च द्वित्वेनोपस्थितयोर्द्वयोरेव व्यक्त्योरेवं बहुत्वेनोपस्थितासु बहुषु व्यक्तिषु विधेयान्वयाद् व्यक्त्यन्तरेष्वेतद्देशवृत्तित्वाश्रयत्वादिबाधान्न तादृशप्रयोग इति वाच्यम्, व्यक्त्यन्तरेऽयोग्यतया तादृशविधेयानवगाहिन एकघटे तदवगाहिनो बोधस्योत्पत्तौ बाधकाभावात् तथातात्पर्येण तथा प्रयोगस्य दुर्वारत्वात् ।**

यदि कहो कि द्वित्व से उपस्थित दोनों ही व्यक्तियों में और बहुत्व से उपस्थित बहुत व्यक्तियों में ही विधेय का अन्वय होता है, एक घटव्यक्ति के एतद्देशवृत्ति होने की स्थिति में '**अत्र घटौ स्तः, घटाः सन्ति**' इत्यादि स्थलों में द्वित्व से उपस्थित और बहुत्व से उपस्थित व्यक्तियो में से एक घटव्यक्ति में एतद्देशवृत्तित्वाश्रयत्व रूप विधेय के होने पर भी व्यक्त्यन्तर में एतद्देशवृत्तित्वाश्रयत्वादि का बाध होने के कारण वैसा प्रयोग नहीं होगा तो ऐसा नहीं कहना चाहिए क्योंकि व्यक्त्यन्तर के अयोग्य होने के कारण उस व्यक्त्यन्तर में तादृश (एतद्देशवृत्तित्वाश्रयत्व रूप) विधेय को विषय न करने वाले एक घट में ही एतद्देशवृत्तित्वाश्रयत्वरूप विधेय को विषय करने वाले बोध की उत्पत्ति में बाधक नहीं होने के कारण एकव्यक्ति के ही एकदेशवृत्तित्वाश्रयत्व बोध के तात्पर्य से '**अत्र घटौ स्तः**' इत्यादि प्रयोग दुर्वार होंगे।

**न च व्यासज्यवृत्तिधर्मो यत्रान्वयितावच्छेदकस्तत्र यावत्स्वन्वयितावच्छेदकस्य पर्याप्तिस्तावतामेव पदार्थान्तरेणान्वय इति व्युत्पत्तिस्तन्निर्वाहाय च तादृशधर्मावच्छिन्न इतरबोधजनकसामग्र्या उभयादिविषयकपदार्थान्तरान्वयबुद्धित्वमेव जन्यतावच्छेदकं वक्तव्यमिति द्वित्वादिनैकघटादिमात्राविषयकैतद्देशवृत्तित्वाद्यन्वयबोधो न सम्भवतीति न तादृशप्रयोगापत्तिरिति वाच्यम्; योग्यताभ्रमेण 'आकाशावत्र स्तः' इत्यादिवाक्याद् द्वित्वादिनैकव्यक्तिमात्रविषयकपदार्थान्तरान्वयबोधात् तादृशव्युत्पत्तेस्तन्निर्वाहककार्यकारणभावस्य च कल्पनासम्भवात्।**

यदि कहो कि 'जहाँ पर व्यासज्यवृत्ति धर्म अन्वयितावच्छेदक होता है वहाँ पर जितने व्यक्तियों में अन्वयितावच्छेदक की पर्याप्ति होगी उतने ही व्यक्तियों का पदार्थान्तर के साथ अन्वय होगा' ऐसी व्युत्पत्ति है। इस व्युपत्ति का निर्वाह करने के लिए तादृशधर्म (व्यासज्यवृत्ति द्वित्वादिधर्म) से अवच्छिन्न में इतर (एतद्देशवृत्तित्वाश्रयत्वादि) के अन्वयबोध की जनक सामग्री का जनकतावच्छेदक उभयादिविषयक पदार्थान्तरान्वयबुद्धित्व को ही बनाना चाहिए। इस स्थिति में द्वित्वादि से एकघटादिमात्रविषयक एतद्देशवृत्तित्वादि का अन्वयबोध सम्भव नहीं है अतः वैसे बोध के तात्पर्य से वैसा प्रयोग होने की आपत्ति नहीं है।

आशय यह है कि व्यासज्यवृत्ति धर्म के अन्वयितावच्छेदक होने की स्थिति में अन्वयितावच्छेदक धर्म की जितने में पर्याप्ति होगी उतने का ही पदार्थान्तर में अन्वय होगा ऐसी व्युत्पत्ति है। जैसे '**नीलौ घटौ**' यहाँ पर व्यासज्यवृत्ति धर्म द्वित्व की पर्याप्ति दोनों ही

घटों में है और पदार्थान्तर नील में दोनों ही घटों का अन्वय हुआ करता है। इस प्रकार की व्युत्पत्ति का निर्वाह तभी हो सकता है, यदि व्यासज्यवृत्तिधर्मावच्छिन्न में इतरान्वयबोध जनकसामग्री का जन्यतावच्छेदक उभयादिविषयक पदार्थान्तरान्वयबुद्धित्व को माना जाये। ऐसा मानने का आशय यह है- सीधी सी बात है जनकतावच्छेदकावच्छिन्न के रहने पर जन्यतावच्छेदकावच्छिन्न की उत्पत्ति हुआ करती है। यदि व्यासज्यवृत्तिधर्मावच्छिन्न में इतरान्वयबोधजनकसामग्री का जन्यतावच्छेदक उभयादिविषयक पदार्थान्तरान्वय बुद्धित्व को मानेंगे तो इसका अभिप्राय यही हुआ कि व्यासज्यवृत्तिधर्मावच्छिन्न में इतरान्वयबोध जनकसामग्री उभयादिविषयकपदार्थान्तरान्वयबुद्धित्वावच्छिन्न को ही उत्पन्न करेगी। अब देखें यहाँ पर एतद्देश में एक घट होने की स्थिति में '**अत्र घटौ स्तः**' ऐसा प्रयोग करने पर व्यासज्यवृत्ति उभयत्वधर्म से अवच्छिन्न में पदार्थान्तर (एतद्देशवृत्तित्वाश्रयत्व) के अन्वयबोध की जनक सामग्री मौजूद है वह सामग्री उभयादि विषयक पदार्थान्तरान्वय बुद्धि को ही पैदा कर सकती है और यहाँ पर द्वित्वेन उपस्थित व्यक्तियों में से एक घटव्यक्ति में एतद्देशवृत्तित्वाश्रयत्व का बाध है। अथः उभयादिविषयकपदार्थान्तरान्वयबुद्धि तो उत्पन्न ही नहीं हो सकती है और अन्याकारक शाब्दबोध उक्त कारणसामग्री से हो नहीं सकता है।

तो ऐसा नहीं कहना चाहिए क्योंकि योग्यता के भ्रम से '**आकाशावत्र स्तः**' इत्यादि वाक्यों से द्वित्वादि से एक व्यक्तिमात्रविषयक पदार्थान्तरान्वयबुद्धि होती है, अतः वैसी व्युत्पत्ति की और उस व्युत्पत्ति का निर्वाह करने वाले कार्यकारणभाव की कल्पना असम्भव है। अभिप्राय यह है कि यदि यह दर्शन में आता हो, कहीं पर उसका व्यभिचार नहीं दिखायी पड़ता हो कि '**व्यासज्यवृत्तिधर्मावच्छिन्न में इतरान्वयबोधजनकसामग्री के द्वारा व्यासज्यवृत्तिधर्मावच्छिन्न ( उभयादि ) विषयक पदार्थान्तरान्वयबुद्धि ही उत्पन्न हुआ करती है**' तब तो उक्त व्युत्पत्ति और उक्त व्युत्पत्ति का निर्वाहक कार्यकारणभाव आप कल्पित कर लीजिए किंतु योग्यता के भ्रम से प्रयुक्त '**आकाशावत्र स्तः**' इस वाक्य के द्वारा द्वित्वादि के द्वारा एक आकाशव्यक्ति मात्र विषयक पदार्थान्तरान्वयबोध हुआ करता है। जबकि यहाँ पर व्यासज्यवृत्तिधर्मावच्छिन्न में पदार्थान्तरान्वयबोधजनक सामग्री ही मौजूद है। द्विवचनान्त आकाश पद और उससे अन्वित होने वाला द्विवचनान्त आख्यात पद प्रयुक्त है। यह सामग्री व्यासज्यवृत्तिधर्मावच्छिन्न में इतरान्वय बोध जनक सामग्री ही है। इसलिए इस प्रकार से आप उक्त दोष (आशंका) का निवारण नहीं कर सकते हैं। उक्त आशंका कि एक घट के एतद्देशवृत्ति होने पर '**अत्र घटौ स्तः**' इस प्रकार का वाक्यप्रयोग होना चाहिए मौज़ूद ही है।

यत्तु द्वित्वाद्यवच्छिन्नोद्देश्यताकबुद्धावुद्देश्यतावच्छेदकव्यापकता नियमतो विधेयसंसर्गे भासत इति व्युत्पत्तिः यत्र चोद्देश्यतावच्छेदक-विशिष्टाधिकरणप्रसिद्ध्या तद्व्यापकत्वमप्रसिद्धं तत्रापि खण्डशः प्रसिद्धानां तत्तद्घटकपदार्थानां विशेष्यविशेषणभावापन्नानां भानसम्भवात्र 'पीत-शङ्खावत्र' इत्यादौ तादृशव्युत्पत्तिभङ्गः, एवं चैकघटादिव्यक्तिमात्रा-धिकरणपरस्य 'अत्र घटौ स्तः, इत्यादिवाक्यस्याप्रामाण्यं सुघटमेव-उद्देश्यतावच्छेदकीभूतघटमात्रवृत्तिद्वित्वव्यापकतायास्तादृशवाक्य प्रतिपाद्याया

विधेयसंसर्गे बाधात् ।

एकदेशी के द्वारा उक्त आशंका के परिहार की रीति को खण्डन करने के लिए उपस्थापित कर रहे हैं कि- जो यह कहते हैं कि 'द्वित्वादि से अवच्छिन्न उद्देश्यताक बुद्धि में उद्देश्यतावच्छेदक की व्यापकता नियम से विधेय के संसर्ग में भासित होती है' ऐसी व्युत्पत्ति है। जहाँ पर उद्देश्यतावच्छेदक से विशिष्ट अधिकरण प्रसिद्ध नहीं होता है तथा इस कारण उद्देश्यतावच्छेदकव्यापकत्व भी अप्रसिद्ध हो जाता है। वहाँ पर भी खण्डशः प्रसिद्ध और परस्पर विशेष्यविशेषणभावापन्न तत्तद्घटक पदार्थों का भान सम्भव होने के कराण **'पीतशंखावत्र'** में उक्त व्युत्पत्ति का भङ्ग नहीं होता है। अभिप्राय यह है कि यह व्युत्पत्ति मानी गयी, इस मत के आधार पर कि द्वित्वाद्यवच्छिन्नोद्देश्यताक बुद्धि में उद्देश्यतावच्छेदक की व्यापकता विधेय संसर्ग में नियम से भासित होगी। जैसे वाक्य प्रयोग किया जाये **'नीलौ घटौ'** इस वाक्य से जन्य बुद्धि द्वित्वावच्छिन्नोद्देश्यताक है, अतः उद्देश्यतावच्छेद कीभूत द्वित्व की व्यापकता विधेयभूत नील के संसर्ग में भासित होगी। किन्तु इस व्युत्पत्ति में मुश्किल यह है कि कुछेक स्थल ऐसे होंगे जहाँ पर उद्देश्यतावच्छेदक ही अप्रसिद्ध हो जायेगा। उद्देश्यतावच्छेदक अप्रसिद्ध होने पर उद्देश्यतावच्छेदक की व्यापकता भी नहीं बन पायेगी। इस प्रकार के स्थलों में से एक है **'पीतशङ्खावत्र'** यहाँ पर पीतशङ्ख में एतद्देशवृत्तित्वाश्रयत्व का विधान किया जा रहा है, यहाँ पर उद्देश्यतावच्छेदक द्वित्व समानाधिकरण पीतशङ्खत्व है। इस वाक्य से जन्य जो शाब्दबुद्धि है वह द्वित्वावच्छिन्नो द्देश्यताक है। अतः उद्देश्यतावच्छेदकीभूतधर्म (द्वित्व, पीत शङ्खत्व) की व्यापकता एतद्देशवृत्तित्वाश्रयत्व के संसर्ग में अवश्य भासित होगी। किन्तु पीतशङ्खत्व तो अप्रसिद्ध है क्योंकि पीतशङ्ख तो होता नहीं। इस प्रकार पीतशङ्खत्वविशिष्ट अधिकरण अप्रसिद्ध होगा, अतः व्यापकत्व भी अप्रसिद्ध है। इसके लिए ही कह रहे हैं कि यहाँ पर भी खण्डशः प्रसिद्ध और विशेष्यविशेषणभावापन्न तत्तद् घटकपदार्थों का भान सम्भव है। पीत पदार्थ भी अलग प्रसिद्ध है, शङ्खत्व भी प्रसिद्ध है। इस प्रकार अलग-अलग प्रसिद्ध पदार्थों का परस्पर विशेष्यविशेषणभाव से निरूप्यनिरूपकभाव के द्वारा अन्वय हो सकता है। जैसे कि भ्रमस्थल में हुआ करता है। इस प्रकार यहाँ पर भी व्युत्पत्ति का भङ्ग नहीं होता है।

उक्त व्युत्पत्ति के रहने के कारण एक घटादिव्यक्तिमात्राधिकरणपरक **'अत्र घटौ स्तः'** इत्यादिवाक्यों का अप्रामाण्य सुघट ही है, क्योंकि उद्देश्यतावच्छेदकीभूत (घटमात्रवृत्ति) द्वित्व की व्यापकता विधेयसंसर्ग में (एतद्देशवृत्तित्वाश्रयत्वरूप विधेय के संसर्ग में) नियमित रूप से प्रतिपाद्य है उसका बाध है। आशय यह है कि इस वाक्य से जन्य बुद्धि द्वित्वावच्छिन्नोद्देश्यताक है क्योंकि द्वित्व उद्देश्यतावच्छेदक है। अतः उद्देश्यतावच्छेदकद्वित्व की व्यापकता एतद्देशवृत्तित्वाश्रयत्व रूप विधेय के संसर्ग में नियमित रूप से भासित होगी। जबकि द्वित्व व्यापकता का एतद्देशवृत्तित्वाश्रयत्व में बाध है क्योंकि एतद्देशवृत्ति दो घट हैं ही नहीं। अतः एक घट के एतद्देशवृत्ति होने की दशा में उक्त प्रयोग की और उक्त प्रयोग के प्रामाण्य की आपत्ति नहीं है।

तदपि तुच्छम् - 'अत्र घटौ स्तः' इत्यादौ द्वित्वसमानाधिकरणा न्योन्याभावप्रतियोगितानवच्छेदकत्वस्य द्वित्ववद्घटनिष्ठाभावप्रतियोगिता

**नवच्छेदकत्त्वस्य च तदधिकरणावृत्तिघटादिनिष्ठाभावप्रतियोगितावच्छेदकीभूते तत्तद्विधेयसंसर्गे बाधात् घटद्वयाधिकरणपरतादृशवाक्यस्याप्य प्रामाण्यापत्तेः। तत्तद्द्वित्वसमानाधिकरणाभावप्रतियोगितानवच्छेदकत्वस्य तत्तद्विधेयसंसर्गांशे भानोपगमस्तु न सम्भवति- तत्तद्द्वित्वत्वेनानुपस्थितेः।**

खण्डन करते हैं कि- इस तरह समाधान करना भी तुच्छ है, त्याज्य है क्योंकि जहाँ पर एतद्देशवृत्तित्वाश्रयत्व दोनों ही घटों में है वहाँ पर '**अत्र घटौ स्तः**' इत्यादि प्रयोग होने पर भी द्वित्वसमानाधिकरणान्योन्याभावप्रतियोगितानवच्छेदकत्व और द्वित्ववद्घटनिष्ठाभाव प्रतियोगितानवच्छेदकवत्त्व का तदधिकरणावृत्तिघटादिनिष्ठाभावप्रतियोगितावच्छेदकीभूत तत्तद् विधेय संसर्ग में बाध होने से उक्त वाक्य के अप्रामाण्य की आपत्ति है। अभिप्राय यह है कि द्वित्व भिन्न-भिन्न होता है क्योंकि अपेक्षाबुद्धिजन्य होता है। एतद्देशवृत्तिघटद्वयनिष्ठ भी द्वित्व हो सकता है और अन्यदेशस्थ घटद्वयवृत्ति भी द्वित्व हो सकता है। इस प्रकार द्वित्व का अधिकरण जैसे एतद्देशवृत्ति घट है वैसे ही एतद्देशावृत्ति घट भी द्वित्व का अधिकरण है। उक्त प्रयोग स्थल में द्वित्व की व्यापकता विधेय भूत एतद्देशवृत्तित्वाश्रयत्व के संसर्ग में आनी चाहिए। यदि द्वित्वाधिकरण करके हमने एतद्देशावृत्तिघट को ले लिया तो उस घट में रहने वाला अभाव है '**एतद्देशवृत्तित्वाश्रयत्वसंसर्गवान् न**' ऐसा अन्योन्याभाव इस अभाव का प्रतियोगितावच्छेदक हुआ एतद्देशवृत्तित्वाश्रयत्वसंसर्ग जो कि विधेयसंसर्ग है। उसमें हम चाहें तो अन्योन्याभावगर्भव्यापकता लें चाहें तो अत्यन्ताभावगर्भव्यापकता लें दोनों ही स्थितियो में (दोनों ही व्यापकताओं का) विधेय संसर्ग में बाध होगा। अन्योन्याभाव गर्भव्यापकता में विधेय संसर्ग में द्वित्व समानाधिकरणान्योन्याभावप्रतियोगितानवच्छेदकत्व अपेक्षित होगा जबकि एतद्देशवृत्तित्वाश्रयत्व संसर्ग रूप विधेय संसर्ग में द्वित्वसमानाधिकरण (द्वित्वाधिकरण एतद्देशावृत्ति घट निष्ठ) अन्योन्याभाव '**एतद्देशवृत्तित्वाश्रयत्वसंसर्गवान् न**' का प्रतियोगितावच्छेदकत्व ही विद्यमान है। अत्यन्ताभाव गर्भव्यापकता लेते हैं तो एतद्देशवृत्तित्वाश्रयत्व संसर्ग रूप विधेय संसर्ग में द्वित्ववद् वृत्ति अत्यन्ताभावप्रतियोगितानवच्छेदक वत्त्व अपेक्षित होगा जबकि द्वित्ववद् एतद्देशावृत्तिघटनिष्ठ अभाव '**एतद्देशवृत्तित्वाश्रयत्वसंसर्गो नास्ति**' का प्रतियोगितावच्छेदक एतद्देशवृत्तित्वाश्रयत्व संसर्गत्व ही एतद्देशवृत्तित्वाश्रयत्वसंसर्ग में है। इस प्रकार से दोनों ही प्रकार की व्यापकता का विधेय संसर्ग में बाध है। अतः घटद्वयाधिकरणपरक भी '**अत्र घटौ स्तः**' ऐसा वाक्य अप्रमाणिक होने लगेगा।

यहाँ पर यह समाधान अवश्य दिया जा सकता है कि- तत्तद् द्वित्वसमानाधिकरण अभाव प्रतियोगितानवच्छेदकत्व का तत्तद्विधेय संसर्गांश में भान होता है अर्थात् उद्देश्यतावच्छेदक व्यापकता कह कर तत्तद् द्वित्व की व्यापकता भासित होती है। तो ऐसा कहने पर उपर्युक्त दोष वारित हो जायेगा क्योंकि तत्तद्द्वित्व कर के जब आप पकड़ेंगे तो तद् द्वित्व का अधिकरण एतद्देशावृत्ति घट नहीं होगा बल्कि एतद्देशवृत्ति घट ही होगा क्योंकि तद् पद से हमने एतद्देशवृत्तिघटनिष्ठ द्वित्व को पकड़ा है। तन्निष्ठान्योन्याभावप्रतियोगितानवच्छेदकत्व एतद्देशवृत्तित्वाश्रयत्वसंसर्ग में विद्यमान है क्योंकि एतद्देशवृत्ति घट रूप तद्द्विवत्व के अधिकरण में '**एतद्देशवृत्तित्वाश्रयत्वसंसर्गवान् न**' ऐसा भेद नहीं मिलेगा क्योंकि वह एतद्देशवृत्तित्वाश्रयत्वसंसर्गवान् है। अत्यन्ताभावगर्भव्यापकता भी एतद्देशवृत्तित्वाश्रयत्वसंसर्ग

में विद्यमान है, तद्द्वित्ववत् एतद्देशवृत्तिघटनिष्ठाभावप्रतियोगितानवच्छेदकवत्त्व उक्त संसर्ग में है क्योंकि एतद्देशवृत्ति घट में 'एतद्देशवृत्तित्वाश्रयत्वसंसर्गो नास्ति' ऐसा अभाव नहीं आ सकता है। परन्तु ऐसा भी इसलिए नहीं स्वीकारा जा सकता है क्योंकि द्वित्वेन द्वित्व की उपस्थिति होती है तत्तद्द्वित्वेन नहीं। इसलिए उद्देश्यतावच्छेदकव्यापकता कहकर द्वित्व की व्यापकता ही भास करती है, तत्तद्द्वित्व की नहीं । अतः एकदेशि के मत से उक्ताशङ्का का समाधान सम्भव नहीं है।

**न च तदवच्छिन्नस्य संसर्गतया भाने तेन रूपेणोपस्थितेर्नापेक्षेति वाच्यम्, तत्संसर्गावच्छिन्नतत्प्रकारतानिरूपिततत्तद्विशेष्यताशालिशाब्दबोध परमित्याकारकतात्पर्यज्ञाने संसर्गस्य विशेषणतया तद्भाननिर्वाहाय संसर्ग घटकोपस्थितेरपि शाब्दबोधात् प्रागावश्यकत्वात् । प्रकृतसंसर्गेणैकपदार्थ विशिष्टापरपदार्थबोधपरत्वज्ञानस्य प्रकृतवाक्यार्थविषयकतया प्रागसम्भवे-नोपदर्शिततात्पर्यज्ञानस्यैव शाब्दधीहेतुत्वोपगमात्। एवं वाक्यार्थघटक-संसर्गस्याननुगमे 'घटौ स्तः' इत्यादौ वाक्यभेदप्रसङ्गाच्च ।**

सिद्धान्तैक देशी की उक्ताशंका का निवारण करने वाली इस युक्ति 'द्वित्वाद्यवच्छिन्न उद्देश्यताक बुद्धि में उद्देश्यतावच्छेदकव्यापकता नियम से विधेय संसर्ग में भासती है ऐसी व्युत्पत्ति है, अतः एकव्यक्तिमात्र परक **'अत्र घटौ स्तः'** इत्यादि वाक्यों की प्रामाणिकता नहीं होगी' का खण्डन करते हुए सिद्धान्ती ने कहा कि सामान्यतः द्वित्वत्वेन द्वित्व को पकड़ते हैं तो घटद्वयविद्यमानतास्थल में भी **'अत्र घटौ स्तः'** का प्रयोग नहीं हो सकेगा और तत्तद् द्वित्वव्यापकता का भान विधेय संसर्ग में स्वीकारना नहीं जा सकता है क्योंकि द्वित्व की उपस्थिति तत्तद्वित्वत्वेन नहीं होती है। इसी पर सिद्धान्तैकदेशी के अनुसार प्रश्न उठाकर समाधान करेंगे।

यदि कहो कि तत्तद् द्वित्वत्वावच्छिन्न का संसर्गतयाभान होने के लिए उसकी तत्तद् द्वित्वत्वेन रूपेण उपस्थिति अपेक्षित नहीं है। (यदि तत्तद् द्वित्वत्वेन उपस्थिति के न होने पर भी तत्तद् द्वित्वव्यापकता का विधेयसंसर्ग में भान स्वीकार कर लिया जाये तो पूर्वोपदर्शित रीति से पूर्वोक्त दोष वारित हो जायेगा) तो ऐसा नहीं कहना चाहिए। क्योंकि शाब्दबोध में तात्पर्य ज्ञान कारण होता है। और **'तत्संसर्गावच्छिन्नतत्प्रकारतानिरूपिततत्तद् विशेष्यताशालिशाब्दबोधपरम्'** इस प्रकार के तात्पर्य ज्ञान में संसर्ग का विशेषणतया भान होने के लिए संसर्ग घटक द्वित्वादि उपस्थिति की भी शाब्दबोध के पूर्व में आवश्यकता होती है। अभिप्राय यह है कि उक्ताकारक तात्पर्यज्ञान की ही शाब्दबोध में कारणता स्वीकारी जाती है। उक्त तात्पर्य ज्ञान में संसर्ग का विशेषणतया भान तभी हो सकता है, यदि संसर्ग की उपस्थिति पूर्व में हो। इस तरह जिस रूप में शाब्दबोध के पूर्व में संसर्ग की उपस्थिति होगी उसी रूप में उस संसर्ग को तात्पर्यज्ञान विषय कर सकेगा अन्यरूप में नहीं। विधेय संसर्ग में उद्देश्यतावच्छेदक की व्यापकता भास रही है तो उद्देश्यतावच्छेदक व्यापक विधेयसंसर्ग ही संसर्ग हुआ। इसमें उद्देश्यतावच्छेदकव्यापकता से द्वित्व व्यापकता ही भास सकती है तत्तद् द्वित्वव्यापकता नहीं क्योंकि तत्तद् द्वित्वत्वेन द्वित्व की उपस्थिति नहीं हुआ करती है। चूँकि तत्तद् द्वित्वत्वेन द्वित्व की उपस्थिति नहीं होती है, अतः तत्तद्द्वित्वव्यापकत्व

एतद्देशवृत्तित्वाश्रयत्व रूपविधेय के संसर्ग में नहीं भास सकता है। तत्तद् द्वित्वत्वावच्छिन्न का संसर्गतया भान होने के लिए उसकी तत्तद् द्वित्वत्वेन उपस्थिति अवश्य अपेक्षित है।

यदि उपर्युक्ताकारकतात्पर्यज्ञान की कारणता नहीं मानकर भिन्न रीति से तात्पर्यज्ञान की कारणता स्वीकारें और कहें कि **'प्रकृतसंसर्गेण एकपदार्थविशिष्टापरपदार्थबोधन परम्'** इस प्रकार का तात्पर्यज्ञान हम शाब्दबोध में कारण मानेंगे। पूर्ववाले तात्पर्यज्ञान और इस तात्पर्यज्ञान में अन्तर यह है कि पूर्व में संसर्ग का निवेश तत्संसर्ग करके किया गया था, अतः बुद्धिविषयतावच्छेदकावच्छिन्न में तत् पद की शक्ति होने के कारण जिस रूप से संसर्ग की उपस्थिति हुई रही होगी उसी रूप से वह संसर्ग बन सकेगा। यहाँ पर प्रकृत संसर्ग करके प्रवेश किया गया है अतः जिस रूप से उपस्थिति हुई हो उसी रूप से संसर्ग बनने की बाध्यता नहीं है। इसके अलावा तत्संसर्गावच्छिन्न प्रकारता करके निवेश था, इस प्रकार संसर्ग प्रकारता का अवच्छेदक बन रहा था, प्रकारतावच्छेदक बनने से विशेषण बन गया और इसलिए संसर्गघटकीभूत पदार्थों की भी प्रकारतावच्छेदकतावच्छेदक बनने से उपस्थिति आवश्यक होती थी। अब ऐसा नहीं है। इस तात्पर्यज्ञान में संसर्ग को किसी का अवच्छेदक बनाकर प्रवेश नहीं किया गया है। इसलिए संसर्गघटक पदार्थों की उपग्थिति आवश्यक नहीं है। तो इसके लिए ग्रन्थकार कह रहे हैं कि-

प्रकृत संसर्ग से एकपदार्थ विशिष्ट अपरपदार्थ बोध परत्वज्ञान तो प्रकृत वाक्यार्थविषयक होगा प्रकृत शाब्द बोध रूप हो जायेगा और इसलिए शाब्द बोध के पूर्व में नहीं रहेगा। जबकि शाब्दबोधात्मक कार्य के प्रति कारणीभूत है तात्पर्यज्ञान, इसलिए शाब्दबोध के पूर्व में कारणीभूत तात्पर्यज्ञान को रहना चाहिए, ऐसा नहीं हो सकता है कि कोई पदार्थ किसी पदार्थ के पूर्व में नहीं रहता हो फिर भी उस पदार्थ को उस दूसरे पदार्थ के प्रति कारण मान लिया जाये। अतः पूर्वोपदर्शित तात्पर्य ज्ञान को ही शाब्दबोध के प्रति कारण मानना पड़ेगा। इसके अतिरिक्त इस द्वितीय तात्पर्यज्ञान की कारणता मानने पर संसर्ग का अनुगम नहीं हो सकेगा क्योंकि वह संसर्ग तत्तद्द्वित्वगर्भ है, द्वित्व तो अपेक्षाबुद्धि से जन्य होता है इस प्रकार अपेक्षाबुद्धिनाश से नाश्य भी होता है। अपेक्षाबुद्धि के नश्यमान होने पर द्वित्व का भी नाश होना अत्यन्त आवश्यक है। इस प्रकार तत्तद् द्वित्व घटक होने के कारण तत्तद् द्वित्व का भेद होने से संसर्ग भी भिन्न हो जायेगा। संसर्ग का भेद होने पर वाक्य का भेद भी होना अवश्यंभावी है। यह दूसरा दोष है। इस प्रकार पूर्वोक्त दोष का निवारण नहीं हुआ। एक घट के एतद्देशवृत्ति होने की दशा में भी **'अत्र घटौ स्तः'** इस वाक्य के प्रामाण्य और प्रयोग की आपत्ति पूर्ववत् मौजूद है।

**अत्रोच्यते- व्यासज्यवृत्तिधर्मावच्छिन्नोद्देश्यताकशाब्दबुद्धौ स्वव्याप्यतादृशधर्मवत्त्वमपि विधेयसंसर्गतया भासत इति व्युत्पत्तिः। व्याप्यत्वं च तद्वदन्यावृत्तित्वं व्यतिरेकिविधेयस्थले। तादृशधर्मवत्त्वं चोद्देश्यतावच्छेदकताघटकसम्बन्धेन बोध्यम् ।**

अब ग्रन्थकार सिद्धान्तानुसार पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं कि यहाँ पर यह कहा जाता है कि व्यासज्यवृत्तिधर्म से अवच्छिन्न उद्देश्यताक शाब्दबुद्धि में अर्थात् जहाँ पर उद्देश्यता व्यासज्यवृत्तिद्वित्वादि धर्मो से अवच्छिन्न हो उस शाब्दबुद्धि में स्वव्याप्य तादृश

(व्यासज्यवृत्ति) धर्मवत्त्व भी विधेय के संसर्ग रूप में भासित हुआ करता है यह व्युत्पत्ति है। व्यतिरेकिविधेयकस्थल में अर्थात् जहाँ पर विधेय ऐसा हो जिसका कि अभाव प्रसिद्ध हो वहाँ पर व्याप्यत्व तद्वदन्यावृत्तित्वरूप लेना चाहिए तथा तादृशधर्मवत्त्व उद्देश्यतावच्छेदकता घटक सम्बन्ध से लेना चाहिए। उद्देश्यतावच्छेदक जिस सम्बन्ध से अपेक्षित हो उसे ही उद्देश्यतावच्छेदकता घटक सम्बन्ध कहते हैं।

यहाँ पर सिद्धान्ती के कथन का आशय यह है कि जो सम्बन्ध विधेय का सम्बन्ध है वह तो विधेय संसर्गतया भासित होगा ही और उसके साथ-साथ स्वव्याप्यतादृशधर्मवत्त्व भी विधेय का संसर्ग बन कर भासित हुआ करता है जहाँ पर कि शाब्दबोध व्यासज्यवृत्ति धर्मावच्छिन्नोद्देश्यताक होता है। यहाँ पर पूर्वोक्त आशंका का निवारण करने के लिए जो समाधान पूर्व में देने का प्रयास किया था और यहाँ पर जो समाधान दे रहे हैं, उसका सार यही है कि व्यासज्यवृत्तिधर्मावच्छिन्नोद्देश्यताकशाब्दबोध स्थल में व्यासज्यवृत्ति धर्म और विधेय का कोई सम्बन्ध अवश्य भासित होता है। और वह सम्बन्ध प्रकारतया नहीं भासित हो सकता है बल्कि संसर्गतया ही भासित हो सकता है। पूर्वोक्त समाधान में दोष था । अतः उसका खण्डन कर दिया था। अब इस समाधान को व्यवस्थापित किया जा रहा है। विधेयसंसर्गतया भासित होता है स्वव्याप्यतादृशधर्मवत्त्व। उसके अन्तर्गत स्वव्याप्यत्व भी है। व्याप्यत्व का आशय व्याप्ति से है फिर व्याप्ति कैसी लेनी है? यह प्रश्न है।इसका समाधान दिया कि व्यतिरेकिविधेयस्थल में तद्वदन्यावृत्तित्व रूप व्याप्ति लेनी है। संसर्गान्तर्गत तादृशधर्मवत्त्व उद्देश्यतावच्छेदकताघटक सम्बन्ध से लेना है।

अब हम खुद अपनी तरफ से उदाहरण लेकर समझने का प्रयास करते हैं। एक घट और एक पट रहने की स्थिति में **'अत्र घटपटौ स्तः'** ऐसा प्रयोग किया गया यहाँ पर शाब्दबोधीय उद्देश्यता उभयत्वावच्छिन्ना और घटपटोभयनिष्ठा है। इस कारण यह शाब्द बोध व्यासज्यवृत्तिधर्मावच्छिन्नोद्देश्यताक है। ऐसे शाब्दबोध में विधेयभूत जो एतद्देशवृत्तित्वाश्रयत्व है वह स्वरूप सम्बन्ध से तो घटपटोभय में भासित होगा ही, साथ ही साथ व्याप्य तादृश धर्मवत्त्वरूप सम्बन्ध भी एतद्देशवृत्तित्वाश्रयत्व के संसर्ग रूप में भासेगा। स्व माने विधेयभूत एतद्देशवृत्तित्वाश्रयत्व उसका व्याप्य घटपटोभयगत द्वित्व है क्योंकि द्वित्व जिस घट और पट में है उसी में एतद्देशवृत्तित्वाश्रयत्व भी है। जिस पारिभाषिक रीति तद्वदन्यावृत्तित्व रूप से लेना है व्याप्यत्व, उस रूप से देखें –तद्वद् एतद्देशवृत्तित्वाश्रयत्ववत् घट और पट, तदन्य और सब कुछ, वहाँ पर कहीं भी घटपटोभयगत द्वित्व वृत्ति नहीं है। इस प्रकार तद्वदन्यावृत्तित्व रूप व्याप्यत्व द्वित्व में मौजूद है। वह द्वित्व पर्याप्ति सम्बन्ध से घटपटोभय में भासित होगा इस तरह इस प्रयोग का प्रमाण्य है।

एक घट रहने की स्थिति में **'अत्र घटौ स्तः'** का प्रामाण्य नहीं होता है। यहाँ पर विधेय एतद्देशवृत्तित्वाश्रयत्व के संसर्गरूप में स्वव्याप्यतादृशधर्मवत्त्व भी भासित होगा क्योंकि यहाँ पर शाब्दबोध व्यासज्यवृत्तिधर्मावच्छिन्नोद्देश्यताक है। अब देखिए पूर्व में ग्रन्थकार कह चुके कि **'यत्रैकधर्मस्य द्वित्वाद्युद्देश्यतावच्छेदकता तत्रैवोद्देश्यतावच्छेदकव्याप्तिविशिष्टपर्याप्तेः संसर्गतानियमः'** अर्थात् जहाँ पर एक धर्म द्वित्वादि का उद्देश्यतावच्छेदक हुआ करता है, वहाँ पर ही उद्देश्यतावच्छेदकव्याप्तिविशिष्ट पर्याप्ति

की संसर्गता का नियम है। इसलिए यहाँ पर उद्देश्यतावच्छेदकता घटक सम्बन्ध होगा **'घटत्वव्याप्यपर्याप्ति'** एतद्देशवृत्तित्वाश्रयत्वव्याप्य द्वित्व को घट में घटत्वव्याप्य पर्याप्ति सम्बन्ध से रहना चाहिए। किंतु यहाँ पर द्वित्व तो एतद्देशवृत्तित्वाश्रयत्वव्याप्य ही नहीं है क्योंकि एतद्देशवृत्तित्वाश्रयत्ववदन्य होगा एतद्देशावृत्ति घट। चूँकि यहाँ पर द्वित्व की अपेक्षा बुद्धि एतद्देशवृत्ति और एतद्देशावृत्ति दोनों ही घटों को लेकर हुई, अतः द्वित्व एतद्देशावृत्ति घट में रहा। इस तरह एतद्देशवृत्तित्वाश्रयत्ववदन्यावृत्तित्व रूप व्याप्यत्व द्वित्व में नहीं रहा। इस कारण इस स्थल में स्वव्याप्यत्व का बाध होने के कारण स्वव्याप्यतादृशधर्मवत्त्व विधेयसंसर्गतया भासित नहीं हो सकता है। इस कारण इस वाक्य का अप्रामाण्य है।

**'अत्र घटौ स्तः' इत्यादावेतद्देशवर्तमानत्वादिरूपविधेयस्य तद्वदन्यावृत्तित्वरूपव्याप्तिमच्चैतद्देशस्यैकघटादिव्यक्तिमात्राधिकरणत्वे घटपटादिनिष्ठ-द्वित्वमेव, घटत्वव्याप्यपर्याप्तिरूपोद्देश्यतावच्छेदकताघटकसम्बन्धावच्छिन्न तद्वत्त्वं च घटादौ बाधितमिति न तादृशवाक्यस्य प्रामाण्यम्। अधिकरणस्य घटद्वयादिमत्त्वे च घटत्वादिव्याप्यं द्वित्वमेव तथेति घटत्वादिव्याप्यपर्याप्ति-सम्बन्धेन तद्वत्त्वं घटादावबाधितमिति तादृशवाक्यस्य प्रामाण्यं निर्वहति।**

ग्रन्थकार स्वयं उक्त समाधान से आशंकाओं का निवारण करते हैं कि **'अत्र घटौ स्तः'** इत्यादिस्थलों में एतद्देशवर्तमानत्वरूप विधेय का तद्वदन्यावृत्तित्वरूपव्याप्तिमत् तो एतद्देश के एक घटादि व्यक्ति मात्र का अधिकरण होने पर घटपटादिनिष्ठ द्वित्व ही हो सकता है अर्थात् यदि एतद्देश एकघटादिव्यक्ति मात्र का अधिकरण है तो एतद्देशवर्तमानत्वरूप विधेय का तद्वदन्यावृत्तित्वरूप व्याप्तिमत् घट पटादिनिष्ठ द्वित्व ही हो सकता है केवल घटनिष्ठ द्वित्व नहीं हो सकता है। इस प्रकार एतद्देशवर्तमानत्वरूपविधेय का व्याप्य जो घटपटादिनिष्ठ द्वित्व है, वह घट में उद्देश्यतावच्छेदकताघटक सम्बन्ध घटत्वव्याप्यपर्याप्ति सम्बन्ध से नहीं रह सकता है, तद्वत्त्व घटादि में बाधित है। इसलिए वैसे वाक्य का प्रामाण्य नहीं हो सकता है।

यहाँ पर ग्रन्थकार का आशय यह है कि जब एक घट के रहने पर **'अत्र घटौ स्तः'** ऐसा प्रयोग किया जाता है। तो द्वित्व एतद्देशस्थ घट और पट विषयक अपेक्षा बुद्धि से जन्य हो सकता है जिसे कि यह प्रयोग विषय कर रहा हो। अथवा एतद्देशस्थ और अन्यदेशस्थ घट को विषय करने वाली अपेक्षाबुद्धि से जन्य द्वित्व हो। द्वितीयपक्ष में तो द्वित्व में विधेयव्याप्यत्व ही नहीं आ सकता है क्योंकि विधेयभूत एतद्देशवर्त्तमानत्ववदन्य एतद्देशावृत्तिघट में द्वित्ववृत्ति है। प्रथम पक्ष में यद्यपि एतद्देशवर्तमानत्व व्याप्यत्व द्वित्व में मौजूद है क्योंकि एतद्देशवर्तमानत्ववदन्य में द्वित्व मौजूद नहीं है बल्कि एतद्देशवर्तमान घट और पट में ही द्वित्व विद्यमान है। किंतु एतद्देशवर्तमानत्वव्याप्य द्वित्व की उद्देश्यतावच्छेदकताघटक सम्बन्ध घटत्वव्याप्यपर्याप्तिरूप सम्बन्ध से विद्यमानता घटादि में बाधित है। इसलिए उक्त वाक्य का प्रामाण्य नहीं होता है।

अधिकरण के घटद्वयादिमान होने पर तो अर्थात् एतद्देश में दो घटों के रहने पर तो घटत्व से व्याप्य जो घटद्वयनिष्ठ द्वित्व है वही एतद्देशवर्तमानत्वरूप विधेय का व्याप्य है

क्योंकि घटद्वयनिष्ठद्वित्व एतद्देशवर्तमानत्ववदन्य में वृत्ति नहीं है बल्कि एतद्देश वर्तमानत्ववत् में ही वृत्ति है। वह घटद्वयनिष्ठद्वित्व घटत्वव्याप्य है। इसलिए उद्देश्यतावच्छेदकताघटक सम्बन्ध घटत्वव्याप्यपर्याप्ति सम्बन्ध से एतद्देशवर्तमानत्वव्याप्य द्वित्ववत्त्व घटादि में अबाधित है। अतः ऐसी स्थिति में '**अत्र घटौ स्तः**' ऐसे वाक्य के प्रामाण्य का निर्वाह होता है।

**केवलान्वयिविधेयकस्थले च द्वित्वत्वाद्यवच्छिन्नव्यापकत्वमेव संसर्गघटकम्, केवलान्वयिनि तादृशव्यापकताया अक्षतत्वात् न तु तत्तद् द्वित्वत्वच्छिन्नव्यापकत्वमिति न पूर्वोक्तदोषावकाशः।**

केवलान्वयी विधेय जहाँ पर हो वहाँ पर उपर्युक्त रीति से विवेचन कर पाना और विवक्षा कर पाना सम्भव नहीं है क्योंकि तद्वदन्यावृत्तित्वरूप व्याप्यत्व केवलान्वयिविधेय का नहीं ले सकते हैं कारण यह कि केवलान्वयि विधेयवद् ही सब कुछ हो जायेगा, तदन्य प्राप्त नहीं हो सकेगा। इसीलिए उपर्युक्त निर्वचन के अवसर पर ग्रन्थकार ने कहा कि '**व्याप्यत्वं च तद्वदन्यावृत्तित्वं व्यतिरेकिविधेयस्थले**' केवलान्वयि स्थलों पर क्या किया जाना है या क्या होता है, यह छूट गया है। ग्रन्थकार उसी को यहाँ पर स्पष्ट करना चाह रहे हैं कि-

केवलान्वयि विधेय जहाँ पर हो उस स्थल में तो द्वित्वत्वाद्यवच्छिन्न व्यापकत्व ही संसर्गघटक है, केवलान्वयिस्थल में इस प्रकार की व्यापकता के अक्षत होने के कारण। तत्तद् द्वित्वत्वाद्यवच्छिन्नव्यापकत्व का प्रवेश यहाँ पर नहीं कर रहे हैं जिससे कि पूर्वाक्त दोषों का अवकाश हो।

केवलान्वयि विधेयकस्थल से केवलान्वयी विधेय जिस वाक्य में हो ऐसा वाक्य अपेक्षित है, जैसे- '**घटौ प्रमेयौ**' यहाँ पर घट उद्देश्य है और प्रमेयत्व विधेय है। इसके साथ ही साथ यहाँ पर उद्देश्यता उभयत्व से अवच्छिन्ना है, इस तरह के स्थलों के लिए ग्रन्थकार ने अभी कुछ ही पंक्तियों के पहले कहा था कि '**व्यासज्यवृत्ति धर्मावच्छिन्नोद्देश्यताकशाब्दबुद्धौ स्वव्याप्यतादृशधर्मवत्त्वमपि विधेयसंसर्गतया भासते इति व्युत्पत्तिः**' इस कारण विधेयभूत प्रमेयत्वव्याप्यद्वित्ववत्त्व यहाँ पर भी विधेय के संसर्ग के रूप में भासित होना चाहिए। परन्तु उक्त व्युत्पत्ति को व्यतिरेकिविधेयक स्थल ही में लेना है। केवलान्वयिविधेयक स्थल के लिए वह व्युत्पत्ति नहीं है। वहाँ पर क्या होना है तो इसके लिए ग्रन्थकार ने कहा कि - '**केवलान्वयिविधेयकस्थले द्वित्वत्वाद्यवच्छिन्नव्यापकत्वमेव संसर्गघटकम्**' अभिप्राय इसका यह है कि केवलान्वयिविधेयकस्थल में विधेयसंसर्ग में उद्देश्यतावच्छेदक की व्यापकता नियम से भासती है यह व्युत्पत्ति है। इस प्रकार केवलान्वयिविधेयकस्थल और व्यतिरेकि विधेयकस्थल के लिए भिन्न-भिन्न व्युत्पत्ति स्वीकारनी पड़ती है। केवलान्वयि विधेयक स्थल में तो द्वित्वत्वाद्यवच्छिन्न व्यापकत्व प्रमेयत्व में सिद्ध ही है। उसमें कोई भी आपत्ति नहीं है। इसलिए तत्तद् द्वित्वत्वावच्छिन्न व्यापकत्व को पकड़ने की आवश्यकता नहीं है इसलिए पूर्वोक्त दोषों का अवकाश नहीं है।

यहाँ पर पूर्वोक्त दोषों से आशय यह है- पूर्व में (पृ0229) पर जब यह कहा गया

था कि उद्देश्यतावच्छेदकव्यापकता विधेय संसर्ग में भासित होती है तो दोष दिया गया कि **'अत्र घटौ स्तः'** में द्वित्व के भिन्न-भिन्न होने के कारण द्वित्व समानाधिकरण भेद प्रतियोगितानवच्छेदकत्व और द्वित्वसमानाधिकरण अभाव प्रतियोगितानवच्छेदकवत्त्व का एतद्देशवर्तमानत्व रूप विधेय के संसर्ग में बाध होने के कारण घटद्वयाधिकरणपरक भी उक्तवाक्य के अप्रामाण्य की आपत्ति आयेगी। तत्तद्द्वित्वसमानाधिकरणा भावप्रतियोगिता-नवच्छेदकत्व का विधेय संसर्गांश में भान नहीं स्वीकारा जा सकता है क्योंकि तत्तद् द्वित्वत्वेन उपस्थिति नहीं होती (पृ0 230) उसी से यहाँ पर आशय है। ग्रन्थकार का कहना है यहाँ पर तो कोई भी द्वित्व आप पकड़ें उसका व्यापक ही प्रमेयत्वादि होंगे क्योंकि वे केवलान्वयी है। अतः तत्तद् द्वित्वत्वावच्छिन्नव्यापकता का प्रवेश करने की ज़रूरत ही नहीं है। इसलिए यह दोष नहीं दिया जा सकता है कि तत्तद् द्वित्वत्वेन उपस्थिति नहीं होती है। एक घट रहने की स्थिति में **'अत्र घटौ प्रमेयौ'** के प्रामाण्य की आपत्ति नहीं है क्योंकि यहाँ पर एतद्देशविद्यमानत्वविशिष्टघटमात्रवृत्तिद्वित्व उद्देश्यतावच्छेदक विधया भासता है, विधेय प्रमेयत्व में एतद्देशविद्यमानत्व का अन्वय तो कथमपि सम्भव नहीं है। जबकि उक्त तादृशद्वित्व एक घट के रहने की स्थिति में अप्रसिद्ध है, अतः इस वाक्य के प्रामाण्य की आपत्ति नहीं है। यहाँ पर आदर्शव्याख्या कुछ असङ्गत प्रतीत होती है।

**'घटावानयति चैत्रः' इत्यादौ चैत्रकर्तृकानयनकर्मत्वादिव्याप्य-द्वित्वादिमन्निष्ठनिरूपकताकाधेयत्वादिसम्बन्धेन कर्मत्वादौ घटादेरन्वयो व्युत्पन्नस्तेन चैत्रादावेकघटादिव्यक्तिमात्रानयनकर्तृत्वे न तादृशप्रयोगः। द्वित्वादिमत्त्वं च प्रकारतावच्छेदकीभूतघटत्वादिव्याप्यपर्याप्तिसम्बन्धेन बोध्यं तेन चैत्रस्य घटादिसहितैकघटादिव्यक्त्यानयनकर्तृत्वेऽपि न तादृशप्रयोगः। एवमन्यत्राप्यूह्यम् ।**

**'घटावानयति चैत्रः'** इत्यादिस्थलों में चैत्रकर्तृकानयन कर्मत्वादिव्याप्यद्वित्वादिमन्निष्ठ निरूपकताकाधेयत्वादि सम्बन्ध से कर्मत्वादि में घटादि का अन्वय व्युत्पन्न है, अतः चैत्रादि के एक घटादि व्यक्ति मात्रानयन का कर्ता होने पर वैसा प्रयोग नहीं होता है। और द्वित्वादिमत्त्व प्रकारतावच्छेदकीभूतघटत्वादिव्याप्यपर्याप्ति सम्बन्ध से लेना चाहिए इसलिए चैत्र के पटादिसहित एक व्यक्ति के आनयन का कर्ता होने पर भी वैसा प्रयोग नहीं होता है। इसी प्रकार अन्यत्र भी समझना चाहिए।

पूर्वग्रन्थ के द्वारा सामान्यतया उद्देश्य विधेयभाव होने पर क्या करना चाहिए? यह बतलाया। अब विधेय कुक्षि प्रविष्ट द्वित्वादि के विषय में विवेचन कर रहे हैं तथा सिद्धान्तित कर रहे हैं। कहना है कि **'घटावानयति चैत्रः'** यहाँ पर या इस प्रकार के स्थलों में चैत्रकर्तृक आनयनकर्मत्वादि व्याप्य द्वित्वादिमन्निष्ठनिरूपकताक (निरूपकता निरूपक) आधेयता सम्बन्ध से कर्मत्वादि में घटादि का अन्वय व्युत्पन्न है। देखें- यहाँ पर शाब्दबोध होता है **'घटद्वयकर्मकानयनानुकूलकृतिमाँश्चैत्रः'** यह न्यायमतानुसारी शाब्दबोध है। यदि चैत्र एक घट ला रहा हो तो भी ऐसा वाक्य प्रयोग और ऐसा शाब्द बोध होना चाहिए क्योंकि घट में, ले आये जा रहे घट को और न लाये जा रहे घट को लेकर द्वित्व भी मौजूद है

और आनयनकर्मता भी घट में है ही। यह आपत्ति है। ऐसा वाक्य प्रयोग और शाब्दबोध हुआ नहीं करता है। इसीलिए उक्त व्युत्पत्ति बतलायी जा रही है। कहना यह है कि **घटद्वयकर्मक** जो शाब्दबोध में भास रहा है उसमें तीन अंश हैं घट, द्वित्व और कर्मता। कर्मता में चैत्रकर्तृकानयनकर्मत्वादिव्याप्यद्वित्वादिमन्निष्ठनिरूपकतानिरूपक आधेयत्व सम्बन्ध से घटादि का अन्वय होता है। जब चैत्र द्वारा दो घटों का आनयन हो रहा होता है, उस स्थिति में ऐसा प्रयोग होने पर चैत्रकर्तृक आनयन की कर्मता भी दो घटों में रहती है, उनमें ही द्वित्व भी रहता है। इसलिए चैत्रकर्तृक आनयनकर्मत्वव्याप्य द्वित्व हो जाता है। द्वित्वादिमत् घट (द्वय) में अधिकरणता और आधेयता कर्मता में आती है क्योंकि कर्मता भी घट द्वय में है। अधिकरणता और आधेयता में परस्पर निरूप्यनिरूपकभाव होता है। इसी प्रकार अधिकरण और आधेयता में भी निरूप्यनिरूपक भाव होता है। द्वित्वादिमत् घटद्वय अधिकरण हैं और कर्मता आधेय है। कर्मतानिष्ठ आधेयता का निरूपक द्वित्वादिमत् घटद्वय रूप अधिकरण हुआ और उसमें निरूपकता आई। उक्त निरूपकता कैसी है? आधेयता की है। अतः निरूपकताक या निरूपकतानिरूपक आधेयत्व हो गया। यह है कर्मता में। इसलिए घट का उक्त सम्बन्ध से अन्वय सम्भव होने से उक्त प्रयोग साधु व उसका प्रामाण्य होता है। यदि चैत्र एक घट का आनयन ही कर रहा हो तो चैत्रकर्तृक आनयनकर्मता एक ही घट में होगी और द्वित्व तदतिरिक्त घट में भी रहेगा। इसलिए चैत्रकर्तृकानयनकर्मत्वव्याप्यद्वित्व मिल नहीं सकेगा। इसलिए उस स्थिति में ऐसे प्रयोग का प्रामाण्य नहीं होता है।

यदि चैत्र एक घट और एक पट ला रहा हो तब भी **'घटावानयति चैत्रः'** ऐसा प्रयोग नहीं होता है। जबकि सामान्यतः यदि देखें तो होना चाहिए क्योंकि चैत्रकर्तृक आनयनकर्मत्व जहाँ नहीं है वहाँ पर तो द्वित्व है नहीं (घट पट गत द्वित्व है और आनयनकर्मत्व भी घट पट गत है) इसलिए चैत्रकर्तृकानयनकर्मत्वव्याप्य द्वित्व हो गया किन्तु आगे जब द्वित्वादिमत् लेना है तो घटद्वयगत द्वित्व को पकड़ लिया क्योंकि ततद् द्वित्वत्वेन उपस्थिति नहीं हुआ करती है। तादृश द्वित्ववन्निष्ठनिरूपकताकाधेयत्व सम्बन्ध से कर्मत्व में घट का अन्वय हो सकता है। इसलिए ग्रन्थकार ने कहा कि द्वित्वादिमत्त्व प्रकारतावच्छेदकीभूतघटत्वादिव्याप्यपर्याप्ति सम्बन्ध से लेना है। ऐसी स्थिति में घट द्वयानयन दशा में ही घटत्वव्याप्यपर्याप्ति सम्बन्ध से द्वित्ववत्त्व की उपपत्ति सम्भव होने से **'घटावानयति चैत्रः'** यह वाक्य प्रमाणभूत होता है। एकघट एकपटानयन दशा में प्रकारतावच्छेदक घटत्वपटत्वोभय ही होगा केवल घटत्व नहीं। अतः घटत्व व्याप्यपर्याप्ति सम्बन्ध से द्वित्ववत्त्व न होने से इस वाक्य का प्रमाण्य सम्भव नहीं होता है। इसी प्रकार अन्यत्र भी समझना चाहिए। अन्यत्र से कृष्णं भट्ट ने **'घटान् आनयति'** इत्यादि बहुवचनान्त प्रयोगों में भी समझना चाहिए ऐसा कहा है। हमें तो ऐसा प्रतीत होता है कि करणता, सम्प्रदानता आदि स्थलों में इसी प्रकार द्वित्व, बहुत्वादि का अन्वय करके समझ लेना चाहिए ऐसा भी ग्रन्थकार का तात्पर्य है। जैसे - **'मल्लः हस्ताभ्यां प्रहरति'** **'रामः ब्राह्मणाभ्यां धनं ददाति'** इत्यादि स्थलों में एक हस्त से प्रहार करने की स्थिति में एक ब्राह्मण को ही दान देने की स्थिति में ऐसे प्रयोग न हो इसलिए उक्त रीति से ही तादृश करणत्वादिव्याप्यद्वित्वादिमन्निष्ठनिरूपकताकाधेयत्वादि सम्बन्ध से करणत्वादि में हस्तादि का अन्वय करना चाहिए।

**यत्रानेकवृत्तिधर्मो द्वित्वान्वयितावच्छेदकतया भासते तत्रोभयादिनैव समं पदार्थान्तरस्यान्वयः। यत्रैकमात्रवृत्तिस्तथा तत्रैकेनेति व्युत्पत्ति भेदावलम्बनात् कार्यकारणभाववैचित्र्याच्च सर्वं समञ्जसमित्यपि वदन्ति।**

मतान्तर से भी समाधान देते हैं कि- जहाँ पर अनेक वृत्ति धर्म अन्वयितावच्छेदक होकर भासित हुआ करता है, वहाँ पर उभयादि के साथ ही पदार्थान्तर का अन्वय होता है। जहाँ पर एकमात्र वृत्ति धर्म अन्वयितावच्छेदक होकर भासित होता है, वहाँ पर एक के साथ पदार्थान्तर का अन्वय होता है, इस प्रकार व्युत्पत्तिभेद का अवलम्बन करने से और कार्यकारणभाव के वैचित्र्य से सब कुछ समञ्जस हो जाता है ऐसा भी बतलाते हैं।

हम उदाहरण भी साथ में लेते हुए इस बात को स्पष्ट करने का प्रयास करते हैं। जैसे- **'अत्र घटौ स्तः'** यहाँ पर विधेय पदार्थान्तर है एतद्देशवर्तमानत्व और उसका अन्वय हुआ करता है घट में तथा द्वित्व का अन्वयितावच्छेदक बनकर भासित होने वाला धर्म है घटत्व जो कि अनेक वृत्ति धर्म है क्योंकि घटत्व तो अनेक घटों में रहने धर्म है। इसलिए यहाँ पर उभय (घटद्वय) के साथ ही पदार्थान्तरभूत एतद्देशवर्तमानत्व का अन्वय होगा। इसी प्रकार **'अत्र घटपटौ स्तः'** में भी द्वित्व का अन्वयितावच्छेदक घटपटोभयत्व हुआ करता है जोकि अनेक (घट पट दो) में रहने वाला धर्म है, अतः एतद्देशवर्तमानत्व रूप पदार्थान्तर का अन्वय घटपटोभय में ही हुआ करता है। एक घट या एक पट में नहीं। अतः एक घट मात्र की एतद्देशविद्यमानता होने पर या एक घट, एक पट की एतद्देशविद्यमानता होने पर इस प्रकार **'अत्र घटौ स्तः'** ऐसे प्रयोग के प्रामाण्य की आपत्ति नहीं आती है।

**'अत्राकाशौस्तः'** में द्वित्व का अन्वयितावच्छेदक आकाशत्व ही होता है जो कि एकमात्रवृत्ति धर्म है। अतः एक आकाश के साथ ही एतद्देशवर्तमानत्व रूप पदार्थान्तर का अन्वय हो जाता है। इस प्रकार व्युत्पत्ति भेद व कार्यकारण के वैचित्र्य के अवलम्बन से सब कुछ व्यवस्थित हो जाता है कोई दोष या आपत्ति नहीं है। यहाँ पर **वदन्ति** कह कर अस्वरस सूचित किया गया है। कृष्णंभट्टीया टीका में अस्वरस का बीज यह बतलाया गया है कि वस्तुतः **'अत्राकाशौ स्तः'** यह प्रयोग नहीं होता है, अतः उक्त प्रयोग के निर्वाह के लिए उक्त व्युत्पत्ति का अङ्गीकार और कार्यकारणभावैचित्र्य की कल्पना ही असमञ्जस है।

**अथ घटादिव्यक्तिभेदेनानयनकर्मता भिन्नेति प्रतिसन्दधानस्य पुंसः 'घटावानयति' इति वाक्याच्छाब्दबोधानुपपत्तिः— तस्य कर्मतात्वावच्छेदेनाधेयतासंसर्गावच्छिन्नप्रतियोगिताकस्य द्वित्वाद्यवच्छिन्नघटाद्यभावस्य निश्चयसम्भवात्, तस्य द्वित्वादिना तादृशसंसर्गकघटादिविशिष्टधीविरोधित्वादिति चेत् ? न, उभयत्वाद्यवच्छिन्नाभावत्ताज्ञानमुभयत्वावच्छिन्ननिरूपिताधेयता-संसर्गावगाहिज्ञानमेव प्रतिबध्नाति न तु केवलं विशेष्ये विशेषणमिति रीत्या जायमानमुभयत्वादिविशिष्टज्ञानम्, अतो विशेषदर्शिनां तादृशवाक्याद् दोषायत्तमाधेयत्वांश उभयत्वाद्यवच्छिन्ननिरूपितत्वावगाहिभ्रमात्मकज्ञानं न भवत्येवापितु तदंशे तदनवगाहि प्रमात्मकं ज्ञानमिति। उभयत्वावच्छिन्न-निरूपिताधेयत्वं चोभयादिवृत्तावेकस्मिन् धर्मे एव न तु प्रत्येकमात्रवृत्ताविति कर्मत्वांशे तादृशाधेयत्वावगाहिज्ञानस्य भ्रमत्वमित्यवधेयम्।**

अभी ग्रन्थकार ने यह व्यवस्थापन किया कि- **व्यतिरेकिविधेयकस्थल में व्यासज्यवृत्तिधर्मावच्छिन्नोद्देश्यताकशाब्दबुद्धि में स्वव्याप्यतादृशधर्मवत्त्व भी विधेयसंसर्गविधया भासता है और केवलान्वयिविधेयकस्थल में विधेय संसर्ग में उद्देश्यतावच्छेदक की व्यापकता नियम से भासती है।** इसके बाद में '**घटावानयति चैत्रः**' यहाँ पर कर्मता में घटादि का अन्वय चैत्रकर्तृकानयनकर्मत्वव्याप्य द्वित्वादिमन्निष्ठ-निरूपकताकाधेयत्व सम्बन्ध से होता है ऐसा कहा । अब इस ग्रन्थ से यहाँ के लिए एक समस्या उपस्थित कर रहे हैं और समस्या उठाकर फिर उसका समाधान भी कर रहे हैं।

प्रश्न उठाते हैं कि- घटादिव्यक्ति के भेद से आनयन कर्मता भिन्न-भिन्न है[1] इस बात को समझनेवाले पुरुष को '**घटावानयति चैत्रः**' इस वाक्य से शाब्दबोध नहीं होना चाहिए। क्योंकि उसको कर्मतात्वावच्छेदेन आधेयतासम्बन्धावच्छिन्न प्रतियोगिताक द्वित्वाद्यवच्छिन्न घटादि के अभाव का निश्चय सम्भव है और वह द्वित्वादि रूप से तादृशसंसर्गक घटादिविशिष्ट बुद्धि का विरोधी होगा। अभिप्राय यह है कि तत्सम्बन्ध से तद्वत्तानिश्चय के प्रति तत्सम्बन्धावच्छिन्न प्रतियोगिताक तदभाववत्तानिश्चय प्रतिबन्धक हुआ करता है। जैसे संयोगसम्बन्ध से घटवत्ता बुद्धि के प्रति संयोगसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक घटाभाववत्ता निश्चय प्रतिबन्धक हुआ करता है। यहाँ पर '**घटावानयति चैत्रः**' इस प्रयोग स्थल में द्वित्वादिमन्निष्ठनिरूपकताक आधेयतासम्बन्ध से घटवत्ता कर्मता में अपेक्षित है। यह तभी सम्भव हो सकता है यदि द्वित्वविशिष्ट घट में रहने वाली कर्मता एक ही हो, क्योंकि तभी द्वित्वविशिष्ट घट निष्ठ अधिकरणता से निरूपित आधेयता कर्मता में मिल सकेगी। यदि व्यक्ति यह जान रहा है कि घटनिष्ठा आनयनकर्मता भिन्न-भिन्न है तो घटनिष्ठ अधिकरणता से निरूपित आधेयता आनयनकर्मता निष्ठ मिल जायेगी लेकिन पर्याप्ति सम्बन्ध से द्वित्वविशिष्ट घटनिष्ठ अधिकरणता से निरूपित आधेयता आनयनकर्मतानिष्ठा नहीं मिल सकेगी क्योंकि द्वित्वविशिष्ट घट में (घटद्वय में) कोई एक कर्मता तो है नहीं। इसलिए कर्मतात्वावच्छेदेन तादृश आधेयता सम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकद्वित्वविशिष्टघटाद्यभाव का निश्चय सम्भव है। और ऐसा निश्चय यदि किसी को हो तो उसे तो '**तादृश आधेयतासम्बन्ध से द्वित्वविशिष्ट घटवती कर्मता**' ऐसी विशिष्ट बुद्धि नही हो सकती है तादृशाधेयता संसर्गावच्छिन्नप्रतियोगिताक द्वित्वविशिष्टघटाभाववत्ता निश्यय के इस विशिष्ट बुद्धि के प्रति प्रतिबन्धक होने के कारण। '**घटावानयति चैत्रः**' से आप इसी प्रकार की शाब्दबुद्धि का प्रतिपादन कर रहे हैं जो कि सम्भव नहीं हो सकेगा। आनयनकर्मता में यदि घटद्वयनिष्ठाधिकरणतानिरूपिता आधेयता आ जाये तो तादृशआधेयता सम्बन्ध से घटवत्ता कर्मता में भासित हो सकती है जो कि शाब्दबोध के द्वारा प्रतिपाद्य है। किन्तु एक घट में रहने वाली कर्मता दूसरे घट में रहने वाली कर्मता से भिन्न है। इस परिस्थिति में घटद्वयनिष्ठ अधिकरणता से निरूपित आधेयता किसी कर्मता में नहीं सम्भव है। फिर उक्त शाब्दबोध उपपन्न नहीं हो सकता है।

समाधान देते हैं कि- ऐसा नही है, उभयत्वाद्यवच्छिन्नाभाववत्ताज्ञान उभयत्वावच्छिन्न

---

1- कर्मता क्या चीज़ है? इस विषय में भवानन्द सिद्धान्तवागीश का कहना है कि -'तत्तद्धात्वर्थतावच्छेदक फलशालित्वं तत्तद्धात्वर्थकर्मत्वम्' पृ. 33 कारकचक्रम् छात्रपुस्तकालय कलकत्ता सन् 1937 इस प्रकार का कर्मत्व वस्तुतः आनयनकर्म भेद से भिन्न-भिन्न ही होगा। इसलिए गदाधरभट्टाचार्य ने सन्दधानस्य यह प्रयोग किया है। अर्थात् यदि ऐसा समझ रहा है तो उचित ही समझ रहा है।

निरूपित आधेयता संसर्गावगाही ज्ञान का ही प्रतिबन्ध करता है केवल विशेष्य में विशेषण है इस रीति से होने वाले उभयत्वादिविशिष्टज्ञान का प्रतिबन्ध नहीं करता है। इसलिए विशेषदर्शियों को वैसे वाक्य से दोषायत्त आधेयत्वांश में उभयत्वाद्यवच्छिन्ननिरूपितत्व का अवगाहन करने वाला भ्रमात्मक ज्ञान नहीं ही होता है, अपितु उस अंश में उसको विषय न करने वाला प्रमात्मक ज्ञान होता है। उभयत्वावच्छिन्ननिरूपिताधेयत्व तो उभयादिवृत्ति एक धर्म में ही रहता है प्रत्येकमात्रवृत्ति धर्म में नहीं अतः कर्मत्वांश में उभयत्वावच्छिन्ननिरूपिताधेयत्व का अवगाहिज्ञान का भ्रमत्व ही है ऐसा समझना चाहिए।

यहाँ पर गदाधर भट्टाचार्य ने जो आशंका का समाधान दिया है उसे समझने के लिए हम पहले एक उदाहरण स्थल लेते हैं और उसे स्पष्ट करते हैं। किसी व्यक्ति को पीलिया हुआ है और वह नहीं जानता कि शंख श्वेत ही हुआ करता है पीला नहीं। उस व्यक्ति को शंख को देखकर '**पीतः शङ्खः**' ऐसा भ्रमात्मक ज्ञान दोषविशेषवशात् होता है। पीतत्ववैशिष्ट्य शंख में भासित होता है इस ज्ञान में। यह विशिष्ट ज्ञान होता है जो कि भ्रमात्मक है। जिस व्यक्ति को पीलिया हुआ है परन्तु वह व्यक्ति यह जानता है कि शङ्ख पीला नहीं होता है, उसे यह विशेष दर्शन है कि '**पीतत्वाभाववान् शङ्खः**' वह व्यक्ति जब शङ्ख को देखता है तो उसे भी '**पीतः शङ्खः**' ऐसा ज्ञान होता है। किन्तु उस व्यक्ति को होने वाला यह ज्ञान भ्रमात्मक नहीं होता है क्योंकि इस ज्ञान के द्वारा शंख में पीतत्व के वैशिष्ट्य का अवगाहन नहीं होता है। (क्योंकि ऐसा ज्ञान होने पर भी वह व्यक्ति शंख को पीला नहीं समझता है विशेषदर्शन 'शंख पीला नहीं है' ऐसा ज्ञान रहने के कारण) बल्कि यह ज्ञान विशेष्य में विशेषण इस रीति से होने वाला ज्ञान है। चूँकि **तदभाववत्तानिश्चय तद्वत्तानिश्चय ( विशिष्ट बुद्धि ) के प्रति ही प्रतिबन्धक होता है।** इसलिए यहाँ पर पीतत्ववत्तानिश्चय (भ्रमात्मक विशिष्ट बुद्धि) नहीं होता है, बल्कि विशेष्य में विशेषण इस रीति से पीतत्व के वैशिष्ट्य को न विषय करने वाली प्रमात्मिका बुद्धि होती है। विशेषदर्शन वाले व्यक्ति को भी '**पीतःशंखः**' यह ज्ञान तो होता है किन्तु वह व्यक्ति उस ज्ञान की अयथार्थता को समझ रहा होता है, इसलिए उसको होने वाला जो ज्ञान है उसमें पीतत्व के वैशिष्ट्य का अवगाहन नहीं होता है। विशेषदर्शन जिसे नहीं है उसे होने वाला जो ज्ञान है उसमें शंख में पीतत्व के वैशिष्ट्य का अवगाहन होता है, अतः वह भ्रमात्मक होता है।

इसी रीति से अब हम प्रकृतस्थल में देखते हैं। यहाँ पर भी गदाधर का यही कहना है कि उभयत्वाद्यवच्छिन्न प्रतियोगिताक अभाववत्ताज्ञान उभयत्वावच्छिन्ननिरूपिताधेयतासंसर्गावगाहि ज्ञान का ही प्रतिबन्ध करेगा अर्थात् विशिष्टज्ञान का ही प्रतिबन्धक होगा। अर्थात् **उक्त आधेयतासम्बन्ध से घटद्वय का अन्वय एक कर्मता में सम्भव नहीं है** इस प्रकार का निश्चयात्मक ज्ञान उक्त आधेयता सम्बन्ध को अवगाहन करने वाले (उक्त आधेयतासम्बन्ध से घट द्वय के आनयनकर्मता में अन्वय को अवगाहन करने वाले) ज्ञान का ही प्रतिबन्ध करेगा क्योंकि प्रथम निश्चयात्मक प्रतिबन्धक ज्ञान में '**आनयनकर्मतानिष्ठ आधेयता में घटद्वयनिरूपितत्वाभाव**' विषय हो रहा है और द्वितीय प्रतिबध्यज्ञान में **आनयनकर्मता-निष्ठाधेयता में घटद्वयनिरूपितत्व** विषय हो रहा है। किन्तु उक्त उभयत्वाद्यवच्छिन्न अभाववत्ता ज्ञान (उक्ताधेयतासम्बन्ध से घट द्वय का आनयनकर्मता में अन्वय सम्भव नहीं

है इस प्रकार का ज्ञान) विशेष्य में विशेषण है इस रीति से होने वाले उभयत्वादिविशिष्ट ज्ञान का प्रतिबन्ध नहीं करता है। इसलिए विशेषदर्शन जिन्हें है (ऐसा ज्ञान जिन्हें है उन्हें दोषवशात् आधेयत्वांश में उभयंत्वाद्यवच्छिन्न निरूपितत्व का अवगाहन करने वाला भ्रमात्मक ज्ञान नहीं होता है । जैसे कि '**पीतत्वाभाववान् शङ्खः**' इस प्रकार विशेष दर्शन जिसे है उसे पीलिया होने पर भी '**पीतः शङ्खः**' ऐसा भ्रमात्मक ज्ञान नहीं होता है। अपितु उभयत्वाद्यवच्छिन्न निरूपितत्व का अवगाहन न करने वाला प्रमात्मक ज्ञान होता है। अभिप्राय यह है कि उभयत्वावच्छिन्ननिरूपकताक आधेयता ज्ञान नहीं हो सकता है, किंतु उभयत्वकर्मतानिष्ठ आधेयता निरूपकता का अवच्छेदक बन कर नहीं भास सकता है किन्तु उभयत्ववत्घटनिष्ठनिरूपकतानिरूपित आधेयता का अवगाहन ज्ञान में हो ही सकता है। आनयनकर्मता में घट प्रकार है और घट द्वित्वविशिष्ट है, इस प्रकार द्वित्वविशिष्ट घट का अन्वय आनयनकर्मता में हो सकता है। यदि घटद्वयनिष्ठ आनयन कर्मता एक होती तो तादृश एक आधेयता की निरूपिका घटद्वयनिष्ठ एक आधारता होती और आधेयता निरूपकता का अवच्छेदक उभयत्व होता तो द्वित्वावच्छिन्ननिरूपकता निरूपितत्व का भान सम्भव होता ज्ञान में, किन्तु ऐसा नही है। अतः द्वित्वावच्छिन्ननिरूपकता निरूपितत्व का भान सम्भव नहीं बल्कि उक्त रीति से विशेष्य में विशेषण इस रीति से होने वाला ज्ञान सम्भव है। वह उभयत्वावच्छिन्ननिरूपकतानिरूपक आधेयता का अवगाहन करता तो भ्रमात्मक होता। उसका अवगाहन न करने वाला प्रमात्मक ज्ञान ही होता है विशेषदर्शन वाले पुरुष को इसे समझ लेना चाहिए।

यहाँ पर यह निष्कर्ष है कि- जिसे यह प्रतिसन्धान नहीं है कि कर्मता घटव्यक्ति भेद से भिन्न है उसे तो **उभयत्वावच्छिन्ननिरूपिताधेयत्व का अवगाहन करने वाला** भ्रमात्मक ज्ञान ही होता है और जिसे उक्त प्रतिसन्धान है उस व्यक्ति को आधेयता में **उभयत्वावच्छिन्न निरूपितत्व का अवगाहन करने वाला** भ्रमात्मक ज्ञान नहीं होता है बल्कि **उभयत्ववत् घट निरूपितत्व का आधेयता में अवगाहन करने वाला प्रमात्मक ज्ञान ही होता है। इस तरह घटनिष्ठनिरूपकता में उभयत्वावच्छिन्नत्व का अवगाहन नहीं होता है।** इसलिए घटनिष्ठ निरूपकता (आधेयता की) में उभयत्वावच्छिन्न त्वावगाहन अंश का परित्याग करके प्रमात्मक ज्ञान ही कर्मताव्यक्ति का भेद प्रतिसन्धान करने वाले व्यक्ति को हुआ करता है। कर्मताव्यक्ति के भेद का प्रतिसन्धान न करने वाले व्यक्ति को घटनिष्ठनिरूपकता में उभयत्वावच्छिन्नत्व का अवगाहन करने वाला भ्रमात्मक ज्ञान ही हुआ करता है।

**संख्याश्च प्रकृत्यर्थतावच्छेदकगताः क्वचित् प्रतीयन्ते यथा 'सम्पन्नौ व्रीहियवौ' इत्यादौ, एतत्त्वं प्रागेवाभिहितम् ।**

संख्या कहीं-कहीं पर प्रकृत्यर्थतावच्छेदकगत होकर प्रतीत होती है जैसे '**सम्पन्नौ व्रीहयवौ**' इत्यादिस्थलों में यह तत्त्व पूर्व में ही बतलाया जा चुका है। इस उदाहरणस्थल में व्रीहियव पदोत्तर द्विवचनार्थ द्वित्व संख्या का अन्वय प्रकृत्यर्थ में नहीं हो सकता है क्योंकि प्रकृत्यर्थ व्रीहि और यव दो नहीं है बल्कि बहुत है। और नियम है कि **पदार्थः पदार्थेन अन्वेति न तु पदार्थैकदेशेन** पदार्थ पदार्थ में ही अन्वित होता है पदार्थैक देश में नहीं। परन्तु यहाँ पर पदार्थैकदेश प्रकृत्यर्थतावच्छेदक व्रीहित्व यवत्व में द्वित्वसंख्या का अन्वय

होता है। प्रकृत्यर्थतावच्छेदकगत ही संख्या प्रतीत होती है। यह तत्त्व पूर्व में ही ग्रन्थारम्भ के अवसर पर '**सम्पन्नो व्रीहिः**' के विषय में बतलाते हुए ही स्पष्ट कर चुके हैं।

**विरुद्धसंख्यावच्छिन्नवाचकशतादिपदोत्तरविभक्त्युपस्थाप्या संख्या प्रकृत्यर्थतावच्छेदकसंख्यायामेवान्वेति, यथा- 'शतमेकम्' 'द्वे शते' 'त्रीणि शतानि' इत्यत्र शतत्वादावेकत्वद्वित्वबहुत्वानामन्वयः । अत एव चैकशतद्विशततात्पर्येण न 'शतानि' इति प्रयोगः- तत्र प्रकृत्यर्थस्य शतस्य बहुत्वाद्यन्वययोग्यत्वेपि प्रकृत्यर्थतावच्छेदकशतत्वांशे बहुत्वाद्यन्वय एव बहुवचनस्य साकाङ्क्षत्वात् तत्र च योग्यताविरहात् ।**

विरुद्ध संख्यावच्छिन्नवाचक शतादिपदोत्तरविभक्ति से उपस्थाप्य संख्या प्रकृत्यर्थतावच्छेद की भूत संख्या में ही अन्वित होती है जैसे '**शतमेकम्**' '**द्वे शते**' '**त्रीणि शतानि**' इत्यादि स्थलों में शतत्वादि में ही एकत्व, द्वित्व और बहुत्व का अन्वय होता है। इसीलिए एकशत, द्विशत के तात्पर्य से '**शतानि**' ऐसा प्रयोग नहीं होता है- वहाँ पर प्रकृत्यर्थशत के बहुत्व का अन्वययोग्य होने पर भी प्रकृत्यर्थतावच्छेदकीभूत शतत्वांश में बहुत्व का अन्वय होने पर ही बहुवचन साकाङ्क्ष होता है और उसमें (शतत्व में) बहुत्वान्वय की योग्यता ही नहीं है।

यहाँ पर ग्रन्थकार के कथन का आशय यह है कि विभक्ति से उपस्थाप्य संख्या से विरुद्ध संख्यावच्छिन्न के वाचक जो शतादि पद होते हैं, उनके बाद आनेवाली विभक्ति से उपस्थाप्य संख्या का अन्वय (चूँकि उनका अन्वय प्रकृत्यर्थ में नहीं हो सकता है प्रकृत्यर्थ के विभक्ति से उपस्थाप्य संख्या से विरुद्ध संख्यावच्छिन्न का वाचक होने के कारण, इस लिए) प्रकृत्यर्थत्रावच्छेदक में ही होता है। उदाहरण के रूप में देखें- '**शतमेकम्**' यहाँ पर शतपद से वाच्य संख्या शतत्व है शतत्वत्वावच्छिन्नवाचक शतपद है, विभक्ति से उपस्थाप्य संख्या है एकत्व, उसकी विरुद्ध संख्या शतत्व, तदवच्छिन्न का वाचक है शतपद। इसलिए विभक्ति से उपस्थाप्य एकत्व संख्या का अन्वय प्रकृत्यर्थ शतत्वावच्छिन्न में न होकर प्रकृत्यर्थतावच्छेदकीभूत शतत्व में होता है। इसी प्रकार '**द्वे शते**' में भी विभक्त्युपस्थाप्य द्वित्व संख्या का अन्वय शतत्व संख्या रूप प्रकृत्यर्थतावच्छेदक में होता है। इसी कारण एक सौ के तात्पर्य से कभी '**शतानि**' ऐसा प्रयोग नहीं होता है। यद्यपि वहाँ पर प्रकृत्यर्थ शत बहुत्वादि अन्वय योग्य है क्योंकि शत (सौ) तो बहुत हो ही गये। तथापि चूँकि प्रकृत्यर्थतावच्छेदकशतत्वांश में बहुत्वादि का अन्वय होने पर ही बहुवचन साकाङ्क्ष होता है लेकिन एक शत का तात्पर्य होने पर शतत्व तो एक ही है इसलिए उसमें बहुत्व का अन्वय हो नहीं सकता है। इस कारण एकशत का तात्पर्य होने पर '**शतानि**' ऐसा प्रयोग नहीं होता है।

**न चैकशतेऽपि नानापुरुषीयापेक्षाबुद्धिजन्यनानाशतत्वसम्भवादेकशतनिष्ठशतत्वेऽपि बहुत्वान्वययोग्यताऽक्षतैवेति वाच्यम्, परस्परसमानाधिकरणद्वयावृत्तिबहुत्वस्यैव शतादिपदोत्तरबहुवचनार्थत्वात् तादृशबहुत्वस्य चैकशतादिवृत्तिनानाशतत्वादौ बाधात्। अथवा तत्रापि**

**बहुत्वमेव बहुवचनार्थः, परस्परसमानाधिकरणद्वयवृत्तिपर्याप्तिरेवाकाङ्क्षानिरूपकः सम्बन्धः।**

यदि कहें कि- एक शत में नाना पुरुषीय अपेक्षाबुद्धि से जन्य नानाशतत्व (संख्या) सम्भव होने के कारण एक शत में रहने वाले शतत्व में भी बहुत्वान्वय की योग्यता अक्षत ही है। अभिप्राय यह कि एकत्व के अलावा अन्य समस्त संख्याएँ अपेक्षाबुद्धि से जन्य हुआ करती हैं, अपेक्षाबुद्धि व्यक्ति के भेद से भिन्न-भिन्न हो सकती हैं, इसलिए एक ही शत में नाना व्यक्तियों की अपेक्षाबुद्धियों से नाना शतत्व सम्भव है और इस प्रकार एकशत निष्ठ शतत्व के भी बहुत होने के करण बहुत्व के अन्वय की योग्या अक्षत ही है। तो ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि परस्पर समानाधिकरण द्वय में अवृत्ति बहुत्व ही शतादि पदोत्तर बहुवचन का अर्थ होता है किन्तु ऐसे बहुत्व का एकशतवृत्ति नानाशतत्व में बाध है। अभिप्राय यह कि शतादिपदोत्तर बहुवचन का अर्थ केवल बहुत्व नहीं होता है बल्कि परस्पर समानाधिकरणद्वयावृत्तिबहुत्व शतादिपदोत्तर बहुवचन का अर्थ होता है। जब शत कई होते हैं तो उन शतों में रहने वाला शतत्व परस्पर व्यधिकरण होता है समानाधिकरण नहीं क्योंकि एक शतत्व के अधिकरण में दूसरा शतत्व नहीं रहता है। किन्तु एक शत में नानापुरुषीय अपेक्षाबुद्धिजन्य नानाशतत्व तो परस्पर समानाधिकरण हैं क्योंकि वे सभी शतत्व एक ही शत में हैं। इस तरह एकशत में नानाशतत्व के रहने पर भी परस्पर समानाधिकरणद्वयावृत्तिबहुत्व शतत्वगत बहुत्व नहीं होता है बल्कि परस्परसमानाधिकरण (शतत्व) वृत्ति बहुत्व होता है। इसलिए उसका भान सम्भव नहीं है।

अथवा वहाँ पर भी केवल बहुत्व ही बहुवचन का अर्थ होता है किन्तु उक्त बहुत्व का आकाङ्क्षानिरूपक सम्बन्ध केवल पर्याप्ति नहीं है बल्कि परस्पर समानाधिकरण द्वयावृत्तिपर्याप्ति है। नानाशतत्व यदि एक ही अधिकरण में है तो उसमें बहुत्व के रहने पर भी वह बहुत्व परस्पर समानाधिकरणद्वयावृत्तिपर्याप्ति सम्बन्ध से नहीं रहता है क्योंकि बहुत्व की एक शतवृत्तिनानाशतत्व में जो पर्याप्ति है वह परस्पर समानाधिकरणद्वयवृत्तिपर्याप्ति है शतत्व परस्पर समानाधिकरण हैं और उनमें पर्याप्ति है। जब अनेक शत में तात्पर्य होता है तो शतत्व परस्पर समानाधिकरण नहीं होते हैं, इसलिए पर्याप्ति भी परस्पर समानाधिकरण द्वयावृत्ति होती है। इस तरह एकशत के तात्पर्य से '**शतानि**' यह प्रयोग नहीं होता है अनेक शत के तात्पर्य से होता है।

**यत्तु 'द्वे शते' त्रीणि शतानि' इत्यादौ संख्यैव शतादिशब्दार्थो न तु संख्येयम्, सङ्ख्येयस्य तदर्थत्वे "विंशत्याद्याः सदैकत्वे सर्वाः सङ्ख्येयसङ्ख्ययोः" इत्यनुशासनविरोधात् द्विवचनादिसाधुतानुपपत्तेः 'गवां शतानि' इत्यादौ षष्ठ्यर्थान्वयानुपपत्तेश्च । न चाभेदः षष्ठ्यर्थः- तथासति 'ब्राह्मणा दश' इत्यत्र 'ब्राह्मणानां दश' इत्यपि स्यात्। अस्माकञ्चादशतः संख्याः संख्येये वर्तन्ते अतः परं संख्याने संख्येये च इत्यनुशासनाद् दशादिशब्दानां शतादिशब्दवत् संख्यानार्थकत्वाभावात् दशत्वादिसंख्यायाः पदार्थतावच्छेदकत्वेन तत्र षष्ठ्यर्थसम्बन्धान्वयासम्भवेन न तथा प्रयोग इति।**

गदाधर भट्टाचार्य ने '**विरुद्धसंख्यावच्छिन्नवाचकशतादिपदोत्तरविभक्त्यु पस्थाप्या संख्या प्रकृत्यर्थतावच्छेदकसंख्यायामेवान्वेति**' कह कर यह सिद्धान्तित किया कि शतादि पद संख्यावच्छिन्न (संख्येय) के ही वाचक हुआ करते हैं और संख्यावच्छिन्न वाचक शतादि पदों के बाद विद्यमान विभक्ति से उपस्थाप्य संख्या प्रकृत्यर्थ में अन्वित न होकर प्रकृत्यर्थतावच्छेदक में अन्वित होती है। अर्थात् शतादि पद संख्येय के ही वाचक यद्यपि होते हैं परन्तु प्रकृत्यर्थतावच्छेदक संख्या में ही शतादि पदोत्तर विभक्ति से उपस्थाप्य संख्या का अन्वय होता है। इस विषय पर विद्वानों में मतभेद है यह सिद्धान्त जो नहीं मानते है उनका मत गदाधर उपस्थित करते हैं कि-

जो लोग कहते हैं कि- '**द्वे शते**' '**त्रीणि शतानि**' इत्यादि स्थलों में संख्या ही शतादिशब्द का अर्थ है (अर्थात् संख्या प्रकृत्यर्थ ही है), संख्येय शतादि शब्द का अर्थ नहीं है (अर्थात् संख्या प्रकृत्यर्थतावच्छेदक नहीं है जैसा कि गदाधर ने सिद्धान्तित किया है) यदि इन स्थलों में भी संख्येय को ही प्रकृत्यर्थ मानोगे तो '**विंशत्याद्याः सदैकत्वे सर्वाः संख्येयसंख्ययोः**'[1] विंशति आदि हमेशा एकवचन में ही प्रयुक्त होते हैं यदि संख्येय के बोधक हों तो इस अनुशासन का विरोध होने के कारण द्विवचन और बहुवचन की साधुता नहीं हो सकेगी (क्योंकि इस अनुशासन से संख्येयवाचक विंशति आदि का एकत्व ही है ऐसा ज्ञात होता है, इसलिए एकवचन ही साधु हो सकताहै। द्विवचन और बहुवचन नहीं) इसके अतिरिक्त '**गवां शतानि**' में षष्ठ्यर्थ का अन्वय भी अनुपन्न होगा (क्योंकि दो नामार्थों के अभेद सम्बन्ध से अन्वय में समानवचनकत्व समानविभक्तिकत्व अपेक्षित होता है। यहाँ पर **गवां** यह षष्ठ्यन्त है और **शतानि** यह प्रथमान्त है इस प्रकार समान विभक्तिकत्व नहीं है। **गवां** से गो की और **शतानि** से शत (संख्येय) की उपस्थिति आपके मत में हो रही है। वह शत (संख्येय) गो ही है। इसलिए अभेद सम्बन्ध से ही गोपदार्थ और शतपदार्थ का अन्वय शत का संख्येयबोधकत्व स्वीकारनेवाला स्वीकार सकता है, वह सम्भव नहीं है समानविभक्तिकत्व न होने के कारण। शत का संख्याबोधकत्व स्वीकारने वाले के मत में तो षष्ठ्यर्थ वृत्तित्व होगा और शत का अर्थ शतत्वसंख्या होगी। इस प्रकार '**गोवृत्तिशतत्वानि**' बोध उपपन्न हो जायेगा।

यदि कहो कि अभेद को षष्ठी का अर्थ मान लेंगे और फिर शत और गो का अभेदान्वयबोध उपपादित कर लेंगे तो ऐसी स्थिति में तो '**ब्राह्मणानां दश**' ये भी हो जायेगा क्योंकि यहाँ पर भी षष्ठी का अभेद अर्थ मान कर दश और ब्राह्मण का अभेदान्वय बोध कर सकते है। दश तो संख्येयवाचक है ही। अभिप्राय यह है कि सिद्धान्ती के मत में दश भी संख्येय वाचक है और विंशति आदि भी ऐसी स्थिति में समान प्रयोग होने की आपत्ति आती है किंतु जैसे '**गवां शतानि**' ऐसा प्रयोग होता है वैसे ही '**ब्राह्मणानां दश**'

1. पूरी अनुशासन कारिका यूँ हैं- विंशत्याद्याः सदैकत्वे सर्वाः संख्येयसंख्ययोः ।
संख्यार्थे द्विबहुत्वे स्तस्तासु चानरतेः स्त्रियः।।
अर्थ यह है कि विंशति आदि संख्याएँ संख्येय और संख्या दोनों की वाचक होती है और एक वचन में ही प्रयुक्त होती हैं। संख्या के अर्थ में द्वित्व और बहुत्व होता है। संख्या के अर्थ में द्वित्व, बहुत्व होने से संख्येय के अर्थ में एकत्व (एकवचन) का नियम ही द्योतित होता है।

ऐसा प्रयोग नहीं होता है। इस प्रयोगभेद का उपपादक सिद्धान्ती के मत में क्या होगा? हमारे मत में तो आदशतः = दश जिनमें आता है ऐसी संख्याएँ अर्थात अष्टादश तक की संख्याएँ संख्येयबोधिका होती हैं और इसके बाद संख्येय अर्थवाली भी होती हैं, संख्यानार्थक भी होती हैं ऐसा अनुशासन है। दशादि शब्दों का शतादिशब्दवत् संख्यानार्थकत्व न होने के कारण दशत्वादि संख्या के पदार्थतावच्छेदक होने से उसमें षष्ठ्यर्थ सम्बन्ध का अन्वय सम्भव न होने के कारण वैसा प्रयोग नहीं होता है। अभिप्राय यह है कि विंशति आदि संख्येयार्थक और संख्यानार्थक दोनों हैं इसलिए '**शतं ब्राह्मणाः**' ऐसा संख्येयार्थकत्वाभिप्राय से और '**ब्राह्मणानां शतम्**' '**गवां शतानि**' इस तरह संख्यानार्थकत्वाभिप्राय से प्रयोग होता है। षष्ठ्यर्थ वृत्तित्व का शतपदार्थ संख्या में अन्वय होकर बोध हो जाता है। दश आदि तो सिर्फ संख्येयार्थक होते हैं संख्यानार्थक नहीं। इसलिए पदार्थतावच्छेदकीभूत संख्या (दशत्व) में ब्राह्मण का अन्वयबोध सम्भव नहीं है क्योंकि ऐसी स्थिति में '**पदार्थः पदार्थेनान्वेति न तु पदार्थैकदेशेन**' इस व्युत्पत्ति का विरोध होगा। इस प्रकार यही सिद्ध होता है कि '**द्वे शते**' '**त्रीणि शतानि**' आदि स्थलों में संख्या ही प्रकृत्यर्थ शतादिशब्दार्थ है संख्येय नही।

**तदसत् -'गवां शतानि' इत्यादौ संख्यायाः प्राधान्येन शतादिशब्द वाच्यत्वे 'गवां शतं दद्यात्' इत्यादौ शतादिपदार्थस्य संख्याया दानादिकर्म-त्वान्वयायोग्यतया प्रामाण्यानुपपत्तिः, 'गवां शतं शुक्लम्' इत्यादौ संख्यायां शुक्लाभेदान्वययोग्यताविरहात् तदनुपपत्तिश्च, दशादिशब्दा इव विंशतिशतसहस्रादिशब्दा अपि संख्यावच्छिन्नवाचका एव न तु धर्मिविशेषणतानापन्न-संख्यावाचकाः।**

खण्डन करते हैं कि- वह ग़लत है क्योंकि '**गवां शतानि**' इत्यादि में संख्या को ही प्रधानतया शतादिशब्द का वाच्य मानने पर (अर्थात् शत को संख्यावच्छिन्न का वाचक नहीं मानने पर) '**गवां शतं दद्यात्**' इत्यादि स्थलों पर शतादिपदार्थ संख्या के दानादिकर्मत्व के अन्वय के योग्य न होने के कारण प्रामाण्य की अनुपपत्ति है। वाक्य का प्रमाण्य नहीं बनेगा। अभिप्राय यह है कि शत को संख्यावाचक मानोगे और गवां में षष्ठी का अर्थ वृत्तित्व मानोगे तो उक्त वाक्य का अर्थ यही निकलेगा कि गोवृत्ति शतसङ्ख्या का दान करना चाहिए। यह तो व्याहत है संख्या का दान नहीं सम्भव है। संख्या में दानादिकर्मता नहीं अन्वित हो सकती है। इसलिए व्याहत बुद्धिजनक होने से उक्तवाक्य का अप्रामाण्य होने लगेगा, प्रामाण्य नहीं बन सकेगा। इसी प्रकार '**गवां शतं शुक्लम्**' इत्यादि स्थलों में गोवृत्तिशतत्त्व संख्या में शुक्लादि के अभेदान्वय की योग्यता न होने के कारण उसकी भी अनुपपत्ति है (इस वाक्य के प्रामाण्य की भी अनुपपत्ति है) योग्यता न होने की स्थिति में वाक्य का प्रामाण्य नहीं बन सकता है जैसे '**वह्निना सिञ्चति**' का प्रामाण्य नहीं होता है। इसलिए दशादि शब्दों की तरह ही विंशति, शत, सहस्र आदि शब्द भी संख्यावच्छिन्न के ही वाचक हैं धर्मी के विशेषण न बनते हुए संख्या के वाचक नहीं है। अभिप्राय यह है कि जैसे घटपदघटपदार्थ का वाचक होते हुए घटत्वरूप पदार्थतावच्छेदक का भी वाचक होता है क्योंकि वह घटत्व शक्यतावच्छेदक होता है और शक्यतावच्छेदक विशिष्ट में ही

नैयायिक शक्ति का स्वीकार करता है। इसी प्रकार संख्यावच्छिन्न का वाचक शत शब्द है तो संख्या का भी वाचक होगा लेकिन धर्मिविशेषणतापन्न संख्या का वाचक होगा। धर्मिविशेषणतानापन्न संख्या का वाचक नहीं (केवल संख्या का वाचक नहीं) ऐसा मानने पर संख्यावच्छिन्नवाचकशतपदवाच्य संख्येय में दान कर्मत्वान्वययोग्यता और शुक्लाद्यभेदान्वय योग्यता होने के कारण उक्त वाक्यों के प्रामाण्य का उपपादन सम्भव है।

**विमर्श-** यहाँ पर गदाधर ने जो उदाहरण लिए हैं वहाँ पर शतपद का संख्येय वाचकत्व भी पूर्वपक्षी के अनुसार बन सकता है क्योंकि शतपद का एकवचनान्त प्रयोग किया गया है और पूर्वपक्षी ने यही सिद्धान्तित किया है कि द्वित्व, बहुत्व ही संख्यार्थक होते हैं द्विवचनान्त और बहुवचनान्त ही शतपद की संख्यार्थकता होती है। एकवचनान्त शतपद की संख्येयार्थकता ही है। ऐसी स्थिति में **'गवां शतं दद्यात्'** में शतपदार्थ (शतसंख्येय) में दानकर्मता का अन्वय उपपन्न है और योग्यता भी है। **'गवां शतं शुक्लम्'** में शतपदार्थ संख्येय में शुक्लाद्यभेदान्वय की योग्यता है और वह उपपन्न भी है। इस प्रकार यहाँ पर दोष दिखलाना उचित नहीं प्रतीत होता है। इसलिए इन दोषों को **'गवां शतानि दद्यात्' 'गवां शतानि शुक्लानि'** के लिए समझना चाहिए। यहाँ पर तो शत का संख्यावाचकत्व ही होगा न कि संख्यावच्छिन्नवाचकत्व। किंतु गदाधर ने जो **'गवां शतं दद्यात्' 'गवां शतं शुक्लम्'** उदाहरण दिया है उसका विशेष प्रयोजन है, वह यह कि जैसे सिद्धान्ती के लिए **'गवां शतानि'** में गो पदोत्तर षष्ठी को अभेदार्थक मानना पड़ेगा ऐसी आपत्ति दी थी वैसे ही पूर्वपक्षी को भी यहाँ गोपदोत्तर षष्ठी को अभेदार्थक मानना पड़ेगा नहीं तो शतपदार्थ संख्येय के साथ गो का आप अन्वय कैसे करेंगे?

वस्तुतः यहाँ पर गदाधर का अभिप्राय उभयतः पाशारज्जुः यह दिखाने के लिए है। अर्थात् यदि यहाँ पर **'गवां शतं दद्यात्' 'गवां शतं शुक्लम्'** इत्यादि में शत को संख्यार्थक मानते हो तो दान कर्मता के साथ व शुक्ल के साथ अन्वययोग्यता न होने से वाक्य का अप्रामाण्य होगा । यदि शत को संख्येयार्थक मानते हो तो षष्ठी को सिद्धान्ती की तरह अभेदार्थक तो मानना ही पड़ेगा। साथ ही **'गवां शतानि दद्यात्'** इत्यादि स्थलों में भी शतपदार्थ संख्या में दानकर्मता के अन्वय की योग्यता न होने के कारण समान युक्ति से संख्येयार्थकता शत की माननी पड़ेगी।

**स्वार्थैकदेशेऽपि संख्यायां स्वप्रकृतिकविभक्त्यर्थसंख्यान्वयसाकाङ्क्षतयान्यप्रकृतिकषष्ठ्यर्थसम्बन्धान्वयसाकाङ्क्षतया च तेषां संख्यानार्थकताप्रवादो, न तु दशादिशब्दानां तथात्वं दशादिब्राह्मणतात्पर्येण 'ब्राह्मणानां दश' इत्यादिप्रयोगविरहादिति तेषां संख्येयमात्रवाचिता प्रवाद इति, 'विंशत्याद्याः सदैकत्वे सर्वाः संख्येयसंख्ययोः । संख्यार्थे द्विबहुत्वे स्तः' इत्यनुशासनमप्युक्तार्थे तात्पर्यग्राहकम् ।**

किन्तु अब प्रश्न यह उठता है कि यदि दश पर्यन्त संख्यावाचक शब्दों में संख्येयवाचकत्व है और विंशति आदि में भी संख्येयवाच्कत्व ही हैं तो उक्तानुशासन किसलिए है? साथ ही यह भी प्रश्न उठता है कि फिर क्यों लोग कहते हैं कि दश पर्यन्त संख्यावाचक शब्दों का संख्येयवाचकत्व है और विंशति आदि का संख्यावाचकत्व है। इसका उत्तर ग्रन्थकार देते हैं—

संख्या के स्वार्थैकदेश होने पर भी स्वप्रकृतिक विभक्ति के अर्थ भूत संख्या के साथ अन्वय साकाङ्क्ष होने के कारण और अन्यप्रकृतिक षष्ठी के अर्थ भूत सम्बन्ध के साथ भी अन्वयसाकाङ्क्ष होने के कारण उनकी विंशति आदि की संख्यानार्थकता का प्रवाद है। दशादि शब्द में ऐसा नहीं है, दशादिब्राह्मणों के तात्पर्य से **'ब्राह्मणानां दश'** ऐसा प्रयोग नहीं होता है। इसलिए उनकी संख्येयमात्रवाचिता का प्रवाद है। **'विंशत्याद्याः सदैकत्वे सर्वाः संख्येयसंख्ययोः। संख्यार्थे द्विबहुत्वे स्तः'** यह अनुशासन भी इसी अर्थ में तात्पर्यग्राहक है।

यहाँ पर गदाधर का उत्तर यह है कि यद्यपि विंशति आदि संख्यावच्छिन्न के ही वाचक होते हैं संख्या उनका स्वार्थ नहीं है स्वार्थैकदेश है। किन्तु उस संख्या में स्वप्रकृतिक (संख्यावाचक विंशति आदि पद प्रकृति हैं जिसकी ऐसी) विभक्ति की अर्थभूत संख्या के अन्वय के लिए भी विंशत्यादि पद साकाङ्क्ष हैं । जैसे **'शतानि'** यहाँ पर शतशब्द प्रकृतिकविभक्ति जस् की अर्थभूत बहुत्व संख्या का अन्वय शतपदार्थैकदेश शतत्वसंख्या में हो सकता है, इस तरह शतपद साकाङ्क्ष है। और अन्यशब्द प्रकृतिक षष्ठी के अर्थ सम्बन्ध के साथ भी अन्वयसाकाङ्क्ष है जैसे **'गवां शतानि'** में शतशब्दान्य गोशब्द प्रकृतिक विभक्ति षष्ठी के अर्थ सम्बन्ध के साथ शतपदार्थैकदेश शतत्वसंख्या के अन्वय में भी साकाङ्क्ष शतशब्द है। इसलिए विंशति आदि शब्दो की संख्यार्थकता वस्तुतः न होते हुए भी प्रवाद के रूप में फैल गयी है। दश आदि शब्दों में ऐसा नहीं है क्योंकि दश ब्राह्मणों के तात्पर्य से **'ब्राह्मणानां दश'** ऐसा प्रयोग नहीं होता है। इसलिए उनका संख्येय मात्र वाचित्व है ऐसा प्रवाद फैल गया है। अर्थात् वस्तुतः समस्त संख्याओं का संख्येयवाचकत्व ही है। किन्तु उपर्युक्त कारण से विंशति आदि के संख्यावाचकत्व का और दशादि के संख्येयवाचकत्व का प्रवाद है। इसमें कोई साधक तर्क या प्रमाण नहीं है। उक्त अनुशासन भी इसी बात को बतलाता है। पूर्वपक्षी जो कह रहा है उसे नहीं।

**एकद्विबहुशब्दोत्तरैकवचनद्विवचनबहुवचनानि च न संख्याबोधकानि-उद्देश्यतावच्छेदकविधेययोरैक्येनैकत्वाद्यन्वये आकाङ्क्षाविरहादिति तदुत्तरं प्रथमाविभक्तिः प्रयोगसाधुतामात्राय।**

एक, द्वि, बहुशब्दोत्तर एकवचन, द्विवचन, बहुवचन संख्या के बोधक नहीं होते हैं (एकशब्द, द्विशब्द, बहुशब्द क्रमशः नित्य एकवचनान्त, द्विवचनान्त और बहुवचनान्त होते हैं। किन्तु इनके बाद जो एकवचन, द्विवचन, बहुवचनरूपा विभक्ति होती है वह संख्याबोधिका नहीं होती है) क्योंकि उद्देश्यतावच्छेदक और विधेय की एकता हो जायेगी इस कारण एकत्वादि का अन्वय करने में आकाङ्क्षा नहीं है। इसलिए इनके बाद आनेवाली प्रथमा विभक्ति प्रयोगसाधुता मात्र के लिए है।

**'एकम्' 'द्वौ' 'बहवः'** प्रयोग करें तो एक, द्वि, बहु शब्द का अर्थ हुआ एकत्वविशिष्ट, द्वित्वविशिष्ट, बहुत्वविशिष्ट। इन पदों के बाद जो विभक्तियाँ हैं उनका अर्थ भी क्रमशः हुआ एकत्व, द्वित्व और बहुत्व। एकत्वविशिष्ट, द्वित्वविशिष्ट, बहुत्वविशिष्ट में एकत्व, द्वित्व, बहुत्वरूप विधेय का अन्वय करने में उद्देश्य एक, द्वि, बहु होते हैं और उद्देश्यतावच्छेदक एकत्व, द्वित्व व बहुत्व होते हैं। इस प्रकार उद्देश्यतावच्छेदक और विधेय का ऐक्य हो जाने के कारण अन्वय में आकाङ्क्षा नहीं है। इस कारण इनके बाद आनेवाली विभक्तियाँ पदसाधुत्वमात्र के लिए ही है।

**नित्यबहुवचनान्ताबादिशब्दपरं प्रथमाबहुवचनमपि क्वचिन्निरर्थकमेव- यत्रैकव्यक्तिमात्रतात्पर्येण तादृशशब्दः प्रयुज्यते तत्र बहुत्वान्वये योग्यताविरहात् ।**

नित्यबहुवचनान्त अप् आदि[1] शब्दों के बाद आनेवाला प्रथमा बहुवचन भी कहीं पर निरर्थक ही होता है। क्योंकि जहाँ पर एकव्यक्ति मात्र के तात्पर्य से वैसा प्रयोग कर दिया जाता है वहाँ पर बहुत्व के अन्वय की योग्यता एकव्यक्ति में तो है नहीं। '**क्वचित्**' शब्द प्रयोग से यह पता लगता है कि जहाँ पर अनेक व्यक्तियों के तात्पर्य से बहुवचनान्त अप् शब्द का प्रयोग किया जाता है वहाँ पर उक्त बहुवचन की निरर्थकता अप् शब्द के बहुशब्दवत् नित्य बहुवचनान्त होने के बावजूद भी नहीं होती है।

**यत्तु तद्गुणादिसाधारणबहुत्वस्य तत्रान्वय इति, तन्न शोभनम्-प्रकृत्यर्थतावच्छेदकव्याप्यपर्याप्तिसम्बन्धेनैवानेकवृत्तिसंख्यान्वयस्य व्युत्पन्नतया तादृशसम्बन्धेन तथाविधबहुत्वान्वये योग्यताविरहात् । अन्यथा उदासीनघटपटादिसाधारणबहुत्वस्याप्यन्वयसम्भवेन तद्गतगुणादिसाधारण बहुत्वानुधावनस्याकिञ्चित्करत्वात् ।**

कुछ लोग अबादिशब्दोत्तर बहुवचन को निरर्थक नहीं मानते हैं। उनके मत को उपस्थित करते हुए उसका खण्डन करते हैं कि-

जो लोग यह कहते हैं कि जलगत गुणादि (माधुर्यादि) साधारणबहुत्व है ही, इसलिए प्रथमाबहुवचन के अर्थ बहुत्व के अन्वय की योग्यता जलतद्गत गुणादि में विद्यमान है। इसलिए उसी में बहुत्व का अन्वय हो जायेगा, बहुवचन निरर्थक नहीं है। वह ठीक नहीं है क्योंकि प्रकृत्यर्थतावच्छेदकव्याप्यपर्याप्तिसम्बन्ध से ही अनेकव्यक्तिवृत्ति संख्या का अन्वय व्युत्पन्न होता है और उस सम्बन्ध से जलादिगत गुणादि साधारण बहुत्व के अन्वय की योग्यता नहीं है। अभिप्राय यह है कि बहुत्व का मात्र पर्याप्ति सम्बन्ध से अन्वय नहीं हुआ करता है जिससे कि जलादि गत गुणादि साधारण बहुत्व की पर्याप्ति जलादिगत गुणादि में होने के कारण बहुत्व के अन्वय की योग्यता रहे बल्कि उद्देश्यतावच्छेदकव्याप्य पर्याप्ति सम्बन्ध से ही बहुत्व का अन्वय करना है। उद्देश्यतावच्छेदक है जलत्व। यदि जलादिगतगुणादिसाधारण बहुत्व का अन्वय करना चाहें तो वह सम्भव नहीं है क्योंकि जलादिगतगुणादि साधारण बहुत्व की पर्याप्ति तो जलत्व रूप उद्देश्यतावच्छेदक से व्याप्य नहीं हो सकती है क्योंकि जलत्व जहाँ नहीं है ऐसे जलादि गत माधुर्यादिगुणों में भी गुणादि साधारण बहुत्व की पर्याप्ति विद्यमान है। इस प्रकार स्पष्ट है कि जलादिगत माधुर्यादिगुणसाधारण बहुत्व के उद्देश्यतावच्छेदक (जलत्व) व्याप्य पर्याप्ति सम्बन्ध से अन्वय की योग्यता नहीं है। अन्यथा (यदि उद्देश्यतावच्छेदकव्याप्यपर्याप्तिसम्बन्ध से अनेकवृत्ति संख्या का अन्वय करना अपेक्षित न हो तो) उदासीनघटपटादिसाधारण बहुत्व का अन्वय भी सम्भव होने के कारण तद्गतगुणादिसाधारण बहुत्व तक अनुधावन करने का कोई प्रयोजन नहीं है। अर्थात् उद्देश्यतावच्छेदकव्याप्यपर्याप्तिसम्बन्ध से बहुत्व का अन्वय न करके केवल पर्याप्ति से करने पर जलादिगतगुणसाधारण बहुत्व का अन्वय करने में योग्यताविरह नहीं है, किन्तु

1. आदिपद से नित्य बहुवचनान्त दार आदिपदों को लेना है। वहाँ पर भी ऐसा ही समझना चाहिए।

ऐसी स्थिति में तो उदासीन घटपटादिसाधारण बहुत्व का भी अन्वय सम्भव होने के कारण तद्गतगुणादिसाधारण बहुत्व के अन्वय का प्रयास व्यर्थ है।

**अथाजहत्स्वार्थलक्षणया गुणादिसाधारणधर्मावच्छिन्न एव प्रकृत्यर्थ इति चेत्? तर्हि बहुत्वेन भासमानेषु गुणादिष्वपि पदार्थान्तरान्वयः स्यात् तथा च 'आपो द्रव्याणि' 'दारा अत्र गृहे सन्ति' इत्यादिवाक्यानामप्रमाणतापत्तिः गुणादिषु द्रव्याभेदगृहवृत्तितादेर्बाधात् मुख्यार्थमात्रपरतादृशशब्दानां बहुवचनान्ततानुपपत्तिश्चेति न किञ्चिदेतत्। अबादिपदार्थे एकत्वद्वित्वान्वय–योग्यतासत्त्वेऽप्यसाधुत्वादेव तदुत्तरमेकवचनं न प्रयुज्यत इति ध्येयम् ।**

यदि अजहत्स्वार्था लक्षणा[1] से गुणादिसाधारणधर्मावच्छिन्न ही प्रकृत्यर्थ होता है ऐसा कहो? अर्थात् **'आपः'** यहाँ पर जलत्वमात्रावच्छिन्न प्रकृत्यर्थ नहीं होता है बल्कि अजहत्स्वार्था लक्षणा से जल और जलगत गुणादि दोनों में ही रहने वाले धर्म से अवच्छिन्न ही प्रकृत्यर्थ होता है (जैसे कि **'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्'** में काकबिडालादिसाधारण दध्युपघातकत्व से अवच्छिन्न ही काक पद का प्रकृत्यर्थ होता है) ऐसी स्थिति में प्रकृत्यर्थतावच्छेदक जो जलतद्गतगुणसाधारणधर्म तृषानिवर्तकत्वादिरूपधर्म तद्व्याप्य पर्याप्ति सम्बन्ध से जल तद्गतगुणादिसाधारण बहुत्व का अन्वय सम्भव है क्योंकि तृषानिवर्तकत्वादिरूप प्रकृत्यर्थतावच्छेदक भी जल, तद्गतगुणादि में मौजूद है और तदतिरिक्त में उक्त बहुत्व नहीं है। इसलिए इस प्रकृत्यर्थतावच्छेदक का व्याप्य पर्याप्ति सम्बन्ध जलतद्गतगुण साधारण बहुत्व का हो जायेगा। यदि ऐसा कहो तो यह भी सम्भव नहीं है क्योंकि ऐसे तो बहुत्वेन भासमान गुणादि व्यक्तियों में भी पदार्थान्तर का अन्वय होने लगेगा। जैसे **'अत्र घटौ स्तः'** में द्वित्वाधिकरण घटद्वय में ही एतद्देशवृत्तित्व रूपपदार्थान्तर का अन्वय होता है, उसी प्रकार यहाँ भी बहुत्वेन भासमान सभी व्यक्तियों में (जल, तद्गतमाधुर्यादिगुणों में) पदार्थान्तर का अन्वय होगा। इस स्थिति में **'आपो द्रव्याणि' 'दारा अत्र गृहे सन्ति'** इत्यादि वाक्यों के अप्रामाण्य की आपत्ति होगी क्योंकि गुणादि में द्रव्याभेद और गृहवृत्तितादि का बाध होने के कारण मुख्यार्थमात्रपरक वैसे शब्दों के बहुवचनान्तता की अनुपपत्ति होगी इसलिए यह कथन ठीक नहीं है। अभिप्राय यह है कि **'आपो द्रव्याणि'** में आप अप् शब्द की अजहत्स्वार्था लक्षणा से जल, जलगतमाधुर्यादि सभी को प्रकृत्यर्थ मान रहे हैं तो पदार्थान्तर द्रव्य का अन्वय भी इन सभी में ही होगा। अभेदान्वय द्रव्य का करना है, यदि द्रव्य का अभेदान्वय जल और जलगत गुण सभी में करते हो (जो कि आप के अनुसार करना ही पड़ेगा) तो गुण में द्रव्याभेदरूप बाधितार्थपरक होने से उक्त वाक्य का अप्रामाण्य होगा। इसी प्रकार **'दारा अत्र गृहे सन्ति'** में भी दार पद की अप् शब्द जैसी ही स्थिति होने के कारण दारपद की अजहत्स्वार्था लक्षणा से दार, तद्गतसौन्दर्यादि को प्रकृत्यर्थ मानोगे। ऐसी स्थिति में दारपदार्थ दार तद्गतगुण में एतद्गृहवृत्तित्व का अन्वय करना पड़ेगा। दार गुणों के एतद्गृहवृत्ति न होने से यह अन्वय भी बाधितार्थविषयक होगा।

---

1. अजहत्स्वार्था लक्षणा का अभिप्राय अपने स्वार्थ को न छोड़ते हुए भी अन्य अर्थ को पकड़ लेने वाली लक्षणा से है। जैसे 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम् ' यहाँ पर काकपद अपने स्वार्थ काक को न छोड़ते हुए दध्युपघातकत्वेन बिडालादि का भी परिग्रहण करता हुआ उनसे भी दधि रक्षा का बोधन कराता है।

अतः इसके भी अप्रामाण्य की आपत्ति होगी। यदि लाक्षणिक न मान कर अप्, दार आदिपदों को मुख्यार्थपरक मानोगे तो एकवाचक होने पर उनमें बहुत्व के अन्वय की योग्यता नहीं है, अतः बहुवचनान्तता अनुपपन्न होती है। इसलिए यद्यपि अप् आदि पदों के अर्थ में एकत्व, द्वित्व के अन्वय की योग्यता होने पर भी असाधु होने के कारण ही तदुत्तर एकवचन का प्रयोग नहीं किया जाता है। यह ध्यान में रखना चाहिए।

यहाँ पर निष्कर्ष यह है कि **'आपः स्त्री भूम्नि'** **'दाराः पुम्भूम्नि'** इत्यादि अनुशासनों के कारण अप् शब्द और दार आदि पदों के एकवचनान्त, द्विवचनान्त प्रयोग एकत्व, द्वित्व के अन्वय की योग्यता होने पर भी नहीं किया जाता है। बहुवचन का प्रयोग योग्यता होने के कारण नहीं किया जाता बल्कि इसी अनुशासन के कारण किया जाता है। बहुत्वान्वययोग्यता न होने के कारण बहुत्व बोधक बहुवचन न होकर पदसाधुत्वार्थक है, अतः निरर्थक है।

**आख्यातैकवचनस्य संख्यार्थकत्वे विवदन्ते निष्कर्षानुसारिणः 'घटोऽस्ति' इत्यादौ सुबेकवचनादेव संख्याबोधसम्भवात् 'चैत्रेण दृष्टो घटः' इत्यादि स्थलानुरोधेन तस्य तद्बोधकताया आवश्यकत्वात्। न चैकवचनत्वेनानुगतेनैकत्वशक्तत्वात् तिङेकवचनस्याप्येकत्ववाचकत्वमक्षतमिति वाच्यम्, एकवचनत्वस्यैकत्वशक्ततावच्छेदकतायाः प्रागेव निराकृतत्वात्।**

अब गदाधर भट्टाचार्य इसी प्रसङ्ग में एक नवीन स्थल उपस्थित करते हुए उसकी संख्यार्थकता के विषय में प्रश्न उठा रहे हैं कि —

आख्यात एकवचन की संख्यार्थकता के प्रसङ्ग में निष्कर्षानुसारी विद्वान् विवाद करते हैं। (विवाद क्या है?) **'घटोऽस्ति'** इत्यादि स्थलों में सुप् के एकवचन से ही संख्याबोध सम्भव होने के कारण (आख्यात एकवचन की संख्यार्थकता स्वीकारने की कोई आवश्यकता नहीं है) **'चैत्रेण दृष्टो घटः'** इत्यादि स्थलों के अनुरोध से सुप् की संख्याबोधकता स्वीकारनी अत्यावश्यक है। यहाँ पर आशय यह है कि **'चैत्रेण दृष्टो घटः'** इत्यादि स्थलों पर आख्यात एकवचन की विद्यमानता न होने के कारण अगत्या संख्या का बोध घटपदोत्तर सु (सुप्) से ही स्वीकारना पड़ेगा। इसलिए आख्यात के विद्यमान रहने पर भी **'घटोऽस्ति'** में सुप् (घटपदोत्तर सु) से ही संख्या (एकत्व) का बोध स्वीकारना सम्भव है। इस कारण आख्यात एकवचन को संख्यार्थक मानने की आवश्यकता नहीं है।

यदि कहें कि एकवचनत्वेन अनुगतरूपेण एकत्व में शक्ति है (अर्थात् एकवचन एकवचनत्वेन रूपेण एकत्व का बोधक होता है) इस कारण तिङ् के एकवचन में भी एकवचनत्वेन एकत्वबोधकत्व अक्षत है (जैसे सुप् का एकवचन एकवचनत्वेन एकत्व का बोधक होता है, उसी प्रकार तिङ् का एकवचन भी एकत्व का बोधक हो जायेगा) तो ऐसा नहीं कहना चाहिए क्योंकि एकवचनत्व में एकत्वशक्ततावच्छदेकता पूर्व में ही निराकृत है। अभिप्राय यह है कि एकवचनत्वेन रूपेण एकत्व की बोधिका शक्ति सुआदि में नहीं है, अपितु सुत्व आदि रूप से ही है। अतः एकत्वशक्ततावच्छेदकता का एकवचनत्व में निराकरण होने के कारण **'घटोऽस्ति'** में आख्यात के द्वारा एकत्वबोधकत्व सम्भव नहीं है। एकवचनत्व की एकत्वशक्ततावच्छेदकता का निराकरण पूर्व में ही (पृ.194) पर एकवचनत्व आदि के दुर्वच होने के कारण कर चुके हैं।

विमर्शः–यहाँ पर गदाधर ने सिर्फ आख्यात एकवचन की ही एकत्वबोधकता सम्भव है या नहीं यह विवाद उठाया है। आख्यात द्विवचन, बहुवचन की द्वित्वबहुत्वबोधकता के विषय में कोई प्रश्न नहीं उठाया है। इसका कारण यह है कि— **'चैत्रो मैत्रश्च गच्छतः' 'चैत्रो मैत्रो देवदत्तश्च गच्छन्ति'** इत्यादि स्थलों में आख्यात के द्वारा ही द्वित्व, बहुत्व का बोधन सम्भव है क्योंकि द्वित्व, बहुत्व बोधक सुप् तो यहाँ पर है ही नहीं । इसलिए आख्यात द्विवचन, बहुवचन की द्वित्वबहुत्वबोधकता सिद्ध ही है।

**अस्तु वा तेन रूपेण तिङेकवचनस्यापि एकत्वे शक्तिस्तथापि तज्जन्यैकत्वोपस्थितेः शाब्दबोधोपयोगित्वे मानाभावः–नहि सामान्यत एकवचनज्ञानजन्योपस्थितित्वेन तच्छाब्दबोधहेतुता सम्भवति तथा सत्येकत्वेऽगृहीतशक्तिकसुपदवृत्तिकस्य पुंसः सुपदप्रकृतिघटादिपदोपस्थाप्यघटा दौ पटादिपदोत्तरामादिपदोपस्थाप्यैकत्वाद्यन्वयबोधप्रसङ्गात्, किन्तु सुपदत्वादिप्रकारकज्ञानजन्यतदुस्थितित्वादिनैव, तथासति घटादिपदोत्तरसुपदत्वादिरूपानुपूर्वीविशेषरूपाकाङ्क्षाज्ञानघटितायां घटादावेकत्वान्वयबोधस्य सामग्र्यां सुपदत्वादिप्रकारकधीजन्योपस्थितेरेवान्तर्भावात् तादृशापत्तेर्निरवकाशात् । एवं च तिबादिपदत्वप्रकारकज्ञानजन्योपस्थितित्वेन तच्छाब्दबोधहेतुत्वे मानाभावः इति ।**

ठीक है, यदि उस (एकवचनत्वादि) रूप से तिङेकवचन की भी एकत्व में शक्ति स्वीकार भी कर ली जाये तथापि उससे (तिङेकवचन से) जन्य एकत्वोपस्थिति के शाब्द बोधोपयोगी होने में कोई प्रमाण नहीं है। क्योंकि सामान्यरूप से एकवचनज्ञानजन्योपस्थितित्वेन उसकी (एकत्वोपस्थिति की) शाब्दबोध कारणता सम्भव नहीं है क्योंकि ऐसा होने पर (सामान्यतः एकवचनज्ञानजन्योपस्थितित्वेन एकत्वोपस्थिति की शाब्दबोध कारणता स्वीकारने पर) एकत्व में जिसे सुपद की वृत्ति गृहीत नहीं है ऐसे पुरुष को सुपद प्रकृति है जिसकी ऐसे घट आदि पद से उपस्थाप्य घटादि में पटादिपदोत्तर अम् पद से उपस्थाप्य एकत्वादि के अन्वयबोध का प्रसङ्ग आयेगा । क्योंकि अभी आपने यही स्वीकार किया है कि एकवचनज्ञानजन्योपस्थिति रूप से एकत्वोपस्थिति शाब्दबोध में कारण हुआ करती है। अम् पदजन्य एकत्वोपस्थिति भी एकवचनज्ञानजन्य उपस्थिति है ही, उसका शाब्दबोध में घट में अन्वयबोध का प्रसङ्ग उपस्थित होता है। **'घटोऽस्ति' 'पटं पश्य'** में जिसे सुपद की वृत्ति का एकत्व में ग्रहण नहीं है उसे पटपदोत्तर अम् से उपस्थाप्य एकत्व का घट में अन्वयबोध होना चाहिए । इसलिए आप यह नहीं स्वीकार सकते हैं कि एकवचनत्वेन रूपेण एकवचन से जन्य एकत्वोपस्थिति का शाब्दबोध में एकत्व के अन्वयबोध के लिए उपयोग हुआ करता है। किंतु सुपदत्वादिप्रकारकज्ञानजन्यतदुपस्थितित्व आदि रूप से ही एकत्वाद्युपस्थिति का शाब्दबोधोपयोगित्व है। इस प्रकार घटादिपदोत्तर सुपदत्वादि रूप आनुपूर्वीविशेषरूप आकाङ्क्षाज्ञान से घटित घटादिधर्मिक एकत्वान्वयबोध की सामग्री में सुपदत्वादिप्रकारकज्ञानजन्य उपस्थिति का ही अन्तर्भाव होने के कारण तादृशापत्ति (सुपदप्रकृतिकघटादि पदजन्य उपस्थितिविषय घट में पटादिपदोत्तरामादि पदोपस्थाप्यैकत्वाद्यन्वयबोधापत्ति) का अवकाश नहीं है। इस प्रकार तिबादिपदत्व प्रकारकज्ञानजन्योपस्थितित्वेन

एकत्वविषयक शाब्दबोध हेतुता में कोई प्रमाण नहीं है।

यहाँ पर ग्रन्थकार का अभिप्राय यह है कि प्रथमतः तो एकवचनत्वेन रूपेण एकवचन की एकत्वादि में शक्ति आप नहीं स्वीकार कर सकते हैं क्योंकि एकवचनत्वादि दुर्वच हैं। यदि स्वीकार भी कर लें तो भी मुश्किल यह है कि सामान्यतः एकवचनज्ञानजन्य उपस्थितित्वेन एकत्वविषयकशाब्दबोध हेतुता एकत्वोपस्थिति में सम्भव नहीं है क्योंकि '**घटोऽस्ति**' '**पटं पश्य**' में घटपदोत्तर सुपदोपस्थाप्य एकत्वोपस्थिति की ही घट में एकत्वान्वयबोध के प्रति उपयोगिता है, पटपदोत्तर अम्पदोस्थाप्य एकत्वोपस्थिति की घट में एकत्वान्वयबोध के प्रति उपयोगित्व नहीं है। इस कारण सामान्यतः एकवचनज्ञान जन्योपस्थिति की घट में एकत्वान्वयबोध के प्रति उपयोगित्व नहीं है। इस कारण सामान्यतः एकवचनज्ञानजन्योपस्थितित्वेन एकत्वोपस्थिति का शाब्दबोधोपयोगित्व स्वीकारने पर सुपद की वृत्ति जिसे गृहीत नहीं है ऐसे व्यक्ति को '**घटोऽस्ति**' '**पटं पश्य**' इस वाक्यद्वय का श्रवण करने पर पटपदोत्तर अम्पदोपस्थाप्य एकत्व का घट में अन्वयबोध होना चाहिए। ऐसा नहीं होता है, इसलिए यही मानना चाहिए कि सुपदत्वआदिप्रकारक ज्ञानजन्यैकत्वो पस्थितित्वादिना ही एकत्वोपस्थिति की शाब्दबोधोपयोगिता है। यहाँ पर सुपदत्वादिप्रकारकज्ञान का आशय '**एकत्वं सुपदवाच्यम्** ' इस प्रकार के सुपदत्वप्रकारकशक्तिज्ञान से है। इस शक्तिज्ञान से जन्य एकत्वोपस्थितित्वेन रूपेण ही एकत्वोपस्थिति की एकत्व प्रकारक शाब्दबोध के प्रति हेतुता सम्भव है। इस प्रकार यही कार्यकारणभाव फलित होता है कि **स्वन्तघटोपस्थित घटविशेष्यक एकत्वप्रकारक अन्वयबोध के प्रति सुपदत्वप्रकारक (शक्ति) ज्ञानजन्य एकत्वोपस्थिति की हेतुता है।** इस प्रकार घटविशेष्यकैकत्वप्रकारक अन्वयबोध की घटादिपदोत्तर सुपदत्वादिरूप आनुपूर्वीविशेष रूप आकाङ्क्षाज्ञान से घटित सामग्री में सुपदत्वादिप्रकारकज्ञानजन्योपस्थिति का ही अन्तर्भाव होने के कारण सुप्रकृतिक-घटपदोपस्थाप्य घट में पटपदोत्तर अम्पदोपस्थाप्य एकत्व के अन्वयबोध की आपत्ति नहीं है। किन्तु इस प्रकार जैसे सुपदत्वप्रकारकज्ञानजन्य उपस्थिति की शाब्दबोध हेतुता में प्रमाण है, उस प्रकार तिबादिपदत्वप्रकारकज्ञान जन्य उपस्थितित्वेन एकत्वविषयक शाब्दबोध हेतुता में कोई भी प्रमाण नहीं है।

**यत्तु तिबादेः संख्यानभिधायकत्वे 'चैत्रः पचति तण्डुलम् ' 'चैत्रेण पच्यते तण्डुलः' इत्यादौ कर्तृकर्मवाचकपदात् तृतीयाद्वितीययोरापत्तिः- कर्तृकर्मगतसंख्याया अनभिधाने "कर्तृकरणयोस्तृतीया" इति "कर्मणि द्वितीया" इति सूत्राभ्यां तयोरनुशासनात् । नैयायिकमते लकारस्य कर्तृकर्मावाचकतया तदनभिधानस्य द्वितीयातृतीयानियामकत्वासम्भवात्।**

तिबादि एकवचन का भी संख्याबोधकत्व स्वीकार करना पड़ेगा इसमें कुछ अन्य नैयायिकों द्वारा दिये जाने वाले तर्क को **यत्तु** के द्वारा उपस्थापित कर रहे हैं कि—

जो लोग यह कहते हैं कि तिबादि को संख्या का अभिधायक न मानने पर '**चैत्रः पचति तण्डुलम्** ' '**चैत्रेण तण्डुलः पच्यते**' इत्यादि स्थलों में कर्तृकर्मवाचकपदों से तृतीया और द्वितीया की आपत्ति है क्योंकि कर्ता और कर्मगत संख्या का अभिधान न करने पर '**कर्तृकरणयोस्तृतीया पा.सू.2/3/18**' '**कर्मणि द्वितीया पा. सू.2/3/2**' के द्वारा कर्ता और कर्म से क्रमशः तृतीया और द्वितीया होती है ऐसा अनुशासन है। नैयायिकों

के मत में लकार कर्ता और कर्म का वाचक होता नहीं है, इसलिए कर्ता और कर्म का लकार से अनभिधान तृतीया और द्वितीया का नियामक नहीं हो सकता है।

यहाँ पर ग्रन्थकार का जो आशय है उसे समझने के लिए अन्तिम पंक्ति से समझना प्रारम्भ करना बेहतर है। पाणिनि सूत्रों **'कर्तृकरणयोस्तृतीया'** और **'कर्मणि द्वितीया'** के द्वारा यह लब्ध होता है कि जिस कर्ता और कर्म का अभिधान न हो रहा हो उससे क्रमशः तृतीया और द्वितीया होती है। किसके द्वारा अभिधान न हो रहा हो ? तो आशय लकार (आख्यात) के द्वारा अभिधान न होने से है। किन्तु समस्या यह है कि नैयायिकों के मत में लकार (आख्यात) कर्ता और कर्म का वाचक होता नहीं है। अतः सर्वत्र कर्ता और कर्म लकार (आख्यात) से अनभिहित ही होंगे । इस कारण तृतीया द्वितीया का नियम नहीं बन सकेगा। इसलिए यही मानना पड़ता है कि कर्ता और कर्म के अभिधान-अनभिधान से कर्तृकर्मगतसंख्या के अभिधान-अनभिधान से नैयायिकों का आशय है । अर्थ यह हुआ कि कर्तृकर्मगत संख्या का अनभिधान आख्यात से होने पर क्रम से कर्तृकर्मवाचकपदों से तृतीया और द्वितीया हुआ करती है। यदि तिबादि को संख्या का अभिधायक न मानोगे तो एकवचनस्थल में सर्वत्र कर्ता और कर्मगत संख्या का तिबादि से अनभिहितत्व ही है और इस प्रकार एकवचनस्थल में कर्तृवाच्य और कर्मवाच्य में भी कर्ता और कर्म से तृतीया और द्वितीया की क्रमशः आपत्ति होगी । अतः तिबेकवचन को भी संख्यावाचक मानना चाहिए।

**न च कर्त्रादिगतसंख्यानभिधानमेव कथं कर्त्रादिवाचकपदोत्तरतृतीयादिनियामकम्, 'चैत्रेण पच्यते तण्डुलः' इत्यादिस्थलेऽपि लकारस्य चैत्रादिगतसंख्याभिधायकत्वाद् एकत्वत्वादिना एकत्वादिसामान्यस्यैवैकवचनाद्यभिधेयत्वादिति वाच्यम्; यतस्तद्गतसंख्यानभिधायकत्वं प्रकृते न तद्गतसंख्यानिष्ठवृत्त्यनिरूपकत्वम् , अपितु तद्विशेष्यकसंख्याप्रकारकशाब्दबोधाननुकूलत्वमेव । तथा च कर्त्रादिविशेष्यकसंख्यान्वयबोधाजनकलकारादिसमभिव्याहृतकर्त्रादिवाचकपदात् तृतीयादयो भवन्तीत्यत्रैतदनुशासनतात्पर्यम् ।**

यदि कोई यह कहना चाहे कि कर्त्रादिगतसंख्या का अनभिधान ही कैसे कर्त्रादिवाचकपदोत्तरतृतीया आदि का नियामक होगा (अर्थात् जैसे कर्ता और कर्म का अनभिधान नैयायिक के मत में तृतीयादि का नियामक नहीं होता वैसे ही कर्त्रादिगत संख्या का अनभिधान भी कर्त्रादिपदोत्तर तृतीयादि का नियामक नहीं होगा) क्योंकि **'चैत्रेण पच्यते तण्डुलः'** इत्यादि स्थलों में भी (जहाँ पर कि कर्तृगतसंख्या का अनभिधान आख्यात से होता है यह माना जाता है) लकार (आख्यात) का चैत्रादिगत संख्याभिधायकत्व है क्योंकि एकत्वत्वादिना एकत्वादिसामान्य ही एकवचन से अभिधेय होता है। (तो जब सभी एकत्वों का अभिधान आख्यात से हो रहा है तो कर्तृगत एकत्वाभिधान भी हो रहा है) ऐसी स्थिति में कर्त्रादिगत संख्या का अनभिधान कर्त्रादिवाचकपदोत्तर तृतीयादि का नियामक नहीं हो सकता है। तो ऐसा नहीं कहना चाहिए क्योंकि यहाँ पर तद्गत संख्यानभिधायकत्व का आशय तद्गत संख्यानिष्ठवृत्त्यनिरूपकत्व से नहीं है (क्योंकि सभी एकत्वों में एकवचननिष्ठवृत्ति का निरूपकत्व ही विद्यमान होने से संख्यानभिधान तृतीयाद्वितीया का नियामक नहीं हो सकेगा) अपितु तद्गतसंख्यानभिधायकत्व का आशय तद्विशेष्यक संख्याप्रकारक बोधानुकूलत्व

से है। इस प्रकार अनुशासन ('**कर्तृकरणयोस्तृतीया**' '**कर्मणि द्वितीया**' इन सूत्रों) का तात्पर्य यही है कि कर्त्रादिविशेष्यक संख्याप्रकारक शाब्दबोध के अजनक लकारादि समभिव्याहृत कर्त्रादिवाचकपदों से तृतीयादि होते हैं। '**चैत्रः तण्डुलं पचति**' में आख्यात चैत्रविशेष्यक एकत्वप्रकारकशाब्दबोधानुकूल है इसलिए चैत्र से प्रथमा होती है और तण्डुल विशेष्यक एकत्व प्रकारक बोधानुकूल नहीं है,अतः तण्डुल से द्वितीया होती है। इसी प्रकार '**चैत्रेण तण्डुलः पच्यते**' में आख्यात तण्डुलविशेष्यक एकत्वप्रकारक बोधानुकूल है, अतः तण्डुल से प्रथमा होती है और चैत्रविशेष्यक एकत्वप्रकारक बोधानुकूल नहीं है, अतः चैत्र से प्रथमा न होकर तृतीया होती है।

**'चैत्रेण पच्यते तण्डुलः' इत्यादौ चैत्रादिविशेष्यकसंख्यान्वयबोधकत्वं नाख्यातस्य, आख्यातार्थभावनाया यत्रान्वयस्तद्विशेष्यकसंख्यान्वयबोधस्यैवा ख्यातेन जननात्, तादृशभावनान्वयबोधे विशेष्यश्च प्रथमान्तपदोपस्थाप्य एव। 'चैत्रः पचति तण्डुलम्' इत्यादौ चैत्रादिः साक्षादेव भावनाविशेष्यः। 'चैत्रेण पच्यते तण्डुलः' इत्यादौ परम्परया, चैत्रादिनिष्ठभावनाजन्यफलशाली तण्डुल इत्याकारकबोधस्यैव तत्रोदयात्। तस्मात्तिबादेरपि संख्याबोधकत्व-मावश्यकमिति।**

स्वयं भी इस बात को स्पष्ट कर रहे हैं कि—'**चैत्रेण पच्यते तण्डुलः**' इत्यादि स्थलों में चैत्रादिविशेष्यक संख्याप्रकारक अन्वयबोधजनकत्व आख्यात का नहीं है क्योंकि आख्यातार्थ भावना का जहाँ पर अन्वय होता है, तद्विशेष्यक संख्याप्रकारक अन्वय बोध ही आख्यात से उत्पन्न होता है और तादृश (आख्यातार्थ) भावना के अन्वयबोध में विशेष्य प्रथमान्तपदोस्थाप्य ही होता है। आशय यह है कि आख्यातार्थ भावना के अन्वयबोध में विशेष्य प्रथमान्तपदोपस्थाप्य ही होता है और आख्यातार्थ भावना का अन्वय जहाँ पर होता है, आख्यात तद्विशेष्यकसंख्याप्रकारक बोध को ही पैदा करता है। '**चैत्रः पचति तण्डुलम्**' इत्यादि स्थलों में चैत्रादि साक्षात् ही भावनाविशेष्य होते हैं (साक्षात् ही चैत्र भावना का आश्रय होता है) '**चैत्रेण पच्यते तण्डुलः**' इत्यादि स्थलों में तण्डुल परम्परया भावनाविशेष्य होता है। (कारण यह है कि भावना आत्मवृत्ति विशेषणगुण (कृत्यपरपर्याय) है। वह तो हमेशा ही चेतन में रह सकती है साक्षात् रूप से । तण्डुल के चेतन न होने से उसमें साक्षात् नहीं रह सकती है बल्कि परम्परया ही रह सकती है।) यहाँ पर **चैत्रादिनिष्ठभावना-जन्यफलशाली तण्डुलः** इत्याकारक बोध का ही उदय होता है। इसमें तण्डुल साक्षात् भावनाविशेष्य न होकर तज्जन्य फलशालित्वेन ही भावनाविशेष्य है। जो भी हो चाहे साक्षात्, चाहे परम्परा से भावनाविशेष्य जो बनता है तद्विशेष्यक संख्याप्रकारक बोधानुकूलत्व ही तृतीया द्वितीया का नियामक बनता है। इस नियामक की उपपत्ति के लिए तिबादि का भी संख्याबोधकत्व आवश्यक है। पूर्वोक्त उदाहरण स्थलों में क्रमशः '**चैत्रः पचति तण्डुलम्**' में चैत्र भावना विशेष्य है । अतः चैत्रविशेष्यक संख्याप्रकारक अन्वयबोधानुकूलत्व आख्यात में है । अतः चैत्र में तृतीया नहीं प्रथमा होती है। तथा तण्डुल भावनाविशेष्य नहीं है, इस कारण तण्डुलविशेष्यक संख्याप्रकारक अन्वयबोधानुकूलत्व आख्यात में नहीं है। अतः तण्डुल में द्वितीया होती है। इसी प्रकार '**चैत्रेण तण्डुलः पच्यते**' में चैत्र भावना

विशेष्य नहीं है, इसकारण आख्यात में चैत्रविशेष्यक संख्याप्रकारक बोधानुकूलत्व न होने से उसमें तृतीया होती है और तण्डुल भावना विशेष्य है, इस कारण आख्यात में तण्डुलविशेष्यक संख्याप्रकारकबोधानुकूलत्व होने से उसमें प्रथमा होती है।

**तन्न विचारसहम् –तथाहि कर्त्रादिनिष्ठसंख्यान्वयबोधाननुकूलत्वं यदि तादृशबोधोपधायकज्ञानविषयत्वाभाववत्त्वं तदा यादृशतिबादिज्ञानेन सहकार्यन्तरविरहात् तादृशशाब्दबोधो न जनितस्तद्योगे तृतीयाद्यापत्तिः। यदि च तादृशबोधस्वरूपयोग्यज्ञानविषयत्वाभावस्तदा यगादिसमभिव्याहृतात्मनेपदादिज्ञानस्यापि तादृशबोधस्वरूपयोग्यत्वात् । तत्स्वरूपयोग्यज्ञानविषय-तिबाख्यातस्यैवाप्रसिद्धेः ।**

'**यत्तु**' के द्वारा उठाये गये पक्ष जिसमें कि तद्वतसंख्यानभिधायकत्व का अर्थ तद्विशेष्यक संख्याप्रकारकबोधाननुकूलत्व है, ऐसा कहा गया है। उसका खण्डन यहाँ पर गदाधर कर रहे हैं । यहाँ पर खण्डन का मूलबिन्दु है अनुकूलत्व । यहाँ पर तद्विशेष्यकसंख्याप्रकारक-बोधाननुकूलत्व में अननुकूलत्व अनुकूलत्व का अभाव है, और अनुकूलत्व का अर्थ कारणत्व ही हो सकता है। फलोपधायकत्व और स्वरूपयोग्यत्व दो प्रकार का कारणत्व होता है। जैसे कि—घट को पैदा करने वाले दण्ड में फलोपधायकत्व रूप कारणत्व और अरण्यस्थ दण्ड में स्वरूपयोग्यत्व रूप कारणत्व है। यहाँ पर गदाधर का प्रश्न यही है कि संख्याप्रकारकबोधाननुकूलत्व में अनुकूलत्व कैसा लेना है स्वरूपयोग्यतात्मक या फलोपधायकतात्मक । दोनों ही पक्षों में दोष दिखाते हुए '**यत्तु**' से उपस्थापित पक्ष का खण्डन कर दे रहे हैं—

वह ('**यत्तु**' के द्वारा जो प्रतिपादित किया गया) विचार सह नहीं है (विचार का सहन नहीं कर सकता है अतः ठीक नहीं है) क्योंकि यदि कर्त्रादिनिष्ठसंख्यान्वयबोधाननुकूलत्व तादृशबोध (कर्त्रादिनिष्ठसंख्यान्वयबोध) उपधायकज्ञानविषयत्वाभाववत्त्व है (अर्थात् अनुकूलत्व तादृशबोधोपधायकज्ञानविषयत्व रूप और अननुकूलत्व तदभाव रूप है) तो जैसे तिबादि ज्ञान से दूसरे सहकारी के न होने के कारण तादृशबोध (कर्त्रादिनिष्ठ संख्यान्वयबोध) नहीं उत्पन्न हुआ उस तिबादि का योग होने पर तृतीया होनी चाहिए । यदि तादृशबोधस्वरूपयोग्य-ज्ञानविषयत्वाभावरूप कर्त्रादिनिष्ठसंख्यान्वयबोधानुकूलत्व है तो यगादिसमभिव्याहृत आत्मनेपदादिज्ञान भी तादृशबोध (कर्त्रादिनिष्ठ संख्यान्वयबोध) के प्रति स्वरूपयोग्य कारण तो है क्योंकि कर्त्रादिनिष्ठ संख्याप्रकारक बोध के प्रति स्वरूपयोग्य ज्ञान का अविषय तिबादि तो अप्रसिद्ध ही है ।

अभिप्राय यह है कि यदि फलोपधायकत्व रूप अनुकूलत्व की विवक्षा है तो जहाँ किसी अन्य कारण से (सहकारी के अभाव से) कर्त्रादिनिष्ठसंख्याप्रकारकबोध नहीं उत्पन्न हुआ । जैसे कि '**चैत्रः तण्डुलम् पचति**' इस वाक्यघटक पदज्ञान शाब्दबोध के प्रति कारण होगा और शक्तिज्ञान सहकारी कारण । इस वाक्य के श्रवण से तिबादि ज्ञान तो व्यक्ति को उत्पन्न हो गया किन्तु शक्तिज्ञान न होने के कारण तिबादि ज्ञान से शाब्दबोध नहीं उत्पन्न हुआ । इस स्थिति में तिब्ज्ञान कर्त्रादिनिष्ठ संख्याप्रकारकबोधोपधायक नहीं हुआ । इसलिए तिप् में कर्त्रादिनिष्ठसंख्याप्रकारक बोधोपधायकज्ञानविषयत्व नहीं है। अतः कर्ता

चैत्र से तृतीया होनी चाहिए । यदि स्वरूपयोग्यत्व रूप अनुकूलत्व की विवक्षा आपको है तो जितने भी तिबादिज्ञान हैं चाहे वे यक्समभिव्याहृत हों (कर्मवाच्य भाववाच्य के) या यक् असमभिव्याहृत (कर्तृवाच्य के) सभी तिबादि ज्ञानों में कर्त्रादिनिष्ठ संख्यान्वयबोध की स्वरूपयोग्यता तो है ही । इसकारण तादृशबोधस्वरूपयोग्यज्ञानाविषय तिबाख्यात ही अप्रसिद्ध होगा। इसलिए कहीं पर भी तृतीयादि की प्रसक्ति नहीं हो सकेगी । यहाँ पर फलोपधायकता पक्ष में जब कहीं शक्तिज्ञानादिरूप सहकारी कारण के न रहने के कारण कर्त्रादिनिष्ठ संख्याप्रकारक बोध नहीं उत्पन्न हुआ है वहाँ पर कर्त्रादि में तृतीया की आपत्ति है। स्वरूपयोग्यता रूप कारणता के पक्ष में सर्वत्र ही द्वितीया तृतीया की आपत्ति है।

**अथ कर्त्रादिनिष्ठसंख्यान्वयबुद्धित्वावच्छिन्नजन्यतानिरूपितजनकतावच्छेदकविषयित्वानिरूपकत्वमेव तादृशबोधाननुकूलत्वम् , 'चैत्रः पचति' इत्यादिवाक्यघटकतिबादिविषयिता चैत्रादिविशेष्यकसंख्यान्वयबुद्धित्वावच्छिन्नजन्यतानिरूपितजनकतावच्छेदिका तादृशान्वयबुद्धित्वावच्छिन्नं प्रति चैत्रादिपदसमभिव्याहृततिबादिपदज्ञानस्य हेतुत्वात् । 'चैत्रेण पच्यते तण्डुलः' इत्यादिवाक्यघटकतादिपदविषयिता च न तादृशी-चैत्रादिपदसमभिव्याहृततादृशपदज्ञानत्वेन तादृशबुद्धित्वावच्छिन्नं प्रत्यहेतुत्वात् ।**

अब कर्त्रादिगत संख्यानभिधायकत्व का अन्य अर्थ भी हो सकता है या नहीं ? इस विषय पर विचार करने के लिए कर्त्रादिगतसंख्यानभिधायकत्व के एक अन्य अर्थ के विषय में पूर्वपक्ष उठाते हैं कि—

ठीक है, यदि पूर्वोक्त सम्भव नहीं है तो कर्त्रादिनिष्ठ संख्यान्वयबुद्धित्वावच्छिन्नजन्यतानिरूपितजनकतावच्छेदकविषयित्वानिरूपकत्व ही कर्त्रादिनिष्ठसंख्यान्वयबोधाननुकूलत्व है **'चैत्रः पचति'** इत्यादिवाक्यघटक तिबादिविषयिता चैत्रादिविशेष्यक संख्यान्वयबुद्धित्वावच्छिन्नजन्यतानिरूपितजनकतावच्छेदिका है चैत्रादिविशेष्यक संख्यान्वयबुद्धित्वावच्छिन्न के प्रति चैत्रादिपदसमभिव्याहृततिबादिपदज्ञान की ही हेतुता होने के कारण । **'चैत्रेण पच्यते तण्डुलः'** इत्यादि वाक्यघटकतादिपदविषयिता ऐसी नहीं है क्योंकि वह चैत्रादिपदसमभिव्याहृततादिपदज्ञानत्वेन चैत्रादिविशेष्यक सङ्ख्यान्वयबुद्धित्वावच्छिन्न के प्रति कारण नहीं होती है।

यहाँ पर ग्रन्थकार ने कर्त्रादिनिष्ठ संख्यान्वयबोधानुकूलत्व का अर्थ किया है कर्त्रादिनिष्ठ संख्यान्वयबुद्धित्वावच्छिन्नजन्यतानिरूपितजनकतावच्छेदकविषयिता का अनिरूपकत्व । स्पष्ट बात यह है कि उक्त विषयिता का अनिरूपकत्व यदि कर्त्रादिनिष्ठ संख्यान्वयबोधाननुकूलत्व है तो उक्तविषयिता का निरूपकत्व कर्त्रादिनिष्ठसंख्यान्वयबोधानुकूलत्व होगा । यहाँ पर यह ध्यान रखना चाहिए कि विषयता वस्तुनिष्ठा होती है (ज्ञान के विषयीभूत अर्थ में रहती है और विषयिता ज्ञाननिष्ठा होती है, ज्ञान में रहती है। जिसको विषय करने के कारण ज्ञान जनक होगा तद्विषयिता ही जनकतावच्छेदक होती है। **'चैत्रः पचतिः'** यहाँ पर चैत्रविशेष्यक संख्यान्वयबुद्धि होती है। संख्यान्वयबुद्धि उत्पन्न होती है तिब् ज्ञान से क्योंकि संख्यान्वयबुद्धि के प्रति **'चैत्रपदसमभिव्याहृतं तिप् पदम्'** इस प्रकार तिप् पदज्ञान की कारणता है। इस तरह संख्यान्वय बुद्धि में जन्यता है और तिप् ज्ञान में जनकता है। संख्यान्वयबुद्धिनिष्ठजन्यता

में संख्यान्वयबुद्धित्व से अवच्छिन्न है क्योंकि जन्यता और संख्यान्वयबुद्धित्व समनियत है एक ही व्यक्ति संख्यान्वयबुद्धि में रहने वाले हैं। संख्यान्वयबुद्धि के प्रति तिब् ज्ञान (तिप् पद-ज्ञान) क्यों जनक हो रहा है? तिप् को विषय करने के कारण । इसलिए तिब् ज्ञान में रहने वाली जो संख्यान्वयबुद्धित्वावच्छिन्नजन्यता से निरूपित जनकता है उसकी अवच्छेदिका तिब् विषयिता है। तिब् विषयिता का निरूपकत्व तिप् (पद) में है क्योंकि ज्ञान का जो विषय हुआ करता है वही ज्ञाननिष्ठविषयिता का निरूपक होता है। इस प्रकार यहाँ पर आख्यात (तिप् पद) में कर्तृनिष्ठसंख्यान्वयबोधानुकूलत्व ही विद्यमान है इसलिए कर्ता में तृतीया नहीं होती है। **'चैत्रेण पच्यते तण्डुलः'** इस वाक्यघटक तादिविषयिता चैत्रविशेष्यक संख्यान्वयबुद्धित्वावच्छिन्नजन्यतानिरूपितजनकतावच्छेदिका नहीं है क्योंकि यहाँ पर चैत्र विशेष्यक संख्यान्वयबुद्धि नहीं उत्पन्न होती है। चैत्रविशेष्यक संख्यान्वयबुद्धित्वावच्छिन्नजन्यता निरूपित जनकतावच्छेदक विषयिता **'चैत्रः पचति'** इत्यादिवाक्यघटक तिबादिविषयिता ही हो सकती है **'चैत्रेण तण्डुलः पच्यते'** इत्यादिवाक्यघटकतादिविषयिता नहीं हो सकती है क्योंकि चैत्रविशेष्यकसंख्यान्वयबुद्धित्वावच्छिन्न के प्रति **'चैत्रपदसमभिव्याहृतं तपदम्'** इस प्रकार तपदज्ञान की कारणता नहीं है। इसकी (तपदज्ञान की) कारणता क्यों चैत्रविशेष्यकसंख्यान्वयबुद्धित्वावच्छिन्न के प्रति नहीं है? इस प्रश्न का उत्तर यही है कि व्युत्पन्नों को इस प्रकार के स्थलों में चैत्रविशेष्यकसंख्यान्वयबुद्धि का अनुभव नहीं होता है। अतः उसके प्रति तादिपदज्ञान की कारणता भी नहीं स्वीकारी जाती है। इस प्रकार **'चैत्रेण पच्यते तण्डुलः'** में चैत्रादिपदसमभिव्याहृततपदज्ञान की चैत्रविशेष्यकसंख्यान्वयबुद्धि के प्रति कारणता नहीं है, इसलिए इस वाक्य घटकतादि विषयिता चैत्रविशेष्यकसंख्यान्वयबुद्धित्वावच्छिन्नजन्यतानिरूपितजनकतावच्छेदिका नहीं है। और इसलिए तादिपद में तादृश विषयिता निरूपकतादिरूपतादृशशाब्दबोधाननुकूलत्व (चैत्रनिष्ठसंख्यान्वयबोधाननुकूलत्व) ही है। अतः चैत्र में तृतीया होती है।

**न च 'चैत्रः पचते' इत्यादौ चैत्रविशेष्यकाख्यातार्थसंख्यान्वयबोधोत्पत्त्या चैत्रादिपदसमभिव्याहृततादिपदज्ञानत्वेन तादृशान्वयबुद्धित्वावच्छिन्नहेतुताऽक्षतैवेति 'चैत्रेण पचते' 'चैत्रः पच्यते' इत्यादिवाक्याच्चैत्रादिविशेष्यकस्य भावनायाः संख्यायाश्चान्वयबोधस्यानुदयात् तद्विशेष्यकतदुभयान्वयबोधे प्रथमान्तचैत्रादिपदसमभिव्याहृतशबादिविकरणोत्तरतत्तदाख्यातपदज्ञानत्वेन हेतुत्वात् 'चैत्रेण पच्यते तण्डुलः' इत्यादिवाक्यघटकतादीनां तादृशसमभिव्याहारादिशून्यतया तद्विषयिताया अतादृशत्वात्।**

अभी जो प्रसङ्ग चल रहा है उसमें अभी पिछले पृष्ठों में जो स्थिति बनी उसके अनुसार आख्यात का **'कर्तृनिष्ठसंख्यान्वयबोधाननुकूलत्व'** और **'कर्मनिष्ठ संख्यान्वयबोधाननुकूलत्व'** क्रमशः कर्ता और कर्म का अनभिहितत्व है। यदि आख्यात कर्तृनिष्ठसंख्यान्वयबोधाननुकूल है तो कर्ता अनभिहित होता है और उसमें **'कर्तृकर्मणोस्तृतीया'** सूत्र के द्वारा तृतीया होती है। यदि आख्यात कर्मनिष्ठ संख्यान्वयबोधाननुकूल है तो कर्म अनभिहित होता है और उसमें **'कर्मणि द्वितीया'** सूत्र से द्वितीया होती है। अब प्रश्न उठा कि यह कर्त्रादिनिष्ठसंख्यान्वयबोधाननुकूलत्व क्या चीज़ है? इसके विषय में दो पक्षों का

खण्डन कर दिया कि अनुकूलत्व यदि फलोपधायकत्वरूप लेते हैं तो भी दोष है और यदि स्वरूपयोग्यत्व रूप लेते हैं तो दोष है। तो तीसरा पक्ष आया कि **'कर्त्रादिनिष्ठ-संख्यान्वयबोधत्वावच्छिन्नजन्यतानिरूपितजनकतावच्छेदकविषयित्वानिरूपकत्व'** ही आख्यात का कर्त्रानिष्ठसंख्यान्वयबोधाननुकूलत्व है। इस विषय में समन्वय करते हुए कहा है कि चूंकि **'चैत्रपदसमभिव्याहृतं तिप् पदम्'** यह ज्ञान चैत्रविशेष्यकसंख्यान्वयबुद्धि के प्रति कारण होता है, अतः तिब्विषयिता (तिप्पदविषयिता) तादृशान्वयबुद्धित्वावच्छिन्न-जन्यतानिरूपितजनकतावच्छेदिका होती है और उस विषयिता का निरूपकत्व तिप्पद में है आख्यात में है। अतः चैत्र आख्यात से अभिहित ही है, उसमें प्रथमा ही होती है तृतीया नहीं। चूंकि **'चैत्रपदसमभिव्याहृतं तपदम्'** यह ज्ञान चैत्रविशेष्यकसंख्याप्रकारकान्वयबुद्धि के प्रति कारण नहीं होता है। अतः तपदविषयिता तादृशान्वयबुद्धित्वावच्छिन्नजन्यतानिरूपित-जनकतावच्छेदिका नहीं है और तपद तादृशजनकतावच्छेदक विषयितानिरूपक नहीं है। अतः चैत्र के आख्यात से अनभिहित हो जाने से **'चैत्रेण तण्डुलः पच्यते'** में चैत्रपद से तृतीया ही होती है। इस पर ग्रन्थकार **'न च'** इस प्रतीक से प्रश्न उठा कर समाधान कर रहे हैं कि—

यदि कहें कि **'चैत्रः पचते'** इत्यादि स्थलों में चैत्र विशेष्यक आख्यातार्थसंख्यान्वयबोध की उत्पत्ति होती है (क्योंकि पच् धातु उभयपदी है और यह कर्तृवाच्य का ही प्रयोग है) इस कारण चैत्रादिपदसमभिव्याहृततादिपदज्ञानत्वेन तादृशान्वयबुद्धित्वावच्छिन्न के प्रति हेतुता तो अक्षत ही है। अभिप्राय यह है कि अभी आपने कहा कि चैत्रविशेष्यकसंख्यान्वयबुद्धि के प्रति **चैत्रादिपदसमभिव्याहृततादिपदज्ञानत्वेन** हेतुता नहीं है। किन्तु **'चैत्रः पचते'** यहाँ पर चैत्रविशेष्यकसंख्यान्वयबुद्धि होती है और **चैत्रपदसमभिव्याहृततपदज्ञानत्वेन** ही उसके प्रति कारणता है। ऐसा स्थिति में चैत्रविशेष्यकसंख्यान्वयबोधत्वावच्छिन्नजन्यता निरूपित जनकता इस ज्ञान में आयी और उस जनकता की अवच्छेदिका हुई तपदविषयिता और उसका निरूपकत्व त पद में आता है। **'चैत्रेण पच्यते तण्डुलः** में भी चैत्रपद समभिव्याहृततपदज्ञान है। **'चैत्रःपचते'** यहाँ तादृशान्वयबोधत्वावच्छिन्न जन्यता निरूपितजनकता-वच्छेदिका तपदविषयिता है, इसका निरूपकत्व तपद में आता है। **'चैत्रेण तण्डुलः पच्यते'** इस वाक्य घटकीभूत तादिपदविषयिता भी वैसी ही है, उसका निरूपकत्व तपद में आता है। इसलिए यहाँ पर भी आख्यात से अभिहितत्व चैत्र में आ गया जैसे कि **'चैत्र; पचते'** में आता है। अतः यहाँ पर भी चैत्र पद से प्रथमा की आपत्ति होगी ।

तो ऐसा नहीं करना चाहिए । क्योंकि **'चैत्रेण पचते' 'चैत्रः पच्यते'** इत्यादि वाक्यों से चैत्रादिविशेष्यक भावनान्वयबोध और संख्यान्वयबोध उत्पन्न नहीं होता है (यद्यपि दोनों ही स्थलों पर चैत्रपदसमभिव्याहृततपदज्ञान मौजूद है, इस प्रकार कारण के रहते हुए भी कार्य का न होना रूप अन्वयव्यभिचार प्रसक्त होता है । इसलिए यहाँ सिद्ध होता है कि चैत्रविशेष्यक संख्यान्वयबोध के प्रति और चैत्रविशेष्यकभावनान्वयबोध के प्रति चैत्रपदसमभिव्याहृततपदज्ञान की कारणता नहीं स्वीकारी जा सकती है) इसलिए तद्विशेष्यकतदुभयान्वयबोध (चैत्रविशेष्यक संख्याभावनोभयान्वयबोध ) के प्रति प्रथमान्त चैत्रपदसमभिव्याहृतशबादिविकरणोत्तरतत्तदाख्यातपदज्ञानत्वेन कारणता स्वीकारनी पड़ेगी । **'चैत्रेण पचते' 'चैत्रः पच्यते'** इन दोनों में प्रथम में प्रथमान्तचैत्रपद नहीं है और दूसरे

में शबविकरणोत्तर तरूप आख्यात नहीं है। इसलिए दोनों ही स्थलों पर चैत्रविशेष्यकसंख्या भावनोभयान्वयबोध नहीं होता है । '**चैत्रेण तण्डुलः पच्यते**' इत्यादि वाक्यघटकतादि में तादृशान्वयबुद्धित्वावच्छिन्नजन्यतानिरूपितजनकतावच्छेदकविषयितानिरूपकत्व नहीं है क्योंकि इस वाक्यघटक तादि में ऐसा समभिव्याहार नहीं है। प्रथमान्त चैत्र पदसमभिव्याहृतशब्विकरणोत्तर तपदज्ञान नहीं है जो चैत्रविशेष्यकसंख्याभावनोभयान्वयबोध के प्रति कारण हुआ करता है। इसलिए यहाँ पर चैत्र में तृतीया होती है।

**'चैत्रः पक्ष्यते' इत्यादितः 'तण्डुलः पक्ष्यते' इत्यादितश्च चैत्रतण्डुलादिविशेष्यकसंख्यान्वयबोधोत्पत्त्या 'चैत्रः पक्ष्यते तण्डुलः' इत्यत्रोभय विशेष्यकसंख्यान्वयबोधौपयिकतादृशसमभिव्याहारज्ञानविषयितायाः 'पक्ष्यते' इत्यादौ सत्त्वेन कर्तृकर्मणोस्तृतीयाद्वितीययोरप्रसक्तावपि न तादृशवाक्यं व्युत्पन्नाः प्रयुञ्जते कर्तरि साक्षात् कर्मणि च दर्शितपरम्परया युगपद्भावनाविशेषणकान्वयबोधजनकताया आख्यातस्याव्युत्पन्नतया तादृशवाक्यादुभयविशेष्यकान्वयबोधासम्भवात् ।**

अब यहाँ पर एक समस्या खड़ी होती है। पच् धातु से लृट्लकार के कर्तृवाच्य में भी और कर्मवाच्य में भी '**पक्ष्यते**' यही प्रयोग बनता है । तो यदि '**चैत्रः पक्ष्यते**' ऐसा प्रयोग किया जाये तो इससे चैत्रविशेष्यक संख्याभावनोभयान्वयबोध होता है और यदि '**तण्डुलः पक्ष्यते**' ऐसा प्रयोग किया जाये तो उससे तण्डुल विशेष्यक संख्याभावनोभयान्वयबोध होता है। अब यहाँ पर चैत्रविशेष्यकसंख्यान्वयबोध और तण्डुलविशेष्यकसंख्यान्वयबोध दोनों के ही प्रति एक ही जैसे समभिव्याहार की कारणता स्वीकारनी पड़ेगी क्योंकि यहाँ पर प्रयुक्त होने वाले '**पक्ष्यते**' में न केवल आख्यात का ऐक्य है बल्कि विकरण भी एक ही है। इसलिए चैत्र विशेष्यकसंख्यान्वयबोध के प्रति चैत्रपदसमभिव्याहृत यद्विकरणोत्तराख्यातपदज्ञान की कारणता है, तण्डुलविशेष्यक संख्यान्वयबोध के प्रति भी तण्डुल पदसमभिव्याहृततद्विकरणोत्तर ख्यातपदज्ञान की कारणता है। ऐसी स्थिति में '**चैत्रः पक्ष्यते तण्डुलः**' इस प्रकार का प्रयोग होना चाहिए क्योंकि चैत्रविशेष्यकसंख्यान्वयबोधत्वावच्छिन्नजन्यतानिरूपितजनकता वच्छेदिका स्वविकरणोत्तरतपदविषयिता होगी और उसका निरूपकत्व ही तपद में है। अतः चैत्रपद से तृतीया नहीं हो सकती है। और तण्डुलविशेष्यकसंख्यान्वयबोधत्वाच्छिन्न जन्यतानिरूपितजनकतावच्छेदिकाविषयिता भी होगी स्वविकरणोत्तरतपदविषयिता उसका निरूपकत्व ही तपद में है। अतः तण्डुल में भी द्वितीया नहीं हो सकती है। इसी के विषय में प्रकृत ग्रन्थ से कह रहे हैं कि—

'**चैत्रः पक्ष्यते**' इससे और '**तण्डुलः पक्ष्यते**' इससे चैत्रतण्डुलादिविशेष्यक संख्यान्वयबोध की उत्पत्ति होने के कारण '**चैत्रः पक्ष्यते तण्डुलः**' यहाँ पर उभय (चैत्र तण्डुलोभय) विशेष्यक संख्यान्वयबोधौपयिक (तादृशसंख्यान्वयबोधजनकतावच्छेदककीभूत) तादृशसमभिव्याहारज्ञानीयविषयिता के '**पक्ष्यते**' इत्यादि में रहने के कारण कर्ता और कर्म में तृतीया और द्वितीया की प्रसक्ति नहीं होने के बावजूद भी ऐसे वाक्य का प्रयोग लोग नहीं करते हैं क्योंकि कर्ता में साक्षात् और कर्म में परम्परया एक साथ भावनाविशेषणकान्वयबोध जनकता आख्यात की अव्युत्पन्न है, इस कारण वैसे वाक्य से उभयविशेष्यक अन्वयबोध

असम्भव है। पूर्व में बता चुके हैं कि कर्ता में भावना का अन्वय साक्षात् होता है और कर्म में भावना का अन्वय परम्परा सम्बन्ध से होता है। साक्षात् का मतलब समवाय सम्बन्ध से और परम्परा का मतलब चैत्रनिष्ठभावनाप्रयोज्यव्यापारजन्यफलशालित्व सम्बन्ध से है। इन दोनों सम्बन्धों से एक काल में भावनाविशेषणक (भावना विशेषण हो जिसमें ऐसा) शाब्दबोध उत्पन्न करने की समर्थ्य आख्यात में नहीं है बल्कि एक काल में एकमात्र विशेष्यकभावनाप्रकारक संख्याप्रकारक बोध जनन की सामर्थ्य आख्यात में है।

अभिप्राय यह है कि आख्यात में एक काल में या तो चैत्रविशेष्यकसंख्यान्वयबोधानुकूलत्व रहेगा या तो तण्डुलविशेष्यकसंख्यान्वयबोधानुकूलत्व रहेगा। जब चैत्रविशेष्यक संख्यान्वय बोधानुकूलत्व रहेगा उस समय स्यविकरणोत्तराख्याततपद विषयिता चैत्र विशेष्यकसंख्यान्वय-बोधात्वावच्छिन्न जन्यता निरूपित जनकतावच्छेदिका बनेगी न कि तण्डुलविशेष्यक संख्यान्वयबोधत्वावच्छिन्नजन्यतानिरूपितजनकतावच्छेदिका । इसलिए तण्डुल में द्वितीया हो जायेगी । जब तण्डुलविशेष्यकसंख्यान्वयबोधानुकूलत्व रहेगा तो इसकी विपरीत स्थिति होगी। इसलिए चैत्र में तृतीया होगी।

**न चाकाङ्क्षायोग्यतादिसत्त्वात् कथं न तादृशान्वयबोध इति वाच्यम्, अगत्यैकविधान्वयबोधेऽन्यविधान्वयबोधसामग्र्यास्तद्घटकतात्पर्यज्ञानस्य वा प्रतिबन्धकत्वोपगमात् ।**

यदि प्रश्न करो कि जब आकाङ्क्षा, योग्यता आदि समस्त सामग्री मौजूद है तो '**चैत्रः पक्ष्यते तण्डुलः**' से चैत्रतण्डुलोभयविशेष्यक भावनाप्रकारक संख्याप्रकारक अन्वयबोध क्यों नहीं होता है? तो इसके लिए अन्य कोई भी गति न होने के कारण (चूंकि यह अनुभव सिद्ध है कि एक साथ उभयविशेष्यक भावनाप्रकारक संख्याप्रकारकान्वयबोध नहीं होता है इसलिए '**स्थितस्य गतिश्चिन्तनीया**' के अनुसार) एकविध अन्वयबोध में अन्यविध सामग्री की (चैत्रविशेष्यक संख्याप्रकारक अन्वयबोध में तण्डुलविशेष्यक संख्याप्रकारकान्वयबोध सामग्री की और तण्डुलविशेष्यक संख्याप्रकारकान्वयबोध में चैत्रविशेष्यक संख्याप्रकारकान्वय बोध सामग्री की) या सामग्रीघटक तात्पर्यज्ञान की प्रतिबन्धकता स्वीकार की जाती है। इस प्रकार से एक काल में एकविधान्वयबोधानुकूलत्व ही आख्यात में रहेगा, अन्यविधान्वय बोधानुकूलत्व नहीं रहेगा । इसलिए उपर्युक्त रीति से द्वितीया और तृतीया की उपपत्ति हो जायेगी ।

**विमर्शः**– यहाँ पर एकविधान्वय बोध के प्रति अन्यविधान्वयबोध सामग्री की प्रतिबन्धकता को छोड़कर तात्पर्यज्ञान की प्रतिबन्धकता को स्वीकारने का बीज यह है कि सामग्री दोनों ही प्रकार के अन्वयबोध की है फिर किस के द्वारा किसका प्रतिबन्ध किया जाये ? सुन्दोपसुन्दन्याय से परस्पर प्रतिबन्ध से कदाचित् एकविध भी अन्वयबोध न हो सके । इसलिए तात्पर्यज्ञान की प्रतिबन्धकता का अनुसरण किया । सामग्री की प्रतिबन्धकता में भी जो सामग्री प्रतिबन्धक होगी, तात्पर्यज्ञान ही उसकी प्रतिबन्धकता का निर्णायक होगा । इसीलिए तात्पर्यज्ञान की प्रतिबन्धकता का अनुसरण किया है।

**न च 'चैत्रेण तण्डुलः पक्ष्यते' 'चैत्रस्तण्डुलं पक्ष्यते' इत्यादिवाक्य-द्वयविषयकसमूहालम्बनदशायामप्युभयविधान्वयबोधानुपपत्तिरिति वाच्यम्, तादृशैकविधान्वयबोधे तादृशान्यविधान्वयबोधपरत्वेनागृह्यमाणतथा-**

**विधाख्यातधर्मिकप्रकृतान्वयबोधपरत्वज्ञानस्य हेतुतया 'चैत्रः पक्ष्यते तण्डुलः' इत्येकवाक्यात् तादृशद्विविधान्वयबोधवारणस्य दर्शितवाक्यद्वयात् तदुपपादनस्य च शक्यत्वात् ।**

अभी ग्रन्थकार ने स्पष्ट किया कि एकविधान्वयबोध के प्रति अन्यविधान्वयबोध सामग्री या तात्पर्यज्ञान की प्रतिबन्धकता स्वीकार कर लेंगे । यह **'चैत्रः पक्ष्यते तण्डुलः'** यहाँ पर उभयविधान्वयबोधवारण के लिए किया था । इस पर प्रश्न उठा रहे हैं कि—

इस प्रकार तो उक्त प्रकार से एकविधान्वयबोध प्रति अन्यविधान्वयबोध सामग्री या तात्पर्यज्ञान की प्रतिबन्धकता स्वीकार लेने पर **'चैत्रेण तण्डुलः पक्ष्यते' 'चैत्रः पक्ष्यते तण्डुलम्** ' इत्यादि वाक्यद्वयविषयक समूहालम्बन दशा में उभयविध अन्वयबोध की अनुपपत्ति होगी, (यद्यपि समूहालम्बनदशा में उभयविध अन्वयबोध हुआ करता है।) अभिप्राय यह है कि इस समूहालम्बनदशा में उभयविधान्वय बोध सामग्री है, लेकिन एकविध अन्वयबोध के प्रति अन्यविधान्वयबोधसामग्री या तात्पर्यज्ञान की प्रतिबन्धकता का स्वीकार आपने किया है। इसलिए उभयविध अन्वयबोध तो होगा नहीं एकविधान्वयबोध ही होगा एकविधान्वयबोध का प्रतिबन्ध हो जाने के कारण । तो ऐसा नहीं कहना चाहिए क्योंकि तादृशैकविधान्वयबोध में (कर्ता और कर्म में एकविशेष्यक आख्यातार्थप्रकारकान्वयबोध के प्रति) तादृशान्यविधबोधपरत्वेन अगृह्यमाण तथाविधाख्यातधर्मिक प्रकृतान्वयबोधपरत्वज्ञान की हेतुता है, इसलिए **'चैत्रः पक्ष्यते तण्डुलः'** इस वाक्य से उभयविधान्वयबोध का वारण और समूहालम्बनात्मकदर्शित वाक्यद्वय से उभयविधान्वयबोध का उपपादन शक्य है।

समाधान का आशय यह है कि '**चैत्रविशेष्यकसंख्याप्रकारकान्वयबोध के प्रति चैत्रान्यतण्डुलविशेष्यकसंख्याप्रकारकान्वयबोधपरत्वेन अगृह्यमाण जो आख्यात तद्धर्मिक प्रकृतान्वयबोधपरत्वज्ञान ( चैत्रविशेष्यक संख्याप्रकारकान्वयबोध परत्वज्ञान ) कारण है।**

अब हम देखें —**'चैत्रः पक्ष्यते तण्डुलः'** में चैत्रविशेष्यक संख्याप्रकारक अन्वयबोध के प्रति कारणीभूत जो आख्यातधर्मिक चैत्रविशेष्यक संख्याप्रकारक अन्वयबोधपरत्वज्ञान है, उसमें आख्यात तण्डुलविशेष्यकसंख्याप्रकारकबोधत्वेन भी गृह्यमाण है। इसलिए चैत्रविशेष्यकाख्यातार्थ (संख्या व भावना) प्रकारकबोध व तण्डुलविशेष्यक उक्त बोध नहीं उत्पन्न होता है। जब **'चैत्रः तण्डुलं पक्ष्यते'** कहते हैं तो यहाँ पर आख्यात अन्यविधबोधपरत्वेन गृह्यमाण नहीं है, इसलिए चैत्रविशेष्यक आख्यातार्थप्रकारक बोध होता है। **'चैत्रः तण्डुलं पक्ष्यते' 'चैत्रेण पक्ष्यते तण्डुलः'** इस वाक्यद्वयस्थल में यदाख्यातधर्मिक चैत्रविशेष्यक आख्यातार्थसंख्याभावनाप्रकारकान्वयबोधपरत्वज्ञान है तदाख्यातधर्मिक तण्डुलविशेष्यकाख्यातार्थसंख्याभावनाप्रकारकान्वयबोधपरत्वज्ञान नहीं है। इसलिए चैत्रविशेष्यकसंख्याभावनाप्रकारकान्वयबोध होता है। साथ ही यदाख्यातधर्मिक तण्डुलविशेष्यकभावनासंख्याप्रकारकान्वयबोधपरत्वज्ञान है तद्धर्मिक चैत्रविशेष्यकतादृशबोध परत्वज्ञान नहीं है। इसलिए तण्डुलविशेष्यक भावनासंख्याप्रकारक बोध होता है। समूहालम्बन वाक्यद्वय स्थल में आख्यात भी दो हैं। **'चैत्रः पक्ष्यते तण्डुलः'** में एक ही आख्यात है। समूहालम्बन में एक-एक आख्यात में एक एक विधान्वयबोधपरत्व ज्ञान है, अतः दोनों अन्वयबोध हो जाते हैं। एकवाक्य स्थल में एक ही आख्यात में उभयविधान्वयबोधपरत्वज्ञान है किंतु आख्यात

की सामर्थ्य ऐसी नहीं है कि उभयविधान्वयबोध हो सके । यही दोनों में फ़र्क है।

**न च निरुक्तसंख्यानभिधानस्य तृतीयाद्वितीयानियामकत्वे 'चैत्रेण स्वं दृश्यते' 'चैत्रः स्वं पश्यति' इत्यादौ तृतीयाद्वितीययोरनुपपत्तिः–कर्त्रादि विशेष्यकसंख्याप्रकारकन्वयबोधौपयिकाङ्क्षाज्ञानीयविषयित्वनिरूपकत्वस्य तत्राख्याते सत्त्वादिति वाच्यम्, कर्त्रादिपरयत्पदाख्यातपदयोः समभिव्याहारः संख्यान्वयबुद्धित्वावच्छिन्नप्रयोजकविषयित्वानिरूपकस्तत्पदोत्तरं तृतीया-विभक्तिरित्येवं नियमोपगमेन प्रथमस्थले चैत्रपरस्वपदाख्यातपदयोर्द्वितीये च तत्परचैत्राख्यातपदयोः समभिव्याहारस्यैव तद्विशेष्यकसंख्यान्वयबोध-प्रयोजकतया क्रमेण चैत्रपदस्वपदाभ्यां तृतीयाद्वितीययोरनुपपत्त्यनवकाशात् ।**

अभी तक के विचार से यही स्थापित किया कि कर्तृगत संख्या का आख्यात द्वारा अनभिधान ही तृतीया द्वितीया का नियामक है। यद्यपि कर्तृकर्मगतसंख्या के अनभिधान से कर्त्रादिविशेष्यक संख्याप्रकारकान्वयबोधत्वावच्छिन्नजन्यतानिरूपितजनकतावच्छेदकविषयित्वा निरूपकत्व अपेक्षित होता है। इस पर एक प्रश्न फिर उठाकर समाहित करते हैं—

यदि कोई कहे कि निरुक्तसंख्या का अनभिधान (कर्तृकर्मगत संख्या का अनभिधान) यदि तृतीयाद्वितीया का नियामक हो तो **'चैत्रेण स्वं दृश्यते' 'चैत्रः स्वं पश्यति'** इन स्थलों पर द्वितीया तृतीया की अनुपपत्ति होगी क्योंकि कर्त्रादि विशेष्यक संख्याप्रकारक अन्वयबोधौपयिकाकाङ्क्षाज्ञानीयविषयित्वनिरूपकत्व आख्यात में विद्यमान है। यहाँ पर वस्तुतः जो उदाहरण हैं उनमें कर्ताकर्म दोनों एक ही है। इस कारण इन दोनों ही स्थलों में क्रमशः कर्म और कर्तृनिष्ठ संख्या का अभिधान आख्यात द्वारा होने पर कर्ता और कर्म दोनों एक ही होने के कारण कर्ता की संख्या का अभिधान यदि आख्यात से हुआ तो कर्म की संख्या का भी अभिधान हो गया । विपरीत में भी ऐसा ही होगा इसलिए दोनों में ही प्रथमा आपन्न होती है तृतीया और द्वितीया नहीं । जैसे—**'चैत्रेण स्वं दृश्यते'** यहाँ पर स्वविशेष्यकसंख्यान्वयबोधत्वावच्छिन्नजन्यतानिरूपितजनकतावच्छेदकविषयितानिरूपकत्व आख्यात में है, स्वमाने तो चैत्र ही है। इसलिए चैत्रविशेष्यक तादृशबोधजनकतावच्छेदकविषयिता निरूपकत्व आख्यात में होने के कारण चैत्र से तृतीया नहीं होनी चाहिए । इसी प्रकार **'चैत्रः स्वं पश्यति'** की भी स्थिति है, यहाँ पर स्व में द्वितीया नहीं होनी चाहिए ।

तो ऐसा नहीं कहना चाहिए क्योंकि कर्त्रादिपरक जिस पद और आख्यात पद का समभिव्याहार संख्यान्वयबुद्धित्वावच्छिन्न प्रयोजक (जन्यनिरूपितजनकतावच्छेदक) विषयित्व का अनिरूपक होता है, उस पद से तृतीयादि विभक्तियाँ होती हैं, ऐसा नियम स्वीकार किया जाता है। इसलिए प्रथम स्थल **'चैत्रेण स्वं दृश्यते'** में चैत्रपरकस्वपद और आख्यात पद का और द्वितीय **'चैत्रः स्वं पश्यति'** में चैत्रपरक चैत्रपद और आख्यात पद का समभिव्याहार ही चैत्रपरक संख्यान्वयबोध का प्रयोजक होता है। इस कारण क्रमशः चैत्रपद और स्वपद से तृतीया और द्वितीया की अनुपपत्ति का अवकाश नहीं है। आशय यह है कि कर्त्रादिपरक जिस पद और आख्यातपद का समभिव्याहार संख्यान्वयबोधप्रयोजकविषयिता का अनिरूपक होता है उस पद से द्वितीयादि होते हैं। उक्त दोनों ही वाक्यों में कर्ता और कर्म के एक ही होने पर भी दोनों ही पदों का आख्यातपद के साथ समभिव्याहार संख्यान्वयबोधप्रयोजक

विषयिता का अनिरूपक नहीं होता है। जैसे प्रथम—'**चैत्रेण स्वं दृश्यते**' में चैत्रपरक स्वपद और आख्यातपद का समभिव्याहार ही चैत्रविशेष्यक संख्यान्वयबोध का प्रयोजक होता है चैत्रपद और आख्यातपद का समभिव्याहार नहीं । इसलिए स्वपद और आख्यातपद का समभिव्याहार ही संख्यान्वयबुद्धित्वावच्छिन्नजन्यतानिरूपितजनकतावच्छेदक विषयिता का निरूपक होता है, चैत्रपद का समभिव्याहार अनिरूपक होता है। अतः चैत्र पद से तृतीया होती है। '**चैत्रः स्वं पश्यति**' में चैत्रपद और आख्यात पद का समभिव्याहार चैत्रविशेष्यकसंख्याप्रकारकन्वयबोध प्रयोजक होता है और तादृशान्वयबुद्धित्वावच्छिन्न-जन्यताजनकतावच्छेदक विषयिता का अनिरूपक होता है। स्वपद का समभिव्याहार अनिरूपक होता है। अतः स्वपद से द्वितीया होती है।

**इति चेत् ?**

**न, ''अनभिहिते'' इत्यधिकारे ''कर्तृकरणयोस्तृतीया'' इत्याद्यनुशासनस्य किं प्रयोजनमिति वक्तव्यम् । 'चैत्रः पचति' 'तण्डुलः पच्यते' इत्यादौ चैत्रतण्डुलपदाभ्यां तृतीयद्वितीययोरप्रयोग इति चेत् ? तत् किं मणिमन्त्रादिन्यायेन तादृशानुशासनस्य तथाविधप्रयोगविरोधिता येन तदभावस्तत्प्रयुक्तः स्यात् ? न चैवं सम्भवति ।**

कर्त्रादिनिष्ठ संख्यानभिधायकत्व ही तृतीया, द्वितीया का प्रयोजक है। इस धारणा को लेकर अभी तक इसी को परिभाषित करते हुए इस प्रकार परिभाषित किया गया कि '**कर्त्रादिपरक यत्पद और आख्यातपद का समभिव्याहार संख्यान्वयबुद्धित्वावच्छिन्न जन्यतानिरूपितजनकतावच्छेदक विषयित्व का अनिरूपक होता है उस कर्त्रादिपद से तृतीया, द्वितीया होती है**, इसका विवेचन समन्वय आदि विगत पृष्ठों में किया जा चुका है। अब गदाधर भट्टाचार्य 'कर्त्रादिनिष्ठसंख्यानभिधायकत्व तृतीया द्वितीया का प्रयोजक नहीं हो सकता है' इस आशय से खण्डन प्रारम्भ करते हुए खण्डन के मुख्य तर्कों की पूर्व पीठिका तैयार करते हैं —

यदि ऐसा कोई माने तो?

ऐसा मानना ठीक नहीं है। (कारण क्या है ? तो) '**अनभिहिते पा0सू0 2/3/1**' के अधिकार में '**कर्तृकरणयोस्तृतीया**' इत्यादि ('**कर्मणि द्वितीया**' आदि) अनुशासन के पाठ का आख़िर प्रयोजन क्या है? यह बताना चाहिए । यदि कहो कि '**चैत्रः पचति**' '**तण्डुलः पच्यते**' इत्यादि स्थलों में चैत्र और तण्डुल पदों से तृतीया और द्वितीया का प्रयोग न हो यही प्रयोजन है। तो प्रश्न उठता है कि उक्त अनुशासन उक्त स्थलों में चैत्र तण्डुलादि पदों से तृतीया-द्वितीया प्रयोग का विरोधी कैसे होगा ? क्या मणिमन्त्रादिन्याय[1] से तादृश अनुशासन चैत्र और तण्डुल पद से तृतीया व द्वितीया के प्रयोग का विरोधी होगा? ऐसा तो सम्भव नहीं है। क्योंकि मणिमन्त्रादिन्याय से विरोधिता होने पर तो उक्त स्थलों में तृतीया द्वितीया प्रयोग का उच्चारण ही सम्भव नहीं होगा । इस प्रकार यह निश्चित है कि

1. टिप्पणी—मणिमन्त्रादिन्याय से विरोधी होने का अभिप्राय है जैसे चन्द्रकान्त मणि विद्यमान रहने मात्र से दाह का विरोधी होना है। जैसे मन्त्रादि वाक्स्तम्भन द्वारा वाणी प्रयोग का विरोधी होता है। क्या उसी तरह इस अनुशासन की भी उक्त स्थलों में द्वितीया तृतीया प्रयोग की विरोधिता है?

मणिमन्त्रादिन्याय से उक्त अनुशासन तृतीया, द्वितीया प्रयोग विरोधी नहीं हो सकता है। अन्य किसी रीति से भी उक्त अनुशासन तृतीया, द्वितीया प्रयोग का विरोधी नहीं हो सकता है। इसलिए यह निश्चित है कि उक्त स्थल में चैत्र, तण्डुलादि पदों से तृतीया द्वितीया के प्रयोग का अभाव अनुशासन का प्रयोजन नहीं हो सकता है। कुछ दूसरा प्रयोजन ही होना चाहिए ।

**'पचति' 'पच्यते' इत्यादिक्रियायोगे कर्तृकर्मवाचकपदानन्तरतृतीया द्वितीययोरसाधुत्वस्य तत्कर्तृत्वतत्कर्मत्वादिबोधौपयिकाकाङ्क्षादि रहितत्वरूपस्य प्रतिपत्तिः प्रयोजनं तस्येति चेत् ? तर्हि उक्तनियमपरतयापि न ततस्तल्लाभः । प्रथमान्तचैत्रतण्डुलादिपदतत्तदाख्यातपदयोः समभिव्याहारस्येव चैत्रतण्डुलादिविशेष्यकतत्तदाख्यातार्थसंख्यान्वयबोध प्रयोजकतया 'चैत्रेण पचति' 'तण्डुलं पच्यते' इत्यादिवाक्यघटक चैत्रतण्डुलादिपदतिबादिपदयोः समभिव्याहारस्यातथात्वेन तद्घटकतृतीयाद्वितीययोः साधुत्वस्योक्तनियमाव्यवच्छेद्यत्वात् ।**

यदि **'पचति' 'पच्यते'** इत्यादि क्रियाओं का योग होने पर कर्तृकर्मवाचकपदानन्तर तृतीया द्वितीया का असाधुत्व जो कि तत्कर्तृत्वकर्मबोधौपयिकाकाङ्क्षादिरहितत्व रूप होता है उसकी प्रतिपत्ति ही उक्त अनुशासन का प्रयोजन है। अभिप्राय यह है कि **'पचति'** इस प्रकार कर्तृवाक्य क्रिया का योग होने पर कर्तृवाचक पदानन्तर तृतीया के असाधुत्व की प्रतिपत्ति और **'पच्यते'** ऐसी कर्मवाच्य की क्रिया का योग होने पर कर्मवाचकपदानन्तर द्वितीया के असाधुत्व की प्रतिपत्ति ही उक्त अनुशासन का प्रयोजन है। उक्त तृतीया द्वितीया का असाधुत्व क्या है? तत् (फल =पाकादि) कर्तृत्व और तत्कर्मत्व (अर्थात् पाककर्तृत्व और पाककर्मत्व) बोध के प्रति कारणीभूत आकाङ्क्षारहितत्व ही तृतीया द्वितीया का असाधुत्व है। यहाँ **'पचति'** में पाककर्तृत्वबोध के प्रति कारणीभूत आकाङ्क्षा कर्तृवाचकपदोत्तर प्रथमा में ही है तृतीया में नहीं, तृतीया में तो पाककर्तृत्वबोधकारणीभूताकाङ्क्षा का राहित्य (अभाव) ही है। यही तृतीया का असाधुत्व है। **'पच्यते'** में पाककर्मत्वबोध के प्रति कारणीभूत आकाङ्क्षा तण्डुलादिकर्मवाचकपदोत्तर प्रथमा में ही है द्वितीया में नहीं । द्वितीया में तो पाककर्मत्वबोधौपयिकाकाङ्क्षाराहित्य ही है। यही कर्मवाच्यस्थल में कर्मवाचकपदोत्तर द्वितीया का असाधुत्व है। सारांश यह है कि **'पचति'** में चैत्रादिकर्तृवाचकपदोत्तर प्रथमा के द्वारा ही पाककर्तृत्वबोध होता है तृतीया के द्वारा नहीं । **'पच्यते'** में कर्मवाचकपदोत्तर प्रथमा से ही पाककर्मत्व बोध होता है द्वितीया से नहीं । यहाँ इन स्थलों में क्यों नहीं होता है पाककर्तृत्व, पाककर्मत्व का बोध ? तो पाककर्तृत्व व पाककर्मत्व बोध के प्रति कारणीभूत आकाङ्क्षा न होने के कारण । यही आकाङ्क्षाराहित्य ही तत्तत्पदोत्तर तृतीया द्वितीया का असाधुत्व है।

तो आप द्वारा प्रतिपादित जो नियम है कि **कर्त्रादिपद जिस पद और आख्यात पद का समभिव्याहार संख्यान्वयबुद्धित्वावच्छिन्नजन्यतानिरूपित जनकतावच्छेदकविषयित्व का अनिरूपक होता है कर्त्रादिपर उस पद से तृतीया द्वितीया होता है।** उस नियम के द्वारा तल्लाभ नहीं हो सकता है। (तल्लाभ का आशय है-**'पचति' 'पच्यते'** इत्यादि क्रिया का योग होने पर कर्तृकर्मवाचकपदानन्तर तृतीया द्वितीया के असाधुत्व

प्रतिपत्तिरूप अनुशासन के प्रयोजन का लाभ) वह आप द्वारा प्रतिपादित नियम द्वारा सम्भव नहीं है। क्योंकि प्रथमान्त चैत्रतण्डुलादि पद और तत्तदाख्यातपदों के समभिव्याहार के ही चैत्रतण्डुलादिविशेष्यकतत्तदाख्यातार्थसंख्यान्वयबोध का प्रयोजक होने के कारण **'चैत्रेण पचति' 'तण्डुलं पच्यते'** इत्यादि वाक्यघटक चैत्र तण्डुलादि पद और तिबादिपद का समभिव्याहार तो चैत्रतण्डुलादि विशेष्यक तत्तदाख्यातार्थ संख्यान्वयबोध का प्रयोजक होता नहीं है। इसलिए इन वाक्यों के घटकीभूत चैत्रतण्डुलपदोत्तर तृतीया और द्वितीया का साधुत्व उक्त नियम से व्यवच्छेद्य नहीं होगा ।

**'चैत्रेण पचति' 'तण्डुलं पच्यते'** इत्यादि वाक्यघटक चैत्रतण्डुलपदोत्तर तृतीया द्वितीया का वस्तुतः असाधुत्व ही है, साधुत्व नहीं । उक्त अनुशासन का प्रयोजन जब तादृश तृतीया द्वितीया के असाधुत्व की प्रतिपत्ति ही है तो उक्त नियम के द्वारा उसके असाधुत्व की प्रतिपत्ति होनी चाहिए । किन्तु ऐसा होता नहीं है। क्योंकि प्रथमान्त चैत्रपद और शब् विकरणोत्तर तिब् आख्यात पद का समभिव्याहार ही चैत्र विशेष्यकाख्यातार्थ संख्याप्रकारकबोध का प्रयोजक होता है, तृतीयान्त चैत्रपद और शब् विकरणोत्तर तिप् पद का समभिव्याहार तो तादृशान्वयबोध का प्रयोजक होता नहीं है। इसलिए यहाँ पर चैत्र पदोत्तर तृतीया साधु होगी । क्योंकि सीधा सीधा देखें तो उक्त नियम का अर्थ यही है कि **जिस कर्मादिवाचक पद और आख्यात पद का समभिव्याहार कर्त्रादि विशेष्यक संख्यान्वयबोध का प्रयोजक नहीं होता है उस कर्त्रादिवाचकपद से तृतीया द्वितीया होती है।** यहाँ पर **'चैत्रेण पचति'** में कर्तृवाचक चैत्रपद और आख्यातपद का समभिव्याहार चैत्र (कर्तृ) विशेष्यक संख्यान्वयबोध का प्रयोजक नहीं होता है। अतः चैत्रपद से तृतीया होनी चाहिए । इसी प्रकार **'तण्डुलं पच्यते'** में तण्डुल पद और यग् विकरणोत्तराख्यात तपद का समभिव्याहार तण्डुल (कर्म) विशेष्यक संख्यान्वयबुद्धि का प्रयोजक नहीं होता है। इसलिए तण्डुल पद से द्वितीया होनी चाहिए । इस प्रकार इस तृतीया द्वितीया का असाधुत्व नहीं प्रतिपादित होता है इस नियम के द्वारा । अनुशासन का वही प्रयोजन होने के कारण उसका प्रतिपादन अवश्य होना चाहिए ।

इस प्रकार निष्कर्ष यही निकला कि कर्त्रादिगतसंख्यानभिधान तृतीया द्वितीया का प्रयोजक नहीं है। तो फिर क्या है तृतीया द्वितीयादि का प्रयोजक ? अग्रिम ग्रन्थ से इस प्रश्न का ग्रन्थकार उत्तर दे रहे हैं।

**तस्मान् मुख्यभाक्तसाधारणकर्तृत्वकर्मत्वयोः कर्तृकर्मवाचकपद समभिव्याहृतलकृत्तद्धितसमासैरनभिधानमेव तृतीयाद्वितीयानियामकम्, शिरोमणिभिरप्यत्रैव निर्भरो विहितः ।**

इसलिए मुख्य और भाक्त (लाक्षणिक) साधारण कर्तृत्व और कर्मत्व का कर्तृकर्मवाचकपदसमभिव्याहृत ल कृत्, तद्धित और समास से अनभिधान ही तृतीया द्वितीया का नियामक है। शिरोमणि ने भी यही तृतीया द्वितीया का नियामक स्वीकार किया है।

आशय यह है कि कर्तृत्व का कर्तृवाचकपद समभिव्याहृत लकार, कृत्, तद्धित और समास से अनभिधान कर्तृवाचकपद से तृतीया का नियामक है। कर्मत्व का कर्मवाचक पद समभिव्याहृत लकार, कृत, तद्धित और समास से अनभिधान कर्मवाचकपद से द्वितीया का

प्रयोजक है। कर्तृत्व दो तरह का हो सकता है मुख्य या लाक्षणिक । मुख्य कर्तृत्व कृतिमत्त्व रूप है जैसे कि '**पचति**' में देवदत्तादि में पाकानुकूलकृतिमत्त्व है। अतः मुख्य कृर्तत्व है। '**जानाति**' में देवदत्तादि में ज्ञानाश्रयत्व ही ज्ञानकर्तृत्व है। यहाँ पर मुख्यकर्तृत्व नहीं है बल्कि गौणकर्तृत्व है क्योंकि मुख्यकर्तृत्व तो कृतिमत्त्वरूप ही होता है। यहाँ पर आख्यात को आश्रयत्वार्थक मान लेते हैं और ज्ञानाश्रयत्व ही ज्ञानकर्तृत्व है। ऐसा गौण कर्तृत्व होता है। इसी प्रकार व्यापारजन्यफलशालित्व मुख्यकर्मत्व है और जहाँ पर फलशालित्व नहीं है वहाँ गौण (लाक्षणिक) कर्मत्व है। जैसे '**पच्यते**' में व्यापारजन्यफल (विक्लिति) शालित्व रूप मुख्य कर्मत्व तण्डुल में रहता है, '**ज्ञायते**' में घटादि में ज्ञानकर्मता ज्ञानविषयिता ही है। अतः यह गौण (लाक्षणिक) कर्मत्व है।

इस प्रकार निष्कर्ष रूप में मुख्य या भाक्त कर्तृत्व और कर्मत्व का लकार, कृत्, तद्धित व समास से अनभिधान ही कर्तृकर्मवाचकपदों से तृतीया द्वितीयादि का प्रयोजक होता है। अब प्रश्न उठता है कि लकार, कृत् , तद्धित व समास द्वारा कर्तृत्व व कर्मत्व के अनभिधान का क्या आशय है? इसका समाधान भी अग्रिम ग्रन्थ से कर रहे हैं ।

**लादीनां तदनभिधायकत्वं च न तदवाचकत्वं तन्निष्ठवृत्त्यनिरूपकत्वं वा, आत्मनेपदस्याप्याख्यातत्वेन लत्वादिना वा कर्तृत्वादिनिष्ठ शक्ति-लक्षणान्यतरनिरूपकत्वात् , कर्तृत्वानभिधायकाख्यातस्यैवाप्रसिद्धेः।**

लादि (लकार, कृत् , तद्धित और समास) का कर्तृत्व व कर्मत्व का अनभिधायकत्व (अनभिधान) न तो तदवाचकत्व है और न ही तन्निष्ठवृत्ति का अनिरूपकत्व ही है क्योंकि आत्मनेपद भी आख्यात होता है इसलिए आख्यातत्वेन या लत्वादिना कर्तृत्वादिनिष्ठ शक्तिलक्षणान्यतरनिरूपकत्व आख्यात में आ जाता है इसलिए कतृत्वानभिधायक आख्यात की ही अप्रसिद्धि हो जायेगी ।

यहाँ पर यदि लादि का कर्तृत्वकर्मत्वानभिधायकत्व कर्तृत्वकर्मत्वावाचकत्वरूप अभीष्ट हो तो आत्मनेपद भी तो आख्यात ही होता है। इसलिए आख्यातत्वेन अथवा लकारत्वेन (इसीप्रकार कृत्त्वेन, तद्धितत्वेन व समासत्वेन भी) आत्मनेपद भी कर्तृत्व कर्मत्व आदि का अभिधायक होगा ही । इसी कारण कर्तृत्वादि का अनभिधायक आख्यात ही अप्रसिद्ध हो जायेगा ।

यदि कर्तृत्वाद्यनभिधायकत्व कर्तृत्वादिनिष्ठवृत्ति का अनिरूपकत्व है (वृत्ति तो शक्तिलक्षणान्यतररूप ही अपेक्षित है) तो भी आत्मनेपद के आख्यातत्वेन या लत्वादि रूप से कर्तृत्वादिनिष्ठशक्तिलक्षणान्यतर का निरूपक होने के कारण पुनः कर्तृत्वादि का अनभिधायक आख्यात अप्रसिद्ध हो जायेगा । जैसे '**पच्यते**' यहाँ पर आख्यात में कर्तृत्वानभिधायकत्व है किन्तु वह कर्तृत्वानभिधायकत्व आख्यात का स्वरूपतः नहीं है बल्कि कर्मवाच्यप्रयोगत्वेन है। आख्यातत्वेन तो आख्यात का कर्तृत्वाभिधायकत्व ही होता है। इसीलिए कहा जाता है कि लकार (आख्यात) कर्ता, भाव और कर्म में हुआ करता है '**लः कर्मणि च भावे चाकर्मकेभ्यः पा0सू03/4/69**' सूत्र का भी यही आशय है। नैयायिकों के मत में कर्ता और कर्म अर्थ में लकार का विधान नहीं सम्भव है। कर्तृत्व, कर्मत्व व भाव में ही लकार का विधान हो सकता है। इस प्रकार लकारत्वेन या आख्यातत्वेन रूपेण आख्यात में (**पच्यते** इस स्थल के आख्यात में) कर्तृत्वाभिधायकत्व ही है। फिर कर्तृत्वानभिधायक आख्यात की ही अप्रसिद्धि हो जायेगी ।

**तच्छाब्दबोधौपयिकाकाङ्क्षाशून्यत्वमेव तत् 'चैत्रेण पच्यते तण्डुलः' इत्यादावाख्यातस्य कर्तृत्वादिवाचकत्वेऽपि तच्छाब्दबोधौपयिकाकाङ्क्षा राहित्यमक्षतमेव–चैत्रादिपदोत्तरतृतीययैव कर्तृत्वबोधनसम्भवात् तत्र तादृशाकाङ्क्षाया अकल्पनात्, इत्यपि न–'चैत्रेण पक्ष्यते' इत्यादौ तृतीयानुपपत्तेः, 'पक्ष्यते चैत्रः' इत्यादितश्चैत्रादौ पाककृतेः केवलात् 'पक्ष्यते' इत्यादितश्च मुख्यविशेष्यतया तस्या बोधात् तादृशाख्यातधात्वोरानुपूर्वी विशेषाकाङ्क्षायाः कृतिबोधौपयिकत्वात् ।**

यदि कहो कि तच्छाब्दबोधौपयिकाकाङ्क्षाशून्यत्व ही लादि का कर्तृत्वाद्यनभिधाय कत्व है अर्थात् लकार, कृत् , तद्धित व समास में जो कर्तृत्व, कर्मत्व विषयक शाब्दबोध के प्रति प्रयोजकीभूत आकाङ्क्षा का अभाव है। वही लादि का क्रमशः कर्तृत्व कर्मत्व का अनभिधायकत्व है। '**चैत्रेण पच्यते तण्डुलः**' इत्यादि स्थलों में आख्यात के कर्तृत्वादि का वाचक होने पर भी (आख्यातत्वेन कर्मवाच्यस्थलीय आख्यात के भी कर्तृत्व का वाचक होने पर भी) कर्तृत्वविषयक शाब्दबोधौपयिक आकाङ्क्षा का राहित्य आख्यात में अक्षत ही है। क्योंकि इस स्थल में चैत्रादिपदोत्तर तृतीया से ही कर्तृत्व का बोधन सम्भव है, इस कारण आख्यात में कर्तृत्वविषयकशाब्दबोधप्रयोजकाकाङ्क्षा का अभाव ही विद्यमान है। इस कारण यहाँ पर चैत्रपद से तृतीया ही होती है प्रथमा नहीं । तो ऐसा भी कहना ठीक नहीं है क्योंकि '**चैत्रेण पक्ष्यते**' यहाँ पर चैत्र पद से तृतीया की अनुपपत्ति है। क्योंकि '**पक्ष्यते चैत्रः**' इत्यादि से चैत्र में पाककृति का बोध होता है और केवल '**पक्ष्यते**' से मुख्यविशेष्यतया केवल पाककृति का बोध हुआ करता है। इस प्रकार स्यविकरणोत्तर 'त' आख्यात और पच् धातु की आनुपूर्वीविशेषरूपा आकाङ्क्षा कृतिबोधौपयिक ही है।

इस उत्तरपक्ष ग्रन्थ का आशय यह है कि चूँकि '**पक्ष्यते**' यह प्रयोग कर्म में लृट् होने पर भी होता है और कर्ता में लृट् होने पर भी होता है। इस कारण '**पक्ष्यते चैत्रः**' के द्वारा चैत्र में पाककृति का बोधन होता है क्योंकि वह कर्ता में लृट् का प्रयोग होता है। और '**पक्ष्यते**' मात्र से पाककृतिमात्र का बोधन होता है। इसप्रकार स्यविकरणोत्तर 'त' आख्यात और पच् धातु का समभिव्याहार (आनुपूर्वीविशेषरूप आकाङ्क्षा) कृतिबोध प्रयोजक है। चूँकि कर्तृत्व का अर्थ कृतिमत्त्व ही है। कृतिमत्त्व तो कृतिरूप ही होता है। इसलिए कर्तृत्वविषयक बोध प्रयोजक आकाङ्क्षाशून्यत्व '**पक्ष्यते**' इस स्थल के आख्यात में नहीं आ सकता है । इस कारण यहाँ पर कर्तृत्वानभिधान जो कि उक्त आकाङ्क्षाशून्यत्व रूप होता है वह नहीं है। इसलिए कर्तृवाचक पद से तृतीया किसी भी स्थिति में नहीं हो सकती है क्योंकि हमेशा ही कर्तृत्वाभिधान ही रहेगा, कभी भी कर्तृत्वानभिधान नहीं रहेगा। जबकि '**चैत्रेण तण्डुलः पक्ष्यते**' में चैत्रपद से तृतीया सिद्ध ही है। उसकी अनुपपत्ति होगी इसलिए कर्तृत्वादिविषयकशाब्दबोधप्रयोजक आकाङ्क्षाशून्यत्व रूप कर्तृत्वाद्यनभिधायकत्व कर्तृकर्मपदों से तृतीया द्वितीया का प्रयोजक नहीं हो सकता है।

**न च समभिव्याहाररूपाकाङ्क्षैव विवक्षणीया प्रकृते च प्रकृति प्रत्ययोरानुपूर्वीरूपाकाङ्क्षा न तु समभिव्याहार इति नोक्तानुपपत्तिरिति वाच्यम् , तथासति 'चैत्रेण पचति' इत्यादावपि तृतीयायाः साधुतापतेः तादृशचैत्रपदाख्यातपदयोः समभिव्याहारस्य कृतिबोधानौपयिकत्वात् ।**

**'चैत्रेण विजेष्यते मैत्रः, इत्यादौ तृतीयानुपपत्तेश्च–'विजेष्यते मैत्रः' इत्यादितो मैत्रकृतिबोधात् तादृशाख्यातपदमैत्रपदयोः समभिव्याहारस्य कृति बोधौपयिकत्वात् ।**

यदि कहें कि 'तच्छाब्दबोधौपयिकाकाङ्क्षाशून्यत्व तदनभिधायकत्व है' इसमें आकाङ्क्षापद से समभिव्याहाररूपा आकाङ्क्षा ही विवक्षणीय है, प्रकृतस्थल में प्रकृति और प्रत्यय की आनुपूर्वीरूप आकाङ्क्षा ही तच्छाब्दबोधौपयिक है न कि समभिव्याहार । इसलिए '**चैत्रेण पक्ष्यते**' में चैत्रपद से तृतीया की अनुपपत्ति नहीं होगी । अभिप्राय यह है कि **कर्तृत्वादिविषयकबोधप्रयोजक आकाङ्क्षाशून्यत्व कर्तृत्वादि का अनभिधायकत्व है।** इस नियम में आकाङ्क्षा पद से समभिव्याहाररूपा आकाङ्क्षा ही अपेक्षित है। यहाँ पर ध्यातव्य है कि आकाङ्क्षा दो तरह की हो सकती है एक तो सुबन्त पद को तिङन्तादिपद की आकाङ्क्षा और इसके विपरीत भी । इसे ही समभिव्याहार कहते हैं। दूसरी प्रकृति और प्रत्यय की आनुपूर्वीविशेषरूप आकाङ्क्षा हो सकती है। इसमें ग्रन्थकार का कहना है कि समभिव्याहाररूपा आकाङ्क्षा यहाँ पर आकाङ्क्षापद से लेनी है न कि आनुपूर्वीविशेषरूप आकाङ्क्षा। '**चैत्रेण पक्ष्यते**' यहाँ पर यद्यपि पच् धातूत्तर स्यविकरणोत्तर आख्यात 'त' पदरूप आनुपूर्वीविशेषरूप आकाङ्क्षा कृतिबोधौपयिक (कृतिबोधप्रयोजक) है। तथापि **चैत्रेण** और **पच्यते** पद की समभिव्याहाररूपा आकाङ्क्षा के कृति बोध की प्रयोजिका नहीं होने के कारण इन दोनों पदों के समभिव्याहार से कृति का बोध नहीं हुआ करता है, चैत्र में कृत्तिमत्त्व नहीं बोधित होता है। चूँकि चैत्र में कृतिमत्त्व का बोध ही कर्तृत्वविषयक बोध है, इसलिए उक्त दोनों पदों की समभिव्याहार रूपा आकाङ्क्षा कर्तृत्वविषयकबोधप्रयोजिका नहीं है। इस कारण चैत्ररूप कर्तृवाचकपदोत्तर तृतीया की अनुपपत्ति नहीं होगी ।

तो ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि ऐसी स्थिति में तो '**चैत्रेण पचति**' यहाँ पर भी चैत्रपदोत्तर तृतीया के साधुता की आपत्ति होगी क्योंकि यहाँ पर भी तादृशचैत्र आख्यात पद का समभिव्याहार **चैत्रेण** और **पचति** पद का समभिव्याहार कृतिबोध का प्रयोजक नहीं हुआ करता है। आशय यह है कि जैसे **चैत्रेण** और **पच्यते** पद के समभिव्याहार से कर्तृत्व बोधित नहीं होता है, इसलिए कर्तृवाचक चैत्रपदोत्तर तृतीया साधु होती है। उसी प्रकार **चैत्रेण** और **पचति** पद के समभिव्याहार से भी कर्तृत्व बोधित नहीं होता है, इसलिए कर्तृवाचक चैत्रपदोत्तर तृतीया साधु होनी चाहिए ।

इसके अलावा '**चैत्रेण विजेष्यते मैत्रः**' इत्यादि स्थलों में तृतीया की अनुपपत्ति भी है क्योंकि '**विजष्यते मैत्रः**' इत्यादि से भी मैत्रकृति का बोध होने के कारण तादृशाख्यातपद और मैत्रपद का समभिव्याहार भी कृतिबोधौपयिक होता है।

यहाँ ग्रन्थकार का आशय क्या है? यह जानने के पूर्व '**चैत्रेण विजेष्यते मैत्रः**' इस उदाहरण को समझ लिया जाये । **विजेष्यते** प्रयोग वि उपसर्ग लगा होने पर जि धातु से कर्ता में लृट् होने पर भी होता है और कर्म में लृट् होने पर भी होता है। इसलिए **चैत्रेण विजेष्यते** से चैत्र का कर्तृत्व (विजेतृत्व) बोधित होता है और कर्मवाच्य का प्रयोग यह होता है । **मैत्रः विजेष्यते** से मैत्र का कर्तृत्व (विजेतृत्व) बोधित होता है। यह कर्तृवाच्य का प्रयोग होता है। यहाँ पर ग्रन्थकार का अभिप्राय है कि चूँकि यहाँ पर **विजेष्यते** और **मैत्रः**

पद का समभिव्याहार कर्तृत्वविषयक बोध प्रयोजक हो रहा है (ये अलग बात है कि मैत्र कर्तृत्व का बोध होता है, चैत्रकर्तृत्व का नहीं) और आपने यही कहा कि जिन पदों का समभिव्याहार कर्तृत्व बोध प्रयोजक नहीं होता है, उन पदों में से कर्तृवाचक पद से तृतीया होती है। यहाँ पर तो **चैत्रेण, विजेष्यते** व **मैत्रः** पदों का समभिव्याहार कर्तृत्व बोध का प्रयोजक होता है। इसलिए एतद्घटक चैत्रपद से तृतीया नहीं होनी चाहिए ।

सार यह है कि '**चैत्रेण तण्डुलः पच्यते**' में '**तण्डुलः पच्यते**' के द्वारा तो कर्तृत्व का बोध नहीं होता है बल्कि तण्डुलकर्मत्व का ही बोध होता है। इस कारण चूँकि **तण्डुलः** व **पच्यते** के समभिव्याहार से कर्तृत्व का बोध नहीं होता है, अतः कर्तृबोधक चैत्रपद से तृतीया होती है। '**चैत्रेण विजेष्यते मैत्रः**' में **विजेष्यते** व **मैत्रः** पद के समभिव्याहार से कर्तृत्व का बोध हो.ता है (भले ही मैत्र के कर्तृत्व का बोध होता हो, किन्तु कर्तृत्व बोध तो होता ही है) इसलिए कर्तृवाचक चैत्रपद से तृतीया अनुपपन्न है। इस तरह 'कर्तृत्वकर्मत्वादि-विषयकशाब्दबोधौपयिकाकाङ्क्षाशून्यत्व ही लादि के द्वारा कर्तृत्वकर्मत्वादि का अनभिधायकत्व है' यह पक्ष भी खण्डित हो जाता है।

**किंतु तत्तात्पर्यशून्यत्वमेव, तथा च 'चैत्रेण पक्ष्यते' इत्यादावाख्यातस्य कर्तृत्वादितात्पर्यकत्वे तृतीयाऽसाधुरेव, तथा च 'चैत्रेण पचति' इत्यादावाख्यातस्यार्थाविवक्षायां तृतीयायाः साधुत्वेऽपि परस्मैपदस्यासाधुत्वान्न प्रयोगः । परस्मैपदस्यासाधुत्वं च धात्वर्थविशेष्यस्य प्रत्ययेनाविवक्षणे 'भावकर्मणोः' इति सूत्रेणात्मनेपदनियमात् । आख्यातार्थविवक्षायां न 'चैत्रेण पचते' इत्यादिप्रयोगः–शबादिविकरणस्यासाधुत्वात् कर्तृत्वतात्पर्यक सार्वधातुकयोगे एव तत्साधुत्वात् ।**

अब ग्रन्थकार निष्कर्ष रूप में कर्तृत्वकर्मत्वानभिधायकत्व लादि का क्या है ? यह बता रहे हैं कि—

किन्तु तत्तात्पर्यशून्यत्व ही कर्तृत्व कर्मत्वानभिधायकत्व है अर्थात् कर्तृविशेष्यकशाब्दबोध विषयकतात्पर्यशून्यत्व कर्तृत्वानभिधायकत्व है और कर्मविशेष्यक शाब्दबोधविषयकतात्पर्य शून्यत्व कर्मत्वानभिधायकत्व है। इस प्रकार '**चैत्रेण पक्ष्यते**' यहाँ पर यदि आख्यात कर्तृत्वादितात्पर्यक है अर्थात् कर्तृविशेष्यक शाब्दबोधविषयकतात्पर्य विद्यमान है। तो तादृशतात्पर्यशून्यत्व रूप तृतीया का प्रयोजक नहीं होने के कारण तृतीया असाधु ही है।( यदि आख्यात कर्मत्वादितात्पर्यक, कर्मविशेष्यक शाब्दबोधविषयकतात्पर्य वत् हो तब तो कर्तृतात्पर्यशून्यत्व ही आयेगा, कर्तृविशेष्यकशाब्दबोध विषयकतात्पर्यशून्यत्व ही आयेगा जो कि तृतीया का प्रयोजक है। अतः तृतीया साधु होगी) इस प्रकार यदि आख्यात के अर्थ की विवक्षा न हो तो '**चैत्रेण पचति**' इत्यादि स्थलों में चैत्रपदोत्तर तृतीया के साधु होने पर भी परस्मैपद के (पच् धातूत्तर परस्मैपद के) असाधु होने के कारण इस प्रकार का प्रयोग नहीं होता है। आशय यह है कि '**चैत्रेण पचति**' यहाँ पर यदि आख्यात के अर्थ कर्तृत्व की विवक्षा है अर्थात् कर्तृ विशेष्यक शाब्दबोधविषयक तात्पर्य है, तब तो चैत्रपदोत्तर तृतीया असाधु है क्योंकि तृतीया का प्रयोजक कर्तृविशेष्यक शाब्दबोधविषयकतात्पर्यशून्यत्व नहीं है। यदि कर्तृविशेष्यक शाब्दबोधविषयक तात्पर्य नहीं है अर्थात् तादृशतात्पर्यशून्यत्व है तो

चैत्र पदोत्तर तृतीया असाधु नहीं है क्योंकि उसका प्रयोजक बैठा हुआ है । किन्तु ऐसी स्थिति में पच् धातूत्तर परस्मैपद के असाधु होने के कारण वैसा प्रयोग नहीं होता है। और परस्मैपद का असाधुत्व धात्वर्थविशेष्य की प्रत्यय से विवक्षा न होने पर '**भावकर्मणोः पा० सू० 1/3/13**' के द्वारा आत्मनेपद का नियम होने के कारण होता है। भाव यह है कि इस सूत्र का अर्थ यही है कि धात्वर्थविशेष्य की प्रत्यय के द्वारा यदि विवक्षा न हो तो आत्मनेपद होता है। '**चैत्रेण पचति**' में पच् धात्वर्थ पाक है और पाकविशेष्य कृति होती है अनुकूलत्व सम्बन्ध से, यदि धात्वर्थ विशेष्य कृति रूप अर्थ की विवक्षा प्रत्यय से नहीं है तो '**भावकर्मणोः**' इस सूत्र से आत्मनेपद होना चाहिए । जहाँ आत्मनेपद होना चाहिए वहाँ पर परस्मैपद का प्रयोग तो असाधु ही माना जायेगा । इसलिए **चैत्रेण** में तृतीया के साधु होने पर भी **पचति** में आत्मनेपद के असाधु होने के कारण वैसा प्रयोग नहीं होता है। आख्यातार्थ विवक्षा में '**चैत्रेण पचते**' इत्यादि प्रयोग तो नहीं हो सकते हैं क्योंकि ऐसी स्थिति में शबादिविकरण असाधु होगा, कर्तृत्व तात्पर्यक सार्वधातुक का योग होने पर ही शबादि विकरण साधु होते हैं। अभिप्राय यह है कि यद्यपि आत्मनेपद में कर्तृविशेष्यक, कर्मविशेष्यक और भावविशेष्यक तीनों ही प्रकार के शाब्दबोध की सामर्थ्य है ही, परन्तु यहाँ पर यदि आख्यातार्थकर्मत्वविशेष्यता विवक्षित हो तो आत्मनेपद के साधु होने पर भी शब् विकरण के असाधु होने के कारण ऐसा प्रयोग नहीं होता है। शब् विकरण कर्तृत्वतात्पर्यक सार्वधातुक का योग होने पर ही साधु हुआ करता है क्योंकि '**कर्तरि शप् पा॰सू॰3/1/68**' ऐसा अनुशासन है।

<u>विमर्शः</u>–यहाँ पर मूल में '**आख्यातार्थविवक्षायां न 'चैत्रेण पचते' इत्यादि प्रयोगः शबादिविकरणस्यासाधुत्वात्** ' इस पाठ में '**आख्यातार्थविवक्षायां**' की जगह पर '**आख्यातार्थाविवक्षायां**' ऐसा पाठ होना चाहिए मुझे ऐसा प्रतीत होता है। क्योंकि आख्यातार्थ तो कृति ही है उसकी अविवक्षा में '**चैत्रेण पचते**' इत्यादि प्रयोग नहीं होते हैं क्योंकि शबादि विकरण असाधु होता है। यह पाठ कुछ ज्यादा संगत लगता है। यद्यपि अन्य व्याख्याकारों के द्वारा उपर्युक्त पाठ ही स्वीकार करके व्याख्या की गयी है तथापि उन व्याख्याओं में **आख्यातार्थविवक्षायां** इसका अर्थ यही किया गया है कि 'आख्यातार्थ कर्मत्व की विवक्षा में अर्थात् आख्यातार्थ कर्मत्व विशेष्यता विवक्षित हो तो, किंतु इस अर्थ में एक समस्या है वह यह कि कर्मत्व मूलतः आख्यातार्थ नहीं होता है आश्रयत्व मात्र आख्यातार्थ होता है जो कि धात्वर्थ व्यापारजन्यफल के साथ अन्वित होता है। खींच-तान करके ग्रन्थ की व्याख्या तो की जा सकती है क्योंकि यही कर्मत्व है । यदि **आख्यातार्थाविवक्षायां** यह पाठ हो तो इसमें प्रसङ्ग सङ्गति भी है और ग्रन्थकार का स्पष्ट आशय भी दिखायी पड़ रहा है। क्योंकि पूर्व में कहा कि आख्यातार्थ की विवक्षा होने पर तृतीया के साधु होने पर भी परस्मैपद के असाधु होने के कारण '**चैत्रेण पचति**' ऐसा प्रयोग नहीं होता है। इस पर प्रश्न उठ सकता है कि फिर '**चैत्रेण पचते**' इस आत्मनेपद प्रयोग को साधु होना चाहिए क्योंकि आख्यातार्थ कृति की विवक्षा न होने पर **चैत्रेण** यह तृतीया प्रयोग तो साधु है ही, साथ ही आत्मनेपद का प्रयोग भी साधु ही है क्योंकि '**भाव कर्मणोः**' सूत्र के द्वारा आख्यात के द्वारा धात्वर्थ विशेष्य (कृति) की विवक्षा न होने पर आत्मनेपद का विधान प्राप्त होता है। इस पर ग्रन्थकार समाधान देते हैं कि यदि कर्तृत्वतात्पर्यक

सार्वधातुक का योग हो तभी शब् विकरण होता है और यहाँ पर आख्यात के द्वारा धात्वर्थविशेष्यकृति की विवक्षा न होने के कारण कर्तृत्वतात्पर्यक सार्वधातुक का योग नहीं है, इसलिए शब् विकरण असाधु है। इस प्रकार ग्रन्थकार का तात्पर्य ज्यादा सङ्गत प्रतीत होता है। **आख्यातार्थविवक्षायां** पाठ स्वीकारने वाले भी इसका अर्थ 'आख्यातार्थ कृति की विवक्षा में' नहीं करते हैं बल्कि 'आख्यातार्थ कर्मत्व की विवक्षा में' यही अर्थ करते हैं।

**कर्तृत्वकर्मत्वोभयतात्पर्येण 'मैत्रः पक्ष्यते तण्डुलः' इत्यादयस्तु न प्रयोगाः तदेकतरबोधेऽन्यतरपरत्वेनागृह्यमाणाख्यातधर्मिकप्रकृतान्वयबोधपरत्व ज्ञानस्य हेतुत्वात् । 'चैत्रेण पक्ष्यते तण्डुलः' इत्यादौ कर्तृत्वादावाख्यातस्य तात्पर्यग्रहे कर्मत्वाद्यन्वयबोधोऽपि न भवत्येव ।**

कर्तृत्व कर्मत्व दोनों के तात्पर्य से '**मैत्रः पक्ष्यते तण्डुलः**' इत्यादि प्रयोग तो नहीं होते हैं क्योंकि कर्तृत्व और कर्मत्व दोनों में से एक के बोध में अन्यपरत्वेन अगृह्यमाण आख्यातधर्मिक प्रकृतान्वयबोधपरत्वज्ञान कारण होता है। '**चैत्रेण पक्ष्यते तण्डुलः**' यहाँ पर कर्तृत्वादि में आख्यात का तात्पर्यग्रह होने पर कर्तृत्वादि का अन्वयबोध भी नहीं होता है।

यहाँ पर यह प्रश्न हो सकता है कि कर्तृत्व, कर्मत्व उभय के तात्पर्य से '**मैत्रः पक्ष्यते तण्डुलः**' ऐसा प्रयोग क्यों नहीं होता है? इस प्रयोग का साधुत्व होना चाहिए क्योंकि कर्तृत्व, कर्मत्व उभय तात्पर्य से ऐसा प्रयोग होने पर कर्तृविशेष्यक शाब्दबोधविषयक तात्पर्यशून्यत्व भी नहीं है, अतः कर्तृवाचक चैत्रपद से तृतीया न होकर प्रथमा होना साधु है। साथ ही कर्तृत्वविशेष्यक शाब्दबोधविषयकतात्पर्यशून्यत्व भी नहीं है अतः कर्मवाचक तण्डुलपद से द्वितीया न होकर प्रथमा होना साधु ही है। फिर ऐसा प्रयोग व उसका साधुत्व क्यों नहीं होता है?

इसी प्रश्न का उत्तर देते हुए ग्रन्थकार ने उपर्युक्त ग्रन्थ के द्वारा कहा है कि कर्तृत्व कर्मत्व उभय तात्पर्य से '**मैत्रः पक्ष्यते तण्डुलः**' इस प्रकार के प्रयोग इस कारण नहीं होते हैं क्योंकि कर्तृकर्मविशेष्यक बोध में एकतर बोध में अन्यतरपरत्वेन अगृह्यमाण आख्यातधर्मिक प्रकृतान्वयबोधपरत्वज्ञान कारण हुआ करता है। अर्थात् कर्तृविशेष्यक बोध के प्रति कर्मविशेष्यक-बोधपरत्वेन अगृह्यमाण जो आख्यात तद् विशेष्यक कर्तृ विशेष्यक बोधपरत्वज्ञान कारण होता है। विपरीत में भी कर्मविशेष्यक बोध में भी इसी तरह कर्तृविशेष्यक बोधपरत्वेन अगृह्यमाण जो आख्यात तद्विशेष्यक कर्मविशेष्यकबोधपरत्वज्ञान कारण होता है। इसलिए उभयपरत्वज्ञान होने पर न तो कर्तृविशेष्यक बोध की सामग्री है और न तो कर्मविशेष्यक बोध सामग्री है। इसलिए उभयपरत्वज्ञान होने पर उक्त वाक्य शाब्दबोध का जनक न होने के कारण निरर्थक हो जाता है। इसीलिए ऐसा प्रयोग नहीं होता और इस तरह के प्रयोग का साधुत्व नहीं होता है।

'**चैत्रेण पक्ष्यते तण्डुलः**' इत्यादि स्थल में इसीलिए यदि कर्तृत्व में आख्यात का तात्पर्य गृहीत हो जाये तो कर्तृत्वाद्यन्वयबोध नहीं ही होता है। क्योंकि एक विशेष्यक बोधपरत्वज्ञान अपरविशेष्यकबोध का प्रतिबन्धक हुआ करता है। यहाँ पर कर्तृविशेष्यक बोधपरत्वज्ञान से कर्मविशेष्यकबोध का प्रतिबन्ध हो जाया करता है। और इस प्रयोग का असाधुत्व भी होता है। कर्तृविशेष्यकबोधपरत्वज्ञान होने से कर्तृवाचक पद से तृतीया न होकर प्रथमा होना चाहिए जबकि ऐसा है नहीं । इसलिए जहाँ पर कर्तृविशेष्यकबोध

परत्वज्ञान होता है, वहाँ पर कर्ता से प्रथमा होती है और जहाँ कर्म विशेष्यक बोध परत्वज्ञान होता है वहाँ पर कर्म से प्रथमा होती है।

इस प्रकार यही सिद्धान्तित हुआ कि कर्तृत्व और कर्मत्व का लकार, कृत्, तद्धित और समास के द्वारा अनभिधान ही क्रमशः कर्तृकर्म वाचकपदों से तृतीया द्वितीया का प्रयोजक है। और तदनभिधान तत्तात्पर्यशून्यत्वरूप है। इसमें अब अग्रिम ग्रन्थ के द्वारा एक समस्या उपस्थित कर रहे हैं कि—

**अथ 'पक्वानि भुङ्क्ते चैत्रः' 'ओदनः पक्त्वा भुज्यते' इत्यादौ कृता क्रमेण कर्तृत्वकर्मत्वानभिधानात् चैत्रपदौदनपदाद्युत्तरं तृतीयाद्वितीये कथं न स्याताम् ?**

अच्छा भाई, यह बताओ कि **'पक्वानि भुङ्क्ते चैत्रः' 'औदनः पक्त्वा भुङ्क्ते'** इत्यादि स्थलों में कृत् के द्वारा क्रमशः कर्तृत्व और कर्मत्व का अभिधान न होने के कारण चैत्र पद और ओदन पद के बाद तृतीया और द्वितीया क्यों नहीं होती है?

प्रश्न का आशय यह है कि आपने अभी यही बताया कि यदि कर्तृत्व का लकार , कृत् , तद्धित व समास से अभिधान नहीं हो रहा हो तो कर्तृबोधक पद से तृतीया होती है। यदि कर्मत्व का लकारादि से अभिधान न हो रहा हो तो कर्मबोधकपद से द्वितीया होती है। **'पक्वानि भुङ्क्ते चैत्रः'** यहाँ पर **'निष्ठा पा॰सू॰3/2/102'** के द्वारा क्त प्रत्यय पच् धातु से हुआ है वह क्त प्रत्यय कर्म में हुआ है। इसलिए क्त रूप कृत् के द्वारा कर्तृत्व का अभिधान नहीं हो रहा है इसलिए कर्तृबोधक चैत्रपद से तृतीया होनी चाहिए । इसी प्रकार **'ओदनः पक्त्वा भुज्यते'** यहाँ पर क्त्वा प्रत्यय जो कि कर्ता अर्थ में हुआ है। इसलिए क्त्वा के द्वारा (कृत् के द्वारा) कर्मभूत ओदन के कर्मत्व का अभिधान नहीं हो रहा है। अतः ओदन से द्वितीया होनी चाहिए । इस प्रकार चैत्र और ओदन पद से तृतीया और द्वितीया क्यों नहीं होती है?

**न च कृताऽनभिधानेप्याख्यातेन तदभिधानान्नानभिहितत्वम् समभिव्याहृतपदाभिहितत्वसामान्याभावस्यैवानभिहितपदेन विवक्षणात् । समभिव्याहृतेतिकरणाच्च 'चैत्रेण गम्यते ग्रामस्तं मैत्रो गच्छति' इत्यादौ न तृतीयाद्वितीययोरनुपपत्तिः—'गच्छति 'गम्यते' इत्याख्यातस्य तत्तत्पदासमभिव्याहृतत्वादितिवाच्यम् , तथा सति 'भुञ्जानेन चैत्रेण पच्यते' 'भोक्तव्यमोदनं पचति' इत्यादौ तृतीयाद्वितीययोरनुपपत्तिः कृता कर्तृत्वकर्मत्वयोरनभिधानात् ।**

यदि कहो कि कृत् के द्वारा उसका अनभिधान न होने पर भी आख्यात के द्वारा उसका अभिधान होने के कारण उसका अनभिहितत्व नहीं है अर्थात् **'पक्वानि भुङ्क्ते चैत्रः' 'ओदनः पक्त्वा भुज्यते'** इत्यादि स्थलों में यद्यपि चैत्र और ओदन के कर्तृत्व कर्मत्व का अभिधान क्रमशः क्त और क्त्वा कृत् प्रत्ययों के द्वारा नहीं हो रहा है तथापि आख्यात के द्वारा उनका कर्तृत्व और कर्मत्व का अभिधान हो ही रहा है। इसलिए उनका अनभिहितत्व नहीं है। यहाँ पर समभिव्याहृतपदाभिहितत्वसामान्याभाव के ही अनभिहित पद से विवक्षित होने के कारण । (चूँकि समभिव्याहृतपदाभिहितत्वसामान्याभाव ही अनभिहित पद से विवक्षित है और यहाँ पर कृत् के द्वारा अभिधान न होने पर भी समभिव्याहृत आख्यातपदाभिहितत्व तो है ही । इस तरह तादृश अभिहितत्व सामान्याभाव कर्तृत्व, कर्मत्व में नहीं है। अतः

तृतीया और द्वितीया की क्रमशः चैत्र व ओदन पद से प्राप्ति नहीं होती है) समभिव्याहृतपद से अभिहितत्व का अभाव ग्रहण करने के कारण '**चैत्रेण गम्यते ग्रामस्तं मैत्रो गच्छति**' इत्यादि स्थलों में तृतीया और द्वितीया की अनुपपत्ति नहीं है। यहाँ पर यद्यपि **गच्छति** इस पदघटक आख्यात से कर्तृत्व अभिहित हो रहा है और **गम्यते** के द्वारा ग्राम का कर्मत्व अभिहित हो रहा है, फिर भी कर्तृबोधक चैत्रपद से तृतीया और कर्मबोधक तत् पद से द्वितीया हो जाती है क्योंकि **गच्छति** पद चैत्र से समभिव्याहृत नहीं है और **गम्यते** पद ग्रामवाचक तत् पद से समभिव्याहृत नहीं है। समभिव्याहृतपदाभिहितत्व तो कर्तृत्व और कर्मत्व को नहीं है, अतः कर्तृवाचक व कर्मवाचक चैत्र, तत् पद से तृतीया व द्वितीया सम्भव है।

तो ऐसा नहीं कहना चाहिए अर्थात् **समभिव्याहृतपदाभिहितत्वसामान्याभाव अनभिहितपद से विवक्षित है** ऐसा नहीं कहना चाहिए । क्योंकि यदि ऐसा कहोगे तो '**भुञ्जानेन चैत्रेण पच्यते**' '**भोक्तव्यमोदनं पचति**' इत्यादि स्थलों में कृत् के द्वारा कर्तृत्व कर्मत्व का अनभिधान न होने से तृतीया, द्वितीया का अनुपपत्ति होगी । आशय यह है कि '**भुञ्जानेन चैत्रेण पच्यते**' में आख्यात से कर्तृत्व का अभिधान नहीं हो रहा है इसलिए कर्तृबोधक चैत्र पद से तृतीया होती है, किन्तु **भुञ्जानेन** में घटकीभूत शानच् प्रत्यय (कृत् ) के द्वारा कर्तृत्व का ही अभिधान हो रहा है। अतः समभिव्याहृतपद से अभिहितत्व का सामान्याभाव कर्तृत्व में नहीं है। कर्तृवाचक चैत्रपद से तृतीया नहीं होनी चाहिए । इसी प्रकार '**भोक्तव्यमोदनं पचति**' में **पचति** घटक आख्यात के द्वारा ओदन की कर्मता का अभिधान नहीं हो रहा है। इसलिए ओदन पद से द्वितीया होती है। किन्तु '**भोक्तव्यम्** ' में घटकीभूत तव्यत् प्रत्यय (कृत् ) के द्वारा कर्मत्व का अभिधान होने के कारण ओदन निष्ठकर्मत्व में समभिव्याहृतपदाभिहितत्वसामान्याभाव नहीं है। अतः कर्मवाचक ओदन पद के द्वारा द्वितीया की अनुपपत्ति है।

**कृता तत्र भोजनकर्तृत्वयोरभिधानेऽपि पाककर्तृत्वं तत् कर्मत्वञ्चान-भिहितमेवेति चेत् ? तर्हि प्रकृतेऽपि तदनभिहितमेव ।**

यदि कहो कि कृत् के द्वारा वहाँ पर भोजनकर्तृत्व व भोजनकर्मत्व का अभिधान करने पर भी पाककर्तृत्व और पाककर्मत्व तो अनभिहित ही है, तो ऐसे तो प्रकृत स्थल में भी ( '**पक्वानि भुङ्क्ते चैत्रः**' '**ओदनः पक्त्वा भुज्यते**' इस स्थल में भी ) वह अनभिहित ही है। अभिप्राय यह है कि '**भुञ्जानेन चैत्रेण पच्यते**' '**भोक्तव्यमोदनं पचति**' यहाँ पर चैत्र और ओदन में क्रमशः दो कर्तृत्व और दो कर्मत्व है। चैत्र में एक तो भोजन कर्तृत्व है, दूसरा पाक कर्तृत्व है। ओदन में एक तो भोजनकर्मता है और दूसरी पाककर्मता है। शानच् के द्वारा भोजनकर्तृत्व के अभिहित हो जाने पर भी पाककर्तृत्व के अनभिहित होने के कारण (पाककर्तृत्व तो न तो कृत् से और न तो आख्यात से यहाँ पर अभिहित होता है) पाककर्तृ बोधक चैत्रपद से तृतीया हो जायेगी। इसी प्रकार द्वितीय वाक्य में तव्यत् के द्वारा भोजनकर्मता का अभिधान होने पर भी पाककर्मता का अभिधान न होने के कारण पाककर्मवाचक ओदनपद से द्वितीया हो जायेगी। यदि ऐसा कहो तो '**पक्वानि भुङ्क्ते चैत्रः**' में भी चैत्र में दो कर्तृत्व हैं एक पाककर्तृत्व, दूसरा भोजनकर्तृत्व। भोजनकर्तृत्व का **भुङ्क्ते** घटक आख्यात से अभिधान होने पर भी **पक्वानि** घटक क्त प्रत्यय कृत् से पाककर्तृत्व का अभिधान न होने के कारण पाककर्तृवाचक चैत्रपद से तृतीया होनी चाहिए।

इसी प्रकार '**ओदनः पक्त्वा भुज्यते**' में ओदन में दो कर्मताएँ है एक पाक कर्मता दूसरी भोजन कर्मता। भोजन कर्मता का **भुज्यते** घटक आख्यात से अभिधान होने पर भी **पक्त्वा** घटक क्त्वा प्रत्यय (कृत् ) से पाककर्मता का अभिधान न होने के कारण पाककर्मवाचक ओदन पद से द्वितीया होनी चाहिए ।

**न च प्रधानक्रियानिरूपितकर्तृत्वाद्यनभिधाने तृतीयादेः साधुतेति तदुक्तम् –"प्रधानशक्त्यभिधाने गुणशक्तिरभिहितवत् प्रकाशते" इति शक्तिः-कर्तृत्वादिकमिति वाच्यम् , तथापि 'चैत्रेण दृश्यमानं घटं मैत्रः पश्यति' इत्यादौ ज्ञानभेदेन विषयताभेदाभावात् चैत्रदर्शनमैत्रदर्शनोभयनिरूपित-विषयत्वरूपकर्मतायाः कृताऽभिधानाद् द्वितीयानुपपत्तिः,**

यदि कहो कि प्रधानक्रियानिरूपित कर्तृत्वादि का अभिधान होने पर तृतीयादि की साधुता होती है। कहा भी गया है कि 'प्रधानशक्ति का अभिधान हो जाने पर गुणशक्ति (अनभिहित होते हुए भी) अभिहित की तरह प्रकाशित होती है' शक्ति कर्तृत्वादि ही हैं। अभिप्राय यह है कि यदि प्रधानक्रियानिरूपित कर्तृत्वादि अभिहित नहीं होते है तभी कर्तृ कर्मवाचक पदों से तृतीया, द्वितीया होती है। यदि प्रधानक्रियानिरूपित कर्तृत्वादि का अभिधान हो जाता है तो कर्तृकर्मवाचकपदों से प्रथमा ही होती है। '**भुञ्जानेन चैत्रेण पच्यते**' यहाँ पर चैत्र में पाककर्तृत्व प्रधान है क्योंकि पाकक्रिया प्रधान है, उस पाककर्तृत्व रूप प्रधान शक्ति का आख्यात, कृत् आदि से अभिधान न होने के कारण गौणशक्ति भोजनकर्तृत्व का अभिधान होने पर भी कर्तृवाचक चैत्र से तृतीया होती है। इसी प्रकार '**भोक्तव्यमोदनं पचति**' में ओदन में विद्यमान प्रधानशक्ति पाककर्मत्व का अभिधान न होने के कारण कृत् से भोजनकर्मत्व (गुण शक्ति) का अभिधान होने पर भी ओदनपद से द्वितीया ही होती है। '**पक्वानि भुङ्क्ते चैत्रः**' में चैत्र में विद्यमान प्रधानशक्ति भोजनकर्तृत्व का आख्यात से अभिधान हो जाने के कारण गुणशक्ति पाककर्तृत्व का अभिधान न होने पर भी चैत्रपद से प्रथमा होती है। '**ओदनः पक्त्वा भुज्यते**' में ओदन में विद्यमान प्रधान शक्ति भोजनकर्मता का आख्यात से अभिधान हो जाने के कारण गुणशक्ति पाककर्मता का अभिधान न होने पर भी ओदनपद से प्रथमा हो जाती है।

तो ऐसा नहीं कहना चाहिए । क्योंकि ऐसा कहने पर '**चैत्रेण दृश्यमानं घटं मैत्रः पश्यति**' इत्यादि स्थलों में ज्ञान भेद से विषयता का भेद न होने के कारण चैत्रदर्शन मैत्रदर्शन उभयनिरूपित विषयत्वरूपकर्मता का कृत् से अभिधान होने के कारण द्वितीया की अनुपपत्ति है। आशय यह है कि इस तरह कहने पर भी दोषों का दूरीकरण सम्भव नहीं है। क्योंकि नैयायिकों का सिद्धान्त है कि ज्ञान की कर्मता ज्ञानविषयता ही है। इसके साथ-साथ दूसरा सिद्धान्त भी है कि ज्ञानभेद से विषयता भिन्न-भिन्न नहीं होती है। '**चैत्रेण दृश्यमानं घटं मैत्रः पश्यति**' यहाँ पर घट में मैत्रदर्शनकर्मता भी है और चैत्रदर्शन कर्मता भी है। किन्तु इन दोनों कर्मताओं में भेद नहीं है बल्कि दोनों एक ही हैं। क्योंकि ज्ञान (दर्शन) भेद से कर्मता भिन्न-भिन्न नहीं होगी। घट में विद्यमान जो कर्मता है उसका **दृश्यमानं** पद घटक कृत् से अभिधान हो गया है। इस तरह प्रधानक्रियानिरूपित कर्मत्व के यहाँ पर अभिहित होने के कारण अनभिहितत्व रूप द्वितीया का प्रयोजक नहीं है। इसलिए घट पद से द्वितीया नहीं होनी चाहिए ।

**इति चेत् ?**

**न, तत्तत्प्रतिपदिकार्थविशेषणत्वमात्रेण कर्तृत्वकर्मत्वाद्यविवक्षाया एव तदनभिधानपदार्थत्वात् , तत्तत् प्रातिपदिकार्थविशेष्यतया कर्मत्व-कर्तृत्वादिविवक्षायां द्वितीयादिविभक्तेः साधुत्वमित्यर्थे तात्पर्यस्य पर्यव-सितत्वात् । शेषमाख्यातार्थविचारावसरे विवेचयिष्यत इत्यलमत्राधिक्येन।**

यदि ऐसा कहो तो ऐसा नहीं है। अर्थात् सामान्यतया कर्तृत्वकर्मत्वादिविषयक शाब्दबोधविषयकतात्पर्यशून्यत्व नहीं है अपेक्षित जिससे पूर्वोक्त आपत्तियों का उत्थान हो किन्तु तत्तत् प्रतिपदिकार्थ विशेषण मात्र से कर्तृत्व कर्मत्वादि की अविवक्षा ही कर्तृत्वकर्मत्व के अनभिधान का अर्थ है। तत्तत् प्रतिपदिकार्थ विशेष्यतया कर्मत्व कर्तृत्वादिविवक्षा होने पर द्वितीयादि का साधुत्व होता है, इसी अर्थ में यहाँ पर तात्पर्य का पर्यवसान है। शेष आख्यातार्थ विचार के अवसर पर कहेंगे, इसलिए यहाँ पर और ज्यादा विवेचन करने की आवश्यकता नहीं है।

अभिप्राय यह है कि तत्तत् प्रतिपदिकार्थविशेषणत्वमात्र से (केवल तत्तत् प्रतिपदिकार्थ का विशेषण बनकर) कर्तृत्व और कर्मत्वादि की अविवक्षा ही कर्तृत्व और कर्मत्व का अनभिधानपदार्थ है। तत्तत् प्रातिपदिकार्थविशेष्यतया कर्तृत्वकर्मत्व की विवक्षा होने पर ही तृतीया, द्वितीया आदि का साधुत्व हुआ करता है। उदाहरण के लिए देखें—**'चैत्रेण तण्डुलः पच्यते'** यहाँ पर जो शाब्दबोध अपेक्षित और स्वीकृत है, वह है **'चैत्रनिष्ठकृतिजन्यव्यापारजन्यविक्लित्याश्रयस्तण्डुलः'** यहाँ पर कर्तृत्व की प्रतिपदिकार्थ चैत्र में विशेषणत्वमात्र से विवक्षा नहीं है बल्कि कर्तृत्व की चैत्र विशेष्यतया विवक्षा है। इस शाब्दबोध में कृति में चैत्र विशेषण बनकर (निष्ठत्व सम्बन्ध से विशेषण बनकर) भासित हुआ करता है। कर्तृत्व (कृति) विशेष्यतया चैत्र नहीं भासित होता है। इसलिए चैत्ररूप-प्रातिपदिकार्थ विशेषणत्व मात्र से कर्तृत्व (कृति) की विवक्षा न होने के कारण चैत्र पद से तृतीया होती है। कर्मत्व यहाँ पर फलाश्रयत्व (विक्लित्याश्रयत्व) है। फलाश्रयत्व की प्रातिपदिकार्थ तण्डुलविशेषणत्वमात्र से विवक्षा होने के कारण कर्मत्व का अभिधान ही हो रहा है, अतः तण्डुलपद से प्रथमा होती है। **'तण्डुलं पचति चैत्रः'** यहाँ पर **'तण्डुलनिष्ठ विक्लित्यनुकूलव्यापारानुकूलकृतिमांश्चैत्रः'** इस प्रकार का शाब्दबोध हुआ करता है। इसमें विक्लिति ही कर्मता है वह प्रातिपदिकार्थ विशेषणत्वेन विवक्षित नहीं है बल्कि प्रतिपदिकार्थ विशेष्यतया विवक्षित है। शाब्दबोध में विक्लिति में तण्डुल विशेषण बनता है विक्लिति विशेष्य बनती है। प्रातिपदिकार्थ विशेषणत्वमात्र से कर्मत्व की अविवक्षा रूप कर्मत्वानभिधान है। अतः तण्डुल पद से द्वितीया होती है। चूँकि चैत्रमात्रविशेषणतया कृति की विवक्षा है। इस शाब्दबोध में कृतिमात्र चैत्र में विशेषण है बाकी सभी में वह विशेष्यभूत है। इस कारण प्रातिपदिकार्थविशेषणत्वमात्र से कर्तृत्व की विवक्षा ही है, अविवक्षा रूप तृतीया प्रयोजक नहीं। अतः चैत्र पद से प्रथमा होती है। इसी प्रकार **'भुञ्जानेन चैत्रेण पच्यते'** **'चैत्रेण दृश्यमानं घटं मैत्रः पश्यति'** इत्यादि स्थलों में चैत्रकृति की प्रातिपदिकार्थ विशेषणत्वमात्र से विवक्षा न होकर प्रातिपदिकार्थविशेष्यतया विवक्षा होने से तृतीया होती है। यहाँ पर शाब्दबोध में भी चैत्रनिष्ठ कृति करके कृति को विशेष्य बनाकर ही बोध होता

है। '**भोक्तव्यमोदनं पचति**' इत्यादि में 'ओदनवृत्तिविक्लित्यनुकूल' करके शाब्दबोध होता है, उसमें भी विक्लितिरूपा कर्मता ओदनरूप प्रातिपदिकार्थ की विशेष्य बनकर ही भासित होती है। इसलिए ओदन पद से द्वितीया होती है। इसी तरह अन्य स्थलों में भी समझ लेना चाहिए ।

**आख्यातद्विवचनबहुवचनयोस्तु संख्याबोधकत्वमावश्यकम् –'चैत्रो मैत्रश्च गच्छतः' 'चैत्रो मैत्रो देवदत्तश्च गच्छन्ति' इत्यादौ**

**'चन्द्रे कलङ्कः सुजने दरिद्रता विकाशलक्ष्मीः कमलेषु चञ्चला ।**
**मुखाप्रसादः सधनेषु सर्वदा यशो विधातुः कथयन्ति खण्डितम्[1]॥'**

**इत्यादौ च द्वित्वबहुत्वबोधकसुपोऽभावात् ।**

आख्यात द्विवचन और बहुवचन का तो संख्याबोधकत्व आवश्यक है क्योंकि '**चैत्रो मैत्रश्च गच्छतः**' '**चैत्रो मैत्रो देवदत्तश्च गच्छन्ति**' इत्यादि स्थलों में और '**चन्द्रे कलङ्कः''''' खण्डितम्**' इत्यादि स्थलों में द्वित्व और बहुत्व बोधक सुप् का अभाव है।

ग्रन्थकार ने पूर्वग्रन्थ से यह सिद्धान्तित कि आख्यातैकवचन का संख्याबोधकत्व नहीं है क्योंकि सुप् के एकवचन से ही एकत्व संख्या का बोध हो जायेगा । '**चैत्रेण दृष्टो घटः**' इत्यादि स्थलों के अनुरोध से जहाँ पर कि एकत्वबोधक आख्यातैकवचन नहीं है वहाँ पर सुबेकवचन द्वारा ही एकत्वसंख्या का बोध सम्भव है। तिबादि का संख्यानभिधायकत्व तो कर्तृकर्मवाचकपदों से तृतीया द्वितीया का नियामक तो है नहीं । इसलिए आख्यातैकवचन का संख्याबोधकत्व आवश्यक नहीं है। किन्तु आख्यात द्विवचन, बहुवचन का तो संख्या बोधकत्व आवश्यक है क्योंकि '**चैत्रो मैत्रश्च गच्छतः**'' '**चैत्रो मैत्रो देवदत्तश्च गच्छन्ति**' और '**चन्द्रे कलङ्कः............खण्डितम्** ' इत्यादि स्थलों में चैत्रमैत्र में द्वित्व का चैत्र मैत्र देवदत्त में बहुत्व का; कलङ्क, दरिद्रता, विकाशलक्ष्मी, मुखाप्रसाद में बहुत्व का अन्वयबोध हुआ करता है। किन्तु उक्त द्वित्व, बहुत्वादि का बोधक सुप् इन जगहों पर नहीं है। इसलिए आख्यात के द्वारा ही द्वित्व, बहुत्व का बोध स्वीकारना आवश्यक है।

**न च तत्र सुबेकवचनस्यैव द्वित्वबहुत्वादौ लक्षणास्त्विति वाच्यम् , आनुशासनिकातिरिक्तार्थसुब्विभक्तेर्लक्षणाया अनभ्युपगमात् , अन्यथा 'चैत्रो मैत्रश्च गच्छतः' इत्यादाविव च्छन्दसि लक्षणयैव स्वादिना द्वित्वादिबोधन सम्भवाद् औजसादिरूपादेशिस्मृतिद्वारा द्वित्वादिबोधनिर्वाहाय ''सुपां सुलुक'' इत्यादिसूत्रेण औजसादिस्थाने स्वाद्यादेशस्य वैयर्थ्यात् । चैत्रादिपदोत्तरैकवचन स्य द्वित्वादिलाक्षणिकत्वे तदप्रकृत्यर्थमैत्रादिसाधारणद्वित्वादिबोधस्योक्त व्युत्पत्तिविरोधेनानुपपत्तेश्च ।**

यदि कहो कि उक्त स्थलों में (**चैत्रो मैत्रश्च गच्छतः** इत्यादि स्थलों में) सुबेकवचन की ही द्वित्व, बहुत्व में लक्षणा कर ली जायेगी और इस प्रकार उसी सुबर्थ द्वित्व, बहुत्व

---

1. श्लोक का अर्थ यह है कि–चन्द्र में कलङ्क, सज्जनों में दरिद्रता, कमलों में चञ्चल विकाश लक्ष्मी, सधनों में हमेशा मुख की उदासी (मुख का अप्रसाद) विधाता के खण्डित यश को कहते हैं। यहाँ पर कथयन्ति पदघटक आख्यात से ही बहुवचन का बोधन सम्भव है। क्योंकि कहीं पर भी बहुत्वबोधक सुप् यहाँ पर विद्यमान नहीं है।

का शाब्दबोध में भान हो जायेगा और इस रीति से आख्यातैकवचन की तरह आख्यात द्विवचन, बहुवचन की भी निरर्थकता ही युक्तिसङ्गत है। तो ऐसा नहीं कहना चाहिए क्योंकि आनुशासनिक से अतिरिक्त अर्थ में सुब् विभक्ति की लक्षणा का अभ्युपगम नहीं किया जाता है। अर्थात् सुब् विभक्ति का सिर्फ आनुशासनिक अर्थ ही स्वीकार किया जाता है लाक्षणिक नहीं । क्योंकि यदि आनुशासनिक से अतिरिक्त अर्थ में सुब् विभक्ति की लक्षणा का स्वीकार किया गया होता तो जैसे '**चैत्रो मैत्रश्च गच्छतः**' में चैत्रपदोत्तर सुबेकवचन की द्वित्व बहुत्व में लक्षणा कर ले रहे हैं आप, उसी प्रकार छन्द में भी (वेद में भी) लक्षणा से ही सु आदि के द्वारा द्वित्व, बहुत्व का बोधन सम्भव होने के कारण औ जस् आदि रूप आदेशी (स्थानी) की स्मृतिद्वारा द्वित्व, बहुत्व के बोध का निर्वाह करने के लिए '**सुपां सुलुक् पूर्वसवर्णाच्छेयाडाड्याजालः पा०सू०7/1/39/**' सूत्र के द्वारा औ, जस् आदि के स्थान में सु आदि आदेशों का वैयर्थ्य ही है। इस आपत्ति का आशय यह है कि '**ऋजवः सन्तु पन्थाः**' इत्यादि वैदिक प्रयोगों में **पन्थाः** पद में सुबेकवचन (प्रथमैकवचन) सु का प्रयोग है। विशेषणवाचक **ऋजवः** शब्द बहुवचन में है। शाब्दबोध में पथिन् के बहुत्व का बोधन करने के लिए सूत्रकार ने इस सूत्र के द्वारा सुपों की जगह पर सु का विधान किया है। तथा इसके द्वारा यह द्योतित किया है कि यहाँ पर **पन्थाः** में पथिन् शब्द के बाद सु नहीं है बल्कि जस् विभक्ति है। उस जस् को सु आदेश होकर '**पन्थाः**' सिद्ध हुआ है। इसलिए जब इस वैदिक प्रयोग स्थल में व्यक्ति **पन्थाः** प्रयोग देखता है तो उसे स्मरण होता है कि अरे! यहाँ पर सुब् एकवचन का सु नहीं है बल्कि सुब् बहुवचन जस् है, जिसकी जगह पर सु आदेश होकर '**पन्थाः**' प्रयोग बना है। इस तरह यहाँ पर बहुत्व का बोधन सु के आदेशी (स्थानी =जिसकी जगह पर सु आदेश हुआ है उस जस् ) का स्मरण होकर ही होता है। यह बतलाने के लिए ही पाणिनि ने '**सुपां सुलुक.....**' इस सूत्र के द्वारा औ, जस् आदि के स्थान में सु आदेश का विधान किया है। जिस तरह आप '**चैत्रो मैत्रश्च गच्छतः**' इत्यादि स्थलों में चैत्रादिपदोत्तर सुबेकवचन की ही द्वित्व बहुत्व में लक्षणा स्वीकार कर रहे है, ऐसी लक्षणा स्वीकार्य होती तो '**ऋजवः सन्तु पन्थाः**' इत्यादि स्थलों में भी **पन्थाः** घटक सुबेकवचन की लक्षणा द्वारा ही बहुत्व का बोधन सम्भव होने के कारण उक्त सूत्र के माध्यम से सु द्वारा जस् रूप आदेशी की स्मृति द्वारा बहुत्व का बोध करने के लिए औ, जस् आदि के स्थान में सु आदेश का विधान व्यर्थ हो जायेगा । इस प्रकार यह सिद्ध है कि सुब् विभक्ति की आनुशासनिक से अतिरिक्त अर्थ में लक्षणा नहीं होती है। इस कारण सुबेकवचन की लक्षणा से द्वित्व, बहुत्व का बोधन सम्भव नहीं है।

इसके अलावा चैत्रादिपदोत्तर एकवचन के द्वारा लक्षणा से द्वित्वादिबोध स्वीकारने पर उस एकवचन सु की अप्रकृति जो मैत्रादि तत्साधारण द्वित्वादि बोध स्वीकार रहे हो, अतः व्युत्पत्तिविरोध से उसकी अनुपपत्ति है। आशय यह है कि '**प्रत्ययानां स्व प्रकृत्यर्थान्वितस्वार्थ -परत्वम्** ' प्रत्यय अपने प्रकृति के अर्थ से अन्वित स्वार्थ के ही बोधक होते है। ऐसी व्युत्पत्ति है। आप चैत्रपदोत्तर एकवचन की लक्षणा से द्वित्वादिबोध स्वीकार रहे हैं किन्तु उस द्वित्व का अन्वय आप केवल द्वित्व में तो करेंगे नहीं मैत्र में भी करेंगे (चैत्र मैत्र मिलकर

ही दो हो रहे हैं) मैत्र तो उस एकवचन का प्रकृत्यर्थ तो है नहीं । अतः व्युत्पत्तिविरोध होने के कारण ऐसी लक्षणा नहीं हो सकती है।

विमर्श :-यहाँ पर चैत्रमैत्रादिसकलपदोत्तर एकवचनों की द्वित्वादि में लक्षणा करने पर अनेक द्वित्व के बोध की आपत्ति भी है।

**आख्यातार्थसंख्यान्वयबोधे च समानविशेष्यकतदर्थभावनान्वयसामग्री अपेक्षिता भावनाया बाधादिग्रहकाले तात्पर्यादिग्रहशून्यकाले चोक्तस्थले द्वित्वान्वयाबोधात् , भावनाया अविशेष्ये धात्वर्थादौ संख्यान्वयाबोधाच्च तादृशसामग्र्याः संख्यान्वयबुद्धित्वावच्छिन्नं प्रति स्वातन्त्र्येण हेतुता । तद-कल्पनेऽपि आख्यातजन्यसंख्योपस्थितियोग्यताज्ञानविशेषादिघटितसामग्र्या भावनानवगाहिसंख्यान्वयबोधस्य कदाप्यजननात् , संख्यान्वयबोधसाधारण-भावनान्वयबोधत्वावच्छिन्नहेतूनामपि तादृशसामग्रीघटकत्वेनापत्त्यभावात्।**

आख्यातार्थ संख्या का अन्वय किसमें होता है? यह बतलाने के लिए ग्रन्थकार कह रहे हैं कि— आख्यातार्थ संख्या के अन्वयबोध में समानविशेष्यकाख्यातार्थ भावनान्वय सामग्री अपेक्षित होती है। चूँकि भावना का बाधग्रह होने के काल में और तात्पर्यादिग्रह न होने के काल में उक्त स्थल में (**चैत्रो मैत्रश्च गच्छति'** इत्यादि स्थलों में) द्वित्व का अन्वयबोध नहीं हुआ करता है; तथा भावना के अविशेष्यभूतधात्वर्थ में संख्या का अन्वय बोधित नहीं होता है। इसलिए तादृशसामग्री (समानविशेष्यक आख्यातार्थ भावनान्वय सामग्री) संख्यान्वयबुद्धि के प्रति स्वतन्त्र रूप से कारण होती है। अभिप्राय यह है कि यदि समानविशेष्यक आख्यातार्थ भावना के अन्वय की सामग्री आख्यातार्थ संख्या के अन्वयबोध में कारण नहीं होती तो भावना का बाधग्रह होने के काल में और भावना विषयकतात्पर्यग्रह न होने के काल में भी **'चैत्रो मैत्रश्च गच्छतः'** इत्यादि स्थलों में चैत्रादि में आख्यातार्थ संख्या का अन्वय होना चाहिए, किन्तु ऐसा होता नहीं है। इसलिए समानविशेष्यक आख्यातार्थभावनान्वयबोध की सामग्री आख्यातार्थसंख्यान्वयबोध में अपेक्षित होती है। निष्कर्ष रूप में कहना चाहिए कि—**यद्विशेष्यक आख्यातार्थ भावनान्वयबोध की सामग्री रहती है तद्विशेष्यक ही आख्यातार्थ संख्यान्वयबोध हुआ करता है।** तथा समानविशेष्यक आख्यातार्थभावनान्वयबोधसामग्री आख्यातार्थसंख्यान्वयबोध के प्रति कारण होती है।

यदि आख्यातार्थ संख्याप्रकारक शाब्दबोध के प्रति तादृश भावनाप्रकारकान्वयबोध सामग्री की हेतुता की कल्पना न की जाये, तब भी आख्यातजन्यसंख्योपस्थिति योग्यताज्ञानविशेषादि घटित सामग्री के भावनानवगाही होने पर भी (भावना को विषय न करने पर भी) संख्यान्वयबोध को कभी-भी उत्पन्न न करने के कारण संख्यान्वयबोधसाधारण भावनान्वयबोधत्वा-वच्छिन्न हेतुओं के भी तादृशसामग्री घटक होने के कारण तादृश सामग्री के द्वारा भावना को विषय न करने वाले केवल संख्याप्रकारक शाब्दबोध की आपत्ति नहीं है।

अभिप्राय यह है कि चूँकि संख्यान्वयबोध उस काल में नहीं होता है जबकि भावना का बाधग्रह हो या तात्पर्यग्रह न हो । साथ-ही-साथ भावना के अविशेष्य में संख्या का

अन्वय होकर शाब्दबोध नहीं होता है। इसलिए समानविशेष्यक भावनान्वयबोध सामग्री को संख्यान्वय बोध के प्रति स्वतन्त्र रूप से व्यापकसामग्रीविधया[1] कारण मानना चाहिए । यदि स्वतंत्ररूप से तादृशभावनान्वयबोधसामग्री की संख्यान्वयबोध के प्रति हेतुता न स्वीकार की जाये तब भी चूँकि संख्यान्वयबोध कभी-भी भावनानवगाही होता हुआ आख्यात-जन्यसंख्योपस्थिति, योग्यताज्ञानविशेषादिघटित सामग्री से उत्पन्न नहीं होता है बल्कि संख्यान्वयबोध भावनावगाही होता हुआ ही उत्पन्न होता है। इसलिए भावनान्वयबोध के जो कारण होते हैं वे संख्यान्वयबोध के भी कारण होते हैं, संख्यान्वयबोध सामग्री के अन्तर्गत होते हैं। ऐसा स्वीकारना चाहिए । इसी कारण संख्यान्वयबोध कभी भी भावनानवगाही नहीं होता है।

**न च तादृशकारणानां भावनान्वयबुद्धित्वं संख्यान्वयबुद्धित्वं वा जन्यतावच्छेदकमुपेयत इत्यत्र विनिगमनाविरहः, संख्यामविषयीकृत्यापि भावनान्वयबोधस्यानुभवसिद्धत्वात्, द्वितीयस्य जन्यतावच्छेदकत्वा सम्भवादिति दिक् ।**

यदि कहो कि तादृशकारणों का जन्यतावच्छेदक भावनान्वयबुद्धित्व है या संख्यान्वय बुद्धित्व इसमें कोई विनिगमना नहीं है। आशय यह है कि आपने यह कहा कि भावनान्वयबोध की सामग्री संख्यान्वयबोध के प्रति कारण मानी जाती है। किन्तु ऐसा ही क्यों न स्वीकार किया जाये कि भावनान्वयबोध के प्रति संख्यान्वयबोध सामग्री की कारणता होती है? इसमें कोई विनिगमना तो है नहीं । (इस पर विनिगमना दिखा रहे हैं कि) ऐसा नहीं कहना चाहिए क्योंकि संख्या को विषय न करते हुए भी भावनान्वयबोध अनुभवसिद्ध है (**'चैत्रेण सुप्यते'** इत्यादि भाववाच्यस्थल में भावनान्वयबोध होता है किन्तु उसमें आख्यातार्थ संख्या विषय नहीं होती है) किन्तु संख्यान्वयबोध हमेशा भावनावगाही ही होता है भावना को विषय न करने वाला नहीं होता है। इसलिए भावनाप्रकारक बोध ही व्यापक होता है, संख्यान्वयबोध नहीं । इसीलिए भावनाप्रकारकबोधसामग्री संख्यान्वयबोध में कारण होती है और अपेक्षित होती है। ऐसा कहा है । संख्यान्वयबोध तो व्याप्य बनता है, अतः संख्यान्वयबोधत्व जन्यता वच्छेदक नहीं बन सकता है। अर्थात् भावनान्वयबोध के प्रति संख्यान्वयबोधसामग्री की कारणता नहीं स्वीकारी जा सकती है।

**विमर्शः**-यहाँ पर गदाधर ने कहा कि **संख्यान्वयबोध कभी भी भावनानवगाही नहीं होता है।** किन्तु समस्या है कि **'त्रयः कालाः'** संख्यान्वयबोध तो है परन्तु भावना का अवगाही वह बोध नहीं है किसी भी क्रिया का यहाँ पर अध्याहार नहीं किया जा सकता है क्योंकि वर्तमानकालिक सत्ता, भूतकालिक सत्ता या भविष्यत्कालिक सत्ता का कालत्रय में बोधन सम्भव नहीं है।

यहाँ पर कुछ लोग **'ज्ञायन्ते'** क्रिया का अध्याहार करके वर्तमानकालिकज्ञानविषयताश्रयत्व का तीनों कालों में अन्वय हो जायेगा, ऐसा कहते हैं । इसलिए यहाँ पर भी संख्यान्वयबोध भावनानवगाही नहीं है।

---

1.-व्याप्यधर्मावच्छिन्न कार्य की उत्पत्ति में व्यापक धर्मावच्छिन्न कारण सामग्री की भी कारणता होती है। जैसे घटरूप कार्य की उत्पत्ति में द्रव्य के प्रति कारणीभूत सामग्री भी अपेक्षित होती है क्योंकि घट व्याप्य धर्मावच्छिन्न है और द्रव्य व्यापकधर्मावच्छिन्न है।

कुछ अन्य लोग कुछ-कुछ अन्य परिष्कारों के माध्यम से वर्तमानत्व को परिष्कृत करते हुए '**सन्ति**' क्रिया का अध्याहार कर सकते हैं। ऐसा कहते हैं। (लघुशब्देन्दुशेखर सदीपक पृ॰415) इस तरह भी उक्तबोध भावनावगाही हो जायेगा।

जयाटीकाकार जयदेव मिश्र का कहना है कि **सन्ति** का अध्याहार यहाँ पर भी कर सकते हैं क्योंकि लट् से उपात्त वर्तमानत्व यहाँ पर अविवक्षित है। प्रत्ययोपात्त वर्तमानत्व हर जगह पर विवक्षित नहीं होता है। इसीलिए '**ग्रामं गमिष्यति**' '**ग्राममगमत्**' इत्यादि स्थलों में ग्रामादि की कर्मता सिद्ध होती है। यदि हर जगह पर प्रत्ययोपात्त वर्तमानत्व विवक्षित ही हो तो ग्राम में ईप्सितमत्व न होने के कारण उसकी कर्मता नहीं सिद्ध हो सकती है। यहाँ पर ईप्सितपद में भूतकालिक क्तप्रत्यय न होकर '**मतिबुद्धिपूजार्थेभ्यश्च पा॰ सू॰3/2/188**' के द्वारा वर्तमान में क्त प्रत्यय हुआ है। किन्तु ग्राम में उक्त भविष्य, भूत कालिक प्रयोगों में तो ईप्सिततमत्व वर्तमान है नहीं । इस कारण उसकी कर्मता नहीं सिद्ध हो सकती है। वर्तमानत्व की विवक्षा व अविवक्षा में ज्ञापक है '**भूते पा॰सू॰3/2/84**' के अधिकार में '**कर्मणि हनः पा॰सू॰3/2/86**' का पाठ । क्योंकि यदि वर्तमानत्व हर जगह विवक्षित होता है तो भूतकाल में कर्म संज्ञा नहीं हो पायेगी और यह '**कर्मणि हनः**' सूत्र व्यर्थ हो जायेगा । इसलिए यह ज्ञात होता है कि वर्तमान कहीं पर अविवक्षित भी होता है। इस तरह यहाँ पर कोई दोष नहीं है क्योंकि संख्यान्वयबुद्धि भावनावगाही भी हो रही है। इसीलिए '**मौद्गश्चरुर्भवति**' में केवल वर्तमानकालिक नहीं बल्कि सार्वकालिकयागीय चरुनियम होता है।

वस्तुतः यहाँ पर गदाधर ने यह कहा है कि **आख्यातार्थसंख्यान्वयबोध कभी भी भावनानवगाही नहीं होता है।** उक्त '**त्रयः कालाः**' इस स्थल में जो संख्यान्वयबोध होता है वह आख्यातार्थ संख्यान्वयबोध नहीं है बल्कि प्रातिपदिकार्थ संख्यान्वयबोध है। इसलिए यदि वह भावनानवगाही भी होता है तब भी गदाधर के कथन का व्यभिचार नहीं है क्योंकि आख्यातार्थ संख्यान्वयबोध में भावनानवगाहित्व फिर भी नहीं आ रहा है।

**अथ गुणादिवाचकपदोत्तरद्विवचनयोः कथं द्वित्वबहुत्वबोधकता संख्यायाः गुणत्वेन गुणादौ बाधात् ।**

किन्तु फिर भी एक समस्या है वह यह कि गुणादिवाचक (रूप, रसादि) पदोत्तर द्विवचन बहुवचन की द्वित्व और बहुत्वबोधकता कैसे होगी ? संख्या के गुण होने के कारम न्यायमत के अनुसार उसका गुण में बाध होने के कारण।

**न च तत्र स्वाश्रयसमवेतत्वसम्बन्धेन द्रव्यगतं द्वित्वादिकमेवभासते इति वाच्यम् , एकव्यक्तावपि तादृशसम्बन्धेन द्वित्वादेः परिसमाप्ततया एकमात्रतात्पर्येणापि द्विवचनाद्यापत्तिः ।**

यदि कहो कि गुण में समवाय सम्बन्ध से गुण के न रहने पर भी स्वाश्रयसमवेतत्व (समानाधिकरण्यरूप) सम्बन्ध से द्रव्यगत द्वित्व ही गुणादि में भासित होता है। अर्थात् समवाय सम्बन्ध से गुण में संख्या नहीं रह सकती है किन्तु स्वाश्रयसमवेतत्व सम्बन्ध से रह सकती है। उसी सम्बन्ध से अन्वय हो जायेगा जैसे कि—'**रूपे**' कहने पर स्व द्रित्व का आश्रय द्रव्य हुआ उसमें समवेत रूप है। इस प्रकार स्वाश्रयसमवेतत्व सम्बन्ध से रूप

में द्वित्व का अन्वय हो जायेगा । इस प्रकार वस्तुतः द्वित्व के द्रव्य में ही रहने पर भी रूप में उसका अवभास हो सकता है। तो ऐसा नहीं कहना चाहिए क्योंकि ऐसे सम्बन्ध में ही रहने पर भी रूप में उसका अवभास हो सकता है। तो ऐसा नहीं कहना चाहिए क्योंकि ऐसे सम्बन्ध से एक व्यक्ति (एक गुणादिव्यक्ति) में भी द्वित्वादि के परिसमाप्त होने के कारण एकमात्र गुणव्यक्ति के तात्पर्य से भी द्विवचनादि की आपत्ति आयेगी । अभिप्राय यह है कि वहाँ पर ऐसे प्रयोग स्थल में हमेशा द्रव्य में द्वित्वादि नहीं होते हैं जैसे-'**घटे रूपे**' कहने पर घटरूप द्रव्य तो एक ही है इसलिए उक्त परम्परा सम्बन्ध से द्वित्व का रूप में अन्वय नहीं हो सकता है। दूसरी बात यह है कि जब द्वित्व का घट में साक्षात् अन्वय होता है तो रूपादि (गुण) का दो, बहुत होना तदुत्तर द्वित्व, बहुत्व के लिए अपेक्षित नहीं है। इसलिए एक रूप के तात्पर्य से भी '**रूपे**' ऐसा प्रयोग होना चाहिए ।

**इति चेत् ?**

**मैवम् , अपेक्षाबुद्धिविषयत्वमेव तदुत्तरद्विवचनादिना बोध्यते। तच्चैकमात्रवृत्तिधर्मस्य प्रकृत्यर्थतावच्छेदकत्वस्थले प्रकृत्यर्थतावच्छेदक-व्याप्यत्वविशिष्टपर्याप्तिसम्बन्धेन प्रकृत्यर्थेऽन्वेति। अन्यत्र तु शुद्धपर्याप्ति सम्बन्धेनेति न द्वन्द्वादिस्थलोक्तदोष इति विदुषां परामर्शः।**

**-इतिव्युत्पत्तिवादे प्रथमाकारकम् -**

तो ऐसा नहीं है। गुणादिवाचकपदोत्तर द्विवचनादि के द्वारा अपेक्षाबुद्धिविषयत्व ही बोधित होता है (द्वित्वगुण नहीं) अर्थात् अपेक्षाबुद्धिविशेषविषयत्वरूप ही द्वित्व उन स्थलों में बोधित होता है। और वह अपेक्षाबुद्धिविशेषविषयत्व रूप द्वित्व एकमात्रवृत्ति धर्म के प्रकृत्यर्थतावच्छेदकस्थल में ('**रूपे**' इत्यादि प्रयोग स्थल में) प्रकृत्यर्थतावच्छेदकव्याप्यत्वविशिष्ट पर्याप्ति सम्बन्ध से प्रकृत्यर्थ में अन्वित होता है। अर्थात् रूपत्वव्याप्यपर्याप्ति सम्बन्ध से रूप में वह अपेक्षाबुद्धिविशेषविषयत्व अन्वित होता है। जहाँ पर एकमात्रवृत्तिधर्म प्रकृत्यर्थतावच्छेदक नहीं होता है। जैसे कि '**रूपरसौ**' आदि में शुद्ध पर्याप्तिसम्बन्ध से अपेक्षाबुद्धिविशेषविषयत्व प्रकत्यर्थरूपरस में अन्वित होता है। इसलिए '**धवखदिरौ**' आदि द्वन्द्वस्थल में जिन दोषों को बतलाया गया था, उन दोषों की प्रसक्ति नहीं होती है। ऐसा विद्वानों का परामर्श है।

**इस प्रकार श्रीमद् गदाधरभट्टाचार्यविरचित व्युत्पत्तिवाद की श्री सच्चिदानन्दमिश्र रचित सुनन्दा व्याख्या में प्रथमाकारक समाप्त हुआ ।**

*

# अथ द्वितीया

**'कर्मणिः द्वितीया' इत्यनुशासनात् कर्मत्वं द्वितीयार्थः, तत्र कर्मपदस्य धर्मपरत्वात् सप्तम्या वाचकत्वार्थकत्वात् । कर्मणश्च न तथात्वम् –कर्मणि नामार्थस्य ग्रामादेरभेदान्वयसम्भवेऽपि धात्वर्थगमनादिना तदन्वयासम्भवात्, गौरवाच्च । कर्मत्वं च क्रियाजन्यफलशालित्वम्, तत्र च क्रिया धातुत एव लभ्यते, जन्यजनकभावस्य च विनैव पदार्थत्वं संसर्गमर्यादया भानं सम्भवतीति फलमात्रं कर्मप्रत्ययार्थः ।**

द्वितीया विभक्ति के अर्थ का निरूपण प्रारम्भ करते हुए गदाधर कहते हैं कि— '**कर्मणि द्वितीया**' इस अनुशासन से कर्मत्व द्वितीया का अर्थ है(यह ज्ञात होता है) आशय यह है कि यह अनुशासन पाणिनीयसूत्र ही इस बात में प्रमाण है कि द्वितीया का अर्थ कर्मत्व है। क्योंकि उक्त सूत्र में कर्मपद धर्मपरक है, अर्थात् कर्मपद का सूत्र में पाठ है परन्तु वह कर्मपद कर्म का वाचक नहीं है बल्कि कर्मवृत्तिधर्म कर्मत्व का वाचक है। सप्तमी (**कर्मणि**' में कर्मपदोत्तर विद्यमान सप्तमी) वाचकतार्थक है। अभिप्राय यह है कि अनेक स्थलों में सप्तमी वाचकतार्थक हुआ करती है जैसे कि अमरकोषीय वाक्य '**गुणे शुक्लादयः पुंसि**' में गुणपदोत्तर विद्यमान सप्तमी वाचकतार्थक होती है और इस प्रकार अर्थ निकलता है कि '**गुणवाचकाः शुक्लादयः पुंसि**' गुणवाचक शुक्लादि पद पुंल्लिङ्ग में प्रयुक्त होते हैं। उसी प्रकार यहाँ पर '**कर्मणि**' पदघटक सप्तमी वाचकतार्थक है और इस प्रकार (कर्म पद के कर्मत्वपरक होने के कारण) '**कर्मत्ववाचिका द्वितीया**' द्वितीया कर्मत्व की वाचिका होती है, यह अर्थ निष्पन्न होता है।

किन्तु यहाँ पर एक प्रश्न उपस्थित होता है वह यह कि सूत्रकार ने '**कर्मणि द्वितीया**' सूत्रपाठ किया है नकि '**कर्मत्वे द्वितीया**' इस प्रकार अर्थ तो वस्तुतः यही होना चाहिए कि '**कर्मवाचिका द्वितीया**' द्वितीया कर्म की वाचिका होती है। फिर आप कर्मपद को कर्मत्वपरक कैसे बतला रहे हैं? इसी प्रश्न का समाधान ग्रन्थकार '**कर्मणश्च न तथात्वम्**' इत्यादि ग्रन्थ से कर रहे हैं—

कर्म तो द्वितीया का अर्थ नहीं हो सकता है क्योंकि कर्म के साथ नामार्थ ग्रामादि का अभेदान्वयसम्भव होने पर भी धात्वर्थ गमनादि के साथ उसका अन्वय सम्भव नहीं है और ऐसा स्वीकारने में गौरव भी है। अभिप्राय यह है कि कर्म को द्वितीयार्थ मानने पर मुश्किल होगी। एक वाक्य लें–उदाहरण के तौर पर '**चैत्रः ग्रामं गच्छति**', यहाँ पर चैत्रपद से चैत्र की, धातु से गमन रूप व्यापार की व आख्यात से कृति व वर्तमान काल की, ग्रामपद से ग्राम की, चैत्रपदोत्तर सुप् (सु) विभक्ति से एकत्व संख्या की और ग्रामपदोत्तर अम् विभक्ति (द्वितीया) से कर्म की उपस्थिति हो गयी । इसमें ग्रामपदार्थ ग्राम और अम् पदार्थ कर्म का अभेदेन अन्वय हो जायेगा सम्भव है, किन्तु धात्वर्थ गमन के साथ उसका अन्वय सम्भव नहीं है। यहाँ पर जो शाब्दबोध होता है वह इस प्रकार होता है—'**ग्रामवृत्तिकर्मतानिरूपक ( ग्रामवृत्ति फलानुकूल ) व्यापारानुकूलवर्तमान कालिककृतिमान् एकत्ववाँश्चैत्रः**'

'ग्रामवृत्ति फलकारणीभूत व्यापारकरण जो वर्तमानकालिककृति तादृशकृतिवाला एकत्व वाला चैत्र है' यह बोध होता है। कर्म को द्वितीयार्थ मानोगे तो होगा ये कि शाब्दबोध इस तरह बनना शुरू होगा और बीच में ही अन्वय सम्भव न होने से अटक जायेगा । जैसे कि—**ग्रामाभिन्नकर्म.....**' आगे कर्म का अन्वय गमन रूप व्यापार से होना चाहिए जो कि सम्भव नहीं है। यदि कर्म का '**स्ववृत्तिफलजनकत्व**' सम्बन्ध से धात्वर्थ गमन में अन्वय करिए तो '**ग्रामाभिन्नकर्मवृत्तिफलजनकव्यापारनुकूल......**' आदि कर के अन्वय बोध सम्भव तो होगा किन्तु इस तरह गौरव तो अवश्य ही आपन्न होगा। इसलिए कर्मत्व को द्वितीयार्थ मानें तो अन्वय भी सम्भव है और गौरव भी नहीं है क्योंकि कर्मत्व तो फलरूप ही पड़ता है। ग्राम का वृत्तित्व सम्बन्ध से फल में और फल का अनुकूलत्व सम्बन्ध से व्यापार में अन्वय होगा तथा '**ग्रामवृत्तिफलानुकूलव्यापारानुकूलकृतिमाँश्चैत्रः**' यह शाब्दबोध सम्भव होगा।

कर्मत्व तो क्रियाजन्यफलशालित्व है (च शब्द तु के अर्थ में प्रयुक्त है) इस क्रियाजन्यफलशालित्व मे क्रिया धातु से ही लब्ध होती है। क्रिया और फल के जन्यजनकभाव का किसी पद का अर्थ न होते हुए भी संसर्गमर्यादा से भान सम्भव है, इस प्रकार सिर्फ फल ही कर्मप्रत्यय द्वितीया का अर्थ है। भाव यह है कि शाब्दबोध में क्रिया में फल का जनकत्व भासित होता है, यदि कर्तृवाच्य का वाक्य है जैसे कि ऊपर उदाहृत '**चैत्रः ग्रामं गच्छति**' वाक्य। यहाँ जनकत्व आकाङ्क्षाभास्य होता है। कर्मवाच्यस्थलीय वाक्य होने पर क्रियाजन्यत्व फल में भासता है। जैसे-'**चैत्रेण ग्रामो गम्यते**' यहाँ पर '**चैत्र समवेतकृतिजन्य-व्यपारजन्यफलशाली ग्रामः**' 'चैत्रसमवेत कृति से जन्य व्यापार से जन्य फल का आश्रय ग्राम है शाब्दबोध होता है। यहाँ पर फल में व्यापार जन्यत्व भासित होता है जो कि आकाङ्क्षा भास्य होता है। इस प्रकार द्वितीया का अर्थ फलमात्र है यह सिद्धान्तित हुआ ।

**न च संयोगविभागादिरूपफलमपि धातुलभ्यमेव —गमित्यजिप्रभृतीनां तदवच्छिन्नस्पन्दादिरूपव्यापारवाचकत्वादिति वाच्यम् , व्यापारमात्रस्य धात्वर्थत्वात् । फलविशेषान्वयबोधे च धातुविशेषजन्यव्यापारोपस्थितेर्हेतुतया 'ग्रामं त्यजति' इत्यादौ धात्वर्थस्पन्दे ग्रामनिष्ठविभागजनकत्वमेव 'ग्रामं गच्छति' इत्यादौ च धात्वर्थस्पन्दे ग्रामनिष्ठसंयोगजनकत्वमेव प्रतीयते न तु विपरीतम् ।**

यदि कहो कि संयोगविभागादिरूप फल भी धातुलभ्य ही होता है। (वैयाकरणों का सिद्धान्त है कि फल और व्यापार दोनों ही धातु के अर्थ हैं '**फलव्यापारयोर्धातुः वै०भू०सा०प्रभादर्पणसहित पृ०11**') क्योंकि गमि, त्यजि प्रभृति धातुएँ क्रमशः संयोगविभागावच्छिन्नस्पन्दरूप व्यापारवाचक होती है। पूर्वपक्षी कहना यह चाह रहा है कि फल को जो तुम (सिद्धान्ती) द्वितीया का अर्थ बता रहे हो और केवल व्यापार को धातु का अर्थ मान रहो हो वह सम्भव नहीं है। संयोग विभागादिरूप फल भी धातु से ही लभ्य होता है, धातु का ही अर्थ होता है। ('**चैत्रःग्रामं गच्छति**' में संयोग फल होता है और '**चैत्रः ग्रामं त्यजति**' में विभाग फल होता है) चूँकि गमि, त्यजि प्रभृति धातुओं का क्रमशः संयोगानुकूलव्यापार व विभागानुकूलव्यापार वाचकत्व है। इसलिए फल भी व्यापार के

साथ-साथ धातु का ही अर्थ होता है। यहाँ पर इस पूर्वपक्षी के कथन में यह बात छुपी है कि यदि केवल व्यापार ही धातु का अर्थ हो तो गम् धातु व त्यज् धातु का पर्यायवाचित्व प्रसक्त होता है क्योंकि गम् धातु का अर्थ भी स्पन्द रूप व्यापार ही है और त्यज् धातु का अर्थ भी स्पन्द व्यापार ही है। दोनों धातुओं के पदार्थभूत व्यापार में कोई विलक्षणता नहीं है, व्यापारजन्यफलों में ही विलक्षणता है। अतः धातु का अर्थ केवल व्यापार को न मानिए बल्कि फल को भी धात्वर्थ ही मानिए तभी धातुओं (गमि, त्यजि प्रभृति) के पर्यायवाचित्व की आपत्ति वारित हो सकेगी। दूसरी बात यह है कि यदि पर्यायवाचित्व धातुओं का स्वीकार कर लिया आपने धातु का अर्थ व्यापारमात्र मानते हुए, तो मुश्किल यह है कि **'चैत्रः ग्रामं गच्छति' 'चैत्रः ग्रामं त्यजति'** से एक जैसा शाब्दबोध होने की आपत्ति है क्योंकि वाक्य घटक धातुओं में ही फर्क है और समस्त पद तो एक जैसे ही हैं। धातुओं की भी आपने समानार्थकता स्वीकार कर ली । फिर एक जैसे शाब्दबोध की आपत्ति का निवारण आप क्यों कर कर सकेंगे ?

समाधान करते हैं कि— ऐसा नहीं कहना चाहिए क्योंकि व्यापार मात्र ही धात्वर्थ है। व्यापार मात्र के धात्वर्थ होने पर भी धातुजन्य व्यापारोपस्थिति के कारण होने के कारण **'ग्रामं त्यजति'** इत्यादि में धात्वर्थ स्पन्द में ग्रामनिष्ठ विभागजनकत्व ही और **'ग्रामं गच्छति'** इत्यादि स्थल में धात्वर्थ स्पन्द में ग्रामनिष्ठ संयोगजनकत्व ही प्रतीत होता है विपरीत नहीं ।

आशय यह है कि व्यापार मात्र के धात्वर्थ और फल मात्र के द्वितीयार्थ होने के बावजूद भी (फलविषयक शाब्दबोध के प्रति कर्मप्रत्यय के कारण होते हुए भी) फल विशेषविषयक–शाब्दबोध के प्रति धातुविशेषजन्यव्यापारोपस्थिति ही कारण हुआ करती है। इस प्रकार ग्रामनिष्ठविभागविषयक शाब्दबोध के प्रति त्यजधातुजन्य व्यापार (स्पन्द) की उपस्थिति ही कारण होती है। इसलिए **'ग्रामं त्यजति'** से धात्वर्थ स्पन्दरूप व्यापार में ग्रामनिष्ठविभागजनकत्व की ही प्रतीति होती है। ग्रामनिष्ठसंयोगविषयक शाब्दबोध के प्रति गम्धातुजन्य व्यापार (स्पन्द) की उपस्थिति ही कारण होती है। इसलिए **'ग्रामं गच्छति'** से धात्वर्थ स्पन्दरूपव्यापार में ग्रामनिष्ठसंयोगजनकत्व की ही प्रतीति होती है। इसके विपरीत नहीं, **'ग्रामं गच्छति'** से ग्रामनिष्ठविभागजनकत्व और **'ग्रामं त्यजति'** से ग्रामनिष्ठसंयोगजनकत्व की प्रतीति नहीं होती है।

**'ग्रामं गच्छति' इत्यादिवच्च 'ग्रामं स्पन्दते' इत्यादयो न प्रयोगाः– द्वितीयादेर्गम्याद्युपस्थापितस्पन्दादावेव फलान्वयबोधकत्वात्, स्पन्दि-प्रभृत्युपस्थापिते तस्मिन् द्वितीयादिना फलान्वयबोधजननासम्भवात्, न हि येन केनचिदुपस्थापितयोरेवार्थयोः परस्परमन्वयः प्रतीयते तथा सति घटकर्मत्वादिपदोपस्थापितयोरपि घटकर्मत्वाद्योः परस्परमन्वयबोधप्रसङ्गात्, कृञादिसमानार्थकयतधातूपस्थाप्यफले विषयितात्मकद्वितीयार्थान्वयसम्भवेन 'घटं करोति' इतिवत् 'घटं यतते' इत्यादिप्रयोगप्रसङ्गाच्च । अपितु ययोर्या-दृशान्वयबोधे आकाङ्क्षा तदुपस्थापितयोरेव तादृशान्वयबोधः। आकाङ्क्षा च द्वितीयादेर्गम्यादिना कृञादिना च कल्प्यते न तु तत्समानार्थकेनापि स्पन्दियतिप्रभृतिनेति।**

पूर्वग्रन्थ से जो सिद्धान्तित किया गया उसी को उदाहरणान्तर से स्पष्ट कर रहे हैं इस

ग्रन्थ के द्वारा । क्योंकि पूर्व में जो सिद्धान्तित किया कि फलविशेषान्वयबोध में (धातु विशेष के फल का वाचक न होने पर भी) धातुविशेषजन्यव्यापारोपस्थिति कारण होती है। उस पर प्रश्न हो सकता है कि यदि फल धात्वर्थ नहीं है तो फलान्वयबोध (फलविशेषान्वयबोध) के प्रति धातु विशेषजन्यव्यापारोपस्थिति क्यों कारण होगी ? इसी का समाधान इस ग्रन्थ से किया जा रहा है।

**ग्रामं गच्छति**' इत्यादि की तरह '**ग्रामं स्पन्दते**' इत्यादि प्रयोग नहीं होते हैं। (यद्यपि धात्वर्थ गम् और स्पन्द दोनों का ही अर्थ स्पन्द ही है) क्यों '**ग्रामं गच्छति**' की तरह '**ग्रामं स्पन्दते**' ऐसे प्रयोग नहीं होता है, तो उसका कारण यह है कि द्वितीयादि का गम् आदि धातुओं से उपस्थापित स्पन्दादि में ही फलान्वयबोधकत्व है, स्पन्दि आदि धातुओं से उपस्थापित स्पन्दादि में द्वितीयादि के द्वारा फलान्वयबोध का उत्पादन सम्भव नहीं है। इसीलिए '**ग्रामं गच्छति**' में जैसा ग्रामनिष्ठफलान्वयबोध होता है '**ग्रामं स्पन्दते**' से वैसा फलान्वयबोध सम्भव न होने के कारण यह प्रयोग नहीं होता है। इसका कारण यह है कि जिस किसी से भी उपस्थापित पदार्थों का परस्पर अन्वय नहीं प्रतीत होता है। (बल्कि **जिन पदों में जैसा अन्वयबोध उपपादित करने की आकाङ्क्षा होती है, उन्हीं दोनों पदों से उपस्थापित अर्थों का परस्पर अन्वय प्रतीत हुआ करता है।**) यदि ऐसा न हो और जिस किसी से भी उपस्थित अर्थों का परस्पर अन्वय प्रतीत होने लगे तो '**घटः कर्मत्वम्**' इन दोनों पदों से भी उपस्थापित घट और कर्मत्व (फल) रूप अर्थ का परस्पर अन्वय प्रतीत होना चाहिए तथा परस्पर अन्वयबोध होना चाहिए । (क्योंकि जैसे '**घटम्** ' से घट और कर्मत्वरूप अर्थ की उपस्थिति होती है, उसी प्रकार '**घटः कर्मत्वम्** ' से भी घट और कर्मत्वरूप अर्थ की उपस्थिति होती है। यदि जिस किसी पद से उपस्थापित अर्थों का परस्पर अन्वयबोध होता हो तो यहाँ पर भी परस्पर अन्वयबोध होना चाहिए।) इसी प्रकार जिस किसी पद से उपस्थापित अर्थों का परस्पर अन्वयबोध स्वीकार करने पर कृञादि समानार्थक यत धातु से उपस्थाप्य फल में विषयितात्मक द्वितीयार्थ का अन्वय सम्भव होने के कारण '**घटं करोति**' की तरह '**घटं यतते**' इत्यादि प्रयोगों का प्रसङ्ग है। अभिप्राय यह है कि यदि फल को धातु का ही अर्थ मान लेते हैं, तब भी '**घटं करोति**' की तरह '**घटं यतते**' ऐसे प्रयोग की आपत्ति है। इसका कारण यह है कि कृञ् धातु का समानार्थक धातु यत् धातु है। कृञ् दातु से उपस्थाप्य फल में जैसे द्वितीयार्थ विषयिता का अन्वय होते हुए '**घटनिष्ठ विषयतानिरूपक विषयिताश्रययत्नवान्** 'घट में रहने वाली विषयता को निरूपित करने वाली विषयिता का आश्रय जो यत्न उस यत्न वाला' ऐसा शाब्दबोध '**घटं करोति**' से होता है। इसी प्रकार का शाब्दबोध '**घटं यतते**' से भी सम्भव होने के कारण '**घटं यतते**' ऐसा प्रयोग होना चाहिए । जो व्यक्ति फलावच्छिन्नव्यापार में (फल और व्यापार दोनों में) धातु की शक्ति स्वीकार करता है, जिसके मत में फल भी धातु का ही अर्थ है, वह भी '**घटं यतते**' इस प्रयोग को साधु नहीं मान सकता है।

इसलिए यही स्वीकारना होगा कि '**जिस किसी भी पद से उपस्थापित अर्थों का परस्पर अन्वयबोध नहीं होता है बल्कि जिन पदों की जैसे बोध ( अन्वयबोध ) में आकाङ्क्षा होती है, उन्हीं पदों से उपस्थापित अर्थों का परस्पर वैसा अन्वयबोध होता है।** और द्वितीयादि की आकाङ्क्षा गमि आदि और कृञ् आदि धातुओं से ही कल्पित

की जाती है, न कि उसके समानार्थक भी स्पन्दि यति प्रभृति से आकाङ्क्षा कल्पित की जाती है। इसलिए उपर्युक्त बोधों की आपत्ति नहीं है।

निष्कर्ष यह है कि यदि फल को भी धात्वर्थ मानेंगे तब भी '**घटं करोति**' की तरह '**घटं यतते**' ऐसा प्रयोग न होने लगे, इसलिए यह नियम तो स्वीकारना ही होगा कि जिन पदों की जैसे बोध में आकाङ्क्षा होती है उन्हीं पदों से उपस्थापित अर्थों का परस्पर वैसा अन्वयबोध हुआ करता है। इसी नियम को मान लेने से ही '**ग्रामं गच्छति**' की तरह '**ग्रामं स्पन्दते**' इत्यादि प्रयोग वारित हो जाते हैं। इस तरह यदि व्यापारमात्र को ही धात्वर्थ मानें, फल को धात्वर्थ न मानें, तब भी कोई आपत्ति नहीं है। क्योंकि फलविशेषान्वयबोध में धातुविशेषजन्यव्यापारोपस्थिति को कारण माने बिना 'जिन पदों की जैसे बोध में आकाङ्क्षा होती है उन्हीं पदों से उपस्थापित अर्थों का परस्पर वैसा अन्वय बोध होता है' यह नियम नहीं माना जा सकता है। यह नियम मान लिया तो फलविशेषान्वयबोध के प्रति धातुविशेषजन्यव्यापारोपस्थिति की कारणता सिद्ध हो गयी ।

**न चाकाङ्क्षात्र समभिव्याहारः स च गम्यादिनेव स्पन्द्यादिनापि समान एवेति वाच्यम् , यतः —द्वितीयादेर्गम्यादिसमभिव्याहारस्यैव फलबलादन्वय-बोधौपयिकत्वमुपगम्यते न तु स्पन्दिप्रभृतिसमभिव्याहारस्येति न तस्या-काङ्क्षात्वम् अन्वयबोधौपयिकसमभिव्याहारस्यैव तथात्वात् । अत एव समानार्थकत्वेऽपि गम्यादेरिव न स्पन्द्यादेः सकर्मकत्वव्यवहारः—फलान्वित-व्यापारबोधकधातुत्वस्यैव तन्नियामकत्वात् ।**

यदि कहो कि आकाङ्क्षा का अर्थ तो यहाँ पर समभिव्याहार ही है, वह समभिव्याहार जिस प्रकार गमि आदि धातुओं के साथ (चैत्रादि का) उपपन्न होता है उसी प्रकार स्पन्दि आदि के साथ भी उपपन्न ही है। वह समभिव्याहार समान ही है। ऐसी स्थिति में द्वितीयार्थ फल (संयोगादि) का गमि धातु से उपस्थाप्य स्पन्दरूप व्यापार में जिस प्रकार जनकत्वसम्बन्ध से अन्वय हुआ करता है, उसी प्रकार द्वितीयार्थ फल (संयोगादि का स्पन्दि धातु से उपस्थाप्य स्पन्द रूप व्यापार में जनकत्व सम्बन्ध से अन्वय क्यों नहीं हुआ करता है?

तो ऐसा नहीं करना चाहिए क्योंकि द्वितीयादि का गमि धातुओं के साथ जो समभिव्याहार है उसी का फल बल से अन्वयबोधौपयिकत्व स्वीकार किया जाता है,स्पन्दि प्रभृति धातुओं के साथ द्वितीयादि समभिव्याहार का अन्वयबोधौपयिकत्व नहीं स्वीकार किया जाता है। इसलिए स्पन्दिप्रभृति धातुओं के साथ द्वितीयादिसमभिव्याहार आकाङ्क्षा नहीं है। क्योंकि अन्वयबोधौपयिक समभिव्याहार का ही आकाङ्क्षात्व स्वीकार किया जाता है।

अभिप्राय यह है कि चूँकि '**ग्रामं स्पन्दते**' यहाँ पर ग्रामवृत्तिसंयोगजनकत्वविशिष्ट व्यापार विषयक बोध नहीं उत्पन्न होता है और '**ग्रामं गच्छति**' यहाँ पर वैसा बोध होता है । इसलिए फलबलात् (फलानुरोध से) द्वितीयादि का जो गमि आदि धातुओं के साथ समभिव्याहार है, उसी को शाब्दबोध के प्रति कारण मानते हैं। द्वितीयादि का जो स्पन्दि आदि धातुओं के साथ समभिव्याहार है उसे शाब्दबोध के प्रति कारण ही नहीं मानते हैं। शाब्दबोध के प्रति कारण जो समभिव्याहार होता है उसी का आकाङ्क्षात्व स्वीकार्य है। इसीलिए द्वितीयादि के साथ जो गमि आदि का समभिव्याहार है वही आकाङ्क्षा है। तथा द्वितीयादि का स्पन्दि आदि के साथ जो समभिव्याहार है वह आकाङ्क्षा नहीं है। इस प्रकार

पूर्व स्वीकृत जो नियम है कि '**जिन पदों की जैसे अन्वयबोध में आकाङ्क्षा है उन्हीं पदों से उपस्थापित अर्थों का परस्पर वैसा अन्वयबोध हुआ करता है**' उसके अनुसार चूँकि द्वितीयार्थ फल (संयोगादि) का जनकत्वसम्बन्ध से स्पन्दि धात्वर्थ व्यापार विषयक अन्वयबोध में **ग्रामं** और **स्पन्दते** पदों की आकाङ्क्षा नहीं है, इसीलिए स्पन्दि धातु के साथ द्वितीयादि समभिव्याहार से द्वितीयार्थ संयोगादि का जनकत्व सम्बन्ध से धात्वर्थ स्पन्द में अन्वयबोध नहीं हुआ करता है । उन दोनों पदों से उपस्थापित अर्थों का परस्पर अन्वयबोध नहीं होता है। द्वितीयार्थ संयोगादि का जनकत्व सम्बन्ध से गम् धात्वर्थ स्पन्द में अन्वय बोध में '**ग्रामं** और '**गच्छति**' पदों की आकाङ्क्षा है, इसलिए इन दोनों पदों से उपस्थापित अर्थों का परस्पर अन्वयबोध होता है। सारांश ये कि दोनों ही स्थलों में जो आकाङ्क्षा समान है ऐसा कह रहे हैं वह ग़लत है। क्योंकि एक जगह '**ग्रामं गच्छति**' में आकाङ्क्षा है और '**ग्रामं स्पन्दते**' में आकाङ्क्षा है ही नहीं ।

इसीलिए (एक जगह '**ग्रामं गच्छति**' में फलान्वयबोधौपयिकाकाङ्क्षा होने के कारण और दूसरी जगह '**ग्रामं स्पन्दते**' में फलान्वयबोधौपयिक आकाङ्क्षा न होने के कारण ही) गमि और स्पन्दि धातुओं के समानार्थक होने के बावजूद भी गमि आदि की तरह स्पन्दि आदि के सकर्मत्व का व्यवहार नहीं होता है क्योंकि फलान्वितव्यापारबोधकधातुत्व ही सकर्मकत्वव्यवहार का नियामक होता है। चूँकि गमि में फलान्वितव्यापारबोधकत्व है इसलिए उसके सकर्मकत्व का व्यवहार होता है और स्पन्दि में फलान्वितव्यापार बोधकत्व नहीं है इसलिए (गमि का समानार्थक होने पर भी) स्पन्दि के सकर्मकत्व का व्यवहार नहीं होता है।

**अथ धातोर्व्यापारमात्रवाचित्वे 'त्यजति गच्छति' 'त्यागो गमनम्' इत्यादिवाक्यादविलक्षणबोधप्रसङ्गः, न हि शक्तिभ्रमाद्यजन्मनोस्तादृशवाक्य जन्यबोधयोरवैलक्षण्यं कश्चिदभ्युपैति; तथासति त्यागादितात्पर्येण गमनादिपदं व्युत्पन्ना अपि प्रयुञ्जीरन् ।**

प्राच्य नैयायिकों के अनुसार गदाधर ने धातु की व्यापारमात्रवाचिता का प्रतिपादन किया। अब उसी पर एक प्रश्न उठा रहे हैं कि—

यदि धातु को केवल व्यापार का वाची मानोगे तो '**त्यजति**' और '**गच्छति**' से तथा '**त्यागः**' और '**गमनम्**' इत्यादि वाक्यों से अविलक्षणबोध का प्रसङ्ग है (क्योंकि धातु का अर्थ आप मात्र व्यापार मानते हैं। त्याग विभागानुकूलस्पन्दात्मक व्यापार को कहते हैं और गमन संयोगानुकूलस्पन्दात्मक व्यापार को कहते हैं। इसमें से संयोग और विभाग तो फल हैं। इस प्रकार त्यज धातु का भी अर्थ व्यापार मात्र हुआ, तथा गम् धातु का अर्थ भी व्यापार मात्र हुआ। जहाँ पर केवल '**त्यजति**' का प्रयोग हो रहा है और जहाँ पर केवल '**गच्छति**' का प्रयोग हो रहा है उन द्विविध स्थल में एक जैसा बोध होना चाहिए क्योंकि फलवाचिका जो द्वितीया विभक्ति होती है तादृश विभक्त्यन्त कोई पद तो इन स्थलों में प्रयुक्त है नहीं । इसलिए फलांश तो छूट ही जायेगा। फलांश के छूट जाने पर तो दोनों वाक्यों से एक ही जैसा स्पन्दविषयक बोध होना चाहिए । इसी प्रकार '**त्यागः**' व '**गमनम्**' से भी एक ही जैसा बोध होना चाहिए क्योंकि धात्वर्थ स्पन्द तो समान ही है। त्यज् धातु और गम् धातु से जो प्रत्यय क्रमशः हुए हैं घञ् और ल्युट् दोनों भी समानार्थक हैं क्योंकि घञ् भी भाव अर्थ में ही हुआ है और ल्युट् भी भाव अर्थ में ही हुआ है। अतः उनसे भी समानविषयकबोध

होना चाहिए) जबकि शक्तिभ्रमादि से न उत्पन्न होने वाले तादृशवाक्यों से जन्य बोधों का अवैलक्षण्य कोई भी नहीं स्वीकार करता है अर्थात् शक्तिभ्रमादि से उक्त वाक्यों से जन्य बोधों का समानविषयकत्व हो सकता है और स्वीकार किया जाता है । विना शक्तिभ्रमादि के होने वाले उक्तवाक्यों से जन्यबोधों का अवैलक्षण्य (समानविषयकत्व) नहीं होता है। यदि विना शक्तिभ्रमादि के होने वाले उक्त वाक्यों से जन्यबोधों का भी अवैलक्षण्य होता तो त्यागादि के तात्पर्य से गमनादिपदों का व्युत्पन्न लोग भी प्रयोग करते । इस प्रकार उक्त वाक्यों से जन्य बोधों का अवैलक्षण्य जो कि वस्तुतः नहीं होता है उसकी आपत्ति है।

**न च तत्र फलविशेषावच्छिन्नव्यापारे लक्षणा स्वीक्रियत इति विलक्षण-बोधोपपत्तिरिति वाच्यम् , लक्षणाया विलक्षणबोधजननेऽपि शक्त्याऽवि-लक्षणबोधजननसम्भवेन दर्शितातिप्रसङ्गस्य दुर्वारत्वात् ।**

यदि कहो वहाँ पर (जहाँ पर फलबोधक द्वितीया विभक्त्यन्त पद नहीं है ऐसे स्थलों में) धातु की फलविशेषावच्छिन्नव्यापार में लक्षणा स्वीकारी जाती है, इसलिए विलक्षणबोध की उपपत्ति होती है। अर्थात् जहाँ पर द्वितीयादि विभक्त्यन्त पद नहीं है ऐसे स्थलों में **'त्यजति' 'गच्छति'** इत्यादि प्रयोगों में त्यज् , गम् आदि धातुओं की फलविशेष (क्रमशः विभाग और संयोग) से अवच्छिन्न (जनकत्व सम्बन्ध से विभाग, संयोगादि विशिष्ट) व्यापार (स्पन्द) में लक्षणा स्वीकारी जाती है। ऐसी परिस्थिति में दोनों वाक्यों से अलग-अलग किस्म के बोधों की उपपत्ति हो जायेगी।

तो ऐसा नहीं कहना चाहिए क्योंकि लक्षणा के द्वारा विलक्षणबोध की उत्पत्ति होने पर भी शक्ति से तो अविलक्षण बोधोत्पत्ति सम्भव होने के कारण दिखायी गयी अतिव्याप्ति दुर्वार होगी आशय यह है कि लक्षणा से तादृशवाक्यजन्य बोधों का वैलक्षण्य सम्पादित हो जायेगा किन्तु शक्ति से तो अविलक्षणबोध ही होगा। अतः शक्ति को आधार बनाकर त्यागादि तात्पर्य से गमनादिपदप्रयोग तो दुर्वार ही होगा ।

**न च गम्यादिशक्तिज्ञानजन्यार्थोपस्थित्या फलविषयकान्वयबोधस्य कुत्राप्यजननात् तादृशोपस्थितिघटितसामग्रीशरीरे फलविशेषबोधकसामग्र्यपि निवेश्यते तथा च त्यागगमनादिपदयोः शक्त्या नाविलक्षणबोधजनकतेति वाच्यम् , त्यजिगम्योरेकार्थवाचकतारूपपर्यायतां विपर्यस्यतो गमनादिपदात् त्यागादिपदजन्यबोधसमानाकारकबोधस्य सर्वानुभवसिद्धतया गम्यादि-शक्तिज्ञानात् फलाविषयकबोधस्यापि प्रसिद्धेः, एवं तादृशस्य पुंसः 'ग्रामं गच्छति' 'ग्रामं त्यजति' इत्यादितोऽप्यविलक्षणबोधोदयात् फलविशेष-बोधकसामग्र्या गम्यादिपदजन्यबोधनियामकताया वक्तुमशक्यत्वात् , तथाचाभ्रान्तस्यापि भवन्मते ततोऽविलक्षणबोधसम्भवेनैकविधबोधतात्पर्येण व्युत्पन्नानां तादृशप्रयोगप्रसङ्गो दुर्वारः ।**

यदि कहो कि गम्यादिशक्तिज्ञानजन्यपदार्थोपस्थिति से फलविषयक अन्वयबोध के कहीं पर भी उत्पन्न न होने के कारण गम्यादिशक्तिज्ञानजन्य तादृशपदार्थों से घटित सामग्री (गम्यादिशक्तिज्ञानजन्यपदार्थोपस्थितिघटित अन्वयबोधसामग्री) के शरीर में फल विशेषबोधक सामग्री का भी निवेश किया जाता है, इस प्रकार त्याग, गमनादि पदों की शक्ति से अविलक्षणबोध नहीं उत्पन्न होता है। आशय यह है कि गम्यादिशक्तिज्ञानजन्य पदार्थोपस्थिति

के द्वारा चूँकि कभी भी ऐसा अन्वयबोध नहीं उत्पन्न होता है जो कि फल को विषय न करता हो। इसलिए गम्यादिशक्तिज्ञानजन्य अर्थोपस्थिति से घटित सामग्री के अन्तर्गत फलविशेषबोधक-सामग्री का भी निवेश करना चाहिए अर्थात् गम्यादिशक्तिज्ञान जन्यअर्थोपस्थिति से घटित सामग्री फलविशेषबोधक सामग्री से घटित ही होती है ऐसा मानना चाहिए। इसलिए **'त्यागः'** व **'गमनम्'** इत्यादि पदों की शक्ति से अविलक्षण बोध नहीं उत्पन्न होगा क्योंकि यदि फलविशेषबोधकसामग्री भी विद्यमान है तो उसी से बोधों में विलक्षणता सम्पादित हो जायेगी और यदि फलविशेषबोधकसामग्री विद्यमान नहीं है तो गम्यादिशक्तिज्ञानजन्यार्थोपस्थिति से घटित सामग्री फलविशेषबोधकसामग्री से घटित न होने से पूरी नहीं होती है। इस कारण बोध ही नहीं उत्पन्न नहीं होता है फिर बोध के वैलक्षण्य अवैलक्षण्य का कोई प्रश्न ही नहीं उठता है। अविलक्षणबोधजनकता तो कथमपि नहीं हो सकती है।

तो ऐसा कहना चाहिए क्योंकि जो जिस व्यक्ति को त्यजि और गमि धातुओं की पर्यायता का विपर्यास है (भ्रम है) उस व्यक्ति को गमन आदि पदों से त्याग आदि पदों से जन्यबोध के समानाकारक बोध होता है, यह सर्वानुभवसिद्ध है। इसलिए गम्यादिशक्तिज्ञान से फलाविषयक बोध की भी प्रसिद्धि है, और ऐसे पुरुष को **'ग्रामं गच्छति' 'ग्रामं त्यजति'** इत्यादि वाक्यों से भी अविलक्षणबोध ही उत्पन्न होने के कारण फलविशेषबोधक सामग्री की गम्यादिशक्तिज्ञानजन्यबोधनियामकता है यह कहना सम्भव नहीं है। तथा इसी प्रकार अभ्रान्त को भी आपके मत में अविलक्षणबोध उक्त वाक्यों से सम्भव होने के कारण व्युत्पन्नों के द्वारा तादृश प्रयोग प्रसङ्ग (**'ग्रामं गच्छति'** के तात्पर्य से **'ग्रामं त्यजति'** ऐसा प्रयोग प्रसङ्ग) दुर्वार ही होगा।

अभिप्राय यह है कि जिस व्यक्ति को यह भ्रम हो कि त्यजि और गमि धातुएँ पर्यायवाची है उस व्यक्ति को गमनपद से भी वैसा ही बोध होता है जैसा कि त्यागपद से। यह सर्वानुभवसिद्ध बात है इसलिए इसका अपलाप नहीं किया जा सकता है। **'त्यागः'** और **'गमनम्'** पदों से कैसा बोध होगा ? जाहिर है कि फलाविषयकबोध ही होगा क्योंकि फलबोधक सामग्री तो यहाँ है नहीं । तथा ऐसे भ्रान्त व्यक्ति को **'ग्रामं गच्छति'** और **'ग्रामं त्यजति'** से समान विषयक (समानफल, समानव्यापारविषयक) बोध ही उत्पन्न होता है। दोनों ही वाक्यों से एक जैसे फल को विषय करनेवाला बोध हो रहा है इसलिए फलविशेषबोधकसामग्री नहीं है दोनों वाक्यों में। दोनों अविशेषफलबोधक ही सामग्री है। इसलिए फलविशेषबोधक सामग्री की गम्यादिपदजन्यबोधनियामकता नहीं स्वीकारी जा सकती है। इसलिए जो आप फलविशेषसामग्री के द्वारा उक्तवाक्यद्वयजन्य व उक्तधातुद्वयजन्य बोधों के वैलक्षण्य का उपपादन करना चाहते हैं वह सम्भव नहीं है। इसलिए जैसे भ्रान्त व्यक्ति को (त्यजि और गमि धताुओं की पर्यायवाचिता को समझने वाले व्यक्ति को) **'त्यागः'** और **'गमनम्'** से तथा **'ग्रामं गच्छति'** और **'ग्रामं त्यजति'** से अविलक्षणबोध सम्भव होते है; उसी प्रकार आपके (धातु का व्यापारमात्रवाचकत्व स्वीकारने वाले के) मत में अभ्रान्त को भी उक्त वाक्यों से अविलक्षणबोध सम्भव होगा । तथा इस प्रकार एक जैसे तात्पर्य से व्युत्पन्नों के द्वारा वैसे प्रयोग होने चाहिए। यह आपत्ति दुर्वार होगी[1] ।

---

1. टिप्पणी–रघुनाथ शिरोमणि भी आख्यातवाद में धातु की व्यापारमात्रवाचिता का खण्डन इसी आपत्ति के द्वारा करते हैं तथा कहते हैं कि–'इतरथा त्यजिगम्यादीनां पर्यायत्वापत्तेः'

आख्यातवाद रामभद्रसार्वभौमकृतव्याख्या सहित पृ.22

**इति चेत् ? मैवम् –कर्मप्रत्ययसमभिव्याहृतत्यागगमनादिपदस्य तत्तफलावच्छिन्नव्यापारेऽनादितात्पर्यं कल्प्यते न तु केवले व्यापारे; अनादि-तात्पर्यमेव च स्वारसिकप्रयोगनियामकमित्येकार्थतात्पर्येण प्रामाणिकानां स्वारसिको न त्यागगमनादिपदप्रयोगः ।**

यदि ऐसा कहो तो ठीक नहीं है। उक्त आपत्ति दुर्वार नहीं है क्योंकि कर्म प्रत्ययासमभिव्याहृतत्याग गमनादि के अनादितात्पर्य की तत्तत्फल (विभाग, संयोग आदि) से अवच्छिन्न व्यापार में कल्पना की जाती है केवल व्यापार में नहीं । अर्थात् केवल '**त्यागः**' और '**गमनम्** ' पदों के साथ जहाँ पर कर्मप्रत्यय नहीं है वहाँ पर विभागसंयोगादि से अवच्छिन्न (विभाग, संयोगानुकूल) व्यापार में इन पदों के अनादि तात्पर्य की कल्पना की जाती है न कि केवल व्यापार में। इसलिए '**त्यागः**' '**गमनम्** ' इत्यादि से व '**त्यजति**' '**गच्छति**' पदों से अविलक्षणबोध नहीं होता है। तथा चूँकि अनादि तात्पर्य ही स्वारसिक प्रयोग का नियामक होता है इसलिए एक अर्थ के तात्पर्य से प्रामाणिकों के द्वारा '**त्यजति**' व '**गच्छति**' पद प्रयोग और '**त्यागः**' व '**गमनम्** ' पद प्रयोग नहीं हुआ करता है।

आशय यह है कि अनादि तात्पर्य ही स्वारसिक प्रयोग का नियामक हुआ करता है, शक्यार्थमात्रतात्पर्य स्वारसिक प्रयोग का नियामक नहीं होता है। इसीलिए '**अकार्यगुह्ये कौपीनम् अ०को०3/3/22**' इत्यादि अमरकोषीयवाक्य के अनुसार कौपीन पद की शक्ति पाप में होते हुए भी कौपीन शब्द पुरुषेन्द्रियाच्छादक वस्त्र विशेष रूप अर्थ में ही प्रयुक्त होता है '**कौपीनवन्तः खलु भाग्यवन्तः**' इत्यादि स्थलों में । पाप के अर्थ में कौपीन पद का प्रयोग नहीं होता है। इसी प्रकार यदि त्यज् , गम् धातुओं का शक्यार्थ व्यापार मात्र ही होता है परन्तु अनादितात्पर्य तत्तत्फलावच्छिन्न व्यापार में है। अनादितात्पर्य के ही स्वारसिक प्रयोग का नियामक होने के कारण प्रामाणिकों के द्वारा एक अर्थ तात्पर्य से त्याग और गमनादि पदों का प्रयोग नहीं होता है। भ्रमजन्य प्रयोग का नियामक अनादि तात्पर्य तो नहीं होता है, अतः भ्रान्त पुरुष के द्वारा तो वैसा प्रयोग सम्भव ही है।

**एवं त्यजिगमिप्रभृतिसमभिव्याहृतकर्मप्रत्ययस्य फलविशेष एव नियतं तादृशं तात्पर्यमिति न विभागादितात्पर्येण 'ग्रामं गच्छति' इत्यादिप्रयोगः। तदर्थबोधकत्वमात्रं तु न तदर्थतात्पर्येण स्वारसिकप्रयोगनियामकम् तथा सति शक्तिभ्रमादिना घटपदस्यापि पटादिबोधकतया पटादितात्पर्येण स्वारसिकघटादिपदप्रयोगापत्तेः । नापि शक्त्या बोधकत्वं तथा निरूढ-लक्षणयापि स्वारसिकपदप्रयोगात् ।**

इस प्रकार त्यजि, गमि प्रभृति से समभिव्याहृतकर्मप्रत्यय का भी फलविशेष में तादृश तात्पर्य नियत है, इसलिए विभागादितात्पर्य से '**ग्रामं गच्छति**' इत्यादि प्रयोग नहीं होते हैं। अभिप्राय यह है कि '**ग्रामं गच्छति**' इत्यादि स्थलों में यदि कर्मप्रत्यय द्वितीया का संयोगादिरूप फलविशेष में तात्पर्य न होता, केवल फलमात्र में तात्पर्य होता, तो द्वितीया की संयोग, विभागादिरूप अनेकविध फलों में शक्ति होने के कारण द्वितीया से विभागरूप फल की उपस्थिति भी कथंचित् सम्भव होने के कारण '**ग्रामं गच्छति**' इत्यादि से विभागजनक-व्यापारबोध भी हो सकता था। इसलिए विभागादि तात्पर्य से भी ये प्रयोग हो सकता था। किन्तु हम तो यही मानते हैं कि गमि धातु से समभिव्याहृत कर्म प्रत्यय का तात्पर्य

फलविशेष (संयोग) में नियत है इसलिए विभागजनकव्यापारबोधन के लिए यह प्रयोग नहीं होता है। इसी प्रकार त्यजि धातु से समभिव्याहृत कर्मप्रत्यय का तात्पर्य विभागात्मक फलविशेष में नियत है इसलिए संयोगजनकव्यापार बोधन के लिए **'ग्रामं त्यजति'** प्रयोग नहीं होता है।

तदर्थबोधकत्वमात्र उस अर्थ के तात्पर्य से स्वारसिक प्रयोग का नियामक नहीं है (अर्थात् त्यजि और गमि दोनों में ही व्यापारमात्रबोधकत्व है, इसलिए व्यापारमात्रबोधन हेतु उक्त धातुओं का प्रयोग नहीं हुआ करता है क्योंकि तदर्थबोधकत्व मात्र से उस अर्थ का बोधक होने की वजह से ही उस अर्थ के तात्पर्य से किसी शब्द का स्वारसिक प्रयोग नहीं होता) क्योंकि ऐसा होने पर तो तदर्थबोधकत्वमात्र यदि उस अर्थ के तात्पर्य से स्वारसिक प्रयोग का नियामक होता तो शक्तिभ्रम से घटपद के भी पट का बोधक होने से पटबोधकत्व घट पद में है ही । इसलिए पट के तात्पर्य से घटपद का प्रयोग होना चाहिए ।

यदि कहो कि शक्ति से तदर्थबोधकत्व उस अर्थ के तात्पर्य से स्वारसिक प्रयोग का नियामक होता है (घटपद के पट का बोधक होने पर भी घटपद का पटबोधकत्वशक्ति के द्वारा नहीं है बल्कि शक्ति भ्रम से है, अतः पटतात्पर्य से घटपद प्रयोग की आपत्ति नहीं है) तो ऐसा भी नहीं कह सकते हैं क्योंकि निरूढलक्षणा से भी स्वारसिकपदप्रयोग होता है। आशय यह है कि यदि शक्ति से तदर्थबोधकत्व ही उस अर्थ के बोधन के तात्पर्य से उस शब्द के स्वारसिकपदप्रयोग का नियामक मानो तो निरूढलक्षणा से भी प्रवीण, कुशल आदि पदों का प्रयोग चतुर अर्थबोधनतात्पर्य से होता है, वह नहीं होना चाहिए क्योंकि शक्ति के द्वारा प्रवीण, कुशल आदि पदों के द्वारा चतुर रूप अर्थ का बोधन नहीं होता है। इस प्रकार अनादितात्पर्य ही स्वारसिक पदप्रयोग का नियामक होता है।[1]

**शक्तिभ्रमं लक्षणाज्ञानं चान्तरेण गम्यादेर्विभागादिरूपफलविशेष-विशेषितस्पन्दादिबोधकत्वाभावनियमोऽसिद्ध एवेति तात्पर्यभ्रमसहकृत-शक्तिप्रमया तादृशबोधजननेऽपि न क्षतिः। विना लक्षणाग्रहं भ्रमानधीनतादृश-बोधो गमिप्रभृतितो न सम्भवतीत्येव नियमः, स च तात्पर्यभ्रमेणैव निर्वहति। विभागाद्यर्थे पूर्वपूर्वेषामनादितात्पर्यभ्रमवतो वक्तुः स्वकीयतात्पर्येण 'ग्रामं गच्छति' इत्यादिप्रयोगो यत्र तत्र श्रोतुस्तात्पर्यभ्रमासम्भवेऽपि वक्तृ-तात्पर्यानादित्वभ्रम एव प्रयोगसम्पादनद्वारा तदर्थशाब्दबोधप्रयोजक इति न तादृशनियमक्षतिरिति प्राचीनपथपरिष्कारप्रकारः।**

पूर्व ग्रन्थ से गदाधर ने यह प्रतिपादन किया कि शक्ति से तदर्थबोधकत्व तदर्थतात्पर्य से पदप्रयोग का नियामक नहीं है बल्कि अनादि तात्पर्य ही पदप्रयोग का नियामक है। किन्तु इसमें एक प्रश्न उठ खड़ा होता है। वह यह कि अनादितात्पर्य को ही यदि पदप्रयोग का नियामक मानें तो गम्यादि का जो विभागादिजनकस्पन्दबोधकत्व शक्तिभ्रम या लक्षणाज्ञान के विना नहीं होता है वह शक्तिभ्रम और लक्षणाज्ञान के विना भी होने की आपत्ति है, हो सकता है। क्योंकि तात्पर्यभ्रम की वजह से ही गम्यादि में विभागादिजनकस्पन्दादि बोधकत्व

---

1.-टिप्पणी–इसालिए नैयायिकों के अनुसार अपभ्रंश में शक्ति न होने के बावजूद भी शक्ति भ्रम के द्वारा अनादि तात्पर्य से घटादिबोधनहेतु घड़ा आदि पदों का प्रयोग उपपन्न होता है। शक्ति के द्वारा तदर्थबोधकत्व यदि पदप्रयोग का नियामक होता तो अपभ्रंश पदों का प्रयोग नहीं होता।

आ सकता है। इसी का समाधान गदाधर इस ग्रन्थ से करते हैं कि—

शक्तिभ्रम और लक्षणाज्ञान के विना गम्यादि के विभागादिरूप फलविशेष से विशेषित स्पन्दादिबोधकत्वाभाव का नियम तो असिद्ध ही है। इसलिए यदि तात्पर्यभ्रमसहकृतशक्तिप्रमा से भी उस प्रकार का बोध हो रहा हो तो कोई क्षति नहीं है। आशय यह है कि जो आप आपत्ति दे रहे हैं कि शक्तिभ्रम और लक्षणज्ञान के विना गम्यादि का विभागादिरूपफल विशेषविशेषित स्पन्दादिबोधकत्वाभाव का नियम है। तथा इस नियम को आधार बनाकर आप कह रहे हैं कि अनादितात्पर्य को यदि स्वारसिकपदप्रयोग का नियामक मानेंगे तो अनादितात्पर्यभ्रम से भी गम्यादि के द्वारा विभागादिरूपफलविशेषविशेषित स्पन्दादि बोधन सम्भव होगा। इस प्रकार उक्त नियम का व्यभिचार होगा। तो भी, वह नियम तो सिद्ध ही नहीं है, अतः यदि तात्पर्य भ्रम के द्वारा भी गम्यादि का विभागादिरूपफलविशेषविशेषित स्पन्दादिबोधकत्व है तो उससे कोई क्षति किसी नियम का व्यभिचार नहीं है। (नियम तो सिर्फ यही है-) विना लक्षणाग्रह के भ्रमानधीन विभागादिरूपफलविशेषविशेषित स्पन्दादि बोधकत्व गमि आदि में नहीं सम्भव होता है । तथा इसका तात्पर्यभ्रम से भी निर्वाह सम्भव है। कहने का आशय यह है कि यदि कहीं पर शक्तिभ्रम के द्वारा विभागादिरूप फलविशेषविशेषितस्पन्दादिबोधकत्व आयेगा तो वहाँ पर भ्रमानधीनतादृशबोधजनकत्व गमि आदि में नहीं है बल्कि भ्रमाधीन ही है। यदि कहीं पर तात्पर्यभ्रम से ऐसा बोध हो रहा है गमि आदि से तो वहाँ पर तो शक्तिभ्रम नहीं है क्योंकि द्वितीयादि की शक्ति संयोग, विभागादि में विद्यमान तो है ही अपितु तात्पर्यभ्रम है, तो भी भ्रमाधीन ही तादृशबोधजनकत्व गमि आदि में है।

विभागादि अर्थ में पूर्व-पूर्व व्यक्तियों का अनादि तात्पर्य है, ऐसा भ्रम जिस वक्ता को है, ऐसा वक्ता जब अपने तात्पर्य से '**ग्रामं गच्छति**' ऐसा प्रयोग करता है तो वहाँ पर श्रोता को तात्पर्यभ्रम भी सम्भव नहीं है (क्योंकि वक्ता का जो विभागादिरूप अर्थविशेषविशेषित स्पन्दादिबोधन में तात्पर्य है उसी विद्यमान तात्पर्य को श्रोता समझ रहा है। शक्तिभ्रम तो नहीं है। तो क्या यहाँ पर जो विभागादिरूपफलविशेषविशेषित स्पन्दादिबोधकत्व गमि आदि में है वह भ्रमाधीन नहीं है? यदि भ्रमाधीन नहीं होगा तो उपर्युक्त नियम (विना लक्षणाग्रह के भ्रमानधीन तादृशस्पन्दादिबोधकत्वाभाव का नियम है) का व्यभिचार हो जायेगा । तो तात्पर्य भ्रम और शक्ति भ्रम के न हने पर भी जो विभागादिरूप अर्थविशेषविशेषितस्पन्दादिबोधकत्व गम्यादि में है वह भ्रमानधीन नहीं है क्योंकि तात्पर्यभ्रम सम्भव न होने पर भी वक्तृतात्पर्य के अनादित्व का भ्रम ही वहाँ पर प्रयोगसम्पादन द्वारा तदर्थविषयक शाब्दबोध का प्रयोजक होता है। इस लिए उक्त नियम की कोई क्षति नहीं है। इस प्रकार प्राचीनों के मार्ग का (धातु के व्यापारमात्रवाचित्व में आनेवाले दोषों का) परिष्कार है।

**नव्यास्तु–संयोगादिरूपफलविशेषावच्छिन्नस्पन्दो गम्याद्यर्थः। तत्तद्धात्वर्थतावच्छेदकफलशालित्वमेव तत्तद्धातुकर्मत्वं नातो गम्यादि-कर्मत्वस्य पूर्वदेशादौ प्रसङ्गः । न वा स्पन्देः सकर्मकत्वम् –तत्र फलस्य धात्वर्थतानवच्छेदकत्वात् । एवं च धातोरेव फलविशेषलाभात् फलान्वयिनी वृत्तिरेव द्वितीयार्थः।**

नवीन तो—संयोगादिरूपफलविशेषावच्छिन्न स्पन्द ही गमि आदि का अर्थ है। (धातु का केवल व्यापारमात्रवाचित्व नहीं है बल्कि फलविशेषावच्छिन्न व्यापारवाचित्व है) तत्तद्धात्वर्थतावच्छदेकीभूतफलशालित्व ही तत्तद्धातुकर्मत्व है, इसलिए गम्यादिकर्मत्व की प्रसक्ति पूर्वदेश में नहीं होती है। फल के धात्वर्थतावच्छेदक न होने के कारण स्पन्दि का सकर्मकत्व भी नहीं होता है। इस प्रकार धातु से ही फलविशेष का लाभ होने के कारण फलान्वयिनी वृत्ति ही द्वितीया का अर्थ होती है।

नवीनों का अभिप्राय यह है कि धातुओं का केवल व्यापारवाचकत्व नहीं है क्योंकि केवल व्यापारवाचिता में त्यजि, गमि आदि का पर्यायवाचित्व हो जायेगा।[1] इसलिए संयोगविभागादिरूप फलविशेषावच्छिन्न स्पन्दादिवाचकत्व ही गमि, त्यजि आदि धातुओं का है। गमि का अर्थ है संयोगावच्छिन्नव्यापार तथा त्यजि का अर्थ है विभागावच्छिन्न व्यापार। अवच्छिन्नत्व का अर्थ है विशिष्टत्व । किस सम्बन्ध से विशिष्टत्व लेना है? जनकत्व सम्बन्ध से। व्यापार धात्वर्थ हुआ, धात्वर्थ में जो विशेषण होता है उसे धात्वर्थतावच्छेदक कहते हैं। व्यापार में विशेषण हैं जनकत्व सम्बन्ध से संयोग और विभाग । इस प्रकार संयोग और विभागरूप फल धात्वर्थतावच्छदेक हुए, तच्छालित्व ही गमि, त्यजि धातुओं का कर्मत्व है। यह संयोग और विभागरूप फल पूर्वदेश और उत्तरदेश में नहीं रहते हैं। अतः क्रमशः गमि और त्यजि की कर्मता पूर्वदेश और उत्तरदेश में नहीं होती है। स्पन्दि की सकर्मकता भी नहीं होती है स्पन्दि धातु में भी गमि, त्यजि के समान ही व्यापारवाचिना होने पर भी गमि, त्यजि की तरह स्पन्दि की सकर्मकता नहीं होती है। क्योंकि स्पन्दि धातु का अर्थ मात्र व्यापार होने के कारण फल धात्वर्थतावच्छेदक नहीं होता है। इस प्रकार फल तो धातु से ही लभ्य हो गया उसमें द्वितीया की शक्ति मानने की (उसे द्वितीया का अर्थ मानने की) कोई आवश्यकता तो है नहीं क्योंकि **'अनन्यलभ्यो हि शब्दार्थो भवति'** इसलिए फल में अन्वित होनेवाली वृत्ति ही (आधेयता ही) द्वितीया का अर्थ हुआ करती है।

**न च "कर्मणि द्वितीया" इत्यनुशासनविरोधः—तस्य कर्मणि फलनिष्ठाधेयत्वान्वयिनि प्रकृतितात्पर्ये तदुत्तरं द्वितीयेत्यर्थकत्वात् ।**

**न चैवं तस्य शक्तिग्राहकत्वानुपपत्तिः, अनादितात्पर्यग्रहसम्पादकत्वेन परम्परया शक्तिग्राहकत्वसम्भवात् ।**

नवीनों के मतानुसार यदि द्वितीया को आधेयत्वार्थक मानें तो **'कर्मणि द्वितीया'** इस अनुशासन का विरोध होगा क्योंकि सूत्र के द्वारा कर्म में द्वितीया विहित है आधेयत्व में नहीं। प्राचीनों के अनुसार कर्मत्व में द्वितीया का विधान है । कर्मत्व में द्वितीया का विधान उक्त सूत्र के द्वारा किया जा रहा है इस प्रकार प्राचीनों के मत से उक्त सूत्र की व्याख्या तो की जा सकती है। किंतु नवीनों के मत में क्या होगा? इसी समस्या का समाधान प्रश्न उठाकर कर रहे हैं कि—

यदि कहो कि आधेयता को द्वितीया का अर्थ मानने पर **'कर्मणि द्वितीया'** इस

---

1.-टिप्पणी–भवानन्द सिद्धान्तवागीश कारकचक्रम् (कारकाद्यर्थनिर्णय) में कहते हैं कि–'त्यजि गमि प्रभृतीनां स्पन्दन मात्रं नार्थः, नहि त्यजति–गच्छतीत्यनयोः प्रतीत्योरविशेषं कश्चिदभ्युपैति"

पृ.33 सटीककारकचक्रम् छात्रपुस्तकालय कलकत्ता 1937

द्रष्टव्य—आख्यातवाद भी पृ.22-24

अनुशासन का विरोध होगा तो ऐसा नहीं कहना चाहिए क्योंकि उक्त सूत्र का आशय यही है कि **कर्मणि** कर्म में यानि फलनिष्ठ आधेयत्वान्वयी में यदि प्रकृति का तात्पर्य हो (अर्थात् फलनिष्ठआधेयता में प्रकृत्यर्थ का अन्वय होना हो) तो द्वितीया होती है। (इस प्रकार नवीनों के मत से भी उक्त सूत्र की व्याख्या की जा सकती है)

यदि कहो कि इस प्रकार व्याख्या करने पर तो उसके शक्ति ग्राहकत्व की अनुपपत्ति है (अर्थात् कर्म या कर्मत्व में सूत्रघटक कर्म पद की शक्ति हो सकती है फलनिष्ठ आधेयता में कर्मपद की शक्ति नहीं हो सकती है। किंतु उसमें तात्पर्य मात्र हो सकता है, तुम्हारे द्वारा भी केवल सूत्र का तात्पर्य ही बतलाया जा रहा है। इस स्थिति में उक्त सूत्र शक्तिग्राहक तो नहीं हो सकता है) तो ऐसा नहीं कहना चाहिए क्योंकि अनादितात्पर्यग्रहसम्पादक होने के कारण परम्परया शक्ति ग्राहकत्व उसमें उपपन्न हो जायेगा । अर्थात् अनादितात्पर्यग्राहकत्व भी एक तरह का शक्ति ग्राहकत्व ही है।

**न च फलस्य पदार्थैकदेशतया तत्र द्वितीयार्थवृत्तेरन्वयासम्भवः, व्युत्पत्तिवैचित्र्येण प्रकृते एकदेशान्वयस्वीकारात् ।**

यदि कहो कि फल के पदार्थैदेश होने के कारण उसमें द्वितीयार्थ वृत्ति=आधेयता का अन्वय सम्भव नहीं है। (अर्थात् नियम है कि **'पदार्थः पदाथनैवान्वेति न तु पदार्थैकदेशेन'** पदार्थ पदार्थ से ही अन्वित होता है पदार्थ के एकदेश से नहीं, यहाँ पर धातु का अर्थ है संयोगादिजनकव्यापार द्वितीयार्थ आधेयता का अन्वय आप करेंगे संयोग रूप फल में वह तो धात्वर्थ का एकदेश है इसलिए व्युत्पत्ति का विरोध होगा) तो ऐसा नहीं कहना चाहिए, व्युत्पत्ति की विचित्रता के कारण यहाँ पर एकदेशान्वय भी स्वीकार किया जाता है। व्युत्पत्ति की विचित्रता यही है कि धात्वर्थ से अन्यत्र पदार्थ का पदार्थैकदेश में अन्वय नहीं होता है, धात्वर्थस्थल में तो धात्वर्थ के एकदेश में भी पदार्थान्तर का अन्वय होता है। इसलिए यदि धात्वर्थ के एकदेश में भी द्वितीयार्थ आधेयत्व का अन्वय होता है तो उससे कोई क्षति नहीं है।

**अथ 'गमनं न स्पन्दः' इत्यादितो धात्वर्थतावच्छेदकफले स्पन्द-भेदान्वयबोधसम्भवेनैतादृशप्रयोगस्य वारणाय फलविशेष्यकान्वयबोधे तद्विशेष्यकवृत्तिज्ञानजन्यफलोपस्थितित्वेन हेतुत्वकल्पनस्यावश्यकत्वात् तादृशकारणबाधेन धात्वर्थतावच्छेदकफले द्वितीयार्थान्वयासम्भवः।**

अब यहाँ पर धात्वर्थैकदेश में पदार्थान्तर का अन्वय स्वीकारने की दशा में एक आपत्ति उठा रहे हैं—

उक्त रीति से **'गमनं न स्पन्दः'** इत्यादि से धात्वर्थतावच्छेदकफल में स्पन्दभेदान्वय बोध सम्भव होने के कारण ऐसे प्रयोग का वारण करने के लिए फलविशेष्यक अन्वयबोध के प्रति फलविशेष्यकवृत्तिज्ञानजन्यफलोपस्थितित्वेन उपस्थिति के कारणता की कल्पना आवश्यक होगी, उस प्रकार के कारण का बाध होने के कारण धात्वर्थतावच्छेदक फल में द्वितीयार्थ का अन्वय सम्भव नहीं होगा।

इस ग्रन्थ का आशय यह है कि नवीनों के मत में फलावच्छिन्नव्यापार में धातु की शक्ति होने के कारण फलावच्छिन्नव्यापार ही धात्वर्थ हुआ । द्वितीयार्थ है आधेयता। उस

द्वितीयार्थ आधेयतात्मक पदार्थ का धात्वर्थैकदेश में '**पदार्थः पदार्थेनान्वेति न तु पदार्थैकदेशेन**' इस व्युत्पत्ति से विरोध होने से अन्वय सम्भव नहीं है। इसके लिए नवीनों ने स्वीकार किया कि व्युत्पत्ति के वैचित्र्य के कारण धात्वर्थ से अन्यत्र ही पदार्थ का पदार्थैकदेश में अन्वय नहीं होता है, धात्वर्थस्थल में तो पदार्थ में (धात्वर्थ में) भी पदार्थ का अन्वय हो सकता है और पदार्थैकदेश (धात्वर्थैकदेश ) में भी अन्वय हो सकता है। किन्तु ऐसा स्वीकारने पर समस्या यह है कि '**गमनं न स्पन्दः**' इत्यादि स्थलों में भी धात्वर्थतावच्छेदकीभूत फल में स्पन्दभेदान्वयबोध सम्भव होगा। गमन पदार्थ है उत्तरदेश-संयोगानुकूलस्पन्दात्मकव्यापार और स्पन्दपदार्थ है स्पन्दात्मकव्यापार । चूँकि उत्तरदेशसंयोगानुकूल-स्पन्दात्मकव्यापार स्पन्दात्मकव्यापार से अतिरिक्त नहीं होता है, बल्कि स्पन्दात्मकव्यापार से अभिन्न ही हुआ करता है। जैसे नीलघट घट से अतिरिक्त नहीं होता है अपितु घटरूप ही होता है। इसलिए ऐसा प्रयोग वस्तुतः होता नहीं है। किन्तु नवीनों ने जैसा कहा है कि धात्वर्थ और धात्वर्थैकदेश दोनों में ही पदार्थान्तर का अन्वय सम्भव है। ऐसी स्थिति में गमनपदार्थैकदेश उत्तरदेशसंयोग में स्पन्दात्मकव्यापार का भेद मौज़ूद है, इसीलिए यदि उत्तरदेशसंयोगरूप धात्वर्थतावच्छेदक में स्पन्दभेद का अन्वय किया जाये तो वह सम्भव है। इसलिए जैसे '**संयोगो न स्पन्दः**' ऐसा प्रयोग हुआ करता है, उसी प्रकार गमनपदार्थैकदेश में स्पन्दभेदान्वय सम्भव होने से उसके तात्पर्य से '**गमनं न स्पन्दः**' ऐसा प्रयोग होना चाहिए । इस प्रयोग का वारण करने के लिए आपको इस प्रकार का कार्यकारणभाव कल्पित करना होगा कि–'**फलविशेष्यकान्वयबोधत्वावच्छिन्नं प्रति फलविशेष्यक-वृत्तिज्ञानजन्यफलोपस्थितित्वावच्छिन्नं कारणम्** ' अर्थात् फलविशेष्यक अन्वयबोध के प्रति फलविशेष्यकवृत्तिज्ञानजन्य फलविशेष्यक उपस्थिति कारण होती है। इस प्रकार फलविशेष्यक अन्वयबोध वहीं पर होगा जहाँ पर कि वृत्तिज्ञान से जन्य फलविशेष्यक फलोपस्थिति होगी। '**संयोगो न स्पन्दः**' में संयोगरूपफलविशेष्यक उपस्थिति उत्पन्न होती है, संयोगपद से जो उपस्थिति होती है, उसमें संयोग ही विशेष्य होता है। इसलिए संयोगविशेष्यक अन्वयबोध यहाँ पर उपपन्न होता है। '**गमनं न स्पन्दः**' में गमन पद से संयोगानुकूलस्पन्द की उपस्थिति होती है उसमें स्पन्दविशेष्य होता है न कि संयोग। इसलिए संयोगविशेष्यक स्पन्दभेदान्वयबोध यहाँ पर सम्भव नहीं है। किन्तु इस प्रकार तो द्वितीयार्थ आधेयता का भी फल में (संयोग में) अन्वय सम्भव नहीं है क्योंकि संयोगविशेष्यक वह अन्वयबोध होगा संयोग का ही विशेष्यतया भान होने के कारण, संयोगविशेष्यक अन्वयबोध के लिए संयोग विशेष्यक उपस्थिति आवश्यक है किन्तु संयोगविशेष्यक उपस्थिति यहाँ पर है नहीं बल्कि व्यापार विशेष्यक उपस्थिति है। इसलिए धात्वर्थतावच्छेदकीभूत फल में द्वितीयार्थ वृत्ति (आधेयता) का अन्वय असम्भव होगा ।

**विमर्शः**– यहां पर ग्रन्थकार ने **तद्विशेष्यकवृत्तिज्ञानजन्यफलोपस्थितित्वेन** कारणत्वकल्पना आवश्यक बतलायी है। इसमें तद्विशेष्यकपद वृत्तिज्ञान का भी विशेषण बन सकता है और फलोपस्थिति का भी। वृत्तिज्ञान का विशेषण तद्विशेष्यक पद हो तो अर्थ निकलेगा कि फल विशेष्यक जो वृत्तिज्ञान उससे जन्य फलोपस्थिति कारण होती है। तद्विशेष्यकपद यदि उपस्थिति का विशेषण हो तो अर्थ होगा कि वृत्तिज्ञान से जन्य फलविशेष्यक फलोपस्थिति कारण होती है। इसी द्वितीय अर्थ को लेकर मैंने व्याख्या की है इस तरह से समझने में

सुविधा होगी इस अभिप्राय से। यद्यपि प्रथमपक्ष ज्यादा उचित है। '**संयोगो न स्पन्दः**' में संयोगविशेष्यकवृत्तिज्ञान है '**संयोगः संयोगपदशक्यः**' ऐसे वृत्तिज्ञान से जन्य संयोग की उपस्थिति होती है। इसलिए यहाँ पर संयोग विशेष्यक स्पन्दभेदान्वयबोध होता है। '**गमनं न स्पन्दः**' में संयोगविशेष्यक वृत्तिज्ञान से जन्य संयोग की उपस्थिति नहीं है बल्कि संयोगानुकूलस्पन्दात्मकव्यापार विशेष्यक वृत्तिज्ञान '**संयोगानुकूलस्पन्दो गमनपदशक्यः**' से जन्य संयोगोपस्थिति है अतः संयोगविशेष्यक स्पन्दभेदान्वयबोध नहीं होता है।

**न च यादृशपदसमभिव्याहारज्ञानात् फलविशेष्यकस्पन्दभेदान्वयबोधः प्रसिद्धस्तादृशपदसमभिव्याहारज्ञानतादृशपदज्ञानजन्यफलाद्युपस्थितिघटित सामग्र्यास्तादृशान्वयबोधोत्पादप्रयोजिकाया असत्त्वेनोक्तस्थले तदापत्त्यसम्भव इति वाच्यम् , यत्र गमनादिपदादेव लक्षणया शक्तिभ्रमेण वा स्वातन्त्र्येण फलोपस्थितिस्तत्र फलविशेष्यकस्पन्दभेदान्वयप्रसिद्ध्या गमनपदसमभिव्याहारतज्जन्यफलोपस्थितिघटितसामग्र्याः फलविशेष्यकस्पन्दत्वाद्यवच्छिन्नभेदान्वयबोधप्रयोजकताया आवश्यकत्वात् तद्बलेन शक्तिप्रमाधीनबोधेऽपि फलांशे स्पन्दभेदादिभानप्रसङ्गात्,**

यदि कहो कि जैसे पदसमभिव्याहारज्ञान से फलविशेष्यक स्पन्दभेदान्वयबोध प्रसिद्ध है तादृशपदसमभिव्याहारज्ञान और तादृशज्ञानजन्यफलाद्युपस्थिति से घटित सामग्री तादृशान्वयबोधोत्पादप्रयोजिका होती है उसके न होने के कारण उक्तस्थल में उक्तापत्ति की सम्भावना नहीं है। अभिप्राय यह है जैसे पदसमभिव्याहारज्ञान से फलविशेष्यकस्पन्दभेदान्वयबोध प्रसिद्ध है, वैसे पदसमभिव्याहारज्ञान से और वैसे पदज्ञान से जन्य फलादि उपस्थिति से घटित सामग्री फलविशेष्यकस्पन्दभेदान्वय बोधप्रयोजिका होती है। '**संयोगो न स्पन्दः**' इस स्थलीय पदसमभिव्याहारज्ञान से फलविशेष्यक अन्वयबोध प्रसिद्ध है, इसलिए इन पदों के समभिव्याहार से घटित और इन पदों के ज्ञानजन्य फलादि उपस्थिति से घटित सामग्री फलविशेष्यक स्पन्दभेदान्वयबोध के प्रति कारण होती है। यहाँ पर ऐसी कारणीभूत सामग्री होने के कारण फलविशेष्यक स्पन्दभेदान्वयबोध प्रसिद्ध नहीं है, इसलिए इन पदों के समभिव्याहार की फल विशेष्यकस्पन्दभेदान्वयबोध के प्रति कारणता ही नहीं है। इस प्रकार इस स्थल की सामग्री कारणीभूत समभिव्याहारज्ञान, उपस्थिति से घटित नहीं है। इसलिए यहाँ पर फलविशेष्यकस्पन्दभेदान्वयबोध नहीं होता है और उसकी आपत्ति भी नहीं है।

तो ऐसा नहीं कहना चाहिए क्योंकि जहाँ पर गमनपद से ही लक्षणा द्वारा या शक्ति भ्रम द्वारा स्वतन्त्र रूप से फल (संयोग) की उपस्थिति होती है, वहाँ पर तो ('**गमनं न स्पन्दः**' इस वाक्य से भी) फल (संयोग) विशेष्यक स्पन्दभेदान्वयबोध प्रसिद्ध है (होता ही है) इसलिए गमनपदसमभिव्याहार और गमनपद से जन्य फलोपस्थिति से घटित सामग्री को फलविशेष्यकस्पन्दत्वावच्छिन्नभेदान्वयबोध की प्रयोजिका मानना पड़ेगा। यह आवश्यक होगा। ऐसी स्थिति में शक्तिप्रमाधीन बोध में भी फलांश में स्पन्दभेद का भान (अन्वयबोध) आवश्यक होगा। क्योंकि आपने यही कहा है कि जैसे पदसमभिव्याहारज्ञान से संयोग विशेष्यकस्पन्दभेदान्वयबोध प्रसिद्ध है वैसे समभिव्याहारज्ञान और तादृशपदज्ञानजन्य फलादि की उपस्थिति से घटित सामग्री संयोगविशेष्यकभेदान्वयबोध की प्रयोजिका होती है। गमन,

नञ्पद, स्पन्दपद समभिव्याहार और इन पदों के ज्ञान से जन्य फलाद्युपस्थिति से घटित सामग्री संयोगविशेष्यक स्पन्दभेदान्वयबोध के प्रति कारण होगी क्योंकि लक्षणाग्रह या शक्तिभ्रम स्थल में गमन, नञ् पद, स्पन्द पद समभिव्याहारज्ञान से संयोगविशेष्यक स्पन्दभेदान्वयबोध प्रसिद्ध है। कारणीभूतसामग्री के रहने पर कार्य होना अवश्यंभावी है। अतः जहाँ पर शक्तिभ्रम या लक्षणाग्रह नहीं है वहाँ पर भी **'गमनं न स्पन्दः'** से संयोगविशेष्यक स्पन्दभेदान्वयबोध होना चाहिए।

**एवं च फलव्यापारयोः पृथक्शक्तिस्वीकारपक्षेऽपि न निस्तारः-तथात्वेपि हि 'गमनं न स्पन्दः' इत्यादौ फलांशे शक्तिप्रमया स्पन्दभेदान्वयबोधसम्भवेन तादृशप्रयोगापत्तेर्दुर्वारत्वात् ।**

इसी प्रकार यदि फल और व्यापार में धातु की अलग-अलग शक्ति स्वीकार कर ली जाये तो भी (जैसाकि वैयाकरण स्वीकारते हैं तो इस पक्ष में भी) निस्तार नहीं हैं अर्थात् पूर्वोक्त दोष का निवारण सम्भव नहीं है क्योंकि ऐसा होने पर भी **'गमनं न स्पन्दः'** इत्यादि स्थलों में फलांश में शक्ति प्रमा से स्पन्दभेदान्वयबोध सम्भव होने के कारण ऐसे प्रयोग की आपत्ति दुर्वार होगी।

इस ग्रन्थ का आशय यह है कि यदि फल और व्यापार में धातु की पृथक् शक्ति स्वीकारी जाये, फलावच्छिन्न व्यापार में न स्वीकारी जाये तो द्वितीयार्थ आधेयत्व का फल में अन्वय होगा और इस प्रकार अन्वय करने पर **'पदार्थः पदार्थेनान्वेति न तु पदार्थैकदेशेन'** इस व्युत्पत्ति का विरोध भी नहीं होगा । क्योंकि फल और व्यापार दोनों में धातु की पृथक् शक्ति स्वीकारी जाने के कारण दोनों ही पदार्थ हुए, कोई भी पदार्थैकदेश नहीं हुआ । किन्तु **'गमनं न स्पन्दः'** इस प्रयोग की आपत्ति इस पक्ष में भी दुर्वार होगी क्योंकि गमनपदार्थ जैसे स्पन्दात्मक व्यापार है, उसी प्रकार फल (संयोग) भी गमनपदार्थ है। भाव में ल्युट् प्रत्यय होने के कारण धात्वर्थ मात्र ही यहाँ पर गमनपद का अर्थ है। इसलिए फल अंश में भी गमनपद की शक्ति ही है शक्ति भ्रम नहीं । उस फल अंश में स्पन्दभेदान्वयबोध सम्भव होगा **'गमनं न स्पन्दः'** इस प्रयोग की आपत्ति दुर्वार होगी।

**इति चेत् ?**

**न, तद्विशेष्यकवृत्तिज्ञानजन्यतदुपस्थितिजन्यतावच्छेदककोटौ तादृशोपस्थित्यव्यवहितोत्तरत्वनिवेशनमावश्यकम् , विशिष्य तत्तत्पदमन्तर्भाव्यैव पदार्थोपस्थितेरेकैकविधबोधे नानाहेतुताया व्यवस्थापितत्वाद् एकपदाधीनतद्विशेष्यकशाब्दबोधे पदान्तरवृत्तिज्ञानजन्यतदुपस्थितेर्व्यभिचारस्य प्रकारान्तरेण वारणासम्भवात् । एवं धात्वर्थतावच्छेदकफले द्वितीयार्थान्वयबोधेऽपि क्षतिविरहः—तत्रैतादृशकारणस्य व्यभिचाराप्रसक्तेरिति वदन्ति ।**

**'अथ 'गमनं न स्पन्दः'** इत्यादि ग्रन्थ के द्वारा जो प्रश्न (आशंका) उठाया था उसका समाधान करते हैं कि—यदि ऐसा कहो? तो ऐसा दोष नहीं है। क्योंकि तद्विशेष्यकवृत्तिज्ञानजन्य तदुपस्थिति जन्यतावच्छेदक कोटि में तादृशोपयस्थित्यव्यवहितोत्तरत्वनिवेशन आवश्यक है क्योंकि विशेष करके तत्तत् पद का अन्तर्भाव करके ही पदार्थोपस्थिति की एक-एक विध बोध में नाना हेतुताओं के व्यवस्थापित होने के कारण एकपदाधीन तद्विषयक शाब्दबोध में

पदान्तरवृत्तिज्ञान से जन्य तदुपस्थिति के व्यभिचार का प्रकारान्तर से वारण सम्भव नहीं है। इस प्रकार धात्वर्थतावच्छेदकीभूत फल में द्वितीयार्थान्वयबोध स्वीकारने में भी क्षति नहीं है क्योंकि इस प्रकार के कारण का व्यभिचार प्रसक्त नहीं होगा। ऐसा कहते हैं।

यहाँ पर गदाधर उपर्युक्त दोष का निवारण करने के लिए जो समाधान दे रहे हैं वह विस्तृत व्याख्या की अपेक्षा करता है। नैयायिकों का सिद्धान्त है कि '**प्रत्युच्चारणं शब्दाः भिद्यन्ते**' प्रत्येक उच्चारण से शब्द भिन्न-भिन्न हो जाते हैं, ज्ञान भी ऐसे ही भिन्न-भिन्न होता है। जैसे एक बार उच्चारण किया गया '**घटः**' शब्द दुबारा उच्चरित '**घटः**' शब्द से भिन्न होगा। इसी प्रकार स्मरणात्मक उपस्थिति भी भिन्न-भिन्न होगी। यह तो ठीक है कि '**गमनं न स्पन्दः**' यहाँ पर संयोगविशेष्यक स्पन्दभेदान्वयबोध का वारण करने के लिए यही कहना पड़ेगा कि '**तद्विशेष्यक अन्वयबोध के प्रति तद्विशेष्यकवृत्ति ज्ञानजन्य तदुपस्थिति कारण होती है**' किन्तु ऐसा कहने पर भी व्यभिचार प्रसक्त होगा। वह इसलिए-'**संयोगो न स्पन्दः**' यहाँ पर संयोग विशेष्यक स्पन्दभेदान्वयबोध होता है यहाँ पर संयोग विशेष्यक वृत्तिज्ञानजन्य संयोगविषयक उपस्थितियाँ तो अनन्त होंगी और जिनकी वृत्तिज्ञान से जन्य उपस्थितियाँ होंगी वे पद भी अनन्त होंगी व सभी उपस्थितियाँ तो एक स्थल पर नहीं ही रहेंगी बल्कि संयोगविशेष्यकवृत्तिज्ञान से जन्य एक ही उपस्थिति विद्यमान रहेगी। शेष सभी तद्विषयक (संयोग विषयक) उपस्थितियों का अभाव ही रहेगा इस प्रकार उन उपस्थितियों का अभाव है अर्थात् कारणाभाव है लेकिन कार्य है इस प्रकार व्यतिरेक व्यभिचार आयेगा। इसी प्रकार अन्वयबोध भी ज्ञानात्मक ही है-ऐसी स्थिति में संयोगविशेष्यक स्पन्दभेदान्वयबोध भी अनन्त होंगे, जहाँ पर संयोगविषयक उपस्थिति से, संयोगविशेष्यकस्पन्दभेदान्वयबोध हो भी रहा है, वहाँ पर भी शेष सभी संयोगविशेष्यक स्पन्दभेदान्वयबोधों का अभाव विद्यमान ही रहेगा। इस तरह कारण रहते हुए भी कार्याभाव रूप अन्वयव्यभिचार प्रसक्त होगा। इस बात को कुछ इस तरह भी समझ सकते हैं कि एकसंयोगपद के अधीन तद्विशेष्यक शाब्दबोध हो रहा है किन्तु दूसरे-तीसरे (पदान्तर) संयोगपद की वृत्तिज्ञान से जन्य संयोगविषयक उपस्थिति तो नहीं ही है । एक ही पद की वृत्तिज्ञान से जन्य संयोग विषयक उपस्थिति ही है। इस तरह व्यभिचार विद्यमान ही है। इस व्यभिचार (इन व्यभिचारों) का वारण दूसरे तरीके से नहीं हो सकता है। इसका एक ही तरीका है कि हम तद्विशेष्यकवृत्तिज्ञानजन्यतदुपस्थिति के जन्यतावच्छेदक की कोटि में तादृशोपस्थित्यव्यवहितोत्तरत्व का निवेश कर दें । अर्थात् इस प्रकार कार्यकारणभाव बनायें कि–'**तद्विशेष्यकवृत्तिज्ञानजन्यतदुपस्थित्यव्यवहितोत्तरक्षणजायमानतद्विशेष्यक अन्वयबोध के प्रति तद्विशेष्यकवृत्तिज्ञानजन्य तदुपस्थिति कारण होती है**' अब उक्त स्थलों के व्यभिचार वारित हो जायेंगे क्योंकि जिस उपस्थिति के बाद जो शाब्दबोध हो रहा है उस शाब्दबोध के प्रति वही उपस्थिति कारण होगी, दूसरी नहीं । जैसे कि संयोगविशेष्यकवृत्तिज्ञानजन्यतत्पदाधीन संयोगविशेष्यक उपस्थित्यव्यवहितोत्तरक्षणजायमान संयोगविशेष्यकशाब्दबोध के प्रति तत्पदाधीन ही उपस्थिति कारण होगी न कि पदान्तराधीन उपस्थिति । कारणीभूत उपस्थिति तो विद्यमान ही है, कार्य भी हो ही रहा है। अतः व्यभिचार नहीं है। पदान्तराधीन उपस्थिति के उस शाब्दबोध के प्रति कारण ही नहीं होने के कारण उस उपस्थिति के न रहने पर भी व्यभिचार नहीं होता है। इस प्रकार जब गमन

पद की लक्षणा के द्वारा विशेष्यतया संयोग उपस्थिति होती है, वहाँ पर उस उपस्थिति के बाद संयोगविशेष्यकस्पन्दभेदान्वयबोध होता है और उसके प्रति गमनपदाधीन संयोगोपस्थिति की कारणता होती है। अतः लक्षणाग्रह या शक्तिभ्रमाधीन **'गमनं न स्पन्दः'** ऐसा प्रयोग हो सकता है। शक्तिप्रमाधीन तो ऐसा प्रयोग नहीं हो सकता है क्योंकि उस गमनपदाधीन संयोगोपस्थिति की संयोगविशेष्यकस्पन्दभेदान्वयबोध के प्रति कारणता ही नहीं बनती है। क्योंकि वह संयोगविशेष्यकवृत्तिज्ञान से जन्य संयोगपस्थिति नहीं है। इसलिए शक्ति प्रमाधीन ऐसा प्रयोग नहीं होता है।

इस प्रकार धात्वर्थतावच्छेदक फल में द्वितीयार्थान्वयबोध स्वीकार लिया जाये तो भी कोई क्षति नहीं है क्योंकि वहाँ पर इस प्रकार के कारण के व्यभिचार की प्रसक्ति नहीं है। वहाँ पर आधेयत्वप्रकारकसंयोगविशेष्यक शाब्दबोध के प्रति संयोगविशेष्यकवृत्तिज्ञान से जन्य संयोगोपस्थिति की ही कारणता नहीं स्वीकारी जाती है, बल्कि संयोगविषयकवृत्तिज्ञानजन्य संयोगोपस्थिति की ही कारणता स्वीकारी जाती है। उसका तो अभाव वहाँ पर है नहीं । इसलिए संयोगविशेष्यक आधेयत्वप्रकारक शाब्दबोध होता है। तथा वहाँ पर संयोगविशेष्यक आधेयत्वप्रकारक शाब्दबोध के प्रति संयोगविषयकवृत्तिज्ञानजन्य संयोगोपस्थिति की कारणता स्वीकारने से कहीं पर कोई व्यभिचारादि नहीं आपन्न हैं।

सारांश यह है कि अलग-अलग कार्यकारणभाव हर जगह के लिए जब स्वीकार करना है तत् तदुत्तरत्व आदि का निवेश करके, तो संयोगविशेष्यक स्पन्दभेदान्वयबोध के प्रति संयोगविशेष्यकवृत्तिज्ञानजन्य संयोगोपस्थिति की और संयोगविशेष्यक आधेयत्व प्रकारकान्वयबोध के प्रति संयोगविषयक वृत्तिज्ञानजन्य संयोगोपस्थिति की कारणता स्वीकारी जाती है। अतः पूर्वोक्त आपत्तियों का निवारण सम्भव है। यदि एक ही तरह से दोनों जगहों पर कार्यकारणभाव स्वीकारा जाता तब उक्त आपत्तियों की सम्भावना थी।

यहाँ पर आये हुए **'वदन्ति'** पद का पूर्व में आये **'नव्यास्तु'** के साथ अन्वय है।

**अत्रेदं चिन्त्यते –व्यापारमात्रस्य धात्वर्थतायामपि सर्वानुपपत्तीमामुद्धतत्वात् फलावच्छिन्नव्यापारस्य गुरुतया तथात्वमनुचितम्।**

**अथ फले द्वितीयादेः शक्त्यन्तरकल्पनामपेक्ष्य धातोर्विशिष्टे शक्तिकल्पनमेवोचितमिति।**

इस प्रकार से यह प्राचीनों का सिद्धान्त है और यह नवीनों का कहना है। इन दोनों में से कौन सा मत उचित है और कौन सा अनुचित है? इस पर विचार करना प्रारम्भ करते हुए गदाधर दोनों मतों की समीक्षा शुरू करते हैं कि—

यहाँ पर यह विचार किया जा रहा है (मेरे द्वारा)—व्यापारमात्र की धात्वर्थता में भी (जैसा कि प्राचीनों का सिद्धान्त है) सभी अनुपपत्तियों के उद्वत होने के कारण फलावच्छिन्न व्यापार के गुरु होने के कारण उसकी धात्वर्थता में स्वीकारना अनुचित है।

अथवा फल में द्वितीयादि के शक्त्यन्तर की कल्पना की अपेक्षा धातु की फलविशिष्टव्यापार में शक्ति की कल्पना उचित है।

अभिप्राय यह है कि प्राचीनों का सिद्धान्त है कि व्यापारमात्र धात्वर्थ है और फल द्वितीया का अर्थ है। नवीनों के सिद्धान्त के अनुसार फलावच्छिन्नव्यापार धात्वर्थ है और द्वितीया का अर्थ आधेयत्व है। अभी तक जो प्रतिपादन किया गया है उसके अनुसार

प्राचीनों के मत में कोई दोष नहीं है, नवीनों के द्वारा जो दोष दिखाये गये हैं वे तो दूर किये जा सकते हैं, प्राचीनों के मत में वे दोष तो नहीं है। इसलिए ऐसा लगता है कि प्राचीनों की अपेक्षा गुरुभूत फलावच्छिन्नव्यापार की नवीनों के द्वारा धात्वर्थता स्वीकारी जा रही है इसलिए गुरुभूत फलावच्छिन्नव्यापार की धात्वर्थता स्वीकारना अनुचित है। लेकिन प्राचीनों के मत में फल में द्वितीयादि की शक्ति कल्पित करनी पड़ रही है, उसकी अपेक्षा फलविशिष्ट व्यापार में धातु की शक्ति नवीनों को स्वीकारनी पड़ रही है। इस तरह नवीनों के मत में एक शक्ति की कल्पना करनी पड़ रही है, प्राचीनों को दो शक्ति की कल्पना करनी पड़ रही है। इस तरह लगता है कि नवीनों का मत ही सही है। तो इनमें से कौन सा पक्ष उचित है?

**न च भवन्मतेप्याधेयत्वे द्वितीयादेः शक्त्यन्तरस्य कल्पनीयत्वात्तदंशे साम्यमिति वाच्यम् , 'ग्राममध्यास्ते' 'ग्राममधिशेते' 'ग्रामं संयुनक्ति' इत्यादौ द्वितीयायाः सर्वमत एवाधेयत्वबोधकतया द्वितीयादेः फलवाचकत्वमतेप्याधेयत्ववाचकताया आवश्यकत्वात् ।**

यदि कहो कि (अर्थात् प्राचीनमतानुयायी यदि नवीनों के ऊपर आक्षेप लगाते हुए कहें कि) आपके मत में भी (नवीनों के मत में भी) आधेयत्व में द्वितीयादि के शक्त्यन्तर की कल्पना करनी पड़ेगी इस प्रकार उस अंश में साम्य है अर्थात् यदि कहो कि हमारे (प्राचीनों के) मत में फल में द्वितीयादि की शक्ति स्वीकारनी पड़ रही है तो आपके (नवीनों के) मत में द्वितीया की शक्ति आधेयत्व में स्वीकारनी पड़ रही है, ऐसा तो है नहीं कि नवीनों का काम बग़ैर द्वितीयादि की किसी में शक्ति माने चल जाये । इस प्रकार प्राचीनों के यहाँ द्वितीयादि की शक्ति फल में, नवीनों के यहाँ द्वितीयादि की शक्ति आधेयत्व में इस अंश में साम्य है। किन्तु प्राचीनों को धातु की शक्ति व्यापार में मात्र में स्वीकारनी पड़ रही है, इस तरह इस अंश में लाघव है।

तो ऐसा नहीं कहना चाहिए क्योंकि **'ग्राममध्यास्ते' 'ग्राममधिशेते' 'ग्रामं संयुनक्ति'** इत्यादि स्थलों में सभी के मत में द्वितीया के आधेयत्व का ही बोधक होने के कारण (इन स्थलों पर क्रमशः ग्रामनिरूपिताधेयतावती स्थिति का, ग्रामनिरूपित आधेयतावत् शयन का और ग्रामनिरूपितआधेयतावान् संयोग का ही बोध होता है, आधेयता ही इन जगहों पर द्वितीया का अर्थ है, यह सभी के मत में सिद्ध है। इन जगहों पर आधेयता के अतिरिक्त में द्वितीया की शक्ति प्राचीन भी नहीं स्वीकार कर सकते हैं इसलिए) द्वितीयादि का फलवाचकत्व स्वीकारने के मत में भी आधेयत्व वाचकता स्वीकारनी ही पड़ेगी। इस प्रकार नवीनों के मत में सर्वत्र स्वीकार्य द्वितीयार्थ आधेयत्व से ही काम चल जायेगा। प्राचीनों के मत में उक्त स्थलों पर द्वितीयादि की आधेयत्व में अतिरिक्त शक्ति स्वीकारनी पड़ेगी। इसलिए उक्तमत में गौरव ही होगा।

**न च द्वितीयायाः संयोगादिवाचकत्वमत आधेयत्वे तस्या लक्षणैव न तु शक्तिरिति वाच्यम्, आधेयतात्वस्याखण्डतया संयोगत्वादिसमशरीरत्वात् संयोगत्वाद्यवच्छिन्ने तदवच्छिन्ने वा शक्तिः कल्प्यते इत्यत्र विनिगमकासम्भवात्।**

यदि कहो कि द्वितीयादि का संयोगादिवाचकत्वमत में अर्थात् द्वितीया का अर्थ फल माननेवाले प्राचीनों के मत में **'ग्राममध्यास्ते' 'ग्राममधिशेते' 'ग्रामं संयुनक्ति'** इत्यादि स्थलों में आधेयत्व में द्वितीया की लक्षणा ही कर लेंगे आधेयत्व में शक्ति नहीं मानेंगे (इस

प्रकार आधेयत्व में द्वितीया की शक्ति नवीनों को माननी पड़ेगी और प्राचीनों को फल में द्वितीया की शक्ति माननी पड़ेगी। इस तरह इस अंश में साम्य होने के कारण नवीनों के मत में फलावच्छिन्नव्यापार में धातुशक्ति स्वीकारनी होगी, प्राचीनों को व्यापार मात्र में, अतः नवीनों के मत में गौरव होगा) तो ऐसा नहीं कहना चाहिए क्योंकि आधेयतात्व तो अखण्ड होने के कारण संयोगत्वादि से समशरीर है । इसलिए आधेयतात्वावच्छिन्न में उन स्थलों पर शक्ति कल्पित की जाये या संयोगत्वाद्यवच्छिन्न में इसमें कोई विनिगमक नहीं है। आशय यह है कि प्राचीन फल में द्वितीया की शक्ति मानते हैं, फल तो अनेकविध हो सकते हैं संयोग, विभाग इत्यादि तो जिस प्रकार संयोगत्व, विभागत्व इत्यादि अनेक धर्मों से अवच्छिन्न में आप द्वितीया की शक्ति स्वीकारते हैं, उसी प्रकार आधेयतात्व से अवच्छिन्न में भी द्वितीया की शक्ति स्वीकारनी पड़ेगी। संयोगत्व, विभागत्व आदि जैसे अनेक पदार्थों से घटित न होने के कारण अखण्ड धर्म हैं, उसी प्रकार आधेयतात्व भी अनेक पदार्थों से घटित न होने के कारण अखण्ड धर्म ही है। जब आप संयोगत्वादि से अवच्छिन्न में शक्ति स्वीकारते हैं तो आधेयतात्व ने क्या अपराध किया है जो आप आधेयतात्व से अवच्छिन्न में शक्ति न स्वीकार करें ? इसलिए आधेयता में भी द्वितीया की शक्ति स्वीकारनी ही पड़ेगी। फिर पूर्वोक्त रीति से प्राचीनों के मत में गौरव स्पष्ट है।

**अस्तु वा ममाप्याधेयत्वे लक्षणैव शक्तिस्तु संख्यायामेव । यदि च द्वितीयादेः फलबोधकतामते फलेपि तस्या लक्षणैव न तु शक्तिः, शक्तिस्तु संख्यायामेव–संयोगविभागादिरूपप्रत्येकफलापेक्षया संख्याया तत्प्रयोग-प्राचुर्यस्य विनिगमकत्वादित्युच्यते ? तथापि तन्मते धातुजन्यशुद्धव्यापारो-पस्थितेः शाब्दबोधहेतुताकल्पनमधिकम् , द्वितीयाद्यसमभिव्याहार-स्थलानुरोधेन फलविशेषावच्छिन्नव्यापारे धातोर्लक्षणाया भवतामप्यावश्-यकत्वाद् धातुजन्यतादृशव्यापारोपस्थितिहेतुताया उभयमतसिद्धत्वात् ।**

और यदि **'ग्राममध्यास्ते' 'ग्राममधिशेते' ग्रामं संयुनक्ति'** इत्यादि स्थलों पर आधेयत्व में शक्ति मानकर तुम (प्राचीन) आधेयत्व में लक्षणा ही स्वीकार करते हो, तो मेरे (नवीन) मत में भी आधेयत्व में लक्षणा ही स्वीकार लिया जायेगा, द्वितीया की शक्ति मात्र संख्या में स्वीकार की जायेगी । (इस प्रकार नवीनों के मत में फलावच्छिन्नव्यापार में धातु की शक्ति स्वीकारी जायेगी, प्राचीनों के मत में धातु की व्यापारमात्र में और द्वितीया की फल में शक्ति स्वीकारनी पड़ेगी। इसलिए प्राचीनों के मत में दो शक्तियों का स्वीकार करना होगा, नवीनों के मत में केवल एक। तो प्रचीनमत में गौरव स्पष्ट है)तथा यदि द्वितीयादि की फलबोधकता मत में (प्राचीन मत में ) भी फल में उस की (द्वितीया की) लक्षणा ही है शक्ति नहीं । शक्ति तो संख्यामात्र में ही है क्योंकि संयोग विभाग रूप प्रत्येक फल की अपेक्षा संख्या में द्वितीया के प्रयोग की प्रचुरता ही संख्या में द्वितीया की शक्ति स्वीकार के लिए विनिगमक है। अर्थात् यदि प्राचीन कहें कि आपके मत में (नवीनमत में) द्वितीया की शक्ति संख्या में और फलावच्छिन्नव्यापार में धातु की शक्ति स्वीकारनी पड़ती है, हमारे मत में भी (प्राचीन मत में) द्वितीया की शक्ति मात्र संख्या में स्वीकार ली जायेगी, फल में द्वितीया की शक्ति नहीं स्वीकारी जायेगी । तथा धातु की शक्ति व्यापार मात्र में स्वीकार ली जायेगी । इस प्रकार प्राचीन मत में लाघव होगा।

तथापि ऐसा स्वीकारने की दशा में भी प्राचीन मत में धातुजन्य शुद्धव्यापारोपस्थिति की शाब्दबोध के प्रति हेतुता की कल्पना अधिक करनी पड़ेगी, द्वितीयाद्यसमभिव्याहारस्थल के अनुरोध से (**'चैत्रो गच्छति' 'चैत्रस्त्यजति'** इत्यादि स्थलों के अनुरोध से) फलविशेषावच्छिन्नव्यापार में धातु की लक्षणा आप के मत में भी आवश्यक होगी । धातुजन्य फलविशेषावच्छिन्नव्यापारोपस्थिति की कारणता तो उभयमत सिद्ध होगी । अभिप्राय यह है कि नवीनमत में फलविशेषावच्छिन्नव्यापार में ही धातु की शक्ति है, इस प्रकार फलविशेषावच्छिन्नव्यापारोपस्थिति की ही कारणता शाब्दबोध में नवीनों को स्वीकारनी पड़ेगी। द्वितीया जहाँ रहेगी वहाँ पर भी और द्वितीया जहाँ पर नहीं रहेगी दोनों ही स्थलों में इसी प्रकार की उपस्थिति की शाब्दबोध के प्रति कारणता होगी। प्राचीनों के मत में–जहाँ पर द्वितीया का समभिव्याहार नहीं है ऐसे **'चैत्रो गच्छति' 'चैत्रस्त्यजति'** इत्यादि स्थलों पर धातु की लक्षणा के द्वारा फलविशेषावच्छिन्न व्यापार की उपस्थिति को इन वाक्यों से जन्य शाब्दबोध में कारण मानना ही पड़ेगा। धातु की शक्ति के द्वारा मात्र व्यापारोपस्थिति ही मानने पर स्पन्दात्मक व्यापार के दोनों ही स्थलों में समान होने के कारण उक्त दोनों वाक्यों के समानार्थकत्व की आपत्ति होगी। इस प्रकार फलविशेषावच्छिन्नव्यापारोपस्थिति की शाब्दबोध के प्रति कारणता नवीनों और प्राचीनों दोनों के मत में माननी पड़ेगी । अन्तर इतना ही है कि नवीन हर जगह फलविशेषावच्छिन्नव्यापारोपस्थिति की शाब्दबोध के प्रति कारणता मानते हैं। प्राचीन द्वितीयादि असमभिव्याहार स्थलों पर ही मानते हैं। फलविशेषावच्छिन्नव्यापारोपस्थिति की शाब्दबोध कारणता दोनों मतों में समान है। प्राचीन में द्वितीयादिसमभिव्याहारस्थलों पर धातुजन्य व्यापारमात्रोपस्थिति की कारणता इसके अतिरिक्त स्वीकारनी पड़ेगी। यह गौरव है।

**यदि च 'स्पन्दते' इत्यादित इव शक्तिभ्रमाद् 'गच्छति' इत्यादितोऽपि शुद्धव्यापारबोध आनुभविक इति मन्यते? तथापि तन्मते शाब्दबुद्धौ द्वितीयादिजन्यफलोपस्थितेः कारणतायाः कल्पनाधिक्यं तज्जन्याधेयत्वोपस्थिति-हेतुत्वकल्पनस्य चोक्तस्थलानुरोधेनोभयमत एवावश्यकत्वादिति चेत् ? अस्तु तन्मते तादृशकारणताया आधिक्यम् ।**

और यदि **'स्पन्दते'** इत्यादि की तरह शक्तिभ्रम से प्रयुक्त **'गच्छति'** इत्यादि से भी शुद्धव्यापार का ही बोध आनुभविक है ऐसा आप मानते हैं (यहाँ पर इस कथन से यह ध्वनित हो रहा है कि जैसे **'स्पन्दते'** से शुद्ध व्यापार का बोध अनुभव में आता है वैसे ही **'गच्छति'** से शुद्ध व्यापार का बोध अनुभव में नहीं आता है। परन्तु फिर भी आप यदि ऐसा मानते हैं) तो भी प्राचीनमत में शाब्दबुद्धि में द्वितीयादिजन्य फलोपस्थिति की कारणता की कल्पना अधिक करनी पड़ेगी क्योंकि द्वितीयादि से जन्य आधेयत्वोपस्थिति की कारणता की कल्पना उक्त स्थलों **'ग्राममध्यास्ते' 'ग्राममधिशेते' 'ग्रामं संयुनक्ति'** के अनुरोध से उभयमत में ही आवश्यक है। अभिप्राय यह है कि यदि द्वितीयाद्यसमभिव्याहारस्थलों में **'गच्छति'** इत्यादि से **'स्पन्दते'** आदि की तरह शुद्धव्यापार का बोध ही आप स्वीकार कर लें और शुद्धव्यापारमात्रोपस्थिति की ही शाब्दबोध के प्रति कारणता मानिए । तो नवीनों को हर जगह फलावच्छिन्नव्यापारोपस्थिति की और प्राचीनों को हर जगह शुद्धव्यापारोपस्थिति की कारणता स्वीकारनी होगी। इस प्रकार इस अंश में लाघव तो दिख रहा है प्राचीन मत

में, किन्तु द्वितीया के द्वारा नवीनों के मत में हर जगह पर आधेयता की ही उपस्थिति होती है क्योंकि नवीन आधेयत्व में द्वितीया की लक्षणा मानते हैं। इसलिए नव्यमत में द्वितीयादिजन्य आधेयत्वोपस्थिति की ही हर जगह पर शाब्दबोध कारणता माननी पड़ेगी। प्राच्यमत में फल में द्वितीया की लक्षणा स्वीकारी जा रही है, इसलिए द्वितीयादिजन्यफलोपस्थिति की कारणता शाब्दबोध के प्रति माननी पड़ेगी। '**ग्राममध्यास्ते**' '**ग्राममधिशेते**' '**ग्रामं संयुनक्ति**' इत्यादि स्थलों में आधेयता रूप फल की उपस्थिति की शाब्दबोधकारणता स्वीकारनी होगी जो कि नवीन हर जगह स्वीकारते हैं। इसके अलावा तत्तत् स्थलों पर संयोग, विभागादि रूप फलोपस्थिति की शाब्दबोधकारणता प्राचीनों के मत में ज्यादा स्वीकारनी पड़ेगी । तो ठीक है, प्राचीनों के मत में इस प्रकार की कारणता की अधिकता हो जाये। प्राचीनमत में यह गौरव तो रहेगा ही दूर नहीं किया जा सकता है।

**नव्यमते तु 'ग्रामं गच्छति' इत्यादिवाक्यज्ञानघटितशाब्दबोधसाम्ग्र्याः समानविषयकानुमित्यादिप्रतिबन्धकतायां फलप्रकारतानिरूपितव्यापार विशेष्यताशालित्वेन धातुजन्योपस्थितेर्निवेशनीयतया तस्यास्तादृशविशेष्यता शालित्वेन व्यापारविशेष्यतानिरूपितफलप्रकारताशालित्वेन वा निवेश इत्यत्र विनिगमनाविरहात् सामग्रीप्रतिबन्धकताधिक्यमवच्छेदकगौरवञ्च।**

**प्राचीनमते द्वितीयादिजन्यफलोपस्थितेः सामग्र्यन्तर्निवेशस्तु नव्यमतसिद्धतज्जन्याधेयत्वोपस्थितेर्निवेशस्थलीय इति।**

**नव्यमते तादृशस्थले शाब्दबोधस्याधिकविषयतया तात्पर्यज्ञानादिकमप्यधिकविषयकमेव शाब्दधीहेतुर्भविष्यति प्रतिबन्धकसामग्र्यामप्यन्तर्भविष्यतीति च गौरवम् ।**

नवीनों के मत में तो '**ग्रामं गच्छति**' इत्यादि वाक्यज्ञान से घटित शाब्दबोधसामग्री की जो समानविषयक अनुमित्यादि के प्रति प्रतिबन्धकता होती है, उस प्रतिबन्धकता में फल प्रकारतानिरूपितव्यापारविशेष्यताशालित्वेन धातुजन्योपस्थिति का निवेश करना पड़ेगा (चूँकि धातुजन्य उपस्थिति फलप्रकारतानिरूपितव्यापारविशेष्यताशालि होने के कारण ही शाब्दबोध के प्रति कारण होती है, इसलिए 'समानविषयक अनुमिति के प्रति फलप्रकारतानिरूपित व्यापारविशेष्यताशालि जो धातुजन्य उपस्थिति उसी को प्रतिबन्धक मानना पड़ेगा) किन्तु धातुजन्य उपस्थिति का प्रतिबन्धकता में प्रवेश फलप्रकारता निरूपितव्यापारविशेष्यताशालित्वेन किया जाये या व्यापारविशेष्यतानिरूपितफलप्रकारताशालित्वेन किया जाये ? दोनों ही धर्म समनियत हैं। इसमें कोई विनिगमना न होने के कारण दोनों ही रूपों से प्रतिबन्धकता स्वीकारनी पड़ेगी। इस तरह सामग्रीनिष्ठ प्रतिबन्धकता का द्वैविध्य होगा, प्रतिबन्धकता का आधिक्य होगा। इसके अलावा धातु की शक्ति फलावच्छिन्न व्यापार में मानने पर धात्वर्थतावच्छदेक फलावच्छिन्नव्यापारत्व होगा यह भी गुरुभूत है। इस प्रकार अवच्छदेक गौरव भी होगा।

प्राचीनों के मत में यद्यपि द्वितीयादि जन्यफलोपस्थिति का सामग्री के अन्तर्गत निवेश करना पड़ता है किन्तु इस प्रकार से कोई प्रतिबन्धकता की अधिकता नहीं होती है क्योंकि द्वितीयादिजन्यफलोपस्थिति का सामग्री के अन्तर्गत निवेश तो नव्यमत सिद्ध द्वितीयादिजन्य आधेयत्वोपस्थिति स्थलीय होगा। अभिप्राय यह है कि नवीनों के मत में द्वितीयादिजन्य आधेयत्वोपस्थिति का सामग्री के अन्तर्गत निवेश करना होगा, प्राचीनों के मत में उसकी जगह पर द्वितीयादिजन्यफलोपस्थिति का सामग्री के अन्तर्गत निवेश करना पड़ेगा। इसलिए

इस दृष्टिकोण से दोनों ही पक्षों में गौरव लाघव बराबर है।

नवीनों के मत में '**ग्रामं गच्छति**' इत्यादि स्थलों में शाब्दबोध के अधिकविषयक होने के कारण अधिकविषयक तात्पर्यज्ञानादि ही शाब्दबोधकारण होंगे और सामग्री प्रतिबन्धकता में अन्तर्भूत होंगे यह भी गौरव होगा । अभिप्राय यह है कि नवीनों के मत में यहाँ पर शाब्दबोध अधिकविषयक होगा क्योंकि धातु से फलावच्छिन्नव्यापार की और द्वितीया से आधेयता की उपस्थिति होगी। इसलिए फल, व्यापार और आधेयता विषय हो रहे हैं। प्राच्यमत में फल की द्वितीया से और व्यापार की धातु से उपस्थिति होगी वही विषय होंगे। आधेयता तो संसर्गविधया भासित होगी। इसके अलावा '**चैत्रो गच्छति**' आदि स्थलों में प्राच्यमत में व्यापारमात्रबोध और नव्य में फलावच्छिन्नव्यापार बोध होने से भी नव्यमत में अधिक विषयक शाब्दबोध होगा। इस प्रकार नवीनों के मत में शाब्दबोध अधिकविषयक होगा और इसलिए अधिक विषयक तात्पर्यज्ञानादि शाब्दबोध कारण होंगे और उन्हीं का सामग्री प्रतिबन्धकता में निवेश होगा। इस प्रकार इधर भी नवीन मत में गौरव होगा।

सारांश यह है कि प्राचीनों के मत में यदि '**गच्छति**' इत्यादि से शुद्धव्यापारबोध ही होता है ऐसा मान लें तो केवल एक गौरव होता है, वह यह कि द्वितीयादिजन्यफलोंपस्थिति की शाब्दबोध में अतिरिक्तकारणता माननी पड़ती है। नवीनों के मत में प्रतिबन्धकताधिक्य और अवच्छेदक गौरव है। प्रतिबन्धकताधिक्य भी उपर्युक्त रीति से अनेक तरह का होगा। इस प्रकार गौरवलाघव की दृष्टि से प्राच्यमत ही समुचित प्रतीत हो रहा है तथा नव्यमत अनुचित प्रतीत हो रहा है।

**अथ फलस्य द्वितीयार्थत्वे 'भूमिं गच्छति न महीरुहम् ' इत्यादौ महीरुहवृत्तिसंयोगादेर्जनकतासम्बन्धावच्छिन्नाभाव एव नञर्थो वाच्यः स च वृत्त्यनियामकसम्बन्धस्याभावे प्रतियोगितानवच्छेदकतया अप्रसिद्धः । नव्यमते तु द्वितीयार्थस्याधेयत्वस्य फलनिष्ठोऽभाव एव तथेति नानुपपत्तिः।**

उपर्युक्त रीति से फल को द्वितीया का अर्थ माननेवाला प्राच्यमत ज्यादा समुचित प्रतीत होता है क्योंकि उसमें नव्यमत की अपेक्षा लाघव है। किन्तु—

फल को द्वितीया का अर्थ मानने पर '**भूमिं गच्छति न महीरुहम्** ' इत्यादि स्थलों में महीरुहवृत्तिसंयोगादि का जनकतासम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगितात्मक अभाव ही नञर्थ कहना पड़ेगा और वह जनकतासम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभाव वृत्त्यनियामक सम्बन्ध के अभावीयप्रतियोगिता का अवच्छेदक न होने के कारण अप्रसिद्ध है। नव्यमत में तो द्वितीयार्थ आधेयत्व का फलनिष्ठ अभाव ही वैसा है इसलिए कोई अनुपपत्ति नहीं है।

अभिप्राय यह है कि '**नञ् के न रहने पर जहाँ पर जिस सम्बन्ध से यद्वत्ता प्रतीत होती है, नञ् के रहने पर वहाँ पर उसी सम्बन्ध से अवच्छिन्न प्रतियोगिताक तदभाव प्रतीत होता है**' ऐसा नियम है। '**महीरुहं गच्छति**' से महीरुहवृत्तिसंयोग (फल) वत्ता जनकता सम्बन्ध से व्यापार में प्रतीत होती है क्योंकि शाब्दबोध होता है– '**महीरुहवृत्तिसंयोगजनकव्यापार**' विषयक। इसमें संयोग का जनकत्व रूप संसर्ग आकाङ्क्षाभास्य होता है, संयोग द्वितीयार्थ होता है तथा महीरुह के साथ उसका वृत्तित्व रूप संसर्ग आकाङ्क्षाभास्य होता है। व्यापार धात्वर्थ होता है। चूँकि नञ् के न रहने पर द्वितीयार्थ संयोगवत्ता जनकता सम्बन्ध से व्यापार में भासती है। अतः नञ् के रहने पर '**वृक्षं गच्छति न महीरुहम्** ' में महींरुहवृत्तिसंयोग का जनकत्वसंबन्धावच्छिन्नप्रतियोगिता अभाव व्यापार में भासित होना चाहिए । किन्तु समस्या यह है कि जनकत्वात्मक सम्बन्ध

वृत्तिनियामक नहीं होता है और वृत्त्यनियामक सम्बन्ध के अभावीय प्रतियोगिता का अवच्छेदक न होने के कारण जनकत्वसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक संयोगाभाव अप्रसिद्ध होगा। इस लिए उसका भान व्यापार में नहीं हो सकता है।

नवीनों के मत में तो '**महीरुहं गच्छति**' से '**महीरुहवृत्तित्वाश्रयसंयोगजनकव्यापार**' विषयक बोध होता है। इसमें द्वितीया का अर्थ आधेयत्व (वृत्तित्व) है तथा संयोगजनकव्यापार धात्वर्थ है। द्वितीयार्थवृत्तित्व का आश्रयत्व सम्बन्ध से धात्वर्थतावच्छेदक संयोग में अन्वय होता है तथा यह आश्रयत्व संसर्गमर्यादा (आकाङ्क्षा) से भास्य होता है। नञ् पद के रहने पर यहाँ पर आश्रयत्वसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक वृत्तित्वाभाव संयोग में भासना चाहिए, वह तो भास ही सकता है क्योंकि आश्रयत्व के वृत्तिनियामक होने से तत्सम्बन्धावच्छिन्न प्रतियोगिताक अभाव शाब्दबोध में भासित हो सकता है। अतः नवीनमत में प्राचीन मत की तरह दोष नहीं आपन्न हो सकता है।

**न च भूमिकर्मकगमनकर्त्रादौ महीरुहकर्मकगमनकर्तृत्वाद्यभावः प्रतीयत इति वाच्यम् , कर्तृवाचकपदासमभिव्याहारस्थले तदसम्भवात् ।**

यदि कहो कि '**भूमिं गच्छति न महीरुहम्** ' में संयोग का जनकत्वसम्बन्धावच्छिन्न प्रतियोगिताक अभाव संयोग में प्रतीत नहीं होता है बल्कि भूमिकर्मकगमनकर्त्रादि में महीरुकर्मकगमनकर्तृत्वाभाव की प्रतीति होती है अर्थात् महीरुवृत्तिसंयोग का व्यापार में जनकत्व सम्बन्ध से ही अन्वय होता है तथा व्यापार का अनुकूलत्व सम्बन्ध से कृति में अन्वय होता है (कृति ही कर्तृत्व है) उस कृति का समवाय सम्बन्ध से अवच्छिन्न प्रतियोगिताक अभाव भूमिकर्मगमनकर्ता में भासित होता है। यह तो सम्भव ही है क्योंकि समवाय तो वृत्तिनियामक सम्बन्ध है। शाब्दबोध होता है यहाँ पर—'**भूमिवृत्तिसंयोगजनकव्यापारानुकूलकृतिमान् महीरुहवृत्तिसंयोगजनकव्यापारानुकूलसमवायसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताककृत्यभाववान्**' 'भूमिवृत्तिसंयोगजनकव्यापारनुकूल कृतिमान जो है, वह महीरुवृत्तिसंयोगजनकव्यापारानुकूल समवायसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताककृत्यभाववान है' यह तो सम्भव ही है। तो ऐसा नहीं कह सकते क्योंकि कर्तृवाचकपद का असमभिव्याहार होने पर ऐसा शाब्दबोध व भान सम्भव नहीं है। क्योंकि कर्तृवाचकपद रहने पर उस पद से उपस्थित कर्ता में उक्त कर्तृत्वा भावबोध सम्भव है, कर्तृवाचक पद न रहने पर कैसे अभाव का कर्ता में भान हो सकता है। अनुयोगि की प्रतीति होने पर ही अभाव की प्रतीति होती है। कर्तृवाचकपद न होने पर कर्ता की उपस्थिति नहीं है तो किसमें उक्त अभाव भासित होगा?

**न च तत्राप्याख्यातार्थान्वयबोधानुरोधेन कर्तृवाचकपदाध्याहारस्यावश्यकतयाऽध्याहृतपदोपस्थाप्यकर्तर्येव तादृशाभावो नञा बोधयिष्यत इति वाच्यम्, आख्यातार्थविशेष्यकस्याप्यन्वयबोधस्य सम्भवेनाध्याहारस्यानावश्यकत्वाद्, 'भूमेर्गमनं न महीरुहस्य' इत्यादौ द्वितीयासमानार्थकषष्ठ्यर्थाभावबोधकताया आवश्यकत्वाच्च ।**

यदि कहो कि वहाँ पर (कर्तृवाचकपदासमभिव्याहार स्थल में) भी आख्यातार्थ के अन्वयबोध के अनुरोध से–आख्यात का अर्थ कृति होती है उस कृति का अन्वय कहाँ पर किया जयेगा यदि कर्ता की उपस्थिति नहीं होगी। अतः कर्ता की उपस्थिति के लिए कर्तृवाचक पद का अध्याहार करना आवश्यक होने के कारण अध्याहृत जो कर्तृवाचकपद

उससे उपस्थाप्य कर्ता में ही उक्त अभाव (महीरुहवृत्तिसंयोगजनकव्यापारानुकूलकृति का अभाव) नञ् के द्वारा बोधित होगा तो ऐसा नहीं कहना चाहिए क्योंकि आख्यातार्थ विशेष्यक भी अन्वयबोध सम्भव है । इसकारण कर्तृवाचक पद का अध्याहार आवश्यक नहीं है। इसलिए प्राचीनों के अनुसार द्वितीया का अर्थ फल मानने पर व्यापार में फल का जनकत्वसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभाव ही भासना चाहिए जो कि जनकत्व के वृत्त्यनियामक होने के कारण सम्भव नहीं है। इसके अलावा यदि कर्तृवाचक पद का अध्याहार आवश्यक होने के कारण कर भी लिया जाये क्योंकि सामान्यतया न्यायमत में प्रथमान्तार्थमुख्य-विशेष्यक शाब्दबोध ही होता है। तो भी **'भूमेर्गमनं न महीरुहस्य'** यहाँ पर तो व्यापार में ही फल का जनकत्वसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभाव भासित होना चाहिए। पहली बात तो यह है कि यहाँ पर **'गमनम्'** ही प्रथमान्त है इसलिए गमनार्थविशेष्यक बोध होना चाहिए और कर्तृवाचकपदाध्याहार की आवश्यकता नहीं है। दूसरी बात यह है कि यहाँ पर षष्ठी **'कर्तृकर्मणोः कृति पा.सू. 2/3/65'** के द्वारा द्वितीया के अर्थ में ही विहित है। इस तरह नञ् न रहने पर यहाँ पर **'भूमेर्गमनम्'** से **'भूमिवृत्तिसंयोगजनको व्यापारः'** 'भूमिवृत्तिसंयोग का जनक व्यापार है' ऐसा शाब्दबोध होता है। इसलिए नञ् रहने पर **'न महीरुहस्य गमनम्'** के द्वारा **'जनकत्वसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक महीरुह वृत्ति संयोगाभाववान् व्यापारः'** जनकत्वसम्बन्ध से अवच्छिन्न प्रतियोगिताक, महीरुहवृत्तिसंयोगाभाव वाला व्यापार है' ऐसा शाब्दबोध होना चाहिए । वह तो सम्भव नहीं ही होगा जनकत्व सम्बन्ध के वृत्त्यनियामक होने के कारण ।

**न हि तत्राप्याश्रयतासम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकगमनाभाव एव प्रतीयत इति सम्यक्-अनुयोग्यनुपस्थितेः, नञोऽनुयोगिविनिर्मोकिणाभावबोधकताया अव्युत्पन्नत्वादिति चेत् ? न, वृत्त्यनियामकसम्बन्धस्याभावप्रतियोगिता-वच्छेदकत्वे दोषः कः ?**

वहाँ पर भी **'भूमेर्गमनं न महीरुहस्य'** इत्यादि स्थलों में भी आश्रयतासम्बन्धावच्छिन्न प्रतियोगिताक गमनाभाव ही प्रतीत होता है, यह कहना तो ठीक नहीं है क्योंकि आश्रयतासम्बन्धा-वच्छिन्नप्रतियोगिताकगमनाभाव की प्रतीति कहाँ पर होगी ? उसका कोई अनुयोगी तो उपस्थित है नहीं और अनुयोगिविनिर्मोक से (अनुयोगी के भान के बगैर) नञ् की अभावबोधकता अव्युत्पन्न है। तो ऐसा कहना (उपर्युक्त आपत्तियाँ) उचित नहीं है क्योंकि यदि वृत्त्यनियामकसम्बन्ध को भी अभावप्रतियोगितावच्छेदकमान लिया जाये तो दोष क्या है?

यहाँ पर आशय यह है कि ऊपर जो दोष दिये गये हैं, आपत्ति दिखायी गयी है वह यह मानकर दिखायी गयी है कि वृत्त्यनियामक सम्बन्ध अभावीयप्रतियोगितावच्छेदक नहीं होता है। यदि हम मान लें कि वृत्त्यनियामक सम्बन्ध भी अभावीयप्रतियोगितावच्छेदक होता है तो क्या दिक्कत है ? उक्त आपत्तियाँ तो दूर हो जायेंगी। व्यापार में जनकत्वसम्बन्धावच्छिन्न प्रतियोगिताक संयोगाभाव का भान होने में कोई परेशानी शेष नहीं रहेगी।

**अथ जनकतादिसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकसंयोगाद्यभावस्याति-रिक्तस्य कल्पने गौरवमिति चेत् ? न, तादृशाभावस्य संयोगजनकत्वाद्य-भावसमनियतत्वेन तत्स्वरूपत्वात् , तस्य चोभयवादिसिद्धत्वात् । अतिरिक्तप्रतियोगिताकल्पने गौरवमिति चेत् ? अस्त्वेतद् गौरवम्,**

**उपदर्शितबहुविधलाघवेनेदृशगौरवस्याकिंचित्करत्वात्।**

यदि कहो कि वृत्त्यनियामक सम्बन्ध को अभावीयप्रतियोगितावच्छेदक इसलिए नहीं मानते हैं कि यदि वृत्त्यनियामक सम्बन्ध को अभावीयप्रतियोगितावच्छदेक मान लिया जायेगा तो जनकतासम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकसंयोगद्यभाव को अतिरिक्त स्वीकारना/कल्पित करना पड़ेगा यह गौरव होगा। तो यह कहना तो ठीक नहीं है क्योंकि जनकत्वसम्बन्धावच्छिन्न प्रतियोगिताक संयोगाद्यभाव संयोगजनकत्वाद्यभाव समनियत होने के कारण संयोगजनकत्वाद्यभाव-स्वरूप ही होगा (क्योंकि '**समनियताभावानामैक्यम्** ' यह नैयायिकों का सिद्धान्त है) वह तो उभयवादि सम्मत (प्राचीन, नवीन दोनों के मत से सम्मत) है। इसलिए अतिरिक्ताभावकल्पनारूप गौरव तो नहीं ही होगा। अतिरिक्त प्रतियोगिता की कल्पना में गौरव होगा? तो ऐसा गौरव रहे, उपदर्शित जो बहुविध लाघव है उससे यह गौरव अकिंचित् कर है। माने इस एकमात्र गौरव से अनेकलाघव जब हैं तो इस एक मात्र गौरव से कोई फ़र्क नहीं पड़ता है।

**अथ फलस्य द्वितीयार्थत्वे वृत्त्यनियामकसम्बन्धस्याभावप्रतियोगितावच्छेदकत्वेपि 'द्रव्यं गच्छति न गुणम् ' इत्यादौ गुणादिनिष्ठस्य संयोगादिरूपफलस्याप्रसिद्ध्या नञर्थान्वयबोधानुपपत्तिरिति चेत् ? न, तत्राधेयतासम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकप्रकृत्यर्थाभावस्यैव द्वितीयार्थे फले नञा बोधनोपगमात् । 'गुणो न गुणं गच्छति' इत्यादि वाक्यस्योभयमत एवाप्रमाणत्वात्। अस्तु वा तत्राभावस्य द्विधा भानोपगमेन गुणाभाववत् फलानुकूलस्पन्दाश्रयत्वाभाववान् गुण इत्याकारक एवान्वयबोधः ।**

यदि फल को द्वितीया का अर्थ मानने पर वृत्त्यनियामकसम्बन्ध को अभावीयप्रतियोगिता का अवच्छेदक मानने पर भी '**द्रव्यं गच्छति न गुणम्** ' इत्यादि स्थलों में गुणादिनिष्ठ संयोगादिरूप फल की अप्रसिद्धि होने के कारण नञर्थ के अन्वयबोध की अनुपपत्ति है ऐसा कहो? '**द्रव्यं गच्छति न गुणम्** ' इत्यादि स्थलों में गुणपद से गुण की और तदुत्तर द्वितीया से संयोगरूप फल की उपस्थिति होगी। गुण का वृत्तित्व सम्बन्ध से संयोग में अन्वय और संयोग का जनकत्वसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभाव गम् धात्वर्थ स्पन्दात्मक व्यापार में भासित होना चाहिए । किन्तु चूँकि न्यायसिद्धान्त है कि गुण में गुण नहीं रह सकता है '**गुणे गुणानङ्गीकारः**' इसलिए गुण का वृत्तित्व सम्बन्ध से गुणात्मक संयोग में अन्वय नहीं हो सकेगा । नव्यमत में तो द्वितीयार्थ आधेयता का ही आश्रयतासम्बन्धावच्छिन्न प्रतियोगिताक अभाव फल में बोधित होता है इसलिए नव्यमत में कोई अनुपपत्ति नहीं है ? तो ऐसा नहीं है (प्राच्यमत में भी कोई अनुपपत्ति नहीं है क्योंकि प्राच्यमत में आधेयता–सम्बन्धावच्छिन्न प्रतियोगिताक प्रकृत्यर्थ (गुण) का अभाव ही नञ् के द्वारा द्वितीयार्थ फल में बोधित होता है ऐसा स्वीकारते हैं । आशय यह है कि प्राच्यमत में प्रकृत्यर्थ और द्वितीयार्थ का संसर्ग आधेयता आकाङ्क्षाभास्य है। यहाँ पर प्रकृत्यर्थ हुआ गुण और द्वितीयार्थ हुआ संयोग । नञ् न रहने पर आधेयतासम्बन्ध से प्रकृत्यर्थ का द्वितीयार्थ संयोगादि रूप फल में अन्वय होता है, यहाँ पर नञ् के रहने पर आधेयतासम्बन्धावच्छिन्न-प्रतियोगिताक प्रकृत्यर्थाभाव (गुणाभाव) ही फलभूत संयोग में भासता है। इसमें कोई आपत्ति नहीं है। इस प्रकार '**आधेयतासम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक गुणाभाववत्**

**संयोगानुकूलव्यापारविषयक**' शाब्दबोध होता है। आधेयता सम्बन्ध से गुणवत्ता का भान संयोग में होने में आपत्ति है क्योंकि गुण में संयोग नहीं रहता है।

'**गुणो न गुणं गच्छति**' इत्यादि वाक्य का तो उभयमत में ही अप्रामाण्य है। आशय यह है कि इन स्थलों पर तो प्राच्यमत में उपर्युक्त रीति से भी शाब्दबोध सम्भव नहीं है क्योंकि उक्तरीति से यहाँ पर '**आधेयतासम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक गुणाभाववत् संयोगानुकूलव्यापारवान् गुणः**' 'आधेयता सम्बन्ध से अवच्छिन्न है प्रतियोगिता जिसकी ऐसे गुणाभाववाला जो संयोगानुकूल व्यापारवाला गुण है' ऐसा शाब्दबोध होना चाहिए । किन्तु इस शाब्दबोध से गुण में व्यापारवत्ता भासित हो रही है '**गुणादिर्निर्गुणक्रियः**' इस न्यायसिद्धान्त के अनुसार गुण व्यापारवान् भी नहीं होता है। बाधितार्थ का अवगाहन करने के कारण प्राच्यमत में यह वाक्य प्रमाण नहीं हो सकेगा ? तो इसके लिए कहना है कि इस वाक्य का तो दोनों ही (प्राच्य और नव्य) मतों में अप्रामाण्य है।

यदि इस वाक्य का अप्रामाण्य मानना नहीं चाहते हो तो प्राच्य मत में यहाँ अभाव का द्विधाभान स्वीकार लिया जाता है, इसलिए '**गुणाभाववत् संयोगानुकूलस्पन्दाश्रयत्वाभाववान् गुणः**' गुणाभाववाले संयोगानुकूल स्पन्द के आश्रयत्व के अभाव वाला गुण' ऐसा ही अन्वयबोध होता है। आशय यह है कि नञ् पदोपस्थाप्य अभाव दो प्रकार से भासित होगा। प्रथम आधेयतासम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक गुणाभाव और दूसरा स्पन्दाश्रयत्वाभाव रूप से । इसलिए ऐसा अन्वयबोध होने में तो कोई आपत्ति नहीं है। इस प्रकार प्राच्यमत में ये दोष भी नहीं है क्योंकि उपर्युक्त रीति से प्राच्यमत परिष्कृत किया जा सकता है। हाँ, इतना ज़रूर है कि नव्यमत में वृत्त्यनियामक सम्बन्ध को अभावीय प्रतियोगितावच्छेदक नहीं मानना पड़ता है और प्राच्यमत में वृत्त्यनियामक सम्बन्ध को अभावीय प्रतियोगितावच्छेदक मानना पड़ता है।

**परे तु वृत्त्यनियामकसम्बन्धस्याभावप्रतियोगितानवच्छेदकत्वे तु नव्यमतेऽपि 'द्रव्यं गच्छति नाभावम्' इत्यादौ गतिविरहः, तथाहि– समवायसम्बन्धावच्छिन्नाधेयतैव द्वितीयार्थो वाच्यः अन्यथा कालिकादिसम्बन्धावच्छिन्नग्रामादिवृत्तिसंयोगादिकमादायातिप्रसङ्गात् , तथा चाभावादिनिरूपिततथाविधाधेयत्वाद्यप्रसिद्ध्या तदभावबोधासम्भवः। निरूपितत्वसम्बन्धस्य च वृत्त्यनियामकतया समवायसम्बन्धावच्छिन्नाधेयतायां तत्सम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकप्रकृत्यर्थाभावबोधो न सम्भवत्येवेत्याहुः ।**

अन्य लोग तो–वृत्त्यनियामक सम्बन्ध को अभावप्रतियोगितावच्छेदक न मानने पर तो नव्यमत में भी '**द्रव्यं गच्छति नाभावम्**' इत्यादि स्थलों में कोई गति नहीं है। क्योंकि समवायसम्बन्धावच्छिन्नाधेयता को ही द्वितीयार्थ कहना पड़ेगा (अन्यथा आधेयता मात्र को द्वितीयार्थ मानने पर तो) कालिकसम्बन्धावच्छिन्न ग्रामादिवृत्तिसंयोगादिक को लेकर अतिव्याप्ति हो जायेगी। अतिप्रसङ्ग या अतिव्याप्ति का आशय यहाँ पर यह है कि जब ग्रामनिष्ठ संयोगानुकूलव्यापार नहीं हो रहा है तब भी '**ग्रामं गच्छति**' ऐसे प्रयोग की आपत्ति आयेगी। क्योंकि कालिक सम्बन्ध से ग्राम में संयोग हमेशा रहेगा। इसलिए कालिकसम्बन्धावच्छिन्न ग्रामनिरूपित आधेयता आश्रयत्वसम्बन्ध से संयोग में हमेशा रहेगी । इस कारण ग्रामनिष्ठ संयोगानुकूलव्यापार नहीं हो रहा हो तब भी '**ग्रामं गच्छति**' से अन्वयबोध हो सकता है

क्योंकि वह बाधितार्थविषयक नहीं होगा । किन्तु ग्रामत्यागादिकाल में उक्तप्रयोग नहीं होता है। इसलिए यही कहना पड़ेगा कि समवायसम्बन्धावच्छिन्नाधेयता ही द्वितीयार्थ है। समवायसम्बन्धावच्छिन्नाधेयता को द्वितीयार्थ मानने पर तो ग्रामत्यागादिकाल में समवाय सम्बन्ध से चैत्रसंयोग ग्राम में असम्भव है। ग्रामनिरूपित समवायसम्बन्धावच्छिन्नाधेयता का आश्रयत्व सम्बन्ध से संयोग में अन्वय सम्भव नहीं है, बाधित है। इसलिए त्यागादिकाल में '**ग्रामं गच्छति**' प्रयोग की आपत्ति नहीं है। किन्तु समवायसम्बन्धावच्छिन्नाधेयता को द्वितीयार्थ मानने पर मुश्किल यह है कि '**द्रव्यं गच्छति नाभावम्** ' इत्यादि वाक्यों से अभावनिरूपित समवायसम्बन्धावच्छिन्नाधेयता का अभाव संयोग में नञ् के द्वारा बोधित होना चाहिए । किन्तु चूँकि अभाव में समवाय सम्बन्ध से कोई भी नहीं रहता है, इसलिए अभावनिरूपित समवायसम्बन्धावच्छिन्नाधेयता ही अप्रसिद्ध होगी । अप्रसिद्धप्रतियोगिक अभाव तो स्वीकारा ही नहीं जा सकता है। इसलिए अभावनिरूपितसमवायसम्बन्धावच्छिन्नाधेयता का अभाव संयोग में उक्त वाक्यजन्य शाब्दबोध का विषय नहीं हो सकता है।

यदि आप चाहें कि निरूपितत्व सम्बन्ध से अभावरूप प्रकृत्यर्थ का अभाव समवाय सम्बन्धावच्छिन्नाधेयता रूप द्वितीयार्थ में शाब्दबोध द्वारा भासित हो जायेगा तो निरूपितत्व सम्बन्ध के वृत्त्यनियामक होने के कारण समवायसम्बन्धावच्छिन्नाधेयता में निरूपितत्व-सम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक (प्रकृत्यर्थ अभाव के) अभाव का बोध तो सम्भव नहीं ही है। मतलब ये कि निरूपितत्वसम्बन्ध वृत्त्यनियामक है इसलिए वह अभावीय प्रतियोगितावच्छेदक नहीं होगा और उस सम्बन्ध से अवच्छिन्न प्रतियोगिता भी नहीं होगी । इसलिए निरूपितत्व-सम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकप्रकृत्यर्थ (अभाव) का अभाव द्वितीयार्थ समवायसम्बन्धावच्छिन्नाधेयता में नहीं भासित हो सकता है। ऐसा कहते हैं ।

यदि वृत्त्यनियामक सम्बन्ध को अभावीय प्रतियोगितावच्छेदक मान लिया जाये तो प्रकृत्यर्थ अभाव का निरूपितत्वसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभाव प्रसिद्ध होगा और उसका भान द्वितीयार्थ में समवायसम्बन्धावच्छिन्नाधेयता में हो सकता है। इस प्रकार प्राच्य और नव्यमत दोनों में ही अभावीयप्रतियोगिता का अवच्छेदक वृत्त्यनियामक सम्बन्ध को मानना ही पड़ेगा। तो यह प्रश्न ज्यों का त्यों बरक़रार है कि कौन सा मत यहाँ पर स्वीकारा जाये?

**अत्रोच्यते–वृत्त्यनियामकसम्बन्धस्याभावप्रतियोगितावच्छेदकत्वे आधेयत्वं संसर्गो विभक्तेः संख्यामात्रमर्थः फलावच्छिन्नव्यापारो धात्वर्थ इत्येवोचितम् । अस्तु च व्युत्पत्तिवैचित्र्येण नामार्थधात्वर्थयोपि साक्षादन्वयबोधस्तथा सत्यतिप्रसङ्गस्य प्रागुपदर्शितप्रकारेण वारणसम्भवात्।**

यहाँ पर यह समाधान दिया जा रहा है —वृत्त्यनियामक सम्बन्ध को अभावीयप्रतियोगितावच्छेदक मानने पर आधेयत्व संसर्ग है (आधेयत्व संसर्ग विधया भासित होगा) विभक्ति का अर्थ संख्यामात्र है और फलावच्छिन्नव्यापार धात्वर्थ है यही मत उचित है। व्युत्पत्ति वैचित्र्य से नामार्थ और धात्वर्थ का साक्षात् ही अन्वयबोध भी स्वीकारा जाये, ऐसा स्वीकारने पर भी अतिप्रसङ्ग पूर्वोपदर्शित प्रकार से वारित किया जा सकता है। अभिप्राय यह है कि यदि वृत्त्यनियामक सम्बन्ध को अभावीय प्रतियोगितावच्छेदक नहीं माना जायेगा तो प्राचीन मत में '**भूमिं गच्छति न महीरुहम्** ' '**भूमेर्गमनं न महीरुहस्य**'

इत्यादि स्थलों में शाब्दबोध असम्भव हो जायेगा शाब्दबोधविषयीभूत अभाव के अप्रसिद्ध होने के कारण । नवीन मत में '**द्रव्यं गच्छति नाभावम्** ' में शाब्दबोध असम्भव होगा क्योंकि शाब्दबोध विषयीभूत अभाव अप्रसिद्ध है। (विगत पृष्ठों में इस विषय पर विस्तृत विवेचन किया जा चुका है) इसलिए अभावीय प्रतियोगिता का अनवच्छेदक यदि वृत्त्यनियामक सम्बन्ध को माना जाता है तो न तो फल को द्वितीयार्थ मानने वाल प्राचीन मत साधु है और न तो आधेयत्व को द्वितीयार्थ मानने वाला नव्यमत साधु है दोनों ही मतों में एक ही जैसा दोष विद्यमान है। इसलिए अभावीयप्रतियोगिता का अवच्छेदक वृत्त्यनियामक सम्बन्ध को मानना ही है तो आधेयत्व का भान संसर्गविधया ही मान लेना चाहिए क्योंकि फल का भान तो संसर्गविधया किसी भी तरह से सम्भव नहीं है। संख्यामात्र को विभक्त्यर्थ मानना चाहिए और फलावच्छिन्नव्यापार धात्वर्थ है यही मानना उचित है। किन्तु इसमें एक समस्या है वह यह कि आधेयत्वात्मक भेद सम्बन्ध से नामार्थ और धात्वर्थ का साक्षात् अन्वयबोध स्वीकारना पड़ेगा। जैसे– '**ग्रामं गच्छति**' यहाँ पर ग्रामपदोत्तर द्वितीया का अर्थ संख्यामात्र (एकत्व) हुआ, गम् धातु का अर्थ संयोगावच्छिन्न (संयोगानुकूल) व्यापार हुआ। ग्रामपदार्थ जो कि नामार्थ है, का आधेयत्व रूप भेद सम्बन्ध से धात्वर्थैकदेश संयोग में अन्वयबोध आप स्वीकार रहे हैं। जबकि नियम है कि '**भेदान्वयबोधश्च प्रातिपदिकार्थधात्वर्थयोः प्रत्ययार्थेन क्वचिन्निपातार्थेन च सममेव जायते न त्वन्येन**' यदि एक जगह पर आप धात्वर्थ और प्रातिदिकार्थ का भेदान्वयबोध स्वीकार कर लेंगे तो अन्य जगहों पर भी धात्वर्थ और प्रातिपदिकार्थ के भेदान्वयबोध की आपत्ति आयेगी ? इसके लिए गदाधर समाधान देते हैं कि यदि यहाँ पर व्युत्पत्तिवैचित्र्य से नामार्थ धात्वर्थ का साक्षात् अन्वयबोध स्वीकार भी कर लिया जाये तो भी पूर्वोपदर्शित प्रकार से अन्यत्र भेदान्वयबोध का वारण शक्य है। व्युत्पत्ति वैचित्र्य का आशय यह है कि उक्त व्युत्पत्ति को हम इस तरह मान लेंगे कि '**भेदान्वयबोधश्च द्वितीयार्थकविभक्त्यन्तपदाभावदशायां प्रातिपदिकार्थधात्वर्थयोः प्रत्ययार्थेन क्वचिन्निपातार्थेन च सममेव जायते न त्वन्येन**' चूँकि '**भूमिं गच्छति न महीरुहम्** ' और '**भूमेर्गमनं न महीरुहस्य**' इत्यादि स्थलों में द्वितीयार्थक विभक्त्यन्तपद का अभाव नहीं है, इसलिए प्रातिपदिकार्थ का भेदान्वयबोध सम्भव है। पूर्वोपदर्शित रीति से अतिव्याप्ति के वारण का अभिप्राय यह है कि पृ. 298-299 में जिस तरह से अव्यवहितोत्तरत्व का निवेश करके अतिप्रसङ्ग वारण किया गया था, उसी प्रकार से निवेश करके यहाँ पर भी अतिप्रसङ्ग वारण किया जा सकता है।

**न चैतत्कल्पे लाघवानकाशः–फले स्वतन्त्रशक्त्यकल्पनेन सामग्री प्रतिबन्धकतायां द्वितीयादिजन्यफलोपस्थितिधातुजन्यव्यापारोपस्थिति-रित्युभयोपस्थित्यपेक्षया धातुजन्यविशिष्टविषयकोपस्थितेरेकस्या निवेशेन लाघवात् ।**

यदि आप कहिए कि इस कल्प में लाघव का अवकाश नहीं है तो यह बात भी नहीं है क्योंकि फल में स्वतन्त्रशक्ति की कल्पना नहीं की जा रही है, इसलिए सामग्रीप्रतिबन्धकता में द्वितीयादिजन्यफलोपस्थिति और धातुजन्य व्यापारोपस्थिति इस प्रकार दो उपस्थितियों का प्रवेश करने के बजाय धातुजन्यविशिष्टविषयक एक ही उपस्थिति की निवेश करना पड़ेगा इसलिए लाघव ही है।

आशय यह है कि प्राचीनों को फल में द्वितीया की स्वतन्त्र शक्ति की कल्पना करनी पड़ती है और धातु की शक्ति व्यापार मात्र में है। इसलिए समानविषयक अनुमिति व भिन्न विषयक प्रत्यक्ष के प्रति शाब्दसामग्री की जो प्रतिबन्धकता है उसमें द्वितीयादि जन्य फलोपस्थिति और धातुजन्य व्यपारोपस्थिति दोनों का प्रवेश करना पड़ेगा क्योंकि दोनों ही उपस्थितियाँ शाब्दबोध सामग्री के अन्तर्गत हैं। यदि आधेयता को संसर्ग और फलावच्छिन्नव्यापार को धात्वर्थ मान लिया जाये तो धातुजन्य एक ही फलावच्छिन्नव्यापरोपस्थिति के सामग्री के अन्तर्गत होने से समानविषयक अनुमिति, भिन्नविषयक प्रत्यक्ष के प्रति प्रतिबन्धकता में एकमात्र धातुजन्यफलावच्छिन्नव्यापारोपस्थिति का प्रवेश करना पड़ेगा । इसलिए इस मत में लाघव है।

**वस्तुतस्तु शाब्दबुद्धेरधिकविषयकत्वे 'राज्ञः पुरुषः' इत्यादौ स्वत्वादेः संसर्गतानिराकरणावसरे सामग्रीप्रतिबन्धकतायां लाघवस्य दर्शितत्वाद् द्वितीयादे-राधेयत्वमर्थः फलावच्छिन्नव्यापारश्च धातोरित्येव युक्तम् ।**

अभी तक तीन मत सामने आये हैं (1) फल को द्वितीयार्थ और व्यापार को धात्वर्थ मानने का मत (2) द्वितीया का अर्थ आधेयत्व और फलावच्छिन्नव्यापार धात्वर्थ (3) आधेयत्व का संसर्गविधया भान और फलावच्छिन्न व्यापार धात्वर्थ । इन तीनों में से अपना मत कौन सा है यह सिद्धान्तित करते हैं कि—

वस्तुतः तो शाब्दबुद्धि के अधिक विषयक होने पर **'राज्ञः पुरुषः'** इत्यादि स्थलों में स्वत्वादि की संसर्गतानिराकरण के अवसर पर सामग्री की प्रतिबन्धकता में लाघव दर्शित होने के कारण द्वितीयादि का अर्थ आधेयत्व है और फलावच्छिन्नव्यापार धात्वर्थ है यही पक्ष उचित है।

अभिप्राय यह है कि फल को द्वितीयार्थ और व्यापार को धात्वर्थ मानने में एक बात तो यह कि वृत्त्यनियामक सम्बन्ध को अभावीय प्रतियोगितावच्छेदक मानना पड़ेगा। दूसरी बात यह है कि **'गच्छति'** मात्र से **'स्पन्दते'** की तरह शुद्धव्यापारबोध मानना पड़ेगा जो कि अनुभवसिद्ध नहीं है। यदि **'गच्छति'** मात्र से फलावच्छिन्नव्यापारबोध स्वीकारें तो गौरव होगा क्योंकि कहीं पर **'गच्छति'** पद प्रयोग होने पर व्यापारमात्रोपस्थिति और कहीं पर फलावच्छिन्नव्यापरोपस्थिति स्वीकारनी पड़ेगी, इस प्रकार यह भी गौरव होगा। तीसरी बात यह है कि द्वितीया को **'ग्राममध्यास्ते'** आदि में आधेयतार्थक और अन्यत्र फलार्थक स्वीकारना पड़ेगा। यह भी गौरव है।

दूसरे नव्यमत में भी प्रथमतः वृत्त्यनियामकसम्बन्ध को अभावीयप्रतियोगितावच्छेदक मानना पड़ेगा। इसके अलावा धात्वर्थतावच्छेदक फलावच्छिन्नव्यापारत्वरूप गुरुधर्म होगा इस तरह भी गौरव होगा। इसके अतिरिक्त समानविषयक अनुमित्यादि के प्रति शाब्दबोध सामग्री प्रतिबन्धकता में विनिगमना विरहात् फलावच्छिन्नव्यापारोपस्थिति का फलनिष्ठप्रकारता-शालित्वेन दोनों रूपों से प्रवेश करना पड़ेगा, इसलिए सामग्री प्रतिबन्धकता का आधिक्य होगा । इसके अतिरिक्त शाब्दबोध के अधिकविषयक होने के कारण तत्कारणीभूत तात्पर्यज्ञानादि भी अधिक ही होंगे और उनका भी शाब्दसामग्री और प्रतिबन्धकता में प्रवेश होगा, इस तरह यह भी गौरव होगा।

इस दूसरे मत में तृतीयमत की अपेक्षा भी शाब्दबोध अधिकविषयक होगा क्योंकि तृतीयमत में आधेयत्व संसर्गविधया आयेगा और द्वितीयमत में प्रकारविधया आयेगा।

इन सारी बातों को दृष्टिगत रखते हुए गदाधर कह रहे हैं कि शाब्दबोध के अधिक विषयक होने पर सामग्री प्रतिबन्धकता में लाघव होता है यह '**राज्ञः पुरुषः**' इत्यादि स्थलों में स्वत्वादि की संसर्गता का निराकरण करने के अवसर पर दिखाया गया है । उसी प्रकार यहाँ पर भी शाब्दबोध के अधिकविषयक होने के कारण सामग्रीप्रतिबन्धकता में लाघव होगा। इसलिए द्वितीया का आधेयत्व अर्थ है और फलावच्छिन्न व्यापार धातु का यही उचित और युक्तिसङ्गत है। द्वितीय मत में गौरव और वृत्त्यनियामक सम्बन्ध को अभाव प्रतियोगितावच्छेदक स्वीकार ही दोष है। वृत्त्यनियामक सम्बन्ध के अभावीयप्रतियोगितावच्छेदक मानने में कोई दोष तो नहीं और उक्तरीति से गौरव भी नहीं है इसलिए द्वितीय मत ही उचित है। तृतीयमत में आधेयत्व की संसर्गता स्वीकारने से '**राज्ञः पुरुषः**' इत्यादि स्थलों में स्वत्व की संसर्गता स्वीकारने पर जैसे गौरव होता है वैसे ही यहाँ पर भी गौरव होगा। इसलिए द्वितीय मत ही साधु है। प्रथममत की त्याज्यता में उपर्युक्त ही कारक है। वृत्त्यनियामक सम्बन्ध का अभावप्रतियोगितीवच्छेदकत्व तो तीनों ही मतों में समान है।

**कर्माख्यातस्य फलमर्थः, अन्यथा 'ग्रामो गम्यते' इत्यादौ ग्रामादेः व्यापारजन्यफलाश्रयत्वरूपकर्मत्वप्रतीत्यनुपपत्तेः यादृशविशेष्यविशेषण-भावापन्नयोः पदशक्यता तादृशविशेष्यविशेषणभावापन्नयोरेव शाब्दबोधे भानसम्भवात्, न तु विपरीतविशेष्यविशेषणभावापन्नयोः।**

कर्माख्यातस्य का फल अर्थ है अन्यथा (कर्माख्यात का अर्थ फल न हो तो ) '**ग्रामो गम्यते**' इत्यादि स्थलों में ग्रामादि में व्यापारजन्यफलाश्रयत्वरूप कर्मत्व के प्रतीति की अनुपपत्ति होगी क्योंकि जैसे विशेष्यविशेषणभावापन्न अर्थों में पदशक्यता होती है वैसे विशेष्यविशेषण अर्थों का शाब्दबोध में भान सम्भव है न कि विपरीत विशेष्यविशेषण भावापन्न अर्थों का ।

अभिप्राय यह है कि '**ग्रामो गम्यते**' यहाँ पर ग्राम में '**गमनजन्यफलाश्रयत्वरूप कर्मत्व**' की प्रतीति अनुभवसिद्ध व स्वीकार्य है। किन्तु यह नियम है कि जिस प्रकार से विशेष्यविशेषणभावापन्न अर्थों में पदशक्यता होती है, उन अर्थों की प्रतीति उसी रूप से विशेष्यविशेषणभावापन्न होकर शाब्दबोध में होती है। '**संयोगानुकूलो व्यापारः गम्धातुशक्यः**' इसी प्रकार से गम् धातु की संयोगानुकूलव्यापार में शक्यता है। इस धातुशक्यता में विशेष्यतापन्न व्यापार है और विशेषणतापन्न है फल । इसलिए '**ग्रामो गम्यते**' से जो शाब्दबोध होगा उसमें संयोग विशेषण बनकर और व्यापार विशेष्य बनकर भासित हो सकता है। धातु से उपस्थित जो संयोगरूप फल है वह विशेष्य बनकर और व्यापार विशेषण बनकर नहीं भासित हो सकता है। इसलिए यदि कर्माख्यात का फल अर्थ न माना जायेगा तो धातु से उपस्थित संयोगानुकूलव्यापार से जन्यफल का आश्रयत्व ग्राम में भासित नहीं हो सकेगा क्योंकि धातु से उपस्थित संयोग व्यापार का विशेष्य बनकर भास नहीं सकता है और दूसरा कोई संयोग किसी से उपस्थित है नहीं । इसलिए यह आवश्यक है कि कर्माख्यात का अर्थ फल मान लिया जाये। इस स्थल में फल का अभिप्राय संयोग से है। धातु से उपस्थित संयोगानुकूलव्यापार का जन्यत्व सम्बन्ध से संयोग में अन्वय हो जायेगा । तथा वह जन्यत्व आकाङ्क्षाभास्य होगा। संयोगरूप फल का ग्राम में आश्रयत्व सम्बन्ध से अन्वय होगा और वह आश्रयत्व आकाङ्क्षाभास्य होगा । इस प्रकार कर्माख्यातस्थलीय

इस वाक्य से जन्य शाब्दबोध में संयोग का दो बार भान होगा एक संयोग धातु से धात्वर्थावच्छेदकविधया उपस्थित होगा और दूसरा कर्माख्यात से उपस्थित होगा। इस प्रकार **'ग्रामो गम्यते'** से **'संयोगानुकूलव्यापारजन्यसंयोगाश्रयो ग्रामः'** 'संयोगानुकूलव्यापारजन्य संयोग का आश्रय ग्राम है' ऐसा शाब्दबोध होगा। इसमें व्यापार विशेषणीभूत संयोग धातु से और व्यापारविशेष्यीभूत संयोग कर्माख्यात से उपस्थित होता है। धातु से उपस्थित संयोग तो दो बार भास नहीं सकता है क्योंकि नियम है कि– **'एकत्र विशेषणत्वेनान्वितस्यान्यत्र विशेषणत्वायोगः'** एक जगह जो विशेषणत्वेन अन्वित होता है उसका दूसरी जगह विशेषणत्व नहीं होता है। संयोग जब व्यापार में विशेषण बन गया तो वही संयोग ग्राम में विशेषण नहीं बन सकता है। दूसरे संयोग की कर्माख्यात से उपस्थिति होने पर तो एक जगह धातु से उपस्थिति संयोग अन्वित होता है दूसरी जगह आख्यात से उपस्थित । अतः कोई समस्या नहीं है।

**यत्तु फले धातोः पृथक् शक्त्युपगमाद् व्युत्पत्तिवैचित्र्येण कर्त्राख्यात समभिव्याहारस्थले व्यापारविशेषणतया भासमानस्य फलस्य कर्माख्यातस्थले तद्विशेष्यतया भानमिति, तन्न, पृथक् शक्तिस्वीकारे शाब्दसामग्र्याः प्रतिबन्धकतायां विशिष्टविषयकोपस्थितिस्थले उपस्थितिद्वयनिवेशे गौरवात्। गम्यादेः सम्पूर्वकयुजिप्रभृतिसमानार्थकताभ्रमवतामिव विशेषदर्शिनामपि 'गमनं न स्पन्दः' इत्यादि वाक्यात् संयोगादौ स्पन्दभेदान्वयबोधापत्तेर्दर्शिताया दुर्वारत्वाच्च। संयोगादिविशेष्यकवृत्तिज्ञानजन्यतदुपस्थितिघटितायास्तथाविधान्वयबोधसामग्र्या अक्षतत्वात्, तत्तद् धातूपस्थाप्यव्यापारांशे तत्तद्विशेषणकबोधतात्पर्यज्ञानस्य तादृशान्वयबोधप्रतिबन्धकताकल्पने गौरवादिति ।**

इस ग्रन्थ के द्वारा वैयाकरणों का जो मत है कि 'एक वृन्तगत फलद्वयन्याय से धातु की फल और व्यापार दोनों में पृथक् शक्ति है' उसे उठाकर खण्डन कर रहे हैं कि—

जो यह कथन है कि फल में धातु की पृथक् शक्ति स्वीकार की जाती है (जैसे कि **'एव'** की शक्ति अन्ययोग और व्यवच्छेद में पृथक्-पृथक् स्वीकार की जाती है क्योंकि सीधे-सीधे अन्ययोगव्यवच्छेद के अप्रसिद्ध होने के कारण एक शक्ति स्वीकार असम्भव होता है) इसलिए व्युत्पत्ति के वैचित्र्य से कर्त्राख्यात समभिव्याहारस्थल में व्यापार विशेषणतया भासमान जो फल है, उसी फल का कर्माख्यातस्थल में विशेषणतया भान हो जायेगा । व्युत्पत्तिवैचित्र्य यही है कि **'फले व्यापारे च खण्डशः शक्तिसत्त्वात् कर्त्राख्यातसमभिव्याहारस्य फलविशेष्यतया व्यापारबोधे कारणत्वम्'** तथा **'कर्माख्यातसमभिव्याहारस्य व्यापारविशेष्यतया फलबोधे कारणत्वम्'** अर्थात् कर्त्राख्यात समभिव्याहार फलविशेष्यतया व्यापार के बोध में कारण होता है और कर्माख्यातसमभिव्याहार व्यापारविशेष्यतया फल के बोध में कारण होता है।

वह सही नहीं है क्योंकि यदि धातु की शक्ति फल और व्यापार में अलग-अलग स्वीकारी जायेगी तो शाब्दसामग्री की समानविषयक अनुमिति आदि के प्रति जो प्रतिबन्धकता है, उसमें विशिष्टविषयक उपस्थिति की जगह पर फलविषयक उपस्थिति और व्यापार विषयक उपस्थिति इन दो उपस्थितियों का निवेश करने के कारण गौरव होगा। चूँकि धातु

की फल और व्यापार दोनों में पृथक् शक्ति आप मान रहे हैं, अतः उनकी उपस्थिति भी अलग-अलग होगी। अभी तक फलावच्छिन्न व्यापार में शक्ति मानी जा रही थी, इसलिए शाब्दसामग्री के अन्तर्गत फलावच्छिन्नव्यापारविषयक एक ही उपस्थिति आती थी । इसलिए समान विषयक अनुमिति आदि के प्रति फलावच्छिन्नव्यापारविषयक एक ही उपस्थिति से घटित सामग्री की प्रतिबन्धकता होती थी । फल और व्यापार दोनों में पृथक् शक्ति मानने की स्थिति में दो उपस्थितियाँ शाब्दसामग्री के अन्तर्गत होंगी फलोपस्थिति और व्यापारोपस्थिति। उक्त प्रतिबन्धकता में भी इन दोनों उपस्थितियों का निवेश करना पड़ेगा । इसलिए गौरव होगा।

इसके अलावा सम्पूर्वक युजिप्रभृति धातुओं के साथ गमिधातुसमानार्थकता का भ्रम जिसे है, उस व्यक्ति को जैसे '**गमनं न स्पन्दः**' से संयोग में स्पन्दभेदान्वयबोध होता है (क्योंकि गमन पद से संयोग की उपस्थिति ही सम् पूर्वकयुजि से गमि की समानार्थकता का भ्रम जिसे है उस व्यक्ति को होती है और संयोग तो स्पन्द से भिन्न है ही) उसी प्रकार विशेषदर्शी को भी, जो व्यक्ति यह जानता है कि गमि धातु सम्पूर्वकयुजि की समानार्थक धातु नहीं है उस व्यक्ति को भी, '**गमनं न स्पन्दः**' से संयोग में स्पन्दभेदान्वयबोध की आपत्ति दुर्वार होगी। (क्योंकि गमन से आपके मत में संयोग और व्यापार दोनों की ही विशेष्यविधया ही उपस्थिति होगी । फिर स्पन्दभेद का अन्वय व्यापार के साथ ही किया जायेगा संयोग के साथ नहीं इसका कोई विनिगमक नहीं है, अतः संयोग के साथ स्पन्दभेद का अन्वय होकर शाब्दबोध होना चाहिए) संयोगादिविशेष्यकवृत्तिज्ञानजन्य संयोगोपस्थिति से घटित सामग्री ही संयोगविशेष्यकस्पन्दभेदान्वयबोध के प्रति कारणीभूत सामग्री है वह तो अक्षत ही है। अभिप्राय यह है कि '**संयोगो न स्पन्दः**' में संयोगविशेष्यकस्पन्दभेदान्वयबोध हुआ करता है, इसलिए आप यही कार्यकारणभाव मान सकते हैं कि '**संयोगविशेष्यक-स्पन्दभेदान्वयबोध के प्रति संयोगविशेष्यकवृत्तिज्ञानजन्य संयोगोपस्थिति कारण होती है**' फल व्यापार में धातु की अलग शक्ति मानने पर गमि धातु की वृत्ति का ज्ञान इस प्रकार होगा कि '**संयोगः स्पन्दश्च गमिधातुशक्यौ**' यह वृत्तिज्ञान संयोगविशेष्यक भी है और स्पन्द (व्यापार) विशेष्यक भी। इसलिए संयोगविशेष्यकवृत्तिज्ञान से जन्य संयोगोपस्थिति '**गमनं न स्पन्दः**' यहाँ पर भी है। फलतः संयोगविशेष्यक स्पन्दभेदान्वयबोधसामग्री विद्यमान है, इस कारण संयोगविशेष्यक स्पन्दभेदान्वय बोध होना चाहिए ।

यदि आप तत्तद्धातूपस्थाप्यव्यापारांश में तत्तद्विशेषणकबोधतात्पर्यज्ञान की संयोगविशेष्यक स्पन्दाभेदान्वयबोध के प्रति प्रतिबन्धकता मान लें तो गौरव होगा । इस तरह तात्पर्यज्ञान की प्रतिबन्धकता तो कल्पित की जा सकती है क्योंकि यहाँ पर प्रतिबन्धकता इस प्रकार कल्पित करेंगे कि '**गम् धातूपस्थाप्यव्यापारांशे स्पन्दभेदविशेषणकबोधतात्पर्यज्ञानं गम् धातूपस्थाप्यसंयोगविशेष्यकस्पन्दभेदान्वयबोधे प्रतिबन्धकम्** ' अर्थात् गम् धातु से उपस्थाप्य व्यापार अंश में स्पन्दभेद का विशेषणविधया अन्वय करना चाहिए इस प्रकार का तात्पर्यज्ञान, गम् धातु से उपस्थाप्य संयोग को विशेष्य बनाकर स्पन्दभेद का उसमें विशेषणविधया अन्वयबोध का प्रतिबन्धक होगा। चूँकि '**गमनं न स्पन्दः**' यहाँ पर गम् धातूपस्थाप्यव्यापारांश में स्पन्दभेद का अन्वय करना है यह तात्पर्य ज्ञान विद्यमान है जो कि प्रतिबन्धक है। अतः गम् धातूपस्थाप्य संयोगविशेष्यक स्पन्दभेदान्वयबोध नहीं हो सकेगा । किंतु इस प्रकार गौरव होगा। प्रथम गौरव तो यह कि उपर्युक्त रीति से तात्पर्यज्ञान और

शाब्दबोध का प्रतिबध्यप्रतिबन्धकभाव मानना पड़ेगा । दूसरा यह कि तात्पर्यज्ञानाभाव प्रतिबन्धकाभाव होगा प्रतिबन्धकाभाव भी कारण सामग्री के अन्तर्गत होगा ही। इसलिए समानविषयक अनुमिति आदि के प्रति शाब्दसामग्री की प्रतिबन्धकता में उक्त तात्पर्यज्ञानाभावरूप प्रतिबन्धकाभाव का भी निवेश करना पड़ेगा। ये दोनों ही फलावच्छिन्नव्यापार में धातु की शक्ति मानने पर नहीं होते हैं। अतः फल और व्यापार में धातु की पृथक्-पृथक् शक्ति का स्वीकार अनुचित है।

**फलस्य द्विधा भानं चेदनुभवविरुद्धं तदा पुनरनायत्या फलव्यापारयोः खण्डशः शक्तिद्वयमेव धातोः स्वीकरणीयम्, आख्यातस्याश्रयत्वमेव तत्रार्थः। अधिकमग्रे वक्ष्यते ।**

इस प्रकार पूर्व ग्रन्थ से यह व्यवस्थापित हुआ कि कर्माख्यात स्थल में कर्माख्यात का अर्थ फल (संयोगादि) ही है। किन्तु ऐसा स्थिति में '**ग्रामो गम्यते**' इत्यादि स्थलों जो '**संयोगानुकूलव्यापारजन्यसंयोगाश्रयो ग्रामः**' 'संयोगजनक व्यापार जन्य संयोग का आश्रम ग्राम है' ऐसा शाब्दबोध होता है। उसमें संयोग का भान दो बार हो रहा है उसके लिए कहते हैं कि—

यदि फल का दो बार भान अनुभवविरुद्ध हो[1] (अनुभव में फल का एक ही बार भान आता हो) तब तो दूसरी कोई गति न होने से (फलावच्छिन्नव्यापार में धातु की शक्ति मानकर फल का एक बार अनुभव दुरुपपाद होगा, इसलिए) फल और व्यापार दोनों में धातु की खण्डशः दो शक्तियाँ ही स्वीकारनी चाहिए। आख्यात का आश्रयत्व ही फिर कर्माख्यातस्थल में अर्थ होगा । इस विषय में अधिक आगे (धातुप्रकृतिक प्रत्यय निरूपण के अवसर पर) मेरे द्वारा कहा जायेगा । इस पक्ष में '**व्यापारजन्यसंयोगाश्रयो ग्रामः**' व्यापारजन्यसंयोग का आश्रय ग्राम है यही शाब्दबोध होता है।

**अथ द्वितीयाया आधेयत्वार्थकत्वे व्यापारे तदन्वयतात्पर्येण सप्तम्या इव द्वितीयाया अपि प्रयोगापत्तिः, न हि 'गृहे पचति' इत्यादिवत् 'गृहं पचति' इति कश्चित् प्रयुङ्क्ते ? मैवम् —धात्वर्थतावच्छेदकफलांशे आधेयत्वान्वय एव तादृशद्वितीयायाः साकाङ्क्षत्वकल्पनाद् व्यापारे तदुपस्थापिताधेयत्वान्वयासम्भवात् । सप्तम्यधीनाधेयत्वोपस्थितिसप्तमीसमभिव्याहारज्ञानघटिताया एव सामग्र्यास्तादृशान्वयबोधनियामकत्वात् । द्वितीयासप्तम्योः समानार्थकत्वेऽपि व्युत्पत्तिभेदज्ञापनायैव पृथक्-पृथक् सूत्रेणैव तयोर्विधानात् ।**

अभी तक के विवेचन से द्वितीया का आधेयत्वार्थकत्व और धातु का फलावच्छिन्नव्यापारार्थकत्व होता है यह सिद्धान्तित किया गया। अब इस में एक प्रश्न उठा रहे हैं, वह इस कारण उठा रहे हैं क्योंकि सप्तमी का भी आधेयत्वार्थकत्व ही न्याय सिद्धान्त में है—

यदि द्वितीया का आधेयत्व अर्थ होगा तो व्यापार में आधेयत्व के अन्वय के तात्पर्य से जैसे सप्तमी का प्रयोग होता है वैसे ही द्वितीया का भी प्रयोग होना चाहिए किंतु '**गृहे पचति**' की तरह कोई '**गृहं पचति**' ऐसा प्रयोग नहीं करता है। कहने का आशय यह है कि यदि द्वितीया का भी सप्तमी की तरह आधेयत्व ही अर्थ हो तो जैसे सप्तम्यर्थ आधेयत्व

1. टिप्पणी–इससे यह प्रतीत होता है कि फल का दो बार भान वस्तुतः अनुभावविरुद्ध नहीं है।

का व्यापार में अन्वय के तात्पर्य से '**गृहे पचति**' ऐसा प्रयोग और उससे '**गृहनिरूपिताधेयताश्रयपाकानुकूलकृतिविषयक**' शाब्दबोध होता है, उसी प्रकार द्वितीयार्थ आधेयत्व का भी पाकात्मक व्यापार में अन्वय के तात्पर्य से '**गृहं पचति**' भी प्रयोग होना चाहिए । क्योंकि दोनों का ही(सप्तमी और द्वितीया का) आधेयत्व ही अर्थ है। किन्तु कोई भी व्यापार में द्वितीयार्थ आधेयत्व का अन्वय करने के अभिप्राय से '**गृहे पचति**' की तरह '**गृहं पचति**' ऐसा प्रयोग नहीं करता है। इसलिए द्वितीया का अर्थ आधेयत्व के सिवा कुछ और ही होना चाहिए?

तो ऐसा नहीं है, क्योंकि धात्वर्थतावच्छेदकफलांश में ही आधेयत्वान्वय करने में आधेयत्वार्थक द्वितीया के साकाङ्क्षत्व की कल्पना करते हैं, अतः व्यापार में द्वितीया से उपस्थापित आधयेत्व का अन्वय सम्भव नहीं है। अर्थात् द्वितीया और सप्तमी दोनों के आधेयत्वार्थक होने पर भी '**धात्वर्थतावच्छेदकफलांश एव आधेयत्वान्वये द्वितीयायाः साकाङ्क्षत्वम्** ' धात्वर्थतावच्छेदक फल अंश में आधयेत्व का अन्वय करने में ही, द्वितीया की साकाङ्क्षता है। ऐसी कल्पना करते हैं, इसलिए धात्वर्थव्यापार में द्वितीयार्थ आधेयत्व का अन्वयबोध वाक्य द्वारा सम्भव नहीं होता है। सप्तमी के अधीन आधेयत्वोपस्थिति और सप्तमीसमभिव्याहार ज्ञान से घटित सामग्री ही धात्वर्थ व्यापार में आधेयत्वान्वयबोध की नियामिका होती है। यही जो व्युतपत्तिभेद है इसी को ज्ञापित करने के लिए द्वितीया और सप्तमी का अर्थ समान होते हुए भी अलग-अलग सूत्रों '**कर्मणि द्वितीया**' और '**सप्तम्यधिकरणे च पा॰सू॰ 2/3/37**' के द्वारा द्वितीया और सप्तमी का विधान किया गया है। इस प्रकार '**तण्डुलं पचति**' से '**तण्डुलवृत्तिविक्लित्यनुकूलव्यापारविषयक**' शाब्दबोध होता है और द्वितीयार्थ आधेयत्व का विक्लिति रूप फल में अन्वय होता है, न कि पाकात्मक व्यापार में । अतः यहाँ पर तण्डुलपद से सप्तमी नहीं होती है। '**गृहे पचति**' से '**गृहनिरूपितधेयताश्रयपाक विषयक**' शाब्दबोध होता है, यहाँ पर सप्तम्यर्थ आधेयत्व का विक्लिति रूप पाक फल में अन्वय नहीं होता है बल्कि पाकात्मक व्यापार में अन्वय होता है। अतः गृह पद से सप्तमी होती है, द्वितीया नहीं होती है।

**'अथाधःसंयोगावच्छिन्नस्पन्दस्य पतधात्वर्थत्वाद् धात्वर्थतावच्छेदककीभूतफले आधेयत्वान्वयतात्पर्येण 'भूमिं पतति' इति प्रयोगापत्तिः ।**

अब तक जो विवेचन है उससे यह निष्कर्ष निकलता है कि यदि धात्वर्थतावच्छेदकीभूत फल में आधेयत्वान्वय में तात्पर्य होगा तो द्वितीया होगी। इस पर यह प्रश्न उठता है कि—

अधः संयोगावच्छिन्नस्पन्द पत धातु का अर्थ है इसलिए धात्वर्थतावच्छेदकीभूत फल अधः संयोग में आधेयत्वान्वय तात्पर्य से '**भूमौ पतति**' की जगह पर '**भूमिं पतति**' ऐसा प्रयोग होने की आपत्ति है। क्योंकि यहाँ पर व्यापार में तो भूमिनिरूपिताधेयत्व का अन्वय नहीं होता है, बल्कि अधःसंयोग में ही भूमिनिरूपिताधेयत्व का अन्वय होता है। जबकि '**भूमिं पतति**' ऐसा प्रयोग नहीं होता है। व्यापार में तो भूमिवृत्तित्व नहीं है।

**न च द्वितीयोपस्थिताधेयत्वप्रकारकफलविशेष्यकान्वयबोधे गम्यादिजन्यफलोपस्थितितत्समभिव्याहारज्ञानघटितसामग्र्येव प्रयोजिका न तु धातुजन्यतदुपस्थितिघटिता सामग्रीति नातिप्रसङ्ग इति वाच्यम्, पतधातुनैव यत्र**

**संयोगावच्छिन्नगमनं लक्षणादिनोपस्थापितं तत्र संयोगे द्वितीयार्थाधेयत्वान्वयात्।**

यदि कहो कि द्वितीया से उपस्थित आधयेत्वप्रकारकफलविशेष्यक अन्वयबोध में द्वितीया से उपस्थित आधयेत्व को प्रकार बनाकर और फल को विशेष्य बनाकर होने वाले शाब्दबोध के प्रति) गम्यादिजन्य फलोपस्थिति और गमिधातु समभिव्याहार ज्ञान से घटित सामग्री ही प्रयोजिका (कारण) होती है, न कि पतधातु से जन्य उपस्थिति और पतधातुसमभिव्याहारज्ञान से घटित सामग्री, इसलिए उक्त अतिप्रसङ्ग नहीं होगा। यदि द्वितीया से उपस्थित आधयेत्वप्रकारक फलविशेष्यक अन्वयबोध के प्रति गमि आदि धातु से जन्य फलोपस्थिति और गमिधातुसमभिव्याहारज्ञान से घटित सामग्री की ही प्रयोजकता हम स्वीकारेंगे, पतधातुजन्यफलोपस्थिति और पतधातुसमभिव्याहारज्ञान से घटित सामग्री की प्रयोजकता नहीं स्वीकारेंगे तो **'भूमिं पतति'** इस प्रयोग की आपत्ति नहीं होगी क्योंकि यहाँ अधःसंयोगरूपफल की उपस्थिति गम्यादिधातुजन्य न होकर पतधातुजन्य है। इसलिए यहाँ पर सामग्री पतधातुजन्य फलोपस्थिति और पतधातुसमभिव्याहार ज्ञान से घटित है। यह सामग्री तो द्वितीया से उपस्थित आधेयत्व को प्रकार बनाकर और फल को विशेष्य बनाकर होने वाले शाब्दबोध के प्रति तो कारण ही नहीं है। इसलिए यहाँ पर द्वितीयोपस्थिताधेयत्वप्रकारक फलविशेष्यक (अधःसंयोगविशेष्यक) अन्वयबोध नहीं ही होता है।

तो ऐसा नहीं चाहिए क्योंकि जहाँ पर पत धातु से ही लक्षणा के द्वारा संयोगावच्छिन्न गमन उपस्थापित होता है वहाँ पर संयोग में द्वितीयार्थ आधेयत्व का अन्वय होता है। अर्थात् चूँकि जहाँ पर लक्षणा के द्वारा संयोगानुकूलगमनात्मक व्यापार पतधातु से उपस्थित होता है, जैसे कि– **'वेश्यालयं पतति'** यहाँ पर वेश्यालयगमन में दुःखजनक दृष्टजनकता है, यह द्योतित करने के लिए गम् धातु के अर्थ में पत धातु का प्रयोग किया गया है। यहाँ पर संयोगानुकूलगमन पत धातु से ही उपस्थित होता है और धात्वर्थतावच्छेदक संयोग में द्वितीयोपस्थित आधेयत्व का प्रकारविधया अन्वय होकर शाब्दबोध में भान होता है। इसलिए आप यह नहीं कह सकते हैं कि पत धातुजन्यफलोपस्थिति और पतधातुसमभिव्याहारज्ञानघटित सामग्री द्वितीयार्थ आधेयत्वप्रकारकफल विशेष्यक अन्वयबोध में प्रयोजक नहीं होती है।

**अत्राहुः—धातुजन्यशुद्धसंयोगावच्छिन्नस्पन्दोपस्थितेः शाब्दबोधकारणतायामवच्छेदकघटकसंयोगविषयतायामधिकरणानवच्छिन्नत्वं विशेषणं देयम् , तथा च तादृशविषयताशालिसंयोगोपस्थित्यादिघटितसामग्र्या एव संयोगविशेष्यकद्वितीयोपस्थाप्याधेयत्वान्वयबोधप्रयोजकत्वोपगमान्नातिप्रसङ्गः।**

यहाँ पर यह कहते हैं—धातुजन्यशुद्धसंयोगावच्छिन्न स्पन्दोपस्थिति की शाब्दबोध कारणता में अवच्छेदकघटकसंयोगविषयता में अधिकरणावच्छिन्नत्व विशेषण देना चाहिए, इस प्रकार तादृशविषयताशालिसंयोगोपस्थिति आदि से घटित सामग्री का ही संयोगविशेष्यक द्वितीया से उपस्थाप्य आधेयत्वान्वयबोधप्रयोजकत्व स्वीकारा जाता है, इसलिए उक्त अतिप्रसङ्ग नहीं है।

अभिप्राय यह है कि धातुजन्यशुद्धसंयोगावच्छिन्नस्पन्दोपस्थिति ही तादृशशाब्दबोध के प्रति कारण होती है, धातुजन्यविशिष्टसंयोगावच्छिन्नस्पन्दोपस्थिति तादृशशाब्दबोध (द्वितीयार्थाधेयत्व प्रकारक फलविशेष्यक अन्वयबोध ) के प्रति कारण नहीं होती है। इसी कारण '**भूमिं पतति**' ऐसा प्रयोग नहीं होता है जबकि '**ग्रामं गच्छति**' ऐसा प्रयोग होता है। पत धातु से '**अधःसंयोगावच्छिन्नस्पन्दोपस्थिति**' होती है, शुद्ध '**संयोगावच्छिन्नस्पन्दोपस्थिति**' नहीं । इसलिए धातुजन्य शुद्धसंयोगावच्छिन्न स्पन्दोपस्थिति की जो शाब्दबोध कारणता है, उसमें अवच्छेदकीभूत संयोगविषयिता में अधिकरणानवच्छिन्नत्व विशेषण देना चाहिए। अर्थात् '**द्वितीयार्थाधेयत्वप्रकारकसंयोगविशेष्यकशाब्दबोधं प्रति अधिकरणानवच्छिन्नसंयोगविशेष्यताशालि धातुजन्यफलावच्छिन्नव्यापारोपस्थितिः कारणम्**' 'द्वितीयार्थाधेयत्वप्रकारक संयोगविशेष्यक शाब्दबोध के प्रति अधिकरणानवच्छिन्न संयोगविषयता–शाली धातुजन्यफलावच्छिन्न व्यापारोपस्थिति कारण होती है' इस प्रकार कार्यकारणभाव स्वीकारना चाहिए । इस प्रकार अधिकरणानवच्छिन्नसंयोगविषयताशालि उपस्थिति आदि से घटित जो सामग्री होगी वही संयोगविशेष्यक द्वितीयार्थाधेयत्वप्रकारकान्वयबोध को उत्पन्न करेगी, दूसरी नहीं । '**ग्रामं गच्छति**' में गम् धातुजन्य जो फलावच्छिन्न व्यापार की उपस्थिति होती है उसमें संयोग अधिकरणावच्छिन्न होकर नहीं विषय होता है बल्कि शुद्धसंयोग ही विषय होता है, वहाँ पर '**संयोगानुकूलव्यापार**' की ही उपस्थिति होती है। संयोग में कोई भी विशेषण बनकर नहीं भासित होता है। इसलिए वहाँ पर द्वितीयार्थाधेयत्वप्रकारकसंयोगविशेष्यक '**ग्रामनिरूपिताधेयताश्रयसंयोगानुकूलव्यापारानुकूला कृतिः**' 'ग्रामनिरूपित आधेताश्रय संयोगानुकूल व्यापारानुकूल कृति है' ऐसा शाब्दबोध होता है। '**भूमि पतति**' में पतधातु से जो फलावच्छिन्नव्यापार '**अधः संयोगानुकूलस्पन्द**' की उपस्थिति होती है, उसमें संयोग अधस्त्वविशिष्ट होकर ही विषय होता है, अधोदेशरूप अधिकरण से अवच्छिन्न होकर ही विषय होता है। संयोगविषयता अधिकरणानवच्छिन्न नहीं होती है। इसलिए द्वितीयार्थाधेयत्वप्रकारक संयोगविशेष्यक शाब्दबोध '**भूमिं पतति**' से सम्भव नहीं है। इसलिए ऐसा प्रयोग नहीं होता है। '**वेश्यालयं पतति**' इस लाक्षणिक स्थल में तो पतधातुजन्य फलावच्छिन्नव्यापार '**संयोगानुकूलस्पन्द**' की उपस्थिति होती है। इसमें संयोग अधिकरणानवच्छिन्न होकर ही उपस्थित होता है। इसलिए यहाँ पर द्वितीयार्थाधेयत्वप्रकारक संयोगविशेष्यक अन्वयबोध होता है।

**न चैवमपि फलावच्छिन्नव्यापारबोधकताया पतेःसकर्मकत्वव्यवहारापत्तिर्दुर्वारैवेति वाच्यम्, आश्रयानवच्छिन्नफलावच्छिन्नव्यापारबोधकत्वस्यैव तादृशव्यवहारनियामकत्वात् । उत्तरदेशानवच्छिन्नमेव संयोगः फलं गम्यार्थतावच्छेदकमिति नानुपपत्तिः, अत एवाग्निसंयोगावच्छिन्नक्रियानुकूलव्यापारस्य जुहोत्यर्थतया धात्वर्थतावच्छेदकसंयोगाश्रयस्याप्यग्नेर्न तत्कर्मता –आश्रयानवच्छिन्नावच्छेदकताश्रयफलवत्त्वविरहात् । संयोगनिष्ठाया धात्वर्थतावच्छदेकताया आश्रेयणाग्निनाऽवच्छिन्नत्वात् ।**

यदि कहो कि फलावच्छिन्न व्यापारबोधक होने के कारण पत धातु के सकर्मकत्व व्यवहार की आपत्ति तो दुर्वार होगी (पूर्व में पृ॰ 293 पर यह प्रतिपादित किया गया कि फलावच्छिन्न व्यापारबोधिका धातु सकर्मक है ऐसा स्वीकारने की स्थिति में चूँकि पतधातु अधःसंयोगावच्छिन्नव्यापार की बोधिका होती है। इस प्रकार पत के अधः संयोग-

रूपफलावच्छिन्नव्यापार का बोधक होने के कारण उसकी भी सकर्मकता आपन्न होती है) तो ऐसा नहीं कहना चाहिए क्योंकि आश्रयानवच्छिन्नफलावच्छिन्नव्यापारबोधकत्व ही धातु की सकर्मकता के व्यवहार का नियामक होता है। चूँकि पत धातु में **'अधःसंयोगावच्छिन्नव्यापार'** का ही बोधकत्व है। इसमें फल अधोदेश रूप आश्रय से अवच्छिन्न है। और अधोदेशरूप आश्रय से अवच्छिन्न जो फल उस से अवच्छिन्न व्यापार का बोधकत्व पत धातु में है। अतः पत धातु का सकर्मकत्व नहीं है।

अब इसमें एक प्रश्न उठता है कि इस प्रकार गम् धातु का भी सकर्मकत्व नहीं हो सकेगा, क्योंकि गम् से **'उत्तरदेशसंयोगावच्छिन्न व्यापार'** का ही बोधन होता है। इसमें संयोगरूप फल उत्तरदेशरूप आश्रय से अवच्छिन्न है। क्या इस तरह उत्तरदेशरूप आश्रय से अवच्छिन्नसंयोग से अवच्छिन्न व्यापार का ही बोधक होने के कारण गम् धातु का भी पत धातु की तरह सकर्मकत्व नहीं होगा? तो इसका समाधान करने के लिए गदाधर कहते हैं कि– उत्तरदेशानवच्छिन्न ही संयोगरूपफल गम् धातु का शक्यतावच्छेदक होता है इससे गम् धातु के सकर्मकत्व में कोई अनुपपत्ति नहीं है। इसीलिए अग्निसंयोगावच्छिन्न क्रियानुकूलव्यापार के जुहोति, हु धातु का अर्थ होने के कारण धात्वर्थतावच्छेदक संयोगाश्रय भी अग्नि की हुधातु कर्मता नहीं होती है, अग्नि में आश्रयानवच्छिन्नअवच्छेदकताश्रयफलवत्त्व का अभाव होने के कारण । यहाँ पर संयोगनिष्ठा जो धात्वर्थतावच्छेदकता है वह आश्रयीभूत अग्नि से अवच्छिन्न है।

अभिप्राय यह है कि हु धातु का अर्थ **'अग्निसंयोगावच्छिन्नक्रियानुकूलव्यापार'** अवच्छिन्नत्व का अर्थ है अनुकूलत्व, इस प्रकार **'अग्निसंयोगानुकूलक्षरण क्रिया-नुकूलनोदनादिव्यापार'** हु धातु का अर्थ है। अग्निसंयोग के अनुकूल घृतादि में रहनेवाली क्षरण क्रिया के अनुकूल नोदनादि व्यापार हु धातु का अर्थ होता है। यहाँ पर धात्वर्थतावच्छेदक[1] दो हैं–एक तो संयोग और दूसरी क्षरण क्रिया। संयोगाश्रय है अग्नि और क्षरण क्रियाश्रय है घृतादि। तो क्या हु धातु के अग्नि और घृत दोनों ही कर्म होते हैं ? तो ऐसा नहीं है हुधातु के कर्म सिर्फ घृतादि होते हैं अग्नि नहीं । क्योंकि जो फल आश्रयानवच्छिन्नधात्वर्थता-वच्छेदकताश्रय हो, तत्फलवत्त्व जिसमें रहेगा उसे कर्म कहेंगे। संयोगरूप फल हु धात्वर्थतवच्छेदक तो है किन्तु उसमें रहनेवाली अवच्छेदकता आश्रयानवच्छिन्न नहीं है क्योंकि उसमें अग्निवैशिष्ट्य भासित होता है जो कि संयोग का आश्रय है। चूँकि संयोग अग्निरूप आश्रय से अवच्छिन्न है, इसलिए संयोगनिष्ठा धात्वर्थतावच्छेदकता अग्निरूप आश्रय से अवच्छिन्न है। अतः अग्नि के धात्वर्थतावच्छेदक संयोगाश्रय होने पर भी अग्नि की कर्मता नहीं होती है। क्रियारूप जो धात्वर्थतावच्छेदक है, उसमें आश्रयवैशिष्ट्य नहीं भासित होता है (यद्यपि उसमें अग्निसंयोगावच्छिन्नत्व का वैशिष्ट्य भासता है तथापि आश्रयवैशिष्ट्य तो नहीं भासता है) इसलिए क्रिया (क्षरण क्रिया) निष्ठा जो धात्वर्थतावच्छेदकता है वह आश्रय से अनवच्छिन्ना है। इसलिए तादृशक्रियाश्रय होने के कारण घृत की ही कर्मता हु धातु के योग में होती है, अग्नि की नहीं ।

**न चाग्निविशेषितसंयोगस्य धात्वर्थतावच्छेदकत्वे 'अग्नौ घृतं जुहोति' इत्यत्रानन्वयप्रसङ्गः–उद्देश्यतावच्छेदकविधेययोरैक्यादिति वाच्यम्, तत्र**

1. टिप्पणी–यद्यपि संयोग धात्वर्थतावच्छेदक है और क्रिया ही धात्वर्थतावच्छेदक है तथापि यहाँ पर धात्वर्थतावच्छेदक पद के धात्वर्थतावच्छेदक और धात्वर्थतावच्छेदकतावच्छेदक साधारण होने के कारण दोनों का धात्वर्थतावच्छेदकत्व प्रतिपादित है।

**संयोगनिष्ठायामुद्देश्यतायां वह्नेराधेयतासंसर्गेणावच्छेदकतया सप्तम्यर्थस्याग्निवृत्तित्वस्य च विधेयतया उद्देश्यतावच्छेदकविधेययोरैक्यानवकाशात्।**

बतलाया गया कि '**अग्निसंयोगानुकूलक्रियानुकूलव्यापार**' हु धातु का अर्थ है। इस अर्थ को स्वीकारने में एक समस्या है, वह यह कि यदि '**अग्नौ घृतं जुहोति**' यह वाक्य प्रयोग किया जाये जो यहाँ अग्नि पद से **अग्नि** की, अग्निपदोत्तर सप्तमी से **आधेयत्व** की उपस्थिति होती है, हु धातु से '**अग्निसंयोगानुकूल क्रियानुकूलव्यापार**' की उपस्थिति होती है। अब यहाँ पर अग्नि वृत्तित्व का अन्वय कहाँ पर किया जाये ? अग्निसंयोग में ही कर सकते हैं, उसमें विशेषण है अग्निवृत्तित्व क्योंकि अग्निसंयोग की अर्थ अग्निवृत्ति संयोग ही है। इस प्रकार उद्देश्यतावच्छेदक और विधेय दोनों ही अग्निवृत्तित्व है। इसी प्रश्न को उठाकर समाधान करते हैं कि—

यदि कहो कि अग्निविशेषितसंयोग के धात्वर्थतावच्छेदक होने पर '**अग्नौ घृतं जुहोति**' यहाँ पर अनन्वय का प्रसङ्ग है क्योंकि उद्देश्यतावच्छेदक और विधेय एक हो जायेंगे (उद्देश्यतावच्छेदक औव विधेय का ऐक्य होने पर तो शाब्दबोध नहीं होता है उद्देश्यतावच्छेदक भी अग्निवृत्तित्व है और वही विधेय है) तो ऐसा नहीं कहना चाहिए क्योंकि संयोगनिष्ठ उद्देश्यता में वह्नि आधेयता संसर्ग से अवच्छेदक होने और सप्तम्यर्थ अग्निवृत्तित्व के विधेय होने के कारण उद्देश्यतावच्छेदक और विधेय के ऐक्य का अवकाश नहीं है।

समाधान का आशय यह है कि अग्निसंयोग उद्देश्य है और विधेय है अग्निवृत्तित्व । अग्निसंयोग में अग्निवृत्तित्व विशेषण नहीं है बल्कि आधेयत्व सम्बन्ध से अग्नि विशेषण है। इस प्रकार उद्देश्यावच्छेदक अग्नि हुआ और विधेय हुआ अग्निवृत्तित्व । इस प्रकार स्पष्टतः उद्देश्यतावच्छेदक और विधेय का ऐक्य नहीं है। इस प्रकार यहाँ पर '**अग्निवृत्ति अग्निसंयोगानुकूलघृतवृत्तिक्षरणक्रियानुकूलव्यापार**' को विषय करने वाला शाब्दबोध होता है।

**वस्तुतस्तु तत्र वह्नेरनन्वयेपि न क्षतिः—व्युत्पन्नानां तादृशप्रयोगस्याप्रामाणिकत्वात् ।'संस्कृते वह्नौ जुहुयात्'इत्यादिस्थले च विधेयांशेऽधिकावगाहनान्नास्त्येवानुपपत्तिः । घृतादेश्चाश्रयानवच्छिन्नधात्वर्थतावच्छेदकतावत् क्रियारूपफलाश्रयत्वात् कर्मत्वोपपत्तिः।**

वस्तुतः तो वहाँ पर '**अग्नौ घृतं जुहोति**' इत्यादि स्थलों पर यदि उद्देश्यतावच्छेदक औव विधेय का ऐक्य होने के कारण वह्नि का अन्वय नहीं हो पाता है तो भी कोई क्षति नहीं है क्योंकि व्युत्पन्नों का वैसा प्रयोग अप्रामाणिक है। व्युत्पन्न लोग वैसा प्रयोग नहीं ही करते हैं।

यदि कहो कि '**समिद्धतमेऽग्नौ जुहुयात्**' '**संस्कृते वह्नौ जुहुयात्**' इत्यादि तो व्युत्पन्नों के प्रयोग हुआ करते हैं तो समाधान दे रहे हैं कि –'**संस्कृते वह्नौ जुहुयात्**' इत्यादि स्थलों में तो विधेयांश में अधिकांश का अवगाहन होने के कारण शाब्दबोध में कोई अनुपपत्ति नहीं है। यहाँ पर हु धात्वर्थतावच्छेदक अग्निसंयोग में संस्कृतवह्निवृत्तित्व (या समिद्धतमवह्निवृत्तित्व) का अन्वय करना पड़ेगा। अतः अग्निवृत्तित्व उद्देश्यतावच्छेदक है और संस्कृतवह्निवृत्तित्व विधेय है। विधेयकोटि में अधिकावगाही शाब्दबोध तो स्वीकार ही

किया जाता है। इसलिए कोई अनुपपत्ति नहीं है। आश्रय से अनवच्छिन्न जो क्रिया निष्ठ धात्वर्थतावच्छेदकता उसका आश्रयत्व घृतादि में है, इसलिए घृतादि के कर्मत्व की उपपत्ति होती है।

**विमर्श**:-मीमांसकों के मत से तो हु धात्वर्थतावच्छेदकता संयोगनिष्ठ धात्वर्थतावच्छेदकता अग्नि से अवच्छिन्न नहीं ही होती है क्योंकि **'अप्सु जुहोति'** **'पाणौ जुहोति'** **'पदे जुहोति'** इस प्रकार से विभिन्न होमाधिकरणों की प्रतीति होती है। इन जगहों पर तो संयोग व तन्निष्ठ धात्वर्थतावच्छेदकत्व अग्निरूप अधिकरण से अवच्छिन्न नहीं ही हो सकता है। अतः अधिकरणसामान्य ही संयोग का अवच्छेदक होता है। फलतः शाब्दबोध की अनुपपत्ति नहीं है।

नैयायिकों के मत में तो उक्त वाक्यों में हु धातु लाक्षणिक अर्थ तात्पर्य से ही प्रयुक्त होता है। हु धातु का शक्यार्थ तो **'अग्निसंयोगानुकूलक्रियानुकूलनोदनात्मक व्यापार'** ही हुआ करता है।

**यत्तु धात्वर्थतावच्छेदकत्वं धातुवृत्तिग्रहविशेष्यांशे साक्षात्प्रकारत्वं तच्च क्रियायामेव न संयोगांशेऽपीति नाग्नेर्जुहोतिकर्मतापत्तिरिति, तदसत् –'अजां ग्रामं नयति' इत्यादौ संयोगावच्छिन्नक्रियानुकूलव्यापारदिरूपे धात्वर्थे संयोगादेः साक्षादप्रकारतया तदाश्रयीभूतग्रामादेः कर्मत्वानुपपत्त्या नीवहादेर्द्विकर्मकत्वव्याघातात् ।**

जो लोग यह कहते हैं कि धात्वर्थतावच्छेदकत्व का अर्थ है धातुवृत्तिग्रहविशेष्यांश में साक्षात्प्रकारत्व, वह तो क्रिया में ही है संयोगांश में नहीं ही है, इसलिए अग्नि की हुधातु कर्मता की आपत्ति नहीं है। हु धातु वृत्तिग्रह है **'हुधातुशक्यः अग्निसंयोगावच्छिन्न क्रियावच्छिन्नो व्यापारः'** इस वृत्तिग्रह का विशेष्य है व्यापार। उस व्यापार अंश में प्रकार है क्रिया और क्रिया में प्रकार है संयोग। इस प्रकार धातुवृत्तिग्रहविशेष्यांश में साक्षात्प्रकार तो क्रिया ही है, अतः धातुवृत्तिग्रहविशेष्यांश में साक्षात्प्रकारत्व क्रिया में ही होने के कारण तादृशक्रियाश्रय होने के कारण घृत की कर्मता तो होती है, अग्नि की कर्मता नहीं होती है क्योंकि संयोग में धातुवृत्तिग्रहविशेष्यांश में साक्षात् प्रकारत्व नहीं है, अतः संयोगाश्रय होने पर भी अग्नि की कर्मता नहीं होती है।

तो ऐसा कहना गलत है क्योंकि **'अजां ग्रामं नयति'** इत्यादि स्थलों में संयोगावच्छिन्नक्रियानुकूलव्यापारादि रूप धात्वर्थ में (नीधातुवृत्ति का ग्रह होता है **'संयोगावच्छिन्नक्रियावच्छिन्नव्यापारो नीधातु शक्यः'** इसमें विशेष्यांश है व्यापार , उस व्यापार रूप विशेष्यांश में ) संयोगादि के साक्षात् प्रकार न होने के कारण संयोगाश्रयीभूत ग्रामादि के कर्मत्व की अनुपपत्ति से नी, वह् आदि धातुओं के द्विकर्मत्व का व्याघात हो जायेगा। धातुग्रहविशेष्यांश व्यापार में साक्षात्प्रकार क्रिया है, उसी को धात्वर्थतावच्छेदक माना जायेगा और उस क्रिया का आश्रय होने के कारण अजा की तो कर्मता होगी किन्तु ग्राम की कर्मता नहीं हो सकेगी। यहाँ पर ग्रामवृत्तिसंयोगजनक (अजानिष्ठ) क्रियाजनक व्यापार विषयक शाब्दबोध होता है। ग्राम में जो अजा का संयोग होता है, उसका कारण है अजा में रहनेवाली गमनक्रिया और गमनक्रियाकारणीभूत व्यापार है अजा को ले जाने वाले चैत्रादि व्यक्ति में। यहाँ पर वस्तुतः ग्राम और अजा दोनों की ही कर्मता है। किन्तु

आपके अनुसार केवल अजा की ही कर्मता होगी न कि ग्राम की। अतः धातुवृत्तिग्रह विशेष्यांश में साक्षात्प्रकारत्व धात्वर्थतावच्छेदकत्व नहीं है।

**अथात्र ग्रामादेः प्रधानकर्मत्वं नास्त्येवापि तु गौणकर्मत्वमेव, अत एव तादृशकर्मत्वमाख्यातेन नाभिधीयते "प्रधानकर्मण्याख्येये लादीनाहुर्द्वि कर्मणाम्" इत्यनुशासनादिति 'अजां ग्रामो नीयते' इत्यादिको न प्रयोग इति चेत् ?**

**तर्हि तत्र ग्रामादेरिवात्रापि हुधात्वर्थतावच्छेदकफलशालित्वेन गौण-कर्मतापत्त्या 'वह्निं घृतं जुहोति' इति प्रयोगापत्तिर्दुर्वारैवेति।**

**अस्मन्मते चाश्रयानवच्छिन्नसंयोगविषयताशालिधातुजन्योपस्थिति घटितसामग्र्या एव संयोगे द्वितीयार्थान्वयबोधप्रयोजकतया नैतादृशप्रयोगापत्तिरिति।**

यदि धातुवृत्ति ग्रह विशेष्यांश में साक्षात्प्रकारत्व ही धात्वर्थतावच्छेदकत्व है ऐसा स्वीकारनेवाला कहे कि ग्रामादि की प्रधानकर्मता तो नहीं है, अपितु गौण कर्मता ही है (**'अजां ग्रामं नयति'** यहाँ पर चूँकि ग्राम निष्ठ संयोगरूप फल धातुवृत्तिग्रहविशेष्यांश में साक्षात्प्रकार नहीं है, इसलिए उसकी कर्मता नहीं होती है। धातुवृत्तिग्रहविशेष्यांश में साक्षात्प्रकारत्व गौणकर्मता का नियामक नहीं होता है बल्कि प्रधान कर्मता का ही नियामक होता है) इसीलिए तादृशकर्मत्व ग्रामादिनिष्ठ गौणकर्मत्व आख्यात से (कर्माख्यात से) अभिहित नहीं होता है। अनुशासन भी है **'प्रधानकर्मण्याख्येये लादीनाहुर्द्विकर्मणाम्'** द्विकर्मक धातुओं से प्रधानकर्म के आख्येय होने पर लकारादि होते हैं। इसी अनुशासन के कारण ही **'अजां ग्रामो नीयते'** ऐसा प्रयोग नहीं होता है, बल्कि **'अजा ग्रामं नीयते'** ऐसा प्रयोग ही होता है। इसलिए धातुवृत्तिग्रहविशेष्यांश में साक्षात्प्रकारत्व को धात्वर्थतावच्छेदक मानने पर भी नी, वह आदि की द्विकर्मकता का व्याघात नहीं होगा क्योंकि ग्रामवृत्ति संयोगरूप फल के धातुवृत्तिग्रह विशेष्यांश में साक्षात्प्रकार न होने पर भी ग्राम की गौणकर्मता तो हो ही जायेगी।

तो (ऐसा कहने पर तो) ग्रामनिष्ठसंयोगरूपफल के नीधातुवृत्तिग्रहविशेष्यांश में साक्षात्प्रकार न होने पर भी ग्रामादि की जिस प्रकार से गौणकर्मता होती है उसी प्रकार यहाँ पर भी हुधात्वर्थतावच्छेदकतावच्छेदक फलशालित्वेन गौणकर्मतापत्ति से **'वह्निं घृतं जुहोति'** ऐसे प्रयोग की आपत्ति दुर्वार होगी। अभिप्राय यह है कि यदि धातुवृत्तिग्रहविशेष्यांश में साक्षात्प्रकारत्व प्रधानकर्मता का नियामक होता है, यद्वृत्तिफल धातुवृत्तिग्रहविशेष्यांश में साक्षात्प्रकार होगा उसको प्रधानकर्म कहेंगे । जैसे-**'अजां ग्रामं नयति'** में अजावृत्ति क्रियारूप फल धातुवृत्तिग्रहविशेष्यांश में साक्षात्प्रकार होता है, इसलिए अजा को प्रधानकर्म कहते हैं। तो गौणकर्मता का नियामक क्या होगा? अगत्या यही कहना पड़ेगा कि धातुवृत्तिग्रहविशेष्यांश में साक्षादप्रकारत्व होते हुए धातुवृत्तिग्रहविशेष्यांश में प्रकारत्व ही (**धातुवृत्तिग्रहविशेष्यांशे साक्षादप्रकारत्वे सति धातुवृत्तिग्रहविशेष्यांशे प्रकारत्वमेव**) गौण कर्मता का नियामक होगा। अर्थात् यद्वृत्ति फल धातुवृत्तिग्रहविशेष्यांश में प्रकार तो हो किन्तु साक्षात्प्रकार न हो उसे गौण कर्म कहेंगे । नी धातु वृत्तिग्रह **'संयोगानुकूलक्रियानुकूल व्यापारो नीधातुशक्यः'** में विशेष्यांश है व्यापार, उसमें साक्षात्प्रकार संयोग रूप फल

नहीं हो रहा है और प्रकार हो रहा है। इसलिए संयोगरूप फल (जो कि धात्वर्थतावच्छेदक तावच्छेदक है) का आश्रय होने के कारण ग्राम की गौण कर्मता हो जाती है। तो इसी प्रकार वह्नि की भी हुधातु के गौण कर्मता की आपत्ति दुर्वार होगी क्योंकि हुधात्वर्थतावच्छेदक फलाश्रय अग्नि है। अग्नि भी हुधातु वृत्तिग्रह '**अग्निसंयोगावच्छिन्नक्रियानुकूलो व्यापारो हुधातुशक्य;**' के विशेष्यांश व्यापार में साक्षादप्रकार और प्रकारभूत अग्नि संयोगरूप फल का आश्रय है। अतः अग्नि की भी गौणकर्मता होगी । इस प्रकार '**अजां ग्रामं नयति**' की तरह '**वह्नि घृतं जुहोति**' ऐसे प्रयोग की आपत्ति दुर्वार होगी। नी, वह आदि की तरह हु धातु की भी द्विकर्मता की आपत्ति रहेगा।

हमारे मत में तो आश्रयानवच्छिन्नसंयोगविषयता शालिधातुजन्य उपस्थिति से घटित सामग्री के ही संयोग में द्वितीयार्थान्वयबोध प्रयोजक होने के कारण ऐसे प्रयोग की आपत्ति नहीं रहती है। अभिप्राय यह है कि हमारे मत में तो आश्रयानवच्छिन्नसंयोगविषयताशालि धातुजन्यफलावच्छिन्नव्यापारोपस्थिति ही संयोग में द्वितीयार्थ आधेयत्व के अन्वयबोध की प्रयोजिका होती है। हुधातु से जो फलावच्छिन्नव्यापार की उपस्थिति होती है उसमें संयोगविषयता वह्निरूप आश्रय से अवच्छिन्न होती है। अतः हुधातुजन्यसंयोगविषयक उपस्थिति आश्रयावच्छिन्न संयोगविषयताशालि नहीं है। इस कारण संयोग में द्वितीयार्थ आधेयत्व के अन्वयबोध की प्रयोजिका हुधातुजन्य उपस्थिति नहीं है। इसलिए तादृश संयोगाश्रय वह्नि की कर्मता नहीं होती है तथा उससे द्वितीया भी नहीं होती है।

**यत्तु अधःसंयोगावच्छिन्नस्पन्दो न पतत्यर्थः, अपितु गुरुजन्यतावच्छेदक जातिविशेषावच्छिन्न एव । अत एव फलावच्छिन्नव्यापाराबोधकत्वान्न सकर्मकत्वमिति, तन्न, फलस्य धात्वर्थघटकत्वे स्पन्दे एव सप्तम्यर्थान्वय स्योपगन्तव्यतया पर्णादिनिष्ठस्य तस्य भूतलाद्यवृत्तितया 'भूतले पतति' इति प्रयोगानुपपत्तेः। पर्णादिगतस्पन्दस्य परम्परया भूतलादिवृत्तित्वमिति चेत् ? तर्हि 'वृक्षात्पतति' इतिवत् 'वृक्षे पतति' इत्यपि स्यात् । अस्मन्मते चान्यत्र व्यापारे सप्तम्यर्थान्वयेऽप्यत्र व्युत्पत्तिवैचित्र्यादधःसंयोगरूपधात्वर्थतावच्छेदक एव तदन्वय इत्यदोषः।**

जो यह कहते हैं कि अधःसंयोगावच्छिन्नस्पन्दपतधातु का अर्थ नहीं है बल्कि गुरुत्व की जन्यतावच्छेदकीभूत जातिविशेष से अवच्छिन्न ही पत धातु का अर्थ है। पतन के प्रति गुरुत्व कारण होता है, इसलिए गुरुत्व से जन्य पतन हुआ करता है। आशय यहाँ पर यह है कि '**गुरुत्वजन्यः स्पन्दः पतधातुशक्यः**' ऐसा पतधातुवृत्तिग्रह है। जिस स्पन्द के प्रति गुरुत्व कारण होता है ऐसा स्पन्द पतनरूप अधःसंयोगावच्छिन्नस्पन्द रूप) ही होगा । वही अधःसंयोगावच्छिन्न स्पन्द पत धातु का अर्थ होगा किन्तु गुरुत्वजन्यस्पन्द रूप से होगा। ऐसा स्थिति में धात्वर्थतावच्छेदक गुरुत्व हो सकता है वह तो फल है नहीं । इस प्रकार फलावच्छिन्नव्यापार का बोधक न होने के कारण पतधातु के सकर्मकत्व की आपत्ति नहीं है। पूर्व में बताया गया था कि फलावच्छिन्नव्यापारबोधक जो धातु होगी उसी को सकर्मक कहा जायेगा।

तो यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि फल यदि पतधात्वर्थघटक नहीं होगा

(पतधात्वर्थतावच्छेदक नहीं होगा) तो '**भूतले पतति**' यहाँ पर सप्तम्यर्थ आधेयत्व का अन्वय आपको स्पन्द में ही स्वीकारना पड़ेगा (धात्वर्थभूत गुरुत्वजन्य स्पन्द में धात्वर्थतावच्छेदकीभूत गुरुत्व में सप्तम्यर्थ आधेयत्व का अन्वय तो अनुभव विरुद्ध है। शेष बचता है स्पन्दमात्र इसलिए उसी में आपको सप्तम्यर्थ आधेयत्व का अन्वय करना पड़ेगा) किन्तु स्पन्द तो पर्णादिनिष्ठ होने के कारण भूतलादिवृत्ति है वहीं । इसलिए सप्तम्यर्थ आधेयत्व का अन्वय कहीं पर भी सम्भव न होने के कारण '**भूतले पतति**' इस प्रयोग की अनुपपत्ति होगी। यदि कहो कि पर्णादिगतस्पन्द का भी परम्परया तो भूतलवृत्तित्व है ही (पर्ण भूतलवृत्ति और स्पन्द पर्णवृत्ति है इसलिए **स्वसंयुक्तसमवाय** सम्बन्ध से, स्व माने भूतल, उसमें संयुक्त पर्ण, तत्समवाय स्पन्द में इस तरह भूतलवृत्तित्व स्पन्द का भी है ही) तो '**वृक्षात् पतति**' की तरह '**वृक्षे पतति**' ऐसा प्रयोग भी होने लगेगा । क्योंकि यहाँ पर भी पर्णगतस्पन्द परम्परा सम्बन्ध स्वसंयुक्तसमवाय से वृक्षवृत्ति है, अतः सप्तम्यर्थ आधेयत्व का अन्वय यहाँ पर भी सम्भव ही है। इसलिए गुरुत्वजन्यस्पन्द को पत धातु का अर्थ मानने वाला आपका मत सही नहीं है।

किन्तु सिद्धान्ती के मत में भी एक प्रश्न उठता है वह यह है कि अभी पूर्व में कह चुके हैं कि धात्वर्थतावच्छेदक फलांश में आधेयत्व के अन्वय में द्वितीया और व्यापारांश में आधेयत्व के अन्वय में सप्तमी साकाङ्क्ष होती है। यहाँ पर आप भी (सिद्धान्ती भी) व्यापार में भूतलादिपदोत्तर सप्तमी के अर्थ आधेयत्व का अन्वय नहीं स्वीकार कर सकते हैं। क्योंकि व्यापार तो पर्णादिगत है, भूतलगत है नहीं। यदि फल में आधेयत्व का अन्वय करते हो तो द्वितीया क्यों नहीं होगी ? इसका समाधान करते हैं कि—

हमारे मत में तो अन्यत्र व्यापार में ही सप्तम्यर्थ आधेयत्व का अन्वय होने पर भी यहाँ पर अधःसंयोगरूप धात्वर्थतावच्छेदक में व्युत्पत्ति वैचित्र्य से उसका अन्वय किया जाता है। व्युत्पत्ति का वैचित्र्य यही है कि- '**आश्रयानवच्छिन्नधात्वर्थतावच्छेदकफलांशे आधेयत्वान्वये द्वितीयायाः साकाङ्क्षता, आश्रयावच्छिन्नधात्वर्थतावच्छेदकफलांशे व्यापारांशे वा आधेयत्वान्वये सप्तम्याः साकाङ्क्षता**' आश्रयानवच्छिन्नधात्वर्थतावच्छेदक फलांश में यदि आधेयत्व का अन्वय हो तो द्वितीया और आश्रयावच्छिन्न फलांश में या व्यापारांश में यदि आधेयत्व का अन्वय हो तो सप्तमी साकाङ्क्ष होती है। '**भूतले पतति**' इत्यादि स्थलों में सप्तम्यर्थ आधेयत्व का अन्वय अधोदेशरूप आश्रय से अवच्छिन्न फल संयोग में होता है। अतः सप्तमी ही साकाङ्क्ष होती है, द्वितीया नहीं ।

**अन्ये तु भूम्यादेः कर्मत्वाविवक्षायां 'भूमिं पतति' इति प्रयोग इष्ट एव, अतएव 'द्वितीयाश्रित' इत्यादिसूत्रेण 'नरकं पतितः' इत्यादिस्थले द्वितीया समासविधानमप्युपपद्यते धात्वर्थतावच्छेदकतावच्छेदकफले द्वितीयार्थान्वय एवाश्रयावच्छिन्नफलोपस्थितेरपेक्षा 'अग्निं जुहोति' इति वारणाय स्वीक्रियते इति वदन्ति।**

**तदपि न शोभनम् —तथा सति भूम्यादिपदोत्तरं कदाचित्सप्तमी कदाचिद् द्वितीयेत्यत्र नियामकाभावप्रसङ्गात् । व्यापारांशे आधेयत्वविवक्षायां सप्तमी फलांशे तद्विवक्षायां द्वितीयेत्यस्योक्तयुक्त्या फलांश एव सप्तम्यर्थान्वयस्यावश्यं स्वीकरणीयतया वक्तुमशक्यत्वादिति ।**

अन्यलोग तो भूम्यादि के कर्मत्व की विवक्षा में '**भूमिं पतति**' यह प्रयोग इष्ट ही है ऐसा मानते हैं। इसीलिए '**द्वितीयाश्रित...पा०सू०2/1/24**' इस सूत्र के द्वारा '**नरकं पतितः**' इत्यादि स्थलों में द्वितीयासमास का विधान उपपन्न होता है। (इनके मत में पत धातु का सकर्मकत्व है) किन्तु समस्या है कि '**अग्निं जुहोति**' इस प्रयोग का वारण कैसे किया जायेगा? यदि आश्रयावच्छिन्न धात्वर्थतावच्छेदक फलाश्रय होने पर भी भूतल, नरक आदि की पतधातु कर्मता हो जायेगी तो आश्रयावच्छिन्नधात्वर्थतावच्छेदक संयोगात्मकफलाश्रय होने के कारण अग्नि की हुधातुकर्मता हो जायेगी। इस समस्या का वारण करने के लिए कहते हैं कि–'**अग्निं जुहोति**' इस प्रयोग का वारण करने के लिए स्वीकार किया जाता है कि धात्वर्थतावच्छेदकतावच्छेदक फल में द्वितीया के अर्थ का अन्वय करने के लिए आश्रयानवच्छिन्न फल (धात्वर्थतावच्छेदकतावच्छेदक) की उपस्थिति आवश्यक होती है । साक्षात् धात्वर्थतावच्छेदक फल में यदि द्वितीया के अर्थ का अन्वय करना हो तो वहाँ पर धात्वर्थतावच्छेदकी भूतफल में आधेयत्व (द्वितीयार्थ) का अन्वय करने के लिए आश्रयानवच्छिन्नत्व अपेक्षित नही होता है। इस स्थल में अग्निवृत्ति जो संयोग धात्वर्थतावच्छेदकीभूत फल है, वह वस्तुतः धात्वर्थतावच्छेदकतावच्छेदक है। अतः यदि वह आश्रयानवच्छिन्न होता तब उसमें द्वितीयार्थ आधेयत्व का अन्वय सम्भव होता। वह तो अग्निरूप आश्रयावच्छिन्न है। अतः उसमें द्वितीयार्थ आधेयत्व का अन्वय सम्भव न होने से '**अग्निं जुहोति**' ऐसा प्रयोग नहीं होता है। '**भूतलं पतति**' में जो साक्षाद् धात्वर्थतावच्छेदक संयोग है उसके आश्रयावच्छिन्न होने से भी कोई फर्क नहीं पड़ता है क्योंकि धात्वर्थतावच्छेदकतावच्छेदक फल में द्वितीयार्थ आधेयत्व का अन्वय करने के लिए ही आश्रयानवच्छिन्नत्व उस फल का अपेक्षित होता है।

तो यह कहना भी ठीक नहीं है–क्योंकि ऐसी स्थिति में तो भूमि आदि पदों के बाद कब सप्तमी और कब द्वितीया होगी इसका कोई नियामक नहीं रह जायेगा । व्यापारांश में आधेयत्व की विवक्षा होने पर सप्तमी और फल अंश में आधेयत्व की विवक्षा होने पर द्वितीया यह तो उक्तयुक्ति से फलांश में ही सप्तम्यर्थ आधेयत्व के अन्वय का स्वीकार होने के कारण कहना शक्य नहीं है। इस पक्ष में कब सप्तमी होगी और कब द्वितीया होगी इसका कोई नियामक नहीं रहेगा । यही दोष है। व्यापार में आधेयत्वान्वय विवक्षा होने पर सप्तमी और फलांश में आधेयत्वान्वय विवक्षा होने पर द्वितीया यह तो आप कह नहीं सकते है क्योंकि '**भूमिं पतति**' इस प्रयोग व '**भूमौ पतति**' इस प्रयोग दोनों में ही आप को फलांश में आधेयत्व का अन्वय करना पड़ेगा। क्योंकि व्यापार के भूतलावृत्ति होने के कारण भूतलाधेयत्व का अन्वय आप व्यापार में सप्तमी प्रयोग की दशा में भी नहीं कर सकते हैं। ऐसी स्थिति में समस्या यह है कि जैसे '**भूमौ पतति**' में उसी अर्थ के द्योतन के तात्पर्य से '**भूमिं पतति**' ऐसा प्रयोग होता है, वैसे ही '**गृहे पचति**' की तरह उसी अर्थ के द्योतन के अभिप्राय से '**गृहं पचति**' ऐसा प्रयोग होने लगेगा। हमारे मत में तो उक्त व्युत्पत्तिवैचित्र्य के ही नियामक होने से ऐसा नहीं होता है।

**विमर्शः**–वैयाकरणों के मत में पत धातु सकर्मक है, नैयायिकों में भी भवानन्दसिद्धान्त वागीश प्रभृति अनेक नैयायिक पत धातु की सकर्मकता स्वीकारते हैं। उनके मत में '**नरकं पतितः**' आदि स्थलों की साधुता और समास की उपपत्ति हो जायेगी । गदाधर के मत में क्या होगा ? तो ऐसा प्रतीत होता है कि गदाधर के मत में वहाँ पर अधिकरणार्थक सप्तमी

के स्थान पर द्वितीया का प्रयोग है। तथा '**नरके पतितः नरकपतितः**' इस तरह सप्तमी समास विधान से नरकपतित शब्द की सिद्धि होती है। '**द्वितीयाश्रितातीत....**'' पा॰ सूत्र के द्वारा तो '**मासं पतितः मासपतितः**' इत्यादि स्थलों पर समास होकर सूत्र का सार्थक्य होता है।

**'ब्राह्मणाय धनं ददाति' इत्यादौ स्वस्वत्वध्वंसविशिष्टपरस्वत्वानुकूला इच्छा धात्वर्थः। तादृशस्वत्वरूपधात्वर्थतावच्छेदकफल एव द्वितीयार्थान्वयः। उपेक्षायामतिप्रसङ्गवारणाय परस्वत्वनिवेशः। दानं च न सम्प्रदानस्वत्वजनकम्, अपि तु तत्स्वीकार एवेति मते तु स्वस्वत्वध्वंसानुकूलपरस्वत्वप्रकारकेच्छैव ददात्यर्थः, तत्र स्वस्वत्वध्वंसरूपफलाश्रयत्वाद् धनस्य कर्मता।**

'**ब्राह्मणाय धनं ददाति**' इत्यादि स्थलों में स्वस्वत्वध्वंसविशिष्टपरस्वत्वानुकूला इच्छा धात्वर्थ (दा धातु का अर्थ) है। तादृशस्वत्व (स्वस्वत्वध्वंसविशिष्टपरस्वत्व) रूप धात्वर्थतावच्छेदकीभूत जो फल है उस फल में द्वितीया के अर्थ आधेयत्व का अन्वय होता है। (इस प्रकार यहाँ पर धनवृत्ति स्वस्वत्वध्वंसविशिष्टब्राह्मणस्वत्वानुकूलेच्छाश्रय विषयक शाब्दबोध होता है) इस धातु के अर्थ में परस्वत्वपद देने की क्या आवश्यकता है? केवल स्वस्वत्वध्वंसानुकूलेच्छा को ही दा धात्वर्थ क्यों न मान लिया जाये ? दाधात्वर्थ में स्वस्वत्वध्वंसानुकूल इच्छा तो है ही। अपने स्वत्व का ध्वंस किये बग़ैर परस्वत्वानुकूल इच्छा तो नहीं हो सकती है। तो इसके लिए गदाधर का कहना है कि–उपेक्षा में अतिप्रसङ्ग का वारण करने के लिए परस्वत्व का निवेश किया गया है। उपेक्षा में भी स्वस्वत्वध्वंसानुकूल इच्छा तो रहती ही है किन्तु उपेक्षा तो दान है नहीं। इसलिए परस्वत्वांश का परित्याग कर देने पर उपेक्षा में दान का लक्षण चला जायेगा, यह अतिव्याप्ति है। इसलिए परस्वत्वांश का भी निवेश कर दिया। परस्वत्वांश का निवेश कर देने पर चूँकि उपेक्षा में जो इच्छा है वह स्वस्वत्वध्वंसानुकूल तो है मगर परस्वत्वानुकूल नहीं है। अतः उपेक्षा में अतिप्रसङ्ग नहीं होता है।

कुछ अन्य का मत है कि दान सम्प्रदान का जनक नहीं होता है बल्कि सम्प्रदान के द्वारा किया हुआ उस दान का स्वीकार ही सम्प्रदानस्वत्व का जनक होता है। इस मत में तो दाधातु का अर्थ स्वस्वत्वध्वंसविशिष्टपरस्वत्वानुकूल इच्छा नहीं हो सकती है क्योंकि देनेवाली की इच्छा में पर (सम्प्रदान ब्राह्मणादि) स्वत्वानुकूलता नहीं है क्योंकि अनुकूलत्व का अर्थ जनकत्व ही है। जब दान सम्प्रदानस्वत्व का जनक नहीं होता तो स्वस्वत्वध्वंसानुकूल इच्छा में सम्प्रदानस्वत्वानुकूलत्व नहीं ही जायेगा। इसलिए इस मत में स्वत्वध्वंसानुकूलपरस्वत्वप्रकारक इच्छा ही दा धातु का अर्थ है। इच्छा इस प्रकार की तो है देनेवाले की। क्योंकि देनेवाली की इच्छा अपने स्वत्वध्वंस के प्रति कारण है और परस्वत्वप्रकारक भी है। इस मत में स्वस्वत्वध्वंसरूपफलाश्रय होने के कारण धन की कर्मता होती है।

यहाँ पर '**ब्राह्मणाय धनं ददाति**' में धन की दा धातु कर्मता तो दोनों ही मतों में स्वीकृत है। दान का अर्थ यदि '**स्वस्वत्वध्वंसविशिष्टपरस्वत्वजनकेच्छा**' है तो धात्वर्थतावच्छेदक फल हुआ **स्वस्वत्वविशिष्टपरस्वत्व**। यह धन में है क्योंकि दान दशा में धन में दाता के स्वत्व का ध्वंस भी है और परस्वत्व भी है, अतः सामानाधिकरण्य सम्बन्ध से स्वस्वत्व से विशिष्ट परस्वत्व धन में है। इसलिए उसकी कर्मता है। दान का

अर्थ यदि '**स्वस्वत्वध्वंसजनकपरस्वत्वप्रकारक इच्छा**' है तो धन में **स्वस्वत्वध्वंस** रूप धात्वर्थवच्छेदकीभूतफल है। इसलिए धन की कर्मता होती है।

**'धनं प्रतिगृह्णाति' इत्यादौ स्वस्वत्वजनकेच्छारूपस्वीकारविशेषो धातोरर्थः, स्वस्वत्वरूपफले च द्वितीयार्थाधेयत्वान्वयः।**

**'तण्डुलं पचति' इत्यादौ रूपपरावृत्तिजनकतेजःसंयोगो धातोरर्थः। रूपादिपरावृत्तिरूपफले च तण्डुलादिवृत्तित्वान्वयः। 'ओदनं पचति' इत्यादावोदनादिपदस्य तन्निष्पादकतण्डुलादौ लक्षणा। अवयविनि पाकानभ्युपगमे च 'तण्डुलं पचति' इत्यदौ तण्डुलादिपदस्य तदारम्भकपरमाणुषु लक्षणा।**

'**धनं प्रतिगृह्णाति**' इत्यादि स्थलों में स्वस्वत्वजनकेच्छारूप स्वीकार विशेष ही धातु (प्रतिग्रह) का अर्थ है। स्वस्वत्वरूप फल में द्वितीयार्थ आधेयत्व का अन्वय होता है। अर्थात् **स्वस्वत्वजनकेच्छा** रूप धात्वर्थ में विशेषणीभूत **स्वस्वत्व** धात्वर्थतावच्छेदक है और **स्वस्वत्वधात्वर्थतावच्छेदक फलाश्रय** होने के कारण धन की कर्मता होती है। तथा धन पदोत्तर द्वितीया के अर्थ आधेयत्व का स्वस्वत्वरूप फल में अन्वय होता है। धन का स्वीकार करने से ही धन में स्वस्वत्व उत्पन्न हो जाता है। इसीलिए तदाश्रयतया धन की कर्मता होती है।

'**तण्डुलं पचति**' इत्यादि स्थलों पर रूपपरावृत्तिजनकतेजः संयोग पच् धातु का अर्थ होता है। तथा रूपपरावृत्तिरूप फल (जो कि धात्वर्थतावच्छेदक हुआ करता है) में तण्डुलादिवृत्तित्व का अन्वय होता है। (इस प्रकार '**तण्डुलवृत्तिरूपपरावृत्तिजनकतेजः संयोगानुकूल कृतिमान् चैत्रादिः**' 'तण्डुलवृत्तिरूपपरावृत्तिजनकतेजः संयोग के अनुकूल कृतिवाला चैत्र है' ऐसा शाब्दबोध यहां पर होता है) रूपपरावृत्ति को ही विक्लिति कहते हैं, विक्लित्याश्रय होने से तण्डुल की पाककर्मता होती है। '**ओदनं पचति**' इत्यादि में ओदनादिपद की ओदननिष्पादकतण्डुलादि में लक्षणा की जाती है। (क्योंकि ओदन की रूपपरावृत्ति नहीं होती है बल्कि तण्डुल की ही रूपपरावृत्ति होती है) इसलिए शक्ति के आधार पर तो इस वाक्य से शाब्दबोध ही सम्भव नहीं है, इस प्रकार '**ओदनं पचति**' से भी वैसा ही शाब्दबोध होता है जैसाकि '**तण्डुलं पचति**' से होता है।) इस विषय में एक और मतभेद है। नैयायिक अवयवी में पाक मानते हैं वैशेषिक नहीं। ऐसी स्थिति में वैशेषिकों के मत में '**तण्डुलं पचति**' वाक्य तो बाधितविषयक होगा। इसलिए इस मत के अनुसार गदाधर कहते हैं कि–अवयवी में पाक का स्वीकार न करने पर तो '**तण्डुलं पचति**' इत्यादि में तण्डुलादि पदों की तण्डुलारम्भक परमाणुओं में लक्षणा की जाती है। इस प्रकार वैशेषिकों के मत से '**तण्डुलावयववृत्तिरूपपरावृत्तिजनकतेजःसंयोगानुकूलकृतिमान् चैत्रादिः** 'तण्डुलावयववृत्तिरूपपरावृत्तिजनकतेजःसंयोग के अनुकूल कृतिवाला चैत्र है' ऐसा बोध होता है। '**ओदनं पचति**' से भी वैशेषिकों के मत में ऐसा शाब्दबोध होता है।

**'ओदनं भुङ्क्ते' इत्यादौ गलाधोनयनं धात्वर्थः , तच्च गलाधःसंयोगावच्छिन्नक्रियानुकूलव्यापारः, तादृशक्रियारूपफले एव ओदनवृत्तित्वान्वयः। उक्तयुक्त्या गलाधोदेशस्य न कर्मत्वम् । एवमन्यसकर्मकधातूनामप्यर्थाः स्वयमूह्याः।**

'**ओदनं भुङ्क्ते**' इत्यादि स्थलों में गलाधोनयन भुज् धातु का अर्थ है, और वह गलाधोनयन '**गलाधःसंयोगावच्छिन्नक्रियानुकूलव्यापार**' रूप है। तादृश (धात्वर्थतावच्छदेकीभूत) क्रियारूपफल में ही ओदनवृत्तित्व का अन्वय होता है। उक्त युक्ति से गलाधोदेश का कर्मत्व नहीं होता है।

अभिप्राय यह है कि '**गलाधःसंयोगावच्छिन्नक्रियानुकूलव्यापार**' रूप धात्वर्थ में विशेषण है '**गलाधः संयोगावच्छिन्नक्रिया**' इस प्रकार यह क्रिया धात्वर्थतावच्छेदकीभूत है। इस क्रिया का आश्रय चूँकि ओदन है, इसलिए ओदन की कर्मता होती है और ओदन निरूपित द्वितीयार्थ वृत्तित्व का उक्त क्रिया रूप फल में ही अन्वय होता है। यद्यपि संयोग धात्वर्थतावच्छेदक है क्योंकि यहाँ पर धात्वर्थतावच्छेदक और धात्वर्थतावच्छेदकतावच्छदेक साधारण धात्वर्थतावच्छेदकपद है। तथा संयोगरूप धात्वर्थतावच्छेदक का आश्रय गलाधोदेश है। तथापि गलाधोदेश की कर्मता नहीं होती है क्योंकि पूर्व में युक्ति दी जा चुकी है कि आश्रयानवच्छिन्न जो धात्वर्थतावच्छेदकता उसका आश्रयीभूत जो फल तत्फलवत्त्व ही कर्मत्व है। संयोग में जो धात्वर्थतावच्छेदकता है वह गलाधोदेशरूप आश्रय से अवच्छिन्न है। इसलिए तादृशधात्वर्थतावच्छेदकताश्रय संयोगवत् होने पर भी गलाधोदेश की कर्मता नहीं होती है।

इसी प्रकार अन्य सकर्मक धातुओं के अर्थ भी स्वयं समझ लेने चाहिए ।

**'गां दोग्धि पयः' इत्यादौ द्विकर्मकधातुसमभिव्याहृतगवादिपदोत्तर द्वितीया क्रियाजन्यफलशालित्वादन्यदेव कर्मत्वं बोधयति। कारकाधिकारीये 'अकथितञ्च' इति सूत्रेणापादानत्वादिभिन्नधातुप्रतिपाद्यान्वयिधर्मान्तरावच्छिन्नस्यापि कर्मसंज्ञाभिधानात् । 'गवां पयो दोग्धि' इत्यादौ धातुप्रतिपाद्यान्वयिगवादिसम्बन्धो न विवक्षितः, अपितु क्षीराद्यन्वयी स इति कर्मत्वाविवक्षया द्वितीयानवकाशः किन्तु शैषिकी षष्ठ्येवेति।**

'**गां दोग्धि पयः**' इत्यादि द्विकर्मक धातुओं से समभिव्याहृत गो आदिपदोत्तर द्वितीया क्रियाजन्यफलशालित्व से अन्य कर्मत्व को ही बोधित करती है। आशय यह है कि इन स्थलों में दुह् इत्यादि द्विकर्मकधातुओं के समभिव्याहार की दशा में दो कर्म होते हैं। एक कर्म दुग्ध होता है और दूसरा कर्म गो होती है। इनमें दुग्धादि रूप जो कर्म होते हैं उनमें रहनेवाली कर्मता क्रियाजन्यफलशालित्व (धात्वर्थतावच्छेदकफलाश्रयत्व) रूप होती है। किन्तु गो आदि में रहने वाली कर्मता ऐसी नहीं होती है। गो आदि में धात्वर्थतावच्छेदकफलाश्रयत्व नहीं रहता है। बल्कि उसमें अन्य कर्मत्व रहता है और वही कर्मत्व गो आदि पदोत्तर द्वितीया से बोधित होता है। कारकाधिकारीय '**अकथितञ्च पा॰ सू॰ 1/4/51**' सूत्र के द्वारा अपादानत्वादिभिन्नधातु प्रतिपाद्यान्वयिधर्मान्तरावच्छिन्न की भी कर्मसंज्ञा का अभिधान किया जाने के कारण । अर्थात् गो आदि में धात्वर्थतावच्छेदक फलशालित्व रूप कर्मत्व नहीं है बल्कि '**अपादानत्वादिभिन्नधातुप्रतिपाद्यान्वयिधर्मान्तरावच्छिन्नत्व**' रूप कर्मत्व है। जैसे '**गां दोग्धि पयः**' यहाँ पर दुह् धातु का अर्थ है '**क्षरणक्रियानुकूलव्यापार**' धात्वर्थतावच्छेदक हुई क्षरणक्रिया, उसका आश्रय होने के कारण पयः (दुग्ध) की कर्मता होती है। तथा धातुप्रतिपाद्यान्वयी जो अपादानत्वादिभिन्न धर्मान्तर उससे अवच्छिन्नत्व रूप

कर्मता गो की है। धातु प्रतिपाद्य है क्षरण, इस क्षरण से अन्वयी धर्मान्तर है विभाग, वह विभाग रूप धर्म (या धर्मान्तर) अपादानत्वादि से भिन्न ही है। उस विभाग का आश्रय होने के कारण गो की कर्मता होती है, उस विभाग की आश्रयत्वेन विवक्षित होने के कारण गो की कर्मता होती है।

'**गवां पयो दोग्धि**' इत्यादि स्थलों में धातुप्रतिपाद्य (क्षरणादि) अन्वयी (विभाग) से गो आदि का सम्बन्ध विवक्षित नहीं है बल्कि वह (विभागादि) क्षीर से ही अन्वयी है। इस प्रकार गो कर्मत्व की विवक्षा न होने से द्वितीया का अवकाश गो पद से नहीं है किन्तु शैषिकी '**षष्ठी शेषे पा॰ सू॰ 2/3/50**' सूत्रानुसारी षष्ठी ही होती है। आशय यह है कि जब धातुप्रतिपाद्यक्षरणादि से अन्वयी विभाग का सम्बन्ध गो से विवक्षित होता है तो उससे द्वितीया होती है तथा '**गां पयो दोग्धि**' ऐसा प्रयोग होता है। और जब उस विभाग का सम्बन्ध गो से विवक्षित नहीं होता है, बल्कि वह क्षीरादि से अन्वयी हो जाता है तो गो के कर्मत्व की विवक्षा न होने से उससे सम्बन्ध सामान्य में षष्ठी होती है। तथा '**गवां पयो दोग्धि**' ऐसा प्रयोग होता है।

**अत्र धातुप्रतिपाद्यत्वं तदर्थतावच्छेदककोटिप्रविष्टसाधारणम् – 'गां दोग्धि' इत्यादौ धात्वर्थतावच्छेदककोटिप्रविष्टे एव द्वितीयार्थान्वयात्, तथाहि-क्षरणानुकूलव्यापारो दुहेरर्थः। द्वितीयर्थश्च जनकत्वसम्बन्धेन क्षरणान्वयी विभागः, विभागे चाधेयतया प्रकृत्यर्थगवादेरन्वयः, एवं च धात्वर्थतावच्छेदक क्षरणरूपफले प्रधानकर्मक्षीराद्यन्वितद्वितीयार्थवृत्त्यन्वय इति गोनिष्ठ-विभागानुकूलपयोनिष्ठक्षरणानुकूलव्यापारकर्ता मैत्र इति 'गां पयो दोग्धि मैत्रः' इति वाक्याधीनो बोधः।**

पूर्व ग्रन्थ में जो कहा कि '**गो दोग्धि पयः**' इत्यादि स्थलों में गो में रहने वाली जो कर्मता है धात्वर्थतावच्छेदकफलशालित्व से अन्य कर्मता है। गो आदि में रहनेवाली कर्मता अपादानत्वादिभिन्न धातुप्रतिपाद्यान्वयिधर्मान्तरावच्छिन्नत्व रूपा है। इस कर्मता में घटक धातुप्रतिपाद्यत्व कैसा लेना है? इसी का उत्तर दे रहे हैं कि–

यहाँ पर धातुप्रतिपाद्यत्व धात्वर्थतावच्छेदककोटिप्रविष्ट साधारण है। अर्थात् यद्यपि धातु प्रतिपाद्यत्व व्यापार का ही होता है क्योंकि व्यापार ही धातु वृत्तिग्रह विशेष्य होता है तथापि यहाँ पर धात्वर्थ और धात्वर्थतावच्छेदक दोनों का ही धातुप्रतिपाद्यत्व स्वीकार किया जाता है। क्योंकि '**गां दोग्धि**' इत्यादि स्थलों में धात्वर्थतावच्छेदककोटिप्रविष्ट (धात्वर्थतावच्छेदक) क्षरण में ही द्वितीयार्थ का अन्वय होता है। देखें–क्षरणानुकूलव्यापार दुह् धातु का अर्थ है। द्वितीयार्थ (गोपदोत्तर द्वितीया का अर्थ) है विभाग, जो कि जनकत्व सम्बन्ध से क्षरण में अन्वित होता है तथा विभाग में आधेयता सम्बन्ध से प्रकृत्यर्थ गो आदि का अन्वय होता है। इसी प्रकार धात्वर्थतावच्छेदक क्षरणरूप फल में प्रधानकर्म क्षीरादि से अन्वित द्वितीयार्थ वृत्ति (आधेयत्व) का अन्वय होता है। इस प्रकार '**गां पयो दोग्धि मैत्रः**' इस वाक्य के अधीन '**गोनिष्ठविभागानुकूलपयोनिष्ठक्षरणानुकूलव्यापार कर्ता मैत्रः**' 'गो निष्ठ विभाग के अनुकूल जो पयोनिष्ठ क्षरण उसके अनुकूल व्यापार की करनेवाला मैत्र है' ऐसा शाब्दबोध होता है। इस शाब्दबोध में गो और गोपदोत्तर द्वितीयार्थ विभाग का सम्बन्ध

निष्ठत्व (आधेयत्व) आकाङ्क्षाभास्य होता है संसर्गमर्यादा से भासता है। वह गो पदोत्तर द्वितीया का अर्थ नहीं है। पयका जो निष्ठत्व भासता है वह संसर्गतया नहीं भासता है, प्रकारतया भासता है क्योंकि वह द्वितीया का अर्थ है। यही गो और पयः पदोत्तर द्वितीया में पार्थक्य है।

**न च विभागोऽपादानत्वमेवेति तद्विवक्षया द्वितीयानवकाशेतिवाच्यम् , धातुवृत्तिग्रहविशेष्यान्वयिनो विभागस्यैवापादानत्वरूपत्वात् , 'वृक्षात् पर्णं पतति' इत्यादौ स्पन्दरूपविशेष्यांशे पञ्चम्यर्थविभागान्वयात् ।**

यदि कहो कि विभाग तो अपादानत्व ही है इसलिए उस अपादानत्व की विवक्षा से द्वितीया तो गो पद से अनवकाश हो जायेगी अर्थात् अपादानत्व भी तो विभाग ही है, यदि गोपदोत्तर द्वितीया से विभागरूप अर्थ की विवक्षा आप कर रहे हैं, तो यह तो अपादानत्व की विवक्षा हुई। अपादानत्व की विवक्षा होने पर तो पञ्चमी ही होती है, द्वितीया नहीं। इसलिए गो पद से पञ्चमी ही होगी द्वितीया नहीं । तो ऐसा नहीं कहना चाहिए क्योंकि धातुवृत्तिग्रह विशेष्यांश (व्यापार) में अन्वित होने वाला जो विभाग होता है, वही अपादानत्व रूप होता है। **'वृक्षात् पर्णं पतति'** इत्यादि स्थलों में स्पन्द रूप जो विशेष्यांश होता है (पत धातु का वृत्ति ग्रह है **'अधःसंयोगानुकूलस्पन्दः पतधातुशक्यः'** इस प्रकार का, इसमें विशेष्यांश है स्पन्द) उसमें ही पञ्चम्यर्थ विभागान्वय जनकत्व सम्बन्ध से होता है। इस प्रकार **'वृक्षनिष्ठविभागानुकूल,अधःसंयोगानुकूलस्पन्दाश्रयम् पर्णम् '** 'वृक्षनिष्ठविभाग के अनुकूल जो अधःसंयोगानुकूल स्पन्द उसका आश्रय पर्ण है' इस प्रकार का शाब्दबोध **'वृक्षात् पर्ण पतति'** इस वाक्य से होता है। **'गां दोग्धि पयः'** यहाँ पर विभाग का अनुकूलत्व सम्बन्ध से क्षरण में अन्वय होता है जो कि दुह धातु वृत्ति ग्रह में विशेष्यांश नहीं है क्योंकि दुह् धातु का वृत्तिग्रह होता है कि **क्षरणानुकूलव्यापारो दुह धातुशक्यः**' इसमें विशेष्यांश तो क्षरणानुकूल जो हस्त व्यापार है वह है। उसमें तो विभाग अन्वयी ही नहीं है। इसलिए यहाँ पर गोपद से द्वितीया ही होती है। पंचमी नहीं होती है।

**वस्तुतस्तु विभागावच्छिन्नक्षरणानुकूलव्यापारो दुह्यर्थः गोपदोत्तर द्वितीयार्थश्च विभागान्वयिनी वृत्तिरेव ।**

वस्तुतः तो विभागावच्छिन्न क्षरणानुकूल व्यापार ही दुह् धातु का अर्थ है (केवल क्षरणानुकूलव्यापारमात्र दुह् धातु का अर्थ नहीं है) तथा गोपदोत्तर द्वितीया का अर्थ विभाग से अन्वित होने वाली वृत्ति (आधेयता) ही है। इस प्रकार क्षीर में भी धात्वर्थतावच्छेदकफलाश्रत्व रूप कर्मत्व है और गो में भी धात्वर्थतावच्छेदकफलाश्रत्व रूप कर्मत्व है। क्षीर में क्षरण रूप धात्वर्थतावच्छेदकफलाश्रत्व है और गो में विभाग रूप धात्वर्थतावच्छेदकफलाश्रत्व है। शाब्दबोध पूर्ववत् ही होता है । फर्क मात्र इतना है कि पूर्व में शाब्दबोध में गो और विभाग का जो आधेयत्व संसर्ग था वह संसर्गविधयाभासित होता था (संसर्गमर्यादा से भासता था) अब (गो) वृत्तित्व (गोनिरूपिताधेयत्व) प्रकारविधया भासित होगा। तथा गो और आधेयत्व (वृत्तित्व) का सम्बन्ध निरूपितत्व संसर्गमर्यादा से भासित होगा।

**नचैवं धात्वर्थतावच्छेदकफलशालित्वरूपं कर्मत्वमेवात्रापि प्रतीयत इति न 'अकथितञ्च' इत्यस्य विषय इति वाच्यम् , धात्वर्थतावच्छेदकत्वस्य धातुवृत्तिग्रहविशेष्यांशे साक्षाद्विशेषणत्वरूपत्वात् । यत्र च क्षरणानुकूल-**

**व्यापारमात्रं धात्वर्थतया विवक्षितं क्षरणान्वयि विभागश्च विभक्त्यर्थतया तत्रापादानत्वबोधिका पञ्चमी। एतेन कदाचिद् 'गां दोग्धि पयः' कदाचिच्च 'गोभ्यो दोग्धि पयः' इत्यत्र नानियमः।**

यदि कहो कि भाई, यदि यहाँ भी धात्वर्थतावच्छेदकफलशालित्वरूप कर्मत्व ही प्रतीत होता है तब तो यह '**अकथितञ्च**' इस सूत्र का विषय ही नहीं होगा (क्योंकि जैसे क्षीर की कर्मता सम्पादन हेतु इस सूत्र की आवश्यकता नहीं होती है वैसे गो की भी कर्मता सम्पादित करने के लिए इस सूत्र की आवश्यकता नहीं होगी) तो ऐसा नहीं कहना चाहिए क्योंकि धात्वर्थतावच्छेदकत्व धातुवृत्तिग्रहविशेष्यांश में साक्षात्प्रकारत्व रूप है अर्थात् धातुवृत्तिग्रहविशेष्यांश में साक्षात्प्रकारीभूतफलाश्रय जो होगा उसे प्रधान कर्म कहा जायेगा और जो ऐसा नहीं है तथा अपादानत्वादिभिन्न धातुप्रतिपाद्य धर्मान्त से अवच्छिन्न होता है उसकी कर्म संज्ञा '**अकथितञ्च**' से होती है, वही इस सूत्र का विषय होता है। तथा उसी को अप्रधानकर्म कहते हैं।

जहाँ पर क्षरणानुकूलव्यापार मात्र धात्वर्थतया विवक्षित होता है और विभाग विभक्त्यर्थतया क्षरणान्वयी होता है वहाँ पर अपादानत्वबोधिका पञ्चमी होती है। इसी कारण कदाचित् '**गां दोग्धि पयः**' प्रयोग होता है जबकि विभागानुकूलक्षरणानुकूलव्यापार दुह् धात्वर्थतया विवक्षित होता है। और जब क्षरणानुकूलव्यापार दुह्धात्वर्थतया विवक्षित होता है तथा विभाग विभक्त्यर्थ होता है तब गो पद से पञ्चमी होती है और '**गोभ्यो दोग्धि पयः**' ऐसा प्रयोग हुआ है। इस प्रकार कहाँ पर पंचमी और कहाँ पर द्वितीया होती है। इसका अनियम नहीं होता है।

**अथवा 'गोभ्यो दोग्धि पयः' इत्यत्रापि विभागो धात्वर्थतावच्छेदक कोटिप्रविष्ट एव 'वृक्षाद्विभजते' इत्यत्रेवावधिरूपापादानत्वविवक्षायां पञ्चमी, आश्रयत्वविवक्षायाञ्च द्वितीया। अवधित्वं चाश्रयत्वादन्यदेव स्वरूप-सम्बन्धविशेषः। अत्र क्षरणान्वयिनः परसमवेतत्वस्य द्वितीयार्थत्वात् पयोनिष्ठ-क्षरणस्य पयोनिष्ठविभागजनकत्वेपि न 'पयःपयो दोग्धि' इति प्रयोगः। परत्वं च विभागान्वयितावच्छेदकावच्छिन्नापेक्षया बोध्यम् ।**

अथवा '**गोभ्यो दोग्धि पयः**' यहाँ पर भी विभाग धात्वर्थतावच्छेदक कोटि प्रविष्ट ही है अर्थात् गोपदोत्तर पञ्चमी प्रयोगस्थल में दुह् धात्वर्थ क्षरणानुकूलव्यापार नहीं है बल्कि वहाँ पर विभागानुकूलक्षरणानुकूल व्यापार ही दुह् धातु का अर्थ है। पञ्चमी का अर्थ विभाग नहीं है। बल्कि '**वृक्षाद् विभजते**' इत्यादि स्थलों की तरह अवधित्व रूप अपादानत्व विवक्षा में पञ्चमी होती है (क्योंकि यहाँ पर धातु का अर्थ ही विभाग है इसलिए पञ्चमी विभक्ति का अर्थ विभाग नहीं हो सकता है।) इस कारण विभागरूप अपादानत्व की विवक्षा में पञ्चमी नहीं सम्भव है। उसी प्रकार दुह धातु का योग होने पर भी विभाग के भी धातुप्रतिपाद्य होने से विभागात्मक अपादानत्व की विवक्षा में पञ्चमी नहीं हो सकती है। अवधित्व रूप अपादानत्व की विवक्षा में पञ्चमी हुआ करती है। तथा आश्रयत्व की विवक्षा में द्वितीया होती है। जब विभाग के अवधित्व की विवक्षा विभक्त्यर्थ से होती है तो गो पद से पञ्चमी और जब विभाग के आश्रयत्व की विवक्षा होती है तो गोपद से द्वितीया होती है। अवधित्व तो आश्रयत्व से भिन्न स्वरूपसम्बन्धविशेष ही है।

यहाँ पर प्रश्न यह उठता है कि पयोनिष्ठ क्षरणक्रिया में जैसे गोनिष्ठविभागजनकता है जिसकी वजह से गो कर्मता होती है उसी प्रकार पयः में पयोनिष्ठविभाग भी है। इसलिए क्या **पयः** की **पयः** की अपेक्षा गौणकर्मता भी होगी और **'गां पयो दोग्धि'** की तरह **'पयः पयो दोग्धि'** ऐसा प्रयोग होगा? तो इसका समाधान करने के लिए कहते हैं कि पर समवेतत्व जो कि क्षरण से अन्वित होता है, द्वितीया का अर्थ होता है। इस कारण पयोनिष्ठ क्षरण के पयोनिष्ठविभागजनक होने पर भी **'पयः पयो दोग्धि'** ऐसा प्रयोग नहीं होता है। परत्व तो विभागान्वयितावच्छेदकावच्छिन्न की अपेक्षा हुआ करता है।

अभिप्राय यह है कि **'चैत्रः ग्रामं गच्छति'** इत्यादि स्थलों पर जैसे धात्वर्थतावच्छेदक फल संयोगशालित्व ग्राम में है वैसे ही चैत्र में भी है। संयोग ग्राम और चैत्र दोनों ही में रहनेवाला है। इस प्रकार चैत्र के कर्ता होने पर भी धात्वर्थतावच्छेदकफलशालितया कर्मता भी होगी । इस तरह **'चैत्रः चैत्रं गच्छति'** ऐसा प्रयोग भी होने लगेगा। यही स्थिति **'पयः पयो दोग्धि'** की भी है क्योंकि पय धात्वर्थतावच्छेदकक्षरणक्रियाश्रय होने से प्रधान कर्म तो है ही। साथ ही पय विभागाश्रयत्वेन भी विवक्षाविषय है इसलिए **'अकथिततञ्च'** के द्वारा पय की गौण कर्मता होगी। इस प्रकार प्रधान और गौण कर्मता प्रतिपादन हेतु दो बार पयः का प्रयोग करते हुए **'पयः पयो दोग्धि'** प्रयोग होना चाहिए। इसका समाधान है कि **परसमवेत क्रियाजन्यफलशालित्व** ही कर्मत्व है। चैत्र में चैत्र समवेत क्रिया जन्यफलशालित्व ही है परसमवेत क्रियाजन्य फलशालित्व नहीं। अतः चैत्र की कर्मता नहीं होती है। इसी प्रकार पयः की एक ही कर्मता है क्योंकि परमैत्रादिसमवेतक्रियाजन्यफलशालित्व ही उसकी कर्मता का प्रयोजक है न कि पयःसमवेतक्रियाजन्यफलशालित्व । इसलिए उक्त प्रयोगापत्ति नहीं है। इस स्थल पर परत्व को विभागान्वयितावच्छेदक से अवच्छिन्न की अपेक्षा लेना है। विभागान्वयितावच्छेदक गोत्व को लिया जाये तो गोत्वावच्छिन्न से पर क्षीर है, क्षीर को विभागान्वयी बनायें तो क्षीर ऐसा नहीं है।

**'दुह्यते गौः क्षीरम्' इत्यादौ क्षरणजन्यविभागाश्रयत्वरूपं प्रधान-कर्मत्वमाख्यातार्थः 'अप्रधाने दुहादीनाम् ' इत्यनुशासनात् । क्षीरवृत्तित्वस्य क्षीरवृत्तिक्षरणे एवान्वयः आख्यातार्थक्षरणे च धात्वर्थव्यापारान्वयः तथा च-विभागावच्छिन्नक्षीरनिष्ठक्षरणानुकूलव्यापारजन्यक्षरणजन्यविभागाश्रयो गौरित्याकारको बोधः।**

**'दुह्यते गौः क्षीरम्'** इत्यादि कर्माख्यातस्थल में क्षरणजन्यविभागाश्रयत्व रूप अप्रधानकर्मत्व ही आख्यात का अर्थ है क्योंकि **'अप्रधाने दुहादीनाम्'** 'दुहादि धातुओं के अप्रधान कर्म में ही कर्माख्यात होता है' ऐसा अनुशासन है। क्षीरवृत्तित्व का धात्वर्थ भूत क्षरण में ही अन्वय होता है। आख्यातार्थ जो क्षरण है उसमें धात्वर्थव्यापार का अन्वय होता है। (यहाँ पर दुह् धातु का अर्थ विभागावच्छिन्नक्षरणानुकूलव्यापार है और कर्माख्यात का अर्थ क्षरणजन्यविभागाश्रयत्व है। इसलिए एक क्षरण और विभाग धात्वर्थ है और एक आख्यातार्थ) इस प्रकार से **'विभागावच्छिन्नक्षीरनिष्ठक्षरणानुकूलव्यापारजन्यक्षरण-जन्यविभागाश्रयो गौः'** 'विभागानुकूल क्षीर निष्ठ क्षरण के अनुकूलव्यापार से जन्य क्षरण से जन्य विभाग का आश्रय गौ है' ऐसा शाब्दबोध होता है। इसमें क्षरण और विभाग का द्विधा भान हुआ करता है।

**अथवा विभागक्षरणव्यापारेषु विशकलितेषु धातोः शक्तित्रयम् , विशिष्टलाभोऽन्वयबलात् । कर्माख्यातस्थले चाकाङ्क्षावैचित्र्येण तेषां विशेष्यविशेषणभाववैपरीत्यात् व्यापारजन्यक्षरणजन्यविभागपर्यन्तस्य धातुत एव लाभः आश्रयत्वमेवाख्यातार्थः। एवं च क्षरणविभागयोर्न द्विधा भानम् । गौणकर्मसमभिव्याहृते 'दुह्यन्ते क्षीराणि' इत्यादावात्मनेपदेन केवलेन धातुसहितेन वा क्षरणाश्रयत्वरूपप्रधानकर्मत्वस्य बोधनेप्येकदोभयविधकर्मत्वबोधनस्याव्युत्पन्नतया 'दुह्यन्ते क्षीराणि गौः' इत्यादयो न प्रयोगाः।**

उपर्युक्त सिद्धान्त पक्ष में एक समस्या है वह यह कि क्षरण और विभाग का दो बार भान हुआ करता है। यदि यह किसी के मत में अनुभवसिद्ध न हो तो उसके मत में क्या होगा?

अथवा विभाग, क्षरण और व्यापार इन तीनों में अलग-अलग ही धातु की तीन शक्तियाँ है तथा विभाग, क्षरण, व्यापार की विशिष्टबोध तो अन्वय के बल से हुआ करता है। कर्माख्यातस्थल में आकाङ्क्षा के वैचित्र्य से विभाग, क्षरण और व्यापारों के विशेष्य विशेषण भाव में (कर्त्राख्यात स्थल की अपेक्षा) वैपरीत्य हो जाता है। वैपरीत्य होकर व्यापारजन्यक्षरणजन्यविभागपर्यन्त का धातु से ही लाभ होता है, आख्यात का अर्थ आश्रयत्वमात्र हुआ करता है। इस प्रकार क्षरण और विभाग का दो बार भान नहीं होता है। अभिप्राय यह है कि दुह् धातु की विभाग, क्षरण और व्यापार इन तीनों में ही खण्डशक्ति है। कर्त्राख्यात स्थल में आकाङ्क्षा के वैचित्र्य से '**विभागानुकूलक्षरणानुकूलव्यापार**' विषयकबोध होता है। इसमें व्यापार विशेष्य होता है, व्यापार में क्षरण और क्षरण में विभाग विशेषण हुआ करता है। कर्माख्यातस्थल में धातु का अर्थ कर्त्राख्यात स्थल से समान होने पर भी कर्त्राख्यात स्थल से कर्माख्यात स्थल में आकाङ्क्षा विचित्र होती है। इसी आकाङ्क्षा के वैचित्र्य से कर्माख्यातस्थल में विशेष्यविशेषणभाव विपरीत हो जाता है, विभागविशेष्य बन जाता है, विभाग में क्षरण औव क्षरण में व्यापार विशेषण बन जाता है। इस प्रकार '**व्यापारजन्यक्षरणजन्यविभाग**' विषयक शाब्दबोध होता है। कर्त्राख्यात और कर्माख्यात दोनों ही स्थलों में विभाग, क्षरण और व्यापार के आपसी सम्बन्ध क्रमशः अनुकूलत्व और जन्यत्व आकाङ्क्षा से संसर्गमर्यादा भासते हैं। आश्रयत्वमात्र कर्माख्यात का अर्थ हुआ करता है। इस प्रकार '**चैत्रेण गौः क्षीरं दुह्यते**' से **चैत्रसमवेतकृतिजन्यव्यापारजन्यक्षीरनिष्ठक्षरणजन्यविभागाश्रयो गौः**' 'चैत्रसमवेतकृतिजन्यव्यापारजन्यक्षीरनिष्ठ क्षरण से जन्य विभाग की आश्रय गौ है' ऐसा शाब्दबोध हुआ करता है।

गौणकर्मासमभिव्याहृत (गौणकर्म के असभिव्याहार) स्थल में '**दुह्यन्ते क्षीराणि**' इत्यादि कर्माख्यातप्रयोगस्थल में केवल आत्मनेपद से या धातुसहित आत्मनेपद से (अर्थात् आख्यात के द्वारा) विभागावच्छिन्नक्षरणाश्रयत्व रूप प्रधानकर्मत्व का बोधन होने पर भी (अर्थात् '**अप्रधाने दुहादीनाम्** ' इस अनुशासन के होने के बावजूद भी जहाँ पर गौण कर्म का समवधान नहीं होता है, वहाँ '**दुह्यन्ते क्षीराणि**' इत्यादि कर्माख्यात स्थल में आख्यात के द्वारा विभागावच्छिन्नक्षरणाश्रयत्वरूप प्रधानकर्मत्व का बोधन होता है। प्रधानकर्म का अभिधान होने पर यहाँ दुह् धातु से कर्माख्यात का प्रयोग हुआ करता है। इसलिए वस्तुतः दुह् धातु समभिव्याहृत कर्माख्यात में प्रधानकर्मत्व और गौणकर्मत्व दोनों के बोधन

की योग्यता है तथापि) एक काल में दोनों प्रकार के कर्मत्वों का बोधन अव्युत्पन्न है इसलिए उभयकर्मत्व बोधन के तात्पर्य से '**दुह्यन्ते क्षीराणि गौः**' इत्यादि प्रयोग नहीं ही हुआ करते हैं। '**प्रधाने दुहादीनाम्**' इस अनुशासन का तात्पर्य यही है कि प्रधान और अप्रधान दोनों कर्मों का समभिव्याहार होने की दशा में अप्रधानकर्मत्वबोधनतात्पर्य से ही कर्माख्यात हुआ करता है, प्रधानकर्मत्वबोधन तात्पर्य से नहीं ।

**'पौरवं गां याचते विप्रः' इत्यादौ स्वोद्देश्यकदानेच्छा याचत्यर्थः, प्रधान कर्मगवान्वितद्वितीयार्थो विषयित्वं धात्वर्थतावच्छेदकदानेऽन्वेति । सविषयज्ञानादिरूपविषयोपहितेच्छाबोधकधातुस्थले इच्छाविषयविषयत्वमेव प्रधानकर्मत्वम् , अत एव 'घटो जिज्ञास्यते' इत्यादौ घटादेः सन्नन्तकर्मता।**

'**पौरवं गां याचते विप्रः**' इत्यादि स्थलों में याच् धातु का अर्थ स्वोद्देश्यकदानेच्छा है। प्रधानकर्म गो से अन्वित द्वितीया का अर्थ विषयित्व धात्वर्थतावच्छेदकदान में अन्वित होता है। दान का अर्थ पूर्व में बता चुके हैं कि स्वस्वत्वध्वंसविशिष्टपरस्वत्वानुकूला इच्छा या स्वस्वत्वध्वंसानुकूलपरस्वत्वप्रकारक इच्छा दा धातु का या दान का अर्थ है। इसी दान पदार्थभूत इच्छा में प्रधानकर्म गो से अन्वित द्वितीया के अर्थ विषयित्व का आश्रयत्व सम्बन्ध से अन्वय होता है। इस प्रकार से चूँकि याच् धातु का अर्थ हुआ स्वोद्देश्यक पौरव स्वत्वध्वंसविशिष्टस्वस्वत्वानुकूलेच्छाविषयकेच्छा। इसमें विशेषण है दान पदार्थ भूत इच्छा। इसी में गो से अन्वित द्वितीयार्थ विषयित्व का आश्रयत्वसम्बन्ध से अन्वय होता है। इस तरह यहाँ पर '**स्वोद्देश्यकपौरवस्वत्वध्वंसविशिष्ट स्व( विप्र ) स्वत्वानुकूलगोविषयक-इच्छा ( जो पौरव में रहने वाली है ) तदिच्छाविषयकेच्छाश्रयो विप्रः**' स्वोद्देश्यकपौरव-स्वत्वध्वंसविशिष्टस्वविप्रस्वत्वानुकूल जो गो विषयक पौरव में रहने वाली इच्छा उसको विषय करने वाली इच्छा का आश्रय विप्र है' ऐसा शाब्दबोध होता है।

यहाँ पर गौ की ही प्रधान कर्मता होती है पौरव की नहीं ।इसका कारण है कि– सविषयक ज्ञानदिरूपविषयोपहितेच्छाबोधक धातुस्थल में इच्छाविषयविषयत्व ही प्रधान कर्मत्व है, इसीलिए '**घटो जिज्ञास्यते**' इत्यादिस्थलों में घटादि की सन्नन्त ज्ञाधातु की कर्मता है।

अभिप्राय यह है कि '**धात्वर्थतावच्छेदकफलाश्रयत्व' ही प्रधानकर्मत्व है ऐसा कहा गया है। याच् धातु का अर्थ** 'स्वोद्देश्यकदानेच्छा' है। स्पष्टतः धात्वर्थतावच्छेदक दान हुआ। दान का अर्थ उपर्युक्त रूप से '**स्वस्वत्वधवंसविशिष्ट परस्वत्वानुकूला इच्छा**' ही है। इस इच्छारूपदान का आश्रय तो पौरव है। इस प्रकार पौरव की ही प्रधानकर्मता होनी चाहिए। इच्छारूपदान ही तो यहाँ पर धात्वर्थतावच्छेदकीभूत फल है। अतः तदाश्रयतया पौरव की ही प्रधानकर्मता होनी चाहिए। इसी पर गदाधर समाधान दे रहे हैं कि- जहाँ पर धात्वर्थतावच्छेदकफलाश्रयत्वरूप प्रधानकर्मत्व नहीं होता है बल्कि इच्छाविषय (धात्वर्थतावच्छेदक) विषयत्वरूप प्रधानकर्मत्व होता है।

इसीलिए '**घटो जिज्ञास्यते**' में घट की कर्मता होती है। यहाँ पर सन्नन्त ज्ञा धातु का अर्थ है ज्ञानविषयकेच्छा। धात्वर्थ इच्छा का विषय (धात्वर्थतावच्छेदक) हुआ ज्ञान, ज्ञानाश्रय तो चैत्रादि होंगे, अतः चैत्रादि की कर्मता होने लगेगी। जो कि असंगत है। हमारे

कथनानुसार तो धात्वर्थतावच्छेदकीभूत जो धात्वर्थ इच्छाविषयज्ञान है उस ज्ञान का विषयत्व ही यहाँ पर कर्मत्व है। वह तो घट में ही रहेगा। इसी प्रकार यहाँ पर भी धात्वर्थतावच्छेदकीभूत दान (जो कि इच्छा रूप है) का विषयत्व ही प्रधान कर्मत्व है और यह गौ में ही है पौरव में नहीं। इसलिए गौ की ही प्रधान कर्मता है पौरव की नही।

**अथैवं यद्वस्तुविषयकं दानमप्रसिद्धं तद्वस्तुरूपकर्मसमभिव्याहृतधातु घटितवचसः का गतिः इति चेत् ? या गतिः 'गगनं दिदृक्षते' इत्यादिकस्य भ्रान्तपुरुषीयगगनादिप्रकारकदर्शनेच्छाबोधकवाक्यस्य। गगनविषयकत्व प्रकारकदर्शनेच्छाबोधस्तत्रेतिचेत् ? इहापि गोविषयिताप्रकारतानिरूपित-स्वत्वेच्छानिष्ठविषयताशालीच्छाबोधः तद्वाक्यस्य विशेषादर्शिमात्रविषयता च समा। विवेचनीयं चेदमग्रे। पौरवपदोत्तरद्वितीयायास्तु वृत्तिरेवार्थः, तस्याश्च दानेऽन्वयः। पौरवस्य तादृशदानाश्रयत्वमेवाप्रधानकर्मत्वम् ।**

इस प्रकार से निर्वचन करने पर भी यद्वस्तुविषयकदान अप्रसिद्ध है, तद्वस्तुसम-भिव्याहृतधातुघटित वाक्य की क्या गति होगी? जैसे कि परकीयवस्तुविषयकदान सर्वथा अप्रसिद्ध है, इसलिए '**परकीयां गां याचते**' इत्यादिस्थलों में क्या गति होगी? दान तो स्वकीय वस्तु व्यक्ति का हो सकता है परकीय का नहीं। परकीय वस्तु स्थल में तो 'स्वस्वत्वध्वंसविशिष्ट परस्वत्वानुकूलेच्छा' ही अप्रसिद्ध हो जायेगी। तो वहाँ पर क्या गति होगी?

जो गति भ्रान्तपुरुषीय गगनादिप्रकारकदर्शन इच्छा को बोधित करने वाले '**गगनं दिदृक्षते**' वाक्य की होती है। अर्थात् जैसे गगनदर्शन ही सम्भव नहीं होता है तो गगनदर्शनविषयकबोध या गगनदर्शन विषयक इच्छा कैसे सम्भव होगी? इसलिए गगनदर्शन विषयकइच्छा के सम्भव न होने के कारण जैसे उक्त '**गगनं दिदृक्षते**' प्रयोग अपार्थक होता है वैसे ही '**परकीयां गां याचते**' प्रयोग भी अपार्थक ही होगा।

यदि कहो कि गगनविषयकत्वप्रकारक दर्शनेच्छाबोध वहाँ पर होगा। गगन प्रकारक इच्छा तो अप्रसिद्ध होगी किन्तु गगनविषयकत्व अनुमित्यादि में प्रसिद्ध है। तादृशगगनविषय-कत्वप्रकारकदर्शनेच्छाबोध तो हो ही सकता है। तो यहाँ पर भी गोविषयिताप्रकारतानिरूपित-स्वत्वेच्छानिष्ठविषयताशाली इच्छा का बोध हो सकता है। अर्थात् '**परकीयां गां याचते**' यहाँ पर भी परकीया गो का दानेच्छाविषयत्व नहीं है अपितु गोविषयकस्वत्वेच्छाविषयक इच्छा का बोध होता है। यहाँ पर दान का अर्थ पूर्वोक्तेच्छारूप नहीं होता है बल्कि स्वत्वेच्छामात्र ही दान का अर्थ है। इन दोनो वाक्यों की विशेषादर्शिमात्रविषयता समान है अर्थात् न तो '**गगनं दिदृक्षते**' यह प्रयोग विशेषदर्शी करता है और न तो '**परकीयां गां याचते**' ऐसा प्रयोग विशेषदर्शी करता है। इसका विवेचन अभी आगे भी करना है।

'**पौरवं गां याचते**' में पौरवपदोत्तर द्वितीया का अर्थ वृत्ति ही है और उसका दान में अन्वय हुआ करता है। इस स्थल में पौरव का अप्रधानकर्मत्व धात्वर्थतावच्छेदकी भूत दान का आश्रयत्व ही है, प्रधानकर्मत्व तो तादृशदानविषयत्व ही है। सर्वत्र एक जैसा ही प्रधानकर्मत्व विवक्षित नहीं हुआ करता है।

**न चैवमिच्छाविशेषरूपदानस्याश्रयत्वं कर्तृत्वमेवेति वाच्यम्, धातुजन्य प्रतिपत्तिविशेष्यीभूतदानाश्रयत्वस्यैव तत्कर्तृत्वरूपत्वात् । अत्र च दानस्य**

**तादृशप्रतिपत्ताविच्छारूपधात्वर्थविशेषणत्वात्। 'चैत्रेण पौरवो गां याच्यते' इत्यादावप्युक्तक्रमेण चैत्रवृत्तीच्छाविषयगोकर्मकदानाश्रय इत्यन्वयबोधो बोध्यः।**

यदि कहो कि इच्छाविशेष रूप दान का आश्रयत्व तो दानकर्तृत्व ही है। जैसे कि **'पौरवो गां ददाति'** यहाँ पर पौरव में स्वस्वत्वध्वंसविशिष्टपरस्वत्वानुकूलेच्छा रूप दान का आश्रयत्व विद्यमान है और वही पौरव का कर्तृत्व है।

तो ऐसा नहीं कहना चाहिए क्योंकि धातुजन्यप्रतिपत्तिविशेष्यभूतदान का आश्रयत्व ही दान कर्तृत्व है। सामान्यतया दानाश्रयत्व तो दानकर्तृत्व नहीं है। **'पौरवो गां ददाति'** में पौरव में जिस दान का आश्रयत्व है वह दाधातु से जन्य प्रतिपत्तिविशेष्यीभूत दान है। क्योंकि वहाँ पर स्वस्वत्वध्वंसविशिष्टपरस्वत्वानुकूलेच्छा रूप दान की प्रतिपत्ति दा धातु से होती है। इसलिए तादृशदानाश्रयतया पौरव का कर्तृत्व है। यहाँ पर तो याच् धातु से दान की जो प्रतिपत्ति होती है उसमें धातुजन्यप्रतिपत्ति में दान विशेष्य नहीं होता है बल्कि विशेषण होता है। याच् धातु से तो 'स्वोद्देश्यकदानेच्छा' की प्रतिपत्ति होती है। इसमें विशेष्य है इच्छा और उसका विशेषण है दान । अतः इस दान का आश्रय होने के बावजूद भी पौरव का कर्तृत्व नहीं है कर्मत्व है। **'चैत्रेण पौरवो गां याच्यते'** इत्यादिस्थलों में भी इसी उक्त तरीके से चैत्रवृत्ति इच्छाविषयगोकर्मकदानाश्रयविषयक शाब्दबोध होता है। अभिप्राय यह है कि कर्माख्यातस्थल में भी पौरव में दानाश्रयत्व तो विद्यमान है, परन्तु यहाँ भी दानाश्रयत्व भाग में जिस दान का आश्रयत्व बोधित हो रहा है। वह दान धातु जन्यप्रतिपत्तिविशेष्य नहीं है। बल्कि उसकी प्रतिपत्ति कर्माख्यात से होती है। इसलिए वहाँ पर भी पौरव का कर्तृत्व नहीं होता है। तथा दान का द्विधाभान (आख्यातार्थतया व धात्वर्थतया) होते हुए **'चैत्रवृत्तिदानेच्छाविषयगोकर्मकदानाश्रयः पौरवः'** 'चैत्रवृत्ति-दानेच्छाविषयगोकर्मक दान का आश्रय पौरव है' ऐसा अन्वयबोध होता है।

**यद्यपि निरुक्तयाच्ञा भिक्षैवेति ''दुहियाचिरुधिप्रच्छिभिक्षिचिञाम्'' इत्यत्रार्थपरभिक्ष्युपादानेनैव चरितार्थतया याचेरुपादानमनर्थकम्, तथापि 'याचमानः शिवं सुरान्' इत्यादौ याचतेर्न निरुक्तभिक्षार्थतेति तदुपादानम्। तत्र हि व्यापारजन्यत्वप्रकारकेच्छा धात्वर्थः इच्छायां प्रदानकर्मकल्याणान्वितद्वितीयार्थविषयिताया अन्वयः, व्यापारे च सुरान्वितवृत्तित्वस्य द्वितीयार्थस्यान्वयः, तथा च सुरवृत्तिव्यापारजन्यत्वप्रकारककल्याणेच्छाश्रय इत्यन्वयबोधः।**

यद्यपि **'पौरवं गां याचते'** इत्यादि स्थलों में धात्वर्थभूत जो याच्ञा है, वह भिक्षा ही है। **'दुहियाचिरुधिप्रच्छिभिक्षिचिञाम्'** यहाँ पर दुहि,याचि, रुधि आदि धातुओं का ग्रहण अर्थ परत्वेन ही है अर्थात् इन धातुओं के पर्यायवाची धातुओं का योग होने पर भी अपादानादिविशेष से अविवक्षित गो आदि की **'अकथितञ्च'** सूत्र से कर्म संज्ञा का विधान किया गया है। ऐसी स्थिति में भिक्षि धातु के उपादान से ही याचि का भी भिक्षिधातुपर्याय वाचितया परिग्रह हो जायेगा। फिर याचि का सूत्र में पृथक् उपादान निरर्थक है।

तथापि चूँकि **'याचमानः शिवं सुरान्'** (देवताओं से कल्याण माँगता हुआ इत्यादि

स्थलों में याच् धातु भिक्षार्थक नहीं है, (क्योंकि कल्याण अन्नादिवत् हस्तादि से दिया नहीं जा सकता है) इसलिए यहाँ पर '**अकथितञ्च**' सूत्र की प्रवृत्ति नहीं हो पाती यदि याचि का भी परिग्रह नहीं किया गया होता। इसलिए याचि का भी परिग्रह किया गया है। '**याचमानः शिवं सुरान्**' इत्यादि स्थलों में धात्वर्थ स्वोद्देश्यकदानेच्छा नहीं है बल्कि व्यापारजन्यत्व प्रकारकेच्छा धात्वर्थ है। इच्छा में प्रधान जो कर्म कल्याण (शिव) उससे अन्वित द्वितीयार्थ विषयिता का अन्वय होता है, व्यापार में सुरान्वित वृत्तित्व रूप द्वितीयार्थ का अन्वय होता है। इस प्रकार '**सुरवृत्तिव्यापारजन्यत्वप्रकारककल्याणेच्छाश्रयः**' 'सुरवृत्तिव्यापार जन्यत्वप्रकारक कल्याणेच्छाश्रय है' ऐसा अन्वयबोध हुआ करता है।

**'गां व्रजं रुणद्धि' इत्यादौ देशान्तरसञ्चारविरोधिव्यापारो धात्वर्थः सञ्चारविरोधित्वं सञ्चारानुत्पादप्रयोजकत्वम्, अनुत्पादे प्रधानकर्मगोवृत्तित्वान्वयः देशविशेषणे भेदे च 'व्रजम्' इति द्वितीयान्तार्थव्रजप्रतियोगित्वान्वयः। 'रुध्यते गां व्रजः' इत्यादावन्वयबोधः स्वयमूहनीयः।**

'**गां व्रजं रुणद्धि**' इत्यादि स्थलों में देशान्तरसञ्चारविरोधिव्यापार रुध् धातु का अर्थ होता है। सञ्चारविरोधित्व का अभिप्राय है सञ्चारानुत्पादप्रयोजकत्व। इस प्रकार रुध् धातु का अर्थ हुआ '**देशान्तरसंचारानुत्पादप्रयोजकव्यापार**' प्रधान कर्म गो पदोत्तर द्वितीयार्थ वृत्तित्व गो से अन्वित होकर अनुत्पाद से अन्वित होता है अर्थात् गोवृत्तित्व का अनुत्पाद में अन्वय होता है। देशान्तर का अर्थ अन्यदेश होता है, अन्य का अर्थ भेदवान् होता है। इस प्रकार देश विशेषण भेद हुआ। उस भेद में व्रजपदोत्तर द्वितीयार्थ प्रतियोगित्व का अन्वय होता है। इस प्रकार '**व्रजप्रतियोगिकभेदविशिष्टः यो देशः गोवृत्तिर्यो तद्देशसञ्चारानुत्पादः तत्प्रयोजकव्यापाराश्रयः**' 'व्रज प्रतियोगिक भेदविशिष्ट जो देश, गो में रहने वाला जो तद्देशसंचारानुत्पाद उसके प्रयोजक व्यापार का आश्रय है' ऐसा शाब्दबोध होता है। '**रुध्यते गां व्रजः**' इत्यादिस्थलो में स्वयं अन्वयबोध समझ लेना चाहिए। स्वयं समझने का आशय है कि रुध् धातु से भी कर्माख्यात अप्रधान कर्म में ही होता है। रुध् धातु का तो उपर्युक्त ही अर्थ है। कर्माख्यात का यहाँ पर अर्थ हुआ '**व्यापारप्रयोज्य सञ्चारानुत्पादैक-देशान्तरनिष्ठभेदप्रतियोगित्वाश्रयत्व**' इस प्रकार शाब्दबोध यहाँ पर होता है कि- '**देशान्तरसञ्चारानुत्पादप्रयोजकव्यापारप्रयोज्यो यः गोवृत्तिदेशान्तरसञ्चारानुत्पाद स्तदेकदेशदेशान्तरनिष्ठभेदप्रतियोगित्वाश्रयो व्रजः**' देशान्तरसञ्चारानुत्पादप्रयोजक व्यापार से प्रयोज्य जो गोवृत्ति देशान्तरसंचारानुत्पाद, उसके एकदेश देशान्तरनिष्ठ भेद प्रतियोगित्व का आश्रय व्रज है ।

'गुरुं धर्मं पृच्छति' इत्यादौ जिज्ञासाबोधकव्यापारो धात्वर्थः, बोधे गुरुवृत्तित्वस्य, जिज्ञासायां धर्मविषयकत्वस्यान्वयः। 'शिष्यं धर्मं ब्रूते' इत्यत्र ज्ञानानुकूलशब्दप्रयोगो धात्वर्थः, ज्ञाने धर्मविषयकत्वस्य शिष्यवृत्तित्वस्य चान्वय इति।

तत्र चारुतरम्-तथासति यत्र जिज्ञासाविषयकचैत्रज्ञानेच्छया प्रश्नस्ता-दृशशब्दाच्च सामग्रीबलेन मैत्रस्यापि पृच्छकजिज्ञासाज्ञानं तत्र 'मैत्रं पृच्छति' इति प्रयोगस्य, एवं यत्र चैत्रज्ञानेच्छया ब्रूते दैववशाच्च मैत्रस्यापि ज्ञानं तत्र

**'मैत्रं ब्रूते' इति प्रयोगस्य चापत्तेः साक्षाद्धात्वर्थविशेषणज्ञानरूपफलाश्रयतया तत्र गुर्वादीनां प्रधानकर्मतया 'अप्रधाने दुहादीनाम्' इत्यनुशासनविरोधेन 'पृच्छ्यते गुरुर्धर्मम्' 'शिष्य उच्यते धर्मम्' इत्यादिस्थले च लकारादिना तत्कर्मत्वाभिधानानुपपत्तेश्च।**

**'गुरुं धर्मं पृच्छाति'** इत्यादिस्थलों में जिज्ञासाबोधकव्यापार पृच्छधातु का अर्थ है। (बोधक का अर्थ बोधजनक होता है, इस प्रकार जिज्ञासाविषयक बोध जनक व्यापार पृच्छधातु का अर्थ हुआ) गुरुपदोत्तर द्वितीया का अर्थ वृत्तित्व है, प्रकृत्यर्थविशेषित प्रत्ययार्थ का गुरुवृत्तित्व का धात्वर्थान्तर्गत बोध में अन्वय होता है। धर्मपदोत्तर द्वितीया का अर्थ विषयकत्व है, इस प्रकार प्रकृत्यर्थविशेषितप्रत्ययार्थ धर्मविषयकत्व का जिज्ञासा में अन्वय होता है। (तथा इस प्रकार **'धर्मविषयकजिज्ञासाविषयकगुरुवृत्तिबोधजनकव्यापारानुकूलकृत्याश्रयः शिष्यः'** 'धर्मविषयकजिज्ञासाविषयकगुरुवृत्तिबोधजनक व्यापारानुकूल कृत्याश्रय शिष्य है' ऐसा अन्वय बोध उक्त वाक्य से होता है।) **'शिष्यं धर्म ब्रूते'** यहाँ पर ज्ञानानुकूलशब्दप्रयोग ब्रञ् धातु का अर्थ है। ज्ञान में शिष्यवृत्तित्व (प्रकृत्यर्थ शिष्य से विशेषित तदुत्तर द्वितीयार्थ वृत्तित्व) का और धर्मविषयकत्व (प्रकृत्यर्थ धर्म से विशेषित तदुत्तर द्वितीया विभक्त्यर्थ विषयकत्व) का अन्वय होता है। इस प्रकार **'शिष्यवृत्तिधर्मविषयकज्ञानानुकूलशब्दप्रयोगानुकूलकृतिमान् गुरुः'** 'शिष्यवृत्ति धर्मविषयकज्ञानानुकूलशब्दप्रयोगानुकूल कृतिवाला गुरु है' ऐसा बोध होता है।

ऐसा कहना ठीक नहीं लगता है क्योंकि यदि **'जिज्ञासाविषयकबोधजनकव्यापार'** और **'ज्ञानानुकूलशब्दप्रयोग'** ही क्रमशः **'पृच्छ्'** और **'ब्रूञ्'** धातु के अर्थ होंगे तो जहाँ पर जिज्ञासाविषयक चैत्रज्ञान की इच्छा से प्रश्न हो (अर्थात् जिज्ञासा के विषय में चैत्र को ज्ञान हो जाये ऐसी इच्छा से शिष्य के द्वारा प्रश्न किया गया हो) और शक्तिज्ञान, पदजन्य पदार्थोपस्थिति आदि सामग्री के बल से मैत्र को भी पूँछने वाले की जिज्ञासा का ज्ञान हो जाये वहाँ पर **'मैत्रं पृच्छति'** ऐसे प्रयोग की आपत्ति होगी क्योंकि पूँछनेवाले के द्वारा चैत्र से प्रश्न पूछा जाने पर भी जैसे पूँछने वाले का व्यापार (पृच्छात्मक व्यापार) चैत्र में जिज्ञासाविषयकबोधजनक है, वैसे ही मैत्र में भी जिज्ञासाविषयकबोध को उत्पन्न कर रहा है। इसलिए शिष्यव्यापार में चैत्रनिष्ठजिज्ञासाविषयकबोधजनकत्व की तरह मैत्र निष्ठजिज्ञासाविषयकबोधजनकत्व भी है। अतः चैत्र से शिष्य प्रश्न कर रहा हो तो भी **'मैत्रं पृच्छति'** प्रयोग की आपत्ति होगी। इसी प्रकार जहाँ पर गुरु चैत्रज्ञानेच्छा से बोल रहे हैं और दैववशात् मैत्र को भी ज्ञान हो गया तो गुरु के शब्दप्रयोग में चैत्रज्ञानानुकूलत्व की तरह मैत्रज्ञानानुकूलत्व भी विद्यमान है। इसलिए इस स्थिति में **'चैत्रं ब्रूते'** की तरह **'मैत्रं ब्रूते'** भी प्रयोग होना चाहिए। परन्तु यदि चैत्र से पूँछा जा रहा है और सामग्री बलात् मैत्र को जिज्ञासाविषयक ज्ञान हो भी जाये तो **'मैत्रं पृच्छति'** प्रयोग नहीं होता है। इसी प्रकार चैत्र को बताया जा रहा है तो सामग्रीबलात् कदाचित् मैत्र को ज्ञान हो भी जाये तो भी **'चैत्रं ब्रूते'** प्रयोग ही होता है, **'मैत्रं ब्रूते'** नहीं। इसलिए पृच्छ् और ब्रूधातु के उपर्युक्त अर्थ नहीं हो सकते।

इसके अतिरिक्त एक दोष (आपत्ति) और है, यदि पृच्छ और ब्रूञ् धातु के उपर्युक्त अर्थ ही स्वीकार किये जायें तो। वह यह कि यदि **'जिज्ञासाविषयकबोधजनकव्यापार'**

**पृच्छ धातु का** और '**बोधानुकूलशब्दप्रयोग**' **ब्रूञ्धातु का** अर्थ हो तो धात्वर्थतावच्छेदक (धात्वर्थ विशेषण) ज्ञान रूप फल का आश्रय होने से क्रमशः गुरु और शिष्य की प्रधान कर्मता हो जायेगी। प्रधानकर्मता गुरु, शिष्य आदि की होने पर '**अप्रधाने दुहादीनाम्**' इस अनुशासन से विरोध होगा यदि प्रधान कर्मता का अभिधान कर्माख्यात से हो तो, इस कारण '**पृच्छ्यते गुरुर्धर्मम्**' '**शिष्य उच्यते धर्मम्**' इत्यादि स्थलों में जो गुरु और शिष्यादिगत कर्मता का अभिधान लकार आदि से किया जाता है, उस अभिधान की अनुपपत्ति है। अभिप्राय यह है कि अप्रधानकर्मत्व का अभिधान होने पर ही दुहादि से कर्माख्यात होता है। इन साधु प्रयोगों में गुरुशिष्यादि गत जिस कर्मता का अभिधान हो रहा है वह निश्चित रूप से अप्रधानकर्मता है। किन्तु आपने जो पृच्छ और ब्रूञ् धातुओं का अर्थ किया है उसके अनुसार तो गुरुशिष्यादि की इन स्थलों पर प्रधानकर्मता हो जायेगी। तथा इस कारण इन स्थलों पर कर्माख्यात के द्वारा उनकी कर्मता का अभिधान सम्भव नहीं हो सकेगा। इसलिए पृच्छ् और ब्रूञ् का अर्थ कुछ और ही होना चाहिए।

**परंतु जिज्ञासाज्ञानोद्देश्यकप्रवृत्त्यधीनशब्दः पृच्छतेरर्थः। ज्ञाने गुरुवृत्तित्वस्यान्वयः, शब्दे च धर्मविषयकत्वस्यान्वयः, शब्दस्य च विषयता व्यापारानुबन्धिनी, ज्ञानस्य च परम्परया शब्दरूपधात्वर्थविशेषणत्वात् तदाश्रयीभूतगौणकर्मता, धर्मस्य च धात्वर्थविषयतया प्रधानकर्मता। ब्रूञश्च ज्ञानोद्देश्यकप्रवृत्त्यधीनशब्दोऽर्थः ज्ञाने शिष्यवृत्तित्वस्य शब्दे च धर्मविषयकत्वस्यान्वयः।**

तो पृच्छ धातु का और ब्रूञ् धातु का क्या अर्थ है? इसे क्रमशः बतला रहे हैं कि— परन्तु जिज्ञासाज्ञानोद्देश्यकप्रवृत्त्यधीनशब्द पृच्छ धातु का अर्थ है। (जिज्ञासाविषयकज्ञानोद्देश्यक जो प्रवृत्ति तादृशप्रवृत्त्यधीन प्रश्नादिरूप शब्द पृच्छ धातु का अर्थ है) ज्ञान में गुरुवृत्तित्व का अन्वय होता है। '**गुरुम्** ' पदार्थ है गुरुवृत्तित्व, उसी का ज्ञान में अन्वय होता है। शब्द में धर्मविषयकत्व (जो कि '**धर्मम्** ' पदार्थ है, द्वितीया का अर्थ विषयकत्व है)का अन्वय होता है। यद्यपि न्यायवैशेषिकसम्प्रदाय में ज्ञान, इच्छा और कृति की ही सविषयकता होती है, इन तीनों का ही विषयकत्व बनता है। शब्द में धर्मविषयकत्व सम्भव नहीं है। इसलिए शब्द की विषयता यहाँ पर व्यापारानुबन्धिनी है। अर्थात् शब्द में धर्मविषयकत्व धर्मप्रतिपादकत्व ही है। इस प्रकार यहाँ पर '**गुरुवृत्ति यज्जिज्ञासाज्ञानं तदुद्देश्यकप्रवृत्त्यधीनधर्म प्रतिपादकशब्दानुकूलकृतिमान्** ' 'गुरुवृत्ति जो जिज्ञासाज्ञान तदुद्देश्यकप्रवृत्ति के अधीन धर्मप्रतिपादकशब्दानुकूलकृतिवाला' ऐसा शाब्दबोध हुआ करता है। यहाँ पर जो शब्दरूपधात्वर्थ है, उस में परम्परा सम्बन्ध से ज्ञान विशेषण बनता है। इसलिए उक्त ज्ञानाश्रयीभूत गुरु की गौणकर्मता है। धर्म तो धात्वर्थभूत शब्द का विषय है इसलिए धर्म की प्रधानकर्मता है।

ब्रूञ् का अर्थ है ज्ञानोद्देश्यक प्रवृत्त्यधीनशब्द। ज्ञान में '**शिष्यम्** ' पदार्थ शिष्यवृत्तित्व का और शब्द में धर्म विषयकत्व ('**धर्मम्** ' पदार्थ ) का अन्वय होता है। इस प्रकार '**शिष्यं धर्मं ब्रूते**' से '**शिष्यवृत्तिज्ञानोद्देश्यक प्रवृत्त्यधीनधर्मविषयकशब्दानुकूलकृतिमान्** ' 'शिष्यवृत्तिज्ञानोद्देश्यक प्रवृत्त्यधीन धर्मविषयकशब्दानुकूलकृतिवाला है' ऐसा शाब्दबोध होता है। यहाँ पर भी चूँकि शब्दरूपधात्वर्थ में ज्ञान परम्परया विशेषण है, अतः ज्ञानाश्रयीभूत शिष्य की गौणकर्मता है तथा शब्दरूपधात्वर्थ का ही विषय धर्म है, अतः धर्म

की प्रधान कर्मता होती है। इसलिए शिष्य और गुरु की अप्रधान कर्मता होने के कारण **'पृच्छ्यते गुरुर्धर्मम्** ' '**'शिष्य उच्यते धर्मम्** ' इत्यादि स्थलों में गुरु और शिष्य आदि की अप्रधान कर्मता ही कर्माख्यात से उक्त होती है। इसलिए '**अप्रधाने दुहादीनाम्** ' इस अनुशासन से भी कोई विरोध नहीं हुआ करता है।

**'अजां ग्रामं नयति' इत्यादौ 'ग्रामं भारं वहति' इत्यादौ चोत्तरदेशसंयोगावच्छिन्नक्रियानुकूलव्यापाररूपं प्रापणं धातोरर्थः, तत्रोत्तरदेशसंयोगे ग्रामस्य गौणकर्मणः, क्रियारूपे च फलेऽजादिप्रधानकर्मणोऽन्वयः, तथा च ग्रामवृत्तिसंयोगजनकादिवृत्तिक्रियानुकूलव्यापारानुकूलकृतिमानित्यन्वयबोधः।**

'**अजां ग्रामं नयति**' और '**ग्रामं भारं वहति**' इत्यादि स्थलों में उत्तरदेशसंयोगावच्छिन्न क्रियानुकूलव्यापार रूप प्रापण ही नी, वह धातुओं का अर्थ हैं[1]। यहाँ पर उत्तरदेशसंयोगरूपफल गौणकर्म ग्राम का और क्रियारूपफल में प्रधानकर्म अजा व भार का वृत्तित्व सम्बन्ध से अन्वय हुआ करता है। इस प्रकार क्रमशः दोनों वाक्यों से '**ग्रामवृत्तिसंयोगजनकाजावृत्तिक्रियानुकूलकृतिमान्**' 'ग्रामवृत्तिसंयोगकारणीभूत अजा में रहनेवाली क्रियाकारणीभूत व्यापारानुकूलकृतिमान्' और '**ग्रामवृत्तिसंयोगानुकूलभारवृत्तिक्रियानुकूलव्यापारानुकूलकृतिमान्**' 'ग्रामवृत्तिसंयोग के प्रति कारणीभूतभार में रहने वाली क्रिया के प्रति कारणीभूत व्यापारानुकूल कृतिमान्' शाब्दबोध होता है।

**'अजा ग्रामं नीयते' 'उह्यते भारो ग्रामं चैत्रेण' इत्यादावुत्तरदेश संयोगावच्छिन्नक्रियारूपं फलं कर्माख्यातार्थः, तत्र च धात्वर्थस्य तादृशव्यापारस्य जन्यतासम्बन्धेन, तस्य चाश्रयतासम्बन्धेनाजाभारादिरूपप्रधानकर्मण्यन्वयः। ग्रामादिवृत्तित्वान्वयस्तु संयोगे एव, एवञ्च चैत्रकृतिजन्यो यः संयोगावच्छिन्नक्रियानुकूलव्यापारस्तज्जन्यग्रामवृत्तिसंयोगानुकूलकर्मवान् अजादिरित्यन्वयबोधः।**

'**अजा ग्रामं नीयते**' '**उह्यते भारो ग्रामं चैत्रेण**' इत्यादि स्थलों में उत्तर देशसंयोगावच्छिन्नक्रियारूप फल कर्माख्यात का अर्थ है। धात्वर्थ है उत्तरदेशसंयोगानुकूलक्रियानुकूलव्यापार । इस धात्वर्थरूप व्यापार का कर्माख्यातार्थ तादृश क्रिया (उत्तरदेशसंयोगावच्छिन्न क्रिया) में जन्यता सम्बन्ध से अन्वय होता है तथा उस क्रिया का आश्रयतासम्बन्ध से अजा, भार आदिरूप प्रधानकर्म में अन्वय होता है। '**ग्रामं**' पदार्थ ग्रामवृत्तित्व का अन्वय तो संयोग में ही होता है। इस प्रकार दोनों वाक्यों से क्रमशः '**चैत्रकृतिजन्यो यः संयोगावच्छिन्नक्रियानुकूलोव्यापारः तज्जन्या अथ च ग्रामवृत्तिसंयोगानुकूला या क्रिया तद्वती अजा**' 'चैत्र में रहनेवाली कृति से जन्य जो संयोगजनकक्रियानुकूलव्यापार उससे जन्य और ग्रामवृत्ति संयोग के प्रति कारणीभूत जो क्रिया उस क्रियावाली अजा है' और '**चैत्रवृत्तिकृतिजन्यो यः संयोगावच्छिन्नक्रियानुकूलव्यापारः तज्जन्या अथ च ग्रामवृत्तिसंयोगानुकूला**

---

टिप्पणी–1–वस्तुतः संयोगावच्छिन्नक्रियानुकूलव्यापारमात्र ही नी, वह धातुओं का अर्थ है। उत्तरदेश ग्रहण स्पष्टार्थ है। अन्यथा आश्रयावच्छिन्न धात्वर्थतावच्छेदकताश्रयफलाश्रय की ही कर्मता होने के कारण ग्राम की कर्मता नहीं हो सकेगी क्योंकि वह उत्तरदेश रूप आश्रय से अवच्छिन्न जो धात्वर्थतावच्छेदकता तदाश्रय संयोगरूप फल का ही आश्रय होता है। इसीलिए शाब्दबोध में उत्तरदेश का परित्याग भी कर दिया गया है।

**या क्रिया तद्वान् भारः**' 'चैत्र में रहनेवाली कृति से जन्य जो संयोगजनकक्रियानुकूलव्यापार उससे जन्य व ग्रामवृत्तिसंयोगानुकूला जो क्रिया उस क्रिया का आश्रय भार है' ऐसा शाब्दबोध होता है।

**न च कारकविभक्त्यर्थस्य धात्वर्थ एवान्वयनियमात् प्रत्ययोपस्थाप्यसंयोगे कथं ग्रामादिवृत्तित्वान्वय इति वाच्यम्, 'भूतले घटः' इत्यादौ घटादिपदार्थेप्यधिकरणसप्तम्यर्थान्वयात् तादृशनियमासिद्धेः।**

**अस्तु वा धात्वर्थतावच्छेदकतावच्छेदकतया भासमाने संयोगे एव तदन्वयः।**

अभी '**अजा ग्रामं नीयते**' इत्यादि स्थलों में बतलाया कि कर्माख्यात का अर्थ संयोगावच्छिन्न क्रियारूप फल है। उसका आश्रयत्व प्रधान कर्म अजा में भासित होता है। तथा कर्माख्यातार्थैकदेशसंयोग में ग्रामनिरूपितवृत्तित्व का अन्वय होता है जो कि द्वितीयार्थ है।

इस पर यदि कहो कि कारक विभक्ति के अर्थ का धात्वर्थ में ही अन्वय का नियम होने के कारण यहाँ पर प्रत्यय से उपस्थाप्य संयोग में (आख्यातात्मक प्रत्यय से उपस्थाप्य संयोग में) कैसे ग्रामादिवृत्तित्व (रूप द्वितीयार्थ) का अन्वय होगा? इस प्रश्न के मूल में यह नियम है कि 'कारक विभक्ति के अर्थ का धात्वर्थ में ही अन्वय होता है' इसी कारण षष्ठी को कारक विभक्ति नहीं कहा जा सकता है और छः कारक होते हैं तथा षष्ठी को शैषिकी षष्ठी कहते हैं । करणार्थक तृतीया स्थल में '**बाणेन हतः**' इत्यादि में तृतीयार्थ करणत्व का अन्वय धात्वर्थ घात में ही हुआ करता है। अन्यत्र भी यही स्थिति है।

तो ऐसा नहीं कहना चाहिए '**भूतले घटः**' इत्यादि स्थलों में घटपदार्थ में भी अधिकरण सप्तमी के अर्थ आधेयत्व का अन्वय होता है तथा '**भूतलनिरूपितवृत्तित्वाश्रयो घटः**' 'भूतलनिरूपितवृत्तित्व (आधेयत्व) का आश्रय घट है' ऐसा अन्वयबोध होता है। यहाँ आश्रयसम्बन्ध से सप्तम्यर्थ आधेयत्व का अन्वयघट में होता है जो कि धात्वर्थ नहीं है। इसलिए धात्वर्थ में ही कारक विभक्ति के अर्थ का अन्वय होता है' यह नियम ही असिद्ध है।

और यदि आपको उक्त नियम मानने का विशेष आग्रह हो तो धात्वर्थतावच्छेदकतावच्छेदक रूप में भासमान संयोग में ही ग्रामवृत्तित्व का अन्वय होता है ऐसा स्वीकार लिया जाये। भाव यह है कि हमारे मत में संयोग और संयोगजनकीभूत अजादि क्रिया का दो बार शाब्दबोध में भान होता है क्योंकि कर्माख्यात से भी संयोगावच्छिन्न क्रिया उपस्थित होती है और धातु से संयोगावच्छिन्न क्रियानुकूलव्यापार की उपस्थिति होती है। कर्माख्यातोपस्थाप्य संयोग में ग्रामवृत्तित्व का अन्वय नहीं हो सकता है उक्त नियम के कारण, किन्तु धातूपस्थाप्य संयोग में तो हो ही सकता है। इस प्रकार '**चैत्रकृतिजन्यो यो ग्रामवृत्तिसंयोगावच्छिन्न क्रियानुकूलव्यापारः तज्जन्यसंयोगावच्छिन्नक्रियाश्रयोऽजादिः**' 'चैत्र कृति से जन्य जो ग्रामवृत्ति संयोगानुकूल क्रियानुकूल व्यापार उससे जन्य संयोगानुकूल क्रियाश्रय अजादि है' ऐसा अन्वयबोध उक्त वाक्य से होता है।

**फलव्यापारयोः पृथक्शक्तिमते चाश्रयत्वमेवात्मनेपदार्थः संयोगावच्छिन्न क्रियारूपधात्वर्थ एव व्यापाररूपधात्वर्थविशेष्यतया आश्रयत्वविशेषणतया**

**चान्वेति, तदेकदेशसंयोग एव ग्रामवृत्तित्वान्वयः चैत्रीयकृतिजन्यव्यापारजन्य ग्रामवृत्तिसंयोगानुकूलक्रियाश्रयोऽजादिरित्याकारको बोधः।**

धातु की फल और व्यापार में पृथक् शक्ति स्वीकारनेवाले के मत में तो आत्मनेपद (यानी आख्यात) का अर्थ आश्रयत्व ही है। संयोगावच्छिन्न क्रिया रूप धात्वर्थ (जो कि फल रूप है) व्यापार रूप धात्वर्थ का विशेष्य बनकर और आख्यातार्थ आश्रयत्व का विशेषण बनकर अन्वित होता है। उसके एकदेश (फल के एकदेश) संयोग में ग्रामवृत्तित्व का अन्वय हुआ। इस प्रकार '**चैत्रकृतिजन्यव्यापारजन्यग्रामवृत्तिसंयोगानुकूलक्रियाश्रयो अजादिः**' 'चैत्रकृतिजन्यव्यापार से जन्य ग्रामवृत्तिसंयोगानुकूलक्रिया का आश्रय अजादि है' ऐसा शाब्दबोध '**चैत्रेण अजा ग्रामं नीयते**' आदि से हुआ करता है।

**ज्ञानानुकूलशब्दश्च 'द्रव्यं निरूपयति' इत्यादौ धातोरर्थः, तादृशविशिष्टैकार्थस्यैकदेशे ज्ञानांश आधेयत्वान्वयबोधने न द्वितीयायाः साकाङ्क्षता स्वीक्रियते अपितु विषयतयान्वयबोध एवेति 'शिष्यं द्रव्यं निरूपयति' इत्यादि र्न प्रयोगः ।**

ज्ञानानुकूल शब्द '**द्रव्यं निरूपयति**' इत्यादि स्थलों में धातु का अर्थ होता है। इस प्रकार के विशिष्ट एक अर्थ के एकदेश में ज्ञानांश में आधेयत्व का अन्वय बोधित करने में द्वितीया की साकाङ्क्षता स्वीकार नहीं की जाती है, अपितु विषयतया अन्वयबोध में ही द्वितीया की साकाङ्क्षता स्वीकार की जाती है। इसी कारण '**शिष्यं द्रव्यं निरूपयति**' इत्यादि प्रयोग नहीं होते हैं।

अभिप्राय यह है कि अभी तक यह बताया जा चुका है कि द्वितीया का अर्थ आधेयत्व होता है, किन्तु कहीं-कहीं पर द्वितीया का अर्थ विषयत्व भी होता है। '**निरूपयति**' में धातु का अर्थ ज्ञानानुकूलशब्द है। इसके साथ यदि द्वितीयान्त पद का समभिव्याहार हो तो द्वितीया का क्या अर्थ स्वीकार किया जाये (1) आधेयत्व या (2) विषयत्व। यदि द्वितीय अर्थ स्वीकारा जाये विषयत्व को तो '**द्रव्यं निरूपयति**' से जो अन्वयबोध होगा उसमें द्रव्य का वृत्तित्व सम्बन्ध से विषयता में और विषयता का निरूपकत्व सम्बन्ध से ज्ञान में अन्वय होगा । इस प्रकार '**द्रव्यवृत्तिविषयतानिरूपकज्ञानानुकूलशब्दानुकूलकृतिमान्**' 'द्रव्यवृत्तिविषयता का निरूपक जो ज्ञान, उस ज्ञान के अनुकूल शब्द के अनुकूलकृतिवाला' ऐसा शाब्दबोध होता है। यदि प्रथम अर्थ स्वीकारा जाये आधेयत्व, तो '**शिष्यं निरूपयति**' से जो अन्वयबोध होगा उसमें शिष्य का वृत्तित्व में निरूपित सम्बन्ध से और वृत्तित्व (आधेयत्व) का आश्रयत्व सम्बन्ध से ज्ञान में अन्वय होगा। इस प्रकार '**शिष्यनिरूपिताधेयत्वाश्रयज्ञानानुकूलशब्दानुकूलकृतिमान्**' शिष्यनिरूपित आधेयत्व के आश्रयीभूत ज्ञान के अनुकूल शब्द के अनुकूल कृतिवाला है ऐसा शाब्दबोध होगा। इसी के विषय में गदाधर कह रहे हैं कि चूंकि आधेयत्व का ज्ञानांश में अन्वय बोधित कराने में द्वितीया साकाङ्क्ष नहीं होती है, इसलिए आधेयतया ज्ञानांश में अन्वय बोधित कराने के लिए '**शिष्यं द्रव्यं निरूपयति**' ऐसा प्रयोग नहीं होता है।

**यत्तु धात्वर्थो ज्ञानमेव तदनुकूलव्यापारश्च णिजर्थ इति, तदसत् -**

**धातोश्चुराद्यन्तर्गततया स्वार्थे एव णिचो विधानात् , अन्यथा 'निरूपयति' इत्यस्य 'ज्ञापयति' इत्यादिसमशीलतया 'शिष्यं ज्ञापयति' इतिवत् 'शिष्यं निरूपयति' इति प्रयोगस्य दुर्वारत्वात् ।**

जो '**निरूपयति**' यहाँ पर ज्ञान ही धातु का अर्थ है (ज्ञानानुकूलशब्द धातु का अर्थ नहीं है) और तदनुकूलव्यापार णिच् का अर्थ है। (सिद्धान्ती का कथन है कि ज्ञानानुकूल शब्द धातु का ही अर्थ है, '**यत्तु**' का कथन है कि ज्ञानमात्र धातु का अर्थ है तदनुकूलव्यापार तो णिच् का अर्थ है। शाब्दबोध में दोनों ही पक्षों में कोई अन्तर नहीं होगा) ऐसा कहना है, वह ग़लत है क्योंकि यह धातु चुरादिगणीय है। चुरादि धातुओं से स्वार्थ में ही णिच् का विधान है। स्वार्थ में णिच् के विधान का अभिप्राय यही है कि णिच् निरर्थक है उसका कोई अपना स्वतंत्र अर्थ नहीं है, ज्ञानानुकूलशब्द पूरा का पूरा धातु का ही अर्थ है। यदि ऐसा न हो अर्थात् यदि ज्ञान धातु का और तदनुकूलव्यापार णिच् का अर्थ हो तो '**निरूपयति**' '**ज्ञापयति**' का समशील हो जायेगा। '**ज्ञापयति**' में ज्ञान धातु का अर्थ और णिच् का अर्थ तदनुकूलव्यापार है। आप यही अर्थ '**निरूपयति**' का भी मान रहे हैं। इसलिए जैसे '**शिष्यं ज्ञापयति**' ऐसा प्रयोग होता है वैसे ही **शिष्यं निरूपयति**'प्रयोग होना चाहिए। इस प्रकार का प्रयोग दुर्वार हो जायेगा। '**शिष्यं ज्ञापयति**' से '**शिष्यनिरूपित-वृत्तित्वाश्रयज्ञानानुकूलव्यापारानुकूलकृतिमान्** ' 'शिष्यनिरूपित वृत्तित्व के आश्रयीभूत ज्ञान के अनुकूलव्यापार के अनुकूलकृतिवाला ' ऐसा शाब्दबोध होता है। इसी अर्थ में '**शिष्यं निरूपयति**' प्रयोग दुर्वार होगा। अतः ज्ञानमात्र यहाँ पर धातु का अर्थ नहीं है।

**'अजां ग्रामं यापयति' 'शिष्यं शास्त्रं ज्ञापयति' ब्राह्मणमन्नं भोजयति' 'यजमानं मन्त्रं पाठयति' 'घटं जनयति नाशयति' इत्यादौ णिच्प्रत्यय प्रकृतिभूतधात्वर्थकर्तृवाचकाजादिपदोत्तरद्वितीयाया मुख्यभाक्तसाधारणं कर्तृत्वमेवार्थः-'गतिबुद्धि' इत्यादिसूत्रेण कर्तुः कर्मसंज्ञाविधानात् । गतिज्ञानोत्पत्त्यादिनिरूपितं कर्तृत्वं चाश्रयत्वमेव, गलाधः संयोगानुकूलक्रिया-नुकूलव्यापाररूपभोजनकण्ठताल्वाद्यभिधातरूपपाठनिरूपितञ्च तदनुकूल-कृतिमत्त्वम् , नाशनिरूपितं च प्रतियोगित्वम् , तस्य च निरूपकतासम्बन्धेन धात्वर्थेऽन्वयः।**

आधेयत्व, विषयत्व के अलावा भी कहीं पर द्वितीया का अर्थ हुआ करता है। णिजन्तधातुप्रयोगस्थल में द्वितीया का क्या अर्थ होता है, यह बतला रहे हैं कि—

**अजां ग्रामं यापयति' 'शिष्यं शास्त्रं ज्ञापयति' 'ब्राह्मणमन्नं भोजयति' 'यजमानं मन्त्रं पाठयति' 'घटं जनयति' 'घटं नाशयति'** इत्यादि स्थलों में णिच् प्रत्यय की प्रकृतिभूत धातु के अर्थभूतव्यापारादि के कर्ता के वाचक अजा आदि पदों के बाद में जो द्वितीया है, उस द्वितीया का अर्थ मुख्य और भाक्तसाधारण कर्तृत्व ही है। क्योंकि '**गतिबुद्धिप्रत्यवसानार्थशब्दकर्माकर्मकाणामणिकर्ता स णौ पा॰ सू॰1/4/52**' के द्वारा कर्ता की ही कर्म संज्ञा का विधान किया गया है। '**अजां ग्रामं यापयति**' में णिच् प्रत्यय की प्रकृतिभूत धातु या धातु है उसके अर्थ संयोगानुकूलव्यापार को करनेवाली अजा

है अतः अजा का मुख्य कर्तृत्व है[1]। **'शिष्यं शास्त्रं ज्ञापयति'** यहाँ पर णिच् प्रत्यय प्रकृतिभूत ज्ञा धातु के अर्थ ज्ञान का आश्रयत्वरूप शिष्य का भाक्तकर्तृत्व है। **'ब्राह्मणं अन्नं भोजयति'** में णिच्प्रत्यय प्रकृतिंभूत भुज् धातु के अर्थ गलाधःसंयोगानुकूलक्रियानुकूल-व्यापारात्मक भोजन के अनुकूल कृतिमत्त्व रूप मुख्यकर्तृत्व ही ब्राह्मण का है। **'यजमानं मन्त्रं पाठयति'** में णिच् प्रत्यय प्रकृतिभूत पठ् धातु के अर्थ कण्ठताल्वाद्यभिधात रूप पाठ के अनुकूल कृतिमत्त्व रूप मुख्य कर्तृत्व ही यजमान का है। **'घटं जनयति'** यहाँ पर णिच् प्रत्यय प्रकृतिभूत 'जनी' धातु के अर्थ जन्म का आश्रयत्व रूप ही (भाक्त) कर्तृत्व है। **'घटं नाशयति'** में णिच्प्रत्ययप्रकृतिभूत नश् धातु के अर्थ ध्वंस का प्रतियोगित्वरूप भाक्त कर्तृत्व ही है। इस प्रकार इन सभी स्थलों में द्वितीया का अर्थ मुख्य भाक्तसाधारण कर्तृत्व ही है। अर्थात् जिसमें जैसा कर्तृत्व विद्यमान है वैसा कर्तृत्व ही यहाँ पर द्वितीया का अर्थ हुआ करता है। उस कर्तृत्व का निरूपकत्व सम्बन्ध से धात्वर्थ में (णिजन्तधातु के अर्थ में) अन्वय हुआ करता है। इस प्रकार इन स्थलों पर प्रथमतः मूलधात्वर्थनिरूपित कर्तृत्व की प्रतीति होती है और बाद में उस कर्तृत्वनिरूपक णिजन्तधात्वर्थकर्तृत्व का बोध हुआ करता है। अर्थात् पहले **'अजां ग्रामं याति'** फिर **'तां गच्छन्तीं यापयति'** ऐसा बोध होता है। शाब्दबोधाकार तो ऐसा होता है **'अजावृत्तिग्रामसंयोगानुकूलव्यापारानुकूलकृतिमत्त्व निरूपकसंयोगानुकूलव्यापारानुकूलप्रेरणादिव्यापारानुकूलकृतिमान्** ''अजा में रहने वाला जो ग्रामसंयोगानुकूलव्यापारानुकूलकृतिमत्त्वरूपकर्तृत्व उसका निरूपक जो संयोगानुकूल-व्यापारानुकूलप्रेरणादिरूपव्यापारानुकूलकृतिवाला है, इसी प्रकार अन्य वाक्यों से भी समझना चाहिए।

**नव्यमते च यत्राश्रयत्वं कर्तृत्वं तत्राधेयत्वं द्वितीयार्थः, यत्रानुकूलकृतिमत्त्वं तत्र कृतिजन्यत्वम्, यत्र प्रतियोगित्वं तत्रानुयोगित्वम्, तेषाञ्चाश्रयता सम्बन्धेनैव धात्वर्थेऽन्वयः।**

उपर्युक्त जो प्राच्यमत है उसमें एक समस्या है वह यह कि तादृशकर्तृत्व (मुख्यभाक्तसाधारणकर्तृत्व) द्वितीया का अर्थ होता है तो 'संयोगानुकूलव्यापार' आदि का दो बार भान होता है क्योंकि तादृशव्यापारानुकूलकृतिमत्त्वादिरूपकर्तृत्व के ही द्वितीयार्थ होने से एकबार उसकी उपस्थिति व शाब्दबोध में भान होता है, दूसरी बार 'संयोगानुकूलव्यापारानुकूलप्रेरणादिव्यापार ' रूप णिजन्त धातु के अर्थ विधया उसका भान होता है। इसमें भी संयोगानुकूलव्यापार आदि का भान होगा ही। इस प्रकार मूल धातु के अर्थ का दो बार भान होता है (1) द्वितीयार्थकर्तृत्वविशेषणविधया (2) णिजन्तधातूपस्थाप्यव्यापार विशेषणविधया। इसलिए नव्यमत बता रहे हैं कि-

नवीनों के मत में तो जहाँ पर आश्रयत्व रूप कर्तृत्व है वहाँ पर आधेयत्व द्वितीया का अर्थ है। जहाँ पर अनुकूलकृतिमत्त्व रूप कर्तृत्व है वहाँ पर कृतिजन्यत्व द्वितीया का अर्थ है। जहाँ पर प्रतियोगित्व कर्तृत्व है वहाँ पर अनुयोगित्व द्वितीया का अर्थ है। तथा इन सब

---

टिप्पणी-1-यहाँ पर गदाधर को अजा का गतिमत्त्वरूप भाक्त कर्तृत्व ही विवक्षित है ऐसा 'गतिज्ञानोत्पत्त्यादिनिरूपितं कर्तृत्वं चाश्रयत्वमेव' से प्रतीत होता है। वस्तुतः तो अजा में कृतिमत्त्वरूप मुख्य कर्तृत्व है किन्तु व्यापार में उसके स्वतन्त्र न होने से सम्भवतः उसका भाक्तकर्तृत्व गदाधर को अभिप्रेत है।

का आश्रयतासम्बन्ध से ही धात्वर्थ में अन्वय होता है।

इस प्रकार '**अजां ग्रामं यापयति**' यहाँ पर अजापदोत्तर द्वितीया का अर्थ कृतिजन्यत्व हुआ, धातु का अर्थ संयोगानुकूलव्यापारानुकूलप्रेरणादिव्यापार हुआ। इस प्रकार '**अजा कृतिजन्यत्वाश्रयो यः ग्रामवृत्तिसंयोगानुकूलव्यापारः, तदनुकूलप्रेरणादिव्यापारानुकूल कृतिमान्** ' 'अजा की कृति से जन्य जो ग्रामवृत्तिसंयोगानुकूलव्यापार, तदनुकूलप्रेरणादिव्यापारानुकूलकृतिवाला है' ऐसा शाब्दबोध होता है। '**शिष्यं शास्त्रं ज्ञापयति**' में चूँकि शिष्य का ज्ञानकर्तृत्व ज्ञानाश्रयत्व ही है। अतः आधेयत्व द्वितीया का अर्थ हुआ। इस प्रकार '**शिष्याधेयत्वाश्रयज्ञानानुकूलशब्दप्रयोगादिव्यापारानुकूलकृतिमान्** ' 'शिष्यनिरूपित आधेयत्व का आश्रय जो ज्ञान, उसके अनुकूल शब्दप्रयोगादि व्यापार के अनुकूलकृतिमान् है ऐसा शाब्दबोध होता है। इसी प्रकार अन्य में भी समझना चाहिए।

**गत्यर्थादिभ्योऽन्यत्र णिच्प्रत्ययप्रकृतिधात्वर्थकर्तृवाचकपदान्न द्वितीया-तादृशकर्तुः कर्मातिदेशाविषयत्वात् , तेन 'पाचयत्योदनं सहायेन' इत्यादय एव प्रयोगः न तु 'पाचयत्योदनं सहायम् ' इत्यादयः।**

गत्याद्यर्थकधातुओं के प्रयोग से अतिरिक्त णिच्प्रययप्रकृतिधातु के अर्थ के प्रति कर्ता जो होता है उस कर्ता के वाचकपदों से द्वितीया नहीं होती है क्योंकि गत्याद्यर्थक धातुओं से ही अण्यन्तावस्था में जो कर्ता होता है, ण्यन्तावस्था में वह कर्म होता है और उससे द्वितीया होती है। अन्यधातुओं के कर्ता के कर्मातिदेश का विधान नहीं है। इसीलिए '**पाचयत्योदनं सहायेन**' ऐसा ही प्रयोग होता है (अण्यन्तावस्था में '**सहायः ओदनं पचति**' इस प्रयोग के कारण सहाय का कर्तृत्व ही है। परन्तु ण्यन्तावस्था में) '**पाचनत्योदनं सहायम्** ' ऐसा प्रयोग नहीं होता है।

**केचितु–पाकादिकर्त्तुः पाकादिकर्मत्वविरहेऽपि ण्यन्तसमुदायस्यापि धातुत्वेन तत्कर्मतया सहायादेः 'पाचयत्योदनं सहायम् ' इत्यादयः प्रयोगाः अपि साधवः, अत एव "अजिग्रहत्तं जनको धनुस्तत् " इत्यादयो भट्टि प्रयोगाः। "गतिबुद्धि" इत्यादि सूत्रं च नियमपरतया गत्यर्थधातुयोगे कर्तृ प्रत्ययासाधुत्वज्ञापकम्, तेन 'पाचयत्योदनं सहायेन' इत्यादिवत् 'अजया ग्रामं गमयति' इत्यादयो न प्रयोगाः इत्याहुः।**

कुछ लोग तो ऐसा कहते हैं—पाकादिकर्ता की पाकादिकर्मता न होने पर भी चूँकि ण्यन्त समुदाय भी धातु होता है (क्योंकि णिच् प्रत्यय करने के बाद '**सनाद्यन्ताः धातवः पा॰सू॰3/1/32**' से धातुसंज्ञा करने के उपरान्त ही उससे लकार आता है) और ण्यन्तसमुदायात्मक धातु की कर्मता तो सहाय आदि में है ही । पच् धातु का कर्म यद्यपि सहाय नहीं होता है क्योंकि णिजन्त पाचि का अर्थ हुआ 'विक्लित्यनुकूलव्यापारानुकूलप्रेरणादि व्यापार' इसमें विशेषण होने के कारण सहाय की कर्मता होगी ही। धात्वर्थतावच्छेदकाश्रयत्व ही तो कर्मत्व है। इसलिए वस्तुतः '**पाचयत्योदनं सहायम्** ' यह प्रयोग भी साधु ही है, असाधु नहीं । इसीलिए '**अजिग्रहत्तं जनको धनुस्तत्** ' ऐसा भट्टि प्रयोग है। यहाँ पर ण्यन्त ग्रह धातु का योग होने के कारण ण्यन्त ग्रह धातु के कर्ता के वाचक तत् पद से द्वितीया होकर **तं** प्रयोग किया गया है। यद्यपि यहाँ पर जिस धातु का योग है वह गत्याद्यर्थक नहीं है।

किन्तु इस तरह स्वीकारने में एक प्रश्न उठ सकता है कि–भई, यदि इसी प्रकार ण्यन्तधात्वर्थ कर्तृवाचक पद से ण्यन्त धातु का प्रयोग करने पर द्वितीया उपपन्न है तो '**गति बुद्धि......**'' इस सूत्र के प्रणयन की क्या आवश्यकता है? इस प्रकार तो इस सूत्र का वैयर्थ्य हो जायेगा। तो कह रहे हैं कि व्यर्थ हो जाये। व्याकरण में '**व्यर्थो हिविधिर्नियमाय कल्पते**' व्यर्थ जो विधि होती है वह किसी नियम को कल्पित करती है। यह सूत्र व्यर्थ होकर नियम कल्पित करता है कि गत्यर्थक ण्यन्तधातुप्रयोग होने पर कर्तृ पद से कर्तृत्वबोधक प्रत्यय विभक्ति नहीं होती है। यह सूत्र नियम परक होने के कारण गत्याद्यर्थक धातुओं का योग होने पर कर्तृप्रत्यय असाधुत्व का ज्ञापक होता है। इस कारण '**पाचयत्योदनं सहायेन**' की तरह '**अजया ग्रामं गमयति**' ऐसा प्रयोग नहीं होता है। तृतीया भी कर्तृप्रत्यय ही है क्योंकि '**कर्तृकरणयोस्तृतीया पा॰सू॰2/3/18**' ऐसा अनुशासन है। इस तरह अजा से गत्यर्थक गम् आदि धातुओं का योग होने पर भी तृतीया ही होती है।

**एषामयमाशयः–''हेतुमति च'' इत्यनुशासनात् णिजर्थो हेतुकर्तृत्वं तच्च स्वतन्त्रकर्तृप्रेरणा अन्यनिष्ठकर्तृत्वनिर्वाहकव्यापाररूपा, कर्तृत्वं क्वचित् प्रयत्नः, क्वचिदाश्रयत्वादिकम्। यादृशधातूत्तराख्यातेन यादृशं कर्तृत्वं बोध्यते तदुत्तरणिच् प्रत्ययेन तादृशकर्तृत्वनिर्वाहकव्यापारो बोध्यते, अत एव 'पाचयति' इत्यादौ पाकादिकृतिनिर्वाहकः, 'ज्ञापयति' इत्यादौ ज्ञानाश्रयत्वनिर्वाहकः 'नाशयति' इत्यादौ नाशप्रतियोगित्वनिर्वाहको व्यापारः प्रतीयते। निर्वाहकत्वञ्च स्वरूपसम्बन्धविशेषे नतु जनकत्वम्। अतो न 'नाशयति' इत्यादावन्वयानुपपत्तिः। एवञ्च ण्यन्तधातुप्रतिपाद्यतावच्छेदकं फलं कर्तृत्वमेव–निर्वाह्यस्यैव फलत्वात्। तदाश्रयतयाऽस्वतन्त्रस्य कर्तुः कर्मता। तादृशफलविशेषणतयाऽस्वतन्त्रकर्तृवृत्तित्वविवक्षायां 'पाचयत्योदनं सहायम्' इत्यादयः प्रयोगाः। यदा तु पाकादिविशेषणतया सहायादिकर्तृत्वं विवक्षितं तदा 'पाचयत्योदनं सहायेन' इत्यादयः।**

'**केचित्तु**' के द्वारा जो मत उठाया था उसी का व्याख्यान स्वयं कर रहे हैं कि–इनका यह आशय है —'**हेतुमति च, पा॰सू॰3/1/26**' इस अनुशासन से णिच् का अर्थ हेतु कर्तृत्व है और वह हेतुकर्तृत्व स्वतन्त्रकर्तृप्रेरणा है और यह प्रेरणा अन्यनिष्ठ कर्तृत्वनिर्वाहकव्यापाररूप है। कर्तृत्व कहीं पर प्रयत्नरूप होता है कहीं पर आश्रयत्वादिरूप (यह विगत पृष्ठों में बताया जा चुका है) जैसे धातु के उत्तर में आनेवाले आख्यात के द्वारा जैसा कर्तृत्व बोधित होता है, उस धातु के उत्तर णिच् प्रत्यय के द्वारा तादृशकर्तृत्वनिर्वाहक व्यापार बोधित होता है। इसीलिए '**पाचयति**' जैसे स्थलों पर पाकानुकूलकृतिरूपकर्तृत्व का निर्वाहक व्यापार प्रतीत होता है (क्योंकि पच् धातूत्तर आख्यात के द्वारा '**पचति**' यहाँ पर पाकानुकूलकृतिरूप कर्तृत्व की प्रतीति होती है) '**ज्ञापयति**' जैसे स्थलों पर ज्ञानाश्रयत्वनिर्वाहक व्यापार प्रतीत होता है (क्योंकि '**जानाति**' यहाँ पर ज्ञाधातूत्तर आख्यात के द्वारा ज्ञानाश्रयत्व रूप कर्तृत्व ही बोधित होता है) '**नाशयति**' इत्यादि स्थलों पर नाशप्रतियोगित्व रूप कर्तृत्व का निर्वाहक व्यापार प्रतीत होता है (क्योंकि '**नश्यति**' यहाँ पर नश् धातूत्तर आख्यात के द्वारा नाश का प्रतियोगित्व रूप कर्तृत्व ही बोधित होता है) यहाँ पर निर्वाहकत्व जनकत्वरूप नहीं है बल्कि स्वरूपसम्बन्धविशेषरूप ही है। इस कारण '**नाशयति**' इत्यादि

स्थलों में अन्वय की अनुपपत्ति नहीं होती है। (यदि जनकत्वरूप निर्वाहकत्व अभीष्ट होता तो '**नाशयति**' यहाँ पर ध्वंसप्रतियोगित्वजनकत्वान्वय सम्भव नहीं है क्योंकि ध्वंसप्रतियोगित्व घट में स्वतः सिद्ध है कर्ता के प्रेरणादि से नहीं इत्पन्न होता है) इस प्रकार ण्यन्तधातुप्रतिपाद्यतावच्छेदक फलकर्तृत्व ही होगा क्योंकि निर्वाह्य ग्रामानुयोगिक संयोग ही होता है तो संयोग गम् धातु का फल होता है। यहाँ पर ण्यन्त धात्वर्थ व्यापार से निर्वाह्य मुख्य, भाक्त साधारण धात्वर्थ कर्तृत्व ही होता है। अतः वही कर्तृत्व फल हुआ। तथा उस कर्तृत्व का आश्रय होने के कारण अस्वतन्त्र कर्ता की कर्मता होती है।

उक्त कर्तृत्व (मुख्यभाक्तसाधारण) रूप फल में जब विशेषण के रूप में अस्वतन्त्र कर्ता में वृत्तित्व विवक्षित होता है, कर्तृत्वरूपफलविशेषणतया अस्वतन्त्रकर्तृवृत्तित्व की विवक्षा होने पर '**पाचयत्योदनं सहायम्** इत्यादि प्रयोग होते हैं और सहाय से जो कि पाककर्ता है उसके वाचक पद से द्वितीया होती है। जब पाकादिविशेषणतया सहाय आदि का कर्तृत्व विवक्षित होता है तब '**पाचयत्योदनं सहायेन**' प्रयोग होता है और सहाय आदि पदों से तृतीया होती है[1]।

**अथ यत्र चैत्रमैत्रोभयकर्तृक एक एव पाकस्तत्र चैत्रमात्रं प्रयोजयति यज्ञदत्ते 'मैत्रेणान्नं पाचयति' इति प्रयोगापत्तिरिति तत्रापि ण्यर्थकृतावेव तृतीयान्तार्थमैत्रादिवृत्तित्वस्यान्वयो वाच्य एवं च 'मैत्रं पाचयति' इत्यादिवाक्यजन्यबोधाऽवैलक्षण्याद् द्वितीयातृतीययोस्तात्पर्यभेदेन व्यवस्थाया न सङ्गतिरिति चेत् ?**

**न, अगत्या तत्र पाकादिविशेषणकृतेः पारतन्त्र्येण व्यापारविशेषणीभूतणिजर्थकृतावभेदान्वयमुपगम्योक्तातिप्रसङ्गस्य वारणीयत्वात्, पदार्थैकदेशे कृतौ पाकादेरिव कृतेरप्यन्वयो व्युत्पत्तिवैचित्र्यात् ।**

**वस्तुतः कर्तृत्वं व्यापारश्च पृथगेव णिजर्थः विशिष्टलाभोऽन्वयबलात् ।**

अब यहाँ पर प्रश्न उठा रहे हैं कि –जहाँ पर चैत्र और मैत्र उभयकर्तृक एक ही पाक है, तथा वहाँ पर यज्ञदत्त मात्र चैत्र को प्रयोजित कर रहा हो, प्रेरित कर रहा हो तो '**चैत्रेणान्नं पाचयति**' इस प्रयोग की आपत्ति है। अभिप्राय यह है कि अभी आपने यह कहा कि जब फल (कर्तृत्वरूप णिजन्तधात्वर्थतावच्छेदक फल) में विशेषण के रूप में कर्तृवृत्तित्व की विवक्षा हो तो प्रयोज्यकर्ता से द्वितीया होती है और जब पाकादि (णिच् प्रकृतिभूत धातु के अर्थ) में विशेषण के रूप में सहाय आदि के कर्तृत्व की विवक्षा हो तो सहाय आदि से तृतीया होती है। किन्तु जहाँ पर चैत्र और मैत्र के द्वारा एक ही पाक हो रहा हो लेकिन यज्ञदत्त दोनों को प्रेरित नहीं कर रहा है, केवल चैत्र को प्रेरित कर रहा है वहाँ पर '**चैत्रमन्नं पाचयति**' या '**चैत्रेणान्नं पाचयति**' यह प्रयोग तो हुआ करता है किन्तु **मैत्रेणान्नं पाचयति**' ऐसा प्रयोग नहीं होता है। आपने जो नियामक बनाया है उसके अनुसार '**मैत्रेणान्नं पाचयति**' यह प्रयोग होना चाहिए। क्योंकि '**चैत्रेणान्नं पाचयति**' प्रयोग वक्ता करना चाह रहा है, उसकी 'चैत्रकर्तृक जो पाक, तदनुकूल कृति निर्वाहक

1. इस ग्रन्थ का आशय यह है कि जब 'सहायवृत्ति जो पाकानुकूलकृति तन्निर्वाहकव्यापारानुकूलकृतिवाला है इस प्रकार से पाकानुकूलकृति रूप (कर्तृत्व=फल) में सहायादि रूपकृर्तवृत्तित्व की विवक्षा होती है तब सहायपदोत्तर द्वितीया होती है। और जब 'सहायकर्तृक जो पाक तदनुकूलकृति निर्वाहक व्यापारानुकूलकृतिशाली है' इस प्रकार से पाक में विशेषण रूप में सहायकर्तृकत्व की विवक्षा होती है। तब सहायपदोत्तर तृतीया होती है।

व्यापारानुकूलकृतिशाली है' इस रूप से पाक में चैत्रकर्तृकत्व बतलाने की इच्छा तो है ही। किन्तु जो पाक में रहेनवाला मैत्रकर्तृकत्व (दोनों से जन्य पाक के एक ही होने के कारण) वह भी पाक में विशेषणविधया विवक्षित ही है। सारांश रूप में उक्त कथन का आशय यही है कि यत्कर्तृक पाक के अनुकूल कृति निर्वाहक व्यापारानुकूलकृतिशालित्व विवक्षित होगा तद्वाचक पद से तृतीया होगी। यहाँ पर चैत्रकर्तृक जो पाक वही मैत्रकर्तृक है अतः चैत्रकर्तृक पाक के अनुकूलकृतिनिर्वाहकव्यापारानुकूलकृतिशालित्वविवक्षित होने के कारण मैत्रकर्तृक पाकानुकूलकृतिनिर्वाहकव्यापारानुकूल कृतिशालित्व विवक्षित हो गया। इसलिए मैत्र पद से तृतीया होकर **'मैत्रेणान्नं पाचयति'** प्रयोग होना चाहिए।

इस आपत्ति का निवारण करने के लिए आपको यही कहना पड़ेगा कि ण्यर्थ कृति (चूँकि णिजर्थ है अन्यनिष्ठकर्तृत्वनिर्वाहक व्यापार इसमें अन्यनिष्ठकर्तृत्व भी कोटि प्रविष्ट है वह कर्तृत्व कृतिरूप है उसी कृति ) में तृतीयान्तमैत्रपदार्थ मैत्रादिवृत्तित्व का अन्वय करना पड़ेगा। अर्थात् पाक में मैत्रकर्तृकत्व विशेषणविधया आ भी रहा हो तो भी कोई अन्तर नहीं पड़ता है। यन्निष्ठा पाकानुकूला कृति का निर्वाहक व्यापारानुकूला कृतिशालित्व होगा, तद्वाचक पद से तृतीया होगी ऐसा कहोगे तो मैत्रनिष्ठा जो पाकानुकूलकृति है उसका निर्वाहकव्यापार चूँकि यज्ञदत्त नहीं कर रहा है। अतः मैत्र पद से तृतीया वारित हो जायेगी। उक्त आपत्ति नहीं है। परन्तु इस प्रकार तो **'मैत्रेण पाचयति'** और **'मैत्रं पाचयति'** इन वाक्यों से जन्य बोधों का वैलक्षण्य नहीं हो सकेगा क्योंकि द्वितीयाप्रयोगस्थल में भी मैत्रवृत्तित्व का पाकानुकूलकृति में अन्वय हो रहा है। इस प्रकार तात्पर्यभेद से तृतीया और द्वितीया की व्यवस्था नहीं हो सकेगी। यदि ऐसा कहो?

तो ऐसा नहीं है। कोई दूसरा मार्ग न होने के कारण (तृतीया, द्वितीया की व्यवस्था का अन्य किसी तरीके से उपपादन सम्भव न होने के कारण) पाकविशेषणीभूत जो कृति है उस कृति का पारतन्त्र्य से धर्मीभूत पाकद्वारा व्यापार (प्रेरणादि) विशेषणीभूत णिजर्थ कृति में (पाकानुकूलकृतिनिर्वाहकप्रेरणादिव्यापाररूपणिजन्तधात्वर्थ में पाकानुकूल कृति विशेषण है उसमें) अभेदान्वय स्वीकार लिया जाता है, इस तरह उक्त अतिप्रसङ्ग का वारण किया जाता है। अभिप्राय यह है कि यन्निष्ठकृति का पाकानुकूलकृति के साथ अभेदान्वय करते हुए तन्निर्वाहकव्यापारानुकूलकृतिशालित्व विवक्षा का विषय होगा, तद्वाचक पद से तृतीया होगी। द्वितीया का निर्वाहक तात्पर्य उपर्युक्त ही है। उपर्युक्त स्थल में चैत्रनिष्ठ तृतीयार्थ कृति जो कि पाकानुकूलकृति से अभिन्न है और तन्निर्वाहक व्यापारानुकूलकृतिशालित्वविवक्षा होने पर **'चैत्रेण पाचयति'** वाक्य प्रयोग में कोई आपत्ति नहीं है। परन्तु **'मैत्रेण पाचयति'** प्रयोग नहीं हो सकता है क्योंकि मैत्रनिष्ठकृत्यभिन्न पाकानुकूलकृतिनिर्वाहकव्यापार यज्ञदत्त का नहीं है। अत वैसी विवक्षा होने पर बाधितार्थविषयक होने से शाब्दबोध सम्भव नहीं है। इसलिए उपर्युक्त आपत्ति नहीं है।

यद्यपि यहाँ पर धात्वर्थ के एकदेश कृति में तृतीयार्थ कृति का अन्वय स्वीकार किया जा रहा है जो कि उचित नहीं है तो इसका समाधान यह है कि व्युत्पत्ति के वैचित्र्य से पदार्थैकदेश कृति में भी पाकादि की तरह कृति का भी अन्वय हो जाता है।

वस्तुतः तो णिजर्थ (णिजन्त धातु के अर्थ) कर्तृत्व और व्यापार अलग-अलग हैं। दोनों में ही णिजन्त धातु की खण्डशक्ति है। विशिष्ट का लाभ अन्वय के बल से हुआ करता है।

इस पक्ष में कर्तृत्व (कृति) में चैत्र कृति का अभेदान्वय किया ही जा सकता है क्योंकि दोनों ही पदार्थ हैं कोई भी पदार्थैकदेश नहीं है।

**केचित्तु अनुकूलव्यापार एव णिजर्थः, तदन्वयिनी गमनज्ञानभोजनादि क्रियैव धात्वर्थतावच्छेदकं फलम् , तत्सम्बन्धिनस्तादृशक्रियाकर्तुर्ण्यन्तकर्मता, तादृशक्रियासम्बन्धश्चाश्रयत्वकृतिमत्त्वाद्यन्यतमो ग्राह्यः। अतो गमनादि-सम्बन्धिकालादौ नातिप्रसङ्ग इत्याहुः। अत्र च तादृशकर्मतावाचकपदात् कदाचिद् द्वितीया कदाचित्तृतीयेति नियामकाभावः —तादृशपदोत्तरयोस्तयोस्तुल्यार्थकतया विवक्षाभेदरूपनियामकाभावादिति तु चिन्तनीयम् ।**

कुछ अन्य लोग तो णिच् का अर्थ अनुकूलव्यापार ही है, उससे अन्वित होने वाली गमन, ज्ञान, भोजन आदि क्रिया ही धात्वर्थतावच्छेदक फल है। तथा उस क्रिया का सम्बन्धिभूत जो तादृश क्रिया (गमन, ज्ञान, भोजनादि क्रिया) उसके कर्ता की ण्यन्तकर्मता है। तादृशक्रिया का सम्बन्ध आश्रयत्व, कृतिमत्त्वादि अन्यतम लेना चाहिए, इस कारण गमनादिसम्बन्धी फलादि में अतिप्रसङ्ग नहीं हुआ करता है। ऐसा कहते हैं।

इसका आशय यह है कि णिच् का अर्थ अनुकूलव्यापार है तथा उससे गमन, भोजन, ज्ञान आदि मूलधात्वर्थ आदि क्रियायें अन्वित होती हैं। इस प्रकार णिजन्त का अर्थ गमनाद्यनुकूलव्यापार हुआ। जैसे–ण्यन्त '**गमि**' में दो अंश हैं **गम् + णिच् , गम् = संयोगानुकूलव्यापार, णिच् = अनुकूलव्यापार, इस प्रकार गमि = संयोगानुकूलव्यापारानुकूलव्यापार** । यह जो गमि का अर्थ है उसमें अवच्छेदक है संयोगानुकूलव्यापार, यही णिजन्त धातु के अर्थ में विशेषण होने के कारण णिजन्त का धात्वर्थतावच्छेदक है। उस धात्वर्थतावच्छेदकीभूत गमनादि क्रिया का सम्बन्धी होगा उस गमनादिक्रिया को करनेवाला, उसकी ण्यन्तधातुकर्मता होगी क्योंकि धात्वर्थतावच्छेदकाश्रयत्व ही तो कर्मत्व है। ण्यन्तधात्वर्थतावच्छेदक गमनादिक्रिया ही होती है उसका आश्रय माने सम्बन्धी जो होगा उसकी ण्यन्तकर्मता होगी। वह गमनादिक्रियाकर्ता ही होगा। धात्वर्थतावच्छेदकीभूत क्रिया का सम्बन्ध आश्रयत्व, कृतिमत्त्वादि सम्बन्धों में अन्यतम (किसी एक) से लेना है। अर्थात् जहाँ पर जिस धातु के अर्थ क्रिया का जैसा कर्तृत्व होता है, उसी सम्बन्ध से क्रिया का सम्बन्ध लेना है जैसे **ज्ञा** धातु के अर्थ ज्ञान क्रिया का आश्रयत्व रूप कर्तृत्व होता है । इसलिए '**ज्ञापयति**' यहाँ पर '**ज्ञापि**' धात्वर्थतावच्छेदकीभूत ज्ञाक्रिया का सम्बन्ध आश्रयत्व सम्बन्ध से लेना है। **गम्** धातु के अर्थ गमनक्रिया का तदनुकूलकृतिमत्त्वरूप कर्तृत्व होता है इसलिए '**गमि**' धात्वर्थतावच्छेदकीभूत गमन क्रिया का सम्बन्ध तदनुकूलकृतिमत्त्व सम्बन्ध से '**गमयति**' यहाँ पर लेना है। इसी प्रकार अन्यत्र भी। इसलिए उस धात्वर्थतावच्छेदकीभूत क्रिया का कालिकसम्बन्ध से सम्बन्धी होने पर भी काल में णिजन्तधातु कर्मता की अतिव्याप्ति नहीं होती है। क्योंकि काल में कालिकसम्बन्ध से उस क्रिया का सम्बन्ध होने पर भी आश्रयत्व, तदनुकूलकृतिमत्त्वाद्यन्यतम सम्बन्धों से काल में उस क्रिया का सम्बन्ध नहीं है।

पूर्व के मतों से इस मत में वैलक्षण्य यह है कि पूर्व में **केचित्तु** कल्प से णिजन्त का अर्थ **मूलधात्वर्थगमनादिव्यापारकर्तृत्वनिर्वाहकव्यापार** रूप स्वीकारा गया था। अभी **वस्तुतः** कल्प के द्वारा णिजन्त धातु का अर्थ **मूलधात्वर्थगमनादिव्यापार कर्तृत्व** और **व्यापार** अलग-अलग हैं यह बतलाया गया। इसमें कर्तृत्व और व्यापार का सम्बन्ध

आकाङ्क्षा से लभ्य होता है। अभी जो मत **केचित्तु** के द्वारा उठाया गया है इसमें **मूलधात्वर्थ गमनादिव्यापारानुकूलव्यापार** णिजन्त धातु का अर्थ है यह बताया जा रहा है।

इस मत में-णिजन्तधातुकर्मतावाचकपद से कभी द्वितीया होती है और कभी तृतीया होती है, इसमें नियामक का अभाव है। क्योंकि णिजन्तधातुकर्मतावाचकपद के बाद द्वितीया और तृतीया दोनों की ही तुल्यार्थकता होने के कारण विवक्षाभेद रूप नियामक नहीं हो सकता है। यह चिन्तनीय है। आशय यह है कि इस विषय में अभी तक जो तीन मत आये हैं उनमें प्रथम मत के अनुसार तो गत्याद्यर्थक धातुओं से णिच् प्रत्यय जब हुआ तो उस णिजन्तधातु कर्मतावाचक पद से द्वितीया और तृतीया होती है क्योंकि **'गतिबुद्धि प्रत्यवसानार्थ......पा॰सू॰1/4/52'** के द्वारा गत्याद्यर्थक धातुओं के कर्ता की णिच् प्रत्यय होने की दशा में कर्मसंज्ञा होती है।

**केचित्तु** से उठाये गये द्वितीयमत में–णिजन्तधातु कर्मता तो सभी मूलधात्वर्थकर्ता की होती है, गत्याद्यर्थक धातु जब भिन्न विशेष्यभूत मूल धातुकर्तृत्व में विशेषण के रूप में कर्तृवृत्तित्व विवक्षा का विषय होता है तो मूलधातुकर्तृवाचकपद से द्वितीया होती है और जब कर्तृनिष्ठ कृति का पाकानुकूलकृति के साथ अभेदान्वय विवक्षाविषय हो तो मूलधातुकर्तृवाचकपद से तृतीया होती है।

अभी जो मत उठाया गया है उसमें दोनों पक्षों में मूलधातु कर्तृवाचकपद से द्वितीया और तृतीया में कोई अन्तर नहीं है। यही इस मत में चिन्ताबीज है।

**'अजा ग्रामं याप्यते चैत्रेण' इत्यादौ चैत्रकर्तृव्यापारनिर्वाह्यं यद्ग्राम वृत्तिसंयोगानुकूलक्रियाकर्तृत्वं तदाश्रयाजा इतिबोधः। तत्र संयोगावच्छिन्न क्रिया धातुलभ्या, संयोगे 'ग्रामम्' इत्यादिद्वितीयान्तार्थ ग्रामादिवृत्तित्वान्वय बलाद् ग्रामादिवृत्ति संयोगावच्छिन्नक्रिया लभ्यते। तादृश्याः णिजर्थ-कर्तृत्वेऽन्वयः। कर्माख्यातादिसमभिव्याहारनियन्त्रितव्युत्पत्तिबलाच्च तादृश-क्रियान्वितकर्तृत्वं तृतीयान्तार्थचैत्रादिकर्तृत्वविशेषितव्यापाररूपापरणिजर्थेन निर्वाह्यत्वसम्बन्धेन विशेषितमजादिरूपकर्मीभूतकर्तरि तद्विशेषणीभवदा-ख्यातार्थाश्रयत्वे विशेषणतया भासते।**

**'अजा ग्रामं याप्यते चैत्रेण'** इत्यादि णिजन्त कर्माख्यात में **'चैत्रकर्तृकव्यापारनिर्वाह्यं यद्ग्रामवृत्तिसंयोगानुकूलक्रियाकर्तृत्वं तदाश्रयाजा'** 'चैत्रकर्तृकव्यापार से निर्वाह्य जो ग्रामवृत्तिसंयोगानुकूल क्रियाकर्तृत्व उसकी आश्रयभूता अजा है' ऐसा शाब्दबोध हुआ करता है। इस शाब्दबोध में जो संयोगावच्छिन्न क्रिया (अनुकूलत्व सम्बन्ध से संयोगविशिष्ट क्रिया) या धातु से लभ्य है। तथा धातुलभ्य संयोग में **'ग्रामम्'** इस द्वितीयान्त से उपस्थाप्य अर्थ ग्रामवृत्तित्व के अन्वय के बल से ग्रामादिवृत्तिसंयोगावच्छिन्न (संयोगानुकूल) क्रिया लब्ध होती है, और तादृशक्रिया (ग्रामादिवृत्तिसंयोगानुकूलक्रिया) का णिच् के अर्थभूत कर्तृत्व में अनुकूलत्व सम्बन्ध से अन्वय होता है। कर्माख्यातादिसमभिव्याहार से नियन्त्रित व्युत्पत्ति के बल से (व्युत्पत्ति यही है कि प्रथमान्तार्थ मुख्यविशेष्यक बोध नैयायिकों के मत में स्वीकार किया जाता है, कर्त्राख्यात स्थल में इसीलिए कर्तृविशेष्यक और कर्माख्यातस्थल में इसीलिए कर्मविशेष्यक बोध स्वीकार किया जाता है। इसी का नैयायिकमत में सम्पादन हेतु अजाविशेष्यक बोध स्वीकारना पड़ेगा और इसीलिए)

तादृशग्रामादिवृत्तिसंयोगानुकूलक्रियान्वितकर्तृत्व, तृतीयान्तार्थ चैत्रादिकर्तृत्व से विशेषित व्यापार रूप जो दूसरा णिजर्थ उस णिजर्थ से निर्वाह्यत्वरूप (आकाङ्क्षाभास्य) सम्बन्ध से विशेषित हो जाता है। और विशेषित होकर अजादिरूपकर्मीभूत कर्ता में विशेषण होता हुआ आख्यातार्थ आश्रयत्व में विशेषण बनता हुआ भासित होता है।

गदाधर ने उपर्युक्त शाब्दबोध में कौन किस प्रकार से भासित होता है, इसका समग्र विवेचन किया। उक्त वाक्यघटकीभूत पदों में **'ग्रामम्'** से **ग्रामवृत्तित्व, अजा से अजा, चैत्रेण** से **चैत्रकर्तृत्व** (तृतीया का अर्थ कर्तृत्व है **'कर्तृकरणयोस्तृतीया पा॰सू॰2/3/18'** के निर्देश से) उपस्थित होता है। **'याप्यते'** में तीन अंश हैं (1) या धातु (2) णिच् (3) आख्यात । इसमें प्रथम अंश **या धातु** से **संयोगावच्छिन्नक्रिया** उपस्थित होती है। द्वितीय अंश **णिच्** से **कर्तृत्व** और **व्यापार** की उपस्थिति होती है। (पृ॰348 में कहा जा चुका है कि **वस्तुतः कर्तृत्वं व्यापारश्च पृथगेव णिजर्थः**) तृतीय अंश **आख्यात** से **आश्रयत्व** उपस्थित होता है। इसमें याधात्वर्थ संयोगावच्छिन्न क्रिया **ग्रामम्** द्वितीयान्तार्थ ग्रामवृत्तित्व के प्रति विशेष्य और णिजर्थकर्तृत्व के प्रति आकाङ्क्षाभास्य अनुकूलत्व सम्बन्ध से विशेषण होती है। द्वितीय णिजर्थव्यापार तृतीयान्त **चैत्रेण** के अर्थ चैत्रकर्तृत्व के प्रति आकाङ्क्षाभास्य निरूपकत्व सम्बन्ध से विशेष्य और आकाङ्क्षाभास्य निर्वाह्यत्व सम्बन्ध से ग्रमवृत्तिसंयोगानुकूलक्रियाकर्तृत्व के प्रति विशेषण बनता है। आख्यातार्थ आश्रयत्व अबतक के विशेष्यभूत णिजर्थ कर्तृत्व का विशेष्य बनता है तथा अजारूप कर्मीभूत कर्ता (प्रथमान्तार्थ) में विशेषण बनता है। इस प्रकार उपर्युक्त **'चैत्रकर्तृक (चैत्रकर्तृत्वनिरूपक) व्यापार-निर्वाह्यं यद् ग्रामवृत्तिसंयोगानुकूलक्रिया (अनुकूल) कर्तृत्वं तदाश्रया अजा'** ऐसा शाब्दबोध होता है। कर्त्राख्यात स्थल में व्युत्पत्ति के वैचित्र्य से णिजर्थ व्यापार णिजर्थ कर्तृत्व के प्रति निर्वाहकत्व सम्बन्ध से विशेष्य बनता है यहाँ पर णिजर्थकर्तृत्व के प्रति निर्वाह्यत्व सम्बन्ध से विशेषण बनता है।

**ये तु "गतिबुद्धि........" इत्यादिसूत्रस्य संज्ञाविधायकत्वं वर्णयन्ति तेषामयमाशयः व्यापार एव णिजर्थस्तत्र धात्वर्थक्रियायाः स्वकर्तृत्वनिर्वाहकत्वं संसर्गः, अतो न कर्तुः कर्मत्वं सूत्रान्तरप्राप्तम् ।**

जो लोग **'गतिबुद्धि.......पा॰सू॰1/4/52'** का संज्ञाविधायकत्व है ऐसा वर्णित करते हैं। उनका यह आशय है कि व्यापार ही णिच् का अर्थ है, उस व्यापारभूत णिजर्थ में स्वकर्तृत्वनिर्वाहकत्व संसर्ग है आकाङ्क्षाभास्य होता है । इसलिए कर्ता की कर्मता की सूत्रान्तर से प्राप्त नहीं है। इसका आशय यह है कि फलाश्रयत्व ही कर्मत्व है ऐसा पूर्व में वर्णित है। जब णिजन्त धातु का अर्थ मूलधात्वर्थक्रियानिर्वाहकव्यापार होता है, तब धात्वर्थतावच्छेदकीभूत मूलधात्वर्थक्रियाकर्तृत्व का आश्रय होने से मूलक्रियाकर्ता की कर्मता उपपन्न होती है। जब कर्तृत्व और व्यापार दोनों ही णिजर्थ होते हैं तब भी कर्तृत्व निर्वाहकत्वसम्बन्ध से व्यापार विशेषण बनकर धात्वर्थतावच्छेदक बन जाता है और तदाश्रयतया कर्ता का कर्मत्व प्राप्त होता है। जब मूलधात्वर्थानुकूल व्यापार णिजन्त का अर्थ होता है, तब धात्वर्थतावच्छेदकीभूत मूलधात्वर्थक्रिया होती है और आश्रयत्व, कृतिमत्त्वादि सम्बन्ध से धात्वर्थतावच्छेदक सम्बन्धी होने से कर्ता की णयन्तधातुकर्मता उपपन्न होती है। किन्तु इस मत में जबकि स्वकर्तृत्वनिर्वाहकत्व सम्बन्ध से क्रियाविशिष्टव्यापार णिजन्त का अर्थ होता है, तो धात्वर्थतावच्छेदकीभूत क्रियारूप फल का आश्रयत्व कर्ता में सम्भव न होने के

कारण कर्ता की कर्मसंज्ञा अन्य किसी सूत्र से प्राप्त नहीं हैं। इसलिए यह संज्ञा की गयी। यहाँ पर चूँकि क्रिया से विशिष्ट व्यापार ही णिजन्त का अर्थ होता है। इसलिए धात्वर्थतावच्छेदकीभूत क्रिया जो साक्षात् आश्रय होगा उसी को कर्म कहेंगे। कर्ता में तो न्यायमत में क्रियाश्रयत्व सम्भव नहीं है क्योंकि क्रियाश्रयत्व यहाँ पर मुख्यकर्तृत्व नहीं है। इस कारण यहाँ पर इस मत के अनुसार कर्ता की कर्मसंज्ञा सूत्रान्तर से नहीं हो सकती है। कर्तृत्व यदि धात्वर्थतावच्छेदक होता तो तदाश्रयत्व रूप कर्मत्व कर्ता का सम्भव होता। अतः सूत्रान्तर का प्रणयन किया गया है।

**'याप्यते ग्राममजा' इत्यादौ च स्वनिर्वाह्यकर्तृतानिरूपकत्वसम्बन्धेन व्यापारविशेषितो धात्वर्थः कर्तृत्वेऽन्वेति। तच्चाश्रयत्वसम्बन्धेनाजादौ विशेषणतया भासते, तादृशव्यापारे तृतीयान्तार्थस्य चैत्रादिकर्तृत्वस्य, धात्वर्थैकदेशे संयोगादिरूपफले च द्वितीयान्तार्थस्य ग्रामादिवृत्तित्वस्य विशेषणतया भानम्। ण्यन्तोत्तराख्यातस्यापि कर्तृत्वमेवार्थः, तत्र च तस्य वृत्तिः क्लृप्तैव, तच्चोक्तस्य धात्वर्थस्य विशेष्यतया प्रथमान्तपदार्थस्य च विशेषणतया भासते।**

इस मत के अनुसार **'याप्यते ग्राममजा'** इत्यादिस्थलों में स्वनिर्वाह्यकर्तृतानिरूपकत्व सम्बन्ध से व्यापारविशेषित धात्वर्थ कर्तृत्व में अन्वित होता है, तथा वह कर्तृत्व आश्रयत्वसम्बन्ध से प्रथमान्तार्थ अजा आदि में विशेषण बनकर भासता है। तथा उस व्यापार में तृतीयान्तार्थ चैत्रादिकर्तृत्व का और धात्वर्थैकदेश संयोगादिरूप फल में द्वितीयान्तार्थ ग्रामादिवृत्तित्व का विशेषणतया भान होता है। ण्यन्तोत्तर आख्यात का भी कर्तृत्व ही अर्थ और उसकी (आख्यात की) वृत्ति कर्तृत्व में स्वीकृत ही है। वह कर्तृत्व धात्वर्थ का विशेष्य बनकर और प्रथमान्तार्थ अजादि का विशेषण बनकर भासता है।

इस ग्रन्थ का आशय यह है कि—**'याप्यते ग्राममजा चैत्रेण'** यहाँ पर इस मत के अनुसार **चैत्रेण** इस तृतीयान्त का **चैत्रकर्तृत्व**, द्वितीयान्त **ग्रामम्** का **ग्रामवृत्तित्व**, **अजा** का **अजा** अर्थ होता है। इस अंश में पूर्वमत से इस मत की समानता है। **याप्यते** में तीन अंश है (1) या धातु (2) णिच् (3) आख्यात। इसमें प्रथमांश **या धातु** का अर्थ **संयोगानुकूलक्रिया** है। इस अंश में भी पूर्वमत से साम्य है। द्वितीयांश **णिच्** का अर्थ **व्यापार** है। तृतीयांश **आख्यात** का अर्थ **कर्तृत्व** है। इन दोनों अंशों में पूर्वमत से वैषम्य है। इन पदार्थों में से द्वितीयान्तार्थ ग्रामवृत्तित्व का धात्वर्थैकदेश संयोग में अन्वय होता है। तृतीयान्तार्थ चैत्रकर्तृत्व का निरूपकत्व सम्बन्ध (आकाङ्क्षाभास्य) से व्यापाररूप णिजर्थ में अन्वय होता है। तथा इस व्यापार का स्वनिर्वाह्यकर्तृतानिरूपकत्वरूप आकाङ्क्षाभास्य सम्बन्ध से धात्वर्थ क्रिया में अन्वय होता है। चैत्रनिष्ठव्यापार से निर्वाह्य जो अजा में रहने वाला कर्तृत्व है उसमें और संयोगानुकूल क्रिया में परस्पर निरूप्यनिरूपकभाव है क्योंकि उक्त क्रिया के प्रति कृतिरूप कर्तृत्व अनुकूलत्व है। इसलिए उस अजानिष्ठ कर्तृत्व का निरूपकत्व विद्यमान है। इस कारण उक्त क्रिया (संयोगानुकूलक्रिया) में व्यापार का स्वनिर्वाह्यकर्तृतानिरूपकत्वसम्बन्ध से अन्वय हो सकता है। और उक्त धात्वर्थक्रिया का णिजर्थ कर्तृत्व में, कर्तृत्व का आश्रयत्वसम्बन्ध से प्रथमान्तार्थ अजा में अन्वय होता है। इस प्रकार **'चैत्रकर्तृकव्यापार ( चैत्रकर्तृत्वनिरूपकव्यापार ) विशिष्टा ( स्वनिर्वाह्यकर्तृता-**

**निरूपकत्वसम्बन्धेनोक्तव्यापारविशिष्टा ) या ग्रामवृत्तिसंयोगानुकूला क्रिया तदनुकूलकर्तृत्ववती अजा**' चैत्रकर्तृक व्यापार से स्वनिर्वाह्यकर्तृतानिरूपकत्व सम्बन्ध से विशिष्ट जो ग्रामवृत्तिसंयोगानुकूल क्रिया, तदनुकूलकर्तृत्ववाली अजा है' ऐसा शाब्दबोध होता है'।

**न च यक् समभिव्याहृताख्यातोपस्थाप्यकर्तृत्वस्यान्वयबोधोपगमे 'गम्यते चैत्रः' इत्यतोऽपि 'गमनकर्ता चैत्रः' इत्यन्वयबोधः स्यादिति वाच्यम् , ण्यन्तोत्तरयक्समभिव्याहृताख्यातस्यैव कर्तृत्वान्वयबोधनियामकत्वात् ।**

यदि कहो कि यक् समभिव्याहृत आख्यात से उपस्थाप्य कर्तृत्व का यदि अन्वयबोध स्वीकारोगे (जैसा कि '**अजा ग्रामं याप्यते चैत्रेण**' यहाँ पर आप स्वीकार कर रहे हैं) तो '**गम्यते चैत्रः** इत्यादि से भी '**गमनकर्ता चैत्रः**' 'चैत्रगमनकर्तृत्व का आश्रय है' ऐसा शाब्दबोध होना चाहिए । प्रश्न यह है कि अभी तक यह माना जा रहा था कि यक् समभिव्याहृत आख्यात से कर्तृत्व का उपस्थापन नहीं होता है, इसलिए '**गम्यते चैत्रः**' में आख्यात से कर्मत्व का उपस्थापन होता है कर्तृत्व का नहीं । चैत्र में कर्मत्वान्वयबोधयोग्यता न होने से उक्त वाक्य का असाधुत्व ही होता है। आपने जब '**अजा ग्रामं याप्यते**' यहाँ पर यक् समभिव्याहृत आख्यात से भी कर्तृत्व की उपस्थिति स्वीकार की और उसका अजा में अन्वयबोध स्वीकारा तो '**गम्यते चैत्रः**' यहाँ पर भी आख्यात से कर्तृत्व की उपस्थिति और अन्वयबोध क्यों नहीं होगा ? होना चाहिए ।

तो ऐसा नहीं कहना चाहिए, ण्यन्तोत्तर यक्समभिव्याहृत आख्यात ही (कर्तृत्व का उपस्थापक होकर) कर्तृत्वान्वयबोध नियामक होता है। चूँकि '**अजा ग्रामं याप्यते**' ण्यन्तोत्तरयक्समभिव्याहृतआख्यात है, '**गम्यते चैत्रः**' में ण्यन्तोत्तर,मभिव्याहृत आख्यात नहीं है । अतः **याप्यते** प्रयोग स्थल में कर्तृत्वान्वयबोध होता है, **गम्यते** प्रयोगस्थल में नहीं होता है।

**अथैवमपि 'अजा याप्यते' इत्यादौ कर्तृत्वस्याख्यातबोध्यत्वे "कर्तरि शप्" इत्यपवादविषयतया यकोऽसाधुतापत्तिः।**

ठीक है, उपर्युक्त रीति से **याप्यते** प्रयोगस्थल में कर्तृन्वान्वयबोध और **गम्यते** प्रयोग स्थल में कर्मत्वान्वयबोध का उपपादन कर लिया जाये, तो भी '**अजा याप्यते**' इत्यादि स्थलों में आख्यात से कर्तृत्व के बोध्य होने पर '**कर्तरि शप् पा॰सू॰3/1/68**' इस अपवाद का विषय होने के कारण यक् तो असाधु हो जायेगा।

आशय यह है कि '**सार्वधातुके यक् पा॰सू॰31/67**' यह उत्सर्ग शास्त्र है जो कि सार्वधातुक मात्र के परे रहते यक् का विधान करता है, '**कर्तरि शप् पा॰ सू॰ 3/1/68**' यह अपवाद शास्त्र है जो कि कर्त्रर्थक सार्वधातुक के परे रहते शप् का विधान करता है। यदि '**अजा याप्यते**' में आपके अनुसार आख्यात को कर्त्रर्थक मान लिया जाये तो कर्त्रर्थक आख्यात (सार्वधातुक) के परे रहने के कारण '**कर्तरि शप्** ' इस शप् की ही प्राप्ति '**यापि**' इस णिजन्त धातु से होती है, यक् की नहीं । क्योंकि '**परनित्यान्तरङ्गापवादानामुत्तरोत्तरं बलीयः**' इस परिभाषा के अनुसार तो अपवाद की प्रबलता सर्वाधिक है। इस कारण यक् असाधु होगा।

**न च यादृशधातूत्तरं यत् सार्वधातुकं विहितं तादृशधात्वर्थनिरूपितकर्तृत्वस्य तेन विवक्षायामेव "कर्तरि शप्" इत्यादेः शबादिविधायकत्वात् प्रकृते च ण्यन्तसमुदायोत्तरमेवाख्यातं तेन तदर्थनिरूपितकर्तृत्वञ्च न बोध्यते, अपितु ण्यर्थविशेषितधात्वर्थान्वितकर्तृत्वमेवेति न तादृशापवादविषयतेति वाच्यम् , कर्माख्यातस्थले विशेष्यविशेषणभाववैपरीत्येन व्यापारविशेषित क्रियाया अपि ण्यन्तधात्वर्थत्वात् ।**

यदि उपर्युक्त आपत्ति ('**अजा याप्यते**' में यक् के असाधुत्व की आपत्ति) का निवारण करने के लिए आप कहें कि जैसी धातु के बाद जो सार्वधातुक विहित होता है उसी धातु के अर्थभूत क्रियानिरूपितकर्तृत्व की विवक्षा होने पर ही '**कर्तरि शप्** ' इस सूत्र की शप् विधायकता है (जैसे **पचति** यहाँ पर तिप् आख्यात पच् धातु के बाद विहित है और पच् धातु के अर्थभूत पाकक्रिया निरूपितकर्तृत्व की तिप् आख्यात से विवक्षा है, इसलिए यहाँ पर शप् विधान उक्त सूत्र से होता है) प्रकृत स्थल '**अजा याप्यते**' में त आख्यात ण्यन्तसमुदाय **यापि** के द्वारा विहित है किन्तु उस त आख्यात के द्वारा यापिधात्वर्थनिरूपित कर्तृत्व बोधित नहीं होता है, अपितु ण्यर्थ से विशेषित (ण्यर्थ= व्यापार से स्वनिर्वाह्यकर्तृतानिरूपकत्व सम्बन्ध से विशिष्ट) जो धात्वर्थ संयोगानुकूलक्रिया है उसका कर्तृत्व ही बोधित होता है। इस स्थल में जो कर्तृत्वबोधित होता है वह यापिधात्वर्थकर्तृत्व बोधित नहीं होता है बल्कि याधात्वर्थकर्तृत्व बोधित होता है। इसलिए '**कर्तरि शप् पा० सू० 3/1/68**' इस यगपवाद शब्विधायक सूत्र का यह विषय नहीं है। तो ऐसा नहीं कहना चाहिए क्योंकि कर्माख्याता स्थल में विशेष्यविशेषणभाव वैपरीत्य से व्यापार विशेषित क्रिया भी ण्यन्तधात्वर्थ है। आशय यह है कि इस मत के अनुसार धातु का अर्थ क्रिया और णिच् का अर्थ व्यापार मात्र है। इस प्रकार कर्त्राख्यात स्थल में स्वकर्तृत्व निर्वाहकत्व सम्बन्ध से क्रियाविशिष्टव्यापार णिजन्त धात्वर्थ होता है और कर्माख्यातस्थल में स्वनिर्वाह्यकर्तृतानिरूपकत्व सम्बन्ध से व्यापारविशिष्टक्रिया णिजन्तधातु का अर्थ हुआ करता है। '**अजा याप्यते**' यहाँ पर यापिधातूत्तर आख्यात के द्वारा जो कर्तृत्व बोधित होता है। वह चैत्रकर्तृकव्यापाविशिष्ट-संयोगानुकूल क्रिया से निरूपित कर्तृत्व ही बोधित होता है। इसलिए जैसे धातु 'यापि' के उत्तर जो सार्वधातुकविहित होता है, उसी धातु के अर्थभूत व्यापारविशिष्टसंयोगानुकूलक्रिया से निरूपित कर्तृत्व ही यापि धातूत्तर सार्वधातुक त आख्यात के द्वारा बोधित होता है। इसलिए शब् विधायक '**कर्तरि शप्** ' सूत्र की प्राप्त यहाँ पर है ही। अतः यक् के असाधुत्व की आपत्ति पूर्ववत् विद्यमान है।

**मैवम् –लकारसामान्यवृत्त्या यत्रकर्तृत्वं प्रतीयते तत्रैव "कर्तरि शप्" इत्यस्य शब्विधायकता, अत्र च कर्मत्वसमशीले कर्तृत्वे आत्मनेपदत्वेन शक्तिः।**

ऐसा नहीं है अर्थात् यक् का उक्तस्थल में असाधुत्व नहीं है क्योंकि लकार की सामान्यवृत्ति से जहाँ पर कर्तृत्व की प्रतीति होती है, वहीं पर '**कर्तरि शप्** ' इस सूत्र की शप् विधायकता है (जैसे कि **पचति** में जो लकार आया है उस लकार की वृत्ति कर्तृत्व में ही है क्योंकि '**लः कर्मणि च भावे चाकर्मकेभ्यः पा०सू०3/4/69**' सूत्र के द्वारा यहाँ पर कर्तृत्व में ही लकार का विधान किया गया है, अतः शप् विधान होता है) '**अजा याप्यते**' यहाँ पर तो कर्मत्व के समान शील है जिसका ऐसे कर्तृत्व में आत्मनेपदत्वेन

आख्यात की शक्ति है। भाव यह है कि लकार का विधान यहाँ पर तो कर्मत्व में किया गया है इसलिए लकार सामान्य की वृत्ति से यहाँ पर कर्मत्व की ही प्रतीति होती है कर्तृत्व की नहीं। कर्तृत्व की प्रतीति तो ण्यन्तोत्तरयक् समभिव्याहृतात्मनेपदत्वेन ही आख्यात की कर्तृत्व में शक्ति होने के कारण होती है। इसलिए लकार सामान्यवृत्ति से कर्तृत्व की प्रतीति न होने के कारण '**कर्तरि शप्** ' सूत्र के द्वारा शप् का विधान नहीं होता है।

**वस्तुतः –फलव्यापारयोः पृथग् धात्वर्थतामते 'गच्छति' इत्यादाविव 'गम्यते' इत्यादावपि लकारेणाश्रयत्वरूपकर्तृत्वाभिधाने यगनुपपन्न इति परस्मैपदसभिव्याहृतधातुना यादृशविशिष्टोर्थः प्रत्याय्यते तादृशविशिष्टार्थान्वितकर्तृत्वाभिधानमेव शब्विषयः एवञ्च प्रकृतेऽपि नानुपपत्तिरिति ध्येयम्।**

वस्तुतः फल और व्यापार में जो धातु की पृथक् शक्ति मानते हैं, फल और व्यापार की जिके मत में पृथक् धात्वर्थता है। उनके मत में '**गच्छति**' इत्यादि स्थलों की तरह '**गम्यते**' इत्यादि स्थलों में भी लकार के द्वारा आश्रयत्व रूप कर्तृत्व का अभिधान होने के कारण यक् अनुपपन्न है। इसलिए परस्मैपद से समभिव्याहृत धातु से जैसा विशिष्ट अर्थ बोधित होता है, वैसे विशिष्ट अर्थ से अन्वित कर्तृत्व का अभिधान ही उस मत में शप् का विषय होगा, इस प्रकार प्रकृतस्थल में भी अनुपपत्ति नहीं है यह ध्यान रखना चाहिए।

अभिप्राय यह है कि जो लोग फल और व्यापार दोनों को धात्वर्थ मानते हैं और फलाश्रयत्व और व्यापाराश्रयत्व को ही क्रमशः कर्मत्व और कर्तृत्व मानते हैं उनके मत[1] में आख्यात के द्वारा आश्रयत्व मात्र की उपस्थिति होती है, अभिधान होता है। इस प्रकार '**गच्छति**' व '**गम्यते**' दोनों ही स्थलों में आख्यात के द्वारा आश्रयत्व का अभिधान समान है। इस स्थिति में एक जगह यक् होता है दूसरी जगह नहीं होता है यह अनुपपन्न है। जैसे–'**गच्छति**' यहाँ पर आख्यात के द्वारा आश्रयत्व का अभिधान होने पर शप् होता है, वैसे ही '**गम्यते**' यहाँ पर भी आख्यात के द्वारा आश्रयत्व का ही अभिधान हो रहा है। इसलिए यहाँ पर भी शप् होना चाहिए। इसका वारण करने के लिए यही कहना पड़ेगा कि परस्मैपदसमभिव्याहृत धातु के द्वारा जैसा विशिष्ट अर्थ प्रतीत होता है, उस विशिष्ट अर्थ से अन्वित कर्तृत्व का अभिधान ही शप् का विषय है जहाँ पर ऐसे कर्तृत्व का अभिधान होगा वहीं पर शप् होगा। जैसे **पचति** में परस्मैपदसमभिव्याहृत धातु के विशिष्ट अर्थ से अन्वित पाकानुकूलव्यापाराश्रयत्व रूप कर्तृत्व का ही अभिधान हो रहा है। वैसे कर्तृत्व का जहाँ-जहाँ अभिधान होता है वहाँ पर शप् होता है जैसे कि '**पचते**' में भी शप् होता है। **यापयति** यहाँ पर परस्मैपदसमभिव्याहृत यापि धातु के विशिष्ट अर्थ से अन्वित धात्वर्थ क्रिया स्वकर्तृत्वनिर्वाहकत्व सम्बन्ध से विशिष्ट व्यापार निरूपित कर्तृत्व का ही अभिधान होता है, अतः यहाँ पर शप् होता है। **याप्यते** से ऐसे कर्तृत्व का अभिधान नहीं होता है। अतः शप् नहीं होगा, यक् ही होगा। यक् की अनुपपत्ति नहीं है।

**'ग्रामो याप्यते' 'अर्थो बोध्यते' इत्यादौ भावनाविशेष्यतया ग्रामादेर्भानेऽपि गमनादिकर्तुः कर्मत्वविवक्षायां तस्यैवाख्यातार्थविशेष्यतया बोधो व्युत्पन्नः–"ण्यन्ते कर्तुश्च कर्मणः" इत्यनुशासनात् । अतो 'अजां ग्रामो याप्यते' 'शिष्यमर्थो बोध्यते' इत्यादयो न प्रयोगाः। 'ग्रामो याप्यते' 'अर्थो**

1. टिप्पणी–यह वैयाकरणों का मत है ऐसा प्रतीत होता है क्योंकि कथन है कि—फलव्यापारयोर्धातुराश्रये तु तिङः स्मृताः' प॰ल॰म॰ लकारादेशार्थनिरूपणम् पृ.149 चौ.सं.सी. II संस्करण 1974·

**बोध्यते' इत्यादौ फलं विषयत्वादिरूपञ्च मुख्याभाक्तसाधारणं कर्मत्वमेवाख्यातार्थः।**

**ग्रामो याप्यते' 'अर्थो बोध्यते'** इत्यादि में भावनाविशेष्यतया (धात्वर्थ विशेष्यभूताख्यातार्थ विशेष्यतया) भान होने पर भी गमनादि कर्ता के कर्मत्व की विवक्षा होने पर उसी का आख्यातार्थविशेष्यतया बोध व्युत्पन्न है क्योंकि **'ण्यन्ते कर्तुश्च कर्मणः'** ण्यन्त धातुप्रयोग होने पर मूल धात्वर्थकर्ता के कर्मता की विवक्षा होने पर मूलधात्वर्थ कर्ता का कर्मत्वेन आख्यातार्थविशेष्यतया भान होता है' ऐसा अनुशासन है। इसलिए **'अजां ग्रामो याप्यते' 'शिष्यमर्थो बोध्यते'** इत्यादि प्रयोग नहीं होते हैं। **'ग्रामो याप्यते' 'अर्थो बोध्यते'** इत्यादि स्थलों में फल और विषयत्वादि रूप मुख्यभाक्तसाधारणकर्मत्व ही आख्यात का अर्थ है।

अभिप्राय यह है कि **'ग्रामो याप्यते'** में ग्राम का धात्वर्थ विशेष्यभूताख्यातार्थ विशेष्यतया बोध होता है, आख्यात का अर्थ कर्मत्व है वह यहाँ पर संयोगाश्रयत्व है। इस प्रकार **'व्यापारनिर्वाह्यसंयोगावच्छिन्नक्रियाजन्यसंयोगाश्रयो ग्रामः'** 'व्यापार निर्वाह्य संयोगानुकूलक्रियानुकूलक्रिया (गमन) जन्य संयोग का आश्रय ग्राम है' ऐसा शाब्दबोध होता है। **'अर्थो बोध्यते'** में विषयत्वरूप गौणकर्मत्व है। इस प्रकार **'व्यापारनिर्वाह्यज्ञान विषयोऽर्थः'** ऐसा शाब्दबोध होता है। इसमें ग्राम, अर्थ आदि ही विशेष्याविधया बाधित होते हैं, किन्तु अजा, शिष्य आदि का समवधान होने पर अजा, शिष्य आदि का ही धात्वर्थ विशेष्याख्यातार्थविशेष्यविधया भान व्युत्पन्न है उक्त अनुशासन के द्वारा। प्रथमान्तार्थ ही विशेष्य हो सकता है। अतः **'अजां ग्रामो गम्यते' 'शिष्यमर्थो बोध्यते'** ऐसे प्रयोग नहीं होते हैं। सार यह है कि ऐसा प्रयोग होने पर ग्राम और अर्थ का ही आख्यातार्थ भावना विशेष्यतया भान होना चाहिए जो कि अव्युत्पन्न है। अतः ऐसे प्रयोग नहीं होते हैं। भावना का अभिप्राय आख्यातार्थ कृतिमत्त्व, कर्मत्व आदि से है।

**फलव्यापारयोः पृथग्धात्वर्थतामत आश्रयत्वमेवाख्यातार्थः, धात्वर्थव्यापार विशेष्यतया तादृशाश्रयत्वविशेषणतया च धात्वर्थफलस्य भानम्। ण्यर्थव्यापारस्य जन्यतासम्बन्धेनैव धात्वर्थक्रियाज्ञानादिविशेषणत्वं पूर्ववदेव। 'अजां ग्रामो याप्यते' इत्यादिकस्तु न प्रयोगः–द्वितीयया कर्मत्वबोधने धात्वर्थव्यापारविशेष्यतया ण्यर्थबोधसामग्र्याः प्रयोजकत्वात्, यगादिसमभिव्याहारस्थले धात्वर्थविशेषणतयैव ण्यर्थस्य बोधात्। ण्यन्तधातोः सकर्मकत्वे तदुत्तर भावाख्यातस्य ''भावे चाकर्मकेभ्यः'' इत्यनुशासनेनासाधुत्वाच्च न तादृशप्रयोगः। 'ग्रामो याप्यते' इति भावाख्यातप्रयोगस्त्विष्ट एव–ण्यन्तस्य कर्मासमभिव्याहारात्।**

**एकदा कर्तृत्वकर्मत्वबोधकताया आख्यातस्याव्युत्पन्नतया 'अजा ग्रामो गम्यते' इत्यादयो न प्रयोगाः।**

फल और व्यापार दोनों की पृथक् धात्वर्थता के मत में आश्रयत्व ही आख्यात (कर्माख्यात) का अर्थ है। धात्वर्थव्यापार का विशेष्य बनकर और आख्यातार्थ आश्रयत्व का विशेषण बनकर धात्वर्थफल का भान होता है। ण्यर्थव्यापार जन्यता सम्बन्ध से ही धात्वर्थ भूत क्रिया, ज्ञान आदि में पूर्ववत् विशेषण होता है। (इस प्रकार **ग्रामो याप्यते** यहाँ पर **'व्यापारजन्यगमनक्रियाजन्यसंयोगाश्रयो ग्रामः'** 'व्यापार से जन्य गमनक्रिया से जन्य

संयोग का आश्रय ग्राम है' ऐसा शाब्दबोध होता है। **अर्थो बोध्यते** यहाँ **व्यापारजन्य-ज्ञानक्रियाविषयत्वाश्रयोऽर्थः'** 'व्यापारजन्य ज्ञानक्रिया के विषयत्व का आश्रय अर्थ है' ऐसा शाब्दबोध होता है) **'अजां ग्रामो याप्यते'** इत्यादि प्रयोग तो नहीं होते हैं क्योंकि द्वितीया से कर्मत्व रूप अर्थ का बोधन करने के लिए व्यापारविशेष्यतया ण्यर्थबोधसामग्री प्रयोजक होती है और यगादिसमभिव्याहारस्थल में धात्वर्थ विशेषणरूप में ही ण्यर्थ का बोध होता है। ऊपर प्रदर्शित शाब्दबोध में देखा जा सकता है कि ण्यर्थ व्यापार, जन्यत्वसम्बन्ध से क्रियारूपधात्वर्थ में विशेषण बनकर ही भासित होता है। इसलिए एक बात तो यह है कि इस तरह के प्रयोग में अजापदोत्तर द्वितीया से कर्मत्व का बोधन सम्भव नहीं है, इसलिए **'अजां ग्रामो याप्यते'** प्रयोग नहीं होता । **'अजा ग्रामं याप्यते'** में ग्राम पदोत्तर द्वितीया से कर्मत्व का बोधन तो होता नहीं है वृत्तित्वमात्र का बोधन होता है। इसलिए इस तरह का प्रयोग तो होता ही है। दूसरी बात तो यह है कि ण्यन्त धातु के बाद भावाख्यात साधु नहीं हो सकता है क्योंकि **'लः कर्मणि च भावे चाकर्मकेभ्यः पा॰सू॰ 3/4/69'** ऐसा अनुशासन है। इसलिए **'अजां ग्रामो याप्यते'** ऐसा भावाख्यात प्रयोग नहीं होता है। **'ग्रामो याप्यते'** इस प्रकार का भावाख्यात प्रयोग तो इष्ट ही है क्योंकि ण्यन्तधातु के कर्म का समभिव्याहार नहीं है। अभिप्राय यह है कि सकर्मक धातुओं से भी जब कर्म का समभिव्याहार न हो तो सकर्मकधातु भी अकर्मक हो जाता है। जैसे कि **'चैत्रेण ग्रामो गम्यते'** यहाँ पर गमधातु सकर्मक है यदि **'चैत्रेण गम्यते'** प्रयोग हो तो यहाँ पर गम् धातु अकर्मक क्योंकि ग्राम रूप गम् धातु कर्म का समवधान नहीं है। इसलिए प्रथम प्रयोग कर्माख्यात का है और दूसरा भावाख्यात का। इसी प्रकार ण्यन्त धातु का कर्म अजादि ही होते हैं ग्रामादि नहीं। ग्रामादि तो मूलधातु के कर्म हैं। इसलिए यदि ण्यन्तधातु कर्म बोधक अजादि का समवधान नहीं है तब तो भावाख्यात प्रयोग होगा। इसलिए **'ग्रामो गम्यते'** इत्यादि प्रयोग इष्ट ही है। यदि अजादि का समवधान है तो कर्माख्यात ही होगा, भावाख्यात नहीं । इस कारण **'ग्रामोऽजां याप्यते'** ऐसा प्रयोग नहीं होता है, **'ग्राममजा याप्यते'** ऐसा प्रयोग होता है।

**'अजा ग्रामो याप्यते'** इत्यादि प्रयोग नहीं होते हैं क्योंकि एक समय में ही कर्तृत्व और कर्मत्व बोधकता आख्यात में अव्युत्पन्न है। आशय यह है कि आख्यात के द्वारा ग्राम में कर्मत्व का आश्रयत्व और अजा में कर्तृत्व का आश्रयत्व एक साथ नहीं बोधित किया जा सकता है क्योंकि नियम है कि **'सकृदुच्चरितः शब्दः सकृदेवार्थमवगमयति'** एक बार उच्चरित शब्द एक ही बार अर्थावगम करा सकता है। इसलिए या तो ग्राम में आश्रयत्व बोधित किया सकता है या तो अजा में । इसलिए **'अजा ग्रामो याप्यते'** ऐसा प्रयोग नहीं होता है।

**एवं 'तण्डुलः सहायेन पाच्यते चैत्रेण' इत्यादौ धात्वर्थे सहायादि-कर्तृकत्वस्य तद्विशेषणण्यर्थव्यापारे विशेषणतया च चैत्रादिकर्तृकत्वस्य तृतीयान्तार्थस्य बोधः। शेषं पूर्ववदिति दिक् ।**

इस प्रकार **'तण्डुलः सहायेन पाच्यते चैत्रेण'** इत्यादि स्थलों में धात्वर्थ में सहायादिकर्तृकत्व का और उसके विशेषणीभूत ण्यर्थव्यापार में विशेषणतया चैत्रादिकर्तृकत्व

रूप तृतीयान्तार्थ का बोध होता है। शेष पूर्ववत् समझना चाहिए। इस प्रकार '**चैत्रकर्तृकव्यापार प्रयोज्यसहायकर्तृकपाकात्मकव्यापारजन्यविक्लित्याश्रयः तण्डुलः**' 'चैत्रकर्तृकव्यापार-प्रयोज्य सहायकर्तृकव्यापार से जन्य विक्लिति का आश्रय तण्डुल है' ऐसा शाब्दबोध होता है।

**'ग्रामं गच्छतीतिवत् 'स्वं गच्छति' इति प्रयोगवारणाय परसमवेतत्वमपि द्वितीयार्थ इष्यते, तस्य च धात्वर्थेऽन्वयः। परत्वे चैकदेशेप्याकाङ्क्षावैचित्र्यात् प्रकृत्यर्थस्य प्रतियोगितयान्वयः, एवं च 'ग्रामं गच्छति चैत्रः' इत्यादौ ग्रामभिन्न समवेता ग्रामनिष्ठसंयोगजनिका या क्रिया तदाश्रयतावाँश्चैत्र इत्यन्वयबोधः। स्वनिष्ठसंयोगजनकक्रियायाः स्वभिन्नसमवेतत्वस्य बाधात् 'स्वमात्मानं गच्छति' इति न प्रयोगः। यत्र चोभयकर्मभ्यां मल्लयोः संयोगस्तत्र मल्लान्तरसमवेत क्रियायाः स्वनिष्ठसंयोगजनिकायाः स्वभिन्नसमवेतत्वेऽपि तादृशक्रियाश्रयतायाः स्वस्मिन् बाधात् 'मल्लः स्वं गच्छति'' इति न प्रयोगः।**

'**ग्रामं गच्छति**' की तरह '**स्वं गच्छति**' इस प्रयोग का वारण करने के लिए परसमवेतत्व भी द्वितीया का अर्थ माना जाता है और उसका धात्वर्थ में अन्वय होता है। अभिप्राय यह है कि गम् धातु का अर्थ है संयोगावच्छिन्नक्रिया। धात्वर्थतावच्छेदकीभूतफल है संयोग। चूँकि संयोग द्विष्ठ होता है, दो में रहने वाला होता है। इसलिए संयोग का आश्रयत्व जैसे ग्राम में है उसी प्रकार कर्ता में भी है। संयोगाश्रयत्व ग्राम और चैत्रादि में समान होने के कारण गमन क्रिया कर्मता दोनों की ही हो जायेगी। इस प्रकार '**चैत्रो ग्रामं गच्छति**' की तरह '**चैत्रः स्वं गच्छति**' प्रयोग भी होना चाहिए जो कि अनिष्ट है। इसलिए परसमवेतत्व भी द्वितीया का अर्थ माना जाता है जिसका कि धात्वर्थभूत क्रिया में अन्वय होता है। चूँकि ग्रामभिन्नसमवेतक्रियाश्रयत्व चैत्र में है, स्वभिन्नसमवेतक्रियाश्रयत्व नहीं है। अतः प्रथम प्रयोग होता है दूसरा नहीं। क्योंकि द्वितीया के द्वितीय अर्थ का अन्वय सम्भव नहीं है।

परत्व यद्यपि पदार्थ नहीं है, परसमवेतत्व पदार्थ है क्योंकि द्वितीया का अर्थ परसमवेत्व है परत्व नहीं। इस कारण यह समस्या है कि पदार्थान्तर का अन्वय पदार्थ भूत परसमवेतत्व से ही किया जाना चाहिए परत्व से नहीं। परन्तु परत्व के पदार्थ का एकदेश होने पर भी आकाङ्क्षा के वैचित्र्य से प्रकृत्यर्थ (द्वितीया प्रकृतिपद के अर्थ ) का प्रतियोगितया परत्व में ही अन्वय होता है। इस प्रकार '**ग्रामं गच्छति चैत्रः**' से '**ग्रामभिन्नसमवेता ग्रामनिष्ठ-संयोगजनिका या क्रिया तदाश्रयतावाँश्चैत्रः**' 'ग्रामभिन्न में समवेतग्रामनिष्ठसंयोगजनिका जो क्रिया उस क्रियाश्रयतावान् चैत्र है' ऐसा शाब्दबोध होता है। परसमवेत माने भिन्न समवेत होता है क्योंकि पर माने भिन्न होता है। ग्राम का अन्वय भिन्नसमवेत पदार्थ के एकदेश भेद में प्रतियोगित्व =स्वप्रतियोगिकत्व सम्बन्ध से अन्वय होता है। भेद के ग्रामप्रतियोगिक होने के कारण उक्त अन्वय सम्भव है। इस शाब्दबोध में '**ग्रामभिन्नसमवेता**' का '**ग्रामप्रतियोगिकभेदाश्रयसमवेता**' अर्थ होता है।

स्वनिष्ठसंयोगजनक क्रिया में स्वभिन्नसमवेतत्व का बाध होने के कारण '**स्वमात्मानं गच्छति**' ऐसा प्रयोग नहीं होता है। अभिप्राय यह है कि इस वाक्य घटकीभूत शब्दों का जो अर्थ है वह क्रमशः इस प्रकार है-स्वमाने स्व (गमनकर्ता), आत्मा माने आत्मा (स्व),

आत्मन् पदोत्तर द्वितीया का अर्थ दो है (1) आधेयत्व (2) भिन्नसमवेतत्व। गम् धात्वर्थ संयोगावच्छिन्न क्रिया है। आख्यात का कृति आदि। इन अर्थों में परस्पर अन्वय सम्भव नहीं है क्योंकि क्रिया (गमन क्रिया) में आत्मा (स्व) भिन्न समवेतत्व रूप द्वितीयार्थ का बाध है, क्रिया स्व में ही रहनेवाली है स्वभिन्न में नहीं। इस प्रकार बाधितार्थविषयक होने के कारण इस वाक्य से शाब्दबोध सम्भव नहीं है। अतः उक्त प्रयोग नहीं होता है।

जहाँ पर दोनों के ही कर्म से मल्लों (पहलवानों) का संयोग हो रहा है (दोनों में समवेतक्रियाएँ संयोगजनक हैं परंतु) वहाँ पर मल्लान्तर समवेत क्रिया जो कि स्वनिष्ठ संयोग जनक है, के स्वभिन्न (मल्लभिन्न) में समवेत होने पर भी उस क्रिया की आश्रयता का स्व में बाध होने के कारण **'मल्लः स्वं गच्छति'** ऐसा प्रयोग नहीं होता है। इस ग्रन्थ का आशय यह है कि **'स्वमात्मानं गच्छति'** में स्वनिष्ठ संयोगजनकक्रिया में परसमवेतत्व का ही बाध है इस बाधाभाव रूप योग्यता न होने से उक्त वाक्य से शाब्दबोध नहीं होता है। जहाँ पर दो मल्लों में क्रिया है और उस क्रिया से दोनों मल्लों का संयोग हो रहा है। वहाँ पर दोनों ही मल्लों में रहनेवाली क्रियाएँ दोनों मल्लों में संयोग उत्पन्न करनेवाली हैं। किन्तु उसी मल्ल में रहनेवाली जो उसी मल्ल में रहनेवाले संयोग को उत्पन्न करनेवाली क्रिया है, उसमें तो स्वभिन्नसमवेतत्व नहीं है क्योंकि वह उसी मल्ल में समवाय सम्बन्ध से रहने वाली है। उस मल्ल में संयोग को उत्पन्न करनेवाली जो दूसरो मल्ल में रहनेवाली क्रिया है वह स्वभिन्नसमवेत तो है किन्तु उसका आश्रयत्व स्व (मल्ल) में बाधित है। इसलिए इस प्रकार से बाधितार्थ विषयक होने के कारण **'मल्लः स्वं गच्छति'** प्रयोग नहीं हुआ करता है।

**न च स्वनिष्ठसंयोगजनकस्वसमवेतक्रियायां स्वभिन्नसमवेतत्वस्यायोग्यतया तदभानेऽप्यबाधितं स्वनिष्ठसंयोगजनकत्वं विषयीकृत्य शाब्दबोधसम्भवात् तदर्थमात्रतात्पर्येण 'स्वं गच्छति' इति प्रयोगो दुर्वार एवेति वाच्यम्, परसमवेतत्वांशाविषयकस्य द्वितीयाधीनफलजनकत्वबोधस्य कुत्राप्यनभ्युपगमेन तादृशबोधे तद्भासकसामग्र्या अप्यपेक्षणीयत्वात्।**

यदि कहो कि स्वनिष्ठसंयोगजनक स्वसमवेत क्रिया में स्वभिन्नसमवेतत्व का अन्वय अयोग्य है (क्योंकि स्वनिष्ठ संयोगजनक स्वसमवेतक्रिया में स्वभिन्नसमवेतत्व का बाध है) इसलिए उस अयोग्य अंश का भान न हो, उसके अलावा जितना अबाधित अंश स्वनिष्ठसंयोगजनकत्व रूप है उसी को विषय करते हुए शाब्दबोध हो जाये। वह तो सम्भव है इसलिए तदर्थमात्रतात्पर्य से **'स्वं गच्छति'** यह दुर्वार ही है। इस ग्रन्थ का प्रतिपाद्य यह है कि जिस अंश का शाब्दबोध में बाध होता है उस अंश का परित्याग करके भी शाब्दबोध हुआ करता है। आपने द्वितीया के दो अर्थ मानें हैं आधेयत्व और परसमवेतत्व। **'मल्लः स्वं गच्छति'** यहां पर चूँकि स्वनिष्ठ संयोगजनक स्वसमवेत क्रिया में स्वभिन्न समवेतत्व का बाध है द्वितीया के द्वितीय अर्थ का बाध है। प्रथम अर्थ का बाध तो है नहीं। पूर्व में पृ॰288 पर यह बताया जा चुका है कि बाधित अंश को छोड़ कर अबाधित अंश मात्र विषयक भी शाब्दबोध हुआ करता है। यहाँ पर भी स्वभिन्नसमवेतत्व रूप जो द्वितीया का द्वितीय अर्थ है, बाधितार्थविषयक होने के कारण उसका परित्याग कर दिया जाये और

स्वनिष्ठसंयोगजनकत्व को विषय करता हुआ '**स्वनिष्ठसंयोगजनकक्रियाश्रयतावान् मल्लः**' 'स्व में रहनेवाले संयोग को उत्पन्न करनेवाली क्रिया की आश्रयतावाला मल्ल है' ऐसा शाब्दबोध तो सम्भव है। इस प्रकार के ही शाब्दबोध के अभिप्राय से '**मल्लः स्वं गच्छति**' ऐसा प्रयोग होना चाहिए।

तो ऐसा नहीं कहना चाहिए क्योंकि परसमवेतत्व अंश को न विषय करनेवाला द्वितीया के अधीन फलजनकत्वबोध कहीं पर भी स्वीकार नहीं किया जाता है, इस कारण वैसे शाब्दबोध में परसमवेतत्व अंश के बोधक सामग्री की भी अपेक्षा हुआ करती है। जहाँ पर समवेतत्व अंश की बोधिका सामग्री होगी वहीं पर ही द्वितीयाधीन फलजनकत्वविषयक बोध होगा। चूँकि यहाँ परसमवेतत्व अंश के बाधित होने के कारण तद्भासक सामग्री है। अतः '**मल्लः स्वं गच्छति**' से फलजनकत्वान्वयबोध नहीं होता है।

**अथ स्वस्यापि द्वित्वावच्छिन्नस्वभेदवत्त्वात् 'स्वं गच्छति' इति प्रयोगस्य दुर्वारतया द्वितीयाप्रकृत्यर्थस्य प्रकृत्यर्थतावच्छेदकावच्छिन्नप्रतियोगिता-कत्वासम्बन्धेनैव भेदेऽन्वयो वाच्यस्तथा च 'चैत्रो द्रव्यं गच्छति' 'मल्लो मल्लं गच्छति' इत्यादिवाक्यस्याप्रमाणतापत्तिः—चैत्रमल्लादिनिष्ठ क्रियायाः प्रकृत्यर्थतावच्छेदकीभूतद्रव्यत्वमल्लत्वाद्यवच्छिन्नभिन्नासमवेतत्वात्**

अब प्रश्न उठा रहे हैं कि–स्व के भी द्वित्वावच्छिन्न स्वभेदवत् होने के कारण '**स्वं गच्छति** यह प्रयोग दुर्वार होगा। क्योंकि आपने द्वितीया का अर्थ परसमवेतत्व स्वीकार किया है। '**मल्लः स्वं गच्छति** इस प्रयोग का वारण करने के लिए आपने यही कहा है कि मल्ल में–स्वपदवाच्यमल्लनिष्ठ संयोगजनकीभूत जो मल्लभिन्नसमवेत क्रिया उसका आश्रयत्व नहीं है इसलिए बाधितार्थविषयक होने के कारण इस वाक्य में शाब्दबोधयोग्यता ही नहीं है। फलतः यह प्रयोग नहीं होता है। किन्तु स्वपदवाच्य मल्लनिष्ठ सोगजनकीभूत जो उसी मल्ल में रहनेवाली क्रिया, वह भी इस तरीके से परसमवेत हो जायेगी । पर का मतलब भेदाश्रय= स्व(मल्ल) प्रतियोगिक भेदाश्रय। आपका समझना है कि मल्ल स्व (मल्ल) प्रतियोगिकभेद का आश्रय नहीं होता है किन्तु मल्ल भी स्व (मल्ल) प्रतियोगिकभेद का आश्रय हुआ करता है। कैसे? क्योंकि मल्ल स्व तो है किन्तु स्व और घट दोनों नहीं है। इसलिए '**मल्लः स्वघटोभयं न** ' इसभेद का आश्रय मल्ल हो जायेगा। इस भेद का प्रतियोगी जैसे घट है वैसे ही स्व भी है। इस तरह स्वप्रतियोगिकभेदाश्रय (रूप पर) में स्वनिष्ठसंयोगजनकीभूतक्रिया समवेत है। उसका आश्रयत्व तो मल्ल में है ही। इस प्रकार मल्लनिष्ठसंयोगजनकक्रिया स्वप्रतियोगिकभेदाश्रयसमवेत भी है और मल्ल में उस क्रिया का आश्रयत्व भी है। ऐसी स्थिति में यह बाधितार्थविषयक नहीं होता है। इस कारण '**मल्लः स्वं गच्छति**' यह प्रयोग दुर्वार होगा।

स्व के भी द्वित्वावच्छिन्न प्रतियोगिताक भेदाश्रय होने के कारण उक्त प्रयोग दुर्वार होने से द्वितीया विभक्ति की प्रकृति का जो अर्थ है उसका प्रकृत्यर्थतावच्छेदकावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्व सम्बन्ध से ही भेद में अन्वय करना चाहिए यह कहना पड़ेगा। (ऐसा कहने पर '**मल्लः स्वघटोभयं न**' इस भेद में द्वितीया प्रकृति के अर्थ भूत स्व का प्रकृत्यर्थतावच्छेदकावच्छिन्न-प्रतियोगिताकत्व (स्वत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्व) सम्बन्ध से अन्वय करना पड़ेगा जो कि सम्भव नहीं है क्योंकि उक्त भेद तो उभयत्वाद्यवच्छिन्नप्रतियोगिताक है न कि स्वत्वाद्यवच्छिन्न प्रतियोगिताक इस कारण उक्त प्रयोग की आपत्ति वारित हो जायेगी । स्वत्वाद्यवच्छिन्न

प्रतियोगिताक भेदाश्रय तो स्व हो नहीं सकता है। इसलिए परसमवेतत्व का अन्वय करने में बाध होगा ही) किन्तु ऐसा कहने पर मुश्किल यह है कि '**चैत्रो द्रव्यं गच्छति**' '**मल्लो मल्लं गच्छति**' इत्यादि वाक्यों के अप्रामाण्य की आपत्ति है क्योंकि चैत्रमल्लादिनिष्ठ प्रकृत्यर्थतावच्छेदकीभूत द्रव्यत्वमल्लत्वाद्यवच्छिन्न भिन्न में असमवेत है।

कहने का आशय यह है कि जब द्वितीया की प्रकृति के अर्थ का प्रकृत्यर्थतावच्छेदकावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्व सम्बन्ध से भेद में अन्वय वाच्य होगा तो '**चैत्रो द्रव्यं गच्छति**' यहाँ पर आवश्यक है कि द्रव्यत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकभेदाश्रयसमवेत क्रिया का आश्रयत्व चैत्र में हो अन्यथा शाब्दबोध बाधित विषयक होने के कारण नहीं हो सकेगा। किन्तु द्रव्यत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकभेदाश्रय यदि चैत्र हो तो तब तो तादृशभेदाश्रय समवेत क्रिया चैत्रनिष्ठ हो और उसका आश्रय चैत्र हो। किन्तु चैत्र तो द्रव्यान्तर्गत होने के कारण द्रव्यत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकभेदाश्रय नहीं है। अतः तादृशभेदाश्रयसमवेतत्व क्रिया में और तादृश क्रियाश्रयत्व चैत्र में नहीं हो सकता है। बाधित होगा। इसी प्रकार '**मल्लो मल्लं गच्छति**' द्वितीया की प्रकृति मल्लपद से वाच्य अर्थ मल्ल का मल्लत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्व सम्बन्ध से भेद में अन्वय वाच्य होगा। इसलिए आवश्यक है कि मल्लत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताक भेदाश्रयसमवेतक्रिया का आश्रय मल्ल (प्रथमान्तवाच्य मल्ल) हो किन्तु वह सम्भव नहीं है क्योंकि यदि मल्ल मल्लत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताक भेदाश्रय हो तभी यह सम्भव है किन्तु मल्ल में मल्लत्वावच्छिन्न प्रतियोगिताक भेद '**मल्लो न मल्लः**' ऐसा भेद रहता नहीं है। अतः मल्लत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकभेदाश्रयसमवेतत्व क्रिया में और तादृश क्रियाश्रयत्व मल्ल में सम्भव नहीं है। अतः बाधितार्थविषयक होने के कारण उक्त वाक्यों का अप्रामाण्य होगा।

**तत्तद्व्यक्तित्वानुपस्थितावपि शाब्दबोधोदयेन तत्तद्व्यक्तित्वावच्छिन्नप्रतियोगितासम्बन्धेनान्वयोपगमासम्भवात् उक्तयुक्त्या सम्बन्धघटकोपस्थितेरपि शाब्दबोधेऽपेक्षितत्वात् एकधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताया अन्यधर्मावच्छिन्नसंसर्गत्वे मानाभावाच्च, प्रतियोगिताविशेषिताभावबुद्धेर्विशिष्टवैशिष्ट्यावगाहित्वनियमात् अन्वयितानवच्छेदकावच्छिन्नप्रतियोगितायाः सम्बन्धत्वासम्भवाच्च।**

यदि कहो कि तत्तद्व्यक्तित्वावच्छिन्न प्रतियोगिताकत्व सम्बन्ध से द्वितीया प्रकृतिभूत पद के अर्थ का परसमवेतत्वैकदेश परत्व= भेद में अन्वय किया जायेगा (जैसाकि उक्त समस्या का समाधान भवानन्द सिद्धान्त वागीश 'कारकाद्यर्थ निर्णय' में देते हैं[1]) तब तो उक्त आशंका समाहित हो जायेगी क्योंकि चैत्र में द्रव्यत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकभेद भले ही न हो, मल्ल में मल्लत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकभेद भले ही नहीं हो किन्तु चैत्र में और मल्ल में दोनों में ही तत्तद्व्यक्तित्वावच्छिन्नप्रतियोगिताक भेद तो है ही क्योंकि जिस द्रव्यव्यक्ति और मल्ल व्यक्ति के प्रति चैत्र व मल्ल के गमन का बोधन कराने के लिए उक्त प्रयोग किये जा रहे हैं वे तो वस्तुतः चैत्र व मल्ल से भिन्न ही है। इसलिए चैत्र व मल्ल में तत्तद्व्यक्तित्वावच्छिन्न

---

1.-टिप्पणी–'प्रतियोगितामात्रेणान्वये तु आत्मनोऽपि स्वप्रतियोगिताकद्वित्वाद्यवच्छिन्नप्रतियोगिताकभिन्नत्वात्तथैव दोषः, अतो द्वितीयाद्यर्थ फले यद्व्यक्तेरन्वयस्तद् व्यक्तित्वावच्छिन्नप्रतियोगितासम्बन्धेन प्रकृत्यर्थस्य कर्माख्यातफलान्वयिनश्च परत्वेऽन्वयः।

पृ॰43 सटीकानुवाद कारकचक्रम्

प्रतियोगिताकभेद विद्यमान है। उक्त भेदाश्रय चैत्र, मल्लसमवेतक्रियाश्रयत्व चैत्र, मल्ल आदि में है। अतः शाब्दबोध के बाधितार्थविषयक न होने के कारण शाब्दबोध सम्भव होगा तो—

तत्तद्व्यक्तित्व की उपस्थिति न होने पर भी शाब्दबोध का उदय होने के कारण तत्तद्व्यक्तित्वावच्छिन्नप्रतियोगिता सम्बन्ध से अन्वय का स्वीकार सम्भव नहीं है, पूर्व में कही गयी युक्ति के द्वारा सम्बन्धघटक उपस्थिति की भी शाब्दबोध में अपेक्षा हुआ करती है, एकधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिता के अन्यधर्मावच्छिन्न का संसर्ग होने में कोई प्रमाण नहीं है, प्रतियोगिविशेषित अभावबुद्धि नियमतःविशिष्टवैशिष्ट्यावगाह्ी होती है, अन्वयितानवच्छदेका-वच्छिन्नप्रतियोगिता का सम्बन्धत्व असम्भव है।

इस ग्रन्थ के द्वारा तत्तद्व्यक्तित्वावच्छिन्न प्रतियोगिताकत्व सम्बन्ध से द्वितीया विभक्ति के प्रकृतिभूत पद के अर्थ का भेद में अन्वय नहीं किया जा सकता है इस में तीन युक्तियाँ दी जा रही है। (1) पूर्व में पृ. 232-233 पर यह बताया जा चुका है कि 'उक्त वाक्य तत्संसर्गावच्छिन्नतत्प्रकारतानिरूपिततद्विशेष्यताशालि शाब्दबोध परक है' इस रूप से तात्पर्यज्ञान की शाब्दबोध के लिए अपेक्षा हुआ करती है। इस तात्पर्यज्ञान में संसर्ग विशेषणविधया भासित होता है, उसके विशेषणविधया भान के निर्वाह के लिए शाब्दबोध के पूर्व में संसर्गघटक उपस्थिति की भी शाब्दबोध हेतु अपेक्षा हुआ करती है। यदि आप तत्तद्व्यक्तित्वावच्छिन्न प्रतियोगिताकत्व को संसर्ग बनाना चाहते हैं और उक्त संसर्ग से द्वितीया प्रकृतिभूतपद के अर्थ का अन्वय आप भेद में करना चाहते हैं तो यह आवश्यक है कि तत्तद्व्यक्ति की उपस्थिति शाब्दबोध के पूर्व में हो किन्तु **'मल्लो मल्लं गच्छति' 'चैत्रो द्रव्यं गच्छति'** इत्यादि स्थलों में मल्ल और द्रव्य की तत्तद्व्यक्तित्वेन उपस्थिति नहीं होती है, तत्तद्व्यक्तित्व की शाब्दबोध के पूर्व में उपस्थिति नहीं होती है। इसलिए तत्तद्व्यक्तित्वावच्छिन्न प्रतियोगिताकत्व सम्बन्ध से भेद में द्वितीया प्रकृत्यर्थ का अन्वय सम्भव नहीं है।

(2) एक धर्मावच्छिन्न प्रतियोगिता के अन्यधर्मावच्छिन्न का संसर्ग बनने में कोई प्रमाण नहीं है। यह दूसरी युक्ति है। इस युक्ति का निहितार्थ यह है कि द्रव्यत्वावच्छिन्न व मल्लत्वावच्छिन्न की उपस्थिति होती है द्वितीया प्रकृतिभूत द्रव्य और मल्ल पदों के द्वारा। उस द्रव्य और मल्ल का तत्तद्व्यक्तित्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्व सम्बन्ध से भेद में आप अन्वय करना चाहते हैं वह तो सम्भव नहीं है क्योंकि तत्तद्व्यक्तित्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्व तत्तद्व्यक्तित्वावच्छिन्न का ही संसर्ग हो सकता है द्रव्यत्वावच्छिन्न व मल्लत्वावच्छिन्न का नहीं। इसमें प्रमाण है कि प्रतियोगिविशेषित अभाव बुद्धि भी विशिष्टवैशिष्ट्यावगाही नियम से होती है। जब तत्तद्व्यक्तित्वावच्छिन्न ही भासित नहीं हो रहा है तो तत्तद्व्यक्तित्वावच्छिन्न प्रतियोगिताकत्व द्रव्यत्वावच्छिन्न औव मल्लत्वावच्छिन्न का सम्बन्ध कैसे बन सकता है?

(3) अन्वयितानवच्छेदक से अवच्छिन्न प्रतियोगिता का सम्बन्धत्व असम्भव है। इस युक्ति का सार यह है कि अन्वयितावच्छेदकावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्व ही संसर्ग बन सकता है। अन्वयितावच्छेदक तो द्रव्यत्व व मल्लत्व हैं उन वाक्यों में। तत्तद्व्यक्तित्व तो अन्वयितानवच्छेदक है । इसलिए तत्तद्व्यक्तित्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्व द्रव्य और मल्ल का सम्बन्ध नहीं बन सकता है।

**इति चेत् ?**

**तर्हि क्रियान्वयिभेदप्रतियोगितावच्छेदकत्वमेव द्वितीयार्थोऽस्तु भेदे प्रकृत्यर्थस्याधेयतासम्बन्धेनान्वय इति न काचिदनुपपत्तिः।**

यदि ऐसा है, तो क्रियान्वयिभेदप्रतियोगितावच्छेदकत्व ही द्वितीयार्थ हो भेद में प्रकृत्यर्थ का आधेयता सम्बन्ध से अन्वय होता है इसलिए कोई अनुपपत्ति नहीं है।

यहाँ पर क्रियान्वयिभेद प्रतिकयोगितावच्छेदकत्व को द्वितीयार्थ मानना चाहिए यह व्यवसाथापित कर रहे हैं। क्रियान्वयी का अभिप्राय क्रिया का अन्वय जिसमें हो अर्थात् संयोगादि जनकीभूत क्रियाश्रय से है। क्रियाश्रय भेद में प्रकृत्यर्थ का आधेयता सम्बन्ध से अन्वय होता है। इस प्रकार द्वितीया प्रकृति के अर्थ में वृत्ति जो क्रियाश्रयभेद, उस का प्रतियोगितावच्छेदकत्व क्रिया में आना चाहिए व उस क्रिया का आश्रयत्व भासित होना चाहिए। '**चैत्रः द्रव्यं गच्छति**' में क्रियान्वयी = क्रियाश्रय हुआ चैत्र '**क्रियान्वयी न**' इस भेद का आश्रय हुआ द्रव्य, द्रव्य ही द्वितीया की प्रकृति का अर्थ है। इस प्रकार द्वितीया प्रकृति के अर्थ द्रव्य में वृत्ति उक्त भेद का प्रतियोगितावच्छेदक क्रिया ही है। (क्रियान्वयी =क्रियावान् प्रतियोगी, तदवच्छेदकी भूत क्रिया) तद्वत्त्व चैत्र में है। शाब्दबोध अबाधित होने से प्रमाण है। '**मल्लो मल्लं गच्छति**' में भी इसी प्रकार द्वितीया प्रकृतिभूत अर्थ मल्ल में वृत्ति जो उस मल्ल में रहनेवाले संयोग को पैदा करने वाली क्रिया अन्वयी का भेद **क्रियान्वयी न** यह भेद, भेदप्रतियोगितावच्छेदकीभूतक्रियाश्रयत्व प्रथमा प्रकृत्यर्थ मल्ल में विद्यमान है। इसलिए इस वाक्य की भी प्रमाणता है।

'**चैत्रः स्वं गच्छति**' इस प्रयोग की आपत्ति तो नहीं है क्योंकि द्वितीया प्रकृति का अर्थ जो स्व है वह तो चैत्र ही है, उसमें '**क्रियान्वयी न**' यह भेद वृत्ति नहीं है। इस प्रकार '**मल्लः स्वं गच्छति**' में भी द्वितीया प्रकृति का अर्थ जो स्व है वह तो मल्ल ही है। उसमें रहनेवाले संयोग के प्रति जनकीभूत क्रियान्वयी का भेद '**क्रियान्वयी न**' यह भेद स्व में नहीं है क्योंकि वह संयोगजनकीभूत क्रिया तो उसमें विद्यमान ही है। इस तरह कोई भी अनुपपत्ति नहीं है।

**न चैवमपि 'विहगो भूमिं प्रयाति' इतिवत् 'विहगो विहगं गच्छति' इति प्रयोगो दुर्वारः—विहगनिष्ठभूमिसंयोगजनकक्रियाया विहगान्तरनिष्ठभेद-प्रतियोगितावच्छेदकतया विहगे विहगनिष्ठभेदप्रतियोगितावच्छेदकविहगवृत्ति-संयोगजनकक्रियाश्रयत्वस्याबाधितत्वादिति वाच्यम् ,**

यदि कहो कि इस प्रकार भी '**विहगो भूमिं प्रयाति**' की तरह '**विहगो विहगं गच्छति**' यह प्रयोग दुर्वार होगा क्योंकि विहगनिष्ठ भूमि संयोगजनक क्रिया के विहगान्तरनिष्ठ भेद प्रतियोगितावच्छेदक होने के कारण विहग में विहगनिष्ठभेदप्रतियोगितावच्छेदक विहगवृत्तिसंयोगजनकक्रियाश्रयत्व अबाधित है।

इस प्रश्न का अभिप्राय यह है कि '**विहगो भूमिं प्रयाति**' यह वाक्य प्रयोग हुआ करता है क्योंकि द्वितीया से दो अर्थ उपस्थित होते हैं (1) आधेयत्व और (2) क्रियान्वयिभेदप्रतियोगितावच्छेदकत्व । दोनों का ही अन्वय उपपन्न है, आधेयत्व का संयोगरूप फल में और क्रियान्वयिभेदप्रतियोगितावच्छेदकत्व का संयोगजनक क्रिया में।प्रथम में कोई सन्देह ही नहीं है, द्वितीय भी अन्वित है क्योंकि '**भूमिनिष्ठसंयोगजनकक्रियावान् न**' ( भूमिवृत्ति संयोग की जनकीभूत क्रियावाला नहीं है) इस प्रकार का भेद भूमि में वृत्ति

है उसकी प्रतियोगितावच्छेदकीभूत क्रिया का आश्रयत्व विहग में है। अतः उक्त वाक्य के अबाधितार्थविषयक होने के कारण उक्त प्रयोग उपपन्न होता है। इसी प्रकार **'विहगो विहगं गच्छति'** यह प्रयोग भी होना चाहिए क्योंकि विहगनिष्ठभूमिसंयोग की जनक जो विहग क्रिया है वह विहगान्तररूपविहगनिष्ठ **'विहगनिष्ठभूमिसंयोगजनकक्रियावान् न'** इस भेद की प्रतियोगितावच्छेदक है क्योंकि विहगान्तर विहगनिष्ठ तादृशक्रियावान् होगा नहीं विहग ही वैसा होगा तथा उस क्रिया का आश्रयत्व विहग में विद्यमान है, अतः अबाधित है। अभिप्राय यह है कि जैसे **'मल्लो मल्लं गच्छति'** यह प्रयोग दोनों मल्लों में परस्पर संयोग जनक क्रिया न होने पर भी **'विहगो विहगं गच्छति'** ऐसा प्रयोग होना चाहिए यहाँ पर द्वितीय विहग शब्द भी प्रथमपदवाच्य विहग का ही वाचक है विहगान्तर का नहीं । **'मल्लो मल्लं गच्छति'** में भी आपको ऐसे ही भेद लेना पड़ता है, एकमल्लवृत्ति संयोगजनकक्रियावान् तो दोनों ही मल्ल हैं, अतः किसी भी मल्ल में उक्त क्रियावद् भेद नहीं मिल सकेगा। इसलिए मल्ल निष्ठ जो तादृश क्रिया, तादृशक्रियावान् का ही भेद लेना पड़ेगा, वही मल्लान्तरनिष्ठ होता है। इस प्रकार मल्लान्तरनिष्ठ भेद **'मल्लनिष्ठ तादृशक्रियावान् न '** यही होगा, इसकी प्रतियोगितावच्छेदकीभूत क्रिया का आश्रयत्व मल्ल में सम्भव होता है। इसी प्रकार जब दोनों में क्रिया नहीं हो रही उस स्थिति में **'विहगो विहगं गच्छति'** ऐसा प्रयोग सम्भव होगा।

**'विहगो विहगं गच्छति' इत्यादौ विहगादिप्रकृत्यर्थवृत्तिविशिष्टसंयोगस्य क्रियायां स्वजनकत्व, स्वाश्रयनिष्ठभेदप्रतियोगितावच्छेदकत्वोभयसम्बन्धेनान्वयोपगमात्, विहगनिष्ठक्रियायास्तद्विहगनिष्ठसंयोगजनकत्वेन तज्जनकतासम्बन्धेन तत्संयोगवत्त्वेऽपि विहगवृत्तित्वविशिष्टतत्संयोगाश्रयतद्विहगनिष्ठभेदप्रतियोगितावच्छेदकत्वाभावन्नोक्तोभयसम्बन्धेन विशिष्टसंयोगवत्त्वमित्यनतिप्रसङ्गात् ।**

**एवं सति परसमवेतत्वं सम्बन्धघटकमेव न तु द्वितीयार्थ इति चेत् ? का क्षतिः।**

तो ऐसा नहीं कहना चाहिए क्योंकि **'विहगो विहगं गच्छति'** इत्यादि स्थलों में विहगादिप्रकृति के अर्थ (विहगादि) वृत्तित्व विशिष्ट संयोग का क्रिया में स्वजनकत्व और स्वाश्रयनिष्ठभेदप्रतियोगितावच्छेदकत्व इन दोनों सम्बन्धों से अन्वय स्वीकार किया जाता है। विहगनिष्ठ क्रिया के तद्विहगनिष्ठसंयोगजनक होने के कारण तज्जनकत्व सम्बन्ध से संयोग का अन्वय तो क्रिया में सम्भव है, किन्तु विहगवृत्तित्वविशिष्टतत्संयोगाश्रयतद्विहगनिष्ठ भेदप्रतियोगितावच्छेदकत्व का क्रिया में अभाव होने के कारण दूसरे सम्बन्ध से संयोग का अन्वय सम्भव न होने के कारण दोनों सम्बन्धों से विशिष्ट संयोगवत्त्व क्रिया में नहीं है, इसलिए अतिप्रसङ्ग नहीं है।

किन्तु ऐसा होने पर तो परसमवेतत्व सम्बन्ध घटक ही होगा, द्वितीया का अर्थ नहीं होगा? न हो क्या नुकसान है?

इस ग्रन्थ से गदाधर सिद्धान्तपक्षीय समाधान दे रहे हैं और परसमवेतत्व को द्वितीया का अर्थ नहीं मानकर सम्बन्धघटकत्वेन उसका प्रवेश कर रहे हैं । कहना यह है कि गम् आदि धातु का अर्थ संयोगावच्छिन्नक्रिया ही तो है। अवच्छिन्न का अर्थ विशिष्ट होता है। गम्

आदि धातुओं के प्रयोग के स्थल में फल (संयोगादि) से विशिष्टव्यापार को जो आप पकड़ते हैं, उसमें संयोगादि फलों का व्यापार में केवल जनकत्वसम्बन्ध से वैशिष्ट्य न लेकर स्वजनकत्व, स्वाश्रयनिष्ठभेदप्रतियोगितावच्छेदकत्व इन दो सम्बन्धों से वैशिष्ट्य लेना चाहिए।

**'भूमिं प्रयाति विहगः'** यहाँ पर ग्रामरूपप्रकृति के अर्थ ग्राम निरूपितवृत्तित्व से विशिष्ट संयोग का गमन क्रिया में दोनों सम्बन्धों से वैशिष्ट्य विद्यमान है क्योंकि संयोगजनकत्व भी गमनक्रिया में है और संयोगाश्रय भूमिनिष्ठ **'संयोगजनकगमनक्रियावान् न'** जो यह भेद, इस भेद का प्रतियोगितावच्छेदक संयोगजनकगमनक्रिया ही है। इस प्रकार उक्त दोनों ही सम्बन्धों से क्रिया में ग्रामवृत्तिसंयोग का वैशिष्ट्य है। इसलिए तादृशव्यापारविषयक शाब्दबोध यहाँ पर होता है। इस वाक्य प्रयोग का प्रामाण्य होता है। **'विहगो विहगं गच्छति'** इस प्रयोग की भी आपत्ति नहीं है क्योंकि विहगनिष्ठ गमनक्रिया विहगनिष्ठ भूमिसंयोगजनकक्रिया तो है इसलिए उस विहगनिष्ठ गमनक्रिया में स्वजनकत्वरूप प्रथमसम्बन्ध से विहगनिष्ठभूमिसंयोग का जनकत्व तो है, किन्तु विहगवृत्तित्वविशिष्ट जो तत् संयोग उसका आश्रय जो तद्विहग उसमें रहने वाले भेद का प्रतियोगितावच्छेदकत्व विहगनिष्ठगमनक्रिया में नहीं है। क्योंकि तद्विहग तो भूमिसंयोगजनकविहगनिष्ठ क्रियाश्रय ही है, उसमें उक्तक्रियावान् का भेद नहीं प्राप्त हो सकता है । अभी तक तो विहग करके विहगान्तर को पकड़ लेते थे जो कि तद्भूमिसंयोग का आश्रय नहीं होता है और उसमें उक्त भेद ले लिया करते थे। संयोगरूप फल का दो बार भान होने के लिए कोई नियामक तो था नहीं। अब जैसा कह रहे हैं उसके अनुसार विहगान्तर को नहीं पकड़ सकते हैं क्योंकि वह भूमिनिष्ठ संयोगजनकतत्संयोग का आश्रय नहीं है। विहग को पकड़ सकते हैं उसमें तादृश क्रियावान् का भेद नहीं मिलेगा। **'मल्लो मल्लं गच्छति'** प्रयोग तो हो सकता है क्योंकि संयोग (द्वितीयामल्लनिष्ठ संयोग) का जनकत्व भी प्रथममल्लनिष्ठ क्रिया में है और संयोगाश्रय (द्वितीय मल्ल) निष्ठभेद-प्रतियोगितावच्छेदकत्व भी है क्योंकि द्वितीय मल्ल तो प्रथममल्लवृत्तिक्रियावान् नहीं ही होगा, इसलिए उसमें तादृशक्रियावान् का भेद मिल जायेगा। **'विहगो विहगं गच्छति'** की तरह यदि द्वितीय मल्लपद प्रथममल्लपद से वाच्य व्यक्ति विशेष का ही वाचक हो तब तो **'मल्लो मल्लं गच्छति'** यह प्रयोग भी नहीं हो सकता है । द्वितीयमल्लपद के मल्लान्तर का वाचक होने पर ही हो सकता है। क्योंकि दोनों मल्लपदों से यदि एक ही मल्लवाच्य है तो उस मल्ल में रहनेवाले संयोग का जनकत्व तो उस मल्ल में रहनेवाली क्रिया में है किन्तु उस संयोग के आश्रयीभूत (उसीमल्ल) में रहनेवाले भेद का प्रतियोगितावच्छेदकत्व उक्त क्रिया में नहीं है क्योंकि वह मल्ल तो तादृशक्रियावान् ही है, तादृशक्रियावान् का भेद उसमें नहीं मिल सकता है।

**'विहगो विहगेन गम्यते' इत्यादावपि स्वजन्यत्व स्वावच्छिन्नभेदसामानाधिकरण्योभयसम्बन्धेन क्रियायाः संयोगेऽन्वय इष्यते तत्तत्क्रियावच्छिन्नभेदवति भूम्यादावेव तादृशभेदसामानाधिकरण्यसम्बन्धेन तादृशक्रियाविशिष्टसंयोगादिमत्त्वोपगमात् तत्र तत्क्रियाश्रयविहगे तद्बाधेन नातिप्रसङ्ग इति ध्येयम्।**

उपर्युक्त ग्रन्थ के द्वारा फलविशिष्टव्यापार में जो धातु की शक्ति होती है उसी में गम्

आदि धातुओं के स्थल में फल व्यापार में स्वजनकत्व और स्वाश्रयनिष्ठभेदप्रतियोगितावच्छेदकत्व इन दोनों सम्बन्धों से वैशिष्ट्य लेना चाहिए यह बतलाया। किन्तु कर्माख्यात स्थल में क्या होगा? वहाँ पर तो विशेष्यविशेषणभाव का व्यत्यास होकर फलविशेष्यकबोध हुआ करता है उसमें व्यापार विशेषण होता है। इसी प्रश्न का समाधान गदाधर इस ग्रन्थ से कर रहे हैं कि—

'**विहगो विहगेन गम्यते**' इत्यादि स्थलों में भी स्वजन्यत्व, स्वावच्छिन्न भेदसामानाधिकरण्य इन दोनों सम्बन्धों से क्रिया का संयोग में (व्यापार का फल में) अन्वय इष्ट होता है। तत्तत् क्रियावच्छिन्न भेदवाले भूमि आदि में ही तादृशभेदसामानाधिकरण्य सम्बन्ध से तत्तक्रियाविशिष्टसंयोगादिमत्त्व स्वीकारा जाता है, इसलिए उस क्रिया के आश्रयभूत विहग में उसका बाध होने के कारण उक्त प्रयोग का प्रसङ्ग नहीं है।

भाव यह है कि जब संयोग में क्रिया का स्वजन्यत्व, स्वावच्छिन्नभेदसामानाधिकरण्य उभयसम्बन्ध से वैशिष्ट्य प्रवेश करेंगे तो '**भूमिर्विहगेन गम्यते**' इत्यादि प्रयोग तो होंगे क्योंकि विहगनिष्ठ क्रिया से जन्यत्व भी भूमिनिष्ठसंयोग में है और विहगनिष्ठ क्रिया से अवच्छिन्नप्रतियोगिताक भेद '**विहगनिष्ठक्रियावान् न**' इस भेद का सामानाधिकरण्य भी है क्योंकि इस भेद का अधिकरण भूमि है और उसी में वृत्ति है संयोग। इस प्रकार उभय सम्बन्ध से क्रियाविशिष्टसंयोग भूमि में है। अतः यह प्रयोग होता है। '**विहगो विहगेन गम्यते**' इस प्रकार का प्रयोग नहीं हो सकता है। (यहाँ पर दोनों ही विहगपद एक ही विहग के वाचक हैं, अलग-अलग विहगों का वाचक होने पर और विहग द्वारा विहगान्तर का अनुधावन होने पर तो प्रयोग होता ही है) क्योंकि विहगनिष्ठ क्रियाजन्यत्व तो उसी विहग में वृत्ति भूमिसंयोग में है किन्तु विहगनिष्ठतादृशक्रियावच्छिन्न भेद का सामानाधिकरण्य उस विहगवृत्ति भूमि संयोग में नहीं है। इसका कारण यह है कि विहग तो तादृशक्रियावान् ही है उसमें तादृशक्रियावान् के भेद का बाध ही है। इन दोनों सम्बन्धों से क्रिया का वैशिष्ट्य संयोग में नहीं आ सकेगा।

**ज्ञानादिरूपसविषयकवस्त्वभिधायकधातुसमभिव्याहृतद्वितीयायाः प्राचीनमते निरूपकतासम्बन्धेन धात्वर्थान्वयिविषयत्वमर्थः, तत्र च प्रकृत्यर्थस्याधेयतासम्बन्धेनान्वयः।**

**वृत्त्यनियामकसम्बन्धस्याभावप्रतियोगितानवच्छेदकतया 'घटं जानाति पटं न' इत्यादावनुपपत्तेस्तत्र विषयित्वार्थकत्वमेव नवीना उपवर्णयन्ति। तत्र च प्रकृत्यर्थस्य निरूपितत्वसम्बन्धेन तस्य च धात्वर्थे आश्रयतासम्बन्धेनान्वयः घटादिनिष्ठं ज्ञानादिकर्मत्वञ्च ज्ञानादिविषयित्वमेव, विषयित्वादौ च द्वितीयाया लक्षणैव न तु शक्तिरिति साम्प्रदायिकाः।**

ज्ञानादिरूपसविषयक वस्तुओं की अभिधायक धातुओं से समभिव्याहृतद्वितीया का प्राचीनों के मत में निरूपकता सम्बन्ध से ज्ञान से अन्वित होने वाली विषयता अर्थ है, उसमें प्रकत्यर्थ का आधेयतासम्बन्ध से अन्वय होता है। मतलब यह है कि ज्ञानाद्यर्थक धातुओं से समभिव्याहृत द्वितीया का अर्थ विषयत्व होता है और उसमें प्रकृत्यर्थ का आधेयत्व (वृत्तित्व) सम्बन्ध से और विषयत्व का धात्वर्थ ज्ञानादि में निरूपकत्व सम्बन्ध से अन्वय होता है। इस

तरह **'घटं जानाति चैत्रः'** से **'घटवृत्तिविषयतानिरूपकज्ञानाश्रयश्चैत्रः'** 'घट में रहनेवाली विषयता के निरूपक ज्ञान का आश्रय चैत्र है ऐसा शाब्दबोध होता है।

वृत्त्यनियामकसम्बन्ध के अभावप्रतियोगिता का अनवच्छेदक होने के कारण **'घटं जानाति पटं न'** त्यादि स्थलों में अनुपपत्ति होगी, इसलिए नवीन द्वितीया की विषयित्वार्थकता है ऐसा उपवर्णन करते हैं। **'घटं जानाति पटं न'** इत्यादि स्थलों में अनुपपत्ति का आशय शाब्दबोधानुपपत्ति से है। वह इसलिए है क्योंकि नियम है कि 'नञ् के न रहने पर जिसमें जिस सम्बन्ध से यद्वत्ता प्रतीत होती है, नञ् के रहने पर उसमें उस सम्बन्ध से अवच्छिन्न प्रतियोगिताकाभाववत्ता प्रतीत होती है' यह पूर्व में कई स्थलों में व्याख्यायित किया जा चुका है। **'घटं जानाति'** इत्यादि स्थलों में घट का आधेयता सम्बन्ध से विषयता में अन्वय किया जाता है (आधेयतासम्बन्धेन घटवत्ता प्रतीत होती है) और विषयता का निरूपकत्वसम्बन्ध से ज्ञान में अन्वय किया जाता है। इसलिए या तो आधेयतासम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकघटाद्यभाव का विषयता में अवगाहन नञ् समभिव्याहृतस्थल में किया जाये या तो निरूपकतासम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकविषयत्वाभाव का अवगाहन किया जाये यही हो सकता है। किन्तु मुश्किल यह है कि दोनों अभाव अप्रसिद्ध है क्योंकि वृत्त्यनियामकसम्बन्ध अभावीयप्रतियोगितावच्छेदक नहीं होता है, अतः आधेयत्व व निरूपकत्वरूप वृत्त्यनियामक सम्बन्धों से अवच्छिन्नप्रतियोगिता ही अप्रसिद्ध है।

इसलिए नवीन द्वितीया का अर्थ विषयिता मानते हैं उसमें प्रकृत्यर्थ का निरूपितत्व सम्बन्ध से अन्वय करते हैं तथा उस विषयिता का आश्रयत्व सम्बन्ध से ज्ञानादिरूप धात्वर्थ में अन्वय करते हैं। घटादि में रहनेवाली ज्ञानादिकर्मता ज्ञानादिविषयित्व (ज्ञानादि विषयिता निरूपकत्व )ही है। साम्प्रदायिक तो द्वितीया की शक्ति विषयित्वादि में नहीं मानते हैं बल्कि वे द्वितीया की उसमें लक्षणा करते हैं। इस मत (नवीन व साम्प्रदायिक) में **'घटं जानाति'** इत्यादि स्थलों में **'घटनिरूपितविषयित्वाश्रयज्ञानाश्रयश्चैत्रादिः'** 'घटनिरूपितविषयिता के आश्रय ज्ञान के आश्रय चैत्रादि हैं' ऐसा ही बोध होता है। **'घटं जानाति पटं न '** से **'आश्रयत्वसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकघटनिरूपितविषयित्वाभाववद् अथ च घट निरूपितविषयित्वाश्रयं यज्ज्ञानं तदाश्रयश्चैत्रादिः'** 'आश्रयत्वसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकपटनिरूपितविषयित्वाभाववद् और घटनिरूपितविषयित्व का आश्रय जो ज्ञान उसका आश्रय चैत्रादि है' ऐसा शाब्दबोध होता है।

**वस्तुतस्तु विषयितात्वस्य संयोगत्वाद्यपेक्षयाऽऽधेयत्वत्वाद्यपेक्षया चागुरुतया किंधर्मावच्छिन्ने शक्तिः कल्प्यते ? इत्यत्र विनिगमकं दुर्लभम् । एकस्मिन् प्रयोग भूयस्त्वमप्यशक्यनिर्णयमिति तत्रापि शक्तिः सिद्ध्यतीत्यवधेयम्।**

वस्तुतः तो विषयितात्व के संयोगत्वादि की अपेक्षा और आधेयत्वादि की अपेक्षा गुरुभूत न होने के कारण (विषयितात्व भी संयोगत्वादिवत् अखण्डधर्म ही है गुरुभूत नहीं है। अतः)किंधर्मावच्छिन्न में शक्ति कल्पित की जाये ? इसमें विनिगमक मिलना दुर्लभ है। आप (साम्प्रदायिक) आधेयत्वत्व, संयोगत्व आदि से अवच्छिन्न में तो द्वितीया की शक्ति स्वीकारते हैं, विषयितात्व से अवच्छिन्न में नहीं, इसमें विनिगमक क्या है, यह आप नहीं बता सकते हैं। एक में ज्यादा प्रयोग है एक में कम प्रयोग है इसका भी निर्णय करना शक्य नहीं है। इसलिए जैसे आधेयत्व, संयोग आदि में द्वितीया की शक्ति ही है वैसे ही विषयिता

में भी द्वितीया की शक्ति ही स्वीकारनी पड़ेगी।

विमर्शः—यहाँ पर वस्तुतः करके गदाधर ने अपना सिद्धान्त दिया है। गदाधर ने अपने मत का उपपादन तो पूर्व में कर दिया है जब उन्होनें कहा कि वृत्त्यनियामक सम्बन्ध को बगैर अभावप्रतियोगितावच्छेदक माने निस्तार नहीं हो सकता है जब वृत्त्यनियामक सम्बन्ध को अभावीय प्रतियोगितावच्छेदक मान लिया जायेगा तो द्वितीया की शक्ति विषयता में मानने में भी कोई क्षति नहीं है।

**'चैत्रेण ज्ञायते घटः' इत्यादौ कर्माख्यातस्थले आख्यातेन घटादौ धात्वर्थनिरूपितविषयत्वं बोध्यते।**

**'चैत्रेण ज्ञायते घटः'** इत्यादि कर्माख्यातस्थलों में आख्यात के द्वारा घटादि में धात्वर्थनिरूपितविषयत्व बोधित होता है। इस प्रकार **'चैत्रवृत्तिज्ञानविषयताश्रयो घटः'** 'चैत्रवृत्तिज्ञान की विषयता का आश्रय घट है' ऐसा शाब्दबोध होता है।

**चाक्षुषत्वाद्यवच्छिन्नवाचकदृश्यादिसमभिव्याहृतद्वितीयाया लौकिकविषयित्वं तादृशकर्माख्यातस्य लौकिकविषयत्वमर्थःउपनीतसौरभादिविषयक सुरभिचन्दनमित्याद्याकारकचाक्षुषादिदशायां 'सौरभं पश्यति' इति 'सौरभं दृश्यते' इत्याद्यप्रयोगात् ।**

चाक्षुषत्वादि से अवच्छिन्न के वाचक दृशि आदि धातुओं से समभिव्याहृत द्वितीया का अर्थ लौकिकविषयित्व (विषयित्व मात्र नहीं )तथा दृशि आदि धातुसमभिव्याहृत कर्माख्यात का लौकिकविषयत्व अर्थ है क्योंकि उपनीत सौरभादि विषयक **'सुरभिचन्दनम् '** इत्याद्याकारक चाक्षुषप्रत्यक्ष की दशा में **'सौरभं पश्यति'** और **'सौरभं दृश्यते'** ऐसा प्रयोग नहीं हुआ करता है।

अभिप्राय यह है कि चन्दन को चक्षुरिन्द्रिय से देखता हुआ व्यक्ति उस चन्दन की सुगन्ध को घ्राणेन्द्रिय से ग्रहण न करता हुआ भी ज्ञानलक्षणाप्रत्यासत्तिरूप अलौकिक सन्निकर्ष के द्वारा चन्दन के सौरभ को भी चक्षु से ही ग्रहण कर लेता है। तथा उस व्यक्ति को **'सुरभिचन्दनम्'** 'चन्दन सुरभि है' ऐसा चाक्षुष प्रत्यक्ष होता है। किन्तु इस चाक्षुषप्रत्यक्ष की लौकिकसन्निकर्षप्रयोज्य लौकिकविषयता चन्दन व चन्दन निरूपित लौकिकविषयिता ज्ञान में है। सौरभ में भी इस चाक्षुषप्रत्यक्ष की विषयता है परन्तु वह लौकिकविषयता नहीं है बल्कि अलौकिक ज्ञानलक्षणासन्निकर्ष से प्रयोज्य अलौकिक विषयता है। इस प्रकार के चाक्षुष प्रत्यक्ष के काल में **'चन्दनं पश्यति' 'चन्दनं दृश्यते'** इत्यादि प्रयोग नहीं हुआ करते हैं। यद्यपि चन्दन और सौरभ दोनों में ही **'सुरभि चन्दनम्'** इस चाक्षुषप्रत्यक्ष की विषयता तथा इस प्रत्यक्ष में चन्दन व सौरभनिरूपित विषयिता समान है। इसलिए गदाधर कह रहे हैं कि चाक्षुषत्वादि से अवच्छिन्न के वाचक दृश् आदि धातुओं से समभिव्याहृत द्वितीया का अर्थ लौकिकविषयित्व है तथा कर्माख्यातस्थल में कर्माख्यात का अर्थ लौकिकविषयता है। चूँकि चन्दननिरूपित ही लौकिकविषयिता **'सुरभि चन्दनम् '** ज्ञान में है न कि सौरभ निरूपित । इसलिए **'चन्दनं पश्यति'** की तरह **'सौरभं पश्यति'** प्रयोग नहीं होता है। इसी प्रकार चूँकि चन्दन में ही उक्त ज्ञानीयलौकिकविषयता है सौरभ में नहीं है, अतः **'चन्दनं दृश्यते'** की तरह **'सौरभं दृश्यते'** प्रयोग नहीं होता है। **'चन्दनं पश्यति'** से

**'चन्दननिरूपितलौकिकविषयिताशालिचाक्षुषप्रत्यक्षाश्रयः'** 'चन्दन निरूपितलौकिक-विषयिताशाली चाक्षुषप्रत्यक्ष का आश्रय है' ऐसा और **'चन्दनं दृश्यते'** से **'चाक्षुषप्रत्यक्षनिरूपितलौकिकविषयताश्रयं चन्दनम्'** 'चाक्षुष प्रत्यक्ष निरूपित लौकिकविषयता का आश्रय चन्दन हैं' ऐसा शाब्दबोध होता है। यदि **'सौरभं पश्यति'** प्रयोग किया जाये तो सौरभनिरूपित द्वितीया के अर्थ लौकिकविषयिता को अन्वय चाक्षुषप्रत्यक्ष में सम्भव नहीं है क्योंकि सौरभनिरूपितलौकिकविषयिता चाक्षुष प्रत्यक्ष में नहीं है बल्कि अलौकिकविषयिता है। इसलिए योग्यता नहीं होने से यह वाक्य अप्रमाण होता है और इसका प्रयोग नहीं होता है। **'सौरभं दृश्यते'** प्रयोग किया जाये तो धात्वर्थ चाक्षुषप्रत्यक्ष से निरूपित कर्माख्यात के अर्थ लौकिकविषयता का सौरभ में आश्रयत्वसम्बन्ध से अन्वय सम्भव नहीं होता है क्योंकि सौरभ में अलौकिकविषयता है, लौकिकविषयता नहीं। इसलिए सौरभ में चाक्षुषप्रत्यक्षनिरूपित लौकिकविषयताश्रयत्व का बाध होने के कारण जो कि इस वाक्य से बोध्य हो सकता है, इस वाक्य का अप्रामाण्य होता है। तथा ऐसा प्रयोग नहीं होता है।

**अथैवम् 'पुष्पं जिघ्रति' इत्यादिप्रयोगानुपपत्तिः—घ्राणजप्रत्यक्षस्य पुष्पाद्यंशे लौकिकत्वविरहात् तादृशधातुयोगे विषयित्वादिसामान्यस्य कर्मप्रत्ययार्थत्वे गन्धसाक्षात्कारे उपनयमर्यादयाऽऽकाशादिभाने 'आकाशं जिघ्रति' इति प्रयोगप्रसङ्गेन तत्रापि लौकिकविषयिताया एव कर्मप्रत्ययार्थतयोपगन्तव्यत्वात्।**

इस प्रकार से **'सौरभं पश्यति' 'सौरभं दृश्यते'** इत्यादि प्रयोगों का वारण करने पर **'पुष्पं जिघ्रति'** इस प्रयोग की अनुपपत्ति है क्योंकि घ्राणज प्रत्यक्ष भी पुष्पादि अंश में लौकिक नहीं है। घ्राणज प्रत्यक्षवाचक धातु का योग होने पर विषयित्वादि सामान्य को कर्मप्रत्यय का अर्थ मानने पर गन्धसाक्षात्कार में उपनयमर्यादा से आकाशादि का भान होने की स्थिति में **'आकाशं जिघ्रति'** इस प्रयोग की आपत्ति आयेगी इसलिए वहाँ पर भी लौकिक विषयिता को ही कर्म प्रत्यय का अर्थ मानना पड़ेगा।

यहाँ पर गदाधर जो प्रश्न उठा रहे हैं, उसका आशय यह है कि जैसे **'सुरभि चन्दनम्'** इत्यादि चाक्षुषप्रत्यक्ष का विषय होने पर भी **'सौरभं पश्यति'** इत्यादि प्रयोग नहीं होते हैं, इसलिए चाक्षुषप्रत्यक्षवाचक धातु का योग होने पर द्वितीया का अर्थ लौकिक विषयिता करना पड़ता है। उसी प्रकार घ्राणजादिप्रत्यक्षवाचक धातुओं का योग होने पर भी द्वितीया का अर्थ लौकिकविषयिता ही करना पड़ेगा। यदि विषयितामात्र को द्वितीया का अर्थ मानें तो चूँकि गन्ध के साक्षात्कार में आकाश का ज्ञानलक्षणाप्रत्यासत्ति के द्वारा भान हो सकता है। **'अत्राकाशे गन्धः'** इत्यादि गन्धघ्राणजप्रत्यक्ष में आकाश ज्ञानलक्षणाप्रत्यासत्ति से भास रहा है। इसलिए **'आकाशं जिघ्रति'** प्रयोग होने लगेगा। इस वाक्य से विषयतामात्र की द्वितीयार्थकता होने पर **'आकाशनिरूपितविषयिताशालिघ्राणजप्रत्यक्षाश्रयश्चैत्रादिः'** 'आकाशनिरूपितविषयिताशालिघ्राणजप्रत्यक्ष के आश्रय चैत्रादि हैं' यही शाब्दबोध अपेक्षित होगा वह तो अबाधित ही है क्योंकि जो घ्राणज प्रत्यक्ष **'अत्राकाशे गन्धः'** इत्याद्याकारक चैत्रादि को हो रहा है वह आकाशनिरूपित विषयिताशालि है ही। अतः यहाँ पर भी लौकिक विषयिता को ही द्वितीया का अर्थ मानना पड़ेगा चूँकि आकाशनिरूपित लौकिकविषयिताशाली उक्तघ्राणजप्रत्यक्ष नहीं है। अतः बाधितार्थ को विषय करने के कारण

**'आकाशं जिघ्रति'** प्रयोग नहीं होगा किन्तु **'पुष्पं जिघ्रति'** इस प्रयोग की अनुपपत्ति होगी क्योंकि **'अत्र पुष्पे गन्ध'** से गन्धघ्राणजप्रत्यक्ष में पुष्प निरूपित विषयिता है, वह लौकिकविषयिता नहीं है। अलौकिकज्ञानलक्षणासन्निकर्षप्रयोज्य अलौकिकविषयिता है। क्योंकि पुष्प का घ्राणेन्द्रिय से लौकिक सन्निकर्ष द्वारा प्रत्यक्ष नहीं हो सकता है, घ्राणेन्द्रिय की पुष्पग्रहण में सामर्थ्य ही नहीं है। इस प्रकार पुष्पनिरूपित लौकिकविषयिताशालित्व रूप बाधित अर्थ का घ्राणज प्रत्यक्ष में अवगाहन करने के कारण **'आकाशं जिघ्रति'** के समान **'पुष्पं जिघ्रति'** प्रयोग भी नहीं होना चाहिए। यह प्रयोग भी अनुपपन्न है।

**इति चेत् ?**

**न, घ्राधातोर्हि गन्धलौकिकप्रत्यक्षत्वं शक्यतावच्छेदकम् –'घ्रा गन्धोपादाने' इत्यनुशासनात् , तत्समभिव्याहृतद्वितीयायाश्चाधेयत्वमेवार्थस्तस्य च व्युत्पत्ति-वैचित्र्येण गन्धादिरूपधात्वर्थैकदेशेनान्वयः। एवं च 'पुष्पं जिघ्रति' इत्यादितः पुष्पवृत्तिगन्धलौकिकप्रत्यक्षाश्रयतावानित्याकारक एव शाब्दबोधो न तु पुष्प-निरूपितलौकिकविषयिताशालिप्रत्यक्षाश्रय इत्याकारक इति नानुपपत्तिः।**

ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि (घ्रा धातु का अर्थ घ्राणज प्रत्यक्ष नहीं होता है बल्कि गन्धलौकिकप्रत्यक्ष अर्थ होता है इस प्रकार) घ्रा धातु का शक्यतावच्छेदक गन्ध लौकिकप्रत्यक्षत्व होता है, अनुशासन है **'घ्रा गन्धोपादाने'** 'घ्रा धातु गन्ध ग्रहण के अर्थ में है' इस प्रकार घ्रा धातु से गन्धलौकिक प्रत्यक्ष की ही उपस्थिति हुआ करती है। तथा घ्राधातु से समभिव्याहृत द्वितीया का अर्थ आधेयत्व ही है और उस आधेयत्व का व्युत्पत्ति के वैचित्र्य से गन्धादिरूपधात्वर्थैकदेश में अन्वय हुआ करता है। यद्यपि अन्यत्र पदार्थ का पदार्थ से ही अन्वय होता है किन्तु यहाँ पर द्वितीया का अर्थ आधेयत्व धात्वर्थैकदेश में अन्वित होता है। इस प्रकार **'पुष्पं जिघ्रति'** यहाँ पर पुष्प से पुष्प की, द्वितीया से आधेयत्व की, घ्राधातु से गन्धलौकिकप्रत्यक्ष की तथा आख्यात से आश्रयता की उपस्थिति होकर तथा पुष्प का निरूपितत्व सम्बन्ध से आधेयत्व में, आधेयत्व का गन्ध में, गन्धलौकिक प्रत्यक्ष का निरूपितत्वसम्बन्ध से आश्रयता में अन्वय होकर **'पुष्पनिरूपितवृत्तित्वाश्रय-गन्धलौकिकप्रत्यक्षाश्रयतावान् '** ऐसा शाब्दबोध होता है। पूर्वोक्त **'पुष्पनिरूपित-लौकिकविषयिताश्रयप्रत्यक्षाश्रयः'** इस प्रकार का शाब्दबोध नहीं होता है जिससे कि कोई अनुपपत्ति हो। **'आकाशं पश्यति'** प्रयोग इसलिए नहीं होता है कि इससे बोध्य 'गन्ध में आकाश निरूपितवृत्तित्वाश्रयत्व' का बाध है।

**न चैवं सविषयार्थबोधकधातुसमभिव्याहृतकर्मप्रत्ययस्य विषयितार्थकत्व नियमभङ्गप्रसङ्ग इति वाच्यम् , विषयानवच्छिन्नतादृशवस्त्वभिधायकधातु-समभिव्याहृतकर्मप्रत्ययस्यैव तदर्थकत्वनियमात् , अस्य च गन्धात्मकविषया-वच्छिन्नप्रत्यक्षवाचकतया तादृशनियमस्याबाधितत्वात् ।**

यदि कहो कि इस प्रकार से तो सविषयार्थबोधकधातुसमभिव्याहृत कर्म प्रत्यय के विषयितार्थकत्व के नियम का भङ्ग हो जायेगा। भाव यह है कि पूर्व में पृ० 284 पर कहा जा चुका है कि सविषयकज्ञानादि वस्त्वभिधायक धातुओं से समभिव्याहृत द्वितीया का अर्थ विषयिता हुआ करता है। यहाँ पर जो घ्राधातु है वह प्रत्यक्षात्मकज्ञान की ही अभिधायक है।

इसलिए उससे समभिव्याहृत द्वितीया का अर्थ विषयिता ही होना चाहिए। किन्तु यहाँ पर आप द्वितीया का अर्थ आधेयत्व मान रहे हैं। इस प्रकार तो उक्त नियम का भङ्ग हो रहा है।

तो ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि विषयानवच्छिन्नवस्तु की अभिधायक धातु से समभिव्याहृत कर्मप्रत्यय (द्वितीया) का ही विषयिता अर्थ होने का नियम है। दृश् आदि धातुओं के द्वारा तो चाक्षुषप्रत्यक्ष का ही बोधन होता है, किसी विषय से अवच्छिन्न चाक्षुष प्रत्यक्ष का बोधन नहीं होता है। इसलिए वहाँ पर द्वितीया का अर्थ विषयिता होता है। घ्रा धातु तो गन्धात्मक विषय से अवच्छिन्न प्रत्यक्ष का वाचक है 'गन्धलौकिकप्रत्यक्ष' का वाचक है। इसलिए यहाँ पर द्वितीया की आधेयतार्थकता होने पर भी नियम का भङ्ग नहीं होता है। यदि घ्रा धातु केवल घ्राणजप्रत्यक्षवाचक होती तो द्वितीया का अर्थ विषयिता न मानने पर नियम का भङ्ग होता । यहाँ वैसा तो है नहीं।

**न च घ्राधातुसमभिव्याहृतद्वितीयाया गन्धान्विताधेयत्वार्थकत्वे 'आमोदमुप जिघ्रति' इत्यादेरनुपपत्तिः–गन्धविशेषरूपामोदपदार्थाधेयत्वस्य गन्धे बाधादिति वाच्यम् , विषयावच्छिन्नप्रत्यक्षार्थकघ्राधातुसमभिव्याहृतद्वितीयाया एवाधेयतार्थकत्वनियमात्, तत्र विषयानवच्छिन्नस्यैव प्रत्यक्षविशेषस्य लक्षणया घ्राधात्वर्थतोपगमेन विषयिताया एव तदर्थत्वात् ।**

यदि कहो कि घ्राधातु से समभिव्याहृत द्वितीया का अर्थ धात्वर्थैकदेश गन्ध में अन्वित होने वाला आधेयत्व अर्थ किया जायेगा तब तो **'आमोदमुपजिघ्रति'** इत्यादि वाक्यों से अन्वयबोध अनुपपन्न होने के कारण इन वाक्यों के प्रयोग की अनुपपत्ति होगी, क्योंकि धातु से गन्धलौकिकप्रत्यक्ष की, आमोद से आमोद की, आमोदपदोत्तर द्वितीया से आधेयत्व की उपस्थिति होगी। किन्तु गन्धविशेषरूप ही है आमोद पदार्थ, इसलिए आमोदनिरूपित आधेयत्व का गन्ध में अन्वय बाधित होगा। जिस प्रकार गन्ध पुष्पादिवृत्ति होता है उस प्रकार आमोद वृत्ति तो गन्ध हो नहीं सकता है क्योंकि गन्धविशेष ही आमोद होने से आमोदवृत्तिगन्ध नहीं होगा।

तो ऐसा नहीं कहना चाहिए क्योंकि विषयावच्छिन्नप्रत्यक्षार्थक घ्राधातु से ही समभिव्याहृत द्वितीया का अर्थ आधेयत्व होता है सर्वत्र घ्राधातुसमभिव्याहृत द्वितीया का आधेयत्व अर्थ नहीं होता है। **'आमोदमुपजिघ्रति'** इत्यादि स्थलों में लक्षणा से घ्राधातु का अर्थ विषयावच्छिन्न प्रत्यक्षविशेष को ही माना जाता है, इसलिए विषयिता ही यहाँ पर द्वितीया का अर्थ होता है।

यह समाधान जो दिया जा रहा है इसके मूल में एक नियम है। नियम यह है कि— **'विशिष्टवाचकानां शब्दानां सति विशेषणवाचकपदसमवधाने विशेष्यमात्रपरत्वम्'** विशिष्टवाचकशब्द विशेषणवाचकपदों का समवधान होने पर विशेष्यमात्रपरक हो जाते हैं' इसीलिए रघुवंश में **'स कीचकैः मारुतपूर्णरन्ध्रैः' रघुवंश द्वितीयसर्ग** यह प्रयोग उपपन्न होता है, अन्यथा कीचक पद ही **'कीचकास्ते वेणवः स्युर्ये स्वनन्त्यनिलोद्धताः'** इस अमरकोषीयवाक्य के द्वारा कीचक पद के मारुतपूर्णरन्ध्रत्वविशिष्ट वेणु वाचक होने के कारण मारुतपूर्णरन्ध्र यह विशेषण देना अनुचित हो जाता और अन्वयबोध सम्भव नहीं होता । इस नियम के कारण मारुतपूर्णरन्ध्ररूपविशेषणवाचकपदसमवधान होने पर कीचकरूप

विशिष्टवाचकपद वेणुरूपविशेष्यमात्र का वाचक हो जाता है। इसी प्रकार यहाँ पर यद्यपि घ्राधातु गन्धावच्छिन्नलौकिकप्रत्यक्ष रूप विशिष्ट की वाचक है। परन्तु गन्ध रूप विशेषणवाचक आमोदपद का समवधान हो पर घ्राधातु घ्राणजलौकिकप्रत्यक्ष मात्र की बोधित होती है। तथा घ्राधातु के द्वारा गन्धानवच्छिन्नप्रत्यक्षविशेष का बोध लक्षणा के द्वारा ही होता है। पूर्व में यह बताया जा चुका है कि विषयानवच्छिन्न सविषयक ज्ञानाद्यभिधायकधातुसमभिव्याहृत द्वितीया का अर्थ आधेयत्व नहीं विषयित्व ही होता है। यहाँ पर घ्राधातु गन्धानवच्छिन्नप्रत्यक्ष का वाचक होता है (विषयानवच्छिन्न प्रत्यक्षात्मकज्ञान का वाचक है) इसलिए विषयिता ही द्वितीया का अर्थ है तथा यहाँ पर '**आमोदनिरूपितलौकिकविषयिताशालिप्रत्यक्षाश्रयः**' 'आमोदनिरूपितलौकिकविषयिताशालि प्रत्यक्ष का आश्रय है' ऐसा शाब्दबोध होता है।

**वस्तुतस्तु 'पुष्पं जिघ्रति' इत्यादौ समवायसम्बन्धावच्छिन्नाधेयत्व-संसर्गावच्छिन्नविषयितानिरूपितप्रकारतैव द्वितीयार्थः, तस्याश्च गन्धनिरूपित-लौकिकविषयिताशालिप्रत्यक्षात्मकधात्वर्थैकदेशे विषयितायां निरूपित-त्वसम्बन्धेनान्वयः, तेन 'इदानीन्तनपुष्पेषु गन्धः' इत्यादिप्रत्ययस्याधेयता-संसर्गेण कालादिप्रकारकत्वेऽपि तादृशप्रत्यक्षदशायां न 'कालं जिघ्रति' इत्यादि प्रयोगः—तादृशज्ञानीयगन्धादिविषयितायां कालादिप्रकारतानिरूपितत्वविरहात्। अत एव 'तदाननं मृत्सुरभि क्षितीश्वरो रहः समाघ्राय न तृप्तिमाययौ' इत्यादौ 'आघ्रातवान् गन्धवहं सुगन्धम्' इत्यादौ चोपाधिनिष्ठगन्धग्रहतात्पर्येणैव जिघ्रतेः प्रयोगात् तादृशगन्धे चाननगन्धवहादिवृत्तित्वस्य बाधेऽपि न क्षतिः—तादृशगन्धस्याननाद्यवृत्तित्वेऽपि 'आनने गन्धः' इत्याकारकबोधीयविषयिताया आननादिप्रकारतानिरूपितत्वेन वाक्यार्थाबाधात्। वाय्वानीतचम्पकगन्धस्य यत्र वाय्वादिवृत्तित्वेनैव ग्रहस्तत्र 'चम्पकं जिघ्रति' इत्यादिप्रयोगो नेष्यत एव।**

अभी तक के ग्रन्थ से यही सिद्धान्तित हुआ कि सामान्यतः घ्रा धातु का अर्थ गन्ध लौकिक प्रत्यक्ष है तथा गन्धलौकिकप्रत्यक्षवाचक घ्राधातु से समभिव्याहृत द्वितीया का अर्थ आधेयत्व (वृत्तित्व) है। किन्तु द्वितीया को सामान्यतः आधेयत्वार्थक मानने में समस्या यह है कि '**कालं जिघ्रति**' यह प्रयोग भी होने लगेगा, जैसे '**पुष्पं जिघ्रति**' यह प्रयोग होता है। पुष्पनिरूपितवृत्तित्व गन्ध में विद्यमान है, अबाधित है क्योंकि पुष्प में समवाय सम्बन्ध से गन्धरूप गुण विद्यमान है, गुण और गुणी का समवाय सम्बन्ध होने के कारण पुष्प (गुणी) में गन्ध (गुण) समवाय सम्बन्ध से रहेगा ही। इस प्रकार '**पुष्पं जिघ्रति**' वाक्यजन्य शाब्दबोध के '**पुष्पवृत्तिगन्धलौकिकप्रत्यक्षाश्रय**' रूप अबाधितविषयक होने के कारण ऐसा वाक्य प्रयोग होता है। उसी प्रकार काल के जगदाधारक होने के कारण[1] कालनिरूपितवृत्तित्व भी गन्ध में विद्यमान है, अबाधित है क्योंकि काल में कालिक सम्बन्ध से गन्ध विद्यमान हो होगा। इस प्रकार '**कालं जिघ्रति**' वाक्यजन्य शाब्दबोध के भी '**कालवृत्तिगन्धलौकिकप्रत्यक्षाश्रय**' रूप अबाधितविषयक होने के कारण यह प्रयोग भी होने की आपत्ति आयेगी। वाक्यघटक समस्तद्वितीयादि से उपस्थाप्य अर्थों के

---

टिप्पणी-1-जन्यानां जनकः कालो जगतामाश्रयो मतः।। कारिकावली

अन्वयबोध की योग्यता तो विद्यमान है ही। इसका वारण करने के लिए यदि कहा जाये कि समवायसम्बन्धावच्छिन्नाधेयत्व द्वितीया का अर्थ है तो कालनिरूपित समवायसम्बन्धावच्छिन्नाधेयता का गन्ध में बाध है जो कि **'कालं जिघ्रति'** से बोधित होती है। इसलिए बाधितविषयक होने के कारण यह वाक्यप्रयोग नहीं होगा। किन्तु इसमें समस्या यह आयेगी कि **'गन्धवहं जिघ्रति'** इत्यादि प्रयोग नहीं हो सकेंगे (जो कि हुआ करते हैं) क्योंकि गन्धवह (वायु) निरूपित समवायसम्बन्धावच्छिन्नाधेयता गन्ध में बाधित है जिसका कि इस वाक्य से जन्य बोध के द्वारा अवगाहन हुआ करता है। इस प्रकार बाधित विषय का अवगाहन करने के कारण इस वाक्य का भी प्रयोग नहीं होना चाहिए। गन्ध में तो पृथिवीनिरूपित ही समवायसम्बन्धावच्छिन्नाधेयता का अन्वय हो सकता है क्योंकि गन्ध पृथिवी मात्र का गुण है[1]। इसलिए इस वाक्य का बाधित विषयकत्व सुस्पष्ट ही है। इन्हीं सारी बातों को दृष्टिगत रखते हुए गदाधर यहाँ पर द्वितीया के अर्थ का निर्वचन अन्य रीति से करते हैं कि—

वस्तुतः तो **'पुष्पं जिघ्रति'** इत्यादि स्थलों में समवायसम्बन्धावच्छिन्नाधेयत्व संसर्गावच्छिन्नविषयतानिरूपितप्रकारता ही द्वितीया का अर्थ है तथा उस प्रकारता का गन्धनिरूपितलौकिकविषयिताशालिप्रत्यक्षरूप धात्वर्थ के एकदेश विषयिता में निरूपितत्व सम्बन्ध से अन्वय हुआ करता है। इस कारण **'इदानींतनपुष्पे गन्धः'** इत्यादि प्रत्यय के आधेयतासंसर्ग से कालादिप्रकारक होने पर भी ऐसे प्रत्यक्ष की दशा में **'कालं जिघ्रति'** इत्यादि प्रयोग नहीं होते हैं क्योंकि तादृशज्ञानीयगन्धादिविषयिता में कालादिप्रकारकतानिरूपितत्व नहीं है। अभिप्राय यह है कि समवायसम्बन्धावच्छिन्नाधेयत्व संसर्गावच्छिन्नविषयितानिरूपितप्रकारता ही द्वितीया का अर्थ है। **'पुष्पे गन्धः'** ऐसा जो प्रत्यय होता है उसके द्वारा गन्ध में विशेष्यताख्या विषयता आती है और पुष्प प्रकार होता है उसमें प्रकारता आती है। पुष्प में गन्ध आधेय है किस सम्बन्ध से ? समवायसम्बन्ध से। इस कारण पुष्पनिरूपितसमवायसम्बन्धावच्छिन्ना आधेयता गन्ध में विद्यमान है। इस प्रत्यय के द्वारा समवायसम्बन्धावच्छिन्नाधेयता सम्बन्ध से पुष्प गन्ध में विशेषण होता है। इस प्रकार समवायसम्बन्धावच्छिन्नाधेयत्वसंसर्गावच्छिन्नगन्धनिष्ठविषयता (विशेष्यताख्या विषयता) से निरूपित प्रकारता पुष्प में विद्यमान है। जिसका कि **'पुष्पं जिघ्रति'** के द्वारा अवगाहन होता है। इसलिए ऐसा प्रयोग होता है। तथा इस प्रकारता का गन्धनिरूपित लौकिक विषयिताशालिप्रत्यक्षरूप जो धातु का अर्थ है उसके एकदेश विषयिता में निरूपत्व सम्बन्ध से अन्वय होता है। तथा इस तरह से **'समवायसम्बन्धावच्छिन्नाधेयत्वसंसर्गावच्छिन्नविषयतानिरूपितपुष्पवृत्तिप्रकारतानिरूपिता या गन्धनिरूपिता लौकिकविषयिता तच्छालिप्रत्यक्षाश्रयः'** 'समवायसम्बन्धावच्छिन्नाधेयत्व संसर्गावच्छिन्नविषयतानिरूपितपुष्पवृत्तिप्रकारता से निरूपित जो गन्धनिरूपितलौकिक विषयिता तादृशविषयिताशालिप्रत्यक्ष का आश्रय है' ऐसा शाब्दबोध होता है। **'इदानीन्तन पुष्पे गन्धः'** अथवा **'इदानीं गन्धः'** ऐसा जो प्रत्यय होता है, उसके द्वारा भी गन्ध में विशेष्यताख्या विषयता आती है और काल प्रकार होता है। तथा काल में प्रकारता आती है। इस ज्ञान में प्रकारीभूत काल में जो प्रकारता आती है। वह प्रकारता समवायसम्बन्धावच्छिन्नाधेयत्व

1–तत्र गन्धवती पृथिवी। तर्क संग्रह पृथिवी निरूपण

संसर्गावच्छिन्नविषयतानिरूपितप्रकारता नहीं है बल्कि कालिकसम्बन्धावच्छिन्नाधेयत्व संसर्गावच्छिन्नविषयतानिरूपितप्रकारता है। क्योंकि काल में गन्ध आधेय है, किस सम्बन्ध से ? कालिक सम्बन्ध से । काल अलौकिकज्ञानलक्षणसन्निकर्ष विधया भासित हो रहा है। उस काल में गन्ध कालिकसम्बन्ध से विद्यमान है। इसलिए कालिकसम्बन्धावच्छिन्नाधेयता गन्ध में है। इसी कालिकसम्बन्धावच्छिन्नाधेयतासंसर्ग से गन्ध में काल प्रकार (विशेषण) हो रहा है। इस प्रकार कालिकसम्बन्धावच्छिन्नाधेयतासंसर्गावच्छिन्नगन्धनिष्ठविषयता (विशेष्यताख्या) से निरूपित प्रकारता ही काल में विद्यमान है। काल में समवायसम्बन्धावच्छिन्नाधेयता संसर्गावच्छिन्नविषयतानिरूपितप्रकारता नहीं है। **'कालं जिघ्रति'** के द्वारा समवायसम्बन्धावच्छिन्नाधेयत्वसंसर्गावच्छिन्नविषयतानिरूपितकालनिष्ठप्रकारता से निरूपितत्व का धात्वर्थैकदेश गन्धविषयिता में अवगाहन किया जा रहा है जो कि बाधित है । जब कालनिष्ठप्रकारता वैसी नहीं है तो वैसी प्रकारता से निरूपितत्व कैसे गन्धविषयिता में आ सकता है? अतः **'कालं जिघ्रति'** प्रयोग नहीं होता है।

इसीलिए **'तदाननं मृत्सुरभि क्षितीश्वरो रहः समाघ्राय न तृप्तिमाययौ'** और **'आघ्रातवान् गन्धवहं सुगन्धम्'** इत्यादि स्थलों में उपाधिनिष्ठ गन्ध ग्रह तात्पर्य से ही घ्रा धातु का प्रयोग होने के कारण तादृशगन्ध (मृत्सुरभिगन्ध व सुगन्ध ) में आननवृत्तित्व और गन्धवहादिवृत्तित्व का बाध होने पर भी क्षति नहीं है क्योंकि उक्त गन्ध के आनन और गन्धवहादि में वृत्ति न होने पर भी **'आनने गन्धः'** इत्याकारकबोधीय गन्धविषयिता के आननगन्धवहादि प्रकारता से निरूपित होने के कारण वाक्यार्थ का बाध नहीं है। वायु से आनीत चम्पक गन्ध का जहाँ पर वाय्वादिवृत्तित्वेन ग्रहण होता है वहाँ पर भी **'चम्पकं जिघ्रति'** इत्यादि प्रयोग इष्ट नहीं होते हैं।

समवायसम्बन्धावच्छिन्नाधेयतासंसर्गावच्छिन्नविषयतानिरूपित प्रकारता को द्वितीया का अर्थ स्वीकारते हैं, इसलिए जहाँ पर उपाधिनिष्ठगन्धग्रह के तात्पर्य से **'तदाननं मृत्सुरभि क्षितीश्वरो रहः समाघ्राय न तृप्तिमाययौ'** 'मिट्टी की सुगन्धवाले उसके मुख को एकान्त में सूँघकर भी क्षितीश्वर (राजा) तृप्ति को नहीं पा सका' **'आघ्रातवान् गन्धवहं सुगन्धम्'** 'सुगन्धित वायु को सूँघा' इत्यादि प्रयोग हुआ करते हैं वहाँ पर भी कोई अनुपपत्ति नहीं होती है। यद्यपि आनन में समवाय सम्बन्ध से मिट्टी की सुगन्ध (मृत्सुरभि) नहीं है क्योंकि मिट्टी में रहनेवाला गुण (सुगन्ध) मुख में कैसे रह सकता है? वायु में भी सुगन्ध नहीं रह सकता है क्योंकि गन्ध तो पृथिवी का गुण है। इसीलिए यह कहा जाता है कि वायु में जो गन्ध गृहीत होता है वह वायु से आनीत पार्थिव भाग (पार्थिव त्रसरेणुओं का ही गन्ध हुआ करता है[1]। इस कारण आनन व वायु निरूपित समवायसम्बन्धावच्छिन्नाधेयता सुगन्ध में वस्तुतः नहीं ही है। गन्ध में आनन, वायु आदि वृत्तित्व का बाध है, तथापि कोई क्षति नहीं होती है क्योंकि **'आनने गन्धः'** इस प्रकार की प्रतीति होती है। इस प्रतीति में आनन प्रकार बनता है और गन्ध विशेष्य बनता है। गन्ध कैसे विषय बनता है? अर्थात् किस सम्बन्ध से आनन और गन्ध में परस्पर विशेष्यविशेषणभाव बनता है? इस प्रश्न का उत्तर ढूँढने के लिए जरा हम भ्रम को लेते है। जैसे जहाँ पर रजत नहीं है शुक्ति है। शुक्ति को देखनेवाला उसे रजत समझ रहा है। इस प्रकार **'इदं रजतम्'** ऐसा ज्ञान उसे हो रहा है। इस ज्ञान

1.-द्रष्टव्य न्या०सि० मुक्तावली वायुनिरूपण व पृथिवीनिरूपण

में रजतत्व प्रकार है इदन्त्वावच्छिन्न में । लेकिन रजतत्व इदन्त्वावच्छिन्न में प्रकार किस सम्बन्ध से हो रहा है? यदि कहो कि समवाय सम्बन्ध से, तो रजतत्व समवाय सम्बन्ध से इदन्त्वावच्छिन्न में है नहीं । इस पर यही समाधान दिया जाता है कि सम्बन्धांश में असत् का भी अवगाहन नैयायिक मानते हैं। इसलिए इदन्त्वावच्छिन्न में समवाय सम्बन्ध से रजतत्व के प्रकार होने में कोई आपत्ति नहीं है। तथा इस भ्रमात्मक ज्ञान के द्वारा इदन्त्वावच्छिन्न में प्रकारविधया रजतत्व का अवगाहन हुआ करता है। इसी प्रकार '**आनने गन्धः**' से गन्ध में समवायसम्बन्धावच्छिन्नाधेयत्वसंसर्ग से आनन प्रकार हुआ करता है। गन्ध में आनन का (आनन निरूपित) समवायसम्बन्धावच्छिन्नाधेयत्वरूप सम्बन्ध विद्यमान न होने पर भी जैसे भ्रमात्मक '**इदं रजतम्** ' ज्ञान के द्वारा रजतत्व समवाय सम्बन्ध से इदन्त्वावच्छिन्न में प्रकार होता है वैसे ही गन्ध में आनन समवायसम्बन्धावच्छिन्नाधेयता सम्बन्ध से प्रकार हुआ करता है। इस प्रकार समवायसम्बन्धावच्छिन्नाधेयत्वसम्बन्धावच्छिन्नगन्ध निष्ठविशेष्यतारूपा विषयता और आननप्रकारता में परस्पर निरूप्यनिरूपकभाव है। इस प्रकार समवायसम्बन्धावच्छिन्नाधेयत्वसंसर्गावच्छिन्नविषयतानिरूपित आननप्रकारता से निरूपितत्व का धात्वर्थैकदेश गन्धविषयिता में उक्तवाक्यघटक '**आननं मृत्सुरभि समाघ्राय**' के द्वारा अवगाहन होता है जो कि अबाधित है क्योंकि गन्धविषयिता उक्त प्रकारता से निरूपित होगी ही । इसलिए मृत्सुगन्ध के आनन में वृत्ति न होने पर भी वाक्यार्थबोध में कोई अनुपपत्ति नहीं है। यही स्थिति '**आघ्रातवान् गन्धवह सुगन्धम्** ' की भी है। यहाँ पर भी गन्धवह (वायु) में सुगन्ध के वृत्ति न होने पर भी '**गन्धवहे गन्धः**' '**वायौ गन्धः**' इत्यादि प्रतीतियों के आधार पर गन्ध में समवायसम्बन्धावच्छिन्नाधेयतासंसर्ग से गन्धवह की प्रकारता उक्त रीति से अवश्याभ्युपेय है। इस कारण समवायसम्बन्धावच्छिन्नाधेयत्वसंसर्गा-वच्छिन्नविषयतानिरूपितगन्धवहनिष्ठप्रकारता का और उस प्रकारता से निरूपित गन्धादि विषयिता का उक्त वाक्य के द्वारा अवगाहन किया जा रहा है, जो कि अबाधित है। अतः इस वाक्य से भी शाब्दबोध होने में कोई भी अनुपपत्ति नहीं है। इसीलिए वायु से आनीत चम्पकगन्ध का जहाँ पर वायुवृत्तित्वेन ग्रहण '**वायौ गन्धः**' ऐसा ग्रहण होता है, वहाँ पर '**चम्पकं जिघ्रति**' ऐसा प्रयोग नहीं ही हुआ करता है क्योंकि समवायसम्बन्धावच्छिन्नाधेयत्वसंसर्ग से गन्ध में वायु प्रकार हो रहा है न कि चम्पक। इसलिए समवायसम्बन्धावच्छिन्नाधेयत्वसंसर्गा-वच्छिन्नविषयतानिरूपितवायुनिष्ठप्रकारता का अवगाहन करनेवाले शाब्दबोध का जनक '**वायुं जिघ्रति**' प्रयोग तो होता है, समवायसम्बन्धावच्छिन्नाधेयत्वसंसर्गावच्छिन्नविषयतानिरूपित चम्पकप्रकारताशालि शाब्दबोधजनक '**चम्पकं जिघ्रति**' ऐसा वाक्य प्रयोग नहीं होता है।

**विमर्शः**– सम्बन्धांश में असत् का अवगाहन करनेवाला ज्ञान तो स्वीकारना ही पड़ेगा अन्यथा '**तत्सम्बन्धावच्छिन्नतत्प्रकारताशालितद्वत्ता ज्ञान के प्रति सम्बन्धावच्छिन्न-प्रतियोगिताकतदभाववत्ताज्ञान की प्रतिबन्धकता होती है**' इस प्रतिबध्यप्रतिबन्धकभाव की अव्यवस्था हो जायेगी । इसी प्रतिबध्यप्रतिबन्धकभाव के आधार पर ही '**इदं समवायेन रजतत्वाभाववत्** ' इस ज्ञान के द्वारा '**इदं रजतम्** ' ज्ञान प्रतिबध्य होता है। '**इदं रजतम्** ' ज्ञान यदि समवायसम्बन्धावच्छिन्नरजतत्वप्रकारताशालि रजतत्ववत्ता ज्ञान नहीं होगा तो '**इदं समवायेन रजतत्वाभाववत्** ' इस समवायसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक रजतत्वाभाववत्ताज्ञान के द्वारा उसका प्रतिबन्ध नहीं हो सकेगा।

**यत्तु आधेयतामात्रं द्वितीयार्थो न तु समवायावच्छिन्नत्वविशेषितमाधेयत्वम् तथा च मुखादिसंसृष्टमृत्तिकादिगन्धे परम्परासम्बन्धेन मुखादिवृत्तित्वस्य सत्त्वान्न तादृशस्थलेऽनुपपत्तिरिति, तदसत् –तथासति 'कालं जिघ्रति' इति प्रयोगस्य दुर्वारत्वात् ।**

जो लोग यह कहते है कि द्वितीया का अर्थ मात्र आधेयत्व है समवायवच्छिन्नत्व विशेषित आधेयत्व द्वितीया का अर्थ नहीं है। इस प्रकार मुखादिसंसृष्ट मृत्तिकादि गन्ध में परम्परा सम्बन्ध से मुखादिवृत्तित्व विद्यमान है इसलिए उन स्थलों में कोई अनुपपत्ति नहीं है। **'पुष्पं जिघ्रति'** में समवायसम्बन्धावच्छिन्नाधेयत्व ले लेंगे, **'तदाननं समाघ्राय' 'आघ्रातवान् गन्धवहं सुगन्धम्'** इत्यादि स्थलों में स्वाश्रयाश्रयत्व रूप परम्परासम्बन्ध से अवच्छिन्न आधेयत्व को लेंगे । इस प्रकार कोई अनुपपत्ति नहीं होगी, आधेयत्व मात्र के द्वितीया का अर्थ होने के कारण कहीं पर समवायसम्बन्धावच्छिन्न आधेयत्व को, कहीं पर स्वाश्रयाश्रयत्वादि परम्परासम्बन्धावच्छिन्न आधेयत्व को लेकर गन्ध में द्वितीयाप्रकृति के अर्थ का अन्वय सम्भव है। तो यह कहना सच नहीं है क्योंकि ऐसा मानने पर तो **'कालं जिघ्रति'** यह प्रयोग दुर्वार होगा क्योंकि कालनिरूपित कालिकसम्बन्धावच्छिन्नाधेयत्व का गन्ध में अन्वय सम्भव है। द्वितीया का अर्थ आधेयत्व मानने पर **'कालनिरूपिताधेयताश्रयगन्धलौकिकप्रत्यक्षाश्रयः'** 'कालनिरूपित आधेयताश्रय गन्धलौकिकप्रत्यक्ष का आश्रय है' ऐसा ही शाब्दबोध उक्त वाक्य से अपेक्षित होगा, वह अबाधित होने के कारण उपपन्न ही है। अतः उक्त प्रयोग दुर्वार होगा । अतः द्वितीया का अर्थ आधेयतामात्र नहीं है।

**'पुष्पमाघ्रायते' इत्यादौ च निरुक्तप्रकारत्वमाख्यातार्थः, आश्रयतासम्बन्धेन पुष्पाद्यन्विते तस्मिन् धात्वर्थप्रत्यक्षस्य निरूपितत्वसम्बन्धेन तद्विशेषणतापन्नगन्धविषयितायाश्च निरूपितत्वसम्बन्धेनान्वयः। एकधर्मिविशेषणतयोपस्थितस्य स्वातन्त्र्येणान्यविशेषणतयाऽन्वयबुद्धेरेवाव्युत्पन्नत्वात्, अत्र च प्रत्यक्षपारतन्त्र्येणैव गन्धविषयिताया आख्यातार्थेन्वयेन व्युत्पत्तिविरोधविरहात्।**

**'पुष्पमाघ्रायते'** इत्यादि स्थलों में (कर्माख्यात स्थलों में) तो निरुक्त प्रकारत्व आख्यात का अर्थ है। निरुक्त प्रकारत्व से यहाँ पर 'समवायसम्बन्धावच्छिन्नाधेयत्वसंसर्गावच्छिन्न-विषयितानिरूपितप्रकारता' से आशय है। इस प्रकारता का आश्रयता सम्बन्ध से पुष्पादि (प्रथमान्तपदोपस्थाप्य) में अन्वय होता है। तथा इस प्रकारता में धात्वर्थ प्रत्यक्ष (गन्धलौकिक प्रत्यक्ष) का निरूपितत्व सम्बन्ध से अन्वय हुआ करता है। शाब्दबोध कैसा और किस प्रकार से होता है । देंखे—उक्त वाक्यघटक **पुष्प** से **पुष्प** की **घ्राधातु** के द्वारा **गन्धलौकिक प्रत्यक्ष ( गन्धलौकिकविषयिता प्रत्यक्ष )** की, **आख्यात** से **समवायसम्बन्धावच्छिन्नाधेयत्वसंसर्गावच्छिन्नविषयतानिरूपितप्रकारता** की उपस्थिति होती है। आख्यातार्थ प्रकारता में धात्वर्थप्रत्यक्ष का और धात्वर्थप्रत्यक्ष में विशेषणीभूत गन्धविषयिता का निरूपितत्व-सम्बन्ध से अन्वय हुआ करता है। प्रकारता का आश्रयत्व सम्बन्ध से पुष्प में अन्वय होकर **'प्रत्यक्षनिरूपिता अथ च गन्धलौकिकविषयितानिरूपिता या समवायसम्बन्धावच्छिन्नाधेयत्वसंसर्गावच्छिन्नविषयतानिरूपितप्रकारता तदाश्रयं पुष्पम्'** 'प्रत्यक्षनिरूपित और गन्धलौकिकविषयिता से निरूपित जो समवायसम्बन्धावच्छिन्नाधेयत्वसंसर्गावच्छिन्न-

विषयतानिरूपितप्रकारता उसका आश्रय पुष्प है' ऐसा शाब्दबोध हुआ करता है। गन्धलौकिकविषयिता ज्ञाननिष्ठ है और तादृशाधेयत्वसंसर्गावच्छिन्नविषयता गन्धनिष्ठा है दोनों से निरूपिता उक्त पुष्पनिष्ठा प्रकारता होती है। इसलिए पुनरुक्त की आशंका यहाँ नहीं करनी चाहिए।

उक्त शाब्दबोध में एक प्रश्न उठाया जा सकता है वह यह कि 'जो एकत्र विशेषणतया उपस्थित होता है वह अन्यविशेषणतया अन्वित नहीं होता है' **'एकत्र विशेषणत्वेनोपस्थितस्यान्यत्र विशेषणत्वायोगात्'** ऐसा नियम है। घ्रा धातु के द्वारा प्रत्यक्षविशेषणत्वेन गन्धलौकिकविषयिता की उपस्थिति होती है, गन्धविषयिताशालिप्रत्यक्ष की उपस्थिति होती है और उस गन्ध लौकिकविषयिता का आप निरूपितत्व सम्बन्ध से समवायसम्बन्धावच्छिन्नाधेयत्वसंसर्गावच्छिन्नविषयतानिरूपितप्रकारता में अन्वय कर रहे हैं, अर्थात् गन्धलौकिकविषयिता को आप तादृशप्रकारता में विशेषण बना रहे हैं। यह कैसे होगा? इसी समस्या का समाधान गदाधर कर रहे है कि—एकधर्मिविशेषणतया जो उपस्थित होता है उसका स्वतन्त्र रूप से अन्यविशेषणतया अन्वयबोध ही अव्युत्पन्न हुआ करता है, यहाँ पर प्रत्यक्ष की परतन्त्रता के कारण गन्धविषयिता का आख्यातार्थ तादृशप्रकारता में अन्वय करने के कारण व्युत्पत्तिविरोध नहीं है। अभिप्राय यह है कि जिस ज्ञान से निरूपित जो प्रकारता विशेष्यता होती है; वह प्रकारता, विशेष्यता उस ज्ञान में रहनेवाली विषयिता से भी निरूपिता होती है। क्योंकि ज्ञान और विषय में परस्पर निरूप्यनिरूपकभाव होता है। ज्ञान निरूपितविषय भी होता है विषयता भी। विषयनिरूपित ज्ञान भी होता है ज्ञाननिष्ठ विषयिता भी। इस कारण चूँकि यहाँ पर प्रत्यक्ष का अन्वय निरूपितत्व सम्बन्ध से उक्त प्रकारता में हो रहा है, इसलिए प्रत्यक्षविशेषणीभूत गन्धविषयिता का अन्वय भी निरूपितत्वसम्बन्ध से उक्त प्रकारता में होने में कोई आपत्ति नहीं है। यदि मात्र गन्धविषयिता का अन्वय किया जा रहा होता तो व्युत्पत्तिविरोध होता।

**अस्तु वा गन्धो लौकिकविषयिता प्रत्यक्षञ्च विशकलितमेव धातोरर्थः। कर्त्राख्यातादिसमभिव्याहारे गन्धविषयितायाः प्रत्यक्षविशेषणतया कर्माख्यात समभिव्याहारस्थले च प्रत्यक्षविशेष्यतयान्वय इति न कश्चिद् दोषः। जिघ्रत्यर्थ-गन्धविषयितानिरूपकत्वमेव पुष्पादिनिष्ठं जिघ्रतिकर्मत्वमिति दिक्।**

अथवा यदि एकविशेषणतया उपस्थित का अन्यविशेषणत्वेन अन्वय अव्युत्पन्न है तो गन्ध, लौकिकविषयिता और प्रत्यक्ष विशकलित ही घ्रा धातु के अर्थ हैं। (पूर्व में गन्धनिरूपित-लौकिकविषयिताशालिप्रत्यक्ष को घ्रा धातु का अर्थ मानते थे, तादृश प्रत्यक्ष में घ्रा धातु की एक ही शक्ति स्वीकारते थे । अब गन्ध, लौकिकविषयिता और प्रत्यक्ष इन तीनों पदार्थों में तीन अलग-अलग शक्तियाँ स्वीकार रहे हैं) कर्त्राख्यात का समभिव्याहार होने पर गन्धविषयिता का प्रत्यक्षविशेषणत्वेन अन्वय होता है और कर्माख्यात स्थल में लौकिकविषयिता का प्रत्यक्षविशेष्यत्वेन अन्वय होता है। इसलिए कोई दोष नहीं होता है। तीनों में खण्डशः शक्ति होने के कारण लौकिकी विषयिता किसी का विशेषण बनकर नहीं भासती है। इस प्रकार **'पुष्पं जिघ्रति'** से **'समवायसम्बन्धावच्छिन्नाधेयत्वसंसर्गावच्छिन्नविषयता-निरूपितपुष्पनिष्ठप्रकारतानिरूपितलौकिकविषयिताशालिप्रत्यक्षाश्रयः'** 'समवाय-सम्बन्धावच्छिन्नाधेयत्वसंसर्गावच्छिन्नविषयतानिरूपित पुष्पनिष्ठ प्रकारतानिरूपितलौकिक-विषयिताशालि प्रत्यक्षाश्रय है' ऐसा शाब्दबोध होता है। **'पुष्पमाघ्रायते'** के द्वारा **'प्रत्यक्ष**

**निष्ठलौकिकविषयितानिरूपिता या समवायसम्बन्धावच्छिन्नाधेयत्वसंसर्गावच्छिन्न-विषयतानिरूपितप्रकारता तदाश्रयं पुष्पम्** ' प्रत्यक्षनिष्ठ लौकिकविषयिता से निरूपित जो समवायसम्बन्धावच्छिन्नाधेयत्व संसर्गवच्छिन्नविषयता निरूपितप्रकारता उसका आश्रय पुष्प है' ऐसा शाब्दबोध होता है।

घ्राधातु के अर्थ गन्धविषयिता का निरूपकत्व ही पुष्पादि में रहनेवाला घ्राधातु का कर्मत्व है।

**अथ दृश्यादिसमभिव्याहृतद्वितीयाया लौकिकविषयितार्थकत्वे 'सौरभं न पश्यति' इत्यादौ सौरभादिनिरूपितलौकिकविषयिताशालिचाक्षुषाद्य-प्रसिद्ध्या 'आकाशं न पश्यति' इत्यादौ चाकाशादिनिरूपितलौकिक-विषयिताया एवा प्रसिद्ध्या तादृशविषयिताशालिचाक्षुषाश्रयत्वाद्य-भावरूपवाक्यार्थाप्रसिद्धिः।**

अब नया प्रश्न उठा रहे हैं कि दृशि आदि धातुओं से समभिव्याहृत द्वितीया का अर्थ लौकिकविषयिता होने पर **'सौरभं न पश्यति'** इत्यादि स्थलों में सौरभादिनिरूपित लौकिकचाक्षुषादि की अप्रसिद्धि होने के कारण और **'आकाशं न पश्यति'** इत्यादि स्थलों में आकाशादिनिरूपित लौकिकविषयिता के ही अप्रसिद्ध होने के कारण तादृश विषयिताशालिचाक्षुषाश्रयत्वाभावरूप वाक्यार्थ की अप्रसिद्धि है।

भाव यह है कि **'प्रतियोग्यभावान्वयौ तुल्ययोगक्षेमौ'** 'प्रतियोगी और अभाव का अन्वय तुल्ययोगक्षेम है' प्रतियोगी का अन्वय जिसमें होता है अभाव का भी उसी में अन्वय होता है। ऐसा नियम है। यदि दृशि धातु का अर्थ लौकिकविषयिता है तो **'घटं पश्यति'** के द्वारा **'घटनिरूपितलौकिकविषयताशालिचाक्षुषप्रत्यक्षाश्रयः'** 'घटनिरूपित-लौकिकविषयिताशालिचाक्षुषप्रत्यक्ष का आश्रय है' ऐसा बोध और **'घटं न पश्यति'** के द्वारा **'घटनिरूपितलौकिकविषयिताशालिचाक्षुषप्रत्यक्षाश्रयत्वाभाववान्'** 'घटनिरूपितलौकिकविषयिताशालिचाक्षुषप्रत्यक्षाश्रयत्वाभाववान्' बोध होता है। **'सौरभं न पश्यति'** से और **'आकाशं न पश्यति'** से भी इसी प्रकार का बोध होना चाहिए किन्तु वह सम्भव नहीं है क्योंकि सौरभनिरूपितलौकिकविषयिताशालिचाक्षुषप्रत्यक्ष ही अप्रसिद्ध है। सौरभ के चक्षुरिन्द्रिय से ग्रहण के अयोग्य होने के कारण सौरभनिरूपितलौकिक विषयिताशालिचाक्षुष प्रत्यक्ष तो सम्भव ही नहीं है। अतः तादृशचाक्षुषप्रत्यक्षाश्रयत्वाभावरूप वाक्यार्थ अप्रसिद्ध होने के कारण बाधित है। इसी प्रकार आकाश के किसी भी इन्द्रिय से प्रत्यक्षयोग्य न होने के कारण आकाशनिरूपितलौकिकविषयिता ही अप्रसिद्ध होगी। इस कारण आकाशनिरूपितलौकिकविषयिताशालिचाक्षुषप्रत्यक्षाश्रयत्वाभाव रूप वाक्यार्थ भी अप्रसिद्ध होने के कारण बाधित होगा।

**न च 'सौरभं न पश्यति' इत्यादौ सौरभादिनिरूपितलौकिकविषयि-त्वाभावश्चाक्षुषादौ प्रतीयते इति वाच्यम्, एवमप्याकाशादिनिरूपितलौकिक-विषयित्वाप्रसिद्ध्या 'आकाशं न पश्यति' इत्यादावप्रतीकारात्।**

यदि कहो कि **'सौरभं न पश्यति'** इत्यादि स्थलों में सौरभनिरूपितलौकिकविषयित्व का अभाव चाक्षुषप्रत्यक्ष में प्रतीत होता है। मतलब यह है कि यद्यपि सौरभनिरूपित लौकिकविषयिताशालिचाक्षुषप्रत्यक्ष अप्रसिद्ध है, इसलिए तादृशप्रत्यक्षाश्रयत्व का अभाव

उक्तवाक्य जन्य शाब्दबोध से नहीं भासित हो सकता है। किन्तु सौरभनिरूपितलौकिकविषयिता तो प्रसिद्ध है ही, चाक्षुष प्रत्यक्ष भी प्रसिद्ध ही है। इसलिए उक्तवाक्यजन्यशाब्दबोध से चाक्षुषप्रत्यक्ष में सौरभनिरूपितलौकिकविषयिता का अभाव ही भासित होता है, यह स्वीकारना समुचित है।

तो ऐसा नहीं कहना चाहिए क्योंकि इस प्रकार से **'सौरभं न पश्यति'** यहाँ पर तो आप वाक्यार्थ प्रसिद्ध करके शाब्दबोध का उपपादन कर लेंगे किन्तु **'आकाशं न पश्यति'** इत्यादि स्थलों पर तो वाक्यार्थ फिर भी अप्रसिद्ध ही रहेगा क्योंकि इस प्रकार के विवेचन से आपको **'सौरभं न पश्यति'** यहाँ पर जैसा शाब्दबोध स्वीकार्य है, वैसा ही **'आकाशं न पश्यति'** से भी आपको उपपादित करना पड़ेगा। **'सौरभं न पश्यति'** यहाँ पर आपने शाब्दबोध के द्वारा चाक्षुषप्रत्यक्ष में सौरभनिरूपितलौकिकविषयिता के अभाव का भान स्वीकार किया है, **'आकाशं न पश्यति'** में आकाशनिरूपितलौकिकविषयिता के अभाव का चाक्षुष प्रत्यक्ष में भान स्वीकारना पड़ेगा। किन्तु आकाशनिरूपितलौकिकविषयिता ही अप्रसिद्ध है, इसलिए उसका अभाव चाक्षुषप्रत्यक्ष में शाब्दबोध द्वारा भासित नहीं हो सकता है। इसलिए यहाँ पर वाक्यार्थ अप्रसिद्ध ही रहेगा।

**न च लौकिकविषयितायां निरूपित्वसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकाकाशाभावः प्रतीयत इति वाच्यम् , वृत्त्यनियामकसम्बन्धस्य संसर्गाभावप्रतियोगितानवच्छेदकतया तादृशाभावस्याप्रसिद्धेः।**

यदि आप कहें कि **'आकाशं न पश्यति'** यहाँ पर लौकिकविषयिता में निरूपितत्वसम्बन्धावच्छिन्न प्रतियोगिताक आकाशाभाव की प्रतीति होती है अर्थात् शाब्दबोध के द्वारा न तो आकाशनिरूपित लौकिकविषयिताशालि प्रत्यक्षाश्रयत्व के अभाव का अवगाहन होता है और न तो आकाशनिरूपितलौकिकविषयिता के अभाव का प्रत्यक्ष में अवगाहन होता है, बल्कि लौकिकविषयिता में आकाश का निरूपितत्वसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभाव उक्त शाब्दबोध द्वारा अवगाहित होता है। लौकिकविषयिता रूप उक्त अभाव का अनुयोगी भी प्रसिद्ध है और आकाश रूप प्रतियोगी भी प्रसिद्ध है।

तो ऐसा नहीं कहना चाहिए क्योंकि वृत्त्यनियामकसम्बन्ध संसर्गाभावप्रतियोगिता का अवच्छेदक नहीं होता है, संसर्गाभाव में प्रागभाव और ध्वंस की प्रतियोगिताएँ किसी सम्बन्ध से अवच्छिन्न नहीं होती है। अतः उस विषय में चर्चा की ज़रूरत ही नहीं है। अत्यन्ताभाव की प्रतियोगिता ही संसर्गावच्छिन्न होती है किन्तु वृत्त्यनियामकसम्बन्ध अभावीयप्रतियोगिता का अवच्छेदक नहीं होता है। इसलिए लौकिकविषयिता में निरूपितत्वसम्बन्धावच्छिन्न प्रतियोगिताक आकाशाभाव अप्रसिद्ध ही होगा क्योंकि निरूपितत्वसम्बन्ध वृत्त्यनियामक होने के कारण अभावीयप्रतियोगिता का अवच्छेदक नहीं होगा और उस सम्बन्ध से अवच्छिन्नप्रतियोगिताक अभाव प्रसिद्ध नहीं होगा।

**एतेन निरूपकतासम्बन्धेन चाक्षुषादिनिष्ठलौकिकविषयिताया अभावस्तत्राकाशादौ प्रतीयत इत्यपि निरस्तम् । अन्वयबोधस्य प्रथमान्तार्थमुख्यविशेष्यकतायाः सर्वानुभवसिद्धायाः भङ्गप्रसङ्गाच्च, चाक्षुषादिनिष्ठलौकिकविषयितात्वावच्छिन्नस्य पदाद्वाक्याच्चानुपस्थितत्वेन तदभावस्याकाशादौ भानासम्भवाच्च। भावन्वयबोधे च लौकिकविषयिताप्रकारेण चाक्षुषादे-**

**र्भानान्नाभावान्वयबोधे चाक्षुषप्रकारेण तस्या भानम् ।**

इसी कारण (वृत्त्यनियामक सम्बन्ध के अभावीय प्रतियोगिता का अनवच्छेदक होने के कारण) निरूपकता सम्बन्ध से चाक्षुषादिनिष्ठलौकिक विषयिता का अभाव ही आकाशादि में '**आकाशं न पश्यति**' इत्यादि वाक्यों द्वारा प्रतीत होता है। यह कथन भी निरस्त हो जाता है। क्योंकि निरूपितत्व सम्बन्ध के वृत्त्यनियामक होने के कारण जैसे आकाश का निरूपितत्वसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभाव अप्रसिद्ध होता है, इसलिए लौकिकविषयिता में उसका भान सम्भव नहीं होता है। उसी प्रकार निरूपकत्व सम्बन्ध के भी वृत्त्यनियामक होने के कारण निरूपकत्वसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक चाक्षुषादिनिष्ठलौकिकविषयिता का अभाव भी अप्रसिद्ध ही है, इसलिए उसका भान आकाश में स्वीकार करनेवाला मत भी निरस्त हो जाता है।

इसके अलावा '**आकाशं न पश्यति**' वाक्य से जन्य शाब्दबोध से निरूपकता सम्बन्ध से अवच्छिन्नप्रतियोगिताक चाक्षुषादिनिष्ठलौकिकविषयिता का अभाव आकाश में प्रतीत होता है, ऐसा स्वीकारने पर अन्वयबोध की प्रथमान्तार्थ मुख्यविशेष्यकता जो सर्वानुभवसिद्ध है उसका भङ्ग हो जायेगा क्योंकि चाक्षुषादिनिष्ठलौकिकविषयिता का निरूपकत्व सम्बन्धावच्छिन्न प्रतियोगिताक अभाव यदि आकाश में उक्त वाक्यजन्य शाब्दबोध के द्वारा भासित हुआ करता है तो इतना तो सुस्पष्ट है कि आकाश चाक्षुषप्रत्यक्ष, लौकिकविषयिता के प्रति विशेष्य हुआ क्योंकि आकाश में अभाव, अभाव में लौकिकविषयिता और लौकिकविषयिता में चाक्षुष विशेषण है। प्रथमान्तपदोपस्थाप्य चैत्रादि का अन्वय कहाँ किया जाये? आकाश का विशेष्य बनकर तो वह किसी भी तरह भास नहीं सकता है। चाक्षुष प्रत्यक्ष का विशेषण बनकर ही वह भासित हो सकता है। इसलिए मुख्य विशेष्य चैत्रादि न होकर आकाशादि ही होंगे जो कि प्रथमान्त पदोपस्थाप्य नहीं है द्वितीयान्तपदोपस्थाप्य है।

इसके अलावा आप आकाश में निरूपकत्वसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक चाक्षुषादिनिष्ठलौकिकविषयिता के अभाव का अवगाहन स्वीकार रहे हैं । यह अभाव चाक्षुषादिनिष्ठलौकिकविषयितात्वावच्छिन्नप्रतियोगिताक है किन्तु चाक्षुषादिनिष्ठलौकिक विषयितात्वावच्छिन्न तो पद से या वाक्य से उपस्थित ही नहीं है। इसलिए चाक्षुषादिनिष्ठलौकिक विषयितात्वावच्छिन्न का अभाव आकाश में नहीं भासित हो सकता है।

भावान्वयबोधस्थल में '**घटं पश्यति**' इत्यादि स्थलों में लौकिकविषयिता प्रकार होती है चाक्षुष में और इस प्रकार '**घटनिरूपितलौकिकविषयिताशालिचाक्षुषप्रत्यक्षाश्रयः**' 'घटनिरूपितलौकिकविषयिताशालि चाक्षुषप्रत्यक्ष का आश्रय है' ऐसा बोध होता है। इसमें चाक्षुष प्रत्यक्ष विशेष्य है और उसमें लौकिकविषयिता भासती है। इसलिए अभावान्वयबोधस्थल में '**आकाशं न पश्यति**' इत्यादि स्थलों में लौकिकविषयिता में चाक्षुषप्रत्यक्ष प्रकार होकर नहीं भासित हो सकता है। इस वाक्य से जन्य शाब्दबोध में आप आकाश में चाक्षुषप्रत्यक्षदिनिष्ठलौकिकविषयिता का निरूपकत्वसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभाव भासित होता है यही मान रहे हैं। इसमें लौकिकविषयिता में चाक्षुषप्रत्यक्ष प्रकार होकर भासित होगा जो कि सम्भव नहीं है। नियम है कि '**प्रतियोग्यभावान्वयौ तुल्ययोगक्षेमौ**' । नञ् के न रहने पर यदि लौकिकविषयिता चाक्षुष प्रत्यक्ष में प्रकार बनती है तो नञ् रहने पर विशेष्यविशेषणभावव्यत्यास नही हो सकता है। तथा चाक्षुषप्रत्यक्ष लौकिकविषयिता में प्रकार नहीं बन सकता है। इस प्रकार '**आकाशं न पश्यति**' इतिस्थलीय वाक्यार्थ अप्रसिद्ध ही है।

**अस्तु वा वृत्त्यनियामकोऽपि सम्बन्धोऽभावप्रतियोगितावच्छेदकस्तथापि निरूपितत्वसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकस्य विषयिताविशेषनिष्ठाकाशाद्यभावस्य भानोपगमो न सम्भवति—तथासति 'आकाशं पश्यति चैत्रः' इत्याकारकवाक्यजन्यबोधदशायां 'आकाशं न पश्यति चैत्रः' इत्यादिवाक्याच्छाब्दबोधप्रसङ्गात् ।**

**'आकाशं पश्यति मैत्रः' इत्यादिभ्रमदशायां 'आकाशं न पश्यति चैत्रः' इत्यादिवाक्याच्छाब्दबोधस्यदुरपह्नवतया लौकिकविषयितात्वसामानाधिकरण्येनैव तादृशाभावबोधकं तद्वाक्यमुपगन्तव्यम्, तादृशबोधश्च लौकिकविषयितात्वसामानाधिकरण्यमात्रेणैवाकाशादिनिरूपितत्वावगाहिदर्शितयोग्यताज्ञानाप्रतिबध्य एव।**

यदि वृत्त्यनियामकसम्बन्ध अभावीयप्रतियोगितावच्छेदक हो भी जाये तब भी निरूपितत्वसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक विषयिताविशेष (लौकिकविषयिता) में रहनेवाले आकाशाभाव के भान का उपगम (स्वीकार) सम्भव नहीं है क्योंकि यदि लौकिक विषयिताविशेष में निरूपितत्वसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक आकाशाभाव का स्वीकार कर लिया जाये तो **'आकाशं पश्यति चैत्रः'** इत्याकारकवाक्यजन्य शाब्दबोध की दशा में **'आकाशं न पश्यति चैत्रः'** इत्यादि वाक्यों से शाब्दबोध का प्रसङ्ग है।

**'आकाशं पश्यति मैत्रः'** इत्यादि भ्रम दशा में **'आकाशं पश्यति चैत्रः'** इत्यादि वाक्यों से शाब्दबोध दुरपह्नव होने के कारण लौकिकविषयितात्वसामानाधिकरण्येन ही निरूपितत्वसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक आकाशाभाव का बोधक उक्त वाक्य है ऐसा स्वीकारना होगा, तथा लौकिकविषयितात्वसमानाधिकरण्येन ही निरूपितत्वसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकाकाशाभावबोध लौकिकविषयितात्वसामानाधिकरण्य मात्र से ही आकाशादिनिरूपितत्व का अवगाहन करने वाले दर्शित योग्यताज्ञान से अप्रतिबध्य ही होगा।

यह ग्रन्थ जटिल है। इसे समझने के लिए हम **'आकाशं पश्यति चैत्रः'** से शुरुआत करते हैं। इस वाक्य से क्या बोध होगा? **'आकाशनिरूपितलौकिकविषयिताशालिचाक्षुषप्रत्यक्षाश्रयो मैत्रः'** 'आकाशनिरूपितलौकिकविषयिताशालिचाक्षुषप्रत्यक्ष का आश्रय मैत्र है' यही शाब्दबोध होगा। इस शाब्दबोध के द्वारा लौकिकविषयिता में आकाशानिरूपितत्व बोधित हो रहा है। इसमें प्रश्न यह है कि लौकिकविषयितात्वावच्छेदेन आकाशनिरूपितत्व है अथवा लौकिकविषयितात्वसामानाधिकरण्येन आकाशनिरूपितत्व है? यदि कहो कि लौकिकविषयितात्वावच्छेदेन आकाशनिरूपितत्व है तब चैत्रज्ञानीयलौकिकविषयिता में, मैत्रादि समस्तव्यक्तिज्ञानीय लौकिकविषयिता में आकाशनिरूपिततत्व आ गया क्योंकि लौकिक विषयिता तो सभी हैं। इसलिए निरूपितत्वसम्बन्ध से सभी लौकिक विषयिताओं में आकाश विद्यमान है, किसी भी लौकिक विषयिता में निरूपितत्वसम्बन्धावच्छिन्न प्रतियोगिताक आकाशाभाव बोधित नहीं हो सकेगा योग्यता न होने के कारण । इसलिए **'आकाशं पश्यति मैत्रः'** इत्यादि भ्रमदशा में **'आकाशं न पश्यति चैत्रः'** इस वाक्य से शाब्दबोध नहीं हो सकेगा क्योंकि चैत्र ज्ञानायीलौकिकविषयिता में भी निरूपितत्व सम्बन्ध से आकाश विद्यमान ही है। **'आकाशं न पश्यति चैत्रः'** इत्यादि वाक्यजन्य शाब्दबोध बाधितविषयक होने के कारण नहीं हो सकेगा। जबकि कोई भी **'आकाशं पश्यति मैत्रः'** इस वाक्य से

जन्य शाब्दबोध की दशा में **'आकाशं न पश्यति चैत्रः'** इस वाक्यजन्य शाब्दबोध को बाधित विषयक नहीं मानता है। इसलिए आपको यही स्वीकारना पड़ेगा कि **'आकाशं पश्यति मैत्रः'** के द्वारा लौकिकविषयितात्वसामानाधिकरण्येन ही आकाशनिरूपितत्व का बोधन होता है। इसलिए जैसे वृक्षत्वावच्छेदेन कपिसंयोग नहीं रहता है वृक्षत्व सामानाधिकरण्येन रहता है, इस कारण वृक्षत्वसामानाधिकरण्येन कपिसंयोगाभाव के रहने में भी कोई मुश्किल नहीं होती है। उसी प्रकार इस वाक्य से लौकिकविषयितात्वसामानाधिकरण्येन ही आकाश निरूपितत्व बोधित होता है और **'आकाशं न पश्यति चैत्रः'** इस वाक्य से लौकिकविषयितात्वसामानाधिकरण्येन ही निरूपितत्वसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक आकाशाभाव बोधित होता है। जैसे वृक्षत्वसामानाधिकरण्येन कपिसंयोगवत्ताबुद्धि वृक्षत्वसामानाधिकरण्येन कपिसंयोगाभाववत्ताबुद्धि का प्रतिबन्ध नहीं करती है। उसी प्रकार लौकिकविषयितात्व सामानाधिकरण्येन आकाशनिरूपितत्व ज्ञान लौकिकविषयितात्वसामानाधिकरण्येन निरूपितत्व सम्बन्धावच्छिन्न प्रतियोगिताक आकाशाभाव ज्ञान का प्रतिबन्ध नहीं करेगा। इसलिए **'आकाशं पश्यति मैत्रः'** इस भ्रमदशा में **'आकाशं न पश्यति चैत्रः'** इस वाक्य से शाब्दबोधोत्पत्ति में कोई बाधक नहीं है। किन्तु इसी निष्कर्ष में एक समस्या छुपी है वह यह कि **'आकाशं पश्यति चैत्रः'** इस वाक्य से जन्य शाब्दबोध दशा में **'आकाशं न पश्यति चैत्रः'** इस वाक्य से शाब्दबोध होने की पाली आ जायेगी । क्योंकि यहाँ पर भी नञ् रहित वाक्य से लौकिकविषयितात्वसामानाधिकरण्येन आकाशनिरूपितत्व और नञ् सहित वाक्य से लौकिकविषयितात्वसामानाधिकरण्येन निरूपितसम्बन्धावच्छिन्न प्रतियोगिताक आकाशाभाव का बोधन किया जा रहा है जिनका कि उपर्युक्त रीति से कोई विरोध ही नहीं है।

**न च चैत्रीयचाक्षुषादिनिष्ठलौकिकविषयितात्वावच्छेदेनैव तादृशाभावो दर्शितवाक्येन प्रत्याय्यते, इति चैत्रीयचाक्षुषादिनिष्ठलौकिकविषयिताया-माकाशीयत्वाद्यवगाही 'चैत्र आकाशं पश्यति' इति वाक्यजन्यबोधः प्रतिबध्नात्येव तादृशावाक्यजन्यधियमिति वाच्यम् , तादृशविषयितात्वेन विषयिताया अनुपस्थितेस्तदवच्छेदेनाभावप्रत्यायनासम्भवात् । 'चैत्र आकाशं पश्यति' इति वाक्यजन्यबोधे चैत्रांशे दर्शनाश्रयत्वं विशेषणं, दर्शनांशे लौकिकविषयिताविशेषणमिति रीत्यैव पदार्थानां भानात् , चैत्रीयचाक्षुषादि-निष्ठविषयितात्वं नाकाशादिधर्मितावच्छेदकं किन्तु शुद्धलौकिकविषयिता-त्वमेवेति तस्य शुद्धलौकिकविषयितात्वावच्छेदेनाकाशाद्यभावावगाहिज्ञानं प्रत्येव प्रतिबन्धकतया निरुक्तधर्मावच्छेदेनाकाशाद्यभावावगाहिज्ञानस्य तद प्रतिबध्यत्वाच्च ।**

**'आकाशं पश्यति चैत्रः'** इत्याकारक वाक्य जन्य शाब्दबोध की दशा में **'आकाशं न पश्यति चैत्रः'** इस वाक्य से शाब्दबोध की आपत्ति का वारण करने के लिए यदि आप कहें कि **'आकाशं न पश्यति चैत्रः'** इस वाक्य के द्वारा लौकिकविषयितात्वसामानाधिकरण्येन निरूपितत्वसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक आकाशाभाव का बोधन होते हुए भी चैत्रीय चाक्षुषादिनिष्ठलौकिकविषयितात्वावच्छेदेन ही निरूपितत्वसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक आकाशाभाव बोधित होता है, इसलिए चैत्रीयचाक्षुषनिष्ठलौकिकविषयितात्वावच्छेदेन आकाशनिरूपितत्व

का अवगाहन करने वाला '**आकाशं पश्यति चैत्रः**' इस वाक्य से जन्यबोध उक्त नञ् घटित वाक्य से जन्य बोध का प्रतिबन्ध करता है। भाव यह कि जैसे वृक्षत्वसामानाधिकरण्येन और शाखावच्छेदेन कपिसंयोगवत्ता बुद्धि होने की स्थिति में वृक्षत्वसामानाधिकरण्येन मूलावच्छेदेन कपिसंयोगाभाववत्ता बुद्धि होती है किन्तु शाखावच्छेदेन कपिसंयोगाभाववत्ताबुद्धि नहीं होती है। उसी प्रकार '**आकाशं पश्यति चैत्रः**' के द्वारा लौकिकविषयितात्वसामानाधिकरण्येन और चैत्रीयचाक्षुषनिष्ठलौकिकविषयितात्वावच्छेदेन निरूपितत्व संबंध से आकाश का बोधन होता है। इसलिए चैत्रीयचाक्षुषनिष्ठलौकिकविषयितात्वावच्छेदेन निरूपितत्वसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक आकाशाभाव का बोधन '**आकाशं न पश्यति चैत्रः**' के द्वारा नहीं होता है। इस वाक्य जन्यबोध का प्रतिबन्ध हो जाता है। '**आकाशं पश्यति चैत्रः**' के द्वारा चूँकि चैत्रीयचाक्षुषनिष्ठलौकिकविषयितात्वावच्छेदेन आकाशनिरूपितत्व का बोधन नहीं होता है बल्कि मैत्रीय चाक्षुषनिष्ठलौकिकविषयितात्वावच्छेदेन ही आकाशनिरूपितत्व का बोधन होता है। इसलिए एतादृश भ्रमदशा में '**आकाशं न पश्यति चैत्रः**' इस वाक्य से जन्य शाब्दबोध के होने में कोई आपत्ति नही है।

तो ऐसा नहीं कहना चाहिए क्योंकि चैत्रीयचाक्षुषनिष्ठलौकिकविषयितात्वेन लौकिकविषयिता की उपस्थिति इन स्थलों पर नहीं होती है। इसलिए चैत्रीयचाक्षुषनिष्ठलौकिकविषयितात्वावच्छेदेन निरूपितसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक आकाशाभाव का बोधन सम्भव नहीं है। जिस रूप से अनुयोगी की उपस्थिति होती है तद्रूपावच्छेदेन ही अभाव का बोधन सम्भव होता है। अन्यरूपावच्छेदेन अभाव का बोधन सम्भव नहीं होता है। यदि अन्यरूपावच्छेदेन अभाव बोधन मान भी लें '**चैत्र आकाशं पश्यति**' इस वाक्य जन्य बोध में चैत्रांश में दर्शनाश्रयत्व विशेषण है, दर्शनांश में लौकिकविषयिता विशेषण है इस रीति से ( '**विशेष्ये विशेषणं तत्र च विशेषणान्तरम्** ' इस रीति से) ही पदार्थों का भान होता है। लौकिक विषयिता की उपस्थिति चैत्रीयचाक्षुषनिष्ठलौकिकविषयितात्वेन नहीं होती है। सामान्यतः लौकिकविषयितात्वेन ही लौकिक विषयिता की उपस्थिति होती है। इसलिए चैत्रीय चाक्षुषनिष्ठलौकिकविषयितात्व को धर्मितावच्छेदक बनाकर न तो आकाश ही निरूपितत्व सम्बन्ध से लौकिकविषयिता में बोधित होता है और न तो चैत्रीयचाक्षुषनिष्ठलौकिकविषयितात्व को धर्मितावच्छेदक बनाकर लौकिकविषयिता में निरूपितत्वसम्बन्धावच्छिन्न प्रतियोगिताक आकाशाभाव ही बोधित होता है। इस प्रकार चैत्रीयचाक्षुषनिष्ठलौकिकविषयितात्व आकाशधर्मितावच्छेदक नहीं है किन्तु शुद्धलौकिकविषयितात्व ही आकाशधर्मितावच्छेदक होता है। इसलिए शुद्ध लौकिकविषयितात्वावच्छेदेन आकाशाद्यभावावगाहिज्ञान के प्रति ही प्रतिबन्धक होने के कारण निरुक्त धर्मावच्छेदेन (चैत्रीयचाक्षुषनिष्ठ विषयितात्वावच्छेदेन ) आकाशाभावावगाहिज्ञान उससे प्रतिबध्य नहीं होगा।

सारांश यह है प्रथमतः तो चैत्रीयचाक्षुषनिष्ठलौकिकविषयितात्वावच्छेदेन निरूपितत्व सम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक आकाशाभाव का बोधन सम्भव नहीं है क्योंकि लौकिक विषयिता की चैत्रीयचाक्षुषनिष्ठलौकिकविषयितात्वावच्छेदेन उपस्थिति नहीं होती है।

दूसरी बात यह है कि यदि विना चैत्रीयचाक्षुषनिष्ठलौकिकविषयितात्वेन लौकिक विषयिता की उपस्थिति हुए भी चैत्रीयचाक्षुषनिष्ठलौकिकविषयितात्वावच्छेदेन निरूपितत्व सम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक आकाशाभाव का बोधन स्वीकार लिया जाये, तो भी चूँकि

निरूपितत्व सम्बन्ध से आकाश का धर्मितावच्छेदक चैत्रीयचाक्षुषनिष्ठलौकिकविषयितात्व नहीं होता है, लौकिकविषयितात्व ही हो सकता है। यदि लौकिकविषयितात्वावच्छेदेन आकाश का निरूपितत्व सम्बन्ध से भान मानें तो पूर्वोक्त आपत्ति **'आकाशं पश्यति मैत्रः'** भ्रमदशा में **'आकाशं न पश्यति चैत्रः'** इस वाक्य से शाब्दबोध न होने की आपत्ति आयेगी। इसीलिए पुनः लौकिकविषयितात्वसामानाधिकरण्येन ही आकाशनिरूपितत्व का भान मानना पड़ेगा, और ऐसा स्थिति में **'आकाशं पश्यति चैत्रः'** इस वाक्य से जन्य शाब्दबोध की दशा में **'आकाशं न पश्यति चैत्रः'** इस वाक्य से शाब्दबोध प्रसङ्ग दुर्निवार होगा।

**एतेन तत्राकाशादिपदस्याकाशादिनिरूपितत्वार्थकतां स्वीकृत्य लौकिकविषयितायामाश्रयतासम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकतदभावोपगमेनापि न निस्तारः 'घट आकाशं न पश्यति' इत्यादौ नितरामेवागतिः ।**

इसी दोष के कारण उक्तस्थलों में आकाशादि की आकाशादिनिरूपितत्वार्थकता भी स्वीकार करके लौकिकविषयिता में आश्रयतासम्बनधावच्छिन्नप्रतियोगिताक आकाशनिरूपितत्वाभाव का भान स्वीकार करने पर भी निस्ता नहीं है। **'घट आकाशं न पश्यति'** इत्यादि स्थलों पर तो कहीं से भी कोई मार्ग नहीं है।

अभिप्राय यह है कि वृत्त्यनियामक सम्बन्ध के अभावीयप्रतियोगिता का अनवच्छेदक होने के कारण अन्वयबोध सम्भव नहीं होता है, इसलिए **'आकाशं न पश्यति'** इत्यादि स्थलों पर आकाश पद की लक्षणा के द्वारा आकाशनिरूपितत्व अर्थ करते हैं, तथा लौकिकविषयिता में आश्रयतासम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक आकाशनिरूपितत्वाभाव का अन्वयबोध स्वीकार करें तो भी निस्तार नहीं है। क्योंकि दर्शित युक्ति से लौकिकविषयितात्वसामानाधिकरण्येन ही आश्रयतासम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक आकाशनिरूपितत्वाभाव का अवगाहन स्वीकारना पड़ेगा और लौकिकविषयितात्वसामानाधिकरण्येन ही आकाशनिरूपितत्व का अवगाहन भी स्वीकारना पड़ेगा। तथा पूर्वोक्त युक्ति से तत्सामानाधिकरण्येन तद्वत्ता बुद्धि के प्रति तत्सामानाधिकरण्येन तदभाववत्ताबुद्धि के विरोधी नहीं होने के कारण **'चैत्र आकाशं पश्यति'** इस वाक्य से जन्य शाब्दबोध दशा में **'चैत्र आकाशं न पश्यति'** इस वाक्य से शाब्दबोध का प्रसङ्ग दुर्निवार होगा।

किसी तरीके से उक्त स्थलों की आपत्ति को दूर भी कर दिया जाये तब भी **'घट आकाशं न पश्यति'** यहाँ पर तो कोई मार्ग ही नहीं है क्योंकि इस वाक्य से **'आश्रयतासम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक आकाशनिरूपितत्वाभाववल्लौकिक विषयिताशालिचाक्षुषप्रत्यक्षाश्रयतावान् घटः'** 'आश्रयतासम्बन्धावच्छिन्न प्रतियोगिताक आकाशनिरूपितत्वाभाववल्लौकिकविषयिताशालिचाक्षुषप्रत्यक्षाश्रयतावान् घट है' ऐसा शाब्दबोध ही स्वीकार्य होगा। किन्तु इस शाब्दबोध के द्वारा घट में चाक्षुषप्रत्यक्षाश्रयता का अवगाहन हो रहा है जो कि बाधित होने के कारण अनुपपन्न है।

**यत्तु नञर्थस्य द्विधा भानोपगमेनाकाशादिनिरूपितत्वाभाववल्लौकिक-विषयिताशालिचाक्षुषाश्रयत्वाभाववान् घट इत्याकारकस्तत्रान्वय बोध इति, तदपि न-तथा सति 'चैत्रो घटं न पश्यति' 'चैत्र आकाशं न पश्यति' इत्यादिवाक्य-जन्यशाब्दबोधादविलक्षणबोधस्य सर्वानुभवसिद्धस्य तादृशवाक्यादनुपपत्तेः।**

**नहि तत्रापि तादृश एव शाब्दबोधः, तथा सति चैत्रो यदा घटादिकं न पश्यत्यपितु पटादिकमेव तदा घटाद्यनिरूपितलौकिकविषयिताशालिचाक्षुषाश्रयत्वाभावस्य तत्र बाधात् 'चैत्रो घटं न पश्यति' इति प्रयोगानुपपत्तेः, यदा च भाव मात्रं पश्यति तदा भावानिरूपितलौकिकविषयिताशालिचाक्षुषाश्रयत्वाभावसत्त्वात् 'भावं न पश्यति चैत्रः' इत्यादिप्रयोगापत्तेश्च।**

जो लोग **'घट आकाशं न पश्यति'** इत्यादि स्थलीय शाब्दबोध का उपपादन करने के लिए नञ् के अर्थ का दो बार भान स्वीकार करके आकाश निरूपित्वाभाववल्लौकिकविषयिता-शालिचाक्षुषाश्रयत्वाभाववान् घट है ऐसा अन्वयबोध स्वीकारते हैं। नञ् के अर्थ अभाव का एक जगह अन्वय करने पर एक बार ही भान स्वीकारने पर उपर्युक्त रीति से शाब्दबोध की अनुपपत्ति है, इसलिए नञ् के अर्थ अभाव का दो बार भान स्वीकारते हैं। प्रथमतः नञर्थ अभाव आकाशनिरूपितत्व से और दूसरी बार चाक्षुषाश्रयत्व से अन्वित होकर भासित होता है। इस प्रकार उक्त वाक्य से **'आकाशनिरूपितत्वाभावल्लौकिकविषयिता-शालिचाक्षुषप्रत्यक्षाश्रयत्वाभाववान् घटः'** 'घट आकाशनिरूपितत्वाभाववल्लौकिकविषयिता-शालिचाक्षुषप्रत्यक्षाश्रयत्वा भाववाला है' ऐसा शाब्दबोध स्वीकारते हैं। तो यह ठीक नहीं है क्योंकि **'आकाशं घटो न पश्यति'** के द्वारा यदि नञर्थ का दो बार भान स्वीकार करके उपर्युक्त शाब्दबोध स्वीकारा जाये तो उसमें मुश्किल यह है कि **'चैत्रो घटं न पश्यति' 'चैत्र आकाशं न पश्यति'** इत्यादिवाक्यों से जन्यशाब्दबोधों से अविलक्षण बोध (एक जैसा बोध) जो कि सर्वानुभवसिद्ध है उसकी अनुपपत्ति होगी। भाव यह है कि–**'चैत्रो घटं न पश्यति'** से नञर्थ अभाव का आप एक ही बार स्वीकारते हुए या तो **'घटनिरूपितत्वा-भाववल्लौकिकविषयिताशालिचाक्षुष प्रत्यक्षाश्रयत्ववान् चैत्रः'** 'घटनिरूपितत्वा-भाववल्लौकिकविषयिताशालिचाक्षुषप्रत्यक्षाश्रयत्ववान् चैत्र है' ऐसा शाब्दबोध स्वीकारेंगे। या तो **'घटनिरूपितलौकिकविषयिताशालिचाक्षुषप्रत्यक्षाश्रयत्वाभाववान् चैत्रः'** 'घट निरूपित लौकिकविषयिताशालीचाक्षुषप्रत्यक्षाश्रयत्वभाववाला चैत्र है' ऐसा शाब्दबोध स्वीकारेंगे । **'घट आकाशं न पश्यति'** इस स्थल में जैसा शाब्दबोध होता है, **'चैत्र आकाशं न पश्यति'** से भी उसी तरह का शाब्दबोध नञर्थ अभाव का दो बार भान स्वीकारते हुए स्वाकीरते हुए स्वीकारना पड़ेगा। क्योंकि केवल कर्तृवाचकपदों के भिन्न हो जाने के कारण शाब्दबोध में कोई विलक्षणता नहीं आ जायेगी । इस तरह **'चैत्र आकाशं न पश्यति'** से **'आकाशनिरूपितत्वाभाववल्लौकिकविषयिताशालिचाक्षुष प्रत्यक्षाश्रयत्वाभाववान् चैत्रः'** 'आकाशनिरूपितत्वाभाववल्लौकिकविषयिता-शालिचाक्षुषप्रत्यक्षाश्रयत्वाभाववान् चैत्र है' ऐसा शाब्दबोध स्वीकारोगे । ऐसी स्थिति में **'चैत्रो घटं न पश्यति'** से नञर्थ का एक बार भान होते हुए और **'चैत्र आकाशं न पश्यति'** से नञर्थ का दो बार भान होते हुए शाब्दबोध हो रहा है यही मानोगे । और इस प्रकार इन दोनों वाक्यों से जो अविलक्षण (एक जैसा) बोध सर्वानुभवसिद्ध है, उसका अपलाप हो जायेगा।

यदि कहो कि **'चैत्रो घटं न पश्यति'** से भी वैसा ही बोध होता है अर्थात् **'चैत्र आकाशं न पश्यति'** से जिस प्रकार नञर्थ का दो बार भान होते हुए उपर्युक्त शाब्दबोध होता है, उसी प्रकार **'चैत्रो घटं न पश्यति'** से भी नञर्थ का दो बार भान होते हुए **'घटनिरूपितत्वाभाववल्लौकिकविषयिताशालिचाक्षुषप्रत्यक्षाश्रयत्वाभाववान् चैत्रः'**

'घटनिरूपितत्वाभाववल्लौकिकविषयिताशालिचाक्षुषप्रत्यक्षाश्रयत्व के अभाववाला चैत्र है' ऐसा शाब्दबोध होता है। तो ऐसा तो नहीं है क्योंकि ऐसा होने पर जब चैत्र घटादि को नहीं देख रहा है, पटादि को देख रहा है। उस काल में '**चैत्रो घटं न पश्यति**' इस वाक्य से बोध्य जो 'चैत्र में घटानिरूपित (घटनिरूपित्वाभाववती) लौकिकविषयिता (पटादिविषयिता) शालिचाक्षुषाश्रयत्वाभाव' उसका चैत्र में बाध होने के कारण (क्योंकि चैत्र में घटानिरूपित जो पटविषयिता तच्छालि चाक्षुषप्रत्यक्ष का आश्रयत्व ही है, आश्रयत्वाभाव नहीं, इसलिए) इस वाक्य का प्रयोग उपपन्न नहीं हो सकेगा। बाधितार्थक वाक्यप्रयोग तो नहीं ही उपपन्न होता है।

इसके अलावा जब चैत्र भावमात्र को देख रहा है, भावभिन्न को नहीं देख रहा है (अभाव को नहीं देख रहा है) उस काल में वस्तुतः '**चैत्रो भावं पश्यति**' या '**चैत्रो भावमात्रं पश्यति**' ऐसा प्रयोग ही हुआ करता है किन्तु उस काल में 'भाव से अनिरूपित जो लौकिकविषयिता (अभावादिलौकिकविषयिता) तच्छालिचाक्षुषप्रत्यक्ष का आश्रयत्व तो चैत्र में है नहीं, तादृशचाक्षुषप्रत्यक्षाश्रयत्वाभाव ही है। चूँकि '**चैत्रो भावं न पश्यति**' के द्वारा यही 'भावानिरूपितलौकिकविषयिताशालिचाक्षुषप्रत्यक्षाश्रयत्वाभाव ही' चैत्र में बोधित होता है, जो कि अबाधित है। इसलिए चैत्र जब भावमात्र को देख रहा है उस काल में भी इस वाक्य से जन्यबोध के अबाधित होने के कारण इस वाक्यप्रयोग की आपत्ति है, ऐसा वाक्यप्रयोग होना चाहिए।

**एवम् 'आकाशं न पश्यति घटः' इत्यादावाकाशाद्यनिरूपितलौकिकविषयिताशालिचाक्षुषाश्रयत्वाभावस्य वाक्यार्थत्वे यदाऽऽकाशाद्यतिरिक्त पदार्थविषयकचाक्षुषाश्रयत्वभ्रमो घटादौ तदाकाशाद्यनिरूपितलौकिकविषयिताशालिचाक्षुषाश्रयत्वनिश्चयरूपप्रतिबन्धकसत्त्वेन तादृशवाक्यजन्यशाब्दबोधानुपपत्तिः। यथा 'चैत्रो घटं पश्यति' इति निश्चयदशायां 'पटं न पश्यति चैत्रः' इत्यादिवाक्यजन्यदशाब्दबोधोत्पादोऽनुभवसिद्धस्तथैवोक्तभ्रमदशायाम् 'आकाशं न पश्यति घटः' इत्यादिवाक्यजन्यबोधोत्पादोऽपीति न तत्रेष्टापत्तिः सम्भवति।**

इसी प्रकार '**आकाशं न पश्यति घटः**' इत्यादि स्थलों में '**आकाशाद्यनिरूपितलौकिकविषयिताशालिचाक्षुषश्रयत्वाभाववान् घटः**' 'आकाशादि से अनिरूपित लौकिक विषयिताशालिचाक्षुषाश्रयत्व के अभाव वाला घट है' ऐसा शाब्दबोध यदि स्वीकार्य हो तो जब घटादि में आकाशाद्यतिरिक्त पदार्थ विषयक चाक्षुषाश्रयत्व का भ्रम हो जाये '**घट आकाशातिरिक्तविषयकचाक्षुषाश्रयः**' 'घट आकाशातिरिक्त विषयक चाक्षुष का आश्रय है' ऐसा भ्रम हो जाये । तब '**आकाशं न पश्यति घटः**' इस वाक्य से जन्य शाब्दबोध की अनुपपत्ति होगी क्योंकि इस वाक्य से जन्य उपर्युक्त बोध के प्रति घट में आकाशाद्यतिरिक्तपदार्थविषयकचाक्षुषाश्रयत्व का निश्चय प्रतिबन्धक होगा। शाब्दबोध के द्वारा ऐसे चाक्षुषाश्रयत्व का अभाव ही अवगाहित होता है। जबकि जैसे '**चैत्रो घटं पश्यति**' इस निश्चय की दशा में '**पटं न पश्यति चैत्रः**' इत्यादि वाक्य जन्यशाब्दबोध का उत्पाद अनुभवसिद्ध है क्योंकि इन दोनों वाक्यों से जन्य बोधों में कोई विरोध होने की गुञ्जाइश नहीं है। उसी प्रकार 'घट आकाशातिरिक्तविषयक चाक्षुषप्रत्यक्ष का आश्रय है' इस भ्रम की दशा में

**'आकाशं न पश्यति घटः'** इत्यादि वाक्यों से जन्य शाब्दबोध अनुभवसिद्ध है। क्योंकि घट के आकाशातिरिक्तविषयक चाक्षुषप्रत्यक्ष का आश्रय होने में और आकाशविषयक चाक्षुषप्रत्यक्ष का आश्रय न होने में स्वरूपतः कोई विरोध होने की सम्भावना नहीं है। इसीलिए यदि कहो कि भई घट में आकाशातिरिक्तविषयक चाक्षुषप्रत्यक्षाश्रयत्व का भ्रम होने की दशा में **'आकाशं न पश्यति घटः'** इत्यादि वाक्य से शाब्दबोधोत्पाद न होना इष्ट ही है तो यह इष्टापत्ति सम्भव नहीं है। इसलिए नञ् का दो बार भान मानते हुए भी उक्ताकारक शाब्दबोध का उपपादन उचित नहीं है। नञ् का भान एक बार ही मानना चाहिए।

**यच्चालौकिकविषयिताशून्यचाक्षुषत्वावच्छेदेनाकाशादिविषयकत्व घटादिवृत्तित्वोभयाभाव एव 'आकाशं न पश्यति' इतिवाक्यात् प्रतीयते। उपनीताकाशादिविषयकचाक्षुषे आकाशादिविषयकत्वचैत्रादिवृत्तित्वोभयसत्त्वेन 'चैत्र आकाशं न पश्यति' इत्यादिप्रयोगानुपपत्तिः, घटादौ तादृशचाक्षुषाद्याश्रयत्वभ्रमदशायाम् 'घट आकाशं न पश्यति' इत्यादिवाक्याच्छाब्दबोधानुपपत्तिश्चेत्यलौकिकविषयिताशून्यत्वेन चाक्षुषादिकं विशेषितम्। आकाशविषयकचाक्षुषाद्युपनीतभानस्यापीतरांशेऽलौकिकत्वात् तादृशानुपपत्तितादवस्थ्यमतो लौकिकत्वविशेषणमुपेक्षितम्।**

उपर्युक्त रीति से नञ् का दो बार भान स्वीकार करके भी **'घट आकाशं न पश्यति'** इत्यादि स्थलों में शाब्दबोध का उपपादन सम्भव नहीं है। अब अन्य रीति से उक्त स्थल में शाब्दबोधोपपादनसम्भावना पर विचार कर रहे हैं कि–

जो यह कहते हैं कि अलौकिकविषयिताशून्य चाक्षुषत्वावच्छेदेन आकाशादिविषयकत्व और घटादिवृत्तित्व उभय का अभाव ही **'आकाशं न पश्यति'** इत्यादि स्थलों में प्रतीत होता है। अर्थात् **'अलौकिकविषयिताशून्यचाक्षुषप्रत्यक्षम् आकाशादिविषयकत्वघट-वृत्तित्वोभयाभाववत्'** 'अलौकिकविषयिताशून्य चाक्षुषप्रत्यक्ष आकाशादिविषयकत्वघट-वृत्तित्वोभयाभाववाला है' ऐसा शाब्दबोध **'घट आकाशं न पश्यति'** से हुआ करता है। इस प्रकार से शाब्दबोध का स्वीकार करने पर उपर्युक्त आपत्तियाँ निस्तारित हो जायेंगी। आपत्ति थी कि **'चैत्रो घटं न पश्यति' 'चैत्र आकाशं न पश्यति'** से अविलक्षण बोध नहीं हो सकेगा। वह अब उपपन्न होगा क्योंकि तादृश चाक्षुष प्रत्यक्ष में क्रमशः घटाविषयकत्व और चैत्रवृत्तित्वोभयाभाव का तथा आकाशविषयकत्व और चैत्रवृत्तित्वोभयाभाव का ही अवगाहन उक्त वाक्यों से जन्य शाब्दबोधों के द्वारा होगा। पटादिप्रत्यक्ष काल में **'चेत्रो घटं न पश्यति'** प्रयोग की अनुपपत्ति भी नहीं है क्योंकि तादृशचाक्षुष में घटविषयकत्वचैत्र-वृत्तित्वोभयाभाव तो विद्यमान ही है। भावमात्रप्रत्यक्ष काल में **'चैत्रो भावं न पश्यति'** प्रयोग की आपत्ति भी नहीं है क्योंकि भावविषयकचाक्षुषप्रत्यक्ष में भावविषयकत्व और चैत्रवृत्तित्व दोनों ही विद्यमान है, अतः उक्तोभयाभावबोधन बाधित होने के कारण इस वाक्य के द्वारा नहीं बोधित हो सकता है। घट में आकाशाद्यतिरिक्त पदार्थविषयक चाक्षुषाश्रयत्व भ्रम दशा में **'आकाशं न पश्यति घटः'** इस वाक्य से जन्य शाब्दबोध की भी अनुपपत्ति नहीं है क्योंकि उक्त भ्रमदशा में भी चाक्षुषप्रत्यक्ष में आकाशविषयकत्वघटवृत्तित्वोभयाभाव अबाधित ही है। इस प्रकार उपर्युक्त आपत्तियाँ नहीं हैं।

अलौकिकविषयिताशून्यचाक्षुषत्वावच्छेदेन उक्तोभयाभाव की प्रतीति क्यों स्वीकारते हैं? सामान्यतः चाक्षुषत्वावच्छेदेन उक्तोभयाभाव की प्रतीति क्यों नहीं स्वीकारते हैं? इस का उत्तर यह है कि यदि सामान्यतः चाक्षुषत्वावच्छेदेन उक्तोभयाभाव की प्रतीति **'आकाशं न पश्यति'** इत्यादि वाक्यों से स्वीकार करेंगे तो उपनीत (ज्ञानलक्षणसन्निकर्ष से भास्य) आकाशादिविषयक चाक्षुषप्रत्यक्ष में आकाशविषयकत्व और चैत्रवृत्तित्व दोनों ही विद्यमान हैं। इसलिए ज्ञानलक्षणसन्निकर्ष से जब आकाशविषयक चाक्षुष प्रत्यक्ष हो रहा होगा, उस काल में **'चैत्र आकाशं न पश्यति'** यह प्रयोग बाधित विषयक होने के कारण अनुपपन्न हो जायेगा । जबकि उस काल में **'चैत्र आकाशं न पश्यति'** ऐसा प्रयोग हुआ करता है। इसलिए चाक्षुषात्वावच्छेदेन उक्तोभाव की प्रतीति उक्तवाक्यप्रयोग स्थलों में नहीं स्वीकारी जा सकती है।

इसके अलावा घट में तादृशाचाक्षुषाश्रयत्वभ्रमदशा में–**'घट आकाशविषयकालौकिकचाक्षुषप्रत्यक्षाश्रयः'** 'घट आकाशविषयक अलौकिकचाक्षष प्रत्यक्ष का आश्रय है' इस प्रकार के भ्रम की दशा में **'घट आकाशं न पश्यति'** इस वाक्य से शाब्दबोध की अनुपपत्ति है। क्योंकि इस वाक्य से चाक्षुषप्रत्यक्षत्वावच्छेदेन आकाशविषयकत्व घटवृत्तित्वोभयाभाव ही बोध्य होगा किन्तु उक्त भ्रम के द्वारा चाक्षुषप्रत्यक्ष में आकाशाविषयकत्व और घटवृत्तित्व दोनों ही निश्चित है, इसलिए चाक्षुषत्वावच्छेदेन आकाशविषयकत्वघटवृत्तित्वोभयाभावविषयक शाब्दबोध बाधिताविषयक हो जायेगा। इस कारण अलौकिकविषयिता शून्य चाक्षुषत्वावच्छेदेन उक्तोभयाभाव की प्रतीति होती है **'आकाशं न पश्यति'** इत्यादिवाक्यों के द्वारा यही कहते हैं। चाक्षुष में आलौकिकविषयिताशून्यत्व विशेषण देते हैं। अलौकिकविषयिताशून्यत्व विशेषण चाक्षुष में दे देने से ये दोनों ही आपत्तियाँ वारित हो जाती है क्योंकि ज्ञानलक्षणासन्निकर्ष से होनेवाला आकाशविषयक चाक्षुषप्रत्यक्ष तो अलौकिक विषयिताशून्य है नहीं । इसलिए ज्ञानलक्षणा द्वारा आकाशविषयकचाक्षुषप्रत्यक्ष में आकाशविषयकत्व और चैत्रवृत्तित्व रहने पर भी अलौकिकविषयिताशून्यचाक्षुष में (तादृशचाक्षुषत्वावच्छेदेन) आकाशविषयकत्व, चैत्रवृत्तित्वोभावाभाव रूप अबाधित अर्थ को बोधित करने वाले **'चैत्रं आकाशं न पश्यति'** इस प्रयोग की अनुपपत्ति नहीं है। इसके अतिरिक्त घट में आकाशविषयक अलौकिकप्रत्यक्षाश्रयत्व भ्रम दशा में **'घट आकाशं न पश्यति'** इस वाक्य से शाब्दबोध की भी अनुपपत्ति नहीं है क्योंकि उक्त भ्रम से अलौकिकविषयिताशून्यचाक्षुषत्वावच्छेदेन आकाशविषयकत्व घटवृत्तित्वोभयाभावावगाही शाब्दबोध का कोई भी विरोध नहीं है। क्योंकि भ्रम द्वारा अलौकिक प्रत्यक्ष में आकाशविषयकत्व और घटवृत्तित्व बोधित होता है और शाब्दबोध द्वारा अलौकिकविषयिताशून्यप्रत्यक्ष में उक्तोभाव बोधित होता है।

यहाँ पर अलौकिकविषयिताशून्यत्व विशेषण के स्थान पर लौकिकत्व विशेषण क्यों नहीं दिया ? दोनों से तकरीबन एक ही बात बोधित होती है फिर अभावद्वय घटित विशेषण क्यों दिया? तो इस प्रश्न का समाधान ग्रन्थकार यह देते हैं कि–आकाशविषयक चाक्षुष उपनीत (ज्ञानलक्षणासन्निकर्ष प्रयोज्य) भान के भी उत्तर अंश में लौकिक होने के कारण उक्त अनुपपत्ति विद्यमान रहेगी इसलिए लौकिकत्व विशेषण की उपेक्षा कर दी।

भाव यह है कि लौकिकत्व विशेषण देने पर **'आकाशं न पश्यति'** इत्यादि स्थलों पर लौकिकचाक्षुषत्वावच्छेदेन आकाशविषयकत्व और चैत्रादिवृत्तित्व उभयाभाव का अवगाहन शाब्दबोध द्वारा होता है यही आप को स्वीकारना पड़ेगा। तो **'आकाशे पक्षी विद्यते'**

इत्यादि जो ज्ञान है वह लौकिक चाक्षुषप्रत्यक्ष है। आकाश अंश में अलौकिक और पक्षी अंश में लौकिक है। इस प्रकार के प्रत्यक्ष के काल में **'चैत्र आकाशं न पश्यति'** इत्याकारक वाक्यप्रयोग की अनुपपत्ति होगी क्योंकि उक्त लौकिकचाक्षुषप्रत्यक्ष में आकाशविषयकत्व और चैत्रवृत्तित्व दोनों है और शाब्दबोध द्वारा लौकिकप्रत्यक्षचाक्षुषत्वावच्छेदेन उक्त दोनों (आकाशविषयकत्व चैत्रवृत्तित्वोभय) का अभाव ही बोधित हो रहा है। अथः शाब्दबोध बाधितविषयक है। अलौकिकविषयिताशून्यत्व विशेषण देने पर तो यह दोष नहीं है क्योंकि उक्त प्रत्यक्ष अलौकिकविषयिताशून्य नहीं है। चूँकि अलौकिकविषयिताशून्य प्रत्यक्ष में आकाशविषयकत्व, चैत्रवृत्तित्व दोनों नहीं बोधित हो रहे हैं उक्त प्रत्यक्ष के द्वारा शाब्दबोध द्वारा उक्तोभयाभाव अलौकिकविषयिताशून्य प्रत्यक्ष में ही बोधित हो रहा है। अतः शाब्दबोध अबाधित होने से अनुपपन्न नहीं है।

**अत्रालौकिकविषयिताशून्यचाक्षुषत्वाद्यवच्छिन्नस्य 'घट आकाशं न पश्यति' इत्यादौ शक्त्या धात्वर्थसम्भवेऽपि प्रकृते तस्यैव लक्षणया धात्वर्थत्वमुपेयते। विषयितासामान्यमेव च द्वितीयार्थः, आश्रयत्वं द्वित्वं निरूपकत्वञ्चाख्यातार्थः। आश्रयत्वे व्युत्पत्तिवैचित्र्यात् प्रथमान्तपदार्थघटादेस्तस्य निरूपकत्वे विशेषणतयान्वयः, तादृशनिरूपकत्वद्वितीयान्तार्थाकाशादिविषयकत्वयोश्च प्रकारतया द्वित्वान्वयः, द्वित्वाद्यवच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वसम्बन्धेन तादृशोभयस्य नञर्थाभावे तस्यान्वयितावच्छेदकनिरुक्तधर्मावच्छेदेन धात्वर्थेन्वयः, धात्वर्थस्य प्रकृते मुख्यविशेष्यतयैव भानम्।**

**'आकाशं न पश्यति'** यहाँ पर शाब्दबोध के द्वारा अलौकिकविषयिताशून्यचाक्षुषत्वावच्छेदेन उक्तोभयाभाव की प्रतीति होती है. यह जो कहा उसमें विषयीभूत पदार्थों की उपस्थिति कैसे होगी? यह प्रश्न है, क्योंकि विना पदार्थोपस्थिति के शाब्दबोध होना तो सम्भव ही नहीं है। इसलिए शाब्दबोध विषयीभूत पदार्थों की उपस्थिति कैसे होती है और कैसे उनका अन्वयबोध होता है यह बता रहे हैं कि–

यहाँ पर अलौकिकविषयिताशून्यचाक्षुषत्वादि से अवच्छिन्न का शक्तिनिरूपितधात्वर्थत्व असम्भव होने पर भी (क्योंकि दृश् धातु का अर्थ तो चाक्षुषप्रत्यक्ष ही है)प्रकृतस्थल **'घट आकाशं न पश्यति'** इत्यादि स्थलों में अलौकिकविषयिताशून्यचाक्षुषत्वावच्छिन्न की लक्षणा द्वारा दृश् धात्वर्थता मानते हैं। अर्थात् अलौकिकविषयिताशून्यचाक्षुष में दृश् धातु की लक्षणा करते हैं। विषयितासामान्य ही द्वितीया का अर्थ है। आख्यात का अर्थ आश्रयत्व, द्वित्व और निरूपकत्व है। ये तो हो गये पदार्थ इनका अन्वय इस प्रकार से होता है–व्युत्पत्ति की विचित्रता से प्रथमान्तपदार्थ घट का आश्रयत्व में और घटाश्रयत्व का निरूपकत्व में विशेषणतया अन्वय होता है। इस प्रकार घटाश्रयत्वनिरूपकत्व का और **'आकाशम्'** इस द्वितीयान्त के अर्थ आकाशविषयकत्व का (आकाश का अर्थ आकाश और द्वितीया का अर्थ हुआ विषयित्व यानी विषयकत्व इस प्रकार द्वितीयान्त का अर्थ आकाशविषयकत्व हुआ उसका) प्रकारतया द्वित्व में अन्वय होता है। तथा द्वित्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्व सम्बन्ध से तादृशोभय का नञ् के अर्थ अभाव में अन्वय होता और उस अभाव का अन्वयितावच्छेदकीभूत अलौकिकविषयिताशून्यचाक्षुषत्व धर्मावच्छेदेन धात्वर्थ में अन्वय होता है। तथा इस शाब्दबोध में धात्वर्थ ही मुख्यविशेष्य बनकर भासता है। इस प्रकार अन्वय होकर अन्वयबोध का आकार होता है–**'घटाश्रयत्वनिरूपकत्व,**

**आकाशविषयकत्व एतद्द्वित्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभाववत् अलौकिकविषयिता-शून्यचाक्षुषप्रत्यक्षम्** ' 'घटाश्रयत्वनिरूपकत्व, आकाशविषयकत्व एतदुभयत्वावच्छिन्न प्रतियोगिताक अभाव वाला अलौकिकविषयिताशून्यचाक्षुषप्रत्यक्ष है'।

इस शाब्दबोध में सबसे बड़ी दिक्कत यह है कि शाब्दबोध धात्वर्थमुख्यविशेष्यक स्वीकार जा रहा है। जबकि नैयायिक शाब्दबोध को प्रथमान्तार्थमुख्यविशेष्यक स्वीकारते हैं।

**अथवा स्वनिष्ठान्योन्याभावप्रतियोगितानवच्छेदकत्वरूपव्यापकतासम्बन्धेन धात्वर्थस्य तादृशोभयाभावेऽन्वयः, तस्य चाख्यातार्थनिरूपकत्वे, तस्य प्रथमान्तार्थपदार्थे घटादौ घटादेः प्रतियोगितावच्छेदकघटकतया तादृशाभाव-निरूपकत्वात्, एवञ्चान्वयबोधस्य प्रथमान्तपदार्थमुख्यविशेष्यकत्वनियमस्यापि न क्षतिरिति।**

अथवा स्वनिष्ठ अन्योन्याभावप्रतियोगितानवच्छेदकत्व रूप व्यापकता सम्बन्ध से (स्वनिष्ठान्योभावप्रतियोगितानवच्छेदकत्व ही स्वव्यापकत्व है, उक्त सम्बन्ध से) धात्वर्थ का तादृशोभयाभाव में अन्वय करेंगे। तादृशोभयाभाव से आकाशविषयकत्व घटवृत्तित्व उभयाभाव ग्राह्य है। और उस उभयाभाव का आख्यात के अर्थ निरूपकत्व में अन्वय करेंगे और उस निरूपकत्व का प्रथमान्तपदार्थ घटादि में अन्वय होगा। चूँकि घटादि प्रतियोगितावच्छेदक घटक है '**आकाशविषयकत्वघटवृत्तित्वोभयं नास्ति**' 'आकाशविषयकत्व और घटवृत्तित्व दोनों नहीं हैं' इस अभाव का प्रतियोगितावच्छेदक उभयत्व हुआ। प्रतियोगितावच्छेदक उभयत्वकोटि में घट भी प्रविष्ट है क्योंकि उभयत्व में घट भी विशेषण है। इस प्रकार जो अन्वयबोध होता है, उस अन्वयबोध में प्रथमान्तपद का अर्थ ही मुख्य विशेष्य बनता है। इसलिए प्रथमान्तपदार्थ के मुख्यविशेष्यकत्व नियम की भी क्षति नहीं है।

यहाँ पर धात्वर्थ का अन्वय स्वनिष्ठान्योन्याभावप्रतियोगितानवच्छेदक सम्बन्ध से उक्त उभयाभाव में सम्भव है। क्योंकि स्वमाने धात्वर्थ, धात्वर्थ में रहनेवाला जो अन्योन्याभाव (भेद), धात्वर्थ अलौकिकविषयिताशून्यचाक्षुषप्रत्यक्ष में रहनेवाला जो भी भेद हो घट भेद, पटभेद इत्यादि, '**तादृशोभयाभाववान् न** ' यह भेद तो नहीं मिलेगा यदि यह भेद मिलता तब धात्वर्थनिष्ठभेद का प्रतियोगितावच्छेदक तादृशोभयाभाव होता । यह भेद तो धात्वर्थ निष्ठ है नहीं, इसलिए धात्वर्थनिष्ठभेद का प्रतियोगितानवच्छेदक तादृशोभयाभाव हो गया तादृशप्रतियोगितान-वच्छेदकत्व तादृशोभयाभाव में है। इस प्रकार स्वनिष्ठान्योन्याभाव प्रतियोगितानवच्छेदकत्व सम्बन्ध से धात्वर्थ अलौकिकविषयिताशून्यचाक्षुषप्रत्यक्ष का अन्वय तादृशोभयाभाव में हो गया। तादृशोभयाभावनिरूपकत्व का अन्वय प्रथमान्त पदार्थ घट में हो सकता है क्योंकि घट तादृशोभयाभावीयप्रतियोगितावच्छेदक घटक है और प्रतियोगि, प्रतियोगिता, प्रतियोगितावच्छेदक, प्रतियोगितावच्छेदकता घटक सभी अभाव के निरूपक होते हैं। इस प्रकार यहाँ पर '**धात्वर्थनिष्ठभेदप्रतियोगितानवच्छेदकीभूत 'आकाशविषयकत्वघटवृत्तित्वोभयाभाव' निरूपकत्वाश्रयो घटः**' 'धात्वर्थनिष्ठ भेद प्रतियोगितानवच्छेदक जो आकाशविषयकत्वघट-वृत्तित्वोभयाभाव तन्निरूपकत्व का आश्रय घट है' ऐसा शाब्दबोध होता है। तथा इस शाब्दबोध में प्रथमान्तपदोस्थाप्य घट ही मुख्य विशेष्य होता है।

**तदपि न—घटादिविषयकचाक्षुषादेः कालिकादिसम्बन्धेन घटादिवृत्तितया 'घटो घटं न पश्यति' इति प्रयोगानुपपत्तेः, आकाशविषयकत्वावच्छिन्ने चाक्षुषे कालिकादिसम्बन्धेन घटादिवृत्तित्वनिश्चयदशायाम् 'घट आकाशं**

**न पश्यति' इति वाक्याच्छाब्दबोधानुपपत्तेश्च 'अभाव आकाशं न पश्यति' इत्यादावभावसमवेत्वाप्रसिद्ध्या वाक्यार्थाप्रसिद्धेः दुर्वारत्वात् ।**

तो यह ठीक नहीं है (यहाँ पर **यच्च** इस प्रतीक से उठाया गया जो पक्ष था और **अथवा** इस प्रतीक से जो न्यायसिद्धान्तानुकूल व्यवस्थापित किया गया था वह पक्ष खण्डित किया जा रहा है) क्योंकि घटादिविषयक चाक्षुष के भी कालिक सम्बनध से घटादि वृत्ति होने के कारण '**घटो घटं न पश्यति**' इस प्रयोग की अनुपपत्ति है। आकाशविषयकत्वावच्छिन्नचाक्षुष में कालिकादि सम्बन्ध से घटादिवृत्तित्व निश्चयदशा में '**घट आकाशं न पश्यति**' इस वाक्य से शाब्दबोध की भी अनुपपत्ति है। इसलिए समवाय सम्बन्ध से घटादिवृत्तित्व, आकाशविषयकत्वोभयाभाव का भान हुआ करता है यही स्वीकारना पड़ेगा और ऐसा स्वीकारने पर '**अभाव आकाशं न पश्यति**' इत्यादि स्थलों में अभाव समवेतत्व की ही अप्रसिद्धि होने के कारण वाक्यार्थ की अप्रसिद्धि दुर्वार है।

अभिप्राय यह है कि सामान्यतः विना किसी सम्बन्ध का निवेश किये घटवृत्तित्व का उक्त उभयाभाव प्रतियोगिघटकतया निवेश करना सम्भव नहीं है क्योंकि '**घटो घटं न पश्यति**' इस प्रयोग की अनुपपत्ति होगी यदि विना किसी सम्बन्ध का निवेश किये घटवृत्तित्व का निवेश उभयाभावप्रतियोगिघटकतया कर दिया जाये तो, क्योंकि इस वाक्य से बोध्य होगा अलौकिकविषयिताशून्यचाक्षुषप्रत्यक्ष में घटवृत्तित्व और घटविषयकत्व दोनों का अभाव, किन्तु अलौकिकविषयिताशून्यचाक्षुष प्रत्यक्ष में घटवृत्तित्व और घटविषयकत्व दोनों ही विद्यमान हैं। इसलिए उक्त वाक्यजन्यबोध बाधित होगा, इस प्रकार उक्तवाक्य प्रयोग की अनुपपत्ति है। भाव ये कि जब कर्ता में यद्विषयक प्रत्यक्ष वृत्ति नहीं होता है तब कर्ता उसको नहीं देख रहा है ऐसा प्रयोग होता है। यहाँ पर घटरूपकर्ता में घटविषयकप्रत्यक्ष कालिक सम्बन्ध से वृत्ति ही है। इसलिए '**घटो घटं न पश्यति**' ऐसा प्रयोग नहीं होना चाहिए।

इसी प्रकार आकाशविषयक चाक्षुषप्रत्यक्ष[1] में कालिकसम्बन्ध से घटादिवृत्तित्व निश्चय हो जाये, जो कि सम्भव ही है क्योंकि घट जन्य है, जन्य में कालिक सम्बन्ध से समानकालीन कोई भी वस्तु रहती है। तो ऐसी स्थिति में '**घट आकाशं न पश्यति**' से शाब्दबोध नहीं होना चाहिए क्योंकि इस वाक्य से तादृशचाक्षुष प्रत्यक्ष में घटवृत्तित्व, आकाशविषयकत्व दोनों का अभाव बोधित होता है किन्तु यहाँ पर तादृश चाक्षुष प्रत्यक्ष में घटवृत्तित्व और आकाशविषयकत्व दोनों ही विद्यमान हैं।

इसलिए समवायसम्बन्धावच्छिन्न घटादिवृत्तित्व का उभयाभावप्रतियोगिघटकतया प्रवेश करना पड़ेगा। '**घटो घटं न पश्यति**' में चूँकि अलौकिकविषयिताशून्यचाक्षुषप्रत्यक्ष में कालिकसम्बन्ध से घटवृत्तित्व होने पर भी समवाय से घटवृत्तित्व नहीं है। इस कारण समवायसम्बन्ध से घटवृत्तित्व और घटविषयकत्व दोनों का अभाव तादृश प्रत्यक्ष में विद्यमान ही है। अतः शाब्दबोध अबाधित है। '**घट आकाशं न पश्यति**' यहाँ पर भी इसी प्रकार से उभयाभाव तादृश प्रत्यक्ष में मिल जायेगा क्योंकि आकाशविषयक चाक्षुष प्रत्यक्ष में कालिक सम्बन्ध से घटवृत्तित्व होते हुए समवायसम्बन्ध से घटवृत्तित्व नहीं है। अतः उभयाभाव सुलभ है।

किन्तु इस प्रकार से कहने पर '**अभाव आकाशं न पश्यति**' यहाँ पर वाक्यार्थ की

---

टिप्पणी–1–यद्यपि आकाशविषयक अलौकिकविषयिताशून्य चाक्षुष सम्भव नहीं है तथापि अलौकिकविषयिताशून्यत्वभ्रमविशिष्ट चाक्षुषप्रत्यक्ष से यहाँ पर आशय प्रतीत होता है।

अप्रसिद्धि दुर्वार है क्योंकि अभावसमवेतत्व (अभावनिरूपितसमवायसम्बन्धावच्छिन्न वृत्तित्व) तो अप्रसिद्ध है। कारण यह है कि अभाव में तो कोई भी समवाय सम्बन्ध से नही रहता है। इसलिए अभावसमवेतत्व घटित अभावसमवेतत्व आकाशविषयकत्व उभयाभाव भी अप्रसिद्ध ही होगा। इस वाक्य के द्वारा उक्तोभयाभाव ही तादृश प्रत्यक्ष में बोधित होता है, इस तरह वाक्यार्थ अप्रसिद्धि से शाब्दबोध सम्भव नहीं है।

**चैत्रादेरतीतचाक्षुषस्य घटादिविषयकत्वेऽपि समयविशेषे 'चैत्रो घटं न पश्यति' इति प्रयोगाद् वर्तमानतादृशचाक्षुषत्वाद्यवच्छेदेनोभयाभावभानस्य प्रतियोगिकोटौ वर्तमानत्वमन्तर्भाव्य त्रित्वावच्छिन्नाभावस्य वा स्वीकरणीयतया यदा किञ्चिदंशेऽलौकिकमेव घटादिचाक्षुषं तस्य वर्तते तदा 'चैत्रो घटं न पश्यति' इति प्रयोगापत्तेर्दुर्वारत्वात् –वर्तमानालौकिकविषयिताशून्यचाक्षुषत्वाद्यवच्छेदेन चैत्रवृत्तित्वघटविषयकत्वोभयाभावसत्त्वात् ।**

इसके अलावा —चैत्रादि के अतीत (भूतकालीन) चाक्षुष के घटादिविषयक होने पर भी समय विशेष में (वर्तमानकाल में) **'चैत्रो घटं न पश्यति'** ऐसा प्रयोग होने के कारण वर्तमान तादृशचाक्षुषत्वाद्यवच्छेदेन या तो उक्तोभयाभावज्ञान स्वीकरणीय होगा, या तो प्रतियोगि कोटि में वर्तमानत्व का अन्तर्भाव करके त्रित्वावच्छिन्नाभाव का भान स्वीकरणीय होगा, इस परिस्थिति में जब किसी अंश में घटादि चाक्षुष अलौकिक है उस समय **'चैत्रो घटं न पश्यति'** इस प्रयोग की आपत्ति दुर्निवार होगी क्योंकि वर्तमान अलौकिकविषयिता शून्यचाक्षुषत्वावच्छेदेन चैत्रवृत्तित्व और घटविषयकत्वोभयाभाव विद्यमान है।

इस ग्रन्थ का कथ्य यह है कि अलौकिकविषयिताशून्यचाक्षुषत्वावच्छेदेन (तादृश चाक्षुष में) कर्तृ (घटादि) वृत्तित्व और कर्म (आकाशादि) विषयकत्वोभयाभाव का अवगाहन नञ् समभिव्याहृतदृश्‌धातुघटितवाक्य के द्वारा आप स्वीकार कर रहे हैं। इस स्थिति में **'चैत्रो घटं न पश्यति'** ऐसा प्रयोग नहीं हो सकेगा। वर्तमान काल में चैत्र को अलौकिकविषयिताशून्य घटचाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं हो रहा है, उस समय भी यह प्रयोग नहीं हो सकता है क्योंकि चैत्र का जो अतीत तादृश प्रत्यक्ष है उसमें चैत्र वृत्तित्व और घटविषयकत्व दोनों ही विद्यमान है। इस तरह अलौकिकविषयिताशून्यचाक्षुष में चैत्रवृत्तित्व और घट विषयकत्व दोनों ही विद्यमान हैं और उक्त वाक्य के द्वारा तादृशचाक्षुष में उक्त दोनों का अभाव ही बोधित होता है, इसलिए बाधित है। इस कारण यह प्रयोग अनुपपन्न होगा। इसलिए आपको या तो यह कहना पड़ेगा कि वर्तमान अलौकिकविषयिताशून्यचाक्षुषत्वावच्छेदेन उक्तोभयाभाव का भान हुआ करता है। अथवा यह कहना पड़ेगा कि अलौकिकविषयिताशून्यचाक्षुषत्वावच्छेदेन वर्तमानत्व, घटादि (कर्तृ) वृत्तित्व और आकाशादि (कर्म) विषयकत्व एतत्त्रितयाभाव का भान होता है। यह स्वीकारने पर उक्त आपत्ति तो वारित हो जायेगी क्योंकि जब चैत्र घट को नहीं देख रहा है उस काल में वर्तमान अलौकिकविषयिताशून्यचाक्षुषत्वावच्छेदेन चैत्रवृत्तित्वघट विषयकत्वोभयाभाव विद्यमान ही है, इसके अलावा अलौकिकविषयिताशून्यचाक्षुषत्वावच्छेदेन चैत्रवृतित्त्वघटविषयकत्व, वर्तमानत्व त्रितयाभाव भी विद्यमान ही है। अतः उक्त वाक्य से शाब्दबोध अबाधित है। किन्तु इस पक्ष में समस्या यह है कि जिस समय किसी अंश में घटविषयक चाक्षुषप्रत्यक्ष अलौकिक है जैसे चैत्र को **'आकाशे घटः'** ऐसा चाक्षुष प्रत्यक्ष हो रहा हो इसमें घट का प्रत्यक्ष तो लौकिक प्रत्यासत्ति से हो रहा है और आकाश का ज्ञानलक्षणासन्निकर्ष से। तो यह प्रत्यक्ष है वह आकाश अंश में अलौकिक होने

के कारण अलौकिकविषयिताशून्य नहीं है। इस प्रत्यक्ष के काल में '**चैत्रो घटं पश्यति**' प्रयोग ही होता है '**चैत्रो घटं न पश्यति**' प्रयोग नहीं होता है। किन्तु होने लगेगा क्योंकि इस वाक्य से वर्तमान अलौकिकविषयिताशून्यचाक्षुषत्वावच्छेदेन चैत्रवृत्तित्व घटविषयकत्वोभयाभाव का भान होता है। घट का जो प्रत्यक्ष हो रहा है वह तो अलौकिक विषयिताशून्य नहीं है। उससे भिन्न जो भी वर्तमान अलौकिकविषयिताशून्यचाक्षुष है उसमें घटविषयकत्व, चैत्रवृत्तित्वोभयाभाव विद्यमान ही है। इस प्रकार अबाधित विषय का अवगाहन इस वाक्य से जन्य बोध में हो रहा है। अतः '**चैत्रो घटं न पश्यति**' प्रयोग की आपत्ति दुर्निवार है। इसका निवारण शक्य नहीं है।

**समानेन्द्रियजन्योपनीतभानादौ लौकिकप्रत्यक्षसामग्र्या विरोधित्वस्य निष्प्रामाणिकतया लौकिकविषयितानियामकोपनायकज्ञानादिसमवहित-लौकिकसन्निकर्षाद् घटादिनिरूपितलौकिकालौकिकोभयविषयिताशालि-चाक्षुषादेरुत्पत्त्या तादृशचाक्षुषादिदशायामुक्तप्रयोगापत्तेः।**

समान इन्द्रिय से जन्य उपनीत भानादि में लौकिकप्रत्यक्षसामग्री के विरोधित्व के निष्प्रामाणिक होने के कारण लौकिकविषयिता नियामक जो उपनायकज्ञान से समवहित लौकिक सन्निकर्ष उससे घटादिनिरूपित लौकिक और अलौकिक उभयविषयिताशालिचाक्षुष की उत्पत्ति होने के कारण तादृशचाक्षुषदशा में उक्त प्रयोग की आपत्ति है।

पूर्व ग्रन्थ के द्वारा किञ्चिदंश में अलौकिक घटादि चाक्षुष की दशा में '**चैत्रो घटं न पश्यति**' इस प्रयोग की आपत्ति जो प्रदर्शित की गयी, उसी की इस ग्रन्थ के द्वारा तर्कमुखेन पुष्टि की जा रही है कि–चूँकि समान (एक ही) इन्द्रिय से उत्पन्न होने वाले ज्ञानलक्षणसन्निकर्ष के अधीन ज्ञान (उपनीत भान) के प्रति लौकिकप्रत्यक्षसामग्री का विरोधित्व किसी भी प्रमाण से सिद्ध नहीं है। इसलिए लौकिकविषयिता का नियामक जो लौकिकसन्निकर्ष है वह लौकिकसन्निकर्ष उपनीत भान को पैदा करने वाले (उपनायक) ज्ञान से समवहित अगर हो जाये तो ऐसे उस लौकिकसन्निकर्ष से लौकिक और अलौकिक उभयविषयिताशालिचाक्षुष प्रत्यक्ष की उत्पत्ति होती है। जैसे'**सुरभि चन्दनम्** ' यह चाक्षुष प्रत्यक्ष होता है। इस चाक्षुष प्रत्यक्ष में लौकिकालौकिकोभयविषयिता है। चन्दनविषयिता चक्षु और चन्दन के संयोगरूप लौकिकसन्निकर्ष से प्रयोज्य है, वह लौकिकविषयिता है। चन्दन लौकिकविषयिता का नियामक जो चक्षुःसंयोग रूप लौकिकसन्निकर्ष है, वह सौरभस्मरणरूप उपनायक ज्ञान (ज्ञानलक्षणासन्निकर्ष द्वारा सौरभविषयकज्ञान को पैदा करने वाले ज्ञान) से समवहित है। इस प्रकार उक्त लौकिकसन्निकर्ष चक्षुःसंयोग से ही लौकिक चन्दनविषयिताशालि और अलौकिकसौरभविषयिताशालि एक ही '**सुरभि चन्दनम्**' ऐसे ज्ञान की उत्पत्ति होती है। वैसे ही '**आकाशे घटः**' इस प्रकार का भी आकाशांश में अलौकिकविषयिताशालि और घट अंश में लौकिकविषयिताशालिचाक्षुषप्रत्यक्ष उत्पन्न हो सकता है। तथा उपर्युक्त पूर्व प्रदर्शित रीति से वैसे चाक्षुष की दशा में '**चैत्रो घटं न पश्यति**' इस प्रयोग की आपत्ति है। क्योंकि वर्तमान अलौकिकविषयिताशून्य चाक्षुषप्रत्यक्षत्वावच्छेदेन चैत्रवृत्तित्व घटविषयकत्वोभयाभाव विद्यमान ही है जो कि इस वाक्य द्वारा बोधित होता है। '**आकाशे घटः**' यह चाक्षुष तो अलौकिकविषयिताशून्यचाक्षुष है नहीं जो भी वर्तमान अलौकिक विषयिताशून्यचाक्षुष है उसमें चैत्रवृत्तित्वघटविषयकत्वोभयाभाव विद्यमान ही है। अतः अबाधित-विषयक होने के कारण चैत्र को तादृशप्रत्यक्ष रहने पर भी उक्त प्रयोगापत्ति दुर्निवार है।

**आकाशदिनिरूपितालौकिकविषयिताशालिवर्तमानचाक्षुषाद्यंशे घटादिवृत्तित्वस्याकाशीयत्वादिना लौकिकविषयितायाश्च भ्रमदशायां 'घट आकाशं न पश्यति' इत्यादिवाक्याच्छाब्दबोधापत्तेर्दुर्वारत्वाच्च। घटादिनिरूपितालौकिकविषयिताशून्यचाक्षुषत्वाद्यवच्छेदेन घटादिविषयत्वघटितोभयाभावभानोपगमेऽप्यनिस्तारात्।**

इसके अलावा आकाशदिनिरूपित अलौकिकविषयिताशालिवर्तमान चाक्षुषादि अंश में घटादिवृत्तित्व का और आकाशीयत्वादिना लौकिकविषयिता का भ्रम हो जाने की दशा में **'घट आकाशं न पश्यति'** इत्यादि वाक्यों से शाब्दबोध की आपत्ति भी दुर्वार होगी । घटादिरूपित अलौकिकविषयिताशून्य चाक्षुषत्वाद्यवच्छेदेन घटादिविषयत्वघटितोभयाभाव का भान स्वीकारने पर भी निस्तार नहीं हो सकता है।

अभिप्राय यह है कि—**'आकाशे घटः'** इस प्रकार का जो चाक्षुष प्रत्यक्ष हुआ करता है वह आकाशनिरूपित अलौकिकविषयिताशाली वर्तमानचाक्षुष है, उस अंश में (उस चाक्षुष प्रत्यक्ष में) घटवृत्तित्व का भ्रम हो जाये और जो इस प्रत्यक्ष की लौकिकविषयिता है उसमें आकाशनिरूपितत्व का भ्रम हो जाये। यह तो पूर्व में ही स्पष्ट किया जा चुका है कि उक्त चाक्षुष प्रत्यक्ष लौकिकलौकिकोभयविषयिताशालि है। ऐसे भ्रम की दशा में स्थिति यह हो गयी है कि पता यह चलता है कि 'आकाशनिरूपितलौकिकविषयिताशाली चाक्षुषप्रत्यक्ष का आश्रय घट है'। इस स्थिति में **'घट आकाशं पश्यति'** यही प्रयोग हो सकता है क्योंकि इस वाक्य से **'आकाशनिरूपितलौकिकविषयिताशालिचाक्षुषप्रत्यक्षाश्रयो घटः'** 'आकाशनिरूपितलौकिकविषयिताशालिचाक्षुष प्रत्यक्ष का आश्रय घट ही है' यही शाब्दबोध होगा। इस स्थिति में **'आकाशं न पश्यति घटः'** इस वाक्य का प्रयोग होता नहीं है और प्रयोग होने पर उसके बाधित होने के कारण शाब्दबोध नहीं हुआ करता है। किन्तु आप जैसे शाब्दबोध का स्वीकार कर रहे हैं वह तो बाधित नहीं होगा क्योंकि इस वाक्य से आप **वर्तमान अलौकिक विषयिताशून्यचाक्षुषप्रत्यक्षत्वावच्छेदेन आकाशविषयकत्वघटवृत्तित्वोभयाभाव** विषयकं शाब्दबोध आप स्वीकार रहे हैं। **'आकाशे घटः'** यह चाक्षुष प्रत्यक्ष तो अलौकिकविषयिताशून्य ही नहीं है आकाशविषयिता के अलौकिक होने के कारण इसलिए इसमें घटवृत्तित्व और आकाश विषयकत्व रहने पर भी क्षति नहीं है। अन्य जो वर्तमान अलौकिकविषयिताशून्य चाक्षुषप्रत्यक्ष होंगे उनमें तो घटवृत्तित्व और आकाशविषयकत्व दोनों का अभाव ही विद्यमान है। इसलिए **'घट आकाशं न पश्यति'** इस वाक्य से जन्यबोध अबाधितविषयक है। इस तरह उक्त भ्रम दशा में इस वाक्यप्रयोग और इससे शाब्दबोध की आपत्ति दुर्निवार है।

घटादि निरूपित अलौकिकविषयिताशून्यचाक्षुषत्वावच्छेदेन उक्त उभयाभाव का भान हुआ करता है यदि ऐसा स्वीकार किया जाये तब भी उपर्युक्त दोषों से निस्तार नहीं है। तब भी उक्त दोष रहेंगे ही। इसलिए यह निश्चित हुआ कि उक्तोभाव के भान को स्वीकार करने पर भी **'आकाशं न पश्यति'** इत्यादि स्थलीय दोषों का निवारण नहीं किया जा सकता है।

**एतेनाख्यातार्थवर्तमानत्वाद्यवच्छिन्नसमवायावच्छिन्नाश्रयत्वत्वाद्यवच्छिन्ने आकाशदिविषयकप्रतियोगिकत्वलौकिकान्यविषयिताशून्यचाक्षुषप्रतियोगिकत्व-**

**घटाद्यनुयोगिकत्वैतत्त्रितयत्वावच्छिन्नाभावो भासते। अतः 'अभाव आकाशं न पश्यति' इत्यादौ नानुपपत्तिः, तत्र विषयितावत् प्रतियोगिकत्वं द्वितीयार्थः, निरुक्तचाक्षुषप्रतियोगिकत्वं त्रित्वञ्च धातोरर्थः, घटाद्यनुयोगिकत्वञ्च प्रथमान्तार्थः इत्यपि निरस्तम् ।**

उक्त दोषों के कारण ही आख्यातार्थवर्तमानत्वादि से अवच्छिन्न समवायावच्छिन्नाश्रयत्वत्वादि से अवच्छिन्न में आकाशविषयकप्रतियोगिकत्व, लौकिकान्यविषयिताशून्यचाक्षुष प्रतियोगिकत्व, घटाद्यनुयोगिकत्व एतत्त्रितयत्वादि से अवच्छिन्न अभाव ही भासित होता है। इसलिए **'अभाव आकाशं न पश्यति'** इत्यादि स्थलों में कोई अनुपपत्ति नहीं है। इसमें विषयितावत् प्रतियोगिकत्व द्वितीया का अर्थ है, उक्त लौकिकान्यविषयिताशून्यचाक्षुषप्रतियोगिकत्व और त्रित्व धातु का अर्थ है, घटाद्यनुयोगिकत्व प्रथमान्त का अर्थ है। यह भी निरस्त हो जाता है।

अभिप्राय यह है कि–कुछ विद्वान् **'आकाशं न पश्यति'** इत्यादि स्थलों पर शाब्दबोधानुपपत्ति का वारण करने के लिए अन्य तरीके से शाब्दबोध स्वीकारते हैं। इनके मत में आख्यात का अर्थ जो वर्तमानत्वावच्छिन्न समवायसम्बन्धावच्छिन्न आश्रयत्व है उसमें (तादृश आश्रयत्वावच्छिन्न में) आकाशादिविषयकप्रतियोगिकत्व (जो कि द्वितीयान्त **आकाशं** का अर्थ है क्योंकि द्वितीया का अर्थ है विषयितावत् = विषयकतत्प्रतियोगिकत्व) घटाद्यनुयोगिकत्व (जो कि प्रथमान्त **घटः** का अर्थ है) तथा लौकिकान्यविषयिताशून्य चाक्षुष प्रतियोगिकत्व (यह धातु का अर्थ है) एतत्त्रितयत्व (यह भी धातु का अर्थ है) से अवच्छिन्न प्रतियोगिताक अभाव भासित होता है। **'घटं पश्यति चैत्रः'** यहाँ पर चैत्र में रहनेवाला जो वर्तमानत्वावच्छिन्नसमवायसम्बन्धावच्छिन्न आश्रयत्व है, उसमें प्रथमान्त पदार्थ चैत्रानुयोगिकत्व भी विद्यमान है क्योंकि उस आश्रयता का अनुयोगि चैत्र है और प्रतियोगि लौकिकान्यविषयिताशून्य चाक्षुष प्रत्यक्ष है और वह प्रत्यक्ष घटविषयक है अतः आश्रयता का प्रतियोगी घटविषयक (प्रत्यक्ष) भी हुआ । इस तरह उक्त आश्रयता में चैत्रानुयोगिकत्व, लौकिकान्यविषयिता शून्यचाक्षुषप्रतियोगिकत्व, घटविषयकप्रतियोगिकत्व भी है। नञ् घटित **'घटं न पश्यति चैत्रः'** यहाँ पर आश्रयता में घटविषयकप्रतियोगिकत्व नहीं होने के कारण त्रितयत्वावच्छिन्न प्रतियोगिताक अभाव आ जाता है। अतः यह प्रयोग उपपन्न होता है। **'घट आकाशं न पश्यति'** इस जगह पर वर्तमानत्वावच्छिन्न समवायसम्बन्धावच्छिन्न आश्रयत्व जो कि घट में घटत्वादिनिरूपित आश्रयत्व है। उस आश्रयत्व में घटानुयोगिकत्व तो है किन्तु आकाशविषयक प्रतियोगिकत्व और लौकिकान्यविषयिताशून्यचाक्षुषप्रतियोगिकत्व नहीं है क्योंकि घट में आकाशविषयकलौकिकान्यविषयिता शून्य चाक्षुष नहीं है। अतः घटनिष्ठ आश्रयता में आकाशविषयक प्रतियोगिकत्व और लौकिकान्यविषयिता शून्य चाक्षुषप्रतियोगिकत्व नहीं है। अतः तादृश त्रितयत्वावच्छिन्नाभाव होने के कारण उक्त प्रयोग उपपन्न है। **'अभाव आकाशं न पश्यति'** यहाँ पर वर्तमानत्वावच्छिन्न समवायसम्बन्धावच्छिन्न आश्रयत्व अभाव में नहीं है क्योंकि अभाव में समवाय सम्बन्ध से कोई भी नहीं रहता है। किन्तु वर्तमानत्वावच्छिन्न समवायसम्बन्धावच्छिन्न आश्रयत्व घटपटादि में गुणक्रियादि निरूपित प्रसिद्ध है। उस आश्रयत्व में न तो अभावानुयोगिकत्व है (क्योंकि घटनिष्ठ आश्रयत्व तो घटानुयोगिक ही होगा) न तो आकाशविषयक प्रतियोगिकत्व है (क्योंकि आकाशविषयक ज्ञानादि घट में नहीं

है) और न तो लौकिकान्यविषयिता शून्य चाक्षुष प्रतियोगिकत्व है। इसलिए त्रितयत्वावच्छिन्नाभाव यहां भी सुलभ है।

तो यह जो मत है इसमें भी जब चैत्र को **'आकाशे घटः'** ऐसा चाक्षुषप्रत्यक्ष हो रहा है उस समय **'चैत्रो घटं न पश्यति'** ऐसे प्रयोग की आपत्ति दुर्वार है क्योंकि उस चाक्षुष प्रत्यक्ष के काल में वर्तमानत्वावच्छिन्नसमवायसम्बन्धावच्छिन्न आश्रयत्व (जो कि चैत्र में है) उस में उक्त त्रितयत्वावच्छिन्न प्रतियोगिताक अभाव विद्यमान है क्योंकि चैत्रानुयोगिकत्व और घटविषयक प्रतियोगिकत्व तो उक्त आश्रयत्व में है किन्तु लौकिकान्यविषयिताशून्य चाक्षुष प्रतियोगिकत्व उसमें नहीं है। कारण ये कि जो चाक्षुष प्रत्यक्ष चैत्र में उस समय है वह तो आकाश अंश में लौकिकान्यविषयिताशालि है। अतः चाक्षुषप्रतियोगिकत्व के रहते हुए भी लौकिकान्यविषयिताशून्यचाक्षुषप्रतियोगिकत्व नहीं है। अतः अबाधित होने के कारण उक्त वाक्य प्रयोगापत्ति इस मत में भी दुर्निवार है। इस कारण यह मत भी निरस्त हो जाता है।

**इति चेत् ?**

**अगत्या 'घट आकाशं न पश्यति' इत्यादिवाक्यानामप्रमाण्यमुपगन्तव्यमिति।**

यदि ऐसा है तो कोई और मार्ग न होने के कारण **'घट आकाशं न पश्यति'** इत्यादि वाक्यों का अप्रामाण्य ही स्वीकार करना चाहिए । भाव यह है कि यदि उक्तोभयाभाव और उक्त त्रितयाभाव भान को स्वीकारने पर भी दोषों से निस्तार नहीं है तो **'घट आकाशं न पश्यति'** इत्यादि वाक्यों का अप्रामाण्य ही मानना चाहिए । अप्रामाण्य स्वीकारने का आशय यह है कि **'वह्निना सिञ्चति'** इत्यादि वाक्यों से जिस प्रकार शाब्दबोध नहीं हुआ करता है। बाधित होने के कारण पदार्थोपस्थिति मात्र होती है, उसी प्रकार **'घट आकाशं न पश्यति'** इत्यादि वाक्यों से भी मात्र पदार्थोपस्थिति ही होती है शाब्दबोध नहीं ऐसा ही स्वीकारना चाहिए ।

**विमर्शः**–गदाधर ने यहाँ पर **'घट आकाशं न पश्यति'** इत्यादि वाक्यों का अप्रामाण्य ही स्वीकारना चाहिए, ऐसा कहा। इसमें एक प्रश्न है वह यह कि गदाधर को **'घट आकाशं न पश्यति'** इस तरह के अचेतन कर्ता द्वारा आकाशदर्शनाभाव को प्रदर्शित बोधित करने वाले वाक्यों का ही अप्रामाण्य प्रतिपादन अभीष्ट है, अथवा आकाशकर्मकदर्शनाभाव को प्रदर्शित (बोधित) करने वाले वाक्यों का ही अप्रामाण्य प्रतिपादन अभीष्ट है? यदि आकाशकर्मकदर्शनाभावबोधक समस्तवाक्यों का अप्रामाण्य गदाधर को अभीष्ट होता तो **'अगत्याकाशं न पश्यति इत्यादि वाक्यानामप्रामाण्यमुपगन्तव्यमिति'** कहने से ही काम चल सकता था **'घटः'** पद का ग्रहण करने की कोई आवश्यकता नहीं थी। इस कारण मेरा तो यही मत है कि गदाधर को **'चैत्र आकाशं न पश्यति'** इत्यादि वाक्यों का अप्रामाण्य अभीष्ट नहीं है। केवल घट, अभावादिकर्तृक आकाशकर्मकदर्शनाभावबोधकवाक्यों का ही अप्रामाण्य गदाधर को अभीष्ट है। किन्तु ऐसा स्वीकारने में समस्या यह है कि **'चैत्र आकाशं न पश्यति'** इत्यादि वाक्यों के प्रामाण्य का उपपादन कैसे किया जाये? क्योंकि नञर्थ का अन्वय कहाँ पर करेंगे ?

तो हमें तो यही उचित प्रतीत होता है कि वृत्त्यनियामकसम्बन्ध को भी अभावीयप्रतियोगिता का अवच्छेदक स्वीकार कर लिया जाये तथा आकाश का निरूपितत्वसम्बन्धावच्छिन्न प्रतियोगिताक अभाव लौकिकविषयिता में स्वीकार कर लिया जाये ।

यद्यपि अभावीय प्रतियोगितावच्छेदकत्व वृत्तिता के अनियामक सम्बन्ध में भी स्वीकार कर लेने पर भी पृ० 382 पर अनुपपत्तियाँ प्रदर्शित की गयी हैं। किन्तु उनका निवारण करने के लिए यही स्वीकार कर लिया जाये कि व्युत्पत्ति के वैचित्र्य से **'चैत्र आकाशं पश्यति'** और **'चैत्र आकाशं न पश्यति'** इत्यादि स्थलों में चैत्रीयचाक्षुषनिष्ठलौकिक विषयितात्वेन विषयिता की उपस्थिति न होने पर भी तदवच्छेदेन ही निरूपितत्व सम्बन्धावच्छिन्नआकाशाभाव बोधित होता है। तो काम चल सकता है। यदि इसमें कोई असुविधा हो तो आकाशकर्मकदर्शन और दर्शनाभाव बोधक समस्त वाक्यों का अप्रामाण्य ही स्वीकारना चाहिए ।

इस प्रकार श्रीमद्गदाधरभट्टाचार्य विरचित व्युत्पत्तिवाद की श्रीसच्चिदानन्दमिश्रविरचित सुनन्दा व्याख्या में द्वितीया कारक का प्रथम खण्ड पूर्ण हुआ ।

-------:0:-------

## – द्वितीयाकारके द्वितीयः खण्डः –

**अनुमित्याद्यर्थकधातुयोगे विधेयत्वं विधेयित्वं वा द्वितीयार्थः, तेन वह्न्यादिपक्षकानुमितिपरस्य 'वह्निमनुमिनोमि' इत्यादिवाक्यस्य न प्रामाण्यम्। यदि च वह्निसाध्यकपर्वतपक्षकानुमितिपरस्य 'वह्निमत्त्वेन पर्वतमनुमिनोमि' इत्यादिवाक्यस्यापि प्रामाण्यं मन्यते तथा तादृशेधातुयोगे उद्देश्यत्वमुद्देश्यित्वं वा द्वितीयार्थः। तस्य तृतीयान्तोपस्थाप्यसाध्यविधेयकत्वविशिष्टेऽन्वयः, अतो वह्निमत्त्वेन इत्याद्यसमभिव्याहारे तत्र 'पर्वतमनुमिनोमि' इत्यादयो न प्रयोगाः।**

ज्ञानार्थक धातुओं से समभिव्याहृत द्वितीया का अर्थ बतलाने के प्रसङ्ग में प्रत्यक्षार्थक दृश धातुसमभिव्याहृत द्वितीया का अर्थ बतलाने के बाद अनुमित्याद्यर्थकधातुओं से समभिव्याहृत द्वितीया का अर्थ बतलाना प्रारम्भ कर रहे हैं। ज्ञानार्थकधातुओं से समभिव्याहृत द्वितीया का अर्थ पूर्व में बतला चुके हैं। उस प्रसङ्ग में द्वितीया का अर्थ विषयत्व या विषयित्व हुआ करता है, ऐसा बतलाया था। विषयत्व को द्वितीया का अर्थ मानने पर '**घटं जानाति पटं न**' इत्यादि स्थलों पर वृत्त्यनियामक सम्बन्ध के अभावीयप्रतियोगितावच्छेदक न होने के कारण अनुपपत्ति होगी, इसलिए नवीन द्वितीया का अर्थ विषयित्व स्वीकार करते हैं। इस प्रकार यह तो सब जगहों के लिए निश्चित है कि प्रत्यक्षानुमिति आदि सर्वत्र द्वितीया का अर्थ या तो विषयताविशेष या तो विषयिताविशेष होगा क्योंकि सामान्यतया यह पूर्व में ही व्यवस्थापित कर दिया गया कि ज्ञानाद्यर्थक धातु समभिव्याहृत द्वितीया का अर्थ विषयता या विषयिता होगा (द्रष्टव्य पृ॰ 367) । इसलिए ज्ञानविशेषार्थकधातुसमभिव्याहृत द्वितीया का अर्थ विषयताविशेष या विषयिताविशेष ही होगा । इसी का उपपादन किया जा रहा है—

अनुमिति आदि अर्थक धातुओं के योग में विधेयत्व या विधेयत्व द्वितीया का अर्थ है। (विधेयत्व= विषयताविशेष) इस कारण वह्न्यादि पक्षक अनुमितिपरक '**वह्निमनुमिनोमि**' इत्यादि वाक्यों का प्रामाण्य नहीं होता है। अनु उपसर्ग सहित होने पर मा धातु का अर्थ अनुमिति होती है। प्राचीनों के मत से विधेयत्व और नवीनों के मत से विधेयित्व द्वितीया का अर्थ है। इस प्रकार द्वितीयार्थभूतविधेयत्वप्रकृत्यर्थभूत वह्नि का आधेयत्व सम्बन्ध से अन्वय होता है। द्वितीयार्थ विधेयत्व का निरूपकत्वसम्बन्ध से धात्वर्थ अनुमिति से अन्वय होता है। अनुमिति का आख्यातार्थ आश्रयत्व में अन्वय होता है। इस प्रकार '**वह्निनिष्ठविधेयता-निरूपकानुमित्याश्रयतावान् चैत्रः**' 'वह्निनिष्ठ विधेयता निरूपक अनुमिति की आश्रयता वाला चैत्र है' ऐसा शाब्दबोध '**चैत्रः वह्निमनुमिनोति**' से होता है। '**वह्निमनुमिनोति जलं न** ' इत्यादि स्थलों में आधेयता के और निरूपकता के वृत्त्यनियामक सम्बन्ध होने के कारण न तो वह्नि का आधेयतासम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभाव विधेयता में भासित हो सकता है और न तो विधेयता का निरूपकत्वसम्बन्धावच्छिन्न प्रतियोगिताक अभाव अनुमिति में भासित हो सकता है। इसलिए शाब्दबोध की अनुपपत्ति होगी, अतः विधेयित्व को नवीन यहाँ पर द्वितीया का अर्थ स्वीकारते हैं। उस विधेयित्व में द्वितीया की प्रकृति का अर्थ निरूपितत्व सम्बन्ध से और विधेयित्व अनुमिति में आश्रयता सम्बन्ध से अन्वित होता है।

आश्रयतासम्बन्ध के वृत्तिनियामक होने के कारण आश्रयतासम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक विधेयित्वाभाव का अनुमिति में भान होने में कोई आपत्ति नहीं है। इस प्रकार '**चैत्रो वह्निमनुमिनोति जलं न**' से '**वह्निनिरूपितविधेयित्वाश्रया अथ च आश्रयत्वसम्बन्धावच्छिन्नजलनिरूपकविधेयित्वाभाववती अनुमितिः तदाश्रयतावान् चैत्रः**' 'वह्निनिरूपित विधेयित्वाश्रय और आश्रयत्वसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक विधेयित्वाभाववाली जो अनुमिति उसका आश्रय चैत्र है' ऐसा शाब्दबोध होता है। वह्न्यादिपक्षक अनुमिति ('**वह्निः रूपवान् तेजस्त्वात्** ' वह्नि रूपवाला है तेज हेने के कारण' इत्यादि अनुमितियों) के अभिप्राय से प्रयुक्त जो '**वह्निमनुमिनोमि**' वाक्य उसका प्रामाण्य नहीं होता है क्योंकि उक्त वाक्य से वह्निविधेयतानिरूपक अनुमिति का आश्रयत्व बोधित होता है, जबकि उक्त स्थल में वह्निविधेयतानिरूपक अनुमिति नहीं है वह्निपक्षक रूपादिविधेयता निरूपक अनुमिति है। इसलिए यदि '**रूपमनुमिनोमि**' इस प्रकार से वाक्य प्रयोग होता तो उसी का प्रामाण्य होता। '**वह्निनुमिनोमि**' का प्रामाण्य नहीं होता है।

यदि वह्निसाध्यक पर्वतपक्षक अनुमितिपरक '**वह्निमत्त्वेन पर्वतमनुमिनोमि**' इत्यादि वाक्य का भी प्रामाण्य मानते हों तो इस प्रकार से अनुमित्यार्द्यक धातु का योग होने पर उद्देश्यत्व या उद्देश्यित्व द्वितीया का अर्थ होता है। और उस द्वितीया के अर्थ उद्देश्यत्व या उद्देश्यित्व का तृतीयान्तपदोपस्थाप्य साध्यविधेयकत्व विशिष्ट में अन्वय होता है, इसलिए '**वह्निमत्त्वेन**' इत्यादि का समभिव्याहार न होने पर '**पर्वतमनुमिनोमि**' इत्यादि प्रयोग नहीं होते हैं। अभिप्राय यह है कि '**वह्निमत्त्वेन पर्वतमनुमिनोमि**' इत्यादि वाक्यों का प्रामाण्य स्वीकार करते हो तो **वह्निमत्त्वेन** का समभिव्याहार होने की दशा में अनुमित्यर्थक धातुयोग होने पर पर्वतादिपदोत्तर द्वितीया का अर्थ उद्देश्यत्व या उद्देश्यित्व होता है। उद्देश्यत्व प्राचीनमत से और उद्देश्यित्व नवीनमत से। '**वह्निमत्त्वेन पर्वतमनुमिनोति न जलवत्त्वेन**' यहाँ पर पूर्वोक्तदर्शित रीति से वृत्त्यनियामक सम्बन्ध के अभावीय प्रतियोगितावच्छेदक न होने के कारण शाब्दबोधानुपपत्ति होगी इसीलिए नवीन उद्देश्यित्व को द्वितीया का अर्थ मानते हैं। इस द्वितीया के अर्थ उद्देश्यता का निरूपकत्व सम्बन्ध से तृतीयान्तपद **वह्निमत्त्वेन** से उपस्थाप्य वह्निविधेयकत्वविशिष्ट में अन्वय होता है। इस प्रकार प्राचीनमत से '**वह्निमत्त्वेन पर्वतमनुमिनोति चैत्रः**' के द्वारा '**पर्वतनिष्ठोद्देश्यतानिरूपिका या वह्निविधेयकत्वविशिष्टा अनुमितिः तदाश्रयश्चैत्रः**' 'पर्वतनिष्ठ उद्देश्यतानिरूपिका वह्निविधेयकत्वविशिष्टा जो अनुमिति उसका आश्रय चैत्र है' ऐसा शाब्दबोध होता है। नवीनमत में उद्देश्यिता रूप द्वितीयार्थ में निरूपकत्व सम्बन्ध से द्वितीयाप्रकृति के अर्थ पर्वतादि का और उद्देश्यिता का वह्निविधेयकत्व विशिष्ट अनुमिति में आश्रयता सम्बन्ध से अन्वय होकर '**पर्वतनिरूपितोद्देश्यिताश्रया या वह्निविधेयकत्वविशिष्टा अनुमितिः तदाश्रयश्चैत्रः**' 'पर्वतनिरूपितोद्देश्यिताश्रय जो वह्निविधेयकत्वविशिष्टा अनुमिति तदाश्रय चैत्र है' ऐसा शाब्दबोध होता है। चूँकि '**वह्निमत्त्वेन** इत्यादि का समभिव्याहार होने पर द्वितीया का अर्थ उद्देश्यत्व या उद्देश्यित्व होता है। इसलिए उसका समभिव्याहार न होने पर '**पर्वतमनुमिनोमि**' यह प्रयोग नहीं होता है क्योंकि पर्वतोद्देश्यतानिरूपक अनुमिति तो हो रही है। किन्तु इस स्थल में द्वितीया का अर्थ विधेयत्व या विधेयित्व होने के कारण इस से 'पर्वतविधेयकानुमिति का आश्रयत्व' बोधित होगा जो कि बाधित है।

**विधेयत्वाद्यर्थे तृतीयानुशासनविरहात् तृतीयान्तेन वह्न्यादिविधेयकत्वं कथमुपस्थापनीयमिति तु नाशङ्क्यम् , वैशिष्ट्यरूपार्थे तृतीयानुशासनसत्त्वाद् विधेयतादेरपि वैशिष्ट्यरूपत्वात् , अत एव 'रजतत्वेन शुक्तिं जानाति' इत्यादौ ज्ञाने रजतत्वादिप्रकारकत्वस्य 'घटत्वेन वह्निर्नास्ति' इत्यादौ सौन्दड़मतेऽभावे घटत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वस्य तृतीयान्ततो बोधः।**

गदाधर ने व्यवस्थापित किया कि **'वह्निमत्त्वेन पर्वतमनुमिनोति'** यहाँ पर द्वितीयान्तार्थ पर्वतोद्देश्यता का निरूपकत्व सम्बन्ध से या पर्वतनिरूपकोद्देश्यित्व का आश्रयत्व सम्बन्ध से तृतीयान्त के अर्थ वह्निविधेयकत्वविशिष्ट में अन्वय होता है। इस में प्रश्न यह उठता है कि भई विधेयत्वादि अर्थ में तृतीया का कोई भी अनुशासन नहीं है फिर तृतीयान्त से वह्न्यादिविधेयकत्व कैसे उपस्थित होगा? इसी का समाधान गदाधर कर रहे हैं कि—

विधेयत्वादि अर्थ में तृतीया का अनुशासन न होने के कारण तृतीयान्त से कैसे वह्न्यादि विधेयत्व उपस्थित होगा ऐसी आशङ्का तो नहीं करनी चाहिए क्योंकि वैशिष्ट्यरूप अर्थ में तृतीया का अनुशासन विद्यमान है। **'इत्थंभूतलक्षणे पा॰ सू॰ 2/3/21'** के द्वारा जो तृतीया का विधान किया जाता है उसका वैशिष्ट्य ही अर्थ होता है।[1] विधेयता आदि भी वैशिष्ट्य रूप ही है। इसीलिए तृतीया के वैशिष्ट्यार्थक और विधेयतादि के वैशिष्ट्य रूप होने के कारण ही **'रजतत्वेन शुक्तिं जानाति'** इत्यादि स्थलों में ज्ञान में रजतत्वादिप्रकारकत्व का और सौन्दड़ आचार्य के मत में जो कि व्यधिकरणधर्मावच्छिन्न प्रतियोगिताक अभाव स्वीकारते हैं, **'घटत्वेन वह्निर्नास्ति'** के द्वारा अभाव में घटत्वावच्छिन्न प्रतियोगिताकत्व का तृतीयान्त से बोध होता है।

अभिप्राय यह है कि **'इत्थम्भूतलक्षणो पा॰सू॰ 2/3/21'** के द्वारा वैशिष्ट्य अर्थ में तृतीया का विधान है और विधेयता आदि भी वैशिष्ट रूप ही है। इस प्रकार विधेयादि रूप वैशिष्ट्य में तृतीया अनुशासन न हो तो ऐसा नहीं है। **'रजतत्वेन शुक्तिं जानाति'** यहाँ पर **रजतत्वेन** के द्वारा **रजतत्वप्रकारत्व** रूप वैशिष्ट्य उपस्थित होता है। इस प्रकार द्वितीया के विषयत्वार्थक मानने पर **'शुक्तिनिष्ठविषयतानिरूपकं रजतत्वप्रकारकत्वविशिष्टं च यज्ज्ञानं तदाश्रयः'** 'शुक्तिनिष्ठ विषयतानिरूपक और रजतत्वप्रकारकत्वविशिष्ट जो ज्ञान उसका आश्रय है' ऐसा शाब्दबोध होता है। सौन्दड़मत में **'घटत्वेन वह्निर्नास्ति'** से यहाँ पर **घटत्वेन** के द्वारा घटत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्व रूप वैशिष्ट्य उपस्थित होता है तथा यह अभाव में बोधित होता है। तथा इस प्रकार **'वह्निनिरूपितानुयोगिताश्रयो घटत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकोऽभावः'** 'वह्निनिरूपित अनुयोगिता का आश्रय घटत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभाव है' ऐसा शाब्दबोध होता है।

**तृतीयान्तार्थरजतादिप्रकारकत्वद्वितीयान्तार्थशुक्त्यादिविषयकत्वयो - र्विशिष्टवैशिष्ट्यबोधमर्यादयाऽवच्छेद्यावच्छेदकभावभानम् 'रजतत्वेन शुक्तिं जानाति' इत्यादौ नियतम्-केवलमेकत्र द्वयमितिरीत्या तदुभयबोधस्य तत्राव्युत्पन्नत्वात् , अतः 'इमे रङ्गरजते' इत्यादि प्रमापरस्य तादृशवाक्यस्य न प्रामाण्यम् ।**

1. जटाभिस्तापसः इत्यत्र तृतीया न करणत्वे किंतु विशेषणत्वे, तच्चप्रकृते वैशिष्ट्यं जटाभिस्तापस इत्यत्र जटाविशिष्टस्तापस इत्यर्थः। सटीककारक चक्रम् पृ. 11

तृतीयान्त के अर्थ रजतादिप्रकारकत्व व द्वितीयान्त के अर्थ शुक्त्यादिविषयकत्व का विशिष्टवैशिष्ट्यमर्यादा से अवच्छेद्य अवच्छेदक भाव का भान **'रजतत्वेन शुक्तिं जानाति'** इत्यादि स्थलों में नियत है केवल एकत्र द्वयम् (एक ही जगह पर दोनों हैं) इस रीति से उन दोनों का बोध व्युत्पत्ति सिद्ध नहीं है। अतः **'इमे रङ्गरजते'** इत्यादि प्रमापरक वैसे वाक्यों का प्रामाण्य नहीं होता है।

एक अधिकरण में रहने वाली परस्पर निरूप्यनिरूपकभावापन्न विषयिताओं में और एक अधिकरणनिष्ठ एक ज्ञानीय विषयताओं में परस्पर अवचेछद्य अवच्छेदक भाव होता है। यही विशिष्टवैशिष्ट्यबोध मर्यादा है। जैसे **'घटवद् भूतलम्'** इस ज्ञान को लें तो भूतल विशेष्य है भूतल में विशेषण होने वाला जो घट है उस घट में घटत्व विशेषण है। इस प्रकार घट में विशेष्यता भी है क्योंकि घटत्व के प्रति घट विशेष्य होता है और घट में प्रकारता भी है क्योंकि भूतल के प्रति घट विशेषण होता है। इस प्रकार घट में रहनेवाली एक ही ज्ञान की दो विषयताएँ हैं (1) प्रकारताख्या विषयता (2) विशेष्यताख्या विषयता। इन दोनों में परस्पर अवच्छेद्य अवच्छेदक भाव होता है। घटनिष्ठ घटत्वनिरूपितविशेष्यता से घटनिष्ठभूतलनिरूपितप्रकारता अवच्छिन्न होती है और इस के विपरीत उक्त प्रकारता से उक्तविशेष्यता भी अवच्छिन्न होती है। इसी प्रकार उक्त **'घटवद् भूतलम्'** इस ज्ञान में घट विषयिता (घटनिरूपित विषयिता) भी है और भूतलनिरूपित विषयिता भी है। घट और भूतल में आधाराधेय भाव होने से दोनों में निरूप्यनिरूपकभाव है उनसे निरूपित विषयिताएँ है। इन दोनों में परस्पर अवच्छेद्य अवच्छेदक भाव है। यही गदाधर के मत में विशिष्टवैशिष्ट्यबोध मर्यादा है[1]।

इस प्रकार यहाँ पर **'रजतत्वेन शुक्तिं जानाति'** इस वाक्य जन्यबोध में जो शुक्तिविषयकत्व और रजतत्वप्रकारत्व भासित होता है। उन दोनों में परस्पर अवच्छेद्यअवच्छेदक भाव विशिष्टवैशिष्ट्यबोध मर्यादा से भासित होता है। शुक्तिविषयकत्व और रजतत्वप्रकारकत्व दोनों ही एक ही ज्ञान में हैं, इस रीति से उक्त दोनों का बोध नहीं हुआ करता है। यदि **'एकत्र द्वयम्'** एक ही ज्ञान में दोनों हैं, इस रीति से शुक्तिविषयकत्व और रजतत्व प्रकारकत्व बोधित हो रहा होता तो **'इमे रजतरङ्गे'** 'ये रजत और रङ्ग[2] हैं' इस प्रकार का जो प्रमात्मक ज्ञान है। रजत को रजत और रङ्ग को रङ्ग ही समझ रहा है। इस प्रमात्मक ज्ञान में इदन्त्वेन रूपेण रजत और रङ्ग विषय हो रहे हैं, इस कारण रजतविषयकत्व और रङ्गविषयकत्व इस ज्ञान में विद्यमान है। इसी प्रकार इस ज्ञान में रजतत्व और रङ्गत्व प्रकार विधया भासित हो रहे हैं, इसलिए रजतत्वप्रकारकत्व और रङ्गत्वप्रकारकत्व भी इस ज्ञान में है। इस प्रकार **'रजतत्वेन रङ्गं जानाति'** इस प्रकार का वाक्यप्रयोग भी साधु होना चाहिए। क्योंकि एकत्र दोनों हैं इस रीति से यदि ज्ञान में रजतत्वप्रकारकत्व और रङ्ग विषयकत्व अभीष्ट हो तो **'इमे रजत रङ्गे'** इस ज्ञान में रजतत्व प्रकारकत्व भी है और रङ्ग विषयकत्व भी, इसलिए रजतत्वप्रकारकत्व व रङ्गविषयकत्व को आधार बनाकर उक्त प्रयोग

1. जगदीश के मत में 'एक अधिकरण में रहनेवाली परस्पर निरूप्यनिरूपकभावापन्न विषयों से निरूपित विषयताओं में और एक अधिकरण में रहनेवाली एकज्ञानीय विषयिताओं में अभेद हुआ करता है'। यही जगदीश के मत से विशिष्ट वैशिष्ट्यबोधमर्यादा है। यह जगदीश और गदाधर में मौलिक मतभेद है।

2. रङ्ग का अभिप्राय राँगा नामक धातु से है जिसका कलई आदि करने में उपयोग होता है।

व उसके प्रामाण्य की आपत्ति आ जायोगी। इसीलिए यह कहा जा रहा है कि विशिष्टवैशिष्ट्य बोध मर्यादा से उक्त दोनों में परस्पर अवच्छेद्य-अवच्छेदकभाव यदि भासित हो रहा हो तब तो उक्त प्रयोग व उक्त प्रयोग के प्रामाण्य की आपत्ति हो सकती है। किन्तु ऐसा तो है नहीं। उक्त प्रमा में **'रजतत्व प्रकारकत्व और रङ्गविषयकत्व में परस्पर अवच्छेद्य अवच्छेदक भाव नहीं है।** जबकि **'रजतत्वेन रङ्गं जानाति'** से उक्त दोनों में अवच्छेद्य-अवच्छेदक भाव बोधित होता है। इसलिए बोध बाधित है। अतः उक्त प्रमा को आधार बनाकर **'रजतत्वेन रङ्गं जानाति'** प्रयोग नहीं होता है। जब इदन्त्वेन रङ्ग विषय होता है और उसमें रजतत्व **'इदं रजतम्'** इस प्रकार से भासित होता है। तभी उक्त प्रयोग होता है क्योंकि उस समय रजतत्वप्रकारकत्व और रङ्गविषयकत्व में परस्पर अवच्छेद्य-अवच्छेदक भाव होता है। कारण यह है कि रजतत्व प्रकार बनता है और रङ्ग विशेष्य । विशेष्य विशेषणभाव होने के कारण रजतत्व और रङ्ग में निरूप्यनिरूपकभाव है तथा रजतत्व और रङ्ग से निरूपित रजतत्वप्रकारकता और रङ्गविषयकता रूपी विषयिताएँ है।

**घटत्वाद्यवच्छिन्नवह्न्याद्यभावनिष्ठेन वह्न्यादिनिरूपितानुयोगिता-विशेषरूपवह्न्यभावत्वेन तदभावनिष्ठघटत्वाद्यवच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वस्या-वच्छेद्यावच्छेदकभावः स्वीक्रियते। 'घटत्वेन वह्निर्नास्ति' इत्यादौ च तद्बोधस्योक्तरीत्यावश्यकत्वमिति घटत्वावच्छिन्नवह्न्याद्यभावस्य वह्नित्वा-वच्छिन्नघटाद्यभावसमनियतत्वेन तदभिन्नतया तत्र घटत्वाद्यवच्छिन्न प्रतियोगिताकत्वघटाद्यभावत्वसत्त्वेऽपि तादृशाभावपरस्य 'घटत्वेन घटो नास्ति' 'वह्नित्वेन वह्निर्नास्ति' इत्यादिवाक्यस्य न प्रामाण्यम् ।**

सौन्दड़ मत में जो व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभाव स्वीकार किया जाता है उसमें भी घटत्वाद्यवच्छिन्नप्रतियोगिताकवह्न्याद्यभाव में रहनेवाला जो वह्नि आदिसे निरूपित अनुयोगिताविशेषरूप व वह्न्यभावत्व है, उससे उसी अभाव में रहनेवाले घटत्वाद्यवच्छिन्न-प्रतियोगिताकत्व का अवच्छेद्य अवच्छेदक भाव स्वीकार किया जाता है। अर्थात् जैसे – **'रजतत्वेन रङ्गं जानाति'** यहाँ पर रजतत्वप्रकारकत्व और रङ्गविषयकत्व में अवच्छेद्य-अवच्छेदकभाव विशिष्टवैशिष्ट्यबोध मर्यादा से भासता है। उसी प्रकार **'घटत्वेन वह्निर्नास्ति'** यहाँ पर भी इस अभाव में रहने वाले वह्न्यादिनिरूपित अनुयोगिता विशेष रूप वह्न्यभावत्व और घटत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्व का भी परस्पर अवच्छेद्य-अवच्छेदकभाव विशिष्टवैशिष्ट्यबोध मर्यादा से भासित होता है। ये दोनों एक अधिकरण निष्ठ एक ज्ञानीय विषयताएँ हैं। इस प्रकार से व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताक उक्त अभावविषयक वाक्य प्रयोगों से अवच्छेद्य-अवच्छेदकभाव का बोध उपर्युक्त रीति से आवश्यक है (क्योंकि यही विशिष्टवैशिष्ट्यबोध-मर्यादा है और अभाव बोध भी विशिष्ट वैशिष्ट्यावगाही बोध ही है) इसी कारण घटत्वावच्छिन्न प्रतियोगिताकावह्न्यभाव **'घटत्वेन वह्निर्नास्ति'** यह अभाव और **'वह्नित्वेन घटो नास्ति'** इस प्रकार से प्रतीतिविषय वह्नित्वावच्छिन्न प्रतियोगिताक घटाभाव दोनों के सहनियत होने के कारण अभिन्न होने से उसमें घटत्वावच्छिन्न प्रतियोगिताकत्व और घटाद्यभावत्व रहने पर भी तादृशाभावपरक **'घटत्वेन घटो नास्ति'** और **'वह्नित्वेन वह्निर्नास्ति'** इत्यादि वाक्यों का प्रामाण्य नहीं होता है।

अभिप्राय यह है कि **'समनियताभावानामैक्यम्'** 'समनियत अभावों का ऐक्य होता है' ऐसा नियम है। व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताक समस्त अभाव केवलान्वयी

होते हैं हर जगह रहनेवाले होते हैं क्योंकि प्रतियोगी में न रहनेवाला धर्म ही व्यधिकरणधर्म कहलाता है। कोई भी अन्य किसी रूप से नहीं रहता है जैसे घट अगर कहीं पर भी रहेगा तो घटत्वेन ही पटत्वेन मठत्वेन, वह्नित्वेन नहीं । इस प्रकार घटत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकवह्न्यभाव और वह्नित्वावच्छिन्नप्रतियोगिताक घटाभाव समनियत होने के कारण एक हो गये। अर्थात् **घटत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकवह्न्यभाव = वह्नित्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकघटाभाव।** जब ये दोनों एक हो गये तो जैसे इस अभाव में घटत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्व है उसी प्रकार वह्नित्वावच्छिन्न प्रतियोगिताकत्व भी है। जैसे इसमें वह्निनिरूपित अनुयोगिता विशेष रूप वह्न्यभावत्व है उसी प्रकार घटनिरूपित अनुयोगिताविशेष रूप घटाभावत्व भी है इसलिए जैसे वह्नित्वावच्छिन्न घटाभाव के अभिप्राय से **'वह्नित्वेन घटो नास्ति'** ऐसा प्रयोग व इसका प्रामाण्य होता है उसी प्रकार वह्नित्वावच्छिन्नप्रतियोगिताक वह्न्यभाव के अभिप्राय से **'वह्नित्वेन वह्निर्नास्ति'** ऐसा प्रयोग व इसका प्रामाण्य होना चाहिए क्योंकि वह्नित्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्व और वह्न्यभावत्व दोनों ही उक्तव्यधिकरण धर्मावच्छिन्नाभाव में है। इसी प्रकार **'घटत्वेन घटो नास्ति'** ऐसा प्रयोग व इसका प्रामाण्य होना चाहिए क्योंकि घटत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्व और घटाद्यभावत्व दोनों ही उक्त व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नाभाव में है। ऐसा क्यों नहीं होता है? तो इसका कारण यही है कि उक्तव्यधिकरणधर्मावच्छिन्न प्रतियोगिताक अभावों का ऐक्य होने पर भी उक्त अभावबोध में घटत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्व और घटनिरूपित अनुयोगिताविशेषरूप अभावत्व में अवच्छेद्य-अवच्छेदक भाव नहीं है। इसी प्रकार वह्नित्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्व और वह्निनिरूपित अनुयोगिताविशेषरूप अभावत्व में अवच्छेद्य अवच्छेदक भाव नहीं है। जबकि **'घटत्वेन घटो नास्ति' 'वह्नित्वेन वह्निर्नास्ति'** के द्वारा क्रमशः यही विशिष्टवैशिष्ट्यबोधमर्यादा से बोधित होता है। इसलिए इनका प्रामाण्य नहीं होता है।

**उक्तस्थलेषु तृतीयान्ताद्यर्थस्य द्वितीयान्ताद्यर्थेऽवच्छेद्यावच्छेदकभाव सम्बन्धेनान्वय इति केचित् , तन्न-विभक्त्यर्थे विभक्त्यर्थान्वयस्याव्युत्पन्नत्वात्।**

उक्त स्थलों में तृतीयान्ताद्यर्थ का द्वितीयान्ताद्यर्थ में अवच्छेद्य-अवच्छेदक भाव सम्बन्ध से अन्वय हुआ करता है ऐसा भी कोई लोग कहते हैं वह ठीक नहीं है क्योंकि विभक्त्यर्थ में विभक्त्यर्थ का अन्वय अव्युत्पन्न है।

भाव यह है कि **'रजतत्वेन शुक्तिं जानाति'** इत्यादि स्थलों में तृतीयान्तार्थ रजतत्व प्रकारकत्व का उपर्युक्त रीति से ज्ञान में अन्वय नहीं होता है, बल्कि अवच्छेद्य अवच्छेदक भाव सम्बन्ध से तृतीयान्तार्थ रजतत्वप्रकारकत्व का द्वितीयान्तार्थ शुक्तिविषयकत्व में अन्वय हुआ करता है। दोनों का अवच्छेद्य-अवच्छेदकभाव सम्बन्ध संसर्गमर्यादा से भासित होता है। इस प्रकार इस मत में इस वाक्य से–**'रजतत्वप्रकारकत्वावच्छिन्नं यच्छुक्तिविशेष्यकत्वं तद्विशिष्टज्ञानाश्रयः'** 'रजतत्वप्रकारकत्व से अवच्छिन्न जो शुक्तिविशेष्यकत्व उससे विशिष्ट ज्ञान का आश्रय है' ऐसा शाब्दबोध हुआ करता है। ऐसा कुछ लोगों का कथन है। तो वह उचित नहीं है क्योंकि इस मत में रजतप्रकारकत्व का शुक्तिविषयकत्व में अन्वय हो रहा है। प्रकारकत्व और विषयकत्व क्रमशः तृतीया व द्वितीया के अर्थ हैं। जबकि विभक्त्यर्थ में विभक्त्यर्थ का अन्वय व्युत्पत्तिसिद्ध नहीं है।

**न च 'रजतत्वेनेदं ज्ञायते' इत्यादावाख्यातार्थविषयतायां तृतीयान्तार्थ प्रकारतायाः निरूपित्वसम्बन्धेनान्वयान्नोक्तव्युत्पत्तिकल्पनमितिवाच्यम् ,**

**तत्र रजतत्वादिप्रकारकत्वविशिष्टधात्वर्थज्ञाननिरूपितत्वस्याख्यातार्थे भान-स्वीकारेणैवातिप्रसङ्गभङ्गात् ।**

यदि कहो कि '**रजतत्वेन इदं ज्ञायते**' इत्यादि स्थलों में आख्यात के अर्थ (आख्यातात्मक विभक्ति के अर्थ) विषयता में तृतीयान्त **रजतत्वेन** के अर्थ रजतत्वप्रकारता का निरूपितत्व सम्बन्ध से अन्वय होता है इसलिए उक्त व्युतपत्ति की कल्पना नहीं की जाती है अर्थात् यहाँ पर आख्यात के अर्थ विषयता में तृतीयान्त के अर्थ रजतत्वप्रकारता का अन्वय स्वीकारा जाता है क्योंकि यहाँ पर '**रजत्वप्रकारतानिरूपिता या ज्ञानीयविषयता तद्वदिदम्** ' 'रजतत्व प्रकारता निरूपित जो ज्ञानीयविषयता उसका आश्रय यह है' यही शाब्दबोध होता है। इसमें रजतत्व की प्रकारता तृतीया विभक्ति का अर्थ है उसका आख्यात विभक्ति के अर्थ विषयता में निरूपितत्व सम्बन्ध से अन्वय हो रहा है। इसलिए 'विभक्त्यर्थ में विभक्त्यर्थ का अन्वय नहीं होता है' यह व्युत्पत्ति तो नहीं बन सकती है।

तो ऐसा नहीं कहना चाहिए क्योंकि वहाँ पर रजतत्वादिप्रकारकत्वविशिष्ट धात्वर्थज्ञाननिरूपितत्व का आख्यात के अर्थ में भान स्वीकारने से ही अतिप्रसङ्ग दूर हो जाते हैं। अर्थात् यहाँ पर भी तृतीया के अर्थ प्रकारता का आख्यात के अर्थ में अन्वय नहीं होता है जैसा कि आप समझ रहे हैं बल्कि रजतत्वप्रकारकत्वरूप तृतीयान्तार्थ का धात्वर्थ ज्ञान में और ज्ञाननिरूपितत्व का आख्यातार्थ विषयता में अन्वय होकर '**रजतप्रकारकत्वविशिष्ट ज्ञाननिरूपितविषयताश्रयमिदम्** ' 'रजतत्वप्रकारकत्वविशिष्टज्ञान से निरूपित विषयता का आश्रय यह है ' ऐसा शाब्दबोध होता है। और इस शाब्दबोध में भी रजतत्व प्रकारकत्व और इदम् पदार्थनिष्ठविषयता का जो ज्ञाननिष्ठ निरूपकत्व है, इन दोनों का अवच्छेद्य अवच्छेदक भाव विशिष्टवैशिष्ट्यबोधमर्यादा से भासता है।

**न च 'तस्मात् चैत्रस्य' इत्यादौ विभक्त्यर्थे कृतिसम्बन्धादौ हेतु विभक्त्यर्थान्वयदर्शनान्नास्त्युक्ता व्युत्पत्तिरिति वाच्यम्, हेतुविभक्त्य-तिरिक्तविभक्त्यर्थस्य विभक्त्यर्थानन्वयनियमात् ।**

यदि कहो कि '**तस्मात् पचति**' '**तस्मात् चैत्रस्य**' इत्यादि स्थलों में विभक्त्यर्थ कृति व सम्बन्ध आदि में हेतु विभक्ति के अर्थ का अन्वय दिखता है इसलिए उक्त व्युत्पत्ति नहीं है। भाव यह है कि '**क्षुधितश्चैत्रः, तस्मात् पचति**' 'चैत्र भूखा है इसलिए पका रहा है' यहाँ पर **तस्मात्** में जो पञ्चमी है वह हेत्वर्थक पञ्चमी है। तत्पद बुद्धिविषय क्षुधा का परामर्शक है। इस प्रकार '**तस्मात् पचति**' से '**क्षुद्धेतुका या पाकानुकूला कृतिः तद्वान्** ' 'क्षुधारूपकारण से जन्य जो पाकानुकूला कृति उस का आश्रय है' ऐसा शाब्दबोध होता है। यहाँ पर पञ्चमी विभक्ति के अर्थ हेतुकत्व का आख्यात के अर्थ कृति में अन्वय होता है। इसी प्रकार '**चैत्रेण क्रीतम् , तस्मात् चैत्रस्य**' 'चैत्र ने खरीदा है, इसलिए चैत्र का है' यहाँ पर भी पञ्चमी हेत्वर्थक है। तथा '**तस्मात् चैत्रस्य**' के द्वारा '**क्रयादिहेतुकं चैत्रस्वत्वम्** ' 'क्रय से जन्य चैत्रस्वत्व है' ऐसा शाब्दबोध होता है। इस बोध में पञ्चमी के अर्थ हेतुकत्व का षष्ठी के अर्थ स्वत्व सम्बन्ध में अन्वय हुआ करता है। इस प्रकार इन स्थलों पर विभक्ति के अर्थ का विभक्ति के अर्थ में ही अन्वय होता है। इसलिए 'विभक्त्यर्थ का विभक्त्यर्थ में अन्वय नहीं होता है' ऐसी व्युत्पत्ति नहीं है।

तो ऐसा नहीं कहना चाहिए क्योंकि हेतु विभक्ति से अतिरिक्त विभक्ति के अर्थ का ही विभक्ति के अर्थ में अन्वय नहीं होने का नियम है। हेतु विभक्ति के अर्थ का तो विभक्ति के अर्थ में अन्वय होता ही है।

**न च 'रजतत्वेनेदं जानाति' इत्यादौ तृतीयायाः कारकविभक्तित्वाभावान्न तदर्थस्य क्रियायामन्वयसम्भव इत्यगत्या द्वितीयार्थ एवतदन्वय उपगन्तव्य इति वाच्यम् , मणिकारमते 'तस्माज्जानाति' इत्यादौ जानादिरूपधात्वर्थे एव हेतुविभक्त्यर्थस्य, 'तस्मात् स्थीयते' इत्यादौ च सर्वमत एव धात्वर्थस्थित्यादौ तस्यान्वयेन, षष्ठ्यर्थसम्बन्धस्यापि ''गुरुविप्रतपस्विदुर्गतानां प्रतिकुर्वीत भिषक् स्वभेषजैः'' इत्यादौ धात्वर्थेऽन्वयेन, कर्मासमभिव्याहृते 'रजतत्वेन जानाति' इत्यादौ धात्वर्थे तृतीयार्थान्वयस्यावश्यकत्वेन कारकविभक्त्यर्थस्य क्रियायामनन्वय इत्यनियमात् ।**

यदि कहो कि **'रजतत्वेन इदं जानाति'** इत्यादि स्थलों में तृतीया के कारक विभक्ति न होने के कारण तृतीया के अर्थ का क्रिया में अन्वय सम्भव नहीं है इसलिए अन्य कोई मार्ग न होने के कारण द्वितीयार्थ में ही उसका अन्वय स्वीकारना चाहिए।

इस पूर्व पक्ष में यह पूर्वधारणा निहित है कि कारकविभक्ति के अर्थ का ही क्रिया में अन्वय हुआ करता है। क्योंकि क्रियान्वयित्व ही कारकत्व है. इसीलिए शाब्दिकों का कथन है कि **'सम्बन्धस्य कारकत्वं नास्ति क्रियायोगाभावात् '** 'सम्बन्ध का कारकत्व नहीं है क्योंकि क्रिया का योग उससे नहीं होता है। **'इत्थम्भूतलक्षणे पा॰सू॰2/3/21 '** के द्वारा जो तृतीया विहित है वह कारक विभक्ति नहीं है इसलिए **'रजतत्वेन इदं जानाति'** यहाँ पर तृतीयान्त के अर्थ रजतत्वप्रकारकत्व का धात्वर्थ ज्ञानक्रिया में अन्वय सम्भव नहीं है क्योंकि रजतत्वप्रकारकत्व में प्रकारकत्व अंश अकारक विभक्ति इत्थंभूतलक्षण तृतीया का अर्थ है। इसलिए तृतीयार्थ का अन्वय द्वितीयार्थ में ही करना पड़ेगा। इसका खण्डन करने में गदाधर ने इस पूर्वधारणा का ही खण्डन किया है कि 'कारक विभक्ति के अर्थ का ही धात्वर्थ क्रिया में अन्वय होता है'।

तो ऐसा नहीं कहना चाहिए क्योंकि चिन्तामणिकार गङ्गेशोपाध्याय के मत में **'तस्माज्जानाति'** इत्यादि स्थलों में ज्ञानरूप धात्वर्थ में ही हेतु पञ्चमी विभक्ति के अर्थ का अन्वय स्वीकारा जाता है (**'तद्धेतुकज्ञानाश्रय'** 'तत्कारणजन्यज्ञान का आश्रय है' यही शाब्दबोध स्वीकृत है। पञ्चमी का अर्थ हेतुकत्व का ज्ञान में अन्वय होता है। जबकि हेतुपञ्चमी भी कारकविभक्ति नहीं है, अतः आपके मतानुसार इस पञ्चमी के अर्थ का भी धात्वर्थ क्रिया में अन्वय नहीं होना चाहिए) **'तस्मात् स्थीयते'** इत्यादि स्थलों में भी सभी के ही मत में धात्वर्थस्थिति आदि में हेतुपञ्चमी (रूपकारकभिन्न विभक्ति) के अर्थ का अन्वय स्वीकार किया जाता है (**'तद्धेतुकस्थित्याश्रयः'** 'तत्कारणजन्यस्थिति का आश्रय है' यही शाब्दबोध स्वीकृत होता है। इसमें पञ्चमी के अर्थ हेतुकत्व का धात्वर्थ स्थितिक्रिया में अन्वय होता है) षष्ठी (जिसको कि सभी कारक विभक्ति नहीं मानते हैं ) के अर्थ सम्बन्ध का भी **'गुरुविप्रतपस्विदुर्गतानां प्रतिकुर्वीत भिषक् स्वभेषजैः'** गुरु विप्र तपस्वी व दुर्गतों का अपनी दवाओं से वैद्य प्रतिकार करे' यहाँ पर धात्वर्थ में ही अन्वय किया जाता

है। (यहाँ पर गुरुविप्रतपस्वीदुर्गतों के सम्बन्ध का ही सीधा-सीधा अन्वय धात्वर्थप्रतिक्रिया मे किया जाता है[1] जो कि षष्ठी का ही अर्थ है) इसके अलावा आप रजतत्व प्रकारकत्व रूप तृतीयान्त **रजतत्वेन** के अर्थ का द्वितीयान्त **शुक्तिं** के अर्थ शुक्तिविषयकत्व में अन्वय करने के लिए कह रहे हैं क्योंकि कारक विभक्ति के अर्थ का ही अन्वय धात्वर्थ में किया जा सकता है। लेकिन कर्म से असमभिव्याहृत **'रजतत्वेन जानाति'** इत्यादि स्थलों में धात्वर्थ ज्ञान क्रिया में ही तृतीया के अर्थ प्रकारकत्व (रजतत्व प्रकारकत्व) का अन्वय आवश्यक होगा (इसके अलावा आपके सामने भी कोई और मार्ग नहीं है) इस कारण कारकविभक्ति से भिन्न विभक्ति के अर्थ का क्रिया में अन्वय नहीं होता है ऐसा नियम नहीं बनता है। भाव यह है कि जब उपर्युक्त स्थलों में हेतुपञ्चमीरूप कारकविभक्तिभिन्नविभक्ति के अर्थ का धात्वर्थ क्रिया में अन्वय हो सकता है। षष्ठी के अर्थ सम्बन्ध का भी धात्वर्थ क्रिया में अन्वय हो सकता है। कर्म से असमभिव्याहृत उसी तरह के वाक्यप्रयोग स्थल में इत्थम्भूत लक्षण तृतीया के अर्थ का अन्वय धात्वर्थ क्रिया में हो सकता है । तो कर्म समभिव्याहृत उसी तरह के वाक्यप्रयोगस्थल में इत्थम्भूतलक्षण तृतीया के अर्थ का अन्वय धात्वर्थ क्रिया में होने क्या आपत्ति है? इस प्रकार का अन्वय भी सम्भव है।

**एवं 'घटत्वेन वह्निर्नास्ति' इत्यादौ प्रथमार्थो नानुयोगित्वम् -प्रथमायाः संख्यातिरिक्तार्थाबोधकत्वनियमात्, अतो नञर्थाभावे सम्बन्ध एव तत्, तत्र च न तृतीयार्थान्वयसम्भवः**

इसके अलावा **'घटत्वेन वह्निर्नास्ति'** इत्यादि स्थलों में प्रथमा का अर्थ अनुयोगित्व तो है नहीं क्योंकि प्रथमा संख्या से अतिरिक्त अर्थ की बोधक नहीं होती है ऐसा नियम है। इसलिए नञ् के अर्थ अभाव में वह अनुयोगिता सम्बन्ध ही हो सकता है संसर्गमर्यादया ही भासित होगी और उसमें तृतीया के अर्थ का अन्वय सम्भव नहीं है। अभिप्राय यह है कि **'रजतत्वेन शुक्तिं जानाति'** के समान स्थिति **'घटत्वेन वह्निर्नास्ति'** की है। यदि आप पूर्वोपदर्शित रीति से **'रजतत्वेन शुक्तिं जानाति'** में तृतीयान्तार्थ का द्वितीयान्तार्थ में अन्वय मानोगे तो **'घटत्वेन वह्निर्नास्ति'** में तृतीयान्तार्थ का प्रथमान्तार्थ में अन्वय स्वीकारना होगा किन्तु यहाँ पर तो अनुयोगित्व जिसमें आप घटत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्व का अन्वय करना चाहेंगे वह प्रथमा का अर्थ ही नहीं है। वह तो आकाङ्क्षाभास्य ही हो सकता है। प्रथमा का अर्थ वह इसलिए नहीं हो सकता है क्योंकि संख्या से अतिरिक्त अर्थ की बोधिका प्रथमा विभक्ति नहीं होती है[2]। आकाङ्क्षाभास्य सम्बन्ध भूत जो अर्थ है उसमें भी घटत्वावच्छिन्न प्रतियोगिताकत्व का अन्वय नहीं हो सकता है। इसलिए यहाँ पर तो आपको हमारे अनुसार ही अभाव में घटत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्व का और वह्निनिरूपित अनुयोगिताविशेष रूप वह्न्यभावत्व का अन्वय स्वीकारना होगा और उनका अवच्छेद्य अवच्छेदकभाव विशिष्ट वैशिष्ट्यबोधमर्यादा से भासता है यही मानना होगा।

---

1. 'गुरुविप्रतपस्विदुर्गतानां प्रतिकुर्वीत भिषक् स्वभेषजैः' यहाँ पर षष्ठी के अर्थभूत सम्बन्ध का धात्वर्थ में अन्वय होता है या नही इसमें मतभेद है। यदि धात्वर्थ रोगोपशम है, प्रतिक्रिया=रोगोपशम, तब तो धात्वर्थ में ही षष्ठी के अर्थ का अन्वय होता है। यदि धात्वर्थ उपशम मात्र है तब रोगं पद का अध्याहार कर के रोग में षष्ठी के अर्थ का और रोग का धात्वर्थ उपशम में अन्वय होता है।
2. यद्यपि अभेदार्थकता का भी व्युत्पादन पक्षान्तर से किया गया है।

**मम त्वनुयोगितासम्बन्धेन वह्न्यादिविशिष्टाभावे तृतीयान्तार्थघटत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्ववैशिष्ट्यभानाद् विशिष्टवैशिष्ट्यबोधमर्यादया वह्न्याद्यनुयोगिकत्वस्थलीयस्यानुयोगितया सम्बद्धवह्न्यादेस्तादृशप्रतियोगिताकत्वेनावच्छेद्यावच्छेदकभावभानोपगमेन सामञ्जस्यात्। अनुयोगिताया नञर्थतावच्छेदकत्वे तत्रैव वह्न्यादेः प्रतियोगिनोऽन्वयः, अतस्तत्र तृतीयान्तार्थघटत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताया निरूपकत्वेनान्वयं स्वीकृत्यातिप्रसङ्गवारणं सम्यक् प्रतिभाति।**

हमारे मत में तो (अनुयोगिता के प्रथमा का अर्थ न होने और आकाङ्क्षाभास्य होने पर भी) अनुयोगिता सम्बन्ध से वह्न्यदिविशिष्टाभाव में तृतीयान्तार्थ घटत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्व वैशिष्ट्य का भान होने के कारण विशिष्टवैशिष्ट्यबोध मर्यादा से वह्न्याद्यनुयोगिकत्वस्थलीय अनुयोगिता सम्बन्ध से सम्बद्ध वह्न्यादि के घटत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्व से अवच्छेद्य अवच्छेदक भाव भान स्वीकारने से ही सामञ्जस्य बन जाता है।

अभिप्राय यह है कि हमारे मत में '**घटत्वेन वह्निर्नास्ति**' यहाँ पर संसर्गमर्यादा से भासमान अनुयोगिता सम्बन्ध से वह्नि से विशिष्ट अभाव में तृतीयान्त का अर्थ घटत्वावच्छिन्न प्रतियोगिताकत्व भासित हुआ करता है। एक ही अभाव में अनुयोगितासम्बन्ध से भासित होने वाला जो वह्नि है उसमें और घटत्वावच्छिन्न प्रतियोगिताकत्व में परस्पर अवच्छेद्य अवच्छेदकभाव विशिष्टवैशिष्ट्यबोधमर्यादा से भासित होता है। किन्तु इसमें प्रश्न यह है कि विषयताओं में और विषयिताओं में तो परस्पर अवच्छेद्य अवच्छेदकभाव भासित हो सकता है किन्तु वह्नि और घटत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्व में कैसे वह अवच्छेद्य अवच्छेदक भाव भासित होगा? घटत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्व का अर्थ घटत्वावच्छिन्न प्रतियोगितानिरूपकता ही है, अथः वह तो विषयता है किन्तु वह्नि तो विषयता है नहीं, वह तो विषय है। उसके साथ तादृशप्रतियोगिताकत्व का कैसे अवच्छेद्य अवच्छेदक भाव भासेगा? तो इसके लिए कहना है कि अनुयोगिता सम्बन्ध से सम्बद्ध वह्नि, वह्निनिरूपित अनुयोगितास्थलीय है। अर्थात् वह्निनिरूपितअनुयोगिता और अनुयोगितासम्बन्ध से सम्बद्ध वह्नि मानों एक ही हैं। क्योंकि दोनों में समनैयत्य है। वह्निनिरूपित अनुयोगिता के साथ घटत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्व का अवच्छेद्य अवच्छेदक भाव तो सम्भव है क्योंकि दोनों विषयता हैं और एक ही व्यक्ति (अभाव) में रहने वाले हैं। इसीलिए वह्नि के साथ भी घटत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्व का अवच्छेद्य अवच्छेदक भाव भासित हो ही सकता है।

(किन्तु) अनुयोगिता के नञर्थतावच्छेदक होने के कारण उसीमें प्रतियोगिभूत वह्नि का निरूपितत्व सम्बन्ध से अन्वय होता है, इसलिए उसमें (अभाव में ) तृतीयान्तार्थ घटत्वावच्छिन्न प्रतियोगिता का निरूपकत्व से अन्वय होता है यह स्वीकारते हुए अतिप्रसङ्ग का वारण ठीक प्रतीत होता है।

अभिप्राय यह है कि वह्नि में और घटत्वावच्छिन्न प्रतियोगिताकत्व में विशिष्ट वैशिष्ट्यबोध मर्यादा से अवच्छेद्य अवच्छेदक भाव स्वीकारने की अपेक्षा यह उचित प्रतीत होता है कि नञर्थतावच्छेदक जो अभावत्व है वह अनुयोगिताविशेष रूप ही है। उसमें निरूपितत्वसम्बन्ध से वह्नि का अन्वय कर लिया जाये । यह अनुयोगिताविशेष '**घटत्वेन**

**वह्निर्नास्ति'** इस तरह से प्रतीयमान अभाव में है, उसी अभाव में घटत्वावच्छिन्न प्रतियोगितानिरूपकता भी है। इन दोनों का वह्निनिरूपत अनुयोगिता और घटत्वावच्छिन्नप्रतियोगिता-निरूपकता का अवच्छेद्य अवच्छेदकभाव विशिष्टवैशिष्ट्यबोध मर्यादा से भासता है। अथवा उसी अभाव में निरूपकतासम्बन्ध से घटत्वावच्छिन्नप्रतियोगिता है, वह्निनिरूपित अनुयोगिता और घटत्वावच्छिन्न प्रतियोगिता में अवच्छेद्य अवच्छेदक भाव भासित होता है।

**रङ्गेऽभेदेन रजतारोपस्थले 'रङ्गं रजतेन जानाति' इत्यप्रयोगात् तादात्म्यभिन्नसम्बन्धावच्छिन्नप्रकारतैव तृतीयार्थः। तत्र च 'रङ्गं रजतं जानाति' इति प्रयोगात् तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नप्रकारता कर्मत्वानुशिष्टद्वितीयादेरेवार्थः तस्याश्च तादृशप्रकारवाचिपदसमानविभक्तिकपदोपस्थाप्यविशेष्यताविशिष्टायामेव ज्ञानक्रियायामन्वयः, तेन भेदारोपस्थले 'रङ्गे रजतत्वं जानाति' इतिवदभेदारोपस्थले 'रङ्गे रजतं जानाति' इति न प्रयोगः। उक्तस्थले च रङ्गरजताद्योः समान-विभक्तिकपदोपस्थाप्ययोरभेदान्वये साकाङ्क्षत्वेऽपि नायोग्यतया तादृशान्वयः।**

रङ्ग में जहाँ पर अभेदेन रजत का आरोप हो रहा हो उस स्थल में **'रङ्गं रजतेन जानाति'** ऐसा प्रयोग नहीं होता है इसलिए तादात्म्यभिन्नसम्बन्धावच्छिन्न प्रकारता ही तृतीया का अर्थ है । वहाँ पर (रङ्ग में अभेदेन रजतारोपस्थल में) **'रङ्गं रजतं जानाति'** ऐसा ही प्रयोग हुआ करता है । इस कारण तादात्म्यभिन्नसम्बन्धावच्छिन्नप्रकारता कर्मत्वानुशिष्ट द्वितीयादि का ही अर्थ है और उस द्वितीया की अर्थभूत तादात्म्यभिन्नसम्बन्धावच्छिन्न प्रकारता का तादात्म्य सम्बन्ध से प्रकारीभूत अर्थ के वाचक पद के समानविभक्तिक पद से उपस्थाप्य विशेष्यता से विशिष्ट होने वाली ज्ञानक्रिया में ही अन्वय हुआ करता है, इसलिए भेदारोपस्थले में जैसे **'रङ्गे रजतत्वं जानाति'** इस प्रकार का प्रयोग होता है, अभेदारोपस्थल में **'रङ्गे रजतं जानाति'** ऐसा प्रयोग नहीं होता है। उक्त स्थल में **'रङ्गं रजतं जानाति'** इस स्थल में समानविभक्तिक पदों से रङ्ग और रजत के उपस्थाप्य होने से अभेदान्वय में साकाङ्क्ष होने पर भी अयोग्य होने के कारण अभेदान्वयबोध नहीं होता है।

पूर्व में यह व्यवस्थापित किया गया कि प्रकारता भी तृतीया का अर्थ है। अब यहाँ पर प्रयोगों के आधार पर यह व्यवस्थापित कर रहे हैं कि कैसी प्रकारता तृतीया का अर्थ है। **'रङ्गं रजतत्वेन जानाति'** ऐसा प्रयोग तो हुआ करता है किन्तु **'रङ्गं रजतेन जानाति'** ऐसा प्रयोग नहीं होता है। प्रथम प्रयोग रङ्ग में रजतत्व का समवाय सम्बन्ध से भ्रम के अभिप्राय से हो रहा है, भ्रम में रङ्गात्मक विशेष्य में समवायसम्बन्ध से रजतत्व प्रकार बनता है। द्वितीय प्रयोग जब रजत का अभेदारोप रङ्ग में हो रहा हो, रङ्गात्मक विशेष्य में तादात्म्य सम्बन्ध से रजत प्रकार होता है। उस समय हो सकता है। प्रथम प्रयोग से ज्ञान में रजतत्व प्रकारकत्व और रङ्गविषयकत्व को विषय करने वाला बोध होता है। यह बता चुके हैं। द्वितीय प्रयोग से रजतप्रकारकत्व और रङ्गविषयकत्व को ज्ञान में विषय करने वाला बोध होना चाहिए क्योंकि तृतीया का अर्थ पूर्ववत् प्रकारता हो जायेगा। जैसे रङ्ग में समवाय सम्बन्ध से रजतत्व प्रकार बनता है जब भेदारोप (समवायादि तादात्म्यातिरिक्त सम्बन्ध से भ्रम) होता है। उसी प्रकार जब अभेदारोप (तादात्म्य सम्बन्ध से भ्रम) होता है तब रङ्ग में

तादात्म्य सम्बन्ध से रजत तो प्रकार होता ही है। इस प्रयोगाप्रयोग की व्यवस्था कैसे होगी? इसकी व्यवस्था यही है कि अभेदारोपस्थल में '**रङ्गं रजतेन जानाति**' इस प्रकार का प्रयोग नहीं हुआ करता है इसी से व्यवस्थित होता है कि तादात्म्यभिन्नसम्बन्धावच्छिन्न प्रकारता ही तृतीया का अर्थ हुई करती है। इस कारण '**रङ्गं रजतेन जानाति**' प्रयोग न होने की व्यवस्था बन जाती है। तृतीया से तादात्म्यभिन्नसम्बन्धावच्छिन्न प्रकारता बोधित हो रही है और अभेदारोपस्थल में है तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नप्रकारता इसलिए उक्त प्रयोग बाधितार्थक हो जाता है। '**रङ्गं रजतं जानाति**' ऐसा प्रयोग अभेदारोपस्थल में होता है इसलिए यहाँ पर द्वितीया का अर्थ तादात्म्यभिन्नसम्बन्धावच्छिन्न प्रकारता है और तादात्म्य सम्बन्ध से प्रकारीभूत का वाचक जो पद उस पद के समानविभक्तिक पद से उपस्थाप्य विशेष्यता से विशिष्ट ज्ञान क्रिया में अन्वय होता है। रङ्गपदोत्तर द्वितीया का अर्थ विषयता और रजतपदोत्तर द्वितीया का अर्थ तादात्म्यभिन्नसम्बन्धावच्छिन्न प्रकारता है। इस प्रकार इस वाक्य से '**तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नरजतनिष्ठप्रकारतानिरूपकं यत् रङ्गनिष्ठविषयता (विशेष्यता) निरूपकं ज्ञानं तदाश्रयः**' 'तादात्म्यभिन्नसम्बन्धावच्छिन्नरजतनिष्ठप्रकारता का निरूपक और रङ्गनिष्ठ-विषयता का निरूपक जो ज्ञान उसका आश्रय है' ऐसा शाब्दबोध होता है। यहाँ पर निरूपकतासम्बन्ध से ज्ञान में रहनेवाले 'रजतनिष्ठ प्रकारता और रङ्गनिष्ठ विषयता' में परस्पर अवच्छेद्य अवच्छेदक भाव भासता है। इस कारण (चूँकि प्रकारवाचिपद समानविभक्तिपदोपस्थाप्यविशेष्यताविशिष्टज्ञानरूप क्रिया में ही द्वितीया के अर्थ तादात्म्यभिन्नसम्बन्धावच्छिन्न प्रकारता का अन्वय होता है इस कारण) '**रङ्गे रजतत्वं जानाति**' की तरह '**रङ्गे रजतं जानाति**' प्रयोग नहीं होता है। प्रथम प्रयोग में रजतत्व पदोत्तर द्वितीया का अर्थ विषयत्व है उसका अन्वय तो सम्भव है। द्वितीय में द्वितीया का अर्थ तादात्म्यभिन्नसम्बन्धावच्छिन्न प्रकारता है उसका अन्वय प्रकारवाचिरजतपद समानविभक्तिक पद से उपस्थाप्य विशेष्यता विशिष्ट ज्ञान में ही हो सकता है। यहाँ तो रजतपद समानविभक्तिक पद ही नहीं है। यद्यपि विशेष्यविशेषणवाचक पदों का समानविभक्तिकत्व ही अभेदान्वयबोध का नियामक हुआ करता है जैसे '**नीलं घटं जानामि**' से '**नीलाभिन्नघटविषयक ज्ञानाश्रयः**' 'नीलाभिन्नघट विषयक ज्ञान का आश्रय है' ऐसा ही बोध होता है। '**रङ्गं रजतं जानामि**' यहाँ पर भी विशेष्यविशेषण वाचक पदों का समानविभक्तिकत्व विद्यमान है, अतः अभेदान्वयबोध होना चाहिए तथापि रङ्ग और रजत में अभेदान्वय योग्यता न होने से अभेदान्वयबोध नहीं होता है।

**नन्वेवं सति रजतादिपदयोः सामानाधिकरण्यानुपपत्तिरिति चेत् ? का क्षतिः**

लेकिन इस प्रकार तो (रङ्ग और रजत का '**रङ्ग रजतं जानाति**' यहाँ पर अभेदान्वयबोध न स्वीकार कर तादात्म्य सम्बन्ध से रजत को रङ्ग में प्रकार बनाते हुए अन्वयबोध स्वीकारा जायेगा तो) रङ्ग रजत पदों के सामानाधिकरण्य की अनुपपत्ति होगी (क्योंकि भिन्न प्रवृत्तिनिमित्तकपदों[1] का जो एक अर्थ बोधकत्व है वही उन पदों का सामानाधिकरण्य होता है) तो क्षति क्या है? न हो पदों का समानाधिकरण्य।

---

1. प्रवृत्ति का निमित्त जो होता है उसे प्रवृत्तिनिमित्तक कहा जाता है। जैसे घटपद का प्रवृत्तिनिमित्त घटत्व है, जिसमें घटत्व रहेगा उसे बोधित करने के लिए घटपद प्रयुक्त होगा। नीलपद का प्रवृत्तिनिमित्त नीलगुण है। नीलगुण जिसमें रहेगा उसके लिए नीलपद प्रयुक्त होगा। 'नीलो घटः' में नील और घट पदों का सामानाधिकरण्य है क्योंकि प्रवृत्तिनिमित्तक भिन्न होने पर भी अर्थ एक ही बोधित होता है जो नील है वही घट है।

**न चैवं रजतगतैकत्वबहुत्वाविवक्षायां 'रङ्गाणि रजतं जानाति' 'स्त्रियं पांसुलाः जानाति' इत्यादिप्रयोगस्य च प्रसङ्गः, सामानाधिकरण्यस्यैव समानवचनलिङ्गकत्वनियतत्वादिति वाच्यम् , समानाधिकरणयोरिव यत्पदार्थविशेष्यकत्वविशिष्टेऽभेदसम्बन्धावच्छिन्नयत्पदार्थप्रकारकत्व-स्यान्वयस्तयोरपि समानलिङ्गवचनत्वनियमात् ।**

यदि कहो कि रङ्ग रजत आदि पदों का सामानाधिकरण्य अनुपपन्न होने की स्थिति में रजत गत (प्रकारीभूत रजतादिगत) एकत्व बहुत्व आदि की अविवक्षा होने पर मन मर्जी से (क्योंकि रजतादि पदोत्तर विभक्ति का कोई भी संख्या रूप अर्थ अपेक्षित नहीं होगा इसलिए) **'रङ्गाणि रजतं जानाति' 'स्त्रियं पांसुलाः जानाति'** इत्यादि विशेष्यवाचकपदासमानवचनक प्रयोग भी होने लगेंगे क्योंकि पदों का सामानाधिकरण्य ही उनके समानवचनकत्व और समानलिङ्गकत्व का नियामक होता है।

तो ऐसा नहीं कहना चाहिए क्योंकि समानाधिकरण पदों का जिस प्रकार से समानलिङ्गकत्व और समानवचनकत्व होता है उसी प्रकार यत्पदार्थविशेष्यकत्वविशिष्ट में अभेद सम्बन्ध से (तादात्म्य सम्बन्ध से) यत्पदार्थप्रकारकत्व का अन्वय होता है उन पदों का भी समानवचनकत्व और समानलिङ्गकत्व होता है। यहाँ पर रङ्ग और रजत पदों का सामानाधिकरण्य न होने पर भी रङ्गपदार्थ विशेष्यकत्वविशिष्ट (ज्ञान) में तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्न रजतपदार्थप्रकारकत्व का अन्वय होता है इस कारण रङ्ग और रजतपदों का समानलिङ्गवचनकत्व होता है। इसी प्रकार **'स्त्रियं पांसुलां जानाति'** यहाँ पर भी स्त्री और पांसुला पदों का समानलिङ्गवचनकत्व होता है।

**यज्ञपतिमतानुयायिनस्तु 'रङ्गं रजतं जानाति' इत्यादौ सामानाधिकरण्या-नुरोधाद् रजतादिपदस्य रजताभेदज्ञानविषये लक्षणा, अत एव भ्रान्तिज्ञविशेष-दर्शिना प्रयुक्तस्य 'लोहितवह्निं जानाति' इत्यादिवाक्यस्यापि प्रामाण्यनिर्वाहः। न ह्यसमासस्थल इव लोहितवह्न्याद्योरभेदाविवक्षा ज्ञानांशे लोहितादेः स्वातन्त्र्येणान्वयो वा सम्भवति कर्मधारयपदस्य साधुतानुपपत्तेः। द्वन्द्वस्थलवत् कर्मधारयोत्तरविभक्तेः पूर्वपदप्रकृतिकत्वाभावात् तस्याः पूर्वपदार्थान्वित प्रकारताबोधकत्वायोगात् ।**

**न च द्वन्द्वसमास एवासौ-अल्पाचो वह्निपदस्य पूर्वनिपातप्रसङ्गात् । समाहारपक्षे पुँल्लिङ्गताया इतरेतरपक्षे चैकवचनस्यानुपपत्तेः।**

यज्ञपत्युपाध्याय के मतानुयायी तो **'रङ्ग रजतं जानाति'** इत्यादि स्थलों में रङ्ग और रजतपदों के सामानाधिकरण्य के अनुरोध से (सामानाधिकरण्य न होने पर दोनों पदों का समानवचनकत्व नहीं बन सकेगा इसलिए) रजत आदि पदों की रजताभेदज्ञानविषय में लक्षणा स्वीकारते हैं (रजत पद की रजताभेदज्ञानविषय में लक्षणा स्वीकारने पर चूँकि जो रजताभेदज्ञान विषय है वही रङ्ग है इस तरह भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तक भी रंग, रजत पदों के एक ही अर्थ का बोधक होने के कारण पदों का सामानाधिकरण्य बन जायेगा) इस प्रकार लक्षणा स्वीकारने के कारण ही भ्रान्ति को जानने वाले विशेषदर्शी के द्वारा प्रयुक्त **'लोहित वह्निं जानाति'**

इत्यादि वाक्यों के भी प्रामाण्य का निर्वाह हो जाता है। (जो व्यक्ति प्रथम पुरुष चैत्रादि के वह्नि में होने वाले लोहितत्व के भ्रम को जान रहा है और उसे खुद मालूम है कि वह्नि तेजविशेष होने के कारण भास्वरशुक्ल ही होता है[1]। वह व्यक्ति जब ऐसा प्रयोग करता है तो उसका प्रामाण्य होना ही चाहिए। लोहित पद की लोहिताभेदज्ञानविषय में लक्षणा स्वीकारते हुए यहाँ पर शाब्दबोध होता है, इस तरह प्रामाण्यनिर्वाह हो जाता है) यहाँ पर भी असमासस्थल की तरह लोहित और वह्नि आदि के अभेद की अविवक्षा या ज्ञान अंश में लोहित आदि का स्वतन्त्र रूप से अन्वय नहीं सम्भव नहीं है क्योंकि कर्मधारय पद की साधुता ही अनुपपन्न हो जायेगी। साथ ही लोहित पद के बाद प्रकारताबोधक विभक्ति नहीं होने के कारण धात्वर्थ में नामार्थ का साक्षात् अन्वय करने में अव्युत्पत्ति हो जायेगी। द्वन्द्वस्थल की तरह कर्मधारयोत्तर विभक्ति पूर्वपद की प्रकृति नहीं होती है इसलिए उसके द्वारा पूर्वपदार्थान्वित प्रकारता का बोधन उचित नहीं है।

यदि कहो कि यह द्वन्द्व समास ही है तो ऐसा नहीं कह सकते क्योंकि अल्प अच् वाले वह्निपद का पूर्वनिपात हो जायेगा तथा समाहारपक्ष में पुँल्लिंग प्रयोग और इतरेतर पक्ष में एकवचन की अनुपपत्ति होगी।

यज्ञपत्युपाध्यायमतानुयायियों का कहना है कि '**लोहितं वह्निं जानाति**' '**रङ्ग रजतं जानाति**' इत्यादि असमास स्थल में क्रमशः आप लोहितप्रकारकत्व और वह्निविषयकत्व का अन्वय व रङ्गविषयकत्व और रजतप्रकारत्व का अन्वय आप ज्ञान में कर सकते हैं, किन्तु '**लोहितवह्निं जानाति**' में आप क्या करेंगे? यहाँ पर आप लोहित और वह्नि के अभेद की अविवक्षा अथवा ज्ञान अंश में लोहित आदि का स्वतन्त्र रूप से असमास स्थल की तरह अन्वय नहीं कर सकते हैं क्योंकि यदि आप स्वतन्त्र रूप से पूर्वपदार्थ लोहित का धात्वर्थज्ञान में अन्वय करें तो कर्मधारय असाधु हो जायेगा क्योंकि पूर्वपदार्थ और उत्तर पदार्थ में अभेद की विवक्षा न होने पर कर्मधारय साधु नहीं होता है जैसे कि जब नील पदार्थ और उत्पल पदार्थ के अभेद की विवक्षा होती है तभी नील और उत्पल पदों का समास होकर '**नीलोत्पलम्** ' बनता है और कर्मधारय साधु होता है। यदि लोहित पदार्थ और वह्नि पदार्थ के अभेद की विवक्षा नहीं होगी तो कर्मधारय समास नहीं हो सकेगा, अभेद की विवक्षा तभी हो सकती है जब लोहित पद की लोहिताभेदज्ञानविषय में लक्षणा कर ली जाये। इसके अलावा लोहितपदार्थ की सीधे-सीधे धात्वर्थ ज्ञान में अन्वय करना चाहते हो जो नहीं कर सकते हो क्योंकि लोहितपदोत्तर कोई विभक्ति तो है नहीं जिसका कि प्रकारता अर्थ हो। यदि चाहो कि प्रकारता का भान संसर्गमर्यादा से हो जायेगा और प्रकारताख्य संसर्ग से (भेदसंसर्ग से) नामार्थ लोहित का धात्वर्थ ज्ञान में अन्वय करो तो अव्युत्पत्ति हो जायेगी। इस बात को तो आप भी मानते हैं कि '**निपातातिरिक्त नामार्थ और धात्वर्थ का अभेदातिरिक्त सम्बन्ध से अन्वयबोध अव्युत्पन्न होता है**' यदि कहो कि जैसे द्वन्द्वसमासस्थल में '**धवखदिरौ छिनत्ति**' इत्यादि स्थलों में धवपदोत्तर विभक्ति न होने पर भी धव पदार्थ का अन्वय धात्वर्थ छेदन में हो जाता है वैसे यहाँ पर भी लोहितपदोत्तर विभक्ति न होने पर भी लोहितपदार्थ का अन्वय धात्वर्थ ज्ञान में हो जायेगा, तो ऐसा भी नहीं है क्योंकि द्वन्द्वसमास स्थल में जो विभक्ति होती है वह उत्तरपदप्रकृतिक होने के साथ पूर्वपदप्रकृतिक भी होती है, कर्मधारयसमास में विभक्ति पूर्वपदप्रकृतिक नहीं होती है, इसलिए द्वन्द्वसमासस्थल में तो पूर्व पदार्थ का विभक्ति के अर्थ को बीच में करके क्रिया में

1. कहा ही गया है 'भास्कर शुक्लं तेजसि' तर्क संग्रह

अन्वय हो जाता है, किन्तु कर्मधारय में पूर्वपदार्थ का क्रिया में अन्वय नहीं होता है। अतः यहाँ पर भी वह्निपदोत्तर विभक्ति के द्वारा लोहितपदार्थान्वितप्रकारता बोधकत्व सम्भव नहीं है।

यदि कहो कि '**लोहितवह्निं जानाति**' में द्वन्द्व समास ही लोहित और वह्नि पदों का है तो ऐसा नहीं हो सकता क्योंकि एक नियम है '**अल्पाच्तरम् पा॰सू॰2/2/34**' जिसका अभिप्राय है कि द्वन्द्व समास में जिस पद में कम अच् होंगे उस का पूर्वनिपात हो जाता है। लोहित की अपेक्षा वह्नि में एक अच् कम है, अतः उसका पूर्वनिपात होकर '**वह्निलोहितम्** ' प्रयोग बनने लगेगा। इसके साथ ही यह भी प्रश्न है कि यहाँ पर कौन सा द्वन्द्व होगा इतरेतरद्वन्द्व या समाहार द्वन्द्व ? समाहारद्वन्द्व मानोगे, तो नपुंसकलिङ्गक प्रयोग हो जायेगा और यदि इतरेतर द्वन्द्व माना तो एकवचन न होकर '**धवखदिरौ**' की तरह द्विवचन हो जायेगा। अतः लोहितादि पदों की लोहिताद्यभेदज्ञानविषय में लक्षणा ही स्वीकारो और कर्मधारय स्वीकारो तथा असमासस्थल में भी इसी प्रकार स्वीकार करो।

**एतन्मते 'शुक्लवह्निः' इत्यादिप्रमाया लोहिताभेदारोपविषयवह्निविषय-कत्वेऽपि 'शुक्लो वह्निर्लोहिता जपा' इति समूहालम्बनप्रमाया लोहिताभेदा-वगाहि स्वविषयवह्निविषयकत्वेऽपि च तद्दशायां 'लोहितवह्निं लोहितं वह्निं वा जानाति' इति न प्रयोगः तादृशपदोपस्थाप्यविषयतायाः धर्मिपारन्त्र्येण द्वितीयार्थविषयतायामभेदसम्बन्धेन विशेषणताया नियमोपगमात् ।**

इस मत में '**शुक्लो वह्निः**' इत्यादि प्रमा के लोहिताभेदारोपविषयवह्नि विषयक होने पर भी '**शुक्लो वह्निर्लोहिता जपा**' इस समूहालम्बन प्रमा के लोहिताभेदावगाही स्वविषयवह्निविषयक होने पर इस प्रमा की दशा में '**लोहितवह्निं जानाति**' '**लोहितं वह्निं जानाति**' ऐसे प्रयोग नहीं होते हैं, क्योंकि तादृश (आरोप्यवाचकलोहितादि) पद से उपस्थाप्य विषयता का धर्मिपारतन्त्र्येण द्वितीयार्थ विषयता में ही अभेद सम्बन्ध से विशेषणता (प्रकारता) का ही नियम स्वीकारा जाता है।

भाव यह है कि इस मत में यह शंका उठती है कि '**शुक्लो वह्निः**' 'वह्नि शुक्ल है' इत्यादि प्रमा वह्नि विषयक है। वह्नि तो लोहिताभेदारोपविषय होता ही है। इस प्रकार यह प्रमा लोहिताभेदारोपविषयवह्निविषयक है। अतः '**लोहितवह्निं जानाति**' या '**लोहितं वह्निं जानाति**' ऐसा प्रयोग होना चाहिए। इसी प्रकार '**शुक्लो वह्निः लोहिता जपा**' 'वह्नि शुक्ल है और जपा लोहित है' इस प्रमा के द्वारा लोहिताभेद और वह्नि दोनों विषय हो रहा है। यह प्रमा लोहिताभेदज्ञान ही है। इसका विषय वह्नि है। इस प्रकार '**लोहितवह्निं जानाति**' या '**लोहितं वह्निं जानाति**' ऐसा प्रयोग होना चाहिए। तो इसका समाधान यह है कि चूँकि आरोप्यवाचकलोहितादिपद से उपस्थाप्य जो विषयता है, उसका धर्मी जो विषय है उस विषय का अन्वय चूँकि द्वितीया के अर्थ (वह्निपदोत्तर द्वितीया के अर्थ) विषयता में प्रकारतया किया जाता है। लोहिताभेदज्ञान विषयवह्निविषयता का निरूपकत्व सम्बन्ध से ज्ञान में अन्वय होकर बोध होता है। इसमें वह्निविषयता में लोहितपदार्थ लोहिताभेदज्ञानविषय प्रकार बन कर अन्वित होता है। इसलिए लोहितपदार्थ लोहिताभेदज्ञानविषयनिष्ठ विषयता का भी वह्निविषयता में अभेद सम्बन्ध से प्रकारतया अन्वय होता है। इसलिए जहाँ लोहिताभेदज्ञानविषयनिष्ठविषयता और वह्निनिष्ठविषयता में अभेद होगा वहीं पर ऐसा प्रयोग होगा। '**लोहितो वह्निः**' ऐसी प्रमा जब आधार बनती है तब तो उक्त प्रयोग हो

सकता है क्योंकि लोहिताभेदज्ञानविषय में रहनेवाली विषयता और वह्निनिष्ठविषयता में अभेद है। तथा अभेद सम्बन्ध से वह्निनिष्ठविषयता में उक्त विषयता प्रकार बनती है। क्योंकि लोहिताभेदज्ञानविषय वह्नि ही है। उक्त स्थलों में लोहिताभेदज्ञानविषयनिष्ठ विषयता वह्निनिष्ठविषयता में अभेद सम्बन्ध से प्रकार नहीं होती है। अतः उक्त प्रयोग नहीं होते हैं।

**अथ वा लोहिताभेदविषयतानिरूपितविषयतापन्नस्य वह्न्यादे र्ज्ञानान्वयि-विषयितानिरूपकत्वं भासते। समूहालम्बनादौ च तादृशविषयतानापन्नस्यैव विषयितानिरूपकत्वमिति नातिप्रसङ्गः। विषयतापन्नस्य निरूपकत्वमित्यस्य विषयतावच्छिन्नं निरूपकत्वमित्यर्थः। एतच्च विलक्षणं विषयितानिरूपकता-वच्छेदकत्वमविषयस्यापि विषयत्वस्योपेयते 'रक्तदण्डवान्' इत्यादौ दण्डादिरूप-प्रकारांशेऽप्रकारेणापि रक्तत्वादिप्रकारतानिरूपितविशेष्यत्वेन दण्डादिप्रकारताया अवच्छेद्यावच्छेदकभाववदित्याहुः।**

अथवा लोहिताभेदविषयतानिरूपितविषयतापन्न वह्नि आदि का ज्ञानान्वयि (ज्ञाननिष्ठ) विषयितानिरूपकत्व भासित होता है। समूहालम्बनादिस्थल में तादृशविषयता (लोहिताभेदविषयता निरूपितविषयता) से अनापन्न ही वह्नि आदिविषयितानिरूपकत्व होता है इसलिए अति प्रसङ्ग (उक्त प्रयोग की आपत्ति) नहीं है। विषयतापन्न का निरूपकत्व माने विषयतावच्छिन्न का निरूपकत्व है। और यह विषयितानिरूपकता का विलक्षण अवच्छेदकत्व अविषय भी विषयत्व का स्वीकार किया जाता है। जैसे '**रक्तदण्डवान्** ' इत्यादि स्थलों में दण्डादिरूप प्रकारांश में अप्रकारीभूत जो रक्तत्वादिप्रकारतानिरूपितविशेष्यत्व, उससे दण्डादि प्रकारता का अवच्छेद्य अवच्छेदक स्वीकार किया जाता है। ऐसा कहते हैं।

अभिप्राय यह है कि '**रक्तदण्डवान्** ' यहाँ पर दण्ड में प्रकार दण्डत्व है और दण्ड में अभेद सम्बन्ध से रक्त पदार्थ प्रकार है रक्त में रक्तत्व प्रकार है। ज्ञाननिष्ठा विषयिता का निरूपक दण्डरूपविषय है। क्योंकि विषयिता का निरूपक विषय होता है। दण्डनिष्ठविषयता दण्डात्मक विषयनिष्ठनिरूपकता की अवच्छेदक होती है, यह तो सर्वसम्मत है। इसके साथ ही दण्ड में प्रकारीभूत रक्तात्मक विषय भी विषयिता का निरूपक होता है और उसमें रहनेवाली विषयता निरूपकतावच्छेदक होती है। दण्डरूप प्रकार अंश में प्रकार न होने वाली (विशेषण बनकर भासित न होने वाली) भी रक्तत्वादिप्रकारतानिरूपित रक्तनिष्ठ विशेष्यता में और दण्डादिप्रकारता में अवच्छेद्य अवच्छेदक भाव होता है। अर्थात् दण्ड में यद्यपि रक्तत्वादि प्रकार नहीं होते हैं रक्त में ही प्रकार होते हैं फिर भी दण्डनिष्ठ जो विषयिता निरूपकता है वह रक्तत्वादिप्रकारतानिरूपितरक्तनिष्ठविशेष्यता से अवच्छिन्न होती है। इस प्रकार प्रकारीभूतविषय में जो प्रकार नहीं होता है उसमें भी निरूपकतावच्छेदकता होती है। यहाँ पर ग्रन्थकार का आशय यह प्रतीत होता है कि जो विषयिता का निरूपक होगा उसमें जो प्रकारविधया, प्रकारतावच्छेदकविधया भासता है, वही विषयनिष्ठ निरूपकता (ज्ञाननिष्ठविषयिता की निरूपकता) का अवच्छेदक होता है यह तो सामान्य बात है। रक्तत्वप्रकारता निरूपितरक्तनिष्ठविशेष्यता रक्तदण्डवद्विषयकज्ञानीय विषयिता के निरूपक दण्ड में प्रकार बनकर नहीं भासती है। फिर भी उसे निरूपकतावच्छेदक मानते हैं। इस प्रकार दण्डनिष्ठप्रकारता (और निरूपकता भी) उस रक्तत्वप्रकारतानिरूपितरक्तविशेष्यता से अवच्छिन्न होती है। यह विलक्षण निरूपकतावच्छेदकत्व है । जो कि अविषय की भी विषयता में स्वीकार किया

जाता है। रक्तत्वप्रकारता निरूपितरक्तविशेष्यता ज्ञान के अविषय की विषयता है क्योंकि रक्तत्वप्रकारतानिरूपितरक्तविशेष्यत्वेनरक्तविशेष्य का ज्ञान नहीं हो रहा है। इसी प्रकार **'लोहितवह्निं जानाति'** और **'लोहितं वह्निं जानाति'** यहाँ पर ज्ञान में रहनेवाली विषयित का का निरूपकत्व केवल वह्नि में नहीं बल्कि लोहिताभेदविषयता निरूपित विषयता से अवच्छिन्न होकर वह्नि में भासता है। अर्थात् वह्निनिष्ठज्ञानीयविषयितानिरूपकता का अवच्छेदक सिर्फ वह्नित्व नहीं होता है बल्कि लोहिताभेदविषयतानिरूपितविषयता भी होती है। इस कारण **'शुक्लो वह्निर्लोहिता जपा'** इस समूहालम्बनस्थल में वैसा प्रयोग नहीं होता है क्योंकि समूहालम्बनज्ञानीय विषयिता की जो वह्नि में रहनेवाली निरूपकता है वह्नित्व आदि से तो अवच्छिन्न है किन्तु लोहिताभेदविषयतानिरूपित विषयता से अवच्छिन्न नहीं है। क्योंकि समूहालम्बन में चूँकि लोहिताभेदवह्नि में नहीं प्रकार हो रहा है, इस कारण लोहिताभेदनिष्ठ विषयता से निरूपित विषयता तो वह्नि में है ही नहीं । फिर वह कैसे निरूपकतावच्छेदक बनेगी। **'रक्तदण्डवान् '** में तो रक्त भी दण्ड ही है, अतः उक्त विशेष्यता रक्तनिष्ठ होने से दण्डनिष्ठ ही है। वह निरूपकतावच्छेदक बनती है। यद्यपि दण्ड में प्रकार बनकर न भासे। जब **'लोहितो वह्निः'** ऐसा भ्रान्ति रहा करती है, उस स्थिति में लोहिताभेद वह्नि में प्रकार होता है। अतः लोहिताभेदनिष्ठ विषयता (प्रकारताख्या) से निरूपित विषयता (विशेष्यताख्या) वह्नि में रहती है। वह निरूपकतावच्छेदक हो रही है। इसलिए वैसा प्रयोग होता है।

**तन्न शोभनम् – उक्तरीत्या विनैव लक्षणामुपपत्तौ तस्या अन्याय्यत्वात्।**

गदाधर खण्डन करते हैं कि यज्ञपत्युपाध्याय का उक्त मत ठीक नहीं है क्योंकि उक्त रीति से जब बग़ैर लक्षणा के ही उपपत्ति हो जाये तो लक्षणा स्वीकार अनुचित है न्याय सङ्गत नहीं है। यज्ञपति यहाँ पर लोहितादिपदों की लोहिताद्यभेदज्ञानविषय में लक्षणा करते हैं। हमारे मत में लक्षणा नहीं करना पड़ती है। लक्षणा जघन्य वृत्ति है। यदि अभिधा से काम न हो तभी लक्षणा का आश्रयण उचित है। अतः यह मत खण्डित हो जाता है।

**अथोक्तस्थले आरोप्यारोपविषयबोधकपदयोर्ज्ञानान्वितार्थकत्वे कर्म-प्रत्ययस्थले 'लोहितोवह्निर्ज्ञायते' इत्यादौ विशेष्यभेदाद्वाक्यभेदापत्तिः।**

लेकिन उक्त स्थल में आरोप्य और आरोपविषय बोधक पदों का अर्थ यदि ज्ञान से अन्वित हो रहा है तो कर्मप्रत्यय के स्थल में **'लोहितो वह्निर्ज्ञायते'** इत्यादि जगहों पर विशेष्य के भेद से वाक्यभेद की आपत्ति है। अभिप्राय यह है कि ज्ञानविषयत्व ही तो ज्ञान कर्मत्व है, ज्ञाधातु का कर्म इस प्रकार से लोहित भी हो जायेगा और वह्नि भी हो जायेगा क्योंकि ज्ञानविषय तो दोनों ही है, दोनों का ही आप (सिद्धान्ती) ज्ञान में अन्वय स्वीकार रहे हैं। आरोप्यवाचकलोहितपद का अर्थ भी ज्ञान से ही अन्वित हो रहा है और आरोपविषयवाचक वह्नि पद का अर्थ भी ज्ञान से अन्वित हो रहा है। इस प्रकार दोनों की ही कर्मता है। कर्माख्यातप्रयोगस्थल में भी **'लोहितो वह्नि र्ज्ञायते'** यहाँ पर लोहित और वह्नि दोनों ही ज्ञानीयविषयताश्रय हैं और प्रथमान्तपदोपस्थाप्य हैं। इसलिए मुख्याविशेष्य कौन होगा शाब्दबोध में? इन दोनों में कोई निर्णायक नहीं है। इसलिए लोहित और वह्नि दोनों विशेष्य होंगा, **'ज्ञानीयविषयताश्रयो लोहितः'** 'ज्ञानीय विषयता का आश्रय लोहित है' **'ज्ञानीय विषयताश्रयो वह्निः'** 'ज्ञानीयविषयता का आश्रय वह्नि है' ऐसा शाब्दबोध हुआ करता है। इस प्रकार विशेष्यभेद हो रहा है, अतः वाक्यभेद होगा। अथवा–चूँकि लोहित और वह्नि

परस्पर विशेष्यविशेषणभाव से नहीं भासित हो रहे हैं। इसलिए कर्त्राख्यातस्थल में जैसे लोहित और वह्नि का सीधे-सीधे ज्ञान में उक्त सम्बन्धों से अन्वय होता है वैसे कर्माख्यातस्थल में ज्ञान का लोहित और वह्नि में सीधे-सीधे अन्वय होकर **'ज्ञानीयविषयताश्रयो वह्निः लोहितश्च'** 'ज्ञानीय विषयताश्रय वह्नि भी है लोहित भी' प्रकारताश्रय लोहित विशेष्यताश्रय वह्नि है ऐसा शाब्दबोध होता है। चूँकि एक मुख्यविशेष्यकत्व ही एकवाक्यत्व है, यह बोध एक मुख्यविशेष्यक नहीं है, अतः एकवाक्यता नहीं बनेगी। वाक्यभेद का यह आशय है। गदाधर का यही आशय आगे के ग्रन्थ से पता चलता है।

गदाधर ने यज्ञपति के मत का खण्डन कर दिया कि विना लक्षणा के यदि काम चल रहा है तो लक्षणा अनुचित है। किन्तु **'लोहितवह्निं जानाति'** यहाँ पर लोहित और वह्नि पदों के समास में जो यज्ञपति ने प्रश्न उठाया था उसका समाधान अभी गदाधर ने नहीं किया है। इसके अलावा एक नया प्रश्न इस ग्रन्थ से गदाधर के मत में उठाया गया है।

**न च लोहिताभेदज्ञानविषयो वह्निरित्येव शाब्दधीरुपगम्यते न तु ज्ञाने प्रकारो लोहितो विशेष्यश्च वह्निरिति समूहालम्बनं तथा सति 'शुक्लो वह्नि र्लोहिता जपा' इत्यादावपि तथाप्रयोगप्रसङ्गात् दर्शितविशिष्टवैशिष्ट्यबोध-स्वीकारे लोहिता भेदप्रकारकत्वविशिष्टनिरूपितविशेष्यतायाः शुक्लवह्न्यादौ बाधितत्वेन तादृशप्रयोगापत्तिविरहादिति वाच्यम् , तत्र लोहितपदोत्तरप्रकार-तार्थकद्वितीयाविभक्तिविरहेण लोहितादिप्रकारकत्वेन ज्ञानभानासम्भवात्, नामार्थधात्वर्थयोः साक्षादन्वयस्याव्युत्पन्नतया प्रकारितायाः संसर्गतया भानासम्भवात् ।**

यदि कहो कि उक्त स्थल में **'लोहितो वह्निर्ज्ञायते'** यहाँ पर **'लोहिताभेदज्ञानविषयो वह्निः'** 'लोहिताभेदज्ञानविषय वह्नि है' ऐसा शाब्दबोध स्वीकार किया जाता है **'ज्ञाने प्रकारो लोहितो विशेष्यश्च वह्निः'** 'ज्ञान में प्रकार लोहित और विशेष्य वह्नि है' ऐसा समूहालम्बनात्मक बोध नहीं स्वीकारा जाता है क्योंकि ऐसा समूहालम्बनात्मक शाब्दबोध स्वीकारने पर **'शुक्लोवह्नि र्लोहिताजपा'** इत्यादि स्थलों पर भी वैसे प्रयोग का प्रसङ्ग होगा, दिखलाये गये विशिष्टवैशिष्ट्यबोध को स्वीकारने पर (**'लोहिताभेदज्ञानविषयो वह्निः'** ऐसा विशिष्ट वैशिष्ट्यबोध स्वीकारने पर) लोहितादिप्रकारकत्वविशिष्टनिरूपित विशेष्यता के वह्नि में बाधित होने के कारण वैसे प्रयोग की आपत्ति नहीं होती है।

तो ऐसा नहीं कहना चाहिए क्योंकि लोहितादिपदोत्तर प्रकारतार्थक द्वितीया विभक्ति के **'लोहितो वह्निर्ज्ञायते'** इत्यादि स्थलों में न रहने के कारण लोहितादिप्रकारत्वेन ज्ञान का भी सम्भव नहीं है। नामार्थ और धात्वर्थ का साक्षाद् भेद सम्बन्ध से अन्वय अव्युत्पन्न होने के कारण प्रकारिता का संसर्गविधया भान सम्भव नहीं है।

अभिप्राय यह है कि यदि आप कहिए कि **'लोहितो वह्निर्ज्ञायते'** यहाँ पर हम **'ज्ञानीयविषयता ( प्रकारता ) श्रयो लोहितो, वह्निश्च ( ज्ञानीय विशेष्यताश्रयः )'** 'ज्ञानीयविषयताश्रय लोहित भी है और वह्नि भी' (लोहित में प्रकारताख्या विषयता है और वह्नि में विशेष्यताख्या) इस प्रकार का समूहालम्बन बोध नहीं स्वीकारते हैं, जिससे कि विशेष्यभेद से वाक्यभेद की आपत्ति आये बल्कि **'लोहिताभेदज्ञानविषयो ( विषयताश्रयो ) वह्निः'** 'लोहिताभेदज्ञान का विषय वह्नि है' इस प्रकार का शाब्दबोध स्वीकारते हैं। इस शाब्दबोध का उपपादन करने के लिए लोहित का प्रकारिता संसर्ग से ज्ञान में तथा ज्ञान

विषयता (जो कि आख्यातार्थ है) का आश्रयत्व सम्बन्ध से अन्वय वह्नि में करते हैं। क्योंकि उपर्युक्त समूहालम्बनात्मक शाब्दबोध स्वीकारने पर '**शुक्लो वह्निर्लोहिता जपा**' इस प्रमा के काल में (इस प्रमा को आधार बनाकर) भी '**लोहितो वह्नि र्ज्ञायते**' प्रयोग होने की आपत्ति आ जायेगी। इसका कारण यह है कि उक्त प्रमा स्थल में भी ज्ञानीय प्रकारताश्रय लोहित और ज्ञानीयविशेष्यताश्रय वह्नि है। जोकि इस वाक्य से जायमान उक्त समूहालम्बनात्मक बोध का विषय बनता है। इस वाक्य से जब '**लोहिताभेदज्ञानविषयताश्रयो वह्निः**' ऐसा बोध स्वीकारते हैं, तब ज्ञान में लोहितप्रकारकत्व का वैशिष्ट्य बोधित होता है तथा लोहितप्रकारकत्व विशिष्टज्ञान से निरूपित विशेष्यता (विषयता) वह्नि के शुक्ल होने के कारण वह्नि में बाधित है। इस कारण उक्त समूहालम्बन प्रमा के काल में ऐसा प्रयोग नहीं हुआ करता है। यद्यपि समूहालम्बनात्मक प्रमा भी लोहितप्रकारत्व विशिष्ट ज्ञान है और उस ज्ञान निरूपित विषयता वह्नि में विद्यमान ही है तथापि इस कथन का सार यह है कि इस तरह शाब्दबोध स्वीकारने पर ज्ञान में लोहितनिष्ठप्रकारतानिरूपकत्व (लोहितप्रकारकत्व) और वह्निनिष्ठविशेष्यतानिरूपकत्व (वह्निविशेष्यकत्व) दोनों ही विद्यमान हैं। विशिष्टवैशिष्ट्यबोधमर्यादा से इन दोनों का अवच्छेद्य-अवच्छेदकभाव बोधित होता है। जबकि समूहालम्बन प्रमा में इन दोनों की निरपेक्षभाव से स्थिति है, इनका अवच्छेद्य अवच्छेदक भाव नहीं बोधित हुआ करता है।

तो ऐसा कहना अनुचित है क्योंकि आप लोहितप्रकारकत्व का ज्ञान में अन्वय करना चाहते हैं किन्तु लोहितपद के बाद प्रकारता की वाचक द्वितीया आदि विभक्तियाँ नहीं है। फिर लोहित का प्रकारकत्व आयेगा कहाँ से जिसका कि आप अन्वय ज्ञान में करोगे। यदि कहो कि आकाङ्क्षाभास्य प्रकारकत्व संसर्ग से लोहित का ज्ञान में अन्वय कर लेंगे ? तो भी नामार्थ धात्वर्थ का साक्षादन्वयबोध तो व्युत्पन्न ही नहीं है, विभक्ति के अर्थ को बीच में करके ही नामार्थ धात्वर्थ का अन्वयबोध होता है। लोहित पदोत्तर कोई विभक्ति नहीं है।

वस्तुतः एक समस्या यहाँ पर भी वही उपस्थित हो रही है जो '**लोहितवह्निं जानाति**' से यज्ञपति ने उठायी थी कि धात्वर्थ में नामार्थ के साक्षाद् अन्वयबोध में व्युत्पत्ति विरोध है।

**इति चेत् ?**

**न–यथा हि 'घटो नीलो भवति' 'वृक्षो नौका भवति' 'काष्ठं भस्म भवति' इत्यादौ धात्वर्थेऽसाधारणधर्मरूपे भावे व्युत्पत्तिवैचित्र्येण नीलनौकाभस्मादेः साक्षादेवान्वयः–प्रथमाया अन्तरा भासमानार्थकत्वाभावात् , नौकादिपदस्य स्वारम्भकावयवारभ्यनौकाद्यर्थलाक्षणिकतया प्रकृतिविकृत्यो र्भेदमतेऽपि 'वृक्षो नौका भवति' इत्यादौ योग्यताया उपपत्तिस्तथा धात्वर्थे प्रकृतेऽपि प्रकारितासम्बन्धेन लोहितादेः साक्षादन्वयस्यागत्योपगमात् ।**

तो ऐसा नहीं है, क्योंकि जैसे '**घटो नीलो भवति**' 'घट नीला होता है' '**वृक्षो नौका भवति**' 'वृक्ष नौका होता है' '**काष्ठं भस्म भवति**' 'काष्ठ भस्म होता है' इत्यादि स्थलों में भूधातु के असाधारण धर्म भाव रूप अर्थ में व्युत्पत्तिवैचित्र्य से नील, नौका, भस्म आदि का साक्षात् ही अन्वय हुआ करता है क्योंकि (नील, नौका, भस्म पदों के बाद प्रथमा विभक्ति है और) प्रथमा का अन्तरा भासमानार्थकत्व नहीं है। नौका आदि पद के स्वारम्भकावयवारभ्यनौकादि अर्थ में लाक्षणिक होने के कारण जो लोग प्रकृति और विकृति में भेद मानते हैं उनके मत में भी '**वृक्षो नौका भवति**' इत्यादि स्थलों में योग्यता की उपपत्ति होती है, उसी प्रकार प्रकृत धात्वर्थ में भी प्रकारिता सम्बन्ध से लोहितादि का अन्वय

और कोई मार्ग नहीं होने से स्वीकार किया जाता है।

अभिप्राय यह है कि नामार्थ का धात्वर्थ के साथ साक्षात् भी अन्वयबोध हुआ करता है क्योंकि कुछ एक स्थलों में और कोई चारा नहीं रहता है। जैसे कि '**घटो नीलो भवति**' यहाँ भू धातु का अर्थ सत्ता=भाव=उत्पत्ति नील का ही असाधारण धर्म है क्योंकि घट के उत्पन्न होने के बाद ही उसमें नील गुण की उत्पत्ति होती है। इसीलिए नैयायिकों का एक नियम है कि '**उत्पन्नं द्रव्यं क्षणमगुणं निष्क्रियं च तिष्ठति**' 'उत्पन्न द्रव्य क्षण भर निर्गुण और निष्क्रिय रहता है' घटोत्पत्ति के अग्रिमक्षण में ही नील की उत्पत्ति (नील का भाव) है। इस प्रकार धात्वर्थ भाव नील का ही असाधारण धर्म है, उत्पत्तिक्षण में ही तो घट नील नहीं होता है। यदि ऐसा होता तो नीलाभिन्न (नीलाविशिष्ट) घट का असाधारण धर्म भाव होता। किन्तु नील विशिष्ट घट में तो उत्पत्ति का अन्वय ही नहीं हो सकता क्योंकि नील विशिष्ट घट की उत्पत्ति न्यायवैशेषिक सम्प्रदाय में नहीं होती है। इसलिए धात्वर्थभाव में नील साक्षात् ही अन्वित होता है। इसी प्रकार '**वृक्षो नौका भवति**' यहाँ पर वृक्ष से नौका की उत्पत्ति ही वाक्य द्वारा बोधित हो रही है। इस कारण भूधात्वर्थ भाव (उत्पत्ति) नौका का ही असाधारण धर्म है, अतः नौका (नामार्थ) और धात्वर्थ भाव का साक्षात् ही अन्वय होता है। '**काष्ठं भस्म भवति**' यहाँ पर भी काष्ठ से भस्मोत्पत्ति वाक्य द्वारा बोधित हो रही है। इस कारण भू धात्वर्थ उत्पत्ति भस्म का ही असाधारण धर्म है। इसलिए भस्म (नामार्थ) और उत्पत्ति (भू धात्वर्थ) का साक्षात् ही अन्वय होता है। प्रथमा के अन्तरा भासमानार्थक न होने के कारण प्रथमा विभक्ति के अर्थ को बीच में कर के तो अन्वय नहीं ही सम्भव है। इस प्रकार इन वाक्यों से क्रमशः '**नीलोत्पत्त्याश्रयो घटः**' 'घट नीलोत्पत्ति का आश्रय है' '**नौकोपत्त्याश्रयो वृक्षः**' 'नौकात्पत्ति का आश्रय वृक्ष है' '**भस्मोत्पत्त्याश्रयं काष्ठम्** ' 'भस्मोत्पत्ति का आश्रय काष्ठ है' इस प्रकार शाब्दबोध होता है।

नैयायिकों और वैशेषिकों के मत में प्रकृति और विकृति का भेद हुआ करता है। अवयव और अवयवी का भेद भी स्वीकारते हैं। सांख्यों, योगियों और वेदान्तियों के मत में प्रकृति और विकृति का भेद नहीं हुआ करता है। प्रकृति और विकृति का जो भेद मानते हैं उनके मत में तो '**वृक्षो नौका भवति**' आदि स्थलों में योग्यता ही नहीं बन पायेगी ? तो ऐसी शंका नहीं है क्योंकि नौका आदि पद स्वारम्भकावयवारभ्य नौका रूप अर्थ में लाक्षणिक होने के कारण योग्यता की उपपत्ति हो जाती है। इस प्रकार उक्त वाक्यों से क्रमशः '**स्वारम्भकावयवारभ्यनौकोत्पत्त्याश्रयो वृक्षः**' और '**स्वारम्भकावयवारभ्यभस्मोत्पत्त्याश्रयं काष्ठम्** ' ऐसा शाब्दबोध होता है।

जो भी हो इन स्थलों में धात्वर्थ में साक्षात् ही नामार्थ नील, नौका, भस्म का अन्वय करना पड़ता है, उसी प्रकार '**लोहितं वह्निं जानाति**' '**लोहितो वह्नि र्ज्ञायते**' इत्यादि स्थलों में आकाङ्क्षाभास्य प्रकारकत्व संसर्ग से लोहित आदि का अन्वय साक्षात् ही धात्त्वर्थ ज्ञान में स्वीकारते हैं। इस प्रकार एक प्रश्न का समाधान गदाधर ने शब्दशः कर दिया है। यज्ञपति द्वारा उठाये गये दूसरे प्रश्न कि यदि लोहित और वह्नि के अभेद की विवक्षा नहीं होगी तो कर्मधारय समास साधु नहीं होगा? का उत्तर देना शेष है। गदाधर ने इस प्रश्न का शब्दशः समाधान नहीं किया है। ऐसा लगता है कि पदों के असामानाधिकरण्य से असमान लिङ्गवचनकत्वापत्ति का उत्तर देते हुए जो समाधान दिया था, इस आशङ्का का भी वही

समाधान है कि यत्पदार्थविशेष्यकत्वविशिष्ट में अभेदसम्बन्ध से यत्पदार्थप्रकारकत्व का अन्वय होता है उन दोनों पदों का भी कर्मधारय समास साधु होता है।

**यथा प्रकृतिविकृतिभावस्थले 'वृक्षः पञ्च नौका भवति' इत्यादौ प्रकृतिभूतवृक्षादेर्विशेष्यतया भावनान्वयित्वात् तद्गतसंख्याबोधकतया प्रकृतिवाचकपदसमानवचनकत्वमाख्यातस्य तथा 'एको द्वौ ज्ञायते' इत्याद्युभयारोपस्थलीयवाक्ये एकादिपदार्थस्यारोपविशेष्यस्याख्यातार्थविशेष्यतया तत्समानवचनत्वमाख्यातस्य ।**

जैसे प्रकृति विकृतिभाव स्थल **'वृक्षः पञ्च नौका भवति'** 'वृक्ष पाँच नौका होता है' इत्यादि में प्रकृतिभूत वृक्ष को ही भावना में विशेष्य के रूप में अन्वित होने के कारण (भावना=धात्वर्थ उत्पत्ति का विशेष्य बनकर ) वृक्ष ही शाब्दबोध में भासित होता है क्योंकि **'पञ्चसंख्याकनौकोत्पत्त्याश्रयो वृक्षः'** 'पाँच नौकाओं की उत्पत्ति का आश्रय वृक्ष है' ऐसा ही शाब्दबोध होता है और उसमें उत्पत्ति का विशेष्य बनकर वृक्ष ही भासता है, इस कारण) उसी वृक्ष में रहनेवाली संख्या का बोधक आख्यात होता है। इस कारण प्रकृतिवाचक वृक्ष पद (क्योंकि वृक्ष प्रकृति और नौका विकृति है) का समानवचनक आख्यात होता है। उसी प्रकार **'एको द्वौ ज्ञायते'** 'एक (वस्तु) दो ज्ञात हो रही है' उस उभयारोपस्थलीय वाक्य में (जहाँ पर एक व्यक्ति में दो का आरोप हो रहा है ऐसे स्थल में ) एक आदि पदार्थ के ही आरोपविशेष्य होने के कारण आख्यातार्थविशेष्य होने की वजह से आख्यात तत्समानवचनक होता है।

आशय यह है कि **'वृक्षः पञ्चनौका भवति'** यहाँ पर आख्यातार्थ एकत्व का अन्वय वृक्ष में ही होता है क्योंकि आख्यातार्थ संख्या का अन्वय भावना (धात्वर्थ) विशेष्य में ही होता है। धात्वर्थ उत्पत्ति का विशेष्य बनकर वृक्ष ही भासता है, अतः वृक्ष की ही संख्या का बोधक होता है। फलतः वृक्ष का समानवचनक आख्यात होता है। वृक्ष में भी एकवचन आख्यात भी एकवचन होता है। इसी प्रकार **'एको द्वौ ज्ञायते'** इस उभयारोपस्थलीय वाक्य में उभयारोप का विशेष्य एक होता है, वही आख्यातार्थ विशेष्य भी बनेगा इसीलिए एक पद का समानवचन आख्यात होता है।

**न चैवम् 'अमानि तत्तेन निजायशोयुगं द्विफालबद्धाश्चिकुराः शिरस्थितम्' इत्यत्र कथमारोपविशेष्यवाचकपदविरुद्धवचनत्वम् 'अमानि' इति क्रियापदस्येति वाच्यम्, तत्रायशोद्वयस्य वास्तवत्वेन चिकुरभागद्वयस्य राज्ञ आरोप्यत्वेन कवेरुत्प्रेक्षितत्वात्, आख्यातार्थविशेष्यतान्वयविशेष्यत्वेनायशोयुगस्यैव विवक्षितत्वात् ।**

यदि आप पूँछे कि **'अमानि तत्तेन निजायशोयुगं द्विफालबद्धाश्चिकुराः शिरस्थितम्'** 'उसके द्वारा दो भागों में बाँधे हुए चिकुर शिरस्थित अपने अयशोयुग माने गये' यहाँ पर **'अमानि'** इस क्रियापद में आरोप के विशेष्यवाचक चिकुरपद के विरुद्धवचन क्रियापद में कैसे है? अर्थात् यहाँ पर विशेष्यवाचक पद है चिकुरपद क्योंकि चिकुर में अयशोयुग का आरोप किया जा रहा है। अभी आपने प्रतिपादित किया कि जो आरोपविशेष्य होता है उसी में आख्यातार्थ संख्या का अन्वय होता है। इस कारण आरोपविशेष्यवाचकपद का समानवचनक

क्रियापद होना चाहिए। यहाँ पर चिकुर '**चिकुराः**' तो बहुवचनान्त है और क्रिया पद '**अमानि**' एकवचनान्त है, ऐसा क्यों है? तो ऐसा पूँछना अनुचित है क्योंकि उक्त प्रयोग में तुम '**चिकुराः**' को विशेष्यवाचक समझ रहे हो, जबकि उस वाक्य में कवि के द्वारा अयशोद्वय वास्तवत्वेन और चिकुरभागद्वय राजा के द्वारा आरोप्यत्वेन कवि द्वारा उत्प्रेक्षित हैं, अर्थात् वस्तुतः यहाँ पर अयशोद्वय ही आरोपविशेष्य है और चिकुर उस में आरोपित हो रहा है। इसलिए आरोपविशेष्य होने के कारण आख्यातार्थविशेष्यता के अन्वयविशेष्यत्वेन अयशोद्वय ही विवक्षित है। अतः अयशोद्वयवाचक अयशोयुग पद का समानवचनक क्रियापद प्रयुक्त है। '**अयशोयुगं**' एकवचनान्त होने के कारण '**अमानि**' भी एकवचनान्त ही प्रयुक्त होता है। उक्त वाक्य का उपर्युक्त अर्थ न होकर 'उसके द्वारा शिरस्थित अपने अयशोयुग दो फाल में बाँधे हुए चिकुर (केशराशि) माने गये' यह अर्थ होता है।

**इच्छार्थकधातुस्थले मुख्यविशेष्यत्वरूपं कर्मत्वं द्वितीयार्थः, अतो 'वृष्टि साध्यं सुखं भवतु' इत्यादीच्छास्थले 'सुखमिच्छति' इत्यादिवत् 'वृष्टिमिच्छति' इत्यादयो न प्रयोगाः।**

इच्छार्थक धातु के स्थल में मुख्यविशेष्यत्वरूप कर्मत्व द्वितीया का अर्थ है, इसलिए '**वृष्टिसाध्यं सुखं भवतु**' 'वृष्टिसाध्य सुख होवे' ऐसी इच्छा होने पर '**सुखमिच्छति**' 'सुख चाहता है' प्रयोग की तरह '**वृष्टिमिच्छति**' 'वृष्टि चाहता है' इत्यादि प्रयोग नहीं होते हैं यदि इच्छार्थकधातुस्थल में विशेष्यत्वरूप कर्मत्व स्वीकारा जायेगा तो '**वृष्टिसाध्यं सुखं भवतु**' इस इच्छा का विषयत्व जैसे सुख में है वैसे ही वृष्टि में भी है। इच्छाकर्मता वृष्टि और सुख दोनों में होगी, इसलिए '**सुखमिच्छति**' की तरह '**वृष्टिमिच्छति**' प्रयोग भी होने लगेगा। मुख्यविशेष्यता को इच्छाकर्मता स्वीकारने पर सुख में ही इच्छा की मुख्य विशेष्यता है वृष्टि में नहीं। अतः उक्त प्रयोग नहीं होता है। सामान्यतः विशेष्यता की विवक्षा करने पर तो वृष्टित्व की अपेक्षा वृष्टि की विशेष्यता है ही। इसलिए उक्त प्रयोगापत्ति पुनः प्राप्त होगी।

**अथ 'अहं सुखी स्याम्' इत्यादीच्छाया सुखादिविशेषणतया तत्र 'सुखमिच्छति' इत्यादिप्रयोगानुपपत्तिरिति चेत्? न, 'मम सुखं भवतु' इत्यादि सुखविशेष्यकेच्छाया एव कदाचित् सुखादिविशिष्टात्मबोधकशब्देन विषयाभिलापात्, स्वकृत्यधीनसिद्धिकत्वरूपस्वकृतिसाध्यत्वप्रकारक पाकविशेष्यकेच्छाया एव 'पाकं कृत्या साधयामि' इति पाकसिद्ध्यनुकूल-कृत्यभिन्नव्यापारविशिष्टस्वबोधकशब्देन विषयाभिलापवत्।**

लेकिन प्रश्न है कि '**अहं सुखी स्याम्**' 'मैं सुखी होउँ' इत्यादि इच्छा सुखादिविशेषण होती है इसलिए '**सुखमिच्छति**' इत्यादि प्रयोगों की अनुपपत्ति है अर्थात् आपने इच्छार्थक धातु के योग में मुख्यविशेष्यत्वरूपकर्मत्व द्वितीया का अर्थ स्वीकार किया है, इसलिए '**सुखमिच्छति**' से '**सुखमुख्यविशेष्यताकेच्छाश्रयः**' 'सुखमुख्यविशेष्यताक इच्छा का आश्रय है' इस प्रकार का शाब्दबोध हुआ करता है। इस कारण '**अहं सुखी स्याम्**' ऐसी इच्छा रहने पर उक्त प्रयोग नहीं होना चाहिए क्योंकि इस इच्छा में अहं पदार्थ ही विशेष्य है, सुख उसमें विशेषण बनकर आ रहा है। इस प्रकार इस इच्छा के सुखमुख्यविशेष्यताक न होने के कारण ऐसी इच्छा होने की दशा में सुखमुख्यविशेष्यताकेच्छाश्रयत्व कर्ता में नहीं

है, अतः शाब्दबोध बाधित होगा। इसलिए ऐसा प्रयोग नहीं होना चाहिए, इस प्रयोग की अनुपपत्ति है।

तो यह अनुपपत्ति नहीं है क्योंकि **'मम सुखं भवतु'** 'मुझे सुख होवे' इत्यादि सुख विशेष्यक इच्छा के ही विषयों का कदाचित् सुखविशिष्टात्मबोधक शब्द के द्वारा (**'अहंसुखी स्याम्'** इन शब्दों के द्वारा) अभिलाप हो रहा है। अर्थात् वस्तुतः कर्ता की जो इच्छा है वह सुखमुख्यविशेष्यताक ही है, उसी इच्छा का सुखविशिष्टात्मकबोधक शब्दों के द्वारा अभिलाप किया जा रहा है। जैसे कि स्वकृत्यधीनसिद्धिकत्व (अपने कृति के अधीन है सिद्धि जिसकी तादृशसिद्धिकत्व) रूप जो स्वकृतिसाध्यत्व है, तत्प्रकारकपाकविशेष्यकेच्छा (**'मत्कृतिसाध्यः पाको भवतु'** 'पाक मेरे कृति से साध्य होवे' है, उसी इच्छा) का ही **'पाकं कृत्या साधयामि'** 'पाककृति से साधित कर रहा हूँ' ऐसे पाकसिद्ध्यनुकूलकृत्यभिन्नव्यापार से विशिष्ट स्व को बोधित करने वाले शब्द से विषयाभिलाप होता है।

अर्थात् जैसे **'पाको मत्कृतिसाध्यो भवतु'** ऐसी मत्कृतिसाध्यत्वप्रकारक पाक विशेष्यक इच्छा का ही **'पाकं कृत्या साधयामि'** ऐसे पाकसिद्धि के अनुकूलकृति स्वरूप व्यापार से विशिष्ट स्व (कर्ता) को बोधित करने वाले शब्दों के द्वारा अभिलाप होता है, उसी प्रकार **'मम सुखं भवतु'** इसी सुखविशेष्यक इच्छा का ही **'अहं सुखी स्याम्'** इन शब्दों के द्वारा अभिलाप होता है। इस कारण **'अहं सुखी स्याम्'** ऐसी इच्छा का आश्रय होने पर भी कर्ता में सुखविशेष्यक इच्छा का आश्रयत्व है ही जो कि शाब्दबोध से बोधित हो रहा है। इस कारण शाब्दबोध के अबाधित होने के कारण उस समय भी **'सुखमिच्छति'** प्रयोग होता है, इसकी अनुपपत्ति नहीं है।

**यदि चोद्देश्यसुखादेर्विशेषणतयापि क्वचिद् भानमानुभाविकं तदोद्देश्यादिव्य-व्यवहारनियामकः क्वाचित्कविशेषणसाधारणविषयताविशेषोऽभ्युपेयः। अनुमितौ विशेष्यतया क्वाचित्कभानविषयसाध्यनिष्ठविधेयताख्यविषयतावत्। स एव च 'सुखमिच्छति' इत्यादौ द्वितीयाद्यर्थः।**

यदि उद्देश्यभूत सुखादि का विशेषण के रूप में भी कहीं पर भान आनुभविक हो तो उद्देश्य आदि व्यवहार का नियामक कहीं-कहीं के विशेषण में भी रहनेवाला विषयता विशेष स्वीकारना चाहिए। जैसे कि अनुमिति में विशेष्य के रूप में कहीं पर भान विषय साध्यनिष्ठ विधेयताख्य विषयताविशेष स्वीकारी जाती है। तथा वही विषयताविशेष ही **'सुखमिच्छति'** इत्यादि स्थलों में द्वितीया का अर्थ है।

अभिप्राय यह है कि जैसे **'पर्वतो वह्निमान्'** 'पर्वत वह्निवाला है' इस प्रकार भी अनुमिति स्वीकारी जाती है और **'पर्वते वह्निः'** इस प्रकार भी अनुमिति स्वीकारी जाती है। इन दोनों में से प्रथम अनुमिति में पर्वत विशेष्य है और वह्नि प्रकार है। द्वितीय में वह्नि विशेष्य है और उसमें पर्वतवृत्तित्व प्रकार है (या संयोगसम्बन्धावच्छिन्न आधेयता सम्बन्ध से पर्वत प्रकार है) किन्तु वह्नि के प्रकार होने की दशा में भी और विशेष्य होने की दशा में भी दोनों ही स्थितियों में वह्नि में ही विधेयता होती है तथा उस काल में भी **'वह्निमनुमिनोति'** 'वह्नि का अनुमान कर रहा है' ऐसा प्रयोग हुआ करता है। क्योंकि विधेयता, वह्नि की प्रकारता व विशेष्यता दोनों ही दशाओं में समानरूप से वह्नि की ही होती है। जैसे यह

नियम नहीं किया जा सकता है कि अनुमिति वह्नि प्रकारक ही होती है, या वह्निविशेष्यक ही। उसी प्रकार सुखविशेष्यक ही इच्छा होगी, सुखविशेषणक नहीं होगी यह नियम नहीं किया जा सकता है, इच्छा में सुखादि का विशेषणतया भी कहीं पर भान हुआ करता है क्योंकि यह अनुभवसिद्ध है तो सुखादि में विशेष्यविशेषण साधारणविधेयतावत् कोई विषयताविशेष स्वीकारना चाहिए जो कि सुखादि के उद्देश्य व्यावहार का नियामक होता है। अर्थात् सुखादि में उद्देश्यताख्या एक विशेषविषयता स्वीकार कर लेनी चाहिए, सुख में उसी उद्देश्यता के रहने के कारण 'सुख इच्छा का उद्देश्य है' ऐसा व्यवहार हुआ करता है। ऐसा व्यवहार '**मम सुखं भवतु**' ऐसी इच्छा होने पर भी होता है और '**अहं सुखी स्याम्**' इच्छा होने पर भी होता है। क्योंकि दोनों ही इच्छाएँ सुखोद्देश्यक है। वही उद्देश्यताख्या विषयता ही '**सुखमिच्छति**' इत्यादि स्थलों में द्वितीया का अर्थ है। इस प्रकार इस वाक्य से '**सुखोद्देश्यताकेच्छाश्रयः**' 'सुखोद्देश्यताक इच्छा का आश्रय है' ऐसा शाब्दबोध होता है। उक्त दोनों ही इच्छाओं के सुखोद्देश्यताक होने के कारण उनमें से किसी भी इच्छा का आश्रय होने पर शाब्दबोध अबाधित होता है। इसलिए इस प्रकार प्रयोग होने में कोई अनुपपत्ति नहीं है।

**'ग्राममिच्छति' इत्यादौ ग्रामादिपदं ग्रामस्वत्वादिपरम् । अत एव च सिद्धस्य ग्रामादेर्मुख्यविशेष्यताया उपदर्शितविलक्षणविषयताया वा विरहेऽपि न क्षतिः।**

'**ग्राममिच्छति**' इत्यादि स्थलों में ग्रामादिपद लक्षणा से ग्रामस्वत्वादिपरक हैं। इसी कारण ही सिद्ध ग्रामादि की मुख्यविशेष्यता के न होने पर भी अथवा प्रदर्शित विशेष्यता विशेषणता विलक्षण उद्देश्यताख्य विषयता न होने पर भी कोई क्षति नहीं है।

अभिप्राय यह है कि मुख्यतया इच्छा साध्यविषयिणी होती है सिद्धविषयिणी नहीं। ग्रामादि तो सिद्ध है अतः मुख्यतया ग्रामादिविषयिणी इच्छा नहीं हो सकती है। इस कारण यदि द्वितीया का अर्थ मुख्यविशेष्यता माना जाये तब भी '**ग्रममिच्छति**' से शाब्दबोध बाधित है क्योंकि ग्राममुख्यविशेष्यताक इच्छा का आश्रयत्व सम्भव नहीं है ग्राममुख्यविशेष्यताक इच्छा ही अप्रसिद्ध होने के कारण । इसी प्रकार ग्रामोद्देश्यक इच्छा की अप्रसिद्धि होने से उसका आश्रयत्व भी बाधित है। अतः यदि द्वितीया का अर्थ उद्देश्यता मानें तब भी शाब्दबोध बाधित ही होगा। इसलिए ग्रामादि पद उक्त वाक्य में ग्रामादिस्वत्वपरक हैं। ग्रामादिस्वत्व के साध्य होने के कारण, सिद्ध न होने से ग्रामादिस्वत्व मुख्यविशेष्यताक और ग्रामादिस्वत्वोद्देश्यताक '**ग्रामस्वत्वं मे भवतु**' 'ग्रामस्वत्व मेरा हो' इत्यादि इच्छाएँ व उनका आश्रयत्व प्रसिद्ध है जो कि शाब्दबोध से बोध्य है। अथः कोई क्षति (शाब्दबोधबाधितत्वादि) नहीं है।

**ग्रामादेः सिद्धत्वेऽपि स्वत्वाद्यसिद्धोपरक्तस्येच्छायां प्राधान्येन क्वचिद्भानम् -विशिष्टस्यासिद्धत्वात् । तेनैव च 'ग्राममिच्छति' इत्यादि प्रयोग इत्यपि वदन्ति।**

कुछ लोग तो ऐसे भी कहते है कि–ग्रामादि के सिद्ध होने पर भी स्वत्वादि असिद्ध से उपरक्त ग्रामादि का ही इच्छा में प्रधानरूप से कहीं पर भान होता है क्योंकि स्वत्व विशिष्ट ग्राम असिद्ध है। (अर्थात् ग्राम के सिद्ध होने पर भी स्वत्वविशिष्ट ग्राम के असिद्ध होने के कारण स्वत्वविशिष्टग्राममुख्यविशेष्यताक इच्छा या स्वत्वविशिष्टग्रामोद्देश्यताक इच्छा प्रसिद्ध

है और तादृशेच्छाश्रयत्व ही उक्त वाक्य से बोधित होता है) तथा वहीं पर '**ग्राममिच्छति**' इत्यादि प्रयोग होते हैं।

ग्रामादिपद को लक्षणा से ग्रामादिस्वत्वपरक मानने पर '**ग्राममिच्छति**' से '**ग्रामस्वत्वोद्देश्यताकेच्छाश्रयः**' ग्राम स्वत्वोद्देश्यकताक इच्छा का आश्रय है' ऐसा शाब्दबोध होता है।

स्वत्वाद्यसिद्धोपरक्त ग्राम की इच्छा में प्रधानता स्वीकारने पर '**स्वत्वविशिष्ट ग्रामोद्देश्यताकेच्छाश्रयः**' 'स्वत्वविशिष्टग्रामोद्देश्यताक इच्छा का आश्रय है' ऐसा शाब्दबोध उक्त वाक्य से होता है।

**पाकं चिकीर्षति' इत्यादौ द्वितीयाया विशेष्यतारूपकर्मत्वार्थकतया कृतिप्रकारक पाकविशेष्यकेच्छा प्रतीयते सा 'पाकं कृत्या साधयामि' इतीच्छा ।**

'**पाकं चिकीर्षति**' इत्यादि स्थलों में द्वितीया का विशेष्यता रूप कर्मत्व अर्थ होने के कारण कृतिप्रकारक पाकविशेष्यक इच्छा ही प्रतीत होती है और वह इच्छा '**पाकं कृत्या साधयामि**' ऐसी इच्छा है। इस प्रकार इस वाक्य से '**कृतिप्रकारक पाकविशेष्यताकेच्छाश्रयः**' 'कृतिप्रकारक पार विशेष्यता का इच्छा का आश्रय है' ऐसा शाब्दबोध होता है।

विमर्शः– यहाँ पर गदाधर ने शब्दशः जो कहा है वह असङ्गत प्रतीत होता है। गदाधर का यह कहना है कि "कृतिप्रकारक पाकविशेष्यताक इच्छा '**पाकं कृत्या साधयामि**'' 'पाक कृति से साध रहा है' यह इच्छा है" यह उचित नहीं जान पड़ता है क्योंकि इस कथन में पाक विशेष्य नहीं बन रहा है। अभी गदाधर स्वयं भी कह चुके हैं कि '**पाकं कृत्या साधयामि**' के द्वारा पाकसिद्ध्यनुकूलकृत्यभिन्न व्यापार विशिष्ट स्व (मैं) ही विशेष्य बनता है । (द्रष्टव्य पृ०419) तो वस्तुतः यहाँ पर इस तरह कहकर '**पाको मत्कृतिसाध्यो भवतु**' 'पाक मेरी कृति से साध्य होवे' इस इच्छा का ही अन्य शब्दों में अभिलाप कर रहे हैं। इस इच्छा में कृतिप्रकारकत्व और पाकविशेष्यताकत्व दोनों ही है। इसी इच्छा का आश्रयत्व शाब्दबोध द्वारा बोध्य हो रहा है। इसका सङ्केत गदाधर खुद दे चुके हैं कि– '**स्वकृतिसाध्यत्वप्रकारकपाकविशेष्यकेच्छाया एव 'पाकं कृत्या साधयामि' इति पाक सिद्ध्यनुकूलकृत्यभिन्नव्यापारविशिष्टस्वबोधकशब्देन विषयाभिलापवत्**' (द्रष्टव्य पृ०419)

**अथवा सनो धात्वर्थविशेष्यकेच्छावाचित्वात् कृतिविशेष्यकेच्छा-चिकीर्षापदार्थः सा च 'पाककृतिर्भवतु' इतीच्छैव, प्रवर्त्तिका च सा भवतु मा वेत्यन्यदेतत् । पाकादेश्च कृतिकर्मत्वमेव द्वितीयया प्रत्याय्यते नत्विच्छायाः विषयत्वरूपं कर्मत्वम् , गृहस्थितीच्छामादाय 'गृहं तिष्ठासति' इत्यादिप्रयोगापत्तेः। युक्तञ्चैतत् –सनो धात्वर्थप्रकारकेच्छावाचित्वे ओदनभोजनेच्छादशायाम् 'ओदनं बुभुक्षते' इति प्रयोगो न स्यात् तत्र भोजनस्याप्रकारत्वात् ।**

अथवा सन् के धात्वर्थविशेष्यक इच्छा का वाचक होने के कारण कृतिविशेष्यक इच्छा ही चिकीर्षा पद का अर्थ है (कृ धातु से सन् प्रत्यय होकर चिकीर्षा बना है, कृ का अर्थ कृति है और सन् का तद्विशेष्यक इच्छा, इस प्रकार चिकीर्षा का अर्थ कृति विशेष्यक इच्छा ही है) और वह इच्छा '**पाककृतिर्भवतु**' पाक कृति होवे' यह इच्छा ही है (क्योंकि इस इच्छा में कृति ही विशेष्य है) इस प्रकार की इच्छा प्रवर्तक होगी कि नहीं यह अलग

बात है। (जैसे '**पाकं कृत्या साधयामि**' यह इच्छा नियमतः प्रवर्तक होती है, उसी प्रकार '**पाककृतिर्भवतु**' यह इच्छा नियम से प्रवर्तक नहीं होगी, ऐसी इच्छा रहने पर भी आलस्यवशात् कोई बैठा रह सकता है) द्वितीया के द्वारा पाकादि की कृतिकर्मता ही बोधित होती है (कृतिकर्मता का आशय कृति विशेष्यता अथवा कृत्युद्देश्यता से है) न कि इच्छा का विषयत्वरूप कर्मत्व (द्वितीया से इच्छाविषयत्वरूपकर्मता के बोधित होने पर) गृहस्थिति की इच्छा को लेकर '**गृहं तिष्ठासति**' ऐसा प्रयोग होने की आपत्ति आ जायेगी। (क्योंकि '**गृहे स्थितिर्भवतु**' 'घर में स्थिति हो' ऐसी इच्छा का विषयत्व तो गृह में विद्यमान ही है, अतः इच्छा विषयत्व रूप कर्मत्व के द्वितीया का अर्थ होने पर इस वाक्य से '**गृहविषयकस्थितीच्छाश्रयः**' 'गृहविषयक स्थिति इच्छाश्रय है' बोध बोध्य होगा जो कि अबाधित है। धात्वर्थकर्मत्व के द्वितीया से प्रतीयमान होने पर तो स्थिति के अकर्मक होने के कारण गृह में स्थितिकर्मता बाधित है जबकि उक्त वाक्य से '**गृहकर्मकस्थितीच्छाश्रयः**' 'गृहकर्मकस्थितीच्छा का आश्रय है' ऐसा शाब्दबोध अपेक्षणीय है। अतः ऐसा प्रयोग नहीं होता है) यह युक्तिसङ्गत भी है क्योंकि सन् को धात्वर्थप्रकारक इच्छा का वाचक मानने पर (जैसा कि पूर्व में माना जा रहा था) ओदनभोजन की इच्छा होने की दशा में '**ओदनं बुभुक्षते**' ऐसा प्रयोग नहीं हो सकेगा क्योंकि उसमें भोजन प्रकार नहीं है।

अभिप्राय यह है कि सन् को धात्वर्थ प्रकारक इच्छा का वाचक यदि माना जाये जैसा कि पूर्व में प्रतिपादित किया गया था तो '**पाकं चिकीर्षति**' इत्यादि स्थलों में तो पाक की कर्मता होने में कोई आपत्ति नहीं है क्योंकि द्वितीया का अर्थ विशेष्यता होगा और '**पाको मत्कृतिसाध्यो भवतु**' इस कृधात्वर्थ कृतिप्रकारक इच्छा की विशेष्यता पाक में है। किन्तु '**ओदनं बुभुक्षते**' 'ओदन खाना चाहता है' ऐसा प्रयोग नहीं हो सकेगा। कारण यह है कि द्वितीया से बोध्य होगी भोजनप्रकारक (भुज्धात्वर्थभोजनप्रकारक) इच्छा की विशेष्यता। किन्तु जो इच्छा यहाँ पर कर्ता में है वह '**ओदनं भोजनं भवतु**' 'भात भोजन होवे' या '**ओदनस्य भोजनं भवतु**' 'भात का भोजन हो' यह इच्छा है। इस इच्छा में भोजन प्रकार नहीं विशेष्य है। इसलिए भोजनप्रकारक इच्छाविशेष्यता का ओदन में बाध है। फलतः उक्त वाक्य से सम्भव '**ओदनविशेष्यताक भोजनप्रकारक इच्छाश्रयः**' 'ओदनविशेष्यताक भोजनप्रकारक इच्छा का आश्रय है' शाब्दबोध बाधित होने की वजह उक्त वाक्य प्रयोग नहीं हो सकेगा।

**न च कर्मतासम्बन्धेन भोजनप्रकारिका यदौदनविशेष्यिकेच्छा तदैवैतादृश प्रयोगः,सा चेच्छा भोजनधर्मिकेष्टसाधनताज्ञानाद् भोजनविशिष्टौदन-धर्मिकेष्टसाधनताज्ञानाद् वा, ओदनस्य सिद्धतादशायामपि विशिष्टधर्मिकेष्ट-साधनताज्ञानाद् विशिष्टधर्मिकासिद्धत्वज्ञानसहिताद् विशिष्टेच्छासम्भवात् । यत्र भोजनसिद्धतादशायां भोजनोत्तरकालीनगमनत्वादिप्रकारिका भुक्तौदनजन्यपुष्टित्वादिप्रकारिका वेच्छा तत्र 'बुभुक्षते' इति प्रयोगस्य न प्रसङ्गः मुख्यविशेष्यविशेषणतापन्नकर्मत्वांशे इच्छा प्रकारताया एव सन्प्रत्यय-प्रकृत्यर्थे भानोपगमादिति वाच्यम्, 'भोजनं भवतु' इत्यादिभोजनविशेष्य-केच्छादशायामपि 'बुभुक्षते' इति प्रयोगस्य सर्वसिद्धत्वेन धात्वर्थविशेष्य-केच्छाबोधकतायाः सन्प्रत्ययस्यावश्यमुपेयत्वात्।**

यदि कहो कि कर्मता सम्बन्ध से भोजनप्रकारिका ओदनविशेष्यक इच्छा जब होती है अर्थात् '**भोजनकर्म ओदनं भवतु**' 'ओदन भोजन क्रिया का कर्म होवे' या '**भोजने ओदनं भवतु**' 'भोजन में भात होवे' या '**कर्मत्वेन भोजनविशिष्टमोदनं भवतु**' 'कर्मत्वेन भोजन क्रिया से विशिष्ट ओदन होवे' इस प्रकार की इच्छा जब होती है (इन सब इच्छाओं में भोजन प्रकार है और ओदन विशेष्य है) तब ही इस प्रकार का '**ओदनं बुभुक्षते**' 'भात खाना चाहता है' ऐसा प्रयोग होता है। तथा इस प्रकार की इच्छा भोजन धर्मिक इष्टसाधनताज्ञान '**भोजनं मदिष्टसाधनम्** ' 'भोजन मेरा इष्ट साधन है' इस प्रकार के इष्ट साधनताज्ञान से अथवा भोजनविशिष्ट ओदनधर्मिक '**कर्मत्वेन भोजनविशिष्टमोदनं मदिष्टसाधनम्** ' 'कर्मत्वेन भोजन से विशिष्ट ओदन मेरा इष्ट साधन है' इस प्रकार के इष्ट साधनताज्ञान से हुआ करती है। ओदन की सिद्धतादशा में भी विशिष्टधर्मिक इष्टसाधनता ज्ञान से विशिष्टधर्मिक असिद्धत्वज्ञान से सहित होने पर विशिष्ट इच्छा सम्भव है। इस ग्रन्थ का आशय यह है कि इच्छा जो होती है वह साध्यविषयिणी ही होती है, सिद्धविषयिणी नहीं होती है। ओदन तो सिद्ध है, भोजन ही असिद्ध है। अतः भोजनधर्मिक ही इष्टसाधनताज्ञान हो सकता है, ओदनधर्मिक इष्टसाधनताज्ञान सम्भव नहीं है क्योंकि असिद्धधर्मिक ही इष्ट साधनताज्ञान हो सकता है, और इस कारण असिद्धधर्मिक ही इच्छा हो सकती है। इस तरह भोजनधर्मिक ही इच्छा सम्भव है ओदन धर्मिक नहीं क्योंकि ओदन सिद्ध है, भोजन ही असिद्ध है। फिर तो पुनः भोजनप्रकारक इच्छा अप्रसिद्ध हो जायेगी। इस का समाधान यह है कि यद्यपि ओदन सिद्ध है परन्तु भोजनविशिष्ट ओदन असिद्ध है। उक्त भोजनविशिष्ट ओदनधर्मिक असिद्धत्व ज्ञान से सहकृत जो भोजनविशिष्ट ओदनधर्मिक इष्टसाधनता ज्ञान है, उससे भोजनविशिष्ट ओदनविषयिणी इच्छा सम्भव है।

जहाँ पर भोजनक्रिया की सिद्धता दशा में भोजनोत्तरकालीनगमनत्वप्रकारक '**भोजनोत्तरकालिकं गमनं भवतु**' 'भोजनोत्तर कालिक गमन होवे' ऐसी इच्छा होती है (इस इच्छा में भोजनोत्तरकालिकगमन विशेष्य और तादृशगमनत्व प्रकार है) अथवा भुक्तौदनजन्य (खाये हुए ओदन से जन्य) पुष्टित्वप्रकारक '**भुक्तौदनजन्या पुष्टिर्भवतु**' 'भुक्तौदन से जन्य पुष्टि होवे' ऐसी इच्छा होती है उसमें तादृशपुष्टिविशेष्य व तादृशपुष्टित्व प्रकारक है' वहाँ पर '**बुभुक्षते**' इस प्रयोग का प्रसङ्ग नहीं है क्योंकि मुख्यविशेष्य में विशेषणतापन्न कर्मत्व अंश में इच्छा प्रकारता का ही सन् प्रत्यय की प्रकृति के अर्थ में भान स्वीकार किया जाता है। इसका अभिप्राय यह है कि जब '**भोजनोत्तरकालिकं गमनं भवतु**' ऐसी इच्छा होती है तब '**बुभुक्षते**' प्रयोग होना चाहिए क्येंकि आपने यही स्वीकारा है कि धात्वर्थप्रकारक इच्छा ही सन् का अर्थ है। इस प्रकार भोजन प्रकारक इच्छा ही **बुभुक्षा** का अर्थ होगा तथा वैसी इच्छा होने पर '**बुभुक्षते**' प्रयोग होगा। यह इच्छा भी तो भोजनप्रकारक ही है । इसी प्रकार '**भुक्तौदनजन्या पुष्टिर्भवतु**' यह इच्छा भोजनविशिष्ट ओदन विषयक है, अतः इस इच्छा के काल में '**ओदनं बुभुक्षते**' प्रयोग होना चाहिए। परन्तु ऐसी इच्छाओं के समय में '**बुभुक्षते**' प्रयोग इस कारण नहीं होता है क्योंकि मुख्यविशेष्य में विशेषणतापन्न कर्मत्वांश में इच्छा प्रकारता का ही सन् प्रत्यय की प्रकृति भूत धातु के अर्थ में भान स्वीकारा जाता है। इस स्थल पर मुख्यविशेष्य पुष्टि में और गमन में भोजनकर्मत्वांश विशेषणतापन्न नहीं है, इस कारण भोजन में इच्छाप्रकारता का सन् प्रत्यय की प्रकृतिभूत भुज् धातु के अर्थ

में भान स्वीकारना सम्भव नहीं है। इसलिए उक्त प्रयोग नहीं होते हैं। '**कर्मत्वेन भोजनविशिष्टमोदनं भवतु**' इत्यादि स्थलों में मुख्यविशेष्यभूत ओदन में ही भोजनकर्मता विशेषणतापन्न है। अतः भोजन में इच्छा प्रकारता का भान और उक्त प्रयोग होता है।

यदि ऐसा कहो तो नहीं कहना चाहिए क्योंकि '**भोजनं भवतु**' 'भोजन होवे' इत्यादि भोजनविशेष्यक इच्छा की दशा में भी '**बुभुक्षते**' ऐसा प्रयोग सर्वसिद्ध होने के कारण धात्वर्थविशेष्यक इच्छाबोधकता सन् प्रत्यय की अवश्य स्वीकारनी पड़ेगी।

अभिप्राय यह है कि भोजनविशेष्यक इच्छा की दशा में भी '**बुभुक्षते**' ऐसा प्रयोग सर्वसिद्ध है। जबकि आप यह कह रहे हैं कि जब कर्मतासम्बन्ध से भोजनप्रकारक ओदनादि विशेष्यक इच्छा होती है तभी ऐसा प्रयोग होता है। तो यह आपका कथन उचित नहीं है क्योंकि सर्वसिद्ध भोजनविशेष्यक इच्छा की दशा में जो '**बुभुक्षते**' प्रयोग होता है वह आपके मत में उपपादित नहीं हो सकता है। इस कारण धात्वर्थविशेष्यक इच्छा बोधक सन् प्रत्यय होता है' यह अवश्य स्वीकारना पड़ेगा।

**नच द्वयी व्युत्पत्तिरेवोपेयते, एकव्युत्पत्त्यैव निर्वाहे व्युत्पत्तिद्वयकल्पने गौरवात्, अत एव च स्थित्यादिगोचरेच्छाया गृहादिविशेष्यकत्वस्योक्तरीत्या सम्भवेऽपि 'गृहं तिष्ठासति' इत्यादयो न प्रयोगाः।**

यदि कहो दोनों व्युत्पत्तियाँ ही स्वीकारी जाती हैं अर्थात् सन् प्रत्यय के द्वारा धात्वर्थ प्रकारक इच्छा की बोधकता भी किसी स्थल के अनुरोध से स्वीकारी जाती है और किसी स्थल के अनुरोध से धात्वर्थविशेष्यक इच्छा की बोधकता भी स्वीकारी जाती है, तो एक ही व्युत्पत्ति के स्वीकार से यदि निर्वाह हो जाये तो दो व्युत्पत्तियों की कल्पना में गौरव होगा। (केवल धात्वर्थविशेष्यक इच्छा की बोधकता सन् प्रत्यय में स्वीकार कर लेने से ही काम चल सकता है, इसलिए धात्वर्थप्रकारक इच्छा बोधकता सन् में स्वीकारना अनावश्यक है) इसीलिए धात्वर्थविशेष्यक इच्छा की बोधकता सन् प्रत्यय की स्वीकारने के कारण ही स्थित्यादिगोचर इच्छा के गृहादिविशेष्यकत्व के उक्तरीति से सम्भव होने पर भी '**गृहं तिष्ठासति**' इत्यादि प्रयोग नहीं होते हैं। यदि धात्वर्थप्रकारक इच्छा बोधकता सन् प्रत्यय की स्वीकारेंगे तो यहाँ पर भी गृहादिविशेष्यकस्थिति प्रकारक इच्छा का बोधन सन् प्रत्यय के द्वारा सम्भव होने के कारण यह प्रयोग होने लगेगा। चूँकि धात्वर्थविशेष्यक इच्छाबोधकता सन् प्रत्यय की स्वीकारी जा रही है, किन्तु गृहकर्मकस्थितिविशेष्यक इच्छा सम्भव नहीं है क्योंकि स्था धातु अकर्मक है सकर्मक नहीं, गृह उसका कर्म नहीं हो सकता है। इस प्रकार गृहकर्मक स्थिति विशेष्यक इच्छा का ही इस वाक्य से बोधन सम्भव है जो कि बाधित होने से सम्भव नहीं है। अतः ऐसा प्रयोग नहीं हुआ करता है।

किन्तु इस तरह स्वीकारने में समस्या यह है कि भोजनप्रकारक ओदनादिविशेष्यक इच्छा की दशा में '**बुभुक्षते**' प्रयोग नहीं हो सकेगा क्योंकि सन् प्रत्यय से बोध्य भोजन विशेष्यक इच्छा का बाध होने से शाब्दबोध सम्भव नहीं होगा। इसका एक समाधान तो यह है कि भोजनविशेष्यक इच्छा का ही भोजनप्रकारक ओदनादि विशेष्यक इच्छा बोधक शब्दप्रयोग से अभिलाप हो रहा है। अतः शाब्दबोध सम्भव है। दूसरा समाधान अग्रिम ग्रन्थ से दे रहे हैं।

**भोजनप्रकारकौदनविशेष्यकेच्छादशायां 'बुभुक्षते' इति प्रयोगसत्त्वे तूद्देश्यताख्यविषयताया एव धात्वर्थे भानोपगमेन तस्य निर्वाहात् ।**

भोजनप्रकारक ओदनविशेष्यक इच्छाविशेष की दशा में **'बुभुक्षते'** ऐसा प्रयोग रहने (होने) पर तो उद्देश्यताख्यविषयता का ही धात्वर्थ में भान स्वीकारने से ही उसका निर्वाह होता है।

अभिप्राय यह है कि न तो धात्वर्थप्रकारक और न तो धात्वर्थविशेष्यक इच्छा की बोधकता सन् में स्वीकारेंगे बल्कि धात्वर्थोद्देश्यक इच्छा की बोधकता ही सन् प्रत्यय में स्वीकारेंगे। उद्देश्यता अनुमितिस्थलीय विधेयता की तरह विशेष्यविशेषण साधारण विलक्षण ही विषयता है। इस कारण भोजनप्रकारक इच्छा होने पर भी उद्देश्यता भोजन में ही है और भोजनविशेष्यक इच्छा होने पर भी। इसलिए दोनों ही स्थितियों में **'बुभुक्षते'** प्रयोग उपपन्न ही है।

**न च धात्वर्थविशेष्यकेच्छायाः सन्प्रत्ययार्थत्वे 'पाकं चिकीर्षति' 'ओदनं बुभुक्षते' इत्यादौ पाकौदनादेर्द्वितीयया कृतिभोजनकर्मत्वप्रत्यायनसम्भवेऽपि 'पाकश्चिकीर्ष्यते' 'ओदनो बुभुक्ष्यते' इत्यादौ कर्माख्यातेन तत्प्रत्यायना-सम्भवः–तत्प्रकृतिभूतसन्नन्तधात्वर्थकृतिभोजनेच्छाकर्मत्वस्यैव तत्प्रत्यायन-योग्यत्वात्, प्रत्ययानां प्रकृत्यर्थान्वितस्वार्थबोधकत्वाद् इच्छाविषयत्वविशेषित कृतिभोजनादेश्च प्रकृत्या प्रतिपादनादिति वाच्यम्;**

**कर्तृप्रत्ययस्थले सन्प्रत्ययार्थेच्छाया धात्वर्थविशेष्यतया भानेऽपि कर्मप्रत्ययस्थले तस्या धात्वर्थविशेषणतया भानोपगमात् 'चिकीर्ष्यते पाकः' इत्यादाविच्छाविशेषितकृत्यादेरेव सन्नन्तेन प्रतिपादनात् तादृशकृत्यादि-कर्मताया आत्मनेपदादिना प्रत्यायनसम्भवात् ।**

यदि कहो कि धात्वर्थविशेष्यक इच्छा के सन् प्रत्यय का अर्थ होने पर **'पाकं चिकीर्षति' 'ओदनं बुभुक्षते'** इत्यादि स्थलों में क्रमशः पाक और ओदन आदि के कृतिकर्मत्व और भोजनकर्मत्व का प्रत्यायन सम्भव होने पर भी **'पाकश्चिकीर्ष्यते' 'ओदनो बुभुक्ष्यते'** इत्यादिस्थलों पर कर्माख्यात के द्वारा उसका (पाक और ओदन के कृति कर्मत्व का) प्रत्यायन असम्भव है क्योंकि कर्माख्यात प्रकतिभूत सन्नन्त धातु के अर्थ कृतीच्छा और भोजनेच्छा का कर्मत्व ही कर्माख्यात से प्रत्यायनयोग्य है प्रत्यायित किया जा सकता है। क्योंकि प्रत्यय अपने प्रकृति के अर्थ से अन्वित स्वार्थ के ही बोधक होते हैं और प्रकृति के द्वारा इच्छा विषयत्व से विशेषित कृति और भोजन आदि का प्रतिपादन नहीं किया जा रहा है।

तो ऐसा नहीं कहना चाहिए क्योंकि कर्तृप्रत्ययस्थल में सन्प्रत्ययार्थ इच्छा का धात्वर्थविशेष्यतया भान होने पर भी कर्मप्रत्ययस्थल में उसका (सन् प्रत्ययार्थ इच्छा का) धात्वर्थविशेषणतया भान स्वीकारा जाता है। इस कारण **'चिकीर्ष्यते पाकः'** इत्यादि स्थलों में इच्छा से विशेषित कृति आदि का ही सन्नन्त के द्वारा प्रतिपादन होने से तादृश (इच्छाविशेषित) कृति और भोजनादि की कर्मता का प्रत्यायन आत्मनेपद आदि (कर्माख्यात) के द्वारा सम्भव है।

इस प्रश्न और उत्तर का आशय निम्नवत् है।

प्रश्न यह है कि आप सन् प्रत्यय का अर्थ धात्वर्थविशेष्यक इच्छा मान रहे हैं इसलिए कर्त्राख्यातस्थलीय **'पाकं चिकीर्षति' 'ओदनं बुभुक्षते'** इत्यादि प्रयोगों में पाक और ओदन आदि की कर्मता का प्रत्यायन द्वितीया से सम्भव है क्योंकि पाककर्मता क्या है ? कृतिविशेष्यता ही पाककर्मता है। ओदनकर्मता भोजनकर्मता है। चूँकि सन्नन्त का अर्थ क्रमशः कृतिविशेष्यक इच्छा और भोजनविशेष्यक इच्छा है। इसकारण इच्छा में विशेष्य विधया आये हुए कृति और भोजन की कर्मता का पाक और ओदन में तद्वाचक पदोत्तर द्वितीया से प्रत्यायन सम्भव है। किन्तु **'चिकीर्ष्यते पाकः'** 'पाक करने की इच्छा की जा रही है' **'ओदनो बुभुक्ष्यते'** 'भात खाने की इच्छा की जा रही है' इन स्थलों में मुश्किल है। मुश्किल क्यों है? इन वाक्यों से क्रमशः शाब्दबोध के द्वारा 'पाक में इच्छाविषयी भूत कृतिकर्मता' और 'ओदन में इच्छाविषयीभूत भोजनकर्मता' बोधित होनी है। यह कर्मता बोधित किससे होगी? कर्माख्यात से। कर्माख्यात क्या है? प्रत्यय है। प्रत्यय किस का बोधक होता है? प्रकृत्यर्थान्वितस्वार्थ का बोधक प्रत्यय होता है। कर्म आख्यात की प्रकृति क्या है? सन्नन्त धातु ही कर्माख्यात की प्रकृति है। फिर कर्माख्यात किसका बोधक होगा? सन्नन्त धातु के अर्थ से अन्वित स्वार्थ (कर्मता) का बोधक होगा। सन्नन्त धातु चिकीर्षा और बुभुक्षा का अर्थ क्या है? इनका अर्थ है क्रमशः कृतिविशेष्यक इच्छा और भोजनविशेष्यक इच्छा। इस प्रकार सन्नन्त धातुओं के बाद आनेवाले कर्माख्यात से कृतिविशेष्यक इच्छा की कर्मता और भोजनविशेष्यक इच्छा की कर्मता ही प्रतिपादित हो सकती है, इच्छा विषयीभूत कृति और भोजन की कर्मता प्रतिपादित नहीं हो सकती है। क्योंकि इच्छा विषयत्व से विशेषित कृति और भोजन सन्नन्त धातु के अर्थ नहीं है। फिर इन वाक्यों से शाब्दबोध में इच्छा विषयीभूत कृति और भोजन की कर्मता का भान क्रमशः पाक और ओदन में कैसे हो सकेगा?

इसका समाधान यह दे रहे हैं कि कर्तृ प्रत्यय स्थल में सन् प्रत्ययार्थ इच्छा का धात्वर्थ विशेष्य के रूप में भान होने पर भी कर्म प्रत्यय स्थल में सन् प्रत्ययार्थ इच्छा का धात्वर्थ विशेषणतया ही भान होता है अर्थात् इच्छाविषयत्वविशेषित कृति और भोजन ही इस प्रकार से कर्माख्यातस्थल में तत् प्रकृतिभूत सन्नन्त धातु के अर्थ होते हैं और इस कारण इच्छाविषयत्वविशेषित कृति और भोजन रूप प्रकृत्यर्थ से अन्वित स्वार्थ कर्मत्व का प्रत्यायन कर्माख्यात से सम्भव है। कर्त्राख्यातस्थल में इस प्रकार कृतिविशेष्यक इच्छा व भोजनविशेष्यक इच्छा का बोधन सन्नन्त धातु से स्वीकारा जाता है और कर्माख्यात स्थल में इच्छाविषयत्वविशेषित कृति और भोजन का बोधन सन्नन्त धातु से स्वीकारा जाता है। यह उभयस्थलीय समभिव्याहार के भेद से हेता है। धातु की व सन् प्रत्यय की अलग-अलग शक्तियाँ स्वीकार रहे हैं इसलिए इसमें कोई मुश्किल नहीं है।

**आख्याताद्युपस्थितवर्तमानत्वादेश्च कृत्यादिविषयकेच्छा यत्र प्रकृत्यर्थो यत्र वेच्छाविषयकृतिस्तत्रोभयत्रैवेच्छायामन्वयः, प्रकृत्यर्थैकदेशेऽपि 'नीलतरो घटः' इत्यादिस्थले नीलरूपादौ तरबाद्यर्थातिशयानन्वयानुरोधात्।**

आख्यातादि से उपस्थित वर्तमानत्वादि का कृत्यादि विषयक इच्छा जहाँ पर प्रकृत्यर्थ है और जहाँ पर इच्छाविषयकृति प्रकृत्यर्थ है दोनों ही स्थलों में इच्छा में ही अन्वय होता

है, प्रकृत्यर्थैकदेश में भी **'नीलतरो घटः'** इत्यादिस्थलों में नीलरूपादि में ही तरबर्थ अतिशय के अन्वय के अनुरोध से अन्वय होता है।

अभिप्राय यह है कि आख्यात से वर्तमानत्वादि की भी उपस्थिति भी होती है। उसका अन्वय कहाँ पर होगा? यह प्रश्न है। इसका उत्तर यह है कि कर्त्राख्यात स्थल में जहाँ पर कि कृत्यादिविषयकइच्छा प्रकृत्यर्थ होती है वहाँ पर भी इच्छा में ही वर्तमानत्व का अन्वय होता है। कर्माख्यातस्थल में जहाँ पर कि इच्छाविषयकृति प्रकृति (सन्नन्त धातु) का अर्थ होती है, वहाँ पर भी इच्छा में ही वर्तमानत्व का अन्वय होता है। किन्तु इसमें समस्या यह है कि कर्माख्यातस्थल में इच्छाविषयकृति के सन्नन्त धात्वर्थ होने के कारण इच्छा तो पदार्थैकदेश हो जायेगी पदार्थ तो कृति आदि ही हो सकेंगे? फिर इच्छा में प्रत्ययार्थ वर्तमानत्व का अन्वय कैसे किया जायेगा? क्योंकि नियम है कि 'पदार्थ पदार्थ से ही अन्वित होता है पदार्थैक देश में नहीं' तो इसका समाधान यह है कि कहीं कहीं पर प्रकृत्यर्थैकदेश में भी प्रत्ययार्थ का अन्वय किया जाता है जैसे कि **'नीलतरो घटः'** 'घट किसी की अपेक्षा ज्यादा नीला है' यहाँ पर तरप् प्रत्यय के अर्थ अतिशायित्व का अन्वय प्रकृत्यर्थ के एकदेश नील रूप में किया जाता है। यहाँ प्रकृतिपद नील का अर्थ नीलरूपवाला है उसमें तरबर्थ अतिशायित्व का अन्वय नहीं किया जाता है बल्कि प्रकृत्यर्थैकदेश नील रूप में किया जाता है। उसी प्रकार यहाँ पर भी हो जायेगा।

**नचैवं कर्मस्थलेऽपि कृतिविशेषितैवेच्छा सना प्रत्याय्यतां विशेषणीभवन्ती कृतिरेव कर्मत्वेनान्वीयताम् भवन्मते विशेषणीभूतेच्छायां वर्तमानत्वाद्य-पराख्यातार्थान्वयवदिति वाच्यम्, एकत्र विशेषणतयोपस्थितस्यान्यत्र विशेषण तयान्वयोऽव्युत्पन्न इति प्रथमान्तार्थविशेषणकर्मत्व इच्छाया विशेषणत-योपस्थितस्य धात्वर्थस्य विशेषणतयान्वयायोगात् विशेष्यतया चान्वयस्या-प्रसक्तत्वात् । धात्वर्थविशेषणतया इच्छाभानेऽपि तस्या वर्तमानत्वादि विशेष्यतयैव भानेनोक्तव्युत्पत्तिविरोधविरहात् ।**

यदि कहो कि इस प्रकार तो कर्म प्रत्ययस्थल में भी कृतिविशेषित इच्छा का ही सन् (सन्नन्त धातु) के द्वारा प्रत्यायन होवे और विशेषण होती हुई कृति का ही कर्मत्व से अन्वय हो जाये, आपके मत में जैसे विशेषणीभूत इच्छा में वर्तमानत्वादि रूप अपर अर्थ का अन्वय होता है। अभिप्राय यह है कि आख्यात के अर्थ वर्तमानत्व का अन्वय आप इच्छा में ही स्वीकारते हैं चाहे कृतिविशेष्यक इच्छा सन्नन्त का अर्थ हो (जैसा कर्त्राख्यात स्थल में होता है) चाहे इच्छाविषयीभूतकृति सन्नन्त का अर्थ हो (जैसा कर्माख्यात स्थल में होता है)। तो जिस प्रकार से आप कर्माख्यातस्थल में इच्छा के प्रकृत्यर्थैकदेश होने पर भी उसमें कर्माख्यात के अर्थ वर्तमानत्व का अन्वय स्वीकारते हैं, उसी प्रकार से कर्मस्थल में भी कृतिविशेषित इच्छा को ही सन्नन्त का अर्थ मान लो और उसमें आख्यातार्थ कर्मत्व का कृति में ही अन्वय कर लो क्या परेशानी है? विशेषणीभूत इच्छा में आख्यातार्थ वर्तमानत्व के अन्वय के समतुल्य ही है विशेषणीभूतकृति में आख्यातार्थ कर्मत्व का अन्वय।

तो ऐसा नहीं कहना चाहिए क्योंकि 'एकत्र विशेषणतया अन्वित अर्थ का अन्यत्र विशेषणतया अन्वय अव्युत्पन्न होता है' इस कारण प्रथमान्तार्थ (पाक) में विशेषणीभूत कर्मत्व में, इच्छा में विशेषणतया उपस्थित कृतिरूपधात्वर्थ का विशेषणतया अन्वय का

योग नहीं है और विशेष्यतया अन्वय अप्रसक्त है। अभिप्राय यह है कि '**पाकश्चिकीर्ष्यते**' इत्यादि स्थलों में प्रथमान्त पद के अर्थ पाक में आख्यातार्थ कर्मत्व विशेषण है। (क्योंकि कर्मता का आश्रयत्व पाक में बोधित होता है) उस कर्मत्व में आप अन्वय किसका करना चाह रहे हैं धात्वर्थ कृति का, जो कि सन्नन्त से कृतिविशेषित इच्छा का बोधन होने की स्थिति में इच्छा में विशेषण बन कर उपस्थित है। जबकि एक में विशेषणतया उपस्थित का अन्यत्र विशेषणतया अन्वय अव्युत्पन्न होता है। इस कारण इच्छा में विशेषणतया उपस्थित कृति का कर्मत्व में विशेषणतया अन्वय अव्युत्पन्न है और कर्मत्व का विशेष्य बन कर उसका अन्वय हो नहीं सकता क्योंकि वह प्रसक्त ही नहीं है। प्रथमान्तार्थविशेष्यक शाब्द बोध स्वीकारने के कारण उसकी तो प्रसक्ति ही नहीं है।

धात्वर्थविशेषणतया इच्छा का भान होने पर भी उस इच्छा का वर्तमानत्वादि विशेष्य तया ही भान होता है, अतः आख्यातार्थ वर्तमानत्व का कर्माख्यातस्थल में कृतिविशेषणी भूत इच्छा में अन्वय स्वीकारने पर भी कोई व्युत्पत्ति विरोध नहीं है। क्योंकि हम एक में विशेषणतया उपस्थित इच्छा का अन्यत्र विशेषणतया अन्वय न कर विशेष्यतया अन्वय कर रहे हैं।

**एवं धात्वर्थस्येतरविशेषणतयोपस्थितस्य स्वातन्त्र्येण कर्मतादि-विशेषणत्वमयुक्ततममेव। प्रकृत्यर्थस्यैकदेशेऽपि प्रकृत्यर्थान्तर्गततया भासमान एव प्रत्ययार्थान्वयदर्शनात्, न तु स्वातन्त्र्येण भासमाने। इच्छारूपविशेष्य-पारतन्त्र्येण कर्मत्वान्वयोऽपि इच्छायाः कर्मत्वानन्वये दुर्घटः- विशेष्यान्व-यिन्येव विशेषणस्य पारतन्त्र्येणान्वयस्य विशिष्टान्वयस्थले व्युत्पत्तिसिद्धत्वाद् न तु विशेष्यान्वयिनि।**

इस प्रकार (उपर्युक्त रीति से) इतरविशेषणतया उपस्थित धात्वर्थ (कृति) आदि का स्वतन्त्र रूप से कर्मत्वादि विशेषणत्व अयुक्ततम ही है। प्रकृत्यर्थ के अन्तर्गततया भासमान ही प्रकृत्यर्थ के एकदेश में भी प्रत्ययार्थ का अन्वय देखा जाता है स्वतन्त्र रूप से भासमान प्रकृत्यर्थ के एकदेश में नहीं। इच्छारूप विशेष्य पारतन्त्र्य से धात्वर्थ का कर्मत्व में अन्वय भी इच्छा का कर्मत्व में अन्वय न होने की स्थिति में दुर्घट है क्योंकि विशेष्यान्वयी में ही विशेषण का पारतन्त्र्येण अन्वय विशिष्टान्वय स्थल में व्युत्पत्ति सिद्ध है न कि विशेष्यानन्वयी में भी विशेषण का अन्वय।

ग्रन्थकार का तात्पर्य यह है कि उपर्युक्त रीति से व्युत्पत्तिविरोध होने के कारण कर्माख्यात स्थल में आख्यातार्थ कर्मत्व का विशेषण बनकर इच्छा का विशेषण बनकर उपस्थित धात्वर्थ कृति का भान शाब्दबोध में स्वीकारना अत्यन्त ही अनुचित है। प्रकृत्यर्थान्तर्गत रूप से भासमान प्रकृत्यर्थैकदेश में ही प्रत्ययार्थ का अन्वय देखा जाता है जैसे '**नीलतरो घटः**' इत्यादि स्थलों में होता है। स्वतन्त्ररूप से भासमान में नहीं हो सकता है। '**नीलतरो घटः**' यहाँ पर प्रकृत्यर्थान्तर्गतरूप से भासभान प्रकृत्यर्थैकदेश नील में तरप् प्रत्यय का अर्थ अतिशय अन्वित हो सकता है क्योंकि नील प्रकृत्यर्थान्तर्गततया भासमान है। '**पाकश्चि कीर्ष्यते**' में कर्मता में कृति का अन्वय विशेषणतया करना चाहते हैं, यदि ऐसा करेंगे तो इच्छा में अन्वय कृति का सम्भव नहीं होगा, अतः कृति स्वतन्त्रतया भासमान होकर कर्मता में अन्वित हो सकती है। उपर्युक्त उदाहृत प्रयोग में तो नील का अतिशय में अन्वय होकर

भी नील प्रकृत्यर्थान्विततया भासमान रह सकता है और उससे **'नीलरूपातिशयवदभिन्नो घटः'** 'नीलारूपातिशयवत् से अभिन्न घट है' ऐसा बोध हो सकता है। यहाँ पर तो यदि कृति का कर्मता में अन्वय कर लें तो उसका अन्वय इच्छा में नहीं सम्भव है।

यदि कहो कि भई! एक विशेषणतया उपस्थित का इतरविशेषणतया अन्वय विशेष्य पारतन्त्र्येण तो हो ही सकता है (जैसा कि पूर्व में भी प्रतिपादित किया जा चुका है। उसी प्रकार यहाँ पर सन्नन्त का अर्थ जो कृतिबिषयक इच्छा है इसमें कृति का कर्मता में अन्वय, कर्मता में इच्छा का भी अन्वय करते हुए तो किया ही जा सकता है। क्योंकि इस प्रकार इच्छा का विशेषण बनकर उपस्थित कृति का इच्छा पारन्त्र्येण (इच्छा का अन्वय कर्मता में किया जा रहा इसलिए) कर्मता में अन्वय तो किया ही जा सकता है। तो इसके लिए गदाधर का कहना है कि इच्छा का कर्मता में अन्वय नहीं हो सकता है और जब विशेष्य का अन्वय कर्मता में नहीं किया जा सका तो विशेषण का अन्वय भी नहीं किया जा सकेगा क्योंकि विशिष्टान्वयस्थल में विशेष्य का अन्वय अगर सम्भव हो तभी विशेषण का विशेष्यपारतन्त्र्येण अन्वय हो सकता है। यहाँ पर तो विशेष्य का अन्वय ही नहीं सम्भव है।

**अथास्तु विषयतारूपकर्मत्वे 'चिकीर्ष्यते पाकः' इत्यादाविच्छायास्तत्पर-तन्त्रकृतेश्चान्वयः उभयत्रैव पाकादेर्विषयत्वात् , स्थित्यादिकर्मत्वाप्रसिद्ध्या च 'गृहं तिष्ठास्यते' इत्यादेरप्रसङ्गादिति चेत् ? 'ओदनो बुभुक्ष्यते' इत्यादौ का गतिः? तत्रेच्छाकर्मतायाः विषयतारूपत्वाद् भोजनादिकर्मतायाश्च तदन्यत्वात् विशेष्यीभवदिच्छान्वयिनि कर्मत्वे भोजनाद्यन्वयायोग्यत्वेन विशिष्टान्वयासम्भवात् ।**

यदि आप पूँछे कि आप कैसे कह रहे हैं कि विशेष्य इच्छा का अन्वय कर्मता में नहीं हो सकता है? **'चिकीर्ष्यते पाकः'** इत्यादि स्थलों में विषयता रूप कर्मत्व में इच्छा का अन्वय हो सकता है और उससे परतन्त्र (इच्छारूप विशेष्य का अन्वय विषयता रूप कर्मत्व में सम्भव होने के कारण विशेष्यान्वय से परतन्त्र विशेषणीभूत) कृति का भी अन्वय विषयतारूप कर्मत्व में सम्भव है क्योंकि उभयत्र दोनों में ही (इच्छा रूप विशेष्य और विशेषणीभूत कृति में) पाकादि ही विषय हैं। (जैसे पाक इच्छा विषय है, वैसे ही पाकविषय भी है । इस कारण पाक में इच्छाविषयता और कृतिविषयता दोनों ही हैं, इसलिए विषयता रूप कर्मता में दोनों का अन्वय सम्भव है) स्थिति आदि का कर्मत्व प्रसिद्ध न होने के कारण **'गृहं तिष्ठास्यते'** इत्यादि प्रयोग नहीं होते हैं (यद्यपि गृह में इच्छाविषयत्वरूपकर्मत्व है किन्तु स्थितिकर्मत्व नहीं है, स्थितिविषय इच्छा ही सन्नन्त स्था धातु का अर्थ हो सकती है। इनमें से इच्छा की कर्मता गृह में सम्भव है किन्तु स्थितिकर्मता नहीं है, इस कारण **'गृहं तिष्ठास्यते'** इत्यादि प्रयोग नहीं होते हैं)

तो यह बताइए कि **'ओदनो बुभुक्ष्यते'** में क्या गति होगी? (क्या करियेगा?) क्योंकि ओदन में इच्छाकर्मता विषयता रूप है और ओदन में भोजनकर्मता विषयता से अन्य है। (भुज् धातु का अर्थ भोजन गलाधःसंयोगावच्छिन्नक्रियानुकूलव्यापार है तथा धात्वर्थतावच्छेदकीभूत गलाधःसंयोगावच्छिन्नक्रिया रूप फल का आश्रयत्व ही भोजन कर्मत्व है, यह तो इच्छाकर्मता विषयता से भिन्न ही है) इस कारण विशेष्यीभूत इच्छा के अन्वयी कर्मत्व में विषयता में भोजनान्वययोग्यता नहीं है। फलस्वरूप विशिष्ट (भोजन और इच्छा दोनों) का अन्वय विषयत्व रूप कर्मत्व में सम्भव नहीं है।

**वस्तुतः 'पाकश्चिकीर्ष्यते' इत्यत्राप्यगतिरेव-कृत्यविशेषणतया पाक-निष्ठेच्छाविषयतायाः कृतिविशेषणतया तन्निष्ठकृतिविषयतया भिन्नतया इच्छान्वयिनो विषयत्वरूपकर्मत्वस्य कृत्यन्वयायोग्यत्वात् ।**

वस्तुतः तो (न केवल '**ओदनो बुभुक्ष्यते**' मे बल्कि) '**पाकश्चिकीर्ष्यते**' यहाँ पर भी गति नहीं है क्योंकि कृत्यविशेषणतया पाकनिष्ठेच्छाविषयता के कृतिविशेषणतया पाकनिष्ठ इच्छा विषयता से भिन्न होनें के कारण इच्छान्वयी विषयत्वरूप कर्मत्व कृत्यन्वय के योग्य नहीं है।

अभिप्राय यह है कि पाक में कृतिविषयता भी है और इच्छा विषयता भी लेकिन जो कृतिविषयता है वही इच्छा विषयता नहीं है। बल्कि दोनों अलग-अलग है क्योंकि '**पाको भवतु**' 'पाक होवे' इच्छा (जो कि कृति को विशेषण न बनाते हुए हो रही है) की विषयता दूसरी है और '**मत्कृत्या पाको भवतु**' मेरी कृति से पाक होवे' इच्छा (जो कि कृति को बनाते हुए हो रही है) की विषयता दूसरी है। यह दोनों इच्छाओं की विषयताओं का भेद कैसे हो रहा है? इसीलिए कि कृति की विषयता और इच्छा विषयता अलग-अलग होती हैं, यदि दोनों की विषयताएँ अलग-अलग नहीं होती तो उक्त दोनों इच्छाओं की विषयता अलग-अलग नहीं होती। क्योंकि प्रथम इच्छा से इच्छाविषयता पाक में है, दूसरी से कृति और इच्छा दोनों की विषयता पाक में है। कृति और इच्छा की विषयताओं में भेद न होने पर दोनों इच्छाओं की विषयता एक ही होगी। इस प्रकार इच्छा का अन्वय होता है उस विषयता में कृति का अन्वय सम्भव नहीं है क्योंकि इच्छाविषयता से कृतिविषयता अलग है।

**यदि च विशेष्यान्वयिव्यक्तावेव तत्पारतन्त्र्येण विशेषणान्वय इति न नियमः, अपितु तदन्वयितावच्छेदकावच्छिन्न एवेति तथा च विषयतात्वावच्छिन्न स्योभयान्वययोग्यतया न प्रकृतेप्यन्वयानुपपत्तिः। अत एव 'अरुणया' इत्यादावारुण्यनिरूपितसाध्यताया गोनिरूपितसाध्यताभिन्नत्वेऽपि न तृतीयार्थे विशिष्टान्वयानुपपत्तिः, तत्र परम्परया विशेष्यान्वयिसोमक्रयव्यक्तेः परम्परया विशेषणान्वयिव्यक्त्यभेदवत् प्रकृतेऽपि परम्परयोभयान्वयिकर्मव्यक्त्य भेदोऽक्षत एवेत्युच्यते ? तदा 'भोजनकृतिर्भवतु' 'पाकश्च भवतु' इतिसमूहालम्बनेच्छा-मादाय 'पाकश्चिकीर्ष्यते' इति प्रयोगस्य कालान्तरीयकृतिविषयतामादाय दुर्वारतैव।**

यदि विशेष्य का अन्वय जिस व्यक्ति में होता है, विशेष्य पारतन्त्र्य से उसी में विशेषण का अन्वय होता है ऐसा नियम नहीं है, अपितु तदन्वयितावच्छेदक (विशेष्यान्वयितावच्छेदक) से अवच्छिन्न में ही विशेषण का अन्वय होता है, इस प्रकार विषयतात्वावच्छिन्न के उभयान्वय (इच्छा व कृति अन्वय) के योग्य होने के कारण प्रकृत स्थल में '**पाकश्चिकीर्ष्यते**' में अन्वय की अनुपपत्ति है। इसीलिए (अन्वयितावच्छेदकावच्छिन्न में अन्वय होने के कारण) "**अरुणया**" इत्यादि स्थलों में आरुण्य निरूपितसाध्यता के गोनिरूपितसाध्यता से भिन्न होने पर भी तृतीयार्थ में विशिष्टान्वय की अनुपपत्ति नहीं है क्योंकि उसमें परम्परा से विशेष्यान्वयी सोमक्रय व्यक्ति के विशेषान्वयी व्यक्ति के अभेदवत् प्रकृत स्थल में भी परम्परा से उभयान्वयी व्यक्ति का अभेद अक्षत ही है ऐसा कहते हो?

तो **'भोजनकृतिर्भवतु, पाकश्च भवतु'** 'भोजनकृति होवे और पाक भी होवे' (खाते भी रहें पकता भी रहे) ऐसी समूहालम्बनात्मक इच्छा लेकर **'पाकश्चिकीर्ष्यते'** ऐसे प्रयोग की कालान्तरीय कृति विषयता को लेकर दुर्वारता ही होगी।

यहाँ पर आशय यह है कि विशेष्यान्वयी व्यक्ति में ही विशेषण का अन्वय होता है ऐसा नियम नहीं है क्योंकि यदि विशेष्यान्वयी व्यक्ति में ही विशेषण का अन्वय करने का नियम हो तो **'अरुणया पिङ्गाक्ष्यैकहायन्या ( गवा ) सोमं क्रीणाति'** 'अरुणा पिङ्गाक्षी एकहायनी गाय से सोम खरीदता है' यहाँ पर तृतीयार्थ साध्यता में विशिष्टान्वय की अनुपपत्ति होगी क्योंकि आरुण्यनिरूपित क्रयनिष्ठ साध्यता गोनिरूपित क्रयनिष्ठा साध्यता से भिन्न है, इस कारण विशेष्य गो का जिस साध्यता में अन्वय हुआ करता है उसमें विशेषण आरुण्य आदि के अन्वय की योग्यता नहीं है। इस कारण विशेष्य गो से अन्वयी साध्यताव्यक्ति में विशेषण का अन्वय नहीं हो सकता है। इसलिए विशेष्यान्वयितावच्छेदकावच्छिन्न में ही विशेषण का अन्वय होता है ऐसा स्वीकारते हैं। गोरूप विशेष्यान्वयितावच्छेदक व्यक्ति साध्यतात्व से अवच्छिन्न गोनिरूपित साध्यता भी है और आरुण्यादिनिरूपित साध्यता भी। इस कारण विशेष्यान्वयितावच्छेदकावच्छिन्न में आरुण्यादि विशेषणों का अन्वय सम्भव है। इसी प्रकार यहाँ पर भी **'पाकश्चिकीर्ष्यते'** में भी विशेष्यान्वयितावच्छेदक से अवच्छिन्न में विशेषणान्वय सम्भव है। यहाँ पर विशेष्यभूत इच्छा का भी अन्वय विषयता में होता है और विशेषण भूत कृति का भी । ये अलग बात है दोनों विषयताएँ अलग हैं। किन्तु फिर भी इच्छा की अन्वयी विषयता हुई और अन्वयितावच्छेदक हुआ विषयतात्व, विषयतात्व से अवच्छिन्न तो वह विषयता भी है जो कि कृति से अन्वित होती है। इस प्रकार इच्छारूप विशेष्य के अन्वयितावच्छेदक विषयतात्व से अवच्छिन्न विषयता में कृतिरूप विशेषण का अन्वय सम्भव है। यदि कहो कि **'अरुणया'** इत्यादि में तो परम्परया विशेष्यान्वयी व्यक्ति सोमक्रय में (गो का साध्यता में व साध्यता का सोम क्रय व्यक्ति में ) अन्वय होता है, उसी सोमक्रय व्यक्ति में परम्परया विशेषणीभूत आरुण्य का (आरुण्य का गो में, गो का साध्यता में, साध्यता का सोमक्रय व्यक्ति में) अन्वय हो जायेगा। वह सोमक्रय व्यक्ति अभिन्न है। इसलिए विशेष्यान्वयितावच्छेदकावच्छिन्न में विशेषण का अन्वय नहीं होता है बल्कि परम्परया विशेष्यान्वयी व्यक्ति में ही परम्परया विशेषण का अन्वय होता है। तो प्रकृतस्थल में भी **'पाकश्चिकीर्ष्यते'** में इच्छा से परम्परया अन्वित पाक व्यक्ति में ही कृति का परम्परया अन्वय सम्भव है क्योंकि उक्त स्थलीय सोमक्रयव्यक्ति की तरह विशेष्यभूत इच्छा से परम्परया अन्वित और कृति से भी परम्परया अन्वित पाकव्यक्ति तो अभिन्न ही है। इस प्रकार एक ही कर्मत्व में (अन्वयितावच्छेदकावच्छिन्न में) या एक ही कर्म व्यक्ति में इच्छा और कृति का अन्वय सम्भव है।

तो इस प्रकार अन्वय करने में समस्या यह है कि **'भोजनकृतिर्भवतु, पाकश्च भवतु'** ऐसी समूहालम्बनात्मक इच्छा रहने पर भी **'पाकश्चिकीर्ष्यते'** प्रयोग होने लगेगा क्योंकि पाक में इच्छाविषयता है ही, कालान्तरीयकृतिविषयता भी है ही । इस प्रकार विशेष्यभूत इच्छा के अन्वयितावच्छेदक विषयतात्व से अवच्छिन्न विषयता में कृति का अन्वय सम्भव ही है। तथा परम्परा से एक ही पाक व्यक्ति में भी इच्छा का और कृति का अन्वय सम्भव है इस प्रकार यह प्रयोग दुर्वार ही होगा।

**विषयितासम्बन्धेनेच्छाविशेषणीभवत्कृतिव्यक्तिकर्मत्वस्यैव तदिच्छान्वयिनि कर्मण्यन्वयान्नायमतिप्रसङ्गः इति चेत् ? तथापि तदिच्छाकाले 'पाक इदानीं न चिकीर्ष्यते' इति प्रयोगानुपपत्तिः–अन्वयितावच्छेदककृतिविषयतात्व-कृतिगोचरवर्तमानेच्छाविषयतात्वावच्छिन्नाभावयोस्तदा पाकेऽसत्त्वात् ।**

यदि कहो कि विषयितासम्बन्ध से इच्छा में विशेषण बननेवाली कृतिव्यक्ति के कर्मत्व का ही उस इच्छा के अन्वयी कर्म में अन्वय होता है इस कारण यह अतिप्रसङ्ग नहीं है। अर्थात् विषयिता सम्बन्ध से इच्छा में विशेषण बननेवाली कृतिव्यक्ति का कर्मत्व ही उस इच्छा से अन्वयी कर्म में अन्वित होता है, इसलिए उक्त समूहालम्बन इच्छा स्थल में '**पाकश्चिकीर्ष्यते**' इस प्रयोग की आपत्ति कालान्तरीणकृति विषयता को लेकर नहीं होगी। क्योंकि '**पाकश्च भवतु**'' इस इच्छा का अन्वयी जो कर्म है पाक, उसमें इच्छा में विशेषणीभूत कृतिव्यक्ति का कर्मत्व इस कारण नहीं अन्वित हो सकता है कि यह इच्छा कृतिविशेषणीभूत ही नहीं है और जो कृति '**भोजनकृतिर्भवतु**' इसके भी समूहालम्बन इच्छा में शामिल होने के कारण विषयिता सम्बन्ध से इच्छा में विशेषणीभूत है, उसका कर्मत्व तो पाक में है नहीं भोजन कर्म में ही है। कालान्तरीय कृति तो विषयिता सम्बन्ध से इच्छा में विशेषणीभूत ही नहीं है। इस कारण समूहालम्बन इच्छा के काल में '**पाकश्चिकीर्ष्यते**' प्रयोग की आपत्ति नहीं है।

तो भी उक्त समूहालम्बन इच्छा के काल में '**पाक इदानीं न चिकीर्ष्यते**' इस प्रयोग की अनुपपत्ति होगी क्योंकि अन्वयितावच्छेदक कृतिविषयतात्वावच्छिन्न अभाव और कृतिगोचरवर्तमानेच्छाविषयतात्वावच्छिन्न अभाव (दोनों ही) पाक में नहीं है।

अभिप्राय यह है कि उक्त समूहालम्बन इच्छा के काल में '**पाक इदानीं न चिकीर्ष्यते**' ऐसा प्रयोग हुआ करता है क्योंकि पाकचिकीर्षा नहीं ही है। परन्तु प्रयोग की अनुपपत्ति है क्योंकि '**पाकश्चिकीर्ष्यते**' में पाक में इच्छा के कर्मत्व का और कृति के कर्मत्व अन्वय होता है ऐसा आपका मत है। नञ् घटित स्थल में इच्छा के कर्मत्व का अभाव या कृति के कर्मत्व का अभाव पाक में अन्वित होना चाहिए। किन्तु ये दोनों ही अभाव पाक में नहीं है। पाक में इच्छाकर्मत्व भी है और कृतिकर्मत्व भी है। इच्छाकर्मत्व क्या है कृतिविषयक वर्तमान इच्छाविषयता। यह पाक में विद्यमान ही है क्योंकि उपर्युक्त समूहालम्बनात्मक इच्छा कृतिविषयक भी है क्योंकि भोजनकृति को तो वह इच्छा विषय कर रही है। इस प्रकार कृतिविषयक वर्तमान इच्छाविषयता पाक में है, अतः कृतिविषयकवर्तमानेच्छाविषयता-त्वावच्छिन्न प्रतियोगिताक अभाव पाक में नहीं है। इसके साथ कृतिविषयता भी पाक में है जो कि कृतिकर्मत्व है। इस कारण उक्त नञ् घटित स्थल में पाक में इच्छा का कर्मत्व भी है औक कृति का कर्मत्व भी है। इस प्रकार इन दोनों के अभावों के ही पाक में न होने के कारण '**पाको न चिकीर्ष्यते**' ऐसा प्रयोग समूहालम्बन इच्छा की दशा में नहीं हो सकेगा।

**न च वर्तमानकालावच्छिन्नकृतिविषयतात्वावच्छिन्नाभाव एव तत्र प्रतीयते स पाकेऽबाधित इति वाच्यम्, यदातीतेच्छाधीनपाककृतिरपि तत्र वर्तते तदा तादृशाभावस्यापि तत्र बाधात्। पाककृतीच्छायामसत्यामुक्तेच्छासत्त्वेऽपि च तथा प्रयोगात्, कृत्यसत्त्वेऽपि पाककृतीच्छासत्त्वे तथा प्रयोगविरहात्, कृतिविषयत्वाभावमात्रबोधस्य तत्राभ्युपगमासम्भवाच्चेति कर्मप्रत्ययस्थले इच्छा धात्वर्थविशेषणमेव ।**

यदि कहो कि वर्तमानकालावच्छिन्न कृति विषयतात्वावच्छिन्न प्रतियोगिता का भाव ही वहाँ पर प्रतीत होता है और वह पाक में अबाधित है। तो ऐसा नहीं कहना चाहिए क्योंकि जब अतीत इच्छा के अधीन पाककृति भी उस समय (समूहालम्बन इच्छा के समय) है, तब तादृशाभाव का भी (वर्तमानकालावच्छिन्न कृतिविषयतात्वावच्छिन्न प्रतियोगिताक अभाव का भी) उस समय बाध होगा। पाककृतीच्छा के न रहने से उक्त समूहालम्बन इच्छा के रहने पर भी उक्त प्रयोग होता है और कृति के न रहने पर भी पाककृतीच्छा रहने पर वैसा प्रयोग नहीं हुआ करता है, कृतिविषयत्वाभावमात्र का बोध उस समय स्वीकारना असम्भव है इस कारण कर्म प्रत्यय स्थल में इच्छा धात्वर्थ विशेषण ही है।

इस ग्रन्थ का आशय यह है कि **'भोजन कृतिर्भवतु, पाकश्च भवतु'** ऐसी समूहालम्बन इच्छा के काल में **'पाक इदानीं न चिकीर्ष्यते'** 'इस समय पाक करना नहीं चाहा जा रहा है' ऐसा प्रयोग होता है। इस प्रयोग का उपपादन करने के लिए 'यहाँ पर इस प्रयोग के द्वारा पाक में वर्तमानकालावच्छिन्नकृतिविषयतात्वावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभाव ही बोधित हुआ करता है' ऐसा स्वीकार कर लिया जाये। उस अभाव का सारांशतः आशय वर्तमानकृतिविषयता का अभाव है। चूँकि पाक में वर्तमान कृति की विषयता नहीं है, अतः उसमें वर्तमानकृतिविषयत्वाभाव अक्षत है। तथा उसी अभाव की प्रतीति इस प्रयोग से होती है।

तो यह स्वीकारना उचित नहीं है क्योंकि जब अतीत इच्छा के अधीन पाक कृति भी है जैसे कि आधे घण्टे पूर्व इच्छा हुई कि **'मत्कृत्या पाको भवतु'** 'मेरी कृति से पाक होवे' और इस इच्छा के अधीन पाक करना प्रारंभ किया गया। वह पाकानुकूल क्रिया और क्रियानुकूल कृति अभी है। बाद में समूहालम्बनात्मक उपर्युक्त इच्छा हुई । अब इस इच्छा के काल में इस अभाव का भी बाध होने के कारण उक्त प्रयोग नहीं हो सकेगा। क्योंकि आप यही कह रहे हैं कि **'पाक इदानीं चिकीर्ष्यते'** से वर्तमानकृतिविषयत्वाभाव ही बोधित होता है, जबकि ऐसी परिस्थिति में पाक में आधे घण्टे पूर्व उत्पन्न विनष्ट इच्छा के अधीन उत्पन्न होने वाली वर्तमान कृति की विषयता ही विद्यमान है। अतः वर्तमान कृति विषयत्व के अभाव का प्रत्यायन पाक में सम्भव न होने के कारण यह प्रयोग अनुपपन्न है। जबकि पाककृति की इच्छा न रहने पर उक्त समूहालम्बनात्मक इच्छा के रहने पर भी यह प्रयोग हुआ करता है, कृति के रहने न रहने से इसमें कोई फर्क नहीं पड़ता है। कृति के न रहने पर भी पाककृतीच्छा रहने पर **'पाक इदानीं न चिकीर्ष्यते'** ऐसा प्रयोग नहीं होता है, जबकि आपके अनुसार पाककृतीच्छा रहने पर भी कृति के न रहने पर ऐसा प्रयोग होने लगेगा क्योंकि इस प्रयोग के द्वारा आपके मतानुसार बोध्य होगा पाक में वर्तमान कृति विषयकत्वाभाव जो कि पाक में विद्यमान है। कृतिविषयत्वाभाव मात्र का बोध पाक में स्वीकारना तो असम्भव ही है क्योंकि उसमें तो पूर्व में ही दोष दिखलाये जा चुके हैं। इसलिए कर्मप्रत्यय स्थल में धात्वर्थविषयक इच्छा की उपस्थिति स्वीकारने के बजाय इच्छा विषयीभूत धात्वर्थ की उपस्थिति ही स्वीकारनी उचित है। जैसा कि पृ॰426 पर प्रतिपादित किया जा चुका है।

इस प्रकार अभी तक यह सिद्धान्तित हुआ कि धात्वर्थोद्देश्यताक इच्छा सन् प्रत्यय का अर्थ है। अथवा धात्वर्थ विशेष्यक इच्छा सन् प्रत्यय का अर्थ है। कर्त्राख्यातस्थल में धात्वर्थ

विशेषित इच्छा की और कर्माख्यातस्थल में इच्छाविशेषित धात्वर्थ की उपस्थिति सन्नन्त धातु से हुआ करती है। कर्त्राख्यातस्थल में कर्मता द्वितीया का अर्थ होती है और कर्माख्यातस्थल में आख्यात का अर्थ होती है।

**'इदं तु तत्त्वम् —कर्मप्रत्ययस्थलेऽपि धात्वर्थविशेष्यतयैवेच्छा सन् प्रत्ययेन प्रत्याय्यते, तत्कर्मत्वमेव कर्माख्यातार्थः, तच्च धात्वर्थकर्मतया तद्विषयत्वम्। ओदनकर्मकभोजनं भवतु' 'पाकविषयककृति र्भवतु' इत्यादीच्छायाञ्च पाकौदनादीनां तथेच्छाविषयतया तत्कर्मत्वमक्षतम् । गृहस्थित्यादीच्छायाञ्च गृहादेः स्थित्याधारत्वादिनैव विषयत्वमिति न गृहादे स्तिष्ठासादिकर्मत्वम् । अत एव यदोदनव्यक्तिकर्मकभोजनमप्रसिद्धम् अथ च भोजनकर्मतया तदिष्टं तत्र 'अयमोदनो बुभुक्ष्यते' इत्यादेः, दर्शनादिविषयत्वेन गगनादिगोचरेच्छास्थले च 'गमनं दिदृक्ष्यते' इत्यादेश्च प्रयोगस्य नानुपपत्तिः, न वा ओदनादिरूप-कर्ममात्रोपरागेण यत्र भोजनादीच्छा दैववशेन च तद्भोजनादिकं विषादिकर्म-कमपि तत्र 'विषं बुभुक्ष्यते' इत्यादयः प्रयोगाः।**

यह इसमें तत्त्व है— कर्मप्रत्ययस्थल में भी धात्वर्थविशेष्यतया ही इच्छा का सन् प्रत्यय के द्वारा प्रत्यायन हुआ करता है और उस इच्छा का कर्मत्व ही कर्माख्यात का अर्थ है। और इस इच्छा का कर्मत्व (कर्माख्यात स्थल में) धात्वर्थकर्मत्वेन इच्छाविषयत्व ही है। **'ओदन कर्मकभोजनं भवतु'** 'ओदनकर्मक भोजन होवे' **'पाकविषयककृति र्भवतु'** 'पाक विषयककृति होवे' इत्यादि इच्छा होने की स्थिति में पाक और ओदन आदि का उस प्रकार से इच्छा विषयतया इच्छाकर्मत्व अक्षत है। गृहस्थिति आदि की इच्छा में तो गृहादि का स्थिति के आधार रूप में ही विषयत्व है तिष्ठासाकर्मत्वेन नहीं है। (धात्त्वर्थ स्थिति कर्मत्वेन इच्छा विषयत्व नहीं है) इसीलिए यद् ओदनव्यक्तिकर्मक भोजन प्रसिद्ध नहीं है लेकिन भोजनकर्मतया वह व्यक्ति इष्ट है वहाँ **'अयमोदनो बुभुक्ष्यते'** 'यह ओदन खाना चाह रहा है' इत्यादि प्रयोगों की और गगन का दर्शनविषयत्व अप्रसिद्ध होने पर भी दर्शनादिविषयत्वेन गगनादिगोचर इच्छा के स्थल में **'गगनं दिदृक्ष्यते'** इत्यादि प्रयोगों की अनुपपत्ति नहीं है और न ही जहाँ पर ओदनादिरूप कर्ममात्र के उपराग से भोजन की इच्छा है और दैववशात् वह भोजन विषादिकर्मक भी हो गया तो उस समय **'विषं बुभुक्ष्यते'** 'विष खाने के लिए चाहा जा रहा है' इत्यादि प्रयोग नहीं हुआ करते हैं।

सन्नन्तधातुस्थल के प्रसङ्ग में पृ॰422 से जो विषय उठाया गया था उसको अब सिद्धान्तित कर रहे हैं। इसके अन्तर्गत प्रथम मत उठाया गया था कि धात्वर्थप्रकारक इच्छा सन् प्रत्यय का अर्थ है, इसमें दोष यह है कि **'गृहं तिष्ठासति'** यह प्रयोग होने लगेगा क्योंकि गृह में इच्छा का विषयत्व रूप कर्मत्व विद्यमान ही है। इसके अलावा इसमें समस्या यह है कि ओदन भोजन की इच्छा **'ओदनभोजनं भवतु'** 'ओदन भोजन होवे' की दशा में **'ओदनं बुभुक्ष्यते'** यह प्रयोग नहीं हो सकेगा क्योंकि भोजन (धात्वर्थ) प्रकारक इच्छा न होने के कारण सन् प्रत्यय से उसका बोधन बाधित होगा।

इसलिए दूसरा मत आया कि धात्वर्थविशेष्यक इच्छा सन् प्रत्यय का अर्थ है। और धात्वर्थ का कर्मत्व ही सन्नन्तकर्मत्व है। स्थाधातु के अकर्मक होने के कारण धात्वर्थ स्थिति का कर्मत्व गृह में नहीं है इस कारण तिष्ठासाकर्मत्व भी न होने के कारण **'गृहं तिष्ठासति'**

प्रयोग होने में भी कोई आपत्ति नहीं है। अन्य आपत्तियों का निवारण शक्य है। इसमें जो समस्या है वह यह कि **'पाकश्चिकीर्ष्यते' 'ओदनो बुभुक्ष्यते'** इत्यादि कर्माख्यातस्थल में आख्यात के द्वारा कैसे धात्वर्थकर्मत्व का अभिधान किया जायेगा? जो कि इस मत में सन्नन्तकर्मत्व है। क्योंकि कर्त्राख्यातस्थल में तो सन्नन्त के अर्थ धात्वर्थविशेष्यक इच्छा के एकदेश धात्वर्थ में द्वितीयार्थ कर्मता का अन्वय किसी तरह से किया जा सकता है किन्तु कर्माख्यातस्थल में कर्माख्यात के अर्थ कर्मता में धात्वर्थ का अन्वय नहीं किया जा सकता है क्योंकि धात्वर्थ इच्छा का विशेषण बनकर उपस्थित है और इतरविशेषणतया उपस्थित का दूसरी जगह विशेषण के रूप में अन्वय नहीं हो सकता है, अव्युत्पन्न है। इसके लिए समाधान यह दिया गया कि कर्त्राख्यातस्थल में धात्वर्थविशेष्यतया इच्छा की उपस्थिति होने पर भी कर्माख्यातस्थल में धात्वर्थविशेषणतया इच्छा की उपस्थिति होती है। कर्माख्यात से विशेष्यभूत धात्वर्थ का कर्मत्व तो बोधित किया ही जा सकता है क्योंकि धात्वर्थविशेष्यतया उपस्थित है उसका कर्मत्व, उस में विशेषणतया अन्वय अव्युत्पन्न नहीं है।

किन्तु इसके अलावा भी समस्याएँ इस मत में हैं क्योंकि इस मत में धात्वर्थकर्मत्व ही सन्नन्तकर्मत्व है। जैसे कि यद् ओदनव्यक्तिकर्मक भोजन प्रसिद्ध नहीं है उस ओदन व्यक्ति में भोजनकर्मता भुज्धात्वर्थकर्मता न होने के कारण तदोदन व्यक्ति के भोजन की इच्छा होने पर भी **'अयमोदनो बुभुक्ष्यते'** इस प्रकार का प्रयोग नहीं हो सकेगा। क्योंकि उस ओदनव्यक्ति में भोजनकर्मता न होने के कारण बुभुक्षा कर्मता भी नहीं है भोजनकर्मता के ही बुभुक्षा कर्मता होने के कारण। इसके अलावा ओदन भोजन की इच्छा है किंतु दैववशात् ओदन विषसंपृक्त हो जाये तो ओदन में भोजन कर्मता के समान विष में भी भोजन कर्मता होने के कारण विष में भोजनकर्मता रूप बुभुक्षाकर्मता है ही। इस कारण **'ओदनो बुभुक्ष्यते'** की तरह **'विषं बुभुक्ष्यते'** प्रयोग होने की आपत्ति है । इसके अलावा गगन में दृश्धातु कर्मता सम्भव न होने के कारण जैसे **'गगनं पश्यति'** प्रयोग की अनुपपत्ति होती है, उसी प्रकार गगन में दिदृक्षाकर्मता भी नहीं है क्योंकि दर्शनकर्मता ही दिदृक्षाकर्मता है। अतः **'गगनं दिदृक्ष्यते'** इत्यादि प्रयोगों की अनुपपत्ति होती है। इसलिए यह सिद्धान्तित होता है कि मूलधातुकर्मत्व सन्नन्तकर्मत्व नहीं है। इसी वजह से अलग तरीके से यहाँ पर प्रतिपादन करते हुए सन्नन्तकर्मत्व आदि का उपपादन कर रहे हैं।

कहना यह है कि धात्वर्थ विशेष्यक इच्छा ही सन् प्रत्यय का अर्थ कर्माख्यात स्थल में और कर्त्राख्यात स्थल में भी हुआ करती है। सन् प्रत्यय का कर्मत्व (सन्नन्तधातु का कर्मत्व) क्या है? धात्वर्थकर्मतया इच्छाविषयत्व ही सन् का कर्मत्व है। **'ओदनकर्मकभोजनं भवतु' 'पाकविषयककृतिर्भवतु'** इन इच्छाओं का धात्वर्थ भोजनकृति कर्मत्वेन विषयत्व क्रमशः ओदन और पाक में विद्यमान है। अतः ओदन की बुभुक्षा कर्मता और पाक की चिकीर्षा कर्मता सम्पन्न होती है। गृहस्थिति की जो **'गृहस्थितिर्भवतु'** 'गृहस्थिति होवे' ऐसी इच्छा होती है, इस इच्छा का विषयत्व यद्यपि गृह में है किन्तु स्थितिकर्मत्वेन इच्छाविषयत्व गृह में नहीं है किन्तु स्थित्याधारत्वेन इच्छाविषयत्व गृह में है । इच्छा का उद्देश्य यह नहीं है कि गृह स्थिति का कर्म है। अपितु इच्छा यह है कि गृह स्थिति का आधार हो। इस कारण गृह में तिष्ठासा का कर्मत्व नहीं होता है और **'गृहं तिष्ठासति'** प्रयोग नहीं होता है। इस मत में यदोदनव्यक्तिकर्मक भोजन अप्रसिद्ध है उस ओदन व्यक्ति की भी बुभुक्षाकर्मता सम्भव है क्योंकि उस ओदन व्यक्ति में भी भोजनकर्मत्वेन इच्छा

विषयता तो है ही। इस कारण यद् ओदनव्यक्तिकर्मक भोजन अप्रसिद्ध भी है उस ओदन विषय में भी **'अयमोदनो बुभुक्ष्यते'** 'यह ओदन खाने के लिए चाह रहा है' ऐसा प्रयोग होता है। गगनकर्मकदर्शन के अप्रसिद्ध होने पर भी दर्शनकर्मत्वेन इच्छाविषयत्वरूप दिदृक्षाकर्मत्व गगन में विद्यमान है। अतः **'गगनं दिदृक्ष्यते'** 'गगन को देखना चाह रहा है' इत्यादि प्रयोगों की अनुपपत्ति नहीं है। विष में भोजनकर्मता होने पर भी विष में भोजनकर्मत्वेन इच्छाविषयता रूप बुभुक्षा कर्मता नहीं होने के कारण जब ओदनादिरूपकर्ममात्रोपरागेण भोजन की इच्छा होती है, उस समय **'विषं बुभुक्ष्यते'** प्रयोग नहीं ही होता है। अवसादादि की दशा में जब विष में भोजनकर्मत्वेन इच्छाविषयता होती है तब तो **'विषं बुभुक्ष्यते'** प्रयोग भी होता ही है।

**कर्तृप्रत्ययस्थलेऽपि च तादृशविषयतारूपं कर्मत्वमेवेच्छाविशेषणतया भासते न तु धात्वर्थकर्मत्वम्। धात्वर्थविशेषणतया तत्तत्पदार्थकर्मत्वविशिष्ट भोजनादिनिरूपितविषयताया नियमत इच्छायां भानोपगमेनोक्तस्थले 'विषं बुभुक्षते चैत्रः' इत्यादिप्रयोगवारणेऽपि 'गगनं दिदृक्षते चैत्रः' इत्यादिप्रयोगस्य दुरुपपादत्वात्।**

न केवल कर्मप्रत्ययस्थल में अपितु कर्तृप्रत्यय स्थल में भी तादृशविषयता (धात्वर्थकर्मत्वेन इच्छा विषयता) रूप ही कर्मत्व इच्छा का विशेषण बनकर भासता है न कि धात्वर्थकर्मत्व। धात्वर्थविशेषणतया तत्तत्पदार्थकर्मत्वविशिष्टभोजनादिनिरूपित विषयता का नियम से इच्छा में भान स्वीकारने पर भी उक्त स्थल में **'विषं बुभुक्षते चैत्रः'** 'चैत्र विष खाना चाहता है' इत्यादि प्रयोग का वारण होने पर भी **'गगनं दिदृक्षते चैत्रः'** 'चैत्र गगन को देखना चाहता है' इत्यादि प्रयोगों का उपपादन सम्भव नहीं होगा।

अभिप्राय यह है कि कर्मप्रत्यय स्थल में जैसे आख्यात का अर्थ धात्वर्थकर्मत्वेन इच्छा विषयत्व रूप कर्मत्व है। उसी प्रकार कर्तृप्रत्यय स्थल में भी धात्वर्थकर्मत्वेन इच्छाविषयत्व ही कर्मत्व है (वह कर्मत्व ही द्वितीया का अर्थ है तथा उसका निरूपकत्व सम्बन्ध से इच्छा में अन्वय किया जाता है) अन्यथा यदि सन् प्रकृतिभूतधात्वर्थकर्मत्व द्वितीया का अर्थ हो तो **'विषं बुभुक्षते'** उस समय में दुर्वार हो जायेगा जब इच्छा ओदनादिरूपकर्ममात्रोपरागेण भोजन की है किन्तु दैववशात् विष सम्पृक्त भोजन हो गया है ऐसे विष में भी चूँकि सन् प्रकृतिभूत भुज् धातु के अर्थ भोजन की कर्मता है ही, इस वजह से बुभुक्षा की कर्मता भी है ही। फलतः ऐसी स्थिति में यह प्रयोग दुर्वार होगा। विष में तो भोजन कर्मता होने में कोई शक नहीं, प्रयोग भी हुआ करता है **'ओदनं भुञ्जानो विषं भुङ्क्ते'** 'भात खाता हुआ विष खा रहा है'। इस प्रकार जैसे प्रयोग हुआ करता है वैसे ही **'ओदनं बुभुक्षन् विषं बुभुक्षते'** 'ओदन खाना चाहते हुए विष खाना चाह रहा है' ऐसे प्रयोग की आपत्ति है। धात्वर्थ में विशेषण बनकर तत्तत्पदार्थकर्मत्वविशिष्टभोजननिरूपित विषयिता का इच्छा में नियम से भान हुआ करता है ऐसा यदि स्वीकार लें तो चूँकि विषकर्मत्वविशिष्टभोजन निरूपितविषयिता का इच्छा में भान नहीं होता है, इसलिए **'विषं बुभुक्षते'** प्रयोग नहीं होता है। ऐसी सफाई दे सकते हैं कि **'गगनं दिदृक्षते चैत्रः'** 'चैत्र आकाश को देखना चाहता है' ऐसा प्रयोग नहीं हो सकेगा जबकि ऐसा प्रयोग सम्मत है। क्यों नहीं हो सकेगा? इसका कारण यह है कि गगन में सन्प्रकृतिभूत दृश् धातु के अर्थ दर्शन का कर्मत्व है ही

नहीं (गगनविषयक दर्शन तो अप्रसिद्ध है) इसलिए गगन में दर्शनकर्मता रूप दिदृक्षा कर्मता भी नहीं होगी। फलस्वरूप यह प्रयोग नहीं हो सकेगा। अतः **'गगनं दिदृक्षते'** प्रयोग असम्भव होने के कारण धात्वर्थकर्मत्वेन इच्छाविषयत्व ही सन् का कर्मत्व है।

इस पक्ष में **'ओदनं बुभुक्षते चैत्रः'** से **'ओदननिष्ठा या धात्वर्थकर्मत्वेन इच्छाविषयता तन्निरूपिका भोजनविशेष्यिका या इच्छा तदाश्रयश्चैत्रः'** 'ओदन में रहने वाली जो धात्वर्थकर्मत्वेन इच्छाविषयता उसकी निरूपिका जो भोजनविशेष्यक इच्छा (**'ओदनकर्मक भोजनं भवतु'** यह इच्छा इसमें भोजन ही विशेष्य है) उसका आश्रय चैत्र है' ऐसा शाब्दबोध होता है। कर्माख्यात स्थल में **'ओदनो बुभुक्ष्यते चैत्रेण'** से **'चैत्रनिष्ठभोजन विशेष्यकेच्छानिरूपिता या धात्वर्थकर्मत्वेन इच्छाविषयता तद्वान् ओदनः'** 'चैत्र निष्ठ भोजनविशेष्यक इच्छा से निरूपित जो धात्वर्थकर्मत्वेन इच्छा विषयता तद्वान् ओदन है' ऐसा शाब्दबोध होता है।

**इदन्तु बोध्यम् –सन् प्रतिपाद्येच्छायां धात्वर्थकृतिभोजनादेः केवलविशेष्यता-सम्बन्धेन न विशेषणत्वं तथा सति परकर्तृककृतिभोजनादिगोचरेच्छावति 'अयं चिकीर्षति, बुभुक्षते' इति प्रयोग प्रसङ्गात् किन्तु विशेष्यतासमान-कर्तृकत्वोभयसम्बन्धेनैव।**

इसमें यह समझ लेना चाहिए सन्प्रतिपाद्य इच्छा में धात्वर्थकृति भोजन आदि का केवल विशेष्यता सम्बन्ध से विशेषणत्व नहीं है क्योंकि ऐसा होने पर परकर्तृक कृति भोजनादिविषयक इच्छा वाले के लिए भी **'अयं चिकीर्षति, बुभुक्षते'** 'यह करना चाहता है , खाना चाहता है' इत्यादि प्रयोगों का प्रसङ्ग होगा, किन्तु विशेष्यता समानकर्तृकत्व उभयसम्बन्ध से ही कृति, भोजनादि का इच्छा में विशेषणत्व अपेक्षित है।

अभिप्राय यह है –अभी तक जो बतलाया गया उसके अनुसार सन् का अर्थ है धात्वर्थविशेष्यक इच्छा, आशय दोनों का एक ही है। मान लिया जाये कि मैत्र की इच्छा हो कि **'चैत्रकर्तृकमोदनकर्मकभोजनं भवतु'** 'चैत्र कर्तृक ओदनकर्मक भोजन होवे' (चैत्र के द्वारा ओदन खाया जाये) यह इच्छा मैत्र को होने की दशा में **'मैत्र ओदनं बुभुक्षते'** 'मैत्र भात खाना चाहता है' ऐसा प्रयोग नहीं हुआ करता है। परन्तु ऐसा प्रयोग होने चाहिए, होने की आपत्ति है क्योंकि इस वाक्य से होने वाला शाब्दबोध अबाधित है। इससे शाब्दबोध होगा, **'ओदननिष्ठा या धात्वर्थकर्मत्वेन इच्छाविषयता तन्निरूपिका भोजनविशेष्यिका ( विशेष्यतासम्बन्धेन भोजनविशिष्टा ) या इच्छा तदाश्रयो मैत्रः'** 'ओदन में रहने वाली धात्वर्थकर्मत्वेन इच्छा विषयता की निरूपिका जो भोजन विशेष्यक इच्छा उसका आश्रय मैत्र है'। इस शाब्दबोध का कोई भी अंश बाधित नहीं है, ओदन में भुज्धात्वर्थ भोजनकर्मत्वेन इच्छा विषयता भी है, उस विषयता की निरूपकता भी इच्छा में है और भोजन विशेष्यकत्व भी है, तथा उस इच्छा का आश्रयत्व भी मैत्र में है। इसलिए गदाधर कह रहे हैं कि सन् प्रतिपाद्य इच्छा में धात्वर्थ कृति, भोजन' आदि का केवल विशेष्यतासम्बन्ध से विशेषणत्व नहीं है बल्कि विशेष्यता व समानकर्तृकत्व उभयसम्बन्ध से विशेषणत्व है। इस प्रकार उक्त स्थल में **'ओदननिष्ठा या धात्वर्थकर्मत्वेन इच्छाविषयता तन्निरूपिका या भोजनविशिष्टेच्छा ( विशेष्यतासमानकर्तृकत्वोभय सम्बन्धेन**

**भोजनविशिष्टेच्छा ) तदाश्रयो मैत्रः**' 'ओदन निष्ठा जो धात्वर्थकर्मत्वेन इच्छाविषयता उसकी निरूपिका और विशेष्यतासमानकर्तृकत्वोभय सम्बन्ध से भोजनविशिष्टा जो इच्छा उसका आश्रय मैत्र है' ऐसा शाब्दबोध होगा। जब मैत्र में उपर्युक्त इच्छा है तो चूँकि उस इच्छा में इन दोनों सम्बन्धों से भोजनविशिष्टत्व नहीं है क्योंकि इच्छा में भोजन विशेष्य तो है किन्तु भोजन और इच्छा एक ही कर्ता से नहीं हो रही है । इसलिए विशेष्यता सम्बन्ध से भोजन का वैशिष्ट्य इच्छा में होने पर भी समानकर्तृकत्व सम्बन्ध से भोजन का वैशिष्ट्य इच्छा में नहीं है। अतः उक्तोभयसम्बन्ध से भोजन से विशिष्ट इच्छा का आश्रयत्व मैत्र में बाधित है। फलतः उक्त प्रयोग नहीं होता है।

**उक्तातिप्रसङ्गवारणायेच्छासमानकर्तृकत्वेऽपि सन् प्रत्ययवाच्यतां स्वीकृत्य क्रियायां तदन्वयोपगमो न साधीयान् – इच्छान्तरासमानकर्तृकत्वमादाय दर्शितस्थलेऽति प्रसङ्गतादवस्थ्यात् । स्वसमानकर्तृकत्वस्य वाच्यत्वे तत्तदिच्छारूपस्वपदार्थाननुगमेन व्युत्पत्त्यनुपपत्तिः।**

उक्त अति प्रसङ्ग (मैत्र द्वारा चैत्रकर्तृकभोजन की इच्छा होने पर उपर्युक्त '**मैत्रो बुभुक्षते**' प्रयोग की आपत्ति) का वारण करने के लिए इच्छा के समान कर्तृकत्व में भी सन् प्रत्यय की वाच्यता स्वीकार करते हुए इच्छा का क्रिया में अन्वय तो ठीक नहीं है क्योंकि इच्छान्तरसमानकर्तृकत्व को लेकर दर्शितस्थल में अतिप्रसङ्ग पुनः आपन्न हो जायेगा स्वासमानकर्तृकत्व को यदि सन् का वाच्य स्वीकारें तो तत्तदिच्छा रूप स्व पदार्थ का अनुगम न होने के कारण व्युत्पत्ति की अनुपपत्ति होगी।

कुछ लोग उक्त उभयसम्बन्ध से भोजनादि से विशिष्ट इच्छा को सन् का अर्थ न मानकर भोजनविशेष्यक समानकर्तृक इच्छा को सन् का अर्थ मानते हैं। समानकर्तृकत्व का सम्बन्ध में प्रवेश न करके उसका प्रवेश इच्छा में करते है। उस मत में यह दोष है कि समानकर्तृक इच्छा को सीधे-सीधे सन् का अर्थ नहीं मान सकते हैं क्योंकि समान के लिए प्रतियोगी की अपेक्षा होती है। इसलिए इच्छा और समानकर्तृकत्व दोनों ही सन् के अर्थ हैं। समानकर्तृकत्व का क्रिया में (भोजन आदि में) अन्वय होता है। किन्तु इस प्रकार स्वीकारने पर उपर्युक्त दोष (आपत्ति) फिर भी विद्यमान है। क्योंकि अन्यकर्तृक भोजनादि की इच्छा का आश्रयत्व मैत्र में है ही और भोजन में इच्छा का समानकर्तृकत्व भी इच्छान्तर को लेकर है, मैत्र की इच्छा का समानकर्तृकत्व भले ही न हो, भोजनविशेष्यकचैत्र की इच्छा का समानकर्तृकत्व तो भोजन में है ही। इस प्रकार मैत्र की अन्यकर्तृकभोजनेच्छा होने की दशा में '**मैत्रो ओदनं बुभुक्षते**' प्रयोग होने की आपत्ति है। इस वाक्य से शाब्दबोध द्वारा जो बोधित होता है उसमें से किसी का भी बाध नहीं है। शाब्दबोध द्वारा इस मतानुसार बोधित होता है ओदन में धात्वर्थकर्मत्वेन इच्छाविषयत्व यह भी अबाधित है, इस विषयत्व का निरूपकत्व भी इच्छा में अबाधित है, धात्वर्थभोजनविशेष्यकत्व भी इच्छा में अबाधित है। भोजन क्रिया में इच्छा समानकर्तृकत्व है कि नहीं इसमें सन्देह है। किन्तु यह भी भोजन क्रिया में है क्योंकि भोजन क्रिया में अपेक्षित है धात्वर्थभोजनविशेष्यक इच्छासमानकर्तृकत्व। यदि उसी काल में चैत्र में '**ओदनकर्मकभोजनं भवतु**' ऐसा इच्छा हो तो मैत्र में रहनेवाली इच्छा जिस प्रकार धात्वर्थभोजनविशेष्यक है उसी प्रकार चैत्र में रहनेवाली इच्छा

भी धात्वर्थभोजनविशेष्यक है। उस इच्छा का समानकर्तृकत्व भोजनक्रिया में है। इसलिए समानकर्तृकत्व भी भोजन क्रिया में बाधित नहीं है। और उस इच्छा का आश्रयत्व भी बाधित नहीं है। इस कारण इस वाक्य से इस मत के अनुसार **'ओदननिष्ठा या धात्वर्थकर्मत्वेन इच्छा विषयता तन्निरूपिका या समानकर्तृकभोजनविशेष्यकेच्छा तदाश्रयो मैत्रः'** 'ओदन में रहने वाली धात्वर्थकर्मत्वेन इच्छा विषयता की निरूपिका जो समानकर्तृक भोजनविशेष्यक इच्छा उसका आश्रय मैत्र है' यह शाब्दबोध अबाधित होने के कारण उक्त वाक्यप्रयोग की आपत्ति है। स्वसमानकर्तृकत्व यदि वाच्य हो तो चैत्रनिष्ठ भोजनक्रिया में भोजनविशेष्यक इच्छा समानकर्तृकत्व होने पर भी भोजनविशेष्यक तदिच्छा समानकर्तृकत्व नहीं है और यदिच्छा समानकर्तृकत्व है, उस इच्छा का आश्रयत्व मैत्र में नहीं है चैत्र में है। अतः यह आपत्ति वारित हो जायेगी । स्वपदार्थ का अनुगम सम्भव न होने से व्युत्पत्ति की अनुपपत्ति होगी। इस कारण समानकर्तृकत्व की सन्प्रत्ययवाच्यता न स्वीकारते हुए सम्बन्धविधया ही विशेष्यत्व और समानकर्तृकत्व का निवेश पूर्ववत् करना बेहतर होगा।

**न च समानकर्तृकत्वस्य सम्बन्धत्वोपगमे तत्र शक्तिग्राहकानुशासन-विरोधः, यतः "धातोः कर्मणः समानकर्तृकादिच्छायां वा" इति सन् विधायकसूत्रं सनः समानकर्तृकत्वार्थकतां न प्रतिपादयति तस्य हि 'इच्छाकर्मत्वेन तत्समानकर्तृकत्वेन च स्वार्थपराद्धातोरिच्छारूपार्थे सन् भवति" इत्येवार्थः। इच्छाधात्वर्थयोः संसर्गतया समानकर्तृकत्वविवक्षायामपि समानकर्तृकत्वोपरक्तार्थपरत्वं धातोर्निर्वहतीति इच्छामात्रे शक्तिग्राहकं तत्सूत्रमिति।**

यदि कहो कि समानकर्तृकत्व की सम्बन्धता का स्वीकार करने पर समानकर्तृकत्व में सन् की शक्ति का ग्रहण करनेवाले अनुशासन का विरोध होगा। आशय है कि आप समानकर्तृकत्व का भान संसर्गविधया मान रहे हैं क्योंकि सन्नन्त का अर्थ आपने विशेष्यत्व, समानकर्तृकत्व उभय सम्बन्ध से धात्वर्थ विशिष्ट इच्छा को माना है। इसलिए सन् का अर्थ तो धात्वर्थभोजनादिविशिष्ट इच्छा ही हुई। जबकि **'धातोः कर्मणः समानकर्तृकादिच्छायां वा पा॰ सू॰ 3/1/7'** इस सूत्र से प्रत्ययविधायक अनुशासन पाणिनीयसूत्र के द्वारा समानकर्तृकत्व में भी सन्प्रत्यय की शक्ति गृहीत करायी जाती है।

तो ऐसा नहीं कह सकते है क्योंकि **'धातोः कर्मणः समानकर्तृकादिच्छायां वा पा॰सू॰3/1/7'** यह सन्विधायक सूत्र सन् का समानकर्तृकत्वार्थकत्व प्रतिपादित नहीं करता है। (जैसा आप समझ रहे हैं कि उस सन् के द्वारा सन् की समानकर्तृकत्व में शक्ति गृहीत करायी जाती है वैसा नहीं है) उस सूत्र का यही अर्थ है कि 'इच्छाकर्मत्वेन और इच्छासमानकर्तृकत्वेन स्वार्थपरक धातु से इच्छारूप अर्थ में सन् प्रत्यय होता है' इच्छा और धात्वर्थ के संसर्गतया समानकर्तृकत्व की विवक्षा में भी धातु के समानकर्तृकत्व से उपरक्त अर्थ के परत्व का निर्वाह होता है, इसलिए इच्छामात्र में ही शक्तिग्राहक उक्त सूत्र है। समानकर्तृकत्व में सन् की शक्ति का ग्राहक उक्त सूत्र नहीं है इस कारण शक्तिग्राहक अनुशासन का कोई विरोध नहीं है।

**सुबन्तोत्तरेच्छार्थविहितक्यच्काम्यजन्तस्य धातोरिच्छार्थकतया सन्**

**प्रत्ययान्ताविशेषेऽपि सन्नन्तधातुवन्न सकर्मता–तदन्तर्गतप्रातिपदिकस्यैवेच्छाकर्मबोधकतयेच्छायाः कर्माकाङ्क्षाविरहात् ।**

सुबन्त के उत्तर इच्छा के अर्थ में विहित क्यच् प्रत्ययान्त और काम्यच् प्रत्ययान्त धातु के भी इच्छार्थक होने के कारण सन् प्रत्ययान्त से अविशेष होने पर भी सन्नन्त धातु की तरह क्यच्काम्यजन्त धातु की सकर्मकता नहीं होती है क्योंकि क्यच्काम्यजन्तधातु के अन्तर्गत प्रातिपदिक के ही इच्छाकर्मबोधक होने के कारण इच्छा को कर्म की आकाङ्क्षा ही नहीं है।

अभिप्राय यह है कि सन् प्रत्यय की तरह क्यच् और काम्यच् प्रत्यय भी इच्छा के अर्थ में ही होते हैं। क्यच् प्रत्यय '**सुप आत्मनः क्यच् पा॰सू॰3/1/8**' के द्वारा और काम्यच् प्रत्यय '**काम्यच्च पा॰ सू॰ 3/1/9**' के द्वारा किया जाता है। तथा विग्रह किया जाता है कि '**आत्मनः पुत्रमिच्छति पुत्रीयति, पुत्रकाम्यति**' 'अपना पुत्र चाहता है' इस परिस्थिति में पुत्रम् के बाद क्यच् या काम्यच् प्रत्यय किया जाता है। '**सन्नाद्यन्ता धातवः पा॰ सू॰ 3/1/32**' से क्यजन्त व काम्यजन्त की धातु संज्ञा होती है और '**सुपो धातुप्रातिपदिकयोः पा॰ सू॰ 2/4/71**' से सुप् अम् का लोप होकर अन्यकार्यों के अनन्तर '**पुत्रीयति**' और '**पुत्रकाम्यति**' प्रयोग सिद्ध होते हैं। यहाँ पर जो क्यच् और काम्यच् प्रत्यय किये गये हैं वे इच्छा के अर्थ में ही किये गये हैं। इस प्रकार सन् प्रत्ययान्त धातु जैसे इच्छार्थक होती है उसी प्रकार क्यच् काम्यजन्त धातु भी इच्छार्थक ही होती है। '**कर्तुमिच्छति चिकीर्षति**' जैसे सन् प्रत्ययान्त धातु की सिद्धि इच्छा अर्थ में सन् प्रत्यय करके होती है, उसी प्रकार '**( आत्मनः ) पुत्रमिच्छति**' '**पुत्रीयति पुत्रकाम्यति**' क्यच्काम्यजन्त धातु की सिद्धि भी इच्छा अर्थ में क्यच् काम्यच् प्रत्यय करके होती है। इस प्रकार सन्नन्त की तरह क्यच्काम्य जन्त की समानरूप से इच्छार्थकता है। परन्तु सन्नन्त धातु जैसे सकर्मक होती है उस प्रकार क्यजन्त की व काम्यजन्त की सकर्मता नहीं होती है क्योंकि क्यजन्त व काम्यजन्त के अन्तर्गत जो पुत्रादि है उन्हीं की इच्छाकर्मता है वही इच्छा के कर्म होते है। इसलिए अलग से क्यजन्त, काम्यजन्त को कर्म की आकाङ्क्षा नहीं होती है। क्यजन्त **पुत्रीयति** काम्यजन्त **पुत्रकाम्यति** का अर्थ यही होता है **( आत्मनः ) पुत्रमिच्छति** इस प्रकार का कर्म पुत्र ही है, तद्बोधक पुत्रप्रातिपदिक धातु में ही अन्तर्भूत है। अतः उसे अलग से कर्म की आकाङ्क्षा नहीं होती है तथा इस कारण उसे अकर्मक ही माना जाता है।

**न च 'पुत्रीयति' 'पुत्रकाम्यति' इत्यादौ क्यजादिप्रकृत्यर्थपुत्रादेः क्रियात्वाभावेनाकर्मकत्वेऽपि 'आत्मनः पाकमिच्छति पाकीयति' इत्यादौ प्रकृत्यर्थपाकादेः सकर्मकतया सन्नन्तसमुदायवद् क्यजाद्यन्तसमुदायस्य सकर्मकताया दुर्वारतया 'तण्डुलं पाकीयति' इत्यादि प्रयोगापत्तिरितिवाच्यम् , कृधातुसमानार्थकयतेरिव सन्नन्तसमानार्थकस्य क्यजन्तादेरपि कर्मताबोधकसुप्साकाङ्क्षत्वानुपगमेन तथाप्रयोगाप्रसङ्गात् । कृदन्त कर्मत्वविवक्षायान्तु षष्ठ्या बाधात् द्वितीयाया अप्रसक्तिः।**

यदि कहो कि '**पुत्रीयति**' '**पुत्रकाम्यति**' इत्यादि स्थलों में क्यच् , काम्यच् आदि की प्रकृति (पुत्र पद) के अर्थ पुत्र आदि के क्रिया न होने के कारण अकर्मक होने पर भी '**आत्मनः पाकमिच्छति पाकीयति**' 'अपना पाक चाहता है' इत्यादि स्थलों में प्रकृति

भूतपद पाकपद के अर्थ पाक के सकर्मक होने के कारण सन्नन्त समुदायवत् क्यजाद्यन्त समुदाय की सकर्मकता दुर्वार होने के कारण '**तण्डुलं पाकीयति**' 'अपने लिए तण्डुल का पाक चाहता है' इत्यादि प्रयोगों की आपत्ति होगी। तो नहीं कहना चाहिए जैसे कृधातु की समानार्थक यत धातु है परन्तु कृधातु की तो सकर्मकता है यत की नहीं, उसा प्रकार क्यजन्त आदि के भी सन्नन्तसमानार्थक होने पर कर्मताबोधक सुप्साकाङ्क्षत्व उसका नहीं स्वीकारने के कारण वैसे प्रयोग का प्रसङ्ग नहीं है। कृदन्त के कर्मत्व की विवक्षा होने पर तो षष्ठी से बाध होने के कारण द्वितीया की प्रसक्ति नहीं होती है।

अभिप्राय यह है कि यदि कोई यह पूँछे कि भई! जब सन्नन्त के समान क्यजन्त भी इच्छार्थक ही है तो सन्नन्त की सकर्मकता और क्यजाद्यन्त की अकर्मकता होने का कारण यही हो सकता है कि सन् की प्रकृतिभूत धातु सकर्मक होती है और क्यच् काम्यच् की प्रकृति भूत सुबन्त अकर्मक होता है। अतः सन्नन्त की सकर्मकता और क्यजाद्यन्त की अकर्मकता होती है। किन्तु इस परिस्थिति में **पुत्रीयति, पुत्रकाम्यति** में प्रकृतिभूत **पुत्रम्** सुबन्त के अर्थ पुत्र आदि के क्रिया न होने के कारण क्यजाद्यन्त की अकर्मकता होती है यह तो ठीक है लेकिन '**आत्मनः पाकमिच्छति पाकीयति**' यहाँ पर **पाकीयति** में क्यच् प्रत्यय की प्रकृति है **पाकम्** सुबन्त, इसका अर्थ है पाकक्रिया वह तो सकर्मक है, इसलिए जैसे सन् प्रकृतिभूत धातु के अर्थ क्रिया के सकर्मक होने के कारण सन्नन्त की सकर्मकता होती है, उसी प्रकार **पाकीयति** में भी क्यच्प्रकृतिभूत सुबन्त **पाकम्** के अर्थ पाकक्रिया के सकर्मक होने के कारण क्यजाद्यन्त समुदाय की सकर्मकता यहाँ पर दुर्वार होगी, इस वजह से '**तण्डुलं पाकीयति**' प्रयोग होना चाहिए।

तो इसका समाधान यह है कि जैसे कृ धातु की समानार्थक होते हुए भी यत धातु की सकर्मकता नहीं होती है, उसी प्रकार क्यजन्त के सन्नन्तवत् होते हुए भी क्यजन्त की सकर्मकता नहीं होती है। क्योंकि क्यजन्त कर्मताबोधक सुप् साकाङ्क्ष न होने के कारण सकर्मक नहीं होता है। तथा क्यजन्त की कर्मता तण्डुल में न होने के कारण तण्डुलपद से द्वितीया होकर '**तण्डुलं पाकीयति**' प्रयोग नहीं होता है।

यदि आप कृदन्त पाक की कर्मता की तण्डुल में विवक्षा करके तण्डुलपद से द्वितीया करना चाहते हो तो वह तो सम्भव नहीं है क्योंकि कृदन्त कर्मतया उससे द्वितीया न होकर द्वितीया की बाधिका षष्ठी '**कर्तृकर्मणोः कृति पा॰ सू॰ 2/3/65**' सूत्र के द्वारा हो जायेगी। इसलिए द्वितीया की तो प्राप्ति ही नहीं है।

**न च धात्ववयवकृद्योगे "कर्तृकर्मणोः कृति" इत्यस्य द्वितीयाबाधकत्वे 'कंसकर्मकवधमाचष्टे कंसं घातयति' इत्यत्र द्वितीया न स्यात् कंसस्याख्यानकर्मत्वायोगेन वधकर्मतयैव तदुत्तरं द्वितीयासमर्थनादिति वाच्यम्, कृदन्तोत्तरं यत्राख्यानार्थे णिच् तत्र "प्रकृतिवच्च कारकम्" इत्यनेन कृदन्तकारकस्य ण्यन्तप्रतिपाद्यक्रियाकारकतुल्यत्वातिदेशाद् 'राजानं गमयति' 'सूर्यमुद्गमयति' इत्यादौ ण्यन्तधातुयोगे यथा प्रकृत्यर्थक्रियाकर्तुः कर्मत्वं तथा कृदन्तोत्तरणिज्योगेपि =आख्येयगत्युद्गत्यादिकर्तुः कर्मतया तदुत्तर द्वितीयेति ण्यन्तधातुयोगे यथा प्रकृतेः कर्मणो द्वितीयान्तता तथा णिच् प्रत्ययान्तकृदन्तकर्मणोऽपीति लाभात्**

**कृदन्तकर्मणः कंसादे र्द्वितीयोपपत्तिः।**

यदि कहो कि धात्ववयव कृद् को योग होने पर '**कर्तृकर्मणोः कृति पा॰ सू॰2/3/65**' इस अनुशासन के द्वितीया का बाधक होने की स्थिति में '**कंसकर्मकवधमाचष्टे कंसं घातयति**' 'कंस कर्मकवध का आख्यान कर रहा है' यहाँ पर कंस पदोत्तर द्वितीया नहीं होनी चाहिए, क्योंकि कंस के आख्यानकर्मत्व का योग तो है नहीं, इस कारण वधकर्म होने के कारण ही कंसपदोत्तर द्वितीया का समर्थन किया जा सकता है। तो ऐसा नहीं कहना चाहिए क्योंकि कृदन्त के बाद जहाँ पर आख्यान अर्थ में णिच् होता है वहाँ पर "**प्रकृतिवच्च कारकम्** ' इस अनुशासन से कृदन्तकारक ण्यन्तप्रकृतिप्रतिपाद्यक्रिया-कारकतुल्यत्व का अतिदेश होने के कारण '**राजानं गमयति**' 'राजा को भेज रहा है (जवा रहा है)' '**सूर्यमुद्गमयति**' 'सूर्य को उगा रहा है' इत्यादि स्थलों पर ण्यन्तधातुयोग होने पर प्रकृत्यर्थ क्रिया (गमन, उद्गमन) के कर्ता की कर्मता होने के समान ही कृदन्तोत्तर णिच् का योग होने पर भी आख्येय, गति, उद्गति आदि के कर्ता की कर्मता होने के कारण उसके बाद द्वितीया होती है। इस प्रकार जैसे ण्यन्त धातु का योग होने पर प्रकृति के कर्म की द्विवचनान्तता होती है, उसी प्रकार णिच् प्रत्ययान्त कृदन्त के कर्म की भी द्विवचनान्तता का लाभ होता है और कृदन्त कर्म कंसादि से द्वितीया की उपपत्ति होती है।

यहाँ पर प्रश्न और उत्तर का आशय इस प्रकार से है। प्रश्न यह है कि आपने अभी कहा कि '**तण्डुलं पाकीयति**' प्रयोग इसलिए नहीं होता है क्योंकि क्यजन्त धातु के अकर्मक होने के कारण तण्डुल क्यजन्त का कर्म तो है नहीं, क्यजन्तघटकीभूत पाक कृदन्त का कर्म होने पर भी तण्डुल से द्वितीया इस कारण नहीं हो सकती है क्योंकि '**कर्तृकर्मणोः कृति पा॰सू॰2/3/65**' के द्वारा द्वितीया का बाध होकर षष्ठी हो जायेगी। लेकिन यह बताइए कि यदि धात्ववयवभूत कृत् का योग होने पर (**पाकीयति** में कृदन्त पाक धातु का अवयव है) यह सूत्र द्वितीया का बाध करने लगे तब तो '**कंसकर्मकवधमाचष्टे**' 'कंसकर्मक वध का आख्यान कर रहा है' इस अर्थ में जो '**कंसं घातयति**' प्रयोग होता है वह नहीं हो सकेगा क्योंकि आख्यान अर्थ में यहाँ पर णिच् प्रत्यय हुआ है, आख्यान का कर्म तो कंसवध है कंस तो नहीं, इस कारण णिजन्त का कर्म होने के कारण तो कंस से द्वितीया सम्भव नहीं है (क्योंकि कंस णिजन्तार्थ आख्यान का कर्म ही नहीं है) वध का कर्म होने के कारण ही कंस से द्वितीया हो सकती है आपके कथनानुसार वह सम्भव नहीं है,क्योंकि वध रूप कृत् तो धात्ववयव है (णिजन्त धातु का अवयव है क्योंकि यहाँ पर कृदन्त पदोत्तर ही णिच् प्रत्यय होता है) और धात्ववयव कृत् का योग होने पर तो '**कृतकर्मणोः कृति**' सूत्र से द्वितीया का बाध होकर षष्ठी हो जायेगी।

समाधान यह है कि '**कंसं घातयति**' यहाँ पर कंस पदोत्तर द्वितीया कंस की वधरूप कृदन्त की कर्मता होने के कारण नहीं होती है बल्कि उसकी कर्मता का विधायक कुछ और है। जैसे '**राजगमनमाचष्टे राजानं गमयति**' यहाँ पर गम् धातु से णिच् प्रत्यय होकर इसकी सिद्धि होती है। यहाँ पर गम् धात्वर्थ गमनकर्ता होने पर भी जैसे राजा की कर्मता होती है। जैसे '**सूर्योद्गमनं सम्भावयते**' 'सूर्योदय की सम्भावना करता है' '**सूर्यमुद्गमयति**' की सिद्धि होती है। यहाँ पर काशिका में उदाहरण दिया गया है '**उज्जयिन्याः प्रस्थितो**

**माहिष्मत्यां सूर्योद्गमनं सम्भावयते**' 'उज्जयिनी से प्रस्थित हुआ माहिष्मती में सूर्योद्गमन की सम्भावना करता है' '**सूर्यमुद्गमयति**' सिद्ध होता है। इसी प्रकार '**कंसमधमाचष्टे कंसं घातयति**' की भी सिद्धि होती है। इन जगहों पर क्रमशः **राजगमनम् , सूर्योद्गमनम्, कंसवधम्** पदों से णिच् हुआ करता है। णिज्विधायक है '**आख्यानात्कृतस्तदाचष्टे इति णिच् कृल्लुक्प्रकृतिप्रत्यापत्तिः प्रकृतिवच्च कारकम्** ' (द्रष्टव्य काशिका 3/1/26) इस वार्तिक का अर्थ है आख्यानवाची (भाववाचक) कृदन्त से तदाचष्टे वैसा आचरण कर रहा है इस अर्थ में णिच् होता है, कृत् का लुक (लोप) हो जाता है प्रकृति की प्रत्यापत्ति (मूल धातु की वापसी) हो जाती है और प्रकृति से णिच् करने पर जैसा कारक होता है वैसा कारक हुआ करता है। '**सूर्यमुद्गमयति**' में साथ ही एक और वार्तिक भी प्रवृत्त होता है '**चित्रीकरणे प्रापि**' यह विनियम करता है। इस प्रकार इन शब्दों से णिच् होने के बाद कृत् का लोप और प्रकृति की आपत्ति हो जाती है, तथा स्थिति बनती है क्रमशः **गम् + णिच् , उद्गम् + णिच् , हन् + णिच्** अन्य कार्य होकर **गमि, उद्गमि, घाति** की सिद्धि होती है। चूँकि गम् , उद्गम् और हन् से णिच् प्रत्यय करने पर राजा, सूर्य आदि की कर्मता होती है, उसी प्रकार कंस की भी कर्मता होती है क्योंकि वह तो मूल धातु का ही कर्म हुआ करता है। इसलिए राजा, सूर्य व कंस पदों से द्वितीया हुआ करती है। प्रेरणार्थक णिच् होने पर भी '**रामः कृष्णेन कंसं घातयति**' ही प्रयोग होता है मूलधातु का कर्म णिजन्त का भी कर्म हुआ ही करता है। इसलिए यहाँ पर भी कंस की कर्मता में कोई अनुपपत्ति नहीं है।

**तथाविवक्षायां 'तण्डुलस्य पाकीयति' इति प्रयोग इष्यत एव–कारक विभक्त्यर्थस्य वृत्त्येकदेशेप्यन्वयस्य व्युत्पन्नत्वात् । सम्बन्धविवक्षायाञ्च न तथाप्रयोगः। वस्तुतः सम्बन्धविवक्षायामपि तथा प्रयोग इष्यत एव।**

वैसी विवक्षा होने पर (तण्डुल के पाक कर्मत्व की विवक्षा होने पर) '**तण्डुलस्य पाकीयति**' यह प्रयोग इष्ट ही है अर्थात् तण्डुल के पाककर्मत्व की विवक्षा होने पर '**कर्तृकर्मणोः कृति**' सूत्र के द्वारा षष्ठी हो कर इस प्रकार का प्रयोग इष्ट ही है क्योंकि कारक विभक्ति के अर्थ का वृत्ति के एकदेश में भी अन्वय व्युत्पत्ति सिद्ध है। ('**कर्तृकर्मणो कृति**' सूत्र से होनेवाली षष्ठी सम्बन्ध षष्ठी न होकर कारक षष्ठी है और इस प्रकार कारक विभक्ति होने के कारण षष्ठी के अर्थ कर्मत्व का क्यजन्त की वृत्ति 'पाकविषयक इच्छा' के एक देश पाक में भी अन्वय होने में कोई आपत्ति नहीं है) सम्बन्धविवक्षा होने पर तो '**तण्डुलस्य पाकीयति**' प्रयोग नहीं होता है। (क्योंकि सम्बन्धषष्ठी कारकविभक्ति नहीं होती है और कारक विभक्ति से भिन्न विभक्ति के अर्थ का वृत्ति के एकदेश में अन्वय नहीं हो सकता है) वस्तुतः तो सम्बन्ध विवक्षा में भी वैसा प्रयोग इष्ट ही है (क्योंकि सम्बन्ध षष्ठी के अर्थ का अन्वय वृत्ति के एकदेश में नहीं हो सकता है इसमें कोई युक्ति नहीं है कारक विभक्ति के अर्थ के समान उसका भी अन्वय वृत्ति के एकदेश में हो ही सकता है)

**न च तत्र वृत्त्येकदेशेन षष्ठ्यर्थान्वये ''प्रतियोगिपदादन्यद् यदन्यत् कारकादपि'' इति व्युत्पत्तिविरोध इति वाच्यम् , तादृशव्युत्पत्तेरभेदान्वयस्थल एव स्वीकारात् , वृत्त्येकदेशेन भेदान्वये बाधकाभावात् । अत एव 'ऋद्धस्य**

**राजमातङ्गाः' इत्यादिप्रयोगो नेष्यते, इष्यते च 'पितुः स्वर्गकामः' इत्यादिप्रयोगः।**

यदि कहो कि '**तण्डुलस्य पाकीयति**' यहाँ पर वृत्ति के एकदेश में (पदार्थैकदेश में) षष्ठी के अर्थ सम्बन्ध का अन्वय करने पर '**प्रतियोगिपदादन्यत् यदन्यत् कारकादपि**' 'जो प्रतियोगिपद से अन्य होता है और जो कारक से अन्य होता है उसका वृत्ति के एकदेश में अन्वय नहीं स्वीकारा जाता है' इस व्युत्पत्ति का विरोध होगा (क्योंकि आप कारक से अन्य सम्बन्धषष्ठी (सम्बन्धषष्ठ्यन्त) का अन्वय वृत्ति के एकदेश पाक में अन्वय स्वीकार कर रहे हैं) तो ऐसा नहीं कहना चाहिए क्योंकि ऐसी व्युत्पत्ति अभेदान्वयस्थल में ही स्वीकार की जाती है कारण यह है कि वृत्ति के एक देश में भी भेदान्वय में कोई बाधक नहीं है। इसी कारण '**ऋद्धस्य राजमातङ्गाः**' 'ऋद्ध राजा के मातङ्ग है' इत्यादि प्रयोग इष्ट नहीं है (क्योंकि यहाँ कारक से अन्य षष्ठ्यन्तार्थ ऋद्ध का वृत्त्येकदेश राजा में अभेदान्वय अपेक्षित है) और '**पितुः स्वर्गकामः**' 'पिता के स्वर्ग की कामना वाला है' इत्यादि प्रयोग इष्ट हुआ करते है (क्योंकि यहाँ पर कारक से अन्य षष्ठ्यन्तार्थ पिता का स्वर्ग में अभेदान्वयबोध अपेक्षित न होकर भेदान्वयबोध अपेक्षित है)

**न च कारकपदप्रतियोगिपदयोर्भेदनिवेशनमफलमितिवाच्यम् , तन्निवेशस्य दृष्टान्तविधयोक्तत्वात् -यथा प्रतियोगिपदाद्यर्थस्य कुत्राप्यभेदान्वयो न भवति तथा वृत्त्येकदेशेनान्यपदार्थस्येत्यर्थे तात्पर्यादिति ध्येयम् ।**

यदि कहो कि उक्त व्युत्पत्ति में कारकपद और प्रतियोगिपदों का भेद निवेश करना अफल है व्यर्थ है, अर्थात् '**प्रतियोगिपदादन्यत् यदन्यत्कारकादपि**' इस व्युत्पत्ति में **प्रतियोगिपदादन्यत्** इसका निवेश करना व्यर्थ है? (तो उसके निवेश का अलग से वस्तुतः कोई प्रयोजन नहीं है बल्कि) उसका निवेश दृष्टान्तविधया किया गया है, इस प्रकार अर्थ होता है कि जैसे प्रतियोगिपद के अर्थ का कहीं पर अभेदान्वय नहीं होता है ('**चन्द्रवन्मुखम्** ' और '**चन्द्र इव मुखम्** ' इत्यादि स्थलों में सादृश्य के प्रतियोगी चन्द्रमा का कहीं पर भी अभेदान्वय नहीं होता है अपितु सादृश्य में भेदान्वय ही किया जाता है) उसी प्रकार वृत्त्येकदेश में अन्यपदार्थ का भी कारक से अन्य पदार्थ का भी) अभेदान्वयबोध नहीं होता है, इसी अर्थ में उक्त व्युत्पत्ति का तात्पर्य है।

**अभेदविवक्षायां 'पण्डितं पुत्रीयति' 'प्रवीरं पुत्रकाम्यति' इत्यादि प्रयोगाभाववत् परपुत्रादिगोचरेच्छावति पुंसि 'पुत्रीयति' इत्यादयो न प्रयोगाः– "सुप आत्मनः क्यच् " इत्यादिना इच्छाकर्तृसम्बन्धि यदिच्छाकर्म तद्बोधकसुबन्तात् क्यच्काम्यचोर्विधानात् । सम्बन्धित्वञ्च सम्बन्धित्वेन भातत्वम्, अन्यथा यस्येच्छाकर्तुः पुत्रोऽसिद्धस्तस्यापि स्वीयत्वेन पुत्रेच्छादशायां 'पुत्रीयत्ययम् ' इत्यादिप्रयोगस्य सर्वसिद्धस्यानुपपत्तेः।**

अभेदविवक्षा होने पर (भेदविवक्षा होने पर तो वृत्त्येकदेश में अन्वय हो जाता है किन्तु अभेदविवक्षा होने पर नहीं होता है, इस कारण अभेदविवक्षा होने पर ) '**पण्डितं पुत्रीयति**' 'पण्डित पुत्र की इच्छा करता है' '**प्रवीरं पुत्रकाम्यति**' 'वीर पुत्र की कामना करता है' इत्यादि प्रयोग जिस प्रकार से नहीं होते हैं (क्योंकि पण्डित और प्रवीर का वृत्त्येकदेश में पुत्र में अभेद विवक्षित होता है, वृत्त्येकदेश में अभेदान्वय में बाधक होने के

कारण ये प्रयोग नहीं हुआ करते हैं) उसी प्रकार पुत्रादिगोचर (परपुत्रादिविषयक) इच्छावाले पुरुष के लिए भी '**पुत्रीयति**' इत्यादि प्रयोग नहीं होते हैं क्योंकि '**सुप आत्मनः क्यच् पा॰सू॰ 31/1/8**' इत्यादि के द्वारा इच्छा करने वाले का सम्बन्धी जो इच्छा का कर्म तद्बोधक सुबन्त से ही क्यच् और काम्यच् का विधान किया जाता है[1] सम्बन्धित्व का अर्थ यहाँ पर सम्बन्धित्वेन भातत्व है (न कि वास्तविक सम्बन्धित्व) नहीं तो जिस इच्छा करने वाले व्यक्ति का पुत्र असिद्ध है (पुत्र अभी नहीं है) उस व्यक्ति की स्वीयत्वेन पुत्र की इच्छा होने की दशा में '**पुत्रीयति**' इत्यादि प्रयोग जो कि सर्वानुभवसिद्ध है उसकी अनुपपत्ति होने लगेगी। क्योंकि उक्त सूत्र के अनुसार इच्छा करने वाले का सम्बन्धी जो इच्छा कर्म उसको बोधित करनेवाले सुबन्त से क्यच् व काम्यच् का विधान होगा, जब इच्छा करने वाले का सम्बन्धी पुत्र ही नहीं है तो उसका बोधक सुबन्त कहाँ से आयेगा जिससे कि क्यच् काम्यच् विधान हो। जब सम्बन्धि का अर्थ सम्बन्धित्वेन भासमानत्व कर दिया गया तो सम्बन्धित्वेन भासमान (भावी) पुत्र तो है ही जो कि इच्छा कर्म है, तद्बोधक सुबन्त **पुत्रम्** से क्यच् काम्यच् का विधान हो जायेगा।

**उक्तस्थले 'पुत्रीयति' इत्यादिवाक्यस्य प्रामाण्यवारणाय च क्यजाद्यर्थेच्छायां विषयित्वमात्रं न सम्बन्धः किन्तु स्वांशे भासमानसम्बन्धस्य प्रतियोगितया यो विषयस्तादृशपुरुषवृत्तित्वसहितमित्युपेयम्। स्वसम्बन्धस्य क्यजाद्यवाच्यत्वेऽप्युक्तसम्बन्धेनैवेच्छायां सुबन्तार्थस्यान्वय इति व्युत्पत्ति प्रदर्शनायैव सूत्रे "आत्मनः" इत्युपात्तम्। "आत्मनः" इति षष्ठ्यर्थसम्बन्धश्च न "धातोः कर्मणः" इत्यादिसूत्रानुवृत्तायामिच्छायामन्वेति अव्यावर्त्तकत्वादुक्तार्थलाभाप्रयोजकत्वात्, अपितु सुप इत्यर्थे सुबन्तादि त्यत्र। तच्चेच्छाकर्तृसम्बन्धितयेच्छाविषयार्थकम्। एवं च "इच्छाकर्मणः सुबन्तादिच्छाकर्तुरिच्छायाम्' इति वृत्तावपि 'इच्छाकर्तुः सुबन्तात्' इत्येव योजना कार्या यथाश्रुते दर्शितानुपपत्तेरितिध्येयम्।**

उक्त स्थल में (परपुत्रादि विषयक इच्छा रखनेवाले पुरुष के विषय में) '**पुत्रीयति**' इत्यादि वाक्यों के प्रामाण्य का वारण करने के लिए क्यच् आदि के अर्थ इच्छा में विषयित्व मात्र सम्बन्ध नहीं होता है (अभिप्राय यह है कि यदि पुत्रादि का केवल विषयित्व सम्बन्ध से इच्छा में वैशिष्ट्य हो तो, अन्वय हो तो चैत्र को इच्छा हुई कि 'मैत्र को पुत्र होवे' '**मैत्रस्य पुत्रो भवतु**' और इस इच्छा के काल में '**चैत्रः पुत्रीयति**' प्रयोग होने लगेगा व इसका प्रामाण्य होने लगेगा। क्योंकि इस वाक्य से शाब्दबोध अपेक्षित होगा '**पुत्रविषयकेच्छाश्रयश्चैत्रः**' 'पुत्र विषयक इच्छा का आश्रय चैत्र है' यह तो अबाधित है। पुत्रविषयक इच्छा का (विषयत्व सम्बन्ध से पुत्र विशिष्ट इच्छा का) आश्रय तो चैत्र है ही। इसलिए पुत्र का इच्छा में विषयित्वमात्र सम्बन्ध नहीं होता है। किन्तु स्वांश में (पुत्र में) 1. भासमान सम्बन्ध का प्रतियोगितया जो विषय तादृशपुरुषवृत्तित्व सहित विषयित्व का इच्छा में सम्बन्ध होता है। अभिप्राय यह है कि क्यजाद्यन्त का अर्थ पुत्रादि (सुबन्तार्थ) विशिष्ट

1. इसीलिए वृत्तिकार ने कहा है कि 'इषितृसम्बन्धिनः सुबन्तादिच्छायामर्थे क्यच् प्रत्ययो वा स्यात्' द्रष्टव्य सिद्धान्तकौमुदी 'सुप आत्मनः क्यच्' सूत्र वृत्ति

इच्छा होती है। इच्छा में सुबन्तार्थ पुत्रादि का वैशिष्ट्य विषयित्व, स्वांशे भासमान सम्बन्ध प्रतियोगिपुरुषवृत्तित्व इन दोनों सम्बन्धों से लेना है। जब चैत्र की इच्छा हो रही है कि **'मदीयः पुत्रो भवतु'** 'मेरा पुत्र होवे' तब **पुत्रीयति** प्रयोग होता है क्योंकि **पुत्रीयति** का प्रकृतिभूत सम्बन्ध **पुत्रम्** के अर्थ पुत्र का इस इच्छा में दोनों सम्बन्धो से वैशिष्ट्य है (1) पुत्र विषयक इच्छा होने से विषयिता सम्बन्ध से पुत्र का वैशिष्ट्य इस इच्छा में विद्यमान है। (2) पुत्रांश में इस इच्छा के द्वारा जो स्वत्व सम्बन्ध भासता है वह चैत्र का ही स्वत्व सम्बन्ध मदीय करके भासता है। उस स्वत्व सम्बन्ध का अनुयोगी पुत्र होता है और प्रतियोगी चैत्र। प्रतियोगिभूत चैत्र में ही उपर्युक्त इच्छा रह रही है। इस कारण पुत्र का स्वांशे भासमानसम्बन्धप्रतियोगिपुरुषवृत्तित्व सम्बन्ध से उक्त इच्छा में वैशिष्ट्य विद्यमान है। अतः उक्त प्रयोग होता है, तथा शाब्दबोध होता है कि– **'उक्तोभयसम्बन्धेन पुत्र विशिष्टेच्छाश्रयश्चैत्रः'** 'उक्त दोनों सम्बन्धों से पुत्र विशिष्ट इच्छा का आश्रय चैत्र है'। जब चैत्र की इच्छा है **'मैत्रस्य पुत्रो भवतु'** तो दूसरे सम्बन्ध से इच्छा में पुत्र का वैशिष्ट्य नहीं है क्योंकि पुत्रांश में जो स्वत्व सम्बन्ध भासता है उस सम्बन्ध का प्रतियोगि मैत्र होता है न कि चैत्र। अतः चैत्र के लिए उस इच्छा की दशा में **'चैत्रः पुत्रीयति'** प्रयोग नहीं होता है।

स्व सम्बन्ध (पुत्र सम्बन्ध) के क्यच् आदि से वाच्य न होने पर भी उक्त सम्बन्ध से ही (दोनों सम्बन्धों से ही) इच्छा में सुबन्तार्थ का अन्वय हुआ करता है इसी व्युत्पत्ति का प्रदर्शन करने के लिए ही सूत्र में **'आत्मनः'** पद दिया गया है। **'आत्मनः'** इस षष्ठ्यर्थ सम्बन्ध का **'धातोः कर्मणः समानकर्तृकादिच्छायां वा पा॰सू॰3/1/7'** इस सूत्र से अनुवृत्त इच्छा में अन्वय नहीं होता है क्योंकि इच्छा में आत्मसम्बन्ध का अन्वय करने से वह अव्यावर्तक होगा और उक्तार्थलाभ नहीं होगा अपितु **सुपः** इसके अर्थ सुबन्त में आत्मसम्बन्ध का अन्वय होता है। अभिप्राय यह है कि आत्मसम्बन्ध रूप **'आत्मनः'** के अर्थ का अन्वय यदि इच्छा में किया जाये तो उससे **'मैत्रस्य पुत्रो भवतु'** इस प्रकार की चैत्र की इच्छा होने पर **'पुत्रीयति चैत्रः'** प्रयोग होने की आपत्ति पूर्ववत् होगी क्योंकि उक्त इच्छा आत्मवृत्ति तो है ही और विशेषण का प्रयोजन तो व्यावृत्ति ही होता है । यदि वह व्यावर्त्तक नहीं है तो उस विशेषण को देने की कोई जरूरत नहीं है। उक्तार्थ लाभ में वह प्रयोजक तो है ही नहीं। इसलिए आत्मसम्बन्ध रूप **आत्मनः** के अर्थ का अन्वय इच्छा में विशेषणविधया नहीं होता है।

उक्त आत्मसम्बन्ध इच्छाकर्तृसम्बन्धितया इच्छा विषयार्थक है। (अर्थात् आत्मसम्बन्ध का अर्थ इच्छा कर्तृसम्बन्धितया विषयत्व है) इस प्रकार **'इच्छाकर्मणः सुबन्तादिच्छाकर्तुः इच्छायाम्'** इस प्रकार की उक्त सूत्रीय वृत्ति में भी **'इच्छाकर्तुः सुबन्तात्'** इस प्रकार से योजना कर लेनी चाहिए क्योंकि जैसी वृत्ति बतायी जाती है उसमें अनुपपत्ति दिखायी जा चुकी है। इसे ध्यान में रखना चाहिए। सुबन्त में (सुबन्तार्थ में ) इच्छा कर्ता का सम्बन्ध इच्छाकर्तृसम्बन्धितया इच्छाविषयत्व रूप ही है।

**'भृत्यं पुत्रीयति' इत्यादावाचारार्थविहितक्यजन्तस्य सकर्मकत्वं युज्यत एव, तथाहि तमिवाचरत्यर्थे उपमानवाचिनः क्यच् विहितः, 'तमिवाचरति' इत्यस्य 'तत्तुल्यं जानाति' इत्यर्थः– आचारपदस्य व्यवहार मूलज्ञानपरत्वात्।**

**तुल्यतया ज्ञानं क्यजर्थस्तच्च सकर्मकमेव, तत्र तुल्यत्वे प्रतियोगितया पुत्रादेरन्वयः। पुत्रदिपदमेव वा गौण्या पुत्रादितुल्यपरम् , ज्ञानमात्रं क्यजर्थस्तत्र च स्वाभेदावगाहित्वसम्बन्धेन पुत्रादितुल्यस्यान्वयः।**

**'भृत्यं पुत्रीयति'** 'भृत्य को पुत्र मानता है[1]' इत्यादि स्थलों में आचारार्थ में विहित क्यच्प्रत्ययान्त का सकर्मकत्व तो युक्त ही है क्योंकि **'तमिवाचरति'** 'उसकी तरह आचरण कर रहा है' इस अर्थ में उपमानवाची से क्यच् प्रत्यय का विधान किया गया है। **'तमिवाचरति'** 'उसकी तरह आचरण कर रहा है' इसका **'तत्तुल्यं जानाति'** 'उसके समान जानता है' यह अर्थ है क्योंकि आचारपद व्यवहारमूलज्ञान (व्यवहार कारणीभूत ज्ञान) परक है। (क्योंकि सभी व्यवहारों का कारण ज्ञान ही हुआ करता है[2]) तुल्यतया ज्ञान ही क्यच् (आचारार्थक क्यच् ) का अर्थ है वह तो सकर्मक ही होता है। (ज्ञान का कर्म विषय ही होता है और ज्ञान कभी भी निर्विषयक नहीं हो सकता है सविषयक ही होता है। अतः तुल्यतया ज्ञान सकर्मक ही होगा) उस तुल्यत्व में प्रतियोगितया पुत्र आदि का अन्वय होता है। अथवा पुत्रादि पद ही गौणवृत्ति (सादृश्याधारित लक्षणा वृत्ति) से पुत्रादितुल्यपरक है। ज्ञानमात्र ही क्यच् का अर्थ है और उसमें स्वाभेदावगाहित्वसम्बन्ध से पुत्रादितुल्य का अन्वय होता है।

आचारार्थक क्यच् प्रत्यय के अर्थ के विषय में दो मत यहाँ पर उठाये गये हैं। (1) आचारार्थक क्यच् का अर्थ तुल्यतया ज्ञान है। उसमें तुल्यत्वरूप पदार्थैकदेश में पुत्र का अन्वय हुआ करता है। इस प्रकार पुत्रादितुल्यतया जिसका (भृत्यादि का) ज्ञान हो रहा होगा वही आचारार्थक क्यच्प्रत्ययान्त का कर्म होगा। (2) आचारार्थक क्यच् का अर्थ ज्ञान है। इस मत में पुत्रपद लक्षणा से पुत्रतुल्यार्थक है, ज्ञान में स्वाभेदावगाहित्व सम्बन्ध से पुत्रादितुल्य का अन्वय हुआ करता है।

**न चैवं पुत्रादिपदमुपमेयार्थकमेव न तूपमानार्थकमिति कथं "उपमानादाचारे" इत्यनेन तदुत्तरं क्यचो विधानं सङ्गच्छते इति वाच्यम् , पुत्रादिपदस्य तुल्यार्थकत्वेऽपि तुल्यत्वप्रतियोगितयोपमानपुत्राद्यर्थकत्वात्, अत एव तस्य कर्मवाचकत्वं पुत्रादितुल्यस्याचारकर्मत्वात् सम्यगुपपद्यते । पूर्वमते उपमानपदस्य कर्मवाचकत्वमाचारकर्मविशेषणतुल्यताप्रतियोगि-बोधकत्वरूपं बोध्यम् ।**

यदि पूँछो कि इस प्रकार से (उपर्युक्त द्वितीय मत में) पुत्रादिपद उपमेयार्थक ही होगा उपमानार्थक नहीं होगा (क्योंकि पुत्रपद का अर्थ पुत्रतुल्य हुआ। पुत्रतुल्य कौन है? भृत्यादि हैं वे तो उपमान है नहीं उपमेय हैं। इसलिए पुत्रादि पद उपमानार्थक नहीं होंगे। यदि पुत्र पद पुत्रवाचक होता तब तो पुत्रपदार्थ पुत्र के भृत्य का उपमान होने के कारण पुत्रादिपद उपमानार्थक हो सकते थे। अब तो पुत्रपद पुत्रतुल्यार्थक है, पुत्रतुल्य तो भृत्यादि ही है, अतः पुत्रपद उपमेय भृत्यार्थक ही होगा) यदि पुत्र आदि पद उपमानार्थक नहीं होंगे तो **"उपमानादाचारे पा॰सू॰3/1/10"** इस सूत्र के द्वारा उपमानवाचक पुत्रादिपदों के बाद क्यच् का विधान सङ्गत कैसे होगा?

1. उपमानादाचारे पा॰सू॰ 3/1 /10 सूत्र के द्वारा आचार अर्थ में यहाँ पर भृत्य के उपमानवाची पुत्र शब्द से क्यच् प्रत्यय किया जाता है।
2. सर्वव्यवहारहेतु र्बुद्धिर्ज्ञानम् । तर्कसंग्रह ज्ञानलक्षण

तो ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि पुत्रादि पदों के लक्षणा से पुत्रादितुल्यार्थक होने पर भी तुल्यत्व प्रतियोगी होने के कारण उपमानपुत्राद्यर्थकत्व होता है। अभिप्राय यह है कि पुत्रतुल्यार्थकत्व और तुल्यत्वप्रतियोगितया पुत्रार्थकत्व दोनों एक ही चीजें हैं, इस कारण पुत्र पद के पुत्रतुल्यार्थक होने पर भी तुल्यत्व प्रतियोगितया पुत्रार्थक होने के कारण पुत्रपद का उपमानार्थकत्व होता ही है। इसीलिए उसका पुत्र का पुत्रादितुल्य के आचार का कर्म होने के कारण कर्मवाचकत्व भलीभाँति उपपन्न होता है। पूर्वमत में उपमान पद का कर्मवाचकत्व आचारकर्मविशेषणतुल्यताप्रतियोगिबोधकत्व रूप है ऐसा समझना चाहिए।

आचारार्थक क्यच् के अर्थ के विषय में जो दो मत दिखाया गया था कि (1) क्यच् का अर्थ तुल्यतया ज्ञान है (2) क्यच् का अर्थ ज्ञान है। इनमें से जो द्वितीय मत है उसमें पुत्रादिपद की पुत्रतुल्यादि में लक्षणा हो जाती है। और ज्ञान में पुत्रतुल्य का स्वाभेदावगाहित्व सम्बन्ध से अन्वय होता है। इस प्रकार **'भृत्यं पुत्रीयति चैत्रः'** से **'भृत्यविषयिताक पुत्रतुल्यज्ञानाश्रयश्चैत्रः'** 'भृत्यविषयिताक पुत्रतुल्यज्ञान का आश्रय चैत्र है' इस प्रकार का शाब्दबोध होता है। इसमें चैत्र का जो ज्ञान है उस ज्ञान में पुत्रतुल्य भृत्यविषय हो रहा है, इस कारण पुत्रतुल्य की ज्ञानविषयतारूपा कर्मता स्पष्ट ही है। पुत्रतुल्य का वाचक तो पुत्र पद ही है। अतः पुत्रपद की स्पष्ट ही कर्मवाचकता है। प्रथममत में पुत्रपद में आचारकर्म (ज्ञानकर्म) भृत्य का विशेषण जो तुल्यता उस का प्रतियोगी पुत्र का वाचकत्व है यही पुत्रपद का कर्मवाचकत्व है। कर्मवाचक न होने पर पुत्र पद से क्यच् ही सम्भव नहीं होता। क्योंकि उस सूत्र के द्वारा यही अर्थ बोधित होता है कि 'उपमानभूतकर्मबोधक सुबन्त से आचार अर्थ में क्यच् होता है[1]'। इस कारण पुत्रादि पदों का कर्मवाचक होना आवश्यक है।

**वस्तुतः 'पुत्रमिवाचरति' इत्यस्य पुत्रं यथा व्यवहरति तथा व्यवहरतीत्येवार्थः, व्यवहारश्च प्रतिपाल्यत्वदिना ज्ञानप्रतिपालनादिरूपो व्यवहारो वा, एवं 'पुत्रीयति' इत्यस्य पुत्रकर्मकव्यवहारतुल्यव्यवहारकर्तेत्यर्थः। मुखचन्द्रादेर्यथा स्वजन्याह्लादस्य तुल्यतयोपमानोपमेयभावस्तथा पुत्रभृत्योरपि स्वकर्मकव्यवहारतुल्यतया स इति पुत्रपदस्योपमानवाचिता आचारनिष्ठसादृश्यप्रतियोग्याचारकर्मवाचिता च। आचारसदृशाचार एव क्यचोऽर्थः, प्रथमाचारे कर्मतासम्बन्धेन पुत्रादेरन्वयः– अमाद्यन्तात् क्यच्प्रत्ययविधानेऽपि धात्ववयवतया लुप्तस्यामादेर्नियमेनानुपस्थितेः कर्मत्वस्य सम्बन्धतया भानमुपेयते, यथा 'राजपुरुषः' इत्यादिसमासरूपप्रातिपादिकावयवतया लुप्तषष्ठ्यादिप्रतिसन्धानानियमाद् विभक्त्यन्तार्थविशिष्टे पूर्वपदलक्षणोपेयते। द्वितीये आचारे भृत्यस्य कर्मतया क्यजन्तस्य सकर्मकत्वमिति।**

वस्तुतः **'पुत्रमिवाचरति'** इसका 'पुत्र के प्रति जैसा व्यवहार करता है वैसा व्यवहार करता है' यही अर्थ होता है। व्यवहार का अभिप्राय प्रतिपाल्यत्वादिना ज्ञान प्रतिपालनादि रूप व्यवहार से है। इस प्रकार **'पुत्रीयति'** इसका 'पुत्रकर्मकव्यवहारतुल्यव्यवहार करनेवाला है' यह अर्थ होता है। मुख और चन्द्र आदि का जिस प्रकार से स्वजन्य आह्लाद के तुल्य होने के कारण (दोनों में आह्लादजनकत्व समान होने के कारण) उपमानोपमेयभाव

1. वृत्तिकार का कथन है कि –'उपमानात्कर्मणः सुबन्तादाचारेऽर्थे क्यच्। द्रष्टव्य सि. कौ. 'उपमानादाचारे' सूत्र

होता हैं उसी प्रकार पुत्र और भृत्य में भी स्वकर्मक व्यवहार तुल्य होने के कारण पुत्र और भृत्य में उपमानोपमेय भाव होता है। (पुत्र और भृत्य दोनों के प्रति एक जैसा ही व्यवहार हो रहा है) इस कारण पुत्रपद की उपमानवाचकता होती है (और भृत्यपद की उपमेयवाचकता होती है। जैसे चन्द्रजन्य आह्लाद के समान आह्लाद का जनक होने के कारण मुख को उपमेय और चन्द्र को उपमान कहते हैं, वैसे ही पुत्रकर्मकव्यवहार के समान व्यवहार का कर्म होने के कारण भृत्य को उपमेय और पुत्र को उपमान कहते हैं) साथ ही भृत्यकर्मक आचार निष्ठसादृश्य के प्रतियोगी आचार के कर्म की वाचकता भी पुत्रपद की होती है। (क्योंकि उस आचार का कर्म तो पुत्र ही होता है)। इस प्रकार 'आचारसदृश आचार' आचारार्थक क्यच् का अर्थ होता है। प्रथम आचार में कर्मता सम्बनध से पुत्रादि का अन्वय होता है। यद्यपि क्यच् का विधान अमाद्यन्त **पुत्रम्** आदि से ही किया जाता है (क्योंकि सुबन्त से ही क्यच् के विधान का नियम सूत्र द्वारा विहित है) तथापि धातु का अवयव होने के कारण जिसका लोप हुआ है (धातु का अवयव होने के कारण ही क्यच् प्रत्यय स्थल में अम् का '**सुपो धातुप्रातिपदिकयोः पा॰ सू॰2/4/71**' सूत्र के द्वारा लोप होता है) उस अम् की उपस्थिति नियम से नहीं होने के कारण कर्मत्व का सम्बन्धतया ही भान स्वीकारा जाता है। जैसे कि '**राजपुरुषः**' इत्यादि समासरूप प्रातिपदिक का अवयव होने के कारण जिसका (उक्त सूत्र से) लोप हुआ है उस षष्ठी आदि विभक्तियों के प्रतिसन्धान का नियम नहीं होने के कारण विभक्त्यन्त के अर्थ (**राज्ञः** इस विभक्त्यन्त के अर्थ राजस्वत्व ) से विशिष्ट **राजस्वत्ववत्** (राजसम्बन्धी) में पूर्वपद की लक्षणा स्वीकार की जाती है। द्वितीय आचार में भृत्य के कर्म होने के कारण क्यजन्त की सकर्मकता होती है।

आचारार्थक क्यच् के अर्थ के विषय में दो मतों (1) क्यच् का अर्थ तुल्यतया ज्ञान है (2) क्यच् का अर्थ ज्ञान है की पूर्व में चर्चा की गयी। गदाधर ने **वस्तुतः** प्रतीक के द्वारा अपना सैद्धान्तिक मत स्पष्ट किया कि आचारार्थक क्यच् का अर्थ आचार सदृश आचार है। प्रथम आचार में आकाङ्क्षाभास्य कर्मता सम्बन्ध से पुत्रादि का और द्वितीय आचार में भृत्य का कर्मतया अन्वय होता है। भृत्यपदोत्तर द्वितीया का अर्थ भृत्यनिष्ठ 'कर्मता' होती है। इस प्रकार '**भृत्यं पुत्रीयति चैत्रः**' से '**भृत्यकर्मकः पुत्रकर्मकाचारसदृशो य आचारः तदाश्रयश्चैत्रः**' 'भृत्यकर्मक जो पुत्रकर्मकाचारसदृशाचार उसका आश्रय चैत्र है' ऐसा शाब्दबोध होता है।

इसमें कर्मता का सम्बन्ध विधया भान मानने का कारण यह है कि जैसे **राजपुरुषः** में राजपदोत्तर लुप्तषष्ठी विभक्ति का स्मरण हुए विना भी राज सम्बन्धी से अभिन्न पुरुष विषयक शाब्दबोध होने के कारण राजपद की राजसम्बन्धी में लक्षणा स्वीकार कर लेते हैं और शाब्दबोध का उपपादन करते हैं, सम्बन्धांश को आकाङ्क्षाभास्य ही स्वीकारते हैं। उसी प्रकार यहाँ पर भी **पुत्रीयति** में घटकीभूत पुत्रपदोत्तर अम् विभक्ति का स्मरण हुए विना भी पुत्रकर्मकाचारसदृशाचारविषयक बोध अनुभव सिद्ध है, अतः कर्मता सम्बन्धविधया भासित होता है यही स्वीकारते हैं।

**'कुड्यां प्रासादयति' इत्यादावाधाररूपोपमानवाचिसप्तम्यन्तोत्तर विहितक्यजन्तस्य न सकर्मकता, तत्र च प्रासादाधिकरणकाचारतुल्याचारः क्यजन्तार्थः। स चावस्थानरूप एवेत्यकर्मक एवेति कुड्यास्तत्राधिकरणतया ततः सप्तम्येव । अवस्थानयोः साम्यं चैकजातीयसुखजनकत्वा-**

**दिनाऽविशेषज्ञानविषयत्वेन वा।**

**'कुट्यां प्रासादयति'** 'कुटी को महल मानता है' इत्यादि स्थलों में आधाररूप उपमानवाचक सप्तमी के बाद विहित क्यजन्त[1] की सकर्मकता नहीं होती है, वहाँ पर प्रासादाधिकरणकाचारतुल्याचार क्यजन्त का अर्थ होता है। यह आचार अवस्थान रूप ही है इसलिए अकर्मक ही है (अवस्थान=स्थिति की तो अकर्मकता ही होती है) इस कारण (कुटी के क्यजन्त का कर्म न होने के कारण) उस कुटी के अधिकरण होने से उसके बाद सप्तमी ही होती है। कुटी में अवस्थान और प्रासाद में अवस्थान इन दोनों अवस्थानों का साम्य एकजातीयसुखजनकत्वादि के द्वारा (एक जैसे सुख का जनक होने के कारण) है अथवा अविशेषज्ञानविषयत्वेन (एक समान ज्ञान का विषय होने के कारण ) है।

**'हंस इवाचरति हंसायते-हंसति' इत्यादावुपमानवाचिकर्तृवाचकपदोत्तरविहितक्यङन्तक्विबन्तधातुरप्यकर्मकः–तत्र हंसादिकर्तृकाचारतुल्याचारस्य गमनादिरूपस्य क्यङन्ताद्यर्थत्वेऽपि गम्यादिप्रतिपाद्यतावच्छेदकसंयोगादिरूपफलानवच्छिन्नस्यैव तदर्थत्वोपगमात्। शब्दज्ञानादिरूपविषयकव्यापारात्मकस्याचारस्य क्वचित्तदर्थत्वेपि विषयरूपकर्मावरुद्धस्यैव तस्य तदर्थत्वोपगमात् कर्मावरुद्धस्य च कर्मान्वयनिराकाङ्क्षत्वादिकं स्वयमूह्यम्।**

**'हंस इवाचरति'** 'हंस की तरह आचरण करता है' इस अर्थ में सिद्ध होने वाले **'हंसायते' 'हंसति'** इत्यादि स्थलों में उपमानवाची कर्तृवाचक पद के बाद विहित क्यङन्त व क्विबन्त धातु भी अकर्मक है क्योंकि उसमें (उन प्रयोगों में) हंस कर्तृक आचारतुल्यगमन आदिरूप आचार के क्यङन्तादि का अर्थ होते हुए भी गम्यादिप्रतिपाद्यतावच्छेदक संयोगादि रूप फल से अनवच्छिन्न ही गमन आदि को क्यङन्त आदि का अर्थ स्वीकारते हैं। कहीं पर शब्दज्ञानादिरूप सविषयक व्यापार रूप आचार के भी क्यङन्त आदि का अर्थ होने पर भी विषय रूप कर्म से अवरुद्ध ही तादृशक्यङाद्यन्त का अर्थ स्वीकारा जाता है कर्मावरुद्ध का कर्मान्वय से निराकाङ्क्षत्व आदि स्वयं समझ लेना चाहिए।

**'हंस इवाचरति'** हंस की तरह आचरण कर रहा है' इस अर्थ में **'कर्तुः क्यङ् सलोपश्च पा0 सू0 3।1।11'**[2] सूत्र के द्वारा **हंसः** इस प्रथमान्त से क्यङ् प्रत्यय करके धातुसंज्ञादि के उपरान्त **'अनुदात्तङित आत्मनेपदम् पा0 सू0 1।3।12'** सूत्र के द्वारा आत्मनेपदविधान से **'हंसायते'** की सिद्धि होती है। **'सर्वप्रतिपदिकेभ्यः क्विब् वा वक्तव्यः'** वार्तिक के द्वारा क्विप् प्रत्यय करके धातुसंज्ञादि के अनन्तर **हंसति** कि सिद्धि होती है। **'हंसायते'** में **'हंसाद'** यह क्यङन्त धातु है और **'हंसति'** में **'हंस'** क्विबन्त धातु है। इन दोनों क्यङ् व क्विप् का विधान उपमानवाची कर्तृवाचक पद के बाद किया गया है। इस क्यङन्त व क्विबन्त धातु का अर्थ 'हंसकर्तृक आचार तुल्य आचार' अर्थात् 'हंसकर्तृकगमनादितुल्य गमन' है। गमन सकर्मक ही होता है। अतः क्या हंसकर्तृकगमन

---

1. यहाँ पर अधिकरण से क्यच् का विधान किया गया है तथा क्यज्विधायक है 'अधिकरणाच्चेति वक्तव्यम्' वार्तिक द्रष्टव्य नामधातुप्रकरण 'उपमानादाचारे' सूत्र
2. उपमानात्कर्तुः सुबन्तादाचारे क्यङ् वा स्यात्।

तुल्य गमन भी सकर्मक होगा? इसका उत्तर ग्रन्थकार दे रहे हैं कि नहीं। क्यों? फलावच्छिन्नव्यापार बोधक धातु ही सकर्मक होती है और यहाँ पर जो गमन क्यङाद्यन्त का अर्थ है वह संयोगदि रूपफलानवच्छिन्न ही गमन है। यहाँ पर हंसकर्तृकगगमन के तुल्य जो गमन क्यङ् का अर्थ होता है वह संयोगानुकूल व्यापार' रूप गमन नहीं है बल्कि पादप्रक्षेपरूप गत्यनुकरण रूप ही है। इसकारण क्यङन्त व क्विबन्त की सकर्मकता नही होती है।

अब प्रश्न उठता है कि भई! **'पण्डित इवाचरति'** पण्डित की तरह आचरण कर रहा है' **'पण्डितायते'** और **'विद्वान् इवाचरति'** 'विद्वान् की तरह आचरण कर रहा है **'विद्वायते'** में क्या करोगे? यहाँ पर क्रमशः 'पण्डितकर्तृकाचारसदृशाचार' व 'विद्वत्कर्तृकाचारसदृशाचार' ही क्यङन्त का अर्थ होगा। तथा पण्डित कर्तृक व विद्वत्कर्तृक ज्ञान शब्द प्रयोग आदि ही आचार होंगे यत्सदृशाचार यहाँ पर क्यङन्त का अर्थ होगा। इस प्रकार ज्ञान शब्दप्रयोगादिरूप आचार ही यहाँ क्यङन्तार्थ है जो कि सविषयक ही होता है, शब्द प्रयोग भी सविषयक होता है और ज्ञान भी[1]। ज्ञान व शब्द प्रयोग का कर्मत्व तद्विषयत्व ही है। इस प्रकार इन स्थलों की क्यङन्त धातुओं का सकर्मकत्व तो होना ही चाहिए?

इसका उत्तर यह है कि अगर कर्मान्वय साकाङ्क्ष हो तब तो उसे सकर्मक कहा जाये जैसे ज्ञा धातु को कर्मान्वय की आकाङ्क्षा होती है, जानाति 'जानता है ' प्रयोग होने पर तुरन्त आकाङ्क्षा उठ खड़ी होती है **'कं जानाति?'** किसे जानता है?' इसलिए वह ज्ञा धातु सकर्मक होती है। लेकिन यहाँ पर जो ज्ञान व शब्द प्रयोग क्यङन्त का अर्थ है वह अपनी कुक्षि में ही अपने अन्तर्गत ही विषय को लिये हुए है । इसकारण उसे अलग से कर्म की आकङ्क्षा नहीं होती है और इसीलिए उसकी सकर्मकता भी नहीं है। यहाँ पर पण्डित कर्तृकज्ञानतुल्य ज्ञान का विषय क्या है? यह प्रश्न नहीं उठता है। अतः यह अकर्मक है। ज्ञान मात्र जब धातु का अर्थ होता है तो प्रश्न उठता है ज्ञान का विषय कौन है। अतः ज्ञानमात्रार्थक धातु की सकर्मकता होती है।

**कृत्यर्थकधातुयोग इष्टसाधनत्वादिज्ञानविशेष्यताप्रयोज्यसाध्यताख्य विषयताविशेष एव कर्मत्वं द्वितीयादेरर्थः न तु विषयतामात्रम् - यत्र 'घटं करोति' इति प्रयुज्यते तत्र 'कपालं करोति' 'जलाहरणं करोति' इत्याद्यप्रयोगात्।**

कृत्यर्थक (कृति अर्थ है जिसका ऐसे) धातु का योग होने पर इष्टसाधनत्वादिज्ञान विशेष्यता से प्रयोज्य साध्यता नामक विषयताविशेष रूप ही कर्मत्व द्वितीयादि का अर्थ होता है, न कि विषयता मात्र क्योंकि जहाँ पर **'घटं करोति'** 'घट को करता है' ऐसा प्रयोग किया जाता है वहाँ पर **'कपालं करोति'** 'कपाल को करता है' **'जलाहरणं करोति'** 'जलाहरण करता है' ऐसा प्रयोग नहीं होता है।

कृतिकर्मता कृतिविषयता ही है किन्तु कृत्यर्थक धातु का योग होने पर यदि विषयता को ही कृति कर्मता माने तो जहाँ पर कोई घट को बना रहा है, वहाँ पर जैसे **'घटं करोति'** प्रयोग होता है, उसी प्रकार **'कपालं करोति' 'जलाहरणं करोति'** प्रयोग भी होने लगेगा क्योकि कपाल व जलाहरण में भी कृतिविषयता तो समान ही है। जबकि ऐसा प्रयोग होता नहीं है। अतः इष्टसाधनत्व ज्ञान की विशेष्यता से प्रयोज्य साध्यता रूपा विशेषविषयता ही

1. विषयनिरूपितविषयिताशालित्व ज्ञान का सविषयकत्व है और स्वजन्यज्ञानविषयविषयकत्व शब्द का सविषयकत्व है।

कृत्यर्थक धातु का योग होने पर कर्मत्व है और द्वितीया का अर्थ है। **'घटो मदिष्टसाधनम्'** 'घट मेरा इष्टसाधन है' इस ज्ञान में विशेष्य है घट। इस इष्ट साधनत्व ज्ञान की जो घट में विशेष्यता है उससे प्रयोज्य ही उसमें साध्यताख्या विषयता है। वही विषयता ही द्वितीया का अर्थभूतकर्मत्व है। इस प्रकार **'घटं करोति'** से **'इष्ट साधन त्वादिज्ञानविशेष्यता-प्रयोज्यघटनिष्ठसाध्यतानिरूपककृत्याश्रयः'** 'इष्ट साधनत्वादि ज्ञान विशेष्यता प्रयोज्य जो घटनिष्ठ साध्यता उसकी निरूपिका कृति का आश्रय है' ऐसा शाब्दबोध होता है।

**अथैवम् 'काशान् कटं करोति' 'काष्ठं भस्म करोति' इत्यत्र काशकाष्ठ पदोत्तरद्वितीयानुपपत्तिः- तत्र कृतिनिरूपितोक्तविषयताविरहादिति चेत्? उपदानीयविलक्षणविषयतापि द्वितीयार्थः, साच द्वितीयान्तरोपस्थाप्यसाध्यीय-विषयताविशिष्टायामेव कृतावन्वेति, अतः कटादिरूपकर्मान्तरासमभिव्याहारे 'काशान् करोति' इत्यादयो न प्रयोगाः।**

इस प्रकार से तो (कृत्यर्थक धातु समभिव्याहृत कर्मत्वार्थक द्वितीया का अर्थ इष्टसाधनत्वज्ञानविशेष्यताप्रयोज्यसाध्यताख्य विषयता विशेष मानने पर तो) **'काशान् कटं करोति'** 'काशों को (से) कट (चटाई) बना रहा है' **'काष्ठं भस्म करोति'** 'काष्ठ को भस्म कर रहा है' इन स्थलों में काश और काष्ठ पद के बाद द्वितीया नहीं हो सकेगी (अनुपपन्न होगी) क्योंकि काश और काष्ठ में कृतिनिरूपित उक्त (इष्टसाधनत्व ज्ञान विशेष्यताप्रयोज्यसाध्यताख्य) विषयता नहीं है (काश व काष्ठधर्मिक **'काष्ठं मदिष्ट साधनम्'** 'काष्ठ मेरा इष्ट साधन है' **'काशो मदिष्टसाधनम्'** काश मेरा इष्ट साधन है' इस प्रकार का इष्ट साधनत्व ज्ञान ही न होने के कारण काष्ठ व इष्ट साधनत्व ज्ञानविशेष्यता भी नहीं है और उससे प्रयोज्य साध्यता भी नहीं है, इस कारण उसी साध्यतारूप अर्थ की वाचिका द्वितीया नहीं होनी चाहिए।)

तो (ऐसा नहीं है वहाँ पर उक्त साध्यतार्थक द्वितीया नहीं है अपितु) उपादानीय विलक्षणविषयता भी द्वितीया का अर्थ है अर्थात् उक्त साध्यतार्थक द्वितीया की काश, कष्ठादिपदोत्तर अनुपपत्ति होने पर भी उपादानीयविलक्षणविषयतार्थक द्वितीया की काश काष्ठादि पदोत्तर अनुपपत्ति नहीं है वह तो सम्भव ही है। उपादानीयविलक्षणविषयतारूप द्वितीया का अर्थ दूसरी द्वितीया (कट व भस्म पदोत्तर द्वितीया) से उपस्थात्य साध्यता ख्यविषयता से विशिष्ट कृति में अन्वित होता है। (इस प्रकार **'काशान् कटं करोति'** से **'काशनिष्ठोपादानीयविलक्षणविषतयानिरूपिका इष्टसाधनत्वज्ञानप्रयोज्यकटनिष्ठ-साध्यतानिरूपिका च या कृतिः तदाश्रयः'** 'काशनिष्ठोपादानीयविलक्षणविषयता की निरूपिका और इष्टसाधनत्व ज्ञान से प्रयोज्य कटनिष्ठसाध्यता निरूपिका जो कृति उसका आश्रय है' ऐसा शाब्दबोध होता है) इसी कारण (काश में कटादिनिष्ठ साध्यता से भिन्न कर्मता होने और उसका कटादिनिष्ठसाध्यताविशिष्ट कृति में ही अन्वय होने के कारण) एक आदि कर्म का समभिव्याहार न होने पर **'काशान् करोति'** इत्यादि प्रयोग नहीं होते हैं।

**अथैवमपि 'काष्ठं भस्म करोति' 'दुग्धं दधि करोति' इत्यादौ काष्ठदुग्धादेः कर्मत्वानुपपत्तिः- तस्य भस्मदध्याद्युपादानताविरहात्, काष्ठदुग्धादिना-शानन्तरमेव तदारम्भकपरमाणुभिर्भस्मदध्याद्यारम्भात् उत्पत्त्याश्रयस्यैवोपादा–**

**नत्वनियमाच्च । न च परिणामवादविद्वेषिणां नैयायिकानां कटादे भस्मादिरूपद्रव्यान्तरकारणत्वमपितु प्रतिबन्धकत्वमेव द्रव्यवति द्रव्यान्तरानुत्पत्तेः**

लेकिन ऐसे भी (उपादानीयविलक्षण विषयता को भी द्वितीया का अर्थ मानने पर भी) **'काष्ठं भस्म करोति'** 'काष्ठ को भस्म करता है' **'दुग्धं दधि करोति'** दूध को दही करता है' इत्यादि स्थलों में काष्ठ और दुग्ध आदि के कर्मत्व की अनुपपत्ति होगी क्योंकि काष्ठ और दुग्ध की भस्म व दधि के प्रति उपादानता नहीं है। इसलिए उपादानता नहीं है क्योंकि काष्ठ और दुग्ध के नाश के बाद ही काष्ठ और दुग्ध के आरम्भक परमाणुओं से भस्म व दधि का आरम्भ हुआ करता है और उत्पत्ति के आश्रय का ही उपादानत्व होता है। ऐसा नियम है। परिणामवाद से विद्वेष रखने वाले नैयायिकों के मत में काष्ठ, दुग्ध आदि का भस्म, दधि आदि द्रव्यान्तर के प्रति कारणत्व नहीं ही बन सकता है अपितु द्रव्यवत् में द्रव्यान्तर की उत्पत्ति न होने के कारण द्रव्यान्तर के प्रति प्रतिबन्धकत्व ही होता है।

अभिप्राय यह है कि परिणामवादियों (सांख्य, योग आदियो) के अनुसार भस्म की उपादानता काष्ठ में और दधि की उपादानता दुग्ध में हो सकती है क्योंकि परिणामवाद के अनुसार दुग्ध ही दधि के रूप में परिणत हो जाता है, काष्ठ ही भस्म के रूप में परिणत हो जाता है। अतः दुग्ध व काष्ठ इनकी उत्पत्ति का आश्रय होने के कारण दधि व भस्म के उपादान ही है। किन्तु नैयायिक परिणामवाद को नहीं मानते हैं। इनके मत में विलक्षण तेजः संयोग रूप पाक की महिमा से दुग्ध का द्व्यणुक पर्यन्त (परमाणुमात्र को छोड़कर द्व्यणुक त्रसरेणु आदि सभी) का नाश हो जाता है और उसके बाद दुग्धारम्भक परमाणुओं से द्व्यणुकादिक्रम से दुग्धोत्पत्ति हुआ करती है।[1] इसी प्रकार काष्ठ से भस्मोत्पत्ति भी हुआ करती है। तो इस मत में दुग्ध और दधि में, काष्ठ और भस्म में उपादानोपादेयभाव नहीं बन सकता है क्योंकि इस मत में उपादानोपादेयभाव अवयवावयविभाव रूप ही होता है। इस कारण **'काशान् कटं करोति'** में यह आपत्ति नहीं है क्योंकि काश अवयव है और कट अवयवी इस कारण काश और कट में अवयवावयविभाव विद्यमान है। इसलिए कटोत्पत्ति का आश्रय होने के कारण काश की कटोपादानता सिद्ध है। किन्तु न्यायवैशेषिक सिद्धान्तानुसार काष्ठ और दुग्ध की भस्म व दधि के प्रति उपादानता सम्भव नहीं है। अपितु काष्ठ, दुग्धादि रूप द्रव्याश्रय अवयवों में काष्ठभिन्न, दुग्धभिन्न द्रव्य (द्रव्यान्तर) की उत्पत्ति में काष्ठ और दुग्धादि की प्रतिबन्धकता ही है। नियम है कि द्रव्यवत् में द्रव्यान्तर की उत्पत्ति नहीं होती है। इस प्रकार न्याय वैशेषिक सम्प्रदाय के अनुसार काष्ठ दुग्ध आदि की भस्म, दध्यादि के प्रति उपादानता ही नहीं होने के कारण काष्ठ, दुग्धादिनिष्ठ उपादानीय विलक्षणविषयता का भी बोधन तदुत्तर द्वितीया के द्वारा नहीं हो सकता है। इस कारण इन प्रयोगों की तो अनुपपत्ति होगी।

**इति चेत्?**

**न, कर्म हि त्रिविधं भवति प्राप्यं प्रकृतिविकृती च । तत्र प्राप्यं कर्म**

---

1. यथा गोभुक्ततृणांदीनामापरमाण्वन्तभङ्गे तृणारम्भकपरमाणुषु विजातीयतेजः संयोगात्पूर्वरूपचतुष्टयनाशे तदनन्तरं दुग्धे यादृशं रूपादिकं वर्तते तादृशरूपरसगन्धस्पर्शजनकास्तेजःसंयोगाः जायन्ते । तदुत्तरं तादृशरूपरसादय उत्पद्यन्ते । तादृशरूपरसादिविशिष्टपरमाणुभि; दुग्धद्व्यणुकमारभ्यते, ततस्त्रसरेणुकादि क्रमेण महादुग्धारम्भः एवं दुग्धारम्भकैः परमाणुभिरेव दध्यारभ्यते । न्यायबोधिनी व्याख्या तर्कसंग्रह पृ 29 सन् 1950 भार्गव पुस्तकालय चतुर्थ संस्करण, वाराणसी

**क्रियाजन्यफलशालिगम्यादेर्ग्रामादिः ज्ञानादेर्विषयश्च। क्रियानिष्पाद्यं यत् तद् विकृतिरूपं यथा पाकादेरोदनादि यथा वा कृतेर्माल्यादि कटादि च। प्रथमे तण्डुलादिरूपपूर्वद्रव्यं विनाश्यौदनादेर्निर्वर्तनम् द्वितीये पुष्पादिरूपपूर्वद्रव्यमविनाश्यैव सन्दर्भादिरूपविशेषनिष्पादनेन विशिष्टस्य माल्यादेर्निर्वर्तनम् तृतीये च काशादिरूपपूर्वधर्मिणमविनाश्य तत्रैव कटादिरूपधर्मिनिष्पादनम्, ईदृशञ्च कर्म प्रकृतेरसमभिव्याहारस्थले निर्वर्त्यमुच्यते।**

ऐसा कहो तो?

नहीं कह सकते क्योंकि कर्म तीन प्रकार का हेता है प्राप्य, प्रकृति और विकृति। इसमें प्राप्य कर्म उसे कहते हैं जो क्रियाजन्य फलशाली होता है जैसे गमि आदि क्रियाओं का कर्म ग्राम होता है (क्योंकि गमनक्रियाजन्यसंयोगरूपफल का आश्रय ग्राम होता है) ज्ञानादि का कर्म विषय होता है। विकृतिकर्म उसे कहते हैं जो क्रिया से निष्पाद्य होता है जैसे पाकादि क्रिया का कर्म ओदनादि, जैसे कि कृति का कर्म माल्य आदि व कट आदि। प्रथम में (पाककर्म ओदन स्थल में तण्डुल आदि पूर्वद्रव्य का विनाश होकर ओदन सम्पन्न होता है। द्वितीय में कृति के कर्म माल्यादि में पुष्पादि रूप पूर्वद्रव्य का बग़ैर विनाश किये सन्दर्भादिरूपविशेष के निष्पादन से (एक विशेषक्रम से फूलों को व्यवस्थापित कर देने मात्र से) विशिष्ट माल्य आदि का सम्पादन होता है, माला बन जाती है। तीसरे में कृतिकर्म कटादि में भी काश आदि पूर्व द्रव्य का बग़ैर विनाश किये ही कट आदि रूप धर्मी का निष्पादन होता है, इस प्रकार का कर्म ही प्रकृति के असमभिव्याहार स्थल में निवर्त्य कहा जाता है।

यहाँ पर गदाधर ने कर्म के तीन भेद होते हैं ऐसा उपपादन किया है। 1. प्राप्यकर्म 2. प्रकृतिकर्म 3. विकृतिकर्म। 1. प्रप्य कर्म उसे कहा जाता है जो क्रिया से जन्य फल शाली हुआ करता है। इसका आशय यह है कि जो क्रिया से जन्य फल का आश्रय हुआ करता है किन्तु क्रिया के द्वारा उसमें कोई वैशिष्ट्य गम्यमान नहीं होता है क्रिया द्वारा किसी विशेष की सिद्धि जहाँ पर गम्यमान नहीं होता है। उसे प्राप्य कर्म कहते है। इस विषय में एक उक्ति उद्धृत की जाती है—

**'क्रियाकृतविशेषाणां सिद्धिर्यत्र न गम्यते।**
**दर्शनादनुमानाद्वा तत्प्राप्यमिति कथ्यते॥'**

इसका उदाहरण है गमि क्रिया का कर्म ग्रामादि, ज्ञानादि क्रिया का कर्म तद्विषय इत्यादि। द्वितीय क्रमप्राप्त प्रकृतिकर्म के विषय में अभी न बताकर आगे बतायेंगे उसके पूर्व विकृतिकर्म के विषय में बतला रहे हैं। 3. जो क्रिया से निष्पाद्य होता है, जिसमें क्रिया के द्वारा किसी विशेष की सिद्धि गम्यमान होती है वह विकृतिकर्म कहा जाता है। जैसे कि पाकक्रिया का कर्म ओदन, पाक क्रिया के द्वारा तण्डुल के पूर्व रूप का विनाश और ओदन रूप विशेष की सिद्धि गम्यमान होती है। कृति के द्वारा माला व कट (चटाई) के निष्पादन में यद्यपि पुष्प और काश में कोई परिवर्तन नहीं नज़र में आता है, किन्तु सन्दर्भादिरूपविशेष का निष्पादन तो हुआ ही करता है। तभी तो पुष्प समूह की माला संज्ञा और काश समूह की कट संज्ञा न होने पर भी सन्दर्भविशेष व क्रमविशेष में व्यवस्थापित पुष्पों और काशों की क्रमशः

माला व कट संज्ञा हुआ करती है। इस कारण पाकक्रिया का विकृतिरूपकर्म ओदन और कृति क्रिया के माला व कट विकृति कर्म होते हैं। इसी विकृतिकर्म को ही प्रकृति का समभिव्याहार (तण्डुल, पुष्प, काश आदि का समभिव्याहार) न होने पर निर्वर्त्य कर्म भी कहते है।

**'तण्डुलानोदनं पचति' 'कुसुमानि स्त्रजं करोति' 'काशान् कटं करोति' इत्यादौ प्रकृतिसमभिव्याहारस्थलेऽपि 'निर्वर्त्यते निष्पाद्यते यत्' इति व्युत्पत्त्या यद्यप्योदनादेरपि निर्वर्त्यताऽस्ति तथापि तद्व्यावृत्तमेव पारिभाषिकं निर्वर्त्यत्वम्, तदुक्तमभियुक्तैः–**

"सती वाऽविद्यमाना वा प्रकृतिः परिणामिनी ।
यस्य नाश्रीयते तस्य निर्वर्त्यत्वं प्रचक्षते ॥"

**यस्य = विकृतिकर्मणः, नाश्रीयते = न प्रयुज्यत इत्यर्थः। एवं च तत्रौदनादेर्विकार्यकर्मण्येवान्तर्भावः। तदुक्तम् -**

**"यदसज्जायते पूर्वं जन्मना यत्प्रकाश्यते ।
तन्निर्वर्त्यं विकार्यं तु कर्म द्वेधा व्यवस्थितम् ॥
प्रकृत्युच्छेदसम्भूतं किञ्चिद्काष्ठादिभस्मवत् ।
किञ्चिद् गुणान्तरोत्पत्त्या सुवर्णादिविकारवत् ॥" इति।**

**'तण्डुलान् ओदनं पचति'** 'तण्डुल को भात बनाता है' **'कुसुमानि स्त्रजं करोति'** 'फूलों को माला बनाता है' **'काशान् कटं करोति'** 'काशों को चटाई बनाता है' इत्यादि प्रकृति समभिव्याहार स्थलों में भी (यहाँ पर क्रमशः तण्डुल, कुसुम और काशरूप प्रकृतिओं का समभिव्याहार विद्यमान है और पूर्व में कह चुके हैं कि विकृतिकर्म को प्रकृति का समभिव्याहार न होने की स्थिति में निर्वर्त्य कर्म कहते हैं। किन्तु समभिव्याहार स्थलों में भी) **'निर्वर्त्यते निष्पाद्यते यत्'** जो निर्वर्तित किया जाता है, निष्पादित किया जाता है उसे निर्वर्त्य कहते हैं, निर्वर्त्यपद का यही व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है। इस व्युत्पत्ति से यद्यपि ओदन आदि की निर्वर्त्यता है तथापि उससे व्यावृत्त पारिभाषिक ही निर्वर्त्यत्व है। (इसीलिए व्युत्पत्ति से उसकी निर्वर्त्यता होने पर भी उसको ओदन, स्त्रक्, कट आदि को उपर्युक्त प्रकृतिसमभिव्याहारस्थलों में निर्वर्त्य नहीं कहा जाता है) अभियुक्तों के द्वारा (सुविज्ञों के द्वारा) कहा गया है कि **"सती - प्रचक्षते" यस्य** का अर्थ है विकृतिकर्म की, **नाश्रीयते** का अर्थ है प्रयोग नहीं किया जाता है। इस कारिका का अर्थ है कि- जिस विकृति कर्म की विद्यमान परिणामिनी अविद्यमान परिणामिनी प्रकृति प्रयुक्त नहीं होती है उसी को निर्वर्त्य कर्म कहा जाता है। ओदन की परिणामिनी प्रकृति तण्डुलरूपा प्रकृति ओदनावस्था में विद्यमान नहीं रहती है, माल्य कट आदि की परिणामिनी पुष्प, काश आदि रूपा प्रकृति माल्य, कट आदि की अवस्था में विद्यमान रही है। परन्तु इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता है यदि तण्डुल, पुष्प काश आदि का प्रयोग नहीं किया गया है तो ओदन, स्त्रक्, कट आदि को निर्वर्त्य कर्म कहेंगे। इस प्रकार उन-उन स्थलों में ओदन आदि का अन्तर्भाव विकार्य कर्म में ही होता है। कहा भी गया है कि **"यदसज्जायते ··· सुवर्णादिविकारवत्"** इसका अभिप्राय है कि- जो पूर्व में असत् रहता है, जन्म से ही प्रकाशित होता है उसे ही निर्वर्त्य कहते हैं। वह विकार्य (निर्वर्त्यरूप) कर्म दो प्रकार से व्यवस्थित है-कोई विकार्य

कर्म प्रकृति के उच्छेद से उत्पन्न काष्ठादिभस्म की तरह होता है, कोई विकार्य कर्म गुणान्तर की उत्पत्ति से सुवर्णादि विकार की तरह हुआ करता है। इस श्लोकद्वय का आशय यह है कि जो पूर्व में असत् रहता है, (नैयायिकों का सिद्धान्त असत्कार्यवाद ही कहा जाता है, **'असदेवोत्पद्यते'** असत् की ही उत्पत्ति होती है) और जन्य सं प्रकाशित होता है उसे ही निर्वर्त्य या विकार्य कर्म कहते हैं। इस प्रकार वस्तुतः विकार्य और निर्वर्त्य कर्म एक ही है किन्तु कुछेक विद्वानों के अनुसार परिभाषिक संज्ञाभेद मात्र है। वह विकार्य कर्म दो प्रकार का होता है कोई विकार्य कर्म प्रकृति के उच्छेद से उत्पन्न होता है जैसे कि काष्ठ के उच्छेद से भस्म, कोई विकार्य कर्म प्रकृति को उच्छिन्न किये विना गुणान्तर की उत्पत्ति से उत्पत्ति से उत्पन्न होता है जैसे कि सुवर्णात्मक प्रकृति को उच्छिन्न किये विना ही गुणान्तर (आकृतिविशेष) की उत्पत्ति से कुण्डलादि विकार उत्पन्न हो जाते है।

**अत्र प्रकृतिरपि ग्राह्या, अन्यथा काष्ठसुवर्णादेस्तुरीयतापत्तेः। विकार्यपदे नैकव्युत्पत्त्या प्रकृतिविकृत्युभयाबोधनेऽप्युभसाधारणरूपावच्छिन्ने पारिभाषिकमेव विकार्यपदम् ।**

यहाँ पर (उक्त श्लोकों में) प्रकृति का भी ग्रहण करना चाहिए, अन्यथा काष्ठ, सुवर्ण आदि की तुरीयता की आपत्ति होगा। विकार्य पद से एक व्युत्पत्ति से यद्यपि प्रकृति और विकृति दोनों का बोधन सम्भव नहीं है किन्तु उभयसाधारण रूप से अवच्छिन्न में पारिभाषिक ही विकार्य पद है।

इस ग्रन्थ की सङ्गति और प्रसङ्ग यह है कि गदाधर जो कर्म के तीन भेद बतला रहे हैं 1. प्राप्य 2. विकार्य 3. प्रकृति। जिनका उद्धरण श्लोक के द्वारा दिया गया उसमें यह बताया गया कि विकार्य कर्म दो प्रकार का होता है। इस प्रकार प्रश्न यह उठता है कि इस प्रकार से तो प्रकृति कर्म जो काष्ठ, सुवर्ण आदि है वे तो चौथे कर्म होने लगेंगे क्योंकि 1. प्राप्य कर्म 2. भस्मादि 3. सुवर्णादिविकारात्मक विकार्य कर्म क्योंकि विकार्य कर्म के दो भेद हैं, 4. प्रकृतिकर्म काष्ठ सुवर्णादि रूप। जबकि गदाधर ने कर्म का त्रैविध्य ही प्रतिपादित किया है। इसका समाधान यह है कि उक्त श्लोकों में जिस के द्वारा कर्म के भेद बताये गये हैं। वहाँ विकार्य पद से विकृति और प्रकृति दोनों को लिया जाता है। इस प्रकार प्राप्य, विकृति व प्रकृति ये तीन ही कर्म होते हैं। कर्मों का त्रैविध्य ही है। काष्ठ सुवर्णादि का प्रकृति रूप तीसरे भेद में अन्तर्भाव हो जाता है। विकार्यपद की व्युत्पत्ति से प्रकृति से प्रकृति और विकृति दोनों का बोधन सम्भव है **'विकार्यते यत् तत् विकार्यम् = विकृतिः'** और **'विकार्यते यस्मिन् तत् विकार्यम् = प्रकृतिः'** । किन्तु एकव्युत्पत्ति से प्रकृति और विकृति का बोधन सम्भव नहीं है। फिर ऐसी परिस्थिति में तो विकार्य प्रकृति और विकृति दो भेद करना असङ्गत ही है? इसलिए गदाधर कह रहे हैं कि उभयसाधारण प्रकृतिविकृतिसाधारण जो प्राप्यभिन्नकर्मत्व उससे अवच्छिन्न में विकार्यपद पारिभाषिक है।

**प्रकृतिरूपं कर्म च क्रियया वस्त्वन्तरनिष्पत्तये पूर्वभावविशिष्टस्य यस्यासत्त्वरूपो विकारो निर्वाह्यते तद्यथा पाकादेस्तण्डुलादिकृतेश्च पुष्प काशादि, तत्र प्रथमस्थले तण्डुलादिरूपधर्मिनाशादेव पूर्वभावविशिष्टतद-सत्त्वमोदनादिरूपकर्मान्तरनिष्पादकम् इतरत्र धर्मिणः काशकुसुमादेः सत्त्वेपि**

**कटसन्दर्भादिविरहरूपपूर्वभावासत्त्वेन तद्विशिष्टस्यासत्त्वं कटसन्दर्भादि-निष्पादकक्रियातो निर्वहति।**

प्रकृतिरूप (द्वितीय भेद) कर्म वह होता है, क्रिया से वस्त्वन्तर (दूसरी वस्तु) की निष्पत्ति के लिए पूर्वभाव से विशिष्ट जिसका असत्त्वरूप विकार निर्वाहित होता है। अर्थात् दूसरी वस्तु की निष्पत्ति के लिए पूर्वभाव से विशिष्ट जिस वस्तु का असत्त्व रूप विकार सम्पादित होता है उस वस्तु को प्रकृति कर्म कहते हैं। जैसे पाकादि का तण्डुल आदि और कृति का पुष्प काशादि। उसमें प्रथमस्थल में **'तण्डुलानोदनं पचति'** यहाँ पर, जहाँ पर कि तण्डुल पाकक्रिया का प्रकृतिकर्म होता है, तण्डुल आदि रूप जो पूर्व धर्मी उसके नाश से ही पूर्वभावविशिष्ट तण्डुल का असत्त्व ओदन आदि रूप कर्मान्तर का (विकृति कर्म का) निष्पादक होता है। (इस तरह ओदन की निष्पत्ति के लिए पूर्वभाव से विशिष्ट तण्डुल का असत्त्व रूप विकार ही पाक क्रिया से निर्वाह्य होता है, इसलिए तण्डुल पाकक्रिया का प्रकृतिकर्म है) अन्यत्र **'कुसुमामि स्त्रजं करोति' 'काशान् कटं करोति'** इत्यादि स्थलों में धर्मी (स्त्रक् व कट के धर्मी) कुसुम व काश के रहने पर भी (उनका असत्तव सम्भवन होने पर भी) कटसन्दर्भ, स्त्रक्सन्दर्भ आदि का विरह रूप जो पूर्वभाव (कट व माल्योत्पत्ति के पूर्व कटसन्दर्भ विरह काश में रहता है और स्त्रक्सन्दर्भविरह कुसुम में रहता है, वही पुष्प व काश का पूर्व भाव है) उसका असत्त्व होने के कारण स्त्रक्सन्दर्भविरह (रूप पूर्वभाव) विशिष्ट कुसुम का और कटसन्दर्भविरहविशिष्ट काश का असत्त्व तो स्त्रक्सन्दर्भ व कटसन्दर्भादि निष्पादक क्रिया के द्वारा निर्वहित (निर्वाह्य) ही होता है (इसलिए यहाँ पर भी स्त्रक्सन्दर्भविरहविशिष्ट कुसुम का असत्त्व कृति के द्वारा निर्वाह्य होता है, अतः कुकुम का प्रकृति कर्मत्व होता है और कटसन्दर्भ विरहविशिष्ट काश का असत्त्व कृति के द्वारा निर्वाह्य होता है, अतः कट का प्रकृतिकर्मत्व होता है।

**विमर्श-** गदाधर ने यहाँ पर पूर्वभावविशिष्ट का अभाव लिया है, अर्थात् विशिष्टाभाव को लिया है। इसके लिए विशिष्टाभाव को समझ लेना चाहिए। विशिष्टाभाव तीन प्रकार से प्राप्त होता है 1. विशेषणाभाव प्रयुक्त विशिष्टाभाव 2. विशेष्याभावप्रयुक्त विशिष्टाभाव 3. उभयाभावप्रयुक्तविशिष्टाभाव। अभिप्राय यह कि विशेषण न रहने पर, विशेष्य न रहने पर व विशेष्यविशेषण दोनों न रहने पर इन तीन स्थितियों में विशिष्टाभाव आता है। जैसे पट विशिष्ट घट का अभाव तीन स्थितियों में मिलेगा 1. पट न रहे तो पटविशिष्टघट का अभाव रहेगा 2. घट न रहे तो रहेगा 3. पट और घट दोनों ही नहीं रहे तो मिलेगा। यहाँ पर गदाधर ने पूर्वभावविशिष्ट जिस तण्डुलादि धर्मी का असत्त्व क्रिया से निर्वाह्य होगा उसे प्रकृतिकर्म कहेंगे। यदि पूर्वभाव ही न रहा तो पूर्वभाव विशिष्ट धर्मी का असत्त्व प्राप्त हो जायेगा। यदि धर्मी ही न रहा तो पूर्वभाव विशिष्ट धर्मी का असत्त्व प्राप्त हो जायेगा। प्रथम में विशेषणासत्त्वप्रयुक्त विशिष्टासत्त्व होगा और द्वितीय में उभयासत्त्व प्रयुक्त क्योंकि धर्मी तण्डुल भी नहीं रहा और उसका पूर्वभाव भी। इस प्रकार यहाँ पर विशेषणासत्त्वप्रयुक्त व उभयासत्त्वप्रयुक्त विशिष्टासत्त्व प्राप्त होगा जहाँ पर प्रकृतिकर्मता सम्भव होगी। विशेष्यासत्त्वप्रयुक्त विशिष्टासत्त्व की प्राप्ति तो नहीं सम्भव है।

**एवञ्च 'तण्डुलानोदनं पचति' इत्यादौ प्रकृतिकर्मोत्तरद्वितीयाया**

**नाशकत्वमर्थः, तण्डुलाद्यन्वितं नाशकत्वञ्च पाकेऽन्वेति' विकृतिकर्मोत्तर द्वितीयायाश्चोत्पादकत्वमर्थ ओदनाद्यन्वितस्य तस्य नाशकत्वविशिष्टे पाकेऽन्वयः। नाशे चोत्पत्तेः प्रयोजकत्वमुद्देश्यतावच्छेदकविधेयभावमहिम्ना नियमतो भासते, अतः पाकस्य तण्डुलाद्यारम्भकसंयोगनाशजनकत्वेऽपि तन्नाशस्य द्रव्यान्तरोत्पत्तौ द्रव्यनाशेनान्यथासिद्धतया प्रयोजकत्वबाधेन 'संयोगमोदनं पचति' इति न प्रयोगः।**

इस प्रकार '**तण्डुलानोदनं पचति**' इत्यादि स्थलों में प्रकृतिकर्मोत्तर तण्डुलादिपदोत्तर द्वितीया का नाशकत्व अर्थ है और तण्डुलादि से अन्वित नाशकत्व पाक में अन्वित होता है। विकृतिकर्मोत्तर ओदनादिपदोत्तर द्वितीया का उत्पादकत्व है और ओदन से अन्वित होकर उसका नाशकत्वविशिष्ट पाक में अन्वय होता है। (इस प्रकार इस वाक्य से '**तण्डुलनाशकत्वविशिष्टो य ओदनोत्पादकत्वविशिष्टः पाकः तदनुकूलकृत्याश्रयः**' 'तण्डुलनाशकत्वविशिष्ट जो ओदनोत्पादकत्वविशिष्ट पाक तदनुकूल कृति का आश्रय है' ऐसा शाब्द बोध होता है) इस शाब्दबोध में नाश में उत्पत्ति का प्रयोजकत्व उद्देश्यतावच्छेदक विधेय भाव की महिमा से नियम से भासता है, इस कारण पाक के तण्डुलारम्भक संयोग का नाशजनक होने पर भी तण्डुलारम्भक संयोग नाश के द्रव्यान्तर की उत्पत्ति में द्रव्यनाश से अन्यथासिद्ध होने के कारण प्रयोजकत्व का बाध होने से '**संयोगमोदनं पचति**' 'संयोग को ओदन बनाता है' ऐसा प्रयोग नहीं होता

अभिप्राय यह है कि उद्देश्यतावच्छेदक में विधेय का प्रयोजकत्व भासित होता है। यही उद्देश्यतावच्छेदक विधेयभाव की महिमा है। (यद्यपि कहीं-कहीं उद्देश्यतावच्छेदक में विधेय का प्रयोजकत्व नहीं भी भासित होता है किन्तु दोनों में कोई सम्बन्ध अवश्य भासता है) जैसे '**गुरुः पूज्यः**' 'गुरु पूज्य होता है' ऐसा कहने पर उद्देश्य है गुरु और पूज्यत्व है विधेय उद्देश्यतावच्छेदक गुरुत्व है। यहाँ पर यह भासित होता है कि गुरुत्व पूज्यत्व का प्रयोजक है। इसी प्रकार '**तण्डुलानोदनं पचति**' से जो शाब्द बोध होता है, उसमें पाक में तण्डुलनाशकत्व भी है और ओदनोत्पादकत्व भी है, इसे यूँ भी कह सकते हैं कि पाक में जनकत्वसम्बन्ध से ओदनोत्पत्ति भी है। किन्तु नाशजनकत्वविशिष्ट पाक में ओदनोतपादकत्व का अन्वय होता है, इस कारण नाश (तण्डुलनाश) उद्देश्यतावच्छेदक और ओदनोपत्ति विधेय बनकर भासती है। इस उद्देश्यतावच्छेदकविधेय भाव की महिमा से तण्डुलनाश में ओदनोत्पत्ति का प्रयोजकत्व भासता है। इस स्थिति में चूँकि तण्डुलनाश ओदनोत्पत्ति का प्रयोजक है तथा शाब्दबोध से वहीं भासता है, इसलिए ऐसा वाक्यप्रयोग होता है। '**संयोगमोदनं पचति**' प्रयोग यदि किया जाये तो संयोगनाशकत्व और ओदनोत्पादकत्व रूप द्वितीयान्तार्थों का अन्वय यद्यपि पाक में सम्भव है, अबाधित है क्योंकि तण्डुलारम्भक संयोग के नाश का जनक पाक है तथापि ऐसा प्रयोग नहीं होता है क्योंकि ऐसा प्रयोग होने पर उद्देश्यतावच्छेदकविधेयभाव की महिमा से तण्डुलारम्भकसंयगनाश में ओदनोत्पत्ति का प्रयोजकत्व भासित होना चाहिए जो कि सम्भव नहीं है। क्यों सम्भव नहीं है? इसलिए कि तण्डुलारम्भकसंयोगनाश ओदनोत्पत्ति का प्रयोजक ही नहीं है। क्योंकि द्रव्यान्तरोत्पत्ति में द्रव्यनाश के प्रयोजक होने के कारण तण्डुलारम्भकसंयोगनाश अन्यथासिद्ध है। इस वज़ह से इस वाक्य से बोध्य अर्थ बाधित होने के कारण ऐसा प्रयोग नहीं होता है।

**वस्तुतस्तु निर्वर्त्यकर्मासमभिव्याहारस्थले 'संयोगं पचति' इति प्रयोगवारणाय संयोगनाशद्वारानाशकत्वमेव द्वितीयार्थो वक्तव्य इति कृतं प्रयोज्यप्रयोजकभावबोधनेन ।**

वस्तुतः तो निर्वर्त्यकर्म के असमभिव्याहारस्थल में **'संयोगं पचति'** 'संयोग पका रहा है' इस प्रकार के प्रयोग का वारण करने के लिए संयोगनाशद्वारा नाशकत्व ही द्वितीया का अर्थ कहना चाहिए (कहना आवश्यक होगा) इसलिए उक्तरीति से प्रयोज्यप्रयोजकभाव बोधन होता है ऐसा कहना व्यर्थ है।

अभिप्राय यह है कि **'संयोगमोदनं पचति'** प्रयोग का वारण तो आपने यह कहकर किया कि ओदनोत्पत्ति का प्रयोजकत्व संयोगनाश में इस वाक्य से जन्य शाब्दबोध द्वारा उद्देश्यतावच्छेदकविधेयभाव की महिमा से भासित होगा जो कि बाधित है। किन्तु जैसे **'तण्डुलं पचति'** प्रयोग होता है उसी प्रकर **'संयोगं पचति'** प्रयोग क्यों नहीं होगा? इस स्थल में आपको **'तण्डुलनाशजनकपाकानुकूलकृतिमान्'** 'तण्डुलनाशजनक पाकानुकूल कृतिवाला है' यही शाब्दबोध उपर्युक्त रीति से स्वीकृत होगा. **'संयोगं पचति'** से भी इस प्रकार का **'संयोगनाशजनकपाकानुकूलकृतिमान्'** 'संयोगनाशजनक पाकानुकूलकृतिवाला है' शाब्दबोध तो अबाधित होने के कारण सम्भव ही है क्योंकि यहाँ पर तो ओदनोत्पत्ति आदि कुछ भी विधेयविधया नहीं ही भास रहा है। इसलिए प्रकृतिकर्मोत्तर द्वितीया का अर्थ संयोग नाश द्वारा नाशजनकत्व ही द्वितीया का अर्थ स्वीकारना पड़ेगा। संयोग का नाशक यद्यपि पाक है किन्तु संयोगनाशद्वारा संयोग का नाशक नहीं है। इसलिए ऐसा प्रयोग वारित हो जायेगा। उद्देश्यतावच्छेदकविधेयभावमहिमा से प्रयोज्यप्रयोजकभाव भासित कराना व्यर्थ है। इससे यह भी ध्वनित होता है कि वस्तुतः हर जगह उद्देश्यतावच्छेदक में विधेय का प्रयोजकत्व नियम से नहीं भासित होता है। जैसे यदि प्रयोग किया जाये कि **'पर्वतो वह्निमान्'** 'पर्वतवह्नि वाला है' तो विधेयभूत वह्नि का प्रयोजकत्व पर्वतत्व रूप उद्देश्यतावच्छेदक में नहीं ही भासता है।

**'तण्डुलमोदनं करोति' 'काष्ठं भस्म करोति' 'दुग्धं दधि करोति' इत्यादावपि प्रकृतिकर्मोत्तरद्वितीयया तन्नाशकत्वं कृतौ प्रत्याय्यते, विकृतिकर्मोत्तर द्वितीयया च विषयताविशेष उत्पादकत्वं वा मिलितमुभयं वा कृतौ बोध्यते। 'काशान् कटं करोति' 'कुसुमानि मौक्तिकानि वा स्रजं करोति' इत्यादौ काशादि-पदोत्तरद्वितीया कृतौ विषयताविशेषमेव बोधयति- काशाद्युच्छेदकतायास्तत्र बाधात् । 'कटम्' इत्यादौ द्वितीयार्थः पूर्ववत् ।**

**'तण्डुलमोदनं करोति'** 'चावल को भात करता है' **'काष्ठं भस्म करोति'** 'काष्ठ को भस्म करता है' **'दुग्धं दधि करोति'** 'दूध को दही करता है' इत्यादिस्थलों में भी प्रकृतिकर्मोत्तर (तण्डुलकाष्ठ, दुग्धादिरूप प्रकृति कर्मोत्तर) द्वितीया के द्वारा भी तन्नाशकत्व ही (तण्डुल, काष्ठ, दुग्धादि नाशकत्व ही) कृति में प्रत्याय्यित बोधित होता है। विकृतिकर्मोत्तर (ओदन, भस्म दधि आदि पदोत्तर) द्वितीया के द्वारा विषयताविशेष अथवा उत्पादकत्व या दोनों मिला हुआ (विषयता विशेष और उत्पादकत्व मिला हुआ) कृति में बोधित होता है। (विषयता विशेष से यहाँ पर 'इष्टसाधनत्वादिज्ञानविशेष्यताप्रयोज्यसाध्यताख्यविषयता' ही

अभीष्ट है) इस प्रकार ग्रन्थ का आशय है कि विकृतिकर्मोत्तर द्वितीया से उक्तसाध्यताख्या विषयता या उत्पादकत्व अथवा दोनों मिले हुए होधित होते हैं। इस तरह उदाहरण के रूप में '**तण्डुलमोदनं करोति**' से '**अवयवसंयोगनाशद्वारातण्डुलनाशजनिका या ओदनोत्पादिका ( अथवा ओदननिष्ठतादृशसाध्यतानिरूपिका अथवा ओदननिष्ठ साध्यतानिरूपकत्वे सत्योदनोत्पादिका ) कृतिः तदाश्रयः**' अवयवसंयोगनाशद्वारा तण्डुलनाशजनक जो ओदनोत्पादक (अथवा ओदननिष्ठतादृशसाध्यतानिरूपक अथवा ओदननिष्ठसाध्यतानिरूपक होते हुए ओदनोत्पादक) कृति उसका आश्रय है' ऐसा शाब्द बोध होगा। बाकी में भी इसी प्रकार समझ लेना चाहिए।

'**काशान् कटं करोति**' काशों को चटाई बना रहा है' '**कुसुमानि मौक्तिकानि वा स्त्रजं करोति**' 'फूलों को या मोतियों को माला बना रहा है' इत्यादिस्थलों में काशदिपदोत्तर द्वितीया कृति में विषयताविशेष (उपादानताख्य विलक्षण विषयता) ही बोधित करती है क्योंकि इन स्थलों में कृति में काश, कुसुम आदि के उच्छेदकत्व का बाध है, कट दशा में व माला दशा में भी काश और कुसुम, मुक्ता आदि विद्यमान ही रहा करते हैं विनष्ट नहीं होते हैं। '**कटम्**' इत्यादि में द्वितीया का अर्थ पूर्ववत् (उत्पादकत्व या तादृशसाध्यताख्यविषयताविशेष अथवा दोनों) ही है। विकृतिकर्मोत्तर द्वितीया का अर्थ अपरिवर्तित ही है।

**स्त्रगादिपदार्थविन्यासविशेषविशिष्टकुसुमादेर्न कुसुमाद्युपादानककृति विषयता, अपि तु विन्यासादिरूपविशेषणस्यैव, तस्यैव कृत्यधीनोत्पत्तिरिति स्त्रजमित्यादिद्वितीयान्तस्य विशिष्टसत्त्वनिर्वाहकत्वमर्थः, विशेषणोत्पादकस्यापि स्वरूपसम्बन्धविशेषरूपं विशिष्टसत्त्वनिर्वाहकत्वमक्षतमेव।**

स्त्रक् (माला) आदि पदार्थ विन्यास से विशिष्ट कुसुमादि की कुसुमाद्युपादानककृति विषयता नहीं है अपितु विन्यासादिरूपविशेषण की ही कुसुमाद्युपादानककृतिविषयता है। उसी की ही (विन्यासादिरूप विशेषण की ही) कृति के अधीन उत्पत्ति होती है। इसलिए '**स्त्रजं**' इत्यादि द्वितीयान्त का विशिष्टसत्त्वनिर्वाहकत्व अर्थ है, विशेषणोत्पादक का भी स्वरूपसम्बन्धविशेषरूपविशिष्टसत्त्वनिर्वाहकत्व अक्षत ही है।

तात्पर्य यह है कि अभी बतलाया कि '**काशान् कटं करोति**' और '**कुसुमानि स्त्रजं करोति** इत्यादि स्थलों में प्रकृतिकर्म काश, कुसुम आदि के बाद वर्तमान द्वितीया का अर्थ उपादानीयविलक्षणविषयता ही है और विकृति कर्म कटादि के उत्तर द्वितीया का अर्थ पूर्ववत् ही है। इसमें एक समस्या उठती है। स्त्रक् (माला) पुष्पात्मक होती है। विन्यासविशेष से विशिष्ट कुसुमों (पुष्पों) को ही माला कहा जाता है। इस प्रकार विन्यासविशेषविशिष्ट कुसुमरूप स्त्रक् का उत्पादकत्व कृति में हो तब तो शाब्दबोध सम्भव होगा, किन्तु कृति कुसुम को उत्पन्न तो करती नहीं है। इसलिए कैसे शाब्दबोध सम्भव होगा? इसके लिए गदाधर का कहना है कि तत्सत्त्वनिर्वाहकत्व रूप स्वरूपसम्बन्धविशेष ही विकृतिकर्मोत्तर द्वितीया का अर्थ है। यद्यपि कृति कुसुमोत्पादक नहीं है किन्तु विन्यासविशेष का उत्पादकत्व तो कृति में है, कुसुमाद्युपादानककृतिविषयता कुसुम में न होने पर भी विन्यासविशेष रूप विशेषण में तो है ही। जो विशेषण का उत्पादक होता है वह भी विशिष्टसत्त्व का निर्वाहक

तो होता ही है। इसलिए कोई दोष नहीं है। '**कुसुमानि स्रजं करोति**' से '**कुसुमनिष्ठोपादानीयविलक्षणविषयताविशिष्टा या स्रक्निर्वाहिका कृतिस्तदाश्रयः**' 'कुसुमनिष्ठोपादानीयविलक्षणविषयताविशिष्ट जो स्रक् निर्वाहक कृति उसका आश्रय है' ऐसा शाब्दबोध होता है।

**'अग्निः श्यामं रक्तं करोति' इत्यादावचेतनकर्तृव्यापारबोधककरोति समभिव्याहृतश्यामादिपदोत्तरद्वितीयाया अपि नोपादानताख्यविलक्षणविषयतार्थकत्वसम्भवः अपितु तादृशद्वितीयान्तेन श्यामरूपादिविशिष्टासत्त्वनिर्वाहकतारूपं विशिष्टोच्छेदकत्वं तादृशव्यापारे प्रत्याय्यते।**

**'घटं रक्तं करोति' इत्यादावपि घटादिपदस्यारक्तत्वादिविशिष्टघटादि लाक्षणिकतया विशिष्टघटाद्यसत्त्वनिर्वाहकत्वं प्रतीयते ।**

'**अग्निः श्यामं रक्तं करोति**' 'अग्नि श्याम को रक्त कर देता है' इत्यादि अचेतन कर्ता के व्यापार के बोधक '**करोति**' से समभिव्याहृत (यहाँ पर **करोति** से कृति का बोधन सम्भव नहीं है क्योंकि कृति चेतन कर्ता में ही सम्भव होती है न कि अचेतन कर्ता में इसलिए यहाँ **करोति** कृति का बोध न करा कर अचेतनकर्ता के व्यापार मात्र का बोधन करता है, ऐसे **करोति** से समभिव्याहृत) श्याम आदि पदों के बाद विद्यमान द्वितीया का भी उपादानताख्यविलक्षण विषयता अर्थ सम्भव नहीं है (क्योंकि श्याम रक्त उपादान नहीं होता है, श्याम का नाश हो कर ही रक्त की उत्पत्ति होती है) अपितु तादृश द्वितीयान्त (अचेतनकर्तृ व्यापार बोधक **करोति** से समभिव्याहृत **श्यामं** आदि द्वितीयान्त) के द्वारा श्यामादिरूपविशिष्ट के असत्त्व का निर्वाहकत्व रूप विशिष्ट का उच्छेदकत्व ही तादृश व्यापार में बोधित होता है। इस प्रकार '**श्यामरूपविशिष्टासत्त्वनिर्वाहको यो रक्तरूपविशिष्ट सत्त्वनिर्वाहको व्यापारस्तदाश्रयोऽग्निः**' 'श्यामरूपविशिष्टासत्त्वनिर्वाहक जो रक्तरूपविशिष्ट सत्त्व निर्वाहक व्यापार उसका आश्रय अग्नि है' ऐसा शाब्दबोध होता है।

'**घटं रक्तं करोति**' 'घट को रक्त कर रहा है' इत्यादि स्थलों में भी घट आदि पदों के अरक्तत्वविशिष्ट घट आदि में लक्षणिक होने के कारण विशिष्टघटाद्यसत्त्वनिर्वाहकत्व ही प्रतीत होता है। कारण यह कि घट के असत्त्व का निर्वाहकत्व और रक्तरूपविशिष्ट सत्त्व का निर्वाहकत्व कृति में बोधित होना चाहिए ऐसा अभिधा से प्राप्त होता है, जो कि बाधित होता है, अतः घट पद की अरक्तत्वविशिष्ट घट में लक्षणा करके अरक्तत्वविशिष्टासत्त्वनिर्वाहकत्व प्रतीत होता है। इस प्रकार '**अरक्तत्वविशिष्टघटासत्त्वनिर्वाहको यो रक्तत्वविशिष्ट सत्त्वनिर्वाहको व्यापारस्तदाश्रयः**' 'अरक्तत्वविशिष्ट घटासत्त्वनिर्वाहक जो रक्तत्व विशिष्ट सत्त्वनिर्वाहक व्यापार उसका आश्रय है' ऐसा शाब्दबोध होता है।

**प्रकृतिविकृतिभावस्थले कर्माख्यातेन प्रकृतेः कर्मत्वमेव प्रत्याय्यते, अतः 'काष्ठानि भस्मराशिः क्रियन्ते' इत्यादावाख्यातार्थविशेष्यककाष्ठादिवाचकपदसमानवचनत्वमाख्यातस्य न तु निर्वर्त्यभस्मादिरूपविकारवाचक पदसमानवचनता।**

प्रकृतिविकृतिभावस्थल में कर्माख्यात के द्वारा प्रकृति का कर्मत्व ही बोधित होता है (विकृति का नही) इसलिए '**काष्ठानि भस्मराशिः क्रियन्ते**' 'काष्ठ भस्मराशि किये जा

रहे हैं' इत्यादि स्थलों में आख्यातार्थ कर्मत्वविशेष्यक काष्ठादिवाचकपदसमानत्व ही आख्यात का होता है निवर्त्य भस्म आदि विकारवाचक पद समानवचनत्व नहीं होता है।

अभिप्राय यह है कि प्रकृतिविकृतिभावस्थल में कर्माख्यात के द्वारा चूँकि प्रकृति का कर्मत्व ही बोधित होता है न कि विकृति का कर्मत्व, इस कारण '**काष्ठानि भस्मराशिः क्रियन्ते**' इत्यादि कर्मवाच्य प्रयोगों में प्रकृतिकर्मकाष्ठादि पद का ही समानवचनक आख्यात होता है न कि विकृतिकर्म का। क्योंकि आख्यातार्थ का अन्वय जिसमें होता है, आख्यात उसी के समानवचनवाला होता है न कि किसी अन्य के यहाँ आख्यातार्थ कर्मत्व का अन्वय प्रकृतिकर्म काष्ठ में ही होता है, अतः काष्ठ के समान ही बहुवचन आख्यात में होता है न कि भस्मराशि रूप विकृति के समान एकवचन।

**अथैवं निर्वर्त्यकर्मवाचकपदात् प्रथमा न स्यादपि तु द्वितीयैव-तत्कर्मताया लकारेणानभिधानात्।**

लेकिन इस प्रकार से तो निर्वर्त्यकर्मवाचक पद से प्रथमा नहीं होनी चाहिए अपितु द्वितीया ही होनी चाहिए क्योंकि उसकी कर्मता का लकार से अभिधान नहीं होता है।

यहाँ पर गदाधर एक प्रश्न उठा रहे हैं। प्रश्न यह है कि आपने यह व्यवस्थापित किया कि कर्माख्यातस्थल में आख्यात से प्रकृतिकर्म में रहने वाली कर्मता ही बोधित होती है विकृतिकर्म में रहनेवाली कर्मता बोधित नहीं होती है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि प्रकृतिकर्म में रहनेवाली कर्मता का ही अभिधान कर्माख्यात के द्वारा होता है। विकृतिकर्म में रहने वाली कर्मता का अभिधान नहीं होता है। इस स्थिति में प्रकृति काष्ठादि पदों से प्रथमा हो जायेगी किन्तु विकृति भस्मराशिपदोत्तर प्रथमा नहीं होनी चाहिए द्वितीया ही होनी चाहिए क्योंकि जिसका कर्मत्व अभिहित न हो रहा हो उस कर्म से द्वितीया ही होती है।

**यत्तु उभयकर्मत्वमेव लकारेणाभिधीयते - प्रधानाप्रधानकर्मसमभिव्याहृतनीवहादिदुहाहिरूपद्विकर्मकोत्तरकर्मप्रत्ययस्यैव कर्मत्वद्वयानभिधायकत्वनियमात् प्रकृते च कर्मद्वयस्यैव तुल्यत्वात्। विकृतेराख्यातार्थविशेष्यत्वेऽप्याख्यातस्य तत्समानवचनकत्वानियमः ''गृह्णाति वाचकः संख्यां प्रकृतेर्विकृतेर्नहि'' इत्यनुशासनसिद्धप्रकृतिविकृतिसमभिव्याहृतलकारीयविकारसंख्याबोधकत्वाभावव्युत्पत्तिनिर्वाह्यः, इत्युक्तस्थले न क्रियापदस्यैकवचनान्तता तदर्थान्वितसंख्याबोधकस्यैवाख्यातस्य तत्समान वचनत्वनियमात्, न तु तद्विशेष्यकस्वार्थकर्मत्वादिबोधजनकाख्यातमात्रस्येति।**

जो लोग उक्त प्रश्न का यह समाधान देते हैं कि- उभयकर्मत्व ही (प्रकृतिकर्मत्व और विकृतिकर्मत्व दोनों ही) लकार से (आख्यात से) अभिहित होता है (केवल प्रकृति कर्मत्व का आख्यात से अभिधान नहीं होता है प्रकृतिकर्मत्व व विकृतिकर्मत्व दोनों का ही आख्यात से अभिधान होता है) प्रधान और अप्रधानकर्मसमभिव्याहृत नी, वह, आदि दुह आदि द्विकर्मकधातुओं के बाद आनेवाले प्रत्यय (आख्यात) के ही दो कर्मत्व के अनभिधायकत्व का नियम होता है यहाँ पर तो दोनों ही कर्म तुल्य है। भाव यह है कि नी, वह, दुह आदि धातुएँ द्विकर्मक हैं, इनके दो कर्म होते हैं एक प्रधान कर्म होता है और दूसरा गौण कर्म होता है। दोनों कर्म समान नहीं होते हैं इसलिए नी, वह आदि के सिर्फ प्रधान कर्मत्व का

और दुह् आदि के सिर्फ गौणकर्मत्व का अभिधान कर्माख्यात से होता है। यहाँ पर (प्रकृतिविकृतिभाव स्थल में) दोनों ही कर्म समान होते हैं तुल्य होते हैं, अतः दोनों के ही कर्मत्व का अभिधान लकार (आख्यात) के द्वारा हुआ करता है, कोई प्रधानाप्रधानभाव किसी एक के कर्मत्वाभिधान का नियामक नहीं है। किन्तु इसमें समस्या यह है कि आख्यात प्रकृति का ही समानवचन क्यों होता है? विकृति का क्यों नहीं? इसका समाधान यह है कि-

विकृति के आख्यातार्थ (कर्मत्व) का विशेष्य होने पर भी आख्यात के विकृतिसमान वचनत्व का नियम **'गृह्णाति वाचकः संख्यां प्रकृतेर्विकृतेर्नहि'** 'वाचक (आख्यात) प्रकृति की संख्या ही ग्रहण करता है, विकृति की संख्या ग्रहण नहीं करता है' इस अनुशासन से सिद्ध 'प्रकृतिविकृतिसमभिव्याहृत लकार में विकारसंख्याबोधकत्वाभाव होता है' इस व्युत्पत्ति से निर्वाह्य है, इसलिए क्रियापद की एकवचनान्तता नहीं होती है क्योंकि उस पद के अर्थ से अन्वित संख्या का बोधक ही आख्यात उस पद का समानवचन होता है ऐसा नियम है, तद्विशेष्यकस्वार्थकर्मत्व आदि के बोध का जनक आख्यात मात्र उसका समानवचनक नहीं होता है।

अभिप्राय यह है कि यद्यपि आख्यात के अर्थ कर्मत्व का अन्वय जैसे प्रकृति कर्म काष्ठ आदि में होता है वैसे ही विकृतिकर्म भस्म आदि में भी होता है तथापि आख्यात प्रकृतिकर्म काष्ठ आदि का ही समानवचन होता है न कि विकृतिकर्म का इसका कारण यह है कि जिस पद के अर्थ से आख्यात की अर्थभूता संख्या अन्वित होती है, उसी पद का समानवचनक आख्यात होता है। **'गृह्णाति वाचकः संख्यां प्रकृतेर्विकृतेर्नहि'** इस अनुशासन से यह सिद्ध है कि आख्यात में विकारसंख्याबोधकत्व नहीं होता है, बल्कि प्रकृतिसंख्याबोधकत्व ही होता है। इस तरह चूँकि आख्यात प्रकृति कर्म काष्ठ से (काष्ठपद के अर्थ से) ही आख्यात की अर्थभूता संख्या अन्वित होती है, इसकारण आख्यात से प्रकृतिकर्मवाचक पद के वचन के समान ही वचन होता है। इसलिए उक्त प्रयोगों में **'काष्ठानि भस्मराशिः क्रियन्ते'** इत्यादि स्थलों में काष्ठ पद के समान ही आख्यात से बहुवचन ही होता है न कि भस्मराशि पद के समान एकवचन जिस पद के अर्थ में आख्यात के अर्थ कर्मत्व आदि का बोधन होता है, आख्यात उस पद के समानवचन वाला होता है ऐसा नियम नहीं है। यदि ऐसा नियम होता हो भस्मराशि पद के अर्थ भस्मराशि में आख्यात के अर्थ कर्मत्व का अन्वय होने के कारण भस्मराशि पद के समानवचनक आख्यात के होने की आपत्ति आती किन्तु ऐसा नियम तो है नहीं।

**तदसत् - विकारविकारिणोर्द्वयोराख्यातार्थविशेष्यत्वे वाक्यभेदापत्तेः। 'घटपटौ स्तः' 'घटपटौ दृश्यते' इत्यादौ विशेष्यभेदेऽपि विशेष्यतावच्छेदक द्वित्वादेरेकधा भानान्न वाक्यभेदः। अत्र च न तादृशविशेष्यतावच्छेदक-द्वित्वादेरेकधा भानमस्ति येन तत्रेवात्राप्येकवाक्यतानिर्वाहः ।**

वह ग़लत है (उपर्युक्त समाधान ग़लत है) क्योंकि यदि विकार और विकारी (प्रकृति) दोनों ही आख्यात के अर्थ कर्मत्व के विशेष्य होंगे तो वाक्यभेद हो जायेगा। क्योंकि एकमुख्यविशेष्यत्व ही एकवाक्यत्व होता है, कर्माख्यातस्थल में आख्यातार्थ कर्मत्व

का आश्रय ही मुख्यविशेष्य हुआ करता है, यहाँ पर आख्यातार्थ कर्मत्व के आश्रय दो हो रहे हैं प्रकृति और विकृति। इस स्थिति में मुख्यविशेष्य दो हो जायेंगे। अतः वाक्य भेद हो जायेगा एकवाक्य नहीं होगा। **'घटपटौ स्तः'** 'घट और पट हैं' **'घटपटौ दृश्येते'** 'घट और पट दिख रहे हैं' इत्यादि स्थलों में भी यद्यपि विशेष्यभेद है क्योंकि **'घट पटौ स्तः'** में कर्माख्यात के अर्थ आश्रयत्व का अन्वय घट और पट दोनों में होता है, **'घट पटौ दृश्येते'** में कर्माख्यात के अर्थ विषयत्व का अन्वय घट और पट दोनों में होता है घट और पट तो दो हैं भिन्न-भिन्न हैं। इसलिए यहाँ पर भी मुख्यविशेष्य एक नहीं है) तथापि विशेष्यतावच्छेदक द्वित्व आदि का एक बार ही भान होता है, इसलिए (विशेष्य भेद होने पर भी विशेष्यतावच्छेदक का अभेद होने के कारण) एकवाक्यता बन जाती है वाक्यभेद नहीं होता है। यहाँ पर तो **'काष्ठानि भस्मराशिः क्रियन्ते'** इस स्थल में वैसे किसी विशेष्यतावच्छेदक द्वित्व आदि का भान नहीं ही हो रहा है जिससे कि **'घट पटौ स्तः'** इत्यादि स्थलों की तरह एकवाक्यता का निर्वाह किया जा सके इसलिए यहाँ पर तो वाक्य भेद हो ही जायेगा।

**न चागत्येष्यत एवात्र वाक्यभेद इति वाच्यम्, तथा सत्येकवाक्यार्थपरस्य 'काष्ठं क्रियते' 'भस्म क्रियते' इत्येतादृशप्रयोगस्यापत्तेः। 'काष्ठं भस्म क्रियते' इति वाक्यजबोधस्य काष्ठविकृतिर्भस्मान्यविकृतिर्वेति संशय-निवर्तकत्वानुपपत्तेः काष्ठभस्मनोः प्रकृतिविकारभावाभानात्।**

**अस्मन् मते च काष्ठोच्छेदकत्वरूपकाष्ठकर्मकत्व- भस्मनिर्वर्तकत्व-रूपतत्कर्मकत्वयोरेकविशिष्टेऽपरान्वय एव पूर्वोपदर्शितरीत्या काष्ठोच्छेद प्रयोज्योत्पत्तिकत्वरूप काष्ठप्रकृतिकत्वस्य भस्मनि लाभसम्भवाद्,**

यदि कहो कि कोई दूसरी गति न होने के कारण यहाँ पर वाक्य भेद को हम स्वीकार ही करते हैं (स्वीकारा ही जाता है) तो ऐसा नहीं कहना चाहिए क्योंकि यदि आप वाक्यभेद स्वीकारेंगे तो उक्त एकवाक्य **'काष्ठं भस्म क्रियते'** के अर्थ को ही बोधित कराने वाले **'काष्ठं क्रियते' 'भस्म क्रियते'** इस प्रकार के प्रयोग की आपत्ति होगी, **'काष्ठं भस्म क्रियते'** इस वाक्य से जन्य बोध के **'भस्म काष्ठविकृतिरन्यविकृतिर्वा'** 'भस्म काष्ठ की विकृति है या अन्य की विकृति है?' इस संशय के निवर्तकत्व की अनुपपत्ति होगी क्योंकि काष्ठ और भस्म के प्रकृतिविकृतिभाव का भान तो होता नहीं है।

अभिप्राय यह है कि वाक्य भेद यदि आप स्वीकार करेंगे तो **'काष्ठं भस्म क्रियते'** से जन्य शाब्दबोध में और **'काष्ठं क्रियते' 'भस्म क्रियते'** इन दो वाक्यों से जन्य समूहालम्बन शाब्दबोध में कोई फर्क नहीं होगा। क्यों नहीं होगा? इसका कारण यह है कि प्रथमवाक्य से जो बोध होगा उसमें भी आख्यातार्थ कर्मत्व का अन्वय काष्ठ और भस्म में होगा तथा बाद के दो वाक्यों से भी जो बोध होगा उसमें भी आख्यातार्थ कर्मत्व का अन्वय काष्ठ और भस्म में ही होगा। अतः प्रथम वाक्य के प्रयोग की जगह पर बाद के दो वाक्यों के प्रयोग की आपत्ति होगी। दूसरी बात यह कि यदि वाक्यभेद स्वीकारोगे तो काष्ठ और भस्म के प्रकृतिविकृतिभाव का भान तो होगा नहीं और ऐसी स्थिति में **'काष्ठं भस्म क्रियते'** से जन्य शाब्दबोध की अवस्था में भी 'काष्ठ की विकृति भस्म है अथवा अन्य

किसी की विकृति है' इस संदेह का कोई निवर्तक नहीं होगा जबकि इस वाक्य से जन्य शाब्दबोध के इस संशय का विरोधी (निवर्तक) होने के कारण इसवाक्य से जन्यबोध की अवस्था में ऐसा संशय नहीं रहता है। किन्तु इस पक्ष में इस संशय का कोई निवर्तक न होने के कारण इस वाक्य से जन्य शाब्द बोध के काल में भी ऐसा संशय होने लगेगा। इस तरह वाक्यभेद स्वीकारने पर ये दो आपत्तियाँ आयेंगी।

हमारे मत में काष्ठोच्छेदकत्वरूप काष्ठकर्मकत्व और भस्मनिर्वर्तकत्व रूप भस्मकर्मकत्व का एक से विशिष्ट में दूसरे का अन्वय होने के कारण पूर्वोपदर्शित (पृ.448 पर प्रदर्शित) रीति से (उद्देश्यतावच्छेदक विधेयभाव की महिमा से) भस्म में काष्ठोच्छेदप्रयोज्योत्पत्तिकत्व रूप काष्ठ प्रकृतिकत्व का लाभ सम्भव है। अतः उक्तसंशय का निवर्तकत्व उक्तवाक्य जन्य शाब्दबोध में अनुपपन्न नहीं है। इस प्रकार निर्वर्त्यकर्मवाचक पद से प्रथमा अनुपपन्न ही है।

**विमर्श** - वस्तुतः **'वस्तुतस्तु'** प्रतीक के द्वारा (पृ. 450 पर) प्रयोज्यप्रयोजकभाव बोधन का खण्डन कर चुके हैं, तथापि संयोगनाशद्वारा तण्डुलादिनाशजनकत्व पाक क्रिया में या कृति में बोधित होता है। इसकारण प्रयोज्यप्रयोजकभाव का बोध न होने पर भी काष्ठ में भस्म प्रकृतिकत्व का भान विशिष्टवैशिष्ट्यबोधमर्यादा से हुआ ही करता है। **'काष्ठं भस्म क्रियते'** से **'भस्मनिर्वर्तककृतिजन्योच्छेदप्रतियोगित्वाश्रयं काष्ठम्'** 'भस्म निर्वर्तक कृति से जन्य उच्छेद के प्रतियोगित्व का आश्रय काष्ठ है' ऐसा शाब्दबोध होता है।

**इति चेत् ?**

**सत्यम्, 'काष्ठं भस्म क्रियते' इत्यादौ भस्मादिनिर्वर्त्यकर्मताया लकारेणानभिधानेऽपि तत्कर्मतायाः धात्वर्थे संसर्गतया भानोपगमेन तादृशकर्मोत्तरं प्रथमायाः साधुता। प्रतिपदिकार्थविशेष्यतया कर्मत्वादिविवक्षायामेन द्वितीयादिविभक्तिसाधुत्वात् यथा 'अर्घो नमः' इत्यादौ नमः पदार्थत्यागेऽर्घादिकर्मत्वबोधेऽप्यर्घादिपदात्प्रथमैव निपातार्थे त्यागे कर्मतासम्बन्धेनैव नामार्थस्यान्वयात्, एवम् 'भूतले न घटः' इत्यादावपि घटादिसम्बन्धस्याभावे संसर्गतया भानात् षष्ठीविषयेऽपि प्रथमा।**

यदि ऐसा कहो तो?

सच है अर्थात् उपर्युक्त रीति से विकृतिकर्मोत्तर प्रथमा क्यों होती है? इस प्रश्न का समाधान नहीं किया जा सकता है। **'काष्ठं भस्म क्रियते'** इत्यादिस्थलों में भस्म आदि की निर्वर्त्यकर्मता का लकार से अभिधान न होने पर भी उस कर्मता का धात्वर्थ में संसर्ग विधया भान स्वीकार किया जाता है, इस कारण निर्वर्त्य कर्म के बाद प्रथमा की साधुता होती है। प्रतिपदिकार्थ विशेष्यतया कर्मत्व की विवक्षा होने पर ही द्वितीया विभक्ति की साधुता होती है। जैसे **'अर्घो नमः'** इत्यादिस्थलों में नमः पदार्थ त्याग में अर्घादि के कर्मत्व का बोध होने पर भी अर्घ आदि पदों से प्रथमा ही होती है (द्वितीया नही) क्योंकि निपातार्थ त्याग में कर्मता सम्बन्ध से ही नामार्थ का अन्वय हुआ करता है। इसी प्रकार **'भूतले न घटः'** 'भूतल पर घट नहीं है' यहाँ पर इत्यादि स्थलों पर भी घटादिसम्बन्ध का अभाव में संसर्गतया भान होने के कारण षष्ठी के विषय में (षष्ठी के स्थान पर) प्रथमा ही होती है।

अभिप्राय यह है कि केवल कर्मत्व का अभिधान ही कर्मवाचक पद से प्रथमा का नियामक नहीं हुआ करता है। बल्कि प्रातिपदिकार्थविशेष्यतया यदि कर्मत्व की विवक्षा हो

तभी कर्मवाचक पद से द्वितीया विभक्ति हुआ करती है[1] और साधु होती है। यदि कर्मत्व की प्रातिपदिकार्थ विशेष्यतया विवक्षा न होतो कर्मवाचक पद से द्वितीया नहीं होती है। **'काष्ठं भस्म क्रियते'** में प्रातिपदिकार्थभस्मविशेष्यतया कर्मत्वादि की विवक्षा नहीं है बल्कि धात्वर्थ में भस्म की कर्मता का संसर्गविधया भान हुआ करता है, इस कारण भस्म पद के बाद द्वितीया न होकर प्रथमा हो जाती ही। जैसे कि **'अर्घो नमः'** यहाँ पर यद्यपि अर्घ में रहने वाले त्यागकर्मत्व कालकार, निपात आदि से अभिधान नहीं होता है तथापि निपात (नमः) के अर्थ त्याग में अर्घपदार्थ का कर्मता सम्बन्ध से अन्वय होने के कारण (प्रतिपदिकार्थविशेष्यया कर्मत्व की विवक्षा न होने के कारण) अर्घ पद से द्वितीया न होकर प्रथमा ही होती है। इस प्रकार **'भूतले न घटः'** में अभाव में घट के सम्बन्ध घटप्रतियोगिकत्व का संसर्गतया ही भान होने के कारण सम्बन्ध सामान्य की वाचिका षष्ठी नहीं होती है बल्कि षष्ठी की जगह पर प्रथमा ही होती है क्योंकि सम्बन्ध की भी यदि प्रातिपदिकार्थविशेष्यतया विवक्षा हो तभी सम्बन्धवाचिका षष्ठी हुआ करती है। इसका कारण यही है कि कर्मत्व संबन्ध आदि का यदि संसर्गतया भान विवक्षाविषय है तो संसर्ग की पदार्थविधया उपस्थिति की अपेक्षा न होने के कारण कर्मत्वोपस्थापक द्वितीया व सम्बन्धोपस्थापक षष्ठी की अपेक्षा नहीं रह जाती है, इसलिए द्वितीया या षष्ठी न होकर उपर्युक्त स्थलों में प्रथमा ही हुआ करती है।

**न च धात्वर्थे नामार्थस्य साक्षादन्वयोऽव्युत्पन्न इति प्रकृते कर्मतायाः संसर्गतया भानं न सम्भवतीति वाच्यम्, 'घटो नीलो भवति' 'काष्टं भस्म भवति' इत्यादौ भवनादिक्रियायां नीलादेः कर्तृतासम्बन्धेन साक्षादन्वयवदत्रापि व्युत्पत्तिवैचित्र्येण कर्मान्तरविशेषणतापन्नक्रियायामपरकर्मणः कर्मतासम्बन्धेन साक्षादन्वयोपगमात् ।**

यदि कहो कि धात्वर्थ में नामार्थ का साक्षात् अन्वय अव्युत्पन्न है इस कारण प्रकृत स्थल में भी कर्मता का संसर्गविधया भान सम्भव नहीं है। प्रश्न का आशय यह है कि धात्वर्थ में नामार्थ का साक्षात् अन्वय व्युत्पत्ति सिद्ध नहीं है, **'अर्घो नमः'** में त्याग में अर्घ का कर्मता सम्बन्ध से अन्वय हो जाये इसमें कोई आपत्ति नहीं है क्योंकि त्याग धात्वर्थ न होकर निपातार्थ है। किन्तु **'काष्ठं भस्म क्रियते'** में नामार्थ भस्म का धात्वर्थ कृति में कर्म ता सम्बन्ध से अन्वय कैसे हो सकेगा? यह तो सम्भव नहीं होगा,

तो ऐसा नहीं कहना चाहिए क्योंकि **'घटो नीलो भवति' 'काष्ठं भस्म भवति'** इत्यादि स्थलों में जैसे भवन आदि (होना आदि) क्रिया में नील आदि का कर्तृता सम्बन्ध से साक्षात् ही अन्वय होता है। (यह पृ.416-17 पर प्रतिपादित है) यहाँ पर भी उसी प्रकार व्युत्पत्ति के वैचित्रय से कर्मान्तर काष्ठ में विशेषणीभूतकृति क्रिया में अपर कर्म भस्म का कर्मता सम्बन्ध से साक्षात् ही अन्वय स्वीकार किया जाता है। इस प्रकार यहाँ पर पिछले पृष्ठ में प्रतिपादित शाब्दबोध ही होता है।

**न चैवमपि कर्मत्वस्य प्रकृत्यर्थविशेष्यत्वेन विवक्षया 'काष्ठं भस्मराशिं**

1. इसी प्रकार यदि कर्तृत्व की प्रतिपदिकार्थ विशेष्यतया विवक्षा हो तो कर्तृवाचकपद से तृतीया होती है केवल कर्तृत्व का अभिधान ही यहाँ पर भी प्रथमा का नियामक नहीं होता है।

**क्रियते' इत्यादिप्रयोगापत्तिः, कर्मत्वान्तरविशेषणतानापन्न क्रियायामेव द्वितीयया कर्मत्वं बोध्यत इति व्युत्पत्तिकल्पने 'गौर्दुह्यते क्षीरम्' 'अजा नीयते ग्रामम्' इत्यादौ दोहननयनादिक्रियायां क्षीरग्रामादिकर्मकत्वानन्वय प्रसङ्ग इति वाच्यम्, प्रकृतिविकृत्युभयकर्मकस्थले तथा व्युत्पत्तेः। यथोक्तातिप्रसङ्गवारणाय दर्शिता व्युत्पत्तिः कल्प्यते तथा कर्तृविशेषणतयाऽभासमानायामेव क्रियायां तृतीयार्थकर्तृत्वान्वय इत्यपि व्युत्पत्तिः कल्प्या, अन्यथा प्रकृत्यर्थविशेष्यतया कर्तृत्वविवक्षया 'काष्ठं भस्मना भवति' इति प्रयोगस्य दुर्वारत्वात्।**

यदि कहो कि इस तरह से भी कर्मत्व की प्रकृत्यर्थविशेष्यत्वेन विवक्षा होने पर तो **'काष्ठं भस्मराशिं क्रियते'** इत्यादि प्रयोग की आपत्ति होगी (इस प्रयोग में **काष्ठं** प्रथमान्त और **भश्मराशिं** द्वितीयान्त है) इस आपत्ति का आपादन इस प्रकार से है। अभी व्यवस्थापित किया कि 'यदि प्रातिपदिकार्थविशेष्यतया कर्मत्व की विवक्षा हो तभी कर्मवाचक पद से द्वितीया होती है और **'काष्ठं भस्म क्रियते'** में भस्म विशेष्यतया कर्मत्व की विवक्षा नहीं है बल्कि भस्म का कर्मता सम्बन्ध से ही कृति में अन्वय होता है। अतः भस्मपदोत्तर भी प्रथमा ही होती है। इसमें प्रश्न यह है कि यदि यहाँ पर किसी को भस्मविशेष्यतया कर्मत्व की विवक्षा हो तब तो भस्मपदोत्तर द्वितीया हो जायेगी और साधु होगी। शाब्दबोध में तो सिर्फ इतना फर्क पड़ेगा कि पहले कृति में कर्मता सम्बन्ध से भस्म भासता था, अब भस्मकर्मता भासेगा। इसलिए शाब्दबोध तो अबाधित विषयक ही है। अतः भस्मराशिपदोत्तर द्वितीया का प्रयोग करते हुए **'काष्ठं भस्मराशिं क्रियते'** प्रयोग की आपत्ति है?

यदि कर्मत्वान्तर में विशेषणतानापन्न क्रिया में ही द्वितीया के द्वारा कर्मत्व बोधित होता है ऐसी व्युत्पत्ति की कल्पना आप करें तो यहाँ पर तो आपत्ति वारित हो जायेगी क्योंकि काष्ठ में विद्यमान जो आख्यातार्थ कर्मत्व उसमें विशेषणीभूत कृतिक्रिया में यहाँ भस्मपदोत्तर द्वितीया से कर्मत्व का बोध विवक्षाविषय हो रहा है। किन्तु **'गौर्दुह्यते क्षीरम्'** 'गाय दूध दुही जा रही है' **'अजा नीयते ग्रामम्'** बकरी गाँव ले जायी जा रही है' इत्यादि स्थलों में दोहन और नयन आदि क्रियाओं में क्षीर, ग्राम आदि के कर्मकत्व के अनन्वय का प्रसङ्ग होगा? क्योंकि इन स्थलों में गो और अजा का मुख्यविशेष्यविधया भान होता है, गो और अजा में विशेषणीभूत आख्यातार्थकर्मत्व में विशेषणीभूत दोहन व नयन क्रिया में क्षीर ग्राम की कर्मता द्वितीया के द्वारा बोधित होती है और आप के कथनानुसार तो कर्मत्वान्तर में अविशेषणीभूत क्रिया में ही द्वितीया के द्वारा कर्मता बोधित हो सकती है कर्मत्वान्तर विशेषणी भूत क्रिया में नहीं।

तो ऐसा नहीं कहना चाहिए क्योंकि प्रकृति विकृति उभय कर्म जहाँ पर होते हैं उन्हीं स्थलों के लिए ही वैसी व्युत्पत्ति है। अर्थात् 'प्रकृति विकृति उभयकर्मकस्थल में ही द्वितीया के द्वारा कर्मत्वान्तर में विशेषणतानापन्न क्रिया में कर्मत्व बोधित होता है' ऐसी व्युत्पत्ति है। **'गौर्दुह्यते क्षीरम्' 'अजा नीयते ग्रामम्'** इत्यादि स्थलों में तो प्रकृति विकृति उभय कर्म हैं नहीं । अतः वहाँ पर कर्मत्वान्तर में विशेषणीभूत क्रिया में भी कर्मत्व बोधित हो सकता है **'काष्ठं भस्मराशिः क्रियते'** यहाँ पर प्रकृति विकृति उभय कर्म हैं, अतः कर्मत्वान्तर में

विशेषणी भूत क्रिया में द्वितीया के द्वारा कर्मत्व नहीं बोधित हो सकता है।

जैसे उक्त अतिप्रसङ्ग का वारण करने के लिए दिखलायी गयी व्युत्पत्ति की कल्पना की जाती है वैसे ही 'कर्तृत्वविशेषणतया अभासमान क्रिया में ही तृतीयार्थ कर्तृत्व का अन्वय होता है' ऐसी व्युत्पत्ति भी प्रकृतिविकृत्युभयकर्मकस्थल में कल्पित करनी चाहिए अन्यथा प्रकृत्यर्थविशेष्यतया कर्तृत्व की विवक्षा से '**काष्ठं भस्मना भवति**' ऐसा प्रयोग भी दुर्वार हो जायेगा। इसे भी पूर्ववत् ही समझना चाहिए ।

**उत्पत्तिप्रयोजकनाशप्रतियोगित्वरूपविकार एव 'काष्ठं भस्म भवति' इत्यादौ धात्वर्थः, आधेयत्वरूपं तत्कर्तृत्वमेव सम्बन्धमर्यादया भासते। 'काष्ठेन भस्मना भूयते' इत्यादौ भस्माद्याधेयत्वमुत्पत्तौ काष्ठाधेयत्वञ्च नाशप्रतियोगित्वे- तृतीयोपस्थाप्यं प्रकारतया भासते ।**

'**काष्ठं भस्म भवति**' 'काष्ठ भस्म होता है' इत्यादि स्थलों में उत्पत्तिप्रयोजक नाशप्रतियोगित्वरूप विकार ही भू धातु का अर्थ है और भस्म का आधेयत्व रूप (भू धात्वर्थ उत्पत्ति का) कर्तृत्व संसर्गमर्यादा से भसता है। इस प्रकार यहाँ पर धात्वर्थ उत्पत्ति में नामार्थ भस्म का साक्षात् ही कर्तृत्व सम्बन्ध से अन्वय होता है। तथा '**भस्माधेयोत्पत्तिप्रयोजकनाश प्रतियोगित्वाश्रयं काष्ठम्**' भस्माधेयोत्पत्तिप्रयोजकनाशप्रतियोगित्व का आश्रय काष्ठ है' ऐसा शाब्दबोध होता है। '**काष्ठेन भस्मना भूयते**' 'काष्ठ से भस्म हुआ जा रहा है' इत्यादिस्थलो में 'उत्पत्तिप्रयोजकनाशप्रतियोगित्व' रूप धात्वर्थ के अंश उत्पत्ति में तृतीयान्त से उपस्थाप्य भस्माधेयत्व और नाशप्रतियोगित्व में तृतीयान्त से उपस्थाप्य काष्ठाधेयत्व प्रकारतया भासता है, विशेषणविधया भासता है। इस प्रकार '**भस्माधेयत्वाश्रयोत्पत्ति प्रयोजककाष्ठाधेयत्वाश्रयनाशप्रतियोगित्वम्**' भस्माधेयत्वाश्रय उत्पत्ति प्रयोजक काष्ठाधेय- त्वाश्रयनाशप्रतियोगित्व है' ऐसा भावनामुख्यविशेष्यक (धात्वर्थविशेष्यक) शाब्दबोध हुआ करता है। क्योंकि यह भाववाच्य प्रयोग है, भावाख्यात है। कारण यह कि भू धातु अकर्मक है। अकर्मक धातु से कर्मवाच्य न होकर भाववाच्य ही होता है।

**कर्तृत्वविशेषणतया भासमानस्य निरुक्तभवनस्यान्तर्गतायामेवोत्पत्तौ भस्मादेराधेयत्वं सम्बन्धतया भासत इति व्युत्पत्तेः 'काष्ठेन भस्म भूयते' इत्यादयो न प्रयोगाः भावाख्यातस्य कर्तृत्वाबोधकत्वात् ।**

कर्तृत्व में विशेषण बनकर भासमान उक्त भवन (भूधात्वर्थ) के अन्तर्गत आने वाली उत्पत्ति में ही भस्म आदि का आधेयत्व संसर्गतया भासता है। ऐसी व्युत्पत्ति होने के कारण '**काष्ठेन भस्म भूयते**' इत्यादि प्रयोग नहीं होते हैं क्योंकि भावाख्यात कर्तृत्व का बोधक नहीं होता ।

अभिप्राय यह है कि '**काष्ठेन भस्मना भूयते**' से जो शाब्दबोध होता है उसमें उत्पत्ति रूप धात्वर्थ में भस्माधेयत्व प्रकारविधया अन्वित हुआ करता है। किन्तु भस्म का आधेयत्व सम्बन्ध से उत्पत्ति में अन्वय करते हुए शाब्दबोध क्यों नहीं होता है। '**काष्ठं भस्म भवति**' में जैसे भस्म का आधेयत्वरूप कर्तृत्व आकाङ्क्षा से संसर्गतया भासता है उसी प्रकार '**काष्ठेन भस्म भूयते**' के द्वारा भस्म का आधेयत्व रूप कर्तृत्व संसर्गमर्यादा से भासित होकर उपर्युक्ता कारक शाब्दबोध क्यों न हो जाये? आधेयत्व रूप कर्तृत्व का

प्रकारतया भान होने के लिए तदुपस्थापक तृतीया की अपेक्षा होगी संसर्गतया उसका भान होने के लिए तो तृतीया की अपेक्षा होगी नहीं फिर भस्मपदोत्तर प्रथमा होते हुए ऐसा प्रयोग क्यों नहीं होता है?

इसका समाधान इस पङ्क्ति से गदाधर दे रहे हैं कि कर्तृत्वविशेषणतया भासमान जो भवन 'उत्पत्तिप्रयोजकनाशप्रतियोगित्व' तदन्तर्गत उत्पत्ति में ही भस्म आदि का आधेयत्व रूप कर्तृत्व संसर्गतया भासित होता है ऐसी व्युत्पत्ति है। इसलिए '**काष्ठं भस्म भवति**' में उत्पत्ति में भस्म का आधेयत्व रूप कर्तृत्व संसर्गतया भासता है क्योंकि काष्ठनिष्ठ आख्यातार्थ आश्रयत्वरूप कर्तृत्व में विशेषण बनता है उत्पत्तिप्रयोजकनाशप्रतियोगित्व। '**काष्ठेन भस्म भूयते**' में चूँकि भावाख्यात है और भावाख्यात कर्तृत्व का बोधक नहीं होता है। अतः कर्तृत्वविशेषणतया उक्तप्रतियोगित्व रूप भवन (भूधात्वर्थ) नहीं भासता है। इस कारण भस्म का आधेयत्व रूप कर्तृत्व संसर्गतया नहीं भासित हो सकता है।

**कर्मत्वान्तरविशेष्यतापन्नकृत्यादौ कर्मत्वस्य संसर्गतया भानमव्युत्पन्न मिति 'काष्ठं भस्मराशिः करोति' इत्यादयो न प्रयोगाः ।**

कर्मत्वान्तर में विशेष्यतापन्न कृति आदि में कर्मत्व का संसर्गतया भान अव्युत्पन्न होता है इसलिए '**काष्ठं भस्मराशिः करोति**' इत्यादि प्रयोग नहीं होते है।

अभिप्राय यह है कि यदि पूँछो कि काष्ठ कर्मक कृति में (काष्ठकर्मत्व में विशेष्यभूतकृति में) भस्म का कर्मत्वसम्बन्ध से अन्वय क्यों नहीं होता और इस प्रकार से अन्वय होकर '**काष्ठं भस्मराशिः करोति**' प्रयोग क्यों नहीं होता है? तो इसका समाधान यह है कि कर्मत्व का संसर्गतया अन्वय अव्युत्पन्न है। अतः यहाँ पर काष्ठ कर्मत्व में विशेष्यतापन्नकृति में भस्म के कर्मत्व का संसर्गतया अन्वय नहीं हो सकता है। इसलिए ऐसा प्रयोग नहीं होता है।

**''आधिशीङ्स्थासां कर्म'' इत्यादिना यत्राधारस्य कर्मसंज्ञा तत्राधार-त्वमाधेयत्वं वा द्वितीयार्थः, 'स्थलीमधिशेते' इत्यादौ तादृशार्थे द्वितीयायाः 'स्थल्या अधिशयिता' इत्यादौ कृत्प्रयोगे षष्ठ्याश्च साधुत्वमेव कर्मसंज्ञाविधानात्।**

'**अधिशीङ्स्थासां कर्म पा.सू. 1।4।46**' इत्यादि के द्वारा जहाँ पर आधार की कर्म संज्ञा होती है वहाँ आधारत्व या आधेयत्व द्वितीया का अर्थ होता है, '**स्थलीमधिशेते**' 'स्थली पर सो रहा है' इत्यादि स्थलों में आधारत्व या आधेयत्व अर्थ में द्वितीया के साधुत्व के लिए और '**स्थल्या अधिशयिता**' 'स्थली पर सोने वाला' इत्यादि स्थलों पर कृत् का प्रयोग होने पर कर्मत्वार्थक षष्ठी के साधुत्व के लिए कर्म संज्ञा का विधान किया गया है।

अभिप्राय यह है कि यदि '**अधिशीङ्स्थासांकर्म पा0 सू0 1।4।46**' के द्वारा यदि शयन, स्थिति, आसन के आधार की कर्मसंज्ञा नहीं होगी तो '**स्थलीमधिशेते**' में स्थलीपदोत्तर द्वितीया साधु नहीं होगी क्योंकि स्थली के आधार होने के कारण स्थली पदोत्तर सप्तमी हो जायेगी। इसी तरह '**स्थल्या अधिशयिता**' यहाँ पर स्थली पदोत्तर '**कर्तृकर्मणोः कृति पा0सू0 2।3।65**' के द्वारा कर्मत्वार्थक षष्ठी न हो सकेगी क्योंकि स्थली तो कर्म ही नहीं है आधार है। इस प्रकार इन स्थलों पर क्रमशः द्वितीया व षष्ठी के साधुत्व के लिए उक्त सूत्र से कर्म संज्ञा का विधान किया गया है।

**विमर्श-** आधारत्व को और आधेयत्व को दोनों को विकल्प से द्वितीया का अर्थ

मानने का पक्ष प्राचीन नव्य मत से है। प्राचीनों के मत में आधारत्व द्वितीया का अर्थ है किन्तु इस मत में समस्या यह है कि '**स्थलीमधिशेते**' इत्यादि स्थलो पर स्थलीनिष्ठाधारत्व के निरूपकत्व का शयन में अन्वय होने के कारण नञ्घटित '**न स्थलीमधिशेते**' इत्यादि स्थलों पर 'स्थलीनिष्ठाधारत्व के निरूपकत्वसम्बन्धावच्छिन्न प्रतियोगिताक अभाव का शयन में अन्वय करना पड़ेगा और निरूपकत्व के वृत्त्यनियामक होने के कारण तत्सम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभाव अप्रसिद्ध होगा। इसलिए नव्यमतानुयायी आधेयत्व को द्वितीया का अर्थ मानते हैं तथा इस मत में स्थलीनिरूपिताधेयत्व का शयन में आश्रयत्व सम्बन्ध से अन्वय होता है। आश्रयत्व के वृत्तिनियामक होने के कारण आश्रयत्वसम्बन्धावच्छिन्न प्रतियोगिताक आधेयत्वाभाव नञ् घटितस्थल में शयन में बोधित होता है।

**अथ कृञर्थव्यापारान्तरं धात्वर्थेऽन्तर्भाव्य शयनादिरूपफलावच्छिन्न व्यापारार्थकसोपसर्गशीङ्प्रभृतिधात्वर्थतावच्छेदकशयनादिरूपफलाश्रयतयाऽऽधारस्य कर्मत्वोपपादनसम्भवात् तादृशसूत्राणां वैयर्थ्यमेव, अध्याद्युपसृष्टशीङ्प्रभृतीनामेव तादृशार्थे निरूढलक्षणा न त्वनुपसृष्टानामतो न 'स्थलीं शेते' इत्यादयः स्वारसिकाः प्रयोगा इति चेत् ? न, धातोर्मुख्यार्थपरत्वेऽपि दर्शितप्रयोगनिर्वाहाय भगवता पाणिनिमुनिना तादृशसूत्रप्रणयनात्। तदप्रणीतवतां शर्ववर्मप्रभृतीनां मुख्यार्थपराणां 'स्थल्यामधिशेते' इत्यादि प्रयोगाणां साधुताया दुर्वारत्वाच्च।**

यदि कहा जाये कि कृञ के अर्थ भूत व्यापारान्तर का धात्वर्थ में अन्तर्भाव करके शयन रूप फल से अवच्छिन्न व्यापारार्थक सोपसर्ग शीङ् आदि के धात्वर्थतावच्छेदकी भूत शयन आदि फल का आश्रय होने के कारण आधार के कर्मत्व का उपपादन सम्भव होने के कारण तादृश सूत्रों का वैयर्थ्य ही है, अधि आदि उपसर्ग से उक्त शीङ् प्रभृति धातुओं की ही वैसे अर्थ में (कृञर्थव्यापारान्तर का अन्तर्भाव करके शयन विशिष्टकृञर्थ व्यापार रूप अर्थ में) निरूढलक्षणा होती है न कि उपसर्ग से रहित शीङ् प्रभृतिधातुओं की लक्षणा होती है। अतः '**स्थली शेते**' इत्यादि स्वारसिक प्रयोग नहीं होते हैं।

अभिप्राय यह है कि यदि शीङ् धातु के अर्थ में कृञ् धातु के अर्थ कृति का अन्तर्भाव कर दिया जाये, अधिउपसर्गयुक्त शीङ् धातु का अर्थ होगा 'शयनानुकूलकृति' इस प्रकार शयनानुकूलकृति धात्वर्थ हुआ और शयन धात्वर्थतावच्छेदक हुआ, धात्वर्थतावच्छेद की भूतशयन रूप फल का आश्रय होने के कारण भूतल की कर्म संज्ञा स्वयमेव हो जायेगी, उसके लिए '**अधिशीङ्स्थासां कर्म पा0सू0 1।4।46**' का प्रणयन करना व्यर्थ ही है? लेकिन इस मत में एक समस्या आती है वह यह कि फिर उपसर्गरहित शीङ् धातु के अर्थ में भी कृञ् के अर्थ व्यापारान्तर (कृति) का अन्तर्भाव कर 'शयनानुकूलकृति' को धात्वर्थ बनाया जा सकता है और धात्वर्थतावच्छेदकी भूत शयन का आश्रय होने के कारण स्थली आदि की कर्म संज्ञा की जा सकती है, तथा इस प्रकार '**स्थलीमधिशेते**' की तरह '**स्थलीं शेते**' प्रयोग की भी साधुता होने लगेगी, समाधान यह है कि 'अधि' आदि उपसर्गों से युक्त ही शीङ् आदि (शीङ्, स्था, आस्) धातुओं की कृञ् के अर्थ भूत व्यापारान्तर का अन्तर्भाव 'शयनादि अनुकूलकृति' में निरूढलक्षणा की जाती है, उपसर्ग रहित धातुओं की

नही, इसलिए '**स्थलीं शेते**' इत्यादि प्रयोगों की साधुता नहीं होती है।

तो यह नहीं कह सकते क्योंकि धातु के (शीङ्, स्था, आस्) के मुख्यार्थपरक होने पर भी (लाक्षणिक न होने पर भी) '**स्थलीमधिशेते**' इत्यादि प्रयोगों के निर्वाह के लिए भगवान् पणिनिमुनि के द्वारा उक्त सूत्र का प्रणयन किया गया है। अर्थात् पाणिनि को भी ज्ञात था कि इस प्रकार से आधार की भी कर्म संज्ञा की जा सकती है किन्तु उपर्युक्त रीति से निरूढलक्षणा को आधार बनाकर यदि आधार की कर्म संज्ञा की जायेगी तो धातु के मुख्यार्थपरक होने पर '**स्थल्यामधिशेते**' प्रयोग भी होने लगेगा और इसकी भी साधुता होने लगेगी क्योंकि धातु के मुख्यार्थपरक होने की स्थिति में शयन धात्वर्थतावच्छेदक नहीं होगा अपितु धात्वर्थ ही होगा और धात्वर्थाश्रय की कर्मसंज्ञा नहीं अधिकरण संज्ञा होतीहै। इसीलिए जिन्होने अध्युपसर्ग युक्त शीङ्धातु के योग में आधार की कर्मसंज्ञा का विधान करने के लिए सूत्र का प्रणयन नहीं किया है ऐसे शर्ववर्म आदि के मत में मुख्यार्थ परक '**स्थल्यामधिशेते**' इत्यादि प्रयोगों की साधुता दुर्वार होगी।

**कालाध्वदेशानामकर्मकक्रियायोगे कैश्चित् कर्मप्रत्ययार्थं विभाषया कर्मत्वमनुशिष्यते। अन्ये तु क्रियान्तरान्तर्भावेनोक्तरीत्या तत्र पाक्षिकं कर्मप्रत्ययमुपपादयन्तस्तन्नानुशासति उक्तं च तैः-**

**"कालभावाध्वदेशानामन्तर्भूतक्रियान्तरैः ।**
**सर्वैरकर्मकैर्योगे कर्मत्व मुपजायते ॥" इति ।**

**तन्मते च 'मासमधीते' 'मासमास्ते' 'योजनं धावति' इत्यादावभिव्याप्त्यर्थे "कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे" इत्यनेन द्वितीयाविधानं यद्यप्यनर्थकम् धात्वर्थेऽध्ययनस्थित्यादिविशेषणतयाऽभिव्यापनात्मकक्रियाया अन्तर्भावेन तत्कर्मतया तत्र तत्र द्वितीयोपपत्तेः, तादृशधात्वर्थे व्याप्त्यनन्तर्भावे 'मासमास्ते' इत्यादौ द्वितीयया तद्बोधनेऽपि 'आस्यते मासः' इत्यादौ मासादौ स्थित्यादि-व्याप्यत्वलाभानिर्वाहात्, तथापि 'मासं रमणीया' 'क्रोशं कुटिला नदी' इत्यादौ भवतीत्यस्यानध्याहारेऽपि द्वितीयायाः साधुतानिर्वाहकत्वेन भाष्यकृतस्तत्सूत्रं सार्थकयन्ति। तत्र हि रमणीयत्वाभिव्याप्यत्वं मासादौ प्रतीयते न च तत्र क्रियासमभिव्याहारोऽस्ति यत्राभिव्याप्तिरन्तर्भविष्यति तत्कर्मतया द्वितीया च स्यात् । एवम् 'मासमासिता' इत्यादावभिव्याप्त्यन्तर्भावेन मासस्य कर्मत्वो-पपादनेऽपि कृद्योगात् षष्ठ्येव स्यान्न द्वितीयेत्यतोऽपि तत्सूत्रं सार्थकम्।**

काल, अध्व (मार्ग) और देशों के अकर्मक क्रिया का योग होने पर कुछ लोगों के द्वारा कर्म प्रत्यय के लिए विकल्प से कर्मत्व का अनुशासन किया गया है। अभिप्राय यह है कि कुछ लोगों के द्वारा अकर्मक क्रिया का योग होने की स्थिति में काल, अध्व और देशों के कर्मत्व का अनुशासन काल, अध्व, और देशवाची पदों से द्वितीया की उपपत्ति के लिए किया गया है। देश का अकर्मक स्वापक्रियाकर्मत्व हुआ करता है '**कुरून् स्वपिति**' कुरु देश में सोता है' इत्यादि प्रयोगों में, काल का अकर्मक क्रिया आसन आदि का कर्मत्व '**मासमास्ते**' 'मासभर रुकता है' इत्यादि प्रयोगों में और मार्ग का अकर्मक

क्रिया धावन आदि का कर्मत्व '**योजनं धावति**' इत्यादि प्रयोगों में हुआ करता है। यहाँ पर कुरु, मास और योजन के वैकल्पिक कर्मत्व हेतु वार्तिककार ने वार्तिक '**अकर्मकधातुभिर्योगे देशः कालो भावोगन्तव्योऽध्वा च कर्म संज्ञक इति वाच्यम्**' 'अकर्मक धातुओं से योग होने पर देश, काल, भाव और गन्तव्य अध्वा (गन्तव्य मार्ग) कर्म संज्ञक होता है ऐसा कहना चाहिए' के द्वारा कर्मत्व का अनुशासन किया है।

अन्य सूत्रकार आदि क्रियान्तर (अभिव्याप्ति रूप क्रिया) का अन्तर्भाव करके उक्तरीति से उसके काल देश और अध्वा के पाक्षिक कर्म प्रत्यय का उपपादन करते हुए काल, देश और अध्वा के वैकल्पिक कर्मत्व का अनुशासन नहीं करते हैं। उनके द्वारा कहा भी गया है '**काल --- उपजायते**' 'काल, भाव, अध्व और देश का जिसमें अन्यक्रिया अन्तर्भूत है ऐसी सभी अकर्मक क्रिया का योग होने पर कर्मत्व उपपन्न हो जाता है'।

अभिप्राय यह है कि '**कुरून् स्वपिति**' '**मासमास्ते**' '**योजनं धावति**' इत्यादि प्रयोगों में स्वाप, आसन, धावन मात्र ही धात्वर्थ नहीं है बल्कि 'अभिव्याप्त्यनुकूलस्वाप, अभिव्याप्त्यनुकूलासन, अभिव्याप्तिअनुकूलधावन' धात्वर्थ होते हैं। इस प्रकार धात्वर्थतावच्छेदकीभूत अभिव्याप्ति रूप फल का आश्रय होने के कारण कुरु, मास, योजन आदि का कर्मत्व उपपन्न हो जायेगा। जब शुद्धस्वाप आदि धात्वर्थ होंगे तो कर्मत्व नहीं होगा। इस लिए वैकल्पिक कर्मत्व इसी प्रकार से उपपन्न हो जायेगा उसके लिए पृथक् अनुशासन की ज़रूरत नहीं है। किन्तु सूत्रकार ने '**कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे पा0सू0 2।3।5**' का प्रणयन किया हुआ है। इस सूत्र का प्रयोजन क्या है? यह प्रश्न होता है।

उनके (सूत्रकार के) मत में '**मासमधीते**' '**मासमास्ते**' '**योजनं धावति**' इत्यादि स्थलों में अभिव्याप्ति के अर्थ में '**कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे**' इस सूत्र के द्वारा द्वितीया का विधान व्यर्थ है क्योंकि धात्वर्थ अध्ययन, आसन, धावन आदि में विशेषण के रूप में अभिव्यापनात्मक क्रिया का अन्तर्भाव करके (क्रमशः अभिव्यापनानुकूल अध्ययन, आसन, धावन को धात्वर्थ मानकर धात्वर्थतावच्छेदकीभूत अभिव्यापनक्रिया रूप फल का आश्रय होने के कारण ही) अध्ययन, आसन, धावन का कर्म होने की वजह से ही मास, योजन आदि से द्वितीया की उपपत्ति है। (अतः उसके लिए द्वितीया का विधान व्यर्थ ही है) तादृशधात्वर्थ में यदि व्याप्ति का अन्तर्भाव न किया जाये तो '**मासमास्ते**' इत्यादि स्थलों में द्वितीया के द्वारा अभिव्याप्ति का बोधन होने पर भी (क्योंकि अभिव्याप्ति रूप फलाश्रयतया मासादि का कर्मत्व होने के कारण उससे द्वितीया नहीं हो रही है अपितु '**कालाध्वनोरत्यन्त संयोगे**' से बग़ैर कर्म संज्ञा हुए ही धात्वर्थ में अभिव्याप्ति का अन्तर्भाव न करने की स्थिति में द्वितीया हुई है) '**आस्यते मासः**' इत्यादि स्थलों पर मास आदि में स्थित्यादिव्याप्यत्व के लाभ का निर्वाह सम्भव नहीं है (क्योंकि मास की न तो कर्म संज्ञा हुई है और न तो मास पदोत्तर द्वितीया ही है जिससे कि द्वितीया के द्वारा अभिव्याप्ति का लाभ हो। इसलिए अन्य कोई मार्ग न होने के कारण यही कहना पड़ेगा कि अभिव्याप्ति रूप क्रिया का अन्तर्भाव यहाँ पर धात्वर्थ में किया जाता है, इसलिए अकर्मक भी आस धातु अभिव्याप्ति क्रिया के अन्तर्भाव से सकर्मक हो जाती है। इस प्रकार मास में स्थित्यादिव्याप्यत्व का लाभ कर्माख्यात के द्वारा ही हो पाता है। यदि कर्माख्यात स्थल में धात्वर्थ में अभिव्याप्ति का अन्तर्भाव करके ही मास में स्थित्यादि व्याप्यत्व लब्ध होता है तो कर्त्राख्यात स्थल में भी

धात्वर्थ में अभिव्याप्ति का अन्तर्भाव करके ही स्थित्यादि व्याप्यत्व लब्ध होता है, यही स्वीकारना युक्तिसङ्गत प्रतीत होता है न कि धात्वर्थ में अभिव्याप्ति का अन्तर्भाव किये बिना ही द्वितीया के द्वारा अभिव्याप्ति का लाभ स्वीकारना इसलिए **'कालाध्वनोरत्यन्त संयोगे'** सूत्र व्यर्थ ही है)

तथापि **'मासं रमणीया ( वनराजिः )'** 'वनराजि मास भर रमणीय है, **'क्रोशं कुटिला नदी'** 'नदी कोस भर कुटिल है' इत्यादि स्थलों में **'भवति'** इत्यादि का अध्याहार किये विना भी द्वितीया की साधुता का निर्वाहक होने के कारण उक्त सूत्र की सार्थकता भाष्यकार प्रतिपादित करते हैं। यहाँ पर रमणीयत्व का अभिव्याप्यत्व मास आदि में (और कुटिलत्व का अभिव्याप्यत्व क्रोश में) प्रतीत होता है। तथा यहाँ पर किसी क्रिया का समभिव्याहार तो है नहीं जिसमें कि अभिव्याप्ति का अन्तर्भाव किया जाये और क्रिया का कर्म होने के कारण मास, क्रोश आदि की कर्मता उपपन्न होकर द्वितीया हो सके। अभिप्राय यह कि यदि क्रिया का समभिव्याहार होगा तब तो उस क्रिया में अभिव्याप्ति का अन्तर्भाव करके अभिव्याप्तिरूप धात्वर्थतावच्छेदक फल का आश्रय होने के कारण काल (मासादि) और अध्व (क्रोश) आदि का कर्मत्व उपपन्न हो सकता है, यदि किसी क्रिया का समभिव्याहार ही न हो तब तो काल, अध्वा आदि का कर्मत्व नहीं ही उपपन्न हो सकेगा क्योंकि तब आप अभिव्याप्ति का अन्तर्भान किसमें करेंगे? जैसे कि **'मासं रमणीया वनराजिः'** **'क्रोशं कुटिला नदी'** इन वाक्यों में क्रिया का समभिव्याहार ही नहीं है। तो इन स्थलों पर मास में रमणीयत्वाभिव्याप्यत्व और क्रोश में कुटिलत्वाभिव्याप्यत्व का बोध कैसे होगा? तथा मास, क्रोश आदि पदोत्तर द्वितीया कैसे होगी? धात्वर्थतावच्छेदक फलाश्रयत्व रूप कर्मत्व तो मास, क्रोश आदि में है नहीं। इसलिए **'कालाध्वनोरत्यन्त संयोगे'** सूत्र के द्वारा ही यहाँ पर मास, क्रोश आदिपदोत्तर द्वितीया होती है और मास, क्रोश में क्रमशः रमणीयत्वाभिव्याप्यत्व, कुटिलत्वाभिव्याप्यत्व का बोध द्वितीया से ही होता है। इस कारण यह सूत्र सार्थक है।

इसी प्रकार **'मासमासिता'** मासभर रुकने वाला' इत्यादि स्थलों में अभिव्याप्ति के अन्तर्भाव से मास के कर्मत्व का उपपादन सम्भव होने पर भी कृद्योग होने से मास पदोत्तर षष्ठी ही होगी द्वितीया नहीं इसलिए भी उक्त सूत्र सार्थक है।

आशय यह है कि जैसे **'घटस्य कर्ता'** 'घट को करने वाला' यहाँ पर धात्वर्थ कृति का कर्म होने पर भी घट पद से द्वितीया न होकर **'कर्तृकर्मणोः कृति'** के द्वारा घटपदोत्तर द्वितीया का बाध कर षष्ठी होती है। यदि आप हर जगह पर अभिव्याप्ति का अन्तर्भाव कर के ही धात्वर्थतावच्छेदकाभिव्याप्ति कर्मत्व का उपपादन करना चाहें तो **'घटस्य कर्ता'** की तरह **'मासमासिता'** की जगह पर **'मासस्यासिता'** प्रयोग होने लगेगा क्योंकि अभिव्याप्त्यन्तर्भूत आसन क्रिया का धात्वर्थतावच्छेदकीभूत अभिव्याप्त्याश्रयतया कर्म होने के कारण मास पद से द्वितीया न होकर षष्ठी ही होगी। यदि अभिव्याप्ति का अन्तर्भाव धातु में न करें तो मास की कर्मता ही नहीं होगी, इसलिए द्वितीया के उपपादन के लिए **'कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे'** सूत्र आवश्यक है। यहाँ पर अभिव्याप्ति का अन्तर्भाव धातु में न होने से मास की कर्मता न होने पर भी इस सूत्र से द्वितीया हो जाती है। यह सूत्र द्वितीयाविधानार्थ कर्मसंज्ञा की अपेक्षा नहीं करता है।

**निष्कर्ष–** यहाँ पर गदाधर का निष्कर्ष है कि वार्तिककार ने जो वैकल्पिक कर्म संज्ञा का विधान किया है उसकी कोई ज़रूरत नहीं है। धात्वर्थ में ही अभिव्याप्ति का अन्तर्भाव करके कर्मत्व की उपपत्ति एक पक्ष में हो जायेगी। किन्तु '**मासं रमणीया वनराजिः**' '**क्रोशं कुटिला नदी**' और '**मासमासिता**' इत्यादि स्थलों पर मास आदि पदोत्तर द्वितीया की साधुता हेतु '**कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे**' सूत्र सार्थक है। '**अकर्मक धातुभिर्योगे...**' वार्तिक के द्वारा इन स्थलों पर द्वितीया की उपपत्ति नहीं हो सकती है क्योंकि प्रथम दो प्रयोगों में धातु ही नहीं है, तीसरे में धातु होने से मास की कर्मसंज्ञा वार्तिक से सम्भव होने पर भी '**कर्तृकर्मणोः कृति पा0सू0 2/3/65**' के द्वारा द्वितीयाबाधिका षष्ठी ही होगी

**अथ केयमभिव्याप्तिर्यात्यन्तसंयोग इत्युच्यते? न तावत्[1] - व्याप्य वृत्तिः कालिकः सम्बन्धः, कालिकसम्बन्धस्य व्याप्यवृत्तित्वं व्याप्यकालानवच्छिन्नत्वम्, दिवसादिमात्रवृत्तिर्मासादिनिष्ठसम्बन्धो दिवसाद्यवच्छिन्न इति तत्र 'मासमास्ते' इति न प्रयोगः। मासपदार्थश्च त्रिंशद्दिनमात्रस्थायी कश्चिदखण्डः पदार्थो न तु क्रियाप्रचयः- तथा सति दिनैकादिमात्रस्थायिनोऽपि सम्बन्धस्य कासुचित् क्रियासु व्याप्यवृत्तितया तत्र तथा व्यवहारापत्तेरिति, युक्तम् - 'चैत्रो मासं काश्यां तिष्ठति' इत्यादौ काशीसंयोगस्य मासव्यापकस्यैकस्याभावेऽप्रामाण्यप्रसङ्गात्, संयोगव्यक्तीनां मासनिष्ठकालिकसम्बन्धस्यावान्तरदण्डाद्यात्मककालावच्छिन्नत्वात्।**

अभी प्रतिपादित किया गया कि '**कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे**' सूत्र के द्वारा अभिव्याप्ति अर्थ में काल, अध्ववाची शब्दों से द्वितीया होती है। उसमें —

प्रश्न उठता है कि यह कौन सी अभिव्याप्ति है जिसे अत्यन्त संयोग कहा जाता है? यदि कहो कि व्याप्यवृत्ति कालिकसम्बन्ध को अभिव्याप्ति कहते हैं। कालिकसम्बन्ध का व्याप्यवृत्तित्व व्याप्यकालानवच्छिन्नत्व व्याप्यकाल से अनवच्छिन्नत्व ही है। मासादि में रहने वाला दिवसादिमात्रवृत्ति जो कोई सम्बन्ध है अर्थात् महीने भर न रहने वाला सिर्फ दिवसादि मात्र में रहने वाला और दिवस में रहने के कारण महीने में भी रहने वाला जो सम्बन्ध है, वह सम्बन्ध दिवसादि से अवच्छिन्न है, इसलिए वहाँ पर '**मासमास्ते**' ऐसा प्रयोग नहीं होता है। (क्योंकि वह सम्बन्ध मासव्याप्यकाल दिवस से अवच्छिन्न होने के कारण मास व्याप्यकालानवच्छिन्न नहीं है) मास पद का अर्थ यहाँ पर त्रिंशद्दिनस्थायी (तीस दिन तक स्थायी) कोई अखण्ड पदार्थ है क्रिया प्रचय नहीं क्योंकि ऐसा होने पर (क्रिया प्रचय को मासपदार्थ मानने पर) एक आध दिन में भी स्थित रहनेवाले सम्बन्ध के भी कुछ एक क्रियाओं में व्याप्यवृत्ति होने के कारण उक्त सम्बन्ध के काल में भी वैसे व्यवहार '**मासमास्ते**' प्रयोग की आपत्ति होगी। इसका आशय यह है कि यदि मास पदार्थ अखण्ड तीस दिन तक स्थायी पदार्थ माना जाये तब तो उसका व्याप्य काल दिन आदि रूप काल हो सकता है और इसलिए दिनादि मात्र में रहने वाले सम्बन्ध के व्याप्य काल दिन आदि से अवच्छिन्न होने के कारण उस दशा में '**मासमास्ते**' प्रयोग की गुञ्जाइश नहीं है। यदि

1. यहाँ पर 'न तावत् ' इस अंश की 'तथाव्यवहारापतेरिति' के बाद 'युक्तम् ' के साथ अन्वय हुआ करता है।

मासपदार्थ त्रिंशद्दिनस्थायी अखण्डपदार्थ न माना जाये अपितु क्रियाप्रचय को मास पदार्थ मानें तो क्रियाप्रचय तो कोई एक काल नहीं हुआ छोटे-छोटे कालों का समूह हुआ इसलिए दिनादिवृत्ति भी सम्बन्ध कुछेक क्रियाओं में व्याप्यवृत्ति ही है, व्याप्यकाल से अनवच्छिन्न ही है क्योंकि यदि कोई व्यापक काल हो तब न उसका व्याप्य काल कोई मिल सके यहाँ पर तो कोई काल व्यापक है ही नहीं, क्रियाप्रचय के ही मासपदार्थ होने के कारण इसलिए व्याप्यकाल से अवच्छिन्नत्व दिवादिमात्र स्थायी सम्बन्ध में भी सुलभ होगा इस कारण दिनादिमात्रस्थायी सम्बन्ध में भी '**मासमास्ते**' प्रयोग की आपत्ति होगी, मासपदार्थ को अखण्ड त्रिंशद्दिनस्थायी मानने पर दिनादिमात्रस्थायी सम्बन्ध के मासव्याप्यकाल दिनादि से अवच्छिन्न होने के कारण उक्त प्रयोग की आपत्ति नहीं होती है।

तो यह तो उक्ति सङ्गत नहीं है क्योंकि '**चैत्रो मासं काश्यां तिष्ठति**' 'चैत्र महीने भर काशी में रुकता है' इत्यादि प्रयोगों में मासव्यापक एक काशीसंयोग का अभाव होने के कारण उक्त वाक्य का अप्रामाण्य होने का प्रसङ्ग है, संयोग व्यक्तियों के मासनिष्ठकालिक सम्बन्ध के अवान्तर दण्डादिरूप काल से अवच्छिन्न होने के कारण।

अभिप्राय यह है कि इस प्रयोग में मास की अभिव्याप्ति किसमें भासेगी? संयोग में क्योंकि संयोग सम्बन्ध से ही काशी चैत्र का आधार है।उस संयोग को मासव्याप्यकाल से अवच्छिन्न नहीं होना चाहिए किन्तु मुश्किल यह है कि कोई भी ऐसा चैत्र का संयोग नहीं है जो महीने भर रहने वाला हो हर एक संयोग थोड़े-थोड़े काल में ही रहने वाला है। इस कारण मासव्याप्यकाल दण्ड, क्षण आदि से अवच्छिन्न होगा संयोग, उसमें व्याप्यकालानवच्छिन्नत्व रूप मासात्मक काल का व्याप्यवृत्ति सम्बन्ध नहीं रहा। अतः '**चैत्रो मासं काश्यां तिष्ठति**' प्रयोग के अप्रामाण्य का प्रसङ्ग होता है।

**विमर्श-** यहाँ पर जो व्याप्यवृत्ति पद प्रयुक्त हुआ है उसका अभिप्राय है व्याप्त करके रहने वाला। जहाँ पर सावच्छिन्न अधिकरणता होती है वहाँ पर अव्याप्यवृत्तित्व होता है और जहाँ पर निरवच्छिन्न अधिकरणता होती है, वहाँ व्याप्यवृत्तित्व होता है। निरवच्छिन्न का अभिप्राय व्याप्य से अनवच्छिन्न से ही है। न्यायवैशेषिक सम्प्रदाय में देश और काल दोनों को तुल्य योगक्षेम माना गया है। इसलिए अव्याप्यवृत्तित्व दो तरह का होता है 1. दैशिक अव्याप्यवृत्तित्व और 2. कालिक अव्याप्यवृत्तित्व। उदाहरण के तौर पर प्रसिद्ध उदाहरण को लें 'वृक्ष कपिसंयोगवान् है' यहाँ पर वृक्ष कपिसंयोग का अधिकरण है किन्तु वृक्ष में कपिसंयोग की अधिकरणता सावच्छिन्न है क्योंकि प्रतीति होती है '**शाखायां वृक्षः कपिसंयोगी न तु मूले**' 'वृक्ष शाखा में कपिसंयोगी है मूल में नही' इसलिए कपिसंयोग की अधिकरणता शाखावच्छिन्न है। जोकि वृक्ष का एकदेश होने के कारण वृक्ष का व्याप्य है, वृक्षव्याप्य शाखा से अवच्छिन्न होने के कारण कपिसंयोग अव्याप्यवृत्ति है। यह दैशिक अव्याप्यवृत्ति है। 'आज घट है' प्रयोग में घट का कालिक अव्याप्यवृत्तित्व है क्योंकि आज (अद्य दिन रूप) काल से अवच्छिन्न है घट की अधिकरणता, इस वजह से घट कालिक अव्याप्यवृत्ति होता है। इन दोनों प्रयोगों में क्रमशः शाखा और आज से अधिकरणता अवच्छिन्न होती है। न तो कपिसंयोग वृक्षरूपी देश को व्याप्त करके रहता है और न तो घट ही काल को व्याप्त करके रहता है इसलिए दोनों में क्रमशः दैशिक और कालिक अव्याप्यवृत्तित्व आता है।

**न च संयोगानां भेदेऽपि चैत्रीयसंयोगत्वाद्यवच्छिन्ननिरूपितकालिक**

**सम्बन्धावच्छिन्नाधारता मासव्यापिकैकैव सा च नावान्तरकालावच्छिन्नेति तत्र तदनवच्छिन्नत्वबोधकमुक्तवाक्यं भवेदेव प्रमाणमिति वाच्यम्, सामान्यघटित-विशेषधर्मावच्छिन्नाधिकरणताकूटादेव सामान्यधर्मावच्छिन्नवत्ताप्रत्ययोपपत्तेः शुद्धसामान्यधर्मावच्छिन्ननिरूपिताधिकरणतायामतिरिक्तायां मानाभावात्। यत्र त्रिशंद्दिनेषु कमपि कालमधीतं तत्र मासेऽध्ययनसम्बन्धस्याव्याप्यवृत्तितया 'मासमधीते' इति प्रयोगानुपपत्तिरपि न शक्यते वारयितुम्।**

यदि कहो कि '**चैत्रो मासं काश्यां तिष्ठति**' यहाँ पर संयोगों का भेद होने पर भी चैत्रीयसंयोगत्वादि से अवच्छिन्न (शुद्ध चैत्रीय संयोग) की कालिकसम्बन्धावच्छिन्न आधारता एक ही है जो कि मासव्यापक है वह अवान्तर दिवसादि रूप काल से अवच्छिन्न नहीं है, इसलिए मासव्याप्यकालानवच्छिन्नत्व का संयोग में बोधन कराने वाला उक्त वाक्य प्रमाण ही है। अर्थात् संयोग भले ही अनेक हों किन्तु चैत्रीयसंयोगत्वेन (चैत्रीय संयोग कहने पर) सभी मिल जाते है, चैत्रीयसंयोगत्वावच्छिन्न आधेयता से निरूपित कालिकसम्बन्धावच्छिन्ना आधारता मास व्यापक एक ही है (चैत्रीयसंयोग की मासव्यापक एक ही अधिकरणता है, भिन्न नहीं) इसलिए उक्तवाक्य का प्रामाण्य हो जायेगा क्योंकि चैत्रीयसंयोगत्वावच्छिन्न आधेयतानिरूपित कालिक सम्बन्धावच्छिन्नाधारता मासव्याप्यकाल से अवच्छिन्न नहीं है।

तो ऐसा नहीं कहना चाहिए क्योंकि सामान्यघटितविशेषधर्मावच्छिन्न अधिकरणता कूट से सामान्यधर्मावच्छिन्नवत्ता बुद्धि की उपपत्ति हो सकती है, इसलिए शुद्धसामान्य धर्मावच्छिन्ननिरूपित अतिरिक्त अधिकरणता में प्रमाण ही नहीं है। अभिप्राय यह है यदि चैत्रीयसंयोगत्वाद्यवच्छिन्न आधेयतानिरूपित अधिकरणता प्रसिद्ध हो तब तो आप 'वह मासव्यापक एक ही है और मासव्याप्यकाल से अवच्छिन्न नही है, अतः उसको बोधित करने वाले उपर्युक्त वाक्य का प्रामाण्य है' ऐसा कह सकते हैं। किन्तु चैत्रीयसंयोगत्वावच्छिन्ना धेयतानिरूपित अधिकरणता तो प्रसिद्ध ही नहीं है। क्यों नहीं प्रसिद्ध है? इसका कारण यह कि उस अधिकरणता को स्वीकार करने की ज़रूरत ही नहीं है। तत्तत् संयोग की अधिकरणता तो स्वीकारनी ही पड़ेगी क्योंकि तत्तत्संयोगवत्ता बुद्धि बग़ैर तत्तत्संयोगत्व से अवच्छिन्न आधेयतानिरूपित अधिकरणता को स्वीकार किये नहीं हो सकती है। किन्तु चैत्रीयसंयोगत्वावच्छिन्न आधेयतानिरूपित अधिकरणता को स्वीकारे बिना ही तत्तत्संयोग त्वावच्छिन्नाधेयतानिरूपित अधिकरणता के ही आधार पर चैत्रीयसंयोगवत्ता बुद्धि हो सकती है। इसलिए चैत्रसंयोगत्वावच्छिन्नाधेयतानिरूपित अधिकरणता अप्रसिद्ध है। चैत्रसंयोगत्व रूप सामान्य से घटित तत्तत्संयोगत्वरूप विशेष धर्म से अवच्छिन्न अधिकरणता कूट से ही चैत्र संयोगत्वावच्छिन्नवत्ताबुद्धि उपपन्न हो सकती है, अतः चैत्रसंयोगत्व रूप शुद्धसामान्यधर्म से अवच्छिन्न अधिकरणता का स्वीकार अनुचित है।इस कारण चैत्रीय संयोगत्वावच्छिन्ना-धेयतानिरूपित कालिकसम्बन्धावच्छिन्ना एक आधारता अप्रसिद्ध ही है जो कि मासव्यापक हो अतः '**चैत्रः मासं काश्यां तिष्ठति**' प्रयोग का अप्रामाण्य ही होगा।

इसके अलावा जहाँ पर तीसों ही दिनों में कुछ ही काल तक अध्ययन किया गया है, वहाँ पर तो मास में अध्ययन सम्बन्ध के अव्याप्यवृत्ति होने के कारण '**मासमधीते**' इस प्रयोग की अनुपपत्ति का भी वारण शक्य नहीं है। अभिप्राय यह है कि यदि '**चैत्रः**

**मासं काश्यां तिष्ठति**' प्रयोग का प्रामाण्य किसी तरह प्रतिपादित भी किया जा सके फिर भी '**मासमधीते**' का प्रमाण्य नहीं प्रतिपादित किया जा सकता है क्योंकि लगातार महीनेभर तो पढ़ेगा नहीं, अनेक कार्यों का बीच-बीच में सम्पादन होगा, महीने के प्रतिदिन थोड़े ही समय पढ़ेगा । इस प्रकार कोई भी अध्ययन मासव्याप्यवृत्ति नहीं होगा अपितु मासव्याप्य क्षण, दण्ड, घटी आदि से ही अवच्छिन्न होगा। इसलिए मासव्याप्यवृत्ति अध्ययन का बोधन करने के लिए '**मासमधीते**' प्रयोग की भी अनुपपत्ति होगी।

**विमर्श-** यहाँ पर गदाधर ने एक विवादास्पद बात कही है कि 'सामान्यघटितविशेष धर्मावच्छिन्न आधेयता से निरूपित अधिकरणता कूट से ही सामान्यधर्मावच्छिन्नवत्ता प्रतीति की उपपत्ति हो सकती है इसलिए अतिरिक्त सामान्यधर्मावच्छिन्न आधेयता निरूपित अधिकरणता में कोई प्रमाण नहीं है' इस प्रकार धूमत्वादि से अवच्छिन्न आधेयता निरूपित अधिकरणता में भी कोई प्रमाण नहीं है और धूमादिमत्ताबुद्धि की उपपत्ति तत्तद्धूमत्वावच्छिन्नाधेयतानिरूपित अधिकरणता के आधार पर हुआ करती है। इस प्रकार सामान्यधर्मावच्छिन्नाधेयता निरूपित अधिकरणता का उच्छेद ही हो जायेगा।

वस्तुतः सामान्यधर्मावच्छिन्नाधेयतानिरूपित अधिकरणता को विना स्वीकारे काम नहीं चल सकता है। इसीलिए '**न च रत्नमालिका**' में श्री शास्तृशर्मा ने सामान्य धर्मावच्छिन्नाधेयतानिरूपित अधिकरणता को स्वीकार किया है और उसमें युक्ति दी है कि '**घटसमुदायो रूपवान्**' यह प्रतीति ही प्रमाण है। इस प्रतीति में कोई समुदायत्व से अवच्छिन्न अधिकरणता भासित होती है, वह अधिकरणता तद्रूपत्वादिविशेषधर्म (सामान्य रूपत्व से घटित तद्रूपत्वादि विशेष धर्म) से अवच्छिन्न आधेयता से निरूपिता नहीं हो सकती है क्योंकि घटसमुदाय में तद्रूप की प्रतीति नहीं हो रही है तद्रूपत्वावच्छिन्नाधेयता निरूपिता अधिकरणता घट समुदायत्व से अवच्छिन्न नहीं हो सकती क्योंकि तद्रूप घट में रह सकता है घट समुदाय में नहीं, इसलिए रूपत्वावच्छिन्न आधेयता से निरूपित ही घट समुदायत्वावच्छिन्न अधिकरणता स्वीकारनी पड़ेगी (द्रष्टव्य **न च रत्नमालिका** पृ. 29-30 सं.सं.वि.वि.वाराणसी)

तथापि '**मासमधीते**' प्रयोग की अनुपपत्ति फिर भी होगी, चैत्रसंयोगत्वावच्छिन्न आधेयतानिरूपित किसी न किसी अधिकरणता के मास भर रहने के कारण मासव्यापिका चैत्रसंयोगत्वावच्छिन्नाधेयतानिरूपित अधिकरणता तो प्राप्त हो सकती है क्योंकि कोई भी क्षण ऐसा न होगा जब चैत्रसंयोग न हो किन्तु किसी भी अध्ययन के मासभर न रहने के कारण अनेक क्षण ऐसे होंगे जब अध्ययन नहीं होगा । इसलिए अध्ययनत्व से अवच्छिन्न आधेयता निरूपित अधिकरणता मास भर तो है नहीं, बहुत सारे मासव्याप्य क्षणादि ऐसे होगे जब अध्ययनत्वावच्छिन्नधेयतानिरूपित कोई भी अधिकरणता नहीं होगी। इसलिए मासव्यापकाध्ययन (मासव्याप्यवृत्ति अध्ययन) नहीं सम्भव होने के कारण इस प्रयोग की अनुपपत्ति ही होगी।

**उच्यते- अभिव्याप्तिर्यावदवयवसम्बन्धः, यत्समुदायो मासादिपदार्थस्त एव तदवयवाः, एवञ्च त्रिंशद्दिनानां मासपदार्थतया त्रिंशद्दिनेषु किञ्चित्का लावच्छेदेनाध्ययनसम्बन्धेऽपि 'मासमधीते' इति प्रयोगोपपत्तिः। त्रिंशद्दिन-**

**सम्बन्धश्च दिनपर्याप्तत्रिंशत्त्वव्यापकत्वम्, तादृशत्रिंशत्त्वादेश्च मासादिपदप्रवृत्तिनिमित्तस्य मासादिपदादेव लाभाद् व्यापकत्वमात्रं द्वितीयार्थः।**

(सिद्धान्त रूप में) बताया जाता है कि अभिव्याप्ति का अर्थ यावदवयव सम्बन्ध है। जिनका समुदाय मास पदार्थ होता है। वही उसके (मास आदि के) अवयव हैं। उस प्रकार त्रिंशद् दिनों के मासपदार्थ होने के कारण तीसों ही दिन कुछ-कुछ काल ही अध्ययन का सम्बन्ध होने पर भी '**मासमधीते**' प्रयोग की उपपत्ति होती है (क्योंकि यावदवयव मास के तीस दिन रूप अवयव, उन अवयवों से तीसों ही दिनों से अध्ययन का सम्बन्ध विद्यमान ही है) त्रिंशद्दिनसम्बन्ध का अर्थ दिनपर्याप्त त्रिंशत्त्वव्यापकत्व है और दिन पर्याप्त त्रिंशत्त्व आदि मास आदि पदों से ही लाभ हो जाता है क्योंकि त्रिंशत्त्व (दिनपर्याप्त त्रिंशत्त्व) आदि ही मास आदि पदों की प्रवृत्ति के निमित्त (प्रवृत्तिनिमित्त) हैं, इसलिए अत्यन्तसंयोग अर्थ में होने वाली द्वितीया का अर्थ व्यापकत्व मात्र ही है।

**व्यापकत्वञ्च व्याप्यविशेषाघटितमखण्डं दुर्वचमिति खण्डशोऽभावप्रतियोगितावच्छेदकत्वमभावश्च द्वितीयार्थः। प्रथमाभावे प्रकृत्यर्थो मासादिराधेयतासम्बन्धे नान्वेति, मासादिनिष्ठाभावप्रतियोगितावच्छेदकत्वत्वावच्छिन्नस्य च प्रतियोगितयाऽभावान्तरेऽन्वयः, तस्य चान्वयितावच्छेदक चैत्रकर्तृकाध्ययनत्वरूपस्वाश्रयघटितपरम्परासम्बन्धेनाध्ययनादावन्वयः।**

चूँकि व्यापकत्व व्याप्यविशेष से अघटित अखण्ड दुर्वच है, इसलिए खण्डशः अभावप्रतियोगितावच्छेदकत्व और अभाव द्वितीया के अर्थ होते हैं। अभिप्राय यह है कि व्यापकत्व द्वितीया का अर्थ है ऐसा बतलाया, व्यापकत्व की कुक्षि में यदि व्याप्य का प्रवेश न किया जाये तो व्यापकत्व अखण्ड दुर्वच है, अभावप्रतियोगितानवच्छेदकत्व रूप ही व्यापकत्व हो सकता है । वह तो केवलान्वयिवृत्तिधर्म का ही हो सकता है । अन्यत्र व्यतिरेकी व्यक्तिवृत्ति धर्म का नहीं। अध्ययन आदि के केवलान्वयी न होने के कारण अध्ययन आदि में ऐसा व्यापकत्व नहीं व्यवस्थापित किया जा सकता है। इसलिए द्वितीया का अर्थ अखण्ड व्यापकत्व नहीं हो सकता है, इस कारण द्वितीया की खण्डशः शक्ति अभावप्रतियोगितावच्छेदकत्व और अभाव में है।

प्रथमाभाव में प्रकृत्यर्थ मास आदि आधेयतासम्बन्ध से अन्वित होता है और मास आदि निष्ठ अभाव प्रतियोगितावच्छेदकत्वत्व से अवच्छिन्न का प्रतियोगितया अभावान्तर में अन्वय होता है। (जो कि द्वितीया का अपरार्थ है अभावप्रतियोगितावच्छेदकत्वत्व से अवच्छिन्न अभावप्रतियोगितावच्छेदकत्व ही होता है उसी का अभावान्तर में अन्वय होता है) और उस अभावान्तर का जो अन्वयितावच्छेदकीभूत चैत्रादिकर्तृकाध्ययनत्वादिरूप स्वाश्रय, उससे घटित परम्परा (स्वाश्रयाध्ययनत्ववत्त्व) सम्बन्ध से अध्ययन आदि में अन्वय होता है। इस प्रकार '**चैत्रो मासमधीते**' से '**मासनिष्ठाभावप्रतियोगितावच्छेदकत्वाभावाश्रयाध्ययनत्ववदध्ययनाश्रयश्चैत्रः**' 'मासनिष्ठ अभावप्रतियोगितावच्छेदकत्वाभावाश्रय अध्ययनत्ववदध्ययन का आश्रय चैत्र है' ऐसा शाब्दबोध हुआ करता है।

मासनिष्ठ अभावप्रतियोगितावच्छेदकत्व के अभाव का आश्रय का अध्ययनत्व इस प्रकार से होता है- मासभर पढ़ रहा है, अतः मास में अध्ययन का अभाव नहीं प्राप्त हो

सकता है। नृत्यगीतादि जो नहीं कर रहा है उसी का अभाव प्राप्त हो सकेगा, इस वजह से मास में रहने वाले अभाव के प्रतियोगी नृत्यगीत आदि ही हुए न कि अध्ययन (क्योंकि अध्ययन का तो अभाव ही मास में नहीं रहने वाला है) मासनिष्ठाभावप्रतियोगितावच्छेदक नृत्यत्व, गीतत्व आदि ही हो सकेंगे न कि अध्ययनत्व। मासनिष्ठाभावप्रतियोगितावच्छेदकत्व नृत्यत्व, गीतत्व आदि में रहेगा और प्रतियोगितावच्छेदकत्वाभाव अध्ययनत्व में रहेगा। इस प्रकार मासनिष्ठाभावप्रतियोगितावच्छेदकत्व के अभाव का आश्रय अध्ययनत्व हुआ।

मासनिष्ठाभावप्रतियोगितावच्छेदकत्वाभाव का आश्रय अध्ययनत्व और अध्ययनत्ववत् अध्ययन होता है तादृश अध्ययनत्ववत्त्व अध्ययन में है । इसलिए स्वाश्रयाध्ययनत्ववत्त्व रूप परम्परा सम्बन्ध से अध्ययन में मासनिष्ठाभावप्रतियोगितावच्छेदकत्वत्वावच्छिन्न का अभाव विद्यमान है। शाब्दबोध सुगम है।

**प्रथमाभावे च प्रतिव्यधिकरणत्वं विशेषणमुपादेयम्, येन त्रिंशद्दिनेष्वेव यत्राधीतं तत्र दिनावान्तरदण्डादावध्ययनाभावेऽप्युक्तप्रयोगोपपत्तिः। मासपदं च त्रिंशद्दिनपरमेव न तु तावत्कालस्थाय्यखण्डवस्त्वन्तरपरम्, एकदिनाध्ययनस्थलेऽपि तादृशाखण्डकाले प्रतियोगिव्यधिकरणाध्ययनाभावासत्त्वेन 'मासमधीते' इति प्रयोगापत्तेः। मासघटकञ्च दिनं सूर्योदयावधि सूर्योदयान्तर पर्यन्तस्थाय्यखण्डवस्तुरूपं न तु क्रियादिप्रचयः- तथा सत्येकैकक्रियादिव्यक्तेरपि मासत्वाधिकरणतया तत्र प्रति योगिव्यधिकरणाध्ययनाभावसत्त्वेन व्यापकत्वरूप द्वितीयार्थस्य बाधापत्तेः।**

प्रथमाभाव में प्रतियोगिव्यधिकरणत्व विशेषण प्रदान करना चाहिए, जिससे त्रिंशद्दिनों में ही जिसमें कि अध्ययन किया गया है इसमें दिन के अवान्तर दण्ड आदि में अध्ययन का अभाव होने पर भी उक्त प्रयोग की उपपत्ति होती है।

इस पंक्ति का अभिप्राय यह है कि द्वितीया का अर्थ बतलाया गया अभाव प्रतियोगितावच्छेदकत्व और अभाव '**मासमधीते**' यहाँ पर 'मासवृत्त्यभाव प्रतियोगितावच्छेदकत्वाभावाश्रय अध्ययनत्ववद् अध्ययन का आश्रयत्व' बोधित होता है। किन्तु मास में तीसों दिनों में लगातार तो पढ़ेगा नहीं इसलिए जिन तीस दिनों में पढ़ रहा है उन्हीं दिनों में नहीं भी पढ़ रहा है, किसी क्षण में पढ़ रहा है किसी क्षण में नहीं पढ़ रहा है। इसलिए जिन तीसों दिनों के अनेक क्षण, दण्ड (घटी) आदि में अध्ययन का अभाव मिल जायेगा और उसका प्रतियोगी अध्ययन, प्रतियोगितावच्छेदक अध्ययनत्व होगा तथा प्रतियोगितावच्छेदकत्व ही अध्ययनत्व में रहेगा। इस प्रकार मासवृत्त्यभाव (अध्ययनाभाव) प्रतियोगितावच्छेदकत्व ही अध्ययनत्व में होने के कारण मासवृत्त्यभावप्रतियोगिता-वच्छेदकत्वाभावाश्रयाध्ययनत्व नहीं होगा, इतः तद्वदध्ययन व उसके आश्रयत्व का बोधन बाधित होने के कारण सम्भव न होगा। अतः प्रथमाभाव (प्रकृत्यर्थ में वृत्ति अभाव) को प्रतियोगिव्यधिकरण लेना चाहिए। यहाँ पर जो अध्ययनाभाव ले रहे हो वह तो प्रतियोगिसमानाधिकरण (प्रतियोगी अध्ययन के अधिकरण में रहने वाला) है। क्योंकि तीसों दिनों में कोई भी दिन ऐसा नहीं है जिसमें कि अध्ययन न हो बल्कि सभी दिनों में ही अध्ययन विद्यमान है। अतः तीसों दिनों में यदि आप किसी क्षण, दण्ड आदि अवच्छेदेन अध्ययनाभाव लेंगे तो वह तो प्रतियोगिसमानाधिकरण

ही होगा न कि प्रतियोगिव्यधिकरण। इसलिए मासवृत्ति प्रतियोगिव्यधिकरण अभाव के प्रतियोगितावच्छेदकत्व का अभाव अध्ययनत्व में विद्यमान है और अध्ययनत्व उक्ताभाव का आश्रय है। शाब्दबोध बाधित नहीं होता।

मासपद यहाँ पर त्रिंशद् दिनपरक है न कि त्रिंशद्दिन स्थायी अखण्डवस्त्वन्तर परक (जैसा कि पृ0 474 पर प्रतिपादित किया गया था) क्योंकि (त्रिंशद्दिनस्थायी अखण्ड वस्त्वन्तर परक मासपद को मानने पर) एक दिन अध्ययन स्थल में भी (एक दिन ही अध्ययन की स्थिति में भी) वैसे (त्रिंशद् दिन स्थायी) अखण्ड काल में प्रतियोगिव्यधिकरण अध्ययनाभाव न होने की वजह से '**मासमधीते**' इस प्रयोग की आपत्ति होगी।

अभिप्राय यह है कि मास पद का अर्थ त्रिशद् दिन होने पर यदि एक ही दिन चैत्रादि न अध्ययन किया है तो '**मासमधीते**' प्रयोग की आपत्ति नहीं होती है। क्योंकि इस वाक्य से 'मासवृत्ति (त्रिंशद् दिन वृत्ति[1]) प्रतियोगिव्यधिकरण अभाव प्रतियोगितावच्छेदकत्वाभावाश्रय अध्ययनत्ववदध्ययन का आश्रयत्व बोधित होता है और एक ही दिन अध्ययन होने पर अन्यदिनों में अध्ययनाभाव के वृत्ति होने के कारण प्रतियोगितावच्छेदकत्व ही अध्ययनत्व में रहेगा न कि प्रतियोगितावच्छेदकत्वाभाव। अतः उक्त प्रयोग बाधितार्थक होने के कारण नहीं होता है। यदि मासपद को त्रिंशद्दिन स्थायी अखण्डवस्तु परक मानें तो यदि एक दिन भी अध्ययन है तो अध्ययनाभाव प्रतियोगिव्यधिकरण नहीं हो सकेगा क्योंकि अध्ययन का अधिकरण मास हुआ और उसी में आप अध्ययनाभाव को पकड़ेगे। इस प्रकार अध्ययनाभाव तो प्रतियोगिसमानाधिकरण होने के कारण नहीं पकड़ा जा सकेगा, इसलिए मासवृत्ति प्रतियोगिव्यधिकरण अभाव प्रतियोगितावच्छेदकत्वाभाव का आश्रय ही अध्ययनत्व होगा। आगे तो शाब्दबोध अबाधित ही है। इसलिए मासपद त्रिंशद् दिन परक है।

मासघटक दिन सूर्योदय से लेकर दूसरे सूर्योदय पर्यन्त स्थायी अखण्डवस्तुरूप है न कि क्रिया प्रचय रूप क्योंकि यदि दिन को क्रिया प्रचयरूप माना जायेगा तो एक-एक क्रियाव्यक्ति के भी मासत्व का अधिकरण होने से (एक-एक क्रियाव्यक्ति के भी मास पदार्थ होने से) उसमें तो प्रतियोगिव्यधिकरण अध्ययनाभाव के रहने के कारण व्यापकत्व रूप द्वितीयार्थ का बाध हो जायेगा। अभिप्राय यह कि मासघटक दिन पद सूर्योदय से लेकर दूसरे सूर्योदय तक स्थायी अखण्डवस्तुपरक है क्रिया प्रचय रूप नहीं। क्यों? इसका कारण यह है कि दिन आदि को क्रियाप्रचयरूप मानने पर क्रियाएँ ही मास की अवयव होगी। तथा ऐसी स्थिति में मासघटक यावत्क्रियाकाल में अध्ययन होने पर ही '**मासमधीते**' प्रयोग सम्भव होगा यदि किसी भी क्रिया में अध्ययनाभाव है तो वह मासवृत्ति प्रतियोगिव्यधिकरण ही अध्ययनाभाव है, प्रतियोगितावच्छेदकत्वाभाव का आश्रयत्व अध्ययनत्व में नहीं प्राप्त हो सकेगा। जब दिन पद को अखण्डवस्तु रूप मान लेते हैं तो मास घटक (मास के अवयव) दिन ही होंगे और सभी तीसों दिनों में अध्ययन होना चाहिए वह है तो किसी भी दिन में प्रतियोगिव्यधिकरण अध्ययनाभाव नहीं प्राप्त होगा। अतः तादृशाभावप्रतियोगितावच्छेदकत्वाभावाश्रयाध्ययनत्ववदध्ययन व उसका आश्रयत्व प्राप्त हो जायेगा जो कि उक्त वाक्य से बोध्य होता है। इसलिए ऐसा प्रयोग होने में कोई समस्या नहीं है।

---

1- त्रिशद् दिन वृत्ति से एक एक कर तीसों में से किसी भी दिन में वृत्ति अर्थ विवक्षित है।

**'दिवसं स्वपिति' इत्यादौ च दिवसादिपदं सूर्योदयावधि सूर्योदयान्तरपर्यन्त क्षणकूटपरमेव, अतो नैकदण्डादिस्वप्ने तथा प्रयोगः।**

**'दिवसं स्वपति'** 'दिन भर सोता है' इत्यादि स्थलों में तो दिवस आदि पद सूर्योदय से लेकर दूसरे सूर्योदय तक के क्षणकूट परक है, इसलिए एक घटी मात्र सोने पर वैसा प्रयोग नहीं होता है।

भाव यह है कि **'मासमधीते'** यहाँ पर भले दिन पद को सूर्योदय से लेकर दूसरे सूर्योदय तक स्थायी अखण्डवस्तुपरक माना गया हो किन्तु **'दिवसं स्वपिति'** यहाँ पर दिन पद वैसे (तत्परक) नहीं है क्योंकि एक-आध घण्टा भी दिन में सो लिया है तो भी वैसा प्रयोग होने लगेगा। क्यों? इसलिए—इस वाक्य से बोध्य होगा 'दिवसवृत्ति प्रतियोगिव्यधिकरणाभावप्रतियोगितावच्छेदकत्वाभावाश्रय स्वापत्ववत्स्वाप का आश्रयत्व' यदि दिन में थोड़ा भी सो लिया है तो दिवस में स्वापाभाव प्रतियोगिसमानाधिकरण ही होगा प्रतियोगिव्यधिकरण नहीं। दिवसवृत्ति प्रतियोगिव्यधिकरण अभाव का प्रतियोगितावच्छेदकत्व ही स्वापत्व में नहीं रहेगा। आगे तो सुलभ ही है। उपर्युक्त रीति से ही यहाँ पर समझना चाहिए। जब सूर्योदय से लेकर सूर्योदयान्तर पर्यन्त क्षणकूट को दिवस मानते हैं तो यदि सभी क्षणों में (उक्त क्षण कूट में) स्वाप का सम्बन्ध होगा तभी यह प्रयोग सङ्गत होगा, किसी भी क्षण में स्वाप नहीं है तो उस क्षण में रहने वाला स्वापाभाव प्रतियोगिव्यधिकरण भी होगा, क्योंकि उस क्षण में प्रतियोगीस्वाप नहीं है और दिवसवृत्ति भी होगा क्योंकि वह क्षण दिवसान्तर्गत है। यदि दिवसवृत्तिस्वापाभाव प्राप्त हो गया तो प्रतियोगितावच्छेदकत्व ही स्वापत्व में होने की वजह से तादृश प्रतियोगितावच्छेदकत्वाभावाश्रयस्वापत्व आदि की तो अप्रसिद्धि ही होगी। अतः ऐसी स्थिति में ऐसा प्रयोग नहीं होता है।

**अथ व्यापकत्वस्य द्वितीयार्थत्व एक मासादिव्यापकाध्ययनस्थलेऽपि मासान्तरेऽध्ययनाभावसत्त्वेन मासत्वादिव्यापकताया अध्ययने बाधेन 'मासमधीते' इत्यादिप्रयोगानुपपत्तिः।**

किन्तु व्यापकत्व को द्वितीया का अर्थ मानने पर एकमासादि व्यापक अध्ययन के स्थल में भी मासान्तर में अध्ययन का अभाव रहने के कारण अध्ययन में मासादिव्यापकता का बाध होने के कारण **'मासमधीते'** प्रयोग की अनुपपत्ति होगी?

इस प्रश्न का अभिप्राय यह है कि **'मासमधीते'** से 'मासवृत्तिप्रतियोगिव्यधिकरणाभाव प्रतियोगितावच्छेदकत्वाभावाश्रयाध्ययनत्ववदध्ययन का आश्रयत्व' ही बोधित होता है। किन्तु यह बोध्य अर्थ तो बाधित है क्योंकि मासवृत्ति प्रतियोगिव्यधिकरण अभाव का प्रतियोगितावच्छेदकत्व ही अध्ययनत्व में विद्यमान है। यह कैसे? इस तरह- एक मास में अध्ययन प्रतिदिन किया गया, किसी मास में नहीं किया गया। मास तो मास, यह तो आपने बताया नहीं कि कौन सा मास पकड़ें? मास करके उस मास को लिया जिसमें अध्ययन नहीं है। इस तरह मासवृत्ति अध्ययनाभाव प्रतियोगितावच्छेदकत्व ही अध्ययनत्व में है प्रतियोगितावच्छेदकत्वाभाव नहीं है। जबकि उक्तवाक्य से मासवृत्ति प्रतियोगिव्यधिकरणाभाव प्रतियोगितावच्छेदकत्वाभाव अध्ययनत्व में बोधित होता है। इस प्रकार बधितार्थक होने के कारण ऐसा प्रयोग नहीं हो सकता है। मास की उपस्थिति तन्मासत्वेन तो होती नहीं है जिससे कि अध्ययनाश्रय मास पकड़ा जा सके।

**न च मासपदेन यत्किञ्चित्त्रिंशद्दिनमात्रवृत्तिविशेषधर्मप्रकारेणानुपस्थापनेऽपि तद्धर्मवत्स्वनिरूपिताधेयत्वसम्बन्धेन मासपदार्थस्याभावेऽन्वयोपगमाद् यत्किञ्चिन्मासनिष्ठाभावप्रतियोगितावच्छेदकत्वमन्वयितावच्छेदके लभ्यत इति न काप्यनुपपत्तिरिति वाच्यम्, तत्तन्मासमात्रवृत्तिधर्मविशेषाणां सम्बन्धघटकत्वेऽपि शाब्दबोधे संसर्गतात्पर्यज्ञानस्य हेतुतया संसर्गविशेषोपस्थितेरपेक्षितत्वात् । सम्बन्धघटकतादृशधर्मान् विशिष्याविदुषः शाब्दबोधानुदयप्रसङ्गात् ।**

**न चेष्टापत्तिः- अनुभवविरोधात्, अनागतादिमासवृत्तितादृशधर्माणां विशिष्य ज्ञानसामग्र्या असर्वज्ञस्य दुर्लभतयाऽस्मदादीनां सर्वेषामेव तादृशमासत्वव्यापकताबोधोच्छेदप्रसङ्गात् ।**

यदि कहो कि मास पद से यत्किञ्चित् त्रिंशद्दिनमात्रवृत्ति विशेषधर्म को प्रकार बनाते हुए उपस्थिति न होते हुए भी तद्धर्मवत्स्वनिरूपिताधेयत्व सम्बन्ध से मास पदार्थ का अभाव में अन्वय स्वीकारने के कारण यत्किञ्चिन्मासनिष्ठ अभावप्रतियोगितानवच्छेदकत्व अन्वयितावच्छेदक में लब्ध हो जाता है इसलिए कोई भी अनुपपत्ति नहीं है। अर्थात् यद्यपि मासपद से जिस किसी (किसी एक) त्रिंशद् दिन मात्र में रहने वाले विशेषधर्म तन्मासव्यक्तित्व को प्रकार बनाते हुए मास की उपस्थिति नहीं होती है, इसकारण तन्मासत्वव्यापकता का अध्ययन में सीधे-सीधे भान नहीं हो सकता और मासत्वव्यापकता तो अध्ययन में बाधित ही है। तथापि यदि यह स्वीकार कर लिया जाये कि तद्धर्मवत् (तन्मासत्ववत्) स्व (मास) निरूपित आधेयत्व सम्बन्ध से मास पदार्थ का अभाव पदार्थ में अन्वय होता है यह अभाव पदार्थ द्वितीया के एक अर्थ अभावप्रतियोगितावच्छेदक का एकदेश है। पूर्व में मास का आधेयत्व सम्बन्ध से अभाव में कर रहे थे, अतः मासव्यापकता का अध्ययन में लाभ होता था जो कि बाधित है। अब तद्धर्म (तन्मासत्व आदि) वत् स्वनिरूपिताधेयत्व सम्बन्ध से (आकाङ्क्षाभास्य सम्बन्ध से) अभाव में मास का अन्वय स्वीकार कर रहे हैं। इस कारण तन्मासत्ववत् (तन्मास) की व्यापकता का (तन्मासनिष्ठाभावप्रतियोगितानवच्छेदकत्व का अध्ययनत्व में और तद्वत्त्व रूप व्यापकत्व का) अध्ययन में लाभ होता है। इस प्रश्न का सार यह है कि तद्धर्म = तन्मासत्व को प्रकार बनाकर मास पद से मास की उपस्थिति न होने के कारण तद्धर्मवत् मासव्यापकता का शब्दतः लाभ नहीं हो सकता है, किन्तु तद्धर्म का संसर्गविधया तो भान हो ही सकता है इसलिए मास और अभाव के बीच मे आने वाले आकाङ्क्षाभास्य संसर्ग में यदि तद्धर्म का प्रवेश कर दिया जाये तो तद्धर्मवन्मासव्यापकता का अध्ययन में लाभ हो जायेगा। इसमें पूर्वधारणा है कि आकाङ्क्षाभास्य संसर्गविधया तद्धर्म का भान होने के लिए तद्धर्म के उपस्थिति की अपेक्षा नहीं होगी।

तो ऐसा नहीं कहना चाहिए क्योंकि तत्तन्मासवृत्ति धर्म विशेषों (तन्मासत्व आदि) के सम्बन्ध घटक होने पर भी शाब्दबोध में संसर्गतात्पर्यज्ञान की भी कारणता होने के कारण संसर्ग विशेषोपस्थिति अपेक्षित होती है। इस विषय में पूर्व में (पृ. 232-233 व 362 पर) स्पष्टतः बतलाया जा चुका है। इसलिए संसर्गविधया तद्धर्मघटित तद्धर्मवत् स्वनिरूपिताधेयत्व सम्बन्ध का भान होने के लिए 'तद्धर्मवत्स्वनिरूपिताधेयत्व' की तात्पर्य ज्ञान के अन्तर्गत

उपस्थिति होनी ही चाहिए। जबकि तद्धर्म की उपस्थिति ही नहीं है।इसमें सिद्धान्ती यह कह रहें हैं कि आकाङ्क्षाभास्यसंसर्गविधया तद्धर्म का भान होने के लिए भी संसर्गतात्पर्यज्ञान हेतु संसर्गान्तर्गत तद्धर्म के उपस्थिति की अपेक्षा होती ही है। बग़ैर तद्धर्म की उपस्थिति के 'तद्धर्मवत् स्वनिरूपिताधेयत्व' का संसर्गविधया संसर्गमर्यादा से भी भान नहीं हो सकता है। इसलिए सम्बन्धघटकी भूत वैसे (तन्मासत्व आदि) धर्मों को विशेष करके न जानने वाले को शाब्दबोध के अनुदय का प्रसङ्ग होगा। जबकि कौन से मास में पढ़ रहा है इसे तन्मासत्व को) जाननेवाले व्यक्ति को भी **'मासमधीते'** से शाब्दबोध तो होता ही है। इसकारण आप इष्टापत्ति है (तद्धर्म को विशेष करके न जानने वाले को शाब्द बोध नहीं ही होता है यह हमें इष्ट है) ऐसा भी नहीं कह सकते हैं क्योंकि अनुभव का विरोध होगा। अनागत आदि मासों में वृत्ति तादृश तन्मासत्व आदि धर्मों की विशेष कर के ज्ञानसामग्री के असर्वज्ञ को दुर्लभ होने के कारण हम लोगों को सभी को ही तादृशमासत्वव्यापकता बोध के उच्छेद का प्रसङ्ग होगा। अर्थात् न आये हुए मास को भी विषय करते हुए **'मासमध्येष्यते'** 'मासभर पढ़ेगा' ऐसा प्रयोग होता है, इसमें अध्ययन में तादृश (अनागततद्) मासत्व की व्यापकता का बोध हुआ करता है। किन्तु यहाँ पर अनागत मास में रहने वाले तत्तन्मासव्यक्तित्व आदि का विशेष कर के ज्ञान की सामग्री ही असर्वज्ञ के लिए दुर्लभ है, इस कारण हम जैसे सभी असर्वज्ञों को इस वाक्य से अध्ययन में तादृशमासत्वव्यापकता का बोध होता है, वह उच्छिन्न हो जायेगा।

इस प्रकार आपकी यह आशङ्का खडित हो जाती है कि 'तद्धर्मवत्स्वनिरूपिताधेयत्व' रूप आकाङ्क्षाभास्य सम्बन्ध से मास पदार्थ का अभाव में अन्वय करके मास अभिव्याप्ति का अध्ययन में लाभ कर लेंगे। पूर्वोक्त प्रश्न 'व्यापकत्व को द्वितीया का अर्थ मानने पर एक मासादिव्यापक अध्ययन स्थल में भी मासान्तर में अध्ययनाभाव रहने के कारण अध्ययन में मासत्वव्यापकता का बाध होने से **'मासमधीते'** प्रयोग नहीं हो सकेगा? विद्यमान ही है।

**न च तादृशवाक्यार्थतात्पर्यमेव संसर्गतात्पर्यम् उक्तज्ञाने च वाक्यार्थ घटकः सम्बन्धः संसर्गमर्यादयैव भासत इति विशेषरूपेणानुपस्थितस्यैवोक्तधर्मघटितसम्बन्धस्य तात्पर्यज्ञाने बाधाभावबलात् शाब्दबोधे च तात्पर्यज्ञान बलाद् भानमनपवादमेवेति वाच्यम्, एकपदार्थविशिष्टापरपदार्थरूपवाक्यार्थ विशेषिततत्प्रतीतीच्छारूपतात्पर्यविषयकनिश्चयस्य प्राक् वाक्यार्थानिश्चये दुर्घटतया तस्य शाब्दधीहेतुत्वे च योग्यतासंशयाच्छाब्दबोधानुपपत्तेर्विशकलिततत्तत्पदार्थतत्तत्संसर्गविषयकत्वविशेषितप्रतीतीच्छाज्ञानस्यैव शाब्दधीहेतुताया उपेयत्वात् तत्र च तादृशसंसर्गोपस्थितेरवश्यापेक्षणीयत्वात्**

यदि कहो कि तादृशवाक्यार्थतात्पर्य ही संसर्गतात्पर्य हुआ करता है, उक्त ज्ञान में वाक्यार्थ घटक सम्बन्ध संसर्गमर्यादा से ही भासित होता है इस कारण विशेष रूप से अनुपस्थित भी उक्तधर्म घटित सम्बन्ध का तात्पर्यज्ञान होने में बाधक न होने के कारण शाब्दबोध में तात्पर्यज्ञान के बल से भान अनपवाद ही है। अभिप्राय यह है कि शाब्दबोध में संसर्ग प्रकार या विशेष्य बन कर तो भासता नहीं है इसीलिए उसकी पदजन्य उपस्थिति

आवश्यक नहीं होती है। इस लिए '**एकपदार्थविशिष्ट अपरपदार्थरूप वाक्यार्थ बोध के प्रति तादृश ( एकपदार्थविशिष्ट अपरपदार्थ रूप ) वाक्यार्थ विषयक बोधनेच्छारूप तात्पर्यज्ञान की कारणता होती है**' यही स्वीकारना बेहतर है। जैसे- नीलपदार्थविशिष्ट-घट रूप वाक्यार्थ बोध के प्रति '**नीलो घटः**' वाक्य नीलपदार्थ विशिष्टघटबोधनेच्छा से उच्चरित है यह तात्पर्यज्ञान ही कारण होगा। इसी प्रकार यहाँ पर '**मासमधीते**' में 'यह वाक्य मासविशिष्टाभाव प्रतियोगितावच्छेदकत्वाभाववदाश्रय बोधनेच्छा से उच्चरित है' ऐसा तात्पर्यज्ञान तद्धर्मवत् स्वनिरूपिताधेयत्व सम्बन्ध से मास का अभाव में अन्वय होकर उपर्युक्ताकारक शाब्दबोध हेतु अपेक्षणीय होगा। इसमें कहीं भी तद्धर्म घटित उक्त सम्बन्ध (तद्धर्मवत्स्वनिरूपिताधेयत्व सम्बन्ध) की विशेष रूप से उपस्थिति आवश्यक नहीं है। तात्पर्यज्ञान में भी उपर्युक्त रीति से उसकी विशेष रूप से उपस्थिति आवश्यक नहीं है, तात्पर्यज्ञान यदि विशेष रूप से उपस्थिति के विना भी हो जा रहा है तो तात्पर्यज्ञान बलात् शाब्दबोध होने में भी कोई बाधक नहीं है।

तो ऐसा नहीं कहना चाहिए क्योंकि एकपदार्थविशिष्टापरपदार्थरूप वाक्यार्थ से विशेषित तत्प्रतीतीच्छारूप तात्पर्यविषयकनिश्चय वाक्यार्थ के अनिश्चय के काल में दुर्घट होगा इसलिए यदि आप एकपदार्थविशिष्ट अपरपदार्थरूप वाक्यार्थविषयकतात्पर्यज्ञान को कारण मानेंगे तो योग्यतासंशय से शाब्दबोध की अनुपपत्ति होगी, इसलिए विशकलित तत्तत्पदार्थ तत्तत्संसर्गविषयकत्वविशेषित प्रतीतीच्छा ज्ञान की शाब्दबोध के प्रति कारणता स्वीकरणीय है और उसमें तादृशसंसर्गोपस्थिति अवश्यापेक्षणीय है।

अभिप्राय यह है कि जहाँ पर वाक्यार्थ का (एक पदार्थ से विशिष्ट अपरपदार्थ का) निश्चय नहीं है वहाँ पर वाक्यार्थविषयक प्रतीतीच्छाच्छा नहीं हो सकती है, इसे उदाहरण लेकर यूँ समझ सकते हैं- घटपदार्थ नीलपदार्थ से विशिष्ट है ऐसा निश्चय पहले हो तब न नीलविशिष्टघटबोधन (प्रतीति) की इच्छा होगी, मतलब एकपदार्थ के वैशिष्ट्य का अपरपदार्थ में निश्चय होने पर ही विशिष्टबोधनेच्छा हो सकती है। जहाँ पर योग्यता का संशय होगा एकपदार्थ का वैशिष्ट्य अपरपदार्थ में है कि नहीं यह संशय होगा (पदार्थ में अपर पदार्थवत्ता = अपर पदार्थ वैशिष्ट्य ही योग्यता है[1] उसका जहाँ पर संशय होगा) उस स्थल में एकपदार्थविशिष्टापरपदार्थरूप वाक्यार्थनिश्चय न होने के कारण एकपदार्थ विशिष्टापरपदार्थरूप वाक्यार्थबोधनेच्छा रूप तात्पर्य का ज्ञान भी सम्भव नहीं होगा। इसलिए तात्पर्य ज्ञान रूप कारण न होने की वज़ह से योग्यता संशय की दशा में शाब्दबोध नहीं हो सकेगा। जबकि योग्यतासंशय की दशा में भी शाब्दबोध स्वीकार किया जाता है। इसलिए जैसा हम कह रहे हैं उस प्रकार से '**तत्तत्पदार्थतत्तत्संसर्गविषयक ( तद्विशेष्यक, तत्प्रकारक, तत्संसर्गक ) शाब्दबोध के प्रति तत्तत्पदार्थतत्तत्संसर्गविषयकत्वविशेषितप्रतीतीच्छा ज्ञान की ( तद्विशेष्यक, तत्प्रकारक, तत्संसर्गक प्रतीतीच्छाज्ञान की ) कारणता होती है**' यही स्वीकार करना चाहिए। एक पदार्थ का अपर पदार्थ में वैशिष्ट्य निश्चित न होने पर भी तद्विशेष्यक, तत्प्रकारक, तत्संसर्गक प्रतीतीच्छा ज्ञान तो सम्भव ही है, जैसे नील का घट में वैशिष्ट्य निश्चित न होने पर भी '**नीलो घटः** यह वाक्य घट विशेष्यक, नील

---

1. पदार्थे तत्र तद्वत्ता योग्यता परिकीर्तिता ।। कारिकावली 83वीं कारिका

प्रकारक अभेद संसर्गक बोध की इच्छा से उच्चरित है' ऐसा तात्पर्य ज्ञान तो हो ही सकता है। ऐसी स्थिति में योग्यतासंशय की दशा में भी शाब्दबोधोत्पत्ति का कोई बाधक नहीं होने के कारण योग्यतासंशय की दशा में भी शाब्दबोध में कोई अनुपपत्ति नहीं है।

किन्तु इसमें फिर से वही समस्या आ रही है कि इस तात्पर्यज्ञान में संसर्गविशेष की उपस्थिति आवश्यक होने की वज़ह से तद्धर्मघटित उपर्युक्त सम्बन्ध (तद्धर्मवत् स्वनिरूपिताधेयत्व) की उपस्थिति विशेषरूप से आवश्यक है। अतः तद्धर्म की उपस्थिति भी आवश्यक है। तद्धर्म की उपस्थिति न होने से तद्धर्मवत् स्वनिरूपिताधेयत्वसम्बन्ध से मास का अभाव में अन्वय सम्भव न होने से और मासत्व व्यापकता का अध्ययन में बाध होने के कारण '**मासमधीते**' प्रयोग की अनुपपत्ति होगी?

**इति चेत् ?**

**सत्यम्, मासादिघटकतावद् दिनादिनिष्ठत्रिंशत्त्वादिरूपमासत्वादिर्मासादिभेदेन नानैव, मासादिपदप्रवृत्तिनिमित्तता परमनुगतरूपेण, अन्यथा शक्त्यानन्त्यप्रसङ्गात् सर्वोपसंहारेण व्युत्पत्तिं विना प्रागप्रतीतमासादेः शाब्दानुभवानिर्वाहाच्च।**

यदि ऐसा कहो तो सत्य है (अर्थात् मासत्व यदि अनेक मासों में रहने वाला हो जैसाकि तुम समझ रहे हो तब तो सचमुच अध्ययन में मासत्वव्यापकता का बाध होने के कारण '**मासमधीते**' प्रयोग की अनुपपत्ति है) किन्तु मास आदि के घटक उतने दिन आदि में रहने वाला त्रिशंत्व आदि रूप मासत्व आदि मास आदि के भेद से अनेक ही हैं, परन्तु मास आदि की प्रवृत्ति निमित्तता अनुगत रूप से है अन्यथा शक्तियों के आनन्त्य की आपत्ति होगी और सर्वोपसंहार से व्युत्पत्ति के विना पूर्व में अप्रतीत मासादिविषयक शाब्दबोध का जो अनुभव होता है उसका निर्वाह भी नहीं हो सकेगा।

अभिप्राय यह है कि मास आदि का अर्थ तीस आदि दिन ही तो होते हैं तीस दिनों को ही तो मास कहा जाता है। उन तीस दिनों में रहने वाला त्रिंशत्त्व क्या है? संख्या ही तो है। द्वित्व के आगे की समस्त संख्याएँ अपेक्षा बुद्धि से जन्य होती हैं और अपेक्षा बुद्धि के नाश से ही उनका नाश हुआ करता है।[1] इसलिए त्रिशंत्त्व का भी अपेक्षाबुद्धिजन्यत्व और अपेक्षाबुद्धिनाशनाश्यत्व सुस्पष्ट है और इसलिए यह भी स्पष्ट ही है कि हरेक मास में रहने वाला मासत्व अलग-अलग है। इसलिए जिस किसी मास में अध्ययन किया गया हो मासत्वव्यापकता का अध्ययन में स्पष्टतः लाभ हो जायेगा। उसका बाध नहीं होगा । अतः '**मासमधीते**' से शाब्दबोध होने में अनुपपत्ति नहीं है।

लेकिन इसमें एक मुश्किल है, वह यह कि जब भिन्न-भिन्न मासों में रहने वाला मासत्व भिन्न-भिन्न है तो मासपद का प्रवृत्तिनिमित्त मासत्व नहीं हो सकता हैं क्योंकि मासपद का प्रवृत्तिनिमित्त बनने के लिए आवश्यक है कि वह धर्म समस्त मासों में रहने वाला हो। किन्तु कोई भी मासत्व समस्त मासों में नहीं रहता है? तो इसका समाधान यह है मास पद

1. द्वित्वादयः परार्धान्ता अपेक्षाबुद्धिजा मताः ।।
अनेकाश्रयपर्याप्ता एते तु परिकीर्तिताः ।
अपेक्षाबुद्धिनाशाच्च नाशस्तेषां निरूपितः।। कारिकावली 107-108 कारिका

की प्रवृत्तिनिमित्तता अनुगतरूप से है। मासत्व मासत्वत्वेन रूपेण मासपद का प्रवृत्तिनिमित्त है। स्वाश्रयत्व सम्बन्ध से मासत्वत्व समस्त मासतों में रहेगा, मासत्वत्व रूप से मासत्व मास पद का प्रवृत्तिनिमित्त है। प्रवृत्तिनिमित्त का आशय शक्यतावच्छेदक से है।

यदि मासपद का प्रवृत्तिनिमित्त अनुगत न होगा तो शक्ति का आनन्त्य होगा क्योंकि एकमास का उसी मास में रहने वाला मासत्व प्रवृत्तिनिमित्त होगा। इसलिए वही अपेक्षाबुद्धिविशेष विषयीभूत मास ही मासपदोच्चारण से बोधित होगा तथा उसी मास विशेष में उस मास पद की शक्ति होगी अतः शक्ति का आनन्त्य होगा। दूसरी बात सभी मासों के उपसंहार से यदि व्युत्पत्ति नहीं हो तो पूर्व में अप्रतीतमासविषयक शाब्दबोध नहीं हो सकेगा क्योंकि उस मास में तो मास पद की शक्ति का ही ग्रहण नहीं है। जबकि अप्रतीत मासविषयक शाब्द बोध होता है यह अनुभव सिद्ध है। इसलिए मास पद का प्रवृत्ति निमित्त मासत्वत्वेन अनुगत मासत्व को स्वीकारते हैं।[1]

**न च त्रिशंत्त्वादिकं बुद्धिविशेषविषयत्वरूपं वाच्यम्, दिनादेर्द्रव्यानात्मकत्वेन तत्र गुणरूपसंख्याया असम्भवात्, द्रव्यात्मकत्वेऽपि क्रमिकेषु तेषु संख्योत्पत्तेरसम्भवात्, तत्र बुद्धेरनतिप्रसक्तं वैलक्षण्यमनुगतं दुर्वचम् - जातिरूपस्य तस्य सङ्करप्रसङ्गनिरस्तत्वात्, तत्तद्दिनविषयकत्वरूपस्य तत्तद्दिनाद्यननुगनमेनाननुगतत्वादिति वाच्यम्; तावत्कालस्थायिनो द्रव्यस्यापि दिनादिरूपत्वसम्भवात् ।**

**मीमांसकानुयायिभिरगत्या संख्यायाः पदार्थान्तरत्वोपगमाच्च संख्यादिरूपनानादिनादिनिष्ठानुगतत्रिंशत्त्वादेः सुवचत्वात् ।**

यदि कहो कि आपको त्रिंशत्त्वादि बुद्धिविशेषविषयत्व रूप हैं यही कहना पड़ेगा अर्थात् मासादिनिष्ठ त्रिशत्वादिरूप मासत्व को, जिसे कि आप मासभेदेन भिन्न-भिन्न मान रहे हैं, बुद्धिविशेषविषयत्वरूप ही मानना पड़ेगा, क्योंकि दिन आदि द्रव्यात्मक हैं नहीं इसलिए उनमें गुण रूप संख्या असम्भव है। (न्याय वैशेषिक सिद्धान्त में संख्या गुण है और गुण द्रव्य में ही रह सकते हैं गुण, क्रियादि में नहीं) यदि दिन आदि द्रव्यात्मक हो भी तो भी तीसों ही दिन क्रम से उत्पन्न होगें और क्रमिक उन तीस दिनों में संख्या की उत्पत्ति सम्भव नहीं है, बुद्धि का अनतिप्रसक्त अनुगत वैलक्षण्य वहाँ पर दुर्वच है, उसे जाति रूप मानना तो संकर प्रसङ्ग से निरस्त है, तत्तद्दिनविषयकत्व रूप तो तत्तद् दिन आदि का अनुगम न होने से अननुगत ही होगा।

यहाँ प्रश्नकर्ता का आशय यह है कि मास में रहने वाला मासत्व आप कह रहे हैं कि दिन पर्याप्त त्रिंशत्त्वादिरूप होता है। इसलिए हर तीस दिन में पर्याप्त त्रिंशत्त्व के भिन्न-भिन्न होने के कारण हर मास में रहने वाला मासत्व भिन्न-भिन्न होगा। किन्तु आप यह बताओ कि त्रिंशत्त्व है क्या चीज़? 1. संख्या रूप है 2. या बुद्धिविशेषविषयत्व रूप है यदि संख्यारूप मानो तो सम्भव नहीं है क्योंकि दिन द्रव्यात्मक हैं नहीं इसलिए दिनों में संख्यात्मक त्रिंशत्त्व तो रह नहीं सकता है और यदि दिनों को द्रव्यात्मक भी मानों तो दिनों

---

1. यह कुछ उसी प्रकार से है जैसे दण्डवान् कहने से उस व्यक्ति की भी प्रतीति होती है जिसकी पूर्व में प्रतीति नहीं हुई है। यद्यपि दण्डवत् का प्रवृत्तिनिमित्त दण्ड अननुगत है तथापि दण्डत्वेन अनुगत दण्ड को प्रवृत्तिनिमित्त मानने के कारण उक्त प्रतीति सम्भव होती है।

के क्रमिक होने के कारण उनमें अपेक्षाबुद्धि सम्भव न होने त्रिंशत्त्व संख्या की उत्पत्ति असम्भव है। उसलिए आपको यही मानना पड़ेगा कि त्रिशत्त्व संख्या न होकर बुद्धिविशेष विषयत्वरूप है। किन्तु बुद्धिविशेषविषयत्वरूप त्रिंशत्त्व है ऐसा स्वीकारने में बुद्धिविशेष विषयत्व का अर्थ विलक्षण बुद्धि विषयत्व ही तो होगा और बुद्धि के त्रिंशत् दिनों में ही पर्याप्त अनुगत वैलक्षण्य का निर्वचन सम्भव नहीं है। क्योंकि वह वैलक्षण्य या तो जाति रूप होगा या तो तत्तद् दिन विषयकत्व रूप होगा। जाति रूप तो मान नहीं सकते क्योंकि साङ्कर्य दोष होगा और साङ्कर्य को जाति बाधक माना जाता है और तत्तद्दिनविषयकत्व तो तत्तद् दिन आदि का अनुगम न होने के कारण अनुगत ही है। यत् और तत् का तो अनुगम ही नहीं होता है। इसलिए न तो संख्या रूपत्रिंशत्त्व आप मान सकते हैं और न तो बुद्धिविशेषविषयत्व रूप त्रिंशत्त्व मान सकते हैं।

तो ऐसा नहीं कहना चाहिए क्योंकि तावत् काल स्थायी द्रव्य भी दिनादिरूपत्व सम्भव है, तावत् काल स्थायी द्रव्य को भी दिन कह सकते हैं और क्रमिक भी दिनों में अपेक्षाबुद्धि हो सकती है और अपेक्षा बुद्धि से संख्या की उत्पत्ति भी हो सकती है। (इस प्रकार त्रिंशत्त्व को संख्या रूप ही हम स्वीकारते हैं)

मीमांसकानुयायियों के द्वारा अगत्या संख्या का पदार्थान्तरत्व ही स्वीकार किया जाता है, इसलिए संख्या रूप नाना दिनों में रहने वाले अनुगत त्रिंशत्त्व आदि सुवच ही है।

**एवम् - 'मासमधीते चैत्रः' इत्यादावधिकरणतैव द्वितीयार्थः, मासादिपदार्थतावच्छेदकदिनपर्याप्तत्रिंशत्त्वादेर्धर्मिविशेषणतापन्नस्य द्वितीयार्थाधिकरणतायां चैत्रकर्तृकाध्ययनाधारतात्वादिव्याप्यधर्मावच्छिन्नं स्वरूपसम्बन्धरूपमवच्छेद्यत्वं संसर्गतया भासत इत्युपगमेन सामञ्जस्यात्।**

**यत्किञ्चिदेकमासं व्याप्य यत्राधीतं तत्राध्ययनाधारतानामवच्छेद्यतावच्छेदकाधारतावृत्त्यन्यतमत्वविशेषादिरूपोक्तधर्मावच्छिन्नानतिप्रसक्तेन तद्वृत्तित्रिंशत्त्वेनावच्छेदाद्, न्यूनकालाध्ययनस्थले चातिप्रसक्ततया तादृशस्य मासत्वस्योक्तरूपावच्छिन्नाधारतानवच्छेदकत्वाच्चाप्रसङ्गातिप्रसङ्गयोरनवकाशात्।**

इस प्रकार **'मासमधीते चैत्रः'** इत्यादि स्थलों में द्वितीया का अर्थ अधिकरणता ही है, द्वितीयार्थ अधिकरणता में धर्मिविशेषणतापन्नमासादिपदार्थतावच्छेदक दिन पर्याप्त त्रिंशत्त्व आदि का स्वरूपसम्बन्धरूप अवच्छेद्यत्व चैत्रकर्तृक अध्ययनाधारतात्वादिव्याप्य अन्यतमत्वादि धर्म से अवच्छिन्न होकर संसर्गतया भासता है यही स्वीकारने से सामञ्जस्य बन जाता है।

अभिप्राय यह है कि **'मासमधीते चैत्रः'** इत्यादि स्थलों में मास आदि पदोत्तर द्वितीया का अर्थ अधिकरणता ही है। इस प्रकार **'मासनिष्ठाधिकरणता ....** ' इत्यादि शाब्दबोध होना चाहिए, किन्तु यहाँ पर अधिकरणता में सिर्फ मास का निष्ठत्वरूप सम्बन्ध आकाङ्क्षाभास्य होकर संसर्ग बनकर नहीं भासता है, अपितु धर्मी मास में विशेषणीभूत मासपदार्थतावच्छेदकदिनपर्याप्त त्रिंशत्त्व रूप जो मासत्व है उससे अवच्छेद्यत्व भी आकाङ्क्षाभास्य होकर संसर्गविधया अधिकरणता में भासता है। यह अवच्छेद्यत्व स्वरूप सम्बन्ध विशेष रूप है। लेकिन यह अवच्छेद्यत्व चैत्रकर्तृक अध्ययनाधारतात्वव्याप्य अन्यतमत्व से अवच्छिन्न है। अन्यतमत्व का अभिप्राय चैत्रकर्तृकाध्ययनाधारतान्यतमत्व से है। जो भी चैत्रकर्तृकाध्ययनाधारता होगी उसमें चैत्रकर्तृकाध्ययनाधारतान्यतमत्व होगा ही, इसलिए परस्पर चैत्रकर्तृकाध्ययनाधारतात्व

और चैत्रर्तृकाध्ययनाधारतान्यतमत्व में व्याप्यव्यापकभाव है। इसलिए चैत्रकर्तृकाध्ययनाधारतात्व-व्याप्य उक्त अन्यतमत्व है। इस प्रकार यहाँ पर कहना यह है कि मासनिष्ठसमस्त अधिकरणताओं में त्रिंशत्त्वावच्छिन्नत्व भी है और चैत्रकर्तृकाध्ययनाधारतात्वव्याप्यान्यतमत्वविशेषधर्मावच्छिन्नत्व भी है। इसलिए त्रिंशत्त्व आदि उक्त अन्यतमत्व के अनतिप्रसक्त होते हैं । अतः मासनिष्ठ अधिकरणता में मासविशेषणी भूतत्रिंशत्त्व का चैत्रकर्तृकाध्ययनाधारतात्वादिव्याप्य अन्यतमत्वविशेषधर्मावच्छिन्न अवच्छेद्यत्व संसर्ग बनकर भासता है। केवल मास का ही अधिकरणता में अन्वय नहीं होता है बल्कि त्रिंशत्त्व आदिरूप मासत्व का भी अधिकरणता में अन्वय होता है। इतरविशेषणतया (मासविशेषणतया) उपस्थित भी मासत्व का धर्मिपारतन्त्र्येण अधिकरणता में अन्वय हो सकता है क्योंकि मास का भी अधिकरणता में ही तो अन्वय होता है। इस प्रकार अधिकरणता में मास का निष्ठत्व सम्बन्ध और मासत्व का (दिन पर्याप्त त्रिंशत्त्व का) स्वरूपसम्बन्धरूप चैत्रकर्तृकाध्ययनाधारतात्वव्याप्य अन्यतमत्वविशेषरूपधर्मावच्छिन्न अवच्छेद्यत्व सम्बन्ध संसर्गविधया संसर्गमर्यादा से भासता है। यही स्वीकारने से काम चल सकता है।

जहाँ पर जिस किसी एक मास को व्याप्त करके अध्ययन किया गया है, वहाँ पर अध्ययनाधारताओं के अवच्छेद्यतावच्छेदकीभूत जो आधारता वृत्ति अन्यतमत्वविशेष आदि रूप धर्म, उक्त धर्म से अवच्छिन्न के अनतिप्रसक्त त्रिंशत्त्व आदि से अवच्छेद होने के कारण और न्यूनकालाध्ययनस्थल में अतिप्रसक्त होने के कारण त्रिंशत्त्वादि रूप तादृश मासत्व के उक्तरूपावच्छिन्न आधारता का अवच्छेदक न होने के कारण अप्रसङ्ग और अतिप्रसङ्ग का अवकाश नहीं है।

अभिप्राय यह है कि जहाँ पर किसी एक मास को व्याप्त करके अध्ययन किया गया है या किया जा रहा है वहाँ पर मासनिष्ठ अधिकरणता में त्रिंशत्त्व रूप मासत्व से अवच्छेद्यत्व विद्यमान है और मासनिष्ठ अधिकरणता = अध्ययनाधारता जो कि एक नहीं है अनेक हैं के अध्ययनाधारता में रहने वाले अन्यतमत्वविशेष (अध्ययनाधारतान्यतमत्व) से अवच्छिन्न होने के कारण स्थिति इस प्रकार बनती है।

1. मासनिष्ठ अधिकरणता त्रिंशत्त्व से अवच्छिन्न है।

2. मासनिष्ठ अधिकरणता चैत्रकर्तृक अध्ययनाधारतान्यतमत्व से अवच्छिन्न है।

∵ जो कोई मासनिष्ठ अधिकरणता त्रिंशत्त्व से अवच्छिन्न हो रही है वह चैत्रकर्तृक अध्ययनाधारतान्यतमत्व से भी अवच्छिन्न हो रही है।

∴ त्रिंशत्त्व चैत्रकर्तृकाध्ययनाधारतान्यतमत्व का अनतिरिक्तवृत्ति है।

∴ त्रिंशत्त्व से अवच्छेद्यत्व चैत्रकर्तृकाध्ययनाधारतान्यतमत्व से अवच्छिन्न है।

इस परिस्थिति में मासनिष्ठ अधिकरणता में मास में विशेषण बन कर भासनेवाले त्रिंशत्त्व का अवच्छेद्यत्व रूप स्वरूप सम्बन्ध जो कि चैत्रकर्तृकाध्ययनाधारतान्यतमत्व से अवच्छिन्न है, संसर्गतया भासता है। जो कि अबाधित है अतः उक्त स्थिति में '**मासमधीते चैत्रः**' प्रयोग होता है। इस प्रयोग का अप्रसङ्ग (की अनुपपत्ति) नहीं है।

जब मास को व्याप्त करके अध्ययन नहीं किया गया है बल्कि कुछेक दिन ही अध्ययन किया गया है। उस स्थिति में मासनिष्ठ अधिकरणता में त्रिंशत्त्व से अवच्छेद्यत्व यद्यपि विद्यमान है किन्तु त्रिंशत्त्व चैत्रकर्तृकाध्ययनाधारतान्यतमत्व का अनतिरिक्तवृत्ति नहीं

है। स्थिति इस प्रकार से है।

1. मासनिष्ठ अधिकरणता त्रिंशत्त्व से अवच्छिन्न है।

2. मासनिष्ठ अधिकरणता चैत्रकर्तृकाध्ययनाधारतान्यतमत्व से अवच्छिन्न नहीं है।

यहाँ पर प्रथम तक स्थिति पूर्व स्थिति के समान है। जहाँ पर महीने भर अध्ययन किया गया है वहाँ पर भी मासनिष्ठ अधिकरणता त्रिंशत्त्व से अवच्छिन्न है और जहाँ पर अध्ययन माह भर नहीं किया गया है वहाँ पर भी। क्यों? इसका कारण यह है मासनिष्ठ अधिकरणता त्रिंशत्त्व से अवच्छिन्न होगी ही। फर्क यह है कि प्रथम में अध्ययन की ही अधिकरणता त्रिंशत्त्व से अवच्छिन्न हो रही है, द्वितीय में कोई अधिकरणता अध्ययन की है कोई नृत्य गीतादि की इस प्रकार मासनिष्ठाधिकरणता में दोनों ही स्थलों में त्रिंशत्त्वावच्छिन्नत्व समान है।

आगे देखें- उभयत्र मासनिष्ठ अधिकरणता में चैत्रकर्तृकाध्ययनाधारतान्यतमत्व से अवच्छिन्नत्व नहीं है क्योंकि जहाँ पर माहभर अध्ययन किया गया है, वहाँ पर तो मास में केवल चैत्रकर्तृकाध्ययन की अधिकरणता है। इसलिए माहभर अध्ययन के स्थल में मास निष्ठाधिकरणताओं में चैत्रकर्तृकाध्ययनाधारतान्यतमत्व से अवच्छिन्नत्व रहेगा और मास भर अध्ययन जहाँ पर नहीं किया गया है । उस स्थल में कुछ एक मासनिष्ठ अधिकरणताओं में ही चैत्र कर्तृकाध्ययनाधारतान्यतमत्व से अवच्छिन्नत्व है। प्रथमस्थल में ज़्यादा अधिकरणताओं में और दूसरे में कम अधिकरणताओं में उक्त अन्यतमत्व से अवच्छिन्नत्व है। फ़र्क़ क्या है? स्थिति में अन्तर इस प्रकार है-

∵ जो कोई मासनिष्ठ अधिकरणता त्रिंशत्त्व से अवच्छिन्न हो रही है वह चैत्रकर्तृकाध्ययनाधारतान्यतमत्व से अवच्छिन्न नहीं हो रही है क्योंकि मास निष्ठ त्रिंशत्त्व से अवच्छिन्न अधिकरणताओं में केवल चैत्रकर्तृकाध्ययनाधिकरणता नहीं है बल्कि चैत्र कर्तृक नृत्यगीतादि की भी अधिकरणता है।

∴ त्रिंशत्त्व चैत्रकर्तृकाध्ययनाधारतान्यतमत्व का अनतिरिक्त वृत्ति नहीं है, अतिरिक्तवृत्ति (अतिप्रसक्त) ही है।

∴ त्रिंशत्व से अवच्छेद्यत्व चैत्र कर्तृकाध्ययनाधारतान्यतमत्व से अवच्छिन्न नहीं है।

जब कि '**मासमधीते चैत्रः**' से मासनिष्ठ अधिकरणता में त्रिंशत्त्व का जो अवच्छेद्यत्व संसर्ग के रूप में भासता है वह चैत्रकर्तृकाध्ययनाधारतान्यतमत्वावच्छिन्न होकर भासता है। जिसका कि उपर्युक्त रीति से बाध है। इसलिए उपर्युक्त स्थल में ऐसा प्रयोग होने का अतिप्रसङ्ग नहीं है।

**विमर्श–** व्यापकत्व द्वितीया का अर्थ है इस प्रकार उपस्थापन करते-करते गदाधर ने यहाँ पर अधिकरणता को द्वितीया का अर्थ स्वीकार कर लिया। यद्यपि गदाधर ने इस का कोई कारण स्पष्टतः नहीं बताया है किन्तु यही प्रतीत होता है कि व्यापकत्व को द्वितीया का अर्थ मानने के पक्ष में '**मासमधीते**' से मासत्व व्यापकता का अध्ययन में बोध होगा जो कि बाधित है इसलिए शाब्दबोधानुपपत्ति है। अथवा यह भी द्वितीया का अर्थ हो सकता है इस आशय से '**एवम्**' प्रतीक से इस कल्प को उठाया है।

**मासादिपदप्रवृत्तिनिमित्तधर्मे चैत्राध्ययनाधारताया व्याप्यत्वस्य शब्दादलाभेप्यर्थतस्तल्लाभाद् द्वितीयाया अत्यन्तसंयोगार्थपरत्वमिति नानुशासनविरोधः।**

इस पक्ष में यद्यपि मास आदि के प्रवृत्तिनिमित्तधर्म में चैत्राध्ययनाधारता के व्याप्यत्व का

शब्दशः लाभ नहीं होता है तथापि अर्थतः उसका लाभ होने के कारण द्वितीया अत्यन्तसंयोगार्थक होती है । इसलिए अनुशासन का विरोध नहीं है।

अभिप्राय यह है कि जब व्यापकत्व को द्वितीया का अर्थ मानते थे तो उस पक्ष में तो, मासपद के प्रवृत्तिनिमित्त भूत धर्म का व्यापकत्व अध्ययन में लब्ध होता था, इस कारण **'कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे पा0सू0 2/3/5'** इस अनुशासन से कोई विरोध नहीं होता था क्योंकि अत्यन्तसंयोग का अर्थ अभिव्याप्ति ही है। उसका लाभ हो ही रहा है। किन्तु जब आप अधिकरणता को द्वितीया का अर्थ मान रहे हैं तो शब्दशः न तो मासपद प्रवृत्तिनिमित्त धर्म में त्रिंशत्त्व आदि में अध्ययनाधारता के व्याप्यत्व का लाभ हो रहा है और न तो त्रिंशत्त्वव्यापकता का अध्ययनाधारता (या अध्ययन) में लाभ हो रहा है। जब कि उक्त सूत्र के द्वारा अत्यन्तसंयोगरूप अभिव्याप्ति अर्थ में द्वितीया का विधान किया गया है इसलिए मासादि प्रवृत्तिनिमित्तधर्म में अध्ययनव्याप्यत्व (अध्ययनाधारता व्याप्यत्व) का भान होना चाहिए तथा अध्ययनाधारता में त्रिंशत्त्वादि व्यापकत्व का भान होना चाहिए। वह नहीं हो रहा है, अतः उक्तानुशासन से विरोध होगा।

इसका समाधान गदाधर यय दे रहे हैं कि शब्दशः उसका लाभ न होने पर भी अर्थात् मासादिप्रवृत्तिनिमित्त धर्म में (त्रिंशत्त्व आदि में) अध्ययनाधारता (चैत्राध्ययनाधारता) व्याप्यत्व का लाभ हो जाता है। कैसे? इस प्रकार से चैत्रकर्तृकाध्ययन की आधारता में त्रिंशत्त्व का अवच्छिन्नत्व भासित हो रहा है। अवच्छिन्नत्व और अवच्छेद्यत्व पर्याय हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि त्रिंशत्त्व चैत्रकर्तृकाध्ययनाधारता का अवच्छेदक है। उक्तआधारता का अतिप्रसक्त यदि त्रिंशत्त्व होगा तो उक्ताधारता का अवच्छेदक नहीं होगा (जैसा कि न्यूनकालाध्ययन स्थल में प्रतिपादित किया गया है) इसलिए यह भी स्पष्ट हुआ कि त्रिंशत्त्व उक्ता धारता का अनतिप्रसक्त है। अनतिप्रसक्तत्व और व्याप्यत्व पर्यायवाची है। अनतिप्रसक्त होना और व्याप्य होना एक ही चीज़ है[1] इसलिए यदि त्रिंशत्त्वरूप मासपदप्रवृत्तिनिमित्त में चैत्रकर्तृकाध्ययनाधारता का अनतिप्रसक्तत्व रूप अवच्छेदकत्व है तो वह चैत्रकर्तृकाध्ययनाधारता का व्याप्यत्व ही है। अतः अर्थतः उक्ताधारता के व्याप्यत्व का लाभ मासादिपदप्रवृत्तिनिमित्त त्रिंशत्त्व आदि में हो जाने के कारण द्वितीया के अत्यन्तसंयोगार्थपरता का लाभ हो जाता है।

**निष्कर्ष–** उक्त सूत्र से द्वितीया अधिकरणता अर्थ में ही होती है किन्तु उक्त अधिकरणता में उपर्युक्त रीति से मासादिपदप्रवृत्तिनिमित्त त्रिंशत्त्वआदि धर्म से अवच्छेद्यत्व चैत्रादिकर्तृकाध्ययना-धारतात्वव्याप्यान्यतमत्वविशेषावच्छिन्न होकर त्रिंशत्त्वादि का संसर्ग बन कर भासता है। इसी अर्थ में तात्पर्य का ग्रहण कराने के लिए **'अत्यन्तसंयोगे'** का ग्रहण सूत्र में किया गया है। वस्तुतः अत्यन्त संयोग में द्वितीया नहीं होती है।

**न च 'भूतले घटः' 'भूतलं घटवत्' इत्यादिप्रत्ययबलादतिप्रसक्तोऽपि धर्म आधेयत्वाधारत्वयोरवच्छेदक इति वाच्यम्, तादृशप्रत्ययेऽवच्छेदकत्व भानानुपगमात् ।**

यदि कहो कि **'भूतले घटः'** 'भूतल पर घट है' **'भूतलं घटवत्'** 'भूतल घटवत् है' इत्यादि प्रत्ययों के बल से अतिप्रसक्त धर्म भी आधेयता और आधारता का अवच्छेदक होता है, तो ऐसा नहीं कहना चाहिए क्योंकि उक्ताकारक प्रतीतियों में अवच्छेदकत्व के भान

---

1. तदनति प्रसक्तत्व का अर्थ है तदभाववदवृत्तित्व और यही पूर्वपक्षव्याप्ति ही है। व्याप्ति और व्याप्यत्व तो पर्याय ही है।

का उपगम नहीं किया जाता है।

यहाँ पर प्रश्न यह उठाया जा रहा है कि भई आप कह रहे हैं कि चूँकि उपर्युक्त आधारता में मासादि प्रवृत्तिनिमित्त दिनादिपर्याप्त त्रिंशत्त्व आदि का अवच्छेद्यत्व भासता है और यदि त्रिंशत्त्व आधारता का अतिप्रसक्त होगा (चैत्रकर्तृकाध्ययनाधारतात्वव्याप्यान्य तमत्व विशेष का अतिप्रसक्त होगा) तो त्रिंशत्त्व उक्ताधारता का अवच्छेदक ही नहीं हो सकेगा और त्रिंशत्त्व से अवच्छिन्नत्व उक्ताधारता में नहीं भासित हो सकेगा। किन्तु आप की यह बात ही सही नहीं है कि त्रिंशत्त्व यदि उक्ताधारता का अतिप्रसक्त होगा तो उक्ताधारता का अवच्छेदक ही त्रिंशत्त्व नहीं होगा। क्योंकि '**भूतले घटः**' ऐसी प्रतीति होती है इस प्रतीति में घट में भूतल निष्ठ अधिकरणता से निरूपित आधेयता भासती है। इसी प्रकार '**भूतलं घटवत्**' प्रतीति होती है। इसमें भी घटनिष्ठ आधेयता से निरूपित अधिकरणता भूतल में भासती है। इन दोनों ही प्रतीतियों में भूतलत्व में अधिकरणतावच्छेदकता और घटत्व में आधेयतावच्छेदकता भास रही है जबकि घट की अधिकरणता एतद्भूतल मात्र में है और एतद् भूतलनिष्ठ अधिकरणता से निरूपित आधेयता उसी एक घट में है। उसलिए भूतलत्व अधिकरणता का अतिप्रसक्त है और घटत्व आधेयता का अतिप्रसक्त है। परन्तु भूतलत्व और घटत्व क्रमशः अधिकरणता और आधेयता के अवच्छेदक इसके बावजूद भी होते हैं। इसलिए यदि त्रिंशत्त्व आधारता (उपर्युक्त) का अतिप्रसक्त हो भी तो भी उसका अवच्छेदक हो सकता है।

इसका समाधान यह दे रहे हैं गदाधर कि इन स्थलों में भूतलत्व और घटत्व में क्रमशः अधिकरणता और आधेयता का अवच्छेदकत्व नहीं भासता है किन्तु तद्भूतलत्व और तद्घटत्व में ही भासता है। वह तो अतिप्रसक्त नहीं ही है। इसलिए अनतिप्रसक्तधर्म ही अवच्छेदक होता है। यह सिद्ध होता है।

**आधेयताया अतिप्रसक्तधर्मावच्छेद्यत्वे साध्यसामानाधिकरण्यावच्छेदक धर्मात्मकव्याप्तिशरीरे मिश्रादीनां स्वरूपसम्बन्धरूपावच्छेदकत्वनिवेशस्य "व्यभिचारिण्यतिव्याप्त्या न ह्यतिप्रसक्तमवच्छेदकम्" इति तत्स्थलीय-चिन्तामणिपरिष्कारविरोधादसम्भवदुक्तिकतापत्तेः।**

**आधारताया अतिप्रसक्तधर्मावच्छेद्यत्वे "यद्धेत्वधिकरणत्वं साध्याधि-करणतावच्छेदकम्" इति तल्लक्षणव्याख्यापक्षे स्वरूपसम्बन्धरूपावच्छेदक-त्वप्रवेशं व्यभिचारिण्यतिव्याप्त्याऽदूषयित्वा "विरुद्धदिक्कालावच्छिन्न-वृत्तिकस्य" इत्यादिदूषणान्तरेण तत्परित्यज्य दीधितिकृतामनतिरिक्तवृत्तित्व-रूपावच्छेदकत्वविवक्षाया असङ्गत्यापत्तेः।**

अतिप्रसक्तधर्म आधेयता व आधारता का अवच्छेदक नहीं होता है इस में प्रमाण दे रहे हैं कि -आधेयता यदि अतिप्रसक्तधर्म से अवच्छेद्य होती तो साध्यसामानाधिकरण्यावच्छेदक धर्मात्मक व्याप्ति के शरीर में मिश्रादि के द्वारा किये जाने वाले स्वरूपसम्बन्धविशेषरूप अवच्छेदकत्व निवेश का '**व्यभिचारिण्यतिव्याप्त्या न ह्यतिप्रसक्तमवच्छेदकम्**' 'व्यभिचारी में अतिव्याप्ति होने के कारण अतिप्रसक्त धर्म अवच्छेदक नहीं होता है' इस उस स्थल के चिन्तामणि परिष्कार से विरोध होगा और असम्भवदुक्तिकता होगी।

आधारता यदि अतिप्रसक्त धर्म से अवच्छेद्य होती तो उसी लक्षण की '**यद्धेत्वधिकर-णत्वं साध्याधिकरणतावच्छेदकम्**' 'यद्धेतु का अधिकरणत्व साध्याधिकरणता का अवच्छेदक

होता हो तत्त्व व्याप्ति है' इस प्रकार की व्याख्या के पक्ष में स्वरूपसम्बन्धरूप अवच्छेदकत्व के प्रवेश को व्यभिचारी में अतिव्याप्ति से दूषित न करते हुए '**विरुद्धद्विक्कालावच्छिन्नवृत्तिकस्य**' इत्यादि ग्रन्थ के द्वारा दूसरे दूषण के द्वारा उसको छोड़कर अनतिरिक्तवृत्तित्व रूप अवच्छेदकत्व विवक्षा के असङ्गति की आपत्ति होगी।

अभिप्राय यह है कि '**साध्यसामानाधिकरण्यावच्छेदकधर्मोव्याप्तिः**' इस व्याप्ति में मिश्रादि स्वरूपसम्बन्ध रूप अवच्छेदकत्व का प्रवेश करते हैं उसमें चिन्तामणि कार गङ्गेशोपाध्याय का कहना है कि स्वरूपसम्बन्धरूप अवच्छेदकत्व भी अतिप्रसक्त धर्म का नहीं हो सकता है अर्थात् अतिप्रसक्तधर्म में स्वरूपसम्बन्धरूप अवच्छेदकत्व भी नहीं आ सकता है। क्योंकि यदि यहाँ पर साध्यसामानाधिकरण्यावच्छेदकत्व (साध्याधिकरण निरूपित आधेयतावच्छेदकत्व) अतिप्रसक्त धर्म का भी स्वीकार किया जाये तो व्यभिचारी '**धूमवान् वह्नेः**' वह्निवाला होने के कारण धूमवाला है' इस अनुमान स्थल में भी लक्षण समन्वय हो जायेगा क्योंकि अयोगोलक में (तप्त लोहे के गोलक में) अग्नि तो है किन्तु धूम नहीं है। इस प्रकार व्यभिचार होने के बावजूद भी महानस इत्यादि में चूँकि धूम भी है और वह्नि भी है, इसलिए धूमाधिकरणनिरूपित वह्निनिष्ठा आधेयता का अवच्छेदक वह्नित्व हो जायेगा हालाँकि धूमाधिकरणनिरूपित आधेयता जिस वह्नि में (अयोगोलक निष्ठ वह्नि में) नहीं है उस वह्नि में भी वह्नित्व के विद्यमान रहने से धूमाधिकरणनिरूपित आधेयता का अतिप्रसक्त धर्म वह्नित्व है। इस प्रकार धूमाधिकरणनिरूपिताधेयतावच्छेदक वह्नित्व हो गया, यही धूम की वह्नि में रहने वाली व्याप्ति है। इसलिए इस व्यभिचारी अनुमान में अतिव्याप्ति हो रही है। अतः स्वरूपसम्बन्धरूप अवच्छेदकत्व भी अति प्रसक्तधर्म का नहीं हो सकता है। वह्नित्व तो धूमसामानाधिकरण्य का अतिप्रसक्त है इसलिए धूमसामानाधिकरण्यावच्छेदक नहीं हो सकता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि अतिप्रसक्तधर्म आधेयता का अवच्छेदक नहीं हुआ करता है। चिन्तामणिपरिष्कार से विरोध होने से अतिप्रसक्तधर्म आधेयतावच्छेदकत्व असम्भवदुक्तिक है।

अतिप्रसक्तधर्म अधिकरणता (आधारता) का भी अवच्छेदक नहीं हो सकता है क्योंकि '**साध्यसामानाधिकरण्यावच्छेदकधर्मो व्याप्तिः**' इस लक्षण की जो एक व्याख्या की जाती है '**यद्धेत्वधिकरणत्वं साध्याधिकरणतावच्छेदकम् तत्त्वम्**' 'यद्धेतु का अधिकरणत्व साध्याधिकरणता का अवच्छेदक होता है तत्त्व ही व्याप्ति है'। लक्षणसमन्वय इस प्रकार से है '**पर्वतो वह्निमान् धूमात्**' यहाँ पर धूमाधिकरणत्व वह्न्यधिकरणता का अवच्छेदक होता है, अतः धूमत्व ही धूम में रहने वाली वह्नि की व्याप्ति है। इस व्याख्या पक्ष में स्वरूपसम्बन्धरूप अवच्छेदकत्व के प्रवेश में '**विरुद्धदिक्कालावच्छिन्नवृत्तिकस्य**' इत्यादि ग्रन्थ से दूषण दिखाते हुए दीधितिकार ने उसे छोड़कर अनतिरिक्तवृत्तित्व रूप अवच्छेदकत्व की विवक्षा की है। यदि अतिप्रसक्त धर्म में स्वरूप सम्बन्ध रूप अवच्छेदकत्व सम्भव होता तो दीधितिकार को दोष ढूँढने के लिए इतनी दूर जाने की ज़रूरत नहीं थी '**धूमवान् वह्नेः**' में ही दोष दिखला सकते थे क्योंकि धूमाधिकरणता का अतिप्रसक्त धर्म है वह्न्यधिकरणत्व (अयोगोलक में वह्न्यधिकरणता है किन्तु धूमाधिकरणता नहीं है) इस प्रकार धूमाधिकरणता का अवच्छेदकत्व वह्न्यधिकरणत्व में विद्यमान है इसलिए यहाँ पर लक्षणसमन्वय होने से अतिव्याप्ति होती । इसी दोष से अनतिरिक्तवृत्तित्व रूप अवच्छेदकत्व की विवक्षा कर सकते थे। किन्तु इस दोष को न दिखा कर दीधितिकार ने दूषणान्तर दिखलाकर उसकी अनतिरिक्तवृत्तित्व रूप अवच्छेदकत्व की विवक्षा की है । अतः पता

चलता है कि आधारता अतिप्रसक्त धर्म से अवच्छेद्य नहीं होती है।

**अस्तु वाऽव्यासज्यवृत्तिधर्मस्यातिप्रसक्तस्यापिदर्शितप्रतीतिबलादाधाराधेयभावावच्छेदकत्वम् , व्यासज्यवृत्तेस्त्वतिप्रसक्तस्य तदवच्छेदकत्वमप्रसक्तम् 'क्षितिजलोभयं गन्धवत्' 'स्नेहगन्धोभयं क्षितौ' इत्याद्यप्रतीतेः।**

दर्शित प्रतीतियों के '**भूतले घटः**' '**भूतलं घटवत्**' प्रतीतियों के बल से अव्यासज्यवृत्ति अतिप्रसक्त धर्म का भी आधेयता व आधारता का अवच्छेदकत्व हो जाये (क्योंकि उक्त प्रतीतियों में भूतल और घट का ही आधाराधेयभाव भासता है हालाँकि आधेयता व आधारता के अतिप्रसक्त धर्म हैं घटत्व और भूतलत्व) तथापि अतिप्रसक्त जो व्यासज्यवृत्ति धर्म है उसका आधेयता व आधारता का अवच्छेदकत्व फिर भी नहीं प्रसक्त होता है क्योंकि '**क्षितिजलोभयं गन्धवत्**' '**स्नेहगन्धोभयं क्षितौ**' 'क्षिति जलोभय गन्धवत् है' 'स्नेहगन्धोभय क्षिति में है' ऐसी प्रतीति नहीं होती है। यदि अतिप्रसक्त व्यासज्यवृत्ति धर्म भी आधेयता व आधारता का अवच्छेदक होता हो ऐसी प्रतीतियाँ भी होनी चाहिए थीं । इन प्रतीतियों में क्रमशः क्षितिजलोभय में गन्धाधिकरणता की प्रतीति होती और स्नेहन्धोभय में क्षित्याधेयता की प्रतीति होगी तथा क्षितिजलोभयत्व में गन्धाधिकरणतावच्छेदकत्व और स्नेहगन्धोभयत्व में क्षित्याधेयतावच्छेदकत्व का भान होगा। ये दोनों ही क्रमशः गन्धाधिकरणता व क्षित्याधेयता के अतिप्रसक्त धर्म हैं। यद्यपि क्षिति में गन्धाधिकरणता है और गन्ध में क्षित्याधेयता है कि यदि अतिप्रसक्त व्यासज्यवृत्ति धर्म का भी अवच्छेदकत्व आधारता व आधेयता का होता तो क्रमशः क्षितिजलोभयत्व और स्नेहगन्धोभयत्व में गन्धाधिकरणता और क्षित्याधेयता का अवच्छेदकत्व भासित होता। नहीं होता है अतः सिद्ध है कि व्यासज्यवृत्ति अतिप्रसक्तधर्म में आधेयता व आधारता का अवच्छेदकत्व नहीं होता है।

प्रकृतस्थल में मासत्व (त्रिंशत्त्व) व्यासज्यवृत्ति धर्म है, अतः यदि वह उक्ताधारता का अतिप्रसक्त हुआ तो वह उक्ताधारता का अवच्छेदक नहीं होगा। इसलिए न्यूनकालाध्ययन स्थल में '**मासमधीते**' प्रयोग की आपत्ति नहीं है।

**अथवा द्वितीयाद्यर्थेऽध्ययनाधारत्वे तत्तन्मासादिरूपप्रकृत्यर्थविशेषणतापन्नतत्तन्मासत्वादिव्यक्तीनां व्यापकतासम्बन्धेन स्वपारतन्त्र्येण विशेषणत्वमुपेयते। तादृशञ्च व्यापकत्वं स्वसमानाधिकरणव्याप्यवृत्त्यभावप्रतियोगितावच्छेदकत्वसम्बन्धेन स्वावच्छिन्नस्य यो भेदस्तदाश्रयधर्मवत्त्वम्। तादृशधर्मश्च 'चैत्रो मासमधीते' चैत्रीयाध्ययनाद्याधारतात्वं विशिष्यैव सम्बन्धेऽन्तर्भावनीयम् ।**

'**मासमधीते**' इस स्थल के लिए तीसरा पक्ष आरम्भ कर रहे हैं—

अथवा द्वितीयादि के अर्थ अध्ययनाधारता में तत्तन्मासादिरूप प्रकृत्यर्थ में विशेषणतापन्न तत्तन्मासत्वादिव्यक्तियों का व्यापकतासम्बन्ध से धर्मिपारतन्त्र्येण विशेषणत्व स्वीकार किया जाता है। तादृशव्यापकत्व स्वसमानाधिकरणव्याप्यवृत्ति अभावप्रतियोगितावच्छेदकत्वसम्बन्ध से स्वावच्छिन्न का जो भेद तदाश्रयधर्मवत्त्व ही है। तदाश्रय धर्म '**चैत्रो मासमधीते**' इत्यादि स्थलों में चैत्रीयाध्ययनाद्याधारतात्व ही होगा जिसका कि विशेष कर के सम्बन्ध में अन्तर्भाव करना चाहिए।

यह कहना है '**चैत्रो मासमधीते**' यहाँ पर द्वितीया का अर्थ आधारता ही है। किन्तु अध्ययन से विशेषित आधारता (अध्ययनाधारता) में तत्तत् मास आदि

रूप जो प्रकृति (द्वितीया की प्रकृति) का अर्थ है उसमें विशेषणतापन्न (विशेषणीभूत) तत्तन्मासत्वादिव्यक्तियों का व्यापकता सम्बन्ध से धर्मिपारतन्त्र्येण विशेषणत्व स्वीकारा जाता है। भाव यह है कि चूँकि मासपदोपस्थित तत्तत् मास का भी अन्वय आधारता में (अधययनाधारता में) ही किया जाता है, इसलिए तत्तत् मास में विशेषणीभूत तत्तन्मासत्त्व व्यक्तियों का भी अध्ययनाधारता में व्यापकतासम्बन्ध से अन्वय किया जायेगा, अध्ययनाधारता में तत्तन्मासत्वव्यक्तियों का आकाङ्क्षाभास्य व्यापकतासम्बन्ध से वैशिष्ट्य भासित होगा। अध्ययनाधारता में तत्तन्मासत्व का जो व्यापकत्व भासेगा वह स्वसमानाधिकरणव्याप्यवृत्ति अभाव प्रतियोगितावच्छेदकत्व सम्बन्ध से स्वावच्छिन्न (स्वविशिष्ट) प्रतियोगिक भेदाश्रयधर्मवत्त्व रूप व्यापकत्व है। देखें '**चैत्रो मासमधीते**' यहाँ पर स्वपद से तन्मासत्व को लीजिए, चूँकि तन्मासत्व तत्त्रिंशत्त्वरूप ही है इसलिए मासत्व का अधिकरण हुए तीसों ही दिन। मासत्वाधिकरणी भूत किसी भी दिन में रहने वाला जो अभाव '**चैत्रीयाध्ययनाधारता नास्ति**' 'चैत्रीय अध्ययानाधारता नहीं है' यह अभाव तो मिलेगा नहीं क्योंकि मास भर अध्ययन किया गया है हर दिन पढ़ा गया है और मिलेगा तो व्याप्यवृत्ति नहीं होगा चैत्रीयनृत्याद्यधिकरणता का ही अभाव '**चैत्रीयनृत्याधारता नास्ति**' 'चैत्रीय नृत्याधारता नहीं है' करके मिलेगा। इस अभाव का प्रतियोगितावच्छेदक चैत्रीयनृत्याद्यधिकरणतात्व ही होगा। इस प्रकार स्वसमानाधिकरणाभाव प्रतियोगितावच्छेदकत्व सम्बन्ध से स्व (तन्मासत्व व्यक्ति) से विशिष्ट चैत्रीयनृत्याद्यारतात्व ही होगा चैत्रीयाध्ययनाधारतात्व नहीं होगा, इस प्रकार '**स्वसमानाधिकरणाभावप्रतियोगितावच्छेदकत्वसम्बन्धेन तन्मासत्वावच्छिन्नं न**' 'स्वसमानाधिकरणाभावप्रतियोगितावच्छेदकत्व सम्बन्ध से तन्मासत्वावच्छिन्न नहीं है' ऐसा भेद चैत्रीयाध्ययनाधारतात्व में मिल जायेगा, भेदाश्रय धर्म वही होगा, तद्वत्त्व चैत्रीयाध्ययनाधारता में आ जायेगा। इस तरह तन्मासत्वव्यक्ति का व्यापकत्व चैत्रीयाध्ययनाधारता में सुलभ है। वहीं संसर्गमर्यादा से भासता है। इस प्रकार '**चैत्रो मासमधीते**' से '**तन्मासनिष्ठतन्मासत्वव्यापकाधारतानिरूपित आधेयत्वाश्रयाध्ययनाश्रयश्चैत्रः**' 'तन्मासनिष्ठ तन्मासत्व व्यापक आधारता निरूपित आधेयत्वाश्रयाध्ययन का आश्रय चैत्र है' ऐसा ही शाब्दबोध होता है।

**मासान्तरनिष्ठतादृशाभावप्रतियोगितावच्छेदकत्वस्य तादृशधर्मे सत्त्वेऽपि तत्तन्मासत्वसमानाधिकरणाभावप्रतियोगितानवच्छेदकतादृशधर्मे उक्तसम्बन्धेन तत्तन्मासत्त्वाद्यवच्छिन्नस्य यो भेदस्तदाश्रयत्वमक्षतमेवेति यत्किञ्चिदेक-मासादिमात्रव्यापकाध्ययनादिस्थलेऽपि तादृशप्रयोगनिर्वाहः।**

मासान्तरनिष्ठ तादृश (व्याप्यवृत्ति) अभाव प्रतियोगितावच्छेदकत्व के तादृश धर्म में चैत्राध्ययनाधारतात्व में रहने पर भी '**स्वसमानाधिकरणाभावप्रतियोगितावच्छेद कत्वसम्बन्धेन मासत्वावच्छिन्नं न**' 'स्वसमानाधिकरणाभावप्रतियोगितावच्छेदकत्व सम्बन्ध से मासत्वावच्छिन्न नहीं है' इस भेद का आश्रय चैत्रीयाध्ययनाधारतात्व नहीं हो सकेगा क्योंकि मासत्वाधिकरणीभूत मासान्तर में चैत्रीयाध्ययनाधारता का अभाव सुलभ है। तथापि) तत्तन्मासत्वसमानाधिकरणाभावप्रतियोगितानवच्छेदकीभूत चैत्रीयाध्ययनाधारतात्व धर्म में उक्त सम्बन्ध से तत्तन्मासत्वावच्छिन्न का जो भेद उसका आश्रयत्व अक्षत ही है सुलभ ही है (क्योंकि जिस मासभर अध्ययन किया गया है तन्मासत्वसमानाधिकरणाभाव प्रतियोगिता-वच्छेदकत्व तो चैत्रीयाध्ययनाधारतात्व में नहीं ही है, अतः तन्मासत्व समानाधिकरणाभाव

प्रतियोगितावच्छेदकत्वसम्बन्ध से तन्मासत्वावच्छिन्न चैत्रीयाध्ययनाधारतात्व नहीं होगा, भेदाश्रय ही होगा। इसलिए तादृशभेदाश्रयत्व अक्षत ही है) इसलिए जिस किसी एकमासादिमात्रव्यापक अध्ययनादिस्थल में भी वैसे प्रयोग का निर्वाह होता है।

**'प्रतिमासमधीते' इत्यादौ प्रत्यादिशब्दानां मासादिपदोपस्थाप्यानुगतरूपावच्छिन्नमासत्वादिमन्निष्ठाभावप्रतियोगितावच्छेदकत्वसमामान्याभावघटितव्यापकताबोधकतया यत्किञ्चिदेकमासव्यापकाध्ययनस्थले न तादृशः प्रयोगः।**

'**प्रतिमासमधीते**' 'हर महीने पढ़ता है' इत्यादि स्थलों में प्रति आदि शब्दों के मास आदि पदों से उपस्थाप्य अनुगतरूप (मासत्वत्व) से अवच्छिन्न मासत्वादिमन्निष्ठाभाव प्रतियोगितावच्छेदकत्वसामान्याभाव से घटितव्यापकता का बोधक होने के कारण जिस किसी एक मास के व्यापकीभूत अध्ययन के स्थल में वैसे '**प्रतिमासमधीते**' इत्यादि प्रयोग नहीं होते हैं।

अभिप्राय यह है कि जब अनेक क्रमागत मासों में अध्ययन सम्बन्ध रहता है तभी उसी अनेक क्रमागत मासों में अध्ययन सम्बन्ध को बोधित करने के लिए ही उक्त प्रयोग होता है। उक्त प्रयोग के द्वारा जायमान शाब्दबोध में अध्ययनाधारता में तन्मासत्व का व्यापकत्व नहीं भासित होता है अपितु मासत्वत्वरूप अनुगत धर्म से अवच्छिन्न अनेक मासत्वों की व्यापकता बोधित होती है, भासित होती है। उपर्युक्त विवेचन के अनुसार मासत्वत्वावच्छिन्नरूपस्व समानाधिकरण व्याप्यवृत्त्यभावीयप्रतियोगितावच्छेदकत्वसम्बन्ध से जो स्व (मासत्त्वत्वावच्छिन्न) विशिष्ट उसके भेद के आश्रयीभूत धर्मवत्त्व रूप व्यापकत्व ही भासता है। एकमासव्यापकाध्ययन स्थल में मासान्तर को लेकर मासत्वत्वावच्छिन्न का समानाधिकरण व्याप्यवृत्ति अभाव चैत्रीयाध्ययनाधारता का अभाव मिल जायेगा और उसका प्रतियोगितावच्छेदकत्व ही चैत्रीयाध्ययनाधारतात्व में होने के कारण वह उपर्युक्त सम्बन्ध से मासत्वत्वावच्छिन्न से विशिष्ट ही है, विशिष्ट भेदाश्रय नहीं है। अतः उक्त वाक्य से बोध्य अर्थ एकमासाध्ययनस्थल में बाधित है। फलस्वरूप वैसा प्रयोग नहीं होता है। इस वाक्य से '**मासनिष्ठमासत्वत्वावच्छिन्नव्यापकाधारतानिरूपिताधेयताश्रयाध्ययनाश्रयश्चैत्रः**' मासनिष्ठमासत्वत्वावच्छिन्नव्यापकाधारतानिरूपिताधेयताश्रयाध्ययनाश्रय चैत्र है' ऐसा शाब्दबोध होता है।

**अथात्यन्तसंयोगार्थकद्वितीयाया एकादिपदं विनापि यत्किञ्चिदेकमासव्यापकताबोधकत्वे "उपसद्भिश्चरित्वा मासमेकमग्निहोत्रं जुहोति" इत्यत्रैकपदवैयर्थ्यमिति चेत् ? न, तत्र मासाधिककालव्यापकत्वेऽपि मासव्यापकतयाऽधिककालव्यापकस्य होमस्य शास्त्रार्थतावारणायैकपदोपादानात् तथासति तस्य केवलार्थकतया मासमात्रव्यापकतालाभात् तादृशप्रयोजनोपपत्तेः।**

यदि पूँछो कि अत्यन्तसंयोगार्थक द्वितीया के एक आदि पदों के न रहने पर भी यत्किञ्चिदेकमासव्यापकता का बोधक होने पर (जैसा कि आपने '**चैत्रो मासमधीते**'

इत्यादि स्थलों में यत्किञ्चिदेकमासव्यापकता का ही अध्ययनाधारता में बोध स्वीकार किया है और वह अत्यन्तसंयोगार्थक द्वितीया की वजह से ही हो रहा है) '**उपसद्भिश्चरित्वा मासमेकमग्निहोत्रं जुहोति**' तिलादि उपसद्द्रव्यों के द्वारा एक महीने भर अग्निहोत्र करता है' इस वाक्य में एक पद व्यर्थ हो जायेगा (क्योंकि बग़ैर एक पद के रहे भी मासपदोत्तर द्वितीया के अत्यन्तसंयोगार्थक होने के कारण '**चैत्रो मासमधीते**' की तरह अग्निहोत्र में या अग्निहोत्राधिकरणता में यत्किञ्चिदेकमासव्यापकता का लाभ हो जायेगा) तो ऐसा नहीं है क्योंकि यदि होम मासभर से ज़्यादा भी है तब भी उस होम में मासव्यापकता (यत्किञ्चिदेकमासव्यापकता) तो है ही, इसलिए अधिककालव्यापक होम की शास्त्रार्थता का वारण करने के लिए एक पद का उपादान किया गया है। एक पद का उपादान करने पर उसके (एक पद के) केवलार्थक होने के कारण मासमात्रव्यापकता का लाभ होने से तादृश प्रयोजन (अधिककालव्यापक होम की शास्त्रार्थतावारण रूप प्रयोजन) की उपपत्ति होती है।

अभिप्राय यह है कि जैसे '**मासमधीते चैत्रः**' से अध्ययन में मासव्यापकत्व का भान होता है यदि अध्ययन मास भर से ज़्यादा हो तो भी अध्ययन में मासव्यापकता का भान अबाधित होने के कारण निराबाध है और होता है। उसी प्रकार होम में मासव्यापकता तब भी है जब मास भर से अधिक होम है। इसलिए मासभर होम से उक्त शास्त्रबोधित अज्ञा का पालन होगा और मास भर से अधिक होम के द्वारा भी। जबकि शास्त्र का अर्थ है कि मास भर होम करे न कम और न तो ज़्यादा। उसका लाभ बग़ैर एक पद दिये नहीं हो सकता है, एक पद के मात्रार्थक होने के कारण एक पद दे देने पर मास से अधिक होम का व्यवच्छेद हो जाता है। इसलिए एक पद सार्थक ही है।

**अत एव च "यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति" इति श्रुतिबोधिता ग्निहोत्रानुवादेन सतिलव्रीहिचरुरूपद्रव्यस्य मासैकरूपकालस्य च विधाने वाक्यभेदः स्यादिति तादृशद्रव्यकालोभयविशिष्टस्य गौणाग्निहोत्रपद प्रतिपाद्यस्य कर्मान्तरस्यैव विधायिका तादृशी श्रुतिरिति सिद्धान्ते यावज्जीव-कालान्तर्गतमासरूपकालांशेप्यनुवादकतासम्भवात् प्राप्ताग्निहोत्रानुवादेन द्रव्यस्यैव विधानमुचितमिति पूर्वपक्षोऽपि निरस्तः "यावज्जीवम्" इत्यादि-श्रुत्या यावज्जीवव्यापकत्वेबोधितेऽर्थतो मासैकव्यापकतालाभेऽप्युपसच्च-रुकरणकत्वविशिष्टहोमे तन्मात्रव्यापकताया अलाभेन तस्यापि विधेयतया वाक्यभेदस्य प्राप्ताग्निहोत्रानुवादेन द्रव्यविधिपक्षे दुर्वारत्वात् ।**

इसीलिए ही '**यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति**' 'जीवनपर्यन्त अग्निहोत्र करता है' इस श्रुति से बोधित अग्निहोत्र के अनुवाद[1] '**उपसद्भि ....जुहोति**' के द्वारा सतिलव्रीहिचरुरूपद्रव्य और मासैकरूप काल का विधान हो रहा है ऐसा मानने पर वाक्यभेद हो जायेगा (क्योंकि विधिवाक्यों में विधेय के भेद से ही वाक्यभेद होता है द्रव्य और काल दो विधेय हो रहे हैं, अतः वाक्य भी दो हो जायेंगे) इसलिए तादृश (सतिलव्रीहिचरुरूप) द्रव्य और काल दोनों से विशिष्ट गौण अग्निपद प्रतिपाद्य कर्मान्तर की ही विधायिका वह अनुवादिका श्रुति

1. विधिविहितस्यानुवचनमनुवादः। न्यायसूत्र 2-1-65 विधि से विहित को दुबारा कथन ही अनुवाद है। 'यावज्जीवम्' से जो अग्निहोत्र विहित है उसी का दुबारा कथन 'उपसद्भिश्चरित्वा' कर रहा है। अतः यह अनुवाद वाक्य है।

है अर्थात् तादृशद्रव्य और एकमासात्मक काल दोनों से विशिष्ट होम का यहाँ पर इस अनुवाद वाक्य से विधान किया जा रहा है। थथा उक्तोभयविशिष्ट होम अग्निहोत्र नहीं है गौण अग्निहोत्र है। मुख्य अग्निहोत्र तो वही है जिसका कि जीवन पर्यन्त करने के लिए विधान '**यावज्जावम्**' इत्यादि से किया गया है।इस सिद्धान्त पर किया जानेवाला 'यावज्जीवन काल के अन्तर्गत मासरूप कालांश में भी अनुवादकता सम्भव होने के कारण प्राप्त अग्नि होत्रानुवाद से द्रव्य का ही विधान है काल का नही' यह पूर्वपक्ष भी निरस्त हो जाता है क्योंकि '**यावज्जीवम्**' इत्यादि श्रुति से अग्निहोत्र में यावज्जीवव्यापकता बोधित होने पर अर्थतः एकमासव्यापकता का भी होम में लाभ हो जाने पर भी उपसच्चरुकरणकत्व (सितल व्रीहिचरुकरणकत्व) से विशिष्ट होम में एकमासमात्रव्यापकता का लाभ न होने के कारण काल की भी विधेयता स्वीकारनी पड़ेगी। काल को भी विधेय मानने पर द्रव्यविधि पक्ष में (द्रव्य और काल दो विधेय होने के कारण) वाक्यभेद प्राप्ताग्निहोत्रानुवाद से दुर्वार होगा।

ग्रन्थकार यह कहना चाह रहे हैं— '**यावज्जीवम्**' एक वाक्य है जिससे जीवन भर अग्निहोत्र का विधान किया गया है। '**उपसद्भिः ...जुहुयात्**' दूसरा वाक्य है जिससे एकमासभर उपसच्चरुकरणकहोम का विधान है। यहाँ पर पूर्वपक्ष यह है कि यावज्जीवन अग्निहोत्र पूर्व में ही विहित है । इसलिए उसके अन्तर्गत एक मास भर भी अग्नि होत्र विहित ही है, अतः इस अनुवादवाक्य के द्वारा केवल सतिल व्रीहिचरुरूप द्रव्य का ही विधान किया गया है। मासैक रूप काल का विधान नहीं किया गया है। सिद्धान्ती का कहना है कि भले ही मसैकरूप काल में भी जीवनान्तर्गततया अग्निहोत्रविधान होने के कारण मासैकव्यापकता का होम में विधिवाक्य **यावज्जीवम्** से ही लाभ हो रहा हो किन्तु उपसच्चरुकरणकत्व विशिष्ट होम में एकमासमात्रव्यापकता का लाभ तो हुआ नहीं यदि सिर्फ द्रव्य का विधान अनुवाद वाक्य से स्वीकार करें। अतः मासैकरूप काल का भी विधान आवश्यक होगा, इस तरह द्रव्य और काल दो के विधेय होने के कारण वाक्यभेद हो जायेगा। इसका वारण पूर्वपक्षी नहीं कर सकता है। इसलिए उक्त अनुवाद वाक्य के द्वारा सतिलव्रीहिचरुरूपद्रव्य और मासैकरूपकाल दोनों से विशिष्ट होम रूप कर्मान्तर का ही विधान किया जा रहा है जो कि गौण अग्निहोत्र है, मुख्यतः अग्निहोत्र नहीं है। यही स्वीकारना उचित है। एकपद के रहने से ही इसका लाभ होता है, अतः एक पद व्यर्थ नहीं है सार्थक है।

**अथ तादृशश्रुतेर्द्रव्यकालोभयविशिष्टस्य गौणाग्निहोत्रपदप्रतिपाद्यस्य कर्मान्तरस्य विधायकत्वेऽपि न कथं वाक्यभेदः? विधेयभेदस्यै तावताप्य-परिहारात्, प्रत्युत धर्मिणोऽप्यधिकस्य विधानात् एवञ्च–**

**'प्राप्ते कर्मणि नानेको विधातुं शक्यते गुणः ।**
**अप्राप्ते तु विधीयन्ते बहवोऽप्येकयत्नतः ॥'**

**इत्यपि निर्युक्तिकमिति चेत् ? न, यत्र विधेयांशे युगपदनेकधर्माणां विशेषणतया भानं तत्र विधेयविशेषणभेदेऽपि विशिष्टनिष्ठविधेयत्वाभेदेन वाक्यभेदविरहात्। अन्यथा 'भूतलं नीलघटवत्' इत्यादावपि 'नीलवद् घटवद्'**

**इत्यादाविव वाक्यभेदप्रसङ्गात्। अनुवाद्यांशे विशेषणतया यत्रानेकेषां विधानं तत्र तेषां विधेयता भिन्नैवेति वाक्यभेदः।**

यदि कहो कि तादृश श्रुति के '**उपसद्भिश्चरित्वा**' श्रुति के द्रव्य (सतिलव्रीहिचरुरूपद्रव्य) और काल (मासैकरूपकाल) दोनों से विशिष्ट गौण अग्निहोत्रपद प्रतिपाद्य कर्मान्तर का विधायक होने पर भी (जैसा कि सिद्धान्ती स्वीकार कर रहा है) वाक्यभेद क्यों नहीं होगा क्योंकि विधेयभेद का परिहार तो ऐसे भी नहीं होगा, अपितु धर्मी रूप अधिक का भी विधान हो रहा है। अभिप्राय यह कि पूर्वपक्षी के मत में द्रव्य का और आपके आपत्ति के अनुसार काल का भी विधान होने के कारण वाक्यभेद होगा, लेकिन यह बताओ कि आपके सिद्धान्ती के मत में वाक्यभेद क्यों नहीं होगा? आप तो द्रव्यकालोभय विशिष्ट होम का विधान स्वीकार रहे हैं, इस आपके मत में द्रव्य और काल तो विधेय है ही साथ में धर्मी होम भी विधेय है जो कि हमारे (पूर्वपक्षी के) मत में विधेय नहीं है। इसलिए हमारे मत में दो विधेय हैं तो आपके मत में तीन (द्रव्य,काल व होम) विधेय हैं ये तो भिन्न-भिन्न ही हैं। इस कारण विधेय भेद से तो आपके मत में भी वाक्यभेद होगा।

इस प्रकार "**प्राप्ते... यत्नतः**" 'कर्म के प्राप्त होने पर अनेक गुण का विधान नहीं किया जा सकता है (एक ही गुण का विधान किया जा सकता है) कर्म के प्राप्त न होने पर एक ही यत्न से अनेक गुणों का विधान किया जाता है' यह कथन भी युक्तिरहित है। इसमें भी कोई युक्ति नहीं है। यदि इस कथन में युक्ति होती तो चूँकि हमारे (पूर्व पक्षी के) मत में अग्निहोत्र प्राप्त है और उसमें एक ही गुण का विधान किया जा सकता है या तो द्रव्य का या तो काल का, दोनों का विधान होने पर वाक्यभेद होगा। तथा सिद्धान्ती के मत में चूँकि गौण अग्निहोत्र रूप कर्मान्तर प्राप्त नहीं है । इसलिए एक ही यत्न से द्रव्य, काल व होम तीनों का विधान किया जा सकता है किन्तु यह कथन युक्तिहीन है।

तो ऐसा नहीं है (यह कथन युक्तिहीन नहीं है) क्योंकि जहाँ पर विधेयांश में एक साथ अनेक धर्मों का विशेषणतया भान होता है। वहाँ पर विधेय विशेषणों का भेद होने पर भी विशिष्टनिष्ठ विधेयत्व का अभेद होने के कारण वाक्यभेद नहीं होता है, यदि ऐसा न होगा तो '**भूतलं नीलघटवत्**' इत्यादि स्थलों में भी '**नीलवद्, घटवत्**' की तरह वाक्यभेद हो जायेगा। अनुवाद्यांश में विशेषण के रूप में जहाँ पर अनेक का विधान होता है वहाँ पर विशेषणों की विधेयता तो भिन्न ही होती है इसलिए वाक्यभेद होता है।

अभिप्राय यह है कि विधेय अंश में एक साथ यदि अनेक धर्मों का विशेषणतया भान हो रहा हो तो विशेषणों में रहने वाली विधेयता अलग-अलग होती है, विधेय भूत विशेषण अलग होते हैं तथापि विशिष्टनिष्ठ विधेयत्व एक ही है, अलग-अलग नहीं है। इसलिए विशिष्टनिष्ठ विधेयत्व का भेद न होने के कारण वाक्यभेद नहीं है। जैसे कि- '**भूतलं नीलघटवत्**' यह एक ही वाक्य माना जाता है दो वाक्य नहीं, यहाँ भूतल में विधेय है नीलविशिष्ट घट। एक विधेयता घट में है और एक विधेयत्व नील में है विधेय भेद हो रहा है किन्तु नीलविशिष्टघटनिष्ठ विधेयत्व एक होने से एकवाक्यता होती है। '**नीलवद् घटवत् भूतलम्**' में वाक्यभेद होता है क्योंकि भूतल में नील अलग से विधेय

है और घट अलग से विधेय है। विशिष्टनिष्ठविधेयत्वाभेद नहीं है। यदि विशिष्टनिष्ठ विधेयत्वाभेद वाक्याभेद का नियामक न होगा तो इसी की तरह **'भूतलं नीलघटवत्'** में भी वाक्यभेद हो जायेगा। इसी प्रकार सिद्धान्ती के मतानुसार **'उपसद्भिश्चरित्वा'** से सतिलव्रीहिचरुरूपद्रव्य और मासैककाल से विशिष्ट गौण अग्निहोत्ररूप कर्मान्तरनिष्ठ विधेयत्व का अभेद होने के कारण वाक्यभेद नहीं होगा । यद्यपि द्रव्य, काल व होम में विधेयताएँ अलग-अलग है। सिद्धान्ती इस वाक्य को अपूर्वविधायक होने के कारण विधि ही मानता है अनुवाद नहीं।

पूर्वपक्षी के मत में जो कि इसे अनुवाद मानता है, अग्निहोत्र तो पूर्व प्राप्त है अनुवाद्य है उसमें विशेषणतया यदि एक का विधान किया जाये तभी काम चल सकता है यदि द्रव्य व काल दोनों का (अनेक का) विधान करोगे (जैसी कि आपत्ति है) तो द्रव्य और कालनिष्ठ विधेयता के भिन्न-भिन्न होने के कारण वाक्य भेद होगा ही। वाक्य भेद दुष्परिहार है।

**यद्यपि तत्रोपसच्चरुकरणकहोमाधिकरणतात्वेन वाऽधिकारिविशेष कृततादृशहोमाधिकरणतात्वेन वा मासैकव्यापकता मासन्यूनकालहोतृकृतहोमाधिकरणतायामप्यान्यान्यदिने पुरुषान्तरकर्तृकहोमाधिकरणतासत्त्वेनाक्षतैव, तत्तत्पुरुषकर्तृकतादृशहोमाधिकरणतात्वेन व्यापकतायाः श्रुतितात्पर्यविषयत्वे च विधेयानन्त्यम्, तथापि विभिन्नपुरुषकर्तृकहोमाधिकरणताद्वयावृत्तितादृशचरुहोमाधिकरणतामात्रवृत्तिधर्मत्वेनानुगतीकृत्य तत्तत्पुरुषकर्तृकतादृशचरुहोमाधिकरणतात्वावच्छिन्नव्यापकतानां संसर्गविधया विवक्षितत्वान्न दोषः।**

यद्यपि **'उपसद्भिश्चरित्वा मासमेकमग्निहोत्रं जुहोति'** में चाहे उपसच्चरुकरण कहोमाधिकरणतात्वेन मासैकव्यापकता ली जाये, चाहे अधिकारिविशेषकृत तादृश होमाधिकरणतात्वेन मासैकव्यापकता ली जाये दोनों ही पक्षों में मासन्यूनकालहोतृकृत होमाधिकरणता में भी अन्यान्यदिनों में पुरुषान्तरकर्तृक होमाधिकरणता के रहने के कारण मासैकव्यापकता होमाधिकरणता में अक्षत ही है। अभिप्राय यह है कि **'चैत्रो मासमधीते'** में यत्किञ्चिदेकमासव्यापकता जो अध्ययनाधारता में ली जाती थी वह चैत्रकर्तृकाध्ययनाधारता त्वेन ली जाती थी, **'उपसद्भिश्चरित्वा....'** में होमाधारता में आप मासैकव्यापकता किस रूप से लेंगे? यदि कहो कि उपसच्चरुकरणकहोमाधिकरणतात्वेन होमाधिकरणता में मासैकव्यापकता लेंगे। इसका अर्थ यह हुआ कि महीने भर उपसच्चरुकरणकहोमाधिकरणता होनी चाहिए। किसी दिन कोई हवन कर रहा है, किसी दिन कोई हवन कर रहा है इसलिए यदि एकव्यक्ति महीने भर होम नहीं भी कर रहा है; तब भी महीने भर उपसच्चरुकरणक-होमाधिकरणता है ही। यदि अधिकारिविशेषकृत उपसच्चरुकरणकहोमाधिकरणतात्वेन मासैकव्यापकताहोमाधिकरणता में लें तो इसका अर्थ हुआ कि महीने भर अधिकारिविशेषकृत उपसच्चरुकरणकहोमाधिकरणता होनी चाहिए। किसी दिन कोई अधिकारी हवन कर रहा है किसी दिन कोई दूसरा इस प्रकार यदि एक ही व्यक्ति महीने भर होम नहीं कर रहा है तब

भी महीने भर अधिकारिविशेषकृत उपसच्चरुकरणक होमाधिकरणता है ही। इसलिए ऐसी स्थिति में भी (एकव्यक्ति के द्वारा मासन्यूनकालिक होम होने पर भी) उपर्युक्त '**उपसद्भिश्चरित्वा**' इत्यादि प्रयोग होने लगेंगे।

यदि तत्तत्पुरुषकर्तृकहोमाधिकरणतात्वेन होमाधिकरणता में मासैकव्यापकता लें तो न्यूनकालहोमस्थल में उक्त प्रयोग होने की आपत्ति तो नहीं है क्योंकि तत्पुरुषकर्तृकहोमाधिकरणता में मासैव्यापकता नहीं है जैसे कि चैत्र द्वारा न्यूनकालहोम होने पर तत्पुरुषचैत्रकर्तृक होमाधिकरणता मासैकव्यापक नहीं होती है। किन्तु इसमें मुश्किल यह है कि उपर्युक्तवाक्य विधिवाक्य है, तत्तत्पुरुष के अनन्त होने के कारण तत्तत्पुरुषकर्तृकहोमरूपविधेय भी अनन्त होंगे इस प्रकार विधेय का आनन्त्य होगा।

तथापि विभिन्नपुरुषकर्तृकहोमाधिकरणताद्वयावृत्तितादृशचरुहोमाधिकरणतामात्रवृत्तिधर्मत्वेन अनुगत करके तत्तत्पुरुषकर्तृकतादृशचरुहोमाधिकरणतात्वावच्छिन्न व्यापकताओं के संसर्गविधया विवक्षित होने के कारण कोई दोष नहीं है।

अभिप्राय यह है कि विभिन्न पुरुषों के द्वारा किये जा रहे होम की दो अधिकरणताओं में न रहने वाला जो उस एक व्यक्ति के द्वारा किये जा रहे होम की अधिकरणता मात्र में रहने वाला धर्म उस धर्म से अनुगत व्यापकताओं की संसर्गविधया यहाँ पर विवक्षा की जा रही है। यद्यपि तादृश धर्म (विभिन्नपुरुषकर्तृक होमाधिकरणताद्वय में न रहने वाला और एकव्यक्ति द्वारा किये जा रहे होम की अधिकरणतामात्र में रहने वाला धर्म) तत्पुरुषकर्तृक तादृश चरुहोमाधिकरणतात्व (तादृशहोमाधिकरणतान्यतमत्व) ही होगा। किन्तु उपर्युक्त अनुगत रूप से विवक्षा होने से विधेय का आनन्त्य नहीं होगा।

**तादृशाधिकरणताद्वयावृत्तित्वञ्च स्ववृत्तित्व स्वनिरूपकहोमकर्तृनिष्ठ-भेदप्रतियोगिकर्तृकहोमाधिकरणतावृत्तित्वोभयसम्बन्धेनाधिकरणताविशिष्टान्यत्व-रूपमनुगतं बोध्यम् ।**

तादृशाधिकरणता (विभिन्नपुरुषकर्तृक होमाधिकरणता) द्वयावृत्तित्व तो स्ववृत्तित्व, स्वनिरूपकहोमकर्तृनिष्ठभेदप्रतियोगिकर्तृकहोमाधिकरणतावृत्तित्व उभयसम्बन्ध से अधिकरणता से जो विशिष्ट तदन्यत्व रूप अनुगत समझना चाहिए।

यहाँ पर स्ववृत्तित्व और स्वनिरूपकहोमकर्तृनिष्ठभेदप्रतियोगिकर्तृक होमाधिकरणतावृत्तित्व सम्बन्ध से अधिकरणता से जो विशिष्ट हो उसका अन्यत्व ही तादृशाधिकरणताद्वयावृत्तित्व है । सम्बन्धघटक स्व पद से अधिकरणता को लेना है। देखें जहाँ पर अलग-अलग व्यक्तियों के द्वारा होम किया जा रहा है। अधिकरणता को स्व पद से लिया उसमें रहने वाला धर्म हुआ अन्यतमत्व विशेष (भिन्नकर्तृकहोमाधिकरणतान्यतमत्व) इस प्रकार स्वृत्तित्व इसमें है। दूसरा सम्बन्ध देखें- स्व माने उक्त अधिकरणता उसका निरूपक होम (होम आधेय है, अतः अधिकरणता का निरूपक होम हुआ) होमकर्ता पुरुष चैत्र आदि, उसमें रहने वाला भेद मैत्र आदि का भेद, उसभेद के प्रतियोगी मैत्रकर्तृक होमाधिकरणता में भी उपर्युक्त अन्यतमत्व विशेष (भिन्नकर्तृकहोमाधिकरणतान्यतमत्व) विद्यमान है। इस प्रकार उक्त उभय सम्बन्ध से अधिकरणताविशिष्ट हो गया भिन्नकर्तृक होमाधिकरणतान्यतमत्व, अधिकरणताविशिष्टान्य होगा एक व्यक्ति (चैत्र) कर्तृक होमाधिकरणतान्यतमत्व। उसीधर्म से

अधिकरणता में मासैकव्यापकता लेनी है। अतः यदि चैत्र महीने भर होम नहीं कर रहा है तो वैसा प्रयोग नहीं होगा, चैत्र महीमे भर होम कर रहा होगा तो एक व्यक्ति (चैत्र) कर्तृक होमाधिकरणतान्यतमत्व में जो कि अधिकरणताविशिष्टान्य है मासैकव्यापकता होने के कारण वैसा प्रयोग होगा।

**'मासमधीते' इत्यादावपि चैत्रादिकर्तृकाध्ययनाधिकरणतात्वरूपव्यापकतावच्छेदकधर्मस्योक्तानुगतरूपेणैवानुगमः कार्यः। अतो 'मासमधीयानो दृष्टः' इत्यादौ विशिष्य चैत्रत्वाद्यनुपस्थितावपि नान्वयबोधानुपपत्तिः। अन्यत् स्वयमूहनीयम् ।**

**'मासमधीते'** इत्यादिस्थलों में भी चैत्रादिकर्तृकाध्ययनाधिकरणतात्वरूप व्यापकतावच्छेदक धर्म का उक्त अनुगत रूप से ही अनुगम करना चाहिए। अतः **'मासमधीयानो दृष्टः'** 'महीने भर पढ़ता हुआ देखा गया' इत्यादि स्थलों में विशेष करके चैत्रत्वादि की उपस्थिति न होने पर भी अन्वय बोध की अनुपपत्ति नहीं है। अन्य स्वयं समझ लेना चाहिए

भाव यह है कि **'उपसद्भिश्चरित्वा...'** से शाब्दबोध चैत्रत्वादि की उपस्थिति न होने पर भी होता है क्योंकि चैत्रत्वादि का शाब्दबोध में संसर्गविधया भी प्रवेश नहीं है[1] बल्कि उक्तोभय सम्बन्ध से अधिकरणताविशिष्टान्य जो तादृशचरुहोमाधिकरणतामात्र वृत्ति धर्म तद्धर्मत्वेन व्यापकता लेनी है। इसलिए इतना मात्र जानने से काम चल जायेगा कि किसी एक के द्वारा किए जाने होम की अधिकरणता मासैकव्यापक है। इसलिए उसी रीति से उक्तोभयसम्बन्ध से अधिकरणताविशिष्टान्य जो अध्ययनाधिकरणतामात्रवृत्तिधर्म उसी धर्मत्वेन अध्ययनाधिकरणता में यत्किञ्चिदेकमासव्यापकता लेनी चाहिए। ऐसी स्थिति में **'मासमधीयानोदृष्टः'** इत्यादि स्थलों में जहाँ पर चैत्रत्वादि की उपस्थिति नहीं होती है, वहाँ पर भी 'किसी एक व्यक्ति द्वारा किये जा रहे अध्ययन की अधिकरणता मासैकव्यापक है' इतना ज्ञान रहता ही है। अतः उपर्युक्त प्रयोग होने में कोई आपत्ति नहीं है।

**'दण्डं विना न घट उत्पद्यते' 'रासभं विनापि घट उत्पद्यते' इत्यादौ विनापदार्थोऽभाववान्। तत्पदसमभिव्याहृतद्वितीयाया अभावान्वयि प्रतियोगित्वमनुयोगित्वं वार्थः। अभाववतश्चोत्पत्तावाधारत्वेनान्वयः तथा च 'दण्डाभाववद्वृत्त्युत्पत्तिकत्वाभाववान् घटः' 'रासभाभाववद्वृत्त्युपस्थितिको घटः' इत्याकारको बोधः।**

**यद्यपि निपातार्थे नामार्थस्य साक्षादपि भेदान्वयस्तथापि सम्भवति सार्थकत्वे विभक्तेर्निरर्थकत्वमनुचितमिति द्वितीयायाः सार्थकत्वमुपेयते।**

**'दण्डं विना न घट उत्पद्यते'** 'दण्ड के विना घट नहीं उत्पन्न होता है' **'रासभं विना पि घट उत्पद्यते'** 'गधे के बिना भी घट उत्पन्न होता है' इत्यादि स्थलों में विना पद का अर्थ अभाववान् है। विनापद से समभिव्याहृत द्वितीया का अर्थ अभाव में अन्वित होने वाला प्रतियोगित्व या अनुयोगित्व है (यह भी प्राच्य और नव्यमत के अनुसार है ऐसा लगता है। प्रतियोगित्व को द्वितीया का अर्थ मानने पर प्रतियोगिता का निरूपकत्व सम्बन्ध से

1. यहाँ पर आदर्शव्याख्याकार 'चैत्रत्वादि के संसर्गकोट्यन्तर्गत होने के कारण उनकी उपस्थिति की आवश्यकता नहीं है' ऐसा कहते हैं। जो कि उचित नहीं प्रतीत होता है संसर्गोपस्थिति भी तात्पर्यज्ञान विधया आवश्यक ही होती है।

अभाव में और अनुयोगित्व को द्वितीयार्थ मानने पर अनुयोगित्व का आश्रयत्व सम्बन्ध से अभाव में अन्वय होगा) अभाववान् का उत्पत्ति में आधारतया अन्वय होता है (उत्पत्ति अभाववत् में वृत्ति होती है।) इस प्रकार **'दण्डाभाववद्वृत्त्युत्पत्तिकत्वाभाववान् घटः'** 'दण्डाभाववद्वृत्त्युपस्थितिकत्वाभाववाला घट है' ऐसा शाब्दबोध होता है। **'रासभाभाववद् वृत्त्युपस्थिति को घटः'** 'रासभाववद् वृत्त्युपस्थितिक घट है' ऐसा शाब्दबोध होता है। इनमें दण्ड का अभाव में प्रतियोगित्वेन योअनुयोगित्वन अन्वय होता है वह आकाङ्क्षाभास्य नहीं मान रहे हैं द्वितीया का अर्थ मान रहे हैं। इस प्रकार वस्तुत **'दण्डनिष्ठ प्रतियोगितानिरूपकाभाववद् ( या दण्डानुयोगित्वाश्रयाभाववद् ) वृत्त्युत्पत्तिकत्वा भाववान् घटः'** 'दण्डनिष्ठ प्रतियोगितानिरूपकाभाववद् (या दण्डानुयोगित्वाश्रयाभाववद्) वृत्त्युत्पत्तिकत्वाभाववान् घट है' ऐसा शाब्दबोध होता है।

यद्यपि निपातार्थ में (विना पदार्थ अभाववद् में) नामार्थ (दण्ड, रासभ आदि) का साक्षात् भी भेदान्वय हो सकता है (प्रतियोगितानिरूपकत्व रूप आकाङ्क्षाभास्य भेद सम्बन्ध से अन्वय हो सकता है) तथापि यदि सार्थकत्व सम्भव हो तो विभक्ति का निरर्थकत्व स्वीकारना अनुचित है। इसलिए द्वितीया की सार्थकता स्वीकारते हैं। प्रतियोगिता या अनुयोगिता को द्वितीया अर्थ माने बिना भी काम चल सकता है आकाङ्क्षाभास्य संसर्गविधया उनका भान हो जायेगा किन्तु फिर भी इन्हें द्वितीया का अर्थ मानते हैं क्योंकि यदि सार्थकत्व सम्भव हो तो निरर्थक मानना अनुचित है और आकाङ्क्षाभास्य होने पर तो द्वितीया की निरर्थकता ही होगी।

**'भूतले न घटः' 'चन्द्र इव मुखम्' इत्यादौ प्रथमायाः प्रतियोगिताद्यर्थकत्वे प्रथमैव न साधुः स्यात् – प्रातिपदिकार्थान्वयिनोऽन्यपदेनाभिधानस्थल एव ''प्रतिपदिकार्थ'' सूत्रेण प्रथमाविधानादिति तत्र प्रतियोगित्वादिः सम्बन्धविधयैव भासत इत्युपेयते।**

**'भूतले न घटः'** 'भूतल पर घट नहीं है' **'चन्द्र इव मुखम्'** 'चन्द्रमा की तरह मुख है' इत्यादि स्थलों में प्रथमा के प्रतियोगिताद्यर्थक होने पर (प्रथमा का अर्थ प्रतियोगिता आदि मानने पर) प्रथमा ही साधु न होगी क्योंकि प्रातिपदिकार्थान्वयी का अन्यपद से अभिधान जहाँ हो रहा हो उसी स्थल में **'प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनमात्रे प्रथमा पा0सू0 2/3/46'** सूत्र के द्वारा प्रथमा का विधान किया जाता है। इसलिए वहाँ पर प्रतियोगित्वादि सम्बन्ध विधया ही भासते हैं ऐसा स्वीकारा जाता है।

अभिप्राय यह है- **'भूतले न घटः'** यहाँ पर **'घटप्रतियोगिकाभावो भूतलवृत्तिः'** 'घटप्रतियोगिकाभाव भूतलवृत्ति है' ऐसा शाब्दबोध होता है। इसमें घट का प्रतियोगिता (प्रतियोगिकत्व या प्रतियोगितानिरूपकत्व) सम्बन्ध से नञ् पदार्थ अभाव में अन्वय होता है। प्रतियोगिता सम्बन्ध आकाङ्क्षाभास्य होता है। **'चन्द्र इव मुखम्'** से **'चन्द्र प्रतियोगिकसादृश्याश्रयं मुखम्'** 'चन्द्रप्रतियोगिकसादृश्याश्रय मुख है' ऐसा शाब्दबोध होता है यहाँ पर भी चन्द्र का प्रतियोगिता सम्बन्ध से इव पद के अर्थ सादृश्य में अन्वय होता है। आशंका यह है कि यहाँ पर प्रतियोगित्व को आकाङ्क्षाभास्य मानने के बज़ाय प्रथमा का अर्थ क्यों न मान लें? समाधान यह है कि **'प्रातिपदिकार्थ.....'** सूत्र के द्वारा

प्रातिपदिकार्थ से अन्वयी का अन्य पद से अभिधान होने पर ही प्रथमा का विधान किया गया है। इसलिए यदि प्रथमा का अर्थ प्रतियोगित्व मानना चाहोगे तो प्रथमा असाधु हो जायेगी। प्रातिपदिकार्थ से अन्वयी का अन्यपद से अभिधान होने पर ही प्रथमा विधान का आशय यह है कि इस सूत्र से की जाने वाली प्रथमा का अर्थ प्रतिपादिकार्थ से अलग नहीं होता है। इसलिए प्रतियोगित्व प्रथमा का अर्थ नहीं हो सकता ।

**'दण्डं विना न घटोत्पत्तिः' इत्यादौ च विनान्तार्थे घटोत्पत्त्याद्यभावान्वयेऽनुयोगिविशेषणदण्डाद्यभावस्य च तदनुयोगितावच्छेदकत्वं भासते। 'द्रव्ये न गन्धः' इत्यप्रयोगादुपलक्षणीभूतधर्मावच्छिन्ने न नञर्थाभावान्वय इति व्युत्पत्तेरिति रासभं विना न घटोत्पत्तिः इति न प्रयोगः अतिप्रसक्ततया रासभाभावस्य घटोत्पत्त्याद्यभावानुयोगितावच्छेदकता विरहात्।**

**'दण्डं विना न घटोत्पत्तिः'** दण्ड के विना घटोत्पत्ति नहीं होती है' इत्यादि स्थलों में विनान्त (विना तक) के अर्थ 'दण्डाभाववत्' में घटोत्पत्त्यादि के अभाव का अन्वय करने पर अनुयोगि 'दण्डाभाववत्' में विशेषणीभूत दण्डाद्यभाव का घटोत्पत्त्याद्यभावानुयोगितावच्छेदकत्व भासित होता है। **'द्रव्ये न गन्धः'** 'द्रव्य में गन्ध नहीं है' ऐसा प्रयोग न होने के कारण उपलक्षणीभूत धर्मावच्छिन्न में नञर्थ अभाव का अन्वय नहीं होता है। ऐसी व्युत्पत्ति होने के कारण **'रासभं विना न घटोत्पत्तिः'** ऐसा प्रयोग नहीं होता है क्योंकि रासभाभाव की अतिप्रसक्त होने के कारण घटोत्पत्त्याद्यभाव की अनुयोगितावच्छेदकता नहीं हुआ करती है।

अभिप्राय यह है कि 'उपलक्षणीभूत धर्मावच्छिन्न में नञर्थ अभाव का अन्वय नहीं होता है' ऐसी व्युत्पत्ति है। ऐसी व्युत्पत्ति का कारण है **'द्रव्ये न गन्धः'** प्रयोग का न होना। इस प्रयोग में द्रव्य में गन्धाभाव का अन्वय होता है किन्तु सकलद्रव्यों में गन्धाभाव है नहीं। द्रव्यान्तर्गत पृथ्वी में गन्ध ही विद्यमान है। इसलिए इस प्रयोग में द्रव्यत्व उपलक्षण ही होता है विशेषण नहीं। उपलक्षणीभूत द्रव्यत्व से अवच्छिन्न में नञ् के अर्थ अभाव (गन्धाभाव) का अन्वय नहीं हो सकता है, अतः ऐसा प्रयोग नहीं होता है। **'द्रव्यं विना न घटोत्पत्तिः'** प्रयोग होता है क्योंकि दण्डाभाववत् में घटोत्पत्ति के अभाव का अन्वय किया जाता है। इसलिए दण्डाभाव में घटोत्पत्त्यनुयोगितावच्छेदकत्व भासता है, दण्डाभाव घटोत्पत्त्यभाव का अतिप्रसक्तनहीं होने के कारण विशेषणीभूत धर्म है उपलक्षणी भूत धर्म नहीं है। इसलिए दण्डाभावावच्छिन्न (दण्डाभाववत्) में घटोत्पत्त्यभाव का अन्वय हो सकता है। **'रासभं विना न घटोत्पत्तिः'** प्रयोग इस कारण नहीं होता है क्योंकि रासभाभाव जहाँ-जहाँ है वहाँ-वहाँ घटोत्पत्ति का अभाव नहीं है। कुछेक स्थल ऐसे भी हैं जहाँ पर रासभाभाव है किन्तु घटोत्पत्ति ही विद्यमान है। इसलिए घटोत्पत्त्यभाव से अतिप्रसक्त होने के कारण रासभाभाव घटोत्पत्त्यभाव का अनुयोगितावच्छेदक नहीं हो सकता है। उक्त प्रयोग के आधार पर उसमें अनुयोगितावच्छेदकता आनी चाहिए।

**अथवाऽभाव एव विनार्थः, 'दण्डं विना न घटः' इत्यादौ च विनान्तार्थस्याभावस्य नञर्थे घटाद्यभावे प्रयोज्यतासम्बन्धेनैवान्वयः। अतः एव 'रासभं विना न घटः' इत्यादयो न प्रयोगाः। अत एव दण्डाद्यभाववति**

**घटादेर्वृत्तावपि 'जायते' इत्यास्याध्याहारं विनैव 'दण्डं विना न घटः' इति प्रयोगोपपत्तिः। 'रासभं विना घटः' इत्यादौ च विनार्थस्याभावस्य सामानाधिकरण्यसम्बन्धेन घटादावन्वयः।**

अथवा विना का अर्थ अभाव ही है (अभाववान् नहीं) **'दण्डं विना न घटः'** इत्यादि स्थलों में विनान्तार्थ (विना तक के अर्थ) अभाव का (दण्डाभाव का) घटाद्यभाव में आकाङ्क्षाभास्य प्रयोज्यतासम्बन्ध से ही अन्वय होता है। (इस प्रकार इस वाक्य से **'दण्डाभावप्रयोज्यघटाभावः'** 'दण्डाभावप्रयोज्य घटाभाव है' ऐसा शाब्द बोध होता है) इसी कारण **'रासभं विना न घटः'** इत्यादि प्रयोग नहीं होते है (क्योंकि घटाभाव के रासभाभावप्रयोज्य न होने के कारण घटाभाव में रासभाभाद प्रयोज्यता या प्रयोज्यतासम्बन्ध से रासभाभाव का बाध है) इसी कारण दण्डाभाव के अधिकरण में घट के रहने पर भी **'जायते'** का अध्याहार किये विना ही **'दण्डं विना न घटः'** इस प्रयोग की उपपत्ति हो जाती है। दण्डाभाव के अधिकरण में घट के रहने पर भी दण्डाभावप्रयोज्यघटाभाव तो है ही जो कि शाब्दबोध से विषय होता है। अतः शाब्दबोध में कोई आपत्ति नहीं है। विना का अर्थ अभाववत् मानने पर दण्डाभाववत् में घट के रहने के कारण विना **'जायते'** क्रिया का अध्याहार किए उक्त वाक्य का प्रयोग व उससे शाब्दबोध उपपन्न नहीं है। **'रासभं विना घटः** यहाँ पर विना के अर्थ अभाव का घट में सामानाधिकरण्य सम्बन्ध से ही अन्वय होता है प्रयोज्यत्व सम्बन्ध से नहीं, इस प्रकार इस वाक्य से **'रासभाभाव समानाधिकरणो घटः'** 'रासभाभावसमानाधिकरण घट है' ऐसा शाब्दबोध होता है। यहाँ पर 'रासभाभावप्रयोज्य घट है' ऐसा बोध नहीं होता है।

**दीधितिकृतापि "अविनाभावो व्याप्तिः" इत्यत्र 'साध्यं विना = साध्याभाववति योऽभावः' इति यद्व्याख्यातं तत्र सप्तम्यन्तेन मतुपा संसर्गविधया भासमानं तत्तदधिकरणनिष्ठत्वमेवोपात्तं न तु विनार्थत्वेनाधिकरणम्, अभावाधिकरणपर्यन्तस्य विनार्थत्वेऽपि सप्तम्याधेयत्वरूपापदार्थविवरणरूपताया आवश्यकत्वात् ।**

दीधितिकार के द्वारा भी **'अविनाभावो व्याप्तिः'** इस स्थल पर **'साध्यं विना साध्याभाववति योऽभावः'** 'साध्य के विना = साध्याभाववत् में जो अभाव' ऐसी जो व्याख्या की गयी है उसमें सप्तम्यन्त मतुप् के द्वारा ( **साध्याभाववति** के द्वारा ) संसर्गविधया भासमान जो तदधिकरणनिष्ठत्व है वही ग्रहण किया गया है विना के अर्थ रूप में अधिकरण का ग्रहण नहीं किया गया है। क्योंकि अभावाधिकरणपर्यन्त के विना का अर्थ होने पर भी सप्तमी के द्वारा आधेयत्व रूप अपदार्थविवरणरूपता आवश्यक है।

यहाँ पर दीधितिकार का जो प्रसङ्ग गदाधर लाये हैं, उसका कारण यह है कि गदाधर ने विना का अर्थ अभाव है' ऐसा बतलाया। इस पर प्रश्न यह उठता है कि आप विना का अर्थ अभाव बता रहे हैं किन्तु दीधितिकार ने **'अविनाभावो व्याप्तिः'** इस व्याप्ति लक्षण की जो व्याख्या की है उसके अनुसार तो यही पता चलता है कि विना पद का अर्थ अभाववान् होता है। वहाँ पर **साध्यं विना** का विवरण दीधितिकार ने **साध्याभाववति** किया है। इससे तो साफ़-साफ़ विना पद का अर्थ अभाववत् ही बोधित होता है। इसी का

समाधान गदाधर कर रहे हैं कि भई! विनान्त का अर्थ साध्याभाववत् हो गया। आखिर सप्तमी कैसे आई? सप्तनी का अर्थ आधेयत्व किसका अर्थ है? वह किसी का अर्थ नहीं है विवरण (व्याख्या) रूप है। तो सप्तमी के अर्थ आधेयत्व की विवरणरूपता आप को भी माननी ही है। मैं कह रहा हू कि मतुप् भी विवरणार्थक है। मेरा यह कहना है कि रघुनाथ ने वहाँ पर **साध्याभावति** के द्वारा संसर्गतया भासमान साध्याभाव के अधिकरणनिष्ठत्व का ही विवरण मतुप् और सप्तमी के द्वारा किया है। वस्तुतः विना का अर्थ रघुनाथ भी अभाव ही मानते हैं। विना का अर्थ अधिकरण है ऐसा उनका आशय नहीं है।

**न च विनापदोत्तरलुप्तसप्तम्यर्थ एव 'अभाववति' इति सप्तम्या विवृत इति वाच्यम्, निपातोत्तरविभक्तेर्निरर्थकत्वात्। अत एव सर्वत्र निपातोत्तरं साधुत्वार्थं प्रथमैवेति शाब्दिकाः।**

यदि कहो विनापदोत्तर लुप्त सप्तमी का अर्थ ही **'अभाववति'** में सप्तमी के द्वारा विवृत (व्याख्यायित) किया गया है अर्थात् रघुनाथ ने **'साध्यं विना= साध्याभाववति'** जो विवरण किया है उसमें विना का विवरण मतुबन्त अभाववत् से और विनापदोत्तर लुप्त सप्तमी का विवरण साध्याभाववत् पदोत्तर सप्तमी से किया है। इस प्रकार विना का अर्थ अभाववत् ही है तो ऐसा नहीं कहना चाहिए क्योंकि निपातोत्तर विभक्ति निरर्थक होती है (और विना भी निपात ही है) इसीलिए सर्वत्र निपात के बाद साधुत्वार्थक प्रथमा ही होती है ऐसा वैयाकरणों का कहना है। इसलिए विना पदोत्तर लुप्त सप्तमीविभक्ति का अभाववत् पदोत्तर सप्तमी से विवरण नहीं किया गया है।

इसमें गदाधर पर एक प्रश्न पुनः उपस्थित होता है वह यह कि आप कह रहे हैं कि निपातोत्तर विभक्ति निरर्थक होती है। जबकि दीधितिकार ने **'पृथिव्यामेव गन्धः'** 'पृथिवी में ही गन्ध है' इत्यादि स्थलों में एव पद प्रकृतिक सप्तमी का आधेयत्व बोधकत्व स्वीकार किया है। एव पद भी निपात ही है। यदि एवपदोत्तर विभक्ति सार्थक हो सकती है तो विनापदोत्तर क्यों नही? इसी का समाधान अग्रिमग्रन्थ से दे रहे हैं—

**'पृथिव्यामेव गन्थः' इत्यादावेवकारप्रकृतिकसप्तम्या यदाधेयत्व बोधकत्वमङ्गीकृतं दीधितिकृद्भिस्तत्रापि तेषां न निर्भरः।**

**'पृथिव्यामेव गन्धः'** इत्यादि स्थलों में एवकार प्रकृतिक सप्तमी का जो आधेयत्व बोधकत्व स्वीकार किया दीधिति कार ने उनका उसमें भी आग्रह नहीं है। अर्थात् सिद्धान्ततः दीधितिकार भी निपातोत्तर विभक्ति की निरर्थकता ही स्वीकारते हैं।

**अस्तु वा तत्र प्रतियोगितया पृथिव्यन्यवृत्तित्वभानानुरोधेनैवकारस्यान्य वृत्तित्वार्थकत्वं गौरवादुपेक्ष्य तत्राधेयत्ववाचकत्वेन क्लृप्तायाः सप्तम्याः कल्पनम्। प्रकृते चाधेयत्वस्य संसर्गतयैवोपपत्तौ विनापदसाकाङ्क्षाधेय त्वार्थकसप्तमीकल्पनं दुष्कल्पनमेव।**

अथवा वहाँ पर प्रतियोगितया पृथिव्यन्यवृत्तित्व भान के अनुरोध से एवकार का अन्यवृत्तित्वार्थकत्व गौरवादुपेक्षित करके वहाँ पर आधेयत्ववाचकत्वेन स्वीकृत सप्तमी की कल्पना हो भी, प्रकृतस्थल में आधेयत्व का संसर्गतया भान स्वीकारने से काम चल सकता है इसलिए विनापद साकाङ्क्ष आधेयत्वार्थकसप्तमी की कल्पना दुष्कल्पना ही है।

अभिप्राय यह है कि '**पृथिव्यामेव गन्धः**' वाक्य से '**पृथिवीवृत्तित्वविशिष्ट पृथिव्यन्यवृत्तित्वाभाववान् गन्धः**' 'पृथिवीवृत्तित्वविशिष्ट पृथिव्यन्यवृत्तित्वाभाववान् गन्ध है' ऐसा शाब्दबोध होता है। इसमें **पृथिव्याम्** से पृथिवीवृत्तित्व उपस्थित होता है। एव पद की खण्डशः शक्ति अन्ययोग और व्यवच्छेद में मानी जाती है। अन्ययोग का अर्थ अन्यवृत्तित्व और व्यवच्छेद का अर्थ अभाव है। दीधितिकार का कहना है कि वृत्तित्व (आधेयता) भिन्न-भिन्न है उसमें एवपद की शक्ति स्वीकारेंगे तो गौरव होगा, इसलिए अन्य में और व्यवच्छेद में एव पद की शक्ति मानो। लुप्तसप्तमी का अर्थ आधेयत्व होगा। सप्तमी की शक्ति आधेयत्व में सर्वस्वीकृत होने के कारण उसमें अलग से शक्ति नहीं स्वीकारनी पड़ती, इस तरह वहाँ पर भले ही सप्तमी की कल्पना उचित हो। किन्तु यहाँ पर सप्तमी की कल्पना उचित नहीं है क्योंकि आधेयत्व का संसर्गविधया ही भान सम्भव है।

**एवकारस्थले चाभावरूप एवार्थेऽन्यरूपतदर्थान्तरस्याधेयतासम्बन्ध इति न सम्भवति- आधेयतायास्तद्वत्येव सम्बन्धत्वात् न तु तदभावे।**

एवकारस्थल में तो एव पद के अभावरूप अर्थ में अन्यरूपतदर्थान्तर का आधेयतासम्बन्ध सम्भव नहीं है। अन्यनिरूपितवृत्तित्व का (आधेयत्व का) संसर्गतया भान नहीं हो सकता है क्योंकि आधेयता तद्वत् में ही सम्बन्ध बनती है तदभाव में नहीं।

अभिप्राय यह है कि एव पदार्थ अभाव में आधेयत्व प्रतियोगितया अन्वित होता है, इस प्रकार अन्यनिरूपितवृत्तित्वप्रतियोगिकाभाव बोधित होता है। सम्बन्धविधया उपस्थित वृत्तित्व का प्रतियोगितया अन्वय नहीं हो सकता है। वृत्तित्व के आकाङ्क्षाभास्य होने पर वृत्तित्व का आश्रयत्व सम्बन्ध से ही अन्वय हो सकता है, वृत्तित्व का प्रतियोगितया अन्वय नहीं होता है, न ही सम्भव ही है। वृत्तित्व जिसमें रहेगा उसी में वृत्तित्व का अन्वय आश्रयत्व सम्बन्ध से होगा जैसे घट भूतल में है तो भूतल वृत्तित्व घट में है । अतः वृत्तित्व सम्बन्ध से घट में अन्वय सम्भव है। वृत्तित्व का अपने ही अभाव में अन्वय नहीं हो सकता है। इस कारण आधेयत्व को सप्तमी का ही अर्थ मानना पड़ता है।

**न च तत्राधेयत्वाभावो न प्रतीयतेऽपि तु तत्सम्बन्धावच्छिन्न प्रतियोगिताकपृथिव्याद्यन्याभाव इत्युपेयं तादृशप्रतियोगिताकत्वमेवा भावेऽन्यस्य सम्बन्धोऽस्त्विति वाच्यम्, आधेयतासम्बन्धस्य प्रतियोगिन आधारस्यानुयोगिन्याधेये वृत्त्यनियामकत्वेनाभावप्रतियोगितानवच्छेदकत्वात्।**

यदि कहो कि वहाँ पर अन्यनिरूपिताधेयत्वाभाव प्रतीत ही नहीं होता है अपितु आधेयत्वसम्बन्धावच्छिन्न प्रतियोगिताक पृथिव्याद्यन्या भाव ('आधेयत्व सम्बन्ध से पृथिव्याद्यन्य नहीं हैं' ऐसा अभाव) प्रतीत होता है ऐसा स्वीकारना चाहिए, इसमें अभाव में पृथिव्यन्य का आधेयत्वसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्व सम्बन्ध से अन्वय हो। इस पक्ष में एव पदार्थ अन्य (पृथिव्याद्यन्य) और अभाव हुआ इन दोनों के बीच का आधेयत्वसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्व सम्बन्ध होता है। अन्य का अभाव में यह सम्बन्ध बनता है।

तो ऐसा नहीं कहना चाहिए क्योंकि आधेयता सम्बन्ध प्रतियोगी आधार का अनुयोगी में वृत्त्यनियामक होने के कारण अभाव प्रतियोगितावच्छेदक नहीं होता है।

आशय यह है कि आधेयता सम्बन्ध वृत्त्यनियामक सम्बन्ध है, आधार का आधेय में आधेयता सम्बन्ध होता है और आधेयता सम्बन्ध आधेय में आधार की वृत्तिता को नियमित नहीं करता है। वृत्त्यनियामकसम्बन्ध के अभावप्रतियोगितावच्छेदक न होने से तदवच्छिन्नप्रतियोगिता अप्रसिद्ध होने के कारण अन्य का अभाव में आधेयता सम्बन्धावच्छिन्न प्रतियोगिताकत्व सम्बन्ध से अन्वय नहीं सम्भव है।

**'चैत्रः पचति' इत्यादौ कृत्यादिसम्बन्धस्यापदार्थत्वेऽपि 'पाककृतिमान्' इत्यादौ मतुबादिपदेन विवरणवद् उक्तस्थले सामानाधिकरण्यस्य पदेन विवरणमपि न विरोधमापादयति, विवरणीयार्थस्याप्यन्यलभ्यत्वेऽपदार्थ-त्वोपपत्तेरित्यलमसदावेशेन।**

**'चैत्रः पचति'** 'चैत्र पका रहा है' इत्यादिस्थलों में कृत्यादिसम्बन्ध के पदार्थ न होने पर भी **'पाककृतिमान्'** इत्यादि मतुप् आदि पदों से विवरण की तरह उक्त स्थल में सामानाधिकरण्य का पद से विवरण भी विरोध का आपादन नहीं करता है। विवरणीय अर्थ के भी अन्यलभ्य होने पर अपदार्थोपपत्ति होती है। इसलिए फालतू में गुस्साने की ज़रूरत नहीं है।

अभिप्राय यह है **'चैत्रः पाककृतिमान्'** 'चैत्र पाक कृतिवाला है' ऐसा कहने पर चैत्र में पाककृति का सम्बन्ध बोधित होता है। पाककृति का सम्बन्ध मतुप्पद से उपस्थाप्य होता है, पद का अर्थ होता है और प्रकारतया बोधित होता है। **'चैत्रः पचति'** से जो बोध होता है उसमें आख्यातार्थ कृति का सम्बन्ध आकाङ्क्षाभास्य होता है। पद का अर्थ नहीं होता है। किन्तु **'चैत्रः पचति'** का विवरण **'चैत्रः पाककृतिमान्'** कर दिया जाता है। उसी प्रकार रघुनाथ ने **'अविनाभावो व्याप्तिः'** इस व्याप्तिलक्षण का **'साध्यं विना= साध्याभाववति योऽभावः'** करके साध्याभावसामानाधिकरण्य अभाव में बोधित करते हुए विवरण किया है। यद्यपि साध्याभाव सामानाधिकरण्य किसी पद का अर्थ नहीं है संसर्गमर्यादा से ही बोधित होता है। तथापि उसका विवरण रघुनाथ ने उक्त रीति से किया है। इसमें कोई विरोध नहीं है। क्योंकि विवरणीय अर्थ अन्यलभ्य हो तभी अपदार्थता होती है, यदि उसी वाक्य से वह अर्थ लब्ध हो रहा हो तो उसका विवरण करने से अपदार्थता नहीं होती है। यहाँ पर साध्याभाव का अभाव में सामानाधिकरण्य उसी वाक्य से लभ्य है क्योंकि संसर्गमर्यादया वह भासित होता है। इसी प्रकार कृति सम्बन्ध भी संसर्ग मर्यादा से भासने के कारण अन्यलभ्य नहीं है। अतः उनका उपर्युक्त रीति से विवरण कर दिया जाता है।

**निष्कर्ष-** निष्कर्ष यह है विना पद का अर्थ अभाव ही होता है अभाववत् नहीं, इसमें दीधितिकार से गदाधर का कोई विरोध नहीं है।

**'विना वातं वृक्षः पतित' इत्यादौ विनापदार्थस्याभावस्याश्रयतासम्बन्धेन वृक्षेऽन्वयात् 'वाताभावविशिष्टो वृक्षः पतितः' इति शब्दतो लभ्यते। पतनेऽनुभवसिद्धो वातजन्यत्वाभावलाभश्चार्थः- जन्यतायाः पदानुपस्थाप्य-त्वात् तदभावस्य, तस्य वृत्त्यनियामकसम्बन्धत्वात् तदवच्छिन्नवाताभावस्य च शब्देन बोधयितुमशक्यत्वात्।**

**'विना वातं वृक्षः पतितः'** 'वायु के विना वृक्ष गिर गया' इत्यादि स्थलों में विनापद के अर्थ अभाव का आश्रयतासम्बन्ध से वृक्ष में अन्वय होने के कारण **'वाताभाव विशिष्टो वृक्षः पतितः'** 'वाताभावविशिष्ट वृक्ष गिर गया' ऐसा शब्दतः लब्ध होता है। अनुभव से सिद्ध जो पतन में वातजन्यत्वाभाव की प्रतीति है वह तो आर्थ है । आशय यह कि उक्त वाक्य से जो प्रतीति होती है कि 'पतन वातजन्य नहीं है' वह शब्दजन्य प्रतीति नहीं है। क्योंकि जन्यता पद से उपस्थाप्य नहीं है इसलिए वातजन्यत्व के अभाव का बोधन पतन में सम्भव नहीं हैं और जन्यत्वसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकवाताभाव शब्द से इसलिए नहीं बोधित किया जा सकता है क्योंकि जन्यत्व सम्बन्ध के वृत्त्यनियामक सम्बन्ध होने के कारण जन्यत्वसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिता व तादृश प्रतियोगिताक अभाव का शब्द से बोधन होने के कारण शक्य नहीं है अप्रसिद्ध है।

यहाँ पर आर्थ बोध से सम्भवतः अनुमानात्मक बोध अपेक्षित है। क्योंकि व्यञ्जना तो नैयायिक को स्वीकार्य नहीं हो सकती है।

**'पुत्रं विना गतः' इत्यादौ पुत्रादिपदं लक्षणाया पुत्रगमनादिपरम्, विनापदबोध्यतदभावश्च समानकालीनत्वादिसम्बन्धेन गमनेऽन्वेति। समानकालीनत्वघटककालनिष्ठं स्वाधिकरणत्वमनवच्छिन्नं बोध्यम्, अतो गमनादिकाले तदनधिकरणदेशावच्छेदेन गमनाद्यभावसत्त्वेऽपि नातिप्रसङ्गः।**

**'पुत्रं विना गतः'** 'पुत्र के विना चला गया' इत्यादि स्थलों में पुत्र आदि पद लक्षणा से पुत्रगमन आदि परक होते हैं। अर्थात् पुत्र पद की पुत्रगमन में लक्षणा कर ली जाती है। तथा विना पद से बोधित होने वाला उसका (पुत्रपदार्थ पुत्रगमन का) अभाव समानकालीनत्व सम्बन्ध से गमन में अन्वित होता है। इस प्रकार इस वाक्य से **'पुत्रगमनाभावकालीन भूतकालिकगमनाश्रयः'** 'पुत्रगमनाभावकालीन भूतकालिक गमन का आश्रय है' ऐसा शाब्दबोध होता है।

समानकालीनत्व का अर्थ होता है स्वाधिकरणकालवृत्तित्व। इस स्थिति में समान कालीनत्व घटक काल में रहने वाला जो स्व का अधिकरणत्व है वह निरवच्छिन्न लेना चाहिए। इस लिए गमन आदि के काल में भी गमनानधिकरणदेशावच्छेदेन गमनादि का अभाव रहने पर भी अतिप्रसङ्ग नहीं है उक्त प्रयोग की आपत्ति नही है। अभिप्राय यह है कि यदि निरवच्छिन्न अधिकरणता न लो तो कोई व्यक्ति पुत्र के साथ जा रहा है, तब भी **'पुत्रं विना गच्छति'** 'पुत्र के विना जा रहा है' ऐसा प्रयोग होने की आपत्ति आयेगी क्योंकि इस वाक्य से बोध्य होगा **'पुत्रगमनाभावकालीनगमनाश्रयत्व'** और यह अबाधित है क्योंकि जिस समय जा रहा है उसी समय अन्यदेशावच्छेदेन पुत्रगमनाभाव भी है, उसका समानकालीन गमन है जिसका कि आश्रयत्व बोधित किया जा रहा है। निरवच्छिन्न

1. न्याय का नियम है कि 'देशे वृत्तौ कालस्यावच्छेदकत्वं काले वृत्तौ देशस्यावच्छेदकत्वम्' देश में वृत्ति होने पर काल अवच्छेदक होता है और काल में वृत्ति होने पर देश अवच्छेदक होता है। जैसे घट भूतलावच्छेदेन इस समय में है और पर्वतावच्छेदेन नहीं है। 'प्रलयावच्छेदेन देश में गौ नहीं है और एतत्कालावच्छेदेन गौ है' प्रथमोदाहरण में काल में देशावच्छेदेन वृत्तित्व और अवृत्तित्व, दूसरे में भिन्न कालावच्छेदेन देश में वृत्तित्व व अवृत्तित्व है। सिद्धान्तलक्षण में दीधितिकाररघुनाथ ने कहा है- देशे वृत्तौकालस्येव कालेऽपि देशस्यावच्छेदकत्वात्' देश में काल की तरह काल में देश अवच्छेदक होता है पृ॰ 115 सक्रोड जागदीशी सिद्धान्तलक्षण।

जागदीशी व्यधिकरण में जगदीश भी कहते हैं- 'देशे वृत्तौ कालस्येव काले वृत्तौ देशस्याप्यवच्छेदकत्वानुभवात्। दीपिकासहित जागदीशी व्यधिकरण पृ.77

अधिकरणत्व की विवक्षा करेंगे तो जिस काल में गमन है, उस समय पुत्रगमनाभाव न होने से गमन में पुत्रगमनाभावकालीनत्व बाधित है और वही उक्त वाक्य से बोध्य है। अतः बाधित अर्थ वाला होने के कारण ऐसा प्रयोग नहीं होता है।

**केचित्तु- उक्तस्थलेऽसाहित्यमेव विनापदार्थः तस्य च गमनकर्तर्यन्वयः असाहित्यञ्च स्वकर्तृकसमभिव्याहृतगमनादिक्रियाकालीनतादृशक्रियाकर्तृत्व रूपसाहित्याभावः। क्रियान्वयिस्वकर्तृकतादृशक्रियाकालीनत्वाभाव एव वा विनार्थः कर्तृत्वे पुत्रादेराधेयत्वेनान्वयः विभक्तिः साधुत्वार्थैव।**

कुछ लोग तो उक्तस्थल '**पुत्रं विनागतः**' में विना पद का अर्थ असाहित्य ही मानते हैं और उसका विनापद के अर्थ असाहित्य का गमनकर्ता में अन्वय होता है। असाहित्य का अर्थ है स्वकर्तृकसमभिव्याहृतगमनादिक्रियाकालीनतादृशक्रियाकर्तृत्व रूप साहित्य का अभाव। (इस प्रकार शाब्दबोध होगा- '**पुत्रकर्तृकगमनक्रियाकालीन गमनकर्तृत्वाभाववान् पिता गमनकर्तृत्वाश्रयः**' 'पुत्रकर्तृकगमनक्रियाकालीन गमनकर्तृत्वा-भाववान् पिता गमनकर्तृत्व का आश्रय है'।

अथवा क्रियान्वयी स्वकर्तृक तादृश (गमनादि) क्रियाकालीनत्वाभाव ही विना पद का अर्थ है। कर्तृत्व में पुत्र आदि का आधेयत्वेन अन्वय होता है और विभक्ति (द्वितीया) साधुत्वार्थक होती है। उसका कोई अर्थ नहीं होता है। इस पक्ष में '**पुत्रनिष्ठ कर्तृतानिरूपकगमनक्रियाकालीनत्वाभावाश्रयगमनक्रियाकर्तृत्वाश्रयः पिता**' 'पुत्रनिष्ठ कर्तृतानिरूपक गमनक्रिनाकालीनत्वाभाव की आश्रयीभूत गमन क्रियाकर्तृत्व का आश्रय पिता है' ऐसा शाब्दबोध होगा। यहाँ पर '**केचित्तु**' मत में प्रथम मत को छोड़ कर दूसरा स्वीकारने का कारण था गमनकर्तृत्व का द्वेधा भान एकबार अभाव प्रतियोगितया दुबारा कर्ता में आधेयतया।

**अस्तु वाऽऽधेयत्वं द्वितीयार्थः सप्तम्या आधेयत्वार्थकत्वेऽपि नात्र सप्तमी प्रसक्तिः- तस्याः कारकविभक्तित्वेन क्रियान्वयिस्वार्थबोधकत्वात्, अतः शेषषष्ठीप्रसक्त्या तामेवोपपदविभक्तिर्द्वितीया बाधते इति 'सर्वा उपपदविभक्तयः षष्ठ्यपवादिकाः इत्यस्याविरोध इति।**

**विना समानार्थकयोर्ऋतेऽन्तरेणेति निपातयोरपि दर्शितैव रीतिः। एवं विनायुक्ततृतीयापञ्चमीस्थलेऽपि।**

अथवा द्वितीया विभक्ति को साधुत्वार्थक न मान कर द्वितीया का अर्थ आधेयत्व ही मानते हैं। सप्तमी के आधेयतार्थक होने पर भी यहाँ सप्तमी की प्रसक्ति नहीं होती है क्योंकि सप्तमी के कारक विभक्ति होने के कारण क्रिया से अन्वयी अपने अर्थ की ही बोधिका सप्तमी होगी और यहाँ पर आधेयत्व का क्रिया में अन्वय न होकर कर्तृत्व में अन्वय हो रहा है। इस प्रकार सप्तमी की प्राप्ति ही न होने के कारण शेष षष्ठी की ही प्रसक्ति (प्राप्ति) है और इसी षष्ठी विभक्ति को (शेषार्थ में प्राप्त षष्ठी को) उपपदविभक्ति द्वितीया बाधित करती है। इस प्रकार '**सर्वा उपपदविभक्तयः षष्ठ्यपवादिकाः**' सभी उपपदविभक्तियाँ षष्ठी की अपवाद हैं' इससे भी कोई विरोध नहीं होता है।

विना के समानार्थक ऋते और अन्तरेण इन निपातों के अर्थ के अन्वय आदि की

भी यही रीति है। इसीप्रकार विना से युक्त तृतीयातपञ्चमी के स्थल में भी है।

विना का योग होने पर द्वितीया, तृतीया, व पञ्चमी तीनों ही साधु हैं। इस विषय में अनुशासन है—'**पृथग्विनानावाभिस्तृतीयान्यतरस्याम्**' पा॰सू॰2/3/32

**मर्यादाभिविध्यर्थकयावच्छब्दयोगेऽपि द्वितीया दृश्यते। तत्र मर्यादार्थको यावच्छब्दः-''आरभ्य तस्यां दशमीं तु यावत् प्रपूजयेत् पर्वतराजपुत्रीम्'' इत्यादौ। मर्यादा = सीमा कालरूपा देशरूपा च। कालनिष्ठं तत्त्वं च तत्कालनिष्ठं समभिव्याहृतकालप्रागभावानधिकरणस्वप्रागभावाधिकरणस्वसजातीय यावत्कालवृत्तिसमभिव्याहृतक्रियानधिकरणत्वम्। एवञ्चोक्तस्थले यावच्छब्देन पूजारूपक्रियायां शुक्लदशमीनिष्ठतादृशसीमानिरूपकत्वं प्रत्याय्यते, तावतैवार्थतः शुक्लदशम्यां मर्यादात्वं लभ्यते। तन्निष्ठसीमात्वनिरूपकत्वञ्च तदवृत्तित्वे सति कृष्णनवमीप्रागभावानधिकरणशुक्लदशमीप्रागभावाधिकरण-तिथिकूटव्यापकत्वम्, तावता षोडशतिथ्यधिकरणकषोडशपूजारूप-स्यैककर्मणो विधेयतया लाभः।**

मर्यादार्थक और अभिविध्यर्थक यावत् शब्द का योग होने पर भी द्वितीया दिखलायी पड़ती है, उसमें मर्यादार्थक यावत् शब्द है- '**आरम्भय तस्यां दशमीं तु यावत् प्रपूजयेत् पर्वतराजपुत्रीम्**' 'उसमें आरम्भ करके दशमी[1] यावत् पर्वतराज पुत्री की पूजा करें' इत्यादि स्थलों में। मर्यादा का अर्थ है सीमा कालरूपा और देशरूपा। अर्थात् कालरूपा सीमा के अर्थ में और देशरूपा सीमा के अर्थ में यावत् शब्द का योग होने पर द्वितीया होती है। कालरूपसीमार्थक यावत् शब्द का योग होने पर द्वितीया का उपर्युक्त उदाहरण है। कालनिष्ठसीमात्व है उस काल में रहने वाला समभिव्याहृतकालप्रागभावानधिकरणस्व प्रागभावाधिकरण स्वसजातीययावत्कालवृत्तिसमभिव्याहृतक्रियानधिकरणत्व। यहाँ पर समभिव्याहृत काल से अभिप्रेत है समभिव्याहृतपदप्रतिपाद्यकाल । उपर्युक्तवाक्य से दशमी का सीमात्व बोधित होता है शुक्ल दशमी रूप काल में समभिव्याहृत **तस्यां** पद प्रतिपाद्य कृष्णनवमीरूप-काल के प्रागभाव का अनधिकरण और स्व (दशमी) प्रागभाव का अधिकरण स्व (दशमी) सजातीय यावत्कालवृत्ति समभिव्याहृत पूजारूपक्रिया का अनधिकरणत्व विद्यमान है यही शुक्लदशमीरूप काल का सीमात्व है। यह इस प्रकार से विद्यमान है। अश्विनकृष्णनवमी से आरम्भ करके आश्विन शुक्लदशमी यावत् पर्वतराजपुत्री की पूजा का विधान उक्तवाक्य से किया गया है। आश्विन कृष्णनवमी से लेकर आश्विन शुक्लनवमी तिथि तक की सोलह तिथियों में आश्विनकृष्णनवमी के प्रागभाव का अनधिकरणत्व है और आश्विनशुक्लदशमी के प्रागभाव का अधिकरणत्व है। इस प्रकार समभिव्याहृत कृष्णनवमीकालप्रागभावानधिकरण और स्व (शुक्लदशमी) प्रागभावाधिकरण स्व (दशमी) सजातीययावत् काल हुआ उपर्युक्त षोडश तिथिरूप काल, उक्त षोडश तिथि रूप काल में रहने वाली क्रिया है पूजा रूप क्रिया। उसका अनधिकरणत्व ही शुक्लदशमी में है यही शुक्लदशमी का कालसीमात्व है।

इस प्रकार उक्तस्थल में यावत् शब्द से पूजारूप क्रिया में शुक्लदशमी में रहने

1. इस आगे के समग्र विवेचन में यावत् पदार्थ विषयक प्रकरण में नवमी या कृष्ण नवमी से आश्विन कृष्ण नवमी, शुक्ल नवमी से आश्विन शुक्लनवमी व दशमी से आश्विन शुक्लनवमी समझनी चाहिए।

वाले तादृश (उपर्युक्त) सीमात्व का निरूपकत्व बोधित होता है और उसी से अर्थतः शुक्ल दशमी का मर्यादात्व लब्ध हो जाता है। पूजारूपक्रिया में रहने वाला सीमात्वनिरूपकत्व तद् (दशमी) अवृत्ति होते हुए कृष्णनवमीप्रागभावानधिकरण शुक्लदशमीप्रागभावाधिकरण तिथिकूटव्यापकत्व ही है। चूँकि पूजा रूप क्रिया शुक्लदशमी में नहीं रहती है। और कृष्णनवमी प्रागभावानधिकरण शुक्लदशमीप्रागभावाधिकरण तिथिकूट (कृष्णनवमी से शुक्लनवमी तक की षोडशतिथियों) में रहती है इसलिए तदवृत्ति होते हुए तादृश तिथिकूट व्यापकत्व पूजारूप क्रया में अक्षत ही है। तथा इससे षोडशतिथ्यधिकरणक (षोडशतिथियों में रहने बाले) षोडशपूजा रूप एक कर्म का विधेयतया लाभ उक्त वाक्य से होता है।

**व्याप्यकालसमुदाये सजातीयत्वविशेषणात् पूजायामुक्तविशेषण द्वयाक्रान्तदण्डादिसमुदायाव्यापकत्वेऽपि न बाधः अन्वयितावच्छेदकरूपेण साजात्यस्य विवक्षणात् । उक्तस्थले च 'तिथिम्' इत्यस्याध्याहारेण दशमी पदार्थतावच्छेदकस्य तिथित्वघटितत्वेन वा यावत्पदार्थान्वयितावच्छेदकतया तिथित्वभानात् तेन रूपेण दण्डादेर्दशमीसजातीयत्वाभावात् ।**

**तिथिश्चाखण्डकालविशेषरूपा न तु चन्द्रमण्डलकलारम्भाद्यनुगुण क्रियाप्रचयरूपा- पूजायास्तावत्क्रियावृत्तित्वासम्भवात् ।**

व्याप्यकालसमुदाय में सजातीयत्व विशेषण देने से पूजा में उक्त विशेषण द्वयाकान्त दण्डादिसमुदायाव्यापकत्व होने पर भी बाध नहीं होता है क्योंकि अन्वयितावच्छेदक रूपेण साजात्यविवक्षित है। उक्त स्थल में '**तिथिम्**' इसका अध्याहार करने के कारण दशमीपदार्थतावच्छेदक के तिथित्वघटित होने के कारण अथवा यावत् पदार्थान्वयितावच्छेदक तिथित्व का भान होने के कारण उस रूप से दण्डादि का दशमीसजातीयत्व नहीं है।

यहाँ पर अभी बताया गया कि दशमी में जो कृष्णनवमीप्रागभावानधिकरण शुक्ल दशमीप्रागभावाधिकरण स्व (दशमी) सजातीयकाल वृत्तिसमभिव्या हृत क्रियानधिकरणत्व है वही दशमी का सीमात्व है। सजातीयकालवृत्तित्व जो समभिव्याहृतक्रिया में अपेक्षित है उसमें सजातीयकालवृत्तित्व से सजातीय तादृशकालव्यापकत्व अपेक्षित है। गदाधर कह रहे हैं कि सजातीयत्व विशेषण न देने पर कृष्णनवमीप्रागाभावानधिकरण और दशमीप्रागभावाधिकरण तो दण्ड आदि भी हो जाते हैं और दण्डादिवृत्ति तो पूजा है नहीं इसलिए केवल समभिव्याहृत काल प्रागभावानधिकरणस्वप्रागभावाधिकरणवृत्तित्व (व्यापकत्व) पूजा में बाधित है। जन्यमात्र के कालोपाधि होने के कारण दण्ड में भी दशमीप्रागभावाधिकरणत्व और कृष्णनवमीप्रागभावानधिकरणत्व रहेगा ही। अतः स्वसजातीयत्व विशेषण काल में दे दिया गया है। तथा अन्वयितावच्छेदक रूप से साजात्य विवक्षित है। अन्वयितावच्छेदक रूप है तिथित्व। चूँकि दण्ड में तिथित्वेन (अन्वयितावच्छेदकीभूतधर्मेण) दशमी का सजातीयत्व विद्यमान नहीं है। अतः उसमें पूजा रूप क्रिया के न रहने पर भी समभिव्याहृत कृष्णनवमी प्रागभावानधिकरण शुक्लदशमी प्रागभावधिकरण दशमीसजातीयकाल व्यापकत्व पूजा रूप क्रिया में अक्षत ही है। अतः पूजा रूप क्रिया में दशमीनिष्ठसीमानिरूपकत्व विद्यमान ही है। यहाँ पर दो पक्ष बताया है 1. दशमीपदार्थतावच्छेदक तिथित्व से घटित होता है इसलिए तिथित्वेन दशमीसजातीय लिया जाने पर षोडशतिथियों में दशमी सजातीयत्व है और दण्ड

में नहीं हैं। इसलिए दण्डादिवृत्तित्व पूजा में रहने पर भी कोई क्षति नहीं है। 2. षोडश तिथियों में तिथित्व का भान होने के कारण दण्डादि में दशमी सजातीयत्व नहीं है।

तिथि यहाँ पर अखण्ड काल विशेष रूपा है चन्द्रमण्डलकलारम्भादि के अनुगुण क्रियाप्रचयरूपा नहीं है क्योंकि पूजा में तावत्क्रियावृत्तित्व असम्भव है। इसलिए पूजा में पुनः उपर्युक्त व्यापकत्व का बाध हो जायेगा।

इसी वज़ह से केवलकालवृत्तित्व की विवक्षा नहीं की है (कृष्णनवमी प्रागभावानधिकरण-शुक्लदशमीप्रागभावाधिकरण कालवृत्तित्व तादृश कालव्यापकत्व की विवक्षा नहीं की है) क्योंकि उक्त षोडशतिथियों में भी लगातार पूजा के न रहने के कारण शयनादिक्षण में पूजा में तादृशकालवृत्तित्व (व इसीलिए तादृशकालव्यापकत्व) बाधित है। अतः पूजारूप क्रिया में तादृशकालव्यापकत्व रूप सीमात्वनिरूपकत्व नहीं बन सकेगा। सजातीयकालवृत्तित्व की विवक्षा होने पर तो क्षणादि के दशमीसजातीय ही न होने के कारण पूजारूपक्रिया में क्षणादिवृत्तित्व न रहने पर भी तादृशकालव्यापकत्व पूजा रूप क्रिया में है।

**अत्र च प्रागभाव एव यावत्पदार्थः । द्वितीयार्थः प्रतियोगित्वमनुयोगित्वं वा तत्र तत्प्रकृत्यर्थदशम्या अन्वयः, तावता दशमीप्रतियोगिकप्रागभावलाभः, तस्य स्वप्रतियोग्यवृत्तित्वविशिष्टव्यापकतासम्बन्धेन पूजारूपसमभिव्याहृत क्रियायामन्वयः ।**

उपर्युक्त ग्रन्थ के द्वारा बताया गया कि मर्यादा का अर्थ सीमा है और काल में रहने वाला सीमात्व समभिव्याहृतकालप्रागभावानधिकरणस्वप्रागभावाधिकरणस्वसजातीय यावत्काल-वृत्तिसमभिव्याहृत क्रियानधिकरणत्व रूप है। मर्यादा के अर्थ में यावत् शब्द का योग होने पर द्वितीया सुनी जाती है। तो यावत् शब्द का अर्थ क्या है? इसी का समाधान गदाधर करते हैं—

और इसमें यावत् पद का अर्थ प्रागभाव ही है द्वितीया का अर्थ प्रतियोगित्व या अनुयोगित्व है। उसमें प्रकृत्यर्थ दशमी का अन्वय होता है। (प्रतियोगिता को द्वितीया का अर्थ मानने पर प्रतियोगिता में दशमी का निष्ठत्व सम्बन्ध से और प्रतियोगिता का प्रागभाव में निरूपकत्व सम्बन्ध से अन्वय होगा। अनुयोगिता को द्वितीया का अर्थ मानने पर दशमी का अनुयोगिता में स्वनिष्ठप्रतियोगितानिरूपकत्व सम्बन्ध से और अनुयोगिता का आश्रयत्व सम्बन्ध से प्रागभाव में अन्वय होगा) इतने से दशमीप्रतियोगिक प्रागभाव का लाभ हो जाता है। तथा यावत् पद के अर्थ प्रागभाव का स्वप्रतियोग्यवृत्तित्वविशिष्ट व्यापकता सम्बन्ध से पूजा रूप समभिव्याहृतक्रिया में अन्वय होता है। इस प्रकार **'दशमीं यावत् पूजयति'** 'दशमी तक पूजा करता है' से **'दशमीनिष्ठप्रतियोगितानिरूपकप्रागभाव ( अथवा दशमीनिष्ठप्रतियोगितानिरूपकानुयोगिताश्रयप्रागभाव ) प्रतियोग्यवृत्तित्वविशिष्ट-व्यापकतावत् पूजाश्रयः'** 'दशमीनिष्ठप्रतियोगितानिरूपक प्रागभाव (अथवा दशमीनिष्ठ प्रतियोगितानिरूपकानुयोगिता श्रयप्रागभाव) प्रतियोग्यवृत्तित्वविशिष्टव्यापकतावत्पूजाश्रय है' ऐसा शाब्दबोध होता है।

**व्यापकत्वञ्च स्वाधिकरणतिथिनिष्ठाभावप्रतियोगितानवच्छेदकपूजा-विशेषत्ववत्त्वम्। स्वाधिकरणत्वञ्च स्वाधिकरणकृष्णनवमीप्रागभावा-**

**वच्छिन्नभेदविशिष्टकालिकविशेषणतासम्बन्धेन।**

यहाँ पर प्रागभाव का व्यापकत्व प्रागभावाधिकरणतिथिनिष्ठाभावप्रतियोगितानवच्छेदक पूजाविशेषत्ववत्त्व है। स्व (प्रागभाव) का अधिकरणत्व स्वाधिकरणकृष्णनवमीप्रागभावावच्छिन्न भेदविशिष्टकालिकविशेषणतासम्बन्ध से लेना है।

देखें- दशमी प्रातियोगिक प्रागभाव की अधिकरणीभूततिथियाँ है कृष्णनवमी से लेकर शुक्लनवमी तक की अनेक तिथियाँ। उन तिथियों में पूजाविशेष (पर्वतराजपुत्री का पूजाविशेष) है ही उसका अभाव नहीं है । अतः दशमीप्रतियोगिकप्रागभावाधिकरणी भूत तिथियों में रहने वाले अभाव का प्रतियोगितावच्छेदकत्व पूजाविशेषत्व में नहीं है (यदि पूजाविशेष का अभाव उक्तप्रागभावाधिकरण में मिलता तब न पूजाविशेषत्व प्रतियोगितावच्छेदक बनता ऐसा तो है ही नहीं) इस प्रकार दशमीप्रतियोगिकप्रागभावाधिकरणनिष्ठाभाव प्रतियोगितानवच्छेदकपूजाविशेत्ववत्त्व रूप दशमीप्रतियोगिकप्रागभावव्यापकत्व पूजा विशेष में है।

यहाँ पर यह प्रश्न उठ सकता है कि दशमीप्रतियोगिकप्रागभाव का अधिकरण तो कृष्णनवमी के पूर्व की तिथियाँ भी हैं उनमें तो उक्त पूजाविशेष का अभाव है ही, मिल ही जायेगा और उसका प्रतियोगितावच्छेदक पूजाविशेषत्व ही होगा। इस प्रकार दशमी प्रतियोगिकप्रागभावाधिकरणनिष्ठाभावप्रतियोगितानवच्छेदक पूजाविशेषत्ववत्त्व रूप व्यापकत्व पूजा विशेष में नहीं सम्भव होगा। इसके लिए परिष्कृत कर रहे हैं कि प्रागभाव (दशमी प्रतियोगिकप्रागभाव) का अधिकरण स्वाधिकरण कृष्णनवमीप्रागभावावच्छिन्नभेदविशिष्टकालिक विशेषणता सम्बन्ध से लेना है। स्व माने दशमी प्रागभाव तदधिकरणकृष्णनवमी के प्रागभावावच्छिन्न भेद (**'दशमीप्रागभावधिकरणकृष्णनवमीप्रागभाववान् न'** 'दशमी प्रागभावाधिकरण कृष्णनवमी के प्रागभाववाला नहीं है' इस प्रकार के भेद) से विशिष्ट कालिक विशेषणता सम्बन्ध से दशमी प्रागभाव का अधिकरण लेना है। यद्यपि कृष्ण नवमी से पूर्व की तिथियाँ भी कालिकविशेषणता सम्बन्ध से दशमी प्रागभाव की अधिकरणीभूत हैं। किन्तु स्वाधिकरणकृष्णनवमी का प्रागभाव ही कृष्णनवमी से पूर्व की तिथियों में है इस कारण **'दशमीप्रागभावाधिकरणकृष्णनवमीप्रागभाववान् न'** यह भेद ही पूर्व की तिथियों में नहीं होने के कारण इस भेद से विशिष्ट कालिक विशेषणता सम्बन्ध से दशमीप्रागभाव का अधिकरण कृष्णनवमी से पूर्व की तिथियाँ नहीं होगीं, कृष्णनवमी के बाद की ही तिथियाँ होगी और उनमें पूजाविशेष का अभाव न रहने से उपर्युक्त प्रतियोगितानवच्छेदक पूजाविशेषत्वत्त्व रूप व्यापकत्व पूजा विशेष में है ही।

**एतेन कृष्णनवमीप्रागभावाधिकरणप्रतियोगिकभेदस्याव्यावर्तकतया तत्सामान्यभेदनिवेशे भाविकृष्णनवमीप्रागभावाधिकरणत्वमादाय नाप्रसिद्धिः-तथासत्यपि तत्तद्दशमीप्रागभावाधिकरणकालस्य स्वाधिकरणकृष्णनवमी-प्रागभावावच्छिन्नभेदवत्त्वसम्बन्धेन तत्तत्प्रागभावाधिकरणत्वाक्षतेः।**

इस प्रकार से दशमी आदि प्रतियोगिक प्रागभावव्यापकत्व और दशमी आदि प्रतियोगिक प्रागभाव के अधिकरणत्व की विवक्षा करने के कारण कृष्णनवमीप्रागभावाधिकरण प्रतियोगिक भेद के अव्यावर्तक होने के कारण कृष्णनवमी प्रागभावाधिकरण सामान्य भेद

का निवेश करने पर भाविकृष्णनवमी प्रागभावाधिकरणत्व को लेकर अप्रसिद्धि नहीं होती है क्योंकि वैसा होने पर भी तत्तद्दशमी प्रागभावावच्छिन्न भेदवत्त्वसम्बन्ध से तत्तत्प्रागभावाधिकरणत्व की क्षति नहीं है।

दशमीप्रतियोगिकप्रागभाव का व्यापकताघटक अधिकरणत्व स्वाधिकरणकृष्णनवमी प्रागभावावच्छिन्नभेदविशिष्टकालिक विशेषणता सम्बन्ध से लेना है, ऐसा अभी बताया है। इस प्रकार से परिष्कार करने का प्रयोजन क्या है यह पूर्व में (विगत पृष्ठ में) बताया जा चुका है।

जहाँ पर यावद् पद के अर्थ के विषय में विवरण प्रारम्भ किया था। वहाँ पर (पृ 511 पर) कालनिष्ठसीमात्व क्या है? यह बताते हुए बताया था कि समभिव्याहृत कालप्रागभावानधिकरण स्वप्रागभावाधिकरणस्वसजातीययावत्कालवृत्तिसमभिव्याहृत क्रियानधिकरणत्व ही कालनिष्ठसीमात्व है। इसमें समभिव्याहृतकालप्रागभावानधिकरणत्व विवक्षित है। इसका अभिप्राय क्या है? यदि कहो कि समभिव्याहृत (पदप्रतिपाद्य) काल प्रागभावाधिकरण-प्रतियोगिकभेदवत्त्व ही समभिव्याहृतकालप्रागभावानधिकरणत्व है तो कृष्णनवमी व शुक्लदशमी के बीच की तिथियों में भी समभिव्याहृत पदप्रतिपाद्य कृष्णनवमी (भाविकृष्णनवमी) प्रागभावधिकरण प्रतियोगिकभेदवत्त्व नहीं है क्योंकि भाविकृष्णनवमी प्रागभाव का अधिकरणत्व ही मौजूद है। इसीलिए समभिव्याहृतकालप्रागभावावच्छिन्नभेद की भी विवक्षा नहीं की जा सकती है क्योंकि सर्वत्र ही भाविकृष्णनवमीप्रागभावाधिकरणता ही विद्यमान है, अतः समभिव्याहृतकाल-प्रागभावानधिकरणत्व ही अप्रसिद्ध हो जायेगा। इस प्रकार की जो अप्रसिद्धि होती थी वह अब उपर्युक्त रीति से निर्वचन करने की वज़ह से नही होगी। क्योंकि भाविकृष्णनवमीप्रागभाव का अधिकरणत्व ही सर्वत्र होने पर भी दशमी प्रागभावाधिकरणीभूतकृष्णनवमी के प्रागभाव से अवच्छिन्न प्रतियोगिक भेदवत्त्व तो कृष्णनवमी से शुक्लनवमी तक की तिथियों में मिल ही जायेगा। इस वज़ह से स्व (शुक्लदशमी प्रागभाव) अधिकरणकृष्णनवमीप्रागभावावच्छिन्न-भेदवत्त्वसम्बन्ध तत्तद्दशमी प्रागभाव का अधिकरणत्व अक्षत ही है। उपर्युक्त समभिव्याहृतकाल-प्रागभावानधिकरणत्व इस प्रकार से परिष्कृत कर दिया जाता है। इसलिए दशमीनिष्ठसीमात्व उक्त रीति से उपपन्न है।

**न चैवमपि व्यवहितपूर्वकृष्णनवमीप्रागभावावच्छिन्नभेदघटित सम्बन्धेनाव्यवहितपूर्वकृष्णनवमीपूर्वतिथीनामपि तत्तद्दशमीप्रागभाववत्त्वात् तदधिकरणतिथिव्यापकत्वं पूजायां न सम्भवतीति वाच्यम्, स्वावच्छिन्न कृष्णनवमीप्रागभावाधिकरणत्वसम्बन्धेन स्वावच्छिन्नभेदस्यैव प्रागभावसम्बन्धे निवेशनीयत्वात् ।**

यदि कहो कि इस प्रकार भी व्यवहितपूर्वकृष्णनवमी प्रागभाव से अवच्छिन्नभेद घटित सम्बन्ध से अव्यवहितकृष्णनवमी से पूर्व तिथियों के भी तत्तद्दशमीप्रागभाववत् होने के कारण पूजा में तदधिकरण (दशमी प्रागभावाधिकरण) तिथिव्यापकत्व सम्भव नहीं है।

अभिप्राय यह है कि दशमीप्रागभाव का व्यापकत्व पूजा में आना चाहिए व्यापकत्व घटक अधिकरणत्व (दशमीप्रागभाव का अधिकरणत्व) स्वाधिकरणकृष्णनवमीप्रागभावावच्छिन्न भेदविशिष्टकालिकविशेषणता सम्बन्ध से लेना है। यह विवेचित किया गया है। आश्विन

कृष्णनवमी से पूर्व की जो तिथियाँ आश्विन कृष्णाष्टमी आदि है उनमें भी उक्त सम्बन्ध से तद्दशमीप्रागभावाधिकरणत्व है। कैसे? दशमी प्रागभाव का अधिकरण केवल इसवर्ष की अव्यवहित पूर्व आश्विनकृष्णनवमी ही थोड़े है बल्कि विगत वर्ष की व्यवहित कृष्ण नवमी भी दशमीप्रागभाव का अधिकरण है। और विगतवर्ष की कृष्णनवमी के प्रागभाव वाली तो इस वर्ष की कृष्ण नवमी के पूर्व की कृष्ण अष्टमी आदि तिथियाँ हैं नहीं। इसलिए **'शुक्लदशमीप्रागभावाधिकरणकृष्णनवमी ( विगतवर्षीय कृष्णनवमी ) प्रागभाववान्न'** 'शुक्लदशमीप्रागभावाधिकरण कृष्णनवमी (विगत वर्षीय कृष्ण नवमी) प्रागभाववाला नहीं है' ऐसे भेद का अधिकरणत्व इस वर्ष की कृष्ण नवमी से पूर्व की आश्विन कृष्णाष्टमी आदि तिथियों में है। इसलिए स्वाधिकरणकृष्णनवमीप्रागभावावच्छिन्न भेदवत्त्वविशिष्टकालिक विशेषणतासम्बन्ध से दशमीप्रागभाव के अधिकरण आश्विन कृष्ण अष्टमी आदि तिथियाँ भी हो गयी। उसमें पूजाविशेष का अभाव मिल जायेगा। इस कारण स्वाधिकरणनिष्ठाभाव-प्रतियोगितानवच्छेदक पूजाविशेषत्ववत्त्वरूप व्यापकत्व पूजा में नहीं आ सकेगा क्योंकि पूजाविशेष का अभाव मिल जाने के कारण उसका प्रतियोगितावच्छेदक ही पूजाविशेषत्व हो जायेगा।

तो ऐसा नहीं कहना चाहिए क्योंकि स्वावच्छिन्न कृष्णनवमी प्रागभावाधिकरणत्व सम्बन्ध से स्वावच्छिन्नभेद का ही प्रागभाव सम्बन्ध में निवेश करना चाहिए।

आशय यह है कि दशमी प्रागभाव का अधिकरणत्व स्वावच्छिन्नभेदवत्त्व सम्बन्ध से लेना चाहिए। भेदीयप्रतियोगितावच्छेदकतावच्छेदक सम्बन्ध है स्वावच्छिन्नकृष्णनवमी प्रागभावाधिकरणत्व। इसको समझने के लिए पहले एक उदाहरण लेते हैं- जैसे हमने **'घटवान् न'** 'घटवान् नहीं है' ऐसा भेद लिया। इस भेद का प्रतियोगी घटवान् हुआ भेदीयप्रतियोगितावच्छेदकतावच्छेदक सम्बन्ध संयोग सम्बन्ध है। संयोग सम्बन्ध से जो घटवाला है उसका भेद लिया जाता है। यहाँ पर भेद लेना है दशमीप्रागभावावच्छिन्न भेद। स्व पद से दशमी प्रागभाव को पकड़ना है। इसलिए जहाँ-जहाँ दशमी प्रागभावावच्छिन्न भेदवत्त्व (सम्बन्ध) चला जायेगा वहाँ-वहाँ दशमीप्रागभावाधिकरणता होगी। दशमी प्रागभावावच्छिन्न भेद माने **'दशमीप्रागभाववान् न'** 'दशमी प्रागभाववाला नहीं है' ऐसा भेद। दशमीप्रागभाववाला किस सम्बन्ध से लेना है? स्वावच्छिन्नकृष्णनवमी प्रागभावाधिकरणत्व सम्बन्ध से लेना है। स्व माने दशमीप्रागभाव, उससे अवच्छिन्न (दशमी प्रागभावविशिष्ट) जो कृष्ण नवमी, उसके प्रागभाव का अधिकरणत्व इस वर्ष की कृष्ण नवमी से पूर्व की समस्त तिथियों में है। इस प्रकार इस सम्बन्ध से इस वर्ष की कृष्णनवमी के पूर्व की समस्त तिथियाँ दशमीप्रागभाववान् ही हो गयीं **'दशमी प्रागभाववान् न'** इस भेदवाली नहीं हुईं । इस भेद वाली तिथियाँ होगी कृष्ण नवमी से लेकर शुक्लनवमी तक की सोलह तिथियाँ। इसलिए स्वावच्छिन्नकृष्णनवमीप्रागभावाधिकरणत्व सम्बन्धावच्छिन्नवच्छेदकताक स्वावच्छिन्नभेदवत्त्व सम्बन्ध से दशमीप्रागभाव का अधिकरणत्व इन षोडशतिथियों में ही होगा। कृष्ण नवमी से पूर्व की तिथियों में नहीं तथा उक्त षोडशतिथियों में पूजाविशेष का अभाव प्राप्त नहीं हो सकता है। अतः तादृशाभावानवच्छेदक पूजाविशेषत्ववत्त्व रूप व्यापकत्व पूजाविशेष में अक्षत ही है।

**स्वाधिकरणनिष्ठाभावप्रतियोगितानवच्छेदकत्वमपि तादृशावच्छेदकत्वसम्बन्धेन स्वावच्छिन्नस्य भेदः, अतः तादृशावच्छेदकत्वत्वावच्छिन्नाभावनिवेशे यत्किञ्चिद्दशमीप्रागभावाधिकरणनिष्ठाभावप्रतियोगितावच्छेदकत्वमादायाप्रसिद्धिवारणाय विशिष्य तत्तत्प्रागभावरूपस्वपदार्थस्य सम्बन्धमध्ये प्रवेश्यतयाऽननुगम इति निरस्तम्।**

स्वाधिकरणनिष्ठाभावप्रतियोगितानवच्छेदकत्व भी तादृशावच्छेदकत्व (स्वाधिकरणनिष्ठाभावप्रतियोगितावच्छेदकत्व) सम्बन्ध से स्वावच्छिन्न भेद रूप है। इसलिए तादृशावच्छेदकत्वत्वावच्छिन्नाभाव का निवेश करने पर यत्किञ्चिद्दशमीप्रागभावाधिकरण निष्ठाभावप्रतियोगितावच्छेदकत्व को लेकर अप्रसिद्धि होगी, उसका वारण करने के लिए विशेष रूप से तत्तत् प्रागभावरूप स्वपदार्थ का सम्बन्ध के बीच में प्रवेश करना पड़ेगा, अतः अननुगम होगा, यह भी निरस्त हो जाता है।

अभिप्राय यह है कि आप दशमीप्रागभावव्यापकत्व का अर्थ कर रहे हैं दशमी दशमी प्रागभावाधिकरणनिष्ठाभावप्रतियोगितानवच्छेदकधर्मवत्त्व । इसमें तादृशाभाव प्रतियोगितानवच्छेदकत्व क्या चीज़ है? तादृशाभावप्रतियोगितावच्छेदकत्वसामान्याभाव तादृशभावप्रतियोगितानवच्छेदकत्व है? अर्थात् तादृशाभावप्रतियोगितावच्छेदकत्वत्वावच्छिन्न प्रतियोगिताक अभाव तादृशाभावप्रतियोगितानवच्छेदकत्व है। तो इसमें तो अप्रसिद्धि हो जायेगी क्योंकि आश्विन शुक्लदशमी तो बहुत (अनन्त) हैं । इस वर्ष की आश्विनशुक्लदशमी के प्रागभाव को अगर हमने पकड़ा तो उसके अधिकरण में विगतवर्षीय या आगामि वर्षीय पूजाविशेष का अभाव मौज़ूद है। विगतवर्षीय या आगामिवर्षीय आश्विनशुक्लदशमी के प्रागभाव को पकड़ा तो उसके अधिकरण में इस वर्षीय पूजाविशेष का अभाव मौजूद है। इस हर एक पूजाविशेष का अभाव किसी न किसी आश्विन शुक्लदशमी प्रागभाव के अधिकरण में मिल ही जायेगा तथा इस प्रकार हर एक पूजाविशेषत्व में यत्किञ्चिद्दशमी प्रागभावाधिकरणनिष्ठाभावप्रतियोगितावच्छेदकत्व ही आ जायेगा, किसी भी पूजाविशेषत्व में तादृशाभावप्रतियोगितानवच्छेदकत्व नहीं आयेगा। इसलिए किसी भी पूजा विशेष में तादृशाभावप्रतियोगितानवच्छेदकधर्मवत्त्व रूप व्यापकत्व नहीं बन सकेगा। इसलिए तत्तत्प्रागभावरूप स्व पदार्थ का सम्बन्ध के मध्य में प्रवेश करना पड़ेगा। इस प्रकार काम तो बन जायेगा क्योंकि तत्तत्प्रागभाव (दशमीप्रागभाव) अधिकरणनिष्ठाभावप्रतियोगितानवच्छेदकत्व तत्तत्पूजाविशेषत्व में है, इसकारण तादृशाभावप्रतियोगितानवच्छेदकधर्मवत्त्व रूप व्यापकत्व तत्तत्पूजाविशेष में अक्षत ही है किन्तु इसमें समस्या यह है कि यत् और तत् से घटित स्व पदार्थ का सम्बन्ध में और व्यापकता में प्रवेश करना पड़ रहा है अतः अनुगम नहीं हो सकता है।

इसलिए स्वावच्छिन्नभेदवत्त्व ही स्वव्यापकतावच्छेदकत्व है, तथा भेदीयप्रतियोगितावच्छेदकताघटक सम्बन्ध है स्वाधिकरणनिष्ठभेदप्रतियोगितावच्छेदकत्व ऐसा कहना चाहिए। स्वपद से दशमीप्रागभाव को लेना है। तदधिकरणनिष्ठाभावप्रतियोगितावच्छेदकत्व जहाँ पर जायेगा वह इस सम्बन्ध से दशमी प्रागभाववान् होगा। तथा इस सम्बन्ध से दशमी प्रागभाववत्प्रतियोगिक भेदवाला जो होगा वही स्व का व्यापकतावच्छेदक होगा। अब

उपर्युक्त रीति से प्रतियोगितानवच्छेदकत्व रूप व्यापकतावच्छेदकत्व की अप्रसिद्धि नहीं होगी। क्योंकि आप जिसे स्वपद से पकड़ेगे उसका व्यापकत्व पूजाविशेष में सम्भव ही होगा। जिस किसी का अभाव स्वाधिकरण में मिलेगा तद्गतधर्म (घटत्व, पटत्व, गगनत्वादि) तादृशाभाव प्रतियोगितावच्छेदक होंगे, अतः उक्त सम्बन्ध से वही धर्म स्वावच्छिन्न होगा (तद्दशमीप्रागभावावच्छिन्न होगा) तद्भेदवत्त्व तो पूजा विशेषत्व में है ही क्योंकि पूजाविशेष का अभाव स्वाधिकरण में नहीं मिल सकेगा। अतः पूजाविशेषत्व में तादृशभेदवत्त्व रूप व्यापकतावच्छेदकत्व या कहिए स्वाधिकरणनिष्ठाभावप्रतियोगितानवच्छेदकत्व विद्यमान ही है।

**निष्कर्ष-** दशमी प्रतियोगिक प्रागभाव का स्वप्रतियोग्यवृत्तित्वविशिष्टव्यापकता सम्बन्ध से पूजा रूप समभिव्याहृत क्रिया में अन्वय होता है। पूजा रूप क्रिया में दशमी प्रतियोगिक प्रागभावका जो व्यापकत्व है वह स्वावच्छिन्नभेदवद्धर्मवत्त्व रूप है। यहाँ पर भेदीय प्रतियोगितावच्छेदकतावच्छेदक सम्बन्ध है स्वाधिकरणतिथिनिष्ठाभावप्रतियोगितावच्छेदकत्व। इस सम्बन्धघटकी भूत स्वाधिकरणत्व का अभिप्राय भी स्वावच्छिन्नभेदवत्त्व है किन्तु यहाँ पर भेदीयप्रतियोगितावच्छेदकतावच्छोदक सम्बन्ध है स्वावच्छिन्नकृष्णनवमीप्रागभावाधिकरणत्व। इस प्रकार से परिष्कार करने से कोई भी अननुगम आदि दोष नहीं आया करते हैं।

**देशरूपा सीमा च 'काशीतः कौशिकीं यावद् याति' इत्यादौ, तत्र कौशिक्या गमनसीमात्वं प्रतीयते तच्च काशीपूर्वकौशिकी पश्चिमदेशव्यापक-गमनानधिकरणत्वम्। यावत्पदेन च कौशिक्यनधिकरणत्वे सति काशीपूर्व-कौशिकीपश्चिमदेशव्यापकत्वं गमने प्रत्याय्यते। तत्र द्वितीयार्थोऽवधित्व-मवधिमत्त्वं वा प्रतीच्याद्यन्वयि। निष्कर्षः स्वयमूहनीयः।**

और देशरूपा सीमा '**काशीतः कौशिकीं यावद् याति**' 'काशी से कौशिकी तक जाता है' इत्यादि स्थलों में बोधित होती है। वहाँ पर कौशिकी का गमनसीमात्व प्रतीत होता है और वह कौशिकी का गमन सीमात्व काशी से पूर्व और कौशिकी से पश्चिम देशव्यापक गमन का अनधिकरणत्व रूप है। यावत् पद से कौशिकी का अनधिकरण होते हुए काशी से पूर्व कौशिकी पश्चिम देश व्यापकत्व गमन में बोधित होता है। द्वितीया का अर्थ अवधित्व या अवधिमत्त्व है जो कि प्रतीची आदि से अन्वित होता है । निष्कर्ष स्वयं समझ लेना चाहिए।

जब गमन करने वाला काशी से कौशिकी तक गमन कर रहा होता है तब उपर्युक्त प्रयोग हुआ करता है। काशी से पूर्व में कौशिकी देश है। सम्भव है कौशिकी देश से बक्सर जो कि बिहार में है अभिप्रेत हो। क्योंकि सुना जाता है कि कौशिकविश्वामित्र का आश्रम बक्सर में ही था। इसीलिए उसका नाम कौशिकी हो। लेकिन उक्त प्रयोग तभी तक किया जाता है जब कौशिकी में गमन न हो, कौशिकी के पश्चिम में ही गमन समाप्त हो जाये। कौशिकी का यही गमनसीमात्व है कि कौशिकी में काशी पूर्व कौशिकी पश्चिम देशव्यापक जो गमन क्रिया है उसका अनधिकरणत्व विद्यमान है। यहाँ पर यावत् पद से कौशिक्यनधिरणत्व विशिष्ट काशीपूर्वकौशिकी पश्चिमदेशव्यापकत्व गमन में बोधित होता है। इसमें द्वितीया का अर्थ अवधित्व या अवधिमत्त्व है जो कि पश्चिम आदि दिशा में अन्वित होता है।

**अभिविध्यर्थो यावच्छब्दः 'कार्तिकमारभ्य चैत्रं यावच्छीतं भवति' इत्यादौ 'काशीतः पाटलिपुत्रं यावद्वृष्टो देवः' इत्यादौ च। अभिविधिः तत्पर्यन्ताभिव्याप्तिः। एवञ्च प्रथमे कार्तिकपूर्वकालोत्तरचैत्रोत्तर कालपूर्वकालव्यापकत्वं चैत्रोत्तरकालावृत्तित्वसहितं शीतभवने, द्वितीये च काशीपश्चिमदेशपूर्वपाटलिपुत्रपूर्वदेशपश्चिमदेशव्यापकत्वं पाटलिपुत्र पूर्वदेशावृत्तित्वसहितं वृष्टौ यावत्पदेन प्रत्याय्यते विशेषः पूर्ववत्।**

**यावच्छब्द समानार्थकाङ्शब्दस्थलेऽपि दर्शितैव रीतिरवसेया, तद्योगे च पञ्चमी साधुः।**

अभिविध्यर्थक यावत् शब्द होता है **'कार्तिकमारभ्य चैत्रं यावच्छीतं भवति'** 'कार्तिक से लेकर चैत्रपर्यन्त शीत होता है' इत्यादि स्थलों में और **'काशीतः पाटलिपुत्रं यावद् वृष्टो देवः'** 'काशी से पाटलिपुत्रपर्यन्त देव बरसे हैं' इत्यादि स्थलों में। (इसमें फर्क यह है कि प्रथम में कालिकअभिविध्यर्थक यावत् शब्द है, दूसरे में दैशिक अभिविध्यर्थक यावत् शब्द है) अभिविधि का अभिप्राय है तत्पर्यन्त अभिव्याप्ति। इस प्रकार प्रथम वाक्य से शीतभवन में कार्तिकपूर्वकालोत्तर (कार्तिक के पूर्व काल से बाद वाले) और चैत्रोत्तर काल से पूर्वकालव्यापकत्व चैत्रोत्तरकालावृत्तित्व से सहित होकर प्रतीत होता है द्वितीय वाक्य से काशीपश्चिमदेश से पूर्व और पाटलिपुत्रपूर्वदेश से पश्चिम देशव्यापकत्व पाटलिपुत्रपूर्वदेशावृत्तित्वसहित होकर वृष्टि में यावत् पद के द्वारा प्रतीत होता है। इसमें विशेष पूर्ववत् समझ लेना चाहिए।

यावत् शब्द के समानार्थक आङ् शब्द के स्थल में भी यही रीति समझनी चाहिए उसके योग में पञ्चमी भी साधु होती है। आङ् शब्द का योग होने पर पञ्चमी विधायक सूत्र है **'पञ्चम्यपाङ्परिभिः पा0सू0 2।3।10'**

**विमर्श-** देशारूपा सीमा (मर्यादा) के अर्थ में यावत् शब्द प्रयोग के विषय में बताते हुए गदाधर ने अन्त में कहा **'निष्कर्षः पूर्ववत् स्वयमूहनीयः'** (द्रष्टव्य पिछला पृष्ठ) अभिविध्यर्थक यावत् शब्द प्रयोग के विषय में बताते हुए पुनः गदाधर कह रहे हैं कि **'विशेषः पूर्ववत्'** इसका अभिप्राय क्या है? देश रूपा सीमा का उदाहरण दिया था **'काशीतः कौशिकीं यावत् याति'** यहाँ पर द्वितीया का अर्थ अवधित्व या अवधिनत्व है जो कि प्रतीची आदि से अन्वित होता है। यद्यपि गदाधर ने स्पष्टतः नहीं कहा है किन्तु प्रतीत होता है कि प्रतीची रूप अर्थ यावत् पद का ही अर्थ है।इस प्रकार **'कौशिकीं यावत्'** से कौशिकीनिरूपितावधित्वाश्रय अथवा कौशिकीनिरूपितावधिमत् पश्चिमदेश इतना लब्ध होता है। गमन क्रिया में कौशिकी निरूपितावधित्वाश्रय पश्चिमदेश का व्यापकत्व आकाङ्क्षा भास्य होता है, संसर्गमर्यादा से भासता है। इसमें पश्चिमदेशव्यापकत्व पश्चिमदेशत्वव्यापकत्व रूप है और पश्चिमदेशत्व व्यापकत्व पश्चिमदेशत्वाधिकरणनिष्ठाभाव प्रतियोगितानवच्छेदकधर्मवत्त्व रूप है। स्वमाने पश्चिम देशत्व पश्चिम देशत्व का अधिकरणत्व स्वाधिकरण काश्यवधिक पश्चिमदेशभेदवत्त्वविशिष्टविशेषणतासम्बन्ध से लेना है। कौशिकीपश्चिमदेशत्वाधिकरण काशी भी है, काश्यवधिकपश्चिमदेशभेदवत्त्व काशी से पूर्वदेशों में ही जायेगा इसलिए उससे विशिष्ट विशेषणता सम्बन्ध से पश्चिमदेशत्व का अधिकरण

काशी से पूर्व और कौशिकी से पश्चिमदेश होता है, उसमें चूँकि गमन का अभाव नहीं है। इसलिए उक्तसम्बन्ध से कौशिक्यवधिकपश्चिमदेशाधिकरण निष्ठ अभाव प्रतियोगितानवच्छेदकीभूतगमनत्ववत्त्व रूप व्यापकत्व गमन में अक्षत ही है। पूर्व में जैसे सम्बन्धविधया निवेश किया गया था उस प्रकार से यहाँ पर भी परिष्कार किया जा सकता है। (द्रष्टव्य पृ. 519 निष्कर्ष शीर्षक) सम्भवतः गदाधर का यही आशय है।

कालिक अभिविधि के अर्थ में भी यावत् शब्दप्रयोग व द्वितीया सुनी जाती है। उदाहरण दिया है '**कार्तिकमारभ्य चैत्रं यावच्छीतं भवति**' यहाँ पर ऐसा प्रतीत होता है कि यावत् शब्द का अर्थ ध्वंस है और चैत्रादि पदोत्तर द्वितीया का अर्थ प्रतियोगित्व या अनुयोगित्व है। इस प्रकार '**चैत्रं यावत्**' से चैत्रप्रतियोगिक ध्वंस की प्राप्ति होती है और शीतभवन में (शीतकर्तृक भवन क्रिया में) चैत्रप्रतियोगिकध्वंसव्यापकत्व भासित होता है। यह व्यापकत्व आकाङ्क्षाभास्य होता है। चैत्रप्रतियोगिकध्वंसव्यापकत्व का अर्थ चैत्रप्रतियोगिकध्वंसाधिकरणवृत्ति अभावप्रतियोगितानवच्छेदक धर्मवत्त्व है। चैत्रप्रतियोगिकध्वंस का अधिकरणत्व स्वप्रतियोगिवाचक पदसमभिव्याहृतपदबोध्यकालप्रागभावानधिकरणत्व विशिष्ट स्वाधिकरणत्व सम्बन्ध से लेना चाहिए ध्वंसप्रतियोगी चैत्र वाचक चैत्र पद समभिव्याहृतकार्तिक पद से बोध्य कालकार्तिक मासात्मक काल के प्रागभाव का अनधिकरणत्व भी कार्तिक से लेकर चैत्र तक के समय में है और चैत्र प्रतियोगिकध्वंस का अनधिकरणत्व भी है। इस प्रकार स्वप्रतियोगिवाचकपदसमभिव्याहृत पद बोध्यकाल प्रागभावानधिकरणत्वविशिष्ट-स्वानधिकरणत्व सम्बन्ध से चैत्र प्रतियोगिक ध्वंस के अधिकरण कार्तिक से चैत्र तक के समय में शीतभवनाभाव नहीं प्राप्त होने के कारण शीत भवनत्व में तादृशाभाव प्रतियोगितानवच्छेदकत्व ही आयेगा और तद्वत्त्व शीतभवन में आने के कारण शीतभवन में चैत्रप्रतियोगिकध्वंसव्यापकत्व विद्यमान है। इसमें भी विगत पृष्ठ में प्रदर्शित निष्कर्ष के अनुसार निवेश कर सकते हैं। सम्भवतः गदाधर का यही आशय है।

अथवा पूर्वकाल यहाँ पर यावत् पद का अर्थ है और द्वितीया का अवधित्व या अवधिमत्त्व अर्थ होता है चैत्र का अवधि में और अवधि का पूर्व काल में अन्वय होता है। इस प्रकार **चैत्रं यावत्** से चैत्रोत्तरकालावधिकपूर्वकाल प्राप्त होता है और चैत्रोत्तर कालावधिकपूर्व-कालव्यापकत्व शीत भवन में आकाङ्क्षा से भास्य होता है। जोकि चैत्रोत्तर कालावधिकपूर्व कालत्वव्यापकत्व रूप है, जिसका अभिप्राय स्वाधिकरणनिष्ठा भावप्रतियोगितानवच्छेदकधर्मवत्त्व से है। स्व का अधिकरणत्व स्वावच्छिन्नकालसमभिव्याहृत कालप्रागभावानधिकरणत्व विशिष्ट स्वाधिकरणत्व सम्बन्ध से लेना चाहिए। चैत्रोत्तरकालावधिकपूर्वकालत्वावच्छिन्न (चैत्रोत्तरकाला-वधिक पूर्वकाल) से समभिव्याहृतकाल है कार्तिक रूपी काल उसके प्रागभाव के अनधिकरणत्व से विशिष्ट स्व का अधिकरणत्व कार्तिक से लेकर चैत्र तक के काल में है। उसमें रहने वाले अभाव का प्रतियोगितानवच्छेदक शीतभवनत्व है क्योंकि उस काल में शीतभवनाभाव नहीं प्राप्त होगा, तद्वत्त्व शीतभवन । इस प्रकार शीतभवन में चैत्रोत्तरकालावधिकपूर्वकालव्यापकत्व विद्यमान है यही व्यापकत्व चैत्रोत्तरकालावृत्तित्वसहित होकर शीतभवन में आकाङ्क्षाभास्य होता है।

इसी प्रकार दैशिक अभिविध्यर्थक यावच्छब्दप्रयोग स्थल '**काशीतः पाटलिपुत्रं**

**यावद् वृष्टो देवः'** इत्यादि में पश्चिम देश यावत् पद का अर्थ होता है, द्वितीया का अवधित्व या अवधिमत्त्व। इस तरह उपर्युक्त रीति से अन्वय होकर **पाटलिपुत्रं यावत्** से पाटलि पुत्र पूर्व देशावधिक पश्चिम देश लब्ध होता है तथा उसका व्यापकत्व वृष्टि में भासता है। पाटलिपुत्रपूर्वदेशावधिकपश्चिमदेशव्यापकत्व तादृश पश्चिमदेशत्व व्यापकत्व ही है। और उसका आशय भी स्वाधिकरणवृत्ति अभाव प्रतियोगितानवच्छेदकत्व से ही है। स्वाधिकरणत्व भी उपर्युक्त रीति से ही स्वावच्छिन्नदेशसमभिव्याहृतदेशभेदवत्त्वविशिष्ट विशेषणता सम्बन्ध से लेना है। इन दोनों में भी विगत पृष्ठ में प्रदर्शित निष्कर्षानुसार निवेश किया जा सकता है यही शायद गदाधर का आशय है ऐसा मुझे लगता है। इस प्रकार **काशीतः कौशिकीं यावद् याति'** से **'काशीनिष्ठविभागानुकूलं यत् कौशिक्यनधिकरणत्वे सति कौशिक्यवधिकपश्चिमदेशव्यापकताश्रयं गमनं तदाश्रयः'** 'काशीनिष्ठ विभागानुकूल जो कौशिक्यनधिकरण होते हुए कौशिक्यवधिक पश्चिमदेशव्यापकत्वाश्रयगमन उसका आश्रय है' ऐसा शाब्दबोध होता है। **'कार्तिकमारभ्य चैत्रं यावत् शीतं भवति'** से **'कार्तिकारब्धं यत् चैत्रोत्तरकालावृत्तित्वविशिष्टं चैत्रोत्तरकालावधिकपूर्वकाल व्यापकं भवनं तदाश्रयं शीतम्'** 'कार्तिकारब्ध जो चैत्रोत्तरकालावृत्तित्वविशिष्ट चैत्रोत्तरकालावधिक पूर्वकालव्यापक भवन उसका आश्रयशीत है' ऐसा शाब्दबोध होता है। **'काशीतः पाटलिपुत्रं यावद्वृष्टो देवः'** से **'काश्यवधिका या पाटलिपुत्रपूर्वदेशावृत्तित्वविशिष्टा पाटलिपुत्र-पूर्वदेशावधिकपश्चिमदेशव्यापकीभूता वृष्टिस्तदाश्रयो देवः'** 'काश्यवधिक जो पाटलिपुत्र पूर्वदेशावृत्तित्वविशिष्टा पाटलिपुत्रपूर्वदेशावधिक पश्चिमदेशव्यापकीभूता वृष्टि उसका आश्रय देव हैं' ऐसा शाब्दबोध होता है।

**'यज्ञमनु प्रावर्षत्' इत्यादावनुशब्दार्थः कारकत्वरूपं हेतुत्वम्- ''अनुर्लक्षणे'' इत्यत्र कर्मप्रवचनीयसंज्ञाविधायकसूत्रे लक्षणपदस्य कारकहेतु परत्वात्, तत्र च यज्ञान्वितस्याधेयत्वरूपद्वितीयार्थस्यान्वयः हेतुतायाश्च निरूपकत्वसम्बन्धेन वृष्टावन्वयः।**

**जन्यत्वं वाऽनुशब्दार्थः, तत्र निरूपितत्वरूपद्वितीयार्थस्य यज्ञान्वित स्यान्वयः, जन्यतायाश्चाश्रयत्वसम्बन्धेन वृष्टावन्वयः।**

**'यज्ञमनु प्रावर्षत्'** 'यज्ञ के बाद बारिश हुई' इत्यादिस्थलों में अनु शब्द का अर्थ है कारकत्व रूप हेतुत्व, क्योंकि **'अनुर्लक्षणे पा0 सू0 1/4/84'** इस कर्मप्रवचनीय संज्ञा विधायक सूत्र में लक्षण पद कारकहेतुपरक है। और उसी में (कारकत्व रूप हेतुत्व में) यज्ञान्वित आधेयत्व रूप द्वितीया के अर्थ का अन्वय होता है। हेतुताका निरूपकत्व सम्बन्ध से वृष्टि में अन्वय होता है। (इस प्रकार इस वाक्य से **'यज्ञनिरूपिताधेयत्वा श्रयहेतुतानिरूपकवृष्ट्याश्रयो देवः'** 'यज्ञ निरूपित आधेयत्वाश्रय हेतुतानिरूपकवृष्टि के आश्रय देव हैं' ऐसा बोध होता है)

अथवा अनुशब्द का अर्थ जन्यत्व है उसमें यज्ञ से अन्वित द्वितीया के अर्थ निरूपितत्व का अन्वय होता है और जन्यता का आश्रयत्व सम्बन्ध से वृष्टि में अन्वय होता है। (इस प्रकार इस पक्ष में उक्त वाक्य से **'यज्ञनिरूपितजन्यत्वाश्रयवृष्ट्याश्रयो देवः'** 'यज्ञनिरूपित जन्यत्वाश्रयवृष्टि का आश्रय देव है' ऐसा बोध होता है)

**'अन्वर्जुनं योद्धारः' इत्यत्रापकर्षरूपं हीनत्वमनुशब्दार्थः, अर्जुनावधिकत्वञ्चद्वितीयान्तार्थस्तस्य चापकर्षेऽन्वयः।**

**'अन्वर्जुनं योद्धारः'** यहाँ पर अपकर्षरूप हीनत्व अनुशब्द का अर्थ है और अर्जुनावधिकत्व द्वितीयान्त का अर्थ है (अवधित्व द्वितीया का अर्थ है) तथा उसका अपकर्ष में अन्वय होता है। इस प्रकार इस वाक्य से **'अर्जुनावधिकापकर्षाश्रया योद्धारः'** 'अर्जुनावधिक अपकर्ष के आश्रय योद्धा हैं' ऐसा शाब्दबोध होता है।

**अवधित्वस्यापादानतारूपत्वेऽपि क्रियान्वयाभावान्न पञ्चमीप्रसक्तिः। 'अस्मादयं दीर्घः' इत्यादौ 'भवति' इत्यस्याध्याहारेणैव पञ्चम्युपपादनात्। अतः षष्ठ्यपवादतानिर्वाहः।**

अवधित्व के अपादानतारूप होने पर भी क्रिया के साथ उसका अन्वय न होने के कारण पञ्चमी की प्रसक्ति नहीं होती है। **'अस्मादयं दीर्घः'** 'इससे यह दीर्घ है' इत्यादिस्थलों में **'भवति'** के अध्याहार से ही पञ्चमी का उपपादन होता है। इसलिए षष्ठ्यपवादतानिर्वाह होता है।

अभिप्राय यह है कि **'अन्वर्जुनं योद्धारः'** यहाँ पर आपने बताया कि अर्जुनावधिकत्व द्वितीयान्त का अर्थ है। अर्जुनावधिकत्व का अर्थ तो अर्जुननिष्ठ वधितानिरूपकत्व ही है। यदि अर्जुन में अवधित्व है तो अर्जुनपद से द्वितीया न होकर पञ्चमी होनी चाहिए क्योंकि अवधित्व ही तो अपादानत्व है और अपादानता अर्थ में पञ्चमी ही होती है। इसका समाधान दे रहे हैं कि पञ्चमी कारकविभक्ति है इसलिए उसका अर्थ क्रियान्वयी ही होता है अर्थात् यदि अवधित्व का क्रिया में अन्वय होगा तभी पञ्चमी होगी। चूँकि इस जगह पर अर्जुननिष्ठ अवधित्व का अन्वय अपकर्ष में होता है जो क्रिया नहीं है। अतः पञ्चमी की यहाँ प्राप्ति ही नहीं, शेषषष्ठी की ही प्राप्ति होती है। शेष षष्ठी की अपवादिका समस्त उपपद विभक्तियाँ होती हैं इसलिए यह अनुपद को आधार बनाकर होने वाली उपपदविभक्ति द्वितीया षष्ठी की अपवादिका होती है। इस कारण इसमे भी षष्ठी का अपवादकत्व बन जाता है। यदि पूँछो कि **'अस्मादयं दीर्घः'** 'इससे यह दीर्घ है' यहाँ पर इदम्पदार्थ की अपादानता (अवधित्व) है किन्तु उसका अन्वय क्रिया में तो नहीं होता है फिर भी इदम् पद से पञ्चमी होता है फिर आप यह कैसे कह रहे हैं कि अवधित्व का क्रिया में अन्वय होने पर ही पञ्चमी की प्रसक्ति होती है तो वहाँ पर भी क्रिया में ही अवधित्व का अन्वय होता है। तथा क्रियावाचक **भवति** पद का अध्याहार करके ही पञ्चमी हुआ करती है।

**'वृक्षं प्रति विद्योतते विद्युत्' 'मातरं प्रति साधुः' 'यो मां प्रति स्यात्' 'वृक्षं वृक्षं प्रति सिञ्चति' इत्यादौ 'लक्षणेत्थम्भूत0'' इत्यादिसूत्रानुशिष्टकर्मप्रवचनीयसंज्ञकप्रत्यादिशब्देषु प्रथमे परिचायकत्वरूपं लक्षणत्वं परिचेयत्वरूपं लक्ष्यत्वं वा कर्मप्रवचनीयार्थः, वृक्षप्रकाशेन विद्युद्विद्योतनज्ञानाद् वृक्षस्य परिचायकता, द्वितीयार्थश्चाधेयत्वं निरूपितत्वं वा। द्वितीये साधुत्वं = प्रियकारित्वं साधुत्वघटकक्रियान्वयी सम्बन्धः कर्मप्रवचनीयार्थः, सम्बन्धान्वयिप्रतियोगित्वं तन्निरूपकत्वं वा द्वितीयार्थः। तृतीये भागः = स्वत्वाश्रयः प्रत्याद्यर्थः तदन्वयी**

**सम्बन्धो द्वितीयार्थः इत्थञ्चास्मत्सम्बन्धी यो भागः स्यादिति बोधः। चतुर्थे कर्मण्येव द्वितीया षत्वबाध एव संज्ञाफलं प्रतिश्च निरर्थकः- 'गृहे-गृहेऽश्वाः' इत्यादाविव व्यापकतायाः द्विरुक्तिबललभ्यत्वात् । प्रतिशब्दस्य व्यापकतार्थकत्वे उक्तार्थकत्वे 'गृहं व्याप्नुवतेऽश्वाः' इत्यादाविव द्विरुक्तिरेव न स्यात् ।**

**'वृक्षं प्रति विद्योतते विद्युत्'** 'वृक्ष पर बिजली चमक रही है' **'मातरं प्रति साधुः'** माता के प्रति साधु है' **'यो मां प्रति स्यात्'** जो मेरे लिए हो' **'वृक्षं वृक्षं प्रति सिञ्चति'** 'हर एक वृक्ष को सींचता है' इत्यादि स्थलों में **'लक्षणेत्थम्भूताख्यानभागवीप्सासु प्रतिपर्यनवःपा॰सू॰ 1/4/90'** सूत्र से अनुशिष्ट (विहित) कर्मप्रवचनीय संज्ञक प्रति आदि शब्दों में प्रथम जो उदाहरण दिया गया है, वह लक्षण का उदाहरण है **'वृक्षं प्रति विद्योतते विद्युत्'** उसमें परिचायकत्व रूप लक्षणत्व अथवा परिचेयत्व रूप लक्ष्यत्व कर्मप्रवचनीय का (प्रति का) अर्थ है। वृक्ष प्रकाश से विद्युद्विद्योतनज्ञान होने के कारण वृक्ष की परिचायकता है, द्वितीयार्थ आधेयत्व या निरूपितत्व है। (इस प्रकार इस वाक्य से **'वृक्षनिष्ठपरिचायकत्वनिरूपकविद्योतनव्यापारवती विद्युत्'** 'वृक्षनिष्ठ परिचायकत्वनिरूपक विद्योतनव्यापारवती विद्युत् है' ऐसा शाब्दबोध होता है। परिचेयत्व को प्रति का अर्थ मानने पर **'वृक्षनिरूपितपरिचेयत्ववद्विद्योत-नव्यापारवती विद्युत्'** 'वृक्षनिरूपितपरिचेयत्ववद्विद्योतनव्यापारवती विद्युत है' ऐसा शाब्द- बोध होता है)

द्वितीय में (यहाँ पर इत्थम्भूताख्याने का उदाहरण है) **'मातरं प्रति साधुः'** यहाँ पर साधुत्व का अर्थ प्रियकारित्व और साधुत्व प्रियकारित्व घटकी भूत क्रिया से अन्वित होने वाला सम्बन्ध कर्म प्रवचनीय का अर्थ है। सम्बन्ध में अन्वित होने वाला प्रतियोगित्व या तन्निरूपकत्व (प्रतियोगितानिरूपकत्व) द्वितीया का अर्थ है। इस प्रकार इस वाक्य से **'मातृप्रतियोगिक ( या मातृनिष्ठप्रतियोगितानिरूपक ) सेवकत्वादिप्रियकारित्वाश्रयः'** 'मातृप्रतियोगिक (अथवा मातृनिष्ठ प्रतियोगितानिरूपक) सेवकत्वादिप्रियकारित्व का आश्रय है' ऐसा बोध होता है।

तृतीय में (यह भाग का उदाहरण है) **'यो मां प्रति स्यात्'** यहाँ पर स्वत्वाश्रय रूप भाग प्रति आदि का अर्थ है और उससे अन्वित होने वाला सम्बन्ध द्वितीया का अर्थ है इस प्रकार **'अस्मत्सम्बन्धीयो भागः ( स्वत्वाश्रयः ) स्यात्'** 'अस्मत्सम्बन्धी स्वत्व का आश्रय जो हो' यहाँ पर ऐसा शाब्द बोध होता है। द्वितीया का अर्थ सम्बन्ध प्रति पदार्थ के एकदेश स्वत्व में अन्वित होता है।

चतुर्थ में (यह वीप्सा का उदाहरण है[1]) **'वृक्षं वृक्षं प्रति सिञ्चति'** यहाँ पर वृक्ष पदोत्तर जो द्वितीया हुई है वह कर्म में ही हुई है। वृक्ष की कर्मता (सेचनकर्मता) तो है ही, इसीलिए **'कर्मणि द्वितीया पा0सू0 2/3/2'** से ही द्वितीया हुई है। कर्मप्रवचनीयसंज्ञा का फल षत्व का बाध ही है प्रति निरर्थक है। क्योंकि **'गृहे गृहेऽश्वाः'** 'घर-घर में घोड़े हैं' ऐसा कहने पर जो अश्व में गृहव्यापकता लब्ध होती है वह गृह पद की द्विरुक्ति से ही लब्ध होती है । उसी प्रकार यहाँ पर भी जो सेचनकर्मता में वृक्ष व्यापकता लब्ध होती है

---

1. वीप्सा का अर्थ व्यापकत्व है।

वह वृक्षपद की द्विरुक्ति के बल से लब्ध होती है। प्रतिशब्द की यदि व्यापकतार्थकता होती तो उक्तार्थक होने के कारण **'गृहं व्याप्नुवतेऽश्वाः'** 'घोड़े घटों को व्याप्त कर रहे हैं' इत्यादिस्थलों की तरह द्विरुक्ति ही नहीं होती। इस तरह **'वृक्षव्यापककर्मताकसेचनाश्रयः'** 'वृक्षव्यापककर्मताक सेचन का आश्रय है, ऐसा शाब्दबोध होता है।

अभिप्राय यह है कि प्रतिशब्द निरर्थक है उसे देने का प्रयोजन मात्र इतना है कि षत्व का बाध हो जाये। उसकी कर्मप्रवचनीय संज्ञा होने के कारण उपसर्ग संज्ञा नही हो पाती है इसलिए **'उपसर्गात् सुनोति.. पा०सू० 8।3।65'** द्वारा सिच् के स को षत्व नहीं प्राप्त होता है। षत्वबाध से षत्व की अप्राप्ति ही बोधित तहो रही है। यदि पूँछो कि प्रति शब्द का अर्थ व्यापकता क्यों न मान लें तो इसका उत्तर यह है कि प्रतिशब्द का अर्थ यदि व्यापकता हो गया तो व्यापकता अर्थ को बतलाने के लिए वृक्ष शब्द की द्विरुक्ति तो होगी नहीं क्योंकि **'उक्तार्थानामप्रयोगः'** 'उक्त अर्थों का प्रयोग नहीं होता है' ऐसा नियम है। इस तरह वृक्ष पद की द्विरुक्ति अनुचित हो जायेगी। जैसे कि **'गृह व्याप्नुवतेऽश्वाः'** में गृह पद की द्विरुक्ति नहीं होती है। क्योंकि धातु से ही वह अर्थ उक्त हो गया। वैसे ही यहाँ पर भी प्रति से व्यापकत्व अर्थ बोधित हो गया है इसलिए उस अर्थ को बोधित करने के लिए वृक्ष पद की द्विरुक्ति अनावश्यक है।

**न च प्रतिशब्दस्यापि व्यापकतार्थकत्वम् 'प्रतिदिनमधीते' इत्यादौ क्लृप्तं, द्विरुक्तेरपि 'वृक्षं वृक्षं सिञ्चति' इत्यादौ क्लृप्तमिति प्रकृते "सम्भेदे नान्यतरवैयर्थ्यम्" इति न्यायाद् द्वयोरपि व्यापकताबोधकत्वमवर्जनीयमिति वाच्यम्; 'प्रतिमासमधीते' इत्यादावव्ययीभावे हि प्रथमातिरिक्तविभक्ते-रसाधुत्वेन प्रतिशब्देन मासान्वितव्यापकत्वं क्रियायां बोध्यते विभक्तिः साधुत्वार्था।**

यदि कहो कि प्रतिशब्द का भी व्यापकतार्थकत्व **'प्रतिदिनमधीते'** 'प्रतिदिन पढ़ता है' इत्यादिस्थलों में स्वीकृत है और द्विरुक्ति का भी व्यापकतार्थकत्व **'वृक्षं वृक्षं सिञ्चति'** 'वृक्ष वृक्ष को सींचता है' इत्यादि स्थलों में स्वीकृत है, इसलिए प्रकृत **'वृक्षं वृक्षं प्रति सिञ्चति'** स्थल में **'सम्भेदे नान्यतरवैयर्थ्यम्'** 'एकार्थबोधकों का एक ही जगह पर सम्भेद (संयोग) होने पर किसी एक का वैयर्थ्य नहीं होता है' (दोनों ही सार्थक होते हैं) इस न्याय से दोनों का ही द्विरुक्ति का और प्रतिशब्द का व्यापकता बोधकत्व अवर्जनीय है दोनों को ही व्यापकताबोधक मानना चाहिए। तो ऐसा नहीं कहना चाहिए **'प्रतिमासमधीते'** (यह **प्रतिदिनमधीते** का समानयोगक्षेम है) इत्यादि अव्ययीभावस्थलों में प्रथमातिरिक्त विभक्ति के असाधु[1] होने के कारण प्रति शब्द के द्वारा मासान्वित व्यापकत्व क्रिया में बोधित है और विभक्ति साधुत्वार्थक होती है

**'वृक्षं वृक्षं प्रति सिञ्चति' इत्यत्र तु सेके द्वितीयार्थकर्मत्वावरुद्ध प्रकृत्यर्थवृक्षविशेषितव्यापकता बोधयितुं न शक्यते- एकविशेषणत्वेनोपस्थित**

---

1. अव्ययी समास से सिद्ध पद अव्यय की तरह हो जाता है, अतः उससे पदसाधुत्वार्थक प्रथमाविभक्ति का एकवचन ही होता है।

**स्यान्यत्र विशेषणत्वे व्युत्पत्तिविरोधात् कर्मत्वसम्बन्धस्यैव च व्यापकताघटकत्वेन स्वीकरणीतया वृत्त्यनियामकस्य तस्य तथात्वासम्भवाच्च।**

**तस्य सेककर्मत्व आश्रयतासम्बन्धघटितव्यापकताप्रत्यायनमपि न युज्यते प्रकृत्यर्थसुबर्थयथोरन्तरा नञर्थातिरिक्तभानस्य व्युत्पत्तिविरुद्धत्वात्, ''नामूढस्येतरोत्पत्तेः'' 'नानुपमृद्य प्रादुर्भावात्' इत्यादौ नञर्थमात्रस्य पञ्चम्यर्थ हेतुतायां विशेषणत्वेन प्रकृत्यर्थस्य च विशेष्यत्वेनान्वयात्। तस्मात्प्रतिर्निरर्थक एव। द्विरुक्तान्वये तात्पर्यबलाच्च सेचनकर्मत्वे वृक्षादेर्व्यापकत्वं संसर्गतयैव भासते ।**

**'वृक्षं वृक्षं प्रति सिञ्चति'** यहाँ पर तो सेक में द्वितीयार्थकर्मत्वावरुद्ध प्रकृत्यर्थवृक्ष विशेषितव्यापकता बोधित नहीं की जा सकती है क्योंकि एक विशेषणत्वेन उपस्थित व्यक्ति का अन्यत्र विशेषणत्व स्वीकारने में व्युत्पत्तिविरोध होगा।

अभिप्राय यह है कि **'प्रतिदिनमधीते'** यहाँ पर दिन पदोत्तर जो विभक्ति है वह साधुत्वमात्रार्थक और निरर्थक है। इसकारण दिन किसी में विशेषण बने बगैर ही उपस्थित होता है। इसलिए दिन पदोपस्थाप्य दिन का प्रतिपदार्थव्यापकता में अन्वय किया जा सकता है। **'वृक्षं वृक्षं प्रति सिञ्चति'** में वृक्ष की उपस्थिति वृक्षपदोत्तर द्वितीयाविभक्ति के अर्थ कर्मत्व में विशेषण बनकर ही होती है। इसलिए वृक्ष का प्रतिपदार्थ व्यापकत्व में विशेषणतया अन्वय नहीं किया जा सकता है। कारण यह है कि व्युत्पत्ति है कि 'एक विशेषणतया उपस्थित अर्थ का अन्यत्र विशेषणतया अन्वय नहीं होता है' यहाँ पर वृक्ष द्वितीयार्थ कर्मत्व में विशेषण बनकर उपस्थित है, अतः उसका प्रति के अर्थ व्यापकत्व में विशेषणतया अन्वय नहीं किया जा सकता है।

तथा कर्मत्व सम्बन्ध को ही व्यापकता घटकत्वेन स्वीकार करना पड़ेगा और वह तो वृत्त्यनियामक है, अतः उसका व्यापकता घटक होना सम्भव नहीं है।

अभिप्राय यह है कि यदि कर्मत्वसम्बन्ध से वृक्ष को प्रति के अर्थ व्यापकता में अन्वित करना चाहो तो यहाँ पर तो कदाचित् काम चल जाये किन्तु नञ् घटित स्थल में **'न वृक्षं वृक्षं प्रति सिञ्चति'** 'हर एक वृक्ष को नहीं सींच रहा है' यहाँ पर कर्मतासम्बन्धावच्छिन्न प्रतियोगिताक व्यापकत्वाभाव बोधित करना पड़ेगा। कर्मत्व के वृत्त्यनियामक होने के कारण कर्मतासम्बन्धावच्छिन्न प्रतियोगिताकव्यापकत्वाभाव अप्रसिद्ध होने के कारण नहीं बोधित किया जा सकता है।

सेचनकर्मत्व में आश्रयतासम्बन्ध घटित व्यापकता का प्रत्यायन भी युक्तिसङ्गत नहीं है क्योंकि प्रकृत्यर्थ और सुबर्थ के बीच में नञर्थातिरिक्त का भान व्युत्पत्तिविरुद्ध होता है। अर्थात् यदि द्वितीयार्थ कर्मत्व (सेचन कर्मत्व) में वृक्ष का आश्रयतासम्बन्ध से घटित व्यापकता का प्रत्यायन किया जाये, इसमें 'वृक्षव्यापकताश्रयकर्मतानिरूप सेचन' विषयक शाब्दबोध होगा। इसमें समस्या यह है कि प्रकृत्यर्थ वृक्ष और द्वितीयार्थ (प्रत्ययार्थ) कर्मत्व के बीच में प्रत्ययार्थ व्यापकत्व का भान स्वीकारा जा रहा है। यह सम्भव नहीं है क्योंकि प्रकृत्यर्थ व सुबर्थ के बीत में नञर्थ से अतिरिक्त का भान व्युत्पत्ति विरुद्ध है और इसमें वही आ रहा है।

**'नामूढस्येतरोत्पत्तेः न्याय सूत्र 4।1।6'** 'मोहहीन को इतर (राग द्वेष) की उत्पत्ति नहीं होती हैं' **'नानुपमृद्य प्रादुर्भावात्'** 'उपमर्द के विना प्रदुर्भाव नहीं होता है' इत्यादिस्थलों में नञर्थ मात्र के पञ्चम्यर्थ हेतुता में विशेषण के रूप में और प्रकृत्यर्थ का विशेष्यत्वेन अन्वय होता है।

अभिप्राय यह है कि इन स्थलों में उत्पत्ति पद से और प्रादुर्भावपद से हेतुता अर्थ में पञ्चमी हुई है किन्तु उत्पत्ति रूप प्रकृत्यर्थ व विभक्त्यर्थ हेतुता के बीच में तथा प्रादुर्भाव रूप प्रकृत्यर्थ व विभक्त्यर्थ हेतुता के बीच में नञर्थ अभाव आता है। इस प्रकार मोहाभाव में रागद्वेषोत्पत्त्यभाव हेतुता प्रतीत होती है तथा प्रादुर्भावाभाव हेतुता उपमर्दाभाव में प्रतीत होतीहै। इस प्रकार यहाँ पर नञर्थ अभाव मात्र ही प्रकृत्यर्थ व विभक्त्यर्थ (पञ्चम्यर्थ) हेतुता के बीच में आकर भासता है। अन्यत्र कहीं पर भी प्रकृत्यर्थ व विभक्त्यर्थ के बीच में कोई दूसरा नहीं आकर भासता है। इसलिए प्रतिपद के अर्थ व्यापकता का इस प्रकार भी अन्वयबोध नहीं होता है।

इस कारण प्रति निरर्थक ही है। द्विरुक्तान्वय में तात्पर्य के बल से ही सेचनकर्मत्व में वृक्षव्यापकत्व संसर्गमर्यादा से ही भासता है प्रकारतया नहीं भासता है।

**यदि च 'वृक्षं प्रतिषिञ्चति' इत्यादावुपसर्गस्य प्रतेर्वाच्यो द्योत्यो वा कश्चिदन्योऽर्थः? तदास्तु स एवात्रापि तदर्थः। अत एव तस्येवास्यापि प्रतिशब्दस्य प्रयोगो नानर्थः।**

**वस्तुतः- अनर्थकयोः कर्मप्रवचनीयाधिपरिशब्दयोः प्रयोगवत् तादृशप्रतेरपि प्रयोगस्य प्रयोगानुपपत्तिश्चिन्त्या।**

तथा यदि **'वृक्षं प्रतिषिञ्चति'** 'वृक्ष को सींचता है' इत्यादि स्थलों में प्रति उपसर्ग का वाच्य अथवा द्योत्य कोई अर्थ है? तो यहाँ पर भी वही प्रति का अर्थ है। इसलिए उसी स्थल की तरह इस जगह भी प्रतिशब्द का प्रयोग निरर्थक नहीं है। आशय यह है कि **'वृक्षं प्रतिषिञ्चति'** यहाँ पर प्रति उपसर्ग है उस प्रति उपसर्ग का प्रयोजन यही है कि **'उपसर्गात् सुनोति... पा० सू० 8।3।65'** के धात्वयव स को मूर्धन्यादेश किया जा सके यदि इसस्थल में प्रति उपसर्ग का कोई भी वाच्य या द्योत्य अर्थ स्वीकारा जाता हो तो यहाँ पर भी **'वृक्षं वृक्षं प्रति सिञ्चति'** में जहाँ पर कि प्रति उपसर्ग नहीं है बल्कि उसकी कर्म प्रवचनीय संज्ञा हुई है, प्रति शब्द का वही अर्थ मान लिया जायेगा। इस प्रकार उभयत्र समान रूप से सार्थकत्व या अनर्थकत्व होगा। यदि उपसर्ग संज्ञक प्रति सार्थक है तो कर्म प्रवचनीय भी उसी अर्थ में प्रयुक्त होने से सार्थक होगा।

वस्तुतः अनर्थक कर्म प्रवचनीय अधि और परिशब्दों के प्रयोग की तरह तादृश प्रति (कर्मप्रवचनीय प्रति) के प्रयोग की भी प्रयोजनान्तरानुपपत्ति चिन्त्य है।

अभिप्राय यह है कि **'अधिपरी अनर्थके पा० सू०1/4/93'** के द्वारा **'कुतोऽध्यागच्छति' 'कुतः पर्यागच्छति'** कहाँ से आ रहा है' यहाँ पर अनर्थक अधि और परि की कर्मप्रवचनीय संज्ञा हुआ करती है तथा अनर्थक अधि परि शब्दों की

1. सिद्धान्त कौमुदी में 'लक्षणेत्थम्भूताख्यान ...' सूत्र उपर्युक्त उदाहरण देते हुए भट्टोजिदीक्षित लिखते हैं कि 'अत्रोपसर्गत्वाभावान्न षत्वम्'

कर्मप्रवचनीय संज्ञा का प्रयोजन इतना ही है कि '**गतिर्गतौ पा0सू0 8/1/70**' के द्वारा निघात (अनुदात्त) न होवे। वहाँ इसके अलावा और कोई प्रयोजन कर्मप्रवनीय संज्ञा का नहीं है। उसी प्रकार प्रति के प्रयोग की भी प्रयोजनान्तरानुपपत्ति नही है क्योंकि षत्वनिषेध रूप प्रयोजनान्तर विद्यमान ही है।[1] इसलिए निष्कर्षतः कर्मप्रवचनीय अधि और परिशब्दों की निरर्थकता के समान प्रति की भी निरर्थकता ही है। कर्म प्रवचनीय संज्ञा का प्रयोजन दूसरा ही है।

**प्रतेर्यत्र व्यापकतार्थकत्वं तत्र 'प्रतिवृक्षं सिञ्चति' इत्यव्ययीभावसमास एव नियतः- तदर्थकाव्ययस्याव्ययीभावसमासविधेर्विभाषाधिकारीयताविरहेण नित्यत्वात् अतो वीप्सया 'प्रतिवृक्षं सिञ्चति' इतिवत् 'वृक्षं प्रति सिञ्चति' इति न प्रयोगः, यत्र व्यापकत्वार्थकेनाव्ययेनाव्ययीभावसमासस्तदुत्तरं सर्वत्र प्रथमाविभक्तिरेव न तु 'उपकुम्भे गच्छति' इतिवत् 'प्रतिगृहेऽश्वाः' इत्यादिरपि प्रयोगः उक्तयुक्त्या तत्र प्रतिनाऽश्वादौ गृहादिव्यापकताया बोधयितुमशक्यत्वात्। तदाधारतादिरूपसप्तम्याद्यर्थे च समासार्थस्य गृहादिव्यापकत्वस्याश्रयतासम्बन्धेन तदर्थस्य व्यापकरूपधर्मिणो वाऽभेद सम्बन्धेनान्वये 'मेयत्वे घटः' 'घटवृत्तौ घटः' इत्यादिप्रयोगवारणाय कल्प्यायाः सप्तम्यार्थाधारतायामाश्रयत्वसम्बन्धेना-भेदसम्बन्धेन वा प्रकृत्यर्थानन्वयव्युत्पत्तेर्विरोधात्।**

प्रति का जहाँ पर व्यापकतार्थकत्व होता है वहाँ पर '**प्रतिवृक्षं सिञ्चति**' इस प्रकार से अव्ययीभाव समास ही नियत होता है। (यहाँ पर समासविधायक सूत्र है '**अव्ययं विभक्तिसमीप.... पा0सू0 2/1/6**' इसके द्वारा यथा अर्थ में समास का विधान किया गया है यथा शब्द के योग्यता वीप्सा पदार्थानतिवृत्ति व सादृश्य अर्थ है[1]। इन अर्थों में समास किया जाता है) क्योंकि यथार्थक (वीप्सार्थक) अव्यय के अव्ययीभावसमास विधि के विभाषाधिकारीय न होने के कारण वह समासविधि नित्य है। आशय यह है '**विभाषा पा0 सू0 2/1/11**' जो कि समास को विकल्पित करता है अधिकार सूत्र के पूर्व में यह सूत्र होने के कारण इस सूत्र ( '**अव्ययं विभक्तिसमीप...**' ) से होने वाला समासविधान नित्य है। यहाँ पर वस्तुततः समास का वैकल्पिकत्व व्यपेक्षा से भी सिद्ध हो सकता है, इसलिए यह विभाषा सूत्र व्यर्थ है तथा इसी से यह ज्ञापित होताहै कि इसके पूर्व में जो समास बताये गये हैं वह नित्य हैं। इसकारण वीप्सा होने पर '**प्रति वृक्षं सिञ्चति**' के समान '**वृक्षं प्रति सिञ्चति**' प्रयोग नहीं होता है। (जहाँ पर '**वृक्षं प्रतिषिञ्चति**' प्रयोग होता है वहाँ पर प्रति का वीप्सार्थकत्व न होने पर ही वैसा प्रयोग होता है तथा उक्त प्रयोग के द्वारा वृक्ष व्यापक सेचन का बोध न होकर वृक्ष कर्मक सेचन ही बोधित होता है)

जहाँ पर व्यापकत्वार्थक (वीप्सार्थक) अव्यय से अव्ययीभावसमास होता है वहाँ पर उसके बाद (समस्त पद के बाद) सर्वत्र प्रथमाविभक्ति ही होती है। (जैसे अन्यार्थक अव्ययों के साथ अव्ययीभाव समास होने की दशा में समस्त पद से अन्यविभक्तियाँ भी हुआ करती हैं वैसे यहाँ पर अन्य विभक्तियाँ नहीं होती हैं सिर्फ प्रथमा ही होती है) '**उपकुम्भे गच्छति**'

---

1. योग्यतावीप्सापदार्थानतिवृत्तिसादृश्यानि यथार्थाः। सि0 कौ0 अव्ययी भावश्च 2।4।8 की वृत्ति

'कुम्भसमीप में जा रहा है' के समान '**प्रति गृहेऽश्वाः**' 'प्रतिगृह में अश्व हैं' ऐसा प्रयोग नहीं होता है क्यों उक्त युक्ति से प्रति के द्वारा गृहादिव्यापकता अश्व आदि में बोधित नहीं की जा सकती है।

अभिप्राय यह है कि '**उपकुम्भे गच्छति**' यहाँ पर उपकुम्भार्थ कुम्भसमीप में सप्तम्यर्थ आधारता का अन्वय हो सकता है इसलिए कुम्भसमीपाधारतानिरूपक गमन तो बोधित हो सकता है इसमें कोई आपत्ति नहीं है। अतः यह प्रयोग होता है। '**प्रतिगृहेऽश्वाः**' यहाँ पर प्रतिगृह पदार्थ गृहव्यापकता में सप्तम्यर्थाधारता का अन्वय नहीं हो सकता है, अश्वाधारता गृह में है गृहव्यापकता में नहीं है। सप्तम्यर्थ आधारत्व का अन्वय गृहव्यापकता रूप अर्थ में सम्भव न होने के कारण '**प्रतिगृहेऽश्वाः**' प्रयोग नहीं होता है।

तदाधारता रूप सप्तम्यर्थ में समासार्थ गृहादिव्यापकत्व का आश्रयता सम्बन्ध से अथवा गृहादिव्यापकताश्रयता रूप समासार्थ का अभेद सम्बन्ध से अन्वय करने पर '**मेयत्वे घटः**' '**घटवृत्तौ घटः**' इत्यादि प्रयोगों का वारण करने के लिए कल्प्य जो व्युत्पत्ति है कि 'सप्तम्यर्थाधारता में आश्रयत्व सम्बन्ध या अभेद सम्बन्ध से प्रकृत्यर्थ का अन्वय नहीं होता है' उस व्युत्पत्ति से विरोध होगा।

अभिप्राय यह है कि यदि आप कहो कि '**प्रति गृहेऽश्वाः**' यहाँ पर सप्तम्यादि का जो अश्वाधारता आदिरूप अर्थ है, उसमें अश्वाधारता में समस्त पद के अर्थ गृहव्यापकत्व का आश्रयत्व सम्बन्ध से अन्वय कर लेंगे। अथवा समस्त पद का अर्थ गृह व्यापकताश्रयत्व है उसका अश्वाधारण में अभेदेन अन्वय कर लेंगे । इस प्रकार तो अन्वयबोध सम्भव है। अतः '**प्रतिगृहेऽश्वाः**' ऐसा प्रयोग '**उपकुम्भे गच्छति**' का तरह होना चाहिए। तो ऐसा नहीं कहना चाहिए क्योंकि 'सप्तमी के अर्थ आधारता में प्रकृत्यर्थ का आश्रयत्व या अभेद सम्बन्ध से अन्वय नहीं होता है' इस व्युत्पत्ति से विरोध होगा। यहाँ पर सप्तम्यर्थ आधारता में समस्त पद के अर्थ (गृहव्यापकत्व) का आश्रयत्व सम्बन्ध से अथवा समस्त पद के अर्थ गृहव्यापकत्वाश्रयता का अभेद सम्बन्ध से अन्वय करना चाह रहे है। अतः स्पष्टतः इस व्युत्पत्ति से विरोध होगा।

इस व्युत्पत्ति को अगर न मानें तो '**मेयत्वे घटः**' '**घटवृत्तौ घटः**' इत्यादि प्रयोग भी होने लगेंगे जो कि असङ्गत हैं। इनमें भी क्रमशः सप्तम्याद्यर्थ घटाधारता में मेयत्व रूप प्रकृत्यर्थ का आश्रयत्व सम्बन्ध से अन्वय किया जा सकता है और घटाधारता में घटवृत्ति का अभेद सम्बन्ध से अन्वय भी सम्भव ही है। इस कारण न तो आश्रयत्व सम्बन्ध से और न अभेद सम्बन्ध से ही प्रकृत्यर्थ का सप्तम्यर्थाधारता में अन्वय स्वीकारा जा सकता है। अन्य किसी रीति से '**प्रतिगृहेऽश्वाः**' वाक्य से अन्वय बोध सम्भव नहीं है, अतः ऐसा प्रयोग नहीं हो सकता है। यह निर्धारित होता है कि व्यापकत्वार्थक अव्यय के साथ अव्ययी भाव समास करने के बाद समस्तपद से प्रथमा विभक्ति ही साधु होती है।

**'उपकुम्भे निधेहि' 'उपकुम्भादागतः' 'उपकुम्भेन कृतः' इत्यादौ च विवक्षितस्याधारत्वापादानत्वकर्तृत्वादौ कुम्भसमीपादेराधेयतासम्बन्धेनान्वयस्याधेयत्वादौ निरूपितत्वसम्बन्धेन तदन्वयस्य वा बोधे न कश्चिद् व्युत्पत्तिविरोध इत्युपपद्यन्ते तथा प्रयोगा इति ध्येयम् ।**

**'उपकुम्भे निधेहि'** 'कुम्भसमीप में रख दो' **'उपकुम्भादागतः'** 'कुम्भ समीप से आया है' **'उपकुम्भेन कृतः'** 'कुम्भसमीप द्वारा किया गया' इत्यादि स्थलों में तो आधारत्व, अपादानत्व, कर्तृत्वादि में कुम्भसमीप आदि का आधेयता सम्बन्ध से विवक्षित अन्वय का बोध होने में अथवा आधेयत्व आदि में निरूपितत्व सम्बन्ध से विवक्षित अन्वय का बोध होने में कोई व्युत्पत्ति विरोध नहीं है। अतः उक्त प्रयोग उपपन्न होते हैं यह ध्यान में रखना चाहिए।

अभिप्राय यह है कि सप्तमी, पञ्चमी और तृतीया का प्राचीनों के मत से आधारत्व, अपादानत्व, कर्तृत्व अर्थ होते हैं नवीनों के मत से आधेयत्व आदि अर्थ होते हैं। यदि आधारत्वादि अर्थ होंगे तो कुम्भ समीप प्रकृत्यर्थ का वृत्तित्व रूप आधेयत्व ही संसर्गमर्यादा से भासित होता हुआ आधारत्वादि रूप प्रत्ययार्थ में अन्वित होता है। आधेयत्व आदि को सप्तम्यादि का अर्थ मानने पर उनमें प्रकृत्यर्थ का निरूपितत्व सम्बन्ध से अन्वय होता है। दोनों ही पक्षों में कुम्भसमीप का आधारत्वादि, आधेयत्वादि में वृत्तित्व निरूपितत्व सम्बन्ध से अन्वय होने में कोई व्युत्पत्ति विरोध नहीं है। इस कारण उपर्युक्त प्रयोग उपपन्न होते हैं।

**'त्वाञ्च माञ्चान्तरा' इत्यादौ ''अन्तरान्तरेण युक्ते'' इति द्वितीयाया निरूपितत्वमर्थः, तस्यान्तरापदार्थतावच्छेकमध्यत्वेऽन्वयः। एवमन्यत्रापि तदर्थस्तूक्तदिशा स्वयं परिच्छेद्यः।**

**–इति द्वितीया विभक्तयः–**

**'त्वाञ्च माञ्चान्तरा'** 'तुम्हारे और हमारे बीच में ' इत्यादि स्थलों में **'अन्तरान्तरेण युक्ते पा॰सू॰ 2/3/4'** के द्वारा विहित द्वितीया का निरूपितत्व अर्थ है, उसका अन्तरा पदार्थतावच्छेदक मध्यत्व में अन्वय होता है। (इस प्रकार **'त्वां च मां चान्तरा हरिः'** से **'त्वन्निरूपितं मन्निरूपितञ्च यन्मध्यत्वं तद्विशिष्टो हरिः'** 'त्वन्निरूपित और मन्निरूपित मध्यत्व से विशिष्ट हरि है' ऐसा शाब्दबोध होता है अन्तरेण पद तो विनार्थक होता है और विना पदस्थल में जैसा बोध होता है वैसा ही अन्तरेण पदस्थल में भी बोध स्वीकारा जाता है) इसी प्रकार अन्यत्र भी द्वितीया का अर्थ दिखलाये गये तरीके से परिच्छिन्न कर लेना चाहिए ।

इस प्रकार श्रीमद्गदाधरभट्टाचार्य विरचित व्युत्पत्तिवाद की श्री सच्चिदानन्द मिश्र विरचित सुनन्दाव्याख्या में द्वितीया कारक सम्पूर्ण हुआ।

❑

1. **शिवराजविजयः** (प्रथमो विराम) व्याख्याकार : श्रीनिवास शर्मा 2000 40.00
2. **वृत्तरत्नाकरः** (सम्पूर्ण) नारायणी-तारा-संस्कृत हिन्दी व्याख्योपेतः, पं० सत्यानारायण शास्त्री खण्डूड़ी 2000 40.00
3. **मध्यमव्यायोगः** महाकवि भास प्रणीतः, संस्कृत-हिन्दी-भूमिकाऽन्वय-शब्दार्थ-संस्कृत-हिन्दी-व्याख्योपेतः, सम्पादक : डॉ० त्रिलोकीनाथ द्विवेदी 2000 25.00
4. **मुण्डकोपनिषद्** : शाङ्करभाष्य-हिन्दीव्याख्या-मेक्समूलरकृताङ्ग्लानुवादैः विस्तृत भूमिकाया च संवलिता : हिन्दी व्याख्याकार : पं० श्री जगन्नाथ शास्त्री तैलङ्ग 2000 35.00
5. **ईशावास्योपनिषद्-शाङ्करभाष्य** : हिन्दी आङ्ग्लानुवादसहितः शशितिवारी 50.00
6. **कठोपनिषद्-शाङ्करभाष्य** : हिन्दी आङ्ग्लानुवादसहितः रामरंग शर्मा, तृतीय संस्करण 1999 35.00
7. **तर्कसंग्रहः** (अन्नम्भट्टकृत) मूल दीपिका संस्कृत व्याख्या आङ्ग्लानुवादसहितः, के० पी० पर्व 1999 40.00
8. **तर्कसंग्रह ( श्रीमदन्नम्भट्टविरचितः ) न्यायबोधिनी संवलितः** हिन्दी व्याख्या सहित नर्वदेश्वर तिवारी 1997 35.00
9. **वैदिक साहित्य का इतिहास** : डॉ० जयदेव वेदालंकार 50.00
10. **वैदिक साहित्य का इतिहास** : डॉ० कुँवर लाल जैन 40.00
11. **वेदान्तसार ( श्रीसदानन्दविरचितः )** श्री रामतीर्थप्रणीतं विद्वन्मनोरञ्जनी समाख्या व्याख्या हिन्दी रूपान्तर व रेखा चित्रों तथा विस्तृत भूमिकादिभिश्च समलंकृतः पं० रामगोविन्द शुक्ल 2000 50.00
12. **सांख्यकारिकाः** (ईश्वरकृष्णविरचिता) अन्वय गौड़पादभाष्य अन्वय हिन्दी, व्याख्या सहितः डॉ० बैजनाथ पाण्डेय 1998 20.00
13. **चन्द्रालोकः** (पीयूवर्षश्रीजयदेवविरचितः) सम्पूर्ण संस्कृत हिन्दी व्याख्या सहितः डॉ० त्रिलोकीनाथ द्विवेदी अजिल्द 60.00, सजिल्द 80.00
14. **चन्द्रालोकः** (पीयूवर्षश्रीजयदेवविरचितः) (1-4 मयूख) संस्कृत हिन्दी व्याख्याः त्रिलोकीनाथ द्विवेदी 20.00
15. **कादम्बरी** : (बाणभट्टस्यकृतं) (शुकनासोपदेश) भानुचन्द्र सिद्धचन्द्र टीका भाषानुवाद व्याकणिक विशेषता सरल संस्कृत-सरल संस्कृत व्याख्यासमन्वितः श्रीमती सुदेश नारंग, द्वितीय संस्करण 1998 30.00
16. **किरातार्जुनीयम्** : (महाकविभारविकृतं) (प्रथम एवं द्वितीय सर्ग) संस्कृत हिन्दी व्याख्या सहितः डॉ० अमलधारी सिंह व डॉ० कान्ता भाटिया 40.00

---

# भारतीय विद्या प्रकाशन

1, यू०बी०, जवाहर नगर,
बंगलो रोड, दिल्ली-7.
दूरभाष : ( 011 ) 3971570

पोस्ट बाक्स नं० 1108, कचौड़ी गली,
वाराणसी-221001 ( उत्तर प्रदेश )
दूरभाष : ( 0542 ) 392376